વ્યાસ વિચાર

Published by :

Sat Vichar Darshan
Nirmal Niketan,
2, Dr. Bhajekar Lane,
Mumbai - 400 004
Phone : 2386 6986 - 2386 4919

E - Mail : –
satvichardarshan@yahoo.co.in

Published & Printed in India

7th Edition : 500 copies
January : 2008

Printed by :

Prabodhak Mudranalaya,
257, A to Z Industrial Estate,
Ganpatrao Kadam Marg,
Lower Parel,
Mumbai - 400 013
Phone : 2492 7433

SAT VICHAR DARSHAN
Price : Rs. 400=00

व्यास विचार

: अनुक्रमणिका :
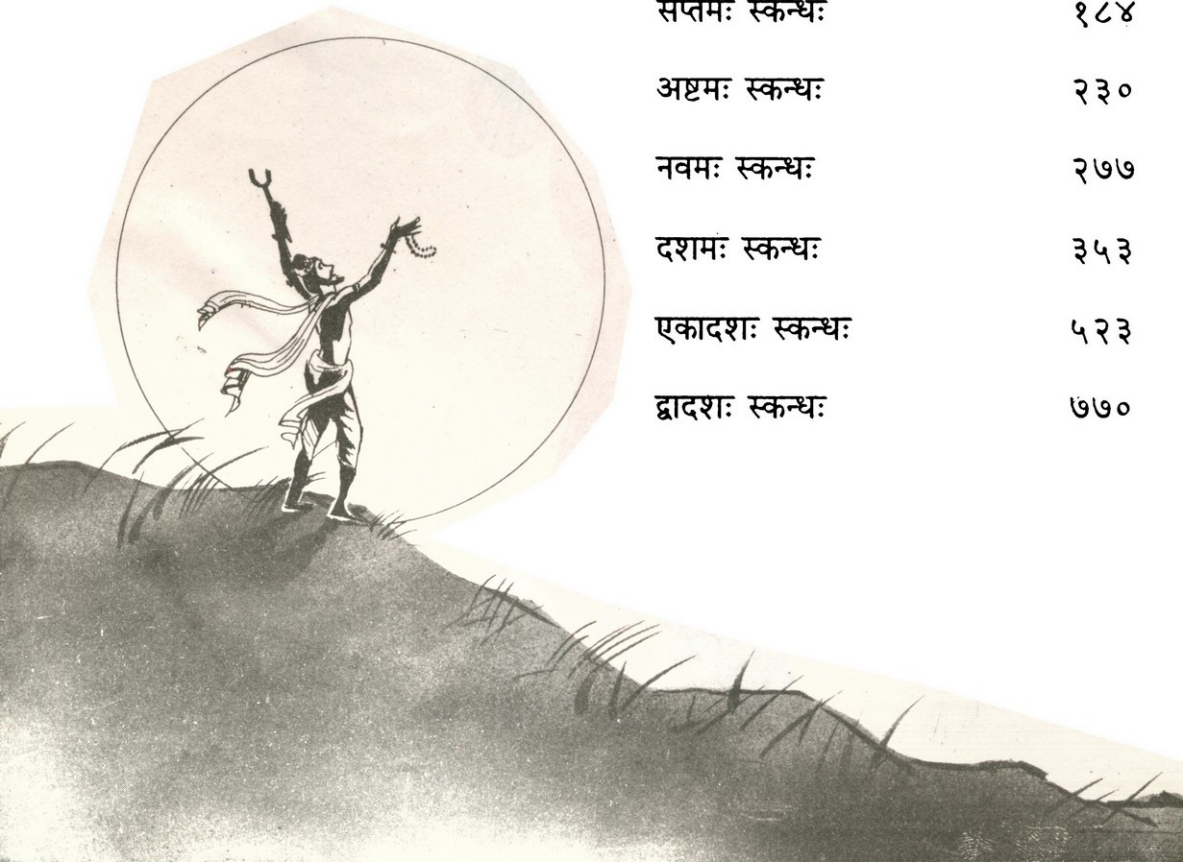
जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।।

भाववन्दना

।। श्रीयोगेश्वरोविजयतेतराम् ।।

पूजनीय **दादा** ने एक बार प्रवचन में कहा था—

'एकाध अकिञ्चन मनुष्य को कोई सुवर्णमहल में ले जाय और वहाँ चारों ओर असंख्य रत्न देखकर वह एकाध रत्न उठाता है, इतने में उसकी दृष्टि दूसरे प्रभावी रत्न पर पड़ती है और वह असमंजस में पड़ जाता है कि कौन सा रत्न उठाऊँ? **'श्रीमद्‌भागवत'** की ओर देखने के बाद मेरी ऐसी ही अवस्था होती है।'

'नारायणोपनिषद्' पर प्रवचन करते हुए **'नारायणपरता'** विषय के संदर्भ में, जिसकी पंक्ति-पंक्ति में नारायणपरता है ऐसा वेदव्यासरचित **श्रीमद्‌भागवत** ग्रंथ पूजनीय **दादा** की आँखों के सामने आया। भागवत एक प्रासादिक ग्रंथ है, भक्तिप्रधान ग्रंथ है।

मानव जीवन के मानसशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और तत्त्वज्ञान ये पाँचों ही कक्ष प्रकाशित करने के लिए वेदव्यास ने महाभारत जैसे महान् ऐतिहासिक ग्रंथ की रचना की। महर्षि वेदव्यास जीवन के सच्चे भाष्यकार हैं।

भक्तिप्रधान वाङ्मय मानवों के हृदयों तक पहुँच सके, उनको ऊष्मा दे सके, उनमें चैतन्य निर्माण कर सके इस विचार से वेदव्यास ने सर्वस्तर के लोगों को मान्य हो, उन्हें पसंद आए ऐसे भागवत ग्रंथ की रचना की।

वेदव्यास ने विचारों की बैठक में भक्ति रखकर तत्त्वज्ञान और आचार को एक नया दृष्टिकोण दिया। इस वेद तथा ऋषिप्रणीत मार्ग पर चलनेवाले पूजनीय **दादा** भी भक्ति से ही मानव-जीवन की प्रत्येक समस्या को सुलझाना चाहते हैं।

भक्ति को सामाजिक शक्ति *(Social force)* के रूप में स्वीकार करके उन्होंने अनेक यशस्वी प्रयोग समाज के सामने रखे हैं। पूजनीय **दादा** के ये विचार और प्रयोग केवल भारत के लिए ही मर्यादित न रहकर विदेशों में भी साकार हुए हैं जिनसे मानव-जीवन प्रकाशित बनता जा रहा है।

पूजनीय **दादा** ने इस ग्रंथ पर अनेक प्रवचन किये हैं, फिर भी समग्र ग्रंथ को वे स्वयं न्याय नहीं दे सके ऐसा कहकर उन्होंने ग्रंथ को नमस्कार किया है।

वेदव्यासरचित भागवत का सत्यदर्शन इस **'व्यास विचार'** द्वारा पूजनीय **दादा** ने हमें कराया है। पूजनीय **दादा** ने जिस भागवत ग्रंथ को नमस्कार किया, उसे पढ़कर मानव-जीवन अवश्य प्रकाशित होगा।

इसमें से एक भी सिद्धान्त या तत्त्व अपने जीवन में लाने का हमारा प्रयत्न रहा तो वह पूजनीय दादा को हमारा कृतज्ञतापूर्वक नमस्कार माना जायेगा।

इस पुस्तक **'व्यास विचार'** में यदि कोई त्रुटियाँ होंगी तो वे विचारों की या विचारवन्त की नहीं, बल्कि संकलनकार की हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता कहना भिन्न बात है और भागवत जीवन जीना भिन्न बात है। जिन्होंने व्यासोक्त जीवन जीकर विश्व के तमाम लोगों के जीवन प्रकाशित करके, **'व्यास विचार'** के रूप में आधुनिक वेद देकर हम सब पाठकों को कृतार्थ किया उन पूजनीय **दादा** के चरणों में अनन्त प्रणाम!!!

— सद्विचार दर्शन

।। श्रीयोगेश्वरोविजयतेतराम् ।।

प्रथमः स्कन्धः

मनुष्य को नारायणपर (ईश्वराभिमुख) बनाने की कोशिश शास्त्रकारों तथा ऋषियों ने की है। परन्तु केवल उनके प्रयत्न पर्याप्त नहीं हैं। नारायणपर बनने के लिए मनुष्य को स्वयं प्रयत्न करने चाहिए। इस जगत् में किसी एक के प्रयत्न से किसी दूसरे को लाभ नहीं होता। जिसका प्रयत्न होगा, उसीको लाभ होगा।

मनुष्य को नारायणपर बनाना है, परन्तु मनुष्य इतना दुर्बल, लाचार, अगतिक असहाय, निस्तेज है कि उसे किसीकी लकड़ी का आधार लेना ही पड़ता है। यदि ऐसा है तो फिर नारायण का ही आश्रय क्यों न लिया जाय? जीवन में नारायणपरता आनी चाहिए, परन्तु वह लाचारी, अगतिकता से नहीं, बल्कि भाव से आनी चाहिए अथवा सम्बन्ध से आनी चाहिए।

इस सृष्टि में हम निर्बल हैं, इसलिए सबको **'तमेव शरणं गच्छ'**- उसीकी शरण में जाना ही पड़ता है। कोई मानेगा, कोई नहीं भी मानेगा, परन्तु अन्तिम शरण भगवान की ही लेनी पड़ेगी। उसके लिए किसी उपदेश या ग्रंथ की आवश्यकता नहीं है। हमारी कोई वासना ही हमें खींचकर ले जायेगी। परन्तु इस प्रकार की नारायणपरता विकास के लिए श्रेष्ठ नहीं है। आज भी हम नारायणपर हैं, परन्तु वह लाचारी, अगतिकता या आवश्यकता के कारण है।

मनुष्य जितना कमजोर प्राणी इस जगत् में कोई होगा या नहीं यह मुझे मालूम नहीं है। भगवान ने मानव को कमजोर रखा है यह भिन्न बात है, परन्तु सभी प्राणियों की अपेक्षा एक विशेष अलौकिक बुद्धि भगवान ने मानव को दी है, इसमें सन्देह नहीं है। गाय

का बछड़ा या गधे का बच्चा पैदा होते ही तुरन्त अपने पैरों पर खड़ा हो जाता है और चलने लगता है। परन्तु मानव के बच्चे को खड़ा होने के लिए दस महीने लगते हैं, तब कहीं चलने लगता है। तब उसका वर्णन होता है, 'हमारा मुन्ना अब चलने लगा है।' मनुष्य प्राणी इतना कमजोर है, परन्तु भगवान ने उसे अलौकिक बुद्धि दी है इसमें सन्देह नहीं है। इसीलिए भगवान ने मानव में अपना स्वयं का वास्तव्य रखा है। वॉल्टेर *(valtair)* ने एक स्थान पर कहा है कि भगवान ने मनुष्य को बुद्धि तो दी है, परन्तु मनुष्य ने उसके प्रति दुर्लक्ष करके निर्णय किया है कि 'मैं बुद्धि चलाऊँगा ही नहीं' और मनुष्य किसी क्षेत्र में बुद्धि चलाता ही नहीं। न जीवन में, न धर्म में, किसी भी जगह वह बुद्धि नहीं चलाता। 'पीछे से आया आगे धकेल दिया' ऐसा सत्याग्रही व्रत उसने लिया है। 'भगवान! आपने मुझे बुद्धि दी है परन्तु मैं उसे चलाऊँगा ही नहीं।' ऐसा कहनेवाला कोई पागल प्राणी होगा तो वह प्राणी मानव है। जाने दीजिये इन बातों को, परन्तु हम लोगों में इतनी अगतिकता, इतनी कमजोरी है कि हमें भगवान की शरण लेनी ही पड़ती है। 'भगवान! तेरी शरण... तेरी शरण...' ऐसा बोलना ही पड़ता है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की शरण ले तो बेकार है, कारण वह भी उतना ही अगतिक है। फिर किसकी शरण लेंगे? जो किसी की शरण नहीं लेता उसकी शरण में जाना चाहिए। इसके लिए भगवान के ही पास जाना चाहिए। इसीसे जीवन में नारायणपरता आयेगी।

जीवन नारायणपर होना चाहिए। परन्तु यह नारायणपरता भाव अथवा संबंध से आनी चाहिए। जिसकी पंक्ति-पंक्ति में नारायणपरता है, जो ग्रंथ नारायणपर है, जिसे वेदव्यास ने लिखा है वह ग्रंथ है, **'श्रीमद्‌भागवत।'** भाव अथवा सम्बन्ध से जो नारायणपरता आती है वही विकास के लिए उपयुक्त होती है। नारायणपरता आवश्यकता के कारण स्वीकार की हुई हो तो आवश्यकता के पूर्ण हो जाने पर उसके ऊपर की पकड़ शिथिल हो जाती है। आरंभ में आवश्यकता के कारण माँ पर प्रेम होता है, परन्तु जब माँ की आवश्यकता पूर्ण हो जाती है, तब माँ के प्रति प्रेम कम हो जाता है और केवल कर्तव्य के रूप में माँ की सेवा होने लगती है। नारायणपरता प्रेम से, सम्बन्ध से या भाव से होनी चाहिए ऐसा कहने वाला एक ग्रंथ है जिसका नाम है **श्रीमद्‌भागवत!** श्रीमद्‌भागवत के सम्बन्ध में सोचेंगे तो ही **'नारायणपरो ज्योतिः आत्मा नारायणपरः'** को न्याय दिया है, ऐसा माना जायेगा। अतः श्रीमद्‌भागवत के सम्बन्ध में भी विचार करना होगा।

श्रीमद्‌भागवत एक प्रासादिक ग्रंथ है, प्रसन्नता से भरा हुआ ग्रंथ है। भगवान के बाद कोई पूजनीय ग्रंथ होगा तो वह भागवत है ऐसा माना जाता है और वह सत्य ही है। भागवत के सम्बन्ध में विचार करना हो तो प्रथम वेदव्यास को नमस्कार करना पड़ेगा। वेदव्यास के सम्बन्ध में कहा है-

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः।
अभाललोचनः शम्भुर्भगवान् बादरायणः।।

'उनके चार मुख नहीं हैं मगर ब्रह्मा हैं, उनके दो बाहू हैं फिर भी हरि हैं, उनके मस्तिष्क पर तृतीय नेत्र नहीं है मगर शम्भु हैं, ऐसे भगवान बादरायण हैं।'

वेदव्यास महान् ज्ञानी थे। उनका नाम ही वेदव्यास है। आज तो कथा करनेवाला भी स्वंय को 'व्यास' ही कहलाता है। लोग भी उसे वेदव्यास कहते हैं। परन्तु वेदव्यास कौन थे इसका उसे पता भी नहीं होता। इन महान् ज्ञानी वेदव्यास के सम्बन्ध में एक प्रश्न खड़ा होता है कि इतने महान् लोकोत्तर तत्त्वज्ञानी होते हुए भी उन्होंने भिन्न भिन्न रूपों में पुराणों में कथायें लिखी हैं। क्यों? वेदव्यास एक अलौकिक मनोवैज्ञानिक थे। उनके तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में क्या कहना! उनके ब्रह्मसूत्र पर प्रत्येक आचार्य को भाष्य लिखना पड़ा। वल्लभाचार्य रामानुजाचार्य, शंकराचार्य को भी ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखना ही पड़ा। 'लिखना ही पड़ा' ये शब्द मैं उच्चारता हूँ, सोच समझकर ही उच्चारता हूँ। कारण यह है कि यदि उनके ब्रह्मसूत्र पर भाष्य न लिखे जाते तो तत्त्वज्ञान में कुछ कमी रह जाती। सभी को वेदव्यास पर लिखना पड़ा। इतने महान् तत्त्वज्ञानी कहानियाँ क्यों कहते हैं? मुझे प्रारंभ में लगता था कि जिन्होंने इतना अलौकिक तत्त्वज्ञान कहा है वे वेदव्यास व पुराणों को लिखने वाले वेदव्यास भिन्न भिन्न होंगे। जिन्होंने इतना लोकोत्तर तत्त्वज्ञान लिखा है, वेदों पर इतने कठिन परिश्रम उठाये हैं, वे क्या कहानियाँ कहेंगे? भले ही कुछ कहानियाँ सत्य होंगी, कुछ काल्पनिक भी होंगी परन्तु हैं तो कहानियाँ ही! वेदव्यास ने भला कहानियाँ क्यों लिखी हैं? कहानियाँ लिखने के पीछे मानवजाति के प्रति वेदव्यास के अन्तःकरण में जो प्रेम था उसकी सुगन्ध आती है। वेदव्यास को अपना पांडित्य-प्रदर्शन नहीं करना था, अपितु उनको व्यक्ति को उठाना था, खड़ा करना था।

एक सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिए। मानसशास्त्रीय सिद्धान्त है कि जो रटा जाता है या रटाया जाता है, जो सिखाया जाता है उसे शिक्षा कहते हैं और जो उठाया जाता है उसे संस्कार कहते हैं। हमने ब्रह्मसूत्र पढ़ाया, **'रचनानुपत्तेश्च....'** कण्ठस्थ कराया, यह जो तत्त्वज्ञान सिखाया, वह शिक्षा है। परन्तु शिक्षा से अधिक संस्कार का मूल्य है। जो महान् लोग होते हैं वे हमें मार्ग दिखाते हैं। वेदव्यास को लोगों को उठाना था इसलिए उन्होंने यह मार्ग अपनाया जिससे लोगों को महान् चरित्र कहूँ। ऐसे चरित्र, जिनको सुनकर मुँह में पानी भर आये और लगे कि मैं भी ऐसा बनूँ! उदात्त चरित्रों को पढ़कर जीव को लगना चाहिए कि मुझे भी ऐसा बनना चाहिए।

संस्कार व शिक्षा में बहुत बड़ा मानसशास्त्रीय अन्तर है। बच्चों को ऐसे चरित्र दिखायें कि उनमें वैसा बनने की लालसा निर्माण हो। 'तू ऐसा बन' किसी की ऐसी आज्ञा व्यक्ति नहीं मानता है। भीतर की आत्मशक्ति की आज्ञा ही मनुष्य मानता है। आत्मशक्ति ने कहा कि मुझे ऐसा बनना है, मनुष्य उस मार्ग पर चलने लगता है।

एक बार मैंने दृष्टान्त दिया था। रामपुर के नवाब बीमार हुए, उनकी वाणी बंद हो गयी थी, बोल नहीं सकते थे। सभी को लगता था कि नवाब का अब अन्तिम समय आ गया है। एक ओर हकीम बैठे थे, दूसरी ओर डॉक्टर लोग बैठे थे। सभी इकट्ठे हुए थे।

सभी को निश्चित रूप से लगा कि 'इस बीमारी से नवाब को बचाना कठिन है, क्योंकि इनकी वाणी ही बन्द हुई है।' इतने में एक लीलाधर नाम के वैद्यराज आये, उन्होंने नवाब की जाँच की और डॉक्टर, हकीम की ओर देखकर कहा, 'इसमें क्या है? कोई गंभीर बीमारी नहीं है, नवाब अच्छे हो जायेंगे। मैं उनको अच्छा करूँगा। परन्तु यह बताओ कि नवाब को दवा पिलाकर अच्छा करूँ या दवा दिखाकर अच्छा करूँ? यह सुनकर सब आश्चर्य में पड़ गये। उन्हें लगा कि यह लीलाधर वैद्य घमंडी है ऐसा लगता है। क्योंकि दवा पिलाकर रोगी को अच्छा करना यह समझ सकने की बात है, परन्तु यह तो दवा दिखाकर नवाब को अच्छा करने की बात कर रहा है। उन्होंने कहा, 'नवाब को दवा दिखाकर ही अच्छा करो।'

लीलाधर वैद्य ने कहा, 'ठीक है! मैं नवाब को दवा दिखाकर ही अच्छा करूँगा।' वैद्य ने एक लड़के को भेजकर पचास नींबू मँगवाये और साथ में एक चाकू भी मँगवाया। लड़का नींबू ले आया। वैद्यराज नवाब के मुँह के पास एक नींबू काटने लगा। वह देखकर नवाब के मुँह से पानी टपकने लगा और भीतर जमा हुआ कफ नरम होकर फट गया। नवाब की वाणी खुल गयी। इसी प्रकार चरित्र देखकर पढ़नेवाले को मुँह भर आना चाहिए। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में यही रास्ता अपनाया है। उन्होंने गीता में स्थितप्रज्ञ का, गुणातीत का तथा भक्त का वर्णन इतना सुन्दर किया है कि जिसे सुनकर हमारा भी वैसा बनने का मन होता है। 'मुझे वैसा बनना है' ऐसा मनुष्य को लगना चाहिए। इसे संस्कार कहते हैं। भागवत में वेदव्यास द्वारा वर्णित ध्रुव, प्रल्हाद आदि का चरित्रचित्रण पढ़कर, सुनकर भीतर में एक अभिलाषा निर्माण होती है कि 'मुझे ऐसा करना है, मुझे ऐसा बनना, होना है।' यह भीतर से जागृत अभिलाषा दृढ़ होती है। वह किसी की दी हुई नहीं होती। दूसरों की दी हुई अभिलाषा फेंकी जा सकती है, परन्तु भीतर जो स्वंय, अपने आप निर्मित अभिलाषा है वह दृढ़तर बनती जाती है। उसे फेंका नहीं जा सकता। इसीलिए संस्कार एक भिन्न ही बात है। गुरु के पास जाकर **यास्तेषां स्वैरकथा...** गुरु के मुख से स्वैरकथा सुनने से वैसा बनने की अभिलाषा निर्माण होती है। हमें लगता है कि उसे देखकर वेदव्यास ने पुराणों में कथाएं लिखी हैं। इन कथाओं का मूलभूत अर्थ है संस्कार! ये कथाएं व्यक्ति के सामने ऐसा चरित्र खड़ा करती हैं कि मनुष्य के मन में वैसा बनने की अभिलाषा निर्माण होती है। वैसा बनने का मनुष्य जो निश्चय करता है उसे संस्कार कहते हैं।

वेदव्यास ने कितने ही श्रेष्ठ पुराण लिखे हैं। पुराणग्रंथ क्यों लिखे, यह समझाता हूँ। पुराणों को कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझना चाहिए। वे काल्पनिक होंगे, अतिशयोक्तिपूर्ण भी होंगे, परन्तु वे सबको अभिमुख करनेवाले हैं, सर्वसुलभ हैं। एक बार मुझे एक पंडित ने पूछा, शास्त्रीजी! 'भगवान ने अपनी अंगुली पर गोवर्धन पर्वत उठाया, क्या इस बात को आप सच मानते हैं? यदि सचमुच भगवान ने गोवर्धन पर्वत उठाया होता तो क्या दुर्योधन इतना बेवकूफ था कि भगवान को न मानता? ईसा मसीह ने एक रोटी से दो हजार लोगों को खिलाया ऐसा बाइबल में लिखा है, क्या यह बात सच है? वह बात असत्य ही है।'

मैंने उनसे कहा, 'आपको 'सत्य' शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं है। जो हो चुकी है ऐसा घटना 'सत्य' नहीं है। असत्य घटना भी सत्य हो सकती है। 'सत्य' का चिन्तन करो' इसका अर्थ क्या है? समझ लो कि पड़ोसी व्यभिचारी है यह सत्य है। तो क्या उसका चिन्तन करना चाहिए? सत्य परब्रह्म है, भगवान है, तो क्या वह सत्य घटना (पड़ोसी के व्यभिचारी होने की) भगवान है? तो सत्य का अर्थ क्या है? '**सते हितं सत्यम्...**' जो मुझे सत् के पास ले जाता है वह सत्य है। 'भगवान ने एक अंगुली पर गोवर्धन पर्वत उठाया' यह बात सुनकर मुझमें यदि भगवान के प्रति विश्वास निर्माण होता है, मैं एक इंच भी क्यों न हो भगवान के समीप पहुँचता हूँ, सत्य के समीप जाता हूँ तो वह बात 'सत्य' है। सत्य के पास जो ले जाता है उसे सत्य कहते हैं। वह काल्पनिक है या सच है इसकी चर्चा करना व्यर्थ है।

पुराण-ग्रंथ संस्कारों के लिए लिखे गये हैं। पुराणों को पढ़ने पर वैसे गुणों को आत्मसात करने की इच्छा होती है। पुराणों को सुनने पर 'मैं भी वैसा बनूँ' ऐसा लगने लगता है। परन्तु पुराणों में भी सबसे अलौकिक कोई ग्रंथ होगा तो वह भागवत पुराण है। भागवत नारायणपर ग्रंथ है।

कितने ही लोग पूछते हैं कि 'भागवत का काल कौन सा है? कौन से काल में भागवत की उत्पत्ति हुई? वैसे ही वेदव्यास का काल कौन सा है?' इस सम्बन्ध में चर्चा चलती है इसका कारण एक ही है कि भागवत के लेखक वेदव्यास नहीं है ऐसा साबित करना है। एक बार, जिसने ग्रंथ लिखा है उसकी तपश्चर्या इस ग्रंथ के पीछे है, यह बात यदि हटा दी गयी तो उस ग्रंथ-शब्द की शक्ति कम हो जायेगी। यह करने का कितने ही लोग प्रयत्न कर रहे हैं। एक पंडित ने मुझे पूछा, 'भागवत का उत्पत्तिकाल आप कौन सा मानते हैं?' मैंने कहा, 'ग्रंथ की योग्यता निश्चित होती है। ग्रंथ में कौन से विषय का प्रतिपादन है, विषय के प्रतिपादन की शैली कैसी है इत्यादि देखने के बाद ग्रंथ की योग्यता का पता चलता है। इसलिए ग्रंथ का उत्पत्तिकाल देखना आवश्यक नहीं लगता।'

वेदव्यास को भागवत ग्रंथ लिखने की प्रेरणा कैसे मिली? इतने महान् पण्डित में कौन सी प्रेरणा थी? कौन सा प्रेरणास्रोत था जिसके कारण भागवत लिखा गया! किस प्रेरणास्रोत के कारण उन्होंने भागवत लिखा? वेदव्यास ने जीवन में महान् कार्य किया है। इस महान् कार्य के लिए मानव को जीवन तक ही नहीं अपितु जब तक मानवजाति का अस्तित्व रहेगा तब तक वेदव्यास को नमस्कार करना चाहिए। वेदव्यास ने कौन सा महान् कार्य किया? वेद हिमालय के समान बड़े हैं। कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि 'मैंने सम्पूर्ण वेदों को पढ़ा है। सभी वेद मुझे कण्ठस्थ हैं, सभी वेदों को मैं समझ चुका हूँ' ऐसा भी कोई न कह सके इतने बड़े वेद हैं। इन वेदों को सँभालना चाहिए, परन्तु कैसे सँभालना? इसलिए वेदव्यास ने वेदों को सँभालने के लिए वेदों का विभाजन किया। एक वेद के चार विभाग करके सुमन्तु, जैमिनी, वैशंपायन और पैल...इन चार शिष्यों को अपने पास बुलाकर उनको एक-एक विभाग दिया, उस विभाग का रहस्य समझाया। आज ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद,

अथर्ववेद ये चार वेद हैं इसका कारण यह है। परन्तु वेदों का रहस्य न समझनेवाले 'मैं ऋग्वेदी हूँ,' 'मैं यजुर्वेदी हूँ' ऐसा कहकर आपस में झगड़ते रहते है। यह पागलपन यहाँ तक बढ़ गया है कि युजुर्वेदी के घर में ऋग्वेद के मन्त्र नहीं बोले जाते और ऋग्वेदी के घर में यजुर्वेद के मन्त्र नहीं बोले जाते। मूल बात यह है कि एक ही वेद के चार विभाग करके सुमन्तु, जैमिनी, वैशम्पायन और पैल को एक-एक विभाग सँभालने के लिए, उस पर संशोधन तथा प्रचार करने के लिए दिया। विश्व के इतिहास में किसी ने न किया हो इतना महान् कार्य वेदव्यास ने प्रथम किया। फिर ब्रह्मसूत्रों की रचना की। उसके बाद वेदव्यास को सामान्य लोगों को नीति, जीवनव्यवहार तथा राजनीति समझानी थी।

मानव जीवन के पाँच क़क्ष होते हैं। सभी कक्षों में प्रकाश होना चाहिए। मानसशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और तत्त्वज्ञान ये पाँच कक्ष हैं। ये सभी प्रकाशित होने चाहिए। राजनीति *(politics)* सबमें है। राजनीतिज्ञों को वे ही राजनीति में हैं ऐसा नहीं समझना चाहिए। तुम्हारी पत्नी भी राजनीति करती है। 'वे (पति) अभी बाहर से आये हैं, इंजिनीयर हैं, धूप में खड़े होकर काम करके आये हैं, अतः अभी यह घटना नहीं कहनी चाहिए, तीन बजे के बाद कहूँगी' यह पॉलिटिक्स है। इसमें राजनीति आ गयी। 'यह बात अभी नहीं कहनी है, बाद में कहूँगी।' इसमें राजनीति होने से घबड़ाने की आवश्यकता नहीं है। यह राजनीति है वैसे ही तत्त्वज्ञान *(philosophy)* भी है। वैसे ही अन्य विभाग हैं। ये पाँचों कक्ष प्रकाशित करने चाहिए। मानव को 'जीवन-ध्येय' देना चाहिए। जीवन में जोश खड़ा करना चाहिए। इसीके लिए वेदव्यास ने भागवत, महाभारत ग्रंथ लिखे। महाभारत में ध्येय है, भगवान की ओर देखने की दृष्टि है। इतना ही नहीं अपितु जोश है, तेजस्विता है, नीतिमत्ता है, सब है। परन्तु उसकी नींव में, बैठक में इतिहास है। इतिहास व्यक्ति को बहुत आकर्षित नहीं करता। शिवाजी महान् थे इसमें सन्देह नहीं और ज्ञानेश्वर भी महान् थे इसमें भी सन्देह नहीं है। परन्तु आप देखेंगे तो ज्ञानेश्वर का आकर्षण शिवाजी की अपेक्षा अधिक है ऐसा दिखायी देगा। क्यों? ज्ञानेश्वर के जीवन में भक्ति की बैठक है। इसलिए नीति, जोश और तत्त्वज्ञान की नींव में भक्ति होनी चाहिए। यह विचार वेदव्यास के मन में आया और उन्होंने भागवत की रचना की।

आपको श्रीकृष्ण भगवान का ऐतिहासिक चरित्र देखना हो तो महाभारत और हरिवंश पढ़िए। परन्तु श्रीकृष्ण भगवान थे यह देखना हो तो भागवत में देखने को मिलेगा। दोनों ग्रंथ वेदव्यास ने लिखे हैं। परन्तु उन्होंने भागवत ग्रंथ क्यों लिखा? भागवत में श्रीकृष्ण किसी का लड़का नहीं है वे भगवान हैं। महाभारत की नींव में इतिहास है और भागवत की नींव में भक्ति है। नीति व जीवनरहस्य की नींव में भक्ति होनी चाहिए इसलिए भागवत की निर्मिति हुई है। नीतिमत्ता भक्ति से खड़ी होनी चाहिए। हम स्वाध्यायियों ने भी इसी मार्ग को स्वीकार किया है। इसलिए हम दावे के साथ कह सकते हैं कि हम असली भागवत हैं। हम भक्तिफेरी के लिए गाँव-गाँव में जाते हैं। भक्ति से स्वच्छता और एकता निर्माण करनी है। मानव में से दुर्गुणों को निकालना है। उसे भक्ति से ही करना है। इन सबकी

नींव में भक्ति होनी चाहिए। यह ध्यान में रखकर ही हम कार्य करते हैं। इसलिए हम असली भागवत हैं।

हम तिलक कौन सा लगाते हैं, लगाते हैं या नहीं, यह अलग बात है। तिलक लगाना ही चाहिए, नहीं लगाना चाहिए ऐसा मेरा कहना नहीं है।

जो व्यक्ति बीड़ी पीकर धुआँ निकालता है, उसकी बीड़ी छुड़ाना है परन्तु वह भक्ति से करना है, न कि आर्थिक दृष्टि से। बीड़ी पीने से तुम्हारा फेफड़ा खराब हो जायेगा यह भय दिखाकर नहीं! भागवत में यही विचारधारा है। नीतिमत्ता या अन्य जो कुछ होगा वह भक्ति के रूप में होना चाहिए। यही भागवत ग्रंथ में प्रतिपादित किया गया है।

इस जगत् में पढ़ने योग्य अनेक ग्रंथ हैं। माया का वर्णन करनेवाले ग्रंथ हैं, कितने ही आत्मज्ञान समझानेवाले ग्रंथ हैं, नीति का प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथ हैं, परन्तु सभी विचार कथानक के रूप में कहकर सहज सुलभ बनाकर सामान्य जनों के हाथ में यदि किसी ने दिये होंगे तो वे भागवत ने दिये हैं। भागवत में आत्मज्ञान है, नीति है, सब है और वह कथानक के रूप में वेदव्यास ने कहा है। इतना ही नहीं तो वेदान्त में जो तत्त्वज्ञान है उसको आचरण में कैसे लाना यह कहने का आग्रह भागवत में है। यही उस ग्रंथ की महत्ता है।

हमने सुना कि महाभारत लिखने के बाद वेदव्यास को शोक हुआ। नारदजी के साथ उनका संभाषण है कि जब तक मैंने कृष्णलीला नहीं कही तब तक मैं अशान्त हूँ। लोग प्राकृतिक होते हैं और जैसे शब्द होते हैं वैसा ही अर्थ वे समझते हैं। परन्तु शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं इसका उन्हें ज्ञान नहीं है। उदाहरणस्वरूप-गर्मी के दिन हैं, माँ घर में बैठी हुई कुछ काम कर रही है, लड़की पूछती है, 'माँ खेलने के लिए बाहर जाऊँ?' माँ कहती है, बेटी बाहर कड़ी धूप है, इस समय मत जा। लड़की माँ से बार बार यही सवाल पूछती है। अन्त में ऊबकर माँ कहती है, 'जा, मर जा!' यहाँ 'मर जा' का अर्थ 'जीओ' ऐसा है। माँ का शब्दकोश ही भिन्न होता है। शब्द के सभी अर्थ शब्दकोश में नहीं मिलते, वे दिमाग और दिल में मिलते हैं।

वेदव्यास कहते हैं, **'सोऽहं भगवद् शोचामि...** मैं शोक करता हूँ।' इतना तत्त्वज्ञान कहने के बाद भी वेदव्यास को शोक होता होगा तो उस तत्त्वज्ञान की कोई आवश्यकता ही नहीं है। परन्तु उन्होंने किस रूप में कहा और हमने किस रूप में समझा? गीता कहने के बाद कुछ परिशिष्ट जोड़ने आवश्यक हैं ऐसा उन्हें लगा। उन्हें लगा कि 'मैंने अब तक पूर्ण रूप से तत्त्वज्ञान नहीं कहा है। विचारों की बैठक में किस चीज को रखकर मानवजाति को ऊपर लाना है? इतिहास रखकर नहीं! मानव को तत्त्वज्ञानी बनाना है, परन्तु भक्ति की बैठक से! इसलिए उन्होंने कहा, **'सोऽहं भगवद् शोचामि...'** मैं शोक करता हूँ।

महाभारत के युद्ध में रणांगण में भगवान आये तब उन्होंने केवल अर्जुन को गीता कही। जब सृष्टि को छोड़ने का समय आया तब उन्होंने उद्धव को उपदेश दिया। वेदव्यास को लगा

कि 'भगवान ने रणांगण में जो तेजस्वी तत्त्वज्ञान कहा है वह मुझे समाज को कहना चाहिए, कारण जो मुझे ज्ञात है उसे उनको कहना चाहिए जिनको ज्ञात नहीं हैं। उसी प्रकार सृष्टि को छोड़ते समय भगवान ने भक्त उद्धव को जो उपदेश दिया वह मैं जब तक समाज को नहीं कहूँगा तब तक मेरा काम पूर्ण नहीं होगा, इसलिए मैं शोक करता हूँ।' **'सोऽहं भगवद् शोचामि'** इसलिए मुझे कहना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वेदव्यास व्यथित-दुःखी थे। उनको लगा कि जब तक यह तत्त्वज्ञान मैं समाज को न कहूँ तब तक मेरा कार्य अपूर्ण है। इसीलिए भागवत की निर्मिति हुई है। उद्धव को दिया हुआ उपदेश फिर से कहना है।

भागवत की ओर जब मैं देखता हूँ तब मेरी अवस्था कैसी होती है? एकाध अकिंचन व्यक्ति, जिसके पास कुछ नहीं है, जिसकी जेब ही फटी हुई है, जिसने कभी रत्न देखे ही नहीं हैं, ऐसे अकिंचन व्यक्ति को कोई सुवर्णप्रासाद में ले जाता है तब उसकी अवस्था कैसी होती है? जब वह एकाध रत्न देखता है तो उसे उठा लेने का मन होता है, इतने में दूसरा रत्न देखता है तो पहला उठाया हुआ रत्न नीचे रख देता है और दूसरा रत्न उठाता है, इतने में तीसरा रत्न दीख पड़ता है, तब यह लूँ या वह लूँ? ऐसा करते करते कुछ लिये बिना ही वह प्रासाद के बाहर निकल आता है। वह रत्न नहीं ले पाता। भागवत की ओर देखने पर मेरी अवस्था भी वैसी हो जाती है। मन में सोचने लगता हूँ कि क्या कहूँ? क्या नारदमुनि की कथा कहूँ? जो कितनी दैवी है! क्या हिरण्याक्ष के साथ जो युद्ध हुआ उसका वर्णन अति सुन्दर है वह कहूँ! क्या ध्रुव का चरित्र कहूँ? वह तो लोकोत्तर और दैवी है। क्या मैं भी पृथु, वृषभ, प्रियव्रत के चरित्रों का वर्णन करूँ? वे भी लोकोत्तर ही हैं! पुरंजन का रूपक कहूँ? अलौकिक रूपक है वह! या फिर प्रह्लाद की भक्ति का वर्णन करूँ? अथवा गोपियों के अनुपम प्रेम का वर्णन करूँ? अनुपम जिसे उपमा नहीं है, ऐसा गोपियों का प्रेम है वह कहूँ? या जड़भरत की कथा कहूँ जिससे तत्त्वज्ञान भी मालूम पड़ेगा। अथवा श्रुतियों ने भगवान का जो वर्णन किया है, जिसे वेदस्तुति कहते हैं, वह कहूँ? मुझे तो लगता है कि एक भी विषय ऐसा नहीं है, जो उसमें न आया हो। वेदस्तुति कहूँ तो सभी विषय उसमें यथार्थ हो जायेंगे। ऐसा मन में आता है इतने में आँखों के सामने एकादश स्कन्ध खड़ा हो जाता है। उसमें सारा तत्त्वज्ञान आ जाता है। यह सब देखते हुए पहले वर्णन किये हुए अकिंचन व्यक्ति के जैसी मेरी अवस्था हो जाती है कि भागवत के प्रासाद से मैं भी बाहर निकल जाऊँगा। परन्तु प्रथम कल्पित अकिंचन व्यक्ति के जितना मैं गैरजिम्मेदार नहीं हूँ...। क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरे सामने जो हजारों लोग बैठे हैं वे बड़े प्रेम से बैठे हैं। मेरा वैसा ही निकल जाना योग्य नहीं होगा। कारण वह अकिंचन कल्पित व्यक्ति था, वह चला गया, मैं नहीं जा सकता। मुझे तो किसी भी रत्न को उठाना पड़ेगा और उस पर बोलना पड़ेगा!

भागवत की महत्ता किन शब्दों में कहूँ? गीता और भागवत दोनों भागवत धर्म के प्रमाणभूत ग्रंथ हैं। 'भागवत' जैसा ग्रंथ है, वैसा 'भागवत धर्म' है, 'भागवत विचारधारा' है। महाराष्ट्र में वारकरी सम्प्रदाय चलता है वैसे ही भागवत सम्प्रदाय, वैष्णव संप्रदाय भी चलते

हैं। ज्ञान और भक्ति दोनों का सुमेल भागवत में देखने को मिलता है। इसलिए परम ज्ञानी और परम भक्त दोनों को यह ग्रंथ अपना ही लगता है। इस ग्रंथ के लिए दोनों व्याकुल होते हैं।

कृष्णभक्ति के अलग-अलग सम्प्रदाय भारत में हुए हैं। इन सभी सम्प्रदायों की 'आद्य संहिता' भागवत है। भागवत ज्ञानपूर्ण भक्तिप्रधान ग्रंथ है। भागवत की रासक्रीड़ा मधुरा भक्ति का अन्तिम दर्शन है। भागवत ज्ञानी भक्त तक ले जानेवाली संहिता है। लोग कहते हैं भागवत में केवल भक्ति है, परन्तु ऐसा नहीं है। भागवत का प्रथम श्लोक ही आप देखिये:

'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ने स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि...।।'

यह ज्ञानी का ही श्लोक है, पूर्ण ज्ञानी का श्लोक है। उसमें परम ज्ञान और परम भक्ति है।

एक आश्चर्य की बात है। लोगों को लगता था कि संस्कृत भाषा के साहित्य का अंग्रेजी में भाषांतर हुआ होगा तो प्रथम गटे ने 'शाकुन्तल' का किया है। आज भी अनेक विद्वानों की यही धारणा है, परन्तु ऐसा नहीं है। वारन हेस्टिंग्ज-भारत का प्रथम गव्हर्नर जनरल ने जब अंग्रेजी भाषा भारत में आयी भी नहीं थी तब कड़े परिश्रम उठाकर भागवत का अंग्रेजी में भाषान्तर किया है। इस बात का स्पष्ट उल्लेख इमर्सन का लिटरेचर नामक निबंध में देखने को मिलता है। भागवत का अंग्रेजी में भाषान्तर करने की वारन हेस्टिंग्ज को इच्छा हुई, इतना सुन्दर यह ग्रंथ है।

भागवत की महत्ता स्वयं भागवतकार ही वर्णन करते हैं। कितने ही ग्रंथ ऐसे होते हैं कि उनकी महत्ता दूसरा कोई समझ नहीं सकता। उस समय स्वयं लेखक को उनकी महत्ता लिखनी पड़ती है। यही स्थिति भागवत के सम्बन्ध में है। भागवतकार ने स्वयं भागवत की महत्ता लिखी है उससे भी अधिक भागवत की महत्ता पद्मपुराण में है।

पद्मपुराण में लिखा है कि श्रीकृष्ण भगवान यह निश्चित करके कि 'मैं अब विश्व को छोड़कर जा रहा हूँ' जब निजधाम जाने लगे, इतना गंभीर प्रसंग इस भारत में दूसरा कोई नहीं हुआ होगा। जिन्होंने सभी को प्राण दिये, वे तेज का मूर्तिमन्त आविष्कार, प्रेम और करुणा का अवतार, सभी के, चाहे अनपढ़ हो या पढ़ा लिखा हो हृदय के लाल ऐसे श्रीकृष्ण भगवान जब जगत् को छोड़कर जाने लगे, उस समय कैसी स्थिति हुई होगी इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसमें उद्धव अत्यधिक व्यथित हुए। सामान्यों को तो व्यथा हुई ही होगी। भगवान जब जगत् छोड़कर जाने की भाषा बोलने लगे तब उनके परिवार के लोगों की क्या अवस्था हुई होगी? जो महान कर्मयोगी थे, महान् ज्ञानी थे, महान् योगी थे, भक्ति का मार्ग दिखानेवाले थे, प्रत्यक्ष स्वयं भगवान **-कृष्णस्तु भगवान् स्वयं-** थे, वे स्वयं

जाने लगे तब अत्यन्त व्यथित होकर उद्धव कहते हैं, 'भगवान! आप जा रहे हैं, परन्तु लोगों से आपका विरह कैसे सहन होगा? आपने जो लीला की है, जो प्रेम दिया है, जो करुणा दिखायी है, समाज को बुद्धिचातुर्य प्रदान किया है, इन सबका विचार करते हुए लगता है कि आप हमारे हृदय में से नहीं जा सकेंगे। हृदय में आपकी ही मूर्ति रहेगी। आपके चले जाने के बाद क्या हमें निर्गुण-निराकार की उपासना करनी पड़ेगी? जिनको एक बार सगुण-साकार ने प्रेम देकर पागल बनाया है वे निर्गुण-निराकार में मग्न भी कैसे हो सकेंगे? उसमें वे तल्लीन कैसे होंगे? कितनी कठिन समस्या आपने खड़ी कर दी है भगवान!'

उस समय कुछ विचारकर भगवान ने कहा, "उद्धव! तेरी चिन्ता मैं समझ सकता हूँ। सबको छोड़कर मुझे भी जाना है। **'जातस्य हि ध्रुवोर्मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।'** इस नियम के अनुसार मुझे भी जाना है। यहाँ से जाते समय जिस प्रकार तुम सबको दुःख हो रहा है वैसा दुःख मुझे भी हो रहा है। परन्तु वेदव्यास भागवत में भक्ति का चित्रण करेंगे, भागवत तो मेरी वाङ्मयीन मूर्ति है ऐसा भगवान स्वयं पद्मपुराण में कहते हैं। भागवत की महत्ता समझाने के लिए पद्मपुराण में बहुत सुन्दर वर्णन किया है। भागवतकार ने भी भागवती महत्ता वर्णन की है, परन्तु पद्मपुराण में भी भागवत की महिमा गायी गयी है।

भागवत का तत्त्वज्ञान, भागवत की उपासनापद्धति और भागवत का कथासंग्रह इनमें दो परम्परायें दिखायी देती हैं। जिन्होंने भागवत का अध्ययन किया होगा उनके लिए कह रहा हूँ। एक परम्परा विष्णु से प्रारंभ हुई है। विष्णु ने ब्रह्मदेव को भागवत दिया, ब्रह्मदेव ने नारद को और नारद ने वेदव्यास को और वेदव्यास ने शुकदेव को भागवत दिया। शुकदेव ने सूत को और सूत ने शौनक को भागवत कही। इस परम्परा का वर्णन भागवत में प्रथम, द्वितीय और बारहवें स्कन्ध में है। एक विशिष्ट उपासनापद्धति, विशिष्ट विचारधारा, विशिष्ट तत्त्वज्ञान और विशिष्ट कथासंग्रह निश्चित हो जाने के बाद उसे समाज के अन्तिम मानव तक ले जाने के प्रयत्न किये गये हैं। उसमें दो प्रकार हैं। एक परम्परा तो ऊपर कही गयी है। दूसरी परम्परा में भागवत विष्णु ने शेष को कहा, शेष ने सनतकुमार को, सनतकुमार ने सांख्यायन को, सांख्यायन ने पराशर को, पराशर ने मैत्रेय को और मैत्रय ने विदुर को कहा है। ये दोनों परम्पराएं प्रभावी हैं। भागवत के प्रथम व बारहवें स्कन्ध तक विचार करना है कि ये दो परम्परायें क्यों हैं, किसलिए हैं, इन दो परम्पराओं से कौन सी अलग-अलग बातें मालूम होती हैं? यह विचार कहने में भगवान बुद्धि देंगे और भूल न गये तो विचार करेंगे। परन्तु भागवत में ये दो परम्परायें दिखायी देती हैं।

भागवत में कथानक तो है ही, अन्य सब है, परन्तु भागवत में विषय कौन से आये हैं? भागवत के द्वितीय स्कन्ध के दसवें अध्याय के प्रथम श्लोक में इसका वर्णन है।

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशकथा, निरोध, मुक्ति व आश्रय ये दस विषय भागवत में हैं।

मैं खास ये विषय कहता हूँ, कारण कुछ पण्डित विवाद करके भागवत को निम्न स्तर की संहिता मानते हैं। उनका कहना है कि भागवत में विकास-परम्परा योग्य क्रम *(in order)* में नहीं है, पहले **'सर्ग'** व बाद में **'विसर्ग'** कहा है। परन्तु सर्ग का अर्थ क्या है? **'भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः-'** भूत, इन्द्रियाँ और पंच तन्मात्रा, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच महाभूत, अहंकार व बुद्धि-इनको **'सर्ग'** कहते हैं। इनकी उत्पत्ति प्रथम हुई है इसे प्राकृतिक सर्ग कहा गया है। इस **'सर्ग'** के बाद **'विसर्ग'** कहा है। विसर्ग यानी सृष्टि-पशुसृष्टि, वनस्पतिसृष्टि और मनुष्यसृष्टि! यही पंडितों का प्रथम शंकास्थान है। भागवत ज्ञानपूर्ण, ज्ञानप्रधान ग्रंथ है या आबाल-वृद्ध, स्त्रीपुरुषों को समझाने के लिए लिखा हुआ ग्रंथ है? यदि ऐसा हो तो उसमें **'सर्ग'** के बाद **'विसर्ग'** क्यों कहा है? उसमें क्रम (*order)* जैसा कुछ नहीं है। भागवत के जो हिमायती हैं वे कहते हैं कि छन्दानुक्रम होने के कारण ऐसा लिखा गया है। परन्तु यह सच नहीं है। कहनेवाला कहता है तब सोचसमझकर, जानबूझकर कहता है। पहले **सर्ग** और बाद में **विसर्ग**। पंच-ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच महाभूत, पंच कर्मेन्द्रियाँ, अहंकार और बुद्धि ऐसा स्पष्ट भाषा में उसने **'सर्ग'** शब्द का अर्थ भागवत में लिखा है। भूत, इन्द्रियाँ और बुद्धि को सर्ग-कहा जाता है। उसे प्राकृतिक सर्ग कहा गया है।

सिर्फ पढ़े लिखे लोगों को लगता है कि जब तक शरीरसृष्टि का निर्माण नहीं हुआ था, तब इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इनकी निर्मिति हुई यह कहना अशास्त्रीय है। यह बात तत्त्वज्ञान में नहीं बैठती। सर्ग में तुम पंच महाभूत और पंच तन्मात्रा ले सकते हो। परन्तु भागवतकार ने निश्चित रूप से कहा है: **'अत्र सर्गो विसर्गश्च...'** उनका क्रम बदलने की हमें आवश्यकता नहीं है, हमारा अधिकार भी नहीं है। जिन्होंने **'ब्रह्मसूत्र'** जैसा ग्रंथ लिखा है उन्होंने ही भागवत लिखा है। वे कोई सामान्य कथा करनेवाले व्यास नहीं थे। परन्तु पढ़े लिखे लोगों को लगता है कि यह सब प्राणीसृष्टि निर्माण होने के पहले इन्द्रियाँ कैसे निर्माण हुई? इन्द्रियाँ, अहंकार, बुद्धि जिन्हें 'सर्ग' कहते हैं वे प्रथम निर्माण हुई और उसके बाद 'विसर्ग' निर्माण हुआ ऐसा भागवतकार कहते हैं। सामान्य लोगों को भी यह सन्देह होगा कि पहले 'सर्ग' और बाद में 'विसर्ग' कैसे होगा? परन्तु ग्रंथकार ने ही स्वयं 'सर्ग' का अर्थ लिख रखा है, अतः हम उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकेंगे।

पचास-सौ साल पहले शिक्षित लोग जिस प्रकार लामार्क, डार्विन, हेगेल आदि पाश्चात्य विद्वानों का साहित्य पढ़ते थे वैसा पौर्वात्य *(Eastern)* वाङ्मय भी पढ़ते थे। इस प्रकार का अध्ययन आज नहीं रह गया है। आज तो जानकारी का शिक्षण *(Informative Education)* आ गया है। अध्ययन की शक्ति और वृत्ति कम हो गयी है। उस जमाने में ऐसा नहीं था। लामार्क, डार्विन, हेगेल तथा विकासवाद को पढ़ने के बाद एक शंका निर्माण होती है कि इन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और बुद्धि निर्माण होने से पशुसृष्टि तथा

मनुष्यसृष्टि पहले निर्माण हुई या बाद में? ऐसा बोलना शास्त्र के अनुसार नहीं है, वह शास्त्र में नहीं बैठता! परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि विकासवाद की सहायता से क्या सृष्टि का गूढ़ रहस्य खोला जा सकता है? हम इतना कह सकते हैं कि विकासवाद ने सृष्टि का गूढ़ रहस्य खोलने का प्रयत्न किया। इसीलिए मैं कहता हूँ कि विकासवाद व पुनर्जन्मवाद इन दोनों का सम्बन्ध बड़ा मनोरंजक है।

पुनर्जन्म की कल्पना को हमने स्वीकार किया है। पुनर्जन्म का विचार इस समय अलग रखेंगे तो भी पुनर्जन्म के बाद जीव का अस्तित्त्व रहता है, यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध हुई है। उसकी विकासवाद के साथ संगति कैसे होगी? यह एक बोधप्रद विषय है। परन्तु हम इस समय पुनर्जन्म को अलग ही रखेंगे क्योंकि सेमेटिक लोग पुनर्जन्म को नहीं मानते हैं फिर भी मृत्यु के बाद जीवतत्त्व रहता ही है यह बात सिद्ध हो चुकी है। बाह्य स्थूल देह की मृत्यु से सूक्ष्मदेह-लिंग देह का नाश नहीं हो सकता। यहाँ एक प्रश्न निर्माण होता है कि क्या बिना स्थूलदेह के सूक्ष्मदेह लिंग देह रह सकता है? हाँ! रह सकता है। इतना ही नहीं बाह्य देह पर सूक्ष्मदेह सत्ता चलाता है। देहपात के बाद सूक्ष्मदेह जीवित रह सकता है तो फिर स्थूलदेह के अस्तित्व के पूर्व भी सूक्ष्म-लिंगदेह का अस्तित्व संभव है। सूक्ष्मदेह इतना शक्तिशाली *(powerful)* है कि उसकी स्थूलदेह पर सत्ता चलती है। एक स्थूलदेह को छोड़कर वह दूसरा स्थूलदेह बना लेता है। इस प्रकार स्थूलदेह के पहले सूक्ष्मदेह का अस्तित्त्व हो सकता है। स्थूलदेह के पहले इन्द्रियाँ नहीं थीं ऐसा मानना बेकार है। हाँ, यह बात सत्य है कि इन्द्रियों का अर्थ हाथ, पैर आदि स्थूल इन्द्रियाँ नहीं है। **भूतेन्द्रियधियां जन्म...** कहनेवाली भागवत संहिता है। यहाँ इन्द्रियाँ सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं, स्थूल नहीं।

इस तत्त्वज्ञान ने 'सूक्ष्मदेह' बताकर कितनी गड़बड़ी कर दी है! तत्त्वज्ञानी को इस प्रकार गड़बड़ी करने की आदत ही होती है। वे कुछ ऐसा बोल देते हैं कि सामान्य व्यक्ति के मस्तिष्क में उतरता ही नहीं! स्थूलदेह सूक्ष्मदेह ऐसा कुछ बोल देते हैं कि सूक्ष्मदेह, इन्द्रियों के पहले ही हुआ था, उसके साथ ये पढ़े लिखे लोग व्यवहार भी करते हैं। ऐसा होते हुए भी वे लोग उसके सम्बन्ध में शंका करते हैं यह आश्चर्य की बात है। केवल शंका ही नहीं, उस शंका से भागवत पर आरोप करते हैं। उनकी दृष्टि में भागवत तत्त्वज्ञान का ग्रंथ नहीं है कारण तत्त्वज्ञान का जो क्रम होना चाहिए वह उसमें नहीं है। उत्पत्ति के सम्बन्ध में जब प्राणीसृष्टि निर्माण नहीं हुई थी तब इन्द्रियाँ और बुद्धि कैसे निर्माण हो सकती हैं? परन्तु सूक्ष्मदेह, लिंगदेह तत्त्वज्ञानियों द्वारा निर्मित नहीं है। वह हक़ीकत है। इसकी विस्मृति इन पढ़े लिखे लोगों को हुई है।

स्वप्न में हम चलते हैं, लिखते हैं, सुनते हैं, बोलते हैं, स्पर्शेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग करते हैं इसका अनुभव हमें नित्य होता है। तब हमारा स्थूलदेह कहाँ होता है? क्या उस समय स्थूलदेह होता है? क्या सूक्ष्मदेह के साथ उसका सम्बन्ध होता है? इसलिए सूक्ष्मदेह का स्थूलदेह के पहले होना यह तर्कयुक्त *(logical)* है, योग्य है, शास्त्रीय है। इसलिए भागवत का जो विषय है कि सूक्ष्मदेह पहले होता है, वह बराबर है। इसका क्या

हमें प्रतिदिन अनुभव नहीं होता? प्रत्येक व्यक्ति स्वप्न देखता है। उसमें हम बोलते हैं, चलते हैं, घूमते हैं, ज्ञानेन्द्रियों तथा स्पर्शेन्द्रियों का उपभोग भी लेते हैं। उस समय स्थूलदेह कहाँ होता है? और यदि स्थूलदेह न हो, तो उसका अनुभव होता है वह क्या भ्रम है? सत्य ही है। शंकराचार्य ने तो इस पर वेदान्त का एक श्लोक लिखा है।

स्वप्नस्त्रीसंगसौख्यादपि भृशमसतो या च रेतश्च्युतिः स्यात्
सा दृश्या तद्वदेतत्स्फुरति जगदसत्कारणं सत्यकल्पम्।
स्वप्ने सत्यः पुमान्स्याद्युवतिरिह मृषैवानयोः संयुतिश्च
प्रातः शुक्रेण वस्त्रोपहतिरिति यतः कल्पनामूतमेतत् ।। (शतश्लोकी-३६)

अतः उस समय कौन सी सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं? सूक्ष्म इन्द्रियाँ स्थूल इन्द्रियों को छोड़कर अनुभव लेती हैं। तो फिर 'स्थूल इन्द्रियों के पहले सूक्ष्म इन्द्रियाँ निर्माण हुई' ऐसा कहना क्या तर्कयुक्त *(Logical)* है? अतः भागवतकार ने पहले '**सर्ग**' लिखा है वह तर्कयुक्त है। भागवतकार ने **भूतेन्द्रियधियां जन्म...** जोर देकर निश्चित रूप से जो कहा है वह पादपूर्ति या वाक्यपूर्ति के लिए पहले **सर्ग** फिर **विसर्ग** ऐसा नहीं लिखा है। भागवत में जो कहा है वह योग्य क्रम में ही कहा है। प्राकृतिक सर्ग पहले होगा। उसमें सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ, सूक्ष्मदेह, लिंगदेह पहले होगा और उसके बाद ही विसर्ग होगा। अतः भागवत का कहना तर्कयुक्त लगता है, बौद्धिक सत्य लगता है। यह बात मैंने इसलिए कही क्योंकि तत्त्वज्ञान का अभ्यास करनेवाले, विशेषतः लार्माक, डार्विन और हेगेल का अभ्यास करनेवाले लोगों का यही आरोप है कि भागवत ने उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसा भ्रम फैलाया है जिससे लगता है कि यह कहानी कहनेवाला ग्रंथ है। परन्तु भागवत ने जो कहा है वह निःसन्देह ही तर्कयुक्त, शास्त्रीय है।

बिना सूक्ष्मदेह के स्थूलदेह की उत्पत्ति संभव ही नहीं। प्रथम सूक्ष्मदेह और उसके बाद स्थूलदेह की निर्मिति हुई है। स्थूलदेह की निर्मिति के बाद इन्द्रियाँ निर्माण नहीं हुई हैं। प्रथम सूक्ष्मदेह, उसके बाद उसे खेलने के लिए, उसकी आवश्यकता के लिए स्थूलदेह की निर्मिति है। लामार्क, डार्विन स्वीकारने होंगे तो पहले सूक्ष्मदेह और उसके बाद स्थूलदेह की निर्मिति माननी पड़ेगी। यह बात शास्त्रीय लगती है।

हम तो चैतन्यपूर्वक सृष्टिरचना को मानते ही हैं, और भागवत आदि पौराणिक ग्रंथ भी चैतन्यपूर्वक सृष्टिरचना मानते हैं। हमारी दृष्टि में संपूर्ण सृष्टि इच्छापूर्वक है, और हेगेल वगैरह की दृष्टि में सम्पूर्ण सृष्टि जड़पूर्वक है। चैतन्यपूर्वक निर्मित सृष्टि माननेवाले पौर्वात्य लोग अधिक शास्त्रज्ञ हैं और वे जो कह रहे हैं वह पूर्ण तर्कयुक्त *(Logical)* है। हेगेल आदि लोग निर्मित सृष्टि इच्छापूर्वक नहीं मानते, वे जड़पूर्वक सृष्टि की निर्मिति मानते हैं।

आज की पीढ़ी तो सोचती ही नहीं! उसके सम्बन्ध में विचार करना ही व्यर्थ है। उसे तो केवल रोटी, खेल-कूद, सिनेमा इसके आगे और कुछ दिखता ही नहीं। वे **पश्यति इति पशुः-** स्थूल इन्द्रियाँ जान सकें उतना ही देखते हैं तथा मानते हैं। एक पीढ़ी ऐसी थी जो न आस्तिक थी न नास्तिक, वह अज्ञेयवादी थी। उसके ऊपर तत्त्वज्ञान के पुरातन

संस्कार थे और नये विचार थे। उन्होंने स्पेन्सर को पढ़ा था तथा लामार्क, डार्विन, हेगेल को भी पढ़ा था, इसलिए उनकी ऐसी दृष्टि बन गयी थी। इसी कारण पौराणिक ग्रंथ निम्न स्तर के हैं ऐसा वे समझते थे। भागवत में जो उत्पत्तिक्रम लिखा है वह ठीक नहीं है ऐसा वे मानते थे। ऐसा जो बड़े बड़े लोग लिखते हैं उनकी विद्यापीठ की उपाधियों की पूँछ देखकर, हमें, सामान्य अनपढ़ लोगों को वे सच्चे लगते हैं, इसलिए हम उनको मान्यता देते हैं और उनके विचार हमें सच्चे लगते हैं।

प्रथम इन्द्रियाँ और बुद्धि निर्माण हुई और उसके बाद शरीर कैसे निर्माण हुआ? उनसे स्थूलदेह और सूक्ष्मदेह की बात करेंगे तो कहते हैं, तत्त्वज्ञानी गोलमाल करते हैं। परन्तु स्वप्न में बिना स्थूल देह के हमें अनुभव होता है। स्थूल देह के बिना सूक्ष्मदेह काम करता है। कभी कभी तुम्हारे स्थूल हाथ-पैर काम नहीं करते, फिर भी ज्ञानेन्द्रियाँ काम करती हैं। चैतन्यपूर्वक सृष्टि मानने का पौर्वात्य तत्त्वज्ञानियों का आग्रह है। वे लोग 'सृष्टि इच्छापूर्वक निर्माण हुई है ऐसा मानते हैं और हेगेल इत्यादि पाश्चात्य लोग जड़पूर्वक सृष्टिनिर्मिति को मानते हैं। परन्तु जड़प्रधान सृष्टि माननेवाले लोग भी क्या प्रच्छन्न चैतन्यवादी नहीं हैं?

मेरी दृष्टि में हेगेल भी पूर्ण जड़वादी नहीं है, वह प्रच्छन्न चैतन्यवादी है। लोगों ने शंकराचार्य पर भी प्रच्छन्न बौद्ध होने का आरोप लगाया था। उस समय के लोग कहते थे कि शंकराचार्य तत्त्वज्ञान तो वैदिक कहते हैं परन्तु वे प्रच्छन्न बौद्ध हैं। ऐसा आरोप मैं नहीं लगाता हूँ, मैं तो यह सिद्ध करता हूँ कि हेगेल आदि तत्त्वज्ञानी प्रच्छन्न चैतन्यवादी थे।

तत्त्वज्ञान का अभ्यास करनेवाले लोगों को पता होगा कि हेगेल आदि तत्त्वज्ञानियों का *Law of Substance* क्या है! हेगेल के इस *Law of Substance* के अनुसार प्रकृति का स्वभाव इस प्रकार का है कि प्रकृति में से चैतन्य क्रम-क्रम से विकसित हुआ है। इसका अर्थ ही यह है कि अविकसित अथवा अव्यक्त रूप में चैतन्य प्रकृति में है, इसीलिए तो वह विकसित हुआ है, अन्यथा विकसित कैसे होता? **'नासते विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः-'** उनका कहना है कि असत्, मिथ्या वस्तु का अस्तित्व नहीं होता तथा सत् चैतन्य का अभाव नहीं होता। हेगेल के *Law of substance* के गहरे पानी में मैं नहीं जाता हूँ, परन्तु दिमाग में यह बात रहनी चाहिए कि भागवत तत्त्वज्ञान का ग्रंथ है। मैं यह इसीलिए कह रहा हूँ कि भागवत पर यह प्रथम आरोप है कि उसमें जो उत्पत्ति दिखायी गयी है उसमें अव्यवस्थितता है। कारण पहले **'सर्ग'** और बाद में **'विसर्ग'** ऐसा भागवत में कहा है। परन्तु चैतन्यपूर्वक सृष्टिनिर्मिति हुई है इसलिए भागवत ने प्रथम सर्ग तथा बाद में विसर्ग कहा है। वह ठीक ही है। अब इन दस विषयों पर क्रमशः विचार करेंगे।

१) **सर्गः-** अर्थात् **'भूतमात्रेन्द्रियाणां जन्म सर्ग उदाहृतः'** प्रथम इन्द्रियाँ और बुद्धि का जन्म हुआ और उसके बाद शरीर उत्पन्न हुआ ऐसा कहनेवाले पुराण कितने बुद्धिनिष्ठ होंगे ऐसा कुच्छ लोग पूछते हैं। हमने देखा कि सृष्टि की निर्मिति इच्छापूर्वक है, जड़पूर्वक नहीं है। हेगेल आदि लोग जड़पूर्वक सृष्टि मानते हैं, परन्तु वैसा नहीं है। सृष्टि की निर्मिति इच्छापूर्वक होने से इन्द्रियाँ और बुद्धि प्रथम निर्माण हुई हैं। लिंगदेह-सूक्ष्मदेह प्रथम निर्माण

होता है और वह स्थूलदेह का निर्माण कर सकता है। निद्रा-स्वप्न में हम उसका अनुभव भी लेते हैं। बिना स्थूल देह के भी हम कुछ क्रियाएं करते हैं। सूक्ष्मदेह स्थूलदेह के बिना भी काम कर सकता है। भागवत यह नहीं कहता कि हाथ, पैर, इत्यादि निर्माण हुए। वह कहता है कि प्रथम हाथ, पैर निर्माण हुए; प्रथम ज्ञानेन्द्रियाँ और बाद में कर्मेन्द्रियाँ निर्माण हुई। उसीको **सर्ग** कहा गया है।

२) **विसर्ग-** सत्त्व, रज, तम आदि गुणों के न्यूनाधिकता से जो सर्जन होता है उसे **विसर्ग** कहते हैं। सांख्यशास्त्रकारों की दृष्टि में सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था 'प्रकृति' है। उसमें जब विषमता आती है, न्यूनाधिकता होती है तब सृष्टि का विराट पुरुष निर्माण होता है। उस विराट पुरुष द्वारा बनायी हुई सृष्टि का वर्णन 'विसर्ग' रूप में आता है। उसे वैयक्तिक सृष्टि कहते हैं। इस सृष्टि में वनस्पति, पशु, पक्षी, पेट के बल पर चलनेवाले प्राणी, मनुष्य, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच आदि होते हैं। प्रथम प्राकृतिक सृष्टि, बाद में वैयक्तिक सृष्टि है।

प्रथम जो **सर्ग** है उसे तत्त्वज्ञान *(philosophy)* की भाषा में अभेद्य सर्जन *(Undifferentiated Creation)* कहते हैं और **विसर्ग** को भेद्य सर्जन *(Differentiated Creation)* कहा जाता है। सृष्टिनिर्माण-मनुष्यनिर्माण..... यह सब विसर्ग में आता है। भगवान ने केवल मनुष्य का कलेवर (ढांचा) ही निर्माण नहीं किया बल्कि उसमें कुछ भरा भी है- **संज्ञानम् विज्ञानम् प्रज्ञानम् आज्ञानम्...** यह सब उसमें भर दिया है।

३) **स्थानम्-** यह तीसरी बात है। किसी भी ग्रंथ का अध्ययन करना हो तो उसकी शास्त्रीय परिभाषा *(Terminology)* प्रथम जाननी चाहिए। जब तक उसका ज्ञान नहीं होता तब तक उसका भाषान्तर विपरीत हो सकता है। समझ लीजिये हम कहते हैं, 'इस व्यक्ति के पास गुण है।' परन्तु व्याकरण शास्त्र में हम कहेंगे, व्यवहार में गुण यानी अच्छे लक्षण। व्याकरणशास्त्र में स्वरों में जो परिवर्तन होता है उसे **'गुण'** कहते हैं। **अदेङ्गुणः** अ, ए अथवा ओ बनता है उसे गुण कहते हैं। परन्तु सामान्य संस्कृत जाननेवाले को भी इसका पता नहीं रहता। इसलिए भाषान्तर करके ग़लतफ़हमी खड़ी कर देता है। हठयोग प्रक्रिया में एक स्थान पर लिखा है-

गोमांसं भक्षयेत् नित्यं पिबेत् अमरवारुणीम्।
कुलीनं तदहं मन्ये इतरे कुलघातकाः।।

इसका स्थूल अर्थ करने से गलतफहमी होती है। इसका सरल अर्थ होता है कि 'गोमांस नित्य खाना चाहिए और प्रतिदिन शराब पीनी चाहिए, यह जो करेगा वह कुलीन और न करनेवाला कुलघातक है।' बड़ा ही अनर्थकारक अर्थ है यह! हठयोग की परिभाषा भिन्न है। उसको समझना चाहिए बाद में अर्थ करना चाहिए। जिस प्रकरण में उपरोक्त श्लोक लिखा है उसी प्रकरण में **'गोमांसभक्षण'** किसे कहते हैं यह भी लिखा हुआ है:

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्।।

यहाँ गो शब्द का अर्थ है जिह्वा! जीभ को टेढ़ी करके तालु तक ले जाने को 'गोमांसभक्षण' कहते हैं। यह एक हठयोग की प्रक्रिया है। अत: केवल भाषा आने से नहीं चलता। उस ग्रंथ के विषय की परिभाषा *(Terminology)* का ज्ञान होना चाहिए।

'स्थानम्' का अर्थ क्या है? **'भगवत: लोकमर्यादापालनेन प्रकर्ष: स्थानम्।** स्थानम् यानी स्थिति। कौन सी स्थिति? सृष्टि की उत्पत्ति के बाद एक अनुल्लंघनीय ईशसत्तात्मक कानून से सृष्टि का उत्कर्ष हुआ है। वह उत्कर्ष कैसे हुआ यह बताया है। उसे **'स्थानम्'** कहा है। **'उत्कर्ष: नाम स्थानम्- उत्कर्ष: नाम परमेश्वर:' 'स्थितिर्वैकुण्ठविजय:'** परमेश्वर की सृष्टि की उत्पत्ति में जो चतुरता है, विजय है भागवत में उसका वर्णन है। परमेश्वर ने जो कानून, नियम बनाये हैं उन्हीं के अनुसार सृष्टि चलती है। आप उस कानून को तोड़ नहीं सकते। ऐसे नियम, कानून बनानेवाला कैसा है? उदाहरणस्वरूप, शरीर को लीजिए, प्रकृति को लीजिए या पशुसृष्टि को लीजिए। पशु से पशु ही पैदा होता है। पशु से कोई मनुष्य आज तक पैदा नहीं हुआ है और न मनुष्य के उदर से पशु पैदा हुआ है। क्या किसी गौरीशंकर की पत्नी ने बिल्ली को जन्म दिया है? ऐसा आज तक नहीं हुआ है। इसका कारण उसके पीछे कुछ नियम हैं, कानून हैं। परमेश्वर के जो निश्चित नियम हैं वही उसका उत्कर्ष है, विजय है।

मानवशरीर का विचार कीजिए। डॉक्टर इतना कह सकते हैं कि अमुक अमुक डिग्री तक रक्तचाप *(Blood-Pressure)* होगा तो शरीर ठीक चलता है। परन्तु शरीर ठीक चलने के लिए इतना ही रक्तचाप चाहिए, यह नियम किसने बनाया? अमुक प्रमाण से रक्तचाप अधिक नहीं बढ़ना चाहिए, इतना डॉक्टर समझते हैं। शरीर में शर्करा *(sugar)* अमुक प्रमाण में होगी तो शक्ति आयेगी इतना डॉक्टर कह सकते हैं। शर्करा का प्रमाण अधिक बढ़ा तो डॉक्टर कहते हैं कि शर्करा का प्रमाण कम करो। परन्तु यह नियम बनाया किसने? यह निश्चित किया किसने? यकृत में से हेमोग्लोबिन बनता है इसका नियम किसने बनाया? भगवान ने। यही भगवान की अलौकिक विजय है। आज डॉक्टर्स कहते हैं, अमुक का प्रमाण इतना होना चाहिए यह किसने निश्चित किया? डॉक्टर्स या मनुष्य ने? अमुक प्रमाण से शर्करा शरीर में बढ़ेगी तो शरीर को खतरा है यह प्रमाण किसने निश्चित किया? भगवान ने ही निश्चित किया है। इसीलिए तो आज के डॉक्टर्स, वैज्ञानिक *(Scientists)* बौद्धिक नम्रता *(Intellectual modesty)* से कहते हैं कि वह हमने निश्चित नहीं किया। सभी प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही चलता है। वे कहते हैं, जो छुपा हुआ था, ढँका हुआ था वह हमने खोज निकाला। यह उन लोगों की बौद्धिक नम्रता है, और वह कम से कम उनमें होनी ही चाहिए। यह भगवान का उत्कर्ष है, विजय है। कितने ही लोग पूछते हैं कि 'यदि भगवान हैं तो जगत् में इतनी अव्यवस्था क्यों है?' अरे! कहाँ अव्यवस्था है? इस सृष्टि में कहीं भी अव्यवस्था नहीं है। व्यवस्थित सृष्टि चल रही है। प्रकृति को देखो,

पशुसृष्टि को देखो, मनुष्यसृष्टि को देखो, अपने शरीर को देखो, सर्वत्र नियमों के अनुसार ही चल रहा है ऐसा दीख पड़ेगा! तुम नियम खोजकर इतना जान सकते हो कि ऐसा होना चाहिए। उसमें तुम कुछ परिवर्तन करोगे तो दिक्कत खड़ी होगी। शरीर में रक्तचाप अमुक प्रमाण में ही होना चाहिए, शर्करा का प्रमाण इतने प्रतिशत होना चाहिए आदि जो संकेत हैं उनको किसने बनाया? जो मनुष्य अपनी बुद्धि से यह नहीं पूछता है कि ये नियम-कानून किसने बनाये हैं, वह मनुष्य, मनुष्य ही नहीं है। भगवान ने हमें बुद्धि दी है, बड़े प्रेम के साथ बुद्धि दी है। पशु से मानव मे विशेष क्या है? वैसे तो मानवसृष्टि से पशुसृष्टि प्रभावी है। परन्तु मानव के पास बुद्धि है, यही विशेष है। अन्यथा मानव के जैसा दुर्बल, कमजोर प्राणी सृष्टि में दूसरा कोई नहीं है। फिर भी वह नियम से चलता है। मानव तथा पशु दोनों के शरीर कानून से चलते हैं। इस कानून, नियम निश्चित करनेवाले को **स्थानम्** कहते हैं। अनादिकाल से आज तक भगवान के जो नियम हैं उनमें से एक भी नियम को तुम तोड़ नहीं सकते। प्रकृतिवृक्ष, वनस्पतिसृष्टि, पशुसृष्टि, मानवसृष्टि नियम से चल रही है। यह उत्कर्ष है। इस उत्कर्ष का वर्णन तुम्हें भागवत में पढ़ने को मिलेगा। तुम्हे भागवत में क्या क्या पढ़ने को मिलेगा वह भागवतकार ने लिख रखा है।

४) **पोषणम्-** अर्थात् '**पोषणं तदनुग्रहः**' उसीमें से सृष्टि निर्माण हुई है। '**तदनुग्रहः**' प्रभु का प्रेम, प्रभु की कृपा! प्रभु पर प्रेम करनेवालों तथा प्रभु का काम करनेवालों का अपनी कृपा से रक्षण करने की प्रभु की प्रतिज्ञा है। उसे '**पोषणम्**' कहते हैं। योग्य मार्ग से चलनेवालों को सँभालने की प्रतिज्ञा ही '**पोषणम् तदनुग्रहः**' है। प्रभु अन्तिम शक्ति है, अदृष्य *(unseen)* शक्ति है। इस अदृष्य शक्ति पर विश्वास रखकर चलनेवालों को कठिनाइयाँ भी आयेंगी, क्योंकि अदृष्य शक्ति पर प्रेम करना बहुत कठिन है। जो दृश्य है अर्थात् प्रत्यक्ष दिखायी देता है, उस पर प्रेम हो सकता है, परन्तु जो अदृष्य है उस पर प्रेम कैसे हो सकता है?

•

भगवान ने सभी के शरीर प्रमाणबद्ध और नियमबद्ध बनाये हैं। भगवान ही सभी के शरीर चलाते हैं, सँभालते हैं, परन्तु क्या किसीको उनकी कद्र *(appreciation)* है? भगवान के प्रेम को समझना तो अलग रहा, उल्टे मनुष्य सिगरेट का धुआँ निकालते हुए पूछता है कि क्या भगवान हैं? किधर हैं भगवान? अरे, 'किधर हैं भगवान!' ये जो शब्द तू जिस शक्ति से उच्चारता है वही शक्ति भगवान है। यदि वह शक्ति न होती तो तू इन शब्दों का उच्चार कर ही नहीं सकता था। परन्तु ऐसे मूर्ख लोगों के पीछे लोग भी दौड़ते हैं, कारण भगवान ने उनको बुद्धि दी है। भगवान ने बुद्धि तो दी है, परन्तु हमने निश्चित किया है कि उस बुद्धि को चलायेंगे ही नहीं। प्रसिद्ध लेखक वोल्टेअर ने एक जगह कहा है कि भगवान ने मनुष्य को बुद्धि दी है और मनुष्य ने यह कहकर उसका प्रतिशोध लिया है कि 'मैं बुद्धि चलाऊँगा ही नहीं। जीवन, धर्म, अध्यात्म, तत्त्वज्ञान किसी भी क्षेत्र में वह बुद्धि चलाता ही नहीं है। 'मैं बुद्धि चलाऊँगा ही नहीं' यह उसका सत्याग्रह है। वास्तव में वह सत्याग्रह न होकर असत्याग्रह है। भगवान ने कहा है कि 'पोषण करनेवाला मैं हूँ।' गीता में

भगवान ने यही कहा है, **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** जो अनन्यचित्त होकर मेरा काम करेगा उसका योगक्षेम मैं चलाऊँगा।' 'योगक्षेम' का अर्थ केवल दालरोटी नहीं है। **'योगक्षेम** अर्थात् **अप्राप्तस्य प्रापणं नाम योगः** और **लब्धस्य परिरक्षणं नाम क्षेम'** यह योगक्षेम की व्याख्या है। भगवान कहते हैं, 'तू योग्य मार्ग से चलता होगा, अनन्यचित्त होगा तो तेरे योगक्षेम का उत्तरदायित्व मुझ पर है। यदि तेरा उत्तरदायित्व मैं नहीं उठाता हूँ तो समझ ले कि तू अनन्यचित्त नहीं है।' जो भगवान के साथ अनन्यचित्त है उसके लिए यह भगवान का उत्तर है। **'पोषणं तदनुग्रहः** इस पोषण का विस्तारपूर्वक वर्णन आपको भागवत में पढ़ने को मिलेगा।

५) **ऊतयः** ऊति का अर्थ है कर्मवासना। वासना किसलिए? यह प्रथम प्रश्न खड़ा होता है। कर्म से फल, फल से वासना, वासना से जन्म और फिर जन्म से कर्म... यह चक्र **नेभिक्रमेण** चल रहा है। इसका वर्णन भागवत में है। उसी प्रकार बुरे कर्म तथा अच्छे कर्म की भी चर्चा उसमें है। जिसे हम पुण्यकर्म और पापकर्म कहते हैं उस पुण्यकर्म से कौन सी गति मिलती है और पापकर्म से कौनसी गति मिलती है। यह विषय भी भागवत में आया है। उसीको **ऊतयः** कहते हैं।

६) **मन्वन्तर-** यह शास्त्रीय शब्द है। मन्वन्तर शब्द का अर्थ लोग समझते हैं **'काल'** परन्तु मन्वन्तर का अर्थ है, सद्धर्म का पालन। भागवत कहता है, **'मन्वन्तराणि सद्धर्मः'** सद्धर्म का पालन यानी मन्वन्तर! सगुण और दृष्ट सृष्टि की निर्मिति के बाद उसे चलाने के लिए कुछ नियम बनाये गये और वे नियम बनानेवाले व समझनेवाले देवता माने गये हैं। उन देवताओं को मनु कहते हैं। **'मनुस्मृति'** का यही अर्थ है। मनु कहाँ हुए, कैसे हुए, कितने हुए, कब हुए? मन्वन्तर अनेक हैं और मनु भी अनेक हुए हैं। मनु सभी जगहों में गये हैं। एक भाई ने कहा, 'मनु मनाली में है।' सभी जगहों में मनु हैं। हम मनु का स्मरण करते हैं तो मनु यहाँ भी हैं। मनु का भ्रमण सर्वत्र हुआ था। सद्धर्म का पालन तथा उसका नियमन करने के लिए मनु सर्वत्र घूमे हैं। उसीको मन्वन्तर कहते हैं।

७) **ईशानुकथा-** श्रीहरि और उनके भक्तों की कथाओं को **'ईशकथा'** कहते हैं। सृष्टि में अनन्त चमत्कार हैं। मानवशरीर में भी चमत्कार हैं। इस शरीर में रंगपरमाणु हैं। डॉक्टर से पूछेंगे तो कहते हैं, क्रोमोसोम थियरी *(Cromosom Theory)* के अनुसार शरीर में अड़तालीस रंगपरमाणु हैं। परन्तु पुरुष का वीर्य *(Semen)* और स्त्री के रज *(Ovum)* में चौबीस रंगपरमाणु हैं। क्यों? वीर्य व रज से नया शरीर बनता है इसलिए उसमें अड़तालीस रंगपरमाणु होने चाहिए। पुरुष का वीर्य व स्त्री के रज में चौबीस रंगपरमाणु न हों तो शरीर में अव्यवस्था हो जायेगी। उसके कुछ नियम हैं, इसी कारण पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज में चौबीस रंगपरमाणु हैं। ऐसा क्यों है? यह सृष्टि में चमत्कार है! ऐसे अनेक चमत्कार सृष्टि में हैं।

विविध खगोलपिण्ड गुरुत्वाकर्षण के नियम से अन्तरिक्ष में निराधार रहे हैं। वे अधान्तर में कैसे रहे? उनको कोई आधार नहीं है। फिर भी वे अधान्तर में रहते हैं। वैज्ञानिक उसका

कारण 'गुरुत्वाकर्षण' कहते हैं। सृष्टि इतनी नियमबद्ध व चमत्कारों से भरी हुई है। इतना होते हुए भी भगवान को सगुण अवतार लेकर यहाँ आने की आवश्यकता पड़ती है। सामान्य व्यक्ति के लिए सामान्य चमत्कार ही चाहिए। भगवान ने सब खगोलपिण्ड अधान्तर में रखे हैं इस सम्बन्ध में हमें कुछ लगता ही नहीं परन्तु गोपालकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठाया यह सुनकर हम आश्चर्यचकित होते हैं। वह हमें चमत्कार लगता है। यह सृष्टि इतने चमत्कारों से भरी हुई है कि उसका कोई जवाब नहीं है। इसलिए ईशकथा कहने की आवश्यकता है।

सगुण-साकार शक्ति **कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थः** होते हुए भी वह मनुष्य का आकार धारण करती है ऐसा भागवत कहता है। वह शक्ति मनुष्य का आकार क्यों लेती है? सामान्य लोगों को प्रयोग द्वारा सत्य समझाने के लिए, कर्मयोगी भक्तों की सहायता करने के लिए और ज्ञानी भक्तों के साथ खेलने के लिए भगवान अवतार लेते हैं। इन अवतारों का वर्णन भागवत में है। यह भागवत की विशिष्टता है।

भागवत सुननेवालों को सर्ग, विसर्ग, प्रकृति क्या है, सत्त्व, रज, तम क्या है आदि बातों में रुचि नहीं होती। उनको ईशकथा में सगुण, साकार रूप लेकर वह शक्ति आती है इसमें आनन्द मिलता है। भागवत में भगवान ने उद्धव से जो कहा वही उन्होंने भिन्न रूप में गीता में अर्जुन से कहा है-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। (गी. अ. ४/८)

भगवान अवतार लेकर क्यों आते हैं? वे सृष्टि को सुधारने के लिए अथवा दुष्टों को मारने के लिए नहीं आते, कारण ऊपर बैठकर भी दुष्टों को उनके हृदय की गति रोककर (यानी हार्टफेल कराकर) मार सकते हैं। उसके लिए यहाँ आमे की जरूरत नहीं है। यदि यहाँ छगनभाई का हार्टफेल होता है, तो कंस का क्यों न होगा? तो फिर भगवान अवतार लेकर क्यों आते हैं? अनन्त चमत्कार करनेवाले भगवान क्यों आते हैं? इसका उत्तर भगवान स्वयं गीता में देते हैं, **परित्राणाय साधूनां..** जो कर्मयोगी हैं उनकी सहायता करने के लिए और ज्ञानी भक्तों के साथ खेलने के लिए भगवान आते हैं। ऐसी ईशकथा है, वैसे ही भगवान ने जिनको सँभाला है उनकी कथायें भी सामान्य मनुष्यों के मस्तिष्क में विश्वास निर्माण करती हैं। भगवान के प्रति विश्वास निर्माण करने के लिए ईशकथा है। ईशकथा का अर्थ है श्रीहरि की तथा उनके भक्तों की कथा! यह विषय भागवत में है।

८) **निरोध-** निरोध यानी **'निरोधाऽस्यानुशयनामात्मनः सहशक्तिभिः'** परमेश्वर के अपनी योगनिद्रा में शान्त होने के बाद सारी सृष्टि उसमें लीन हो जाती है। परमेश्वर की जागृति सृष्टि की उत्पत्ति और परमेश्वर की निद्रा सृष्टि का लय है। इसके लिए भागवतकार ने निरोध की चर्चा की है। **'जन्माद्यस्य यतः...'** इस प्रथम स्कन्ध के प्रथम श्लोक में ही ऐसा कहा है। वह समझाने पर **अत्र सर्गो विसर्गश्च...** समझाना है। यही भावना अपरोक्ष ज्ञान से दृढ़ बनती है और भेदप्रतीति नष्ट होती है। उसे **'मुक्ति'** कहते हैं।

९) **मुक्ति-** जहाँ भेदप्रतीति नष्ट हो जाती है, व्यक्ति के सम्बन्ध में भेद, भगवान के संबंध में भेद, अपने व भगवान में भेद यह भेदप्रतीति नष्ट हो जाती है, उसीको अपरोक्षानुभूति कहते हैं। हमारे शास्त्र में, भागवत में सामान्य कथाओं के रूप में जो कहा है 'वही अपरोक्षानुभूति' कहकर तत्त्वज्ञान के ग्रंथ में लिखा है। वासना होती है और चली जाती है। **'मुक्ति'** का अर्थ क्या है? 'वासना होना' जीवन है और वासना न होना मुक्ति है। उसके लिए अपरोक्षानुभूति समझायी गयी है। भगवान न परोक्ष हैं न प्रत्यक्ष ही! इसीलिए **'अपरोक्षानुभूति'** शब्द आया। अपरोक्षानुभूति का संक्षेप में वर्णन करना हो तो इतना ही कहा जा सकता है कि भगवान दूर नहीं हैं, उनके आने में देर नहीं है और वे दूसरे (पराये) नहीं हैं। उसीको मुक्ति कहते हैं। यह मुक्ति समझाने के बाद सभी विषयों का विस्तृत वर्णन है। भागवत ग्रंथ बहुत बड़ा है। सभी विषयों का विस्तृत वर्णन करने में काफी समय लगेगा। अब अन्तिम विषय है- **'आश्रयः।'**

१०) **आश्रयः-** उपरोक्त समझाये हुए नौ विषयों का आश्रय है **'परब्रह्म।'** ये दस विषय भागवत में पढ़ने को मिलते हैं। उनसे अधिक ग्यारहवाँ विषय भागवत में नहीं है। कोई भी श्लोक हो या कोई भी चर्चा चलती हो तो वह इन दस विषयों के इर्दगिर्द ही घूमती है।

भागवत ग्रंथ में मनुष्य को रुचि नहीं है। उसे उसको क्या लाभ होगा यह दिखाना पड़ता है। मुझे गीता पढ़ने से क्या फायदा होगा? पर एक विचार सभी के दिमाग में घुस गया है कि बिना लाभ के कुछ करना ही नहीं है। अरे! एकाध बात तो ऐसी करो कि जिससे मुझे फायदा नहीं चाहिए। इतने धन्धे करनेवाले लोग हैं, पर उन्होंने एक भी ऐसा धंधा किया है कि जिसमें लाभ की चाह न रखी हो? 'भले ही मुझे कोई लाभ न हो फिर भी मैं उसी प्रेम से व आत्मीयता से धन्धा करूँगा' ऐसी इच्छा रखनेवाला एक भी मनुष्य नहीं मिलेगा। वह कहता है, 'बिना लाभ के कोई धन्धा करता होगा तो वह हममें से नहीं है। उसे अपना धन्धा करने दो। हमें अपने जीवन में बिना लाभ के कुछ करना ही नहीं है। अरे! गीता की भी फलश्रुति लिखी है। मुझे तो यह सुनकर आश्चर्य लगा! जो संस्कृत में लिखा है वह लोगों को सत्य लगता है और उसे मान्यता मिलती है। जिस प्रकार जो कुछ अंग्रेजी में लिखा हो तो उसे प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। क्या वह लेखन बुद्धिनिष्ठ है? परन्तु लोगों को लगता है कि जो कुच्छ अंग्रेजी में लिखा गया है वह बुद्धिनिष्ठ है। उसी प्रकार जो कुच्छ संस्कृत में लिखा गया है वह पवित्र लगता है।

हम सब तीर्थक्षेत्र में जाते हैं तब वहाँ के **पंडा** लोग हमें कुछ संस्कृत के श्लोक दिखाते हैं और फिर कहते हैं, 'यह तो संस्कृत में लिखा है!' अरे! संस्कृत में तो बदमाशी भी लिखी हो सकती है। इसका कारण जो भाषा सर्वत्र है, उसमें सभी विषय आ जाते हैं। लोग समझते हैं कि संस्कृत में जो लिखा हुआ है वह पवित्र है।

'साहसे श्रीः प्रतिवसति' यह लेखन संस्कृत में है। विद्यालयों के विद्यार्थियों को इस विषय पर निबंध भी लिखने के लिए कहा जाता है, और बड़े बड़े लोग भी उस पर निबंध

लिखते हैं। लोगों को लगता है कि यह वाक्य श्रुति या स्मृति में से लिया होगा। कारण वह संस्कृत में है, परन्तु उनको पता नहीं है कि यह वाक्य **'मृच्छकटिक'** नाटक में चोर के मुँह से निकला हुआ है। मुझे केवल इतना ही कहना है कि गीता की भी फलश्रुति लिखी है। पहला अध्याय पढ़ने से, दूसरा अध्याय पढ़ने से... अठारहवां अध्याय पढ़ने से क्या लाभ होता है उसकी फलश्रुति लिखी हुई है। मुझे तो लगता है कि गीता की फलश्रुति लिखकर गीता की महत्ता ही समाप्त कर दी गयी है। इसका कारण गीता कहती है कि बिना लाभ के भी एकाध काम कर दिखाओ, और ये ही लोग गीता की फलश्रुति लिखते हैं। वैसी कुछ महत्ता होनी ही चाहिए। जब तक जीवन में महत्ता नहीं होगी तब तक फलश्रुति चाहिए। इसलिए जब भागवत की कथा होती है तब उसका प्रारंभ **'भागवत माहात्म्य'** से होता है। भागवत की कथा शुकदेव को मिली और शुकदेव ने उसका प्रचार किया। भागवत की महत्ता समझाते समय शुकदेव का वर्णन प्रथम आता है।

जो बोलनेवाला है उसका वर्णन होना ही चाहिए। बोलनेवाले पर जब तक हृदय से प्रेम नहीं है, उसके प्रति आदर नहीं है तब तक वह जो कुछ बोलता है उसका परिणाम नहीं होता है। माँ जो कुछ कहती है उसका मुझ पर परिणाम तभी होगा जब मुझे **'मातृदेवो भव'** लगता हो। तभी संस्कार होंगे। इसलिए मुझे अपने लिए ही **'मातृदेवो भव'** मानना है, माँ के लिए नहीं। लोग ऐसा समझते हैं कि माँ को संतुष्ट करने के लिए माँ को नमस्कार करना है, परन्तु ऐसा नहीं है। मेरे दिमाग में माँ के लिए प्रेम और आदर होगा तभी उसके कहने का, बोलने का, मुझ पर परिणाम होगा। इसलिए बोलनेवाले शुकदेव की महत्ता गायी गयी है। शुकदेव भागवत का वक्ता है और वह ज्ञानी है। इसलिए भागवत में ऐसा प्रसंग आया है कि शुकदेव घर से निकल पड़े हैं। भागवत में कहा है:-

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ।। (भा.मा१/२)

विरह से व्यथित पिता का हृदय पुत्र को बुलाता है। उस समय पुत्र (शुकदेव) को लगा कि 'मैं कितना ज्ञानी हूँ' यह पिता को समझाना ही चाहिए। परन्तु अपने मुँह से मैं यह बात कैसे कहूँ? मुँह से तो मुझे कुछ कहना नहीं है क्योंकि मैं ज्ञानी हूँ। 'मैं कितना ज्ञानी हूँ' यह दिखाने के लिए एक ही रास्ता है। अतः जो उत्तर दूँगा वह मैं अपने मुँह से दिया या वृक्षों के मुख से दिया, कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। अतः उसने वृक्षों के मुख द्वारा उत्तर दिया, 'सर्वव्यापक चैतन्य का ज्ञान मुझे है, इतना ही नहीं, उसका अनुभव भी हुआ है।' भागवत कहना अलग बात है और समझना भिन्न बात है। शुकदेव के पास अनुभव है। भागवत का कहना है कि उसका वक्ता अगतिक नहीं है, वह ज्ञानी है। इसलिए भागवत की ओर इस दृष्टि से देखना पड़ेगा अन्यथा सारा विवेचन व्यर्थ होगा। इसलिए किस दृष्टि से कहा है, किसने कहा है, क्यों कहा है यह समझना चाहिए।

भागवत का वक्ता आर्त या जिज्ञासु भक्त नहीं है, रोनेवाला भक्त नहीं है। 'मुझे भगवान मिलेंगे या नहीं' ऐसा विचार करनेवाला नहीं है। भगवान क्यों नहीं मिलेंगे? वे तो

मेरे साथ ही हैं ऐसी समझ उसे है। वही भगवान सर्वत्र हैं ऐसी समझ स्वंय को आयी है वह दिखाने के लिए शुकदेव ने पिता को वृक्षों द्वारा उत्तर दिया। एक अगतिक व्यक्ति ने भागवत नहीं कहा है। अगतिक बने हुए व्यक्ति संसार में फँसे हुए हैं, पड़े हुए हैं। 'अभी मेरा कैसा होगा? क्या होगा? कौन मेरी ओर देखेगा? ऐसा अगतिक भागवत का वक्ता नहीं है, वह ज्ञानी है।

प्रथम, भागवत की महत्ता समझनी चाहिए। भागवत में वैदिक दृष्टि से तत्त्वज्ञान भरा हुआ है और भागवत में वैदिक भक्ति कही है। एकनाथ महाराज ने वही समझाया है। उस समय पुराणग्रंथ भागवत था। एकनाथ भागवत कहते थे। सभी पंडित लोग यह समझते थे कि भागवत शास्त्रीय चर्चा करने के लिए बेकार ग्रंथ है। वे भागवत को निम्न श्रेणी का ग्रंथ मानते थे। एकनाथ ने काशी जाकर भागवत पर प्रवचन दिया। भागवत को पुराण मानकर निम्न श्रेणी का समझनेवाले पंडित लोग एकनाथ का मजाक उड़ाने हेतु प्रवचन सुनने के लिए आये, परन्तु जब एकनाथ ने समझाया कि वैदिक तत्त्वज्ञान तथा प्रखर और तेजस्वी भक्ति भागवत में कही है, तब सभी पंडित दिङ्मूढ बन गये। आज के नहीं, उस जमाने के पंडित सुनने के लिए आए थे। आज के पंडितों के जैसे वे नहीं थे। आज **'पंडित'** उपनाम *(Surname)* होता है। जिसकी बुद्धि प्रकाण्ड है, वह पंडित कहा जाता था। सच्चे अर्थ में काशी के पंडित इकठ्ठे हुए थे। एकनाथ के मुँह से भागवत सुनने के बाद उन्हें लगा कि कहनेवाले में यदि शक्ति हो, दृष्टि हो, दिमाग में वैदिक तत्त्वज्ञान के सिद्धान्त भरे हों तो भागवत कुछ भिन्न ही लगता है। भागवत की कथा पूर्ण होने के बाद उन पंडितों ने कहा कि हमें एकनाथ की पालकी उठानी है, उन्हें पालकी में बिठाकर उनकी पालकी अपने सिर पर उठाकर जुलूस निकालना है। आज तक हमें ऐसा ही लगता था कि 'वैदिक तत्त्वज्ञान उसकी तेजस्विता, वैदिक जीवन प्रणाली *(Way of life)*, वैदिक विचार प्रणाली *(Way of thinking)* भक्ति प्रणाली *(Way of worship)* भागवत में कैसे मिल सकते हैं? परन्तु आज हमें उसका पता चला। हमें एकनाथ की पालकी उठानी है।' तब एकनाथ ने अत्यधिक बौद्धिक नम्रता तथा प्रामाणिकता *(with intellectual modesty and honesty)* के साथ कहा, 'यह महत्ता मेरी नहीं है, भागवत ग्रंथ की है। आपको यदि पालकी ही उठानी है तो भागवत की उठाओ, मेरी नहीं!' अरे! एकनाथ की कितनी योग्यता थी? जिनके घर प्रत्यक्ष भगवान पानी भरते थे, चन्दन घिसते थे, सभी काम करते थे–

श्री एकनाथसदनीं माधवजी सर्वकाम हे करितो-
स्वकरें चन्दन घासी गंगेचे पाणी कावडी भरितो।।

ऐसे एकनाथ ने इतनी नम्रता से कहा कि भागवत ग्रंथ का जुलूस निकालो।' उस दिन से आज तक जहाँ भागवत की कथा होती है, वहाँ स्त्रियाँ भागवत सिर पर रखकर घूमती हैं। आज तो पुरुष वर्ग को भागवत में रुचि नहीं है और स्त्रियाँ भागवत क्यों सिर पर रखकर पधारती हैं इसका किसीको भी पता नहीं है। यह प्रणाली कैसे शुरु हुई यह बात किसीको भी मालूम नहीं है।

उस जमाने के विद्वानों की यह बात है। हमें तो विद्वान कौन होता है इसका भी ज्ञान नहीं। उस जमाने के विद्वान जैसा विद्वान आज ढूँढकर भी नहीं मिलेगा। उन विद्वानों ने भागवत को सिर पर रखने की प्रणाली शुरू की। जब तक ग्रंथ की महत्ता का हमें ज्ञान नहीं होता तब तक उसका परिणाम भी हमारे जीवन पर नहीं होता। जिस प्रकार वक्ता की महत्ता अन्तःकरण में होनी चाहिए उसी प्रकार ग्रंथ की महत्ता भी अन्तःकरण में होनी चाहिए।

कुरान पर भिन्न भिन्न टीकायें हैं। उनमें मौलाना अबुल कलाम आझाद की बहुत अच्छी टीका है। वह अन्तिम टीका है। कुरान पुराण जैसा ही ग्रंथ है। परन्तु उन्होंने कुरान बुद्धिनिष्ठ *(Logical)* है ऐसा दिखाने का प्रयत्न किया है। उसे पढ़कर लगता है कि उन्हें 'मौलाना' कहते हैं वह सार्थक है। मौलाना अबुल कलाम आझाद टीका लिखकर पूर्ण करने के बाद ग्रंथ किसे अर्पण किया जाय इस संबंध में सोच रहे थे। कलकत्ता के बड़े बड़े व्यापारी अपनी माँ या अपने पिता को ग्रंथ अर्पण करने को कह रहे थे। उसके लिए वे प्रचुर मात्रा में धनराशि भी देने को तैयार थे।

एक दिन रात को एक अज्ञात मुसाफिर ने कलकत्ता आकर मौलाना का दरवाजा खटखटाया। उन्होंने दरवाजा खोला तो सामने एक अरब खड़ा था। उसने पूछा, 'क्या आप मौलाना अबुल कलाम आझाद हैं?' उन्होंने कहा, हाँ! पर क्यों?' उसने कहा, 'मैं एक सामान्य अरब हूँ। मैंने सुना है कि आपने कुरान पर टीका लिखी है। क्या यह सच है?' मौलाना ने कहा, 'हाँ! सच है, मैंने कुरान पर टीका लिखी है।' उस जमाने में उसका मूल्य चालीस रुपये था।

अरब ने कहा, मेरे पास पैसा नहीं है इसलिए मैं काबूल से कलकत्ता तक पैदल चलकर आया हूँ और आने जाने का खर्च बचाया है, ये चालीस रुपये लो और मुझे कुरान की प्रति दे दो।'

यह सुनकर आझाद का हृदय भर आया। उन्हें लगा कि कुरान बोलेगा तो इसीके साथ बोलेगा, किसी दूसरे के साथ नहीं बोलेगा। उन्होंने वह ग्रंथ उस अरब को ही अर्पण किया और लिखा, 'काबूल से कलकत्ता तक पैदल चलकर आनेवाले एक अज्ञात मुसाफिर को अर्पण!

तात्पर्य यह है कि ग्रंथकर्ता के प्रति अन्तःकरण में प्रेम न होगा, आदर न होगा तो ग्रंथ की पंक्ति आपके साथ नहीं बोलेगी। ग्रंथ का आप पर परिणाम भी नहीं होगा। इसलिए ग्रंथ और ग्रंथकर्ता की महत्ता कही है।

भागवत में भक्ति तथा नारद के समागम की कथाएं कही गयी हैं। नारद कहते हैं, 'मैं अनेक तीर्थक्षेत्रों में गया। वहाँ इतनी दुर्गन्ध आती थी कि पूछो मत! वहाँ मैं तपस्वियों से मिला। वे सभी लाचार बने हुए थे ऐसा लगा। उनमें पंडित भी थे। परंतु वे सब **'ते सर्वे धनवृद्धानां द्वारि तिष्ठन्ति किङ्कराः'** धनवानों के सामने लाचार बने हैं ऐसा लगा। कोई

सन्तोषी नहीं, कोई समाधानी नहीं। सब अगतिक, लाचार बने हैं। क्यों? यह प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। मूर्तिपूजा क्यों? भक्ति क्यों? क्या भक्ति भगवान की खुशामद है? जिसने इस सृष्टि का निर्माण किया वह क्या खुशामद करने से प्रसन्न होगा? ऐसा कोई प्रश्न ही उनके दिमाग में निर्माण नहीं होता।

भागवत कहता है कि उसके बाद नारदजी यमुना के किनारे पर आये। वहाँ उन्होंने एक भिन्न ही चित्र देखा। एक स्त्री रुदन कर रही थी। उसके पास दो वृद्ध पुरुष बैठे हुए थे। वह रुदन करनेवाली स्त्री भक्ति थी और उसके समीप जो दो पुरुष बैठे थे वे ज्ञान और वैराग्य थे। उनको देखकर नारद को दुःख हुआ।

नारद ने उनसे पूछा, "तुम कौन हो?"

स्त्री ने कहा, 'मैं भक्ति हूँ।'

इसमें भक्ति की व्यथा है। लोग समझते हैं कि लोगों में से भक्ति चली गयी है। परन्तु यह वैसी बात नहीं है। यह ग्रंथ हजारों वर्ष पुराना है। उस समय की यह बात है। आज भी भक्ति चलती है, तो क्या उस समय नहीं रही होगी? आज भी मुंबई में एक गणेश का मन्दिर है, वहाँ गणेशजी का दर्शन करना होगा तो कम से कम चार चार घंटे कतार में खड़ा रहना पड़ता है। क्या यह भक्ति नहीं है? भक्ति कम नहीं हुई है। भक्ति में तो बाढ़ आयी है। परन्तु बाढ़ का पानी पीने के लिए उपयोग में नहीं आता, उससे तृप्ति नहीं मिलती, फेंक देना पड़ता है। उस जमाने में बाढ़ नहीं थी, तो भक्ति क्यों रो रही थी?

भक्ति ने जब शीशे में अपना मुँह देखा तब उसे क्या दीख पड़ा? मुँह अगतिकता, लाचारी, दीनता, क्षुद्रता, दुर्बलता असहायता, भयभीति से भरा हुआ था। वह देखकर भक्ति को लगा कि क्या यह मेरा असली रूप है? क्या यह मेरा चेहरा है? क्या इसे देखकर भक्ति निर्माण होती है? क्या उसमें मनुष्य को खड़ा करने की शक्ति है? यह देखकर भक्ति रोने लगी। मुझे लगा कि यह मेरा रूप नहीं है। लोग स्तोत्र बोलते भी होंगे। कथा भी सुनते होंगे, परन्तु यह रूप भक्ति का नहीं है। उस जमाने में भी बहुत भक्ति चलती थी, परन्तु चलनेवाली भक्ति ऐसी थी। इसलिए वह रोने लगी। उसे लगा कि मुझमें (भक्ति में) पहली बात होनी चाहिए 'प्रेम' और दूसरी बात चाहिए, 'भाव।' यहाँ तो प्रेम का पता नहीं और भाव का दर्शन नहीं है। यह देखकर वह रोने लगी।

वही बात ज्ञान की थी। ज्ञान में रूखापन आ गया था। ज्ञान को लगा कि यह मेरा रूप नहीं है। लोगों ने मेरा भिन्न ही रूप बना दिया है। ज्ञानी वही है जो भीतर से आर्द्र है। जो भीतर से आर्द्र नहीं वह ज्ञानी नहीं है। आज ज्ञान में रूखापन आ गया है वैसे ही वैराग्य में तिरस्कार आ गया है। सृष्टि का, सृष्टि के सर्जन का तिरस्कार करके जो वैराग्य आता है वह वैराग्य उन्नति की चोटी पर नहीं ले जा सकता। विरक्ति तिरस्कार से नहीं, प्रेम से आनी चाहिए। कुछ लोग सर्वसङ्गपरित्याग *(Renunciation)* का आग्रह धरते हैं। इसमें कोई अर्थ नहीं, छोड़ दो उसे भी! सृष्टि में भी कोई अर्थ नहीं है, छोड़ दो। यदि

सृष्टि में कोई अर्थ नहीं होगा तो इस सृष्टि को बनानेवाले में भी कोई अर्थ नहीं है। नहीं तो बनानेवाले ने इस सृष्टि को क्यों बनाया? 'सृष्टि का तिरस्कार करके उसे छोड़ देना' इसीको ये लोग वैराग्य कहते हैं।

एक युवती प्रतिदिन नींबू का शरबत पीती थी। सर्दी-जुकाम हो जाता तब घर के लोग उसे शरबत पीना छोड़ देने को कहते, परन्तु उससे नींबू शरबत पीये बिना रहा नहीं जाता। कुछ समय बाद उसका विवाह हुआ और एकाध वर्ष में उसको बच्चा हुआ। वह प्रतिदिन नींबू का शरबत पीया करती थी, परन्तु अब उसके बालक को सर्दी हो गयी। वैद्य ने कहा,' बच्चे को सर्दी हो गयी है, अब तुझे शरबत नहीं पीना चाहिए।' अत: उस युवती का शरबत पीना छूट गया। क्यों? बालक के प्रति प्रेम के कारण! नींबू का शरबत खराब है, ऐसा कहकर तिरस्कार से जो विरक्ति आती है वह असली, सच्ची विरक्ति नहीं है। उसमें मनुष्य को उन्नत बनाने की शक्ति नहीं होती। लोगों को लगता है कि यह विरक्ति है, परन्तु लगना अलग बात है और होना अलग बात है। अत: ऐसी विरक्ति तिरस्कार से भरी हुई है।

ज्ञान रूखेपन से भरा हुआ, विरक्ति तिरस्कार से भरी हुई और भक्ति में प्रेम तथा भाव का पता नहीं, यह देखकर भक्ति रोती थी। उसे लगता था कि मेरी ओर किसीका ध्यान नहीं है। भक्ति क्यों? कैसी होनी चाहिए इसका कोई विचार ही नहीं करता है। अगतिकता, लाचारी, क्षुद्रता, वहम, दीनता, भयभीति इनमें से पैदा हुई भक्ति का यह रूप मेरा नहीं है। जब शीशे में देखने लगी तो लगा कि कितना भयंकर रूप बना दिया है इन भक्तों ने मेरा! यह रूप मुझे नहीं चाहिए, इसलिए वह रोती थी।

नारदजी उसके पास गये। नारदजी तो बड़े नटखट थे! अत: उन्होंने नाटक किया। वहाँ से वे बदरी-आश्रम चले गये। वहां विशाल राजा का राज्य चलता था। इसीलिए उस स्थान को बदरीविशाल कहते हैं। नारद ने विचार किया कि बदरीविशाल में अनेक ज्ञानी, तपस्वी हैं, उनसे पूछेंगे! वास्तव में नारदजी को किसीको पूछने की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी इस महापुरुष ने ऐसा नाटक किया।

ऋषियों को नारद ने पूछा, 'भक्ति किसलिए? ज्ञान क्या है? ज्ञान में क्या होना चाहिए? यह कोई समझता नहीं है।' ऋषियों ने एक मार्ग दिखाया है- **'तस्मात् स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।'** दूसरा मार्ग नहीं है। समाज के अन्तिम व्यक्ति तक ज्ञान नहीं पहुँचता है तो क्या करना चाहिए? तब ऋषियों ने कहा, 'यज्ञ करो।' हम भागवत सुनते हैं तब इतना ही सुनते हैं कि ऋषियों ने यज्ञ करने को कहा। अत: नारद ने यज्ञ किया। कौनसा यज्ञ किया? यज्ञ के विविध प्रकार भगवान ने गीता में कहे हैं: **'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे... स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च...'** के अनुसार उन्होंने कृतिभक्ति करने की शुरुआत की और ज्ञानयज्ञ करने लगे। ज्ञानयज्ञ में भक्ति का स्वरूप बदलने की शक्ति है। ज्ञान में आर्द्रता आनी चाहिए वह कृति-भक्ति से आती है। उसी प्रकार प्रेम से जो विरक्ति आनी चाहिए, वह आती है, तिरस्कार से आयी हुई विरक्ति नहीं चाहिए! तिरस्कार से आयी हुई

विरक्ति में संकुचितता पैदा हो जाती है। इसलिए नारद ने ज्ञानयज्ञ शुरु किये। इसका अर्थ यह है कि भक्ति के असली सिद्धान्त लेकर वे भागवतों के पास जाने लगे।

इस प्रकार वक्ता, ग्रंथ व उसमे आये हुए विषय की महत्ता समझाकर उसके बाद फलश्रुति कही गयी है। उसमें धुंधुकारी की कथा है। धुंधुकारी पापी था। ऐसा एक भी दुष्कर्म नहीं था जो उसने नहीं किया हो और भागवत की कथा सुनने के बाद वह मुक्त हो जाता है। सभी पापी लोगों को आश्वासन तो देना ही चाहिए। भीतर से हमारा अन्त:करण हमें ही डसता है कि हम पापी हैं। कदाचित् पापी न भी होंगे परन्तु नासमझी के कारण मनुष्य को लगता है कि मैं पापी हूँ।

पापी एक भिन्न ही बात है। पाप-पुण्य के सम्बन्ध में किसीने विचार नहीं किया है। इसलिए विश्व में किसीने न किये होंगे इतने पाप करनेवाले धुंधुकारी की कथा है। ऐसे पाप न करनेवाले जगन्नाथ पंडित भी लिखते हैं कि जिन्हें देखकर, सभ्य मनुष्य पास नहीं आयेंगे ऐसे पाप मैंने किये हैं।' इसलिए गंगामैय्या को वे कहते हैं, 'माँ! मेरे पातक धोने में तू ही समर्थ है।' भागवत की महिमा समझाने के बाद भागवत के प्रथम स्कंध का प्रारंभ होता है।

भागवत के प्रथम स्कंध में बहुत सुन्दर कथाएं हैं। उन पर विस्तारपूर्वक बोलना, समय मर्यादा के कारण अशक्य है, परन्तु हम विहंगावलोकन तो कर ही सकते हैं, जैसे विहंग आकाश में विचरण करते हुए अवलोकन करता है।

प्रारंभ में एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात का हमें प्रथम स्कंध में पता चलता है और वह अर्थात् **'समाप्तिकामो विघ्नध्वंसकामो वा मङ्गलमाचरेत्।'** जिस व्यक्ति को, प्रारंभ किया हुआ कार्य निर्विघ्नता से समाप्त हो, ऐसी इच्छा है उसे मंगलाचरण करना चाहिए। मंगलाचरण करने से किसी भी कार्य की बिना विघ्न के परिसमाप्ति होती है। किसी भी कार्य के प्रारंभ में मनुष्य को ईश्वर का स्मरण करके कार्य का प्रारंभ करना चाहिए, ऐसा वैदिकधर्मियों का मानना है। उसीके अनुसार भागवत के प्रथम स्कंध के प्रथम श्लोक में मंगलाचरण द्वारा भगवान की स्तुति की गयी है:-

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ।।

(जिससे इस अखिल जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व लय होते हैं, जो चराचर सृष्टि में व्याप्त होकर भी उससे बिलकुल अलग है, जिसके सम्बन्ध में बड़े बड़े विद्वान भी मोहित हो जाते हैं। वेदों को जिसने केवल अपने मनोसंकल्प से ब्रह्मदेव के अन्त:करण में प्रकाशित किया। तेज, जल व मृत्तिका इनका एक दूसरे के स्थान में होनेवाला आभास वस्तुत: असत्य होते हुए भी अधिष्ठान सत्ता के कारण सत्यवत् प्रतीत होता है, उसी प्रकार सत्त्व, रज, तम इन त्रिगुणों से उत्पन्न सृष्टि (जो जागृत-स्वप्न-सुषुप्ति रूप है) मिथ्या होने पर भी उसमें

जिसकी व्याप्ति होने से सत्य लगती है और जो स्वयं नित्य सिद्ध ज्ञानस्वरूप होने से अज्ञानजनित माया से अलिप्त है ऐसे सत्यरूप परमात्मा का हम ध्यान करते हैं।

इस श्लोक में सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान का निचोड़ है। इससे पता चलता है कि भागवत का लेखक कितना ज्ञानी है! **'सत्यं परं धीमहि'** ध्यान करो ऐसा कहते हैं। 'ध्यान करो' कहने पर ध्यान किसका करना चाहिए? जिसका ध्यान करना है उसका कुछ रूप तो होना चाहिए। बिना रूप के ध्यान कैसे हो सकता है? क्या आप आकाश का ध्यान करेंगे? 'आपके घर में जो आकाश भरा हुआ है उसका ध्यान करो' ऐसा कहा तो क्या कुछ ध्यान में आ जायेगा? उसका न आकार *(form)* है और न गुण *(quality)* है! जिसका कोई आकार नहीं है, गुण नहीं है उसका ध्यान नहीं हो सकता। इसलिए **'सत्यं परं धीमहि'** कहने के बाद 'ध्यान करो' आया और ध्यान करना हो तो सगुणोपासना आ गयी। यह बात निश्चित है कि सगुण भगवान का ध्यान करो। कितने अनाग्रही लोग हैं। हमारे देश में, भारतीय तत्त्वज्ञान में ही ऐसे अनाग्रही लोग मिलेंगे। सभी जगहों में लोग तत्त्व का आग्रह पकड़कर बैठे हुए हैं, परन्तु जो सच्चा ज्ञानी है, सच्चा बुद्धिवादी, बुद्धिनिष्ठ है वह किसी भी दिन आग्रही नहीं होता। **'बुद्धेः फलमनाग्रहः'** ऐसा गीता में कहा गया है। भगवान भी सारी गीता अर्जुन को सुनाने के बाद कहते हैं, **'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।'** तुझे जैसा लगेगा वैसा कर, मेरा आग्रह नहीं है। यहाँ समझाने का प्रयत्न है मगर आग्रह नहीं है। **धीमहि** कहने का अभिप्राय यह है कि सगुणोपासना आ गयी।

सगुणोपासना कहने के बाद भागवतकार की आँखों के सामने कौन सा सगुण रूप आयेगा? कृष्ण भगवान का! इसी कारण भागवत ग्रंथ की निर्मिति कृष्णलीला और कृष्णभक्ति कहने के लिए ही है। वेदव्यास यहाँ ब्रह्मसूत्र कहने के लिए नहीं बैठे हैं। वे बैठे हैं कृष्णलीला और कृष्णभक्ति समझाने के लिए! यहाँ **'धीमहि'** ध्यान करो ऐसा लिखते समय 'कृष्ण भगवान का ध्यान करो' ऐसा लिखेंगे या नहीं? परन्तु उन्होंने लिखा है, सगुण का ध्यान करो। उसके बिना नहीं चलेगा, बिना उसके तुम्हारा चित्त दैवी नहीं बनेगा। दिव्य, भव्य, उदात्त नहीं बनेगा। तो फिर ध्यान किसका करेंगे? **'सत्यं परं धीमहि-'** जो सत्य *(Absolute Truth)* है, जो श्रेष्ठ है उसका ध्यान करो, ऐसा लिखा है। किसी रूप का आग्रह नहीं रखा है। जो चाहिए वह रूप लो। राम, कृष्ण, देवी चाहे उस रूप का ध्यान करो! कृष्णभक्ति के लिए लिखा गया यह ग्रंथ है फिर भी ग्रंथकर्ता कितने अनाग्रही हैं! मुझे तो वेदव्यास के सामने दस-दस बार नतमस्तक होने की इच्छा होती है। वेदव्यास अनाग्रही हैं इसका कारण वे भक्ति का शास्त्र कहते हैं। कृष्ण भगवान ने भी सगुणोपासना कहते समय अमुक एक रूप का ही आग्रह नहीं पकड़ा है। **'मय्यावेश्य मनो ये माम्'** कहा है। सगुण, साकार जो भगवान हैं उनमें चित्त एकाग्र *(concentrate)* करना है। तो सगुण साकार भगवान का कौन सा रूप लेंगे? तो कहते हैं कि तुम्हें जो रूप लेना हो वह ले सकते हो!'

'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।'

यहाँ आश्चर्य की बात यह है कि जिसकी भक्ति के लिए यह ग्रंथ है उसका भी आग्रह नहीं है। वेदव्यास के सामने तो नित्य कृष्ण ही होंगे। कृष्णभक्ति के लिए ही यह ग्रंथ निर्माण हुआ है। फिर भी वे कहते हैं **'सत्यं परं धीमहि'** इसमें वेदव्यास की स्वच्छ बुद्धि और निर्मल अन्तःकरण का दर्शन होता है।

सत्यं परं धीमहि- यह वाक्य कहता है कि जो सत्य हो, जो परं (श्रेष्ठ) हो उसका ध्यान करो। मुझे तो लगता है कि इतना अनाग्रही मंगलाचरण किसीने भी नहीं किया होगा।

दूसरे अध्याय में भक्ति की महत्ता समझायी गयी है। उसका प्रारंभ करते समय कहते हैं।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।। (भा. १/२/४)

नारायण को नमस्कार करना चाहिए। प्रथम अध्याय में लिखते हैं, **सत्यं परं धीमहि..'** यह सिद्धान्त हो गया। सगुणोपासना श्रेष्ठ है। सगुणोपासना किये बिना कोई भी मनुष्य चित्त-शुद्धि नहीं कर सकता। उसके बिना विकारों का उदात्तीकरण भी नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि जब तक सगुण भगवान और मन का सम्बन्ध नहीं होता तब तक मन का शुद्धिकरण *(purification)* कैसे होगा? उसके लिए सगुण मूर्ति चाहिए। वह मूर्ति कौनसी होनी चाहिए? तो कहते हैं, **सत्यं परं धीमहि...।'** यह पढ़कर जो बुद्धिनिष्ठ है वह नतमस्तक होगा। उसके बाद कहते हैं, **''नारायणं नमस्कृत्य...ततो जयमुदीरयेत्।''** मैं यह जो ग्रंथ लिख रहा हूँ उसका नाम 'जय' है। उसके बाद उसका नाम भागवत हुआ। कारण उसमें भागवतों का वर्णन आता है। जो भगवान के बने हैं उनका वर्णन आता है। इसलिए उसे भागवत कहते हैं। परन्तु पहले कहते हैं, **'ततो जयमुदीरयेत्'** मैं **'जय'** कहता हूँ। **'जय'** यानी क्या? **'जयति संसार इति जयम्'** इस **'जय'** में लिखे हुए विचारों से आप संसार पर विजय पा सकते हैं। संसार पर विजय का अर्थ है वासना पर विजय! अर्थात् 'मैं' पर विजय। यह जो 'मैं' अन्दर बैठा है वह क्या है? इसका अभी तक किसीको पता नहीं चला है। 'मैं' है क्या? उसका पता नहीं चलता। वही माया है। परन्तु 'मैं, मैं' तो चला ही करता है। उसके बिना व्यवहार भी नहीं हो सकता। यह जो 'मैं' है उस पर और 'वासना' पर विजय! इसलिए इस ग्रंथ में विजिगीषा दिखायी देती है। **'ततो जयमुदीरयेत्'** यह विजिगीषा है। इससे आप सम्पूर्ण संसार पर विजय पा सकते हैं। सभी वासना, कामना, संकल्प इतना ही नहीं भीतर जो 'मैं' पड़ा हुआ है, इन सब पर आप विजय पा सकते हैं। यह विजिगीषु जीवनवाद है। वैदिकों का विजिगीषु जीवनवाद है। उसने मानव को दुर्बल, निर्बल माना ही नहीं है! **'नर जो अपनी करनी करे तो नर का नारायण हो जाय'** ऐसा ही माना है। अत: उसमें विजिगीषुत्व है।

दूसरी बात वे कहते हैं, **'नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्-'** मैं नारायण को नमस्कार करता हूँ। मैं जय कहता हूँ और जय प्राप्त करना हो तो नारायण को नमस्कार करना ही पड़ेगा। नारायण की शरण लेनी ही पड़ेगी। बिना उसकी सहायता के हम जय प्राप्त नहीं कर सकेंगे। उसी प्रकार नरोत्तम को नमस्कार करते हैं।

जो नरोत्तम बन गये हैं उनको नमस्कार है। नरोत्तम कौन है? क्या जिसने पैसा कमाया है वह? वह तो पैसा यहीं छोड़कर जायेगा। जिसने विद्या कमायी है, क्या वह नरोत्तम है? जिस दिमाग में विद्या होती है उस दिमाग को ही जला देते हैं ये लोग! तो फिर 'नरोत्तम' कौन है? प्रभु को जिसने जीत लिया है वह नरोत्तम है। संसार में आकर जिन्होंने प्रभु को जीत लिया है उनको मैं नमस्कार करता हूँ। प्रभु को जीतनेवाले ये लोग कितने महान् होंगे! उन्होंने निष्काम भगवान को सकाम बना दिया। हम भी तो भगवान के पास जाते हैं परन्तु हमें मिलने की भगवान को उत्सुकता कहाँ है? दोनों को उत्सुकता न हो तो उसे मिलन नहीं कहा जाता। दोनों को मिलन की उत्सुकता न हो तो एकपक्षीय मिलन को आलिंगन नहीं कहते।

वल्लभाचार्य को मिलने के लिए भगवान को भी उतनी ही उत्सुकता थी। आलिंगन में जिस प्रकार मिलने की वासना जैसे भक्त को होनी चाहिए वैसे ही भगवान को भी वासना होनी चाहिए। तभी आलिंगन होता है। दोनों को जब वासना होती है, तभी आलिंगन कहा जाता है। वल्लभाचार्य को मिलने की **मधुराधिपति** को उतनी ही उत्सुकता थी।

भगवान निष्काम हैं। निष्काम भगवान में भी जो कामना खड़ी करते हैं, वे नरोत्तम हैं। रहने दो भगवान! आपकी निष्काम बने रहने की प्रतिज्ञा! आपको सकाम किसने बनाया? इन महापुरुषों ने आपको सकाम बनाया। इतना ही नहीं, बल्कि आपको लगा कि इन लोगों को अपने पास लूँ, आलिंगन दूँ।' जिनके सम्बन्ध में भगवान को ऐसा लगा उन नरोत्तमों को मैं नमस्कार करता हूँ, फिर 'जय' कहता हूँ। यह विजिगीषुत्व है।

'नरोत्तम' का दूसरा अर्थ है-सुननेवाले लोग! सुननेवाले लोग भी नरोत्तम हैं। कारण वे सुनने के लिए बैठे हैं इसीलिए तो बोल सकता हूँ। सुननेवाले अच्छे हैं, अच्छे दिमाग के हैं, समझदार हैं, और समझदार के सामने ही बोला जाता है। वे केवल कहानियाँ सुननेवाले लोग नहीं है, तत्त्वज्ञान को पचानेवाले लोग मेरे सामने बैठे हैं, इसीलिए बोलता हूँ।

मेरे सामने श्रोता बैठे हैं। श्रोता किसे कहते हैं? जो श्रद्धा से परिपूर्ण हैं और जिज्ञासायुक्त जिनकी बुद्धि है, उनको श्रोता कहते हैं। बुद्धि जिज्ञासायुक्त होनी चाहिए। चंचल बुद्धि नहीं चलती तथा संशयग्रस्त बुद्धि भी नहीं चलती। बुद्धि में जिज्ञासा होनी चाहिए। मैं आपके पास आया हूँ कोरी तख्ती लेकर आया हूँ। जिसकी तख्ती कोरी नहीं होती, उस पर लिखा नहीं जाता। इसीलिए जो सच्चे श्रोता हैं उन नरोत्तमों को मैं नमस्कार करता हूँ, **नारायणं नमस्कृत्य।**

प्रथम स्कन्ध के दूसरे अध्याय का इस प्रकार प्रारंभ किया है। दूसरे अध्याय में उन्हें भक्ति की महत्ता समझानी है। भक्ति से ही निष्काम ज्ञान होगा और भक्ति से ही विरक्ति होगी, ऐसा उनका आग्रह है। प्रथम स्कन्ध में ऐसा आग्रह है। निष्काम, निष्काम, निष्काम! निष्काम कैसे बना जा सकता है? यदि कामना ही नहीं होगी तो मनुष्य कुछ करेगा ही नहीं! कुछ भी करना हो, पूजा ही क्यों न करनी हो, तो भी कामना तो होनी ही चाहिए।

बिना कामना के कृति ही नहीं होती। इसीलिए कहते हैं कि निष्काम ज्ञान भी भक्ति से ही आता है। निष्काम किसे कहते हैं? भगवान, अपनी कामना से मैं नहीं करता हूँ, आपकी कामना से करता हूँ' ऐसा जिसे लगता है वह निष्काम है। यह निष्कामता का रूप है। यह इतना सुन्दर रूप है कि उसमें निष्काम बनकर भी कृति कर सकते हैं। ऐसा मार्ग प्रथम स्कन्ध में दिखाया गया है। निष्काम ज्ञान के साथ सच्ची विरक्ति भी प्राप्त करनी चाहिए। तिरस्कार से आयी हुई विरक्ति, विरक्ति नहीं है। विरक्ति प्रेम से आनी चाहिए। वह रास्ता भी भगवान ने बताया है।

प्रथम स्कन्ध में और क्या क्या कहा है? सभी कथाएं तो नहीं कही जा सकेंगी, क्योंकि उसमें ही समय निकल जायेगा। परन्तु प्रथम स्कन्ध में धर्म की चर्चा की है। धर्म क्या है? धर्म किसे कहते हैं। आज हम कर्मकाण्ड को भी धर्म कहते हैं और पुराने समय में भी कर्मकाण्ड को धर्म समझा जाता था। ऐसे कर्मकाण्डी की दृष्टि परलोक की ओर रहती है।

भक्ति में दो बातें आती हैं। कर्मकाण्ड और नीति। नीति समाजाधिष्ठित होती है और कर्मकाण्ड परलोकाधिष्ठित होता है। मानव-विकास के लिए जो धर्म है वह प्रभु के प्रति प्रीति निर्माण करनेवाला होना चाहिए। भागवत ने प्रभु-प्रीति पर खड़ा हुआ धर्म कहा है।

धर्म के भी दो रूप हैं। उनमें से एक है कर्मकाण्डात्मक। आज जो कर्म करेंगे उसका फल अगले जन्म में मिलेगा। यह परलोकाधिष्ठित धर्म हैं। दूसरा रूप है समाजाधिष्ठित धर्म, यह नीतिप्रधान धर्म है। समाज को टिकाना है। समाज के साथ रहना है। किसीका अनिष्ट नहीं करना है यह समाजाधिष्ठित धर्म है। समाजाधिष्ठित अथवा परलोकाधिष्ठित धर्म बौद्धिक दृष्टि से टिक नहीं सकता। इसीलिए भागवत के प्रथम स्कन्ध में भक्तिप्रधान धर्म समझाया है। जो प्रभु-प्रीति निर्माण करनेवाला है तथा जो प्रभु-प्रीति पर खड़ा है वही धर्म है। धर्म का फल, मोक्ष मिलना नहीं है। मोक्ष का अर्थ है, 'बन्धन और अविद्या से मुक्ति।' मुझे किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं चाहिए। 'मुझे कुछ चाहिए इसलिए मैं कुछ करता हूँ' यह बन्धन है। किसी भी रूप में कोई भी बन्धन नहीं चाहिए उसे मोक्ष कहते हैं। अत: बन्धन व अविद्या से मुक्ति जिसका अन्तिम फल है वह धर्म भोग-विलास के लिए नहीं है, मोक्ष के लिए है यह प्रथम स्कन्ध का प्रतिपादन है। परन्तु जब मनुष्य धर्म का आचरण करता है तब उसका फल मिलेगा और भोगविलास मिलेंगे। परन्तु भोगविलास नहीं स्वीकारने हैं। भोगविलास मिलेंगे, परन्तु भोगविलास का फल इन्द्रियतृप्ति नहीं बल्कि जीवन-निर्वाह है। इन्द्रियतृप्ति के लिए भोगविलास नहीं है बल्कि जीवननिर्वाह के लिए है, ऐसी मान्यता है।

'जीवननिर्वाह' में जीवन क्या है? जीवन तत्त्वज्ञान समझने के लिए है, स्वर्ग आदि प्राप्त करने के लिए नहीं है यह भागवत का कहना है। धर्म से क्या मिलेगा इसका ज्ञान होने पर मनुष्य इन्द्रियतृप्ति के पीछे नहीं दौड़ता।

प्रभु के उपदेश का श्रवण, मनन और कीर्तन करने से हृदय में बैठी हुई अशुभ वासनायें नष्ट हो जाती हैं ऐसा भागवत का कहना है। अशुभ वासना के कारण मनुष्य भगवान से अलग हो जाता है। अशुभ वासना को नष्ट करने की शक्ति प्रभु-उपदेश के श्रवण, मनन और कीर्तन में है। यह भागवत की विशेषता है। जब हम तत्त्वज्ञान के बड़े बड़े ग्रंथ पढ़ते हैं तब उनमें 'श्रवण, मनन और निदिध्यासन' देखने को मिलता है। भागवत में 'कीर्तन' करने को कहा है। 'कीर्तन' का अर्थ हाथ में मंजीरा लेकर गाना ऐसा किया जाता है, परन्तु ऐसा अर्थ नहीं है। भगवान का जो उपदेश है वह लोगों को सुनाना ही कीर्तन है। इस दृष्टि में आज हमारा स्वाध्याय-परिवार की गाँव-गाँव में जो भक्तिफेरी होती है, वह कीर्तन है। भक्तिफेरी करनेवाले कीर्तनकार हैं। उन्होंने जो श्रवण किया है, मनन किया है उसका भक्तिफेरी में कीर्तन होता है।

कृतिभक्ति का स्पष्ट रूप कीर्तन क्यों? किसलिए? इसमें दो बातें हैं। पहली बात, हमारा पाठ पक्का करना है, और दूसरी, हमें प्रभु का काम करना है। इसलिए भक्तिफेरी में कीर्तन है। आज हार्मोनियम लेकर कीर्तनकार जो गाता है वह कीर्तन है ऐसा रूढ़ अर्थ 'कीर्तन' शब्द का बन गया है। भगवान के उपदेश का श्रवण, मनन व कीर्तन करना कृतिभक्ति है। इससे भगवान के प्रति आसक्ति बढ़ेगी और जैसे जैसे भगवान के प्रति आसक्ति बढ़ती जायेगी वैसे वैसे भीतरसे

भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ।। (भा.१/२/२१)

अन्तःकरण में ईश्वर का साक्षात् दर्शन होने पर इस प्रकार की उसकी हृदय की अंहकार रूपी ग्रंथि खुलती है, सभी संशय नष्ट होते हैं और उसके सभी कर्मों का लय हो जाता है। ऐसा भागवत में कहा है। भक्ति से ही ज्ञान मिलेगा। भक्ति ज्ञानयुक्त होनी चाहिए और ज्ञान भक्तियुक्त होना चाहिए। यह महान् सिद्धान्त भक्ति से ही समझा सकता है, ऐसा प्रथम स्कन्ध में कहा गया है।

लोग अलग अलग बुद्धि से सोचते हैं। वे पूछते हैं कि भक्ति से बुद्धि के संशय कैसे निकलेंगे? मैं जो कर्म करता हूँ उसका फल तो स्वीकारना ही पड़ेगा। वह फल कैसे भूलूँ? फल तो मेरा पीछा करेगा ही। मुझे फल का पता ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है, फल ही मेरा पता ढूँढ़ते हुए आयेगा कि मैं कहाँ ठहरा हूँ। फिर कर्म करनेवाला चाहे सज्जन हो या दुर्जनः वह दोनों का पीछा करता है। पाताल में जाने पर वहाँ भी हमारा पीछा वह नहीं छोड़ेगा। हम कहीं भी, अतल, वितल, तलातल...जायें, हमारे पीछे हमारा कर्मफल आयेगा ही! उससे मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। वह किस प्रकार मिलेगी? भक्ति से! भक्ति ही एक मार्ग है ऐसा भागवत कहता है। भागवत के प्रथम स्कन्ध के दूसरे अध्याय में यही विचार अति स्पष्टतः समझाया गया है।

तीसरे अध्याय में 'लीला माहात्म्य' में भगवान की लीला और भगवान के अवतारों का चित्रण किया गया है। उसमें सगुणोपासना करनी चाहिए यह आग्रह भी है। सगुणोपासना के बिना आपका उद्धार नहीं है यह भागवत की प्रथम धारणा है। केवल निर्गुण उपासक बनने से नहीं चलेगा। उससे चित्तशुद्धि नहीं होगी।

सगुणोपासना हम मानेंगे तब भगवान को सगुणाकार भी मानना पड़ेगा। एक सगुणाकार आ गया कि उसकी रुचि-अरुचियाँ *(likes-dislikes)* आ ही जाती हैं। अवतार मानने पड़ेंगे, इसलिए अवतारों का वर्णन है। यह एक आश्चर्य है कि भागवत सगुणा भक्ति कहने के लिए है परन्तु किसी एक अवतार का आग्रह नहीं रखा गया है। सभी अवतारों का उसमें वर्णन है। उसमें जो हो गये हैं ऐसे बीस अवतारों की सूची दी है और भविष्य में होनेवाले अवतारों का भी उल्लेख किया गया है।

भागवतकार लोगों का मानसशास्त्र पूर्ण तरह से समझते हैं। उनको मालूम था कि केवल तत्त्वज्ञान कहने से उसका परिणाम नहीं होता। केवल **'घटत्वाच्छिन्न पटः और पटत्वाच्छिन्न घटः'** की चर्चा करेंगे तो वह लोगों के दिमाग में नहीं उतरेगी। परन्तु जो संवादात्मक है, प्रश्नोत्तर के रूप में है वह लोगों के दिमाग में बराबर बैठ जाता है। इसीलिए व्यास का असन्तोष और नारद का आगमन प्रथम स्कन्ध में आया है।

वेदव्यास का असन्तोष एक नाटक है। असन्तुष्ट हों इतने वेदव्यास अपरिपक्व नहीं थे। जिन्होंने वेदों का विभाजन किया, ब्रह्मसूत्र लिखे वे क्या इतने अपरिपक्व थे? परन्तु उन्हें पहले कुछ प्रश्न पूछने चाहिए न? इसलिए वेदव्यास ने प्रश्न पूछे हैं। फिर उन दोनों में अनेक संवाद होते हैं। कुछ नाट्यात्मक *(dramatic)* हो तो आँखों के सामने प्रतिभा खड़ी होती है और फिर दिमाग में ज्ञान घुस जाता है। पुराणकारों ने ऐसी एक कला हस्तगत की थी।

वेदव्यास को असन्तोष हुआ। नारद उनके पास आये। नारद से वेदव्यास ने कहा, "मुझे परब्रह्म और शब्दब्रह्म का ज्ञान नहीं है, अतः वह ज्ञान आप मुझे दीजिये।' यहाँ वेदव्यास ने कहा कि 'मुझे ज्ञान नहीं है।' इसमें उनकी कितनी नम्रता है! यह कोई *S.S.C.* उत्तीर्ण छगनलाल नहीं बोल रहा है। वेदव्यास का ज्ञानभण्डार जिसने देखा होगा उसे पता होगा कि अखिल सृष्टि में वेदव्यास से आगे बढ़ सके ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा। मैं दावे के साथ कहता हूँ कि जीवन का असली भाष्यकार यदि कोई होगा तो वह वेदव्यास ही हैं। शेक्स्पीयर, कालिदास महान लेखक होते हुए भी जीवन के भाष्यकार नहीं हैं। इसीलिए तो आज भी वेदव्यास की पीठ को व्यासपीठ कहते हैं। इतने महान् हैं वेदव्यास!

ऐसे वेदव्यास नारद से अति नम्रतापूर्वक कहते हैं कि 'शब्दब्रह्म और परब्रह्म का ज्ञान मुझे दो।' किससे सुनना है? नारद से सुनना है! किसने सुनाया? नारदजी ने! क्या सुनाया? प्रभु के यश की कीर्ति! नारद कौन हैं?' सकल सृष्टि में घूमनेवाले हैं। नारद

व्यक्ति नहीं, संस्था *(Mission)* है। कहते हैं कि नारद झगड़ा कराते हैं। तत्त्वज्ञान का यही काम है। सुषुप्ति अवस्था में जो दिमाग रहता है उसमें झगड़ा निर्माण कर देते हैं। भाई भाई के बीच में भूमि के लिए झगड़े उन्होंने नहीं कराये। व्यक्ति के मस्तिष्क में वैचारिक झगड़ा होता है, उसे खड़ा करना तत्त्वज्ञान की एक पद्धति है।

सुकरात ने यही काम किया। नारद बुद्धि को हिलाकर रख देते थे, इसीलिए कुच्छ स्थूल झगड़े करवाने का वर्णन है। उदाहरणार्थ सत्यभामा तथा रुक्मिणी का झगड़ा, ऐसी पौराणिक कथाएं हैं। सुकरात पूछता था, *'What is Love?'* 'प्रेम किसे कहते हैं?' इस प्रकार स्वस्थ बुद्धि को हिलाकर अस्वस्थ बना देते हैं। फिर सामनेवाले व्यक्ति को लगता था, "हम शान्ति से सिगरेट का धुआँ निकालते हुए बैठे थे, उसमें आपका क्या बिगड़ता है?' परन्तु इन लोगों की आदत होती है कि स्वस्थ बुद्धि को अस्वस्थ बना देना।

भीतर संघर्ष निर्माण करनेवाले जो लोग हैं उनके पास से ही सुनना है। जो सर्वत्र कुछ कहने के लिए घूमते हैं, **'चरैवेति चरैवेति'** ऐसा जिनका जीवन है ऐसे नारद जैसे लोगों के पास से सुनना है। नारद ने भक्ति कहना अपने से प्रारंभ किया। 'मैं एक दासीपुत्र था। मैं आज इतना बड़ा हो गया हूँ। कैसे हो गया? प्रभु का नाम संकीर्तन करने से मैं इतना बड़ा बना हूँ। अब सभी लोग मुझे पूजनीय मानते हैं।

आप तनिक विचार करो। नारद को वेदव्यास ने शब्दब्रह्म और परब्रह्म के ज्ञान के विषय में पूछा था। उसमें नारद को वे कौन थे, क्या थे, क्यों आये यह सब कहने की क्या जरूरत थी? परन्तु यह दूसरा ही मानसशास्त्र *(psychology)* है। 'मैं ऐसा था और अब स्वाध्याय से बदल गया हूँ' ऐसा कहते थे। हमारे स्वाध्यायी जब गाँव गाँव में भक्तिफेरी में जाते हैं। उनमें बहुत चतुर लोग हैं। वे भक्तिफेरी में जाने पर क्या कहते हैं मालूम है? वे लोगों से ऐसा नहीं कहते कि तुम बीड़ी पीना छोड़ दो, सिगरेट का धुआँ मत निकालो।' वे कहते हैं, "क्या कहूँ आपको! मैं जब स्वाध्याय में नहीं था तब प्रतिदिन सिगरेट, दस बंडल बीड़ी के पीता था। परन्तु स्वाध्याय करने लगा, बीड़ी पीना छूट गया।' ऐसा कहने से सामनेवाले व्यक्ति पर उसका बहुत बड़ा परिणाम होता है। जिसने मानसशास्त्र *(psychology)* का अभ्यास किया होगा वही पुराण ग्रंथ अच्छी तरह समझेगा।

यहाँ नारद को वे किसके पुत्र थे यह कहने की क्या आवश्यकता थी? वेदव्यास ने शब्दब्रह्म तथा परब्रह्म के ज्ञान के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा है और नारद स्वयं किसके पुत्र थे, कैसे थे, यह सब कहने लगते हैं। यह इसलिए कि उनको समझाना है कि जिसे नारद बनना है, जिसे भगवान का काम करना है, कीर्तन करना है उसे किस प्रकार जीवन जीना चाहिए!

भक्तिफेरी में जानेवाले स्वाध्यायी गाँव के लोगों को ऐसा नहीं कहते कि 'तुम भोजन करते समय क्यों भगवान को नमस्कार नहीं करते?' बल्कि ऐसा कहते हैं कि मैं पचास वर्ष

का हो गर, हूँ, मैं भी खाते समय भगवान को कहाँ नमस्कार करता था? परन्तु स्वाध्याय में जुड़ गया, फिर पता चला कि भगवान के प्रति कृतज्ञता होनी चाहिए। मुझे यह बात समझायी गयी तब से भोजन करते समय चार श्लोक बोलकर भगवान को नमस्कार करता हूँ, बाद में भोजन प्रारंभ करता हूँ। ऐसा करने से सामनेवालों पर परिणाम होता है। 'मैं बदल गया। मैं अच्छा हो गया। लेकिन मैं ऐसा था।'

मुझे तो लगता है कि एक भी ऋषि में कोई दोष थे ही नहीं। परन्तु सभी ऋषियों ने अपने दोष बताये हैं कि 'मैं ऐसा था, वैसा था।' इसका कारण उनको भक्ति की महत्ता बढ़ानी थी, साथ साथ सामनेवाला व्यक्ति भी भक्ति से महान बन सकता है यह दिखाना था।

नारद ने जो कहा है, वह कीर्तनभक्ति करनेवालों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। नारद ने अपनी जन्मकथा में कहा है, 'मैं प्रथम दासीपुत्र था' प्रारंभ में मुझे भी लगता था कि वेदव्यास ने प्रश्न पूछा है एक और नारद दूसरा ही कुछ उत्तर दे रहे हैं, यह क्या चल रहा है? परन्तु यह विद्वानों की चर्चा थोड़े ही है कि जिसमें सुसंगत बातें करनी होती है! यह कोई सुसंगत बोलने के लिए कानूनी न्यायालय नहीं है।

यहाँ तो उनको कुछ समझाना है, किसी को बदलना है, किसी की बुद्धि में कुछ विचार खड़े करने हैं, उनको बनाये रखना है, इसलिए उनकी भाषा ही भिन्न है। 'कीर्तन भक्ति से मेरा जीवन कैसे बदल गया और मेरी आज की स्थिति कैसे प्राप्त हुई है' इसका सुन्दर वर्णन नारद के उत्तर में है। इसलिए व्यास कहते हैं कि कीर्तनभक्ति करनी चाहिए, कृष्णभक्ति करनी चाहिए।

प्रथम स्कन्ध में हम देखते हैं कि ज्ञान और कर्मकाण्ड श्रेष्ठ हैं। ज्ञान भी श्रेष्ठ है और कर्मकाण्ड भी श्रेष्ठ है परन्तु दोनों भक्तिरहित न होंगे तो! उसमें भक्ति का आग्रह है। नहीं तो क्या होगा? ज्ञान में बुद्धि ही रहेगी और कर्मकाण्ड में कृति ही रहेगी। दोनों में भावनिर्मिति की आवश्यकता है। बिना भावनिर्मिति के जो होता है उसमें यान्त्रिकता आ जाती है। कर्मकाण्ड आदि सभी में यांत्रिकता आ गयी है।

आज जो कर्मकाण्ड चल रहा है उसमें संपूर्णतः यांत्रिकता आ गयी है। हम पूजा करने बैठते हैं, पुरोहित कहता है, 'गणेश पूजन करो, फूल चढ़ाओ।' हम फूल चढ़ाते हैं। उसमें कोई भाव होता ही नहीं। केवल कृति होती है। वैसे ज्ञान में केवल बुद्धि ही रह जाती है और भाव आता ही नहीं! इसलिए दोनों के सम्बन्ध ध्यान में रखना चाहिए कि यदि भाववृद्धि नहीं की तो ज्ञान भी बेकार होगा और कर्मकाण्ड भी। इसलिए भावनिर्मिति अत्यावश्यक है ऐसा प्रतिपादन प्रथम स्कन्ध में बहुत जोर देकर किया गया है। भक्ति की आवश्यकता समझायी गयी है।

प्रथम स्कन्ध में भिन्न भिन्न प्रश्न भी आये हैं, जैसे ब्राह्मण वध्य है या अवध्य है? यह सब चर्चा उसमें आयी है। परन्तु भागवत की महत्ता यह है कि अद्वैत वेदान्त और

सगुणा भक्ति का सम्बन्ध समझाया गया है। जिसने तत्त्वज्ञान *(Philosophy)* का अभ्यास नहीं किया है वह इस संम्बन्ध में सोचेगा भी नहीं। अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि अभ्यास करनेवाला कभी सोचता नहीं। अभ्यास करना यह एक बात है और सोचना दूसरी बात है। परन्तु जिसने उसके सम्बन्ध में सोचा होगा उसे मालूम होगा कि अद्वैत वेदान्त और सगुणाभक्ति इन दोनों का सम्बन्ध ही कैसे होगा? क्योंकि सगुणता आयी कि द्वैत आ ही जाता है। यह तात्त्विक समस्या *(philosophical problem)* है। जो केवल समाधि *(trans)* में जानेवाले लोग हैं जो निर्गुण ब्रह्म की ही उपासना करते हैं। वे अद्वैत की उपासना करते हैं। उपासना के साथ द्वैत भी आता है।

प्रथम स्कन्ध में अद्वैत का प्रतिपादन; अद्वैत, वेदान्त और सगुणोपासना का सम्बन्ध बताया है। मनुष्य के लिए चार पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। इनमें से उन्होंने 'मोक्ष' ही लिया है। इसका कारण यह है कि धर्म, अर्थ तथा काम की चर्चा में मतभेद हो सकते हैं और कालभेद भी रह सकते हैं, परन्तु मोक्ष के सम्बन्ध में मतभेद अथवा कालभेद नहीं है।

'काम' की चर्चा की तो बीस साल का युवक और साठ साल का बूढ़ा दोनों में 'काम' तो होगा ही, परन्तु उसका रूप बदल जाता है और स्थिति भी बदल जाती है। उसके लिए 'फ्राईड' ही पढ़ना चाहिए। फ्राईड काम को ही मानता है। यह काम भिन्न भिन्न रूप लेकर आता है। उसमें परिवर्तन हो सकता है, मतभेद भी हो सकता है और कालभेद भी हो सकता है।

धर्म के सम्बन्ध में जो कानून हैं, उनके सम्बन्ध में कालभेद हो सकता है। १९३० में गांधीजी ने नमक कानून तोड़ा था। उस समय कानून को तोड़ना धर्म था। आज काल बदल गया है, परिस्थिति भी बदल गयी है। आज कोई कानून तोड़ेगा तो वह अधर्म होगा, अशास्त्रीय होगा। वह देशद्रोही माना जायेगा क्योंकि कानून का रूप बदल गया है।

धर्म, अर्थ, काम...ये तीनों परिस्थितिसापेक्ष हैं। परन्तु मोक्ष परिस्थितिसापेक्ष नहीं है। इसलिए उन्होंने मोक्ष उठाया। धर्म, अर्थ, काम-तीनों में मतभेद हो सकते हैं, परन्तु मोक्ष में ये भेद नहीं हैं। कारण मोक्ष का अर्थ है आत्यन्तिक सुख। आत्यन्तिक सुख के विरोध में कोई भी नहीं है, हो भी नहीं सकता। आत्यन्तिक सुख, सर्वधर्म और विचारकों को मान्य है। आत्यन्तिक सुख कैसे होगा, कैसे मिलेगा इसकी चर्चा हो सकती है। सभी धर्मों का, सभी विचारकों का आत्यन्तिक सुख के सम्बन्ध में मतभेद नहीं है, मतैक्य है। हाँ! आत्यन्तिक सुख किस तरह मिलेगा इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं।

आत्यन्तिक सुख के सम्बन्ध में विचारकों का वर्गीकरण करेंगे तो उनमें तीन पक्ष हैं। उनका एक पक्ष देहात्मवादी नास्तिकों का है। दूसरा पक्ष यह मानता है कि आत्मा अविनाशी है, दूसरा कुछ है ही नहीं! ऐसा माननेवाले लोग केवलाद्वैती कहलाते हैं। तीसरा

पक्ष परमात्मा, जीवात्मा और जड़ ऐसे तीन विभिन्न पदार्थ माननेवाला है। इन तीनों में सभी विचारक आ जाते हैं।

प्रथम पक्ष देहात्मवादी नास्तिकों का है। यहाँ नास्तिकता शाब्दिक वाद है। वास्तव में कोई नास्तिक होगा ऐसा मुझे नहीं लगता। सुकरात की तरह ढूँढ़ते जायेंगे तो जगत् में कोई नास्तिक पैदा ही नहीं हो सकता। 'बेडले' *(Badley)* जैसे लोग जो नास्तिक हैं उनकी नास्तिकता ही उनका ईश्वर है। इसका कारण विचारक-नास्तिक भी आत्यन्तिक सुख की इच्छा रखनेवाले हैं और कोई भी वैषयिक *(objective)* सुख आत्यन्तिक सुख हो ही नहीं सकता। वे आत्यन्तिक सुख को मानते हैं, आत्यन्तिक सुख की इच्छा रखते हैं और दूरदृष्टि से रखनी चाहिए ऐसा वे मानते हैं।

स्पेन्सर *(Spencer)* का नीतिशास्त्र पढ़ने जैसा है। वह कहता है कि दूरदृष्टि से देखा जाय तो नीतिशास्त्र सम्पूर्ण संसार को सुखी कर सकता है। सम्पूर्ण संसार को सुखी करने के लिए दूरदृष्टि रखनी चाहिए। अन्त में उसने लिखा है कि उसके लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। परन्तु वे जो मानते हैं उसके सम्बन्ध में ही ईश्वर की तथा एकसूत्रता की आवश्यकता है। तभी नीति खड़ी होती है। अन्यथा, मैं नीतिमान क्यों बनूँ? मैं दूसरे को क्यों न मारूँ? इस प्रश्न का उत्तर नहीं है। कोई कहेगा, 'मैंने दूसरे को मारा तो दूसरा भी मुझे मारेगा, इसलिए मुझे दूसरे को नहीं मारना चाहिए।' परन्तु समझो कि मैं इतना शक्तिशाली हूँ कि दूसरा मुझे मार ही नहीं सकेगा, तो क्या मुझे दूसरे को मारने की छूट है? तात्पर्य यह है कि उपयुक्ततावाद पर नीति खड़ी नहीं रह सकती। तू दूसरों को नहीं मार सकता इसका कारण तू जिस प्रकार ईश्वर का सर्जन है वैसा दूसरा भी ईश्वर का सर्जन है। दूसरा कदाचित् दुर्बल होगा परन्तु उसे जीवित रहने का केवल आग्रह ही नहीं, इस सृष्टि में रहने का उसका भी हक़ है। यह कहनेवाली भक्ति ही है। इसलिए इन लोगों का लेखन बुद्धिपूर्वक पढ़ेंगे तो सब **'वदतोव्याघात्'** लगेगा।

कितने ही लोगों के पास बौद्धिक कुशलता होती है। उनको **चार्वाक** कहते हैं। **चारु वाक्** यानी सुन्दर वाणी। जिनकी सुन्दर वाणी है वे चार्वाक हैं। वे जो बोलते हैं वह अच्छा लगता है। हमारे यहाँ एक नहीं अनेक चार्वाक् हो गये हैं। वे कहते हैं, 'श्राद्ध क्यों करते हैं? श्राद्ध करने की क्या आवश्यकता है? यहाँ पिण्डदान देने से यदि स्वर्गस्थ पितरों को वहाँ मिलता होगा तो जब तुम्हारे पिता अहमदाबाद जाते हैं तब उनके साथ कलेवा देने की जरूरत नहीं। तुम भोजन करते समय यहीं पिण्डदान करोगे तो तुम्हारे पिता को उसी समय वहाँ अहमदाबाद में भोजन मिल जायेगा। अतः **'व्यर्थं पाथेयकल्पनम्'** कहकर श्राद्ध क्रिया को समाप्त कर देते हैं, परन्तु उनके दृष्टान्त सिद्धान्त नहीं हो सकते। उनके पीछे सिद्धान्त समझाने की शक्ति नहीं होती। यह एक बौद्धिक नशा है। वाग्विलास से एक प्रकार का बौद्धिक नशा भी होता है।

दूसरा जो पक्ष है कि आत्मा अविनाशी है, ऐसे माननेवाले लोग केवलाद्वैती हैं और तीसरा पक्ष आत्मा जीवात्मा तथा जड़ को माननेवालों का है। इन तीनों पक्षों को अन्तिम सुख

तो चाहिए ही। इसलिए भागवत ने अविरोधी 'मोक्ष' उठाया है और प्रथम स्कन्ध में मोक्ष का आग्रह रखा है। इस प्रकार आत्यंतिक सुख ढूँढने लगेंगे तो अध्यात्म और भगवान दोनों आ ही जायेंगे।

ये जो दूसरे दो पक्ष हैं उनके बारे में सोचेंगे तो फिर वर्णाश्रम धर्म आ जायेगा, नियमों की आवश्यकता होगी, इहलोक, परलोकवाद आ जायेगा, कर्म आयेंगे, उपासना आयेगी, ज्ञान आयेगा। ये सब बातें आयेंगी। परन्तु इनके विवेचन के लिए तीन प्रश्न खड़े होते हैं और उनकी चर्चा प्रथम स्कन्ध में है। प्रथम प्रश्न यह है कि सृष्टि की निर्मिति कैसे हुई? दूसरा प्रश्न है मनुष्य का तत्त्वतः रूप क्या है? और तीसरा प्रश्न है मनुष्य का अन्तिम ध्येय कौन सा होना चाहिए?

सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई यह बहुत कठिन प्रश्न है। इसका कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति पूर्ण रूप से उत्तर नहीं दे सकता। आज पागल से लेकर अक्लमंद तक सभी का यह प्रश्न है कि सृष्टि निर्माण करनेवाले भगवान होंगे तो उन्होंने सृष्टि क्यों निर्माण की?

मनुष्य का तत्त्वतः रूप क्या है और मनुष्य का अन्तिम ध्येय कौन सा होना चाहिए? ये तत्त्वज्ञान के प्रश्न हैं। यहाँ भागवत में तो केवल कृष्णलीला और कृष्णभक्ति है। उसमें इन प्रश्नों का उत्तर कहाँ से होगा? समझदार और बुद्धिमान व्यक्ति को ऐसी शंका आती है। इसका कारण तत्त्वज्ञान का अभ्यास करनेवाले तात्त्विक लोगों को ऐसी कथा-कहानियों में रुचि नहीं है। परन्तु प्रथम स्कन्ध में इन प्रश्नों की तात्त्विक चर्चा है।

सभी तत्त्ववेत्ता उपरोक्त तीन प्रश्नों के सम्बन्ध में विचार करते हैं और कुछ कहते हैं। भागवत को भी इन प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ कहना है। कारण वह तत्त्वप्रधान भक्ति का प्रश्न है। निर्गुण निराकार ने यह सृष्टि क्यों बनायी? यह पहला प्रश्न है। सृष्टि की विविधता, सुन्दरता और चातुर्य देखकर बनानेवाला सचमुच है ऐसा लगता है। ऐसा नहीं लगेगा तो वह निर्बुद्ध है। सृष्टि में इतनी सुन्दरता, इतनी विविधता, इतना चातुर्य दिखायी देता है कि वह किसने बनायी होगी इसका आश्चर्य होता है।

सृष्टि तो है! तो पहले सृष्टि का नक्शा बनानेवाला भी होना चाहिए। इतना ही नहीं, सृष्टि बनाने की वासना भी उसे होनी चाहिए। अगर भगवान निर्गुण निराकार हैं तो उनको वासना कहाँ से आयी? इस सम्बन्ध में ऋषि भी स्पष्ट रूप में कुछ नहीं कहते। इसका कारण यह है कि समर्थ व्यक्ति से 'ऐसा क्यों?' यह पूछने का अधिकार भी किसका है?

मैं अपने घर में घूमता हूँ, कुछ करता हूँ तो 'यह आप क्यों कर रहे हैं' ऐसा पूछने का अधिकार किसका है? भगवान ने सृष्टि क्यों निर्माण की? **श्रुति** भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं देती। वह इतना ही कहती है- **'न एकाकी रमते'** खेलने के लिए दूसरा कोई चाहिए ऐसा कहकर मार्ग निकाला है। खेलने का अर्थ केवल खेल खेलना-क्रीड़ा करना नहीं है। रात को नींद में तुम्हारा 'अस्तित्व' होता है और सुबह तुम जागते हो यानी तुम्हारा 'खेल' शुरू होता है। इसलिए श्रुति भी ऐसा कहती है कि **'न एकाकी**

रमते।' ब्रह्मसूत्र में वेदव्यास ने लिखा है, **लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्** और वहीं भागवत में लिखा है **लीलया दधतः कलाः** भागवत के प्रथम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के सत्रहवें श्लोक में ऐसा कहा है।

मान लीजिये कि मैं अपने घर में एक कमरे में बैठा हूँ। मेरे हाथ में गेंद है। उसे मैं दीवार पर फेंकूँ और वापस आने पर पकड़ लूँ। फिर फेंकूँ, फिर पकड़ूँ, ऐसे समय कोई आकर मुझे पूछे कि तुम्हें गेंद पकड़ना है या छोड़ना है? यदि पकड़ना हो तो फेंको मत और फेंकना है तो फिर पकड़ो मत।' तो मैं उसे इतना ही कहूँगा कि आपको बीच में आने की आवश्यकता नहीं! *(You have no business to interfere)*। इसी प्रकार भगवान ने मनुष्य (जीव) को अलग किया और फिर अपने पास आने को कहा। इस सम्बन्ध में यदि कोई पूछे कि 'भगवान! आपको जीव को अपने पास ही लेना था तो अलग ही क्यों किया?' तो भगवान कहेंगे कि 'यह हमारा खेल है, तुम्हें बीच में बोलने का कोई कारण नहीं है।' यही **'न एकाकी रमते** और **लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'** में कहा है।

मुझे लगता है कि लीला सर्वत्र चल रही है। घर में छोटे बच्चे को दूर खड़ा करके आओ, आओ कहकर माँ अपने पास बुलाती है। यदि बच्चा गिर पड़ा तो उसे फिर से खड़ा करती है। यही **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'** है। यही तत्वज्ञान भागवत में लिखा है।

यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है कि 'भगवान का खेल चलता है यह ठीक है, परन्तु उसमें हमें व्यथा किसलिए?' अरे! जीवन में व्यथा, दु:ख की आवश्यकता रहेगी अथवा दु:ख रहेगा ही नहीं। ये दो ही स्थितियाँ हैं। मनुष्य सुखी नहीं है यह बात जितनी सत्य है, उतनी यह बात भी सत्य है कि इस सृष्टि में कोई भी व्यक्ति दु:खी नहीं है। इस सृष्टि में यदि दु:ख है तो किसीका भी मन इस सृष्टि को छोड़कर जाने का क्यों नहीं होता। यहाँ से जाने को कोई तैयार नहीं है। यदि दु:ख है तो चले जाओ, परन्तु किसीको जाना नहीं है। जब भगवान ने खेल शुरू किया, तब भगवान पर यह उत्तरदायित्व आता है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में कुछ न कुछ आनन्द मिले ऐसा दिखाना पड़े और प्रत्येक व्यक्ति को आनन्द मिलता है। किसीको स्वादिष्ट चीजें खाने में आनन्द मिलता है तो किसीको आधी रोटी खाने में आनन्द मिलता है। प्रत्येक को आनन्द तो है ही। सृष्टि का निर्माता प्रत्येक को आनन्द देता है। किसीको यह सृष्टि नहीं छोड़नी है, अत: सृष्टि निर्माण क्यों की? यह हम सृष्टिकर्ता को नहीं पूछ सकते।

दूसरी बात, सृष्टि में दु:ख है तो उसकी आवश्यकता है अथवा दु:ख है ही नहीं ये दो मार्ग दिखाने के लिए ही भागवत की निर्मिति है। दु:ख की ओर, इस सृष्टि की ओर देखने की दृष्टि जब तक नहीं मिलती तब तक व्यक्ति भक्त नहीं है और जब तक वह भक्त नहीं है तब तक वह मुक्त भी नहीं है। जीवन की ओर तथा जगत् की ओर तुम किस दृष्टि से देखोगे यह समझाने के लिए भागवत की रचना है। वैदिक ऋषियों ने **'न एकाकी रमते'** कहा और भागवतकार ने **'लीलया दधतः कलाः'** कहा। अतः जगत् में ही दु:ख

नहीं है, और होगा तो उसकी आवश्यकता है इसे भागवत प्रथम स्कन्ध में सिद्ध करना चाहता है ऐसा लगता है। तनिक गहराई में जायेंगे तो पता चलेगा।

तत्त्ववेत्ताओं के सामने दूसरा प्रश्न खड़ा होता है कि 'मनुष्य का कर्तव्य क्या है?' लीला करने के लिए बनायी हुई इस सृष्टि के साथ सृष्टिकर्ता का सम्बन्ध है, और मनुष्य का भी सम्बन्ध है। मनुष्य सृष्टिकर्ता का ही अंशरूप है। यदि मैं भगवान का अंशरूप हूँ तो जगत् की व्यवस्था अच्छी तरह से चले उसका उत्तरदायित्त्व मुझ पर आता है। मनुष्य का यह उत्तरदायित्त्व दिखाने का प्रयत्न भागवत ने किया है। नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि सभी शास्त्र यही समझाते हैं कि मनुष्य को कैसे रहना चाहिए। उससे भूलें होती हैं। भूलें क्यों होती हैं यह समझाने का काम वासनाशून्य व्यक्तियों का है। इसलिए अवतार हैं, वासनाशून्य व्यक्ति नहीं है। वासनाशून्य शक्ति मनुष्य का रूप लेकर आती है, वह समझाने के लिए आती है।

हमारे सभी व्यवहार वासना से ही होते हैं। हमारी भक्ति भी वासना से ही होती है। हम किसीकी हत्या करते हैं तो वह भी वासना से ही करते हैं और किसी की सहायता करते हैं तो वह भी वासना से ही। हमारी प्रत्येक क्रिया, अच्छी हो या बुरी, वासना से ही होती है। जब वासना से क्रिया होती है तब उसमें भूल होने की बहुत संभावना होती है। इसीलिए वासनाशून्य शक्ति को मनुष्य का आकार लेकर आना चाहिए, यह भागवत का रहस्य है। अतः अवतारों का चित्रण करने का भागवत का प्रयास है। निर्दोष वर्ताव कैसा होना चाहिए जो वासनाशून्य होगा, वही बता सकता है। जहाँ वासना है वहाँ दोष आ ही जाते हैं। **'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'** ऐसा लिखा है। भगवान अवतार किसलिए लेते हैं इसका स्पष्ट दर्शन होता है। भगवान के अवतार कृति करके दिखाने के लिए होते हैं। इसीलिए तो चौबीस अवतार हुए, ऐसा भागवत में लिखा है।

तत्त्ववेत्ताओं के सामने तीसरा प्रश्न खड़ा होता है कि मनुष्य का ध्येय क्या है? भागवत कहता है कि मनुष्य का ध्येय भक्ति है। भक्ति का अर्थ न समझने के कारण भक्ति में अकर्मण्यता आ गयी है और यांत्रिकता भी आयी है।

जीवन के विविध मार्ग होते हैं। ज्ञानमार्ग होता है, वैसे कर्ममार्ग भी होता है, परन्तु सभी की नींव में भक्ति होनी चाहिए ऐसा आग्रह है। मनुष्य का ध्येय भक्ति है। इसका अर्थ यह नहीं है कि क्रिया नहीं करनी है। सभी क्रियाएं करनी हैं परन्तु उनके पीछे की भावना बदलनी है। सुबह मुँह धोने की सामान्य क्रिया हम करते हैं, परन्तु वह भक्तिरहित है। उसे 'दन्तधावन विधि' कहकर उसके पीछे रही भावना बदलनी चाहिए। मुँह क्यों धोते हैं? क्योंकि मुँह से भगवान बोलते हैं, खाना खाते हैं, इसलिए मुँह स्वच्छ रखना है। यह भावना आयी कि मुँह धोने की क्रिया भी भक्ति बनती है। यही बात स्नान करने के सम्बन्ध में है। स्नानविधि को भी भक्ति माना गया है। आप परोपकार करेंगे तो उसकी नींव में भी भक्ति होनी चाहिए। उसकी नींव में भक्ति न हो तो वह परोपकार बेकार होगा, यानी वह

जीवन-विकास के लिए उपयोगी नहीं होगा। आप दान देते होंगे या दया दिखाते होंगे तो उनकी नींव में भी भक्ति होनी चाहिए। भागवत का ऐसा आग्रह है।

मनुष्य का ध्येय भक्ति है, परन्तु आज यांत्रिक कर्मकाण्ड को ही हम भक्ति समझ बैठे हैं। यह एक गलतफहमी भक्ति के सम्बन्ध में खड़ी हुई है। भक्ति केवल कृति नहीं है, वह एक वृत्ति है। मनुष्य को इस वृत्ति का बनना चाहिए। सभी की नींव में भक्ति होनी चाहिए। भक्ति का तत्त्वज्ञान छिछला नहीं है। यह तत्त्वज्ञानं अगतिक व असहाय लोगों का नहीं है। अगतिक व असहाय लोग जो करते हैं वह उपासना है, भक्ति नहीं है। भगवान से चिपककर बैठने को भक्ति कहते हैं। जो विभक्त (अलग) नहीं है वह भक्त है। जो भगवान से कभी विभक्त नहीं होता वह भक्त है। प्रत्येक कृति में वह और भगवान साथ ही हैं। भगवान के लिए प्रत्येक कृति है ऐसी भावना, वृत्ति बनानी है। उसके लिए प्रयत्न करने हैं। यही मनुष्य-जीवन का ध्येय है। कुछ करना हो नहीं ऐसा नहीं, मगर नींव में भक्ति रखकर कृति करनी है। समाजोद्धार करना है, भक्ति को नींव में रखकर करो। परोपकार करना है, दया करनी है, मगर उनकी नींव में भक्ति रखकर करो। तुम्हारी कृत्ति नैतिक हो या व्यावहारिक हो, उसकी बैठक में भक्ति होनी चाहिए। प्रत्येक कृति की बैठक में भक्ति होनी चाहिए ऐसा भागवत का आग्रह है।

अद्वैत मार्ग और सगुणा भक्ति का सुन्दर सम्बन्ध कैसे करना यह एक प्रश्न है। भागवत भक्ति का ग्रंथ है। भक्ति आयी कि भक्त आया, भक्ति किसकी करनी है वह भी आ गया अर्थात् द्वैत आ गया। मगर उसमें ऋषियों का अद्वैत कैसे आया? ऐसी एक शंका निर्माण होती है। अद्वैत में जिसे 'परब्रह्म' कहा जाता है। उसीका भागवत में 'विष्णु' या 'कृष्ण' के रूप में वर्णन किया है। विषयों को **ब्रह्मसम्पत्त्या संछिन्न द्वैतसंशयः'** समझाया है। प्रथम स्कन्ध के पन्द्रहवें अध्याय में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है। भक्तिमार्ग द्वैत का प्रतिपादन नहीं करता। द्वैत की अद्वैत में ही परिणति होती है। भक्ति द्वैत से शुरू होती है और उसकी परिणति अद्वैत में होती है। द्वैत में मध्वादिक संप्रदाय हैं। मध्व संप्रदाय द्वैती है और वह भागवत को प्रमाणभूत ग्रंथ मानता है। क्योंकि विष्णु और कृष्ण के लिए प्रेमभरा वर्णन भागवत में आता है।

भागवत के प्रथम स्कन्ध के दूसरे अध्याय में कहा है :

वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः।
वासुदेवपरा योगा वासुदेवपराः क्रियाः।। (भा. १-२-२८)

अर्थात् सभी वेद वासुदेवपर हैं, यज्ञ भी वासुदेव की प्राप्ति के लिए ही होते हैं। योग भी वासुदेवपर ही है और सभी कर्म भी वासुदेव की प्राप्ति के ही साधन हैं। इसके पहले कहा है- **'स्वानुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्-'** स्वनुष्ठित धर्म की संसिद्धि होने के बाद हरि को सन्तोष होता है। इस प्रकार अद्वैत व भक्ति का सम्बन्ध है ही, इतना ही नहीं, भक्ति का मूल ही अद्वैत में है। नित्य द्वैत ही माना गया तो भक्ति की उपपत्ति करते

समय भीति का आश्रय लेना पड़ेगा। भक्ति अर्थात् प्रेम! वह द्वैत में उत्पन्न होती है, परन्तु उसकी परिणति एकत्व बुद्धि में होती है। यह द्वैत ही माया है। नित्य द्वैत रहा तो भीति होती है व भीति में भक्ति नहीं रह सकती।

भीति से मनुष्य ढीला पड़ता है। यहाँ भीति शब्द का अर्थ ऐसा नहीं है। जितना व्यापक 'काम' तत्त्व है उतना ही व्यापक 'भीति' तत्त्व भी है।

मैं हमेशा घरेलू दृष्टान्त देता हूँ। रविवार छुट्टी का दिन है। तुम बाहर गये हो और मार्ग में कोई मिल जाता है, तब तुम उसे कहते हो, 'चलो, आज रविवार का दिन है मेरे घर खाना खाओ।' मित्र को लेकर घर आते हो, दरवाजे की घंटी बजाने पर दरवाजा खुलता है व तुम मित्र के साथ घर में प्रवेश करते हो। तब तुम्हारे भीतर एक सूक्ष्म भीति रहती है कि मित्र को भोजन के लिए घर लेकर आया तो हूँ, परन्तु पत्नी गुस्सा तो नहीं करेगी न? उसकी प्रतिक्रिया *(Reaction)* कैसी होगी? तुम यह किसी से कहते नहीं हो। तुम भयभीत हो या कायर हो ऐसा भी नहीं है। पत्नी के इन्कार करने पर भी उस पर दबाव डालकर तुम उससे खाना बनवाओगे और मित्र को खिलाओगे। परन्तु जब तक पत्नी नहीं कहती कि, 'कितने मित्र भोजन के लिए हैं? मैं अभी खाना बनाती हूँ' तब तक तुम्हारे अन्तःकरण में एक सूक्ष्म भय होता है। यह कहने का कारण इतना ही है कि पति-पत्नी में ही व्यावहारिक अद्वैत हो सकता है, परन्तु उसमें भी भीति होती है। जहाँ भीति है वहाँ भक्ति नहीं आती। पति-पत्नी के जितना अद्वैत दूसरों में नहीं होता, फिर भी वह भय से भरा हुआ होता है। इसलिए द्वैत में प्रेम निर्माण होता है परन्तु उसकी परिणति एकत्वबुद्धि में होती है। भय का कारण द्वैत में है। इसलिए **'छिन्नो द्वैतसंशयः'** ऐसा स्पष्ट भाषा में भागवतकार ने लिखा है। **'छिन्न द्वैतसंशयः'** होने के बाद निर्भयता आती है। **यद्बिभेति स्वयं भयम्'** भय को भी उसका डर लगता है।

भक्ति में प्रेम और निर्भयता ये बातें आती हैं। उसकी प्राप्ति होने तक जो कसरत चलती है उसे उपासना कहते हैं, अतः उपासक भिन्न और भक्त भिन्न है। भक्त तो वही है जो भगवान से विभक्त होता ही नहीं, जो भगवत् विचार से विभक्त नहीं होता। मन्दिर में भक्त और मार्केट में जाने के बाद विभक्त, वह भक्त नहीं है उपासक है।

प्रथम स्कन्ध विविध बातों से भरा हुआ है। उसमें शैव-वैष्णव का भेद खत्म कर दिया गया है। वैष्णव शब्द उच्चारने के बाद, एक विशिष्ट सम्प्रदाय गुजरात में वैष्णवों का है, उसीको ही लोग मानते हैं, यह गलत बात है। दक्षिण में, महाराष्ट्र में, सर्वत्र वैष्णव सम्प्रदाय है। महाराष्ट्र में वारकरी सम्प्रदाय वैष्णव सम्प्रदाय है। वैष्णव शब्द का केवल गुजरात के वैष्णव ऐसा अर्थ नहीं है, परन्तु कितने ही लोग संकुचितता के कारण वैसा अर्थ करते हैं।

भागवत में आत्मज्ञानी और वैष्णव ऐसे दो शब्द आते हैं। दक्षिण महाराष्ट्र में वीर शैव व वीरवैष्णव के झगड़े हुए। उसमें का यह 'वैष्णव' शब्द नहीं है। वीरशैव व वीरवैष्णव दोनों वीर हैं। उनके जो संप्रदाय खड़े हुए वे भी वीर हैं। उनके प्रज्वलित

कर्मकाण्ड का इधर पता नहीं चलता। वह वीर व शिव में हैं। अभी भी वीरशैव और वीरवैष्णव हैं।

भागवत में **हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञा...** ऐसा कहकर शिव व विष्णु एक हैं ऐसा कहा है।

प्रथम स्कन्ध में अलग-अलग सुन्दर तथा अलौकिक कथाएं हैं। नौवां अध्याय खोलेंगे तो बत्तीस से बयालीसवें श्लोक तक भीष्म द्वारा भगवान की की हुई स्तुति मिलेगी। वह कृष्ण भगवान की स्तुति है। गीता में, विश्वरूपदर्शन करने के बाद अर्जुन ने जिस प्रकार की स्तुति की है वैसी ही यह भीष्मस्तुति है। भीष्म ज्ञान का महाकोष *(Encyclopaedia)* है। युधिष्ठिर आदि लोगों के साथ प्रवृत्ति-निवृत्ति, राजधर्म, स्त्रीधर्म, नीतिधर्म आदि का निरुपण और चर्चा चलती है। इतने में उत्तरायण लग गया यानी भीष्म के जाने का समय आ गया। मृत्यु सामने आकर खड़ी हुई। इसका कारण भीष्म को उत्तरायण में देहत्याग करना था।

उस समय उनकी आँखों के सामने श्रीकृष्ण भगवान खड़े हुए। ज्ञान की चर्चा करते करते ही भीष्म बदल गये। कृष्ण भगवान आँखों के सामने आते ही भीष्म ने उनकी स्तुति की। वह स्तुति नौवें अध्याय के श्लोक बत्तीस से बयालीस तक है। जिस स्तोत्र की कोई उपमा नहीं है ऐसा स्तोत्र प्रथम स्कन्ध में है। ऐसी स्तुति अर्जुन ने गीता के ग्यारहवें अध्याय में की है।

अरे! जानेवाले कौन हैं? भीष्म! जो मृत्यु से भी नहीं डरते थे। भीष्म एक अलौकिक चरित्र *(character)* है। भीष्म के जैसा अलौकिक, उदात्त चरित्र कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। श्रीकृष्ण भगवान स्वयं प्रत्येक कदम उठाते समय सोचते थे कि मैं भीष्म की नजर से उतर तो नहीं जाऊँगा! इतना प्रभाव भीष्म का था। महाभारत में से श्रीकृष्ण व भीष्म इन दो महापुरुषों को निकाल दिया तो शेष महाभारत निर्जीव, प्राणहीन बनेगा। उसकी किसीको आवश्यकता ही नहीं रहेगी। दोनों महापुरुष इतने प्रभावी हैं। आज भीष्म के सम्बन्ध में अनेक ग़लत धारणायें हैं। परन्तु मैं उन पर नहीं बोलूँगा। क्योंकि महाभारत के चरित्रों का विचार करने हम यहाँ नहीं बैठे हैं। स्तोत्र कौन गा रहा है, उसकी महानता समझाने के लिए यह बात मैंने कही है। मामूली लोग, जिन्हें अक्ल ही नहीं है ऐसे लोग, बिना समझे कुछ न कुछ कह बैठते हैं। कहते हैं, 'भीष्म तो **अर्थस्य पुरुषो दासः** की कहावत चरितार्थ करनेवाले थे, वे कृष्ण के खिलाफ खड़े हुए, उन्होंने कौरवों का पक्ष लिया...आदि आदि।' ये लोग विचार ही नहीं करते कि भीष्म क़िस तत्त्व पर खड़े थे। भगवान श्रीकृष्ण भी भीष्म के बारे में जो नहीं कहते उसका साक्षात्कार इन लोगों को हो जाता है। वास्तव में भीष्म एक लोकोत्तर भक्त हैं।

ऐसे महान् भीष्म ने जो स्तोत्र गाया है वह लोकोत्तर, लाजवाब स्तोत्र है। पंक्तिबद्ध कड़ी है उस स्तोत्र की। उत्तरायण शुरू हुआ, आँखों के सामने भगवान खड़े हो गये। इधर चल रही ज्ञान की प्रभावी चर्चा छोड़कर अकस्मात् स्तोत्र गाने लगे। किसीका बनाया

हुआ स्तोत्र नहीं, अन्तःकरण आर्द्र बनने से फूटकर निकला हुआ स्तोत्र है वह! हम भी स्तोत्र गाते हैं, परन्तु हमारा अन्तःकरण आर्द्र नहीं होता, भावभीना नहीं होता। भीतर से आर्द्र बनने पर जो निकलता है उसे स्तोत्र कहा जाता है। हम आर्द्र बनने के लिए यह स्तोत्र गाते हैं। भीष्म जो स्तोत्र गाते हैं वह कण्ठस्थ किया हुआ स्तोत्र नहीं है। आँखों के सामने जैसे कृष्ण खड़े हुए वैसा ही वे गाते हैं। बिलकुल वह पढ़ने जैसा स्तोत्र है। उसकी उपमा, विश्वरूप दर्शन करने पर अर्जुन द्वारा की हुई स्तुति ही हो सकती है।

भीष्म कहते हैं, क्रीड़ा करने के लिए आये हुए तुम सर्वगुणसम्पन्न हो। तुम पर मेरा निर्दोष प्रेम रहे। तुम क्रीड़ा करने के लिए क्यों आये हो इसका मुझे पता है। तुम अवतार लेकर क्यों आये हो यह मैं जानता हूँ। तुम दुष्टों का संहार करने नहीं आये हो। प्रथम श्लोक का प्रारंभ इस प्रकार है।

सच बात है। सामान्य मनुष्य का हृदयाघात *(Heartfail)* हो सकता है तो कंस का क्यों नहीं होगा? भगवान ऊपर बैठे भी कंस का हृदय बंद कर सकते हैं।

आगे भीष्म कहते हैं-अर्जुन के साथ सख्य रखनेवाले तुम! तुमने उसका सारथ्य किया। इसलिए धूल से मलिन और श्रमजन्य स्वेदधाराओं से शोभायमान ऐसी जिनकी मुखाकृति है, वे मेरी आँखों के सामने बारबार आते हैं।

बहुत ही सुन्दर स्तोत्र है। मिठाई कितनी मधुर होती है वह खाने पर ही पता चलता है। वैसे इस स्तोत्र की मधुरता उसे गाने पर ही मालूम होती है।

फिर कहते हैं, 'युद्धपराङ्मुख बने हुए, जो मन से मरा हुआ था ऐसे अर्जुन को आत्मविद्या देकर खड़ा करनेवाले तुम हो तुम पर मेरा प्रेम रहे!'

'मेरी प्रतिज्ञा मिथ्या न हो इसलिए जिसने अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ा ऐसे तुम, मुझे तुम्हारे चरण चूमने की तीव्रतम इच्छा होती है। चाबूक और लगाम लेकर जो बैठे हुए हैं ऐसे कृष्ण का ही मुझे मृत्यु के समय ध्यान रहे।

इस स्तोत्र में विचारों की एक शृंखला है। भगवान किसलिए आते हैं? क्रीड़ा करने के लिए! महान् लोगों की क्रीड़ा होती है, उसमें से कुछ सीखने को मिलता है। संपूर्ण सृष्टि को, सम्पूर्ण संसार को उनकी क्रीड़ा से कुछ न कुछ मिला ही है।

भगवान क्रीड़ा के लिए आये! क्रीड़ा आयी तो सख्यता आयी। खेलने के लिए सखा चाहिए इसलिए अर्जुन को सखा बनाया। सख्यता आयी कि अपनापन आया। अपनापन आया तो भगवान ने अर्जुन का सारथी बनने का काम स्वीकार किया।

भगवान अर्जुन के सारथि बने। क्यों? क्या भगवान को कुछ इनाम मिलनेवाला था या वेतन मिलनेवाला था इसलिए बने? नहीं! भगवान अपनेपन के कारण सारथी बने।

अपनापन आया कि 'सहायता करना' आता है। सहायता करनी चाहिए। परन्तु भगवान ने अर्जुन की कोई सहायता नहीं की। भगवान ने अर्जुन को उठाया, खड़ा किया। अर्जुन को उन्होंने अकर्मण्य नहीं बनाया। अकर्मण्य बनाना 'सखा' का काम नहीं है।

भगवान को अर्जुन की सहायता ही करनी होती तो भगवान कहते, 'जाओ! आराम से सो जाओ, मैं सब करूँगा, उसमें क्या है? परन्तु भगवान ने ऐसा नहीं किया। यह महत्त्वपूर्ण बात है। उन्होंने अर्जुन को आत्मविद्या देकर खड़ा किया।

हम हमेशा दुर्बलों की सहायता करने की बात करते हैं, परन्तु सहायता में उनको उठाने की बात आती है न कि अकर्मण्य बनाने की!

भक्त पर भगवान का सच्चा प्रेम होता है। इसलिए अपने भक्त की भीष्म की प्रतिज्ञा मिथ्या न हो इसलिए भगवान ने स्वयं अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी और हाथ में शस्त्र धारण किया। महाभारत के युद्ध में अपने हाथ में शस्त्र धारण न करने की भगवान की प्रतिज्ञा थी, वह उन्होंने अपने भक्त के प्रति प्रेम के कारण तोड़ दी।

मृत्यु के समय, 'हाथ में चाबुक लिये हुए और लगाम पकड़े हुए कृष्ण भगवान की मूर्ति मेरी आँखों के सामने रहे' ऐसी भीष्म माँग करते हैं। भीष्मस्तुति बहुत ही सुन्दर है।

प्रथम स्कन्ध में स्तोत्र ही स्तोत्र हैं। बहुत भिन्न भिन्न रूप से बने हुए स्तोत्र हैं। हम भी स्तोत्र गाते हैं, काव्य करते हैं, भजन बनाते हैं, परन्तु श्रीमद् वल्लभाचार्य, शंकराचार्य, रामानुजाचार्य द्वारा बनाये हुए स्तोत्रों के पीछे उनकी जबरदस्त शक्ति है। स्तोत्र कौन गा रहा है इस बात का महत्त्व है। पड़ा हुआ, लाचार अथवा दीन ऐसे भीष्म नहीं थे। कृष्ण के जीवन के रहस्य का असली रूप का भीष्म को ज्ञान था। उनके स्तोत्र में क्रीड़ा है। क्रीड़ा आयी कि सख्यता आयी। इस प्रकार सख्यभक्ति की महत्ता भीष्म ने बढ़ायी। कार्य की ऊँच-नीचता विस्मृत हो जाती है। अन्यथा भगवान अर्जुन का सारथी क्यों बनते? आज की भाषा में कहना हो तो अमेरिका जैसे सम्पन्न राष्ट्र का प्रमुख यानी *president* यहाँ किसीके ड्राइव्हर का काम करेगा तो तुम्हें कैसे लगेगा? वैसा ही उस समय उनको लगता। वास्तव में वृष्णिसंघ अत्यन्त प्रभावी, वित्तवान संघ था। श्रीकृष्ण उसके प्रमुख थे। ऐसा होते हुए वे अर्जुन का सारथी बने। वृष्णिसंघ की सेना विशाल थी, उसे वे अर्जुन को दे सकते थे। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। जहाँ प्रेम, सख्यता और अपनापन आया। वहाँ उन्होंने आत्मविद्या का उपदेश देकर खड़ा किया।

मृत्यु के अन्तिम समय भीष्म की आँखों के सामने उन्हीं श्रीकृष्ण भगवान का चित्र आता है, जो हाथ में चाबुक लेकर व लगाम पकड़े हुए बैठे हैं। ये दो बातें मनुष्य समझ लेंगे तो उनका जीवन सुधर जायेगा, बदल जायेगा।

भगवान के हाथ में चाबुक है और हमारी लगाम भी उनके हाथ में है। मनुष्य के पास दस-दस फैक्ट्रियाँ होती हैं, उसके पास बोलने का भी समय नहीं होता, परन्तु अकस्मात् सब चला जाता है। इसका अर्थ यह है कि भगवान ने लगाम खींच ली।

प्रत्येक मनुष्य को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारी लगाम भगवान के हाथ में है और भगवान चाबुक लेकर बैठे हैं। भगवान चाबुक नहीं मारेंगे और मारेंगे तो आहिस्ते आहिस्ते मारेंगे। मारना तो पड़ता ही है। परन्तु द्वेषयुक्त बुद्धि से मारना, बदला लेने के लिए मारना और अपने लड़के को मारना इनमें फर्क़ तो होता ही है।

प्रथम स्कन्ध में भीष्म द्वारा की हुई स्तुति अत्यन्त उत्कृष्ट है। वह जिसने नहीं पढ़ी, उसने प्रथम स्कन्ध पढ़ा ही नहीं। भीष्मस्तुति पढ़ते समय प्रथम भीष्म ध्यान में होने चाहिए। भीष्म का उदात्त चरित्र, अलौकिक कर्तृत्व उनकी तेजस्विता, तत्त्वनिष्ठा और भक्ति ध्यान में होनी चाहिए। उसके बाद उनका स्तोत्र पढ़ना चाहिए। प्रथम भीष्म को तथा बाद में श्रीकृष्ण को नमस्कार करना चाहिए।

उसके बाद प्रथम स्कन्ध के दसवें अध्याय में इक्कीस से तीस श्लोकों तक कौरवस्त्रियों द्वारा व्यावहारिक दृष्टि से भगवान का किया हुआ तात्त्विक वर्णन है। भीष्म की दृष्टि अलग व कौरवस्त्रियों की दृष्टि अलग है।

कौरवस्त्रियाँ कहती हैं, 'भगवान! आपके आने से मधुवन कितना पावन हो गया? यदुवंश में जन्म लेकर आपने यदुवंश को प्रकाशित किया, सुशोभित किया और द्वारिका को पुनीत किया।'

इसके बाद द्वारिकावासियों ने श्रीकृष्ण का स्तवन किया है। वह ग्यारहवें अध्याय के छ से नौ श्लोकों तक है। वे कहते हैं, 'भगवान! आप जब पृथक् हो जाते हैं तब हमारे जीवन में अन्धकार छा जाता है। सच्ची बात है। मनुष्य के जीवन में से भगवान निकाल देंगे तो शून्य रह जाता है। द्वारिका में श्रीकृष्ण होते हैं तब द्वारिका की स्थिति कैसे होती है इसका वर्णन उन्होंने किया है।

फिर पन्द्रहवें अध्याय में आकुल-व्याकुल बने हुए अर्जुन द्वारा शोकान्वित अन्तःकरण से की गयी स्थिति का वर्णन है। महान् योद्धा अर्जुन आकुल-व्याकुल होकर भगवान की स्तुति करता है। अर्जुन ने जो स्तुति की है उसमें **'तेन त्वं असि'** का सिद्धान्त प्रतीत होता है। 'आपके कारण मैं हूँ' का दर्शन है।

इसके बाद कुन्ती माता द्वारा की गयी स्तुति आती है। उसमें उसका इतना ही कहना है कि हे 'कृष्णप्रभो! आपका आदि नहीं है, अन्त भी नहीं है। आपको समझना कोई खेल नहीं है। स्थितप्रज्ञ मुनि भी आपको समझ नहीं सकते। फिर मुझ जैसी एक सामान्य स्त्री आपको कैसे समझ सकेगी? मैं इतना ही कहती हूँ: **विपदः सन्तु न शश्वद्।** कुन्तीमाता ने यह वैश्विक श्लोक गाया है: 'भगवान! मुझे जब तक जन्म दो तब तक विपत्ति भी दो तो आपका स्मरण होता रहेगा। ऋषि भी कहते हैं कि विपत्ति दो। ऐसा माँगने की क्या आवश्यकता है। सम्पत्ति को ही विपत्ति समझो बस! जिसे आदि तथा अन्त नहीं है ऐसे श्रीकृष्ण प्रभु के साथ खेलकर उन्हें समझना चाहिए। कुन्तीमाता की स्तुति प्रेम से भरी हुई है।

इन सभी स्तुतियों में कृष्ण का वर्णन है। उसे पढ़ते समय वह स्तुति किसने गायी है यह देखकर पढ़ेंगे तो अलौकिक व अद्भुत आनन्द मिलेगा। उसमें भिन्न भिन्न छटाएं हैं। द्वारकावासियों ने जो स्तुतिगान किया है उसकी भिन्न ही छटा है। भीष्म पितामह की गायी हुई स्तुति अति उच्च है। वैसे तो सभी स्तुतियाँ उच्च ही हैं, परन्तु भीष्म की स्तुति लाजवाब है। कौरवस्त्रियों की स्तुति व्यावहारिक दृष्टि से किया हुआ वर्णन है। अर्जुन की विषादपूर्ण स्तुति में आचार्यों का कहा हुआ **'तेन त्वं असि'** का सिद्धान्त देखने को मिलता है। 'भगवान! मैं आपके कारण हूँ।'

प्रथम स्कन्ध में भागवत ने अलग अलग विषयों का स्पर्श किया है। गुरु-शिष्य में केवल प्रभु का सम्बन्ध नहीं चलता। उनमें आत्मीय सम्बन्ध न हो तो गुह्यज्ञान *(Realization)* नहीं होगा। गुह्यज्ञान शाब्दिक ज्ञान नहीं है। गुरु-शिष्य में प्रेम तो होना ही चाहिए परन्तु प्रेम से भी अधिक सामीप्य आना चाहिए। दोनों में आत्मीय सम्बन्ध होना चाहिए। **'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत'**- (गुरुजन अपने प्रेमी शिष्य को गुप्त से गुप्त बातें भी बता दिया करते हैं।) ऐसा प्रथम अध्याय के आठवें श्लोक में कहा गया है। बहुत ही सुन्दर चर्चा है। गुह्यज्ञान शब्दज्ञान नहीं है। एक हृदय दूसरे हृदय के साथ बोलने लगे इतना आत्मीय सम्बन्ध उसमें अपेक्षित है। केवल प्रेम नहीं चलता। हम भिखारी पर भी प्रेम करते हैं, परन्तु हमारा उसके साथ आत्मीय सम्बन्ध नहीं होता। आज 'प्रेम' शब्द बहुत ही सामान्य बन गया है। इसलिए चाहे वहाँ उसे प्रयुक्त किया जाता है। नारद ने प्रेम की व्याख्या की है वह अलौकिक है। **सा तु परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च**- ऐसी भक्ति की व्याख्या की है जिसमें प्रेम शब्द आया है। हम तो कहीं भी प्रेम शब्द का प्रयोग करते हैं। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में भागवत में बहुत सुन्दर वर्णन है कि गुरु-शिष्य में आत्मीयता होनी चाहिए। उसके बिना गुह्यज्ञान नहीं मिलता।

भागवत में राजधर्म का भी निरूपण किया गया है। राजा किसलिए होता है? राजा की क्या आवश्यकता है? **एष राज्ञां परो धर्मो ह्यार्तानामार्तिनिग्रहः** (भा.१/१७/११) दुखियों का दर्द दूर करना राजा का प्रथम धर्म है ऐसा कहकर राजधर्म की चर्चा की है। वह प्रत्येक राजा को पढ़नी चाहिए। प्रजातन्त्र *(Democratic state)* में मत *(Vote)* देनेवाले हम सभी राजा ही हैं। अत: हमें भी वह चर्चा पढ़नी चाहिए। उसे पढ़ने पर कालिदास ने लिखा है- **'आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।'** (शाकुन्तल-१-११)। आर्त का रक्षण करने के लिए शस्त्र हैं, निर्दोष को मारने के लिए नहीं हैं। रघुवंश में भी कहा है, **'क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः'** जो शाकुन्तल में कहा है उसका यह भाषान्तर है। क्षत्रिय किसलिए है? इसकी चर्चा राजधर्म में है।

तदनन्तर, अभ्यासु लोगों के लिए प्रथम स्कन्ध में एक अलौकिक बात का बीजारोपण है। 'चराचर सृष्टि में नया कुछ होता ही नहीं है और यदि होगा तो उसका नाश नहीं होता। एक के पास वैभव आता है वह दूसरे की हानि से ही आता है।'

ऐसा एक उत्क्रान्तवादी तत्त्व का संशोधन करके पुरोगामी पंडितों ने उसे **'जीवनार्थ कलह'** *(struggle for existence)* नाम दिया है। गत पीढ़ी के लोग उत्क्रान्ति तत्त्व से आकर्षित हुए थे। उत्क्रान्ति तत्त्व ने जीवनार्थ कलह शब्द उसमें से ही निकाला है। उसका मूल भागवत में है ऐसा लगता है। उसके सम्बन्ध में भागवत में ऐसा स्पष्टीकरण है:-

अहस्तानि सहस्तानामापदानि चतुष्पदाम्।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्।। (भा. १/१३/४६)

जिनके हाथ हैं वे बिना हाथवाले को मारकर खाते हैं तथा जिसे पैर नहीं है उसे चार पैरवाले मारकर खा जाते हैं। जो महान-बड़े हैं वे छोटों को मारकर खाते हैं। उत्क्रान्तिवादी तत्त्वज्ञान ने **'जीवनार्थ कलह'** यह जो शब्द ढूँढ निकाला उसका पिछली पीढ़ी को आश्चर्य लगता था, परन्तु उस शब्द का मूल भागवत में है, **'जीवो जीवस्य जीवनम्।'**

प्रथम स्कन्ध में—

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।
कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एव भवेदिह।
इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्।। (भा. १-४-२५)

यह कितना सँभालकर लिखा है! भागवत की महत्ता के सम्बन्ध में जिन्होंने विचार किया होगा उनके लिए ये महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। भागवतकार किसी भी व्यक्ति को ऐसा नहीं कहते हैं कि पूर्ण वेद का किसीको अधिकार नहीं।

आज एक मान्यता रूढ़ हो गयी है कि जिनको वेद और उपनिषद पढ़ने का अधिकार नहीं है उनके लिए भागवत की कथा है। भागवत का प्रचार होने लगा वह इस कारण से कि जो यज्ञोपवीत धारण नहीं करते हैं उनको वेदों का अधिकार नहीं है और जिनको वेदों का अधिकार नहीं है उनके लिए भागवत ग्रंथ है। परन्तु भागवतकार ने कितना सँभलकर लिखा है! वे कहते हैं **'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा'** जो द्विजबन्धु हैं, इसका अर्थ जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किया है परन्तु जो द्विजत्व के आचार का पालन नहीं करते, समझ नहीं सकते, अर्थात् द्विजबन्धु में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-तीनों आ गये। कारण, ये तीनों द्विज हैं। उनका व वेदों का सम्बन्ध कौन सा है? क्षत्रिय यज्ञोपवीत धारण करते हैं, परन्तु दस पीढ़ी में भी क्या उनका और वेदों का सम्बन्ध है? यदि सम्बन्ध न हो तो उनमें वेदज्ञान की पात्रता नहीं है। इसलिए **'द्विजबन्धु'** लिखकर, जिन्होंने यज्ञोपवीत नहीं लिया उनको वेदों का अधिकार नहीं और उनके लिए भागवत है, ऐसा लिखने का अभिप्राय नहीं है। भागवतकार लिखते हैं: कि **'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां..'** इन सबको वेदों के ज्ञान की पात्रता नहीं है और उनके लिए भागवत है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनको वेदों का अधिकार नहीं है, यदि अधिकार न होंगे तो द्विजबन्धू लिखना व्यर्थ है। द्विजत्व का स्वीकार किया इसलिए वेदज्ञान की

पात्रता नहीं आती यह सच बात है। जिनकी वेदज्ञान की पात्रता नहीं है, उनमें पात्रता निर्माण करने के लिए भागवत है। इसीलिए एक ऐसी रूढ़ि आयी कि भागवत सुनने के बाद गीता पढ़नी चाहिए। गीता स्मृतिग्रंथ है तथा उसे भागवत के अन्तिम दिन पढ़ना चाहिए। इस एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न की चर्चा आपको प्रथम स्कन्ध में मिलेगी।

प्रथम स्कन्ध में जीवनार्थ कलह की चर्चा है, राजधर्म की चर्चा है। गुरु-शिष्य में आत्मीय ज्ञान सम्बन्ध निर्माण हुए बिना गूढ़ज्ञान का सर्वांगी परिवर्तन *(Transformation)* नहीं होता है। गुरुकृपा से साक्षात्कार नहीं होता, गुरु के प्रेम से भी नहीं होता। इसके लिए गुरु-शिष्य का हृदय एक होना चाहिए तभी गूढ़ज्ञान *(Realization)* हो सकता है। इसकी शास्त्रीय चर्चा भागवत ने की है। तो क्या भागवत केवल कथा-कहानियों का ग्रंथ है? ऐसा नहीं है। उसी तरह जिनको वेदों का अधिकार नहीं है उनके लिए भागवत है ऐसा भी नहीं है। भागवत तो वेदों का ज्ञान प्राप्त करने की पात्रता निर्माण करता है। यह भागवत की महत्ता है।

भागवत के प्रथम स्कन्ध में इतनी महत्त्वपूर्ण बातें हैं। उनका विस्तारपूर्वक वर्णन करना समयाभाव से संभव नहीं है, इसलिए प्रथम स्कन्ध को नमस्कार करेंगे।

द्वितीयः स्कन्धः

द्वितीय स्कन्ध में शुकदेवजी और परीक्षित राजा मिलते हैं। प्रश्न यह पूछा जाता है कि मनुष्य जीवन की इतिकर्तव्यता क्या है? मनुष्य जीवन है तब तक जीव को मनुष्य बनकर रहना है ऐसी इतिकर्तव्यता हो सकती है। परन्तु मनुष्य-जीवन मिलने के बाद उसकी इतिकर्तव्यता कौन सी है? इसका चित्रण भागवत में किया गया है।

मनुष्य को जीवन मिला है, बुद्धि मिली है। बुद्धि मिलने के बाद 'सोचना' भी आ जाता है। जैसा मैं आया हूँ वैसा मैं चला भी जाऊँगा। इस 'चला जाऊँगा' का विचार करना मनुष्य जीवन की इतिकर्तव्यता है। 'मुझे जाना है। मैं आया हूँ' इसका अर्थ ही मुझे जाना है। जो आया है उसे जाना ही पड़ता है। **'जातस्य हि ध्रुवोर्मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च-'** मुझे जाना ही पड़ेगा। परन्तु मनुष्य गीता के इस कथन का विचार ही नहीं करता। जब वह इसका विचार करेगा तभी वह जीवन-विकास के सम्बन्ध में विचार कर सकेगा। मनुष्य को जीवन विकास के बारे में सोचना चाहिए।

लोग ऐसा समझते हैं कि मृत्यु का स्मरण करने में भय है। गीता तो कहती है **'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्'** सुबह उठने के बाद आज मेरी अर्थी निकलनेवाली है' ऐसा विचार करना चाहिए। गीता ने मृत्यु को मांगलिक माना है। मुझे जाना है, कब जाऊँगा, कहाँ जाऊँगा यह मुझे मालूम नहीं है। टिकट तो मैंने कटवाया है परन्तु किस स्टेशन पर उतरना है यह मुझे मालूम नहीं है। प्रत्येक स्टेशन आया कि 'यहाँ तो उतरना ही पड़ेगा' ऐसा लगता है। जीवन का भी ऐसा ही है। जो अपने ही संसार में मस्त व व्यस्त हैं वे मृत्यु को भूल जाते हैं। उनको मृत्यु का विचार करना आवश्यक है, परन्तु उस सम्बन्ध में उदासीनता है। जीवन का भी विचार करना चाहिए।

भागवत कहता है कि मृत्यु आयेगी तब प्रभु का स्मरण कर। इसके लिए कथा भी कही है। अजामिल ने मृत्यु के समय अपने 'नारायण' नामक लड़के को पुकारा और वह मुक्त हो गया। इतनी सहजता से मुक्ति नहीं मिलती। परन्तु यह भक्ति का बालमन्दिर *(K. G. School)* है! बालमन्दिर में ऐसा होता है। क्या मिलता है उसमें? बिस्कुट मिलते हैं, खाने को मिलता है परन्तु खाने के लिए स्कूल नहीं है।

'मृत्यु के समय प्रभु का स्मरण करो' ऐसा कहा है। उस समय प्रभु का स्मरण कैसे होगा? जीवन तक जिस पर कभी प्रेम नहीं किया, जीवन में जिसका कभी काम नहीं किया उसका मृत्यु के समय स्मरण कैसे होगा? जीवन में जो कुछ किया होगा वही याद आता है। दूसरा कुछ याद ही नहीं आता। याद आयेगा भी कैसे? उसके बारे में कभी सोचा ही नहीं!

एक शेअर बाज़ार का व्यापारी बीमार पड़ा। उसे ज्वर चढ़ जाने से बेहोशी आ गयी थी। लड़कों ने डाक्टर को बुलाया। डाक्टर ने आकर ज्वर का प्रमाण देखा। मापने पर डाक्टर ने कहा, ज्वर १०१ है। व्यापारी को थोड़ा होश आया था, उसके कान पर 'एक सौ एक' शब्द पड़ा। उसने तुरन्त कह दिया, 'एक सौ दस होने पर बेच दो।' इस व्यापारी ने इसके सिवाय जीवन में कुछ विचार ही नहीं किया था तो मृत्यु के समय दूसरा कैसे याद आयेगा?

इसलिए भागवत कहता है कि जीवन में प्रभु पर विश्वास रखना चाहिए। उसके लिए कृष्णलीला सुनो। कृष्णलीला का अर्थ लोग इतना मर्यादित करते हैं कि कृष्ण भगवान ने बचपन में जो खेलकूद किये वहाँ तक ही सुननी है और सुनने के बाद वह कृष्णलीला हो गयी। कृष्णलीला का अर्थ यह है कि कृष्ण जब पैदा हुए, उनका व्यक्तिकरण हुआ तब से लेकर उनके देहोत्सर्ग तक का उनका सम्पूर्ण जीवन लीला ही है। **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।'**

शुकदेव ने कहा कि कृष्णलीला सुनने पर उनके प्रति विश्वास निर्माण होगा और जीवन को एक मोड़ मिलेगा तभी अन्तिम समय कृष्ण भगवान का स्मरण होगा। कृष्णलीला का अर्थ हम समझते हैं कि कृष्ण ने शकटासुर और पूतना मौसी को किस तरह मारा उसका वर्णन कथा के रूप में सुनना! कृष्ण-लीला का अर्थ है 'कृष्ण का जीवन!' 'लीला' शब्द का अर्थ है जीवन।' जिस प्रकार भगवान ने लीला की, उसी प्रकार वल्लभाचार्य ने भी लीला की। लीला यानी जीवन! कृष्ण का जीवन सुना होगा तो हमारे जीवन में सुख आयेगा तब कृष्ण याद आयेंगे, दुःख आया तो भी कृष्ण याद आयेंगे, और जीवन में संघर्ष के प्रसंग आये तो भी कृष्ण याद आयेंगे।

जीवन में सुख, दुःख और संघर्ष ये तीन ही बातें आती हैं। ये सब श्रीकृष्ण के जीवन में दिखायी देती हैं। आज कृष्ण-लीला का अर्थ मर्यादित हो गया है। यदि कृष्ण के बचपन के खेल-कूद ही लीला है, तो कौरव दरबार में दूतकर्म किये जाने पर उन्होंने वहाँ

जो भाषण दिया है वह क्या लीला नहीं है? वह भी लीला ही है। उनका संपूर्ण जीवन लीला ही है। इसीलिए तो ब्रह्मसूत्र में लिखा है, **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।'**

कृष्ण भगवान का जीवन वास्तविक *(Reality)* है। जीवन में वास्तविकता का सामना करना पड़ता है। कृष्ण भगवान ने मनुष्य के सामने आनेवाली परिस्थितियों का सामना किया है। अत: जिसने उनका जीवन पढ़ा होगा जब सुख, दु:ख व संघर्ष आये तब उस परिस्थिति में श्रीकृष्ण ने कैसा आचरण किया उसे याद आयेगा। वह यदि याद आया तो मनुष्य दु:खमुक्त, व्यथामुक्त और भयमुक्त बनता है। इतना ही नहीं मनुष्य अचल-स्थिर और आत्मविश्वासपूर्ण हो जाता है। यही सच्चा जीवन है।

अन्त में जीवन-विकास किसे कहते हैं? यह जो सृष्टि है वह भी श्मशान है। प्रत्येक वृक्ष पैदा होता है और मर जाता है। प्रत्येक प्राणी पैदा होता है और मर जाता है। हमारे घर में प्रतिदिन कितने प्राणी मरते हैं? क्या हमें मालूम है? लोग कहते हैं, 'एक सौ वर्ष पुराना हमारा घर है।' इसका अर्थ यह कि उसमें पाँच-पचास लोग तो मरे ही होंगे। इसलिए यह श्मशान है, तुम्हारा घर नहीं है। जहाँ मुर्दों को जलाते हैं वही श्मशान नहीं है अपितु सम्पूर्ण विश्व श्मशान है। परन्तु उसमें एक शिवतत्त्व है, जो अमर है।

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं
तथापि स्मर्तृणां वरद परमं मङ्गलमसि ।। (शि.म.२४)

श्मशान में एक ही शिवतत्त्व है। एक ही कल्याणकारी तत्त्व है। वह तत्त्व है 'जीवन-विकास'। उसे प्राप्त करना, मनुष्य का इतिकर्तव्य है। इस शिवतत्त्व को जिसने, सुना, सँभाला, पोसा है, उसीने जीवन-विकास किया। मनुष्य जीवन का इतिकर्तव्य क्या है? 'जीवन-विकास!' और जीवन-विकास कैसे होगा? जीवन-विकास होने के बाद मनुष्य भगवान से भी कहेगा, **'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्'** भगवान! अन्तकाल में मैं आपका स्मरण नहीं करूँगा कारण मैं आपको ही सारे जगत् में देखता हूँ। इसी कारण मैंने सारे विश्व पर, उसके कणकण पर प्रेम किया है। आप इस सृष्टि में बसे हैं इसलिए मुझे इस सृष्टि का आकर्षण है। जब मैं यह सृष्टि छोड़ूँगा तब मैं सृष्टि को ही याद करूँगा, परन्तु उस समय आप मुझे याद करो!'

हमारा अन्तकाल होता ही नहीं है, प्रयाणकाल होता है। हम मरेंगे तो दूसरा जन्म लेंगे। अन्तकाल का अर्थ यह है कि अब दूसरा जन्म लेना नहीं है। इसीलिए गीता में दो भिन्न भिन्न शब्द प्रयुक्त किये हैं-अन्तकाल और प्रयाणकाल। **'प्रयाणकाले मनसा चलेन।'** अन्तकाल उसीका होता है जिसका फिर से जन्म न हो। **'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।'** वह वहाँ से वापस नहीं आता। इसलिए जिसका अन्तकाल होगा वह

भगवान से कहेगा, 'भगवान! मैं आपको याद नहीं करूँगा, आप मुझे याद करो,' ऐसा जीवन-विकास हो इसलिए कृष्णलीला सुननी है।'

कृष्णकथा सुनने के बाद विचारों का मेरुदण्ड मजबूत होता है। आज मेरुदण्ड टूट गया है। लोगों के जीवन के पीछे, विचारों के अथवा भोगों के पीछे मेरुदण्ड है ही नहीं।

जो व्यक्ति परिस्थिति का सामना करता है उसका जीवन-विकास होता है। जो परिस्थिति से भागता है वह पलायनवादी है। सृष्टि में जिस प्रकार 'जीवनार्थ कलह' प्रमुख तत्त्व है उसी प्रकार 'जीवनविकास' यह शिवतत्त्व है। शेष सब श्मशान है। 'मैंने कितना जीवन-विकास किया' यह देखना है। श्रीकृष्ण के जीवन में सभी संघर्ष हैं, सभी दुःख हैं, सभी प्रकार की समस्याएं हैं और सभी प्रकार के सुख भी हैं, इसलिए कृष्णलीला सुननी है। उससे मनुष्य व्यथामुक्त, भयमुक्त, दुःखमुक्त तो हो ही जाता है तथा उसका जीवन अचल-स्थिर और विश्वासपूर्ण बनता है। यही जीवन-विकास है, जीवन की इतिकर्तव्यता है। जीवनविकास तभी होगा जब मनुष्य कृष्णलीला सुनेगा और समझेगा। श्रीकृष्ण ने यहाँ जन्म लिया तब से लेकर उनके देहोत्सर्ग तक सभी लीला ही लीला है।

शुकदेव परीक्षित को एक दृष्टान्त देते हैं कि, कृष्णलीला सुनने से खट्वांग राजा एक ही दिन में मुक्त हुआ, तुम्हारे पास तो सात दिन हैं। सात दिन में तू चाहे वह कर सकता है। उसी समय से यह भागवत का सप्ताह आ गया। सप्ताह यह कोई श्रुति-स्मृति लिखित समय नहीं है। सात दिन सुनना या दस दिन अथवा ग्यारह या पन्द्रह दिन सुनना ऐसा किसी धर्मशास्त्र में लिखा हुआ नहीं है। परीक्षित को सात दिन की नोटिस *(Notice)* मिली थी कि सात दिन के बाद तू मरनेवाला है। इन सात दिनों में यानी सप्ताह में तू जीवन का रहस्य समझ सकता है, जीवन का विकास कर सकता है। तुझे सात दिन का समय मिला है वह पर्याप्त है ऐसा आश्वासन दिया है। उस दिन से, भागवत सुनना है तो सात दिन सुनना ऐसी धारणा बन गयी, परन्तु भागवत सुनानेवाला न शुकदेव होता है और न सुननेवाला परीक्षित! जिस प्रकार पति का सामीप्य प्राप्त करने के लिए-सप्तपदी करनी होती है यानी सात कदम चलना है वैसे सात दिन में भगवान के साथ सामीप्य निर्माण होगा, यह कहा गया है।

श्मशान में एक शिवमन्दिर होता है। उसी प्रकार इस जगतरूपी श्मशान में एक शिवतत्त्व है। जीवन-विकास में जीवनार्थ कलह तो है ही, परन्तु वह दैवी जीवनार्थ कलह है।

द्वितीय स्कन्ध में अष्टांगयोग का दिग्दर्शन किया गया है। आज योग शब्द का उच्चारण करने पर लोगों को शारीरिक *(physical)* आसन ही ध्यान में आते हैं। परन्तु अष्टांगयोग एक वृत्ति है ऐसा भागवत कहता है। उसमें यम-नियम हैं। अब तो यम-नियमों का कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा है। समाधि कैसे लगाना यह सिखानेवाले लोग भी हैं और लोगों की समाधि लगती भी है, और फिर कहते हैं कि हमारी समाधि लग गयी, परन्तु

उसके लिए एक वृत्ति का विकास करना होता है। जब तक यम-नियम साध्य नहीं होते तब तक मनुष्य समाधि तक नहीं पहुँच सकता।

'यम' पारिभाषिक *(Technical)* शब्द है। यम यानी क्या? **'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य** व **अपरिग्रह'** ये पाँच यम हैं। और **'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय** व **ईश्वरप्रणिधान'** ये पाँच नियम हैं। ये दस बातें जीवन में चरितार्थ होनी चाहिए। फिर **आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा** और उसके बाद **समाधि** है। परन्तु आज बिना कुछ किये ही समाधि लगती है। लोगों को लगता है, 'अमुक एक व्यक्ति समाधि लगाता है।' विचारों में हमारी समाधि लगती है। जिस पर आसक्ति होती है उसी पर समाधि लगती है। परन्तु समाधि के सम्बन्ध में एक विपरीत धारणा बन गयी है। जिसका कारण यह है कि अष्टांगयोग की नींव में क्या है इसे ये लोग समझते ही नहीं। कितने ही लोगों की समाधि लगती है, साक्षात्कार *(Realization)* भी हो जाता है। नमस्कारार्ह हैं ऐसे लोग। परन्तु योगदर्शनकार, भागवतकार को ऐसा नहीं लगता। उनकी दृष्टि में अष्टांगयोग साधन एक जीवनवृत्ति है, जब तक यह वृत्ति तैयार नहीं होती, तब तक समाधि लगना असंभव है। इसलिए ऐसा कहा गया है। पाँच यम और पाँच नियम जीवन में आने पर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा ये समाधि तक पहुँचने के सोपान हैं। फिर समाधि आती है। परन्तु यह अष्टांगयोग केवल शारीरिक *(physical)* नहीं होना चाहिए। वह ईश्वराभिमुख होना चाहिए, ऐसा आग्रह है। भागवत में लिखा है-

नारायणपरो योगो नारायणपरं तपः
नारायणपरं ज्ञानं नारायणपरा गतिः ।। (भा.२/५/१६)

योग भी नारायणपर अर्थात् ईश्वराभिमुख होना चाहिए।

द्वितीय स्कन्ध में एक दूसरा प्रश्न पूछा गया है कि ध्यान कैसे लगाना चाहिए. कैसे करना चाहिए। उसके सम्बन्ध में भागवतकार ने एक श्लोक में लिखा है, **'तत्रैकावयवं ध्यायेत्...।'** अर्थात् भगवान के स्वरूप के एक एक अवयव (अंग) पर स्थिर रहना चाहिए। उदाहरणस्वरूप पाँव हैं, हाथ हैं, मस्तिष्क है... आदि आदि। इसका सही अर्थ ज्ञात न होगा तो मनुष्य वही कृति करता रहेगा। एक एक अवयव पर स्थिर बनो और फिर आगे बढ़ो। परन्तु मैं कहता हूँ कि 'माँ' बोलने पर आँखों के सामने माँ आयेगी या उसका पाँव आयेगा? यदि केवल पाँव सामने आयेंगे तो पाँव किसके हैं? मनुष्य के हैं या जानवर के? कैसे मालूम होगा? एकाग्रता *(concentration)* करनी है तो सम्पूर्ण आकार जानना चाहिए। व्हाइटहेड *(Whitehead)* जैसा तत्त्वज्ञानी कहता है कि *Human form is most intimate form for me,* मुझे तो भगवान मनुष्याकार ही चाहिए। सगुण भक्ति का यही रहस्य है। माँ कहने पर सम्पूर्ण माँ ध्यान में आती है, परन्तु भागवतकार ने एक एक अवयव पर स्थिर होने को कहा है। भागवत का सन्दर्भ ध्यान में न लेकर एक श्लोक लेकर बोलेंगे तो उसका कोई अर्थ नहीं है। पहले पाँव पर स्थिर होना, फिर

हाथ पर स्थिर होना, इस प्रकार नीचे से ऊपर तक जाने में मुझे लगता है कि ऐसा करने से सगुणा भक्ति का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा। कारण भग्नमूर्ति का चिन्तन नहीं हो सकता। 'माँ' बोलने पर सम्पूर्ण माँ ही ध्यान में आयेगी। कुछ समय तक पाँव ध्यान में आयेंगे, थोड़ा समय हाथ आयेंगे, फिर आँखे, मुख ध्यान में आयेंगे, परन्तु आँखों के सामने सम्पूर्ण मूर्ति आनी चाहिए। मानवाकृति *(Human form)* किसलिए है? यदि एक एक अवयव का यानी भग्नमूर्ति का ध्यान करेंगे तो, यह जो भक्ति का सगुण मूर्ति का-सगुणोपासना का रहस्य है वह खत्म जायेगा। अत: भागवतकार ने जो कहा है उसका अर्थ स्थूल रूप में नहीं लेना चाहिए। भक्तिशास्त्र की भागवतकार ने जो साधना समझायी है दह अलौकिक है। एक एक अवयव पर चित्त एकाग्र करना साधना है।

अन्त में ध्यान तभी लगेगा जब भगवान के प्रति आसक्ति निर्माण होगी। भगवान के प्रति आसक्ति नहीं हुई तो ध्यान भी नहीं होगा। इसीलिए भगवान ने गीता में कहा है, **'मय्यासक्तमनाः पार्थ...।'** भागवतकार कहते हैं कि जब प्रथम चित्त एकाग्र करने लगेंगे तब साधना भी करनी पड़ेगी। कौन सी साधना करेंगे? भगवान के एक एक अवयव पर क्रम से एकाग्र होइये। प्रथम अवयव लीजिये पाँव! पाँव पर स्थिर हो जाओ। पाँव पर स्थिर होना यानी क्या करना है? **'चरैवेति चरैवेति...'** घूमना चाहिए।' यह साधना है। भगवान के प्रति प्रेम बढ़ाने के लिए, आसक्ति बढ़ाने के लिए यह साधना है। भगवान के विचार, भगवान का रूप, भगवान का नाम, भगवान का प्रेम लेकर जगत् में घूमो। ऋषि इसीलिए **'चरैवेति चरैवेति..'** घूमने लगे। प्रेम प्रवाही होता है। प्रेम चलने लगता है। जो स्थिर होता है वह प्रेम नहीं है। अतः भगवान के पाँव में स्थिर होकर न भगवद्कार्यार्थ चलने लगो।

कोई कहेगा, 'मैं तो रोज चलता हूँ। घर से मार्केट तक चलकर ही जाता हूँ। सुबह के समय घूमने के लिए भी मैं जाता हूँ।' परन्तु उसमें साधना नहीं है, भोग है। सुबह समुद्र के किनारे घूमने जाना 'घूमना' नहीं है। कुछ कारणवश घूमना पड़ता है। इसलिए प्रभु का प्रेम, प्रभु का नाम, प्रभु के विचार, प्रभु की मूर्ति हृदय में रखकर घूमना **-चरैवेति...**यह साधना का भाग है। स्वाध्याय परिवार गाँव गाँव में जाकर भक्तिफेरी करता है वह सामाजिक कार्य *(social work)* नहीं है, भक्ति कार्य है। **'चरैवेति चरैवेति..'** पाँव चलने चाहिए। पाँव किसलिए चलते हैं उसका हिसाब भगवान को दो। हम तो बहुत चलते हैं। घर से बाजार, बाजार से सिनेमा, सिनेमा से क्लब, क्लब से घर, किसलिए चलते हैं यह भगवान से कहना पड़ेगा। जीवनविकास के लिए चलना है। कहने की भी आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। इसका कारण हमारे पाँव किसलिए चलते हैं इसकी टिप्पणी भगवान के पास है कारण वे भीतर ही बैठे हैं। कोई झूठ बोलकर उनको धोखा नहीं दे सकता। गुजराती में एक भजन हैं, **'रामना सरवाला खोटा होय ना!'** अर्थात् राम का हिसाब कभी गलत नहीं होता। इसलिए भागवतकार ने भगवान के चरणों में चित्त एकाग्र करने की जो बात कही है वह अलौकिक है।

फिर कहते हैं, हाथ पर चित्त स्थिर-एकाग्र करो। हाथ को काम देना है। इसलिए मुझे प्रभुकार्यार्थ कुछ देना है। मुझे कुछ कमाना है। किसलिए? प्रभुकार्यार्थ देना है इसलिए! मैं हमेशा कहता हूँ कि मार्केट भी मन्दिर बन सकता है, क्योंकि मुझे कुच्छ देना है। इसलिए हाथ पर, फिर कण्ठ पर, फिर मस्तिष्क पर एकाग्र होना चाहिए। अर्थात् उनके सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। यह भक्तिमार्ग की साधना है। इसीलिए ससुण-साकार भगवान की मनुष्याकार मूर्ति में चित्त एकाग्र करना है। केवल पाँव, हाथ आदि अलग अवयवों पर एकाग्र नहीं हुआ जाता। मूर्ति में चित्त एकाग्र करते समय एकाध दिन भगवान की आँखें ही ध्यान में आयेंगी तो कभी हाथ ध्यान में आयेंगे। एकाध दिन भगवान के चरण ध्यान में आयेंगे, परन्तु ये अवयव एक ही शरीर के हैं, अलग अलग नहीं है।

भगवान के मस्तिष्क पर एकाग्र होना इसका अर्थ यह है कि मुझे विचार करना है। क्या विचार करना है? सब्जी-भाजी कौन सी लानी है अथवा मार्केट में दलाल को कैसे बनाना है? या दूसरे व्यापारी की जेब का पैसा मेरी जेब में कैसा आयेगा यह सोचना है? क्योंकि विचार करना भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। यह सब हम सोचते ही हैं। जब भगवान के सामने मस्तिष्क झुकायेंगे तब सोचना है कि क्या मैंने कभी जीवन-विकास के बारे में सोचा है? इसका अभ्यास करो। जीवन के सम्बन्ध में, भगवान के सम्बन्ध में विचार करना है, इसलिए यह साधना समझायी गयी है।

उसके बाद मुख पर एकाग्र बनना है। इसका अर्थ यह है कि मुझे अपने मुँह से भगवान की वाणी कहनी है। इसके लिए तो हमने भगवान द्वारा गायी हुई गीता उठायी है। भागवत एक लोकोत्तर ग्रंथ है इसमें सन्देह ही नहीं है, परन्तु वह ग्रंथ व्यास का लिखा हुआ है। गीता भी अलौकिक ग्रंथ है और वह कृष्ण भगवान द्वारा गायी हुई है। भगवान की गायी हुई वाणी-गीता मुझे अपने मुँह से गानी है। मेरा मुँह भगवान की वाणी बोलने के लिए है।

मुझे आँखों की साधना करनी है। मुझे आँख से देखना है। क्या देखना है? सबका भला देखना है।

'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।'

सबकी ओर भद्र (कल्याण) की दृष्टि से देखना है।

कान पर चित्त एकाग्र करना है। कान से क्या सुनना है? दूसरे की व्यथा, दूसरे का दुःख सुनना है। दूसरे का दुःख समझना है। उसके दुःख में मुझे सहभागी बनना है। इस प्रकार एक एक अवयव पर चित्त एकाग्र करने को कहा है। परन्तु हमने सोचा कि भगवान के पाँव पर प्रथम एकाग्र होना है, फिर हाथ पर, फिर मस्तिष्क पर...इस प्रकार एक एक अवयव पर चित्त एकाग्र करना है। ऐसा करने से टुकड़े-टुकड़े से एकाग्रता होगी। परन्तु जिसमें चित्त एकाग्र करना है उसके टुकड़े हो जाएं तो सगुणोपासना का अर्थ ही खत्म हो

जायेगा। सगुणोपासना का अर्थ है कि भगवान पूर्ण हैं। यदि ऐसा है तो यह क्यों लिखा है? एक एक अवयव पर स्थिर होकर उसके प्रति विचारों और जीवन के सम्बन्ध में निश्चितता निर्माण करो तब ध्यान होगा, ऐसा भागवत में लिखा है।

द्वितीय स्कन्ध में लिखा है कि चित्त एकाग्र कैसे होगा? उसके लिए साधना करनी चाहिए। साधना के लिए बहुत सुन्दर समझाया है। कितने ही लोग, चलते ही रहते होंगे, कितने ही बैठे रहते होंगे। भिन्न भिन्न लोगों की अलग अलग साधना है। कारण पिछले जन्म से जीव साधना करते करते ही आया है और अगले जन्म के लिए कुछ साधना रखकर आया होगा। मनुष्य को न भूत का ज्ञान है न भविष्य का। पीछे क्या हुआ है और आगे क्या होनेवाला है इसका उसे बिलकुल पता नहीं चलता। मनुष्य इतना कमजोर होते हुए भी भगवान के अस्तित्व को ही आह्वान देता है। शंकराचार्य ने ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में लिखा है:-

दुर्वारसंसारदवाग्नितप्तं दोधूयमानं दुरदृष्टवातैः।
भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः शरण्यमन्यं यदहं न जाने।। (वि.चू. ३८)

मेरी स्थिति ऐसी है कि मैं पीछे का देख नहीं सकता, भविष्य का मुझे ज्ञान नहीं है, वर्तमान में मैं खड़ा नहीं रह सकता हूँ। अतः एक एक अवयव पर, जैसे कि ऊपर कहा है, स्थिर होने से भगवान के प्रति आसक्ति बढ़ती जायेगी और भगवान में चित्त एकाग्र होगा। भगवान के प्रति आसक्ति निर्माण हो इसलिए साधना है। इस साधना से अन्तःकरण आर्द्र बनेगा और फिर भगवान में आपका चित्त एकाग्र हो सकता है। चित्त एकाग्रता के लिए एक एक अवयव पर चित्त स्थिर होने से जीवन के सम्बन्ध में निश्चितता हो जायेगी।

भागवत के ही शब्द हैं कि 'व्यर्थ धनमदान्धों की शरण में क्यों जाते हो? धन के पीछे दौड़ना व्यर्थ है और धनमदान्धों की शरण में जाना भी व्यर्थ है।' धन व धनमदान्धों के पीछे मनुष्य दौड़ता है इसका कारण जीवन के सम्बन्ध में निश्चिन्तता नहीं है। इस द्वितीय स्कन्ध में निश्चितता आयेगी तब चित्त एकाग्र होगा। इस स्कन्ध में भक्तिशास्त्र कहा है। परन्तु इस स्कन्ध में ठहरने का मन हो ऐसा इस स्कन्ध में क्या है? अष्टांगयोग पर भी ठहर सकेंगे, वहाँ से नजर हटेगी ही नहीं। लेकिन उसमें एक चतुःश्लोकी भागवत है।

भागवत के द्वितीय स्कन्ध के चौथे अध्याय में बारह से लेकर तेईसवें श्लोक तक शुकाचार्य, जिनको हम शुकदेवजी कहते हैं, ने भगवान की स्तुति की है। ज्ञानीभक्त ही भगवान की स्तुति कर सकता है। भगवान की स्तुति कौन करता है इसका महत्त्व है। जो पीड़ित है, दुर्बल है, माँगनेवाला है वह भगवान की स्तुति करेगा ही। सेठजी की जेब से कुछ पैसा निकालना हो तो सेठ के पास जाकर उसे उदार कहना ही पड़ता है। अन्यथा कुच्छ नहीं मिलेगा। चंदा माँगनेवाले सेठ से कहते हैं, सारी बम्बई में घूमकर आये हम, परन्तु आपके जैसा उदार कोई मिला ही नहीं! ऐसा कहना ही पड़ता है, उसमें क्या है?

स्तुति कौन करता है उसका महत्त्व है। भगवान की स्तुति किसने की है? शुकदेव ने की है! उनको शुकाचार्य कहते हैं। आचार्य किसे कहते हैं?

आचिनोति च शास्त्रार्थं आचारे स्थापयत्यति।
स्वयमप्याचरेदस्तु स आचार्यः इति स्मृतः।।

(जो स्वंय सभी शास्त्रों का अर्थ जानता है व दूसरों के द्वारा ऐसा आचार स्थापित हो इसलिए अहर्निश प्रयत्न करता है, अर्थात् ऐसा आचार जो स्वयं अपने आचरण में लाता है, उसे 'आचार्य' कहते हैं।)

ऐसे शुकदेव ने भगवान की स्तुति की है, अनुनय किया है। स्तुति तो सभी करते हैं, परंतु स्तुति कौन करता है वह महत्त्वपूर्ण है।

व्यवहार में स्तुति के शब्द कौन से हैं यह देखना नहीं है। स्तुति कौन करता है यह देखना है। विनोद में कहना हो तो, माँ अपने लड़के की स्तुति करती है, उसमें से साठ प्रतिशत कम कर दो, कारण माँ तो लड़के की स्तुति करेगी ही। सास जवांई का वर्णन करती है तो उसमें से नब्बे प्रतिशत कम कर दो। इसका कारण सास को दामाद का वर्णन करना ही पड़ता है। दामाद का वर्णन दूसरा कौन करेगा? स्तुति कौन करता है इसका बहुत महत्त्व है।

ज्ञातिबन्धु सेठ को मानपत्र देते हैं वह पढ़ने सरीखा होता है। उसमें न जाने क्या क्या लिखा होता है। उसमें सेठ के लिए, आप दयालु हैं, पवित्र अन्तःकरण के हैं...आदि इतना लिखा होता है। आप पढ़ेगें तो लगेगा कि यह सेठ मानो शुकदेवजी के भी प्रपितामह से आगे बढ़ गया है। लगने लगता है कि सेठ ने इतनी साधना कहाँ की होगी? मानपत्र में सभी गुण सेठजी के लिए लिखे होते हैं। कारण सेठ के पास से बहुत बड़ा दान *(Donation)* लेना है। स्तुति कौन करता है इसका महत्त्व है।

यहाँ शुकदेव स्तुति करते हैं उसकी महत्ता अद्भुत है। उनके शब्द का मूल्य है। शुकदेव ज्ञानीभक्त हैं और उन्होंने स्तुति की है। यह स्तुति बहुत ही सुन्दर है।

स्तुति के प्रथम श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं, इस चराचर विश्व की उत्पत्ति, स्थिति व लय ये लीलायें करने के लिए जो सत्त्व, रज, तम इन गुणों के योग से सभी प्राणियों के अन्तर्याम में वास करता है व जिसकी गति का आकलन किसीको नहीं होता, उन सर्वशक्तिमान पुरुषोत्तम को मेरा नमस्कार है।' इसमें ईश्वरवाद का दार्शनिक दर्शन कराया है। उत्पत्ति, स्थिति, लय करनेवाले प्रभु, यानी अंग्रेजी में *God* हैं। वह *Generator, Operator and Destroyer = God* भगवान उत्पत्ति, स्थिति, लय करते हैं यह दार्शनिक विचार है।

क्या शुकदेव को भगवान को खुश करना था जिसके लिए यह स्तोत्र गाया है? नहीं! वे हमें कुछ समझाना चाहते हैं। इन महान् लोगों ने भगवान की स्तुति किसलिए की है? शंकराचार्य ने भी भगवान की स्तुति की है। उन्हें भगवान से क्या कुछ लेना था? कुछ भी

नहीं! फिर उन्होंने स्तुति क्यों की? हमारे जैसे सामान्य मनुष्यों को उसमें से कुछ मार्गदर्शन मिले इसलिए उन्होंने भगवान की स्तुति की है। उन्होंने समझाया कि उत्पत्ति, स्थिति, लय करनेवाले भगवान को नमस्कार करो। जिसने हमें जगाया, सँभाला, सुलाया उस भगवान को नमस्कार करो। इसीको हमारे स्वाध्यायी 'त्रिकाल संध्या' कहते हैं। सुबह उठने पर, भोजन करते समय व रात्रि में सोते समय भगवान को याद करो, ऐसा कहते हैं। भगवान ने हमें जन्म दिया, सँभाला और वे ही लय करनेवाले हैं। हमारी उत्पत्ति, स्थिति, लय करनेवाले वे हैं इसलिए उनको याद करना चाहिए। अन्यथा विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, लय किस प्रकार हुआ? किसने किया? वह जानने की हमें क्या आवश्यकता है? अणु, द्वणु, त्र्यणु...बनकर विश्व की उत्पत्ति हुई होगी, उसकी हमें क्या पड़ी है? हमारे जैसे सामान्य लोगों की-हमारी उत्पत्ति कब होती है? सुबह उठते ही, उसी प्रकार हमारा खाया हुआ पचाकर वे ही हमें सँभालते हैं और रात्रि में सुलाते भी वे ही हैं। इसलिए इन तीनों समय भगवान को याद करना चाहिए। इस प्रकार हमारी त्रिकाल संध्या दार्शनिक है। हमारा सम्पूर्ण जीवन भगवान ही चलाते हैं। परन्तु चौबीसों घण्टे उनका स्मरण नहीं करना है। वैसा किया तो वह भगवान को भी पसन्द नहीं आयेगा। भगवान कहेंगे, सारा समय राम, राम, राम,..राम क्या रट लगायी है? तेरी थाली में मैंने सुख दु:ख परोसा है, कुछ समस्यायें रखी हैं। उस समय तू कैसे बर्ताव करता है वह मुझे देखना है। तू सुख दु:ख का सामना कैसे करता है, यह मुझे देखना है। सारा समय 'भगवान, भगवान,' क्या करता है? रात-दिन माँ, माँ कहकर माँ के पीछे पीछे घूमनेवाला लड़का माँ को पसन्द नहीं आता। वह लड़के से कहती है जा! खेलने के लिए जा! भूख लगने पर मेरे पास आना, मैं तुझे खिलाऊँगी! उसी प्रकार भगवान कहते हैं, 'मैने तुझे जीवन दिया है, जी कर दिखा।' सारा दिन उन्हें कैसे याद करें? इसीलिए हम कहते हैं कि 'जीवन में भगवान उठाते हैं, सँभालते हैं, सुलाते हैं ये तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं। अत: इन बातों को करते समय भगवान को नमस्कार करो' यह दार्शनिक विचार द्वारा शुकदेव ने हमें समझाया है।

शुकदेव कहते हैं, हमें स्वच्छ बनाकर आत्मज्ञान देनेवाले प्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ। शुचि बने बिना आत्मज्ञान नहीं होता। जब तक वासनाएं चल रही हैं तब तक ज्ञान नहीं होता। शुचिता प्राप्त करने के बाद ही आत्मज्ञान होता है ऐसा समझाया है। हम चाहे उतने पवित्र बनेंगे, परन्तु जब तक द्वैत है तब तक हम अपवित्र ही रहेंगे। इसीलिए तो शंकराचार्य जैसे महापुरुष कहते हैं:-

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि।
एवं ज्ञात्वा महादेवि यथायोग्यं तथा कुरु।।

इसका कारण, कुछ न कुछ कचरा रह ही जाता है। **'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।'** कुछ कृति की कि दोष आनेवाला ही है। वह दोष धोने के बाद आत्मज्ञान मिलता है। स्वच्छ करनेवाले, स्वच्छता देनेवाले, शुचि बनानेवाले आप ही हैं प्रभो! मैं तो मलिन हूँ। मुझे स्वच्छ कौन करेगा? माँ ही धोनेवाली है। बालक गन्दा है, जब तक

वह अस्वच्छ है तक तक कोई उसे पास नहीं लेता है। बालक स्वच्छ, साफ सुथरा हो तो सभी उसे अपने पास लेते हैं, चुम्बन भी करते हैं। बालक मलिन, अस्वच्छ बना तो सभी उसकी माँ को बुलाते हैं। उसका, बाप भी उसकी माँ को जगाकर कहता है कि बालक को स्वच्छ कर और माँ ही उसे स्वच्छ करती है। इसी प्रकार हम मलिन बनेंगे तो हमें कौन धोएगा? माँ ही धोयेगी।

शुचि बनने पर आत्मज्ञान मिलता है यह ज्ञान हुआ। शुचिता भगवान देते हैं यह मार्ग दिखाया है। भगवान के काम में लग जाओ, जो कुछ कचरा होगा उसे भगवान साफ करेंगे। सैनिकों को सँभालने का कर्तव्य राजा का है। उसी प्रकार प्रभुकार्य करनेवालों को सँभालना भगवान का कर्तव्य है।

शुकदेव ही यह कह सकते हैं कि 'भगवान! आपके पास जो बुद्धि का वैभव और मन का ऐश्वर्य है वह किसी के पास हो ही नहीं सकता। अतः भगवान, मैं आपको नमस्कार करता हूँ।' जो भगवान के पास पहुँचे होंगे उन्हींको भगवान का वैभव तथा ऐश्वर्य मालूम होगा। न्यूयार्क शहर कैसा है, वहाँ जो व्यक्ति जाकर आया होगा उसीको मालूम है। भगवान के वैभव का किसे पता है? जो भगवान के पास गये हैं उन्हींको पता है।

भगवान! आपके जैसा बुद्धि व मन का ऐश्वर्य कहीं भी देखने को नहीं मिलता। मैं क्षुद्र हूँ, अल्पज्ञ हूँ। फिर भी आप मेरे साथ रहते हैं। इतना ही नहीं, आप मुझे सँभालते हैं। आपको ऐसी क्या आवश्यकता है? आपके पास कितना बुद्धि-वैभव है? जहाँ आवश्यकता है, वहीं कृति होती है। भगवान! आपने मुझे जगाया, जगाने के लिए आप आये। आपको मेरी कोई आवश्यकता है? मैंने ऐसा कौन सा शेर मारा है कि आप मुझे जगाने आये! मैंने तो केवल बाज़ार-व्यापार ही किया है, दूसरा कुछ किया ही नहीं। सुबह जागने पर व्यापार-धन्धा और मार्केट ही याद आता है। दूसरा कुछ करता भी नहीं हूँ और करना भी नहीं है, इसीलिए ऐसी अपेक्षा मुझसे रखना व्यर्थ है। ऐसा होते हुए भी आप मुझे जगाने आये? 'मरने दो इसे' ऐसा आप नहीं कहते। मुझे जगाते हैं और सँभालते हैं।'

भगवान का भिन्न भिन्न वैभव है, बुद्धि का वैभव है, मन का वैभव है। वह शुकदेव को मालूम है। इसका कारण, वे भगवान के पास गये हैं। उनको भगवान का बौद्धिक वैभव और मानसिक वैभव मालूम है यह हमें मान्य करना ही होगा। इसका कारण उन्होंने भगवान को देखा है। हम तो पामर जीव हैं, परन्तु हमें भी लगता है कि 'भगवान! हम अल्पज्ञ और क्षुद्र जीव हैं फिर भी आप हमारे साथ सम्बन्ध रखते हैं।' सुभाषितकार कहता है:-

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं बलम्।
तयोर्मैत्रीविवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः।।

भगवान! समानता जहाँ होती है वहीं सम्बन्ध होता है। आप और हममें कोई समानता है? तो भी आपने हमसे सम्बन्ध रखे। भगवान! आपके पास मन और बुद्धि का अजोड़ वैभव है। आपको हमारे पाससे कोई अपेक्षा भी नहीं है। फिर भी आप हम पर प्रेम करते

हैं? इसे भगवदीय प्रेम कहते हैं। ऐसा भगवदीय प्रेम हम पर सन्तों ने किया है। उन्हें हमसे कुछ चाहिए भी नहीं। फिर भी उन्होंने हम पर प्रेम किया है। लेना देना बंद है, फिर भी आनन्द है।

आगे कहते हैं कि 'भगवान! मैं क्षुद्र हूँ, अस्वच्छ हूँ, अपवित्र हूँ परन्तु आपकी लीला से शुद्ध बन जाता हूँ।' इसमें शुकदेव ने हमें मार्ग दिखाया है। वे कहते हैं, 'तुम्हें भगवन्निर्भरता लानी है न? तो उनकी लीला सुनो।' यहाँ भगवान की लीला यानी भगवान का जीवन है। भगवान! आपका विचार और आपका जीवन मनुष्य को शुद्ध बनाता है। ऐसे कृष्ण को मैं बारबार नमस्कार करता हूँ। इतना ही नहीं, उन्हीं के शब्दों में कहूँ,'' जिनके सामने कृष्ण का जीवन है, उन्हें क्यों कोई समस्या रहे? वे समस्या से क्यों भागें? वे समस्या से क्यों डरें? स्वंय को क्षुद्र क्यों समझें? मुझसे कुछ नहीं होगा ऐसा कहते हुए सिर पर हाथ रखकर क्यों बैठें?

श्रीकृष्ण उत्साहमूर्ति, चैतन्यमूर्ति, स्फूर्तिमूर्ति हैं। मैं अस्वच्छ हूँ, अपवित्र हूँ, परन्तु प्रभो! आपकी लीला जानने के बाद मैं स्वच्छ और पवित्र बन जाऊँगा। जहाँ कृष्ण हैं, कृष्ण के विचार हैं उसे भारत में गिरा हुआ, वासना से पतित बना हुआ मानव देखने को मिलता है। वह देखकर आश्चर्य होता है। वासना खेलने के लिए है, उसके काबू में जाने के लिए नहीं है, यही लोग समझते नहीं है। यह सब देखकर लगता है कि हमारे पूर्वजों ने जो तपश्चर्या की है क्या वह व्यर्थ जायेगी? उसके लिए शुकदेव ने मार्ग दिखाया है कि श्रीकृष्ण की लीला समझने से ही जीवन में उत्साह, चैतन्य तथा स्फूर्ति आयेगी। परन्तु लीला शब्द का अर्थ हम समझते हैं कि श्रीकृष्ण गेंद से खेले, उसे सुनें, मगर लीला शब्द का अर्थ है जीवन। उसे हम समझते ही नहीं। श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण जीवन अभ्यासनीय है।

शुकदेव आगे के श्लोक में कहते हैं कि ज्ञानी आपका जीवन समझने के बाद परलोक का वैभव छोड़ देते हैं। उन्हें वैभव तुच्छ लगता है। किसी भी वैभव का उन्हें आकर्षण नहीं होता। भगवान छोटा बालक क्यों बने? उन्हें छोटा बालक बनने की इच्छा क्यों हुई? एक भक्त कहता है :—

विरक्तामुक्ता अप्यनिशमनुरक्ताः पदमिदं
भजन्ते तत्कोऽस्मिन्मधुरिमगुणोनास्मि कलये।
ससंप्रत्यास्वाद्योयदितदुपहासोऽत्रतदजः
शिशुः सन्नंगुष्ठं रसयतिजलेऽतर्वटदले।।

भगवान को लगा कि जगत् में किसीको भी आकर्षित करनेवाले कितने ही विषय पड़े हैं, परन्तु उन सबको ठुकराकर भक्त मेरे पग में क्यों अनुरक्त होते होंगे भला? क्या मिष्टान्न से भी उसमें अधिक मीठास है? मेरे पग में कौन सी मीठास है यह देखना चाहिए। यह देखने के लिए भगवान के सामने एक ही रास्ता था और वह था बालक बनना। मान

लीजिए, कोई पचास साल का व्यक्ति अपना अगूँठा मुँह में डालेगा, तो सब लोग उसकी हँसी उड़ायेंगे। इसलिए भगवान बालक बने और-

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि।।

भगवान को जानने के बाद किसी भी वस्तु का आकर्षण नहीं रहता।

आगे कहते हैं कि जब तक कर्म अर्पण नहीं होता तब तक मनुष्य का हित नहीं होता। कर्म अपने पास रखने से मनुष्य का हित नहीं होता। बैंकवाले विज्ञापन देते हैं कि पैसे अपने साथ लेकर यात्रा न करो, उसमें धोखा है। उसके बदले आप प्रवासी चेक *(cheque)* ले जाओ। उसके बदले में पैसा हमारी बैंक में जमा कर दो। वैसे ही भगवान भी विज्ञापन देते हैं कि तू कर्म अपने पास मत रख, मेरे पास दे दो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। (गी. ९/२७)

भगवान को भी विज्ञापन देना पड़ता है, इसका कारण, भगवान के पास कोई भी अपना कर्म अर्पण करने के लिए आता ही नहीं। बैंकवाले भय दिखाते हैं कि जेब में पैसा रखकर यात्रा करेंगे तो चोरी होने की संभावना है। वैसे ही भगवान कहते हैं कि 'तू अपना कर्म अपने ही पास रखेगा तब तक तेरा हित नहीं होगा, इतना ही नहीं, तुझे उसमें परेशानी भी सहनी पड़ेगी।' जब तक कर्म भगवान के चरणों में नहीं रखते तब तक परेशानी होती है। 'भगवान! जब कर्म आपके चरणों में अर्पण करता हूँ, तब कर्म करके सारी परेशानी समाप्त हो जाती है। ऐसे आपको नमस्कार!' इसमें कर्म अर्पण करने का मार्ग दिखाया है। कर्म अपने पास नहीं रखना है, अर्पण करना है।

अर्पण भिन्न बात है और समर्पण भिन्न बात है। त्याग उससे भी भिन्न बात है। जो वस्तु अच्छी नहीं है, खराब है, जिसमें दुर्गन्ध आती हो उसका त्याग हो सकता है। वह समर्पण नहीं है। समर्पण किसे कहते हैं? प्रेम से अर्पण करने को समर्पण कहते हैं। तुम अपना किया हुआ कर्म भय से या नफ़रत से भगवान को देते हो तो उसमें अर्पण नहीं है। तुम्हें डर लगता है कि कर्म अपने पास रखूँ तो जन्म लेना पड़ेगा। उसकी अपेक्षा कर्म भगवान को दे दूँ। इस धारणा से कर्म भगवान को देंगे तो वह अर्पण नहीं है। अर्पण में प्रेम अपेक्षित है। शुकदेव ने भगवान को कर्म अर्पण करना भी समझाया है। कर्म अपने पास रखेंगे तो क्रिया बाधक होगी, क्रिया बाधक न हो इसलिए प्रेमपूर्वक भगवान को अर्पण करो। जो कर्म करते हो उस पर तुम्हारा प्रेम होना चाहिए। जो कर्म अर्पण करना है वह स्वच्छ होना चाहिए। अर्पण शब्द आया कि उसमें स्वच्छता आ ही जाती है।

आपको किसी को कुछ देने का प्रसंग आया तो आप क्या करते हैं? उदाहरण स्वरूप, आपको दामाद को कुछ देना है। घर में चांदी का एक गिलास पड़ा है वह देना

है। तब आप क्या करते हैं? चांदी के गिलास को पॉलीश करा लेते हैं जिससे वह चमकने लगे। फिर वह गिलास आप अपने दामाद को देते हैं। इसी प्रकार जो कर्म भगवान को अर्पण करना है, उसे पॉलीश करके देना चाहिए। वह कर्म स्वच्छ होना चाहिए। कर्म पर प्रेम होना चाहिए। जिसे कर्म अर्पण करना है, उसे भय से, नफ़रत से न दो, प्रेम से दो।

उसके बाद एक श्लोक में कहा है, विभिन्न श्रद्धा के समूहों जैसे किरात, हूण, तेलंगी, पुलिंद, चाण्डाल, आभीर, कंक, यवन, खस और अन्य दूसरे को एक सूत्र में बाँधनेवाले भगवान! आपको नमस्कार है।' इसमें तो कमाल कर दिया है। राम और कृष्ण इन दो अवतारों ने क्या किया है उसे इस श्लोक में समझाया है।

जब आर्यों को पता चला कि अपनी विचारप्रणाली, जीवनदृष्टि सर्वश्रेष्ठ है, तब उन्होंने निश्चित किया कि वह सबको देनी चाहिए। उन्होंने सबको जीवनदृष्टि देने का प्रयत्न किया। उन्हें लगा कि भगवान के पास पहुँचने का रास्ता अपने पास है। मूर्तिपूजा क्यों करनी चाहिए वह हमारे पूर्वजों ने और अवतारों ने समझाया है। गीता में भगवान ने समझाया है- **'मय्यावेश्य मनो ये माम्।'** व्यक्तिविकास का मार्ग ज्ञात होने पर आर्य विविध समूहों के पास गये। उस समय उपरोक्त विविध समूह कई स्थानों पर रहते थे। उनके पास आर्य गये। आर्य शब्द वंश या जातिवाचक नहीं है, अपितु गुणवाचक है। **'न वित्तेन आर्यो भवति।'** वित्त, जन्म या शिक्षा से आर्य नहीं बना जाता।

भारत में इस प्रकार के पचीस-पचास समूह थे। समूह यानी छोटी संख्या के नहीं समझना। दस-दस, बीस-बीस लाख की संख्या में कितने ही पुंज थे। पुराणों में नागलोक या नागकन्याओं का वर्णन आता है। उस पर से हमारे चित्रकार चित्र बनाते हैं, नागकन्या का ऊपर का शरीर स्त्री का और नीचे का नाग जैसा दिखाते हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है। नागजाति मनुष्यों की ही थी। आज भी नागभूमि में नागलोक *(Nagas)* रहते हैं। उन्हीं में से ही तक्षक नाग राजा परीक्षित को मारने आया था। इन विभिन्न पुंजो के पास आर्य गये और उन्होंने जीवनविकास का मार्ग दिखाया, जीवनप्रणाली समझायी। यह कार्य करनेवालों की अवतारों ने मदद की। राम और कृष्ण ने यह काम किया।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

यह काम अवतारों ने किया।

आर्य जीवनश्रेणी समझाने के लिए भिन्न भिन्न पुंजो में गये। उन्होंने उन पुंजो को जीवन का तत्त्वज्ञान और भक्ति का रहस्य समझाया। भक्ति किस प्रकार करनी चाहिए, यह समझाया। यह एक अद्भुत कार्य आर्यों ने किया। आर्यों ने किसीका धर्म-परिवर्तन नहीं किया। वे उनके पास गये और उन्हें प्रभावी तत्त्वज्ञान समझाया, उनके साथ भाईचारा

प्रस्थापित किया। उनके भाई बनकर आर्य उनके पास गये और उन्हें समझाया। आर्यों ने किसीकी श्रद्धा नहीं तोड़ी।

भिन्न भिन्न समूह अलग अलग देवताओं की पूजा करते थे। एक समूह के पास आर्य गये तो उन लोगों ने कहा, 'हम भगवान को मानते हैं, परन्तु नाग हमारे भगवान हैं।' तब आर्यों ने कहा, 'अरे! नाग तो भगवान हैं ही। तुम्हारा श्रद्धा-स्थान भिन्न नहीं है। हमारा भी नागदेवता है। तुम्हें मालूम है कि हमारे विष्णु भगवान नाग पर ही सोते हैं। हमारे शंकर भगवान के गले में नाग है और गणेश भगवान की कमर में नाग है।' यह सुनकर उन्होंने कहा, बहुत अच्छा! तो हमारे भगवान एक ही हैं। इस प्रकार आर्यों ने किसी के श्रद्धास्थान को नहीं तोड़ा। सभी के श्रद्धास्थानों को मान्य किया।

कुछ समूह बाघ को भगवान मानते थे। हमारे आर्यों ने वह भी मान्य किया। उन्होंने कहा, 'तुम जिस प्रकार बाघ को भगवान मानते हो, हम भी मानते हैं। हमारी कालीमाता बाघ पर सवार होकर ही आती है।' कोई मानव समूह गरुड़ को मानता था। इसका कारण कितने ही समूह 'जंगली समूह' थे। जंगली यानी जंगल में रहनेवाले ऐसा अर्थ नहीं। भौतिक जीवन में सुधरे हुए लोग भी जंगली हो सकते हैं। जिन्होंने जीवन के बारे में कभी विचार ही नहीं किया है, वे सब जंगली हैं। ऐसे लोगों में हमारे आर्य गये। वे कहते थे, 'हम प्रभावी भगवान को मानते हैं, इसलिए गरुड़ हमारे भगवान हैं।' आर्यों ने कहा, ऐसा? तुम्हें पता नहीं है परन्तु हमारे विष्णु भगवान गरुड़ पर बैठते हैं, हम भी गरुड़ को मानते हैं। कितने ही लोग पीपल, बरगद के वृक्ष को भगवान मानते थे। भिन्न भिन्न समूह भिन्न भिन्न भगवान को मानते थे। उन सभी भगवानों को हमारे आर्यों ने अपनाया। इसी कारण हमारे मन्दिर विविध मूर्तियों से भरे हुए हैं। यह देखकर कितने ही लोग कहते हैं, 'धर्म में यह कितनी मूर्खता है! एकेश्वरवाद होना चाहिए। ईश्वर का एक ही रूप का होना चाहिए।' परन्तु विविध रूप के हजारों भगवानों को आर्यों ने स्वीकार किसलिए किया? मानव के प्रति प्रेम के कारण। आर्यों ने विविध रूपों के भगवान स्वीकार किये। आर्यों का सत्य सिद्धान्तों पर प्रेम था। जीवन में सत्य सिद्धान्त आने चाहिए, जो मिथ्या धारणाएं लेकर बैठे हैं उनको सत्य समझाना चाहिए। मानव-समूहों के प्रति प्रेम के कारण हमारे मन्दिरों में मूर्तियों की संख्या बढ़ गयी है। परन्तु उसका रहस्य न समझनेवाले लोग हिन्दुधर्म का उपहास करते हैं।

आर्यों ने, जो अस्वच्छ थे उन्हें स्वच्छ बनाया है। उसका स्मरण शुकदेव को इस स्तोत्र में हुआ है। वे कहते हैं, 'विविध श्रद्धा के पुंजों को एकसूत्र में बाँधनेवाले भगवान को मेरा नमस्कार है।' कृष्ण ने यह काम किया। कृष्ण ने जो काम किया उसका इस स्तोत्र में वर्णन है। उसी प्रकार वह काम किसलिए करना चाहिए यह भी समझाया है।

ज्ञानीभक्त, जो भगवान के पास जाने का प्रयत्न करनेवाले हैं, उनको ऐसा अलौकिक काम करना पड़ेगा। इसलिए अनेक भगवानों को हमने स्वीकार किया है। जिसे आप भगवान कहेंगे, उसे हम भी भगवान मानते हैं। चलिये, आपके भगवान हमारे भी हैं।

परन्तु आप आइये और हमारे विचारों को उठाइये, क्योंकि इन विचारों में कुछ अधिक है, आपका जीवन बदलने की, सुधारने की इन विचारों में शक्ति है। इस प्रकार आर्यों का काम करना होगा। **'ईशावास्यमिदं सर्वं...।'** सर्वत्र भगवान माननेवाले हम असत्य भी नहीं बोलते। मुझे यह स्तोत्र पढ़कर आश्चर्य हुआ कि ज्ञानी भक्त जब भगवान की स्तुति करता है, तब अन्त में ऐसा क्यों कहता है कि 'विविध पुंजों को भक्ति का मार्ग दिखानेवाले भगवान! आपको मेरा नमस्कार है?' यह इतिहास शुकदेव ने लिखा है। भगवान को हम अच्छे लगेंगे ऐसा किस प्रकार बनना, यह मार्गदर्शन भी उसमें है। भगवान को कौन अच्छा लगता है? जहाँ संस्कृति नहीं पहुँची है वहाँ संस्कृति ले जानेवाला भगवान को अच्छा लगता है। उनकी श्रद्धा को न तोड़कर उसका स्वीकार करो और उनको अपनी संस्कृति में बिठा दो।

आज के नौज़वान पढ़ने के बाद पूछते हैं, 'धर्म में यह क्या गड़बड़ी है? वृक्ष भगवान! वानर भगवान! *(Tree God, Monkey God)* ये सब क्या भगवान हैं?' हम विविध रूप के भगवान मानते हैं, परन्तु क्यों मानते हैं, इसका ज्ञान होना चाहिए। किसीके श्रद्धास्थान को तोड़कर तुम किसीको उठा नहीं सकते, बदल नहीं सकते, समझा नहीं सकते। तुम्हारे विचार कितने ही अच्छे क्यों न हों, परन्तु 'तुम्हारा भी अच्छा है' कहकर उसका स्वीकार करो, तभी जो श्रेष्ठ विचार होगा उसे सामनेवाला स्वीकार करने को तैयार होगा ही! यह एक समूह मनोविज्ञान *(Mass Psychology)* है। आर्यों ने भिन्न भिन्न समूह की श्रद्धा को न तोड़कर उसका स्वीकार किया। आर्यों ने बहुत काम किया। राम और कृष्ण ने जो काम किया है उसकी कल्पना ही लोगों को नहीं है। मन्दिरों का निर्माण क्यों हुआ? पंचायतन पूजा क्यों आयी? इन सबका विचार करना चाहिए। बीच बीच में समूह कहने लगे, 'तुम्हारे भगवान अलग, हमारे भगवान अलग, इसलिए कहा कि भगवान अलग अलग हो ही नहीं सकते। पंचायतन पूजा को स्वीकार करो। राम और कृष्ण ने कितना काम किया है। आर्यों ने जो काम किया वह समझेंगे तो उनके सामने नतमस्तक हुए बिना आपसे रहा नहीं जायेगा।

शुकदेव ज्ञानीभक्त हैं। उन्होंने जो स्तुति की है वह विविध प्रकार से साधक को मार्गदर्शन करती है और आश्वासन भी देती है। साथ साथ भगवान की स्तुति भी की है। पौराणिकों की यह विशिष्टता है कि एक साथ तीन हेतु साध्य करते हैं। शुकदेव ने एक अलौकिक बात उसमें कही है। सांस्कृतिक जगत् का इतिहास लिखा जाए तो अवतारों और श्रीकृष्ण भगवान का प्रथम श्रेणी का काम समझाना पड़ेगा। श्रीकृष्ण ने विविध श्रद्धा के समूहों को एकत्रित किया था, उनकी श्रद्धा को न तोड़कर उनको उठाया है और उन्हें मार्ग दिखाया है। ऐसे अलौकिक काम करनेवाले भगवान! आपको मेरा नमस्कार है ऐसा शुकदेव कहते हैं।

हमारे एकनाथ महाराज ने, जिनके घर भगवान पानी भरते थे, चतुश्लोकी भागवत पर लिखा है। उसमें सात श्लोक हैं, परन्तु बीच के चार श्लोक चतुश्लोकी भागवत के

हैं, वे ज्ञान से परिपूर्ण हैं। उनमें तत्त्वज्ञान भरा हुआ है। पढ़कर ऐसा लगता है कि वे तत्त्ववेत्ताओं के लिए ही हैं, परन्तु वे हैं सामान्य मनुष्यों के लिए। इस चतुश्लोकी भागवत में भगवान का ज्ञानमय रहस्य लिखा हुआ है।

इस चतुश्लोकी भागवत में स्वयं भगवान ने अपना रहस्य चार श्लोकों में समझाया है। द्वितीय स्कन्ध के नौवें अध्याय के तीस से छत्तीस, श्लोक तक चतुश्लोकी भागवत माना जाता है। वैसे तो छ श्लोक हैं, परन्तु दो श्लोक (३० व ३१) प्रासंगिक हैं व बत्तीस से पैंतीस तक चार श्लोक चतुश्लोकी भागवत कहलाते हैं। सभी तत्त्वज्ञान का सार उसमें है। अन्तिम श्लोक उपसंहारात्मक है। प्रथम दो श्लोकों में भगवान ने, 'मैं तुझे अपना परम ज्ञान कहता हूँ' ऐसी प्रतिज्ञा की है।. विज्ञान के साथ गुह्यज्ञान कहने का निश्चय किया है।

किसी भी ग्रंथ का अभ्यास करना हो तो किस प्रकार करना चाहिए, इसका भी शास्त्र है। हमारे पूर्वजों ने वह शास्त्र बनाया है।

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गतात्पर्यनिर्णय।।

पुस्तक हाथ में ले ली और पढ़ना प्रारंभ हो गया ऐसा नहीं होता। वही व्यक्ति पुस्तक-ग्रंथ पढ़ सकता है, जिसे शास्त्र मालूम है। वही उस पर अपना अभिप्राय दे सकता है। चार पंक्तियाँ पढ़कर पुस्तक पर अपना अभिप्राय नहीं दिया जाता। कारण वह पूर्वपक्ष हो सकता है, सामान्य भी हो सकता है।

भगवान कहते हैं कि, 'मैं तुझे मेरा परम ज्ञान कहता हूँ।' ऐसी एक प्रतिज्ञा की है और विज्ञान के साथ गुह्यज्ञान बताने का निश्चय भी कहा है। गुह्यज्ञान का अर्थ मेरा ज्ञान। 'मेरा ज्ञान' का अर्थ जिस प्रकार प्रभु का ज्ञान वैसा 'मेरा ज्ञान' यानी मेरा 'मैं' का ज्ञान! ये दोनों मिलकर 'मेरा ज्ञान' होता है। सृष्टि के प्रारंभ में भगवान अकेले ही थे। प्रभु का अस्तित्व ही था दूसरा कुछ था ही नहीं। **'नासदासीन्नो...तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।'** ऐसा वेदों का कहना है। 'दूसरा कुछ नहीं था, केवल उसीका अस्तित्त्व था' इसीलिए मैं कहता हूँ कि निषेधात्मक दूसरा कुछ नहीं था।' सृष्टि में जो कुछ है वह प्रभु का ही स्वरूप है ऐसा कहने का अभिप्राय है। प्रलय के बाद प्रभु के सिवाय दूसरा कुछ नहीं रहता, ऐसा कहते हैं।

यदि प्रभु सर्वत्र हैं तो दूसरा यह जो भासमान होता है वह क्या है? ऐसा प्रश्न खड़ा किया है। सृष्टि में दूसरा कुछ नहीं है तो सृष्टि का जो अस्तित्त्व दिखायी देता है वह क्या है? उसे क्या कहते हैं? वह भ्रम है। जो भासमान है वह सब भ्रम है और भ्रम को ही माया कहा जाता है। 'मेरा ज्ञान' न होने के कारण यह सब माया ही है। उन्होंने चतुश्लोकी भागवत में जो कहा है, वही मैं कहता हूँ। ज्ञान न होने का कारण माया ही है। भौतिक विश्व और विश्वेश्वर का सम्बन्ध माया से ही हुआ है। एक एक पंक्ति तत्त्वज्ञान

से परिपूर्ण है। उसके शब्द में तात्त्विक समस्याओं का उत्तर है। माया दो प्रकार की है। एक **मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या** दूसरी **विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया।**

सृष्टि निर्माण करके प्रभु स्वयं उसमें आकर बसे हैं यह ज्ञान केवल समझाने के लिए है, ह़कीकत नहीं है। सृष्टि उत्क्रान्त *(Evolve)* हुई है इसका रहस्य उसमें है। सृष्टि बनायी हुई नहीं है उसका उद्भव हुआ है, उत्क्रान्त हुई है ऐसा उनको कहना है। विश्व में विश्वेश्वर अनुप्रस्थ हुए, ऐसा माना तो वे 'अनुप्रस्थ नहीं है' ऐसा सिद्ध होता है और वे अनुप्रस्थ नहीं है ऐसा मानेंगे तो वे 'अनुप्रस्थ है' ऐसा सिद्ध होता है। 'है' कहा तो 'नहीं' और 'नहीं' कहा तो 'है' ऐसा इनका कहना है। इसीको ही कहते हैं- भावात्मक सम्बन्ध जो विश्व और विश्वेश्वर में होता है। विश्वेश्वर भावातीत, सर्वद्वंद्वातीत माने जाते हैं। उसीको उन्होंने अन्तिम श्लोक में अन्वय-व्यतिरेक के रूप में समझाया है। यह सब शास्त्रीय होने से उसकी गहराई में जायेंगे तो सिर दुखने लगेगा और उसे लांघकर जायेंगे तो भागवत पर अन्याय होगा, इसलिए बोलना तो चाहिए। इसका कारण भागवत में उसका महत्त्व है। केवल कथाओं की महत्ता भागवत में नहीं है। इस चतुश्लोकी को भागवत कहते हैं इसलिए कहता हूँ कि यह भावाभावात्मक सम्बन्ध है और वह अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध किया है। अब अन्वय क्या है, व्यतिरेक क्या है यह भी समझाना पड़ेगा और उसमें बहुत समय जायेगा।

अन्वय यानी अनुयोगी सम्बन्ध। **'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः। ब्रह्मसत्त्वे जगत्सत्त्वमिति'** ब्रह्म है इसलिए जगत् है। यह ब्रह्म का जगत् से अनुयोगी सम्बन्ध है, जैसे पिता-पुत्र। **'यदभावे तदभावो नेति व्यतिरेकः। जगदभावे ब्रह्माभावो नेति'** जगत् नहीं है यानी ब्रह्म नहीं है ऐसा नहीं होता। यह प्रतियोगी सम्बन्ध अर्थात् व्यतिरेक है। इसमें एक विलक्षण उलझन पैदा होती है। उस विचार का वेदान्त में बहुत बड़ा प्रवाह है कि इस सृष्टि का निर्माण भगवान ने भी नहीं किया है, और जो उत्क्रान्ति तत्त्व है, उसके अनुकूल यह विचार है। उसे हेगेल जैसे चिन्तक जडाद्वैतवाद कहते हैं और भागवत उसे चेतनद्वैतवाद कहता है, इतना ही फ़र्क है। जड़ से चेतन की निर्मिति है और उस निर्मिति के बाद सृष्टि निर्माण हुई है, ऐसा कहनेवाली एक विचारधारा है। हेगेल आदि तत्त्वचिन्तक जो विदेश में हुए हैं वे यही विचारधारा कहते हैं।

हमारे सांख्य आदि लोग सृष्टि उत्क्रान्त हुई है ऐसा नहीं कहते। परन्तु सांख्यों ने प्रकृति मानी है। चतुश्लोकी भागवत में वैसा नहीं माना है।

दूसरी एक उलझन खड़ी होती है कि 'ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, जो लगता है, जो भासमान होता है, क्या वह ज्ञान नहीं है?' वह नहीं है, इतना ही नहीं, वह है ही नहीं। ऐसी एक विचित्र बात ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञात होती है। जो ज्ञात होती है, जो भासमान होती है उसका अस्तित्व नहीं है, ऐसा क्या आप कहेंगे? यहाँ अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध किया है। वह है ही नहीं ऐसा आप कहेंगे तो कैसे चलेगा? वह होना ही चाहिए।

हमें विषयों का जो ज्ञान होता है, उसमें से नब्बे प्रतिशत ज्ञान, नेत्र तथा स्पर्शेन्द्रियों द्वारा होता है, परन्तु क्या वह ज्ञान सच है? भागवत में लिखा है कि इन्द्रियों से होनेवाला ज्ञान सत्य नहीं है। यही उलझन सामान्य मनुष्य के मस्तिष्क में निर्माण होती है कि जो ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से होता है, भासमान होता है वह क्या ज्ञान नहीं है? क्या उसका अस्तित्व ही नहीं? और यह एक विचित्र बात है कि जो लगता नहीं है, जो दिखायी नहीं देता, उसका अस्तित्त्व सत्य है? विश्व का अस्तित्त्व है, भासमान है, दृश्यमान क्या है, इन्द्रियों से ज्ञात होता है वह है ही नहीं, और जिसका अस्तित्त्व भासमान नहीं होता, व्यक्त नहीं होता जिसे तुम भगवान कहते हो क्या उसका अस्तित्व मानना चाहिए? यह एक उलझन है।

यहाँ प्रथम प्रश्न यह है कि ज्ञानेन्द्रियों से मुझे जो ज्ञान होता है वह क्या सच्चा है? क्या ज्ञानेन्द्रियों में मुझे सच्चा ज्ञान कराने की शक्ति है? जो ज्ञान मुझे दिन रात होता रहता है, जिस ज्ञान पर मैं खड़ा हूँ क्या वह ज्ञान सच्चा है? उदाहरणस्वरूप रस्सी पर साँप का ज्ञान होता है। यह ज्ञान क्या सच्चा ज्ञान है? ज्ञान हुआ, परन्तु आँखों ने, जो नहीं है वह दिखाया। जो है वह नहीं दिखाया। अदालत में गवाह भी एकाध बार झूठी गवाही देता है तो अदालत उसकी गवाही नहीं मानती। गवाह झूठा ठहरता है। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों से जो ज्ञान होता है क्या वह सच्चा ज्ञान है? रस्सी पर साँप का जो ज्ञान हुआ वह क्या सच्चा है? जो मृगजल दिखायी देता है क्या वह सत्य होता है? रस्सी पर साँप दिखने का ज्ञान सच्चा है, परन्तु साँप सत्य नहीं है, ज्ञान सत्य है। क्यों? उस साँप को देखने पर **'सीदन्ति मम गात्राणि...'** मनुष्य भय से थरथराता है, अतः ज्ञान सच्चा है, साँप सत्य नहीं है। आँखों ने मृगजल दिखाया तो जिसको प्यास लगी है वह उसे देखकर दौड़ने लगता है।

आप कच्छ के रण में जाइये। मैं जाकर आया हूँ। अरे! इतना सारा पानी दूर तक दिखायी देता है कि पूछो मत! परन्तु वहाँ जाने पर देखेंगे तो एक बूँद भी पानी नहीं होती। इसका स्वयं मैंने अनुभव किया है। आकाश में एक ही चन्द्र होता है परन्तु हमें दो दो चन्द्र दिखायी देते हैं। वह क्या सच्चा ज्ञान है? आकाश में बादल दौड़ते हैं तो लगता है कि चंद्र दौड़ रहा है। क्या वह सच है? आपकी चक्षुरिन्द्रियाँ आपको ज्ञान कराती हैं कि चन्द्र दौड़ रहा है, परन्तु वास्तव में चन्द्र नहीं दौड़ता है, बादल दौड़ते है। ऐसे तो कितने ही दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। अगरबत्ती जलाकर गोलगोल घूमाने से गोलाकार दिखायी देता है। क्या वह गोलाकार होता है? गोलाकार नहीं होता है, परन्तु गोलाकार है ऐसा लगता है। रेलगाड़ी में आप बैठे हैं, रेलगाड़ी दौड़ती है तब खिड़की में से वृक्ष दौड़ते हुए दिखायी देते हैं। क्या वृक्ष कभी दौड़ते हैं? परन्तु हमारी चक्षुरिन्द्रियाँ ज्ञान कराती हैं कि वृक्ष दौड़ रहे हैं। स्वच्छ पानी में चन्द्र का प्रतिबिम्ब देखेंगे तो, पानी की गहराई होती है दो फीट, परन्तु चन्द्र आकाश में जितनी दूरी पर है उतना ही दूर तक पानी में दिखायी देता है। ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

वस्तु का निश्चित आकार होता है। परन्तु वह वस्तु सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखने पर हजार गुना बड़े आकार की दिखायी देती है। अणु से हजार गुना बड़ा उस यंत्र से दिखायी देता है। जो वस्तु मैंने पहले देखी थी क्या वह सच्ची थी या सूक्ष्मदर्शन यंत्र से जो दिखायी देती है वह वस्तु सच्ची है? यह दोनों प्रकार का ज्ञान इन्द्रियों ने ही कराया है। उसमें से कौन सा ज्ञान सच्चा है? ज्ञानेन्द्रियाँ हमें जो ज्ञान कराती हैं वह सच्चा नहीं होता, फिर भी इस ज्ञान के आधार पर वैश्विक सिद्धान्त असत्य साबित कराने निकले हैं। ये इन्द्रियाँ हमें सच्चा ज्ञान नहीं कराती हैं।

जिस प्रकार नेत्रभ्रम होता है, वैसे ही स्पर्शभ्रम भी होता है। अंगच्छेदन *(Amputation)* करने पर भी वह अवयव है ऐसा भ्रम होता है। मेरे पिताश्री का एक पाँव काटना पड़ा। परन्तु उनको हमने केवल इतना ही बताया कि पाँव की दो अँगुलियाँ खराब थी वे काट दी गयी हैं। उनको पता भी न चले इस तरह से पैर का शेष भाग बाँध रखा था। डॉक्टर प्रतिदिन उन्हें देखने आता था। वे डॉक्टर से रोज कहते थे कि मेरे पैर का अँगूठा और अंगुली के बीच के भाग में दर्द है। वास्तव में पूरा पैर ही काट दिया था तो अंगूठा और अंगुली आयी कहाँ से! परन्तु वे प्रतिदिन वैसा ही कहते थे, वह असत्य नहीं था। उनको वैसा लगता था, वे अनुभव करते थे, परन्तु वह आभास था। ऐसा आभास होता है। जो अवयव नहीं हैं वे हैं, ऐसा लगता है। इसीको शास्त्र में देहाध्यास कहते हैं। यह बात तो मैंने प्रत्यक्ष घटी हुई देखी है।

डॉ. अँड्र्यु विल्यम की *'How our senses deceive us'* नामक एक पुस्तक है। उसमें वह लिखता है कि हमारी इन्द्रियाँ हमें कैसा धोखा देती हैं। जो इन्द्रियाँ असत्य ज्ञान कराती हैं उन पर आधार रखकर हम वैश्विक सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं। इन्द्रियों पर आधार रखकर यदि हम सिद्धान्त परखने जायेंगे तो वे असत्य साबित होने का संभव है। कितने ही लोग प्रत्यक्ष प्रमाणवादी होते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण यह पशु *(Animal)* प्रमाण है। पशु जो देखता है वही मानता है। **पश्यति इति पशुः।** पशु को दूसरा कुछ मालूम नहीं पड़ता। प्रत्यक्ष आँखों से जो दिखायी देता है वही वह मानता है। पशु ने वात्सल्य नहीं देखा है। वात्सल्य का उसे अनुभव नहीं है, इसलिए वह वात्सल्य नहीं मानता। वह केवल घास व पानी को ही मानता है। इसका कारण उसने घास व पानी ही देखा है। तो फिर, जितना दिखायी देता है उतना ही माननेवाले सभी कौन हैं? मैं नहीं बोलता हूँ।

भागवत ने आगे बढ़कर कहा है कि जो दिखायी देता है वह असत्य है। इन्द्रियाँ किस प्रकार मिथ्या ज्ञान कराकर धोखा देती हैं यह *How our senses deceive us* नामक पुस्तक में कितने ही उदाहरण देकर समझाया है। इन इन्द्रियों पर आधार रखकर हम सिद्धान्तों को असत्य प्रमाणित नहीं कर सकते। इसका कारण इन्द्रियों का कराया हुआ दर्शन मिथ्या है। इन इन्द्रियों के आधार पर हम शास्त्र को असत्य ठहराने निकले हैं। क्या वह सच्चा है। यहाँ तो विश्व को अनित्य ठहराने की कोशिश है। वेदान्त कहता है, **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** तो विपरीत ज्ञान होता है। हमें ब्रह्म सत्य व जगत्

मिथ्या नहीं लगता। हमें जगत् सत्य व ब्रह्म मिथ्या लगता है। कोई व्यासपीठ से भले ही कहता रहे कि ब्रह्म सत्य, व जगत् मिथ्या है। सुननेवाले सुनते रहेंगे। पागल हैं वे लोग! हमें तो जगत् दिखायी देता है इसलिए वह सत्य है। ब्रह्म दिखायी नहीं देता, अत: वह मिथ्या है।

मैंने एक विनोदी दृष्टान्त दिया था। एक करोड़पति की पत्नी किसीके विवाह में आयी थी। वह माधवबाग के पास आकर मोटर से उतरी। वहाँ एक फेरीवाला काँच की नकली मणियों की माला बेच रहा था। उसके पास एक सुन्दर माला थी, वह सेठानी को पसन्द आयी। उसकी कीमत पूछने पर फेरीवाले ने कहा, 'दो रूपये।' वास्तव में उसका मूल्य था बारह आना। परन्तु सेठानी इम्पाला गाड़ी से उतरी थी न! सेठानी ने दो रूपये दिये और माला गले में पहनकर विवाह में गयी। विवाह मण्डप बिजली की रोशनी से सुशोभित था। बिजली के प्रकाश-किरण उस माला पर पड़ रहे थे। एक एक मणि हीरे जैसी चमक रही थी। एक व्यक्ति ने उस माला को देखकर दूसरे व्यक्ति से कहा, 'दो लाख की माला लगती है।' तब दूसरे व्यक्ति ने कहा, 'ना! एक एक हीरा कितना बड़ा है! पाँच लाख की माला होगी यह!' दो रूपये की माला पाँच लाख की लगी इसका क्या कारण है? जिसके गले में वह माला है वह व्यक्ति सत्य है इसलिए नकली माला भी सच्चे हीरे जैसी लगी।

एक रसोइया था। उसे पैसा बहुत मिलता था। उसका अपना खर्च बहुत कम था। अत: बहुत पैसा इकठ्ठा होने लगा। उसको सँभालना कैसे? कहाँ रखना? उस जमाने में बैंक नहीं थे। अत: उसने सोना खरीदा और उसका कंगन बनाकर हाथ में पहन लिया। उसे देखने पर एक व्यक्ति ने कहा, 'देखो तो सही! रसोइये ने सोने का कंगन पहना है।' तब दूसरे ने कहा, 'अजी! यह रसोइया है, इसके पास सोने का कंगन कहाँ से आयेगा? वह पीत्तल का होगा, पीतल का!' इस प्रकार सच्चा सोना पीतल बन गया और नकली मणि हीरा बन गयी। इसका कारण पहननेवाले की शक्ति है। इस प्रकार यह जगत् मिथ्या है परन्तु वह भगवान के गले में होने से सत्य लगता है और भगवान मिथ्या लगते हैं इसका कारण वे झूठे जगत् में फिरते हैं। जो आधार है उस पर यह सब निर्भर है। इसलिए शास्त्रज्ञों को **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** लगा और हमें लगता है, **'जगत् सत्यं ब्रह्म मिथ्या।'** जगत् के गले में ब्रह्म आया, जगत् मिथ्या है इसलिए ब्रह्म मिथ्या लगने लगा। ब्रह्म के गले में जगत् आया, ब्रह्म सत्य है इसलिए जगत् सत्य लगने लगा।

जो 'हैं' कहेंगे तो नहीं है और 'नहीं है' ऐसा कहेंगे तो वह है-ऐसे जो भगवान हैं उनका वर्णन भागवत में है। यहाँ एक उलझन पैदा होती है कि ज्ञानेन्द्रियों का कराया हुआ ज्ञान सच्चा है या झूठा? यदि वह ज्ञान सच्चा है तो अनन्त जगहों में वह ज्ञान असत्य है ऐसा प्रमाणित होता है। मृगजल दिखायी देता है वह मिथ्या ज्ञान है। भागवत में जगत् को असत् अथवा माया ठहराने का प्रयत्न है। उसका शास्त्रीय कारण है। भागवतकार जगत् के

अस्तित्त्व को ही अमान्य करते हैं। नित्य से उत्पन्न हुआ विश्व नित्य ही होना चाहिए। समझ लीजिये, यह सृष्टि भगवान की बनायी हुई नहीं है, उद्भव हुई है, परन्तु ब्रह्म से उद्भव हुई है, और ब्रह्म नित्य है। अत: सृष्टि भी नित्य होनी चाहिए। जैसा कारण होगा वैसा कार्य होना चाहिए।

हमारे दार्शनिकों में भगवान को निमित्तकारण माननेवाले लोग, नास्तिक ही माने जाते हैं। भगवान सृष्टि का उपादान कारण हैं ऐसा उनका कहना है। इसका कारण, निमित्तकारण के चले जाने पर भी वस्तु रहती है। मिट्टी का घड़ा बनानेवाला कुम्भार घड़े का निमित्तकारण है। उसके मर जाने पर भी घड़ा रहता है और उसमें रखा हुआ जल ठंडा होता है। भगवान ने इस सृष्टि का निर्माण किया है इतना ही आप कहेंगे तो भगवान के चले जाने पर भी सृष्टि रहेगी ही। इसलिए दार्शनिक भगवान को निमित्तकारण मानने को तैयार नहीं हैं। वे भगवान को उपादानकारण मानते हैं।

सृष्टि यदि ब्रह्म-यानी नित्य में से निर्माण हुई होगी तो वह नित्य होनी चाहिए। जैसा कारण होगा वैसा कार्य होता है यह सिद्धान्त सत्य नहीं है। पिता कारण है और पुत्र कार्य है, परन्तु पिता के जैसा पुत्र नहीं होता। दूसरा एक शास्त्रीय दृष्टान्त देता हूँ। एक सुराही है। उसका नाश लकड़ी से हुआ। तो नाश का कारण कौन है? लकड़ी है; और लकडी का कार्य क्या है? नाश है। परन्तु नाश (कार्य) लकड़ी (कारण) के जैसा नहीं है। नाश का अभाव है और लकड़ी का भाव है। इसलिए मैं कहता हूँ कि यह सब शास्त्रीय सिद्धान्त है। गहराई में न जायेंगे तो अच्छा है,

जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है- **'कारणगुणा: कार्यमारंभते..।'** कार्य में कारण के गुण आते हैं। इसके उदाहरण में कितने ही लोग कहते हैं कि तन्तु सफेद होंगे तो वस्त्र भी सफेद होता है। तन्तु काले होंगे तो वस्त्र भी काला होता है। कारण के गुण कार्य में आते हैं यानी भगवान यदि सृष्टि का कारण है तो, भगवान नित्य होने से सृष्टि भी नित्य होनी चाहिए। तो फिर सृष्टि अनित्य क्यों? यह एक शंका है।

इस शंका का उत्तर है कि कारण के गुण कार्य में आते हैं, वह सिद्धान्त सत्य नहीं है। सुराही का नाश लकड़ी से हुआ। यहाँ लकड़ी कारण है और नाश कार्य है। इसमें नाश का अभाव है, लकड़ी का भाव (अस्तित्व) है। नैयायिक तो इससे भी आगे जाते हैं। वे कहते हैं कि दो अणु मिलकर द्व्यणु बनता है। द्व्यणु में से त्र्यणु बनता है। **'महद्दीर्घवत्स्वपरिमंडलाभ्याम्..'** इस प्रकार सृष्टि बड़ी होती है। अब दो अणु मिलकर द्व्यणु बनता है, तो द्व्यणु अणु से बड़ा होता है या छोटा? परन्तु बड़े अणु में लघुत्वधर्म है मगर द्व्यणु में दीर्घत्व धर्म है। कारण के गुण कार्य में आते हैं यह सिद्धान्त असत्य है। इसका भी उत्तर देते हैं। लकड़ी कारण है और सुराही का नाश कार्य है परन्तु लकड़ी यह निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं। उपादानकारण-जैसा कार्य होता है। घड़ा कैसा होगा? जैसी मिट्टी होगी वैसा। मिट्टी लाल होगी तो घड़ा लाल बनेगा और मिट्टी काली होगी तो घड़ा काला बनेगा।

ठीक है, मगर तो दूसरी शंका आती है। रस्सी पर साँप का आभास होता है। यहाँ उपादानकारण रस्सी है या नहीं? तो कहते हैं कि साँप का उपादान कारण रस्सी नहीं है। सांप का उपादानकारण रस्सी और अज्ञान है, दोनों मिलकर साँप निर्माण हुआ। इसमें जो अज्ञान है वही माया कही जाती है।

हमें वस्तु का अज्ञान है। अणु जड़ है ऐसा हमें आज तक लगता था। परन्तु अभी अणुशक्ति *(Atomic energy)* के काल में एक भी अणु जड़ नहीं है। प्रत्येक अणु में चेतन है। इलेक्ट्रोन्स और प्रोटोन्स घूमते हैं, तो अणु जड़ *(Matter)* नहीं रहा, वह शक्ति *(spirit)* बन गया। हमें जो दिखायी देता है कि अणु जड़ है वह ज्ञान सत्य नहीं है। यदि अणु में चेतन होगा तो उसमें भगवान हैं ऐसा बोलनेवालों को ना कहने का कौनसा कारण है?

वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि अणु में चेतन है और 'आसपास आकाश में, अन्तर में आभास, घास घास के पास विश्वपति का वास' कहनेवाले नरसिंह- मेहता को पागल ठहराते हैं। जो जड़ दिखायी देता है, उसमें चेतन है ऐसा विज्ञान कहता है। यह जो चेतन है. वही भगवान हैं ऐसा ऋषियों का, सन्तों का अनुभव है।

यहाँ एक दूसरा प्रश्न उत्पन्न होता है कि भागवतकार यदि जगत् को असत् ठहराते हैं, वैसा जगत् असत् होगा तो व्यवहार कैसे होंगे? सीप पर चांदी का भास होता है। वह चान्दी झवेरी बाजार में नहीं चलती। सृष्टि में उससे व्यवहार नहीं होगा। अर्थात् अज्ञान से व्यवहार नहीं होता। इसी प्रकार जगत् असत् होगा तो उससे व्यवहार कैसे होगा? असत् भी व्यवहार होता है। रस्सी पर साँप का आभास होता है, वह साँप असत्य है, परन्तु उसे देखकर दो सौ लोग भाग गये। दो सौ लोगों का भागने का जो व्यवहार हुआ वह असत् ज्ञान से हुआ, इसलिए असत् से व्यवहार नहीं होता है, ऐसा नहीं है।

यह जगत् असत् होगा तो वेदों ने कर्म करने को क्यों कहा है? वेद अर्थात् ज्ञान। वे कर्म करने को कहते हैं। यदि जगत् असत् होगा तो कर्म करना व्यर्थ है। परन्तु वेदों ने जो कर्म कहा है वह चित्तशुद्धि के लिए कहा है। वेदों ने चित्तशुद्धि के लिए कर्म करने को कहा होगा, फिर भी जगत् असत् है तो कर्म भी असत् होंगे। असत् कर्मों से चित्तशुद्धि कैसे होगी?

जगत् असत् है यह मान्य करना ही पड़ता है परन्तु वह दो प्रकार का है। एक क्षणिकत्व और दूसरा मिथ्यात्व! जो क्षणिक है-*(changing)* वह भी असत् है। आप गंगा के किनारे जाते हैं और स्नान करते हैं तब बोलते हैं कि जिस गंगा में मेरे पिता ने स्नान किया था उसी गंगा में मैंने स्नान किया। परन्तु यह कैसे संभव है? आपके पिता ने जिस गंगा में स्नान किया था वह गंगा चली गयी। अरे! जिस गंगा में आपके पैर का अंगूठा जाता है, उसी गंगा में आपका सिर भी नहीं जाता, इसका कारण गंगा बदल गयी है। प्रत्येक क्षण गंगा बदलती है। यही मिथ्यात्व है। *'The world is unreal, fleeting and*

changing-' प्रत्येक क्षण में जगत् में परिवर्तन होता रहता है। जो जगत् बदलता रहता है वह सत्य कैसे होगा? इस प्रकार क्षणिकत्व से मिथ्यात्व आता है। हम अचानक बूढ़े नहीं होते हैं। ऐसा नहीं होता कि उन्नीस तारीख तक हम नौजवान थे और बीस तारीख को बूढ़े हो गये। कुछ न कुछ क्षण क्षण में बदलता रहता है, और दीर्घ अवधि के बाद हम यौवन से वृद्ध होते हैं।

जो भासमान होता है, दिखायी देता है वह सत्य है, ऐसा नहीं है। वह क्षणिक है, इसलिए जगत् मिथ्या है। अब जगत् मिथ्या होगा तो व्यवहार भी नहीं होगा ऐसा कहते हैं। रस्सी को साँप समझकर दो सौ लोग भागे या नहीं? जगत् मिथ्या होगा तो जो कर्म कहे हैं वे भी मिथ्या होंगे। जगत् मिथ्या है, परन्तु जगत् में जो कर्म कहे हैं वे सत्य हैं, यह वेदान्त का एक अलग सिद्धान्त है। शंकराचार्य ने भी उसके लिए ऐसा दृष्टान्त दिया है।

स्वप्नस्त्रीसंगसौख्यादपि भृशमसतो या च रेतच्युतिः स्यात्।
सा दृश्या तद्वदेतत्स्फुरति जगदसत्कारणं सत्यकल्पम्।
स्वप्ने सत्यः पुमान्स्याद्युवतिरिह मृषैवानयोः संयुतिश्च
प्रातः शुक्रेण वस्त्रोपहतिरिति यतः कल्पनामूलमेतत्।। (श-श्लो-३६)

स्वप्न में जो स्त्रीसंग होता है वह मिथ्या है, कारण स्त्री ही नहीं तो उसका संग कैसे होगा? परन्तु उसके परिणामस्वरूप जो वीर्यस्खलन होता है वह सत्य है या नहीं? वह सत्य है। जगत् असत् मिथ्या होगा फिर उसका जो परिणाम है वह सत्य है। असत्य-मिथ्या से भी सत्य परिणाम होता है। शंकराचार्य ने दृष्टान्त देकर यही समझाया है कि कर्म मिथ्या होगा परन्तु उसका परिणाम सत्य है। यह जगत् असत् है यह समझाने का प्रयत्न किया है। माया समझनी चाहिए ऐसा चतुश्लोकी भागवत में लिखा है।

अब यहाँ दूसरा प्रश्न खड़ा होता है। जगत् असत् है इतना कहने से नहीं चलेगा। जगत् असत् है ऐसा कहकर हमें जगत् से भागना नहीं है। ऐसी परिस्थिति में हमें जो मार्ग दिखाता है उसे दर्शन कहते हैं। केवल उलझन दिमाग में खड़ा करना तत्त्वज्ञान का काम नहीं है। उलझन का जबाब देना तत्त्वज्ञान का काम है। इसलिए हमारे शास्त्र में किसी को तत्त्ववेत्ता नहीं कहते, दार्शनिक कहते हैं। यह दर्शन *(vision)* करानेवाले जो लोग हैं उनको दार्शनिक कहते हैं। अत: जगत् असत् है ऐसा कहने से नहीं चलेगा। हमें मार्गदर्शन कराना होगा। जगत् असत् है परन्तु उसका परिणाम सत् है, उसके लिए हमें मार्ग दिखाने का प्रयत्न चतुश्लोकी भागवत ने किया है। दिमाग में उलझन पैदा होने के बाद उसमें से मार्ग निकालना है। उलझन के सम्बन्ध में भी सोचना पड़ेगा और उसे झेलना पड़ेगा।

इस उलझन में से बाहर कैसे आना, यह इस चतुश्लोकी भागवत में बताया गया है। इन चार श्लोकों में पूरे तत्त्वज्ञान *(Philosophy and applied philosophy)* का दर्शन है। उसमें केवल तत्त्वज्ञान की चर्चा नहीं है उसमें *applied philosophy* भी है।

चतुश्लोकी ज्ञानपूर्ण विषय है और सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान उसमें अधिकारिक तौर से कहा है। ज्ञानेन्द्रियों से जो दिखायी देता है अथवा लगता है, वैसा वह नहीं होता है; और शास्त्रशुद्ध विचारों से जिसका अस्तित्व सिद्ध होता है परंतु वह दिखायी नहीं देता है, ऐसा नहीं लगता, इसलिए ज्ञानेन्द्रियों से होनेवाला ज्ञान सत्य नहीं है यह बात सिद्ध होती है। जो दिखायी देता है वह वैसा ही होगा ऐसा विश्वास नहीं होता और शास्त्रशुद्ध विचारों से जिसका अस्तित्व सिद्ध होता है, जिसके अस्तित्व के बिना कुछ हो ही नहीं सकता ऐसा जो परमतत्त्व है वह दिखायी नहीं देता। ऐसी एक उलझन विचार के सामने खड़ी होती है।

विचारकों में कितने ही केवल विचारक *(Thinkers)* होते हैं और कुछ दैवी विचारक *(Devotional thinkers)* होते हैं। विचारकों मे भी दो प्रकार होते हैं। बहुत से पाश्चात्य विचारक *(Western thinkers)* नास्तिक *(Atheist)* होते हैं कारण वे कहीं भी वचनबद्ध *(Committed)* नहीं रहते और बिना बद्ध रहे विचार नहीं हो सकता, यह तर्क *(Logic)* वे नहीं स्वीकारते हैं। उनके कोई भी विचार पूर्वग्रह से ही होते हैं।

विचारवंतों को जो उलझन सता रही है, उस उलझन से छुड़ाने के लिए चतुश्लोकी भागवत के अन्तिम (३६वें) उपसंहारात्मक श्लोक में

'एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यंति कर्हिचित्।'

अर्थात् (समाधि योग से) अच्छी तरह से चित्त एकाग्र करके तू मेरे इस उपदेश को ग्रहण कर और उसके अनुसार ही आचरण कर, जिससे महाप्रलय अथवा दैनिक प्रलय में तुझे (मैं सृष्टि का कर्ता हूँ' ऐसा) अहंकार नहीं उत्पन्न होगा, यह अन्तिम मार्ग दिखाया है।

जाड़े के दिनों में लोग शीत से ठिठुरते हैं, ओढ़ने या लपेटने के लिए उनके पास कोई वस्त्र नहीं होता, इतने में मार्ग से जाते समय दूर ऊँचे पहाड़ पर धुआँ दिखायी देता है। उसे देखने पर अन्वय-व्यतिरेक से **यत्सत्त्वं यदभावे तदभावः'** सिद्ध होता है कि वहाँ अग्नि का अस्तित्व है। अग्नि के अस्तित्व का बौद्धिक व्यक्ति को यथार्थ से बोध हुआ, परन्तु अग्नि का सामीप्य मिलकर उससे जो ऊष्मा मिलनी चाहिए क्या वह मिलेगी? यह प्रश्न है। मनुष्य को मालूम है कि अपने पास ओढ़ने के लिए कोई वस्त्र नहीं है, दूर पहाड़ पर धुआँ देखकर अन्वय-व्यतिरेक के शास्त्र के अनुसार, बुद्धि से सिद्ध होता है कि वहाँ अग्नि का अस्तित्व है, उसके सम्बन्ध में सन्देह नहीं है, परन्तु मनुष्य व पहाड़ के बीच में जो अन्तर है वह बुद्धि से कम नहीं होगा और उसे अग्नि से ऊष्मा नहीं मिलेगी। उसी प्रकार विश्वेश्वर के अस्तित्व का ज्ञान बुद्धि से सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, उनका सान्निध्य भी बुद्धि से सिद्ध होता है। गीता कहती है कि भगवान तेरे साथ हैं। वे ऊपर (आकाश में) बैठकर तुम्हारे शरीर में रक्त नहीं बनाते हैं, वे तेरे हृदय में ही बैठे हैं। गीता में भगवान ने कहा है- **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'** उनका निस्सन्देह ज्ञान बुद्धि से होता है,

परन्तु बुद्धि की निस्सन्देहता आने के बाद भी पीड़ित-पतित व्यक्ति को क्या विश्वेश्वर की ऊष्मा मिल सकती है? यह प्रश्न है।

'भगवान हैं' इस सम्बन्ध में हम निस्सन्देह हैं, मेरे साथ भगवान हैं यह भी मान्य है। शरीर की भीतरी क्रियायें, हृदय चलाना आदि मैं नहीं करता हूँ, दूसरा कोई करता है, इससे यथार्थता से सिद्ध होता है कि भगवान भीतर बैठे हैं। बुद्धि में यह सिद्धान्त स्थिर हुआ है। उसे कोई हिला सकेगा ऐसा नहीं है, परन्तु भगवान की ऊष्मा मुझे किस प्रकार मिलेगी? यह प्रश्न है। इस प्रश्न को उठाकर भगवान ने योग कहना प्रारंभ किया। विचारवान लोगों को सत्य कौनसा है वह समझाया, जो महसूस होता है, दिखायी देता है वह कितना मिथ्या है वह भी समझाया, और जो दिखायी नहीं देता परन्तु उसका अस्तित्त्व है ऐसा सिद्ध किया और चतुश्लोकी भागवत के अन्तिम श्लोक में **'एतन्मतं समातिष्ठ...कर्हिचित्'** ऐसा कहा और योग कहना शुरू कर दिया।

योग से होनेवाला ज्ञान अनुमानिक नहीं है, वह साक्षात्कारिक ज्ञान है। ज्ञान दो प्रकार का होता है। जो बुद्धि स्वीकार करती है वह अनुमानिक ज्ञान है और योग से जो ज्ञान होता है वह साक्षात्कारिक ज्ञान है ऐसा भागवत कहता है और फिर योग का विवरण प्रारंभ करते हैं।

परन्तु योग कितना कठिन है लोग एकदम समाधि लगाने बैठ जाते हैं। उसकी कुछ प्रक्रिया भी यांत्रिक *(Technic)* होती है। योगदर्शनकार भगवान पतंजलि के योगशास्त्र के विचार भागवत ने स्वीकार किये हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन सीढ़ियों से ही जाना पड़ता है। यम-नियम जीवन में आने चाहिए। उनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम हैं। ये सभी गुण जीवन में लाना कितना कठिन है।

प्रथम, ये गुण जीवन में लाने के लिए वृत्ति बदलनी चाहिए ऐसा योगशास्त्र का आग्रह है। केवल दो चार आसन करने से योंग सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए दिमाग की वृत्ति को बदलना पड़ता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जब तक वृत्ति नहीं बदलती तब तक आसन, प्राणायाम आदि क्रियाएं नहीं करने हैं? अन्तिम ज्ञान वृत्ति बदले बिना मिलना असंभव है। उसके लिए यम, नियम समझाये हैं। ये यम-नियम अत्यन्त कठिन हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- ये एक एक तत्त्व ऐसे हैं कि उनको जीवन में लाने के लिए एक एक तत्त्व के लिए कदाचित् एक एक जन्म लेना पड़ेगा। उसी प्रकार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान-ये नियम भी जीवन में सहजता से नहीं आते। योग समझाया गया है, परन्तु योग साधना सहज नहीं है।

ये सब गुण जीवन में आने चाहिए। मगर कैसे आयेंगे? उसके लिए कौन सी तपस्या करनी होगी? बहुत कठिन है यह! परन्तु ये गुण जीवन में लाना अशक्य नहीं है।

एक गुण जीवन में आने के बाद शेष सभी गुण आते हैं। परन्तु एक गुण जीवन में लाने के लिए परिश्रम करने पड़ते हैं। जैसे, व्यापारी कहते हैं कि व्यापार में प्रथम दस हजार रूपये कमाने में बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं। परन्तु एक बार दस हजार मिल गये कि उनके एक लाख शीघ्र होते हैं, उसमें अधिक परेशानी नहीं होती। योग में भी ऐसी ही स्थिति है। जब तक तुम वृत्ति नहीं बदलते हो तब तक योग की सीढ़ी के लिए तुम योग्य नहीं हो, ऐसा योगशास्त्र कहता है। तुम योग्य कब बन सकोगे? उसके लिए भागवत में लिखा है कि भगवत्निर्भरता से ये सारे गुण जीवन में लाने शक्य हैं। योगशास्त्र में भी इस बात पर बहुत जोर दिया गया है।

सांख्य प्रकृतिवादी दार्शनिक हैं। उन्होंने योगशास्त्र के सेश्वरवाद को स्वीकार किया है। सांख्यों की विचार प्रणाली *(way of thinking)* हमारे देश में ही निर्माण हुई, परन्तु उसमें ईश्वर को स्थान नहीं है। बिना ईश्वरभक्ति के भी मनुष्य मुक्त हो सकता है ऐसा उनका विचार है। योगशास्त्र में जो विचार हैं उन्हें उन्होंने स्वीकारा है, परन्तु उसमें भक्ति भरकर स्वीकारा है।

भागवत के द्वितीय स्कन्ध में कहा गया है कि योग सहज, सरलता से साध्य नहीं हो सकेगा यह समझ लो। परन्तु भगवन्निर्भरता से सभी गुण आ सकते हैं। भगवन्निर्भरता यानी ज्ञानयुक्त भक्ति। इस पर भागवत ने जोर दिया है। पागल या अन्धभक्ति नहीं चलेगी। ज्ञानयुक्त भक्ति होगी तभी जीवन की वैसी वृत्ति हो सकेगी। उसके लिए प्रयत्न करने पड़ेंगे। गीता का भी ऐसा ही आग्रह है, ज्ञानी भक्त चाहिए। केवल ज्ञानी नहीं चलेगा वैसे केवल भक्त नहीं चलेगा। ज्ञानी भक्त होना चाहिए। सभी सन्तों ने यही कहा है। ज्ञानेश्वर महाराज ने लिखा है **'ज्ञानियांच्या घरीं भक्तीचा दुष्काळ।'** जो ज्ञानी होता है उसके पास भक्ति नहीं होती। वह चिन्तक *(Thinker)* बन जाता है। पाश्चात्य तत्त्वज्ञान में यही भय है कि उसे पढ़ने से मनुष्य नास्तिक बनता है। इसके अनन्त कारण हैं। उनका चिन्तन ही गलत मार्ग से हो रहा है यह एक कारण है। भगवन्निर्भरता से सभी गुण आ सकते हैं। ज्ञानयुक्त भक्ति के बिना भगवन्निर्भरता नहीं आ सकती। कितने ही लोग भगवान का अस्तित्व मानते हैं, परन्तु वह दुर्बलता के कारण मानते हैं। दुर्बल व्यक्ति से भक्ति नहीं हो सकती। भगवान को एक एक विशिष्ट गुण देना है। भगवन्निर्भरता से ही ज्ञानयुक्त भक्ति होगी। ज्ञानी भक्त मेरा ही (भगवान का) प्राण है ऐसा गीता में स्वयं भगवान ने कहा है- **'उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'** और ज्ञानी भक्त अकस्मात् नहीं बना जाता। उसके लिए प्रयत्न करने पड़ते हैं। इसीलिए भगवान ने आगे **'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते'** ऐसा कहा है। इसीलिए द्वितीय स्कन्ध में ज्ञानयुक्त भक्ति का महत्त्व भागवत ने बढ़ाया है। चतुःश्लोकी भागवत कहने का अभिप्राय यही है। परन्तु हमें उसका पता नहीं है। द्वितीय स्कन्ध में कोई कथा नहीं है, इसीलिए लोग द्वितीय स्कन्ध को लाँघकर आगे चले जाते हैं। उन्हें लगता है कि जिसमें कोई कथा नहीं है, वह क्यों कहना चाहिए?

भागवत को सिद्धान्त कहना है। इसीलिए अलग रहने से सिर्फ बुद्धि की निस्संदेहता नहीं चलेगी। जैसे उधर अग्नि है, यह बुद्धि की निस्संदेहता है, वैसे भगवान हमारे साथ हैं इस सम्बन्ध में भी बुद्धि निस्सन्देह है। केवल गीता कहती है इसीलिए नहीं, हमारी बुद्धि में बैठ गया कि भगवान हमारे साथ हैं, परन्तु क्या उससे ऊष्मा मिलेगी? नहीं! बीच में जो अन्तर है उसे कम करना है, वह कैसे होगा? इसीलिए भागवत ने योग समझाया है। योग कठिन है। वृत्ति बदलनी है। परन्तु यह सामान्य बात नहीं है। सहज, आसान बात नहीं है। कुछ लोग कहते हैं, पद्मासन करो, ऐसा बैठो, आदि...। स्वयं योगदर्शनकार कहते हैं- **'स्थिरसुखमासनम्'**- जिस रीति से तुम शान्ति तथा स्वस्थतापूर्वक दीर्घ समय तक बैठ सकोगे ऐसा आसन स्वीकार करो। कोई भी आसन चलेगा। आधे घण्टे तक आसन स्थिर रहना चाहिए और सुखकारक होना चाहिए। बैठे बैठे पाँव में या कमर में न दर्द होने लगे ऐसा आसन नहीं चलता। परन्तु केवल आसन या प्राणायाम का अर्थ योग नहीं है। योग की नींव में प्रथम यम-नियम समझाये हैं। उनका अर्थ ही यह है कि जीवन की वृत्ति बदलनी है, वृत्ति बनानी है। जब तक वृत्ति नहीं बनती तब तक योग हमारे लिए नहीं है। यह वृत्ति बनाना कठिन है। इसीके लिए भगवन्निर्भरता समझायी है भागवत ने उस पर जोर दिया है। भगवन्निर्भरता साधकर ज्ञानी भक्त बनने के बाद मनुष्य निश्चित ही भगवान का सान्निध्य और सामीप्य साधकर उनकी ऊष्मा ले सकता है, ऐसा समझाया है।

ज्ञानयुक्त भक्ति चतुश्लोकी में समझायी है। अपने पण्डित्य का दिग्दर्शन करने के लिए भागवतकार ने चतुश्लोकी नहीं लिखी है। कितने ही ग्रंथों में पांडित्य होता है, परन्तु भागवत की चतुश्लोकी पांडित्य - प्रदर्शन के लिए नहीं है। वह कुछ सिद्धान्त लेकर चली है। ऐसे लोकोत्तर द्वितीय स्कन्ध को हम नमस्कार करेंगे।'

तृतीयः स्कन्धः

तृतीय स्कन्ध में प्रथम कथा कही है। क्यों? जो ज्ञान कहना है उस ज्ञान का महत्त्व बढ़ाकर, उसके प्रति प्रेम बढ़ाकर, उसकी पवित्रता दिखाकर, उसके प्रति उत्सुकता निर्माण करके फिर ज्ञान कहना है। सम्पूर्ण भागवत व्यक्ति का मानसशास्त्र देखकर ही चलता है। शुद्ध ब्रह्म, सबल ब्रह्म, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत, शुद्धाद्वैत, ऐसा ज्ञान शुरु किया तो सिर पर से ही चला जाता है। *Materialism, Idealism, Theism, Theistic Idealism, Idealistic theism Ism* कहनेवाले लोग होते है। भागवत को लोगों को उठाना है, उन्मत करना है। अत: जो ज्ञान कहना है उसका महत्त्व बढ़ाना चाहिए, उसके प्रति प्रेम बढ़ाना चाहिए, उसकी पवित्रता समझानी चाहिए और उस ज्ञान के प्रति उत्सुकता बढ़ानी चाहिए। उसके बाद ज्ञान कहना है। पुस्तक खोलो *(Open your books,)* ऐसा कहा कि शुरू हो गया ज्ञान, ऐसा नहीं चलता। किसे शिक्षा देना, किस ढंग से देना इसका बहुत सुन्दर विवरण है, इसलिए तीसरे स्कन्ध में एक कहानी शुरू की है।

परीक्षित शुकदेव से प्रश्न पूछता है। उस प्रश्न का उत्तर शुकदेव स्वयं दे सकते हैं, परन्तु उन्होंने प्रारंभ में ही कहा कि 'मैं इस प्रश्न का उत्तर दूँगा, परन्तु वह ज्ञान मेरा नहीं है।' ऐसा कहने में नम्रता है तथा ज्ञान का महत्त्व बढ़ाना है। मैं जो उत्तर दूँगा वह ज्ञान मेरा नहीं है। तो फिर किसका है? यहीं कथा कही है। कथा का यहीं से प्रारंभ है। 'विदुर को मैत्रेय ने ज्ञान दिया। विदुर व मैत्रेय में जो संवाद हुआ वह मैं कहता हूँ।' इसमें दो बाते हैं। एक, कहनेवाले की बौद्धिक नम्रता *(intellectual modesty)* है। ज्ञान मेरा नहीं है। कृष्ण भगवान ने यह रास्ता उठाया है।

आज सभी नये रास्ते *(New-approach)* की बातें करते हैं। 'मेरा यह भाग है। *This is my contribution'* ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने से ज्ञान की पवित्रता कम हो जाती है। लोग भले ही कहें कि यह अमुक व्यक्ति का भाग *(Contribution)* है। कृष्ण भगवान ने गीता में कर्मयोग कहते हुए कहा है-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः (गी.४-१/२)

यह ज्ञान मैं तुझे कह रहा हूँ। वास्तव में भगवान कृष्ण ने अलग ढंग से स्वतंत्र ज्ञान कहा है, फिर भी वे ऐसा नहीं कहते कि यह ज्ञान मेरा है। वास्तव में वैसा कहने का उनका अधिकार भी है। अवतार लेकर आये हैं तो भी ऐसा नहीं कहते हैं। और 'मैं नहीं कहता हूँ, किसीने यह कहा है' ऐसा कहने से ज्ञान का महत्त्व बढ़ जाता है। समझ लीजिए, एकाध बात आपकी कही है ऐसा आपने कहा तो सुननेवाले पर उसका परिणाम नहीं होता। 'किसीने ऐसा कहा है, शंकराचार्य ऐसा कहते हैं, अफलातून *(Plato)* ऐसा क्यों कहते हैं' ऐसा कहने से उसका महत्त्व लगता है। ज्ञान का महत्त्व बढ़ाना है। बोलनेवाले का नहीं! 'जो सामने बैठा है, उसे उठाना है, बदलना है' यह दृष्टि होगी तो बोलनेवाले को अपना महत्त्व कितना बढ़ा यह नहीं देखना है। सामनेवाले को कितना उन्नत बनाया यही देखना है, अतः ऐसे लोग, 'यह मेरा मत है, मैं ऐसा कहता हूँ' ऐसा नहीं बोलते। 'किसीने कहा है, अमुक ऐसा कहता है,' ऐसा कहना मानसशास्त्रीय दृष्टि है। उसमें मानसशास्त्र का गहन ज्ञान है।

परीक्षित का प्रश्न सामान्य है, 'सामान्य है' ऐसा मैं नहीं कहता हूँ, परन्तु है वह सामान्य, जिसका उत्तर शुकदेव नहीं दे सकेंगे ऐसा नहीं है। उसके पीछे एक विशिष्ट दृष्टि है। यह एक मानसशास्त्रीय मार्ग है। इसे अपनाकर शुकदेव विदुर को मंच पर लाते हैं। बड़ा ही नाटकीय *(Dramatic)* है यह! तो क्या यह नाटक है? नहीं! यह एक मानसशास्त्र की पद्धति है। जो पढ़े लिखे अक्लमंद हैं उनको यह कहने की आवश्यकता है, इसलिए कहता हूँ।

शुकदेव विदुर व मैत्रेय का संवाद कहनेवाले हैं। विदुर को ज्ञान कैसे मिला? यह कहने के लिए उसको गंगोत्री-मूल तक ले जाते हैं और यह कहते कहते सारा इतिहास समझाते हैं। ज्ञान का महत्त्व बढ़ाते हैं। विदुरजी को मंच पर लाकर विदुर कौन है यह समझाने के लिए मांडव्य का दृष्टान्त कहते हैं।

मांडव्य ऋषि को राजा द्वारा बिना अपराध सजा दी गयी थी और उन्हें अत्यन्त दारुण यातना सहनी पड़ी थी। उन्होंने यमधर्म को दिये हुए शाप के प्रभाव से यमधर्म ने मर्त्यलोक में शूद्रयोनि में विदुर के रूप में जन्म लिया। यह विदुर अत्यन्त धर्मशील, निस्पृह राजनीतिकुशल, क्रोधरहित तथा दूरदृष्टि का था। यम धर्मराज ने स्वयं सजा का स्वीकार

किया और अपना पद छोड़ दिया। वह कितना निस्पृह था यह दिखाना है, इसलिए यह लिखा है और एक कथा खड़ी की है। उसके पीछे इतिहास भी है और विदुर कौन है इसका पता चलता है। शुकदेव ने विदुर की निस्पृहता और तेजस्विता समझायी है। उसमें बहुत सा महाभारत का कथाविभाग आ गया है।

धृतराष्ट्र राष्ट्र (सत्ता) को ही पकड़कर बैठा है। धृतराष्ट्र यानी **'धृतं राष्ट्रं येन सः।'** वह राष्ट्र को ही पकड़ता है। उसे दूसरा कुछ पकड़ना नहीं है, दूसरा कुछ उठाना नहीं है। इस धृतराष्ट्र को विदुर समझाते हैं। लोगों की ऐसी कल्पना है कि शासन को, उस समय के जो पढ़े लिखे, निस्पृह, बुद्धिशाली, विद्वान लोग थे उन्होंने कुछ समझाया नहीं। यह गलतफहमी दूर करनी चाहिए, अन्यथा विदुर का महत्त्व ही कम हो जाता है। 'राजसत्ता की कुर्सी पर बैठकर राजसत्ता की खुशामत करनेवाला एक विद्वान' इतनी ही उसकी प्रतिभा रह जायेगी। इसलिए विदुर कौन है यह समझाने के लिए, उसकी तेजस्विता समझाने के लिए उसने किस ढंग से धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन को समझाया, यह बताया है। विदुर ने धृतराष्ट्र को जो समझाया उसे 'विदुरनीति' कहते हैं। जिसको राजनीतिशास्त्र *(politics)* का अध्ययन करना हो उसे विदुरनीति' पढ़नी ही चाहिए। परन्तु यह विदुरनीति है संस्कृत में और संस्कृत भाषा बन गयी है मृत भाषा-*dead language*! मेरा तो भिन्न ही मत है। संस्कृत भाषा संवेदना ही नहीं रह गयी है। वह केवल रोटी का भूखा कुत्ता बन गयी है। संवेदनशील *(Sensitive)* व्यक्ति खत्म हो गया है। तेजस्वी बुद्धि समाप्त हो गयी है। जिसकी बुद्धि में न तेजस्विता और न भावमयता है, ऐसा मानव बना है। विदुरनीति में, विदुर ने धृतराष्ट्र को नीति समझायी है, परन्तु उसका उपदेश किसीने भी नहीं माना है। इसमें दूसरा एक दिग्दर्शन भागवत में किया है कि सत्ताधीश उपदेश से नहीं सुधरते, सत्ताशून्य व्यक्ति उपदेश से सुधरता है। सत्ताधीश तो सुधरे ही नहीं, उल्टे उन्होंने श्रीकृष्ण को गालियाँ दी। विदुर से यह सहा नहीं गया, तब उसने कहा, 'आज तक मैं यहाँ राष्ट्र अच्छी तरह से चलना चाहिए' इसलिए बैठा हूँ, परन्तु मैं अब यहाँ नहीं बैठ सकता, कारण अब तो तुम जो मेरा परम पवित्र सम्मान का स्थान है, श्रद्धास्थान है उसे ही गालियाँ दे रहे हो।

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र विधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः।।

जहाँ गुरु की निन्दा होती है वहाँ उसका विरोध करना चाहिए। यदि यह न हो सके तो कान बंद करके बैठना चाहिए और वह भी न होगा तो वहाँ से उठकर दूसरे स्थान पर चले जाना चाहिए।

इस तत्त्व के अनुसार विदुर सब ऐश्वर्य छोड़कर वहाँ से चले गये। यह आश्चर्य की बात है। विदुर हस्तिनापुर के प्रधानमंत्री थे *(He was the Prime Minister of Hastinapur)* केवल मंत्री की कुर्सी मिलने के लिए क्या क्या प्रयत्न करने पड़ते हैं इसका क्या हमें पता नहीं है? उस समय सम्पूर्ण भारत एक ही राज्य था। विदुर सामान्य व्यक्ति

नहीं थे। अमात्यसत्ता व राज्यसत्ता में जब संघर्ष होता है तब राजकीय प्रवाह में कैसी परिस्थिति निर्माण होती है उसका दर्शन महाभारत और भागवत में हैं। कौरव पाण्डवों को लाक्षागृह में जला देना चाहते थे। पाण्डव उसमें से बच गये उसका कारण विदुर थे। विदुर की तेजस्विता व निस्पृहता समझायी है। विदुर जिस स्थान पर बैठे थे वह उनकी नौकरी नहीं थी। सेठ का मानना चाहिए ऐसा बोलनेवाले विदुर नहीं थे। भागवत में विदुर का वर्णन किया गया है। जिसके मुँह से ज्ञान सुनना है उसकी महत्ता बढ़ानी है।

भगवान स्वयं भोजन के लिए विदुर के घर गये। इसका वर्णन महाभारत में आया है। बुलाने के बाद, आमंत्रण देने के बाद, विनती करने पर भी जो भोजन के लिए नहीं आते हैं वे स्वयं विदुर के घर भोजन करने गये हैं! जब भगवान श्रीकृष्ण कौरवों के दरबार में गये तब कौरवो ने उनका शाही सम्मान किया। वह पढ़ने जैसा वर्णन है। श्रीकृष्ण के रहने का प्रबन्ध दु:शासन के महल में किया गया था। इसका कारण दु:शासन का महल सभी के महलों से अच्छा था, अधिक सुविधायुक्त था। इतना अच्छा महल दुर्योधन का भी नहीं था। उसके पीछे राजनीति है। जो राजदूत *(Ambassador)* आता है उसे सौजन्य से कैसे मारना (मन से) यह राजनीति *(Politics)* में आता है। इसका कारण राजदूत का अत्यधिक ठाठमाठ से सम्मान करने के बाद विरोध में बोलने की उसकी हिम्मत ही न हो। कौरवों ने श्रीकृष्ण का जबरदस्त सम्मान किया है। इतना सम्मान मिलने पर भी श्रीकृष्ण को जो कहना था वह सब उन्होंने कहा है। उस समय श्रीकृष्ण किसी के घर भोजन करने नहीं गये। द्रोणाचार्य ने उनसे प्रार्थना की थी कि मैं एक पवित्र ब्राह्मण हूँ, आप मेरे घर ठहरेंगे तो अच्छा होगा, मुझे बहुत आनन्द होगा, परन्तु उनके यहाँ भी श्रीकृष्ण नहीं गये।

निस्पृहता से, राज्य-तृष्णा छोड़कर, ऐश्वर्य को ठुकराकर एकनिष्ठा से जो तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े ऐसे निस्पृह विदुर के घर उस समय श्रीकृष्ण गये। इतना महत्त्व है विदुर का। विदुर का, घर, ऐश्वर्य, प्रधानमंत्रीपद छोड़कर तीर्थयात्रा के लिए चल पड़ने का वर्णन भागवत में है।

जिस विदुर ने प्रधानमंत्री के नाते चतुरंग सैना की सलामी ली होगी, वे अपने साथ एक सादा सैनिक भी न रखकर, साधारण वेश में तीर्थयात्रा करने चल पड़े। हम तीर्थयात्रा करने जाते हैं, तब हमारा शाही ठाठ होता है, बड़े सजधज़ के हम तीर्थयात्रा करते हैं क्योंकि हमारी जेब में पैसा होता है। हम तीर्थयात्रा पैसे से करते हैं। तीर्थयात्रा भिन्न बात है। ज्ञान देना और लेना यह तीर्थयात्रा का महत्त्व है। लोगों का प्रेम देखना और लोगों को अपना प्रेम दिखाना इसके लिए तीर्थयात्रा है। तीर्थयात्रा के दो कारण होते हैं। ज्ञान का आदान-प्रदान करना है। हमारे पास जो ज्ञान होगा वह गाँव के लोगों को देना है और उनसे जो कुछ ज्ञान मिलेगा उसका स्वीकार करना है। उसी प्रकार प्रेम देखना है, लोगों की आँखों में कृतज्ञता और भाव देखना है और अपना प्रेम दिखाना है, व्यक्त करना है। इस प्रकार की तीर्थयात्रा जो व्यक्ति करके आता है, वह शुद्ध बनकर आता है। इसीलिए तीर्थयात्रा करके आने पर उसका पूजन भी होता है। पुराने समय में इस प्रकार

का पूजन होता था। अब तो वापसी टिकट *(Return ticket)* लेकर, जाकर वापस आते हैं। अतः आज तो उसके पूजन का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। भागवत ने उस प्रकार की तीर्थयात्रा समझायी है।

विदुर इस प्रकार की तीर्थयात्रा करने चल पड़े। तीर्थयात्रा के सिलसिले में उन्हें उद्धव मिलते हैं। दोनों एक दूसरे की ओर अश्रुपूर्ण नयनों से देखते हैं। इस मिलन का जो वर्णन भागवत में लिखा है उसे पढ़कर हृदय भावभीना बनता है। दो पण्डित एक दूसरे से मिलते हैं तब एक-दूसरे पर भौंकने लगते हैं, दो धनवान आपस में मिलते हैं तो असूया करने लगते हैं, परन्तु जब दो सच्चे भक्त मिलते हैं तब उनका मिलन कैसा होता है इसका वर्णन भागवत में किया गया है।

विदुर और उद्धव एक दूसरे से गले मिलते हैं, अश्रुपूर्ण नयनों से देखते हैं। भगवन्निर्भरता आने पर यह गुण अपने आप आता है। विदुर उद्धव से कुशलता पूछते हैं। कुशलता कैसे पूछनी चाहिए इसका भी मार्गदर्शन भागवत करता है।

रघुवंश में, वरतन्तु का शिष्य कौत्स रघुराजा से मिलने आता है, तब रघुराजा आश्रम के सम्बन्ध में कुशलता पूछता है। कितने प्रेम से रघुराजा कुशलता पूछता है इसका वर्णन रघुवंश में पढ़ेंगे तभी पता चलेगा। कालिदास की लेखनी ही वह वर्णन लिख सकती है। कालिदास का लेखन काबुली अंगूर के जैसा है। मुँह में डालने पर जैसा लगता है वैसा कालिदास का लेखन पढ़ने से लगता है। वह अति सुन्दर वर्णन है।

वैसे ही कुशलता विदुर उद्धव से पूछते हैं। वे सामान्य प्रश्न नहीं पूछते हैं कि गुड़ मिलता है या नहीं? मिट्टी के तेल का क्या प्रबन्ध है? ऐसे प्रश्न नहीं है। विदुर पूछते हैं, 'क्या वह वैभव कायम है?' क्योंकि विदुर वैभव को छोड़कर तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े तब से उन्हें कोई जानकारी नहीं थी। उद्धव कहते हैं,-

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्।। (भा. ३-२-७)

जिसके घर से श्री और वैभव चले गये हैं, उसकी कुशलता तुम क्यों पूछते हो? जीवन में से श्रीकृष्ण के चले जाने पर, उनका उपदेश चले जाने से जीवन ही स्मशानवत् बन जाता है। श्रीकृष्ण ने जो राजनीति की, उन्होंने जो समाजशास्त्र उठाया, मानसशास्त्र का विचार किया यह सब यदि छोड़ देंगे तो समाज स्मशानवत् बन जायेगा ऐसा उद्धव के कहने का आशय है।

श्रीकृष्ण ने सौराष्ट्र की भूमि पर देहोत्सर्ग किया, उस समय का वर्णन उद्धव करते हैं। वे कृष्ण के मनोहारित्व, बुद्धिचातुर्य, वर्तनचातुर्य का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि ऐसे कृष्ण इस जगत् को छोड़कर चले गये।

ज्ञान का महत्त्व बढ़ाना है इसलिए यह कथा आयी है। लोगों का मानसशास्त्र देखकर भागवत लिखा गया है। भागवत लिखनेवाले केवल तत्त्वज्ञानी *(philosopher)* नहीं है। वह तत्त्वज्ञानी और शिक्षाशास्त्री *(philosopher cum Educationist)* है। केवल तत्त्वज्ञानी लोगों को खड़ा नहीं कर सकता। बर्क्ले *(Burkley)* यही कहता है। मनुष्य को खड़ा करना भिन्न ही बात है। उसके लिए हृदय में भाव होना चाहिए। इसलिए जो तत्त्वज्ञानी तथा शिक्षाशास्त्री है, वही यह काम कर सकता है।

उद्धव ने कृष्ण के मनोहारित्व, बुद्धिचातुर्य, वर्तनचातुर्य का वर्णन किया। वह वर्णन करते करते उद्धव का हृदय भर आया और आँखों से आनंदाश्रु बहने लगे। कृष्ण के सम्बन्ध में कहना है, सुननेवाले विदुर हैं और कहनेवाले उद्धव हैं, कितना महत्त्व है इसका! नहीं तो आज, सुनाता है गंगाचरण, सुनता है भगवतीचरण! फिर क्या कहना? उन्हें थोड़ा समय मनोरंजन करना है, दोनों को समय बिताना है ऐसा चल रहा है। उद्धव जो वर्णन करते हैं वह बहुत ही सुन्दर है। आँखों के सामने एक चित्र खड़ा किया है उन्होंने! उद्धव कहते हैं, 'धर्मराज ने जब राजसूय यज्ञ किया था तब वहाँ खड़े कृष्ण भगवान का जो मनोहारी रूप था जब उसका विचार करता हूँ तब मेरी दृष्टि उसी रूप में स्थिर हो जाती है।'

उद्धव ने राजसूय यज्ञ का वर्णन किया है। किसलिए? उनको श्रीकृष्ण भगवान के चरित्र द्वारा कुछ समझना है। राजसूय यज्ञ में खड़े कृष्ण मनोहारी लगे, तो जब वे गुल्ली डण्डा खेलते थे तब क्या मनोहारी नहीं थे? उद्धव राजसूय यज्ञ में खड़े श्रीकृष्ण के मनोहारित्व का वर्णन करते हैं। उसमें उन्हें विदुर को दो बातें कहनी हैं। धर्मराजा ने राजसूय यज्ञ किया। उसमें भगवान स्वयं यजमान बने हैं। किसीके बनाये हुए यजमान नहीं थे वे! कृष्ण कौन थे? भगवान थे! राजसूय यज्ञ किया पांडवों ने, परन्तु वह था कृष्ण का! मनोहारित्व कब आता है? कर्तृत्त्व, बुद्धिमान व कुशलता का संयोग होने पर मनोहारित्व आता है। वैसे तो व्यापारी के पास भी बुद्धिमत्ता होती है, कर्तृत्त्व भी होता है, उसने तीन फैक्ट्रियाँ खोली हैं। उसके पास क्या कर्तृत्त्व और कुशलता नहीं हैं? अवश्य! हैं परन्तु वह पारिवारिक सुख के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। कर्तत्त्व, बुद्धिमत्ता और कुशलता जब सर्वपरायण बनते हैं और पृथ्वी पर सुख लाने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं, दूसरों का विकास, मानव की उन्नति के लिए उपयोग में लाये जाते हैं तब उनमें वैश्विक मनोहारित्व आता है।

मनोहारी किसे कहते हैं यह उन्होंने लिखा है। जो परविकासपरायण हैं, जो अपना कर्तृत्त्व, बुद्धिमत्ता और कुशलता प्रत्येक मनुष्य को सुखी बनाने में प्रयुक्त करते हैं, वे मनोहारी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कृष्ण ने रचनात्मक *(Constructive)* काम किया है। वह समझाने के लिए उद्धव ने राजसूय यज्ञ के समय के कृष्ण के मनोहारित्व का वर्णन किया है।

कृष्ण भगवान ने कुछ रचनात्मक काम किया है। आज के पढ़े-लिखे लोग हमें पूछते हैं कि कृष्ण भगवान ने कितने ही लोगों को क्यों मारा? उन्हें समझाकर बदला क्यों नहीं? इस प्रकार पूछनेवालों को कुछ सोचना भी नहीं है, कुछ देखना भी नहीं है, जानना भी नहीं है। केवल पूछना ही है। कुछ लोग तो स्वयं अपने प्रश्न नहीं पूछते। तैयार प्रश्न *(Readymade Questions)* ही पूछते हैं। उनका जबाब भी तैयार ही रहता है। तैयार प्रश्न व उनके तैयार उत्तर ये दोनों तैयार कपड़े जैसे होते हैं। तैयार कपड़ा किसी दिन ठीक नहीं बैठता। इसी प्रकार किसी ने किसी मासिक पत्रिका में प्रश्न उठाया होगा, उसे पूछते हैं। उनके दिमाग में कुछ उत्तर नहीं बैठता है। इसका कारण प्रश्न इनके दिमाग में उत्पन्न नहीं हुआ है।

कितने ही लोग पूछते हैं कि कृष्ण भगवान ने सभी को क्यों मारा? सुधारा क्यों नहीं? उन्हें पूछना चाहिए कि 'क्या तुमने कृष्ण भगवान का चरित्र पढ़ा है?' राजसूय यज्ञ का महत्त्व क्यों है? कृष्ण भगवान ने रचनात्मक काम किया है। उसीके लिए कृष्ण भगवान ने प्रथम विभाजन *(Partition)* स्वीकारा है। भारत का प्रथम विभाजन कृष्ण भगवान ने किया है और उसके बाद १९४७ में हमने किया है। कृष्ण भगवान ने विभाजन को क्यों स्वीकार किया? उन्हें कुछ करके दिखाना था। विभाजन में पाण्डवों के हिस्से में बिल्कुल अविकसित *(Undeveloped)* भूमि आयी थी। कृष्ण भगवान ने पांडवों से कहा, 'कोई बात नहीं, स्वीकार कर लो। जो मिला है उसे स्वीकार करो।' उसके बाद उस प्रदेश का विकास किया। उसके लिए ही खाण्डव जलाना पड़ा। यह कोई लीला नहीं थी। पुनर्निवास *(Rehabilitation)* के लिए करना पड़ा।

पांडवों को कुछ वित्त देना था। परन्तु कैसे देना? पाण्डव क्षत्रिय थे। पुराने समय क्षत्रिय किसीकी मदद नहीं लेते थे। कृष्ण भगवान जानते थे कि पाण्डव क्षत्रिय होने के कारण दिये हुए वित्त का स्वीकार नहीं करेंगे। क्षत्रियों में कुछ विशिष्ट गुण होते हैं, कुछ चरित्र होता है। एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की मदद करनी चाहिए। हमारे राष्ट्र में तो दूसरे राष्ट्र के लोग आते हैं और मदद देते हैं! अच्छा मंत्री कौन? जो अधिक सहायता लाता है वह! जो अधिक भीख लाता है वह अच्छा मिनिस्टर माना जाता है। एक ही आवाज़ सुनायी देती है, "मदद दो! मदद दो!'

कृष्ण भगवान को पाण्डवों को खड़ा करना था। पाण्डवों को वित्त की आवश्यकता होगी। नहीं तो अविकसित पिछड़े हुए विभाग का विकास कैसे कर सकेंगे? राज्य भी कैसे खड़ा करेंगे? उसके लिए उन्हें वित्त देना चाहिए। पाण्डव इस रीति से वित्त का स्वीकार नहीं करेंगे! तो क्या करना चाहिए? यह प्रश्न खड़ा हुआ। उस समय वृष्णिसंघ सम्पन्न संघ था। उसे पाण्डवों को वित्त देना था, परन्तु दें कैसे? सुभद्रा का विवाह इसी कारण अर्जुन के साथ कराया। यह राजकीय विवाह *(Political marriage)* है। अर्जुन-सुभद्रा का प्रेम भी होगा। मुझे पता नहीं है। कृष्ण भगवान ने उसमें सक्रिय भाग लिया इसका कारण यही था कि सुभद्रा का अर्जुन के साथ विवाह कराकर वृष्णिसंघ अरबों रुपये उसे दे सके। क्यों?

पुनर्निर्माण *(Reconstruction)* के लिए। उसके बाद पाण्डवों ने उन्नीस वर्षों में कायापलट कर दिया। अच्छे से अच्छा राज्य खड़ा कर दिखाया। लोगों की मनोवृत्ति बदल दी। शिक्षणव्यवस्था में भी परिवर्तन किया। कृष्ण भगवान ने जो रचनात्मक काम किया उसकी ओर कोई देखता ही नहीं। केवल कृष्ण ने सबको क्यों मारा? लड़ाई-किसलिए की? उनको सुधारना चाहिए था, ऐसा बोलते हैं! कृष्ण भगवान ने उन्नीस वर्षों में एक लोकोत्तर प्रयोग किया है। उन्होंने समाज में कितनी नीतिमत्ता लायी थी। देनेवाले और लेनेवाले किस वृत्ति के थे, इसका उसमें वर्णन है। सम्पूर्ण राज्य का स्वरूप बदलने के बाद उन्होंने राजसूय यज्ञ किया। ऐसे राजसूय यज्ञ में भगवान श्रीकृष्ण मुझे मनोहारी लगे ऐसा वर्णन उद्धव ने किया है। वह मनोहारित्व अलौकिक है। उद्धव कहते हैं, 'विदुर! ऐसा मनोहारित्व अब मुझे फिर से देखने को नहीं मिलेगा!' विदुर कानों में प्राण लाकर सुनते हैं और पूछते हैं, "क्या इतना पराक्रम कृष्ण ने किया? क्या ऐसा लोकोत्तर प्रयोग उन्होंने किया? उद्धव सब कहते जाते हैं और विदुर सुनते हैं।

उद्धव फिर कहते है, 'विदुर! मेरी आँखों के सामने कृष्ण की दूसरी मूर्ति खड़ी रहती है। कौन सी मूर्ति? कृष्ण का प्रेमपूर्ण हास्य और लीला देखकर उनके जिस रूप में व्रजांगनायें तल्लीन हुई थी वह रूप!' इस प्रकार कृष्ण के दो रूप उद्धव ने चित्रित किये हैं। इसमें सम्पूर्ण इतिहास आ जाता है। कृष्ण भगवान ने गोपियों को सुधारा। स्त्री-सुधार करने के बाद, समाजसुधार हो सकता है यह एक बहुत बड़ा सिद्धान्त समझाया है। प्रथम स्त्री-सुधार होना चाहिए। गीता में भी प्रथम यही प्रश्न है। अर्जुन ने भगवान से यही कहा है कि स्त्री जब स्थान छोड़ देती है तब सभी समाप्त हो जाता है- **'स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।'** केवल भारत में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानवसमाज में स्त्री का महत्त्व अलौकिक है। प्रथम स्त्रीसुधार करना चाहिए। श्रीकृष्ण ने उसका एक प्रयोग गोकुल में किया। कृष्ण जब छोटे थे तब वह प्रयोग किया है। बड़े होने पर यदि वे स्त्रियों के बीच में जाकर बैठते तो गलतफहमियाँ खड़ी होतीं। इसलिए कृष्ण जब छोटे थे, तब उन्होंने गोपियों को उठाया है, उनको समझाया है। यह मार्ग अपनाकर उन्होंने प्रत्येक घर सुधारा है।

विक्रेतुकामा किल गोपकन्या मुरारिपादार्पितचित्तवृत्तिः।
दध्यादिकं मोहवशादवोचद् गोविन्द दामोदर माधवेति।।

स्त्रियों को बदलने के बाद, मानव-समाज किस प्रकार बदल सकता है इसकी शिक्षा व दीक्षा कृष्ण ने दी है। उद्धव ने इन दो रूपों का वर्णन करके कहा, 'विदुर! यह जो रूप है वह मेरी आँखों के सामने से खिसकता ही नहीं है।' उद्धव वर्णन करते हैं और विदुर कानों में प्राण लाकर सुनते हैं। कृष्ण भगवान का शान्त रूप महात्माओं के लिए था और उनका अघोर रूप पापियों और असुरों के लिए था।

उद्धव फिर कहते हैं कि इतना महान् चरित्र लेकर भगवान आये, परन्तु दुर्योधन आदि ने भगवान को नहीं पहचाना। जीवन में से जब कृष्णलीला चली जाती है तब जीवन समाप्त

हो जाता है। कृष्णलीला का अर्थ कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन, उनका उपदेश है। महाप्रभुजी ने लीला की, इसमें लीला शब्द का अर्थ है जीवन! श्रीकृष्ण भगवान का प्रभावी जीवन यदि व्यक्ति या समाज के जीवन में से चला जायेगा तो उन व्यक्तियों और समाज का जीवन ही समाप्त हो जाएगा। कृष्ण भगवान को न तो मानवों ने पहचाना न यादवकुल ने पहचाना, और न सम्बन्धित लोगों ने पहचाना। उसमें, लोग मूर्ख थे। उनसे भी अधिक कृष्ण की व्यावहारिक चतुरता थी ऐसा उद्धव कहते हैं। अपना प्रभावी रूप छिपाकर किस रीति से काम करना यह श्रीकृष्ण ने करके दिखाया है।

उसके बाद यादव उन्मत्त बने, समझ नहीं सकते थे। इसलिए कृष्ण भगवान वहाँ से निकल पड़े हैं, इसका बहुत ही सुन्दर वर्णन उद्धव ने किया है। यादवों के उन्मत्त बनने के बाद जब श्रीकृष्ण वहाँ से निकल पड़े तब मैं उनके पीछे पीछे जाने लगा। भगवान शान्ति से बैठे थे, तब उनके पास मैत्रेय आये। यह सब नाटकीय दृश्य उद्धव खड़ा करते हैं। अब तक ज्ञान की बात तो आनी बाकी है। ज्ञान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं होगा, जितनी महत्त्वपूर्ण कहानी है। ज्ञान आनेवाला ही है, परन्तु कथा उस ज्ञान का महत्त्व बढ़ाती है।

उद्धव कहते हैं कि भगवान शान्ति से बैठे थे। वहाँ ज्ञानी भक्त मैत्रेय आये। भगवान उनके साथ बातें करते हैं। मैत्रेय ज्ञानी भक्त हैं। भक्त भिन्न, कर्मयोगी भिन्न, ज्ञानीभक्त भिन्न! ज्ञानी भक्त के जीवन में ज्ञान, भाव और प्रभाव, सभी का मिश्रण होता है। ऐसा ज्ञानीभक्त मैत्रेय आकर बैठा है और भगवान उसके साथ बोलते हैं। किसके साथ बोलते हैं? ज्ञानी भक्त के साथ! जिस प्रकार का व्यक्ति आता है वैसा ही कथन होता है।

मैं बहुत बार कहता हूँ कि शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य और भक्तिरसायन लिखनेवाले मधुसूदन सरस्वती जैसे महान् भक्त बैठे हों और भक्ति पर चर्चा कर रहे हों, ऐसे में मुझ जैसे को भीतर झांककर वह सुनने का सौभाग्य मिल जाय तो? तो **'परिहसति निर्वाणपदवीम्'** मुक्ति भी उसके सामने तुच्छ लगेगी।' कृष्ण भगवान मैत्रेय को ज्ञान देते हैं, समझाते हैं, उस समय उद्धव कहते हैं, विदुर! तुम्हें क्या कहूँ? प्रारब्धवशात् मैं भी वहाँ पहुँच गया। इसमें भी उद्धव अपनी चतुरता नहीं बताते। 'प्रारब्धवशात् मैं वहाँ पहुँच गया' ऐसा कहते हैं। उद्धव कहते हैं, 'सारा ज्ञान सुनकर मेरे कान तृप्त हो गये।'

विदुर कान में प्राण लाकर पूछते हैं, भगवान ने मैत्रेय से क्या कहा?"

तब उद्धव कहते हैं, 'भगवान ने देहोत्सर्ग करने से पहले कहा कि मेरा भक्त विदुर मुझे मिला नहीं है। यह जो ज्ञान है वह तुम विदुर को दे दो' इसका अर्थ भगवान कृष्ण ने देहोत्सर्ग किया तब वे विदुर का चिन्तन करते थे! **'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्-'** किसलिए? विदुर क्या हाथ में माला लेकर 'राम, राम' जपते थे? ऐसा जो

पंगु है, जिसकी पीठ टूट गयी है, उसका चिन्तन क्या भगवान करें? नहीं! भगवान कहेंगे, तू दूसरा जन्म ले और अच्छी तरह से तेजस्वी भक्ति कर।'

दुर्योधन, दु:शासन जैसे लोगों के बीच में नित्य रहकर भी कभीं ललचाया नहीं, जिसने वृत्ति को बनाये रखा, ऐसे विदुर पर मेरा सबसे अधिक प्रेम है। कृष्ण भगवान यहाँ निश्चित रूप से समझाते हैं कि मैं क्या देखता हूँ? कोई मेरा कितना वर्णन करता है यह मैं देखनेवाला नहीं हूँ। सुख दु:ख में उसकी वृत्ति कैसे रही, यही मैं देखता हूँ। विदुर ने अपनी वृत्ति बनाये रखी इसलिए मेरा उस पर प्रेम है, इसीलिए यह ज्ञान उसे कहना है।' तब मैंने पूछा, 'यह ज्ञान कौन कहेगा?' उस समय टेपरेकार्डर थोड़े ही था? तब भगवान ने कहा,'' ज्ञान मैत्रेय ही कहेंगे। मैत्रेय ऋषि को यह कार्य सौंपा है इसलिए मैं तुम्हें वह नहीं कह सकता। अत: उद्धव ने विदुर को ज्ञान नहीं कहा। ऐसा करने से ज्ञान का महत्त्व बढ़ता है, वैसे ही जो ज्ञान कहनेवाला है उसका महत्त्व बढ़ाते हैं। ज्ञान का महत्त्व बढ़ाने का यह मानसशास्त्रीय तरीका *(Psychological Treatment)* है।

उद्धव विदुर को ज्ञान नहीं कहते हैं। वे कहते हैं, 'यह ज्ञान तुम्हें मैत्रेय से ही मिलेगा। वह ज्ञानी भक्त है न!' यह सुनकर कि भगवान, जगत् को छोड़कर जाते समय मुझे ही याद कर रहे थे, विदुर को कितना आनन्द हुआ होगा? वे तुरन्त बदरीकाश्रम चले गये। वहाँ मैत्रेय थे, जिनसे उन्हें ज्ञान मिला। वह सब ज्ञान तृतीय स्कन्ध में है।

तृतीय स्कन्ध में सृष्टि की उत्पत्ति समझायी है। भगवान शेष के ऊपर निद्रा ले रहे हैं। भूतमात्र सूक्ष्म रूप से उनमें ही विलीन हो गये हैं। भूतों के पुराने कर्म फलोन्मुख हुए हैं, अत: सृष्टि का सर्जन प्रारंभ होता है। यह कहने में, दार्शनिक लोगों को प्रथम सृष्टि कैसे निर्माण हुई इस सम्बन्ध में ही सन्देह है। **'यः कल्पःस कल्पपूर्वः'** इसकी स्वीकृति भागवत ने मानी है। कल्पक्षय होने के बाद नया कल्प शुरु होता है। उसमें वेद भी नये नहीं है और कुछ नया नहीं है। **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** ऐसा कहा गया है।

उसके बाद भगवान ने ब्रह्मदेव को उत्पन्न किया ऐसा भागवतकार लिखते हैं। ब्रह्मदेव को उत्पन्न करके उनको सृष्टि का सर्जन करने की आज्ञा दी। ब्रह्मदेव चारों ओर देखने लगे कि मुझे क्या करना है? इनके चार मुख आ गये। इसका कारण चारों ओर देखने के लिए उनके मुँह तो होने चाहिए न? देखने के लिए चार मुख होते हैं उसे राजनीतिज्ञ *(statesman)* कहते हैं। चार मुख होने पर भी ब्रह्मदेव को समझ नहीं पड़ा कि उन्हें क्या करना है! उन्होंने भगवान से पूछा 'मुझे क्या करना है?' तब भगवान ने कहा, 'तुम्हें सृष्टि निर्माण करनी है।' ब्रह्मदेव ने पूछा, 'सृष्टि किस प्रकार निर्माण करनी है।' भगवान ने कहा, तप करो। तुम्हारा तप जितना बढ़ता जायेगा, उतनी तुम्हें दृष्टि मिलती जायेगी। इसलिए तप करो।' वास्तव में ब्रह्मदेव को 'तप करो' कहने की आवश्यकता नहीं थी। कारण ब्रह्मदेव को जिसने निर्माण किया उसने उसे शक्ति दी ही होगी और उसे मालूम ही होगी। क्या करना

है, कैसे करना है इसकी निश्चित योजना है। दार्शनिक दृष्टि से **'यः कल्पः स कल्पपूर्वः'** यानी उसका निश्चित रूप है, फिर भी 'तप करो' ऐसा कहा है। किसलिए? भागवत को कल्पतरुवाद स्वीकारार्ह नहीं है। भारतीय संस्कृति को कल्पतरुवाद मान्य नहीं है।

कल्पतरुवाद का अर्थ है कि इच्छा करते ही तुरन्त उसका फल मिलना। हमारी संस्कृति को यह मान्य नहीं है। लोगों को आज भगवान, अध्यात्म सभी तुरन्त चाहिए। तीन मिनट में समाधि लगनी चाहिए। मुझे लगता है कि समाधि लगाने में तीन मिनट भी क्यों लगते हैं? सभी तुरन्त के पीछे दौड़ते हैं। ये लोग विकासशील मानव नहीं हैं। जो विकासशील मानव होगा उसे तप पर प्रेम करना चाहिए। हमें समझाने के लिए भगवान ने ब्रह्मदेव को 'तप करो' ऐसा आदेश दिया है। 'इच्छा होते ही फल मिला' इस विचार को तोड़ना है, छोड़ देना है इसलिए यह बात खड़ी की है। अन्यथा ब्रह्मदेव को क्या पता नहीं था कि क्या करना है? क्या ब्रह्मदेव उनका ही रूप नहीं थे। थे, फिर भी उन्हें 'तप करो' ऐसा कहा।

तप में क्या आता है? विचारपूर्वक कृति और फल के लिए प्रतीक्षा करने की वृत्ति। ये दो बातें तप में आती हैं। तप के लिए संकल्प करना पड़ता है। संकल्प करके जो होता है उसे तप कहते हैं। विचारपूर्वक कृति करना और फल मिलने तक ठहरना है। ठहरने की शिक्षा मिलनी चाहिए। इच्छा हुई और फल मिला यह नहीं चलता। ठहरने की *(wait* करने की) शिक्षा जिसे नहीं मिलती वह जीवन में सफल नहीं होता।

पिता लड़के के ऊपर बहुत प्रेम करता है। लड़के ने चोकलेट माँगा कि तत्काल देता है। पिता को कहना चाहिए कि चोकलेट कल मिलेगा, आज नहीं! अंग्रेजी में एक कहानी है। लड़का मुरब्बा माँगता है तब माँ कहती है, *'Jam yesterday, jam tomarrow, no jam today*।' इसका अर्थ यह है कि ठहर जा, *wait*। यह ठहरने की शिक्षा मिलनी चाहिए।

विचारपूर्वक कृति और फल के लिए ठहरने की वृत्ति होती है तब तप होता है, और उसका फल मिलता है। तप केवल शारीरिक नहीं होता। तप बौद्धिक व मानसिक भी होता है। उसके लिए भी इन दोनों बातों की आवश्यकता होती है। 'तप करो' ऐसा कहने के बाद ब्रह्मदेव को तप करना चाहिए या नहीं यह भिन्न बात है, परन्तु हमें शिक्षा देना है कि किसी भी कृति का फल मिलने में समय लगता है। उसके लिए ठहरना चाहिए, ठहरने की तैयारी होनी चाहिए। हम ज्येष्ठ महीने में बोते हैं तो अश्विन महीने में हमें फल मिलता है। ठहरने की वृत्ति होनी चाहिए। आज हमारी ठहरने की तैयारी नहीं है। एकाध दिन स्वाध्याय किया कि दूसरे दिन क्या लाभ हुआ यह देखने लगते हैं। ठहरने की तैयारी को ही तप कहते हैं। ठहरने के बाद कुछ मिलता है, इसलिए तप का महत्त्व बहुत सुन्दर ढंग से समझाया है। उसके लिए कुछ श्लोक लिखे हैं। नाट्यात्मक ढंग से कुछ खड़ा किया है।

ब्रह्मदेव पूछते हैं कि 'क्या करूँ' तो भगवान कहते हैं, 'तप करो।' यह शिक्षा ब्रह्मदेव को नहीं है, हमें है। ब्रह्मदेव को शिक्षा की आवश्यकता नहीं है।

अर्जुन को सामने रखकर गीता कही है, वह उपदेश हमारे लिए है। वैसे ब्रह्मदेव को सामने रखकर हमें उपदेश करते हैं कि 'तप करो।' बिना तप के जो मिलेगा उसका स्वीकार नहीं करना चाहिए। तप के बिना कुछ नहीं मिलता। तप के बिना कुछ मिलता है तो वह कदाचित् पूर्वजन्म का फल होगा। कितने ही लोग जन्म से ही विकसित होते हैं। उन्होंने पिछले जन्म में तप किया होगा, परन्तु तप की तैयारी होनी चाहिए यह यहाँ समझाया है।

मैं छोटा था, तब मुझे यह पढ़कर लगता था कि ब्रह्मदेव को भगवान ने उत्पन्न किया। फिर ब्रह्मदेव उलझन में कैसे आये? वे तो भगवान हैं। मैंने दादी से पूछा कि यह कैसे हो सकता है? ब्रह्मदेव को भी तप करना पड़ता है तो वे ब्रह्मदेव कैसे? दादीमाँ ने कहा, 'हाँ! ब्रह्मदेव को भी तप करना पड़ता है। तप के बिना कुछ नहीं मिलता यह समझाने के लिए यह लिखा है।'

तप में क्या चाहिए? शारीरिक तप है वैसे भीतर की एक मनोवृत्ति है। विचारपूर्वक कृति और फल के लिए ठहरने की वृत्ति ये दो बातें जीवन में आयीं तो उसे तप कहते हैं। इच्छा व सिद्धि इनके बीच में जो समय है उसे तप कहते हैं। इस प्रकार तप करने का आग्रह भगवान ने भागवत में समझाया है।

परिपूर्णता का ज्ञान व तृप्तता का अनुभव ये दो बातें कृति को बंद करती हैं। भगवान को तो कृति करनी है, फिर सृष्टि के प्रारंभ में कृति कैसे हो गयी? इसलिए अज्ञान पैदा किया, ऐसा लिखा है। भगवान ने अज्ञान पैदा किया। कृति की नींव में अज्ञान है ऐसा एक विचार भागवतकार ने दिया है। ब्रह्मदेव ने प्रथम क्या निर्माण किया? अज्ञान! अज्ञान का अर्थ क्या है? आज हम सब ज्ञानी हैं और तृप्तता का अनुभव नहीं है। यही अज्ञान है।

अज्ञान के जीवन पर कितने ही परिणाम होते हैं। भगवान को सृष्टि में प्रथम कुछ कृति करनी चाहिए। कितना शास्त्रीय लेखन है यह! कृति की नींव में अज्ञान होना चाहिए। समझ लीजिए कि आप परिपूर्ण हैं, तृप्त हैं, तो आपसे कृति होगी ही नहीं! इसलिए अपरिपूर्णता लगनी चाहिए और अतृप्तता भी होनी चाहिए तभी कृति शुरु होती है। भगवान ने अज्ञान निर्माण किया, फिर अज्ञान का रूप दिखाया। अज्ञान की अन्धतामिश्र, तामिश्र, महामोह, मोह, तम ये वृत्तियाँ हैं। अज्ञान की ये वृत्तियाँ निर्माण होने के बाद व्यक्ति की कृति के लिए भीतर इच्छा निर्माण हुई, तीव्रतम कामना निर्माण हुई और फिर वह समझाने के लिए चार वेदों का निर्माण किया। जिसने व्यक्ति को बनाया उसको ही दिखाना चाहिए कि जीवन कैसा होना चाहिए। अर्थात् जीवन प्रणाली *(way of life)*, विचार प्रणाली *(way of thinking)* और भक्तिप्रणाली *(way of worship)* ये तीनों मिलकर संस्कृति *(culture)* खड़ी होती है। मनुष्य दो पैरों पर चलता है उस पर से उसकी संस्कृति निश्चित नहीं होती।

कौआ भी दो पैरों पर ही चलता है। दो पैरों पर चलना मानव-संस्कृति *(Human culture)* नहीं है।

कोई भी मानववंश *(Human Race)* हो, उसकी तीन बातें जाँचकर देखनी चाहिए। जीवन प्रणाली, विचार प्रणाली तथा भक्ति प्रणाली। मानव समाज कितना भी (भौतिक अथवा तांत्रिक दृष्टि से) विकसित क्यों न हुआ हो, वह सांस्कृतिक दृष्टि से कितना विकसित हुआ है यह देखना चाहिए। वेदों ने यह समझाया है। वेदों ने संस्कृति समझायी है, उसके बाद विकास समझाया है। भारतीय लोगों का ज्ञान कितना परिपूर्ण था! यह एक ऐसी दृष्टि है जिसमें विकास समझाया है।

बहुत समय से ऐसा एक विचार चल रहा था कि पृथ्वी पर घन, द्रव्य और वायु त्रिविध पदार्थ हैं। उसके बाद उनका पृथक्करण करने लगे। वायु का पृथक्करण किया तो उसमें हाईड्रोजन, ओक्सिजन और नाइट्रोजन मिलते हैं। दूसरा एक सृष्टि का पृथक्करण हुआ। उसमें सोना, चाँदी, पारा, लोह, सोडियम पोटेशियम् ऐसे द्रव्य मिले। उनको मूलद्रव्य माना गया। थोड़े समय के बाद वैज्ञानिकों को पता चला कि ये मूलद्रव्य नहीं है, अपितु संयोगरूप द्रव्य हैं। आज की भाषा में कहना हो तो उपरोक्त पदार्थ भी मूलद्रव्य *(Element)* नहीं हैं, रासायनिक संयोग *(Chemical Compound)* हैं, इन सबका मूलद्रव्य *(Element)* क्या है? इलेक्ट्रोन्स *(Electrons)!* ये जो ईलेक्ट्रोन्स या *Ion* है, वह स्वयंसिद्ध है ऐसा लगता था, परन्तु पता चला कि यह भी स्वयंसिद्ध नहीं है। यह इथर *(Ether)* से हुआ है, आकाश नामक द्रव्य से पैदा हुआ है और आकाश इथर का रूप लगता है। इथर यह आकाश नामक द्रव्य को घूमने के लिए अथवा घुमाने के लिए कोई होना चाहिए। उसे घुमाने के बाद इथर आकाश पैदा होता है, ऐसी एक विचारधारा भागवत में उठायी गयी है, उसीको उत्क्रान्ति तत्त्व की विचारधारा कहते हैं।

अब इस तमस का अर्थ क्या है? प्रतिक्रिया की अशाक्यता, प्रतिवादक्षमता? जो प्रतिक्रिया नहीं करता उसे खनिज कहा जाता है। तमस यह गुण खनिजों में है। उसीको जड़ कहते हैं। भागवत ने खनिज पदार्थ स्वीकारा है, परन्तु खनिज में चैतन्य है ऐसा कहा है। अब तक विदेशी लोग डायलेक्टिकल पद्धति *(Dialectical method)* मानते थे। अब अणु *(Atom)* में चैतन्य मिला। अणु में भी चैतन्य है यह मान्य हुआ। अब जड़ व चेतन *(Matter and Spirit)* ऐसे दो भाग नहीं रहे। अब वे लोग डायलेक्टिकल पद्धति बिठाकर दिखा दें! जिसे जड़ पदार्थ कहा जाता है उसमें भी चैतन्य है यह विचार भागवत ने स्वीकारा है। भागवत ग्रंथ इतना विकसित है।

खनिज पदार्थ निर्माण होने के बाद वनस्पतिसृष्टि तथा प्राणीसृष्टि निर्माण होती हैं। उसके बाद मनुष्यसृष्टि और उसके बाद देवसृष्टि निर्माण होती है ऐसी एक उत्क्रान्ति की सीढ़ी दिखायी भी है। जिस प्रकार खनिज में चैतन्य है वैसे ही वनस्पति में भी चैतन्य है ऐसा माना है। *Responding Living and non-living* नामक एक ग्रंथ है। उसमें वनस्पति में प्रतिवाद तत्त्व है ऐसा माना है। हमारे देश का ही संशोधन है। इस देश में संशोधन

प्रथम हुआ। डॉ. जगदीशचन्द्र बोस ने यह संशोधन किया है। जिस प्रकार वनस्पत्ति में प्रतिवादतत्त्व है वैसे ही खनिजों में भी प्रतिवादतत्त्व है ऐसा भागवत में लिखा हुआ है। प्रतिवाद यानी प्रत्युत्तर *(Reaction-response)* दे सकता है। खनिज में भी यह गुण है। वृक्ष-वनस्पतियों में प्राण है ऐसा आरंभ में कहते थे! तब डॉ. बोस का जन्म नहीं हुआ था। तब तक हमें भी लगता था कि यह सब सृष्टि जड़ है। डॉ. बोस के *Responding Living and non-living* ग्रंथ के संशोधन से सिद्ध हुआ है कि वनस्पतियों में भी प्राण है। वनस्पति पर आघात हुआ तो वनस्पति प्रत्युत्तर दे सकती है और देती है। वैसी ही स्थिति खनिज के सम्बन्ध में है। वनस्पति में अन्नप्रवाह नीचे से ऊपर की ओर जाता है ऐसी उत्क्रान्ति तत्त्व में मान्यता है। वैसी ही मान्यता भागवत में है। उत्क्रान्तिवाद की मान्यता अब खण्डनीय है।

वनस्पति में अन्नप्रवाह नीचे से ऊपर जाता है, प्राणियों में अन्न प्रवाह टेढ़ा जाता है और मनुष्य में ऊपर से नीचे अन्नप्रवाह आता है। वनस्पति के लिए उत्स्रोतस् शब्द प्रयुक्त किया गया है। प्राणियों को तिर्यकस्रोतस् तथा मनुष्यों को अर्वाकस्रोतस् कहते हैं। ये पारिभाषिक *(Technical)* शब्द हैं। उत्स्रोतस् यानी वनस्पति, तिर्यकस्रोतस् यानी प्राणी और अर्वाकस्रोतस् यानी मनुष्य। भागवत का अध्ययन करते समय उसके पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना चाहिए और उत्क्रान्तिवाद का अभ्यास होगा तभी मालूम पड़ेंगे। इसलिए भागवतकार भी कहते हैं कि पुराण होगा उसमें भी **'विद्यावतां भागवते परीक्षा'** जिसे उत्क्रान्तितत्त्व का ज्ञान नहीं होगा वह इस विषय को लाँघकर आगे बढ़ेगा।

उत्क्रान्ति-तत्त्व की मान्यता भागवत ने स्वीकार की है यह गौरव की बात है। उत्क्रान्तितत्त्व सत्य है या नहीं यह भिन्न बात है। परन्तु हमारे देश में, पुराणों में भी उत्क्रान्तितत्त्व को स्वीकार किया है। केवल इतना ही नहीं, उसकी सीढ़ी भी दिखायी है। मैं बाइबल में कुछ कमी है इसलिए नहीं कहता हूँ, परन्तु बाइबल को दार्शनिक ग्रंथ-दर्शनशास्त्र नहीं कहते। जिन्होंने बाइबल पढ़ा होगा, उन्हें मालूम होगा कि पवित्र बाइबल *(Holy Bible)* में जो सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन है उसमें कहा है, *'So God created man, his own image, in the image of God, created He Him-'* यह उनकी वैदिक भाषा है। **ही हिम** जैसे शब्द हमारी संस्कृत भाषा में हैं वैसे बाइबल में भी हैं। उनका जैसा *old Testament* है वैसा *New Testament* भी है। वह विकसित *(Advanced)* बाइबल है। उसमें भी ऐसी ही स्थिति है। बाइबल में स्वीकार किया है कि प्रभु ने प्रथम मनुष्य और स्त्री का निर्माण किया। उसमें भागवत के जैसी उत्क्रान्ति की सीढ़ी नहीं दिखायी है। भागवत में खनिज, वनस्पत्ति, प्राणी, मनुष्य, देवता ऐसी सृष्टि की सीढ़ी दिखायी है। बाइबल को निम्न श्रेणी का बताने के लिए नहीं कहता हूँ, परन्तु बाइबल पुराण जैसा है तो पुराणों में ऐसा ही आयेगा। कहीं से भी शुरू करना चाहिए इसलिए बाइबल ने मनुष्य की निर्मिति को लेकर प्रारंभ किया है। बाइबल के जैसा ही भागवत भी पुराण है। भागवत को हम दार्शनिक ग्रंथ नहीं कहते। **'भागवतं इतिहासं पुराणम्'** ऐसा उसमें आता है। ईसा का एक पुराण है। इसमें भी यह अनुपूर्ति नहीं है, यह दिखाया ही नहीं है। इसका अर्थ यह है कि उस समय वहाँ उत्क्रान्तितत्त्व की कल्पना नहीं रही

होगी। मुझे इतना ही कहना है कि भागवत ग्रंथ सिर्फ बालकों और स्त्रियों के लिए लिखा हुआ ग्रंथ नहीं है। भागवत में भी विपुल ज्ञान है। भारत में दर्शनशास्त्र और भौतिक शास्त्र का अभ्यास इतना हुआ है कि कोई भी कुछ भी लिखेगा तो उसका प्रतिबिंब उसके लेखन में आ ही जायेगा।

उसके बाद विदुर का प्रश्न है। विदुर का कोई प्रश्न नहीं हैं, परन्तु विदुर प्रश्न खड़ा करते हैं कि भगवान बोधस्वरूप हैं, निर्गुण हैं, निराकार हैं तो फिर उनका गुण और क्रिया के साथ कौन सा सम्बन्ध है? भगवान का रूप कौन सा है? क्या सच्चिदानन्दरूप है? सद् *(Existence),* चिद् *(Consciousness)* और आनन्द *(Bliss)* यह रूप है। भगवान यदि आनन्दरूप और बोधरूप हैं, निर्गुण-निराकार हैं तो उनका गुण और क्रिया के साथ कौन सा सम्बन्ध है, यह प्रश्न है।

जिनके ज्ञान का देश, काल और स्थिति में अथवा स्थिति से लोप नहीं होता उनका माया के साथ सम्बन्ध किस प्रकार आया? देश, काल और अवस्था से यदि ज्ञान का लोप होता हो तभी उनका माया के साथ सम्बन्ध आयेगा तो फिर भगवान का माया के साथ सम्बन्ध कैसे आया?

भगवान ने सृष्टि निर्माण की इसे मानने के लिए वेदान्त तैयार नहीं है, इसका कारण भगवान को सृष्टि निर्माण करने की आवश्यकता ही क्या थी? इसका शास्त्रीय विवेचन होना ही चाहिए। वेदान्त ने इसीलिए **ब्रह्मपरिणामवाद** स्वीकारा है। वेदान्त में ब्रह्मपरिणामवाद यह एक बड़ा वाद है, विचारधारा *(way of thinking)* है। यह सृष्टि किसीकी निर्माण की हुई नहीं है, सृष्टि ब्रह्म का परिणाम है। हमारे देश में विचारसम्पदा से जो कुछ मौलिक मिला है, उसमें सांख्यदर्शन का बहुत बड़ा योगदान *(contribution)* है। इसीलिए तृतीय स्कन्ध में कपिल को लाकर सांख्यदर्शन को स्वीकार किया गया है। आश्चर्य की बात यह है कि सांख्यदर्शन निरीश्वरवादी है उसे उन्होंने सेश्वरवादी ठहराया है। कपिल सेश्वरवादी है ऐसा भागवत में कहा है। इसी कारण पंडितों में बहुत बड़ी ग़लतफहमी है कि कपिल एक हुए या दो? सांख्यदर्शन कहनेवाले कपिल तथा वेदान्त कहनेवाले कपिल एक हैं या भिन्न? भागवत में जो कपिल हैं वे भक्ति लेकर आते हैं और सांख्यकारिका में जो कपिल हैं वे लामार्क और डार्विन के जैसी उत्क्रान्ति *(Evolution)* लेकर आते हैं

तीसरा प्रश्न है कि यदि भगवान सभी क्षेत्र में व्याप्त हैं तो फिर कर्मजनित क्लेश की प्राप्ति कैसे होती है? क्यों होती है? कितने ही लोग कहते हैं कि भगवान यदि मनुष्य के भीतर बैठे हैं तो लोग बुरे कर्म क्यों करते हैं? ऐसे मामूली प्रश्न हैं, सभी को ये प्रश्न आते हैं। भागवत ने प्रतिबिंब का दृष्टान्त देकर समझाया है। कर्म भगवान को क्यों नहीं चिपकता वह समझाने का प्रयत्न किया है। प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त देकर भगवान की तटस्थता समझायी है। जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जल हिलने पर प्रतिबिंब हिलता है, चन्द्र नहीं! प्रतिबिंब हिला तो भी बिम्ब स्थिर रहता है। यह दृष्टान्त देकर भगवान किस प्रकार तटस्थ *(Aloof)* रह सकते हैं यह समझाया है। व्यक्ति को कर्मजनित क्लेश हुए तो

उनके लिए क्या करना चाहिए उसका मार्ग दिखाया है। कृष्ण के गुण और कृष्ण की लीला सुनने के बाद राग-द्वेष भी समाप्त हो जाते हैं और सुख दु:ख का परिणाम भी समाप्त हो जाता है। कृष्णलीला (अर्थात् कृष्ण के जीवन) रागद्वेष शान्त करती है, सुख दु:ख की ओर देखने की तथा उनको स्वीकार करने की हिम्मद देती है। कृष्ण प्रदर्शन *(Demonstration)* करते हैं, जीवन कैसे जीना, यह दिखाते हैं। उसके लिए ही कृष्ण के गुण, कृष्ण की लीला सुननी चाहिए।

अब दूसरी एक बात खड़ी करते हैं। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि सृष्टि निर्माण करने का भगवान का आग्रह है और उसके लिए प्रयत्न भी है। ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। मैथुनजन्य सृष्टि तक उन्होंने दिखाया है। यह सब उत्पत्ति करते समय अन्तिम सृष्टि मैथुनजन्य किसलिए हुई? विकसित सृष्टिपरम्परा में मैथुनजन्य सृष्टि अन्तिम है, परन्तु उसे निर्माण करने के लिए स्त्री-पुरुष, दोनों की आवश्यकता क्या है? किसलिए है? उसकी कोई आध्यात्मिक आवश्यकता है या नहीं? उसकी आध्यात्मिक आवश्यकता है। सृष्टिनिर्मिति का भगवान का आग्रह दिखायी देता है। उसके विरोध में सनतकुमार ने मत व्यक्त किया कि सृष्टि निर्माण नहीं करनी चाहिए। इससे भगवान रूठ गये। उसके बाद मनु ने सृष्टि की उत्पत्ति करना स्वीकार किया। इससे भगवान सन्तुष्ट हुए। बाइबल में भी वैसा लिखा है।

सृष्टि की निर्मिति होने से भगवान को आनन्द हुआ। सृष्टि की उत्पत्ति होने के बाद 'कुटुंब और संसार छोड़ने का प्रयत्न करो' ऐसा कहनेवाले शास्त्रकार सच्चे हैं या सृष्टि निर्माण करनेवाले ब्रह्मदेव और उनकी सहायता करनेवाली आदिम शक्ति सच्ची है? एक सृष्टि निर्माण करने का आग्रह रखते हैं और हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि संसार और कुटुंब..यह सब छोड़ दो।' इन दोनों में से कौन सच्चा है? सृष्टि का विकास अपरिहार्य है परन्तु सुख दु:खादि द्वंद्वों से होनेवाली तकलीफ त्याज्य है, अर्थात् कर्म की भीति और कर्म का परिणाम त्याज्य है। ब्रह्मदेव ने भी शंका उठायी कि कर्मबंधन से किस प्रकार से मुक्ति मिलेगी। भागवतकार उसका उत्तर देते हैं कि मुक्ति भक्ति से मिलेगी। लोगों की तकलीफें भक्ति से दूर होंगी। भागवतकार ने भक्ति का यह मार्ग स्वीकार किया है।

सामान्य लोग भक्ति के अन्त:करण के होंगे, वे बुरे कर्म नहीं करेंगे, अच्छे ही कर्म करेंगे और अच्छे कर्मों का परिणाम अच्छा ही होगा, उससे अच्छा ही फल मिलेगा। विचारवान, उससे आगे बढ़कर विचार करेंगे कि यह शरीर मैं नहीं चलाता हूँ, कोई शक्ति चलाती है। कर्म करनेवाला मैं नहीं हूँ। शक्ति उसकी है और स्वीकार मेरा। यह चोरी है। संकल्प भी वही करता है, बुद्धि भी उसकी चलती है और फिर भी कर्मफल का स्वीकार मैं करूँ यह कैसे चलेगा? कर्म करके फल को अस्वीकार करना होगा और उसके लिए भक्ति की वृत्ति आनी चाहिए। उसके बिना नहीं होगा। जो विचारवान भावयुक्त लोग हैं वे कर्म स्वीकार करेंगे परन्तु कर्मफल का स्वीकार करके, अर्पण करेंगे, यह दूसरा रास्ता है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। (गी.९-२७)

कर्मफल मेरा नहीं है इसका कारण यह जो क्षेत्र (खेत) है वह मेरा नहीं है! इस क्षेत्र में पैदा हुआ अनाज़ मेरा नहीं है, भगवान का है। भगवान! आप इसे ले लीजिये। इस प्रकार जो कर्मफल होगा उसे विचारवान भावयुक्त व्यक्ति भक्ति की दृष्टि से अर्पण करेंगे। उसी प्रकार, समर्पित भक्तों का कर्मबोझ भगवान ही उठायेंगे। इसी प्रकार चारों अवस्थाओं में कर्मक्लेश है उसे कम करने की शक्ति केवल भक्ति में है ऐसा भागवतकार कहते हैं।

आज हम सभी हैरान हैं। हम कर्म करेंगे, उनका परिणाम आयेगा। कर्म करते हुए दुःख है, परिणाम सहन करते समय भी दुःख है। इस प्रकार दुःख ही दुःख है। भगवान! आप हमें दुःख में क्यों डालते हैं? अर्जुन भी भगवान से पूछता है, **'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव..!'** जो शंका ब्रह्मदेव की है वही शंका अर्जुन की भी है।

कर्म की अपरिहार्यता है यह प्रथम स्वीकार करना चाहिए। कर्म होगा ही। किस वृत्ति से करना है? उसके लिए भागवत में इतना ही लिखा है कि कर्मबन्धन से छूटने का रास्ता भक्ति है और उसे हमने स्वीकारा है। 'भक्ति एक रास्ता है' इसका अर्थ क्या है? क्या मंदिर में जाकर भगवान पर फूल चढ़ाने हैं? या भोग अर्पण करने हैं? यह करने से कर्म से नहीं छूटेंगे।

सामान्य व्यक्ति को कर्म हैरान नहीं करते इसका कारण क्या है? सामान्य मनुष्य भक्ति को स्वीकार करने के बाद बुरा कर्म नहीं करेगा, अच्छा ही कर्म करेगा। उसे बुरे कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता। विचारवान भक्त सोचेगा कि मैं कर्म तो करता हूँ, परन्तु उसमें मेरी शक्ति कितनी है? मैं बोलता हूँ, परन्तु कैसे बोलता हूँ इसका मुझे पता नहीं है। ईसा कहता है, *'It is not ye that speak, but the spirit of thy father that speaketh in you-'* तुकाराम महाराज कहते हैं, **'आपुलिया बळें नाही बोलवत सखा कृपावंत वाचा त्याची।'..** भीतर की क्रियाएं मैं नहीं करता हूँ। कर्म भी मैं नहीं करता हूँ, ऐसी समझ आने के बाद कर्म का बंधन कैसे छूटेगा। भक्ति से छूटेगा। सामान्य लोग यह समझते हैं कि भगवान को रुद्राभिषेक करेंगे तो कर्म का बंधन छूट जायेगा। मैं रुद्राभिषेक के विरुद्ध नहीं हूँ, वह करना ही चाहिए परन्तु भक्ति से कर्म का बंधन छूटेगा ऐसा कहनेवाले भागवतकार पागल नहीं हैं। यह समझाने के लिए कहता हूँ कि भक्ति के सम्बन्ध में एक पूर्वग्रह *(Conditional thinking)* दृढ़ हो गया है। आज भी, भक्ति शब्द उच्चारने पर एक विशिष्ट चौखट *(Dogma)* आँखो के सामने खड़ी हो जाती है।

ब्रह्मदेव को कहा गया कि भक्ति से कर्मबन्धन छूटेगा। सामान्य लोग भक्ति का स्वीकार करने पर बुरा कर्म नहीं करेंगे, परन्तु सत्कर्म भी हैरान तो करते ही हैं। अतः विचारवान विचार करते हैं कि 'शरीर के भीतर की क्रियाएं मैं नहीं करता हूँ।' शरीर की सभी क्रियाएं कैसे चल रही हैं? आँखे देखती हैं, कान सुनते हैं। किसे पता, सुनना बंद भी हो जाये।

अपनी शक्ति से सुनते हैं तो सुनना बंद कैसे हो गया? लोग कहते हैं, "अब सुनायी नहीं देता!' उनको पूछना चाहिए कि सुनने की शक्ति कहाँ गयी? कैसे चली गयी? देखना, सुनना-ये सभी क्रियाएं अपनी शक्ति से नहीं होती हैं, अत: करनेवाला मैं नहीं हूँ। विचारवान भक्त कहेंगे कि जो अच्छे कर्म मैंने किये हैं, वे मैं भगवान को अर्पण करूँगा। जिस पर प्रेम होता है उसके नाम से अर्पण करते हैं।

सेठजी मन्दिर में पाँच सौ रूपये देता है। उसे पूछा जाता है कि रसीद किसके नाम पर बनानी है? तब सेठ कहता है कि मेरी पत्नी के नाम की रसीद बनाओ।' पत्नी या, लड़के के नाम पर रसीद बनायी जाती है। जिस पर प्रेम होता है, उसके नाम पर रसीद बनायी जाती है। भगवान पर जब प्रेम होता है तब भगवान को कर्म अर्पण करने होते हैं। 'कर्म मेरे नहीं हैं' यह भक्ति का रूप है। जो ज्ञानी भक्त-समर्पणात्मक भक्त हैं उनके कर्मों का बोझ भगवान उठाते हैं। यह सब मिलकर भक्ति से कर्मबन्धन छूटेंगे ऐसा भागवतकार ने आग्रह रखा है।

भागवत में लिखा है कि भक्ति करनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वृत्ति बदलनी है, उसमें कुछ परिवर्तन करना है, बुद्धि में परिवर्तन लाना है। भक्ति को इस अर्थ में स्वीकार किया तो कर्मबन्धन से छूट सकते हैं, अन्यथा कैसे छूट सकते हैं? मैंने क्या किया है? संकल्प मैंने नहीं किया। मुझे मालूम नहीं है कि संकल्प कैसा होता है। संकल्प मेरा नहीं, जिस शक्ति से मैंने काम किया है वह शक्ति मेरी नहीं है। तो फिर जो फल मिलेगा उसे अपना समझकर स्वीकार करना चोरी है। जिसका फल है उसीको दे दो। यह कर्मसमर्पण है।

जब मनुष्य का समग्र जीवन समर्पणात्मक बन जाता है, तब उसका कर्मबोझ स्वयं भगवान उठाते हैं। फिर अर्पण करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि कर्म किसे अर्पण करना है? भगवान स्वयं कर्मबोझ उठा लेंगे। यह भक्ति की एक सीढ़ी है।

इस प्रकार ब्रह्मदेव की शंका का अर्थात् अपरिहार्य कर्म के कारण आनेवाले कर्मबन्धन से कैसे छूटना इसका 'भक्ति करो' यह उत्तर देकर भागवतकार ने कर्मबन्धन से छूटने के लिए विकासवाद का, कपिल के सांख्य तत्त्वज्ञान का स्वीकार किया है। यह तत्त्वज्ञान निरीश्वरवादी है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि। (गी-१३-१२)

और

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। (गी-१३-२०)

जब पुरुष अलिप्त बनता है तब सुख-दु:ख उसे नहीं चिपकते। भागवतकार ने एक ओर वेदान्ती सांख्य तत्त्वज्ञान को स्वीकार किया है और दूसरी ओर हरिलीला, कृष्णलीला गायी है और कृष्णभक्ति से ही कर्मबन्धन छूटेगा ऐसा कहा है। तीसरे स्कन्ध में इस

उत्क्रान्तितत्त्व को स्वीकार किया है। लामार्क और डार्विन का अभ्यास करके ही यह स्कन्ध पढ़ना चाहिए तभी पता चलेगा कि जो संशोधन पाश्चात्य देशों में हुआ है वह कितने ही वर्षों पूर्व भागवत में लिखा हुआ है।

तृतीय स्कन्ध में यह भी बताया है कि एक समय ऐसा था कि मनन करनेवाले लोगों का, जिन्हें मुनि कहते थे, मूल्य था। आज मुनि को बाजार भाव *(Market value)* नहीं है। इसका अर्थ उनको कीमत नहीं है। मार्केट में कीमत *price* होती है, मूल्य नहीं होता। जो मार्केट में विक्रय के लिए आता है, उसकी *Price* बोली जाती है, उसका मूल्य *Value* नहीं होता। मै कितने ही बार कहता हूँ कि वेश्या को बाजार भाव *(market price)* है, माँ को नहीं! क्योंकि माँ को मूल्य *(Value)* है। कीमत *(Price)* और मूल्य *(Value)* में फर्क़ है।

जब मुनि का-मननशील व्यक्ति का मज़ाक उड़ाया जाता है, तब वह भगवान से सहन नहीं होता। ऐसी एक घटना तीसरे स्कन्ध में आती है। वह है जय-विजय की। ये दोनों भगवान के द्वारपाल थे। शास्त्रकार कहते हैं कि जब आप रास्ते से चलते हैं तब मार्ग में रेती आपको जितनी पीड़ा देती है उतनी पीड़ा सूर्य नहीं देता। सूर्य किरणों से तप्त रेती आपको हैरान करती है, सूर्य का ताप नहीं। सेठजी हैरान नहीं करता, सेठजी का नौकर हैरान करता है। उसी प्रकार भगवान के जो द्वारपाल थे जय-विजय, उन्होंने सनतकुमारादि मुनियों का उपहास किया और भगवान के पास जाने से रोका। यह भगवान से सहन नहीं हआ। जीवन में जिसकी आवश्यकता पड़ती है उसका तो मनुष्य स्वीकार करता ही है। जिसकी आज आवश्यकता नहीं लगती उसका स्वीकार करने की शिक्षा मिलनी चाहिए। भूख लगी कि मनुष्य कैसे भी रोटी कमाता ही है। रोटी न कमा सका तो उधार लेता है, उधार न मिला तो दूसरों की रोटी लूटता है, चोरी करके लाता है- *Buy, borrow or steal,* किसी भी मार्ग से लाता है, परन्तु मन को मजबूत बनाना वह नहीं जानता। मन मजबूत होना चाहिए, कारण अगले जन्म में हमारा मन ही हमारे साथ आता है। यह समझाने के लिए मननशील व्यक्ति-मुनि चाहिए। मननशील लोगों की अवस्था बहुत कठिन होती है। जिसकी आवश्यकता नहीं लगती है वह आध्यात्मिक शिक्षा-*(Spiritual Education)* लोगों को देनी है। यह बहुत कठिन है। रोटी कमाने की शिक्षा के लिए कोई विज्ञापन नहीं देना पड़ता, उसके लिए लोग पंक्ति में खड़े होते हैं। उस शिक्षा पर अरबों रूपये खर्च करते हैं परन्तु आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं लगती। इसी कारण जिसकी आवश्यकता नहीं लगती उसे लोगों के गले में डालना है। मुनियों के लिए यह बात बहुत कठिन है।

मुनियों का उपहास, अनादर नहीं करना चाहिए। यह बात समझाने के लिए ही तृतीय स्कन्ध में जय-विजय की कहानी आती है। इन्हीं में से हिरण्याक्ष पैदा हुआ। यह कहानी सभी को मालूम होने के कारण यहाँ मैं नहीं कहता हूँ। जय-विजय, दोनों ने सनकादि मुनियों का अपमान किया और उसका परिणाम उन्हें भोगना पड़ा है। मुनि को महत्त्व देना चाहिए। क्यों? कर्म का आग्रह है इसलिए! तृतीय स्कन्ध में जो कुछ कहना है वह कर्म का आग्रह है। आपने नींद में से जागकर आँखें खोली कि कर्म हो ही जाता है। प्रत्येक कर्म हैरान करता है, परेशान

करता है। कर्म की परेशानी को कम करने का मार्ग दिखाने के लिए मुनियों की आवश्यकता है। मुनियों का आदर करने का तृतीय स्कन्ध में आग्रह है। उनका अनादर करने का परिणाम अच्छा नहीं होता। उसके लिए ज्ञान की कौन सी आवश्यकता है यह भी समझाया है। उसके लिए कपिल मुनियों को खड़ा किया है। भागवत में जो कपिल हैं वे सांख्यशास्त्रकार हैं, परन्तु वेदान्ती कपिल हैं, यहीं एक उलझन खड़ी होती है। वास्तव में कपिल निरीश्वरवादी हैं, ईश्वर को न माननेवाले हैं, परन्तु भक्ति के लिए कपिल का सांख्यशास्त्र सेश्वरवादी बनाया गंया है। उनका संपूर्ण सांख्यशास्त्र लिया है और उसमें भक्ति रख दी है। योगदर्शनकार पतंजलि ने भी वैसा ही किया।

योगदर्शनकार ने भी सांख्यशास्त्र के उत्क्रान्ति के सिद्धान्त *(Evolution Theory)* को स्वीकार किया है। 'सांख्य' शब्द से घबड़ाना नहीं चाहिए। लामार्क और डार्विन ने उत्क्रान्तितत्त्व उठाया है वह सांख्यशास्त्र के जैसा ही है। सांख्यशास्त्र ने प्रकृति और पुरुष तत्त्व की चर्चा की है। उसमें भी कर्म से कैसे छूटना है, इसका मार्ग बताया है। वैसा करने से कर्म की भीति नष्ट हो जायेगी।

ज्ञात सृष्टि में कर्दम और देवहूति का प्रथम विवाह *(First marriage)* है। कपिल कर्दम और देवहूति के पुत्र हैं। यह प्रथम मैथुनजन्य सृष्टि निर्माण हुई है। उसके बाद मैथुनजन्य प्रजा निर्माण हुई। ज्ञात सृष्टि में इससे पूर्व भी सृष्टि है ऐसा मानते हैं। क्योंकि उत्क्रान्तितत्त्व में एकलिंगी प्रजा होती है। द्विलिंगी प्रजा में मैथुनजन्य प्रजा शुरु होती है। एक दूसरे की आवश्यकता है। क्योंकि यह एक मानसिक *(psychological)* आवश्यकता है, केवल भौतिक *(Physical)* आवश्यकता नहीं है। व्यक्ति के विकास के लिए उसकी आवश्यकता है। इसी कारण विवाह को धार्मिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूप भारतीय संस्कृति ने दिया है। 'विवाह करना व्यर्थ है, यह एक पाप है, माया में पड़ना है' ऐसा हमारे शास्त्रकारों का कहना नहीं है। वह जीवन की आवश्यकता है ऐसा आग्रह है। इसलिए कर्दम और देवहूति का विवाह हुआ और उनसे कपिल का जन्म हुआ। इस कपिल मुनि ने देवहूति को ज्ञान दिया। वह सांख्यशास्त्र वेदान्ती सांख्यशास्त्र है, निरा सांख्यशास्त्र नहीं है क्योंकि सांख्यशास्त्र में भगवान आते ही नहीं। विकासशील चैतन्य, जड़ और चेतन *(Matter and spirit)* ही आते हैं, उसीको प्रकृति व पुरुष कहते हैं। भगवान श्रीकृष्ण को भी गीता में उसका स्वीकार करना पड़ा है, अत्यन्त सावधानीपूर्वक भगवान ने यह स्वीकार किया है। उस समय के जो पण्डित थे उनका सांख्यशास्त्र बहुत ही तर्कसम्मत बुद्धिवादी विचारधारा *(Most logical thinking)* का लगता था। इसलिए उसे स्वीकार किया है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्।।
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।। (गीता-१३/१९-२०)

इस प्रकार गीता ने सांख्यशास्त्र स्वीकारा है, परन्तु वेदान्त का सांख्यशास्त्र स्वीकारा है। योगशास्त्रकार ने भी सांख्यशास्त्र को स्वीकार किया है, परन्तु उन्होंने **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** कहकर ईश्वर को लाकर सांख्यशास्त्र की चौखट *(Frame)* स्वीकारी है। वेदान्ती और भक्तों ने सांख्यशास्त्र की चौखट को स्वीकार किया है और उसमें बीच में 'ईश्वर' रखकर अपना अलग अलग शास्त्र बनाया है ऐसा नहीं है। उनका कहना है कि भक्ति से ही कर्मबन्धन से छूट सकेंगे। हमें भक्ति से कर्मबन्धन में से कैसे छूटना है यह देखना है। 'मैं करनेवाला नहीं हूँ, मेरा उत्तरदायित्व नहीं है' ऐसा कहकर कर्म से अलग हुआ जाता है। बुद्धि पर कर्म का सिक्कां *(Impression)* नहीं बैठना चाहिए। बच्चों के खेल में एक मोम की तख्ती आती है। उस पर लिखा जा सकता है। लिखने के बाद ऊपर का कागज़ निकाला कि लिखा हुआ पोंछा जाता है। भक्ति का भी यही रूप है। भक्ति से कर्म का सिक्का निकल जाता है। यह भक्ति केवल भगवान की खुशामद या स्तुति नहीं है। भक्ति एक शास्त्र है और वह शास्त्रीय मार्ग से चलेगी तभी कर्मबन्धन से छूट सकते हैं।

तृतीय स्कन्ध में दूसरी बात वैराग्य की आती है। यदि हमें इस सृष्टि का आकर्षण होगा, सृष्टि अच्छी लगेगी तो भक्ति की ओर झुकाव नहीं होगा, सृष्टि की ओर ही रहेगा। भगवान की स्तुति यह भक्ति नहीं हैं, उपासना है। आपको कुछ चाह है, भौतिक सुख अथवा पैसा लगता हो, कीर्ति, स्त्री या पुत्र लगता हो, निरोगी जीवन की चाह हो, उसके लिए आप भगवान के चरण पकड़ते होंगे तो आप भक्त नहीं हैं। कारण उसमें भगवान साधन बन जाते हैं। आपको भौतिक सुख का आकर्षण है, वह कामना पूर्ण करने की आपमें शक्ति नहीं है, इसलिए किसी दूसरे का आप आधार लेते हैं, तो आपको उपासक कहा जा सकता है, भक्त नहीं!

यह सृष्टि भगवान ने बनायी है, अतः वह मिथ्या, बेकार, खराब नहीं लगनी चाहिए मगर उसका आकर्षण नहीं रहना चाहिए। सुंदर लगनी चाहिए। अतः इसके लिए कौन सा रास्ता है? उसके लिए रास्ता है और वह है भक्ति का। भक्ति का चश्मा पहनना चाहिए, भक्ति की दृष्टि लेनी चाहिए।

वैराग्य को मोड़ देना है, उसके लिए एक कीड़े का वर्णन तृतीय स्कन्ध में आया है। किसी विचारवान व्यक्ति को व्यथित करेगा ऐसा यह वर्णन है। जीव बोल रहा है। **'जन्तुः उवाच'** ऐसा लिखा है। जीव गर्भवास में है तब बोल रहा है। वह अत्यंत उद्वेगजनक बोलता है। शुरु शुरु में मुझे लगता था कि यह क्यों पढ़ना चाहिए? लोग भी क्यों पढ़ते होंगे? वह इतना उद्वेगजनक है कि मत पूछो! जीव कहता है, 'विष्ठा-मूत्र से भरे हुए कुऐ में भगवान ने मुझे डाल दिया है...।' इतना उद्वेगजनक लिखने का कारण यह है कि भक्ति की ओर ले जाना है। जब तक व्यावहारिक व पारिवारिक आकर्षण रहता है तब तक भक्ति की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए, **जन्तुः उवाच** गर्भवास में वह जीव ही बोल रहा है। कदाचित् सभी जीव बोलते होंगे, परन्तु हमें वह मालूम नहीं पड़ता। बहुत सी बातें ऐसी होती हैं। जैसे नींद में हम कुछ बोलते हैं उसका हमें पता भी नहीं चलता फिर भी

हम बोलते हैं, उसकी टिप्पणी दूसरा रखता है। उसी प्रकार यहाँ **जन्तुः उवाच**- जीव भगवान से प्रार्थना करता है। गर्भवास में स्थित जीव कहता है कि 'भगवान! मैंने ऐसे कुछ काम किये होंगे कि मेरी रक्षा नहीं हो सकी, अतः मुझे यहाँ आना पड़ा। कुछ पाप किये होंगे, दुष्टता भी की होगी, आपको अच्छे नहीं लगेंगे ऐसे भी कई काम किये होंगे, इसलिए आपने मुझे यहाँ भेजा है। परन्तु मानव की रक्षा करने के लिए अवतार लेनेवाले आप हैं तो मेरा रक्षण नहीं करोगे? इसमें जो गिड़गिड़ाहट है वह स्वीकारार्ह है, परन्तु उसमें जो उद्वेग है वह स्वीकारार्ह नहीं है, परन्तु वह होना चाहिए इसका कारण उसीमें पड़े हुए जो लोग हैं, उन्हें बाहर निकालना है, इसलिए जो पैसे के सिवा दूसरा कुछ देखता ही नहीं, रात्रि को स्वप्न में भी पैसा ही देखते हैं, उन्हें कहना पड़ता है कि क्या जीवन में पैसा ही नींद देता है? पैसा क्या देता है यह पूछना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि वित्त की महत्ता ऐसा बोलनेवाले या लिखनेवाले के मस्तिष्क में नहीं है।

जन्तु-जीव गिड़गिड़ाहट करता है। वह कहता है, 'भगवान! बंधा हुआ मैं, आपको आदर से नमस्कार करता हूँ इसका कारण आप बंधे हुए नहीं हैं। दो जन बंधे हुए हों तो वे एक दूसरे को छुड़ा नहीं सकते। उनमें से जो बंधा हुआ नहीं है उसीकी शरण जाना चाहिए। भगवान आपको बंधन नहीं है, मुझे बंधन है। ऐसा बंधन में पड़ा हुआ मैं (जीव) आपकी शरण आया हूँ।' जीव प्रार्थना करता है कि शरीर से मैं भिन्न हूँ यह कल्पना मुझे है। परन्तु पंचमहाभूतों से वेष्टित हुआ यह शरीर होने के कारण मैं व्यथा का अनुभव कर रहा हूँ। पंचमहाभूतों से वेष्टित ऐसा शरीर धारण करने पर भी जिसको व्यथा नहीं होती ऐसे आप कृष्ण भगवान हैं।' कृष्ण भगवान ने भी यही शरीर धारण किया है, फिर भी वे दुःखी नहीं हैं, इसीलिए जीव उनसे प्रार्थना करता है कि 'भगवान! ऐसी स्थिति प्राप्त करने का कौनसा मार्ग है, वह मुझे बताओ। आपके अनुग्रह के बिना यह शक्य नहीं है। अभी भी मुझे जो ज्ञान मिला है वह आपकी ही कृपा है।' यह सब कहने का हेतु इतना ही है कि भक्ति की ओर मुड़ना है।

प्रश्न इतना ही है कि उद्विग्नता के कारण भक्ति की ओर झुकाव होता है वह श्रेष्ठ होता है या प्रेम से भक्ति की ओर मुड़ते हैं वह श्रेष्ठ है? प्रेम से भक्ति की ओर होनेवाले झुकाव को भागवत श्रेष्ठ मानते हैं। जिसके हृदय में प्रेम निर्माण नहीं होता, अतीन्द्रिय दृष्टि जिसे प्राप्त नहीं होती, भविष्य का ज्ञान समझने की जिसकी बुद्धि में कमी है, 'मैं आया हूँ तो मुझे जाना भी है, मैं क्या लेकर आया हूँ, मन और बुद्धि पर कौनसा सिक्का लगाकर मैं आया हूँ' यह जो नहीं जानता, यह जिसके दिमाग में नहीं आता ऐसे लोगों को मोड़ना है। यहाँ भी उन्होंने शास्त्र *(science)* बताया है कि शुक्र स्वरूप के बिन्दु से जीव का प्रादुर्भाव कैसे होता है, उसकी निर्मिति किस प्रकार होती है! यह सब तृतीय स्कन्ध में है।

तृतीय स्कन्ध उत्क्रान्तिवादी तत्त्वज्ञान से भरा हुआ है। उसमें कपिल भगवान का सांख्यशास्त्र आया है। उत्क्रान्तिवाद के सिद्धान्त के अनुसार जब विचार करते हैं तो उसमें सृष्टि का निर्माता हो ही नहीं सकता, निर्माता की आवश्यकता भी नहीं है। और सृष्टि का

कोई निर्माता होगा तो वह सर्वसमर्थ होगा। यदि निर्माता असमर्थ होगा तो उत्क्रान्तितत्त्व को स्थान ही नहीं है। सांख्यशास्त्र ने उत्क्रान्तितत्त्व को स्वीकार किया है। उसमें निर्माता की आवश्यकता नहीं है। सांख्यशास्त्र के अनुसार मुक्ति कैसे मिलेगी? प्रकृति और पुरुष दोनों जब विभिन्न रूप से रहेंगे और पुरुष प्रकृति की ओर देखने लगेगा तो वह सभी विषयों से छूट जायेगा और वह ज्ञान से ही छूटेगा। पुरुष को ज्ञान होगा कि 'मैं प्रकृति से सम्बन्धित नहीं हूँ' तो वह विषयों से छूट जाता है ऐसा सांख्यशास्त्र का सिद्धान्त है। भागवत का कहना है कि बिना भक्ति के तुम विषयों से छूट नहीं सकते।

अब यह शंका रह गयी है कि कपिल एक है या दो? सांख्यशास्त्र को भक्ति मान्य नहीं है। बुद्धिवाद से उत्क्रान्तितत्त्व से सृष्टि का सर्जन सिद्ध होता हो तो निर्माता नहीं होना चाहिए। और निर्माता होगा तो वह सर्वसमर्थ ही होगा तथा वह जैसी चाहिए वैसी सृष्टि निर्माण कर सकता है। उसे निरीश्वरवादी सांख्य कहते हैं। भागवत ने उस शास्त्र में भक्ति भर दी है। मेरी दृष्टि में कपिल एक ही है।

प्रथम ज्ञानियों को समझाने की आवश्यकता होती है। सृष्टिसर्जन के शास्त्र में तुम भगवान का नाम लोगे तो वे उस शास्त्र को छूते भी नही। वे ऐसा मानते हैं कि जहाँ बुद्धि-तर्क *(Logic)* नहीं चलता वहाँ तुम भगवान लाकर रखते हो। प्रारंभ में शुद्ध रूप से भगवान को छोड़कर यानी भगवान को बीच में न लाकर उत्क्रान्तितत्त्व से सांख्यशास्त्र का विवेचन किया। उससे ज्ञानियों की पकड़ कपिल के हाथ में आ गयी। उसके बाद कपिल ने सांख्यशास्त्र में भक्ति मिला दी। इसमें कौन सी असत्य बात है? जिस प्रकार शंकराचार्य ने एक अलौकिक शब्द बताया है.. 'उत्तरमीमांसा।' पूर्वमीमांसा व उत्तरमीमांसा! उत्तरमीमांसा का अर्थ इतना ही होता है कि पूर्वमीमांसा है, वह उत्तरमीमांसा हो गयी, अब उत्तरमीमांसा में उत्तरार्ध है। उत्तरमीमांसा का मैं ऐसा अर्थ लगाता हूँ। उसी प्रकार कपिल ने भी किया होगा। तुम भगवान लेकर तत्त्वज्ञान कहोगे तो ज्ञानी लोग पास नहीं आते। कितने ही लोग ऐसा ही मानते हैं कि सृष्टि के सर्जन में तुम भगवान को मानोगे तो वहाँ बुद्धि *(Logic)* समाप्त हो जाएगी, वहाँ बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं रही और जहाँ बुद्धि की आवश्यकता ही नहीं है ऐसी बात मानने को हम तैयार नहीं हैं। अत: उनके लिए कपिल ने भगवान को छोड़कर सृष्टि का रहस्य और उत्पत्ति समझायी। एक बार ऋषियों की पकड़ हाथ में आने पर उनको ही समझाया कि देखो, यहाँ भक्ति की आवश्यकता है या नहीं? ऐसा करके उन्होंने सांख्यशास्त्र में भक्ति को ला दिया। कपिल एक होते हुए भी निरीश्वरवादी सांख्य हो सकते हैं और सेश्वरवादी सांख्य भी!

सेश्वरवादी सांख्यशास्त्र भी उतना ही प्रभावी है। योगदर्शनकार पतंजलि भगवान ने उसे स्वीकार किया है। केवल भागवत पुराण ने ही सेश्वरवादी सांख्यशास्त्र का स्वीकार किया है ऐसा नहीं है।

आज भी लोग बोलते हैं कि 'कलयुग को भगवान लाये हैं। भगवान की जैसी इच्छा होगी वैसा होता है।' भगवान की इच्छा के अनुसार ही सब होता है तो परिश्रम को स्थान ही कहाँ रहा? और बुद्धि चलाने की भी आवश्यकता नहीं रही! कपिल ने प्रथम ज्ञानियों को विशिष्ट रूप से सृष्टि का सर्जन समझाया और ज्ञानी समझ गये। जिन लोगों को समाज तथा व्यक्ति की उन्नति करनी है वे लोग लोकसंग्रह करते हैं और वे इस प्रकार के क्षुद्र वाद में नहीं पड़ते। लोकसंग्रह का अर्थ लोगों को इकट्ठा करना नहीं है। लोकसंग्रह का तात्पर्य लोगों का उन्नयन है। ऐसा ही समन्वय हमारे आर्यों ने स्वीकारा है। उन्होंने आदिवासियों में कार्य किया। उनका उन्नयन करने के लिए आर्य उनके पास गये, फिर उनके देवताओं को-जैसे नाग, बाघ आदि को-आर्यों ने स्वीकार किया। इसमें कोई समझौता *(compromise)* नहीं था। समझदार व्यक्ति सिद्धान्त में किसी प्रकार का समझौता नहीं करते। इसी प्रकार, स्वतंत्र रूप से सांख्यदर्शनकार कपिल ने किया होगा, ज्ञानियों को सांख्यशास्त्र कहा होगा और उसके बाद उन्होंने उस शास्त्र में भक्ति मिला दी होगी। यह उनकी उत्तरमीमांसा है।

सृष्टि के सर्जन का विषय ध्यान में आने के बाद व्यक्ति को यदि अपनी उन्नति करनी होगी तो क्या करना पड़ेगा? भक्ति का ही स्वीकार करना होगा ऐसी उत्तरमीमांसा कपिल ने की होगी। मेरे विचार में कपिल एक ही है, दो कपिल मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तृतीय स्कन्ध में वैराग्यनिर्मिति के लिए उद्वेगजनक तिरस्कार निर्माण करनेवाला वर्णन **'जन्तुरुवाच'** कहकर किया है। यह विचार करने जैसा विषय है। **'जन्तुरुवाच'** कहकर संसार-परिवार को निकृष्ट ठहराया है। इतना ही नहीं, जन्म लेना ही निकृष्ट है ऐसा समझाया। **'जन्तुरुवाच'** आप पढ़ेंगे तो जन्म के सम्बन्ध में एक प्रकार का तीव्र, तिरस्कार निर्माण होगा। बहुत ही उद्वेगजनक लेखन है वह! **'जन्तुरुवाच'**-जन्तु यह शब्द भी अच्छा प्रयुक्त किया है। जन्तु बोलता है, गर्भवास में पड़ा हुआ जन्तु! मनुष्य भी नहीं, जीव भी नहीं तो जन्तु बोलता है ऐसा कहकर भागवतकार ने कितनी नफ़रत दिखायी है! अब देखिए, प्रथम संसार-परिवार का आग्रह दिखायी देता है, भागवत पढ़ेंगे तो ब्रह्मदेव और भगवान का प्रथम उत्पत्ति का आग्रह दिखायी देता है। सनतकुमार ने उत्पत्ति का विरोध किया तो भगवान उन पर रुष्ट हो गये। उसके बाद मनु महाराज उत्पत्ति के लिए अनुकूल हुए। भगवान उन पर सन्तुष्ट हुए। इसका अर्थ, सृष्टि की, संसार-परिवार की महत्ता भागवतकार समझते हैं फिर भी **'जन्तुरुवाच'** का प्रकरण लाकर उद्विग्नता लाने के लिए तिरस्कार निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं। जो संसार में ही डूबे हुए हैं, जो उसमें से बाहर निकल ही नहीं सकते, जिनका विश्व वहाँ तक ही मर्यादित है उनके लिए भागवतकार ने ऐसा लिखा है। भागवत को पढ़ने के सभी अधिकारी हैं, प्राथमिक पढ़े हुए लोग भी अधिकारी हैं वैसे एम. ए. जैसी उच्चतर श्रेणी की शिक्षाप्राप्त विद्वान भी अधिकारी हैं। इसलिए संसार-परिवार में ही लिप्त-लीन बने हुए लोगों के लिए **'जन्तुरुवाच'** है।

जीवन में उद्विग्नता से भी भक्ति का मोड़ आता है। विश्व दिखायी देता है, परन्तु भगवान नहीं दिखायी देते। जो दिखायी देता है उसके प्रति प्रेम रहता है और जो दिखायी नहीं देता उसके प्रति प्रेम नहीं होता, यह स्वाभाविक है। न दिखायी देनेवाले भगवान हैं, उनके प्रति प्रेम नहीं होता क्योंकि वे हैं या नहीं इस सम्बन्ध में ही सन्देह होता है। जीवन में दो प्रकार से मोड़ आता है-उद्विग्नता से तथा प्रेम से! अन्तिम, भागवतकार ने भक्ति से विरक्ति समझायी है, तिरस्कार-घृणा से विरक्ति नहीं। **'जन्तुरुवाच'** कहकर तिरस्कार दिखाया है।

भक्ति से ही विरक्ति आती है यह सिद्धान्त भागवतकार ने कहा है यह असली बात है। प्रभु के प्रति आत्यन्तिक प्रेम निर्माण होगा तो सृष्टि के प्रति सख्यत्व निर्माण होगा और जहाँ सख्यत्व निर्माण होता है वहाँ उपभोगत्व समाप्त हो जाता है, यह मनोवैज्ञानिक विवेचन है। 'भक्ति से विरक्ति' का अर्थ यह है कि सच्चे अर्थ में भक्ति होनी चाहिए। भक्ति का अर्थ केवल पूजापाठ करते बैठना अथवा रामनाम लेते बैठे रहना नहीं है। कुछ लोग तो अपनी रखैल पर प्रेम बढ़े इसलिए भी रामनाम लेते हैं। जो विरक्ति प्रेम और भक्ति से आती है वह श्रेष्ठ विरक्ति है ऐसा भागवतकार का कहना है। इसलिए उन्होंने भक्ति से विरक्ति समझायी है।

मैं हमेशा एक दृष्टान्त देता हूँ कि एक कुआँरी को सिनेमा देखने का बहुत शौक था। उसे समझाया गया कि बहुत सिनेमा देखना अच्छा नहीं है, उससे आँखे खराब होती हैं....आदि। परन्तु इस उपदेश का उस पर कोई परिणाम नहीं हुआ। उसे सिनेमा का इतना आकर्षण था कि पैसे चुराकर भी वह सिनेमा देखने जाती थी। उसके बाद उसका विवाह हुआ, फिर वह माँ बनी। अब उसने सिनेमा देखना भी बंद किया। उसे सिनेमा बुरा नहीं लगा था, उसके प्रति घृणा भी नहीं हुई थी, परन्तु अपने बच्चे के प्रति प्रेम बढ़ने के कारण सिनेमा अपने आप बंद हो गया। अब वह कहती कि 'तीन साल से मैंने सिनेमा नहीं देखा है।' यह जो सिनेमा के प्रति विरक्ति आयी वह कैसे आयी? सिनेमा के प्रति घृणा से यह विरक्ति नहीं आयी, बल्कि अपने बच्चे के प्रति प्रेम के कारण यह विरक्ति आयी। ऐसी विरक्ति भागवतकार को मान्य है। इसीलिए भागवतकार ने 'भक्ति से-प्रेम से विरक्ति' यह मार्ग स्वीकारा है। भगवान के प्रति अत्यधिक प्रेम बढ़ा कि सृष्टि के प्रति सख्यत्व निर्माण होता है, कारण सृष्टि भगवान की निर्मिति है। सख्यत्व निर्माण हुआ कि उपभोग की भावना चली जाती है, इतना ही नहीं, सृष्टि के प्रति आदर *(reverence)* निर्माण होता है। आदर निर्माण हुआ कि भोग चला जाता है।

मंदिर की रक्षा करने के लिए कोई चौकीदार की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु ताज़महल की रक्षा के लिए चौकीदार रखना पड़ता है, कारण ताजमहल का सौन्दर्य कोई नष्ट न करे। मंदिर का सौन्दर्य कोई नष्ट नहीं करेगा कारण उस सौन्दर्य के पीछे आदर है। भारतीय आर्यों ने सौन्दर्य के पीछे आदर निर्माण करने का प्रयत्न किया। जो जो

सौन्दर्य है उसके प्रति आदर रखो। स्त्री के प्रति आदर निर्माण करो तो उपभोग की दृष्टि कम हो जायेगी, यह मार्ग है। इसलिए भागवतकार ने भक्ति से विरक्ति समझायी है।

तृतीय स्कन्ध में कपिल के सम्बन्ध में जो उलझन है वह भी सुलझ जाती है। यहाँ सांख्यशास्त्रकार सेश्वरवादी कैसे हैं? कपिल सेश्वरवादी कब हुए? उसके सम्बन्ध में विचार करते हुए ऐसा लगता है कि कपिल एक ही थे। उन्होंने सांख्यशास्त्र को प्रथम समझाया होगा और उसके बाद भक्ति के बिना उन्नति नहीं होती ऐसा माना होगा। ऋषियों की ऐसी ही समन्वयात्मक दृष्टि थी, कारण उनको लोगों की उन्नति करनी थी, उनको खड़ा करना था। किसी का व्यसन छुड़वाना हो तो वे कहते होंगे कि प्रतिदिन भले ही व्यसन करो, परन्तु एकादशी के दिन उसका त्याग करो। इसका अर्थ यह नहीं है कि ऋषि व्यसन करने की छूट देते थे। उनको व्यसन से मुक्त कराना था। योगसूत्र में एक सूत्र हैं, **'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्...।'** दुर्गुण निकालने हों तो अभ्यास करना पड़ेगा। तभी दुर्गुण जायेंगे। आर्य समन्वयवादी व उन्नयन करनेवाले थे। उनको अपनी विद्वत्ता नहीं दिखानी थी। उन्हें लोगों को खड़ा करना था, उनका उत्कर्ष करना था। उनका हृदय उन्नति के लिए भीतर से जल रहा था। जब इसका ज्ञान होगा तब पता चलेगा कि वे समन्वयवादी क्यों थे। उनकी वह नीति *(Policy)* भी नहीं थी यह सिद्ध होता है। यह तीसरे स्कन्ध की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

चतुर्थः स्कन्धः

चतुर्थ स्कन्ध में वंशवर्णन है। स्वयम्भू मनु की देवहूति के अलावा दो कन्यायें थी। एक आकूति और दूसरी प्रसूति। इन दोनों का वंश-विस्तार इस स्कन्ध में दिखाया गया है। उसमें अनुसूया है वह अत्रि की पत्नी थी। इनसे दत्त, दुर्वास व सोम इन तीनों का जन्म हुआ। दत्त भगवान का आगे बहुत सुन्दर वर्णन आनेवाला है इसलिए उनका केवल नामनिर्देश किया है। मनु की तीसरी कन्या आकूति का दक्ष प्रजापति के साथ विवाह हुआ था। उसके सोलह कन्यायें थीं। उनमें से एक कन्या सती है। सती का विवाह भगवान शिवजी के साथ हुआ। उसका सम्पूर्ण वर्णन एक अध्याय में आया है।

दक्ष प्रजापति ने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया। उसमें उसने सभी देवताओं को बुलाया परन्तु सती को नहीं बुलाया क्योंकि शिव को नहीं बुलाना था। आकाश में संचार करनेवाले देवता आपस में इस यज्ञ के सम्बन्ध में बोल रहे थे उसने यह भी देखा कि अलंकारों से सजधजकर गंधर्वादि की स्त्रियाँ यज्ञोत्सव में जा रही हैं। अत: अपने पिता के घर यज्ञोत्सव में जाने की तीव्र इच्छा सती के मन में जाग उठी। वास्तव में 'पति को न बुलाने के कारण मैं भी नहीं जाऊँगी' ऐसा सती को कहना चाहिए था। परन्तु सती ने शंकर भगवान से कहा कि मेरे पिता के घर यज्ञ हो रहा है उसमें मैं जाना चाहती हूँ। शंकर भगवान ने विरोध किया। शंकर भगवान के विरोध करने पर भी सती अपने पिता के-दक्ष प्रजापति के घर गयी। वहाँ उसका अपमान हुआ। उसने कहा, 'मेरे पति के पास भले ही दूसरा कुछ न हो, परन्तु उनके पास शक्ति और ज्ञान है। वैसी शक्ति अथवा ज्ञान क्या किसी के पास है? अपने पति के ज्ञान तथा शक्ति के प्रति सती को बड़ा आदर था। सती अपने पति का अनादर सहन न कर सकी। दक्ष-प्रजापति ने शिवजी की बहुत निन्दा की, उसने कहा,

'शिवापदेशो ह्यशिवो मत्तो मत्तजनप्रियः।' शिव इसका केवल नाम है। यह अपवित्र, उन्मत्त है, उन्मत लोग ही उसे प्रिय हैं। उन्मत्त लोग ही उसके पास जाते हैं। पति की ऐसी निन्दा सुनकर सती को अत्यन्त व्यथा हुई। उसे लगा कि मेरे पिता के विरुद्ध यदि मैं पति के पास शिकायत ले जाऊँ तो पिता का ही नाश हो जायेगा। पिता पर प्रेम और पति पर भी प्रेम! सती की बड़ी द्विधा मन:स्थिति हुई। उसने बीच का मार्ग निकाला वह यानी उसने अग्निस्नान किया (उसने योगाग्नि से अपना शरीर भस्म कर दिया)। ऐसी कथा है। यह कथा बहुत लंबी है। संबन्धित व्यक्ति के स्वजनों का पराभव, अपमान हुआ तो वह उसे मृत्यु से भी अधिक दु:खदायी होता है ऐसा उसमें लिखा है।

सती का जीवन समाप्त हुआ इस बात का जब शिवजी को पता चला तब उन्होंने क्रोध से अपनी जटा से वीरभद्र पैदा किया। वीरभद्र सेना लेकर गया और उसने दक्ष प्रजापति के यज्ञ का पूर्ण विध्वंस किया, दक्ष का सिर काटकर यज्ञ में जला दिया व कैलास पर चला गया।

यज्ञ का पूर्ण विध्वंस होने पर सभी देवगण भय से व्याकुल बनकर ब्रह्मदेव के पास गये, उनकी बातें सुनकर ब्रह्मदेव ने कहा, 'हे देवो! अधिक शक्तिशाली व तेजस्वी पुरुष का अपराध करके अल्पशक्ति मनुष्य यदि अपना उत्कर्ष साधने की इच्छा करेगा तो वह इच्छा कल्याणकारक नहीं होती। शंकर को यज्ञ में हविर्भाग मिलना चाहिए था। वह न देकर तुमने अक्षम्य अपराध किया है। अत: अगर अपना कल्याण चाहते हो तो शंकर से क्षमायाचना करो।'

बाद में देवता, प्रजापति व पितर इनको लेकर ब्रह्मदेव कैलास पर्वत पर गये व भगवान शंकर से प्रार्थना करके यज्ञ की परिपूर्णता के लिए अनुरोध किया। सभी देवता ब्रह्मदेव व शंकर भगवान के साथ यज्ञमण्डप में आये। भगवान शंकर की कृपा से दक्ष प्रजापति फिर से जीवित हो उठा। उसका मस्तिष्क यज्ञकुण्ड में जलकर भस्म हो जाने से उसे बकरे का सिर लगाया गया। दक्ष प्रजापति ने भगवान शंकर की कृपा से फिर से यज्ञ कर्म प्रारंभ किया। पुराडाश की आहुति हाथ में लेकर दक्ष ने विष्णु का ध्यान किया। ध्यान करते ही भगवान विष्णु वहाँ उपस्थित हुए। सभी देवताओं द्वारा भगवान विष्णु की स्तुति करने पर विष्णु ने समझाया कि भगवान शंकर व स्वयं वे (विष्णु) वस्तुत: एक ही हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। जो लोग दोनों में भेद मानते हैं वे गलत काम करते हैं। यहाँ भगवान विष्णु के मुँह से निकले हुए छ: श्लोक हैं। उनका तात्पर्य यही है कि विष्णु और शिव एक ही हैं। सभी तत्त्वज्ञानी भी यही मानते हैं। श्रीमदाद्य शंकराचार्य भगवान चन्द्रमौलीश्वर की पूजा करते थे। उन्होंने श्रीकृष्ण पर जितना प्रेम किया उतना शायद ही किसीने किया होगा। उनका **'कृष्णाष्टकम्'** स्तोत्र है वह अलौकिक है, बेजोड़ है। अपय्या दीक्षित लोगों ने पूछा, आप शिवजी की पूजा करते हैं? तब अपय्या दीक्षित ने कहा,—

पुरारौ च मुरारौ च न भेदः पारमार्थिकः।
तथाऽपि मामकी भक्तिः चन्द्रचूडे प्रधावति।।

जिसका जिस रूप के प्रति आकर्षण होगा वह उसे ले सकता है, परन्तु पुरारि या मुरारि में कोई पारमार्थिक भेद नहीं है, कारण उनमें सभी रूप एक ही भगवान के हैं।

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति।।

सभी नदियाँ जिस प्रकार सागर में मिलती हैं वैसे ही किसी भी रूप को नमस्कार करो, वह केशव को ही मिलता है। ऐसी एक कथा दक्ष प्रजापति की इस स्कन्ध में आयी है। यह दक्ष प्रजापति की कथा, भागवत पुराण में है, वायुसंहिता में है और शिवपुराण में है अतः यह घटना बनी भी होगी।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो तीन वाद प्रचलित हैं। एक ऐसा जमाना था कि शैव-वैष्णवों का जबरदस्त वाद था। उसमें शंकर बड़े या विष्णु बड़े? यह वाद तो सभी को मालूम ही है। लोग यह समझते ही नहीं कि वे एक ही भगवान के दो रूप हैं।

एक गुरु के दो शिष्य थे। दोनों प्रतिदिन अपने गुरु के पाँव दबाते थे। दोनों ने गुरु के चरण बाँट लिये थे। एक शिष्य बायां पैर दबाता व दूसरा शिष्य दाहिना पैर दबाता था। भूल से भी दूसरा पैर हाथ में आया तो उस पर चप्पत मार देते। उन्हें यह नहीं समझता था कि किसी भी पैर को चप्पत लगायी तो वह गुरु को ही लगती है और गुरु को ही पीड़ा होती है। जरूर, मूर्तिपूजा के शास्त्र में एक ही भगवान की मूर्ति रखने का आग्रह है। हर रोज मूर्ति नहीं बदलनी है। यदि बारबार मूर्ति बदलते जायेंगे तो चित्त की एकाग्रता में आगे परेशानी होती है। अतः मूर्ति एक ही रखनी चाहिए। महिम्नस्तोत्र में पुष्पदन्त कहता है:-

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।७।।

(त्रयी, सांख्य, योग, पाशुपतमत और वैष्णवमत इन भिन्न भिन्न प्रस्थानों में से रुचि की विचित्रता के अनुसार कोई श्रेष्ठ तो कोई कनिष्ठ है, ऐसा कहेंगे। सरल अथवा टेढ़े मार्ग से जानेवाली सभी नदियाँ अन्त में समुद्र में ही मिलती हैं वैसे ही रुचि-वैचित्र्य के कारण सरल अथवा टेढ़े भिन्न भिन्न मार्गों का अनुसरण करनेवाले सभी लोगों का अन्तिम स्थान आप ही हैं।)

अतः चित्त की एकाग्रता के लिए एक ही मूर्ति रखनी चाहिए। परन्तु दूसरी मूर्ति के प्रति नफ़रत नहीं होनी चाहिए। दूसरी मूर्ति उसी भगवान की नहीं है यह कल्पना मनुष्य को हीन बनाती है और भक्ति को भी हीन बनाती है।

समझो, मैं विष्णु या कृष्ण की उपासना करता हूँ। मैं कृष्ण की उपासना करूँगा, परन्तु उसका अर्थ शिव भगवान ही नहीं है ऐसा समझकर शिवजी का मन्दिर तोड़ो कहूँगा

तो कैसे चलेगा? कितने ही विष्णुभक्त शिवरात्रि नहीं मानते। उस दिन व्रत नहीं रखते। वे कहते हैं, 'हम विष्णु को माननेवाले हैं, अतः शिवरात्रि नहीं मानते, हम शिवरात्रि के दिन प्याज खायेंगे, मछली खायेंगे, उसमें क्या? यह भी अतिरेक है वह अविवेकी तथा अतार्किक *(illogical)* है। जो कुछ प्रहार होगा वह एक ही भगवान पर है ऐसा वे लोग समझते ही नहीं। दूसरे भगवान नहीं और दूसरे रूप में भगवान नहीं हैं ऐसा मानना ठीक नहीं है। कुछ अतिरेकी लोग दूसरे का स्पर्श होते ही **'सचैलं स्नानमाचरेत्'** ऐसा आचरण करते हैं। यह गलत बात है। जहाँ भी जायेंगे उधर भगवान का दर्शन करो। रामदास स्वामी द्वारका गये वहाँ उन्होंने द्वारकाधीश में रामचन्द्र भगवान को देखा। 'मैं द्वारकाधीश के मन्दिर में ही नहीं जाऊँगा' ऐसा उन्होंने नहीं कहा। यदि ऐसा कोई बोलेगा तो उसका विरोध करना चाहिए। 'मैं राम को मानता हूँ अतः कृष्ण के मन्दिर में नहीं जाऊँगा' ऐसा बोलना अविवेकी है। इतना ही नहीं वह 'न्यूनतम भक्ति' कहलाती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे अनेक झगड़े दिखायी देते हैं। उनमें शैव-वैष्णव का बहुत बड़ा झगड़ा है। परन्तु भागवत में स्वयं विष्णु-भगवान ने कहा है कि 'मैं और शिव एक ही हैं। शिव मेरा ही रूप है।' ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक ही हैं यह कहने के लिए दक्ष प्रजापति की कथा भागवतकार ने कही है।

दक्ष प्रजापति ने शिव को गालियाँ दी, कि वह **अशिव** है, **अपवित्र** है, **उन्मत्त** लोगों का सखा है, इसका अर्थ नहीं बदल सकते। यह संस्कृत भाषा है. **अशिव** का अर्थ क्या है? जो संस्कृत नहीं पढ़े होंगे उनको मालूम नहीं पड़ेगा। परन्तु **'नास्ति शिवः यस्मात्=अशिवः'** यह संस्कृत भाषा पढ़ने जैसी है। एक सुभाषितकार कहता है-

सुवर्णालंकृता कन्या हेमालंकारवर्जिता।
सा कन्या विधवा जाता गृहे रोदिति तत्पतिः।।

इस श्लोक का सरल अर्थ यह है कि 'सोने के अलंकारों से सज्जित कन्या को हेमालंकार वर्जित हैं। वह कन्या विधवा है मगर उसका पति घर में रोता है।' अब जो विधवा हुई उसका पति घर में कैसे रोएगा? विधवा शब्द का एक ही अर्थ हमें मालूम है, **विगतः धवः यस्याः सा विधवा।'** परंतु **विविधाः धवाः यस्याः सा विधवा** जिसके विविध प्रियकर है वह विधवा है। जिसके अनेक प्रियकर हैं, उसका पति घर में रोता ही है न? इसी प्रकार **अशिवः** का अर्थ है **'नास्ति शिवः यस्मात्'** जिससे अधिक पवित्र कोई नहीं है वह अशिव। आप भागवत पढेंगे तो पता चलेगा। **अशिवोमत्तः** का 'अ' उधर जा सकता है **अमत्त....** यह जिसे मालूम नहीं है वे ऐसा अर्थ करते हैं। नारद स्मृति में एक स्थान पर लिखा है कि -

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।।

ये पांच प्रकार की आपत्तियाँ (पति नष्ट हुआ हो, मर गया हो, संन्यासी बन गया हो, नपुंसक हो अथवा पतित हो) आयीं तो स्त्री दूसरा पति कर सकती है ऐसा अर्थ

पंडित लोग करते हैं। एक बहुत बड़े संवैधानिक व्यक्ति *(constitutionalist)* ने ऐसा अर्थ निकाला है। मगर उन्हें मालूम नहीं है कि 'पति' शब्द की सप्तमी 'पतौ' नहीं होती, 'पत्यौ' होती है। संस्कृत पढ़ा ही नहीं है तो क्या करे? यहाँ 'पतौ' नहीं अपितु 'अपतौ' शब्द है और यह 'अपति' शब्द की सप्तमी है, अर्थात् उसकी केवल सगाई हुई है, सप्तपदी होकर विवाह नहीं हुआ है और इसी अवधि में ऊपरोक्त पाँच प्रकार में से एकाध आपत्ति आ जाय तो ऐसे संयोग में स्त्री दूसरा पति कर सकती है। तब तक वह अपति है। सप्तपदी के बाद ही पति बनता है। परन्तु संस्कृत भाषा का इतना गहरा ज्ञान न होने से वे लिख देते हैं। बोलनेवाले भी वे ही हैं और लिखनेवाले व सुननेवाले भी वे ही हैं। निर्णय देनेवाले भी वे ही होते हैं।

इसी प्रकार **'अशिवः'** व **अमत्तः!** अमत्तः का अर्थ यह होता है कि जो स्वयं उन्मत्त नहीं है और **'अमत्तजनप्रियाः'** यानी सुस्वभावी लोग जिसे प्रिय हैं। इस प्रकार पूरा अर्थ बदल गया। एक ही शब्द के अर्थ में गाली भी हो सकती है और सम्मान भी हो सकता है। संस्कृत भाषा बहुत सुन्दर है। उसमें गाली भी दी तो भी आपको पता नहीं चलेगा। यदि मैं कहूँ, **'एते देवानां प्रियाः...'** आपको संबोधन करके कहूँ तो आपको लगेगा कि शास्त्रीजी ने हमारा सम्मान किया है। संस्कृत भाषा में **'देवानां प्रियः'** का अर्थ होता है, **'मूर्ख!' 'देवानां प्रियः इति मूर्खे अन्यत्र देवप्रियः।'** जब यह कहना होगा कि वह बड़ा है, सभ्य है, मान्य है, सुस्वभावमान है, तो **देवानां** यह समास नहीं करना चाहिए। समास करके बोलना चाहिए, **'देवप्रिय'** कहना चाहिए। जाने दो।

एक वाद-जो वैष्णव का वाद है- उसे दक्ष प्रजापति के यज्ञ के निमित्त भागवतकार ने समाप्त करने का प्रयत्न किया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से दूसरा भी एक वाद प्रचलित है- यज्ञ और मूर्तिपूजा...कदाचित् वह वाद भी होगा। यज्ञ करनेवाले लोग मूर्तिपूजा नहीं मानते। आज तक लोगों को पता नहीं है कि पूर्वमीमांसावाले लोग मूर्तिपूजा नहीं मानते। वे वैधानिक *(Constitutional)* हैं, अतः वे सब यज्ञ- **'यज्ञो वै विष्णुः'** बोलते हैं। यह बोलकर विष्णुत्व लाते हैं। यज्ञ करनेवाले लोग देवताओं को मानते हैं, देव को नहीं। देव अर्थात् सृष्टि निर्माण करनेवाले, सर्वसमर्थ भगवान! उनको वे नहीं मानते। जिस प्रकार भारत का राज्यशासन संविधान *(Constitution)* को मानता है। उसमें कलेक्टर, गव्हर्नर, प्रधानमंत्री आदि देवता हैं। वे सब आयेंगे, जायेंगे, बदलेंगे, उनको बुलाना भी पड़ेगा और छोड़ना भी पड़ेगा। आवाहन और विसर्जन दोनों होंगे परन्तु राज्य चलता रहेगा, कारण राज्य संविधान चलाता है। इसी प्रकार यज्ञ करनेवाले सभी देवताओं को मानते हैं, परन्तु देव को नहीं मानते। यज्ञ करनेवाले लोग मूर्तिपूजा के विरोध में होते हैं।

आज भी दक्षिण में एक ऐसी मान्यता है कि रामचन्द्र भगवान की पत्नी सीता को रावण उठाकर ले गया था, इसका अर्थ ऐसा नहीं कि उसने परस्त्री का हरण किया था।

रावण इतना नीच नहीं था। वह भक्त था। सगुण उपासक व मूर्तिपूजक था। आज भी दक्षिण भारत में रावण के हिमायती लोग मिलेंगे। उनका कहना है कि रावण ने वेदों को स्वर दिये हैं और वह परम भक्त था। वह मूर्तिपूजा को मानता था। दक्षिण भारत में मूर्तिपूजा प्रभावी थी और उत्तर भारत में यज्ञ प्रभावी था। यज्ञ में मूर्तिपूजा नहीं आती। यज्ञ में **स्वाहा...स्वाहा...** होता है। **ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत..** यज्ञ से सभी कामनायें पूर्ण होती हैं। रावण यज्ञ के विरोध में था। यज्ञप्रमुख संस्कृति खड़ी करनेवाले राम के यज्ञ बंद करने के लिए राम की पत्नी सीता को ही रावण उठाकर ले गया, कारण बिना पत्नी के यज्ञ नहीं हो सकता। सीतात्याग के बाद ऐसा प्रसंग आता है। राम ने अश्वमेध यज्ञ किया तब सभी ने राम को फिर से विवाह करने को कहा। परन्तु राम ने कहा कि मेरे जीवन में एक सीता ही है, दूसरी किसी को स्थान नहीं है। अन्त में सीता की सुवर्ण प्रतिकृति बाजू में रखकर यज्ञ किया गया। रावण यज्ञीय पुरुष राम की पत्नी को इसीलिए उठा ले गया था ताकि राम के यज्ञ बंद हों। रावण यज्ञ के विरोध में था। उसने सीता पर बलात्कार नहीं किया। इसका अर्थ यह है कि बुरी वासना से सीता को रावण नहीं ले गया था। ऐसा बोलनेवाले लोग हैं। ऐतिहासिक संशोधक उसका संशोधन करेंगे। मुझे इतना ही कहना है कि दो विचारधाराएँ थीं-एक यज्ञ और दूसरी मूर्तिपूजा! इन दो विचारधाराओं में झगड़ा था। दक्ष प्रजापति यज्ञ करता था परन्तु उसमें मूर्तिपूजा को स्थान नहीं था। इसीलिए वह शिव को हविर्भाग नहीं देता था। शिव ने उसके यज्ञ का विध्वंस किया। पूर्वमीमांसा में मूर्तिपूजा नहीं है, उसमें जिन्हें भगवान कहते हैं वे सच्चे अर्थ में भगवान नहीं हैं यह बहुत कम लोगों को मालूम है। इसीलिए कहीं भी यज्ञ शुरु हुआ वहाँ यज्ञ की प्रदक्षिणा करने के लिए लोग दौड़ जाते हैं।

भारतीय आर्यों ने **'यज्ञो वै विष्णुः'** यज्ञ ही विष्णु है ऐसा समझाकर उसमें वे विष्णुत्व लाये हैं। परन्तु पूर्वमीमांसा, जिसने यज्ञ का आग्रह रखा है, भगवान विष्णु को नहीं मानती है। उत्पत्ति के सम्बन्ध में वे लोग **'यज्ञकल्प स कल्पपूर्वः'** ऐसा कहते हैं। वह पढ़ने जैसा है। वह बहुत ही तर्कयुक्त *(Logical)* है। शुरू शुरू में मीमांसाशास्त्र पढ़ते हुए, जब मैं छोटा था तब, मुझे लगता था कि वह एक पागलों का शास्त्र है। वेद अपौरुषेय कैसे होंगे? **ईश्वरोक्तत्त्वात् वेदस्य प्रामाण्यम्'** ऐसा मानना चाहिए, परन्तु वेद अपौरुषेय हैं। वेदों को किसी ने नहीं बनाया है, भगवान ने भी नहीं। वे लोग भगवान ही नहीं मानते तो भगवान वेद कैसे बनायेंगे? उनका **'आपो देवी'** पढ़ने जैसा है। वेद **स्वतः प्रमाण** हैं या **परतः प्रमाण** हैं? इस पर उन्होंने लिखा है कि वेद **अपौरुषेय हैं** और उन्हें बुद्धि से समाप्त करना कठिन है। शुरू में मुझे भी लगता था कि पूर्वमीमांसा, पूर्वमीमांसा क्या है? यह एक यज्ञीय प्रक्रिया है, उसमें पढ़ने जैसा कुछ नहीं है। परन्तु वह भी एक बुद्धिशाली विचारधारा है। यज्ञ और मूर्तिपूजा एक वाद है। दक्ष के यज्ञ में मूर्तिपूजा नहीं है। इसलिए शिवजी ने उस यज्ञ का विध्वंस किया होगा। इसका कारण मानव को नीतिमूल्य *(moral orders)* देने के लिए यज्ञ की आवश्यकता है और मानव

की उन्नति के लिए मूर्तिपूजा की आवश्यकता है। दोनों का स्वीकार करना चाहिए, परन्तु लोग एकांगी बन जाते हैं, आग्रही बन जाते हैं। जब उनका संप्रदाय बन जाता है, परम्परा बन जाती है तब आग्रह बढ़ जाता है। लोग आग्रही बनकर यज्ञ करने लगे, मूर्तिपूजा नहीं। मानव को नीतिमूल्य देने के लिए यज्ञ के बिना दूसरा मार्ग नहीं है, वैसे ही मानव की उन्नति के लिए, विकास के लिए, चित्तशुद्धि के लिए मूर्तिपूजा की उतनी ही आवश्यकता है। इसलिए दोनों का स्वीकार होना चाहिए। दक्ष प्रजापति की यह कथा शिवपुराण में भी आती है। पुष्पदन्त कवि महिम्न में कहता है,-

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः
क्रतुर्भेषस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः।।२१।।

(प्रजापति दक्ष के यज्ञ में, यज्ञयागादि कर्मों में निपुण ऐसा दक्ष स्वयं यजमान था, (त्रिकालदर्शी) ऋषि ऋत्विज थे और सभी देवगण सभाजन थे, फिर भी यज्ञफल देने का व्रत लिये आपके द्वारा उस यज्ञ का विध्वंस हुआ। इससे श्रद्धारहित यजमान द्वारा किये हुए यज्ञ उसीके नाश का कारण बनते हैं, यही सच है।)

इसका अर्थ यही है कि श्रद्धारहित कर्म का भी विध्वंस होता है। यज्ञ का ध्वंस क्यों किया गया है? कर्म अच्छा होगा परन्तु उसका हेतु अच्छा नहीं होगा तो नहीं चलेगा। शिवपुराण में दक्ष प्रजापति का जो यज्ञ है उसका हेतु अच्छा नहीं था। श्रद्धाहीन कर्म नहीं चलेगा। ये तीन विचारधारायें पुराने समय में थीं-शैव-वैष्णव, यज्ञ और मूर्तिपूजा तथा कृति अच्छी थी परन्तु हेतु अच्छा नहीं था। यह बताने के लिए तीन पुराणों में दक्ष प्रजापति के रूप में कथा आयी है।

राजनैतिक लोग गाँव में पीने के जल की सुविधा न हो तो कुआँ बनाकर पानी की सुविधा कर देते हैं। वे सरकार के पैसों से कुआँ बनवाते हैं। उन्होंने परोपकार किया तो उसका फल मिलना चाहिए, गरीबों की सहायता करने वाले को फल मिलना चाहिए या नहीं? ना, नहीं मिलेगा। क्योंकि वह व्यापार *(Bargain)* हुआ। आज उन्होंने कुआँ बना दिया इसके पीछे यह हेतु है कि आगामी चुनाव में संपूर्ण गाँव के मत *(Votes)* उनको मिलने चाहिए। इसमें गरीबों की कोई सहायता नहीं है। वह पुण्यकारक काम भी नहीं है, व्यापार है, स्वार्थ हैं। यदि उनको फल मिलना चाहिए तो दुकानदार आटा बेचता है उसे भी फल मिलना चाहिए। वह पैसे लेकर आटा देता है, वह दान थोड़े ही है! इसी प्रकार उन्होंने कुआँ बनाया पर वह मतों *(Votes)* के लिए बनवाया। अच्छे कर्म का हेतु अच्छा न हो तो वह कर्म अच्छा नहीं होता। यह बात इस कथा में समझायी है।

श्रद्धा महत्त्वपूर्ण बात है। किसी भी कार्य पर श्रद्धा होनी चाहिए। इसीलिए तो गीताकार ने श्रद्धा पर एक स्वतंत्र अध्याय लिखा है। श्रद्धा रखो, श्रद्धा सँभालो, परन्तु श्रद्धा क्या सोने

का एक गोला है कि उसके लिए एक चौकीदार रखकर सँभालें। श्रद्धा क्या है? वह एक रासायनिक *(synthetic)* रूप है।

श्रद्धा में प्रथम बात यह होनी चाहिए कि 'दूसरा मुझसे श्रेष्ठ है।' इसमें नम्रता आ जाती है। दूसरी बात यह है कि दूसरा जो कहेगा उसे मानने की मेरी तैयारी है।' इसमें निरहंकारी होकर स्वीकारना है। मैं जाँच करके स्वीकारूँगा, परन्तु निरहंकार से स्वीकार करूँगा। वसिष्ठ पर मेरी श्रद्धा है इसका अर्थ यह है कि वसिष्ठ ने जो कुछ कहा है उसे मैं निरहंकारी होकर स्वीकार करता हूँ। श्रद्धा एक मनोधर्म है। बहुत ही विकसित मन *(developed mind)* होगा वहाँ श्रद्धा होती है। दूसरे पर जबरदस्त विश्वास यह श्रद्धा में तीसरी बात है और दूसरे का प्रभावी आकर्षण चौथी बात है। ये चार बातें जब इकट्ठी होती हैं तब श्रद्धा निर्माण होती है। श्रद्धा के भिन्न भिन्न पहलू हैं। श्रद्धाशून्य व्यक्ति का यज्ञ, यज्ञ नहीं होता। श्रद्धा जीवन की आवश्यक बात है। इसीलिए गीता में **'श्रद्धात्रयविभागयोगः'** नामक स्वतंत्र अध्याय है। दक्ष प्रजापति में श्रद्धा नहीं थी, इसलिए उसका यज्ञ नष्ट हुआ, वह स्वयं समाप्त हो गया क्योंकि उसका व्यक्तिगत विकास नहीं था।

इस चतुर्थ स्कन्ध में दक्ष प्रजापति के यज्ञ का जो विषय आया है उसमें उस समय की सामाजिक स्थिति का चित्रण है। कितने ही लोग यज्ञ करते हैं, परन्तु उनमें श्रद्धा नहीं होती। घर घर में अथवा गाँव-गाँव में सत्यनारायण की पूजा होती है, वह करनेवालों की क्या सत्यनारायण पर श्रद्धा होती है? वे लोग सत्यनारायण के नाम पर पैसा इकठ्ठा करते हैं और शराब पीते हैं। यह श्रद्धाविरहित यज्ञ है। दूसरी बात, शैव-वैष्णव का झगड़ा आज भी मन में चलता है, बाहर प्रकट नहीं करते होंगे, मगर मन में वह झगड़ा चलता ही है। वे निम्न श्रेणी के भक्त हैं। तीसरी बात, यज्ञ व मूर्तिपूजा के बीच विरोध! ये तीनों बातें दक्ष प्रजापति के यज्ञ की कथा के रूप में कही गयी हैं।

(दक्ष प्रजापति की कथा के बाद अधर्म के वंश का कथन किया है। सनकप्रभृति पाँच मुनि– नारद, ऋभु, हंस, अरुणि व यति ये ब्रह्मदेव के पुत्र आजन्म ब्रह्मचारी व्रत धारण करके रहे, उन्होंने गृहस्थाश्रम का स्वीकार नहीं किया। अतः उनका वंशविस्तार नहीं हुआ। ब्रह्मदेव का अधर्म नाम का एक पुत्र था। उसकी पत्नी मृत्रा (असत्य) को दम्भ व माया नाम के दो अपत्य हुए। ये दोनों भाई-बहन होते हुए भी अधर्म की ही संतान होने के कारण उन्होंने एक दूसरे के साथ धर्मविरोधी विवाह किया। अधर्म के वंश में भविष्य में भी ऐसे ही धर्मविरोधी विवाह हुए। ब्रह्मदेव के निऋति (नाश) नामक पुत्र की कोई सन्तान नहीं थी। इसलिए उसने दम्भ व माया इस दम्पति को गोद लिया। दम्भ व माया से लोभ व निकृति (वंचना) नामक सन्तान हुई। उन्होंने परम्परा के अनुसार एक दूसरे के साथ विवाह किया। उनसे क्रोध व हिंसा ये दो अपत्य उत्पन्न हुए। क्रोध व हिंसा से कलि और उसकी बहन दुरुक्ति उत्पन्न हुई। कलि से दुरुक्ति को लभय नामक पुत्र व मृत्यु नामक कन्या उत्पन्न हुई। इस दम्पति के नमक व याना ये दो अपत्य थे। संक्षेप में ब्रह्मदेव की यह प्रतिसृष्टि है।) ये सब विरोधी द्वन्द्व हैं।

जब तक त्रिगुणों की साम्यावस्था है तब तक निर्मिति असम्भव है। और जब साम्यावस्था ढल जाती है तब अहंकार पैदा होता है। उसके बाद द्वन्द्व निर्माण होते हैं, जैसे शीत-उष्ण, पाप-पुण्य, अन्धकार-प्रकाश, अच्छा-बुरा, धर्म-अधर्म ऐसे द्वन्द्व निर्माण होते हैं। एक दूसरे के बिना एक दूसरे का अस्तित्व अशक्य है। प्रकाश का अस्तित्व अंधकार के कारण है। यह एक शास्त्रीय परिभाषा है, जो हमारे मस्तिष्क में नहीं उतरती। इतना समझ लो कि एक दूसरे के बिना अस्तित्व अशक्य है। यह स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त लेंगे। नींद में साम्यावस्था है, अतः द्वन्द्व नहीं है और द्वन्द्व नहीं है तो संघर्ष नहीं है, संघर्ष नहीं तो जीवन नहीं। नीन्द की जीवन में गिनती नहीं करते। नीन्द में जीवन नहीं है। संघर्षानुकूल मनोवृत्ति और संघर्ष के लिए उदासीनता-ये दो बातें हैं। जीवन के सम्बन्ध में वास्तविकता *(Reality)* का स्वीकार इस ग्रंथ में किया गया है। इसलिए इस ग्रंथ को सिर पर लेना चाहिए। जीवन में धर्म और अधर्म दोनों की आवश्यकता है, अनिवार्यता है। ये दोनों ईशनिर्मित हैं ऐसा दिखाया है। सामान्य जीवन में यह एक उलझन खड़ी हो जाती है कि भगवान ने अधर्म क्यों निर्माण किया?

अधर्म भी भगवान ने निर्माण किया है तो फिर धर्म के पीछे क्यों जाना चाहिए? धर्म और अधर्म दोनों का उत्पत्तिस्थान एक ही है इसलिए अधर्म का भी वंश दिखाया है। जो जो निर्माण होता है वह समाझाया है।

दूसरी बात यह है कि गुण ही जब अहंकेन्द्रित और स्वार्थपरायण बनते हैं, अतिरेकी बनते हैं तब उनका रूप ही अधर्म है। शौर्य जब अहंकेन्द्रित बनता है तब क्रौर्य (क्रूरता) आता है। शिवाजी महाराज ने किसी को मारा होगा वह शौर्य है, परन्तु चोर किसीको मौत के घाट उतारता है तब उसे क्रौर्य कहते हैं। दोनों की मारने की क्रिया एक ही है। नम्रता जीवन में होनी चाहिए परन्तु वह नम्रता जब स्वार्थपरायण बन जाती है तब यही धर्म अधर्म बन जाता है। इसलिए धर्म अधर्म का सत्यरुप भी रहेगा और क्रियात्मकता प्रतिक्रियात्मकता भी रहेगी। संघर्षानुकूल मनोवृत्ति के सम्बन्ध में आप सोचेंगे तब पता चलेगा कि अधर्म की निर्मिति ब्रह्मदेव ने क्यों की? इतना ही नहीं, परीक्षित ने उसे सँभाला, उसकी रक्षा की, उसे मारा नहीं! और उसे रहने के लिए स्थान दिया। एक बार रहना निश्चित हुआ कि फिर जगह देनेवाले आप कौन हैं? जो प्रभावी होगा वह जगह ले सकता है। जिसे जगह दी है वह उस जगह का मालिक बन बैठता है। आज मुम्बई शहर में कोई दूसरे पर कृपा करके रहने के लिए जगह देता है, तो वह मालिक बन बैठता है। दुर्गुणों का वैसा ही होता है। परीक्षित ने अधर्म को जगह दी इसका अर्थ यह है कि उसने अधर्म को मारा नहीं। धर्म-अधर्म का असली अर्थ समझाने के लिए आगे पुरंजन का आख्यान आता है। पुरंजन आख्यान एक रूपक है। वह रूपक ध्यान में लेंगे तभी पुरंजन आख्यान मालूम पड़ेगा अन्यथा मालूम नहीं पड़ेगा। इस पुरंजन आख्यान के अन्तिम श्लोक में स्वयं भागवतकार ने लिखा है, **'यत्परोक्षप्रियो देवो भगवान् विश्वभावनः'** देवताओं को परोक्ष बोलना प्रिय है। देवताओं को रूपक में बोलना

पसन्द आता है। अत: यह सब रूपक को लेकर समझ लेंगे तो इस अध्याय में जो उलझन लगती है वह हल हो जायेगी।

सबसे पहली उलझन यह है कि ब्रह्मदेव ने अधर्म की उत्पत्ति की। संघर्षात्मक जीवन का अभ्यास किया होगा तभी इसका अर्थ ज्ञात होगा, अन्यथा सामान्य व्यक्ति को ऐसा लगता है कि ब्रह्मदेव ने अधर्म को क्यों उत्पन्न किया? दूसरी बात, यदि ब्रह्मदेव ने अधर्म को उत्पन्न किया होगा तो अधर्म से चलना अच्छा है। भगवान ने ही अधर्म पैदा किया है तो धर्म से चलने का आग्रह ही क्यों? यह सामान्य मनुष्य की धारणा है। परन्तु जो बुद्धिमान हैं, जिनका सोचना तर्कसम्मत *(Logical)* है, वे ऐसा नहीं कहते। संघर्षानुकूलता समझाने के लिए भागवत ने यह विषय उठाया है।

इस अध्याय के लेखन की रूपकात्मकता मान्य करेंगे तो इस स्कन्ध में आये हुए विषय-पृथु द्वारा पृथ्वी का दोहन, धर्म-अधर्म दोनों का ब्रह्मदेव के पुत्र होना, वेन की उरु (जांघ) में से पृथ्वी की उत्पत्ति, आदि उलझनें सुलझ जायेंगी। भागवतकार ने स्वयं अन्त में लिखा है कि यह सब रूपकात्मक लेखन है।

उन्होंने रूपक में लिखा है कि दक्ष प्रजापति की तेरह कन्याएं थीं और उन सबका विवाह धर्म के साथ हुआ और प्रत्येक का एक एक पुत्र हुआ। इन तेरह कन्याओं के नाम हैं-श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तृप्ति, क्रिया, उन्नति, पुष्टि, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा ह्री और मूर्ति। इन सभी के विवाह धर्म के साथ हुए हैं।

श्रद्धा के सम्बन्ध में विशेष विवेचन इसके पहले किया ही है। श्रद्धा का पुत्र शुभ है। ज्ञान की जो सीढ़ियाँ हैं उनमें प्रथम सीढ़ी है-शुभेच्छाख्या! इसका अर्थ क्या है? यही शुभ माना जाता है कि मुझे कम समझ है। जिसे जीवन में इस बात का पता चला कि मुझे कम समझ है उसके जीवन में शुभ हो गया। मैं ही सब कुछ जानता हूँ, मेरी समझ में जो आयेगा वही मैं स्वीकार करूँगा' यह शुभ नहीं है। यह जीवन का अशुभ है। कितनी ही बातें ऐसी होती हैं कि जिनका मनुष्य को पता नहीं चलता। 'मुझे समझ नहीं है' अथवा 'मुझे कम समझ है' इस बात का स्वीकार, यही ज्ञान की पहली सीढ़ी है। तत्त्वज्ञान में 'शुभ' का अर्थ यही है कि 'मुझे कम समझ है।' जब तक यह समझ नहीं आती तब तक श्रद्धा निर्माण नहीं होती। जो श्रद्धा निर्माण होती है उसका विवाह धर्म के साथ होना चाहिए।

आज श्रद्धा नहीं है, ऐसा नहीं है। हमारी रसोई बनानेवाले रसोइये पर श्रद्धा है। उसने रसोई में ज़हर नहीं डाला है यह श्रद्धा उस पर है इसीलिए रुचिपूर्वक हम खाना खाते हैं। हमारी मोटर ड्राईव्हर पर श्रद्धा है। हम गाड़ी में सो जायेंगे तो भी मोटर ड्राईव्हर हमें निर्धारित स्थान पर ले जायेगा ऐसी श्रद्धा है। ड्राईव्हर पर श्रद्धा रखकर ही बड़े बड़े बुद्धिमान अफ़सर, सभी मंत्रणायें मोटर में ही करते हैं। उनका विश्वास होता है कि ड्राईव्हर गाड़ी बराबर चलाकर गन्तव्य स्थान पर ले जायेगा। हमारी रसोइये पर, ड्राईव्हर पर श्रद्धा है

परन्तु शंकराचार्य पर, जो हमें अच्छा मार्ग दिखाते हैं, श्रद्धा नहीं है। इसका अर्थ है कि श्रद्धा एक मनोधर्म है, मगर उसका विवाह धर्म के साथ नहीं हुआ। श्रद्धा नहीं है ऐसा नहीं। नास्तिक के पास भी श्रद्धा है। किसीको शंकाराचार्य पर श्रद्धा होगी तो किसीकी कार्ल मार्क्स पर श्रद्धा होगी। मार्क्सवाद के *Higher Phase of Communism* (जो आज तक सृष्टि में आया ही नहीं है) पर हमारी श्रद्धा है परन्तु सत्युग आयेगा इस पर हमारी श्रद्धा नहीं है। इसका अर्थ यह है कि हमारी श्रद्धा का धर्म के साथ विवाह नहीं हुआ। श्रद्धा हो और उसका विवाह यदि धर्म के साथ हुआ हो तो उनका पुत्र शुभ होता है ऐसा भागवत में लिखा है। वह बहुत ही सुन्दर वर्णन• है।

दूसरी पुत्री है मैत्री! इसका भी विवाह धर्म के साथ हुआ है। इससे जो पुत्र हुआ उसका नाम है प्रसाद! तेरह लड़कियाँ, सभी का विवाह धर्म के साथ और सभीकी एक एक ही सन्तान! कितनी आश्चर्य की बात है! भागवतकार एक मानसशास्त्रीय परिणाम दिखाते हैं। श्रद्धा का पुत्र शुभ व मैत्री का पुत्र प्रसाद! मैत्री में ही प्रसाद है। प्रसाद का अर्थ है प्रसन्नता! मैत्री को अति भव्य रूप दिया है। भगवद्भक्ति की जो सीढ़ियाँ हैं उनमें भी **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं, अर्चनं वन्दनं दास्यं,** उसके आगे है **सख्यम्** (मैत्री) और फिर **आत्मनिवेदनम्** है। सख्यम्-मैत्री! बहुत ही आनन्द की बात है कि हम *Comradeship* (सख्य) के युग में पैदा हुए हैं। इस युग में आवाज तो हो रही है, काम्रेड, काम्रेड...काम्रेड..., परन्तु है या नहीं, मालूम नहीं है, कौन जाने कोई किसीका *Comrade* हुआ है या नहीं आज तक। परन्तु एक दूसरे को *Comrade* कहते तो हैं।

उष्ट्रस्य गृहे लग्नं गर्दभाः शान्तिपाठकाः।
परस्परं प्रशंसन्ति अहो रूपं अहो ध्वनिः।

जिस प्रकार लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में सभी एक दूसरे को 'भगत' कहते हैं उसी प्रकार ये लोग एक दूसरे को *Comrade* कहते हैं। एक दूसरे को भगत कहते हैं पर सभी 'बगुलाभगत' होते हैं। उसी प्रकार सच्चे अर्थ में *Comrade* कोई है या नहीं, पता नहीं है। मैत्री यह अजब चीज़ है।

यदि मैत्री का विवाह व्यवहार, वित्त या स्वार्थ से होता है तब उसका पुत्र 'प्रसाद' नहीं होता। वित्त से यदि मैत्री का विवाह हुआ तो उसका लड़का अप्रसाद ही होता है। दो भागीदार होते हैं, परन्तु एक दूसरे की ओर संशय की दृष्टि से ही देखते हैं। फिर भी बोलते समय ऐसा बोलते हैं कि हम दो भाई-भाई हैं। बीस साल से हमारी भागीदारी है, दोनों एक साथ काम करते हैं। इक्कीसवें वर्ष में, वर्ष जरा ठीक नहीं गया, अतः भागीदारी टूट गयी क्योंकि वे केवल अर्थ (वित्त) के भागीदार थे। मैत्री जब स्वार्थ से होती है तब प्रसाद नहीं मिलता। मैत्री का अर्थ ही यह है कि उसमें उसका अपना रूप खत्म हो जाता है, 'मैं' और 'तू' चले जाते हैं और 'हम' निर्माण होते हैं। इसमें दोनों बदल गये। 'हम' में 'मैं' है मगर 'तू' छोड़कर हम नहीं हैं। 'हम' में 'तू' है पर 'मैं'

छोड़कर 'हम' नहीं। 'हम' 'मैं' का दुर्गुण निकालकर 'मैं' को रखा है वैसे ही 'तू' का दुर्गुण निकाल 'तू' को रखा है। इस प्रकार 'मैं' और 'तू' दोनों बदल गये। अतः धर्म से जो मैत्री है उसमें प्रसाद है।

हम स्वाध्याय-परिवार के लोग जो समूह *(Group)* बनाते हैं वे एक दूसरे को मिलाने के लिए होते हैं ऐसा नहीं है। यह उसका आध्यात्मिक रूप है। हिम्मत हो तो समूह के भाई पर प्रेम करके दिखाओ ऐसा उसमें आह्वान है। उसमें एक दूसरे के साथ कोई रिश्ता नहीं है, स्वार्थ नहीं है, कुछ मिलनेवाला नहीं है, फिर भी प्रेम करना है। समूह के सात भाइयों पर प्रेम कर और सप्तर्षि बन जा, परन्तु वह होता नहीं, इसका कारण उसका एक आध्यात्मिक रूप है इसीका लोगों को पता नहीं है। लोग यही समझते हैं कि एक दूसरे को सँभालने के लिए समूह बनाये गये हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। मैत्री का विवाह जब स्वार्थ से, अर्थ (वित्त) से होता है तब प्रसन्नता नहीं आती, परन्तु वह विवाह जब धर्म से होता है तब उनकी सन्तान होती है प्रसन्नता, प्रसाद! भागवतकार ने बहुत ही सुन्दर लिखा है।

दक्ष प्रजापति की तीसरी पुत्री है 'दया।' दया का विवाह जब धर्म से होता है तब उसका पुत्र होता है **'अभय।'** स्वार्थ से जो दया होती है वह भिन्न है। दूसरे को दीन बनाकर जो दया की जाती है वह अलग होती है। धर्म के साथ जिसका विवाह होता है वह दया भिन्न ही है। लोगों को संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं है इसलिए कहता हूँ। जिनको भाषा का ज्ञान है वे समझेंगे व जिनको ज्ञान नहीं है वे भी भाग्यशाली हैं! अत्यन्त प्रेम जिस पर है ऐसी पत्नी को **दयिता** कहते हैं। यह जो दया है वह भिन्न ही है। दया और धर्म की सन्तान है **अभय**। दया से दूसरे को अभय मिलता है परन्तु स्वयं भयभीत है ऐसा समझकर चलो। सिंह को हम वनराज कहते हैं, मगर सिंह दस कदम आगे चलने पर तनिक रुककर अपना सिर घुमाकर पीछे देखता है। क्यों? उसके मन में डर रहता है कि कोई मुझे पीछे से मारने को तो नहीं आ रहा है? इसका कारण उसने अनेकों को मारा है। कितने ही जानवरों को मारा है, उनमें से कोई षड्यंत्र करके मुझे मारेगा तो? सिंह भयभीत होकर पीछे देखता है कि कोई मारने तो नहीं आ रहा है। इसीलिए हम सिंहावलोकन कहते हैं। सबसे अधिक भयभीत कोई होगा तो वह सत्ताधीश है। कोई ऋषि तपश्चर्या करते हैं, तो इन्द्र को डर लगता है कि कोई उसका पद छीन न ले, इसलिए इन्द्र भयभीत होता है। ऋषि तो अपने विकास के लिए तपश्चर्या करते हैं।

भागवतकार कहते हैं कि दया का विवाह धर्म से होना चाहिए भीति से नहीं! दया तो बहुत लोग दिखाते हैं परन्तु वे दूसरे को दीन बनाते हैं। अपना बड़प्पन दिखाने के लिए कुछ लोग दूसरे पर दया करते हैं। मान लो कि सृष्टि से गरीबी हट गयी तो धनवानों की हालत बहुत खराब हो जायेगी। क्योंकि वे अपना बड़प्पन किसे दिखायेंगे? बहुत लोगों को 'मैं' का गौरव लगता है, वही उनको वैभव लगता है। अन्यथा उनको दूसरे बड़ा कैसा मानेंगे?

दया अनेक कारणों से आती है। दूसरे को पीड़ित देखकर हमें लगता है कि मेरी भी ऐसी अव्यस्था हो गयी तो? हाब्स और हेल्वेशिअस ऐसी दया को ज्ञानप्राप्त स्वार्थ *(Enlightened self-interest)* कहते हैं। दूसरे की पीड़ा मुझसे देखी नहीं जाती इसलिए मैं दया करता हूँ। यहाँ दया का विवाह धर्म के साथ नहीं अपितु स्वार्थ से होता है। मनुष्य को जाँच करके देखना चाहिए कि अपने दिल में जो दया है वह धर्म से है या अन्य कारणों से है? दया धर्म से होगी तो वह जिस पर है वह कम नहीं है, कमजोर नहीं है ऐसा लगेगा। पत्नी अत्यधिक प्रिय होती है तभी संस्कृत में उसे दयिता कहते हैं। बुद्धि को दयिता नहीं कहते, बुद्धि दयिता नहीं है। 'दयिता' में दया शब्द का उच्चारण यही बताता है कि सामनेवाला कम नहीं है, कमजोर नहीं है। ऐसी दया का धर्म के साथ सम्बन्ध होता है तब उनकी जो सन्तान होती है उसे **'अभय'** कहते हैं।

दक्ष प्रजापति की तेरह कन्यायें थी। उनको हम अच्छी तरह से समझ लेंगे तो अज्ञान, पाप, माया आदि जो तेरह दुर्गुण हैं वे चले जायेंगे और नर-नारायण पैदा होंगे ऐसा लिखा है।

चौथी कन्या है शान्ति। शान्ति का धर्म के साथ विवाह होने पर जो पुत्र पैदा होता है उसका नाम है **सुख**! शान्ति तो होनी ही चाहिए। अशान्ति हो तो हम भोग भी नहीं भोग सकते। भोग भोगने के लिए भी हमें शान्ति चाहिए। मन की शान्ति चाहिए, परिस्थिति की शान्ति चाहिए तभी हम भोग, भोग सकते हैं। शान्ति अवश्य चाहिए मगर स्मशान-शान्ति नहीं चाहिए। धर्म से आयी हुई शान्ति चाहिए। शान्ति भिन्न भिन्न होती है। असहायता से भी शान्ति आती है। मोक्षपद मिलना चाहिए परन्तु उसके लिए क्या हमारा मन अशान्त है? नहीं! क्योंकि हमें विश्वास है कि मोक्षपद हमें मिलनेवाला नहीं है। यह असहायता से आयी हुई शान्ति है। हमने इग्लैंड नहीं देखा है, उसके कारण मन अशान्त है परन्तु हमने विष्णुपद नहीं देखा है उसके लिए अशान्ति नहीं है। इसका कारण हमारी निश्चित धारणा हुई है कि विष्णुपद हमारे लिए नहीं है। भयभीति से अशान्ति आती है, अगतिकता से शान्ति आती है, स्मशान-शान्ति आती है। ये भिन्न भिन्न शान्तियाँ निकाल दो। शान्ति का विवाह धर्म के साथ होता है तब सुख मिलता है ऐसा लिखा है।

दक्ष प्रजापति-अर्थात् कर्तव्यपरायण व्यक्ति की कन्या शान्ति है। यह पूरा स्कन्ध रूपकात्मक नहीं मानेंगे तो उसका अर्थ ही दिमाग में नहीं बैठेगा। भागवतकार ने स्वयं लिखा है कि **'यत्परोक्षप्रिया देवाः भगवान् विश्वभावनः।'** सबने यह स्वीकार किया है। इसीलिए शान्ति का विवाह धर्म के साथ हुआ है।

पाँचवी कन्या है **'तुष्टि।'** तुष्टि का विवाह धर्म के साथ हुआ उनसे जो पुत्र हुआ उसका नाम है **मुद**। मुद यानी आनन्द! तुष्टि जीवन की एक आवश्यक बात है। सुभाषितकार कहता है।

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्।।

सन्तोष हो तभी आनन्द मिलता है। शक्ति कब आती है? सुभाषितकार लिखता है:-

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति।
कन्दैः फलैर्मुनिवराः क्षपयन्ति कालं सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम्।।

साँप हवा पीकर रहता है परन्तु वह दुर्बल नहीं है। हाथी सूखा घास खाता है फिर भी बलवान होता है। मुनि कन्दमूल खाकर काल व्यतीत कहते हैं। सन्तोष ही पुरुष का परम निधान है। पुराने समय बल मापते तो हाथी के बल से मापते थे। भीम का बल **'नवनागसहस्रबल'** था ऐसा वर्णन है। यानी भीम में नौ हजार हाथियों का बल था। **'बलेषु हस्तिबलादीनि'** (विभूतिपाद२४) यह योगसूत्र है। हाथी का बल परमोच्च बल है। आज हमारा बल मापने का मीटर कम हो गया है। *Horse Power* आ गया है, हाथी नहीं रहा है। 'मशीन कितनी *Horse Power* की है' ऐसा पूछते हैं। 'कितने हाथी पॉवर की है? ऐसा नहीं पूछते। उसका अर्थ भिन्न है। मैं विनोद में कहता हूँ। *Horse* की भी एक *Power* है। मशिन की *Power* दिखाने के लिए *Horse Power* बोलते हैं। परन्तु इस *Horse Power* में हम एक सीढ़ी नीचे आ गये हैं। तात्पर्य यह है कि आप बिना घी की रोटी भी सन्तोषपूर्वक खायेंगे तो भी तबियत अच्छी रहेगी। असन्तोष, अतृप्ति, असमाधान से यदि बादाम, पिस्ता भी खायेंगे तो उसका परिणाम शरीर पर नहीं दिखेगा। तुष्टि कैसे आनी चाहिए? धर्म की दृष्टि में तुष्टि आनी चाहिए, तभी मुद यानी आनन्द मिलेगा।

मनुष्य को, अमुक एक वस्तु मिलनेवाली ही नहीं है इसका विश्वास हो जाने पर वह सन्तोष रखता है। कितने ही लोग फूटपाथ पर रहते हैं, उन्होंने बंगले का विचार त्याग ही दिया है, परन्तु वह समझपूर्वक धार्मिक दृष्टि से किया हुआ त्याग नहीं है। वह त्याग असमर्थता, असहायता के कारण किया हुआ है। उनके स्वप्न में भी बंगला नहीं आता है। 'मुझे बंगला मिलनेवाला ही नहीं है' ऐसा जिसे विश्वास हुआ है उसने 'बंगले में रहना मेरे नसीब में ही नहीं है' ऐसा समझकर बंगले का त्याग किया है। यह जो सन्तोष है वह तुष्टि का धर्म के साथ विवाह होने से जो सन्तोष आता है वह नहीं है। हमारे ऋषि पर्णकुटी में रहते थे लेकिन मस्ती के साथ रहते थे। राजा भी उनसे मिलने के लिए आते थे। बंगले में रहनेवालों से भी पर्णकुटी में रहनेवाले ऋषि आनंदी थे। 'मुझे अमुक स्थान मिलेगा तो ही मैं आनंदी रह सकूँगा' ऐसा नहीं है। धर्म के साथ तुष्टि का विवाह होगा तभी उनका पुत्र **'मुद'** यानी आनन्द होता है।

छठी कन्या है क्रिया। क्रिया का विवाह धर्म के साथ होता है तब **'योग'** निर्माण होता है। क्रिया और धर्म का पुत्र योग है। धार्मिक क्रिया से योग होता है। उसका अर्थ है- **युज्-** *To join* किसी वस्तु के साथ जुड़ जाना। वस्तु के साथ जुड़ना है। सुख के साथ जुड़ना है, व्यक्ति के साथ जुड़ना है, प्रभु के साथ जुड़ना है। यह सभी 'जुड़ना' क्रिया से ही होता है। ये क्रियाएं धार्मिक होंगी तभी योग होगा। आज भी हम जुड़े हुए-संलग्न-हैं परन्तु वह योग नहीं, भोग है। हम कर्म के साथ जुड़े हुए हैं या नहीं?

सुबह से शाम तक क्रियाएं होती ही रहती हैं परन्तु उनसे भोग निर्माण होते हैं, योग नहीं! योग भिन्न है। धर्म के साथ क्रिया का विवाह होगा तभी उनसे योग निर्माण होगा।

सातवीं कन्या है **उन्नति!** उसका धर्म के साथ विवाह हुआ। उसका पुत्र है **दर्प।** धार्मिक सम्बन्ध आने के बाद ही उन्नति होती है। आज जिनकी उन्नति दिखायी देती है वे गत जन्म में धार्मिक ही थे। कुछ अच्छे कर्म किये होंगे इसलिए उनकी उन्नति हुई है। उन्नति तभी होती है जब भगवान की सहायता मिलती है। अकेले के प्रयत्न से उन्नति नहीं होती। कुछ लोग कहते हैं कि हम भगवान को नहीं मानते फिर भी हमारी उन्नति हुई है। अरे भाई! पिछले जन्म में भगवान को माना है इसी कारण उन्नति हुई है। पेन्शनर यदि कहेगा कि मैं काम नहीं करता हूँ फिर भी मुझे वेतन *(Pension)* मिलता है, तो वह झूठ बोलता है। आज वह काम नहीं करता है, परन्तु तीस वर्ष नियमित रूप से दफ्तर में जाकर काम किया है इसीलिए आज पेन्शन मिलती है, अन्यथा उसे पेन्शन कौन देता?

आठवीं कन्या है **'पुष्टि!'** उसका धर्म के साथ विवाह हुआ। उनका पुत्र का नाम है स्मय अर्थात् गर्व। सभी का अध:पतन यहीं होता है। रावण धार्मिक था। उसका महिम्न स्तोत्र में वर्णन हैं।

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरम्
दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्।
शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणांभोरुहबलेः।
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम् ।। (महि.११)

रावण ने धार्मिक क्रियाएं की इसीलिए उसे वैभव मिला। देवता भी उसे नमस्कार करने आते थे। वैभव मिलते ही उसे गर्व हो गया। उसका वहीं अध:पतन हुआ। पिछले जन्म में अच्छा काम किया, भगवान का काम किया इसलिए इस जन्म में धनवान के घर *(Silver Spoon in mouth)* जन्म मिला। मिट्टी का धन्धा किया तो भी पैसा मिल जाता है। भगवान वैभव देते हैं, बुद्धि देते हैं, उसके बाद गर्व निर्माण हो जाता है और कहते हैं, "किधर है भगवान?" उनमें कुछ लोग डरपोक होते हैं। वे कहते हैं कि भगवान होंगे भी! परन्तु उनकी आज हमें आवश्यकता नहीं है। 'भगवान है ही नहीं' ऐसा बोलने के लिए भी हिम्मत होनी चहिए। परन्तु वह इनमें नहीं होती।

हमारे यहाँ कणाद हो गया। उसकी मृत्यु का समय आया तब लोगों ने कहा, 'कणाद! तेरी अन्तिम श्वास चल रही है, तू सृष्टि छोड़ रहा है, अब तो भगवान का नाम ले!' परन्तु उसने भगवान का नाम न लेकर पीलवः पीलवः (यानी अणु-अणु) कहते हुए देह छोड़ दी।

धर्म के साथ उन्नति और पुष्टि का विवाह हुआ मगर उनके पुत्र हुए दर्प और गर्व। इसका कारण था कर्तव्यबुद्धि और धर्मबुद्धि की जोड़ी, परन्तु उसके साथ प्रेमबुद्धि की, भक्ति

की जोड़ी होनी चाहिए। यह जब तक नहीं होती है तब तक उससे भी आपको खतरा ही रहता है। इसीलिए कहा है कि शुचिश्रीमान नहीं फिसलता, उसका पतन नहीं होता। इसका कारण उसे पता होता है कि कर्तव्यबुद्धि और धर्मबुद्धि के साथ भक्ति-प्रेमबुद्धि जोड़नी चाहिए।

दक्ष प्रजापति की नवीं कन्या है बुद्धि। बुद्धि का विवाह धर्म के साथ होगा तो उनका पुत्र होता है 'अर्थ।' जीवन का अर्थ, सृष्टि का अर्थ तब मालूम होगा। आज हमारी बुद्धि ने स्वार्थ के साथ विवाह किया है। जहाँ कुछ मिलता होगा वहीं हम बुद्धि चलाते हैं। किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति से कहो कि चलो, उपनिषद सुनने जायेंगे, तो वह तुरन्त पुछता है, 'उससे क्या मिलेगा?' इस बुद्धि से अर्थ नहीं पैदा होता। वह जीवन का अर्थ नहीं समझता। उसके जीवन में भयानक और घोर अन्धकार होता है। उसे जीवन, सृष्टि, विषमता, द्वंद्व, संघर्ष किसी का अर्थ मालूम नहीं, वह क्यों पैदा हुआ है यह उसे मालूम नहीं है। यह सब भूल जाने के लिए वह शराब पीता है। शराब ही पीयेगा, नहीं तो कहाँ जायेगा? अरे! शराब ही पीना है तो भक्ति की शराब पीओ! भक्ति भी एक शराब है।

किसके जीवन में पुष्टि आती है? कौन पुष्ट हो सकता है? हम समझते हैं कि अधार्मिक व्यक्ति पुष्ट बनता है। अधार्मिक व्यक्ति के जीवन में पुष्टि नहीं आती और आयी तो वह नहीं टिकती। कुछ कम-ज्यादा धार्मिकता का प्रवाह आया हो तभी पुष्टि आती है, अन्यथा पुष्टि आयी है ऐसा लगता है, परन्तु वह सूजन होती है। कुछ दिन वह सूजन रहती है फिर उतर जाती है। कभी कभी वह सूजन विकार बनकर मनुष्य को ही खत्म कर देती है।

भागवतकार ने यहाँ एक अलौकिक अर्थ समझाया है। कर्तव्यबुद्धि व धर्मबुद्धि एक साथ होते हुए भी **दर्प** और **गर्व** पैदा होते हैं। इसलिए उनके साथ प्रेमबुद्धि होनी चाहिए। यहाँ भागवतकार भक्ति लाये हैं। मनुष्य का विकास होने के बाद भी भक्ति रहनी चाहिए। वृक्ष को फल आने के बाद वृक्ष की जरूरत नहीं है ऐसा नहीं कहते हैं। भगवान ने गीता में ग्यारहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में कहा है:-

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।

मत्कर्मकृत् और **मत्परम** होने पर भी उसे **मद्भक्त** होना चाहिए। इसका कारण, वहीं फिसलने का संभव रहता है। जिस प्रकार साधना में भक्ति की नितान्त आवश्यकता है वैसी आवश्यकता सिद्ध होने के बाद भी भक्ति की है। भक्ति से आप छूट ही नहीं सकते।

बुद्धि तो सभी में होती है। कितने ही लोग कुशल बुद्धि *(Intellectual Height)* के होते हैं। अंग्रेजी में एक बहुत अच्छा शब्द है, वह मुझे बहुत अच्छा लगता है। वह है *Intellectual Giant*। ये बुद्धिमान लोग *giant* यानी राक्षस बन जाते हैं। **साक्षराः विपरीताश्चेत् राक्षसा एव-'** इसका कारण उनकी बुद्धि स्वार्थ के साथ जुड़ी होती है। अर्थ के साथ, किसी विषय के साथ जुड़ी होती है।

बुद्धि जब धर्म के साथ संलग्न होती है तब वह अर्थ से परिपूर्ण होती है। अर्थ किसका? जीवन का अर्थ! कोई बड़ा सॉलिसिटर होगा, बड़ा डॉक्टर होगा, बड़ा इंजिनियर होगा, प्रथम कक्षा का राजनीतिज्ञ होगा, उसे कदाचित् राष्ट्र में प्रथम क्रमांक का स्थान मिलेगा परन्तु उसे जीवन का अर्थ ही मालूम नहीं है। जीवन क्या है, कैसा है इस सम्बन्ध में वह विचार ही नहीं करता है। जो जीवन मिला है वह खुशी के साथ व्यतीत करता है, परन्तु जीवन क्या है यह समझने का वह प्रयत्न नहीं करता, कारण उसकी बुद्धि धर्म के साथ संलग्न नहीं हुई है। उसकी बुद्धि बड़प्पन, कीर्ति आदि के साथ जुड़ी होती है।

जीवन का अर्थ मालूम नहीं, सृष्टि के रहस्य का पता नहीं, सृष्टि किसलिए निर्माण हुई है इसका ज्ञान नहीं और इतने बड़े बड़े बुद्धिमान लोग पूछते हैं, 'इतना बड़ा *evil* सृष्टि में क्यों है?' सृष्टि में सत् और असत् साथ में क्यों रखे हैं? उनकी बुद्धि का विवाह धर्म के साथ नहीं हुआ है इसलिए उनके प्रश्न रहेंगे ही। क्यों, क्यों और क्यों यह चलता ही रहेगा। बुद्धि का विवाह धर्म के साथ होगा तभी ये बातें और जीवन का अर्थ ज्ञात होगा।

दसवीं कन्या है **'मेधा।'** मेधा का विवाह जब धर्म के साथ हुआ तब उनकी जो सन्तान हुई उसका नाम है **'स्मृति'**। आज हमें भी बहुत स्मृति है, नहीं है ऐसा नहीं। परन्तु मैं कौन हूँ, किसका हूँ, किसके लिए हूँ, किसके कारण हूँ इसकी स्मृति हमें नहीं है। वल्लभाचार्य कहते हैं, ''**तेन त्वम् असि'** उसके कारण तू है।' रामानुजाचार्य कहते हैं **'तस्य त्वम् असि'**- उसका (भगवान का) तू है।' शंकराचार्य कहते हैं, **'तत् त्वम् असि'**- मैं भगवान के कारण हूँ, मेरा उठना, रहना सोना सब उनके (भगवान के) कारण है, परन्तु यह स्मृति चली गयी है। **पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरां उन्मत्तभूतं जगत्...।** मैं कौन हूँ, किसके कारण मैं खड़ा हूँ, मेरी बुद्धि किसके कारण चलती है इसका विचार करने का समय भी लोगों के पास नहीं है और लोगों को उस सम्बन्ध में सोचना भी नहीं है। उनको ये सब बेकार की बातें लगती हैं। उनकी बुद्धि-मेधा का विवाह प्रसिद्धि, कीर्ति, वैभव, भौतिक सुख के साथ हुआ है। इन बातों के पीछे ही वे पागल बने हुए हैं। मेधा का विवाह धर्म के साथ हो तभी सच्ची बातों की स्मृति रहेगी।

ग्यारहवीं कन्या है **'तितिक्षा'।** तितिक्षा तो करनी ही पड़ती है। तितिक्षा का विवाह जब धर्म के साथ होता है तब उससे **'क्षेम'** यानी हितकारक चित्त पैदा होता है। तितिक्षा का फल बहुत लंबा होता है और विलंब से मिलता है, परन्तु वह फल मीठा होता है। व्यापारियों में क्या तितिक्षा नहीं है? निश्चित है, इसीलिए तो मौसम *(season)* अच्छा न हो तो भी नियमित रूप से दुकान में जाते हैं, ग्राहक न हो तो भी पूरे समय तक दुकान में बैठे रहते हैं। सोचते हैं कि वर्षा आयेगी। यह तितिक्षा ही है। परन्तु उसका सम्बन्ध धर्म के साथ नहीं होता, वह होना चाहिए।

बारहवीं कन्या का नाम है **ह्री**। **ह्री** का विवाह जब धर्म के साथ हुआ तब उसका पुत्र का नाम है प्रश्रय। प्रश्रय यानी सभ्यता, विनय। ह्री यानी लज्जा। जीवन में लज्जा एक अलौकिक तत्त्व है। लज्जा है इसलिए तो सभी वस्त्र पहनते है, अन्यथा वस्त्र पहनने की क्या आवश्यकता है? हमारी सभ्यता ही **ह्री** के कारण है। गरमी के दिन हैं, बिना कपड़े के नंगे भी आ सकते हैं, परन्तु नहीं आते, इसका कारण ह्री है। यह लज्जा जब समाज के साथ होती है तब एक भिन्न बात है। धर्म के साथ जब ह्री का विवाह होता है तब असली सभ्यता, असली विनय पैदा होता है। हमारे पास नियमितता है परन्तु वह धर्म के साथ बंधी हुई नहीं है। नौकरी के साथ बंधी हुई है। इसीलिए हम प्रतिदिन निश्चित समय की गाड़ी पकड़कर दफ्तर जाते हैं। मनुष्य तीस तीस वर्ष तक एक ही गाड़ी पकड़ता है, परन्तु रविवार के-छुट्टी के दिन? वह हमारा अपना दिन है। यानी उस दिन हम पैर फैलाकर सो जाते हैं। हमारा स्वभाव है वह! इसलिए हमारा बन्धन धर्म के साथ नहीं है, नौकरी के साथ है, इसीलिए हममें नियमितता आयी है। हममें गुण हैं, परन्तु वे गुण धर्म के साथ विवाह होने के बाद आये हुए नहीं हैं। इसलिए वे विकास के लिए उपयोगी नहीं होते! भागवतकार कहते हैं कि सभी गुणों का विवाह धर्म के साथ होना चाहिए।

तेरहवीं कन्या है **मूर्ति**। यह दक्ष प्रजापति की अन्तिम पुत्री है। इसलिए वह लाड़ली भी है। मूर्ति का विवाह जब धर्म के साथ हुआ और उससे **नर-नारायण** पैदा होते हैं यानी ऋषि पैदा होते हैं, ऋषि का जीवन पैदा होता है। ये सभी गुण जिधर साकार बनते हैं और धर्म जिनके साथ रहता है वहीं नरनारायण की उत्पत्ति होती है। ऋषि की उत्पत्ति होती है। मूर्ति का अर्थ मूर्तिपूजा भी है। हम मूर्तिपूजा करते ही हैं। कितने ही लोग कहते हैं कि हम मूर्तिपूजा नहीं करते, हम मूर्तिपूजा को नहीं मानते। ये लोग अकारण झूठ बोलते हैं। अपना जो एक फूट का लड़का या लड़की है उसे पाँच फ़ीट का बड़ा बनाते हैं वह मूर्तिपूजा ही है, व्यक्तिनिष्ठा है।

आज लोग कहते हैं कि व्यक्तिनिष्ठा नहीं होनी चाहिए। व्यक्ति तो व्यक्तिनिष्ठ ही होता है इसलिए तो वह छोटे से बड़ा होता है। उसके माता पिता व्यक्तिनिष्ठ न होते तो वह छोटे से बड़ा होता ही नहीं। माँ की बालक के लिए व्यक्तिपूजा होती है व बालक भी माँ कहेगी वैसा ही करता है। वह उसकी व्यक्तिपूजा ही है। आज पढ़े-लिखे लोगों ने एक ग़लत बात कही है कि व्यक्ति को नहीं मानना चाहिए यानी व्यक्तिपूजा या व्यक्तिनिष्ठा नहीं होनी चाहिए। उन्हें पता नहीं है कि व्यक्तिपूजा के कारण ही मानवता है, व्यक्तिपूजा से ही हमारा विकास है, इतना ही नहीं, व्यक्तिपूजा में ही हमारा जीवन है। भगवान की मूर्ति है, उसकी मूर्ति समझकर पूजा करेंगे तब वह भगवान की व्यक्तिपूजा ही है। व्यक्तिपूजा तो मनुष्य करेंगे ही, परन्तु उसका विवाह धर्म के साथ होगा तभी नर-नारायण उत्पन्न होंगे। तब तक नहीं, ऐसा भागवत में लिखा है।

जिस प्रकार धर्म की उत्पत्ति है उसी प्रकार अधर्म की भी उत्पत्ति दिखायी है। अधर्म का विवाह मृषा के साथ हुआ है। मृषा यानी झूठमूठ, व्यर्थ! हमारे जीवन में जो जो व्यर्थ

जाता है वह अधर्म ही है। उत्साह भी व्यर्थ जाता होगा तो वह भी अधर्म है। शक्ति *(Energy)* भी व्यर्थ जाती होगी तो वह भी अधर्म है। 'अधर्म' का अर्थ क्या है? तुमने जो जो व्यर्थ गँवाया वह अधर्म है। हममें कितनी स्फूर्ति है, कितना चैतन्य है, कितना उत्साह है, लेकिन सब बेकार (व्यर्थ) पड़ा हुआ है। हम क्लब में जाकर ताश खेलते हैं, दूसरा कुछ करते ही नहीं। यह अधर्म है। ताश खेलना अधर्म नहीं है, परन्तु उसके पीछे ही शक्ति व्यय की जाय तो वह अधर्म है। ताश खेलने को अंग्रेजी में *Recreation* कहते हैं। शक्ति *(energy)* पुनर्जीवित करने *(re-create)* करने में जितना समय लगेगा उतना ही समय खेलना चाहिए। खेलना उतना ही है। शक्ति उसमें पुनर्जीवित हो जायेगी। परन्तु अधर्म का विवाह मृषा के साथ हुआ है। मृषा अर्थात् झूठमूठ, व्यर्थ! बेकार वृत्ती, बेकार कृती और बेकार प्रेम-ये तीनों अधर्म हैं।

हम कितना प्रेम करते हैं, परन्तु हमारा प्रेम बेकार है। प्रेम की नींव में कोई भी अच्छी बात नहीं है। ऐसे प्रेम का परिणाम भी अच्छा नहीं होता। वह अधर्म है, प्रेम भी अधर्म हो सकता है। गुण भी अतिरेकी होते हैं तब अधर्म बनते हैं। माँ का वात्सल्य है, परन्तु लड़का जब चोरी करके घर आता है अथवा शराब पीकर घर में आता है तब यदि माँ वात्सल्य के कारण उसका समर्थन करे तो लड़का बिगड़ जाता है। किसने बिगाड़ा लड़के को? माँ के प्रेम ने, माँ के वात्सल्य ने, माँ के ममत्व ने! यहाँ प्रेम, वात्सल्य, ममत्व ये तीनों सद्गुण नहीं रहे, अधर्म बन गये। अहंकेन्द्रीयता, स्वार्थपरायणता और अतिरेक इन तीनों का जब गुणों के साथ संबंध आता है तब गुण भी अधर्म बन जाते हैं। अधर्म का अर्थ क्या है? हमें किसीकी चोरी नहीं करनी है। हम चोरी करेंगे तब अधर्म हो जायेगा ऐसा नहीं है। भागवतकार का कहना है कि जिसका सम्बन्ध मृषा के साथ होगा वह अधर्म है।

अधर्म और मृषा से जो सन्तति हुई वह दंभ और माया है। दंभ और माया की जोड़ी से लोभ और निकृति (बदमाशी) का जन्म हुआ। उनसे क्रोध और हिंसा ये दो अपत्य पैदा हुए। क्रोध व हिंसा से कलि और दुरुक्ति का जन्म हुआ। इनसे भय नामक पुत्र व मृत्यु नामक कन्या पैदा हुई। भय और मृत्यु से यातना व नरक ये दो अपत्य हुए।

धर्म के सम्बन्ध का परिणाम 'नर-नारायण' बताया है और इधर अधर्म के सम्बन्ध से यातना व नरक परिणाम बताया है। बहुत ही सुन्दर वर्णन है। भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में से हम इतना ही उठायेंगे तो भागवत की कथा पूर्ण हो गयी है ऐसा समझ लीजिए।

अधर्म का भी ऊर्ध्वीकरण और उन्नतिकरण आवश्यक है। क्रोध व हिंसा जब अहंकेन्द्रित, स्वार्थपरायण बन जाती है तब वे दुर्गुण हैं। जब क्रोध और हिंसा अहंकेन्द्रित या स्वार्थपरायण नहीं, तब वे सद्गुण बनते हैं। क्या प्रभु रामचंद्र ने रावण पर क्रोध नहीं किया? क्रोध था ही परन्तु उसके पीछे स्वार्थपरायणता नहीं थी। सुर्वण की लंका मिल जाय इसलिए राम का क्रोध नहीं था। इतना ही नहीं, सुवर्ण की लंका मिली फिर भी राम ने उसे स्वीकार नहीं किया। ऐसे चरित्र केवल भारत की मिट्टी में ही पैदा होते हैं। राम को

तीन तीन राज्य मिले परन्तु छोड़कर चल पड़े। अयोध्या का राज्य स्वयं का था, उस पर पानी छोड़ दिया। किष्किंधा का राज्य स्वयं कमाया था, उस पर भी पानी छोड़ दिया। लंका का राज्य स्वयं ही कमाया था परन्तु वह भी छोड़ दिया। तीन तीन राज्यों पर पानी छोड़नेवाला पागल केवल इसी मिट्टी में पैदा होता है। वैसे ही श्रीकृष्ण है। कंस को मारने पर राजमुकुट चरणों में आया परन्तु वह उग्रसेन के सिर पर रख दिया। स्वयं राज्यपद नहीं लिया। श्रीकृष्ण किसी दिन राजा नहीं बने।

दंभ दुर्गुण है। तुम चित्त एकाग्र करने का अभ्यास करते हो तब आँखे बंद करके बैठते हो। क्या उस समय चित्त एकाग्र होता है? नहीं होता। तो क्या वह तुम्हारा दम्भ नहीं है? सभी साधनाएं दम्भ में ही आती हैं। मेरी चित्तैकाग्रता नहीं होती, कुछ नहीं होता, सिर्फ मैं आँखे बंद करके सीधा बैठ जाता हूँ। यह दम्भ नहीं है, अभ्यास है। हाँ, जब किसी को दिखाने के लिए मैं वह करूँगा तब वह दम्भ होगा। मेरे घर कोई सुबह सात बजे आनेवाला है तब सात बजने से पाँच मिनट पहले मैं चित्त एकाग्र करने बैठूँगा तो वह दम्भ हो जाता है। अन्यथा साधना दम्भ ही है। अत: जो दुर्गुण हैं, अधर्म हैं उनका भी ऊर्ध्वीकरण होना चाहिए। जिस प्रकार जब गुणों के साथ अंहकेन्द्रीयता, स्वार्थपरायणता और अतिरेक जुड़ जाते हैं तब वे गुण भी अधर्म बनते हैं, उसी प्रकार अधर्म के जो रूप हैं उनके पीछे अहंकेन्द्रीयता और स्वार्थपरायणता हो तो वे दोष हैं, मगर अहंकेन्द्रीयता और स्वार्थपरायणता उनके पीछे न हो तो वे सद्‌गुण होते हैं। मृषा, दम्भ भी सद्‌गुण बन जाते हैं।

शिक्षा देने के लिए भी झूठ,-असत्य उठाना ही पड़ता है। झूठ का ही अधिकतर स्थान है।

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।।

उसके ऊपर पूरा व्याकरण-शास्त्र है। आपने यह पढ़ा होगा कि बिन्दु को लम्बाई और चौड़ाई नहीं होती *(The point has no length and no breadth)* परन्तु उनके बिना क्या बिन्दु हो सकता है? कागज़ और पेन्सिल का सम्बन्ध आया कि लम्बाई-चौड़ाई आ ही गयी। यह होते हुए भी कहा जाता है कि ऊपर का वाक्य समझ लो। अर्थात् बिंदु की लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती अतः समझ लो कि वह झूठ है, परन्तु उसमें से हमें अच्छा निकालना है। तात्पर्य यह कि झूठ को स्थान नहीं है, ऐसा नहीं है। मैं तो कितनी ही बार कहता हूँ कि गाली को भी स्थान है। प्रथम जिसने गाली निकाली होगी वह मेरी दृष्टि में तो ऋषि है। यदि उसने गाली न दी होती तो हाथ में डंडा लेकर एक ने दूसरे का सिर ही फोड़ दिया होता। क्रोध आया कि उठा लिया डंडा और दे मारा उसके सिर पर! यही उसका परिणाम होता! क्रोध आने पर किसीने कहा होगा, 'डंडा हाथ में न ले, उसे दो गालियाँ दे दे, तेरा क्रोध शान्त होगा और वह भी जीवित रहेगा! वह सुधर जायेगा।'

जिसने गाली खोजी होगी वह महापुरुष ही होगा। मैं गालियों का समर्थन नहीं करता हूँ परन्तु उसकी ओर भिन्न दृष्टि से देखना चाहिए। यदि गालियाँ देने से ही मनुष्य खून होने से बच जाता है, तो क्रोध की उत्तेजना *(Provocation)* में क्या नहीं हो सकता? सब कुछ हो सकता है। उसके बदले में एकाध गाली दे दे, एकाध दुरुक्ति बोल दे, समझ लो सामनेवाला मर गया। गाली या दुरुक्ति सौम्य हिंसा का प्रकार है।

मुझे इतना ही कहना है कि जो दोष बताये हैं उनमें क्रोध होगा तो प्रभु रामचन्द्र ने भी रावण पर क्रोध किया है और कृष्ण भगवान ने भी कंस पर क्रोध किया है। कंस पर क्रोध करके कृष्ण ने छलांग मारकर उसे सिंहासन पर से नीचे खींचा और उसकी चोटी पकड़कर उसे मारा है। कंस ने क्या मल्लयुद्ध का आह्वान दिया था कृष्ण को? नहीं! क्रोध था वह। परन्तु उसके पीछे स्वार्थपरायणता नहीं थी। स्वयंकेन्द्रीयता, अहंकेन्द्रीयता और स्वार्थपरायणता इनको निकालना हो तो आपको साधन बनना होगा और साधन बनना होगा तो भक्ति करनी होगी। दूसरा कोई रास्ता नहीं है। **निमित्तमात्रं भव...**। *Instrumental devotion* यही गीता ने कहा है-मैं किसीका (यानी भगवान का) साधन-*Instrument* हूँ।

भागवत में कितनी अच्छी तरह से मानव-मनोविज्ञान *(Human Psychology)* कही गयी है। संघर्ष खड़ा करना और उसका दैवीकरण दिखाया है! इसका कारण जीवन में संघर्ष की आवश्यकता है। इतनी प्रगत विचारधारा अन्यत्र कहीं भी नहीं होगी। भागवत में वह कथारूप में कही है और उपनिषदों मे तत्त्वरूप में आयी है।

चतुर्थ स्कन्ध में भिन्न भिन्न बातें आती हैं। उनमें पाप-समस्या *(Problem of evil)* यह जो प्रश्न तत्त्ववेत्ताओं को सताता है, परेशान करता है, उसे सुलझा दिया है। भागवतकार ने कहा है कि अधर्म की निर्मिति भी ब्रह्मदेव ने की है। उसकी भी आवश्यकता है। संघर्ष में द्वन्द्व चाहिए। संघर्ष के बिना द्वन्द्व नहीं। संघर्षानुकूल मनोवृत्ति ही जीवन-व्यवहार है। दक्ष प्रजापति की तेरह कन्याओं का विवाह धर्म के साथ हुआ। उसमें एक महत्त्वपूर्ण बात है, मनोवैज्ञानिक बात है कि इन गुणों का सम्बन्ध धर्म के साथ क्यों होना चाहिए? व्यवहार उपयुक्तता के साथ होगा तो क्या होगा? दया का सम्बन्ध उपयुक्तता के साथ हुआ तो क्या होगा? दया का विवाह आर्थिक व्यवहार के साथ हुआ तो क्या होगा? शान्ति का विवाह धार्मिकता के साथ ही होना चाहिए यह आग्रह है। ऐसा हुआ तो ही वे गुण विकास के लिए उपयोगी बनेंगे।

मैं विनोद में कहता हूँ कि जिस प्रकार वसिष्ठ स्थितप्रज्ञ हैं वैसा व्यापारी भी स्थितप्रज्ञ है। ग्राहक फिर से आना चाहिए, आज ग्राहक बिना कुछ खरीदे वापस गया यह सच है, परन्तु वह कहाँ जायेगा? कल फिर से आयेगा। आज भले ही वह गाली देकर गया हो, परन्तु कल उसे वापस आना ही होगा इस दृष्टि से व्यापारी शान्त रहता है। व्यापारी की यह शान्ति विकास के लिए उपयोगी नहीं होती। शान्ति का विवाह, उसका सम्बन्ध धर्म के साथ होना चाहिए यह आग्रह है। शान्ति का विवाह धर्म के साथ होने के बाद भी भागवतकार ने अति सुन्दर चित्रण किया है। उसका विवाह धर्म के साथ हुआ तब दर्प पैदा

होता है और पुष्टि का विवाह धर्म के साथ होने पर स्मय-गर्व पैदा होता है। यह कहने का अर्थ यह है कि केवल धर्मबुद्धि नहीं चलती। भक्ति से भीना हृदय और ज्ञान से मजबूत बनी हुई बुद्धि हो तभी धर्म व नीति समझ सकते हैं और उनका आचरण कर सकते हैं। भक्तिरहित धर्म होगा तो दर्प व गर्व आयेंगे। उनके पीछे भक्ति होनी चाहिए यह एक आवश्यक बात है।

आज का युग समस्या का युग है। उसका एक ही रास्ता, एक ही उपाय है और वह है भक्ति की दृष्टि, जिसे हम विनोद में दिव्यचक्षु कहते हैं। आज ये दिव्यचक्षु देने की आवश्यकता है। धर्म यदि भक्तियुक्त न हो तो वह एक दुराग्रह *(Dogma)* बन जाता है। दुराग्रह बन जाने पर धर्म, धर्म रहेगा परन्तु भक्ति चली जायेगी, प्राण ही चला जायेगा। आज सभी मंदिरों में धर्म चल रहा है। प्रातःप्रबोधन है, दर्शन है, स्नान है, राजभोग है, सभी धर्म चल रहा है। उसमें से यदि भक्ति चली गयी तो क्या रहेगा? जिसमें से भक्ति चली जाती है वहाँ से सब कुछ चला जाता है, ऐसा भागवत का कहना है।

भागवतकार भक्ति लिखने के लिए उद्युक्त हुए हैं। भक्ति ही नहीं रही तो फिर क्या रहेगा? धर्म दुराग्रही बन जायेगा। कितनी ही धार्मिक क्रियाएं ऐसी चलती हैं। संक्रान्ति में क्या करना चाहिए? तो कहते हैं तिल-गुड़ के लड्डू बनाने चाहिए। संक्रान्ति के दिन घर-घर में तिलगुड़ के लड्डू बनते हैं भगवान के लिए ले जाते हैं, परन्तु इस क्रिया के पीछे कोई भावना नहीं है, धर्म नहीं है, प्राण नहीं है, भक्ति नहीं है। एक विनोद की बात कहता हूँ। एक पोते ने अपने दादा से पूछा, 'दादाजी! श्राद्ध का अर्थ क्या है? श्राद्ध में क्या करना होता है?' दादा ने कहा, 'श्राद्ध में ब्राह्मण को बुलाकर उसे खीर खिलाते हैं। शेष खीर हमें प्रसाद के रूप में खानी चाहिए।" पोते ने पूछा, 'ऐसा? तो श्राद्ध कब होता है?' 'कोई मर जाय तब!' पोते ने पूछा, 'तो दादाजी! आप कब मरेंगे?' 'क्यों तू ऐसा पूछता है?' 'तभी श्राद्ध होगा और खीर खाने को मिलेगी न?' कोई मरे तब श्राद्ध करना और ब्राह्मण को बुलाकर खीर खिलाना यह धर्म हो गया। श्राद्ध का अर्थ खीर, सक्रान्ति का अर्थ है तिलगुड़ के लड्डू, उसमें से प्राण चला गया है, भक्ति भी चली गयी है। ऐसा धर्म नहीं चलेगा। भक्ति से भीना हृदय और ज्ञान से स्थिर बुद्धि हो वहाँ धर्म और नीति होते हैं। धर्म का आचरण हम समझते हैं उतना आसानी से नहीं हो सकता। फिर गीता की आवश्यकता ही क्या है?

गीता का आग्रह है, **'श्रुत्वा धर्मं विजानाति-श्रुत्वा ज्ञानामृतं लभेत्'** सुनना पड़ेगा क्योंकि सुनने से ही धर्म मालूम पड़ेगा। सतत *(non-stop)* सुनना पड़ेगा। वह भी केवल ध्रुव, प्रह्लाद की कथाएं नहीं, अपितु तत्त्वज्ञान सुनना पड़ेगा जिससे बुद्धि तीक्ष्ण बनेगी। स्वाध्याय की क्या आवश्यकता है? जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वाध्याय होना चाहिए। ऐसा नहीं होगा तो समस्यायें रहेंगी।

आज लोग कहते हैं कि गरीबों को खिलाओ तो गरीबी चली जायेगी। अरे! धनवानों की आँखों में भी गरीबी है तो गरीबी जायेगी कैसे? गरीबी हटानी हो तो **'श्रुत्वा धर्मं**

विजानाति..' ही करना पड़ेगा, अन्यथा गरीबी नहीं हटेगी। गीता भी कहती है कि **'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता।'** कर्म क्या है, अकर्म क्या है यही हम समझ नहीं सकते। लोग कहते हैं, 'इसमें क्या है? धर्म क्या है यह हमें मालूम है।' मैं सामान्य धर्म की बात नहीं करता हूँ। अलग अलग प्रांत, भिन्न देश, भिन्न भिन्न सम्प्रदाय आदि में धर्म के नाम पर जो कुछ चल रहा है उसकी बात मैं नहीं करता हूँ। परन्तु जिसे वैश्विक धर्म या वैश्विक नीति कहते हैं, ऐसे विश्वमान्य सिद्धान्त भी निरपवाद नहीं हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि तत्त्व भी निरपवाद नहीं हैं। ये निरपवाद तत्त्व नहीं हो सकते। इन तत्त्वों ने समस्याएं खड़ी कर दी हैं। मैंने एक बार कहा था कि अहिंसा का पालन करना चाहिए हिंसा नहीं करनी चाहिए। किसे मानना चाहिए? हिंसा नहीं करना चाहिए, ठीक है, परन्तु समझ लो कि कोई तुम्हारी माँ या बहन पर, पत्नी पर या किसी लड़की पर जबरदस्ती से बलात्कार करने आया तो तुम क्या करोगे? यहाँ अहिंसा श्रेष्ठ है या हिंसा श्रेष्ठ है? कौन से धर्म का आचरण करना चाहिए? हमारा नीतिशास्त्र कहता है:-

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेव विचारयन्।।

लोग कहते हैं कि धर्म समझने में इतनी कठिनाई आपको क्यों लगती है? **'महाजनो येन गतः स पन्थाः'** महाजन जिस रास्ते से गये हैं उस रास्ते से जाना चाहिए इसमें क्या कठिन है? परन्तु, जिस मार्ग से महाजन गये हैं उस रास्ते से हम नहीं जा सकते।

अहिंसा शब्द सुनने पर सन्त एकनाथ का क्रोधरहित जीवन दृष्टि के सामने आता है। एकनाथ का जीवन अति विलोभनीय था। जिसके घर में स्वयं भगवान द्वारिकाधीश नौकर बनकर रहे, घर में पानी भरा, रसोई बनायी इससे बढ़कर और क्या चाहिए? एक भक्त द्वारिका में भगवान के दर्शन करने गया। वहाँ भगवान नहीं दीख पड़े। उसे स्वप्न में पता चला कि भगवान पैठण में एकनाथ के घर नौकर बनकर रह रहे हैं। वह भगवान को ढूँढने के लिए महान् भक्त एकनाथ के घर आया।

भगवान को लगा कि अब सबको पता चल जायेगा, इसलिए श्रीखंड्या के रूप में आये हुए भगवान अन्तर्धान हो गये। उसके बाद पैठण में किसी ने श्रीखंड्या को नहीं देखा। जिसने एकनाथ के घर दस साल तक काम किया वह श्रीखंड्या किसी को देखने को भी नहीं मिला। वहाँ से भाग जाने के लिए उस समय हवाई जहाज़ या हेलिकोप्टर नहीं था कि जिससे वह भाग सकता। तो फिर वह कहाँ गया? किसी को पता नहीं चला, मगर श्रीखंड्या चला गया यह बात सत्य थी। इतने पवित्र एकनाथ का जीवन क्रोधरहित था।

एकनाथ महाराज की शान्ति कुछ लोगों से सहन नहीं होती थी। अतः एकनाथ महाराज की फजीहत करने की घात में ये लोग रहा करते थे। एक दिन इन लोगों की बातें चल रही थीं तब वहाँ एक ब्राह्मण आया। वह बहुत दूर से आया था। उसे देखकर उन लोगों ने उसके आने का कारण पूछा। ब्राह्मण ने कहा, 'लड़के के उपनयन के लिए

दो सौ रूपये यहाँ से मिलेंगे इस आशा से आया हूँ।' गुण्डों ने कहा, 'ऐसी बात है, तो हम दो सौ रुपयों का प्रबंध कर देंगे। यहाँ एकनाथ नामक एक साधू है, उसे तुम चिढ़ा दो। उसे क्रोध आया कि तुम्हें हम दो सौ रूपये देंगे।' ब्राह्मण को लगा कि यह काम बहुत ही आसान है। उसने एकनाथ का घर पता कर लिया और सीधे उनके घर पहुँच गया। पता चला कि एकनाथ पूजा कर रहे हैं। यह ब्राह्मण बिना हाथ-पैर धोये, बिना जूते उतारे सीधे एकनाथ महाराज की गोद में जाकर बैठ गया, मगर एकनाथ को थोड़ा भी क्रोध नहीं आया। हँसते हुए उन्होंने कहा, 'कितना प्रेम है आपका! मुझे मिलने को तो बहुत लोग आते हैं, परन्तु ऐसा प्रेम मैं आज ही देख रहा हूँ, आपको जूते निकाल रखने का भी भान नहीं रहा। आपके दर्शन से मुझे बड़ा आनन्द हुआ, ऐसा ही प्रेम होना चाहिए।' ब्राह्मण का यह पहला वार खाली गया।

एकनाथ ने उसे स्नान करके भोजन करने के लिए कहा। ब्राह्मण गोदावरी नदी पर स्नान करने गया। जानबूझकर उसने विलंब किया। लौटकर देखा तो एकनाथ भोजन के लिए उसकी राह देख रहे थे। ब्राह्मण के आते ही उसे अपने समीप ही आसन पर बिठाया। खाना परोसने के लिए एकनाथ की पत्नी गिरिजाबाई आयीं और ब्राह्मण के पात्र पर घी डालने के लिए ज्यों ही झुकीं, त्यों ही ब्राह्मण उनकी पीठ पर चढ़ बैठा। एकनाथ ने गिरिजाबाई से कहा, 'हाँ! सँभालना, ब्राह्मण कहीं नीचे न गिर पड़े।' गिरिजाबाई भी एकनाथ महाराज की धर्मपत्नी थी। उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा, 'कोई हर्ज नहीं, मुझे हरिपंडित (पुत्र) को पीठ पर लादे काम करने का अभ्यास तो है ही, मैं भला अपने इस दूसरे बच्चे को कैसे गिरने दूँगी?' एकनाथ महाराज की इतनी शान्ति देखकर लगता है कि कैसा उनका जीवन होगा! **'महाजनो येन....।'**

इतने में आँखों के सामने दूसरा एक महान् चरित्र आता है। वह यानी प्रभु रामचन्द्र। जब रावण सीता को उठाकर ले गया तब राम ने आकाश पाताल एक कर दिया। राम-रावण में ऐसा युद्ध हुआ कि जिसके लिए कहा जाता है,

'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।'

अब एकनाथ को मानना या राम को?

दूसरा तत्त्व है-सत्य। **'सत्यं वद-'** सत्य बोलना चाहिए, परन्तु सत्य भी क्या निरपवाद तत्त्व है? सत्य बोलना चाहिए यह बात सही है। एक साधु एक वृक्ष के नीचे बैठकर साधना कर रहा था। वहाँ से एक बारात गयी। उसमें अनेक स्त्रियाँ थी और वे सब गहनों से लदी हुई थीं। बारात पूर्व दिशा की ओर चली गयी। इतने में हाथ में नंगी तलवारें लेकर डाकू घोड़ों पर बैठकर वहाँ आये और उन्होंने साधु से पूछा कि बारात किस दिशा की ओर गयी? अब समझो कि **'सत्यं वद'** का आधार लेकर उस साधु ने सच्ची बात कह दी तो क्या होता? अनेक स्त्रियों की बेइज्जति होती और अनेक

जानें चली जातीं। साधु को क्या करना चाहिए? शास्त्रकार कहते हैं कि पूर्व दिशा की ओर बारात गयी हो तो वह पश्चिम दिशा की ओर गयी है ऐसा कहना चाहिए। वेदव्यास ने लिखा है:-

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यल्लोकहितमत्यंतं एतत् सत्यं मतं मम।।

अब इसमें से कैसे मार्ग निकालेंगे? सत्य बोलना चाहिए यह तो इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, हिन्दु धर्म, सिख धर्म, पारसी धर्म सभी धर्म मानते हैं। क्या कोई ऐसा संप्रदाय है कि जो सत्य, अहिंसा आदि तत्त्वों को नहीं मानता है?

सत्य भी निरपवाद तत्त्व नहीं है। सत्य के लिए भी हमारे शास्त्रकारों को कुछ मर्यादाएं लिखनी पड़ी हैं। सत्य ही बोलना चाहिए ऐसा आग्रह हो तो किसी की मसखरी-मजाक करना या नहीं? विनोद करना या नहीं? वाग्विलास करना या नहीं? इसीलिए हमारे शास्त्रकार कहते हैं-

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि।।

तुम मजाक में झूठ बोलोगे तो पाप नहीं है, परन्तु वह केवल मज़ाक ही होना चाहिए। जिससे दूसरे के स्वार्थ को धक्का न लगे और अपना स्वार्थ सिद्ध न हो ऐसा मज़ाक होना चाहिए। उसे अंग्रेजी में निर्दोष असत्य *(Innocent lie)* कहते हैं। मजाक करना या नहीं? *April fool* करना या नहीं? करना! जिससे दूसरे की हानि नहीं और अपना लाभ नहीं ऐसा झूठ बोलेंगे तो चलेगा ऐसा नीतिशास्त्रकार कहते हैं।

फिर कहते हैं, **'न स्त्रीषु राजन्...'**। स्त्री के पास असत्य बोलेंगे तो चलेगा। उसके पास सत्य बात कही तो वह तुरन्त सबको बता देगी और प्रत्येक को यह कहेगी कि केवल तुझे ही बता रही हूँ, किसी से मत कहना। फिर क्या होगा? यहाँ स्त्री यानी केवल नारी जाति ऐसा ही नहीं समझना। इस वृत्ति का पुरुष हो तो उसे भी उद्देश्यकर नीतिशास्त्र कहता है।

उसी प्रकार किसी का विवाह होनेवाला हो और उसके विरोधी बातों का आपको पता हो फिर भी सच नहीं कहना चाहिए। कोई पूछने आयेगा तो भी सच नहीं बताना चाहिए। वैसे ही प्राण-भय हो अथवा सर्वधन हरण हो जाने का प्रसंग हो तो उस समय भी सच नहीं कहना है, ऐसा नीतिशास्त्रकार कहते हैं।

सिजविक नामक लेखक ने *Method of ethics* नाम की एक पुस्तक लिखी है। उस पुस्तक को पढ़ेंगे तो ऐसा लगेगा कि हमारा नीतिशास्त्र उन्हें पढ़ाने की आवश्यकता ही नहीं है। उसने असत्य कहने की छूट देनेवाली बातों की इतनी लम्बीं सूची दी है कि पूछो मत! आज के शिक्षित लोग इसीलिए सिज़विक का नीतिशास्त्र पढ़ते हैं। उसने लिखा है कि पागल व्यक्ति के साथ झूठ बोलेंगे तो चलेगा, बीमार के पास झूठ बोलेंगे तो चलेगा, इतना

हीं नहीं, वकील अपने मुवक्किल *(clients)* के साथ झूठ बोले तो भी चलता है, व्यापारी ग्राहक के साथ झूट बोलेगा तो भी चलेगा। ऐसी कितनी ही बातें लिखी हैं। मुंम्बई के मूलजी जेठा मार्केट के व्यापारी यही नीतिशास्त्र उठायेंगे न? या किसी दूसरे का नीतिशास्त्र उठायेंगे? जाने दो।

हम स्वप्न में दिया हुआ शब्द सत्य करनेवाले हरिश्चन्द्र को मानते हैं। उसने स्वप्न में शत्रु को शब्द दिया था। हरिश्चन्द्र को मालूम था कि विश्वामित्र राज्य लेने के लिए आया है, शत्रु है, फिर भी स्वप्न में दिया हुआ शब्द सत्य किया और अपना राज्य छोड़ दिया। राजा हरिश्चन्द्र सत्य का अति उच्च शिखर है। एक ओर यह चित्र है तो दूसरी ओर देखिये- युद्ध चल रहा है, युद्ध के मैदान में **'नरो वा कुञ्जरो वा'** कहनेवाला युधिष्ठिर-धर्मराज और वैसा कहने को बाध्य करनेवाला श्रीकृष्ण इन दोनों में से कौन हमें अमान्य है? कहनेवाला धर्म है और कहलानेवाले? वे तो प्रात:स्मरणीय हैं! उनके सम्बन्ध में तो बोला ही नहीं जाता! अब, हरिश्चंद्र के रास्ते से जायेंगे या इन महापुरुषों के रास्ते से जायेंगे? इसलिए कहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही निश्चित करना पड़ेगा कि कौन से मार्ग से जाना है! हम पुस्तकें पढ़कर समझते हैं जीवन उतना आसान नहीं है। जीवन का धर्म और जीवन के सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न होते हैं, अत: उनके सम्बन्ध में उसे स्वयं ही निर्णय लेने पड़ेंगे।

अस्तेय दूसरे के पसीने का नहीं खाना चाहिए यह सिद्धान्त है। समझ लीजिए, बारह साल वर्षा नहीं हुई, जीवन असंभव हुआ। खाने के लिए अन्न का दाना घर में नहीं है, ऐसे समय क्या करना चाहिए? विश्वामित्र के जीवन में ऐसा ही प्रसंग आया था। जीवित रहने के लिए उसने चोरी की। उससे पूछा गया तो उसने कहा, 'मुझे मालूम है, मैं सभी शास्त्र जानता हूँ। इस समय मैं जीवित रहूँगा तभी हजारों सत्कर्म कर सकूँगा। इसीलिए मैंने चोरी की है। केवल जीवित रहने के लिए ही जितना चाहिए उतना ही उसने लिया। उसके बाद उसने दूसरे का दिया जल नहीं पिया। इसका कारण जल बाहर पिया जा सकता है। वह कहता है, **'मरणात् जीवितं श्रेयः।'** ऐसी स्थिति आती है तब सिजविक साहब ने इतनी छूट दी है कि *'It is not only allowable, but your duty is to steal।'* उसने आठ दस ग्रंथ लिखे हैं। इसका कारण हमारे जैसा सूत्रबद्ध लिखने की उसे आदत नहीं थी। उसे एक बात लिखनी हो उस पर दस बारह प्रकरण लिखने पड़ते हैं और हमारे एक श्लोक में वह सब आ जाता है जैसे **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** यह सूत्रबद्ध लेखन है।

सिजविक कहता है *'Not only allowable but duty to steal।'* विश्वामित्र कहता है, **मरणात् जीवित श्रेयः।** मैं जीवित रहूँगा तो सैंकड़ों अच्छे काम कर सकूँगा। इसके विपरीत विदुला अपने पुत्र को उपदेश देती है, जो उपदेश पांडवों को मिला है। विदुला कहती है, 'तू मर जायेगा तो भी चलेगा, परन्तु तू गलत मार्ग से मत जा।' **'जीवितात् मरणं वरं।'** इन दोनों में से तुम कौनसा मार्ग अपनाओगे? यह बहुत कठिन समस्या है। इसलिए कहता हूँ कि धर्म, धर्म बोलते तो हैं, परन्तु जब धर्म और नीतिशास्त्र तथा

जीवन-सिद्धान्त का प्रश्न आता है तब निर्णय करने के लिए बुद्धि को निरन्तर तीक्ष्ण करना पड़ता है। हजामत करते समय नाई अपने उस्तरे को बार बार चमड़े के पट्टे पर घिसता है, क्यों? उस्तरे की धार तेज हो जाती है, उसको फिर से तीक्ष्ण बनाने के लिए! इसी प्रकार अपनी बुद्धि की धार तीक्ष्ण रखने के लिए प्रतिदिन स्वाध्याय करना चाहिए। यह न बन सका तो कम से कम प्रति रविवार के दिन स्वाध्याय करके बुद्धि को तीक्ष्ण बनाना ही चाहिए। बुद्धि को तीक्ष्ण बनाते समय पानी भी लगाना चाहिए यानी बुद्धि भक्तियुक्त होनी चाहिए। भक्ति से भीना हुआ हृदय व ज्ञान से मजबूत बनी हुई बुद्धि ही धर्म और नीति निश्चित करते हैं। उस व्यक्ति के जीवन में धर्म और नीति रहती है। कहा और किया, वैसा हो नहीं सकता। संक्षेप में, धर्म के तत्त्व भी निरपवाद नहीं हैं।

आप सभी लोग शिक्षित हैं। मैं आपको उलझन में नहीं डालता हूँ, परन्तु आप सोचते ही नहीं हैं इसलिए आपको उलझनें नहीं हैं। आप सोचेंगे तो उलझनें ही उलझनें पैदा होंगी। आप विचार करेंगे कि जिस मार्ग से चल रहे हैं वह योग्य है या अयोग्य? उसका निर्णय दूसरा कोई नहीं करेगा, आपको ही करना होगा अथवा भगवान करेंगे। उसमें दूसरा कोई नहीं चलेगा। बुद्धिमान व्यक्ति को इसलिए अपनी स्वयं की ही बुद्धि तैयार करनी पड़ेगी कि किस रास्ते से जाना है। यही भागवतकार ने दिखाया है कि धर्म से विवाह उन्नति का हुआ, फिर भी दर्प पैदा हुआ, पुष्टि का विवाह भी धर्म के साथ हुआ, फिर भी गर्व पैदा हुआ और अन्त में वे लिखते हैं कि भक्ति के बिना नहीं चलेगा। सभी मनोवैज्ञानिक गुणों का सम्बन्ध धर्म के साथ होना चाहिए और धर्म भक्ति के साथ बंधा होना चाहिए।

इस प्रकार पाप की समस्या *(Problem of evil)* का सुन्दर विवरण चतुर्थ स्कन्ध में है। प्रत्येक गुण का धर्म के साथ विवाह और उससे होनेवाले परिणाम मनोविज्ञान के अभ्यास का विषय है। इतना लेखन *(matter)* यदि विदेशियों को मिलता तो उस पर वे दस पुस्तकें लिखते और वे ग्रंथ मानव के लिए मार्गदर्शक बन जाते। हम भागवत पढ़ते हैं और उस पर फूल चढ़ाते हैं, बस्स्! हो गया अपना कर्तव्य समाप्त!

इसलिए कहता हूँ कि पाप की समस्या यह एक बात है, और दूसरी बात यह है कि विभिन्न गुण भिन्न भिन्न दृष्टि से आ सकते हैं। उपयुक्तता से भी आ सकते हैं और आर्थिक दृष्टि से भी आ सकते हैं, सामाजिक आवश्यकता से भी आ सकते हैं, परन्तु उनसे पुष्टि नहीं मिलती और विकास भी नहीं होता। धर्म के सत्य गुणों का सम्बन्ध आने से ही उनकी पुष्टि व विकास है यह आग्रहपूर्वक भागवतकार का कहना है। यह अत्यन्त प्रभावी विचार है।

दूसरी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। भागवतकार के मत के अनुसार प्रथम राजा मनु हुआ। उसके बाद उत्तानपाद और उत्तानपाद के बाद ध्रुव राजा हुआ। ध्रुव के दो पुत्र थे-एक उत्कल और दूसरा था वत्सल! उत्कल ने राज्य छोड़ दिया इसलिए वत्सल राजा बना।

चतुर्थ स्कन्ध में उनकी पूरी वंशावली है और उन्होंने शासन कैसे चलाया उसका वर्णन भी है। पुष्पार्ण, चक्षु आदि अंगराजा तक सभी राजाओं ने अच्छी तरह राज्य किया। अंगराजा के बाद एक घटना घटी।

भागवत की ऐसी मान्यता है कि राज्यपद ब्रह्मदेव का दिया हुआ है और वह एक दैवी भेंट है। राज्य के सम्बन्ध में दो कल्पनाएं हैं-एक धर्मराज्य और दूसरा राक्षसराज्य। 'राक्षस' का अर्थ बुरा नहीं लेना है। राक्षस यानी 'मैं तुम्हारी रक्षा करने के लिए कटिबद्ध हूँ, तुम निश्चिन्त होकर सो जाओ।' ऐसा कहनेवाले जो लोग हैं वे राक्षस कहलाते हैं। आज तो सब कुछ राज्यसंस्था ही करती है। आज तो ऐसी परिस्थिति खड़ी हुई है कि राज्यसंस्था के बिना व्यक्ति पंगु बन गया है। क्या जाने, सभी राज्यसंस्था को ही न करना हो! सभी ओर से एक ही आवाज़ सुनायी देती है कि सभी चीजों का राष्ट्रीयकरण *(Nationalisation)* कर दो। सभी विपत्तियों का एक ही उत्तर है, राष्ट्रीयकरण करो।

राज्य की उत्पत्ति दो प्रकार से मानी गयी है। एक विकास की दृष्टि से और दूसरी भागवत की दृष्टि से। मनु ने मानवशास्त्र लिखा है। मनु की जो प्रथम स्मृति लिखी हुई है उसका नाम 'मानवधर्मशास्त्र' है। जो मानव हैं उसके लिए वह स्मृति लिखी गयी है, जो इस भूगोल-खण्ड में रहते हैं उनके लिए मनुस्मृति है ऐसा नहीं है। मनुस्मृति मानवधर्मशास्त्र है। मनु ने मानवधर्मशास्त्र में लिखा है कि मानव में कृतज्ञता आनी चाहिए। उसमें भगवान को पहचानना और उनके साथ सम्बन्ध रखना- ये दो बातें आती हैं। ये दो बातें आयी कि तुम मानव बन गये। मानव में कृतज्ञता होनी चाहिए यह सिद्धान्त है। जीवन में एक गुण (कृतज्ञता) आ गया कि अन्य सभी गुण आ जाते हैं।

केवल मनुष्य में ही कृतज्ञता आ सकती है। कृतज्ञता यानी किये हुए प्रेम तथा उपकार का स्मरण। भगवान के प्रेम को पहचानना और उनके साथ सम्बन्ध रखना मानवता है। मनु ने क्या कहा है वह कहता हूँ। मनु ने स्थूल रूप में पहले यह बात की और बाद में उसके कानून बने। उन्होने कहा, 'तू मनुष्य है न? तुझे पहचानना चाहिए। क्या पहचानना चाहिए? प्रेम पहचानना चाहिए। भगवान का प्रेम पहचानना चाहिए। वर्षा आती है वह भी प्रभु का प्रेम है और तू छोटे से बड़ा हुआ यह भी प्रभु का प्रेम है। भगवान का प्रेम मनुष्य ही पहचान सकता है और जो भगवान का प्रेम पहचानता है उसे ही मनुष्य कहते हैं।

जिस प्रकार प्रभु का प्रेम पहचानना चाहिए उसी प्रकार अपनी असमर्थता भी पहचाननी चाहिए। यह मानवता का दूसरा गुण है। मेरी-अपनी मर्यादा कितनी है? मैं क्या कर सकता हूँ? कितना मैं जा सकता हूँ? किसके साथ मैं कुश्ती लड़ सकता हूँ? भगवान के साथ? पुराण में लिखा है कि रावण ने भगवान के साथ कुश्ती लड़ने की शुरूआत की। अपनी असमर्थता पहचाननी चाहिए, वैसे अपनी शक्ति भी पहचाननी चाहिए। शक्ति के बिना संघर्ष में खड़ा नहीं रहा जा सकता। भिन्न भिन्न संघर्ष तुम्हारे सामने आयेंगे, विरोध होगा, उन सबका सामना तुम्हें करना ही पड़ेगा। उसके लिए अपनी शक्ति का ज्ञान होना चाहिए।

तीसरी बात, जीवन में दूसरे की आवश्यकता पहचाननी चाहिए। जीवन में दूसरे की आवश्यकता है या नहीं? है! दूसरा नहीं होता तो मैं पैदा नहीं हुआ होता। जन्म लेने के लिए, जीवित रहने के लिए, बड़ा होने के लिए, जीवन चलाने के लिए, जीवनविकास करने के लिए दूसरे की आवश्यकता है। यदि दूसरे की आवश्यकता है तो उसके साथ के सम्बन्ध की पहचान होनी चाहिए। दूसरे की आवश्यकता पहचाननी चाहिए।

मनु ने लोगों से दूसरा क्या कहा? तू पशु से भिन्न है यह तुझे सिद्ध करना होगा। इसके लिए उपरोक्त बातें पहचाननी होंगी। दूसरा, तुझे सम्बन्ध रखने पड़ेंगे। दूसरा आया कि उससे सम्बन्ध रखने पड़ते हैं। प्रकृति के साथ सम्बन्ध जोड़ने होते हैं। यही मानवता है ऐसा मनु ने सूक्ष्मरूप से समझाया है। तू केवल भगवान का नाम लेते हुए बैठा रहेगा तो नहीं चलेगा। भगवान के साथ तुझे सम्बन्ध जोड़ना है। मनु ने जीवन की मूलभूत बातों का विचार करके मानवधर्मशास्त्र लिखा। उसके बाद वह कानून बना, आचार-संहिता बन गया।

मनु का लिखा हुआ मानवधर्मशास्त्र लोगों को बहुत पसन्द आया। वे एकत्रित होकर मनु के पास गये और कहा, आपने जीवन के जो सिद्धान्त समझाये हैं वे बेजोड़ हैं। कानून-नियम भी बहुत ही अच्छे हैं। उन नियमों का-कानून का हम पालन नहीं करेंगे तो भी हमें पूछनेवाला कोई नहीं है। हम भूलें करेंगे तो हमें समझानेवाला और हमारा नियंत्रण करनेवाला कोई होना चाहिए। अतः आप ही हमारा राजा बनो, प्रमुख बनो!

मनु ने कहा, 'मैं राजा नहीं बनूँगा। क्योंकि मेरे राजा बनने से कटुता पैदा होगी और ऐसी कटुता मैं क्यों मोल लूँ? मैं तो आध्यात्मिक मनुष्य हूँ। मुझे कटुता स्वीकार्य नहीं है।' हमें अधिक गहराई में नहीं जाना है। तात्पर्य यह है कि जिस विचारधारा के अनुसार लोगों को जीना चाहिए उसके लिए कुछ कानून नियम तो होंगे। उनको सँभालने के लिए और उन कानूनों के अनुसार लोग चलते हैं या नहीं यह देखने के लिए कोई होना चाहिए। उसके पास शक्ति होनी चाहिए और वह शक्ति मनु के पास थी। मनु के पास चरित्र *(character)* की शक्ति थी। इसलिए लोगों ने मनु को राजा बनाया। मनु जब ऐसी कटुता लेने को तैयार नहीं थे तब ब्रह्मदेव ने उन्हें कहा, 'राजा के रूप में तुम जो कुछ करोगे, उसकी कटुता तुम पर नहीं आयेगी, कारण तुम उसे लोगों के विकास के लिए करोगे- *King does no wrong*- उसका उत्तरदायित्व भगवान ने उठाया। इस प्रकार राज्यसंस्था प्रारंभ हुई। मनुष्य को मानवता के मार्ग पर ले जाने के लिए यह राज्यसंस्था है। यह विकासशील, विकासवादी और लोगों द्वारा भगवान से माँगी हुई राज्यसंस्था है। लोगों की इच्छा के अनुसार खड़ी हुई यह राज्यसंस्था है। भागवत का प्रथम राजा मनु है।

विकसित परम्परा में, राजसत्ता की उद्भव की एक दूसरी विचारधारा है। लोग समूह *(Tribe)* करके रहते थे। जीविका के लिए भटकते रहते थे। बिखरे हुए रहते थे। फिर विजातीय लिंग *(Opposite sex)* के व्यक्ति-स्त्री पुरुष एकत्र हुए और साथ में रहने लगे। साथ में रहने से जो भी कुछ परिणाम आयेगा उसे सहन करने की दोनों ने तैयारी दिखायी। इसका अर्थ यह है कि उन्होंने सन्तति *(Progeny)* सिद्ध कर दी। जब लोग समूह

बनाकर भटकते थे तथा शिकार करके अपना भक्ष्य प्राप्त करते थे। लेकिन भक्ष्य मिलने पर समझो कि एक हिरन का उन्होंने शिकार किया, उसमें से आज के लिए आवश्यक उतना हिस्सा खा लिया, जो बचा उसको कल के लिए रखना निश्चित किया, परन्तु प्रश्न आया कि कहाँ रखेंगे? रात्रि के समय कोई आकर अपना भक्ष्य उठाकर ले गया तो? उसके लिए क्या प्रबंध करना? उसके लिए पुरुष और स्त्री बारीबारी से जागरण करने लगे। सुबह उठने पर शेष भक्ष्य खाकर फिर कमाने के लिए चले जाते। इस प्रबंध से प्रतिदिन नींद खराब होती थी। अत: उस समूह ने निश्चित किया कि जो मस्त, पहलवान शक्तिशाली होंगे उन्हें बुलाया जाय। उन्होंने ऐसे चार गुण्डों को बुलाया और कहा, 'हम लोग बारी बारी से जागरण करते हैं उससे हमारी नींद खराब होती है, स्वास्थ्य बिगड़ता है, अत: हमारे स्थान पर आपमें से चार छः लोग रात को जागरण करेंगे, हमारा कुछ सँभालेंगे-हमारी काया और माया सँभालेंगे तो कैसे रहेगा?' तब उन्होंने कहा, 'हम रात भर जागरण करेंगे तो दूसरे दिन हम अपनी जीविका कमाने कैसे जा पायेंगे?' तब समूह के लोगों ने कहा, 'तुम्हें कुछ कमाने की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, हम जो कुछ कमाकर लायेंगे, उसीमें से थोड़ा थोड़ा भाग आपको देते जायेंगे। इसीको आज की भाषा में कर *Tax* देना कहते हैं। इस प्रकार ये चार गुण्डे राजा बन गये। यह राज्यसंस्था के सम्बन्ध में दूसरी विचारधारा है।

अपनी काया और माया की रक्षा के लिए हम जो तगड़े गुण्डे लोग नियुक्त करते हैं उसकी छटा भागवत में भी है। अल्प प्रमाण में है, पर है। जब शमीक ऋषि के गले में क्षत्रिय मृत सर्प लटकाकर चला जाता है और वह समाचार जब ऋषिपुत्र को विदित होता है, तब वह कहता है, 'कितना अधर्म है इस क्षत्रिय राजा का! ब्राह्मणों के दास होकर भी ये दरवाजे पर पहरा देनेवाले कुत्ते के समान अपने स्वामी का ही तिरस्कार करते हैं- **'स्वामिन्यघं यद्दासानां द्वारपानां शुनामिव।'** घर सँभालने के लिए जिस प्रकार कुत्ता रखा जाता है उसी प्रकार क्षत्रिय लोगों को हमने रखा है।' विकासवाद की जो परम्परा है उसका प्रतिबिम्ब यहाँ भागवत में पड़ा है।

भारतीय दृष्टि में राजा पवित्र है। विकासशील दृष्टि में राजा गुण्डा है। भारतीय संस्कृति की दृष्टि में यह दिव्यशक्ति, यह दिव्य और दैवी अधिकार जो भगवान ने दिये हैं, हमने उन्हें माँगा है-लोगों की वह माँग है। भागवत में राज्यशास्त्र का वर्णन बहुत ही सुन्दर है।

आज की राज्यसत्ता में हम गुण्डे को राजा मानते हैं। हम जो कमाते हैं, उसमें से राज्यसत्ता को कर *(Tax)* देते हैं, वह इसलिए कि राज्यसत्ता हमारी काया और माया की रक्षा करे। आश्चर्य की बात है कि यह जो राज्यसत्ता खड़ी हुई है, वह अपना निजी अस्तित्व टिकाने के लिए हमसे काया और माया का बलिदान माँगती है। कहती है, "तुम्हें मरना चाहिए।' अरे, किसलिए?' हमें जीवित रहना है इसलिए!' अरे! हमारी काया और माया की रक्षा करने के लिए तो हमने तुम्हें रखा है और तुम उसीका हमसे बलिदान माँगते हो?' राज्यसत्ता भी एक दूसरा संघर्ष है, यह एक दूसरी समस्या हैं। इस प्रकार राज्यसत्ता की दो विचारधाराएं भागवत में हैं। **'द्वारपानां शुनामिव'** कहकर इस दूसरे प्रकार की

राज्यसत्ता का उल्लेख दिखायी देता है। भागवत की श्रेष्ठ विचारधारा है। मनु को ब्रह्मदेव से राज्यपद मिला। मनु चले गये, तब कौन राजा होगा? तो उसका लड़का राजा होगा। अतः उसकी वंशपरम्परा आ गयी। मनु के बाद उत्तानपाद राजा बना। उसके बाद ध्रुव राज्यपद पर आया। ध्रुव का पुत्र उत्कल वैराग्यसम्पन्न था, परन्तु लोग उसे पागल समझने लगे। ऐसा ही होता है।

ज्ञाततत्त्वस्य लोकोऽयं जडोन्मत्तपिशाचवत्।
ज्ञाततत्त्वोऽपि लोकस्य जडोन्मत्तपिशाचवत्।।

शुकदेव को भी लोग उन्मत्त कहते थे। उत्कल वैराग्यशील था। उसे राज्य चलाने में रुचि नहीं थी इसलिए उसे पागल ठहराकर उसके सौतेले भाई वत्सल को राज्य सिंहासन पर बिठाया। चौथे स्कन्ध के बारहवें अध्याय में यह सब वर्णन आया है। अब राजा के दैवी और दिव्य अधिकार को लोकसम्मति का रूप मिला। 'उत्कल भले ही वैराग्यशील होगा, परन्तु वह हमें राजा के रूप में नहीं चाहिए' ऐसा कहने की सत्ता लोगों को मिल गयी। जिस प्रकार बुरा राजा नहीं चाहिए वैसा अति अच्छा राजा भी नहीं चाहिए, क्योंकि वह राज्य करने के योग्य नहीं है। समझो कि कल एकाध तत्त्वज्ञानी राजा बना तो वह सबमें भगवान को ही देखेगा। वह किसी को सज़ा ही नहीं देगा। इसका कारण अपराधी भी भगवान का रूप है ऐसा उसे लगेगा। ऐसे राजा से कहना पड़ेगा, "तुम अलग बैठो, तुम्हारे लिए राज्यसत्ता नहीं है।' ऐसा कहने का अधिकार लोगों का है। राज्यपद भगवान ने दिया है फिर भी लोगों को अधिकार मिला। इसलिए वैराग्यशील उत्कल को राज्य नहीं दिया, उसे लोगों ने पागल ठहराया। यह एक पद्धति है। आज भी ऐसी पद्धति है। कोई अच्छा अधिकारी है, परन्तु वह उसके वरिष्ठ अधिकारी का न मानता हो तो उसे पागल ठहराकर जबरदस्ती छुट्टी *(Forced leave)* पर भेजा जाता है। उसे कहा जाता है. "तेरा दिमाग ठिकाने पर नहीं है। तेरा वेतन मिलेगा पर तुझे बीच में नहीं बोलना है, अलग बैठ जा!" ऐसा अनादि काल से चलता आया है। वैराग्यशील उत्कल को लोगों ने कहा कि तुझे राज्यपद में रुचि नहीं है अतः तू राज्यपद पर नहीं बैठ सकता। यहाँ राजा के दैवी व दिव्य अधिकार को लोकसम्मति का रूप आ गया है। उत्कल वैराग्यशील निकला तो लोगों ने उसे निकाल दिया। उसी प्रकार आगे, अंग का पुत्र वेन दुष्ट निकला। वह पढ़ा लिखा भी नहीं था, सात्त्विक भी नहीं था, इसलिए वह राजा बन सकता है या नहीं, इस सम्बन्ध में संघर्ष खड़ा हुआ।

राज्यसत्ता वंशपरम्परागत होनी चाहिए यह जो विचारधारा है उसमें ईषत्पाप *(Lesser evil)* का नैसर्गिक स्वीकार किया गया था। इसका कारण यह था कि किसी दूसरे को राजा बनाने की अपेक्षा वंशपरम्परा से राजा बनाना अच्छा है, कारण उसकी कोई परम्परा होगी, पिता के राज्य के नाते उसे कुछ आत्मीयता होगी, राजगद्दी पर प्रेम भी होगा क्योंकि पिता की राजगद्दी है, दादा की राजगद्दी है। आज कोई प्रशासक-अधिकारी *(Administrative Officer)* कारखाना सँभालने के लिए आता है। कारखाने का दिवाला

भी निकल गया तो उसे कुछ नहीं लगता। पिता का कारखाना लड़का सँभालता हो तो उसे कारखाने के प्रति आत्मीयता भी रहती है, अतः वह दिवाला नहीं निकलने देता। 'मेरा चाहे जो कुछ हो, परन्तु पिता का कारखाना चलना चाहिए' ऐसा उसे लगता है कारण उसके पीछे भावना होती है। इसके कारण ईषत्पाप के साथ वंशपरम्परागत राज्यसत्ता का स्वीकार किया गया था।

चतुर्थ स्कन्ध में वेनराजा व प्रजा के बीच के संघर्ष का वर्णन है। वेन अंगराजा की सुनीता नामक राणी से उत्पन्न पुत्र था। सुनीता ने निश्चय किया था कि 'प्रधानसत्ता व लोकसत्ता को वेन राजा बने यह मान्य न हो, फिर भी मेरा पुत्र राजगद्दी पर बैठने का अधिकारी है और वह बैठेगा ही।' इसलिए संघर्ष निर्माण हुआ। भागवतकार ने वह संघर्ष बहुत ही अच्छी रीति से दिखाया है। कोई पंडित इस प्रकरण को हाथ में लेकर उस पर संशोधन करेगा तो राज्यशास्त्र *(Politics)* पर एक उत्कृष्ट ग्रंथ मिलेगा। ऐसा ही इंग्लैंड में हुआ था। सत्रहवीं सदी में इंग्लैंड का राजा प्रथम चार्ल्स और प्रजा के बीच में संघर्ष हुआ था। जिन्होंने राज्यशास्त्र का अभ्यास किया होगा उन्हें पता होगा कि लोकसत्ता ने प्रथम चार्ल्स को खत्म कर दिया था। उस समय निश्चित हुआ कि लोकसत्ता श्रेष्ठ है। राजा का राजगद्दी पर दैवी व दिव्य अधिकार है, परन्तु उस पर लोकसम्मति की मुहर लगनी चाहिए। उसके लिए इंग्लैंड को बहुत परिश्रम करने पड़े हैं। इस पर वहाँ कितनी ही पुस्तकें लिखी गयी हैं। जो प्रश्न प्रथम चार्ल्स के सम्बन्ध में खड़ा हुआ वही प्रश्न अंगराजा का पुत्र वेन और प्रजा के बीच में खड़ा हुआ था। वेन बड़ा दुष्ट निकला। वह कहता था, 'मैं धर्म नहीं मानता हूँ, मैं ही राजा के रूप में परमेश्वर हूँ। राजा के अधिकार दिव्य और दैवी हैं। राजा के विरोध में बोलनेवाले को पाप लगता है, कानून के विरोध में बोलनेवाले दुष्ट हैं, पापी हैं, उन्हें घोर नरक में जाना पड़ेगा।' उस समय राजकीय जागृति *(Political awakening)* थी और आध्यात्मिक *(Spiritual)* जागृति भी थी, इसलिए ऋषिसत्ता खड़ी हुई, ब्राह्मण खड़े हुए और उन्होंने वेनराजा को मार दिया ऐसा भागवत में लिखा है। उन्होंने निश्चित किया कि राजा को अवश्य दैवी व दिव्य अधिकार हैं, परन्तु राजा दुष्ट होगा तो उसके बनाये कानून भी बुरे होंगे। उसका बनाया हुआ संविधान *(Constitution)* भी अवैदिक, अधार्मिक, अयोग्य तथा बुरा हो सकता है।' उन्होंने वेन को राजगद्दी से हटाया ही नहीं, बल्कि मार दिया। इसका बहुत ही सुन्दर वर्णन है। यहाँ, राजा अपने अधिकार अयोग्य रीति से प्रयुक्त करता हो तो उसका परिपत्य करके राज्य को अच्छा बनाने का उत्तरदातियत्व प्रजा का है ऐसा सिद्धान्त भागवत को मान्य है। यह बहुत ही सुन्दर राजनीति *(Politics)* है।

राजा को भगवान ने सत्ता दी है। **'ना विष्णुः पृथ्वीपतिः'** कहकर राजा भगवान का अंश है इसलिए उसके कानून के अनुसार चलना चाहिए, परन्तु उसका कानून गलत हो सकता है, अधार्मिक हो सकता है, उसे मानने के लिए हम तैयार नहीं ऐसा ब्राह्मणों ने कहा! ऐसा कहकर ब्राह्मणसत्ता ने वेनराजा को गद्दी पर से निकाल दिया। चार ब्राह्मण खड़े हुए और 'फू' करके भस्म से चमत्कार किया ऐसा नहीं है। उस जमाने में ब्राह्मणों

और ऋषियों के पीछे लोकसमूह था। लोगों के अन्तिम सदस्य तक ब्राह्मण पहुँचे थे। संपूर्ण समाज ब्राह्मणों को अपना मार्गदर्शक मानता था। ब्राह्मण केवल क्रियाक्रर्म करनेवाले, श्राद्ध में भोजन करनेवाले नहीं थे। समाज के अन्तिम व्यक्ति तक वे पहुँचे थे। ऐसे ब्राह्मणों ने कितनी लोकजागृति की होगी! लोगों पर ब्राह्मणसत्ता का प्रभाव था, इसीलिए वेनराजा के पास सैना होते हुए भी उसे खत्म कर दिया गया। फिर राजगद्दी पर किसे बिठाया? दूसरे को राजगद्दी पर बिठाने के लिए भी प्रयत्न करने पड़े हैं।

राजनीति में प्रथम चार्ल्स और प्रजाजनों का जो संघर्ष है वह सभी को मालूम है, परन्तु वेनराजा के सामने ब्राह्मणों ने जो आवाज उठायी उसका किसीको पता नहीं है। ब्राह्मणों ने शाप दिया और वेनराजा खत्म हो गया इतना ही सबको मालूम है। अरे! ब्राह्मण वेनराजा को क्यों शाप देंगे? वेनराजा स्वयं ही ब्राह्मणों को शाप देनेवाला था। वेनराजा भी कुछ कम नहीं था। वेनराजा को राजगद्दी से निकाल देना कोई सामान्य बात नहीं थी। समाज के अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचकर ब्राह्मण वैसी क्रान्ति ला सके। मेरी आँखों के सामने वे कर्तृत्ववान ब्राह्मण आते हैं कि जिनके चरणों में सम्पूर्ण समाज मस्तिष्क झुकाता था। इसी कारण ब्राह्मणसत्ता वेनराजा को हटा सकी। उस समय प्रजातंत्र नहीं था। निरंकुश राज्यसत्ता *(Autocratic Rule)* में वह क्रान्ति हुई है। यह अलौकिक क्रान्ति है।

ऐसे अलौकिक विषय इस चतुर्थ स्कन्ध में आये हैं। पाप की समस्या का विषय है, नीति का विषय है, वैसे ही दूसरा एक महत्त्वपूर्ण विषय है कि जनता का राज्यशासन के विरोध में बलवा करने का हक्क *(Right to revolt)*! वेनराजा उन्मत्त बना तो उसे सिंहासन पर से हटा दिया। राजगद्दी पर बैठा हुआ राजा पूर्वजन्म में पुण्य करके आया है, वह विष्णु का अवतार है- **ना विष्णुः पृथ्वीपतिः**- ऐसा माननेवाले लोगों ने भी वेनराजा को हटा दिया। राजतांत्रिक पद्धति जहाँ मानी जाती हैं वहाँ की बात कह रहा हूँ, जहाँ *Democracy* प्रजासत्ताक पद्धति है वहाँ की बात नहीं कहता हूँ। इससे भी आगे राजा बदलने का हक़ *Right to change the king* यह दूसरी बात लिखी है। ध्रुव का पुत्र वैराग्यशील निकला, शान्तमूर्ति था, वह निकम्मा राज्यकर्ता *Bad administrator* निकला, इसलिए ऋषियों ने उसे राजगद्दी पर नहीं बिठाया। लोकजागृति का यह परिणाम है। यह लोकजागृति का काम ब्राह्मणों ने भूख से नहीं किया है, भक्ति से किया है।

आज सभी लोग कहते हैं कि जब भूख लगती है तब लोग उठते हैं, खड़े होते हैं। भूख की बैठक पर काम करेंगे तो लोग साथ देते हैं। यहाँ ब्राह्मण भक्ति की बैठक पर काम करके क्रान्ति लाये हैं, लोकजागृति की है। यह काम ऋषियों ने किया है। ऐसा नहीं है कि ऋषियों ने शाप दिया और राज्य खत्म हो गया। सुननेवाले सुनते हैं और सिर हिलाते हैं। समाज के अन्तिम मानव तक ऋषि, भक्ति के रास्ते पहुँचे थे, भूख के रास्ते नहीं। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। राजा अमुक विशिष्ट गुणोंवाला ही होना चाहिए ऐसा उन्होंने निश्चित किया था।

कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूत् राजा कालस्य कारणम्।।

राजा में अकर्मण्यता नहीं होनी चाहिए, वैसे ही दुष्टता भी नहीं होनी चाहिए। दुष्ट राजा को हटा देंगे, अगर राजा अकर्मण्य होगा तो उसे भी हटा देंगे। जागृत लोग यह कर सकते हैं ऐसा दिखाया है। भागवतकार कहते हैं कि यह बात भक्ति से ही संभव होती है, भूख से नहीं।

आज की यही समस्या है। आज कहते हैं कि लोगों को जागृत करो। उसके लिए उन्हें भक्ति की आवश्यकता नहीं लगती। भूख से लोकजागृति लानी है। मिट्टी का तेल नहीं मिलता, उसे प्राप्त करने के लिए लोग खड़े होते हैं। उनमें से आधे लोगों को पिछले दरवाजे से मिट्टी का तेल मिल गया कि यह जागृति खत्म हो जाती है। इसका कारण उसके पीछे कोई सिद्धान्त ही नहीं होता।

भक्ति से एकत्र हुए लोग क्या कर सकते हैं इसका इसमें दर्शन है। राजा ही काल का कारण है यह बात निस्सन्देह है। आज यह चर्चा का विषय है कि नेता समाज का निर्माण करता है या समाज नेता का? कम्युनिस्ट लोगों ने यह चर्चा उठायी है। उनका कहना है कि जिस मिट्टी का समाज होगा, उसी मिट्टी का नेता होगा। हमारे वेदव्यास भिन्न ही कहते हैं- **'राजा कालस्य कारणम्।'** काल का कारण राजा है। समाज जैसा है वैसा नेतृत्व नहीं होता। नेतृत्व होगा वैसा समाज बनता है।

एक बार मैं कम्युनिस्ट लोगों के साथ बैठा था। मैंने उनसे कहा, 'समाज नेता निर्माण करता है, यह झूठा सिद्धान्त तुम पकड़कर बैठे हो। नेता ही समाज का निर्माण करता है। समाज यदि नेता का निर्माण करता हो तो कम्युनिझम् कहाँ आना चाहिए था? जहाँ औद्योगिक विकास *(Industrial development)* हुआ है वहाँ? इस दृष्टि से कम्युनिज्म आना चाहिए था इंग्लैंड, फ्रान्स में जहाँ औद्योगिक विकास हुआ है। परन्तु कम्युनिजम् आया अत्यधिक अविकसित रूस में! इसका क्या कारण है? वहाँ तो समाज की माँग नहीं थी। परन्तु लेनिन के प्रभावी कर्तृत्व और व्यक्तिमत्त्व ने यह काम किया। लेनिन का जीवन पढ़ेंगे तो उसके सामने सिर झुक जायेगा। नेता समाज का निर्माण करता है, इसलिए नेता पर अंकुश होना चाहिए ऐसा भागवतकार कहते हैं।

लोकजागृति भूख से नहीं अपितु भक्ति से निर्माण होनी चाहिए। भागवतकार का यह रास्ता स्वाध्यायियों ने अपनाया है। हमने भूख का शस्त्र नहीं लिया है। लोगों की आवश्यकता पूर्ण करनी चाहिए। 'तुम जाकर दो स्तोत्र पढ़ाओगे, उससे क्या होनेवाला है?' ऐसा बोलनेवाले इधर वातानुकूलित कमरे में बैठकर बोलते हैं। क्या वे किसी दिन गाँवों में लोगों के पास गये हैं? गाँवों के लोगों का दिल क्या उन्होंने जाना है? भूख से वे लोग खड़े नहीं होते। भूख मनुष्य को भिखारी बनाती है। भक्ति ही मनुष्य को खड़ा कर सकती है। भागवतकार ने आश्चर्यकारक अलौकिक सिद्धान्त कहा है।

चतुर्थ स्कन्ध में '*Right to revolt* व्यक्ति के हाथ में है' इसका सुन्दर दर्शन है। वेन जैसा कोई भी दुष्ट राजा राज्य करने लगेगा, प्रजा पर जुल्म करेगा तो पीड़ित समाज एकत्रित होकर राजा का विरोध करके उसे हटा देगा। परन्तु *'Right to change the king'* यह बात अलौकिक लगती है। ध्रुव का पुत्र उत्कल विरक्त व शान्त था। ये गुण राजा के लिए अच्छे हैं, परन्तु राजा समाधानी व शान्त होगा तो वह राज्य नहीं चला सकता। जिसकी धाक नहीं है ऐसा राजा निकम्मा है, अनुपयोगी है। '**राजते नाम शोभते सः राजा**' राजा की धाक होनी चाहिए। जिसकी किसी पर धाक नहीं है वह राजा बनने के लिए योग्य नहीं है ऐसा भागवतकार ने कहा है। उत्कल ने राज्य का स्वीकार ही नहीं किया। मुझे तो इस बात का आश्चर्य लगता है कि इस देश में यह घटना हुई है। अच्छा, सुसंस्कारी, शान्त और विरक्त राजा होना चाहिए। राजा विरक्त न होगा तो वही खाने लगेगा और राजा ही खाने लगा तो प्रजा को खाना क्या मिलेगा?

गुजराती भाषा में एक कहावत है, 'जहाँ का राजा व्यापारी वहाँ की प्रजा भिखारी।' इसलिए राजा विरक्त होना चाहिए। दुष्ट व असंस्कारी राजा को प्रजा ने हटा दिया यह समझ सकते हैं। 'ऋषियों ने शाप देकर राजा को हटा दिया ऐसा लिखा है। शाप से क्या कोई हट सकता है? शाप से यदि राजा हट जाता है तो फिर कृष्ण भगवान ने कंस को शाप से क्यों नहीं हटाया? उसी प्रकार दुर्योधन को शाप से क्यों नहीं मारा? शाप का अर्थ यह है कि ब्राह्मणसत्ता क्रोधित हो गयी। यह ब्राह्मणसत्ता समाज के अन्तिम व्यक्ति तक पहुँची हुई थी। घर घर में ब्राह्मण पहुँचा था। यह ब्राह्मणसत्ता तेजस्वी थी। धनिकों की, वैभववालों की वह आश्रित नहीं थी। इसीलिए तो वह विद्रोह कर सकी। इतना तो हो सकता है। यूरोप में भी ऐसा चित्र दिखायी देता है।

महाराष्ट्र के इतिहास में उल्लेख है कि माधवराव पेशवा चार-चार घण्टे सन्ध्या-पूजापाठ करता था। एक बार मुख्य न्यायाधीश *(Chief Justice)* रामशास्त्री प्रभु उन्हें मिलने आये तब माधवराव का पूजा पाठ चल रहा था। रामशास्त्री को बाहर प्रतीक्षा करते हुए बैठना पड़ा। जब माधवराव पेशवा उनसे मिले तब रामशास्त्री ने कहा, 'तुम्हें राज्य करना हो तो सन्ध्या-पाठपूजा-हवन आदि बंद करना होगा। उससे कार्य में बाधा आती है- अवरोध होता है। यदि पूजा-पाठ ही करना है तो हिमालय में या पैठण क्षेत्र में जाकर बैठो। मैं भी आपके साथ आऊँगा। राज्य करना हो तो यह सब नहीं चलेगा। तुम्हें प्रथम राजधर्म का पालन करना होगा।' माधवराव पेशवा समझ गये।

इसी प्रकार ब्राह्मणसत्ता ने उत्कल को भी समझाया है। उत्कल वेदान्त की भाषा बोलता था। सभी में भगवान हैं यानी चोर-दुष्टों में भी भगवान हैं ऐसा कहता था। जिसकी किसीको धाक नहीं है वह राजा नहीं बन सकता। जनता जागृत थी, इसलिए उसने उत्कल को भी अस्वीकार किया। आश्चर्य लगता है कि इस भारतभूमि में जनता में इतनी राजकीय जागृति *(Political awakening)* प्रभावी थी। जिस राजा का डर सात्त्विक लोगों को होता है, चोरों को नहीं होता, वह राज्य करने का अधिकारी नहीं है। ऐसा अलौकिक तत्त्व इतिहास में नहीं होगा। होगा तो मुझे पता नहीं है।

वेनराजा को हटाने के बाद लोगों ने निश्चित करके, वेनपुत्र पृथु को राज्य सिंहासन पर बिठाया। एकछत्र राजपद्धति में जनता राजा निश्चित करती है। राजनीति *(Politics)* का अभ्यास करनेवालों को इसका अध्ययन करना चाहिए।

मैंने एक बार मज़ाक में कहा था कि संविधान *(Constitution)* बनानेवाले लोग अशिक्षित *(illiterate)* हैं। यहाँ **'साम्राज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यम्'** ऐसे भिन्न भिन्न आन्दोलन हुए हैं जिनका उन्होंने अभ्यास ही नहीं किया है। उनको पता ही नहीं है कि इस भूमि में इस प्रकार के प्रयोग हुए हैं।

दूसरी आश्चर्य की बात है कि एकतांत्रिक **राज्यपद्धति** *(Autocratic Rule)* में लोग राजा निश्चित करते हैं। दत्तक पुत्र पृथु को राज्य पर बिठाया। पृथु वेनराजा के बाहुओं का मंथन करने पर निकला हुआ पुत्र था ऐसा भागवत में वर्णन है। पृथु के राज्यभिषेक का अति सुन्दर वर्णन चतुर्थ स्कन्ध में है। भागवत की दृष्टि में पृथु आदि राजा है। परन्तु मनु को ब्रह्मदेव में कुछ विसंगति लगती है। सूक्ष्मता से देखेंगे तो विसंगति नहीं है। मनु को ब्रह्मदेव ने राजा बनाया था, परन्तु पृथु लोगों का बनाया हुआ राजा था। लोकतंत्र से राज्यपद! मन्त्रीपद नहीं! आज लोकतंत्र में जिसे वेतन दिया जाता है ऐसा मंत्रीपद पद होता है, परन्तु भागवत में लोकतंत्र से मंत्रीपद नहीं अपितु राज्यपद है। यह एक विशिष्टता है। प्रजानियंत्रित राजा! इसलिए पृथु प्रथम राजा है। जन्म से राजा बन सकता है। भगवान भी राजा बन सकते हैं, परन्तु पृथु को लोगों ने राजा बनाया। लोकतंत्र से राज्यपद यह अधोरेखित *(underlined)* करने जैसी बात है। लोकतंत्र से राज्यपद राजनीति *(Politics)* में विचार करने जैसी बात है। प्रजानियंत्रित राजा भागवत ने दिखाया है। राजनीति और जनसामान्य मनोविज्ञान *(Politics* और *Mass Psychology)* का अभ्यास करनेवालों के लिए यह घटना अभ्यसनीय है। वेन, उत्कल और पृथु इन तीनों का राजनीतिज्ञों को अभ्यास करना चाहिए, तभी इस देश को *Politics* के सम्बन्ध में कुछ विचारधारा थी या नहीं यह मालूम पड़ेगा।

उसके बाद एक अलौकिक बात इस स्कन्ध में आयी है। पृथु को राज्यपद पर बिठाने के बाद तुरन्त लोग एकत्रित होकर पृथु को मानपत्र देने लगे। खुशामत करनेवाले स्वार्थ निकालने वाले लोग पास में ही होते हैं। सभी सत्तावानों-वित्तवानों की बगल में ये लोग घूमते रहते हैं। सत्ताधीशों को यह मालूम नहीं होता है और वित्तवानों को भी खबर नहीं होती। वे दोनों स्तुति से अन्ध बन जाते हैं और स्तुति से अन्ध बने हुए कुछ काम नहीं करते।

जब लोग पृथु को मानपत्र देने आये तब पृथु ने उसे अस्वीकार किया। यह एक लोकोत्तर घटना है। चतुर्थ स्कन्ध के पन्द्रहवें अध्याय के श्लोक बाईस से छब्बीस तक जो पाँच श्लोक हैं। उनमें पृथु द्वारा मानपत्र को अस्वीकार करने का वर्णन है। मानपत्र देने के लिए आये हुए लोगों-स्तुतिपाठकों से पृथु ने पूछा, "मैंने कुछ किया ही नहीं है, तो

तुम लोग मुझे मानपत्र क्यों दे रहे हो?'' ऐसा ही हमेशा होता है। जो कल तक कुछ भी नहीं था, वह आज मंत्री बन गया, उसका जन्मदिन आते ही उसे फूलों की मालाएं पहनाने के लिए पंक्ति में लोग खड़े रहते हैं। वह बेशरम है और पंक्ति में खड़े रहनेवाले लोग भी बेशरम हैं। 'यदि तुम्हें पहले उसके प्रति आदर था तो वह अब तक कहाँ गया था? और जब वह कुर्सी पर से नीचे उतर जायेगा तब तुम्हारा आदर कहाँ चला जायेगा?' परन्तु उन्हें ऐसा कौन पूछता है? इसका कारण बड़े बड़े लोग इम्पाला गाडी लेकर उसका सम्मान करने दौड़ते आते हैं। सम्मान करनेवालों में झोपड़पट्टी में रहनेवाला तो कोई होता ही नहीं और वहाँ ऐसे लोगों को प्रवेश भी नहीं मिलता। उनमें सामान्य व्यक्ति को स्थान ही नहीं होता। कल तक उसे कोई पहचानता भी नहीं था, आज वह मंत्री बना और लोग पंक्ति बांधकर उसका सम्मान करने दौड़ते हैं? वे ऐसा जरूर करें, मुझे उसकी व्यथा नहीं है। पृथु ने क्या कहा वह मैं कह रहा हूँ। पृथु पूछता है, 'मैं अभी अभी राजगद्दी पर बैठा हूँ, जब तक मैंने कुछ किया ही नहीं तब तक तुम मेरा वर्णन क्यों करते हो? यह गुणवर्णन नहीं, स्थानवर्णन है।' ऐसा कहनेवाला पृथु राजा था। जिस काल के लोगों को यूरोप के लोग 'आदिकाल के जंगली अवस्था के लोग' कहते हैं, उस काल के लोगों की यह बात है। यूरोपीय लोग उत्क्रान्ति दिखाते हैं। वे हमें ऐसा इतिहास समझाते हैं कि दो तीन हजार वर्ष पहले ये जंगली लोग थे और वे समूह *(Tribe)* में रहते थे। ऐसे जो लोग थे उस जमाने की यह बात मैं कह रहा हूँ। चतुर्थ स्कन्ध के पन्द्रहवें अध्याय के बाईस से छबीस श्लोकों तक पृथु स्वयं मानपत्र क्यों नहीं लेता, उसके कारण दिखाये हैं। उन श्लोकों का भावार्थ व श्लोक इस प्रकार है-

भोः सूत हे मागध सौम्य वन्दिंल्लोकेऽधुना स्पष्टगुणस्य मे स्यात्।
किमाश्रयो मे स्तव एष योज्यतां मा मय्यभूवन् वितथा गिरो वः।।२२

(हे सौम्य सूत, मागध व बंदीजन! अभी तो लोक में मेरा कोई गुण प्रकट नहीं हुआ है, अतः किन गुणों को लेकर तुम मेरी स्तुति करोगे? मेरे सम्बन्ध में तुम्हारी वाणी व्यर्थ न हो इसलिए मुझसे भिन्न किसी और की स्तुति करो) ।।२२।।

तस्मात्परोक्षेऽस्मदुपश्रुतान्यलं करिष्यथ स्तोत्रमपीच्यवाचः।
सत्युत्तमश्लोकगुणानुवादे जुगुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः।।२३।।

(मृदुभाषियो! कुछ समय बीतने दो और जब मेरे अप्रकट गुण प्रकट हो जाएं तब भरपेट अपनी मधुर वाणी से मेरी स्तुति करो। श्रेष्ठपुरुष, पुण्यश्लोक भगवान का गुणवर्णन करना छोड़कर निंदास्पद आधुनिक व्यक्ति का गुणवर्णन नहीं करते) ।।२३।।

महद्गुणानात्मनि कर्तुमीशः कः स्तावकैः स्तावयतेऽसतोऽपि।
तेऽस्याभविष्यन्निति विप्रलब्धो जनावहासं कुमतिर्न वेद।।२४।

(अपने में महान् गुण लाने की जिसमें शक्ति है, ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष है, जो गुणों के न रहने पर स्तुतिपाठकों द्वारा अपनी स्तुति करा लेगा? अभी गुण नहीं हैं, भविष्य में आयेंगे इस मिथ्या स्तुति से ठगा हुआ जो कोई अल्पबुद्धि मनुष्य होगा, वही इस प्रकार स्तुति करा लेगा कारण वह मंदमति यह नहीं समझता कि इस प्रकार तो लोग उसका उपहास कर रहे हैं)।।२४।।

प्रभवो ह्यात्मनः स्तोत्रं जुगुप्सन्त्यपि विश्रुताः।
ह्रीमन्तः परमोदाराः पौरुषं वा विगर्हितम्।।२५।।

(समर्थ पुरुष लोकविख्यात होने पर भी अपनी नम्रता के कारण अपनी स्तुति से जुगुप्सा रखते हैं और अपने उदार स्वभाव के कारण निंदा के पात्र होनेवाला पराक्रम भी उन्हें अच्छा नहीं लगता।) ।।२९।।

वयं त्वविदिता लोके सूताद्यापि वरीमभिः।
कर्मभिः कथमात्मानं गोपयिष्याम बालवत्।।२६।।

(सूतगण! अभी हम अपने श्रेष्ठ कर्म द्वारा लोक में प्रसिद्ध नहीं हुए हैं, तब तुम लोगों से बच्चों के समान हम अपनी कीर्ति का गान किस प्रकार कराएं?) ।।२६।।

यह गुणों का मानपत्र नहीं है, गुणों का वर्णन नहीं है अपितु स्थान का वर्णन है। स्थान का वर्णन क्यों किया जाता है भला? स्थान से कुछ मिलेगा ऐसा जिनको लगता है वे ही स्थान का वर्णन करते हैं। इसलिए पृथु ने मानपत्र को अस्वीकार किया। खुशामत करनेवाले लोग सत्ता के पास आ ही जाते हैं। उनसे बचना चाहिए तभी सत्ताधीश अच्छे बनेंगे। उसी प्रकार वित्तवानों को भी खुशामतियों से बचना चाहिए, तभी वित्तवान अपना वित्त टिका सकेंगे और उनका दिमाग भी ठिकाने रहेगा, अन्यथा लोग, 'सेठ! आप तो आप ही हैं' कहेंगे और सेठ को भी लगने लगता है कि 'मैं भी कुच्छ हूँ।'

इग्लैंड के राजा केन्यूट के सम्बन्ध में एक कहानी है। उसके पास भी खुशामत करनेवाले आये थे। इन खुशामतियों ने केन्यूट से कहा, 'राजासाहब! आप कितने महान् हैं! आपकी सत्ता तो सर्वत्र चलती है। आकाश में आपकी सत्ता चलती है, पृथ्वी पर चलती है और समुद्र पर भी आपकी सत्ता चलती है।'

सन्ध्या के समय केन्यूट राजा ने सबको समुद्र के किनारे पर बुलाया। ज्वार का समय था। राजा एक कुर्सी लेकर वहाँ बैठ गया। समुद्र की लहरें आगे बढ़ती जा रही थीं। राजा ने सबके सामने समुद्र को आज्ञा दी, ''ऐ लहरों, आगे मत बढ़ना।' परन्तु लहरें तो आगे बढ़ती ही गयी और कुर्सी को भी छू गयीं। राजा ने सभी खुशामतियों को डांटकर कहा, 'देखा? मैं इन लहरों को रुक जाने को कहता हूँ पर वे तनिक भी नहीं मानती हैं। तुम्हारे जैसे लोग खुशामत करके इस स्थान को भ्रष्ट कर देते हैं।'

यह बात भी सत्य है कि सत्ताधीश को सत्य समझाना बहुत कठिन है। हमारे यहाँ पुराने समय में 'विदूषक' पात्र था। विदूषक विलक्षण बुद्धिमान होना चाहिए। अंग्रेजी में उसको *Licenced fool* कहते हैं। वह अपने बुद्धिचातुर्य से राजा को योग्य मार्ग दिखाता था।

पृथु ने मानपत्र को अस्वीकार किया उसके कारण अजोड़ हैं। प्रजानियंत्रित राजा, लोकतंत्र से राजपद इसी देश में मिलता है। क्या कारण? अस्मितायुक्त लोग जागृत थे। जहाँ भक्ति और धर्म (सच्चे अर्थ में) लोगों के मस्तिष्क में हो वहीं अस्मिता खड़ी होती है और वहीं इस प्रकार की बात संभव होती है। वेनराजा दुष्ट था प्रजा ने उसे हटा दिया। उत्कल विरागी व शान्तिपूर्ण था उसे भी अस्वीकार कर दिया और पृथु को राजगद्दी पर बिठा दिया। चतुर्थ स्कन्ध का यह विषय राजनीति का अभ्यास करने जैसा है, ऐसा क्या आपको नहीं लगता? पृथु-राजगद्दी पर बैठा कि उसे मानपत्र देने के लिए लोग तैयार हो गये। लोग तो उगते सूरज के पूजक होते हैं। जो गद्दी पर आया उसकी जय बोलते हैं। जय बोलना, किसकी है? इसकी नहीं उसकी! अच्छा उसकी जय बोलेंगे। इसकी नहीं तो उसकी! *Mass psychology* एक जबरदस्त *Psychology* है।

Mass Psychology कैसी होती है इसका सुन्दर चित्रण शेक्सपीयर ने किया है। शीना-व्हाईस चान्सलर ने कुछ प्रस्ताव पारित किये थे। शीना के विराध में दो तीन व्यक्ति थे जिन्हें वे प्रस्ताव मान्य नहीं थे, उन्होंने अन्य लोगों को भड़काया। लोग इकट्ठे होकर 'शीना को मार दो, शीना को मार दो' के नारे लगाते हुए आगे बढ़ने लगे। रास्ते में उन्हें एक व्यक्ति मिला। लोगों ने पूछा, 'तेरा नाम क्या है?' उसने कहा, 'मेरा नाम शीना है।' लेकिन क्यों?' लोगों ने कहा, अयोग्य प्रस्ताव पारित करते समय तूने विचार क्यों नहीं किया? तब उस व्यक्ति ने कहा, "मैं चान्सलर शीना नहीं हूँ, मैं तो कवि शीना हूँ।' तब लोगों ने कहा, *'May be, your verses are bad, kill him,'* और लोगों ने उसे मार डाला। उसके बाद वे लोग व्हाईस चान्सलर के पास गये। वह ऊपर की मंजिल पर बरामदे में खड़ा था। अपनी ओर आते हुए लोगों को देखकर शीना ने पूछा, 'क्या चाहिए आप लोगों को?' लोगों ने कहा, तुमने अयोग्य प्रस्ताव पारित किये हैं।' तब शीना ने कहा, 'ऐसा? पर यह तो कहो कि मैंने कौन से प्रस्ताव पारित किये हैं और उनमें बुरा-अयोग्य क्या है?'

अब पूरे समूह में किसीको भी पता नहीं था कि कौनसे प्रस्ताव शीना ने पारित किये हैं। सभी एक दूसरे के मुँह की ओर देखने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि लोकमानस *(Mob psychology)* इस तरह का होता है जिसका चित्रण शेक्स्पीयर ने किया है। ये लोग राजगद्दी के पास आकर राजा को भ्रष्ट करते हैं, वैसे वित्तवान के पास जाकर उन्हें भी भ्रष्ट करते हैं। सामर्थ्यवान, शक्तिशाली, सौन्दर्यवान, वित्तवानों के आसपास निरन्तर खुशामत करनेवाले लोग घूमा करते हैं। मानपत्र जब लोग देने लगे तब पृथु ने उनको बहुत सुन्दर उत्तर दिया है।

उसके बाद राजगद्दी पर बैठने पर पृथु ने पृथ्वी को कैसे बनाया इसका वर्णन है। इस धरित्री को पृथ्वी कहते हैं। पृथु की है इसलिए उसे पृथ्वी कहते हैं। पृथ्वी के दो नाम हैं। एक उर्वी और दूसरी पृथ्वी। पृथु ने ही जमीन का उत्कर्ष किया, उसका वैभव बढ़ाया। इस मिट्टी की योग्यता पृथु ने समझायी इसलिए पृथु की पृथ्वी। दूसरी उर्वी। ऊरु ने जिसे सँभाला उसे उर्वी कहते हैं। पृथ्वी डूब रही थी तब उसे भगवान ने अपनी ऊरु से सँभाला ऐसा पुराण में वर्णन है। पृथ्वी पर जो राक्षस थे उनको निकाल दिया ऐसा नहीं है। ऊरु यानी क्या? पुरुषसूक्तमें कहा है:-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहूराजन्यः कृतः
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।

उस विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं में से क्षत्रिय, जांघ (उरु) में से वैश्य तथा पैरों में से शूद्र, इस प्रकार चार वर्ण उत्पन्न हुए।

समाज में वैश्य ऊरु हैं। जब ब्राह्मण अपि:पतित बने, क्षत्रिय शक्तिहीन बनकर संस्कृति से दूर चले गये तब भगवान क्या रोते बैठते? उन्होंने ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों को अलग रखकर वैश्यों को उठाया और उनमें वही तेज भरा जिस तेज ने डूबती पृथ्वी को सँभाला। उसका अर्थ यह है कि ऊरु ने सँभाला इसलिए पृथ्वी का दूसरा नाम ऊर्वी पड़ा है।

पृथु ने पृथ्वी को समतल बनाकर उसमें से विविध सम्पत्ति निकाली। उसी प्रकार पुनर्वास *(Rehabilitation)* की व्यवस्था की, छोटी-बड़ी बस्तियाँ बसायीं। छोटा गाँव कैसा हो, बड़ा गाँव कैसा हो इसके नमूने दिखाये। यह सब भागवत में लिखा है। छोटे-बड़े गाँव बनाये। सुरक्षा के लिए दुर्ग बनवाये। हर घर में पीने के जल का प्रबंध किया। अन्न व जल पृथ्वी से मिलते रहे ऐसा प्रबंध किया। इतना ही करके पृथु नहीं रुका। उसने ऋषिमान्य शिक्षा शुरु की। 'खाओ, पीओ और मज़ा करो' की शिक्षा तो मिलती ही है। इसके व्यतिरिक्त दूसरा भी जीवन में कुछ है ऐसा जो समझाते हैं उन्हें ऋषि कहा जाता है। ऐसी शिक्षा जिन विद्यालयों में नहीं दी जाती वह ऋषिमान्य शिक्षा नहीं है, भले ही उन पर तख्ती लगाई गयी हो- **'अमृतं तु विद्या।'** विद्यालयों को दान देनेवाले पैसा देते हैं तब लोग कहते हैं, तख्ती पर कुछ लिखने योग्य सूत्र लिख दो। तब उठकर किसी शास्त्री या पंडित के पास जाते हैं और उनसे एकाध अच्छा सूत्र लिखने को कहते हैं। विद्यालयों की दीवार या दरवाजे पर तख्ती लगानी है इसलिए वह शास्त्री या पण्डित सूत्र लिखकर देता है- **'अमृतं तु विद्या।'** इसलिए वहाँ लिखा दिखाई देता है- **'अमृतं तु विद्या।'** परन्तु वहाँ अमृत का भी सम्बन्ध नहीं है और विद्या का सम्बन्ध तो है ही नहीं। वहाँ जीवन की नहीं अपितु जीविका की कला सिखायी जाती है। जीवन की कला एक भिन्न बात है। जीविका की कला को ही आज विद्या-शिक्षा माना जाता है।

जब, मैं ऋषिमान्य शिक्षा कहता हूँ तब उसमें कुछ विशेष-*Plus*-होना चाहिए। उसीको ऋषिमान्य शिक्षा कहते हैं। रोटी कैसे कमाना है वह तो सिखाना ही चाहिए, परन्तु उससे भी अधिक कुछ शिक्षा मिलती हो तो वह ऋषि की शिक्षा है।

शिक्षणसंस्था पर राजा का अंकुश नहीं होना चाहिए, वैसे पालकों का भी अंकुश नहीं होना चाहिए। यदि राजा का उस पर अंकुश होगा तो ऋषिमान्य शिक्षा चलेगी ही नहीं। आज तो सभी शिक्षा सरकार के हाथ में है। सरकार कहेगी वही शिक्षा देना। राष्ट्रीयकरण *(Nationalization)* यह अच्छी बात है, परन्तु इसलिए क्या सभी बातों का राष्ट्रीयकरण करना चाहिए? यदि शिक्षा पर सरकार का अंकुश न हो तभी अच्छी शिक्षा मिलेगी। उसी प्रकार अपने लड़कों को कौन सी शिक्षा देनी है यह पालकों को निश्चित नहीं करना चाहिए। लड़के की योग्यता देखकर ऋषि यह निश्चित करेगा कि लड़के को कौन सी शिक्षा देनी है और उसीके अनुसार ही शिक्षा मिलेगी। प्राचीन काल में ऋषि को कोई पालक कहता कि मेरे पुत्र को अमुक ही शिक्षा दो, उसके लिए वह आग्रह पकड़ता तो ऋषि पालक और बालक दोनों को तपोवन के बाहर निकाल देता था। शिक्षा कौनसी देनी है यह निश्चित करनेवाला पिता नहीं। ऋषिके पास एक वर्ष तक रहने पर उसका जीवन, बुद्धि, वृत्ति आदि देखकर ऋषि निश्चित करता था कि उसे कौनसी कला की शिक्षा देनी है। ऋषिशिक्षा का अर्थ यह है कि उसमें कुछ विशेष *(Plus)* होना चाहिए।

पृथु ने ऐसी शिक्षा प्रणाली निर्माण की कि जिस पर न राज्यसंस्था का अंकुश था न पालकों का। इससे एक विशिष्ट समाज तैयार हुआ। ऐसी शिक्षा देने के लिए पृथु को क्या क्या करना पड़ा होगा, सिखाना पड़ा होगा। जब पिता को ही शिक्षा नहीं है तो लड़कों को शिक्षा कैसे मिलेगी? आज कितने ही लोग अपने लड़को को बाल संस्कार केन्द्र में भेजने को तैयार होते हैं, इसका कारण लड़के शनिवार-रविवार छुट्टी के दिन-बालसंस्कार केन्द्र में जायेंगे तो माँ-बाप को शान्तिपूर्वक सोने को मिलता है। सिवाय बालसंस्कार केन्द्र में धार्मिक दृष्टि से सँभालनेवाली संचालिका बहन या संचालक भाई होगा तो लड़कों को वहाँ भेजने से कौन इन्कार करेगा? ऐसा माँ-बाप को कहना चाहिए कि जब तक तुम स्वाध्याय में नहीं आते तब तक तुम्हारे लड़कों को भी हमारे बालसंस्कार केन्द्र में स्थान नहीं है।

पृथु का राज्य कोई अंधेरनगरी का राज्य नहीं था। पृथु ने लोगों को ऐसी शिक्षा दी, क्योंकि जब तक लोगों को नहीं उठाते तब तक सभी कानून बेकार हैं। पृथु ने अश्वमेध यज्ञ किये। भागवत में वर्णन है कि उसने एक सौ अश्वमेध यज्ञ किये। इसका अर्थ कितने ही लोग 'कर्मकाण्डी यज्ञ किये' इतना ही मर्यादित समझते हैं। पृथु ने अश्वमेध यज्ञ द्वारा लोगों को जीवन समझाया है। यज्ञ शब्द **'यज्'** धातु से बना है। **'यज् देवपूजा संगतिकरणं मित्रकरणं दानेषु'** इस दृष्टि से सच्चे अर्थ में पृथु ने यज्ञ किये। यज्ञ के माध्यम से उसने ब्राह्मणों को भिन्न भिन्न दिशाओं में भेजा, जहाँ अशिक्षित, असंस्कारी, अविकसित मानवसमूह रहते थे। दक्षिणा तो मिलेगी ही, प्रत्येक झोंपड़ी में

जाओ और कार्य करके आओ ऐसा ब्राह्मणों को कहा। ऐसी ब्राह्मणों की एक गतिशील *Dynamic* संस्था खड़ी की। इसी कारण तो वह अश्वमेध यज्ञ कर सका। अच्छे ब्राह्मण चाहिए। अच्छे ब्राह्मण यानी जिनकी जटायें व दाढ़ी लंबी हैं, अथवा जिन्होंने तिलक लंबे-चौड़े लगाये हैं, ऐसा अर्थ नहीं है। आज का जमाना बुद्धिवादी कहा जाता है, लेकिन बुद्धि किधर है इसीका पता नहीं है। कम से कम धर्म में और अध्यात्म में तो बुद्धि होती ही नहीं। इसीलिए यज्ञ चाहिए।

पृथु ने अश्वमेध यज्ञ किये और लोगों को तैयार किया। उसने पूरे समाज को बदल दिया। समाज को बदलना हो तो प्रत्येक व्यक्ति को बदलना पड़ता है, इसीलिए व्यक्तिपूजा है। यही भागवत का रास्ता है, ऋषियों का, भक्तों का रास्ता है। समाज में परिवर्तन शुभकामनाओं से नहीं होता। कानून से भी नहीं होता। व्यक्तिपरिवर्तन से ही समाज का परिवर्तन होता है। इसीलिए यज्ञ के माध्यम से व्यक्ति के पास जाना होगा। हमारा स्वाध्याय परिवार इसी कारण इस मार्ग से चलता है। वह लोकसम्पर्क करता है-*Individual Contact* करता है। चिन्तनिका, प्रवचन आदि का विशेष मूल्य नहीं है, वे गौण *(Secondary)* बातें हैं, प्रमुख बात नहीं!

पृथु ने अश्वमेध यज्ञ करके ऐसा एक समाज बनाया। समाज को बदलना है तो व्यक्तिपूजा करनी होगी। चतुर्थ स्कन्ध में आयी हुई ये सभी बातें राजनीति की दृष्टि से संशोधन करने जैसी हैं। पृथु का पुत्र था- प्राचीनबर्हि! पृथु ने पुत्र से कहा, 'तेरे पास सम्पत्ति है, सत्ता है, तो तुझे सौजन्य भी खड़ा करना होगा, उसके लिए तुझे तप करना पड़ेगा। बिना तप किये तू सत्ता और सम्पत्ति नहीं पचा सकेगा। कितनी जागृत है यह पितृसंस्था? 'हमारे दो छोकरे हैं वे हमारी फैक्ट्री संभालेंगे' ऐसा हम बोलते हैं। बस्स! फैक्ट्री संभालेंगे! जहाँ पितृसंस्था जागृत नहीं है, वहाँ अन्धकार ही अन्धकार है। इसीलिए उपनिषद में लिखा है **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।'** ऐसे व्यक्ति को ही आत्मज्ञान मिलता है।

हमें लगता है कि हम करोड़पति हैं, हमारा लड़का बाहर कैसे निकलेगा? तो बिठा दो घर में और लगा दो ताला घर को! तुम्हारा लड़का अच्छा बनेगा कैसे! कैसे जाता है, कैसे रहता है, अपने को कैसे सँभालना है इसकी शिक्षा उसे मिलनी चाहिए।

पृथु अपने पुत्र को तप करने के लिए बाहर जाने को कहता है। वह कहता है, 'सत्ता और सम्पत्ति तेरे पास है इसका अर्थ तेरे पास सर्वस्व है ऐसा समझने का कारण नहीं है। तेरे पास संपत्ति है इसमें विशेष क्या है? सम्पत्ति का उपयोग कैसे करना है वह समझने की अक्ल तुझमें नहीं है। तुझे तप करना पड़ेगा।'

आधुनिक काल में, अमेरिका में एक ही सम्पत्तिवान् हेनरी फोर्ड ऐसा निकला जिसने *Ford Foundation* की स्थापना की उस समय उसने कहा, 'हमारे परिवार के पास पैसा है, पैसा कैसे कमाना है इसकी शिक्षा भी है, परन्तु उसे सम्पत्ति का उपयोग कैसे करना है

इसकी अक्ल हमारे पास नहीं है।' इसलिए उसने अनेक विविध क्षेत्रों के तज्ज्ञों की एक समिति नियुक्त की, और उसके हाथ में पैसा दे दिया। यह प्रशंसनीय बात है।

आज वित्तवान यही समझता है कि 'मुझे ही अक्ल है।' यदि तुझे अक्ल है तो दूसरे को भी अक्ल है, वह समझना चाहिए।

पुराने समय का जमाना ही भिन्न था। लोगों का दिमाग ही भिन्न था। पृथु राजा सम्पूर्ण पृथ्वी पादाक्रान्त करके विजयी बना था। एक भी राजा उस समय ऐसा नहीं था जो उसके सामने भृकुटि उठाकर उसकी ओर देख सके।

अज राजा को इन्दुमति के स्वयंवर में पिता रघु ने ही भेजा था। कहा कि 'तू जा! इन्दुमति को जब तू उठाकर लायेगा तब अन्य क्षत्रिय राजकुमार तेरा विरोध करेंगे, उनके साथ तुझे लड़ना पड़ेगा। पत्नी का रक्षण करने की शक्ति तुझमें होनी चाहिए। जा! अपने बाहुबल से रक्षा कर!' मुझे बचपन में लगता था कि रघुराजा स्वयं उसके साथ क्यों नहीं गया? रघुराजा की इतनी धाक थी कि उसका नाम सुनते ही अन्य राजा डरते थे। अज इन्दुमति का हरण करता है, उसे सभी क्षत्रियों के साथ लड़ना पड़ता है। उसका वर्णन है-

इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान् वैदर्भि पश्यानुमता मयाऽसि।
एवं विधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः।। (रघु. सर्ग-७/६७)

कितना प्रभावी होगा अज! और उसकी पत्नी कितना प्यार करती होगी उसे! ऐसा प्रभाव होगा तभी पत्नी का प्यार मिलता है। प्रेम बाजार में नहीं मिलता। कर्तृत्व और पुरुषार्थ से प्रेम मिलता है।

पृथुपुत्र प्राचीनबर्हि ने कुछ कर्तृत्व नहीं दिखाया था, पौरुष नहीं दिखाया था। इसलिए पृथु ने उसे कहा कि सत्ता, सम्पत्ति है, फिर भी तू तप करने जा!

पिता की आज्ञा शिरोधार्य मानकर प्राचीनबर्हि तप करने चला गया। उसने रुद्र की आराधना की। भागवतकार ने समझाया है कि वह भगवान रुद्र की आराधना करने गया और भगवान रुद्र ने उसे नारायण स्तोत्र दिया, इधर हमारे यहाँ शैव-वैष्णवों का झगड़ा चलता है। वैष्णव कहते हैं, 'हम शिवमन्दिर में नहीं जायेंगे।' अरे! मत जाओ! उसमें कुछ विशेष नहीं है, परन्तु शिवमन्दिर में जाने से पाप लगता है ऐसा मत बोलो!

चित्त एकाग्र करने के लिए एक ही मूर्ति होनी चाहिए इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु दूसरी मूर्ति क्षुद्र है, उसका ध्यान करेंगे तो पाप लगेगा यह बात असत्य है। प्राचीनबर्हि ने तप किया, रुद्र भगवान प्रसन्न हुए और उन्होंने नारायणस्तोत्र दिया। भागवतकार कहते हैं कि नारायणस्तोत्र का पठन करने से इच्छित फल मिलता है, मनोकामना पूर्ण होती है।

भागवत में **'रुद्र उवाच'** लिखा है और भगवान रुद्र भगवान नारायण का वर्णन करते हैं। भगवान शंकर के मुख से भगवान नारायण का वर्णन है। बहुत ही सुन्दर वर्णन है। श्लोक भी बहुत हैं। यह छत्तीस श्लोकों का बड़ा लंबा स्तोत्र है।

प्रारंभ में 'चित्ताधिष्ठित वासुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।' उसमें भी लिखा है कि 'चित्त को समझना पड़ेगा यदि भगवान वासुदेव के पास जाना होगा तो!' चित्ताधिष्ठित वासुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ। बुद्धि के अधिष्ठाता प्रभो! आपको मेरा नमस्कार है। तेजोमय प्रभो! आपको मेरा नमस्कार है।' छठे श्लोक में कहते हैं, 'सकल जीवों को तृप्ति देनेवाले भगवान! आपको नमस्कार है। इसमें भगवान के गुण और कर्तृत्त्व का वर्णन करके भगवान वासुदेव के पास जाने के लिए हमारी कोई महत्ता होनी चाहिए उसे समझाया गया है।

भगवान रुद्र ने उपदेश नहीं किया, यह नारायणस्तोत्र बोलने का आग्रह रखा है। इसमें भारत की परम्परा कैसी है, उसकी विचारधारा क्या है, यह देखने को मिलता है। इस जगत् में भगवान एक ही हैं। उनके नाम भिन्न भिन्न हैं, इसीलिए कहते हैं कि भगवान रुद्र नारायण का स्तोत्र कहते हैं।

पृथु ने ऋषिमान्य शिक्षा का स्वीकार किया यह महत्त्वपूर्ण बात है। शिक्षा तो अनेक प्रकार की है। चोरी कैसे करनी इसकी भी शिक्षा हो सकती है। हम यही समझते हैं कि जिससे रोटी (जीविका) मिलती है उसको शिक्षा कहते हैं। रोटी देना शिक्षा का काम नहीं है, वह कला का काम है। दूसरे की जेब में से वित्त अपनी जेब में लाना, इसके लिए कोई कला चाहिए। उसमें विद्या की कौन सी आवश्यकता है? इसलिए कला और विद्या का पृथक्करण ऋषियों ने किया है। केवल ऋषिमान्य शिक्षा में विद्या आती है। पृथु ने वैसी शिक्षा-व्यवस्था शुरू की और सम्पूर्ण समाज को बदल दिया। पृथु ने इतनी सुन्दर रीति से राज्य किया कि उसके नाम पर से इस धरित्री का नाम पृथ्वी पड़ा।

पृथु ने अपने पुत्र को तप करने के लिए भेजा। उसके लिए उसे ऋषि के पास रहना पड़ा। ऋषि के पास सुबह जल्दी उठना पड़ता है, उसके लिए सुख दु:ख कैसे सहन करना इसकी शिक्षा पानी चाहिए। आज शिक्षा बहुत बढ़ी है, फिर भी निराशा *(Frustration)* आती है। मन के विरुद्ध एकाध बात हुई कि निराशा आती है। इसका क्या कारण है? शिक्षा ही दुर्बल है। जिस शिक्षा का मन पर कोई परिणाम नहीं होता है ऐसी शिक्षा सब दे रहे हैं। मन और शिक्षा का कोई सम्बन्ध ही नहीं है, तो फिर शिक्षा का अर्थ क्या है? केवल रटना ही शिक्षा नहीं है। जीवन को बदलनेवाली शिक्षा होनी चाहिए। इसलिए तप की महत्ता व आवश्यकता समझायी है।

उसके बाद चतुर्थ स्कन्ध में पुरंजन का आख्यान आया है। यह सम्पूर्ण आख्यान लाक्षणिक है। इतिहास में कोई पुरंजन नाम का राजा नहीं है। इसलिए भागवतकार ने स्वयं लिख रखा है वह लाक्षणिक कथा है। उसमें पुरंजन व अविज्ञात ऐसे दो पात्र हैं। अविज्ञात को पुरंजन मानता नहीं है इसलिए पुरंजन की स्थिति कैसी होती है इसका दर्शन उस कथा में है। उपनिषद में भी ऐसी लक्षणा है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। (श्वे ४-६)

ऐसा ही वर्णन पुरंजन के रूप में भागवत में आया है। पुरंजन अविज्ञात को नहीं मानता है, इतना ही नहीं, वह उसकी उपेक्षा करता है। उसके बाद उसकी जो अति भयानक, भीषण और अधि:पतित अवस्था होती है उसका वर्णन किया है।

मनुष्य विषयासक्त कैसे बनता है उसका दर्शन और कर्मकाण्ड की विफलता पुरंजन आख्यान में समझाये गये हैं। ये दो बातें समझाने के लिए एक लाक्षणिक कथा खड़ी की है। यह एक अति सुन्दर कथा है। उसको कौनसा पुर है, पुर के कौन कौन से दरवाजे हैं, पूर्व की ओर कौन है, पश्चिम की ओर कौन है, मित्र कौन है, संभालनेवाला कौन है, यह सब लाक्षणिक रूप देकर समझाया है। मैं इतना ही कहता हूँ कि विषयासक्त का चित्रण इसमें किया गया है। विषयों से पूर्ण भरा हुआ, अज्ञानी, स्त्री के अधीन बना हुआ (यहाँ स्त्री का अर्थ *opposite sex* - यानी स्त्री की दृष्टि में पुरुष इतना ही नहीं अपितु पुरुष के स्वाधीन बनी हुई स्त्री भी लेना है) जीव अज्ञानी है। विषयों से बुद्धिभ्रंश कैसे होता है, उसमें किस प्रकार दीनता आती है, जीवन अस्मिताशून्य कैसे बनता है, इसका चित्रण किया है। चित्रण इस प्रकार किया है कि वह पढ़ने से भी विषयों के प्रति तिरस्कार निर्माण हो जाता है।

विषयासक्त मनुष्य हीन, दीन, अस्मिताशून्य बन जाता है, उसके बाद कालकन्या 'जरा' आती है।

कृतान्तस्य दूती जरा कर्णमूले समागत्य वक्तीति लोकाः शृणुध्वम्।
परस्त्रीपरद्रव्यवांछा त्यजध्वं भजध्वं रमानाथपादारविन्दम्।।

जरा (बुढ़ापा) कृतान्त की यानी यमराज की पुत्री है, वह समझाने के लिए आती है कि, 'अब बस हुआ! आज तक तो कुछ सोचा ही नहीं, अब तो विचार करो, अब तक तुम्हारा यही चल रहा है? बूढ़ा हो गया है, अपना मुख तो शीशे में देख! बुढ़ापे के कारण मुरझा हुआ मुख देखने के बाद, प्रथम यह ज्ञान होना चाहिए कि तू बीस साल का था, फिर तीस साल का हुआ और आज साठ साल का हुआ है, फिर भी तेरा यही क्रम चल रहा है? इससे अधिक क्या तुझे कुछ करना है या नहीं?

कितने ही लोग, उनके लड़के धन्धा सँभालते हैं इसलिए तीर्थयात्रा करने जाते हैं। आने जाने का वापसी टिकट *(Return Ticket)* निकालकर वे तीर्थयात्रा करते हैं। पत्नी को साथ लेकर तीर्थयात्रा करते हैं, पर वहाँ जाकर क्या करते हैं? दूसरी कुछ दृष्टि तो नहीं है। डाकोर जाते हैं तो वहाँ का गोटा (एक खाद्य पदार्थ) खाकर आते हैं अथवा हरद्वार गये तो वहाँ की पानी-पुरी खाकर आते हैं। इस प्रकार की तीर्थयात्रा से जीवन को मोड़ कैसे मिलेगा? जीवन को मोड़ यानी विचारों को मोड़। विचार ही मानवी जीवन हैं। मनुष्य में से विचार कम *(minus)* किये तो पशु रहता है, दूसरा क्या? मनुष्य बुद्धिमान प्राणी *(Rational animal)*, है। यदि उसके विचारों को मोड़ नहीं मिला तो जीवन को भी मोड़ नहीं मिलता, फिर वह भले ही यहाँ बम्बई में रहे या गंगा के किनारे पर जाकर बैठे,

उसमें क्या फर्क पड़नेवाला है? अध्यात्म में अपना विश्लेषण स्वयं ही करना पड़ता है ऐसा भागवत समझाता है।

बुद्धि कामाधिष्ठित किस प्रकार बनती है, उससे मनुष्य विषयलंपट बनकर कैसे अध:पतित होता है इसका चित्रण ऐसा किया है कि उसे पढ़ने पर मनुष्य को लगता है कि यह मेरा तो वर्णन नहीं है? मुझे ही ध्यान में रखकर तो नहीं लिखा है?

मनुष्य के पास बुद्धि है। भीतर काम है और राम है। दोनों का राज्य चलता है और चलेगा। 'काम' का अर्थ केवल *opposite sex* का आकर्षण इतना ही मर्यादित अर्थ नहीं लेना है। काम का अर्थ है, इच्छा-वासना। एक वासना का राज्य है, दूसरा वासुदेव का राज्य है। दोनों प्रभावशाली हैं। बुद्धि को किसके हाथ में देना है? बुद्धि जब विषयाधिष्ठित बन जाती है तब कोई भी काम करने के पहले बुद्धि पूछती है कि यह करने से क्या मिलेगा? यह बुद्धि की चंचलता है। कोई भी बात फायदा लेने के बाद ही करनी है! इसलिए हमारे प्राचीन ऋषियों ने कहा, **'निष्कारणेन षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।'** वेदों का अध्ययन निष्कारण ही करना है। कुछ नहीं मिलेगा फिर भी करना है। लोग पूछते हैं कि वेदों का अध्ययन करने से क्या मिलेगा? कुछ न मिला तो क्या अध्ययन करना व्यर्थ है? ऐसा नहीं है, परन्तु आज मनुष्य फायदावादी बन गया है।

एक पौत्र अपने दादा के साथ बातें कर रहा था। उसने दादा से पूछा, 'इससे क्या लाभ है?' 'उससे क्या लाभ है?' बाघ का क्या फायदा है? सिंह से क्या लाभ है? दादा जबाब देते देते ऊब गये। अन्त में दादा ने कहा, 'संपूर्ण सृष्टि तेरे लाभ के लिए है ऐसी तेरी मिथ्या धारणा न हो, इसलिए जगत में बाघ, सिंह हैं। अत: मिथ्या धारणा छोड़ दे।'

लाभ देखकर दौड़नेवाली बुद्धि को विषयाधिष्ठित बुद्धि कहते हैं। इसीलिए बुद्धि को समझाना है कि लाभ न मिलता हो, तो भी अमुक काम अच्छा है। उसीको साधना कहते हैं। साधना का सातत्य *(Continuity)* टिकाना चाहिए। आज किया व कल 'क्या लाभ हुआ' यह देखनेवाला मनुष्य साधना नहीं कर सकता। कुछ न मिले, फिर भी मुझे वर्षों तक अमुक काम करना ही है। क्या मिलेगा इसका मुझे पता नहीं है। कुछ गँवाने का धन्धा तो है नहीं। यह दो प्रकार का धन्धा होता है, कमाना और गँवाना! यह गँवाने का धन्धा नहीं है। क्या कमाना है, यह भगवान जानते हैं।

बुद्धिभ्रंश हुआ कि मनुष्य दीन बनता है, अस्मिताशून्य जीवन बनता है। बुद्धि को इस प्रकार का रोग लगने पर बुद्धि क्या सोचती है, इसका पता है? 'मैं और मेरा' विषयलंपट मनुष्य का अध:पतन कैसे होता है, उसका निजी ऐश्वर्य किस प्रकार नष्ट होता है और अस्मिताशून्य, दीन बनकर वह कैसे जीवन व्यतीत करता है इसका चित्रण पुरंजन आख्यान में है। उसका श्वासोच्छ्वास चलता है इसलिए उसे 'जीवित है' कहा जाता है। उसकी बुद्धि को एक प्रकार की बेहोशी आ जाती है। बेहोशी लानेवाली मदिरा भी तीन प्रकार की होती है ऐसा सुभाषितकार कहता है।

प्रमदा मदिरा लक्ष्मीर्विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
दृष्ट्वैवोन्मादयत्येका पीता चान्यातिसंचयात्।।

प्रमदा, मदिरा और लक्ष्मी ये तीनों भी बेहोशी लाती हैं। स्त्री में लुब्ध बने मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है। 'मैं कौन हूँ, क्या हूँ, किसके लिए हूँ' इसका विचार ही मनुष्य नहीं करता। दूसरा प्रकार है मदिरा, वह तो बेहोशी लाती ही है यह सबको मालूम है। तीसरा प्रकार है लक्ष्मी। वित्त द्राक्ष जैसा है। द्राक्षों से जो आसव निकलता है उसे द्राक्षासव कहते हैं। उसमें पाँच प्रतिशत अल्कोहोल होने से वैद्य उसका औषध के रूप में उपयोग करने को कहते हैं। उसका संचय करने से उसमें अल्कोहोल का प्रमाण पन्द्रह-बीस प्रतिशत प्रमाण में हो तब वह बेहोशी लाता है। द्राक्ष का असली रूप तो अच्छा है, वैसा वित्त का असली रूप अच्छा है, परन्तु उसका अतिसंग्रह होने पर वह भी मदिरा के समान बेहोशी लाता है। उसमें जो फँस जाते हैं वे विवेक खो बैठते हैं और उनका जीवन नष्ट हो जाता है।

पुरंजन आख्यान में पुरंजन को बुद्धि का रोग छू गया, यानी 'मैं और मेरा' का रोग हो गया। 'मैं और मेरा' आया कि 'यह सब मेरे लिए ही है' यह बात आ जाती है। ऐसा हुआ तो मनुष्य के जीवन को मोड़ नहीं मिलता। पुरंजन को ऐसी बेहोशी के कारण आत्मशक्ति की विस्मृति हो गयी। वह प्रमदा यानी स्त्री में लुब्ध बना और उसमें उसका पतन हुआ।

'कुरुत करुणा मैत्री प्रज्ञा बधूजनसंङ्गमं न खलु नरकेहाराक्रान्त'

प्रत्येक व्यक्ति को चार पत्नियाँ करनी चाहिए ऐसा इस्लाम धर्म कहता है। हमारा वेदान्त भी कहता है कि चार पत्नियाँ करो। कोई कहेगा कि आज तक हमें ऐसा किसी ने बताया ही नहीं। सभी एकपत्नीव्रत की महत्ता समझाते हैं, परन्तु वेदान्त चार पत्नियाँ करने को कहता है वे कौन कौनसी हैं? एक तो तुम्हारी निजी पत्नी, जिसका हाथ तुमने **नातिचरामि नातिचरामि** कहकर पकड़ा है वह! अन्य तीन पत्नियाँ जीवन में लानी चाहिए करुणा, मैत्री व प्रज्ञा।' यह यदि मनुष्य न करे तो केवल योषित् (स्त्री) संग से विषयासक्त बनकर अधःपतित बन जाता है।

पुरंजन राजा योषितसंग को सर्वस्व मानता था। उसके भीतर उसका एक मित्र बैठा हुआ था। उसका नाम था अविज्ञात। वह अविज्ञात उसे समझाता है, परन्तु पुरंजन सुनता ही नहीं।

मैं कितनी ही बार विनोद में कहता हूँ कि किसी भी व्यक्ति से भगवान को बात करनी है, परन्तु भगवान टेलिफोन कब करें? जब कहीं भगवान उसका नंबर घूमाते हैं तब टेलिफोन *Engaged* आता है। उदाहरणस्वरूप सुबह हम उठते हैं तब तुरन्त भगवान टेलिफोन करते हैं, परन्तु उस समय हम 'चाय' का विचार करते रहते हैं। भगवान चाहे तब हमें टेलिफोन करें मगर उन्हें हमारा टेलिफोन मिलता ही नहीं!

इसी प्रकार भीतर बैठा हुआ मित्र अविज्ञात कुछ कहना चाहता है, परन्तु उसकी बात सुनने के लिए तुम्हें समय ही नहीं है। हमें काम बहुत है, इसलिए हमारे टेलिफोन पर दबाव *(pressure)* भी बहुत है। सुबह आँखें खुलती हैं तब से लेकर रात्रि में सोने तक हमारा टेलिफोन एंगेज्ड ही रहता है। भीतर के मित्र अविज्ञात का टेलिफोन लगता ही नहीं और हमें आत्मशक्ति की विस्मृति हो जाती है। हमारे शास्त्रकार कहते हैं कि अमुक एक समय के लिए तुम सब छोड़कर बैठो। उस समय तुम्हारे साथ न भूतकाल हो, न भविष्यकाल, तथा वर्तमान भी न हो। इस तरह बैठना चाहिए। **'एकान्ते सुखमास्यताम्...'** बैठना चाहिए, परन्तु हम वैसा नहीं बैठते। हर समय हमारा टेलिफोन भगवान को एंगेज्ड ही मिलता है।

मनुष्य को एक निश्चित समय प्रतिदिन अकेला बैठना चाहिए। उस समय पीछे का कुछ कूड़ा-कचरा न हो, न भविष्य के कुछ मनोराज्य! वैसे ही वर्तमान भी न हो। ऐसी स्थिति एक क्षण भर भी लायेंगे और भगवान फौरन टेलिफोन घूमायेंगे तो तुरन्त टेलिफोन लग जायेगा और जीवन को मोड़ मिलेगा। इसीलिए तो चित्तैकाग्रता *(Concentration)* है। कौनसे समय हमारा टेलिफोन खाली रहता है ताकि उस समय वे हमें टेलिफोन कर सकेंगे। इसीलिए चित्तैकाग्रता के लिए बैठना है।

आत्मशक्ति के चले जाने पर पुरंजन की स्थिति अत्यन्त अध:पतित बन गयी थी। उसका भान स्वयं पुरंजन को होता है। उसे लगता है कि 'क्या मैं ऐसा हूँ? इतना मैं अध:पतित बन गया? क्या इतना मैं निकम्मा हूँ? क्या मैं कोई स्वप्न खो बैठा हूँ? किस कारणवश मेरी यह अवस्था हुई है?'

हमारे जीवन में काम और राम दोनों की रस्साकसी चलती है। उसमें किसकी विजय होगी? राम की या काम की? कोई कहेगा कि 'हमारे जीवन में राम का ही आकर्षण है इसी कारण तो हम मन्दिर में जाते हैं न?' परन्तु ऐसा समझने का कारण नहीं है। आप जो मंदिर में जाते हैं, वह भगवान के प्रति आकर्षण है इसलिए नहीं, अपितु काम के प्रति आकर्षण के कारण ही जाते हैं। राम से इच्छित वस्तु प्राप्त करनी है इसलिए आप मन्दिर में जाते हैं। हमारी कामना हमें चैन से नहीं बैठने देती। वह हमें जगाकर कहती है, 'चल, उठ! खड़ा हो, जा मंगला के दर्शन करने मंदिर में! मंगला का दर्शन करेगा तो व्यापार में लाभ होगा।' हम मन्दिर में जाते होंगे या तीर्थयात्रा में, कहीं भी हम जा रहे होंगे परन्तु उसमें काम खींचता है, राम नहीं।

जिसके जीवन में केवल काम ही खींचता है, ऐसा भी एक जीवन होता है, जैसा पुरंजन का चित्रण किया है। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वे केवल राम की तरफ ही देखते रहते हैं। परन्तु 'कामार्थ राम' दूसरा एक रूप है, उसी प्रकार राम के लिए काम को पकड़ना यह तीसरा रूप है। जब 'अविज्ञात' का फोन लगता है और उसकी बात सुनायी देती है तब ऐसा मोड़ जीवन को मिलता है।

पुरंजन देहधारी जीव का प्रतीक है। कामार्थ जीवन में भगवान के अस्तित्त्व की ही अवगणना है। कामार्थ राम-इस दूसरे रूप में भगवान की अवगणना नहीं अपितु भगवान की मान्यता है। रामार्थ काम यह दैवी मोड़ है। ऋषि और सच्चे अर्थ में जो ब्राह्मण हैं उनके जीवन में यह देखने को मिलता है। वेदों में ऋषि ने भगवान से कितना माँगा है?

'अश्मा चमे मृत्तिका चमे गिरयश्चमे पर्वताश्चमे सिकताश्चमे वनस्पतयश्चमे हरिण्यं चमे...' इस प्रकार **चमे चमे** कहकर ऋषि ने कितना माँगा है? उन्हें 'काम' है, परन्तु वह 'रामार्थ काम' है। भगवान! मुझे वित्त चाहिए परन्तु आपका काम करने के लिए चाहिए। जीवन को ऐसा मोड़ मिले जिससे राम भी रहे और काम भी! परन्तु यहाँ काम गौण है और राम श्रेष्ठ-प्रमुख हैं। हम मन्दिर में जाते हैं, परन्तु हमारे जीवन में काम प्रमुख है और राम गौण है। समझो कि मन्दिर में जाते समय कोई व्यापारी दस हजार रुपयों के लाभ का सौदा ले आया तो? हमें लगता है कि मन्दिर में कल जायेंगे, इस समय व्यापारी को वापस तो नहीं लौटा सकते! भगवान तो क्षमाशील हैं, हम उनके पुत्र हैं। भूल तो होती ही है- *'To err is human*।' भूल करना यह तो हमारा स्वभाव नहीं! कर्तव्य है! कल मन्दिर में दस मिनट के बदले बीस मिनट बैठेंगे। इसमें क्या है? हमारे जीवन में राम गौण व काम प्रमुख है। जीवन को ऐसा मोड़ मिलना चाहिए कि जिससे राम प्रमुख बनें और काम गौण बनेगा। 'राम व काम' के बिना यह शरीर चलेगा ही नहीं! काम का अर्थ है, इच्छा। वसिष्ठ को भी इच्छा थी ही। ज्ञानेश्वर को भी इच्छा थी- **'अवघाची संसार सुखाचा करीन- आनन्दे भरीन तिन्हीं लोक।'**

अति उच्च स्थिति में रहनेवाले भगवान को इच्छा (काम) हुई इसीलिए तो सृष्टि उत्पन्न हुई। परन्तु जीवन में काम को स्थान कौनसा है। पुरंजन राजा के जीवन में प्रारंभ में उसकी काम के साथ एकरूपता थी, इसका कारण 'अविज्ञात' मित्र के साथ उसकी बात ही नहीं होती थी। जब अविज्ञात को टेलिफोन लगा तब पुरंजन को पता चला कि जीवन क्या है और किसलिए है! यह सब बहुत ही सुन्दर रीति से समझाया है। पुरंजन का आख्यान व्यक्ति के जीवन को मोड़ देनेवाला आख्यान है।

चतुर्थ स्कन्ध में कर्मकाण्ड की विफलता दिखायी है और व्यक्ति का श्रेष्ठत्व समझाया है। कर्मकाण्ड तो होना ही चाहिए। कोई भी विचार जब तक कर्म में साकारित नहीं होता तब तक उस विचार का कोई मूल्य नहीं है, ऐसा हमारे शास्त्रकार कहते हैं। **कर्मजान् विद्धि तान्सर्वान्** ऐसा गीताकार ने भी कहा है।

कितने ही लोग **सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तुः..** कहते हैं, परन्तु उसके पीछे उनकी कोई कृति नहीं होती। कुछ तो भगवान को ही उपदेश देते हैं कि 'दयालु प्रभो! सबका करो कल्याण।' यह सुनकर भगवान विचार करते हैं कि यह तो मुझे ही उपदेश देते हैं! इसके पीछे कर्म की शक्ति नहीं है।

हमारे यहाँ भी कर्म का आग्रह है- **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि...।'** ऐसा कहा है। तुमने क्या सोचा था इतना ही भगवान नहीं देखते। तुमने आचरण में कितना चरितार्थ किया, कर्म कितना किया वह भगवान देखते हैं। 'मैंने अच्छा विचार किया था, मेरा हेतु *(motive)* अच्छा था' केवल इतना ही बोलने से नहीं चलता। तुमने क्या किया यह बताओ, ऐसा भगवान कहेंगे।'

जीवन में विचार और कृति ये दो बातें हैं। कृति से जब भक्ति और विचार निकल जाते हैं तब उसे आज के कर्मकाण्ड का स्वरूप आ जाता है। पुरंजन आख्यान में कर्मकाण्ड का गौणत्व समझाया है। भगवान ने गीता में भी कहा है-

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदंत्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।। (गी. २/४२)

गीता में भी कर्मकाण्ड की खिल्ली उड़ाई गयी है, इसका कारण जब कर्म में से ज्ञान, भक्ति और विचार चले जाते हैं तब उसमें यांत्रिकता आ जाती है। कोई भी कर्म विचार से ही शुरु होता है उसके पीछे भक्ति-प्रेम भी होता है। कर्म में से विचार, प्रेम और भक्ति जब चले जाते हैं तब केवल कर्म रह जाता है। ऐसा कर्मकाण्ड जीवन को मोड़ नहीं दे सकता। वह न अपना भला करता है न दूसरों का! भक्ति में भी कर्मकाण्ड आ गया है।

'खादी पहननी चाहिए' इसके पीछे कोई विचार था प्रेम था। वह प्रेम चला गया और कर्मकाण्ड रह गया। तुम्हें यदि मंत्री बनना है तो खादी पहननी चाहिए, उसके बिना नहीं चलेगा। यह कर्मकाण्ड आ गया। कर्मकाण्ड सभी क्षेत्रों में घुस गया है। वह केवल भक्त में ही घुसा है ऐसा नहीं है। मैं तो आगे बढ़कर कहूँगा कि जिसने साम्यवाद *(Communism)* का अभ्यास किया है उसे पता होगा कि आज साम्यवाद में जो कुछ चल रहा है वह सब कर्मकाण्ड ही है, अदालत में जो होता है वह सब कर्मकाण्ड ही चल रहा है। 'सभी कागज़ात पूर्ण हैं या नहीं, कानून से सब कुछ है या नहीं, उतना ही देखा जाता है। घटना बनी है फिर भी कहीं कानून की कक्षा में से छूटा जायेगा तो छूट सकते हैं। आज सब केवल ब्राह्मणों को गालियाँ देते हैं कि वे कर्मकाण्ड पकड़कर बैठे हैं। परन्तु सभी क्षेत्रों में कर्मकाण्ड घुस गया है।

आज शिक्षा-संस्थाओं में कर्मकाण्ड घुसा हुआ है। ग्रेज्युएट बन गया है, अब बी. एड् के टर्म्स पूरे किये या नहीं? किये हों तो शिक्षक बन सकता है, अच्छा शिक्षक! मगर ऐसा किसने कहा? जल का मार्जन हो गया है। जैसे ब्राह्मण जल का मार्जन कर सुपारी में गणपति लाते हैं वैसे ही बी.एड् की टर्म पूरी की और बन गये शिक्षक। इस प्रकार बी. एड् कॉलेजों से बहुत सारे गणपति-शिक्षक बाहर पड़ते हैं। उनमें से कितने ही लोगों को न शिक्षा का पता है न उनका शिक्षा पर प्रेम है, उन्हें कुछ करना नहीं है, लेकिन् *B Ed* बन गये। इसलिए मैं कहता हूँ कि कर्मकाण्डी ब्राह्मण को गालियाँ देने का कोई कारण नहीं

है। आज पढ़े लिखे लोग ब्राह्मण को गालियाँ देते हैं और शिक्षाक्षेत्र में वही बात वे करते हैं। विधानसभा, अदालत, हाईकोर्ट, सभी स्थानों में कर्मकाण्ड घुस गया है।

पीछे हमने श्राद्ध के बारे में विचार किया। श्राद्ध में ब्राह्मण को बुलाना और उन्हें खीर खिलाना और फिर प्रसाद के रूप में स्वयं भी खाना ही श्राद्ध हो गया है। पोते ने दादा से पूछा श्राद्ध कब होता है? तो दादा ने कहा, 'मरने के बाद।' पोता फिर पूछता है, 'तो आप कब मरेंगे? क्योंकि आप मरेंगे तब श्राद्ध होगा और श्राद्ध होगा तब खीर मिलेगी। श्राद्ध का अर्थ खीर तथा संक्रान्ति का अर्थ तिलगुड़ के लड्डू! बस्स! हो गया सब। ऐसा कर्मकाण्ड आ गया। ऐसा ही गणपति-पूजन हो गया है। गणेश-पूजन करना यानी 'मोदक' होने ही चाहिए। नैवेद्य में मोदक न हों तो गणेश महाराज गुस्सा हो जायेंगे। इतनी ही बात उन्हें मालूम है। महाराष्ट्र में घर घर में गणेश पूजन चलता है, परन्तु वे इससे विशेष कुछ नहीं जानते और न करते ही हैं।

किसी भी कर्म के पीछे विचार होते हैं, प्रेम भी होता है, फिर कर्म प्रारंभ होता है। जब वह कर्म छूट जाता है और जब उसके पीछे के विचार और प्रेम चला जाता है तब वह केवल कर्मकाण्ड रह जाता है। ऐसे कर्मकाण्ड का भागवतकार ने मजाक उड़ाया है और पुरंजन आख्यान में कर्मकाण्ड की विफलता समझाकर, हरि की भक्ति करो ऐसा कहा है। भागवतकार का एक ही आग्रह है कि कर्मकाण्ड में भक्ति लाओ। श्राद्ध में न बाप पर प्रेम है और न वेदों के प्रति भक्ति है, उसमें भक्ति लाओ ऐसा भागवतकार कहते हैं। पुरंजन आख्यान बहुत ही सुन्दर है।

पञ्चमः स्कन्धः

अब श्रीमद्भागवत जैसे नारायणपर ग्रंथ के पाँचवें स्कन्ध के सम्बन्ध में विचार करना है। पाँचवें स्कन्ध के प्रारंभ में ही भागवतकार को एक ऐसी शंका निर्माण हुई है कि भोग और परिवार का इतना अधिक तिरस्कार होने पर इहवाद छूट जायेगा और लोग आत्यन्तिक परलोकवादी बन जायेंगे तो? आज धर्म में ऐसा ही चलता है। तथाकथित और परम्परा की लीक पर चलनेवाले धार्मिक लोग ऐसा समझते हैं कि परिवार तुच्छ है, पैसा कमाना त्याज्य है, व्यवहार करना बिलकुल अनाध्यात्मिक है। इसी कारण आज के नवयुवकों को चिढ़ चढ़ी है और वे भौतिकता की ओर आकर्षित होते जा रहे हैं। भौतिकवाद माया होने से उसे स्वीकारना नहीं चाहिए ऐसा तथाकथित धार्मिक लोग कहते हैं। अत: नवयुवकों की बड़ी दयनीय अवस्था हुई है। भोग व परिवार का तिरस्कार होगा तो क्या होगा? अभावात्मक विचार *(Negative Thinking)* होने चाहिए, उनकी आवश्यकता भी है, परन्तु बौद्ध *(Budhist)* विचारों के प्रभाव से ऐसी विचारधारा आयी है कि जो आध्यात्मिक हैं उनको गृहस्थी नहीं करनी है, पैसा नहीं कमाना है। अर्थात् दूसरे लोग पैसा कमाते हैं उससे जो अपना जीवन चलाता है वह आध्यात्मिक है ऐसा माना जाता है। बौद्ध विचारों का परिणाम एकान्तिक हो गया है। ज्ञान अथवा भक्ति के एकान्तिक उपदेश से जीवन बिगड़ जायेगा। भागवतकार इस बारे में सजग हैं। वे इस बात को जानते हैं। भोग व संसार के विरोध में अभावात्मक विचार *(Negative Thinking)* कहना आवश्यक है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सिद्धान्त बन जाय।

इहवाद आज की समस्या है। बुद्धिप्रामाण्यवाद और इहवाद ये दोनों आज धर्म में से निकाल दिये गये हैं। जीवन केवल परलोकवादी बन गया है। यदि आप इहलोक का व्यवहार

करेंगे तो आपको लोग व्यवहारी समझेंगे यानी आप आध्यात्मिक नहीं हैं। जब जब धर्म केवल परलोकवादी बनता है तब तब उसे फटकार खानी पड़ती है। इसीलिए हमारे अति बुद्धिशाली शास्त्रकारों तथा अनुभवी व दार्शनिक लोगों ने धर्म की व्याख्या की है- **'यतो अभ्युदयनिःश्रेय-ससिद्धिः सः धर्मः'** जिससे लौकिक और पारमार्थिक कल्याण की सिद्धि होती है वह धर्म है। अभ्युदय की ओर दुर्लक्ष करनेवाला धार्मिक नहीं है और निःश्रेयस की भी उपेक्षा करनेवाला धार्मिक नहीं है। अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की ओर ध्यान देना चाहिए, परन्तु वैसा नहीं होता।

लोग परिवार-गृहस्थी की निन्दा, भोगों, विषयों की निन्दा सुनने पर, गृहस्थी में, भोगों में फँस जायेंगे, समाप्त हो जायेंगे और अध्यात्म छूट जायेगा ऐसा विचार मन में घुस जाता है। चौथे स्कन्ध तक भोगों और गृहस्थी की निन्दा हुई है इसमें सन्देह नहीं है। उसमें भी **जीव उवाच** आदि लेखन तो ऐसा है कि हम पढ़ भी नहीं सकेंगे। कदाचित् भागवतकार को शंका निर्माण हुई होगी कि भोगों और गृहस्थी की निंदा करने पर इहवाद छूट जायेगा तो? मनुष्य को इहवादी भी रहना चाहिए ऐसा भागवतकार का आग्रह है। इसलिए उन्होंने प्रियव्रत राजा की कथा कही है। उसमें उन्होंने कहा है कि इहवाद भी श्रेष्ठ है।

प्रियव्रत राजा की कथा में स्वयं भगवान ने वीतराग राजा को उपदेश दिया है। भगवान को लगा कि प्रियव्रत राजा केवल ज्ञानी बन जायेगा, इसलिए उसे समझाते हैं कि तू सच्चा भक्त बन, फिर ज्ञानी बन। उसमें **'गृहस्थाश्रमः किं अवध्यं करोति'** ऐसा ठोस रूप में पूछा है। आगे पूछते हैं कि गृहस्थाश्रम का स्वीकार करने में तू क्यों झिझकता है? मनुष्य को विषयों में लिप्त रहना चाहिए या नहीं यह प्रश्न है। उसके उत्तर में कहते हैं कि ज्ञानी भक्त विषयों और गृहस्थी में विचरण करता रहेगा तो भी विषय उसका बाल भी बाँका नहीं कर सकेंगे। यदि इहवाद और घरबार की आवश्यकता न होती तो उनको पैदा करनेवाले भगवान क्या पागल हैं? क्या वे ग़लत हैं? अर्थात् जो लोग आत्यन्तिक बनकर भोग और गृहस्थी में ही लिप्त रहते हैं, उन्हें उसमें से बाहर निकालने के लिए, 'भोग और गृहस्थी तुच्छ हैं' ऐसा कहना ही पड़ेगा, परन्तु वह कोई सिद्धान्त नहीं हो सकता। परीक्षा का समय निकट आने पर भी एकाध लड़का क्रिकेट ही खेलता रहेगा तो पिता को कहना पड़ेगा कि क्रिकेट खेलना छोड़ दे, हाथ में क्रिकेट की बैट लेना मत। परन्तु ऐसा कोई विरल ही विद्यार्थी होगा जो किसी दिन खेलता ही न हो, सुबह से शाम तक हाथ में पुस्तक ही लेकर बैठता है, तो विचारवान माँ-बाप उसको घर से बाहर निकालते हैं और कहते हैं, 'जा मैदान में जाकर खेल, सारा दिन पुस्तक ही पढ़ते रहता है?' कोई भी उपदेश एकान्तिक नहीं हो सकता। लोग हमेशा एकान्तिकता ही लेते हैं।

हमारे धर्म पर जो धूल आयी है उसका कारण यह है कि बौद्ध *(Buddhist)* विचारधारा आने के बाद धर्म और जीवन दोनों जलमग्न कमरे *(Watertight Compartment)* बन गये हैं। जीवन जीना हो तो आध्यात्मिकता छोड़ दो। अनेक लोग यही कहते हैं कि इस समय हमें जीवन जीने दो। धर्म-गीता जो कुछ है वह बुढ़ापे में देखेंगे!

किसी से पूछो, 'गीता कब पढ़ोगे?' तो कहेगा, बुढ़ापे में!' गुजराती में एक विनोदी भावगीत है-दाढ़ी थई गयी धोळी, त्यारे गीता घरमांथी खोली; ज्यारे मिठाई लागी मोळी त्यारे

घरमांथी गीता खोली।' (अर्थात् जब दाढ़ी सफेद हुई तब गीता ढूँढ ली, जब मिठाई फिकी लगी तब गीता ढूँढ निकाली)! सच्ची बात है कि ढूँढने पर घर में गीता मिली, क्योंकि घर में गीता की पूजा होती थी, वाचन नहीं होता था।

इस स्कन्ध में एकान्तिकता त्याज्य है यह समझाने का प्रयत्न है। भगवान वीतराग प्रियव्रत को उपदेश देते हुए कहते हैं कि विषय और गृहस्थी तेरा बाल भी बाँका नहीं करेंगे। इहवाद का निरुपण किया है क्योंकि उसकी आवश्यकता है। यह विचार जब धर्म उठायेगा तब सम्पूर्ण समाज धर्म को उठायेगा। 'इहवाद तुच्छ है, त्याज्य है, परलोकवाद ही श्रेष्ठ है, परलोक की ओर ही ध्यान देना चाहिए' यह जब तक धर्म पकड़ रखेगा तब तक धर्म की अवनति ही होगी। इहवाद और परलोकवाद दोनों को उठाना चाहिए। हमारे शास्त्रकारों ने धर्म की **'यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः'** यह जो व्याख्या की है वह सत्य है। विवाह करना होगा, पढ़ना होगा, व्यापार धन्धा या नौकरी करनी होगी। सभी काम करने होंगे और आध्यात्मिक भी रहना होगा। इसीलिए भगवान ने प्रियव्रत को भक्ति का मार्ग दिखाया है। उसमें इहवाद का निरुपण है यह महत्त्वपूर्ण बात है, कारण भागवत सुननेवाले और अन्य सभी लोग ऐसा ही समझते हैं कि यह संसार तुच्छ है, सब माया है, माया में घुसना नहीं चाहिए, सब बेकार है, मिथ्या है, अतः सब छोड़ दो! फिर सब बैठ जायेंगे, जैसा यह बैठ गया।

भागवत में कितनी ही निषेधदर्शक विचारों की कथाएं है। वे होनी भी चाहिए। पुरानी दीवार पर नया रंग लगाना हो तो पुराना रंग पूरी तरह से निकालना चाहिए। उसी प्रकार निषेधदर्शक विचारधारा की आवश्यकता है, परन्तु यदि तुम निषेधदर्शक विचारधारा को निकाल दोगे और विधायक विचारधारा *(Positive Thinking)* नहीं उठाओगे तो तुम स्वयं को भी एक कदम भी आगे नहीं ले जा सकोगे और समाज का मार्गदर्शक भी नहीं बन पाओगे। तुम एकान्तिक हो, इसीलिए भागवतकार ने इहवाद का निरुपण किया है। इतना ही नहीं, अपितु इहवाद रहना ही चाहिए ऐसा आग्रह भागवतकार ने रखा है। इहवाद अर्थात् भौतिकवाद। इहवाद और परलोकवाद दोनों की ओर ध्यान देना चाहिए। इहवाद में पूरा जीवन आता है। इहवाद तो होना ही चाहिए, परन्तु मुक्त पुरुषों को भी इहवाद का त्याग नहीं करना चाहिए, उन्हें भी काम करना ही पड़ेगा। जो काम नियत किया है उसे करना ही चाहिए, आत्मज्ञान होने पर भी करना चाहिए। इसी कारण तो भारत में आत्मज्ञानी ऋषियों ने भी परिवार चलाया है।

आत्मज्ञान-आत्मस्मृति होने पर भी कर्म की विस्मृति नहीं होनी चाहिए। श्रीमदाद्य शंकराचार्य को आत्मज्ञान हुआ था!

> **'न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं**
> **न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः**
> **अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता**
> **चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्'**

यह उन्होंने केवल लिखा नहीं है, यह उनकी अनुभूति थी। इतना होने पर भी उनको पता था कि कर्मविस्मृति होगी तो नहीं चलेगा। मैंने इस सम्बन्ध में एक दो बार उदाहरण भी दिया था।

गाँवों में प्रायः मन्दिरों के उत्सवों में नाटक होते हैं। समझ लीजिए कि उस नाटक में अभिनय करने वाले पात्र को ज्ञान हो गया और उसने कर्म करना छोड़ दिया कि यह सब मिथ्या है तो क्या होगा? नाटक बंद हो जायेगा। ऐसे ही एक गाँव में मन्दिर के उत्सव के समय पौराणिक नाटक हुआ। राम-रावण युद्ध का नाटक था। गाँव में जो तगड़ा (पहलवान) युवक था उसे रावण बना दिया गया और जो दुर्बल युवक था उसे राम बना दिया गया। रावण को तो तगड़ा ही होना चाहिए न! अलमस्त होना चाहिए। नाटक ठीक चल रहा था। राम-रावण में युद्ध प्रारंभ हुआ। उस दिन, जो रावण बना था उसे आत्मजागृति हो गयी। उसे लगा कि आज मेरे ससुराल के सभी लोग नाटक देखने आये हैं। उनके सामने क्या यह दुर्बल राम मुझे गिरायेगा? आज तो मुझे नहीं गिरना है। उसकी आत्मस्मृति जागृत हो गयी। राम प्रयत्न करते करते थक गया परन्तु रावण गिरता ही नहीं था। वह बेचारा हैरान हो गया। उसने धीरे से कहा, 'अरे! तुझे तो गिरना है, क्या तू भूल गया?' तब रावण ने जोर से कहा, 'मैं क्यों गिरुं? तुझमें शक्ति है तो मुझे गिराकर दिखा!' नाटक समाप्त हो गया। मैनेजर ने पर्दा गिरा दिया और रावण को निकाल दिया। बीच में ही आत्मस्मृति हुई उसका यह फल मिला। उसने रावण बनना स्वीकार किया था न? एक बार रावण बनना स्वीकार किया तो फिर उसका अभिनय पूर्ण करना चाहिए। बीच में ही 'मैं पहलवान हूँ' यह याद नहीं आना चाहिए। इसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुष को आत्मस्मृति होने पर भी अपना कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। कर्मविस्मृति होने से नहीं चलेगा। उसीको शुद्ध-स्मृति कहते हैं।

आत्मस्मृति होने के बाद अर्जुन ने युद्ध किया। गीता के अन्तिम अध्याय में अर्जुन का मोह चला गया ऐसा नहीं है। आप विभूतियोग और विश्वरूपदर्शन पढ़ेंगे तो उसमें प्रारंभ में ही अर्जुन ने कहा है-

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।। (गीता ११/१)

मेरा मोह चला गया। एक भाई ने मुझे पूछा, 'इस श्लोक में अर्जुन ने **'मोहोऽयं विगतो मम'** कहा है, फिर उसके बाद जिन अध्यायों का निरुपण है वह क्या बेकार नहीं है?' मैंने उसे कहा, 'अर्जुन का मोह गया यह बात सच है, परन्तु अठारहवें अध्याय में अर्जुन क्या कहता है?'

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। (गीता १८/७३)

ग्यारहवें अध्याय में मोह चला गया था, परन्तु आत्मस्मृति मिली नहीं थी। अठारहवें अध्याय में मोह चला गया है और आत्मस्मृति भी मिल गयी है। केवल मोह जाने से नहीं

चलता, आत्मस्मृति होनी चाहिए। 'मुझे आत्मस्मृति हुई है' ऐसा भगवान के सामने अर्जुन कहता है। आत्मस्मृति हुई, बाद में वह लड़ने लगा है। जो कर्म-विस्मृति कराती है वह आत्मस्मृति ही नहीं है।

जो भूमिका आपने स्वीकार की है, उस भूमिका को पूर्ण करना चाहिए, फिर चाहे आप मुक्त पुरुष ही क्यों न हों? जो भूमिका करनी है उसे करना ही चाहिए। मुक्त पुरुष को भी इस व्यवहार में रहना चाहिए। भागवतकार का यह आग्रह है। पाँचवें स्कन्ध के प्रारंभ में ही प्रियव्रत राजा की कथा में यह कहा है। वेदान्त तथा आध्यात्मिक विचारधारा को एक सुन्दर मोड़ इस पाँचवें स्कन्ध में दिया गया है। जीवन की, परिवार की क्षुद्र व्यवहार की निंदा की गयी है। उसे सुनकर लोगों को ग़लतफहमी होगी इसका भागवतकार को पता था। एकान्तिक निंदा अच्छी नहीं है इसीलिए पाँचवें स्कन्ध में प्रियव्रत राजा को उपदेश दिया है।

उसके बाद ऋषभदेव का चरित्र आता है। ऋषभदेव प्रातःस्मरणीय और आत्मतंत्र है, अनर्थपरम्परारहित है और आनन्दानुभव है, फिर भी लौकिक व धार्मिक व्यवहार करते थे, इतना ही नहीं, उन्होंने अपने पुत्रों को भी उपदेश दिया कि यह सब करना ही होगा। उनका दिया हुआ उपदेश प्रत्येक पारिवारिक व्यक्ति को पढ़ना चाहिए। परिवार भी चलाना होगा, जीवन भी चलाना होगा तो जीवन में कौन कौनसी बातें आवश्यक हैं वह बहुत ही अच्छे तरीके से समझाया है। हम समझते हैं कि 'लड़कों को पढ़ाया, उनको अंग्रेजी आने लगी, बैंक में नौकरी मिल गयी, अपना काम पूर्ण हो गया।' परन्तु इतना पर्याप्त नहीं है। जीवन में क्या क्या होना चाहिए यह ऋषभदेव ने समझाया है। वह प्रत्येक परिवार में होना चाहिए।

ऋषभदेव कहते हैं, जीवन-व्यवहार के लिए धैर्य, उद्योग, भक्ति, सद्भक्तसंग होना चाहिए। भागवतकार ने सद्भक्तसंग कहा है, उसका अर्थ असत्-भक्त भी हो सकता है। सद्भक्तसंग होना चाहिए, फिर तृष्णापरित्याग यह पाँचवीं बात है। द्वन्द्व के सामने खड़ा रहने की हिम्मत, और प्रभुप्रीत्यर्थ काम करने की शक्ति, वृत्ति तथा तैयारी ये और दो बातें होनी चाहिए। यह सप्तपदी है। ये सात बातें आपने अपने पुत्रों को न कहीं हों तो आपने गृहस्थी की ही नहीं! परिवार चलाया ही नहीं। ये सात गुण जीवन में लाने के लिए, मठपति, मन्दिर, शाला व परिवार इन सबका प्रयत्न होना चाहिए। परिवार चलाना इसका अर्थ यह नहीं है कि बम्बई में एक कोठी ले ली है और बैंक में लड़के के नाम पैसे रख दिये हैं। परिवार चलाने का अर्थ यह है कि परिवार में यह सप्तपदी-सप्तपदी के गुण लाने का प्रयत्न करना है। ये गुण जीवन में आयेंगे या नहीं आयेंगे। हमारी गीता तो यही कह रही है कि निष्काम कर्म करो। कदाचित् ये गुण प्रयत्न करने पर भी नहीं आयेंगे, परन्तु उसके लिए प्रयत्न किया है या नहीं, यह देखना चाहिए।

ऋषभदेव का उपदेश हरेक पारिवारिक व्यक्ति को केवल सुनना ही नहीं चाहिए, बल्कि जीवन में लाने का प्रयत्न भी करना चाहिए। तभी परिवार के लिए कुछ किया है ऐसा कहा

जायेगा। केवल 'राम राम' बोलने से नहीं चलेगा, केवल उपवास रखने से भी नहीं चलेगा। एकादशी के दिन केवल साबुदाना अथवा आलू खाने से नहीं चलेगा। मैं उसका उपहास नहीं कर रहा हूँ। भोजन के व्यंजनों में बदल *change of food* के रूप में वैसा करना अच्छा भी है। तबियत के लिए उपवास अच्छा ही है, परन्तु जीवन में ऋषभदेव के कहे हुए गुण लाने का प्रयत्न करना चाहिए। ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को ऐसा उपदेश दिया है।

हरेक परिवार को धैर्य लाना चाहिए, परिवार में धैर्य होना चाहिए। दूसरी बात- काम की आवश्यकता लगनी चाहिए। बिना काम का घर में कोई भी नहीं रहना चाहिए। तीसरी बात जीवन में भक्ति होनी चाहिए। भक्ति लाने के लिए सच्चे भक्त का संग सद्भक्त का संग होना चाहिए यह चौथी बात है। पाँचवीं बात है तृष्णापरित्याग की शिक्षा देनी चाहिए, कुछ छोड़ना है। प्रतीक्षा करने की शिक्षा परिवार में होनी चाहिए। आज मिला, तुरन्त खा लिया ऐसा नहीं चलेगा। सबको सिखाना पड़ेगा कि रुको, राह देखो। लड़के के मुँह से निकला और पिता ले आये, ऐसा नहीं होना चाहिए। परन्तु राह देखने की बात तो सुखी परिवार में होती ही नहीं। उस परिवार के लड़कों को ऐसी शिक्षा मिलती ही नहीं। इसलिए हताशा आती है निष्फलता मिलती है। परिणामस्वरूप लड़के निराश *(Frustrate)* हो जाते हैं। इच्छा हुई, जेब में पैसा है, दे दो। इस तरह कल्पतरुवाद घुस जाता है। आज इच्छा व्यक्त की गयी है, तो अगले महीने में मिलेगा ऐसा कहने की माँ बाप में हिम्मत नहीं होती। माँ-बाप का शासन कमजोर है, वे स्वयं दुर्बल बने हैं। तृष्णापरित्याग प्रत्येक परिवार में सिखाना चाहिए। छठीं बात है, द्वन्द्वों के सामने लड़ने की हिम्मत! सातवीं बात है, प्रभु के लिए काम करने की तैयारी होना।

प्रभु के लिए काम यानी काम का मूल्य *(value)* बढ़ाने के लिए किया हुआ निष्काम कर्मयोग! जिस काम की कीमत *(price)* नहीं माँगी जाती उसका मूल्य *(value)* बढ़ता है। ऐसा निष्काम कर्म करके दिखाओ। वह सतत होना चाहिए। एकाध दिन वैसा कर्म करने से नहीं चलेगा। यदि सतत निष्काम कर्म करेंगे तो उसके पीछे शक्ति खड़ी रहेगी। कर्म के पीछे कुछ भिन्न मनोविज्ञान *(psychology)* होना चाहिए। ऐसे कर्म की महत्ता है, इसीलिए इस सप्तपदी में, 'प्रभु के लिए कर्म' अन्तिम बात है। यह सप्तपदी सबको समझानी पड़ेगी और प्रत्येक परिवार को वह उठानी पड़ेगी!

पाँचवें स्कन्ध में इहवाद का निरुपण करने का प्रयत्न किया गया है। परिवार व विषयों की निंदा सुनकर, परिवार व विषय त्याज्य हैं ऐसा समझकर उन्हें छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। दवा की बोतल पर लिखा रहता है 'ज़हर *(Poison)* तो उसे दवाई की दुकान में क्यों रखते हैं? इसका अर्थ यह है कि वह दवाई समझकर लेनी है, डाक्टर की सूचना के अनुसार लेनी है। उस बोतल पर 'ज़हर' लिखा होने पर भी वह दवाई तो लेनी ही पड़ती है। इसीलिए उसे दवाई की दुकान में बेचने के लिए रखते हैं। परन्तु वह समझकर लेनी होती है, उतनी अक्ल होनी चाहिए। ऐसा आग्रह पंचम स्कन्ध में दिखायी देता है।

ऋषभदेव पूर्णज्ञानी, मुक्त, आत्मज्ञानी थे। वे वस्तुतंत्री, व्यक्तितंत्री या विषयतन्त्री नहीं थे। आत्मज्ञानी थे, फिर भी उन्होंने अपने पुत्रों को उपदेश दिया है। उनका ही एक पुत्र था भरत। भागवतकार का कहना है कि इसी भरत के नाम पर से इस खण्ड का नाम भारत पड़ा है।

इस भरत ने भिन्न भिन्न यज्ञ किये। भागवत में लिखा है कि उसने अनेक यज्ञ किये। 'यज्ञ' कहते ही हमारी आँखों के सामने एक ही चित्र आता है कि ब्राह्मण बैठे हैं, चन्दा इकट्ठा किया है, बड़ा मण्डप लगाया है और स्वाहा, स्वाहा चल रहा है, बस! यही हमारी यज्ञ की कल्पना है। यही एक निश्चित अर्थ हमारे मस्तिष्क में बैठ गया है। परन्तु ऐसा नहीं है। भरत ने सच्चे अर्थ में यज्ञ किये। उत्कृष्ट राज्य करने के लिए असली यज्ञ करने की आवश्यकता है क्योंकि यज्ञ व्यक्ति के जीवन को उन्नत बनाते हैं। यज्ञ मनुष्य में अस्मिता निर्माण करते हैं, उसे आत्मदर्शन कराते हैं, मार्गदर्शन करते हैं। जिसे आत्मदर्शन, मार्गदर्शन हुआ है, जिसके जीवन में अस्मिता निर्माण हुई है, जिसे जीवन का अर्थ मालूम पड़ा है ऐसी प्रजा जब होगी तब संपूर्ण समाज-(प्रजा) शान्त व सुखी बन सकता है। प्रजा को शान्त और सुखी बनाने के लिए उसकी बुद्धि को सुधारना पड़ेगा, दुरुस्त करना पड़ेगा। उसके लिए कार्यशाला *(workshop)* चाहिए। ऐसी कार्यशाला यानी **'तस्मात् स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।'**

कितने ही लोग कहते हैं कि, 'हम स्वाध्याय में गये थे, परन्तु हममें कोई बदलाव नहीं आया।' इसका कारण है। उनकी बुद्धि बहुत ही सुधार माँगती थी। कुछ गाड़ियाँ ऐसी हैं उनको हम गैरेज में भेजते हैं तो मैनेजर कहता है, इस गाड़ी को दुरुस्त करने में डेढ़ महीना लगेगा। इस प्रकार एक मोटरगाड़ी भी जहाँ एक दिन में दुरुस्त नहीं होती, उसे दो तीन महीने लगते हैं तो मनुष्य का मस्तिष्क दुरुस्त करने के लिए कितना समय लगेगा? कम से कम तीन जन्म तो लगेंगे ही। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे दुरुस्त ही नहीं करना है। भरत ने उस कार्य के लिए अनेक यज्ञ किये। उसने यज्ञ करके प्रजा को सन्तुष्ट किया, समाधानी बनाया और अपना संपूर्ण वैभव पुत्र को देकर गण्डकी नदी पर चला गया।

भरत के जीवन में कृतकृत्यता थी। कारण उसे जीवन में जो कुच्छ करना चाहिए था वह सब उसने किया था। अरे! जिसके जीवन में यह हिम्मत होती है कि भगवान के पास जाने पर भगवान पूछेंगे तो कह सकता है कि भगवान! जो काम करने के लिए आपने कहा था वह करके आया हूँ, वह हुआ या नहीं इसका मुझे पता नहीं है, वह देखनेवाले आप हैं, मैं तो जो करना था वह करके आया हूँ।' ऐसा जीवन जिसने व्यतीत किया, उसके जीवन में कितनी शान्ति, कितना समाधान, कितनी तृप्ति होगी! भरत का जीवन ऐसा था। वीतराग जीवन था उसका। गण्डकी के किनारे पर प्रणव का जप चलता था। ऐसा वीतरागत्व हो तो जीवन का मूल्य है। हमें प्रयत्न करने पर भी कुछ नहीं मिलता इसलिए हम वीतराग बन जाते हैं। सभी बूढ़े इस दृष्टि से वीतराग ही है। कुछ पचता नहीं, फिर खाये क्यों? अतः वीतराग बन गये। भरत का वीतरागत्व ऐसा नहीं था। तृप्त मन का वीतरागत्व था। वह प्रणव का जप करता था।

एक दिन भरत गण्डकी में स्नान करके प्रणव का जप करते हुए नदी की धारा के पास बैठे थे। उसी समय एक हिरनी प्यास से व्याकुल होकर अकेली ही जल पीने के लिए उस नदी के तीर पर आयी थी। वह जलपान कर रही थी कि अकस्मात् सिंह की भयंकर गर्जना सुनायी पड़ी। वह गर्भिणी थी। उसने सिंह की दहाड़ सुनते ही भयवश नदी पार करने के लिए छलांग मारी। उछलते समय अत्यन्त भय के कारण उसका गर्भ अपने स्थान से हटकर नदी के प्रवाह में गिर गया। गर्भपात, छलांग व सिंह का भय इन तीनों कारणों से अत्यधिक पीड़ित होकर वह हिरनी एक गुफा में जा गिरी और वहीं मर गयी। भरत ने यह सब देखकर, हिरनी के डूबते हुए बच्चे को उठाया और अपने आश्रम में ले आये।

जीवन तो कृतकृत्य था, कुछ करने की वासना नहीं रही थी। वीतराग जीवन था, प्रणव का जप भी चल रहा था, परन्तु हिरनी के बच्चे को अपने पास रखने से उसके प्रति प्रेम हो गया। अंत: जहाँ भरत जाते थे, हिरनी के बच्चे को अपने साथ ले जाते। वे हिरनी के बच्चे में तल्लीन हो गये, उनके मन को तल्लीन होने का अभ्यास था ही। भगवान के प्रति जो तल्लीनता थी वह हिरनी के बच्चे में हो गयी। हम तो पक्के व्यवहारी हैं। हमारी किसी जगह ऐसी तल्लीनता होती ही नहीं। हम सभी काम सोच समझकर करते हैं। अरे! जीवन में एकाध स्थान, एकाध कार्य ऐसा होना चाहिए कि वहाँ सोचना-विचार करना बंद हो।

हिरनी के बच्चे के प्रति प्यार के कारण भरत उसे उठाकर स्नान करने ले जाते, घुमाने ले जाते। कहीं अच्छी-सी घास या स्वच्छ जल दीख पड़ा कि तुरन्त हिरनी का बच्चा ही उसके ध्यान में आता। इतनी तल्लीनता के कारण भरत को अगला जन्म हिरन का मिला। भरत का अन्त:करण स्वच्छ तख्ती (लिखने की) के जैसा था। उस पर हिरनी के बच्चे का सिक्का *(Imprint)* आ गया। इसलिए दूसरा जन्म मृगशावक का मिला। तीव्र संग का कौनसा परिणाम आता है यह भागवतकार ने यहाँ समझाया है। भरत को दूसरा जन्म हिरन का मिला, परन्तु वे परिपूर्ण ज्ञानी थे, इसलिए उन्हें ज्ञान हुआ कि किस कारण से वे हिरन बने हैं।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त समझने जैसा है। उस सिद्धान्त के अनुसार एक बार मनुष्यजन्म मिलने पर सभी जन्म मनुष्य के ही मिलेंगे *Man is ever man*- ऐसा नहीं है। इसका कारण भगवान की सृष्टि में पशुसृष्टि व मानव-सृष्टि ऐसी दो सृष्टियाँ नहीं हैं। उत्क्रान्ति (विकास) क्रम के अनुसार पशु या मानव का जन्म मिलता है। शास्त्रीय दृष्टि से व्यक्ति मनुष्य बनने पर दूसरे जन्म में पशु भी बन सकता है। बनेगा ही ऐसा मैं नहीं कहता हूँ, बनना ही चाहिए, ऐसा भी नहीं कहता हूँ, परन्तु बन सकता है ऐसा कहता हूँ।

मनुष्य के मन पर जो संस्कार-*Imprint* पड़ते हैं। उनके कारण उसे पुनर्जन्म मिलता है। तुम जिन संस्कारों को तीव्रता से मन-बुद्धि में स्वीकार करोगे उनके अनुसार जन्म स्वीकारना पड़ता है। जो पूर्णज्ञानी हैं उनके मन पर ऐसे संस्कार नहीं पड़ते। किसी भी वस्तु

(object) को देखने पर वह उनको अच्छी लगेगी, उसका वे मूल्य भी करेंगे कद्र भी करेंगे, परन्तु उनकी बुद्धि पर उसका आघात नहीं होता। इसी कारण उनकी बुद्धि में चाह-अनचाह *(Likes and dislikes)* उत्पन्न नहीं होते। पूर्णज्ञानी को पुनर्जन्म नहीं है इसका कारण यह है कि विषय *(object)* उसकी बुद्धि पर आघात नहीं करते।

मैं विषय के लिए *Object* शब्द इसलिए प्रयुक्त करता हूँ कि हिन्दी, गुजराती, मराठी या अन्य प्राकृत भाषाओं में विषय शब्द को एक विशिष्ट अर्थ आ गया है, जैसे स्त्री - *(Opposite sex),* पैसा आदि। इस अर्थ में मैं विषय शब्द नहीं प्रयुक्त करता हूँ, *Object* शब्द का प्रयोग करता हूँ। यह जो *Object* है उसका मन-बुद्धि पर आघात होता है, छाप *(Imprint)* पड़ती है, परन्तु पूर्णज्ञानी पुरुष विषयों में घूमता है, उसकी कद्र भी करता है, मूल्य भी समझता है, परन्तु विषय *(Object)* के आघात को बुद्धि स्वीकार नहीं करती। ऐसा जीवन जिनका बना है उनका शास्त्रीय दृष्टि से पुनर्जन्म नहीं होता। पूर्णज्ञानी बनना बहुत ही कठिन है।

सामने की वस्तु (विषय) सुन्दर है, उसका मेरी बुद्धि पर परिणाम ही न हो ऐसा आग्रह कैसे रख सकते हैं? इतनी तीव्रता रहना कठिन है। इसीलिए भगवान ने गीता में कहा है- **'क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्।'** वह मार्ग अशक्य नहीं, परन्तु कठिन अवश्य है। जिस प्रकार पूर्णज्ञानी की बुद्धि पर विषयों का परिणाम नहीं होता, वैसे ही पूर्ण भक्त की बुद्धि पर भी उनका परिणाम नहीं होता। मृगपालन का ही दृष्टान्त लें, तो उसमें पूर्णभक्त की, सतत मृगपालन में भी हरि का मृग-प्रभु का मृग, यह भावना दृढ़ होती है। अतः मृग का संस्कार *(Imprint)* नहीं पड़ता, कारण उसके साथ सतत हरि है, प्रभु है। पूर्णभक्त में भी इच्छा-अनिच्छा निर्माण नहीं होती। अतः पूर्णज्ञानी और पूर्णभक्त दोनों का पुनर्जन्म नहीं होता।

भरत का जो चित्रण है, उसमें वह पूर्णज्ञानी या पूर्णभक्त नहीं है। यदि होता तो उसे मृग के पीछे हरि-भगवान ही देखने को मिलते। इस 'पूर्णभक्त' शब्द में 'पूर्ण' शब्द खास अंकित करने जैसा है। जो केवल भक्त नहीं है। जिसे हम भक्त समझते हैं वैसा यह पूर्णभक्त नहीं है। हम तो एकादशी के दिन साबूदाना या आलू खानेवाले को भी भक्त समझते हैं। मन्दिर में जानेवालों तथा मन्दिर बनवानेवालों को भी भक्त समझते हैं। कुछ धर्मादाय का पैसा निकला होगा, उसका क्या किया जाय इसका ज्ञान न हो इसलिए लगा होगा कि मन्दिर बना दूं तो सात पीढ़ियों तक नाम रहेगा। मैं ऐसे भक्त की बात नहीं कर रहा हूँ, मैं पूर्णभक्त की बात कह रहा हूँ। पूर्णभक्त और पूर्णज्ञानी- दोनों पुनर्जन्म से छूट सकते हैं।

भरत जैसे पूर्णता के समीप पहुँचे हुए व्यक्ति को भी हिरन का जन्म मिला। उस जन्म में उसे ज्ञान था कि 'ऐसा हुआ इसलिए हिरन का जन्म मिला है।' उस जन्म के बाद के जन्म में वह ब्राह्मण कुल में जन्मे थे। उसमें उन्होंने निश्चित किया था कि अब मैं किसी के साथ सम्बन्ध नहीं रखूँगा। इसलिए वे स्वजनसंग भी टालने लगे। वे भरत से 'जडभरत' बन गये। उन्हें लोग जड कहने लगे।

ज्ञाततत्त्वस्य लोकोऽयं जडोन्मत्तपिशाचवत्।
ज्ञाततत्त्वोऽपि लोकस्य जडोन्मत्तपिशाचवत्।।

समझो कि एक अधूरा है और दूसरा पूर्ण है, दोनों एक साथ चलें तो एक दूसरे को पागल समझते हैं, परन्तु निश्चित कौन करेगा कि पागल कौन है?

भक्तिफेरी में जानेवालों से कुछ लोग पूछते हैं, 'तुम भक्तिफेरी में क्यों जाते हो? उसकी अपेक्षा एक घंटा टयूशन (पढ़ाने का काम) करोगे तो तुम्हें अधिक पैसे मिलेंगे या नहीं? कुछ अच्छा होगा या नहीं? भक्तिफेरी में जानेवालों को ये लोग पागल लगते हैं और इन लोगों को भक्तिफेरी में जानेवाले पागल लगते हैं। भक्तिफेरी में जानेवाले कहते हैं कि टयूशन के पैसों का क्या करें? भक्तिफेरी में व्यय किया हुआ पैसा भगवान की बैंक में जमा होगा। वह जागतिक बैंक *(Universal Bank)* है। इन दोनों में से पैसा कहाँ जमा कराना? इस प्रकार दोनों एक दूसरे को पागल समझते हैं। **'ज्ञाततत्त्वस्य...पिशाचवत्'** का बहुत सुंदर चित्रण बड्सवर्थ ने अपनी *'We are seven'* नामक कविता में किया है। गाँव में एक घर में एक दिन एक मेहमान आया, घर में दूसरा कोई नहीं था, केवल एक छोटी लड़की थी। मेहमान ने लड़की से पूछा कि तुम कितने भाई-बहनें हो?' तब लड़की कहती है, 'हम सात भाई-बहन हैं।' मेहमान को लगा कि घर में तो यह अकेली ही है, अतः उसने पूछा, शेष छ कहाँ गये हैं?' लड़की ने कहा, 'दो भाई बाहरगाँव गये हैं, दो भाई व्यापार करने पड़ोस के गाँव में गये हैं और शेष दो नज़दीक की कब्र में सोये हैं। इस प्रकार छ हुए और मैं सातवीं हूँ। हो गये न सात? *We are seven!'*

मेहमान ने कहा, 'तुम सात नहीं पाँच गिने जायेंगे। इसका कारण जो दो सोये हुए हैं वे मर गये हैं, वे नहीं गिने जायेंगे।'

लड़की को कुछ आश्चर्य सा लगा। उसने पूछा, वे क्यों नहीं गिने जायेंगे?'

मेहमान ने कहा, वे मर गये हैं। क्या वे तुम्हें दिखायी देते हैं? तुम्हारे साथ बोलते हैं? नहीं! फिर वे दो नहीं गिने जायेगें।'

लड़की ने कहा, 'ऐसा? तो मेरे दो भाई इग्लैंड गये हैं, वे भी मुझे दिखायी नहीं देते, मेरे साथ बातें नहीं करते हैं, तो उनको क्यों गिनना चाहिए? यदि उनको गिनना हो तो ये दो जो कब्र में सोये हैं उन्हें क्यों नहीं गिनें? आपको पता है कि मैं प्रतिदिन उनके पास जाती हूँ, वहाँ केक आदि खाने को रखती हूँ, फूल रखती हूँ, फिर वे मर गये हैं और उनको नहीं गिनना है ऐसा आप क्यों कहते हैं?'

मेहमान ने कहा, 'तुम पागल हो। जब बड़ी होगी तब पता चलेगा कि मृत्यु क्या है!' उसी प्रकार उस लड़की को लगता है, 'यह भाई बहुत बड़ा व्यक्ति मालूम होता है, इंग्लैंड से आया है, पढ़ा-लिखा है, मेरे पिता का मित्र है, परन्तु पागल है। उसे सामान्य बात का भी ज्ञान नहीं है। हम सात जन हैं, यह उसे गिनना भी नहीं आता।' इस प्रकार दोनों एक दूसरे को पागल ठहराते हैं। कौन सचमुच पागल है यह काल ही ठहरायेगा।

इसी प्रकार जिसने तत्त्व को जान लिया है वह हमारे जैसे सामान्य लोगों को पागल ठहराता है और हम उसे पागल ठहराते हैं। हमारे जैसे लोगों ने शुकदेव को पागल ठहराया था।

जडभरत बनने के बाद वह सबको टालने लगा। एक दिन सिंधु सौवीर देश का स्वामी राजा रहुगण पालकी में बैठकर जा रहा था। जब वह इक्षुमती नदी के किनारे पहुँचा तब उसकी पालकी उठानेवाले कहारों के जमादार को एक कहार की आवश्यकता पड़ी। कहार को खोजते समय उसकी दृष्टि वृक्ष के नीचे बैठे हुए तगड़े जडभरत की ओर गयी। हाँ जिसे कुछ फिक्र ही नहीं होती वह तगड़ा ही होता है न! उसका वजन कम होता ही नहीं। वजन कम करना हो तो कुछ चिन्ता खड़ी करनी पड़ती है। जिसे चिन्ता ही नहीं है, उसका वजन कम करना बहुत कठिन है। जडभरत तगड़ा-हृष्ट पुष्ट था। उसे जमादार बलात्कार से पकड़ लाया और पालकी उठाने में लगा दिया।

जडभरत ने पालकी तो कंधों पर उठा ली, परन्तु उन्हें पालकी ढोने की आदत नहीं थी। अपने पैरों तले कोई जीव न दब जाय इस डर से इधर उधर देखकर सावधानी से पैर उठाते थे। अत: दूसरे कहारों के साथ उनकी चाल का मेल नहीं बैठता था। पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी। यह देखकर, सारी बात का पता चलने पर रहुगण राजा ने जडभरत की बहुत निंदा की, उनके पुष्ट शरीर की भी निंदा की। कहा, शरीर तो इतना तगड़ा है, परन्तु सीधा चलना भी नहीं आता?' भागवतकार ने यह निंदा भी बहुत सुंदर लिखी है। उनका लेखन ही बहुत सुन्दर है। उनकी निंदा भी सुन्दर, तिरस्कार भी सुन्दर और स्तुति भी सुन्दर है। भागवतकार ने जो कुछ लिखा है वह उच्च स्तर पर जाकर ही लिखा है।

रहुगण राजा ने बहुत निंदा की, परन्तु जडभरत पर उसका कोई परिणाम नहीं हुआ। जब हम किसी को अपशब्द कहते हैं तब सामने के व्यक्ति पर उसका कुछ भी परिणाम नहीं हुआ तो हम बहुत गुस्सा होते हैं, कारण उस पर परिणाम होने के लिए ही तो अपशब्द बोलते हैं। रहुगण राजा द्वारा निंदा करने पर भी जडभरत शान्त ही रहा।

रहुगण ने पूछा, 'मैंने तेरी इतनी निंदा की, फिर भी तुझ पर उसका परिणाम क्यों नहीं हुआ?'

जडभरत ने कहा, तुम जो कहते हो वह मेरे शरीर को कहते हो। शरीर यानी 'मैं' थोड़े ही है! तुम पत्थर को गाली दोगे तो क्या परिणाम होगा? कुछ नहीं! उसी प्रकार तुम्हारी गाली इस शरीर की है।'

यह सुनकर रहुगण राजा पालकी से नीचे उतरा और जडभरत को नमस्कार किया। उसके बाद जडभरत ने रहुगण को ज्ञानोपदेश दिया। आत्मस्वरूप की पहचान और कृष्णभक्ति समझायी। उसमें आत्मशक्ति का वर्णन बहुत ही सुन्दर है। भक्ति भी बहुत ही सुन्दर ढंग से समझायी है।

शिक्षित लोगों के लिए कहता हूँ कि भागवतकार ने रूपक देकर आत्मस्वरूप की पहचान और भक्ति समझायी है। रूपक द्वारा समझाने की कला भागवत में है वैसे यह कला अंग्रेजी वाङ्मय में भी है। अंग्रेजी में उसे *Allegory* कहते हैं।

चार्ल्स द्वितीय के समय एक जॉन बनियर नाम का धर्मोपदेशक था। उसने *Pilgrim Progress and Holy world* ऐसी एक रूपक कथा लिखकर असली ईसाई गृहस्थाश्रम जीवन का अति सुन्दर मनोहारी चित्रण किया। यह ग्रंथ आप पढ़ेंगे तो आपका भी ईसाई बनने का मन होगा। इस ग्रंथ में उसने आदर्श जीवन समझाया है।

ये दोनों कथाएं ऐसी ही हैं। संस्कृत वाङ्मय पढ़नेवाले लोगों के लिए कहता हूँ कि 'प्रबोध चन्द्रिका' नाटक में इसी पद्धति को स्वीकार किया है जिसे जडभरत ने स्वीकार किया। जडभरत का ज्ञान उन्होंने लिया है या जडभरत ने उनका ज्ञान लिया यह मुझे मालूम नहीं है। इसका कारण कालनिर्णय और ऐतिहासिक बातें मेरे मस्तिष्क में नहीं आती। मैं उन्हें प्राधान्य नहीं देता हूँ। मैं विचार को प्राधान्य देता हूँ। अतः यह कला प्रथम किसने प्रारंभ की आदि बातों का संशोधन करने का काम पण्डितों का है। पण्डित वे विषय देखेंगे। जडभरत का इस द्वन्द्व द्वारा सुन्दर चित्रण किया है और उसमें आत्मस्वरुप की पहचान समझायी है तथा भक्ति भी समझायी है। यह विषय पंचम स्कन्ध में पढ़ने जैसा है। उसके बाद कालनिर्णय दिया है। वैसे ही चतुर्दश लोकों का भी वर्णन है। **'अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल महातल, पाताल, भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्।'** ऊपर सात लोक व नीचे सात लोक मिलकर चौदह लोक हैं, उनका वर्णन है। उसके बाद पापों की सूची *(List)* है और नरक का वर्णन है। पापों की सूची पढ़ते हैं तब आज हम जिनका विचार या उच्चार भी नहीं कर सकते ऐसे पाप उसमें लिखे हुए हैं। ऐसे पातकी लोग कहाँ जाते हैं? उनका क्या होता है? इन सबके लिए नरक का वर्णन है।

'नरक' शब्द का अर्थ है – **'कुत्सित नरः नरकः।'** कुत्सित नर यानी ही नरक! अरे! नारायणोपनिषद का पारायण करनेवाले लोग कुत्सित थोड़े ही हैं? उन्हें तो नरक का विचार करने की भी आवश्यकता नहीं है। हमारा वह विषय ही नहीं है। हमें नरक में जाना ही नहीं है फिर उसका विचार क्यों करना? हमें शराब पीनी ही नहीं है तो वह कहाँ मिलती है यह पूछने की या जानने की आवश्यकता ही क्या है?

पंचम स्कन्ध के अन्त में नरक तथा पापों का वर्णन किया है और स्कन्ध समाप्त हुआ है।

षष्ठः स्कन्धः

पंचम स्कन्ध की समालोचना के अन्त में नरक का वर्णन आया और पापों की सूची भी दी है। सामान्य लोगों को समझाने के लिए वह आवश्यक है। सर्वसामान्य तौर पर हमने विकासक्रम *(Law of evolution)* के अनुसार मनुष्य-शरीर धारण किया है। उसके भीतर हमें जो साधन *(Instrument)* मिले हैं, वे हैं- इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि! इनको उन्नत बनाने का प्रयत्न करना है। इनको उन्नत करने के प्रयत्नों में जो अन्तराय-अवरोध आते हैं उनको 'पाप' कहा जाता है।

इस संपूर्ण संसार को निर्माण करनेवाले व चलानेवाले एक ही भगवान हैं इसलिए उनका सामाजिक वातावरण मलिन तथा कलुषित नहीं बनना चाहिए। उसके लिए कुछ आचारसंहिता होती है। 'सामाजिक नुकसान करनेवाला व्यक्ति स्वयं अपना भी नुकसान करता है' यह समझने का प्रयत्न करते हुए आचारसंहिता लानी है। यह एक उत्कृष्ट मार्ग है, परन्तु सभी लोग वह समझने की मनःस्थिति *(Mood)* में नहीं होते, और उसे समझने जितनी बुद्धि भी उनमें नहीं होती। कितने ही लोग परिस्थितिवशात् कुछ पूर्वग्रह लेकर बैठे होते हैं।

बुद्धि के दो प्रकार हैं- १) मेरी बुद्धि व २) शुद्ध बुद्धि! 'मेरी बुद्धि' आयी कि उसके पीछे अपना सारा कूड़ा-कचरा आ जाता है, और सोचना *(Thinking)* भी उसके अनुसार हो जाता है। कितने ही लोग कहते हैं, "बुद्धि चलाकर ही मैंने तर्क से अमुक अमुक निर्णय लिया है।' उसे कहना चाहिए कि 'तेरा यह निर्णय तर्कयुक्त है, परन्तु वह 'मेरी' (अपनी) बुद्धि का निर्णय है, शुद्ध बुद्धि का नहीं!

'मेरी' बुद्धि भिन्न और 'शुद्ध' बुद्धि भिन्न! **'शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः....** उसी प्रकार **बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भवेत्...'** इसमें जो बुद्धियोग है वह बिलकुल अलग है। भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न विचार करते हैं, इसीलिए तो समझाने की कोशिश करनी ही चाहिए, परन्तु साथ ही उनके मन में कुछ भीति भी निर्माण करनी चाहिए। *Fear of God is begininig of wisdom*।' इसलिए प्रारंभ में भगवान के प्रति भीति निर्माण करने का प्रयत्न करो ऐसा ही लोग कहते हैं। केवल भक्त ही कहते हैं कि भगवान के प्रति भीति नहीं, अपितु प्रीति होनी चाहिए। भगवद्भीति मानसिकता *(God-Fearing mentality)* श्रेष्ठ मानसिकता नहीं है। भगवद्प्रीति मानसिकता *(God-loving mentality)* श्रेष्ठ मानसिकता है।

पंचम स्कन्ध में अन्त में नरक का वर्णन है और छठे स्कन्ध में पापों की चर्चा है। भिन्न भिन्न पाप हैं। उनमें कायिक, वाचिक और मानसिक पाप होते हैं। तीर्थयात्रा में जाने पर नदी में स्नान के समय प्रथम संकल्प लेना पड़ता है। उस संकल्प को आप पढ़ेंगे तो उसमें इतने पाप लिखे हैं कि जिनके सम्बन्ध में हम विचार भी नहीं कर सकेंगे। यहाँ तो सर्वसामान्य पापों की चर्चा की है। कुछ कायिक पाप होते हैं।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ।। (म. स्मृ १२/७)

ये तीन प्रकार के शारीरिक पाप हैं। जो वस्तु किसी दूसरे ने मुझे नहीं दी है, उस वस्तु को मैं यदि उठा लूँ तो वह पाप है, उसे चोरी कहते हैं। इसमें मन भी मलिन बनता है और सामाजिक स्थिति भी कलुषित होती है। उसी प्रकार, भगवान ने इस विश्व में जो सुव्यवस्था *(order)* की है उसके विपरीत काम करना भी पाप है। जिसकी शास्त्रसम्मत नहीं है ऐसी हिंसा करना भी पाप है। जो हिंसा शास्त्रकारों ने मान्य की है उसके स्थान पर दूसरे प्राणी की हिंसा करना पाप है। परस्त्रीगमन करना पाप है। ये तीन शारीरिक पाप हैं।

दूसरे वाचिक पाप हैं-

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।।

कठोर वचन बोलना, झूठ बोलना, दूसरे की चुगली खाना यानी दूसरे की पीठ पीछे निंदा करना और बेमतलब बातें करना ये चार वाणी के पाप हैं। हम वाणी का उपयोग किसलिए करते हैं यह सोचना चाहिए।

तीसरा प्रकार है मानसिक पापों का-

परद्रव्येष्वाभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम्।
वितथाऽभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्।। (म.स्मृ. १२/१५)

दूसरे का धन अन्याय से लेने का विचार करना, दूसरे का अनिष्ट सोचना, मन में मिथ्या बातों का यानी परलोक नहीं है, देह ही आत्मा है ऐसे नास्तिकता के विचार करना ये तीन मानसिक पापकर्म हैं।

ऐसी भिन्न भिन्न बातें इस स्कन्ध में कही हैं, लेकिन एक बात है कि पाप की असली परिभाषा इस स्कन्ध में मालूम नहीं होती। पाप की व्याख्या, पाप का तात्त्विक विवेचन इस स्कन्ध में नहीं है। तात्त्विक विवेचन के लिए अलग अलग धर्मशास्त्रकार बैठे हैं। स्वयं वेदव्यास ने भी विवेचन किया है। पापों की सभी बातें एक ही ग्रंथ में आनी चाहिए यह मानना अनुचित है। यदि अभ्यास करना है तो सभी ग्रंथ पढ़ने चाहिए।

मान लीजिए एकाध व्यक्ति पाठशाला में एकाध दिन प्रवचन सुनने के लिए आता है। पाठशाला में अमुक विषय पर प्रवचन चल रहा हो, सम्पूर्ण प्रवचन सुनने के बाद व्यक्ति यदि ऐसा कहे कि इस विषय में शास्त्रीजी ने अमुक अमुक बातें क्यों नहीं कहीं? वे कहनी चाहिए थीं, तो वैसा बोलना झूठ है। पाठशाला में नियमित स्वाध्याय चलने के कारण वे बातें पहले ही बतायी गयी होंगी अतः वही बातें श्रोताओं के लिए प्रवचनकार फिर से नहीं कहते। उस समय यह व्यक्ति गैरहाज़िर था, तो उसे अपना मत नहीं व्यक्त करना चाहिए, उसको वैसा अधिकार भी नहीं है, परन्तु लोग ऐसा बोलते हैं।

भागवत में तात्त्विक चर्चा पाप की नहीं है, इसका कारण भागवत तात्त्विक चर्चा करनेवाला ग्रंथ नहीं है। पाप की व्याख्या अधर्म कहकर की है। परन्तु धर्माधर्म की व्याख्या पर्याप्त नहीं है। 'जो अधार्मिक हैं वे पापी हैं' ऐसी व्याख्या भी पर्याप्त नहीं है। 'धर्म' शब्द की व्याख्या भी पर्याप्त नहीं है। भारतीय विचारधारा में 'धर्म' शब्द का जो अर्थ है उसके लिए प्रतिशब्द ही नहीं है। भाषान्तर से भी उसका पता नहीं चलता। 'धर्म' शब्द में जो विषय आता है वह *Religion* शब्द में नहीं आता। परन्तु *Religion* शब्द में जो विषय आता है वह 'धर्म' में आ जाता है। आज 'धर्म' के लिए प्रतिशब्द *'Religion'* कहा जाता है। यह सब अनपढ़ लोगों द्वारा किया हुआ है। धर्म-अधर्म की व्याख्या ही भिन्न है।

व्यक्ति-विकास और समाजस्थैर्य ये दोनों धर्म के काम हैं। केवल समाज जीवित है, खाता है, पीता है, उसे रोटी, कपड़ा और मकान मिल गया यानी समाज में स्थैर्य आ गया ऐसा नहीं है। समाजस्थैर्य में नीतितत्त्व भी आते हैं। इसीलिए व्यक्ति का विकास और समाज का स्थैर्य ये दोनों काम धर्म के हैं ऐसा माना गया है।

व्यक्ति के बाह्य विकास का पता तो व्यक्ति को चलता ही है, परंतु उसका आन्तरिक विकास आवश्यक है। वह उसे समझाना पड़ता है। मनुष्य को लड्डू मिल गया तो उसका आनंद उसे मालूम होता है, परंतु भीतर एक भाव का आनन्द है वह समझना चाहिए। उसके लिए मनुष्य को स्वयं प्रयत्न करना चाहिए और वह उसे समझाना पड़ेगा। ऐसे कितने आनन्द के विषय हैं यह उसे समझाने के बाद ही ज्ञात होगा। इसलिए व्यक्ति-विकास और समाजस्थैर्य इन दोनों बातों की ओर ध्यान देना पड़ेगा।

सामाजिक स्थैर्य केवल भौतिक दृष्टि से नहीं आता। रोटी, कपड़ा और मकान मिल गये, समाज जीता है, प्रजोत्पादन करता है, एक पीढ़ी, दूसरी पीढ़ी तैयार करता है इसका अर्थ समाजस्थैर्य नहीं है। प्रस्थापित नीतितत्त्वों के साथ जो समाज जीवित रहता है उसीको

स्थैर्य प्राप्त होता है, वही समाजस्थैर्य है। यह बात करने का प्रयत्न धर्म करता है। व्यक्तिविकास और समाजस्थैर्य के विरोध में जो जो बातें आती हैं उनको 'पाप' माना जाता है।

उसके बाद परीक्षित ने एक मार्मिक प्रश्न पूछा है। समझ लो कि 'एकाध व्यक्ति से अनजाने में कुछ पाप हो गया तो उसका फल भोगना ही चाहिए।' फल स्वीकारने के लिए वह तैयार है, परन्तु उस फल की एक दूसरी परम्परा शुरु हो जाती है। एक बुरा फल मिला, उसके कारण दूसरा, तीसरा...ऐसी बुरे फलों की परम्परा शुरु होती है। इसी कारण परीक्षित का मार्मिक प्रश्न है कि उस अवस्था में क्या करना चाहिए? इसीलिए प्रायश्चित्त का विषय इस स्कन्ध में आया है। जिस प्रकार पाप का वर्णन आया है, उसी प्रकार प्रायश्चित्त का भी वर्णन आया है।

मनुष्य से अनजाने में पाप हो जाता है। फिर 'मैं पापी हूँ' ऐसा वह समझने लगता है। उसके कारण उसका मन भर जाता है। इतना ही नहीं, भगवान का दिया हुआ उत्साह भी कलुषित हो जाता है, दूषित बनता है। तब क्या करें? उसमें एक अपराधी मनोवृत्ति निर्माण होती है और लोगों में उसका जीवन कलंकित बनता है। ऐसे लोगों को भी सुदृढ़ मन और उत्साहपूर्ण जीवन मिलना चाहिए। वह कैसे मिलेगा? अनजाने में उसके हाथ से पाप हुआ, 'वह पाप है' ऐसा उसे पता चला, तो ऐसे लोग क्या करें?

हमारे प्राचीन काल के ऋषियों ने इसके सम्बन्ध में कितना सोचा है! ऐसे व्यक्ति के मानसशास्त्र का विचार करके उन्होंने प्रायश्चित्त कहा है। परन्तु शिक्षित लोगों ने गत पचास सालों में इस प्रायश्चित्तविधि का उपहास किया है। वे कहते हैं, "क्या चल रहा है यह? पाप करते जाओ और प्रायश्चित्त लेते जाओ! तो ऐसे प्रायश्चित्त का क्या अर्थ है?

जो बात पाश्चात्य देशों से आती है उसे यहाँ के शिक्षित लोग स्वीकारने के लिए तैयार हैं। 'पश्चिम से जो आयेगा वह मान्य है, ऐसी उनकी मनोवृत्ति है। अब पश्चिम में भी अपराध चिकित्साशास्त्र *(Science of criminology)* बदल गया है। जो अपराधविषयक पुस्तकें पढ़ते होंगे उन्हें पता होगा कि अब उनका शास्त्र बदल गया है। भावना के क्षणिक आवेश में या क्रोधावेश *(Provocation)* के कारण किसी के द्वारा कुछ अपराध हो गया हो तो उस व्यक्ति को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। वे बन्दीगृह सज़ा के लिए नहीं, अपितु शिक्षालय होने चाहिए, ऐसी एक विचारधारा दृढ़ हुई है और सम्पूर्ण विश्व में इस बात को मान्यता भी मिली है। यह परिवर्तित अपराधशास्त्र *(Science of criminology)* को पढ़ेंगे तो आपके ध्यान में आयेगा कि ऋषियों ने प्रायश्चित्त क्यों लिखे हैं। अपराधी वृत्तिवाले मनुष्य के मन में से वे कचरा निकाल देते हैं कारण अपराधी वृत्ति उसे सतत हैरान करती रहती है। किये हुए पाप का फल-सजा भोगने को वह तैयार है, परन्तु अपराधी मनोवृत्ति से उसका मन दुर्बल बन जाने के कारण दूसरे अनन्त दुष्कृत्य कहो या अधार्मिक कृत्य कहो, वे उसके द्वारा हो जाते हैं। उनको रोकना है। कैसे रोकेंगे? उसीके लिए प्रायश्चित्तविधि लिखी है कि जिसके कारण उसका मन दुर्बल न हो।

इस स्कन्ध में प्रायश्चित्त की चर्चा की है। प्रायश्चित्त की प्रथम कल्पना ऋषियों ने की है। आप में से किसी को पढ़ना होगा तो **'प्रायश्चित्तमयूख'** नाम की पुस्तक पढ़ो। उस पुस्तक में आपको पाप क्यों होते हैं, उन पापों में से दूसरे पाप कैसे निकलते हैं, उनके लिए प्रायश्चित क्यों है, कौन से प्रायश्चित्त हैं, कैसे हैं, आदि चर्चा पढ़ने को मिलेगी। प्रायश्चित्त से मन में समाधान निर्माण होता है कि मैंने जो कुछ दुष्कर्म किया था उसका क़चरा चला गया। अब किये हुए दुष्कर्म का फल भले ही आये, मैं उसका स्वीकार करूँगा। परन्तु ऐसा स्वीकार करने के लिए मन को दृढ़ बनाना चाहिए। मन सुदृढ़ कैसे बनेगा? अपराधी मनोवृत्ति और लोगों के सामने कलंकित जीवन ये दो बातें मनुष्य के मन को कमजोर बनाती हैं, इसलिए इन दोनों को निकालना पड़ेगा। उसीके लिए प्रायश्चित्तविधि है।

इस छठे स्कन्ध के प्रारंभ में ही पाप की चर्चा की है। उसके बाद प्रायश्चित्त की चर्चा की है। परन्तु यहाँ प्रश्न है कि एकाध व्यक्ति जानबूझकर पाप करेगा व फिर प्रायश्चित्त लेगा तो? ऐसे प्रायश्चित्त को हाथी-स्नान जैसा मानकर उसका उपहास किया है।

रेलगाड़ी में आपत्ति के समय गाड़ी रोकने के लिए जंजीर रखी जाती है। उसका योग्य उपयोग किया जाता है। उसका अनुचित उपयोग करनेवाले को पचास से लेकर ढाई सौ रूपये जुर्माना किया जाता है। परन्तु समझो एकाध धनवान लड़का जंजीर खींचेगा और पचास रूपये जुर्माना भरने को तैयार हुआ तो? खींची जंजीर और भर दिये पचार रूपये, फिर से खींची जंजीर और भर दिये पचास रुपये, क्योंकि उसे पैसों की कुछ परवाह नहीं। जंजीर खींचता है और पचास रूपये देता है। पचास रूपये देने के बाद हो गया न? यह उसकी अपराधी वृत्ति हुई। जुर्माना होना ही चाहिए उसको! समझ लीजिए, अनेक लोगों को साथ मिलकर कार्य करना पड़ता है, उसके लिए बार बार बैठकें *(Meetings)* बुलानी पड़ती हैं। सभी समय पर उपस्थित रहें इसलिए नियम बनाया जाता है कि विलंब से बैठक में आनेवाले को दस रूपये दण्ड भरना पड़ेगा, तब एकाध व्यक्ति जानबूझकर विलंब से ही आता होगा और प्रत्येक समय दस रूपये दण्ड भरता होगा तो क्या करना? उसी प्रकार जान बूझकर पाप करके प्रायश्चित्त करनेवालों की भागवतकार ने निन्दा की है और उसीको हाथीस्नान माना है। हाथी तीन घण्टे तालाब या नदी में पड़ा रहकर स्नान करता है और उसमें से बाहर आते ही तुरन्त अपने शरीर पर धूल उड़ा देता है। उसका तीन घण्टों का स्नान बेकार जाता है। इस प्रकार जानबूझकर पाप करके उसका प्रायश्चित्त कोई लेता हो, तो वह हाथीस्नान के समान निष्फल होता है, ऐसा कहा है।

इस स्कन्ध में पाप के प्रश्नों के उत्तर तात्त्विक नहीं हैं। छठे स्कन्ध में पाप व प्रायश्चित्त के विषयों की चर्चा की है, परन्तु उनकी तात्त्विक चर्चा होनी चाहिए, वैसी तात्त्विक चर्चा भागवत के छठे स्कन्ध में नहीं है। पाश्चात्य पण्डित *(Western Scholars)* भी वैसा ही कहते हैं, परन्तु अन्य ग्रंथों में उनकी तात्त्विक चर्चा भी है। सभी तात्त्विक चर्चा एक ही ग्रंथ में आनी चाहिए ऐसा आग्रह रखना मूर्खता है। इसका कारण एक ही ग्रंथ में सभी चर्चा किस प्रकार आ सकती है? जो ग्रंथ भक्तिविषयक हैं, उनमें प्रकृति-पुरुष की चर्चा

आयेगी ही नहीं। उस ग्रंथ में सांख्यदर्शन की चर्चा किस प्रकार आयेगी? भागवत भक्तिविषयक ग्रंथ है। भक्ति का अर्थ समझाने के लिए यह ग्रंथ है। इसलिए इसमें पाप की तात्त्विक चर्चा नहीं है। छठे स्कन्ध में पाप समझाया है, उसका प्रायश्चित्त भी बताया है। जानबूझकर सतत किये हुए पापों का प्रायश्चित्त हाथी के स्नान जैसा निष्फल होता है ऐसा भी कहा है। अन्त में भक्ति का महत्त्व समझाने का प्रयत्न किया है और वह महत्त्वपूर्ण बात है। केवल कर्म से किया हुआ प्रायश्चित्त सत्य नहीं है। कर्मकाण्ड में प्रायश्चित्त है कि इतना जल छोड़ो, इतना दान करो तो पाप से मुक्त होंगे। केवल कर्म से होनेवाला प्रायश्चित्त सत्य नहीं है ऐसा भागवतकार कहते हैं। उसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान होने पर मनुष्य पाप नहीं करेगा। पाप का अर्थ है अयोग्य व्यवहार! जो अयोग्य व्यवहार मेरे लिए हानिकारक है, समाज के लिए हानिकारक है, वह संकट निर्माण करता है। उसमें से मनुष्य कब छूटेगा? जब उसका ज्ञान उसे होगा तब! इसीलिए केवल कर्म द्वारा प्रायश्चित्त की भागवतकार ने निन्दा की है। वह करना चाहिए, पर वह सत्य नहीं है। उसके साथ ज्ञान होना आवश्यक है और वासुदेव की भक्ति उसका अन्तिम उपाय है ऐसा भागवतकार ने कहा है। उसका समर्थन करने के लिए भागवतकार ने एक कथा कही है।

अजामिल सुस्वभावयुक्त, विचारसम्पन्न, इन्द्रियनिग्रही व्यक्ति है। उसके पास सुस्वभाव है, विद्या है, इन्द्रियनिग्रह है, फिर भी जब तक वह कामजित नहीं होता तब तक कुछ अर्थ नहीं है। बिना भक्ति के मनुष्य कामजित नहीं हो सकता। तुम्हारे पास चाहिए उतना ज्ञान होगा परन्तु कामजित न बनोगे तो तुमसे पाप होगा ही। काम एक प्रभावी शक्ति है और साधना में सबसे बड़ा अन्तराय वही खड़ा करता है। तुम सुस्वभाववाले होंगे, शान्त स्वभाववाले होंगे, इन्द्रियनिग्रह करनेवाले होंगे, उसके लिए तुम कुछ कर्म भी करते होंगे फिर भी तुम कामजित नहीं हो सकते। कामोद्दीपक वस्तु सामने आते ही तुम उसका शिकार बन जाओगे। इसके लिए भागवतकार ने अजामिल का दृष्टान्त दिया है।

अजामिल ब्राह्मण था। वह परम्परागत विचारक *(Traditional Thinker)* था, विचारसम्पन्न व सुस्वभावी था, परन्तु वह कामजित नहीं था। एक बार अर्धनग्न वेश्या को देखकर उसमें कामोद्दीपन हो गया। कामलीला में चतुर वेश्या ने उसे अपना दास बनाया। अजामिल ने अपनी स्त्री का त्याग किया। वेश्या अधिक शृंगारिक *(Romantic)* थी। उस वैश्या से उसे नारायण नाम का लड़का हुआ। अन्तकाल में यमदूतों को आये देखकर वह व्यथित बनकर सबसे अधिक लाड़ले पुत्र 'नारायण' को पुकारा। भागवतकार ने कहा है कि 'नारायण' शब्द में इतनी शक्ति है कि अजामिल की मृत्यु के समय उसे ले जाने के लिए यमदूत आये वैसे विष्णुदूत भी आये। भागवतकार कथा के द्वारा सिद्धान्त समझाते हैं, निबंध लिखकर नहीं। निबंध लिखकर समझाकर उसे लोकभोग्य बनाना भिन्न बात है। यमदूत और विष्णुदूत आने पर उनमें संवाद हुआ।

यमदूतों ने विष्णुदूतों से पूछा, 'अजामिल नीच मनुष्य है। उसे ले जाने के लिए तुम क्यों आये हो?'

विष्णुदूतों ने कहा, 'यह नारायण का स्मरण करनेवाला है, अतः इसको लेने के लिए तुम क्यों आये?'

इस प्रकार की दोनों में चर्चा हुई। उसके द्वारा 'हरिनाम' का महत्त्व समझाया है। अरे! व्यक्ति पापी होगा, सभी पाप उसने किये होंगे, फिर भी क्या हुआ? बड़े से बड़े पापों का भागवत में उल्लेख है-

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे।। (भा.६-२-९)

चोर, मद्यपी, मित्रद्रोही, ब्रह्महन्ता, गुरुस्त्रीगामी, उसी प्रकार स्त्री, राजा, पिता और गौ की हत्या करनेवाला और दूसरे भी पापी हैं।

अन्त में लिखते हैं, **'यदा नारायणायेति जगादचतुरक्षरम्'** ना, रा, य, ण ये चार अक्षर जो व्यक्ति बोलता होगा उसे ले जाने की तुम्हारी (यमदूतों की) शक्ति नहीं है। ऐसा कहकर अजामिल को छोड़ देने के लिए यमदूतों को विष्णुदूतों ने कहा। उनका जो संवाद है वह पढ़ने जैसा है। जिनको अभ्यास करना है वे जरुर पढ़ें। दोंनो दूतों में जो संवाद हुए उन्हें सुनकर अजामिल पश्चात्तापदग्ध हुआ। उसने आत्मनिन्दा की और पुत्रादिकों के प्रति सभी स्नेह त्यागकर उस वेश्या के घर से निकलकर हरिद्वार चला गया। अन्त में उसका उद्धार होता है। ऐसी अजामिल की कथा भागवतकार ने लिखी है। उसमें **'अन्ते या मतिः सा गतिः'** यह सिद्धान्त सत्य है ऐसा लगता है। गीता में भी भगवान ने लिखा है,-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। (गी. ८-६)

जिस भाव से तुम देह छोड़ते हो वही भाव तुम्हें मिलता है। उत्कट नामोच्चार का वर्णन इसमें आया है। 'नारायण' शब्द में शक्ति है ऐसा समझाया है। यह बिल्कुल सत्य है। इससे प्रायश्चित्तदग्धता आती है। केवल कर्मकाण्ड के प्रायाश्चित्त से पापमुक्ति नहीं होती, मनुष्य निष्पाप नहीं बनता। वह तो हाथीस्नान जैसे होगा, परन्तु जब ज्ञानप्राप्ति होगी तब वह पाप नहीं करेगा, भक्ति करेगा। उसके बाद वह पाप नहीं करेगा।

'नारायण' शब्द में शक्ति है ऐसा उन्होंने कहा है। शब्द में शक्ति है इसमें सन्देह नहीं है। 'इमली' शब्द कहते ही मुँह में पानी आता है। इमली खायी नहीं है, उसे देखा भी नहीं है, केवल शब्द उच्चारने का परिणाम हुआ। फिर ईश्वर के 'नारायण' नाम में शक्ति क्यों न होगी? जिसे श्रीकृष्णचरित्र मालूम है वह केवल **'श्रीकृष्णः शरणं मम'** इतना ही बोलेगा तो **'श्रीकृष्ण'** का उच्चार करते ही उत्साह, स्फूर्ति, चैतन्य सब उसकी आँखों के सामने होगा, मलिनता नष्ट हो जायेगी।

शब्दोच्चार में यह शक्ति है। 'नारायण' शब्द से विष्णुदूतों ने नाम का माहात्म्य समझाया है।

अब यहाँ बुद्धिमान लोगों को प्रश्न है कि जब अजामिल ने 'नारायण' शब्द का उच्चार किया तब उसकी आँखों के सामने प्रभु नहीं थे, वेश्या का पुत्र नारायण था। फिर उसे अन्त में सद्गति कैसे मिली?

अजामिल का पूर्व चरित्र भव्य था। संस्कारों का परिणाम हो सकता है। नामोच्चार से पुराने संस्कार उद्दीपित हो सकते हैं। भीतर जो बीज़ पड़ा है वह अंकुरित हो सकता है अनजाने ही नामोच्चार किया हो तो भी! उसके पीछे कुछ शास्त्र है। इसीलिए भागवतकार ने उसका पूर्व जीवन बहुत अच्छा था ऐसा लिखा है। वह सुस्वभावी, शान्त, विश्वाससम्पन्न तथा इन्द्रियनिग्रही था, केवल भक्त नहीं था। तुम्हारे पास सभी गुण होंगे, परन्तु तुम भक्त न होंगे तो? तो तुम कामजित रहोगे, काम को जीत नहीं सकोगे, काम तुम्हें खींच लेगा। काम को जीतना इतना सहज-आसान नहीं है। कामोद्दीपन, कामोद्दीपकता मनुष्य को खींच ही लेती है। परन्तु अजामिल में पुराने संस्कार थे। वे 'नारायण' नामोच्चार के धक्के से अंकुरित हो गये।' अन्त में, भागवतकार को इतना ही कहना है कि ज्ञान और भक्ति प्राप्त होने पर विपरीत आचरण की आवश्यकता ही नष्ट हो जाती है। मनुष्य विपरीत आचरण कब तक करता है? जब तक ज्ञान नहीं होता है तब तक! ज्ञान होने के बाद विपरीत आचरण नहीं होता।

अमुक एक वस्तु के बिना मेरा चलेगा ही नहीं ऐसा जब मनुष्य को लगता है तब उसे किसी भी तरह प्राप्त करने का वह प्रयत्न करता है। परन्तु ऐसीं स्थिति नहीं है। 'मेरा अस्तित्व स्वतंत्र है, स्वयंपूर्ण है, सुसम्पन्न है, 'मैं' का वैभव जबरदस्त है' ऐसा ज्ञान जब मनुष्य को होता है तब किसी भी वस्तु को प्राप्त करने के लिए गलत रास्ते नहीं जाऊँगा, ऐसा उसे लगता है। ऐसी स्थिति ज्ञानप्राप्ति के बाद आती है। ज्ञानप्राप्ति पांडित्य नहीं है।

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वत् भुक्तये न तु मुक्तये।। (वि. चू. ६०)

(विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिता, शास्त्रव्याख्या की कुशलता और विद्वत्ता भोग के ही कारण हो सकते हैं, मोक्ष के कारण नहीं।)

सच्चा ज्ञान प्राप्त होने के बाद विपरीत आचरण की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसी प्रकार भक्ति से पाप खत्म हो जाता है। अजामिल के दृष्टान्त से दो बातें समझायी गयी हैं। तुम विद्वान होंगे, सद्गुणवान होंगे, शान्त होंगे, फिर भी कामोद्दीपन तुम्हें नचायेगा। दूसरी बात, 'नारायण' शब्द की शक्ति से पूर्वसंस्कार जागृत होते हैं यह सत्य है। सद्वर्तन के बीज पड़े थे, उनके ऊपर कचरा आ गया था, धूल जमी थी, 'नारायण' शब्द की शक्ति से कचरा उड़ गया होगा, धूल हट गयी होगी और भीतर पड़ा हुआ बीज फिर से अंकुरित हुआ होगा। भागवतकार ने नामोच्चार की शक्ति का महत्त्व समझाया है। अजामिल के पूर्वसंस्कार जागृत हुए और अपना अन्तिम जीवन उसने हरिद्वार में अच्छी तरह से व्यतीत

किया, उसके बाद उसे मुक्ति मिली ऐसा भागवतकार का कहना है। कथा द्वारा उन्होंने भक्ति का महत्त्व समझाया है।

पाप यानी क्या? व्यक्तिविकास तथा सामाजिक स्थिरता के विपरीत आचरण से पाप होता है! उसीको भागवतकार ने अधर्म ठहराया है। यह अधर्म अनजाने में हुआ तो प्रायश्चित्त से वह चला जाता है, परन्तु केवल कर्म से पापनिवारण असंभव है। समझकर, जानबूझकर पाप करने के बाद प्रायश्चित्त लिया तो वह हाथीस्नान जैसा निष्फल होगा। केवल कर्म नहीं चलता, ज्ञान होना चाहिए और वासुदेव के प्रति भक्ति होनी चाहिए। उससे पाप चला जायेगा। मनुष्य के जीवन में भक्ति आनी चाहिए ऐसा भागवतकार का आग्रह है।

भक्ति से पाप नष्ट हो जायेंगे यह सिद्धान्त शास्त्रीय है। भक्ति में प्रथम बात कौनसी होनी चाहिए? भक्ति का अर्थ हमने ऐसा कर लिया है कि जो मन्दिर में जाता है, तिलक लगाता है, बिल्वपत्र या फूल चढ़ाता है, विष्णुसस्रनाम बोलता है वह भक्त! वह जो क्रिया करता है वह भक्ति है। भक्ति का अर्थ है एक समझ, एक वृत्ति! ऐसी वृत्ति बढ़ाने का प्रयत्न जो करता है वह भक्त है। एकाध व्यक्ति भगवान को भय से या वहम से नमस्कार करता है इसलिए वह भक्त है ऐसा नहीं है। वहमी मनुष्य जूता खरीद लाता है और बाद में उसे यदि पैसे का लाभ हुआ तो जूता अच्छा निकला, ऐसा समझकर जूते को भी नमस्कार करता है। पैसा-लक्ष्मी कर्म से मिलता है, जूते के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। किसी समय हानि हुई तो वह जूते के कारण हुई ऐसा समझकर जूता फेंक देता है। यह वहमी मनुष्य है। उसे भक्त नहीं कहते!

भक्ति में 'भगवान! आपके कारण मैं हूँ' यह वृत्ति प्रथम निर्माण होनी चाहिए। 'मैं स्वतंत्र नहीं हूँ मुझमें जो शक्ति पड़ी है वह उसकी है' यह भक्ति की प्रथम धारणा है। मनुष्य के जीवन में यह धारणा दृढ़ हुई, पुष्ट हुई तो उसके जीवन में से पाप चला जायेगा। 'मेरे पास जो दृश्य शक्ति है, बुद्धिशक्ति है, वित्तशक्ति है जो कुछ भी है वह प्रभु के कारण है' यह धारणा दृढ़ होनी चाहिए। 'भगवान के कारण मैं हूँ' यह वृत्ति तैयार होने के बाद मनुष्य पाप नहीं करेगा।

दूसरी बात वह (प्रभु) मेरे साथ है तथा उनका व मेरा सम्बन्ध है 'समझ होनी चाहिए। समझ होने पर मनुष्य को ऐसा लगता है कि असद्वर्तन मुझे शोभा नहीं देता। इस प्रकार भक्ति से पाप टलता है। मनुष्य गीता पढ़ेगा तो उसे पता चलेगा कि मेरा व भगवान का सम्बन्ध है और वे मेरे साथ ही हैं। **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'** ऐसा भगवान ने गीता में कहा है। वे कहते हैं 'मैं तेरे हृदय में आकर बैठा हूँ इसलिए तेरा जीवन चलता है।' यह एक वाक्य यदि याद रहेगा तो जीवन बदल जायेगा। योगदर्शनकार कहते हैं, **'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गलोके कामधुक् भवति।'** एक शब्द भी ठीक तरह से समझ लिया गया तो स्वर्गलोक की प्राप्ति कराता है। भगवान मेरे साथ हैं, उनका व मेरा सम्बन्ध है, ये दो बातें जीवन में आयी कि पाप चला ही गया समझो!

मेरे पास जो कुछ है वह उसके (भगवान) कारण है। मैं कोई हूँ, बड़ा हूँ, अनेक लोग मुझे मानते हैं, नमस्कार भी करते हैं, परन्तु मैं उसके कारण हूँ' भक्ति का यह ज्ञान न हो और तुम बालकृष्ण की मूर्ति की पूजा करते होंगे तो उससे क्या मिलेगा? भक्ति में प्रथम बात यह है कि मेरे पास जो कुछ है वह उस (भगवान) की शक्ति के कारण है। भगवान के कारण मैं हूँ। जब भक्ति का यह ज्ञान होगा तब पाप चला जायेगा। यह किसी मूर्ख का कहना नहीं है, शास्त्रीय है। भक्ति करने से अन्दर की वृत्ति ही बदल जाती है।

हमने तो 'भक्ति' शब्द का अर्थ निश्चित कर दिया है। अमुक अमुक कृति यानी भक्ति और जो अमुक वस्त्र पहनता है वह भक्त है! मुंबई जैसे शहर में तो ड्रेसवालों के पास सभी भक्तों के पहनने के कपड़े तैयार ही मिलते हैं। नरसिंह मेहता का वेश माँगो तो तुरन्त निकाल देता है। पीताम्बर देगा, फटा हुआ वस्त्र देगा, दूसरा कुछ देगा, टोपी देगा। तुकाराम महाराज का भी पोशाक देगा, पहना कि हो गया भक्त! भक्ति भीतर का विकास *(Development)* है, अन्तःकरण, मन, बुद्धि आदि का विकास है, भीतर की समझ है। 'भगवान के कारण मैं हूँ और वे मेरे साथ हैं' यह समझ आने पर 'मैं पाप कैसे करूँ' ऐसा लगता है।

नवयुवक किसी आदरणीय व्यक्ति के साथ जा रहा होगा और सामने से कोई लड़की आ रही हो तो नवयुवक उसकी ओर देखेगा भी नहीं। उसके साथ जब कोई नहीं होता है तब वह लड़कियों की ओर देखता है, उनकी मश्करी भी उड़ाता है, परन्तु आज वैसा नहीं करेगा क्योंकि कोई साथ है। इसी प्रकार 'भगवान मेरे साथ हैं' यह भावना जब दृढ़ होगी तब वह व्यक्ति पाप नहीं करेगा, कारण वह यदि पाप करेगा तो उसकी दुर्गन्ध भगवान को आयेगी।

बाइबल में पड़ोसी पर प्रेम करने को कहा गया-*(Love thy neighbour)* मगर पड़ोसी कौन? जीव का पड़ोसी केवल भगवान हैं। आपमें हिम्मत हो तो भगवान पर प्रेम करके दिखाओ। कारण भगवान अज्ञात हैं, अदृश्य हैं। उन पर प्रेम करना बहुत ही कठिन है। 'भगवान मेरे साथ हैं और यदि मैं पाप करूँगा तो वह भगवान का अपमान कहलाएगा' यदि मैं भगवान का अपमान करूँगा तो भक्त कैसे कहलाऊँगा? मैं भगवान के सामने सिर झुकाऊँगा तब उन्हें दुर्गन्ध नहीं आनी चाहिए।

भक्ति एक दृष्टि है, भक्ति एक ज्ञान है, भक्ति एक वृत्ति है, वह मनुष्य को पाप से बचायेगी ऐसा भागवतकार का कहना है।

नामोच्चार में एक अलौकिक शक्ति है। उसके कारण पाप चला जायेगा। इसका कारण यह है कि पाप को पता चल जायेगा कि इसने भगवान का नामोच्चार प्रारंभ किया है, अतः अब इस पर मेरी सत्ता नहीं चलेगी। इसीलिए छठे स्कन्ध में नाममाहात्म्य, नामस्मरणमाहात्म्य के लिए अजामिल की अति सुन्दर कथा है। पूर्वसंस्कार किस प्रकार जागृत होते हैं वह इसमें बताया गया है। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि चालीस-पचास की आयु तक अतिशय अच्छा

आचरण करते हैं और उसके बाद अकस्मात असद्‌वर्तन करने लग जाते हैं। इसका कारण यही है कि भीतर रहे हुए कुसंस्कार बाहर आये जो आज तक दबे पड़े थे।

कितने ही लोग पूछते हैं कि अमुक एक व्यक्ति बचपन में बालसंस्कार केन्द्र में जाता था, तो फिर बड़ा होने पर वह ख़राब क्यों हुआ। वह खराब हुआ यह सत्य है। इसका कारण बालसंस्कार केन्द्र का संचालक तो निष्काम कर्मयोग करता था। इस व्यक्ति पर अच्छे संस्कार हुए, परन्तु अन्दर पड़े हुए कुसंस्कार एकाएक चालीसवें वर्ष में बाहर कूदकर आये। फिर से नामोच्चार से अथवा अन्य प्रसंग से भीतर धक्का लगा तो सुसंस्कार जागृत होने की, अंकुरित होने की पूरी संभावना है।

अजामिल की कथा और विष्णुदूत-यमदूतों का संवाद अभ्यास करने जैसा है। यमदूत अजामिल के केवल कर्म देखते हैं, परन्तु विष्णुदूत उसका विकास देखते हैं। नामोच्चार करने के बाद उसका कर्म बदल गया। स्थूल कर्म करना भिन्न बात है। समझो कि सुबह मुँह धोने के लिए टूथब्रश का उपयोग करो या अन्य साधन से मुँह साफ करो तो वह कर्म होता है। परन्तु एकाध व्यक्ति इस समझ-भावना से दन्तधावनविधि करेगा कि इस मुँह से भगवान खानेवाले हैं इसलिए मैं दन्तधावन करता हूँ तो उसकी भावना बदल जायेगी। भावना बदल गयी कि कर्म भी भक्तिपूर्ण बनेगा। बाह्य दृष्टि में कृति समान ही है, परन्तु भावना भिन्न हो तो वही कृति भक्ति होती है। फिर वह यमदूतों का विषय नहीं रहेगा, विष्णुदूतों का विषय बनेगा। 'नारायण' शब्दोच्चार से धक्का लगा और पूर्व संस्कार जागृत हो गये। पश्चात्तापदग्ध होकर अजामिल ने आत्मनिंदा की। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके भीतर का कचरा खत्म हो गया और उसका उद्धार हुआ। पश्चात्ताप होने के बाद वह हरिद्वार क्षेत्र में चला गया और वहाँ कुछ समय तक साधना करने के बाद उसका उद्धार हुआ। परन्तु इस कथा का अनेक लोग विपरीत अर्थ करते हैं कि लड़के का नाम भगवान के नाम के सरीखा रखना; जिससे मरते समय लड़का याद आयेगा तो उसका नाम बोला जायेगा और अपना उद्धार होगा। 'अजामिल मुक्त हुआ तो मैं भी मुक्त होऊँगा' ऐसा ये लोग समझते हैं।

इस स्कन्ध में नाममाहात्म्य समझाया गया है यह महत्त्वपूर्ण बात है। गुजराती में एक भजन है- **'नामस्मरणनो महिमा मोटो, वेदमुनि यश गाय, नामे पापी पावन थाय।'** नाम से पापी कैसे पावन होता है? नाम बोलने से वृत्ति बदल जाती है। 'मैं उसके कारण हूँ' यह समझ आती है, 'वह मेरे साथ है' यह ज्ञान होता है। वैसे ही उसका व मेरा सम्बन्ध है यह ज्ञात होता है। इससे जीवन बदल जाता है। वह पाप से दूर रहता है, कारण अब पाप करूँगा तो भगवान का अपमान होता है, उन्हें दुर्गन्ध आती है। अत: ऐसा दुष्कृत्य मैं कैसे करूँ? ऐसा मनुष्य को लगता है।

ज्ञान से भी पाप नष्ट होगा या नहीं इसमें सन्देह है, इसका कारण ज्ञान परिपूर्ण होना चाहिए। **घटत्वाच्छिन्न पट** और **पटत्वाच्छिन्न घट** यह चर्चा ज्ञान नहीं है। यहाँ जो ज्ञान शब्द है उसका अर्थ समझ *(Understanding)* है। *Not only knowledge but understanding is expected*। यहाँ केवल ज्ञान की नहीं 'समझ' की आवश्यकता है।

ज्ञान और समझ *(Knowledge and Understanding)* में फ़र्क है। 'समझ' से पाप नष्ट हो जायेगा, परन्तु वह प्राप्त करने की शक्ति सामान्यों में नहीं होती। इसलिए नामस्मरण की शक्ति का वर्णन किया है।

जीवननौका कर्म पर आधारित है, वह कर्म पर चलती है। गुजराती में एक भजन है- **'जीवननौका डगमग डोले, तू छे तारणहार, कन्हैया तारो छे आधार।'** जीवन भक्ति पर आधारित होता है तब पाप खत्म होता है। भक्ति की अत्यावश्यकता है ऐसा सिद्धान्त है। पाप से बचने का एक ही मार्ग है और वह है भक्ति! भागवत की निर्मिति उसीके लिए हुई है। जिस कारण के लिए ग्रन्थ लिखा होगा, उस कारण को लेकर ही उस ग्रन्थ का अध्ययन होना चाहिए। व्यापार की पुस्तक हो तो अमुक प्रकार का वर्तन करने से लाभ होगा उसी का लेखन उसमें आयेगा। आध्यात्मिक ग्रंथ हो तो अमुक एक प्रकार का वर्तन करने से भव सुधरेगा ऐसा ही लेखन उसमें आयेगा। भागवत भक्ति की महिमा गाता है, इसलिए वह कहता है कि नामस्मरण से पापमुक्ति होगी। नामस्मरण से शुद्धि और पापक्षालन होगा ऐसा भागवत का आग्रहपूर्ण कहना है और वह शास्त्रीय भी है।

नामस्मरण से क्या होता है? नामस्मरण से पाप क्यों नष्ट होता है? जिस तरह किसी भी प्रकार के गेहूँ की रोटी बनाने के लिए पानी की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार कोई भी उपासना हो, उसके लिए नामस्मरण की अत्यन्त आवश्यकता है। इस स्कन्ध में जप-माहात्म्य अच्छी तरह से समझाया गया है। प्रभु के नाम का जप करना चाहिए। जो नामजप करता होगा, उसे क्या दु:ख नहीं आयेगा। दु:ख तो आयेगा और रहेगा भी, परन्तु उसका डंख चला जायेगा। इसका कारण उसकी दृष्टि बदल जाती है।

घी अग्नि के समीप आने पर वह जिस प्रकार पिघल जाता है, उसी प्रकार नामजप से अहंकार गल जाता है, पतला-सूक्ष्म बन जाता है।

सभी प्रकार के साधकों के लिए नामजप समान बात है। प्रत्येक प्रकार के साधक के लिए उसकी आवश्यकता है। उनके लिए नामजप का उपदेश है। कुछ स्त्रियाँ हीरे के अलंकार पहनती हैं, कुछ सोने-चांदी के, कुच्छ मोती के तो कुछ हाथी दाँत के अलंकार पहनती है। आदिवासी स्त्री होगी तो वह हड्डी के अलंकार पहनती होगी, परन्तु सौभाग्यतिलक (कुंकुम) सभी के लिए समान ही होता है। वैसे ही साधन किसी भी स्थिति का हो, कोई भी उपासना करता हो, उसके लिए नामजप आवश्यक है ऐसा भागवत ने इस स्कन्ध में समझाया है।

छठे स्कन्ध में दूसरी चर्चा गुरुद्रोह की है। जिसके पास से प्रेम मिला, जीवन का ज्ञान मिला, उसका द्रोह करना बुरी बात है। यह बात समझाने के लिए कहते हैं कि इन्द्र भगवान सत्ता व वैभव के कारण अन्धा बन गया और उसने गुरु बृहस्पति का अपमान किया। अपमान होने के कारण बृहस्पत्ति चले गये। ऐसे महापुरुषों का अपमान होता ही है, कारण कितनी ही लौकिक बातों के विरोध में उन्हें बोलना पड़ता है और

वैसा आचरण भी करना पड़ता है। 'ये महापुरुष सत्तावान या वैभववान के सामने हाँ जी-हाँ जी नहीं करते। अत: उनको संकटों का भी सामना करना पड़ता है। बृहस्पति के जीवन में भी वैसा संकट आया।

वैभव और सत्ता से मदान्ध, उन्मत्त बनकर इंद्र ने बृहस्पति का अपमान किया और बृहस्पति चले गये। असुरों ने शुक्राचार्य की गुरुभक्ति सँभाली, इसलिए देवासुर संग्राम में असुरों की विजय हुई और देवताओं का पराभव हुआ। भागवतकार कहते हैं कि मनुष्य चाहे कोई भी हो, वह असुर ही क्यों न हो, परन्तु उन्नति के लिए आवश्यक निष्ठा को सँभाले तो ही वह आगे बढ़ेगा। मनुष्य आस्तिक हो या नास्तिक, यदि वह तप करेगा तो तप का फल उसे मिलना ही चाहिए और वह मिलेगा ही यह वैश्विक सिद्धान्त है, वैश्विक सत्य है। तप अथवा निष्ठा अर्थात् किसी बात के लिए घिस जाने की वृत्ति! वह यदि दैवी लोगों में नष्ट हुई होगी और असुरों में बढ़ गयी होगी तो असुरों की विजय अवश्य होगी। भगवान ने इस सृष्टि में इतनी सुन्दर व्यवस्था रखी है कि जो तप करेगा उसे फल मिलेगा, फिर वह देवता है या असुर यह प्रश्न ही नहीं!

कुछ लोग पूछते हैं कि 'अमुक एक व्यक्ति तो दैवी विचार का था फिर वह क्यों गिर पड़ा?' वह क्यों गिर पड़ा इसका विचार करना चाहिए। **राजविद्या राजगुह्यम्....** उसके पास राजविद्या नहीं होगी इसलिए वह गिर पड़ा। बृहस्पति के चले जाने के बाद देवताओं की पराजय हुई और असुर विजयी हुए। गुरु बदलने पर कुच्छ भी हो सकता है। बृहस्पति के स्थान पर दूसरा गुरु आ गया। फिर देवताओं की पराजय ही होगी न?

भारतीयों के जीवन में भी वैसा हुआ है। हमारे गुरु याज्ञवल्क्य के स्थान पर मेकाले आ गया। फिर क्या हुआ यह सभी जानते ही हैं। पारिवारिक जीवन, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय जीवन, वैयक्तिक जीवन इन सभी प्रकार के जीवनों में हमारी हालत कैसी हुई है उसका सभी को पता है। इसका कारण यह है कि हमारे राष्ट्र, परिवार, समाज की जन्मपत्रिकाओं में गुरु दुर्बल बन गया है। गुरु बदलने पर जो परिणाम आयेंगे उनको सहन करना ही पड़ेगा, फिर भले ही भगवान की भूमि में **'दुर्लभं भारते जन्म-'** जन्म लिया होगा, परिणाम भोगने पर ही छुटकारा मिलेगा। जिस भूमि पर भगवान ने अवतार लिये उस भूमि को भी नियम लागू पड़ता ही है। *'There is no forgiveness for the broken law*। इस सृष्टि में कानून का उल्लंघन करने पर सज़ा भोगनी ही पड़ती है, क्षमा नहीं मिलती।

गुरुद्रोह बड़ा पाप है ऐसा मनु महाराज ने समझाया है। वे तो कहते हैं-

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यत:।। (मनु २-२००)

जहाँ गुरु की निन्दा होती होगी वहाँ शिष्य को अपने कान ढँक लेने चाहिए अथवा वहाँ से उठकर दूसरे स्थान पर चले जाना चाहिए।

महापुरुष सत्य कहनेवाले होते हैं। उनका आचरण भी कठोर होता है। वे सबको सत्य ही कहते हैं। इसी कारण उनके गुप्त शत्रु उत्पन्न होते हैं। पुराने जमाने में **'उभयं ब्रह्म च क्षात्रं च..'** कहा है। ब्राह्मण स्पष्ट वक्ता, सत्यवादी होने से समाज में उनके लिए नफ़रत निर्माण होगी ही। क्षत्रियों को उनका कवच बनकर खड़ा रहना चाहिए। ब्राह्मण और क्षत्रिय जहाँ एक साथ चलते हैं वहाँ संस्कृति आगे बढ़ती है।

किसी भी प्रकार की क्रान्ति हो, विचार-क्रान्ति हो, धार्मिक-क्रान्ति हो अथवा अन्य कोई क्रान्ति हो, उसके नेता को रूढ़िग्रस्त लोगों के विरोध में बोलना ही पड़ता है। परिणामस्वरूप उनके शत्रु गुप्तशत्रु होते हैं। कुछ गुप्तशत्रु होते हैं तो कुछ 'बाहर से हित चाहते हैं' ऐसा दिखावा करते हैं, परन्तु भीतर से वे शत्रु ही होते हैं।

इन्द्र को वैभव और सत्ता की मस्ती चढ़ गयी, अतः उसने गुरु बृहस्पत्ति पर कीचड़ उछालने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप अपमानित होकर बृहस्पति चले गये। इसके सामने दूसरा चित्र है असुरों का। असुरों ने अपने गुरु शुक्राचार्य की भक्ति सँभाली है, परिणामतः उन्हें यश मिलता गया।

जिसने हमें जीवनदृष्टि दी, प्रेम दिया, ज्ञान दिया उसके प्रति द्रोह करने जैसा महान् पातक जगत् में दूसरा कोई नहीं है ऐसा भागवत में कहा है। सत्य बात है। गुरु से ज्ञान प्राप्त किया, चैतन्य प्राप्त किया, स्फूर्ति ली, जीवनदृष्टि पायी, और एकाध साधारण सी बात में बाधा आयी तो क्या उसके विरोध में खड़ा रहना चाहिए? जो इस प्रकार विरोध में खड़े होते हैं वे महान् पातकी हैं। गुरुद्रोह को भागवतकार ने अति भयंकर पातकों में गिना है। देवताओं ने गुरुद्रोह किया अतः उनकी पराजय तो हुई ही, परन्तु वर्षों तक अधोमुख करके रहना पड़ा। गुरु का द्रोह करनेवालों को यहाँ भागवतकार ने लालबत्ती दिखायी है।

जीवन में गुरु होना चाहिए, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है कि गुरुवाद खड़ा करें। गुरु यानी क्या? गुरु कौन कहलाता है? जो वज़नदार है वह गुरु, जो लघु नहीं है वह गुरु। सत्ता, कीर्ति या प्रलोभन के सामने जो झुकता नहीं वह गुरु है।

आज हमारा गुरु बदल गया है। हमने ऋषि को छोड़ दिया है और मिल्टन साहब हमारा गुरु बना है। शिक्षण कौनसा लेना? परिवार को कैसे चलाना? भोजन कैसे करना? भक्ति कैसे करनी? मन्दिर कैसा होना चाहिए? यह ऋषि से नहीं, साहब से पूछो। ऐसी परिस्थिति निर्माण हुई है। ऋषि के स्थान पर साहब हमारा गुरु बना है। जिसकी जन्मपत्रिका में गुरु दुर्बल होता है, उसकी पत्रिका में अन्य ग्रह प्रभावी हों तो भी वे निष्प्रभ बन जाते हैं ऐसा ज्योतिषशास्त्र कहता है। इस प्रकार गुरु का माहात्म्य समझाया है।

उसके बाद **नारायण-कवच-** वैष्णवी विद्या समझायी है। जीवन में भयभीति तो आयेगी ही। आज भयभीत कौन नहीं है? भयभीतों को सँभालनेवाला कवच, है वही नारायणकवच है। इसमें, भक्तिमार्ग के ग्रन्थ में तन्त्रमार्ग का कुछ परिणाम दिखायी देता है।

ॐ नमो नारायणाय यह अष्टाक्षर मन्त्र है और दूसरा **ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** यह द्वादशाक्षर मन्त्र है। इससे ज्ञानी **विद्यातेजस्तपोमूर्ति** बन जाता है। उसके बाद नारायणकवच का प्रारंभ होता है। नारायण-कवच की बैठक ही ऐसी है कि प्रथम अष्टाक्षरमन्त्र और द्वादशाक्षर मन्त्र से पवित्र होना और उसके बाद नारायण-कवच का पाठ करना। नारायणकवच में ऐसा लिखा है कि शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी भगवान मेरा रक्षण करें। **सायुधं-सशक्तिकं-** शक्तिशाली और आयुधधारी भगवान मेरी रक्षा करें। भगवान के हाथ में आयुध होना चाहिए।

हमारे यहाँ एक भी भगवान ऐसे नहीं हैं जिनके हाथ में आयुध नहीं है। हथियार के बिना एक ही भगवान बुद्ध हैं। उनके हाथ में आयुध नहीं है, शेष सभी देवताओं के हाथों में आयुध हैं। किसी के हाथ में धनुष है, तो किसी के हाथ में चक्र, तो किसी के पास तीसरा नेत्र है जिससे वह शत्रु को भस्म कर सकते हैं।

इस नारायण-कवच में मत्स्यावतार से प्रारंभ कर दूसरे भी अवतार आये हैं। उसमें दत्तात्रय भगवान जैसे अवतार को लाये हैं, कपिल महामुनि जैसे मुनि को भी लायें है और भक्तश्रेष्ठ नारदजी भी हैं। यह नारायणकवच भयभीतों को संभालता है। उसीको वैष्णवी विद्या कहते हैं। नारायण-कवच का पाठ करने पर मनुष्य भयमुक्त होता है ऐसा कहा गया है। नारायण-कवच अति सुन्दर है, रमणीय है। उस पर तन्त्रमार्ग की छाया का पता चलता है। वास्तव में भक्तमार्ग में तन्त्र विद्या को विशेष स्थान नहीं है, परन्तु यहाँ भक्तिमार्ग व तन्त्रमार्ग कब एक बन गये वह ऐतिहासिक संशोधन का विषय है। यहाँ दोनों ने हस्तान्दोलन *(shake hand)* किया है ऐसा लगता है।

उसके बाद दधीचि की कथा आयी है। सभी को मालूम है। उसमें दधीचि की महानता दिखाई देती है। इसमें इन्द्र और दधीचि का जो संवाद है वह विनोदपूर्ण है। जिसे संस्कृत भाषा आती होगी उसे वह जरूर पढ़ना चाहिए। विनोदपूर्ण है वह संवाद! एक ऋषि के पास जाना और उसके शरीर की हड्डियाँ माँगना यह कोई सामान्य बात नहीं है। इन्द्र हड्डियों की माँग करता है और दधीचि उसे उत्तर देते हैं। यह विनोदी संवाद पढ़ने पर ही मालूम होगा, उसका आनन्द मिलेगा।

हताश बना हुआ, गुरु का अपमान करने से खत्म हुआ इन्द्र करेगा क्या? कहाँ जायेगा वह! अन्त में ब्राह्मण के पास ही जाना पड़ेगा। **'ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः।'** ब्राह्मण को कितनी ही गालियाँ दो, परंतु अन्त में ब्राह्मण के पास ही जाना पड़ेगा। ब्राह्मण भी सच्चे अर्थ में होना चाहिए। नकली ब्राह्मण के पास कौन जायेगा?

इन्द्र दधीचि के पास गया और उसने दधीचि की हड्डियाँ माँगी। उन हड्डियों का विश्वकर्मा द्वारा वज्र बनवाया और उससे वृत्रासुर को मारा ऐसा लिखा है। दधीचि हड्डियां देता है यह बात ही दिव्य है। इसका अर्थ यह है कि समाज की रक्षा के लिए, समाज को बचाने के लिए ब्राह्मणों को अपनी हड्डियों की खाद देनी पड़ती है, तभी संस्कृति खड़ी रहती है।

जब दैवी सम्पत्तिवान लोग उन्मत्त होकर खत्म हो जाते हैं, उनके पास से सत्ता तथा वित्त दोनों चले जाते हैं तब तामसी लोगों के हाथों में सत्ता व वित्त आ जाते हैं। वे सत्ता व वित्त के बल पर जगत् को **'त्राहि'** करा देते हैं। ऐसे समय अलग अलग काम करके, हड्डी की खाद बनानी होती है और दैवी संस्कृति को संभालना पड़ता है। दधीचि ऋषि ने क्या किया? कथा के अनुसार देखेंगे तो उनकी हड्डियों का वज्र बनाकर वृत्रासुर को मारा है। ऐतिहासिक दृष्टि से अभ्यास करेंगे तो अपनी हड्डियाँ दधीचि ऋषि ने दीं हैं इसका अर्थ यह है कि हड्डी की खाद बनाने के लिए अलग अलग कितने ही लोग उन्होंने तैयार किये होंगे। क्योंकि सत्ता, सम्पत्ति के आने पर तात्त्विक लोग तमोगुणी, क्षुद्र तथा गुरुद्रोही बन जाते हैं। अपने दिमाग में जो आता है वही वे करने लगते हैं। ऐसे लोगों को सजा मिलेगी, परन्तु वह इन लोगों के लिए सजा नहीं होती, संपूर्ण समाज को सजा मिलती है, कारण वित्त व सत्ता दोनों प्रभावी शक्तियाँ हैं, वे दोनों एकत्रित हो जाती हैं। भारतीय राज्यशास्त्र में वित्त और राजसत्ता किसी दिन एकत्रित नहीं होती हैं। उनका विकेन्द्रीकरण *(decentralization)* होता है। दूसरी किसी भी राजसत्ता का स्वीकार करो, उसमें एकत्रीकरण *(centralization)* होता है। आज हम प्रजातंत्र की पुकार करते हैं, परन्तु उसमें भी यही डर है। पाँच सौ लोगों के हाथों में करोड़ों लोगों को झुकाने की सत्ता आ जाती है और उनके हाथों में सभी वित्त इकट्ठा हो जाता है। उसके बाद सत्ता-सम्पत्ति के बल पर अपनी सत्ता बनाये रखने के लिए वे असत् असत करते रहते हैं। राजकीय अस्थिरता का परिणाम जब गुरु बदल जाता है, तभी होता है। हमारे गुरु बदल गये हैं, इसलिए हमारे सामने दो वाद खड़े होते हैं। एक साम्यवाद और दूसरा समाजवाद! दोनों वाद भयंकर ताण्डवनृत्य करते हैं क्योंकि उन्हें दूसरा कुछ मिलेगा ही नहीं। लोग अनपढ़ होने का ही यह परिणाम है।

साम्राज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यं....यह सब कैसे कैसे राज्य हो सकते हैं, कितने प्रकार के हो सकते हैं, उनमें अन्तिम राज्य कैसा अच्छा हो सकता है इसका चित्रण है, परन्तु वह सब वैदिक वाङ्मय में ही पड़ा है। आज ब्राह्मण जब मन्त्र-पुष्पाञ्जलि में इस मन्त्र का उच्चारण करते हैं तब ऐसी गर्जना करके बोलते हैं कि लोगों को लगता है, "ब्राह्मण भगवान का नाम बोलते हैं।' वास्तव में वह राज्यशास्त्र का *(Politics)* का वर्णन है। जब सत्यनारायण की पूजा होती है तब ब्राह्मण जोर से यह मन्त्र बोलते हैं और सभी लोग हाथ में पुष्प लेकर खड़े होते हैं मानो कि भगवान के नाम उन्हें सीधे वैकुंठ में ले जानेवाले हों! राजकीय व्यवस्थाएं कितने प्रकार की हैं, उनमें कौनसी व्यवस्था अच्छी हो सकती है, कैसे अच्छी हो सकती है, इसका चित्रण ब्राह्मणों ने सँभाला है। **गणानां पतिः गणपतिः** उनके सामने हैं, उनके सामने कुछ बताते हैं।

सत्ता और सम्पत्ति एकत्र आने के बाद, जिनके हाथ में वे जाते हैं वे उन्मत्त बनते हैं। असुरों के हाथ में जब सत्ता व सम्पति चली जाती है तब सम्पूर्ण समाज असुर बनता है। उसी समय दधीचि जैसे महान् ऋषि को अपनी हड्डियों की खाद बनानी पड़ती

है और दैवी वृत्ति सँभालनी पड़ती है। छट्ठे स्कन्ध के दसवें अध्याय में मराठी में जिसे **'पोवाडा'** कहते हैं वह पोवाडा- यानी वीरता जागृत करनेवाले श्लोक हैं। ३० से ३२ तक श्लोकों में **'पोवाडा'** है। ये श्लोक वीरता जागृत करते हैं।

द्रोणवध के बाद अश्वत्थामा ने ऐसा **'पोवाडा'** गाया है-

यदि समरमपास्य नास्ति मृत्योर्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम्।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियेत्। वेणीसंहार ३६-६

रणभूमि से भागते हुए सैनिकों से अश्वत्थामा कहता है, "तुम कहाँ भाग रहे हो? रणभूमि से भागने से क्या तुम्हारी मृत्यु भाग जायेगी? मृत्यु तो आयेगी ही। यदि मृत्यु आनेवाली ही है तो अच्छी तरह से, तेजस्विता से मृत्यु से मिलो।"

अश्वत्थामा कहता है, 'रणांगण छोड़कर भागने से मृत्यु न आनेवाली हो तो भागना योग्य है, परन्तु घर भागने पर भी मृत्यु आनेवाली ही हो तो रणांगण में ही क्यों न मरें?' इसको मराठी में **'पोवाडा'** कहते हैं।

इस प्रकार का वीरता जागृत करनेवाला लेखन आपको मेकाले के साहित्य में भी पढ़ने को मिलेगा, परन्तु होरेशीश ने जब रोम पर हमला किया उस समय का एक काव्य है *To every man upon the earth, death comes sooner or later, how can man die better?....for the ashes of his father and the temple of God...* तुम्हें खड़ा होना पड़ेगा। वह कहता है, इस पृथ्वी पर प्रत्येक मनुष्य को जल्दी या देर से मृत्यु आनेवाली है।

छठे स्कन्ध में **'पोवाडा'** गाया है, इसका अर्थ यह है कि उसके द्वारा लोगों को खड़ा किया है, उनमें वीरता जागृत की गयी। यदि वज्र से वृत्रासुर मर जाता तो **'पोवाडा'** गाने की जरूरत ही नहीं थी। दधीचि की हड्डियों से अस्त्र-शस्त्र बनाया है। इन्द्र व दधीचि का संवाद पढ़ने जैसा है। इन्द्र दधीचि से कहता है, 'हमारी नासमझी-पागलपन के कारण हमने सब गँवाया है। अब हमें सब फिर से प्राप्त करना हो तो आपकी हड्डियाँ चाहिए। ब्राह्मण हड्डियाँ देने को तैयार होता है। इसीलिए तो ब्राह्मण पूज्य हैं। उसके स्थान पर बनिया होता तो कदाचित् दस हजार देने पर भी हड्डियाँ न देता। हड्डियाँ देने जैसी बात बनिया के खून में ही नहीं है। वह केवल ब्राह्मणों के खून में है।

भारत के इतिहास में वैश्यों ने भी ऐसा कार्य किया है, परन्तु वे वैश्य थे, बनिया नहीं थे। बनिया भिन्न व वैश्य भिन्न! वैश्य एक पुराने सांस्कृतिक वर्ग का नाम है और बनिया आज के व्यापारी वर्ग का वाणिज्यिक *(commercial)* नाम है। एक समय इन वैश्यों ने डूबती हई पृथ्वी को बचाया, इसलिए पृथ्वी का एक नाम उर्वी है। छठे स्कन्ध में दधीचि की महानता समझायी है। दूसरा-गुरुद्रोही का परिणाम समझाया है, प्रभुनाम-जप की महिमा समझायी है। ऐसी भिन्न भिन्न बातें छठें स्कन्ध में लिखी हुई हैं।

हमने भी ऋषियों को छोड़ दिया है इसीलिए हमारी ऐसी स्थिति हो गयी है। ऋषि को छोड़ने पर हमारी स्थिति बृहस्पति का अपमान करने पर इन्द्र की जैसी होती है। ऋषि को छोड़ने के कारण आज हमें कोई भी व्यक्ति अध्यात्म का मार्ग बताने लगता है, मानो हमारे पास कोई परम्परा ही नहीं है। जिसके पास कोई भी परम्परा नहीं होती उसे कोई भी मनुष्य मूर्ख बनाता है। अध्यात्म एक दो मिनट में साध्य होनेवाली बात नहीं है। **आत्मनि अधि इति अध्यात्मम्-** और वह **बहूनां जन्मनामन्ते** ही साध्य हो सकता है। आज तो दस मिनटों में समाधि लगा देनेवाला चाहिए। आज सब कुछ तुरन्त *(instant)* चाहिए। खाने के पदार्थ सब तुरन्त चाहिए। उसी प्रकार 'तुरन्त अध्यात्म के पीछे पड़े हुए लोग हैं। ऋषि को छोड़ दिया इसलिए तुरन्त समाधि लगा देनेवाले के यहाँ भीड़ होती है। उसमें एक भाई कहता है, 'हाँ मैंने प्रकाश देखा।' यह सुनकर दूसरा कहता है, हाँ! मुझे भी प्रकाश देखने को मिला। वास्तव में किसी को प्रकाश देखने को नहीं मिला, परन्तु सभी वैसा कहते हैं। इसका कारण प्रत्येक को लगता है, 'मैं बच गया हूँ।' इसलिए कहता है 'मैंने प्रकाश देखा।' कहाँ से आया प्रकाश? प्रकाश तो है ही। जब सूर्य का उदय होता है तब प्रकाश तो होता ही है।

छठे स्कन्ध के अन्त में एक पुंसवन व्रत कहा है। सामान्य लोग परिवार चलाते हैं। उन्हें सौभाग्य, सन्तति, सम्पत्ति और यश की अभिलाषा रहती है। यह सब देनेवाले व्रत को 'पुंसवन व्रत' कहते हैं। पुंसवन व्रत करने से सब बातें प्राप्त होती हैं। यह एक आश्वासन है। इसका कारण, भागवत का अधिकारी कौन? पारिवारिक, कौटुंबिक व्यक्ति ही उसका अधिकारी है। संन्यासी के लिए भागवत नहीं है। पारिवारिक व्यक्ति ही भागवत सुनता है। उसे उपरोक्त सभी बातों की अभिलाषा रहती है। उसके लिए पुंसवन व्रत, बहुत अच्छी तरह से समझाया है, उसकी विधि भी समझायी है। यह पुंसवन व्रत कहकर छठा स्कन्ध पूर्ण किया है।

सप्तमः स्कन्धः

नारायणपर ग्रन्थ-श्रीमद् भागवत की हम अध्ययनशील दृष्टि से समालोचना कर रहे हैं। सातवाँ स्कन्ध छोटा है, परन्तु उसमें अर्थ बहुत बड़ा है। सातवें स्कन्ध का नाम उच्चारते ही प्रथम कोई व्यक्ति ध्यान में आता होगा तो वह है प्रह्लाद! प्रह्लाद-आख्यान में उसकी स्वैर कहानी बताकर फिर सातवें स्कन्ध की समालोचना करूँगा। इस स्कन्ध में वही महत्त्वपूर्ण बात है। फिर प्रह्लाद को दिया हुआ उपदेश भी है।

प्रह्लाद की कथा तो सभी को मालूम है, परन्तु मैं उसके सम्बन्ध में स्वैर कहानी कहता हूँ। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु नाम के दो भाई थे। उनमें से हरिण्याक्ष को वराह अवतार ने मारा है। हिरण्याक्ष के मारे जाने के बाद उसका हिरण्यकशिपु वेदान्ती बनकर कुछ उपदेश देता है। वह सब हम बाद में देखेंगे। परन्तु वह काल ऐसा था कि उसमें उन दोनों भाइयों के विचारों का समाज पर ज़बरदस्त प्रभाव था।

हिरण्याक्ष यानी जिसकी आँखों में केवल सोना ही दिखायी देता है वह हिरण्याक्ष! जब जब समाज केवल फायदा और सोना अर्थात् पैसों का ही विचार करता है तब तब वह भोगवादी बन जाता है। ऐसे समाज के लोग दिन में दो-चार बार मन्दिर में जाते होंगे, कुछ कथा-श्रवण भी करते होंगे परन्तु उनका जीवन केवल फायदे के लिए ही होता है। कोई भी कदम उठाते समय मनुष्य एक ही विचार करता है कि इससे मुझे क्या मिलेगा, मुझे क्या लाभ होगा? जब इस प्रकार व्यक्ति फायदावादी बनता है तब जीवन की समग्रता *(Integration)* नहीं होती। जब समाज ऐसा बनता है तब उसके सम्बन्ध में भगवान को भी सोचना पड़ता है। कितने ही लोगों के दिमाग में 'फायदा' ही भरा होता है। उनसे कोई भी बात कहो तो 'क्या लाभ है' ऐसा ही पूछते हैं। उन्हें स्वाध्याय में आने को कहो तो तुरन्त

पूछते हैं कि स्वाध्याय करने से क्या मिलेगा? स्वाध्याय को हम एक घण्टा देंगे, परन्तु उससे हमें क्या लाभ होगा?

जीवन में एकाध काम ऐसा भी करना चाहिए कि जिससे क्या मिलेगा इसका विचार भी न किया हो। उसको जीवनविकास कहते हैं। भेजनेवाले को कुछ भेजना हो तो भले ही वह भेज दे, परन्तु मैंने उसके सम्बन्ध में सोचा भी नहीं। एक भी काम हमारा ऐसा नहीं होता, यह विचार करने जैसी बात है। अपने जन्म-दिवस के दिन मनुष्य को विचार करना चाहिए कि पिछले वर्ष क्या एकाध भी काम मैंने ऐसा किया है कि जिसके सम्बन्ध में 'क्या मिलेगा' यह विचार ही नहीं किया? लाभ का विचार किये बिना काम करना, वह भी उतनी ही निष्ठा से, उत्साह से करना, जितनी निष्ठा, उत्साह से हम स्वार्थ का काम करते हैं। एकाध बार सनक में आकर मनुष्य निरपेक्ष, निस्वार्थ काम करता भी है, परन्तु उतना ही पर्याप्त नहीं है। ऐसा एकाध निःस्वार्थ काम सतत होना चाहिए।

लोग जब फायदावादी बनते हैं तब केवल भौतिक फायदा ही देखते हैं। आत्मशुद्धि, आत्मशान्ति, आत्मतृप्ति, ईशतृप्ति ये सब बातें उनकी दृष्टि से फायदे में नहीं बैठती। भौतिक वस्तु की प्राप्ति को ही वे फायदा मानते हैं। हिरण्याक्ष ने सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार का फायदावादी बनाया था।

हमारे पुराण पढ़ने के लिए भी विशेष दृष्टि होनी चाहिए। मुझे एक संशोधक *(Research scholar)* ने पूछा था, "आप कितने दिनों तक यह सोने की लंका और सोने की द्वारका पढ़ेंगे? क्या सोने की लंका थी? लंका में जो घर थे, दीवारें थी, उनमें जो ईंटें थी वे क्या सब सोने की थी? सोने की लंका थी, यह पागलपन कितने दिन चलायेंगे?' मैंने उससे कहा, "पुराण पढ़ने के लिए तुम्हें कदाचित् दूसरा जन्म लेना पड़ेगा इस जन्म में पुराणों को पढ़ना-समझना तुम्हारे लिए अशक्य है। सोने की लंका का अर्थ यह है कि लंका के प्रत्येक व्यक्ति को केवल सोना ही दिखायी देता था। सोना यानी पैसा! ऐसा समाज सोने-पैसे के सिवाय दूसरा विचार ही नहीं करता, वह जिस शहर में रहेगा वह शहर सोने का ही कहलाएगा। पाँच सौ या हजार वर्षों के बाद कोई दार्शनिक लाक्षणिक दृष्टि से इतिहास लिखेगा तो वह ऐसा ही लिखेगा कि मुंबई शहर सोने का था। 'सोने की मुंबई!' इसका कारण मुंबई में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति-भिखारी से लेकर अरबपति तक की नजर एक ही है कि पैसा-सोना कितना मिलेगा? वे विद्यालय *(school)* शुरु करेंगे मगर वह आत्मनिर्भर *(Self supporting)* है या नहीं यह प्रथम देखेंगे। उस विद्यालय में ज्ञान मिलेगा या नहीं इसका विचार वे नहीं करेंगे। विद्यालय के लिए इतने-इतने रूपये व्यय करेंगे तो उसमें से क्या निकलेगा? यही सोचेंगे। यदि एकाध मनुष्य में एकाध सद्गुण निर्माण होगा तो क्या वह फायदा नहीं है? नहीं! उनकी दृष्टि में वह फायदा नहीं है। वे मन्दिर का निर्माण करेंगे तो भी पैसे का ही विचार करेंगे। भागवत-सप्ताह करायेंगे तो भी उसमें से सोना-पैसा कितना मिलेगा यही विचार करेंगे। उनकी दृष्टि में भगवान भी पैसा पाने का एक साधन है। यज्ञ करानेवाला ब्राह्मण हो या कथा करनेवाला ब्राह्मण हो अथवा

विक्टोरिया-घोड़ागाडी चलानेवाला हो, सबके मस्तिष्क में एक ही विचार कि काम करने पर पैसा कितना मिलेगा? इतना ही नहीं पैसा मिलेगा तो ही वे काम करेंगे। पैसा न मिलनेवाला हो तो वे काम नहीं करेंगे। तब तक अमुक काम होना चाहिए, ऐसा करना चाहिए, ऐसा बोलते रहेंगे, मगर वह काम करेगा कौन? मूल बात यह है कि जब राजसत्ता ऐसी हो जाती है तब सम्पूर्ण समाज भी वैसा ही हो जाता है। ऐसा दर्शन हिरण्याक्ष ने कराया है।

समाज नेतृत्व निर्माण करता है या नेता समाज बनाता है यह एक प्रश्न है। नेतृत्व से समाज बनता है या समाज में से नेतृत्व निर्माण होता है इस संबंध में कम्युनिस्ट लोगों की एक भ्रान्त विचारधारा है और विश्व में सभी ने उसे मान्य किया है। उनका कहना है कि जैसे लोग होंगे वैसा उनका नेता होगा। लोग बदमाश होंगे तो नेता भी बदमाश होगा, परन्तु 'जैसे लोग वैसा नेता' यह परिभाषा शास्त्रीय नहीं है। जैसा नेता होगा वैसे ही लोग बनेंगे। इसीलिए वेदव्यास ने लिखा है-

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूत् राजा कालस्य कारणम्।।

(काल राजा का कारण है या राजा काल का कारण है इस सम्बन्ध में संशय मत रखो। राजा काल का कारण है।) काल वैसा था इसलिए राजा वैसा बना- यह नहीं चलेगा। राजा वैसा था इसलिए काल वैसा बना यह एक शास्त्रीय सिद्धान्त है। किसी को अच्छा लगेगा या नहीं, यह स्वतंत्र बात है। किसी को अच्छा लगता है या बुरा लगता है यह शास्त्र नहीं देखता। किसी की चाह-अनचाह शास्त्र देखने लगेगा तो वह शास्त्र ही नहीं रहेगा। किसे क्या लगता है यह शास्त्र नहीं देखता। जो हक़ीकत है वही शास्त्र कहता है।

एक बार मैं कम्युनिस्टों की बैठक में गया था। वहाँ मैंने उनसे पूछा, 'मुझे एक प्रश्न का उत्तर चाहिए, क्या आप देंगे?' उन्होंने पूछा, कौन सा प्रश्न है वह?' मैंने कहा, 'समाज नेतृत्व निर्माण करता है या नेतृत्व समाज को निर्माण करता है? अर्थात् कम्युनिज्म आवश्यकता से निर्माण हुआ या किसी को यह लाना था इसलिए निर्माण हुआ है? इसका कारण, आवश्यकता होगी, परन्तु परिस्थिति नेतृत्व निर्माण करती है या नेता परिस्थिति निर्माण करता है?

उनका कहना था कि परिस्थिति नेतृत्व निर्माण करती है। मैंने उनसे पूछा, 'कम्युनिज्म का फैलाव कहाँ होना चाहिए? जहाँ औद्योगिक विकास *(Industrial development)* हुआ है वहाँ! मार्क्स ने स्वयं लिखा है- *'A peasant Socialist in contradiction in term।'* किसान किसी भी दिन समाजवादी *(socialist)* नहीं बनेगा, कारण वह भूमि का मालिक है- *He is owner of land* उस समय इटली, जर्मनी, फ्रान्स, ब्रिटेन इन देशों में ओद्योगिक विकास हुआ था, परन्तु वहाँ साम्यवाद *(Communism)* नहीं आया। वह जहाँ उद्योग नहीं था ऐसे देश रूस में आया। क्यों? इसका कारण था लेनिन का प्रभावी व्यक्तिमत्व! लेनिन

की एक प्रभावी विचारधारा थी। उसकी समझाने की पद्धति प्रभावी थी। अतः उसके प्रभावी व्यक्तिमत्व तथा विचारधारा के कारण जहाँ एक भी कारखाना नहीं था, ऐसे अविकसित रूस में साम्यवाद आया। उसीसे सब लोग भयभीत हैं। सभी को किसी दूसरे का नहीं, अपितु रूस का भय लगता है। ऐसी स्थिति आ गयी थी। राजा, नेता जैसा होता है वैसा समाज बनता है। हिरण्याक्ष जैसा था वैसा ही समाज बन गया था। ऐसा समाज बार बार आता है। '**...धाता यथा पूर्वमकल्पयत्...**' ऐसा वेदमन्त्र है। गीता में भी कहा है, '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**' जो हुआ था वही होता है, होता रहेगा। यह क्रम चलता ही रहेगा। 'उसमें मुझे कहाँ बैठना है और उसमें से मेरा विकास *(development)* कैसे करना चाहिए' यही प्रत्येक व्यक्ति को देखना है।

सृष्टिक्रम चलता रहता है। वैसा हिरण्याक्ष के समय हुआ था। सब लोग भौतिक बन गये थे। उसके बाद हिरण्यकशिपु के यहाँ प्रह्लाद पैदा हुआ।

सभी को लगता था कि शिक्षा की आवश्यकता है। हमें भी ऐसा लगता है कि 'शिक्षा की आवश्यकता है' ऐसा कहनेवाले लोग सात्त्विक हैं, परन्तु शिक्षा, विद्यालय, महाविद्यालय और सात्त्विकता इनका सम्बन्ध होगा ही, ऐसा नहीं है। विद्या (शिक्षा) और सात्त्विकता का सम्बन्ध नहीं भी होगा। असुर, राक्षस, दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, मानव सभी शिक्षा की आवश्यकता मान्य करते हैं। हिरण्यकशिपु भी मानता था कि शिक्षा की आवश्यकता है। अतः उसने प्रह्लाद की शिक्षा का प्रबन्ध किया। प्रत्येक शास्त्र-उदाहरणस्वरूप, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, युद्धशास्त्र, शस्त्रक्रिया, अश्वविद्या, राजविद्या इन सभी विषयों के लिए हिरण्यकशिपु ने शंडा व अमर्क नाम के दो आचार्य नियुक्त किये। ये दोनों दैत्यगुरु शुक्राचार्य के पुत्र थे। वे दोनों एक विद्यालय के प्रमुख थे। उन दोनों की संयुक्त जिम्मेदारी थी। उनके अधीनस्थ विद्यालय में सभी शिक्षा अच्छी तरह से दी जाती थी। वे अर्थशास्त्र पढ़ाते थे। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है- *There is no relation between economics and ethics*। ऐसा कहते थे। अर्थशास्त्र यह अर्थशास्त्र ही है उसका नीति से क्या सम्बन्ध है? नीति का सम्बन्ध मन्दिर के साथ है। वे दोनों उपरोक्त सभी शास्त्र पढ़ाते थे। उनका विद्यालय आवासीय *(Residential college)* था। वहाँ प्रह्लाद को शिक्षा के लिए रखा गया। प्रह्लाद के साथ दूसरे विद्यार्थी भी पढ़ते थे। हिरण्यकशिपु को प्रह्लाद को अपने जैसा बनाना था। प्रत्येक पिता की अपने पुत्र को अपने जैसा ही बनाने की इच्छा रहती है। हिरण्यकशिपु को भी वैसा लगता था। इसलिए उसने प्रह्लाद को पढ़ाने की खास व्यवस्था की। आवासीय महाविद्यालय होने से सभी विद्यार्थी वहीं रहते थे तथा रात्रि में इकट्ठे होते थे।

रात्रि के समय जब सभी विद्यार्थी एकत्रित होते तब प्रह्लाद आकाश की ओर देखकर पूछता था कि इस पृथ्वी का गोला किसने पकड़कर रखा है? सभी का जीवन कौन चलाता है? इसकी शिक्षा हमें इस विद्यालय में क्यों नहीं मिलती? ऐसे अनेक प्रश्न प्रह्लाद दूसरे विद्यार्थियों से पूछता था। यह एक बहुत लम्बी कहानी है। प्रह्लाद शिक्षक नहीं था। सभी विद्यार्थियों का वह सहविद्यार्थी था। उसको अन्य विद्यार्थियों को तैयार कराना था।

प्रह्लाद पूछता था कि 'हमें कौन सुलाता है? सुबह हमें कौन जगाता है? खाया हुआ अन्न कौन पचाता है? हमारा जीवन कौन चलाता है? ये बातें इस विद्यालय में हमें क्यों नहीं सिखायी जातीं?'

ये बातें सुनने के बाद दूसरे दिन विद्यार्थी शिक्षकों, प्रोफेसरों से ये प्रश्न पूछने लगे। ये शब्द आधुनिक हैं, परन्तु कहानी पुरानी है। ऐसा नहीं समझना कि आधुनिक कहानी कह रहा हूँ।

जब विद्यार्थी कक्ष में ऐसे प्रश्न पूछने लगते तब शिक्षक उत्तर देते कि यह सब अपने अभ्यासक्रम *(curriculum)* में नहीं है, अत: बैठ जाओ! कहने पर जवान विद्यार्थियों ने निश्चित किया कि यही बातें सभी कक्षाओं में पूछेंगे, क्योंकि हमें सब कुछ पढ़ाया जाता है तो जीवनविषयक विषय क्यों नहीं सिखाये जाते? विद्यार्थी बारबार ऐसे प्रश्न पूछने लगे तब शिक्षकों ने कहा, 'ऐसे पागल प्रश्न नहीं पूछने चाहिए। जीवन कौन चलाता है, यह पूछने की क्या आवश्यकता है? चाहे कोई भी जीवन चलाता होगा। तुम खाते हो, पीते हो, खाया हुआ पाचन होता है, तो फिर उसके सम्बन्ध में पूछने की, विचार करने की क्या आवश्यकता है? ऐसा बेकार सोचने की जरूरत नहीं है। ऐसे बेकार प्रश्नों के उत्तर देने के लिए हमारे पास समय नहीं है। ऐसी बेकार शिक्षा तुम्हें यहाँ नहीं मिलेगी।' विद्यार्थियों ने पूछा, 'क्यों नहीं मिलेगी? हमें इस विषय की शिक्षा मिलनी ही चाहिए।' जिस बात के लिए इन्कार किया जाता है उस बात को प्राप्त करने के लिए जोश बढ़ता ही है। इसीलिए प्रजातन्त्र *(Democratic state)* में नेतागण 'अमुक वस्तु नहीं मिलेगी' ऐसा कहते ही नहीं! 'देखेंगे' ऐसा ही कहते हैं। यह समूह का जोश कम करने की युक्ति है। फिर कहते हैं, 'हमने कमिटी नियुक्त की है। वह पूरी तरह से जाँच करके विवरण *(Report)* देगी, फिर उस पर विचार करेंगे।'

हम भोगों का गुलाम बनते हैं, परन्तु भगवान का गुलाम बनने में हमें बहुत दु:ख होता है। गुलाम तो हम हैं ही। आचार्यों ने विद्यार्थियों से कह दिया कि तुम जो कहते हो वह पढ़ाने का राजसत्ता का आदेश नहीं है, उलटे, वैसा पढ़ाने की हमें मनाई है। हम तुम्हें वह शिक्षा नहीं देंगे।'

विद्यार्थी आचार्यों की बात नहीं माने। तब शंडा व अमर्क दोनों हिरण्यकशिपु के पास शिकायत लेकर गये और कहा 'राजपुत्र प्रह्लाद शिक्षा के क्षेत्र में अराजकता निर्माण कर रहा है अत: उसको सज़ा देनी चाहिए।'

हिरण्यकशिपु को जीवनविषयक या भगवान के सम्बन्ध में शिक्षा देनी ही नहीं थी। भगवान को याद करना अथवा उसके सम्बन्ध में सोचना उसे पागलपन लगता था। अत: शण्डामर्क की बात सुनकर उसने प्रह्लाद को बुलाया और प्यार से अपने पास बिठाकर कहा, 'बेटा! तू नारायण, नारायण क्या कर रहा है? छोड़ दे यह पागलपन! तूने क्या नारायण को देखा है? उसको जीवन में क्या आवश्यकता है? तेरे जैसे को यह लाचारी, क्षुद्रता

शोभा नहीं देती। तू तो राजपुत्र है, शेर का बच्चा है! अदृश्य शक्ति का गुलाम बनना क्या तुझे शोभा देता है? क्या तुझे पता है कि **'त्रयो वेदस्य कर्तारः धूर्तभाण्डनिशाचराः -'** यह सब ब्राह्मणों की अपनी आजीविका चलाने की तरकीब है। उनके जाल में नहीं फँसना चाहिए। यदि कोई शक्ति *(power)* है तो वह अदृश्य *(unseen)* क्यों हैं? उसको दृश्य *(seen)* होना चाहिए। जो दिखायी नहीं देता ऐसे भगवान को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। झूठी बातों के लिए दुराग्रह पकड़कर तू विद्यालय में अराजकता निर्माण करता है, क्या यह अच्छा है? छोड़ दे इस दुराग्रह को!'

प्रह्लाद ने कहा, 'पिताजी! यह अराजकता निर्माण करने का प्रश्न नहीं है। शिक्षा देने के लिए आपने विद्यालय खोला है। मैं तो शिक्षा के सम्बन्ध में ही शंडामर्क से पूछता हूँ। यह एक जिज्ञासा है। बौद्धिक जिज्ञासा है कि हम इस जगत् में क्यों आये हैं? कैसे आये हैं? हम कैसे चलते हैं? हमारा जीवन कौन चलाता है? इस बौद्धिक जिज्ञासा का उत्तर यदि विद्यालय में नहीं मिलता हो तो फिर विद्यालय की क्या आवश्यकता है? यह अराजकता का प्रश्न नहीं, बल्कि बौद्धिक जिज्ञासा का प्रश्न है। बौद्धिक जिज्ञासा बढ़नी चाहिए या नहीं?'

यह सुनकर हिरण्यकशिपु को अत्यन्त क्रोध आया। उसने कहा, 'एक बात मैं तुझे कहता हूँ कि तू मूर्ख है। तेरा कल्याण किसमें है यह मैं जानता हूँ, तू नहीं! इसलिए छोड़ दे यह विचार और अराजकता। तू राजा का पुत्र है, सिंह का बेटा है, तुझे वैसा ही रहना चाहिए।'

प्रह्लाद ने कहा, 'पिताजी! मैं आपका नहीं सुनता हूँ तो आप कितने क्रोधित होते हैं! मुझे लगता है कि यह सृष्टि निर्माण करने वाले जो परम पिता हैं उनकी बात नहीं सुनूँगा तो वे मुझ पर कितने क्रोधित होंगे? मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ आपको मेरे प्रश्न का उत्तर देना चाहिए। आपने विद्यालय में मुझे इसलिए भेजा है कि मैं योग्यता प्राप्त करूँ अपनी बुद्धि से प्रश्न पूछूँ। यदि मेरी बौद्धिक जिज्ञासा तृप्त न होती हो तो फिर विद्यालय में जाने का कोई प्रयोजन ही नहीं है।

यह बात सुनकर वहाँ बैठे हुए मंत्रिमण्डल में से एक मंत्री ने कहा, 'राजकुमार! तुम्हारे पिता का तुम पर कितना प्रेम है! तुम्हें भी उन पर प्रेम करना चाहिए। यह सब राज्य तुम्हें सौंप कर ही वे मरेंगे। 'ऊपर जायेंगे' ऐसा वे नहीं कहते, कारण 'ऊपर' 'भगवान', 'पुनर्जन्म' ये शब्द उनकी भाषा में हैं ही नहीं। इसीलिए कहता हूँ कि बड़े प्रेम से वे तुम्हें कह रहे हैं, उनका सुनना चाहिए।'

प्रह्लाद ने हाथ जोड़कर मंत्रिमण्डल से प्रार्थना की कि 'मैं भी पिता के प्रति अत्यधिक प्रेम के कारण ही कह रहा हूँ कि पिताजी जब दूसरे भव में (भगवान के पास) जायेंगे तो क्या उत्तर देंगे? यदि वे उत्तर नहीं दे सकेंगे तो उनकी क्या अवस्था होगी? मेरा पिताजी पर प्रेम है यह एक बात और मेरी बौद्धिक जिज्ञासा है यह दूसरी बात है। मैं इस दृष्टि से

ही पूछ रहा हूँ। उसका जवाब मुझे मिलना चाहिए। मुझे जगत् में किसने भेजा है? नींद कैसे आती है? मुझे कौन जगाता है? जीवन कैसे चलता है? शरीर में रक्त कैसे बनता है? इन सब प्रश्नों का उत्तर मुझे मिलना चाहिए। मेरी बौद्धिक जिज्ञासा तृप्त होनी चाहिए।'

प्रह्लाद मानता ही नहीं है यह देखकर हिरण्यकशिपु अत्यन्त क्रोधित हुआ। ईश्वर-विरोधी तत्त्व को उसने स्वीकार किया था। इस तत्त्व का स्वीकार करनेवाला व्यक्ति इतना जिद्दी और कठोर होता है कि बीच में कोई भी आया तो वह सहन नहीं कर सकता। हिरण्यकशिपु ने मंत्रिमण्डल से कहा, 'यह राज्य के संविधान के विरुद्ध बोलता है। यह मैं सहन नहीं करूँगा। मेरे राज्य में इस प्रकार की गुलामी वृत्ति, लाचारी मैं बर्दाश्त नहीं करूँगा। मेरे राज्य में 'आकाश में कोई भगवान है' ऐसी लाचारी नहीं चाहिए इसको मार दो। मेरा पुत्र हुआ तो क्या हुआ? वह मेरे सिंहासन के लिए खतरा है।' ऐसा कहकर हिरण्यकशिपु चला गया।

उसके बाद मंत्रिमण्डल की एक बैठक हुई। उसमें बुद्धिशाली राज्यकर्ता थे। उन्होंने कुछ निश्चित विचारविमर्श करके हिरण्यकशिपु के पास जाकर कहा, "महाराज! प्रह्लाद को इस प्रकार मारना उचित नहीं है। वह केवल आपका पुत्र नहीं है। उसकी लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी है। लोग उसे हृदय से चाहते हैं। वह हजारों नवयुवकों का नेता है। उसको इस प्रकार खुलेआम मारेंगे तो वह घटना सिंहासन को हिला देगी। उसके पीछे हजारों नवयुवक हैं।'

'तो क्या करेंगे? उसको सजा तो मिलनी चाहिए।' हिरण्यकशिपु ने पूछा!

मंत्रिमण्डल ने कहा, "उसको गुप्त रीति से मारना चाहिए।' सभी राजनीतिज्ञ विरोधियों को गुप्त रीति से ही मारते हैं। जो कोई बीच में आता है उसको भी मार देने की उनकी चाल होती है। किसने मारा, कैसे मारा कुछ भी पता नहीं चलता। राजनीतिज्ञ उसकी मृत्यु पर आँसू भी बहाते हैं। पूछताछ के लिए कमिटी भी नियुक्त करते हैं। मंत्रिमण्डल की सलाह बिलकुल सत्य थी, क्योंकि राजनीतिज्ञ लोग आध्यात्मिक तो होते ही नहीं। उन्हें आध्यात्मिक होना ही नहीं है। हाँ! आध्यात्मिकता का बुर्का वे अवश्य ओढ़ते हैं। लोगों को मन्दिर की इच्छा हो तो वे मन्दिर भी बना देते हैं। लोगों को खुश रखने के लिए वे सब कुछ करते हैं। यज्ञ भी करते हैं, मन्दिर में दर्शन के लिए भी जाते हैं। उनके अन्तःकरण में धर्म या भगवान के प्रति प्रेम नहीं होता।

प्रह्लाद को गुप्त रीति से मारने की मंत्रिमण्डल को आज्ञा मिल गयी। उन्होंने प्रह्लाद की कमजोरी की बातें *(Weak Points)* खोज निकालीं। प्रह्लाद का ब्राह्मणों पर प्रेम है, आदर व विश्वास भी है। ब्राह्मण को वह भूदेव मानता है। मंत्री महोदय ने एक ब्राह्मण को पकड़ लिया। वह बड़ा ही लालची ब्राह्मण था! मंत्री ने उसे कहा, "महाराज, मैं आपको दस हजार रूपये देता हूँ, आपका जन्मभर का दारिद्र्य दूर हो जायेगा।' उस समय कौनसी मुद्रा *(coin)* का प्रचलन था, पता नहीं है, इसलिए 'रुपये' कह रहा हूँ। कहानी पुरानी है,

भाषा आधुनिक होगी। उसका कारण है। हम आधुनिक लोग यहाँ बैठे हैं, अत: आधुनिक भाषा आ जाती है।

ब्राह्मण ने पूछा, 'परन्तु मुझे करना क्या है?'

मंत्री महोदय ने कहा, 'तुझे राजपुत्र को मारना है।'

ब्राह्मण डर गया। उसने कहा, 'आप कहते हैं सो ठीक है, परन्तु मैं प्रह्लाद को नहीं मारूँगा। मैं उसे मारूँगा तो अपराध होगा और राजसत्ता मुझे सजा देगी। मुझे रूपयों से क्या करना है? मुझे जीवित रहना है, मुझे आपके रूपये नहीं चाहिए।'

मंत्री ने कहा, 'तुझे डरने का कारण नहीं है, तेरा बाल भी बाँका नहीं होगा। यह काम राजसत्ता ही तुझे सौंप रही है और इसलिए यह काम करने के लिए तुझे वह इनाम दे रही है। तुझे कोई अपराधी नहीं ठहरायेगा।

ब्राह्मण ने विचार किया कि यह बात ठीक है। मंत्री स्वयं मुझे आश्वासन दे रहा है तो फिर डरने का क्या कारण है? वह खुश हुआ और बोला, 'ठीक है, आप कहेंगे उस काम को करने के लिए मैं तैयार हूँ।'

ब्राह्मण की कंगालियत खत्म होती हो तो वह चाहे वह काम करने को तैयार हो जाता है। ब्राह्मण के पास बुद्धि तो होती ही है, पैसा नहीं होता। बुद्धि होने से उसमें अहंभाव *(Superiority Complex)* रहता है और दरिद्रता के कारण वह अपने को छोटा मानता है कि मेरे पास धन नहीं है। इस प्रकार उसके जीवन में अहंभाव *(Superiority Complex)* और लघुता *(Inferiority Complex)* का मिश्रण होता है। दूसरे की ओर देखकर उसे लगता है, 'इसके पास जितनी बुद्धि है, उससे कितनी ही अधिक बुद्धि मेरे पास है, परन्तु उसके पास अधिक धन है, और मैं दरिद्री हूँ।' ब्राह्मण का भी एक भिन्न ही मनोविज्ञान *(Psychology)* होता है।

ब्राह्मणों में भी प्रकार हैं। एक ब्राह्मण निष्ठा से ब्राह्मण बना होता है और दूसरा परम्परा से ब्राह्मण होता है। इन दोनों में भेद है। जो निष्ठा से ब्राह्मण बन होता है वह दूसरे के पैसों की तरफ नहीं देखता, परन्तु जो परम्परा से ब्राह्मण बना है उसे लगता है कि मेरे पास बुद्धि है, उसे धन मिला, पर मुझे नहीं इसलिए वह अपने को श्रेष्ठ भी समझता है और कनिष्ठ भी समझता है। दोनों भावनाएं एक साथ उसमें होती हैं। इस प्रकार उसमें गुरु तथा लघु दोनों ग्रंथियों का मिश्रण होता है।

यह ब्राह्मण प्रह्लाद को मारने के लिए तैयार हुआ। उसे लगा कि इतना सारा पैसा मिलता है तो ले लूँ। उसने मंत्री से पैसे ले लिये। उसने विचार किया कि पत्नी के लिए अच्छे से अच्छे गहने बनाऊँगा। पत्नी से कहा, 'बता, तुझे कितने गहने चाहिए? तुझे जो भी गहने लगेंगे, मैं लाने के लिए तैयार हूँ। तुझे कितना सोना चाहिए यह बता दे!'

यह सुनकर पत्नी को आश्चर्य लगा। उसने पति से पूछा 'अरे! आज तुम्हें क्या हो गया है? तुम्हें क्या कोई लॉटरी (आज की भाषा में) मिल गयी कि इतने खुश हुए हो!

आज तक घर में दाल-चावल लाने के लिए भी पैसा नहीं था और आज अकस्मात् गहनों की बातें कर रहे हो? कहाँ से लाये हो इतना पैसा?'

'अरे पगली! तुझे एक बात बताता हूँ, किसी से मत कहना! तनिक मेरे पास आ।' सब लोग ऐसा ही कहते हैं, 'किसी से मत कहना' ऐसा कहकर पूरे गाँव में बात फैल जाती है।' ब्राह्मण ने भी ऐसा ही किया। पत्नी से कहा 'कल सुबह प्रह्लाद को विष खिलाकर मारना है। मेरे पीछे राजसत्ता खड़ी है। हमारा बाल भी बांका नहीं होगा। उसके बदले में हमें दस हजार रूपये मिलनेवाले हैं। तू मेरा साथ देना। प्रह्लाद को भोजन के लिए बुलाना है और भोजन के साथ दूध भी पिलाना है, दूध में जहर डालना है। प्रह्लाद दूध पीयेगा और मर जायेगा। किसने मारा, कैसे मारा किसी को कुछ भी पता नहीं चलेगा। पोस्टमार्टम् हुआ तो डॉक्टर उनके ही है। राजसत्ता को जैसा चाहे वैसा प्रतिवेदन *(Report)* मिल जायेगा। फिर क्या चाहिए?'

ब्राह्मण की पत्नी ने पूछा 'परन्तु प्रह्लाद ने ऐसा कौन सा बुरा काम किया है कि उसे राजसत्ता मारना चाहती है?'

ब्राह्मण ने कहा, 'प्रह्लाद जनजागृति कर रहा है, वह नर में सिंह पैदा करता है। वही राजा को अच्छा नहीं लगता है।'

ब्राह्मण की पत्नी ने कहा, "इसमें प्रह्लाद ने बुरा क्या काम किया है? क्या केवल इसीलिए उसे मारना है? राजसत्ता भले ही जो करना चाहती है करे, परन्तु ऐसे छल-कपट में हम शामिल नहीं होंगे। दूसरी बात, मुझे ऐसे गहने भी नहीं चाहिए, मैं थूकती हूँ ऐसे पैसों पर! आपको मालूम है? प्रह्लाद सभी नवयुवकों को अमृत पिला रहा है और उसे क्या हम ज़हर पिलायेंगे?

आज नवयुवक कैसे तैयार हुए हैं? हमारा लड़का भी कैसा तैयार हुआ, मालूम है आपको? आज तक किसी दिन हिरण्यकशिपु के राज्य में कोई लड़का क्या अपने माता-पिता को नमस्कार करता था? परन्तु अभी अभी हमारा लड़का भी हमें प्रतिदिन नमस्कार करता है। उसका कारण प्रह्लाद है। प्रह्लाद ने सभी को ऐसे संस्कार दिये हैं। उसे क्या हम मार देंगे? आप पैसे के लिए यह काम करते होंगे तो मैं ऐसे पैसों पर थूकती हूँ।'

सबसे बढ़कर कोई प्रभावशाली इंजक्शन यदि कोई होगा तो वह है, 'पत्नी के तिरस्कार के शब्द!' मनुष्य सब कुछ सहन कर सकता है, परन्तु पत्नी द्वारा किया हुआ तिरस्कार नहीं सह सकता। अतः ब्राह्मण ने यह प्रयत्न छोड़ दिया।

राजसत्ता ने प्रह्लाद को मारने के लिए दूसरे भी अनेक प्रयत्न किये। उन सबका वर्णन भागवत में है। प्रह्लाद को हिरण्यकशिपु ने ज़हर पिलाया, परन्तु प्रह्लाद नहीं मरा। ज़हर पीने पर भी वह नहीं मरता यह अशास्त्रीय *(Unscientific)* बात है। नाइट्रिक ऐसिड किसी को पिलाया तो क्या वह नहीं मरेगा? मरेगा ही, कारण ऐसिड का परिणाम होगा ही। तात्पर्य यह है कि वह प्रह्लाद को ज़हर नहीं दे सका। इसी प्रकार प्रह्लाद को मारने के लिए भिन्न भिन्न प्रयत्न किये गये, परन्तु हिरण्यकशिपु अपनी चालों में सफल नहीं हुआ।

अन्त में हिरण्यकशिपु अत्यन्त चिढ़ गया। उसे पता चला कि प्रह्लाद के पीछे प्रजा खड़ी है। लकड़ी के समान तो निष्प्राण लोग थे, उनमें प्रह्लाद ने चैतन्य निर्माण किया था। जिस प्रकार शालिवाहन ने मिट्टी के समान लोगों में प्राण फूँक दिये थे, वैसा ही प्रह्लाद ने किया था। लकड़ी केवल जलकर राख बनने के लिए ही पैदा होती है ऐसा नहीं है। समय आने पर वह दूसरे को भी जला सकती है। वह दोनों काम कर सकती है। चिढ़कर हिरण्यकशिपु ने निर्णय लिया कि राजद्रोही प्रह्लाद को हाथी के पैरों के नीचे कुचलने की सजा दे दी जाय। वह यह दिखाना चाहता था कि वह इतना न्यायी है, उसके राज्य में इतना न्याय *(justice)* है कि स्वयं अपने बेटे को भी, उसके अपराध करने पर, हाथी के पैरों के नीचे कुचल देता है। उसने आज्ञा की कि प्रह्लाद को हाथी के पैरों के नीचे कुचला जाय तथा सभी प्रजा को यह देखने के लिए एकत्रित किया जाय।

हाथी तो लक्ष्मी का वाहन है। जानवर होते हुए भी वह किसी को बिना कारण नहीं मारता। किसी को मरवाने के लिए हाथी को तैयार करना पड़ता है। दो-तीन दिन तक उसको भूखा रखना पड़ता है और शराब पिलानी पड़ती है। राजा ने महावत को हाथी को तैयार करने की आज्ञा दी। जिस दिन सुबह छ बजे हाथी को प्रह्लाद पर छोड़ना था, उसके दो-तीन दिन पहले महावत ने हाथी को भूखा रखा और साथ साथ उसको शराब भी पिलाता रहा जिससे हाथी निरा पागल बनकर प्रह्लाद को कुचल डाले।

महावत ने राजा की आज्ञा के अनुसार हाथी को तैयार तो किया। वह राजा की नौकरी करता था, अतः राजा की आज्ञा का पालन करना था। वह अन्दर से अत्यन्त व्यथित था, परन्तु क्या करे? राजा की आज्ञा का पालन न करने से नौकरी जाने का भय था, कदाचित् प्राणभय भी उपस्थित हो जाय। रात को बारह बजे वह घर आया। उसका मन अत्यन्त व्यथित था, कारण दूसरे दिन सुबह हाथी को प्रह्लाद पर छोड़ना था। महावत घर आया और उसने देखा कि उसकी इकलौती लड़की दीवाल के पास बैठकर रो रही है। महावत का अपनी पुत्री पर अत्यन्त प्रेम था। उसने पूछा 'क्या बात है बेटी? तू क्यों रो रही है?'

लड़की ने कहा, "पिताजी! आप यह क्या कर रहे हैं? आप कल सुबह किसको मारने जा रहे हैं? प्रह्लाद को?"

महावत ने कहा, "हाँ बेटी! राजा की वैसी आज्ञा है। मैं राजा का नौकर हूँ तो मुझे राजा की आज्ञा का पालन तो करना ही चाहिए न? मुझे सुबह छ बजे प्रह्लाद को हाथी के पैरों के नीचे कुचलना पड़ेगा।' लड़की ने कहा, 'परन्तु आप किसको मारेंगे? जिसने सभी नवयुवकों में तेज तथा चैतन्य निर्माण किया उस प्रह्लाद को? क्या आपको मालूम है कि उन नवयुवकों में मेरा पति भी है! सभी नवयुवकों ने निश्चित किया है कि यदि प्रह्लाद को मारा ज़ायेगा तो हम सब आत्मबलिदान करेंगे। जिस राज्य में प्रह्लाद नहीं है उस राज्य में हमें जीना नहीं है। क्या आप मुझे विधवा बनायेंगे?'

इकलौती बेटी का विलाप महावत से सहन न हुआ। पुत्री को दु:खी बनाकर जीवन में क्या करना है? उसने कहा, 'बेटी! मुझसे भी यह सहन नहीं होता है, परन्तु राजाज्ञा के आगे मैं क्या कर सकता हूँ? तेरा कहना सत्य है। जहाँ प्रह्लाद नहीं है, उस राज्य में जीकर भी क्या करना है? तू ही कोई मार्ग बता।'

पिताजी हम ऐसा करेंगे। अभी हम इस राज्य को छोड़कर यहाँ से भाग जायेंगे।' पुत्री ने मार्ग बताया। उसने सब तैयारी करके ही रखी थी। पिता-पुत्री दोनों उसी समय राज्य छोड़कर चल पड़े।

प्रात:काल हुआ। छ बजे गाँव के बाहर मैदान में सभी लोग तमाशा देखने के लिए एकत्रित हुए थे। हिरण्यकशिपु भी वहाँ आया। प्रह्लाद को वहाँ उपस्थित किया गया। हिरण्यकशिपु ने इशारा किया और प्रधान ने कहा, तुरन्त महावत से कहो कि हाथी लेकर हाजिर हो जाय।

महावत के घर नौकर गये, परन्तु वहाँ कोई नहीं था। हाथी तो तैयार ही था, परन्तु महावत के सिवाय दूसरा कोई उसके पास जाता तो हाथी उसको ही यमसदन पहुँचा देता। जो महावत रात-दिन खिलाता है, सेवा करता है, उसे पागल, शराब पिया हुआ हाथी भी नहीं मारता। कृतज्ञता मानव का बहुत बड़ा गुण है वह हाथी में भी है। महावत को ढूँढ़ना जारी रहा, पर महावत था ही कहाँ? अब हाथी को पकड़कर मैदान में कौन ले आये? सब कुच्छ समाप्त हुआ। अन्त में राजा को नतमस्तक होकर प्रजा से कहना पड़ा कि मैंने निश्चित किया था, मगर मैं प्रह्लाद को मार नहीं सका। जिसे भगवान बचाते हैं उसे मैं किस तरह मार सकता हूँ। जनसमुदाय में भगवान बैठे हैं, वह जनसमुदाय प्रह्लाद के पीछे खड़ा है। उसको मैं नहीं मार सकता हूँ।

नृसिंह के रूप में नर जागृत हुआ। जो नर जानवर के समान बन गया था, जिसे रोटी, कपड़ा और मकान के सिवाय दूसरी कोई भी बात नहीं सूझती थी ऐसे समाज में प्रह्लाद ने सिंहवृत्ति निर्माण की। अत: नरसिंह-नृसिंह जिसके पीछे खड़ा है उसको हिरण्यकशिपु नहीं मार सका। हिरण्यकशिपु को पराभव मान्य करना पड़ा।

हिरण्यकशिपु बुद्धिमान तो था ही। उसको पश्चात्ताप हुआ और उसने भगवान से कहा, 'भगवान! हिरण्यकशिपु मर गया। मैंने संपूर्ण जीवन आपका विरोध किया। 'कहाँ है भगवान?' ऐसा मैं निरन्तर कहता था। वह हिरण्यकशिपु अब मर गया। अभी जो हिरण्यकशिपु खड़ा है वह दूसरा ही हिरण्यकशिपु है। पहले हिरण्यकशिपु को नृसिंह ने मार दिया है। अब मुझे वस्त्र (देह) बदलने की आवश्यकता है, अन्यथा इस जन्म में मैंने जो कुछ किया है उसकी स्मृति मुझे रहेगी और समाज को भी रहेगी। इन दोनों में से स्मृति निकालनी हो तो मेरा मलिन वस्त्र बदलना पड़ेगा। अत: आप मुझे ले जाओ।'

इसके बाद प्रह्लाद ने एक हजार वर्षों तक राज्य किया ऐसा भागवत में लिखा है। यह पढ़कर लोगों को लगता है कि पुराणों की बातें ऐसी ही होती हैं। आज के विज्ञान

युग में यह कौन मानेगा कि प्रह्लाद एक हजार वर्षों तक जीवित रहा और उसने राज्य किया! डॉक्टरों को लगता है कि यह पागलों का बोलना है। मनुष्य का हृदय कितना चलेगा? एक हजार वर्ष वह थोड़े ही चलेगा? परन्तु प्रह्लाद ने एक हजार वर्ष तक राज्य किया इसका अर्थ यह है कि उसने जो संविधान *(Constitution)* तैयार किया था, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन किये बिना हजार वर्षों तक कई राजाओं ने राज्य किया।

इस स्कन्ध में प्रह्लाद की कथा बहुत सुन्दर है। समाज में ऐसी स्थिति बारबार आती है कि भगवान भय *(God is in danger*-की स्थिति) में आते हैं। भगवान के सामने नतमस्तक होनेवाला स्वार्थी लालची और असहाय बन जाता है। उसकी परीक्षा भी होती है कि उसके मस्तिष्क में भगवान के प्रति प्रेम है या अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए वह भगवान को नमस्कार करता है। भगवान को केवल फूल अर्पण करने से नहीं चलता, कारण फूल तो भगवान ने ही निर्माण किया है। भगवान यह देखते हैं हमारे अन्तःकरण में उनके प्रति कितना भाव व प्रेम है।

हमने प्रह्लाद का चरित्र देखा। छठें स्कन्ध में इन्द्र-वृत्र की कथा आयी है। उसमें देवताओं की भगवान ने सहायता की इसलिए देवताओं ने वृत्र को मारा ऐसा वर्णन है। भगवान ने देवताओं की सहायता की और दैत्यों का नाश किया। अब, देवता और दैत्य- दोनों भगवान की ही सन्तान हैं तो भगवान ऐसा पक्षपात क्यों करते हैं?

विशुद्ध चैतन्य जब आकार और गुण *(Form and Quality)* स्वीकार करता है तब वह सत्त्वरजतमात्मक बनता है। भगवान को सगुण कहने पर ईश्वर पर सत्त्व, रज का परिणाम कैसा होता है? क्यों होता है? यह उनका प्रश्न है। भागवतकार ने यह प्रश्न निर्माण किया है और उसका वे उत्तर भी देते हैं। माँ जिस दृष्टि से अपने पुत्र को मारती है, उसी दृष्टि से भगवान दैत्य को मारते हैं। वह हितार्थ वध है। द्वेष से किया हुआ वध अलग और प्रेम से किया हुआ वध अलग होता है। भगवान दैत्य को मारते हैं वह प्रेम से किया हुआ वध है। 'प्रेम से वध' यह अलौकिक शब्दप्रयोग आया है। प्रेम से और वध? प्यार से वध कैसे हो सकता है? इसके लिए सप्तम स्कन्ध के प्रारंभ में भागवत ने देहाभिमान का वेदान्त कहा है। इसमें समझाया है कि वध देह का होता है, आत्मा का नहीं होता। आखिर में, हम चैतन्य के, आत्मा के पूजक नहीं अपितु नाम और रूप के पूजक हैं।

समझ लो कि पत्नी पर किसी का अत्यधिक प्रेम है और पत्नी का भी पति पर खूब प्रेम है। वही पत्नी मरने के बाद दूसरा जन्म लेती है, उसे अपने पति की गोद में बैठने की चाह होती है। अतः वह खुजली के जन्तु का जन्म लेती है। पति की जाँघ में खुजली का रोग होता है। तब पति क्या करता है, मालूम है? वह कीटनाशक औषधि लगाकर उसे मार देता है। पत्नी की आत्मा तो वही है, परन्तु रूप बदल गया है इसलिए पति ने औषधि लगाकर मार दिया। इस प्रकार हम रूप और आकार के पूजक हैं। गीता में जो वेदान्त कहा है, अद्वैतसिद्धि, खण्डनखण्डन खाद्य में जो वेदान्त आपको पढ़ने को मिला, उसकी झाँकी सातवें स्कन्ध के प्रारंभ में दिखायी देती है।

देहाभिमानी लोग देह का वध होने पर आत्मा का वध हुआ, ऐसा समझते हैं। देह का वध यानी जीव का वध नहीं, ऐसा उत्तर भागवतकार ने दिया है। जीव तो दूसरा जन्म लेता है। सभी को यह प्रश्न है। जब अकाल या वर्षा के कारण बाढ़ आने से कोई मर गया तो मनुष्य को लगता है कि क्या भगवान सो गये हैं? मरण का अर्थ लोग भयंकर, भयानक समझते हैं। इसका कारण यह है कि मृत व्यक्ति हमारी दृष्टि में चला जाता है, उसका रूप बदल जाता है। मृत्यु यानी वस्त्र बदलने के लिए जाना। गीता में भगवान ने उसके विषय में कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। (गीता. २/२२)

(जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने जीर्ण शरीरों को त्यागकर नूतन देह ग्रहण करती है।)

भागवत की दृष्टि में ऐसा नहीं है। मान लीजिए एकाध हिटलर पैदा हुआ और उसने युद्ध छेड़ दिया, हजारों लोग जवानी में ही मर गये। इसके कारण हमें व्यथा होती है, वैसी व्यथा होनी ही चाहिए, परंतु होता है क्या? वे लोग भगवान के ही पास जाते हैं न? समझो कि लड़का प्रतिदिन चार बजे स्कूल से घर आता है, परन्तु एकाध दिन वह दो बजे ही घर आया तो? तो माँ उसे पूछती है, 'बेटा! तू आज स्कूल से जल्दी घर क्यों आया?' तब लड़का कहता है, 'माँ! हमारे शिक्षक की पत्नी मर गयी इसलिए आज जल्दी छुट्टी हुई।' माँ कहती है, ठीक है, चल लड्डू खा ले। और खाने के बाद खेल। लड़का जल्दी घर आया, उसकी माँ को व्यथा नहीं है, कदाचित् आनंद है।

इसी प्रकार एकाध मनुष्य जल्दी मर गया तो वह हमें दुःखद बात लगती है। हम कहते भी हैं कि 'भगवान कितने निष्ठुर हैं, कितने झूठे हैं? इसीलिए तो वे इसे उठा ले गये।' यह मूलभूत कल्पना ही झूठी है। देहाभिमानी लोग मृत्यु का जो अर्थ करते हैं, वह अर्थ नहीं है। वही बात सातवें स्कन्ध के प्रारंभ में उठायी है और उसके बाद विरोधी भक्ति का महत्त्व इसी स्कन्ध में समझाया है।

भागवतकार की यह एक अजब बात है। वे भक्ति के बिना दूसरा कुछ कहते ही नहीं हैं। आप विरोध (भगवान का) करेंगे तो भी उसमें भक्ति ही आयेगी। विरोध करने से भक्ति कैसे आयेगी? विरोधी भक्ति के लिए उन्होंने शास्त्रीय कारण बताया है। जिसका विरोध करना है उसका चिन्तन होता है और चिन्तनयुक्त विरोध में जितनी तन्मयता होती है उतनी भक्तियोग में भी नहीं होती ऐसा उनका कहना है। भागवतकार कहते हैं:-

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः।। (स्कं.७/१/२६)

(नित्य वैर के अनुबन्ध से जिस प्रकार मनुष्य तन्मय बन जाता है, वैसा भक्तियोग से भी नहीं होता ऐसा मेरा निश्चित मत है।)

विरोध में जितनी तन्मयता आती है उतनी भक्तियोग में नहीं आती ऐसा भागवतकार का कहना है। हम जिस पर प्रेम करते हैं, उसका दिन भर चिन्तन नहीं करते, परन्तु जिसके साथ हमारा विरोध है वह व्यक्ति सुबह से शाम तक हमारी आँखों के सामने घूमता रहता है। इसलिए विरोध में तन्मयता आती है।

इस दृष्टि में भागवतकार ने यहाँ **'कीटभ्रमरन्याय'** का सिद्धान्त लिया है और समझाया है कि विरोधी भक्ति से मनुष्य आगे बढ़ सकता है। यहाँ भक्तिशास्त्र का मूलभूत सिद्धान्त *(Basic Principle)* भागवत ने स्वीकारा है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि भागवतकार वही बातें कथारूप में कहते हैं। के.जी. स्कूल के विद्यार्थियों से जिस प्रकार कहते हैं उस प्रकार भागवतकार कथारूप में भक्ति कहते हैं। वह दृष्टि जब कहनेवाले में नहीं होती है तब वे लोग भक्ति का असंगत अर्थ करते हैं। यहाँ रूढ़िग्रस्त (परंपरागत) भक्ति की बात ही नहीं है।

हम स्वाध्यायी लोग जब 'भक्ति' शब्द बोलते हैं तब जो भक्ति 'आरती व प्रसाद' में ही पूर्ण होती है वह भक्ति अभिप्रेत नहीं होती। 'भक्ति' एक वृत्ति है, एक विचारप्रणाली है, जीवन को दिया जानेवाला मोड़ है। उसी दृष्टि में भक्ति को स्वीकारना चाहिए। भक्ति एक सामाजिक शक्ति *(Social Force)* है। इसका अर्थ यह नहीं है कि माधवबाग के मन्दिर में जाकर 'दीन बन्धो' 'दीनानाथ' इतना ही कहना है। वह नहीं कहना है ऐसा मेरा कहना नहीं है, परन्तु केवल उतना ही कहने से भक्ति पूर्ण नहीं होती। भक्ति का एक भिन्न ही अर्थ है। भागवत ने भक्ति के कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार किया है।

भगवान को सन्तुष्ट करने के लिए भक्ति नहीं करनी है। भक्ति भगवान की खुशामत नहीं है। भगवान का चिन्तन, खुशामत, स्तुति या वर्णन करेंगे तो क्या भगवान खुश हो जायेंगे? क्या वे इतने पागल हैं? सृष्टि बनानेवाले व चलानेवाले वे क्या इतने पागल हो सकते हैं? इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान का वर्णन या भगवान की स्तुति नहीं करनी है। स्तुति तो करनी ही पड़ेगी, कारण स्तुति करने से मनुष्य भावविह्वल बनते हैं।

तो फिर भक्ति का अर्थ क्या है? भक्ति का अर्थ है- चित्त-एकाग्रता *(concentration)* **'मय्यावेश्य मनो ये माम्-'** इस चिन्तन से मनुष्य का अन्तःकरण बदल जाता है। जिस मूर्ति में चित्त एकाग्र होता है, उस मूर्ति का ही रूप-आकार चित्त ग्रहण करता है। उससे मन शक्तिशाली *(Powerful)* और प्रगमनशील *(Progressive)* बनता है। भक्ति का यह सच्चा अर्थ है। भक्ति न स्तुति है न वर्णन! न खुशामत है न कर्मकाण्ड है! चित्त एकाग्र करने के लिए कुछ कर्मकाण्ड आवश्यक है, परन्तु केवल कर्मकाण्ड यानी भक्ति नहीं है। चिन्तन, चित्त-एकाग्रता *(Concentration)* का अर्थ भक्ति होता है। भागवतकार कहते हैं:-

कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः।।
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णाः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो।।
कतमोऽपि न वेनः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति।
तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्।।२९-३१।। (भा. ७/१)

(अनेक लोग, काम, द्वेष, भय, स्नेह अथवा भक्ति इन साधनों से अपने मन को भगवान में लगाकर एवं उन कामादि निमित्तिक पापों को धोकर भगवान (सायुज्य गति) को प्राप्त हुए हैं। भगवान से मिलने को तीव्र काम (अर्थात् प्रेम) से गोपियाँ, भय से कंस, द्वेष से शिशुपाल आदि राजा, सम्बन्ध से यादव, स्नेह से तुम पाण्डव तथा भक्ति से हम भगवान के स्वरूप को प्राप्त हुए हैं।... सारांश यह कि चाहे जैसे हो, अपना मन भगवान श्रीकृष्ण में तन्मय करना चाहिए।)

कृष्ण का सतत चिन्तन करने से उसका फायदा मिलता है, वही रूप आप उठा सकते हैं ऐसा भागवतकार का कहना है। उसके लिए भागवतकार ने विरोध-भक्ति उठायी है। चिन्तन का परिणाम मन पर होता है। आप यदि स्त्री का चिन्तन करेंगे तो स्त्रैण बन जायेंगे। यदि पैसे का चिन्तन करेंगे तो पैसे के जैसे जड़ बनेंगे। कितने ही लोग सुबह से रात तक पैसे का ही विचार करते हैं। सुबह उठने पर पैसा, धन्धा इनका ही विचार, मद्रास से फोन *(call)* आया, मदुराई को फोन *(call)* करना है, यही देखते हैं। ऐसे व्यक्ति का अपनी पत्नी पर भी प्रेम नहीं होता, प्रेम हो ही नहीं सकता। वह व्यवहार में कदाचित् 'प्रेम है' ऐसा दिखाता होगा, परन्तु वास्तव में प्रेम नहीं होता। इसका कारण जड़ (पैसा) का विचार करते करते उसका मन जड़ बन जाता है। जैसे चिन्तन करेंगे वैसा बन जायेंगे। शूर-वीर का चिन्तर करेंगे तो शौर्य आयेगा।

केवल चित्त एकाग्र करना ही पर्याप्त नहीं है। चित्त एकाग्र कहाँ करते हैं यह प्रश्न है। मन ग्रहणशील *(Receptive)* होने से, जिसका चिन्तन करते हैं उसका परिणाम मन पर होगा ही। यही उसका शास्त्र है। इंजिनियर एकाध स्क्रू में एकाग्र होता है तो वह जड़ बन जायेगा, कारण स्क्रू जड़ है। उससे कोई प्रतिभावान *(Response)* नहीं मिलता। जड़ स्क्रू में एकाग्र होनेवाला इंजिनियर इस जगत् को भूल जाता है, परन्तु जगत् को भूल जाने से ही भक्ति पूर्ण नहीं होती। जिसमें मन एकाग्र होता है उसमें से मन कुछ उठाता है तब भक्ति पूर्ण हुई ऐसा कहा जाता है। भक्ति का अर्थ केवल जगत् को भूलना ही नहीं, अपितु कुछ उठाना है। एक ओर जगत भूलना है और दूसरी ओर से कुछ उठाना है, इसीका नाम भक्ति है। इसीलिए चित्तैकाग्रता का नाम भक्ति है। भक्ति का अर्थ भगवान की खुशामत नहीं है वैसा भगवान को लालच दिखाना भी नहीं है।

एकाध भाई का लड़का परीक्षा में बार बार अनुत्तीर्ण होता होगा और वह भाई भगवान से कहेगा कि भगवान! इस बार मेरे लड़के को आप परीक्षा में उत्तीर्ण कर देंगे तो

मैं सत्यनारायण की पूजा करूँगा, तो क्या ऐसे मनुष्य को भक्त कहना चाहिए? यह भगवान को लालच दिखाना है, रिश्वत देना है। कोई भगवान से कहता है, "भगवान! मुझे धन्धे में एक लाख रूपये मुनाफा होगा तो मैं तुम्हें एक किलो मिठाई खिलाऊँगा। यह भगवान को रिश्वत देना ही है। भगवान को एक किलो मिठाई खानी हो तो इस भाई को धन्धे में एक लाख रूपये का मुनाफा करा देना चाहिए। इसकी अपेक्षा भगवान ही स्वयं एक लाख रूपये की मिठाई नहीं लेंगे? भक्ति का अर्थ समझ लेना चाहिए।

स्वाध्याय परिवार ने भी भक्ति उठायी है। भागवत ने भी शास्त्रीय भक्ति उठायी है। भक्ति परिपूर्ण शास्त्र *(perfect science)* है। वह शास्त्र चला गया। सुनने और सुनानेवाले दोनों ने भागवत का सत्यनाश कर दिया है। भक्ति में चिन्तन का महत्त्व है, एकाग्रता का महत्त्व है। गीता भी यही कहती है, **मय्यावेश्य मनो ये माम्...**और **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय...।'**

चिन्तन से भक्ति होती है और विरोध-भक्ति में निरन्तर चिन्तन होता है। भागवत का यह दृढ़ मत *(stand)* है। चिन्तन से मन पर भी परिणाम होता है, उससे मन बदल जाता है, परन्तु विरोध (निन्दा) में तीव्रता होनी चाहिए, ऐसा उसका आग्रह है।

जब भागवत बुद्धिपूर्वक पढ़ेंगे तो दूसरा एक प्रश्न खड़ा होता है। हम भागवत क्या कहते हैं, शास्त्रीजी का भागवत क्या है? वे भागवत कह ही नहीं सकते,' ऐसा बोलनेवाले लोग पंडित भी हैं। लेकिन यह भागवत कहना है। इसलिए भागवत की कथा करने के लिए हम यहाँ नहीं बैठे हैं। भागवत की कथा पढ़ना-सुनना भिन्न व जिज्ञासा से भागवत का अभ्यास करना भिन्न बात है। स्वाध्यायी भाई जिज्ञासा तथा अभ्यास की वृत्ति से भागवत का अध्ययन करते हैं। पाठशाला में भागवत की कथा नहीं चलती। केवल कथा सुनने के लिए ही आनेवाला दूसरे दिन नहीं आयेगा।

भागवत ने वेनराजा तथा शिशुपाल की बात कही है। इसमें एक प्रश्न है। वेनराजा ने भी भगवान की निंदा की है और शिशुपाल ने भी। वेनराजा ने भगवान की निंदा की उससे उसका अध:पतन हुआ और उसका नाश हुआ। शिशुपाल ने भगवान की निंदा की उससे वह तन्मय होकर मुक्त हो गया, ऐसा भागवत ने कहा है। निन्दा-विरोध से यदि मुक्ति मिलती है तो वेन को मुक्ति नहीं मिली और शिशुपाल को मुक्ति मिली इसका क्या अर्थ है?

इसका अर्थ यह है कि निन्दा भी निन्दा के लिए ही होनी चाहिए, स्वार्थ के लिए नहीं। वेनराजा ने अपना महत्त्व, अपना बड़प्पन बढ़ाने के लिए भगवान की निन्दा की थी। शिशुपाल ने भगवान श्रीकृष्ण की निंदा केवल निन्दा करने के लिए ही की थी। उस निन्दा से अपना कोई लाभ हो इस दृष्टि से निन्दा नहीं की थी। वेनराजा द्वारा की हुई निंदा व शिशुपाल द्वारा की हुई निन्दा इन दोनों में फर्क़ है। मानसशास्त्र *(Psychology)* के अभ्यासुओं के लिए यह सुन्दर वर्णन है।

आप परोपकार के लिए ही परोपकार करेंगे तो उसका फल भिन्न होगा और स्वार्थ हेतु, (उदाहरणस्वरूप चुनाव जीतना, मत *(votes)* पाना आदि) परोपकार करेंगे तो उसका

फल भिन्न होगा। हैं तो दोनों परोपकार ही, परन्तु फल भिन्न भिन्न हैं। स्वार्थ हेतु किये गये परोपकार में अध:पतन होगा और परोपकार के लिए ही परोपकार करनेवाले की ऊर्ध्वगति होगी। दो भाई अपने अपने गाँव में कुआँ बनाते हैं। एक भाई केवल परोपकार की दृष्टि से कुआँ बनाता है और दूसरे का कुआँ बनाने में, गाँववाले के चुनाव में मत *(votes)* प्राप्त करने का हेतु है, अत: दोनों को भिन्न भिन्न फल मिलेगा।

विरोध में चिन्तन का परिणाम भिन्न होता है। यहाँ सभी शिक्षित तथा अभ्यासु व्यक्ति बैठे हैं, उनके लिए कहता हूँ। आपने यदि राजनीति *(politics)* का अभ्यास किया होगा तो पता चला होगा कि अफ्रिका में 'बोर लोग' और अंग्रजों के बीच युद्ध हुआ था। उस युद्ध में इतनी भयानक क्रूरता दिखायी देती थी कि बहुत कम युद्धों में वैसी क्रूरता दिखायी देगी। इस युद्ध में बोर लोगों ने प्राणपूर्वक अंग्रेजों का विरोध किया है। उन्होंने अंग्रेजों के प्रति प्रचण्ड द्वेष निर्माण किया था। यह प्रचण्ड द्वेष निर्माण करने के बाद उनमें कुछ गुण भी निर्माण हुए। यह बात मैं राजनीति की दृष्टि से कहता हूँ, आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं। उनमें कुछ गुण निर्माण हुए, परन्तु युद्ध में उनकी पराजय हुई। फिर भी अंग्रेजों ने उनका तीव्र द्वेष देखने के बाद उन्हें स्वराज्य दे दिया। हमें स्वतंत्रता मिलने के बहुत वर्षों पहले उनको स्वतंत्रता मिल गयी थी। भारत को उस समय स्वतंत्रता नहीं मिली इसका कारण है। भारतीयों ने अंग्रेजों को शत्रु भी नहीं माना था और मित्र भी नहीं माना था। परिणामस्वरूप द्वेष के कारण समाज में जो गुण आने चाहिए थे वे भारतीयों में नहीं आये। यहाँ भी कितने ही लोग अंग्रेजी सत्ता के विरोध में खड़े हुए थे, परन्तु उनकी दृष्टि में अंग्रेज न शत्रु थे, न मित्र। अंग्रेजों को तो शत्रु मानना ही नहीं चाहिए कारण हमारा अध्यात्म बिगड़ता है। वे हमारे मित्र नहीं हो सकते थे, क्योंकि उन्होंने बहुत कुछ छीन लिया था। परिणामस्वरूप अंग्रेज न रहे शत्रु, न रहे हमारे मित्र और हम बन गये तटस्थ। अत: भारतीयों में तीव्र द्वेष था ही नहीं! इसके भिन्न भिन्न कारण हैं। इस सृष्टि *(universe)* के कुछ नियम हैं। उन नियमों के अनुसार ही चलना पड़ता है। यदि तीव्र द्वेष नहीं होगा तो अमुक गुण आप में निर्माण ही नहीं होंगे, चैतन्य खड़ा नहीं होगा। तीव्र द्वेष रखनेवाला इझरायली देख खड़े हुए, परन्तु हम उस प्रकार खड़े नहीं हो सके। किसी विचार की तीव्रता ही हममें नहीं थी। हमारे प्रेम में या द्वेष में तीव्रता नहीं थी। हमारे पास समतुला थी।

कोई कहेगा, 'शास्त्रीजी! यही बात है। विचारों में, मानवी जीवन में वैचारिक समतुला होनी चाहिए।'

मानवी जीवन में भिन्न भिन्न रूप में बहुत सी आवश्यकताएं हैं। क्रोध की आवश्यकता है और काम की भी आवश्यकता है। इस जगत् में अनुपयोगी कुछ भी निर्माण नहीं हुआ है। 'उसका उपयोग कैसे करना है' इसकी अक्ल होनी चाहिए। उतनी अक्ल हो तो उन्नति होती है और न हो तो समाप्त हो जाता है। भय, विरोध, आप्तता, स्नेह और भक्ति इनको तीव्र बनाना पड़ता है ऐसा इस स्कन्ध में कहा है। इसमें किसी भी बात का मार्जन नहीं चलता। उसके लिए डुबकी ही लगानी पड़ती है।

कितने ही लोग किनारे पर खड़े रहकर मार्जन करते हैं, और फिर कहते हैं कि हम भी स्वाध्यायी हैं। गहरे पानी में डुबकी लगानेवाले को ही मोती मिलते हैं। पौधे पर केवल मार्जन करेंगे तो वह सूख जायेगा। इस स्कन्ध में जो कुछ कथायें आयी हैं उनकी ओर मानसशास्त्र की दृष्टि से देखना पड़ेगा। सप्तम स्कन्ध में प्रारंभ में ही देहाभिमान की बात आयी है। उसके बाद हिरण्यकशिपु की कथा आती है। हिरण्यकशिपु ने तप किया, ऐसा कहा है। भागवतकार ने, हिरण्यकशिपु ने तप किया है यह दिखाया है और बाद में वह बिगड़ गया, शैतान बना यह भी दिखाया है।

तप करने के बाद भी क्या चित्तशुद्धि नहीं होती? कोई तप करता हो तो तप से उसकी चित्तशुद्धि होनी चाहिए या नहीं? चित्तशुद्धि न भी होगी, कारण तप का परिणाम वैभव है। वैभव मिला व चित्तशुद्धि नहीं हुई तो मनुष्य रावण बन जाता है। रावण ने जितनी भक्ति की है उतनी भक्ति क्या किसी दूसरे ने की है? रावण ने सत्कर्म किये हैं, यज्ञ भी किये हैं और भक्ति भी की है। महिम्नस्तोत्र में पुष्पदन्त ने कहा है:-

अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं
दशास्यो यद्बाहूनभृतरणकण्डू परवशान्।।
शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबले
स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम्।।११।।

(हे त्रिपुरहरे! बिना किसी प्रयत्न के तथा बिना किसी वैर के, रावण ने त्रिभुवन को पादाक्रान्त किया फिर भी उसकी भुजाओं में लड़ने की शक्ति कम नहीं हुई। रावण इतना बलिष्ठ रहा इसका कारण आपके पदपद्मों पर उसने अपने शिरकमलों की माला अर्पण करके जो दृढ़भक्ति की, उसीका वह स्फुरण है।)

कुछ फल तप से मिलते हैं और कुछ भक्तियुक्त तप से मिलते हैं। ये दो प्रकार के फल हैं। एक व्यावहारिक उदाहरण देता हूँ। तुमने गरीब की सहायता की यह तुम्हारा तप है। कुछ लोग चक्षुदान करते हैं तो कुछ भिन्न भिन्न रूप में सामाजिक कार्य करते हैं। वे लोगों की सेवा करते हैं या नहीं? करते हैं। उन्हें पुण्य मिलेगा, वैभव भी मिलेगा, परन्तु उनकी चित्तशुद्धि नहीं होगी, चित्त का विकास भी नहीं होगा। परिणामस्वरूप वैभव या सत्ता हाथ में आने पर वे रावण बन जायेंगे। केवल सत्कृत्य को, केवल तप को मूल्य नहीं है। भक्तियुक्त तप को मूल्य है।

यहाँ 'भक्ति' शब्द जब जब मैं कहता हूँ, तब मेरी आँखों के सामने मन्दिरों में चल रही आरती व प्रसाद ये बातें आती हैं। कोई कहता है, 'मेरी पत्नी भी भक्ति करती है। वह प्रतिदिन आरती उतारती है और प्रसाद भी लेती है।' ऐसी भक्ति निरुपयोगी है। केवल भगवान पर बिल्वपत्र चढ़ाया और भक्ति हो गयी इतने सीमित अर्थ में भक्ति नहीं है। भक्ति एक शक्ति *(Force)* है, कुछ समझ है। यह समझ लेनी चाहिए तभी भक्ति का अर्थ मालूम होगा। मेरे कहने का मतलब भगवान की आरती नहीं उतारनी है अथवा बिल्वपत्र नहीं चढ़ाना है, ऐसा नहीं है। मैं इसके विरोध में नहीं हूँ। यह सब किसलिए करना है यह भी समझ लेना चाहिए।

तुम केवल तप करोगे तो, भक्ति से मन तथा विचारों पर जो परिणाम होता है वह (तप से) नहीं होगा। तुमने जो सत्कर्म किया होगा उसका फल तुम्हें अवश्य मिलेगा। फल मिलने के बाद मन-बुद्धि तो अविकसित ही रहते हैं। लोग समझते हैं कि आज जो पैसेवाले-धनवान हैं वे सब भगवान के भक्त हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। उन्होंने पिछले जन्म में कुछ अच्छे काम किये होंगे, कुछ परिश्रम भी किये होंगे, उसके परिणामस्वरूप उन्हें इस जन्म में पैसा मिलता है। बैंक में जो जमा हुआ होगा वह चक्रवृद्धि ब्याज के साथ इस जन्म में मिलता है। कितने ही लोग बीमार लोगों की सेवा करते हैं, नहीं करते ऐसा नहीं है, उन्हें उस कर्म का फल अवश्य मिलेगा। परन्तु ऐसे कर्मों के पीछे यदि भक्ति की भावना नहीं होगी तो? वे कर्म यदि चित्तविकासार्थ नहीं किये होंगे तो उन कर्मों के फल मिलने के बाद अध:पतन ही होनेवाला है ऐसा भागवत का कहना है। हिरण्यकशिपु ने घोर तप किया फिर भी उसका फल मिलने के बाद अध:पतन हुआ, ऐसा समझाया है।

हिरण्यकशिपु ने बहुत अच्छी तरह से राज्य किया। उसके शासनकाल में खेतों में अन्न-धान्य भी विपुल मात्रा में उत्पन्न होता था। परन्तु उसके जीवन में भगवान की कमी थी। वह भगवान के विरोध में था। अनेक लोग ऐसे सामाजिक काम करते हैं, अच्छे काम करते हैं। इधर से पैसा उठाकर उधर देते हैं, उधर से लाकर इधर देते हैं यानी धनवानों *(haves)* से लेकर गरीबों *(Haves not)* को देते हैं। रात दिन ऐसी सेवा उनकी चलती रहती है। काम अच्छा ही है, बुरा नहीं है, परन्तु उसके पीछे यदि भक्ति न हो, तो उन कर्मों का जब फल मिलेगा तब वे व्यक्ति अध:पतित होंगे ऐसा उस स्कन्ध में भागवतकार ने दिखाया है।

शास्त्रीय दृष्टि से ऐसा होना आवश्यक है क्योंकि सत्कर्म या तप के पीछे भक्ति न होने से मन अविकसित *(undeveloped)* ही रहता है। मरने के बाद भी हम मन को लेकर ही जाते हैं, यह शरीर छोड़ देते हैं। वह मन अविकसित ही रहेगा व सत्कर्मों का फल तो मिलेगा ही। हिरण्यकशिपु की कथा द्वारा यह बात समझायी है। उसके बाद नृसिंह का भयानक वर्णन आया है। इस भयानक वर्णन का हेतु भक्ति के प्रारंभ में भगवद्भीति *Fear of God is the beginning of Wisdom* - निर्माण करना है। भगवान के प्रति भय *(Fear)* भी निर्माण होना चाहिए, उसके बिना नहीं चलेगा। नृसिंह भगवान को देवता, ऋषि, इतना ही नहीं प्रत्यक्ष लक्ष्मी भी शान्त नहीं कर सकीं। अन्त में नृसिंह को शान्त किसने किया? प्रह्लाद ने! इसमें भक्तवत्सलता समझायी है।

भक्तवत्सलता बहुत बड़ी बात है। तुतलाकर बोलनेवाला जो लाड़ला पुत्र होता है वह अपने पिता को जितना खींच लेता है, उतना उसकी पत्नी भी उसे नहीं खींच सकती। भक्तवत्सलता का बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। सभी पीछे रहे हैं और सभी ने केवल प्रह्लाद को नृसिंह भगवान का वर्णन करने को कहा है। वह सब वर्णन आप भागवत में पढ़ सकते हैं। उसका विवेचन करने के लिए यह व्यासपीठ नहीं है, केवल दिग्दर्शन के लिए यह व्यासपीठ है।

सप्तम स्कन्ध का नौवाँ अध्याय नृसिंह वर्णन से भरा हुआ है। बहुत ही रमणीय वर्णन है। प्रह्लाद ने स्तुति की है, नम्रता दिखायी है। 'जो देवता न कर सके, ऋषि न कर सके, लक्ष्मी भी न कर सकी वह प्रार्थना आप मुझे करने को कहते हैं?' ऐसी बड़प्पन की भावना भी उसके मन में नहीं आयी, इतनी नम्रता शुरू में प्रह्लाद ने दिखायी है। जिस प्रकार गीता के दसवें अध्याय में अर्जुन भगवान से कहता है कि :—

'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यं आदिदेवमजं विभुम्।।'

लगभग उसी प्रकार प्रह्लाद कहता है कि 'ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि-मुनि और सिद्ध-पुरुषों की बुद्धि निरन्तर सत्त्वगुण में ही स्थिर रहती है, फिर भी वे अपनी धाराप्रवाह स्तुति और अपने विविध गुणों से आपको अब तक सन्तुष्ट नहीं कर सके, फिर असुरकुल में पैदा हुआ, अबोध बालक मुझसे क्या आप सन्तुष्ट हो सकते हैं?" ऐसा प्रश्न उसने खड़ा किया है। फिर उसने उत्तर दिया है कि 'सत्कुल में जन्म, वित्त, सौन्दर्य, तप, पाण्डित्य, इन्द्रियसौष्ठव, कान्ति, प्रताप, शरीरभक्ति, उद्योग, बुद्धि और अष्टांग योग ये बारह गुण सर्वत्र श्रेष्ठ होते हुए भी परमपुरुष भगवान को सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं होते, केवल भक्ति से ही भगवान प्रसन्न होते हैं, जैसे गजेंद्र पर हुए।' केवल गुणों से भगवान प्रसन्न नहीं होते क्योंकि व्यक्ति के जीवन में स्वार्थ से भी गुण आते हैं।

मैं अनेक बार कहता हूँ कि वसिष्ठ जितने स्थितप्रज्ञ हैं, उतना व्यापारी भी स्थितप्रज्ञ है। व्यापारी में भी स्थिप्रज्ञता के गुण दिखायी देते हैं या नहीं? दिखायी देते हैं और वे भी *without development*। मुझे तो लगता है कि कपड़े की रिटेल दुकान के काऊंटर पर मैं एक दिन भी सेल्समैन के नाते खड़ा नहीं रह सकूँगा। साड़ी की दुकान में एक बहन साड़ी खरीदने आती है, उसके साथ दो तीन और बहनें भी होती हैं।

सेल्समैन कहता है, 'आओ, आओ बहेन जी! कहिये क्या चाहिए?'

बहेन- हमें साड़ी लेनी है, तनिक दिखाओ न!

सेल्समैन बारी-बारी से एक एक साड़ी की परत खोलता जाता है और उन्हें दिखाता है। 'देखिये, इस साड़ी का डिज़ाइन कितना अच्छा है, कपड़ा भी भारी है, रंग पक्का, धोने पर धुंधला नहीं पड़ेगा इसकी गैरंटी! लो, यह नया स्टॉक आज ही आया है, एक बार ले जाओ याद रहेगी हमारी दुकान।'.. इस प्रकार पचास साठ साड़ियों का ढेर लगा देता है।

उस पूरे ढेर की ओर देखकर साथ में आयी हुए एक बहन कहती है, 'साड़ियां तो अच्छी हैं, परन्तु मैंने सामने की दुकान में साड़ी देखी है, उसका डिजाईन बहुत अच्छा है। चलो, वहाँ भी देखकर आयेंगी। साड़ी लेनी ही है तो चार दुकानों में देखकर लेना अच्छा...।'

ऐसा कहकर सभी बहनें चलने लगती हैं, तब सेल्समैन कहता है, भले ही तुम दूसरी दुकानों में भी देखकर आओ। तुम्हें वहाँ भी मनचाही साड़ी नहीं मिली तो यहाँ वापस जरूर आओ। मैं तुम्हें नये स्टॉक में से दूसरी साड़ियाँ भी दिखाऊँगा। आना हां...।' ऐसा हाथ जोड़कर कहता है।

ओ हो हो! कितनी शान्ति है इस सेल्समेन के पास! मेरे पास तो शत प्रतिशत इतनी शान्ति नहीं होगी। इस व्यापारी के पास गुण हैं या नहीं? हैं, परन्तु उसको ग्राहक को तोड़ना नहीं है, इसका कारण 'ग्राहक वापस आया तो मेरा लाभ ही है' यह बात उसके मन में होती है। इस दृष्टि से गुण पैदा होते हैं।

ऐसा ही राजनीतिक लोगों का है। उनकी निंदा करो या स्तुति! उन पर कोई परिणाम नहीं होता! उनको किसीने गालियाँ दी तो भी वे शान्त रहते हैं। 'वैसे तो जननिन्दा का तुकाराम महाराज, ज्ञानेश्वर पर भी परिणाम नहीं हुआ- **'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केन चित्...।'** राजनीतिक लोगों में भी ये गुण होते हैं, कारण पाँच साल के बाद उनको फिर से लोगों के दरवाजे पर जाना है, इसलिए वे शान्त रहते हैं। इनकी शान्ति देखकर मुझे लगता है कि इन लोगों ने कहाँ से ये गुण जीवन में पैदा किये होंगे? क्योंकि समाज की गालियाँ खाने पर समाज को अच्छा कहते हैं, समाज के लिए अपनी शक्ति प्रयुक्त करने की बातें करते हैं। यह सब देखकर मुझे लगता है कि जीवन में गुण लाने के लिए वसिष्ठ ने व्यर्थ तप किया, वे केवल राजनीतिक बन जाते तो तुरन्त ये गुण उनमें आ जाते। प्रश्न यह है कि किस दृष्टि से ये गुण आये हैं? केवल गुणों से भगवान प्रसन्न नहीं होते यह यहाँ कहने का अभिप्राय है! बिना भक्ति के भगवान प्रसन्न नहीं होते।

जीवन में ये गुण अलग अलग दृष्टि से भी आते हैं, नहीं आते ऐसा नहीं है। अच्छी प्रैक्टिस करनी हो तो डॉक्टर या वकील को भी शान्त रहना पड़ेगा। डॉक्टर कितना शान्त लगता है! बहुत शान्त! कारण प्रैक्टिस अच्छी चलनी चाहिए वह स्थिर होनी चाहिए। अपनी प्रैक्टिस को धक्का लगे ऐसा कुछ बोला, कहा गया तो एक दसरे से दूसरा तीसरे से, तीसरा चौथे से यह बात कहेगा, सर्वत्र यह बात फैल जायेगी। अपनी प्रैक्टिस खत्म हो जायेगी यह भय उसे रहता है। इसलिए डॉक्टर शान्ति रखता है। इस प्रकार गुण निर्माण होने के अलग अलग मार्ग हैं, परन्तु गुण भक्ति से पैदा होने चाहिए ऐसा भागवत का आग्रह है। इसलिए प्रह्लाद कहता है कि गुणों से नहीं, अपितु भक्ति से भगवान प्रसन्न होते हैं।

मनुष्य के पास वित्त है, वह सत्कुल में पैदा हुआ है, उसके पास सौन्दर्य है, तप है, पाण्डित्य है, परन्तु इन सब बातों से ही भगवान प्रसन्न नहीं होते। मनुष्य के पास क्या तप नहीं है? कितना तप है? जबरदस्त तप है। तप का फल उसे मिलेगा ही। इस भारत की मिट्टी में जहाँ सर्वत्र भगवान, भगवान चल रहा है, ऐसे प्रभु के पीछे पागल बने हुए *(God intoxicated)* लोग हैं, उस भारत में जिन्होंने प्रथम साम्यवाद *(Communism)* खड़ा किया होगा, उनका कितना तप होगा? एक समय में साम्यवादियों को कोई नहीं मानते थे, पूछते नहीं थे, उनकी ओर कोई देखता भी नहीं था। १९३० में साम्यवादियों को उठाकर

जेल में बन्द कर देते थे। जो व्यक्ति स्वदेशी आन्दोलन *(National Movement)* में भाग लेकर जेल में जाते थे, उनको बड़प्पन मिलता था, परन्तु साम्यवादी जेल में जाते तो उनको कोई पूछता भी नहीं था। प्यास से व्याकुल होकर वे किसी के दरवाजे पर जाते तो उन्हें पानी भी नहीं मिलता था। इसका कारण एक ही था कि वे भगवद्‌विरोधी थे। अस्पृश्य समझकर लोग उन्हें छूते नहीं थे। मुझे पता है कि साम्यवादी नेताओं को लोग अछूत समझकर अपने पास भी नहीं लेते थे। इतना प्रखर विरोध होते हुए भी साम्यवादी स्थिर रहे, यह क्या कम तप है उनका?

तप अर्थात् **'तपो द्वन्द्वसहनम्'** सुख-दुःख आदि द्वन्द्व सहन करने का नाम तप है। आज साम्यवाद का भय इस भारत में पैदा हुआ है। इसका प्रथम कारण उनका तप है। प्रथम श्रेणी में एम.ए. उत्तीर्ण होते हुए भी सरकारी नौकरी करने की अपेक्षा ब्रेड के टुकडे खाकर पदपथ *(footpath)* पर पड़े रहते थे और साम्यवाद का काम करते थे, उन्हें कोई पूछता भी नहीं था, कोई सामाजिक मान-सम्मान *(social appreciation)* भी नहीं मिलता था, पैसा भी नहीं मिलता था, कुछ भी नहीं मिलता था। केवल एक सिद्धान्त *(Principle)* के लिए वे मरने के लिए तैयार थे। यह उनका तप था। भागवतकार कहते हैं कि तप होगा, गुण होंगे सत्कुल में जन्म होगा, पाण्डित्य होगा, परन्तु भगवान भक्ति से प्रसन्न होते हैं।

'भगवान! आपकी प्रार्थना करने का मैं ही अधिकारी हूँ' ऐसा प्रह्लाद कहता है! कारण भगवान भक्ति से प्रसन्न होते हैं और प्रह्लाद के पास भक्ति थी।

'हिरण्यकशिपु तेरे पिता थे, उनके मरने से तुझे व्यथा नहीं होती?' ऐसा पूछने पर प्रह्लाद कहता था, उपद्रव करनेवाला साँप अथवा बिच्छू मर गया तो साधु को भी दुःख नहीं होता तो मेरा पिता हिरण्यकशिपु मर गया तो उसमें मुझे कौन सी व्यथा होनी चाहिए? वह तो बिच्छू या साँप जैसा था, मर गया, उसमें क्या है?

प्रह्लाद भगवान से कहता है, 'भगवान! आप शरणागत को अपने पास लेनेवाले हैं। ये इन्द्रियाँ हमें खींचती हैं। मेरे तारणहार प्रभो! आप ही हैं। भगवान! मेरी जीवन नौका आपके ही हाथ में है। मेरी जीवन नौका डगमगा रही है। इन्द्रियाँ मुझे खींचती जा रही हैं, भिन्न भिन्न वासनाएं भी खींच रही हैं, तो फिर मैं स्थिर कैसे रह सकूँ? मैं स्थिर नहीं रह सकता। भगवान मैं आपसे क्या कहूँ? जब जब मेरे पिता मुझे मारने का प्रयत्न करते थे तब आप भिन्न भिन्न रूपों में आकर खड़े रहते थे। मेरा रक्षण आप ही ने किया है, मुझे आप ही ने सँभाला है, भगवान! आपको मेरी आवश्यकता लगती है, इसमें आपका प्रेम है, अन्यथा आप मुझे क्यों सँभालते? जिसकी आपको आवश्यकता है उसको आप सँभालते हैं। आपका मुझ पर प्रेम है इसीलिए मैं आपके विकराल रूप से नहीं डरता हूँ। प्रभो! इस कराल संसार से मुझे डर लगता है। आपके भयानक रूप से मैं नहीं डरता हूँ इसका कारण मैं आपका पुत्र हूँ।' सिंह का लड़का क्या सिंह से डरता है? नहीं! पुलिस अधिकारी की पत्नी क्या उससे डरती है? उलटे वह उसको गाली देती है। सारी दुनिया पुलिस

अधिकारी से डरती है, परन्तु उसकी पत्नी उससे नहीं डरती। सम्बन्ध जितना नजदीक का होता है उतना डर खत्म हो जाता है।

प्रह्लाद कहता है, 'भगवान! आपसे नहीं डरता हूँ, परन्तु भयानक संसार से डरता हूँ।'

सप्तम स्कन्ध के नौवें अध्याय में ऐसा बहुत वर्णन है, स्तुति है। वह पढ़ने जैसी है। अन्त में भगवान प्रह्लाद से कहते हैं, 'मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ, वर माँग!'

तब प्रह्लाद ने सुन्दर उत्तर दिया है। प्रह्लाद कहता है, 'प्रभो! आप वर माँगने को कहते हैं, परन्तु वर माँगने का अर्थ क्या है? आपसे अधिक, आपसे कुछ भिन्न है, वही माँगना है न? भगवान! आपसे भिन्न ऐसा कुछ माँगना ही नहीं है। मुझे वर भी नहीं माँगना है।' इसमें प्रह्लाद ने वर माँगा भी है और नहीं भी माँगा है। प्रह्लाद भी अक्लमन्द है। ऐसे भक्त को देखने पर भगवान भी हँसते होंगे!

प्रह्लाद का उत्तर सुनकर भगवान कहते हैं, 'फिर भी तुझे कुछ माँगना ही होगा।' तब प्रह्लाद माँगता है। भक्तिशास्त्र में उसकी माँग भी समझने जैसी है। प्रथम स्कन्ध में कुन्ती माता ने माँगा है, **'विपदः सन्तु नः शश्वत्-'** भगवान मुझे विपत्ति दे! विपत्ति में आपका निरन्तर स्मरण होता है। कुन्ती विपत्ति माँगती है और इस सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद माँगता है वासनाशून्यता। दोनों की माँग एक ही है। मनुष्य को वासना हैरान करती है। संसार भयानक है, इसका अर्थ क्या है? संसार का अर्थ है होना, बनना और कुछ होने-बनने की इच्छा। *(Becoming and crave for becoming something)* संसार यानी रेडिओ नहीं, मकान नहीं, घी नहीं, शक्कर नहीं। मुझे कुछ बनना है। मुझे धनवान बनना है, उससे अधिक धनवान बनना है। मुझे प्रथम श्रेणी का स्नातक *(first class graduate)* बनना है, वित्तवान बनना है, कीर्तिमान बनना है, मुझे पति बनना है, केवल पति ही नहीं, मुझे पिता भी बनना है, फिर दादा बनना है, केवल दादा नहीं, परदादा भी बनना है। यह बनना **'भव'** समाप्त होता ही नहीं। **भव** पूरा नहीं होता यह **'भव'** की भयानकता है।

मेरा **'भव'** *(becoming)* कब बन्द होगा? जब मुझे ज्ञान होगा तब, अथवा जब भगवान के प्रति विश्वास हो। ये दो ही मार्ग हैं। हमारे दिमाग में 'भव-होना- *Becoming* है, परन्तु तीन वर्ष के बालक के दिमाग में भव नहीं है। उसको खाना चाहिए तो खाने के समय खाना मिल जायेगा। खाना मिलेगा या नहीं इसका वह विचार नहीं करता। उसकी माँ विचार करती है। अहमदाबाद जाना है, लड़के को भूख लगेगी अतः साथ में नाश्ता लेना चाहिए, यह माँ की वासना है, लड़के को कुछ वासना नहीं है। मार्ग में सूरत आने पर वह रोने लगेगा। उसको विश्वास है कि रोने लगेगा तो खाने के लिए मिल जायेगा। नाश्ता मिल जायेगा क्योंकि देनेवाला समर्थ है। इसलिए उसके बारे में सोचा नहीं है। उसकी माँ को वासना है। प्रभु-विश्वास से वासनाशून्यता लानी है, वही प्रह्लाद माँगता है। दोनों का माँगना एक ही है। कुन्तीमाता कहती है कि मुझे निरन्तर भगवान का स्मरण होना चाहिए। प्रह्लाद को प्रभुविश्वास था इसलिए उसकी वासना चली गयी।

वासनाशून्यता आने पर मानव देह (खोखा) चलेगा ही नहीं। वासना नहीं होगी तो देह चलेगा ही नहीं। आपको सुनने की वासना है इसलिए आप यहाँ पाठशाला में आये, मुझे सुनाने की वासना है इसलिए मैं आ गया। कृति-गति ये सब वासना से ही होती हैं। यदि वासना न हो तो कृति नहीं और गति भी नहीं। प्रह्लाद जैसे महान् भक्त की कृति-गति समाप्त हो गयी तो क्या होगा? उसके शरीर में बैठकर भगवान वासना करेंगे, और उस समय उसे सतत चिन्तन तथा भगवद्स्पर्श मिलेगा। जिस प्रकार विपत्ति में सतत भगवत्चिन्तन, सतत भगवद्स्पर्श कुंतीमाता को मिला वैसा प्रह्लाद को भी वासना-शून्यता में से सतत् भगवद्स्पर्श, भगवद्चिन्तन मिला। दोनों की माँग एक ही है, भाषा भिन्न है।

फिर नृसिंह भगवान प्रह्लाद से कहते हैं, 'तुझे राज्य करना पड़ेगा।' प्रह्लाद ने एक हजार वर्ष राज्य किया। भगवान आगे कहते हैं, 'अपने पिता का पाप तुझे धोना पड़ेगा। पिता का पाप धोकर तू राज्य कर, गृहस्थी कर।'

'प्रह्लाद का राज्य एक हजार वर्ष चला' यह पढ़कर लोग कहते हैं, 'यह आपका पुराण आ गया। क्या कोई हजार वर्ष जीवित रहता है?' परन्तु प्रह्लाद का राज्य एक हजार वर्ष चला इसका अर्थ यह है कि प्रह्लाद ने जो संविधान *(constitution)* लिखा, उसीके अनुसार हजार वर्ष राज्य चला। हजार वर्षों में उसमें एक बार भी संशोधन नहीं करना पड़ा। हमारे भारतीय संविधान को कितने वर्ष हुए? उसमें कितने संशोधन आ गये? प्रति वर्ष कुछ न कुछ संशोधन (सुधार) होता ही है। 'सुधार' का अर्थ ही यह है कि कुछ भूल थी। प्रह्लाद ने ऐसा संविधान बनाया कि उसमें सुधार करने की एक हजार वर्ष में कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। इसलिए प्रह्लाद का राज्य एक हजार वर्ष चला, ऐसा लिखा है।

भागवत में गृह, सुत, वित्त की निन्दा किसी किसी स्थान पर आयी है, परन्तु वह अर्थवादात्मक है। अर्थवाद यानी क्या? के.जी. स्कूल के लड़कों को तत्त्वज्ञान कहना बहुत कठिन है। जिसका अभ्यास है उसे 'अर्थवाद' शब्द बोलते ही उसके अर्थ का पता चल जाता है। हमें तो अर्थवाद यानी 'पैसों का वाद' इतना ही मालूम है।

भागवत ने वैसा आग्रह रखा है। उसके बाद बीच में ही त्रिपुरासुर की कथा आती है। वह क्यों आयी यह प्रश्न है। प्रह्लाद का व उस कथा का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह पढ़कर लोगों से वह असम्बद्ध लगता है। भागवतकार एक विशिष्ट दृष्टि रखकर चलते हैं। जो विशिष्ट दृष्टि रखकर चलते हैं उनको भिन्न कुछ कहना पड़ता है। लोगों को सन्तुष्ट करना भिन्न दृष्टि है और लोगों को खड़ा करना भिन्न दृष्टि है। लोगों को निःसन्देह करना एक तीसरी दृष्टि है। बीच में ही यह त्रिपुरासुर की कथा आयी है और उसके बाद प्रह्लाद ने जीवन का तत्त्वज्ञान कहा है।

त्रिपुरासुर का बीच में ही जो वर्णन आया उसे देखकर संशोधकों *(Research Scholars)* को उसमें सातत्य नहीं लगता। ये संशोधक एक भिन्न ही प्रकार के नमूने *(Samples)* हैं। उनकी आवश्यकता भी है, परन्तु उनको सँभालकर संशोधन करना चाहिए।

किसी को खड़ा करना है, उसे कुछ कहना है, समझाना है, बदलना है तो उसे कहने का लेखन और पंडितों का महानिबंध *(Thesis)* भिन्न होते हैं। जो लोगों को खड़ा करना चाहते हैं उनके लेखन में, बोलने-कहने में बार बार एक ही बात आती है। उसी को अभ्यास कहते हैं।

उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।।

अर्थात् किसी भी ग्रंथ का तात्पर्य निकालना हो तो आरंभ, अन्त, अभ्यास, नवीनता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन सात बातों को साधन मानकर निर्णय करना चाहिए।

आप किसी पुस्तक को पढ़ेंगे तो इतनी बातें आपके ध्यान में होनी चाहिए, तभी आपको उस पुस्तक को हाथ में लेना चाहिए ऐसा शास्त्रकारों का कहना है। कितने ही लोगों को कुछ समझाना है, उन्हें बदलना है, इसलिए वे लिखते हैं। उन्हें अपनी विद्वत्ता नहीं दिखानी थी।

प्रह्लाद की स्तुति में विष्णु भगवान का, श्रीहरि का अतिशय सुंदर वर्णन है। उस वर्णन को सुनकर सुननेवाले को लगेगा कि दूसरा कोई भगवान है ही नहीं। त्रिपुरासुर का बीच में ही वर्णन आया है। मय नामक दैत्य को शंकर भगवान मारना चाहते थे, परन्तु वे मार नहीं सके, क्योंकि वह अमृत पीकर फिर से जीवित हो उठता था। तो क्या करना चाहिए? भगवान विष्णु शंकर भगवान को सहायता करने आते हैं और अन्त में शंकर भगवान मयासुर को मार देते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि विष्णु व शिव एक ही हैं। दोनों एक दूसरे के विरोध में नहीं है। दोनों एक ही हैं।

उस समय ऐसी भावना निर्माण हुई थी कि दोनों भिन्न हैं। ऐसी भावनावालों को समझाने के लिए बीच में ही मयासुर की कथा आ गयी। मयासुर का वर्णन आया और शंकर भगवान की सहायता करने के लिए स्वयं विष्णु भगवान दौड़कर आये। उन्हें शंकर भगवान ने बुलाया तो नहीं था। वे स्वयं होकर दौड़कर आये। जहाँ ऐक्य है वहीं यह संभव है। इसीलिए बीच में मयासुर की कथा आयी है। कहनेवाले-लिखनेवाले का दिल समझ लेना चाहिए तभी उस ग्रंथ की समालोचना कर सकते हैं। नहीं तो हुआ है ऐसा कि हिरण्यकशिपु को मारने के बाद भगवान ने प्रह्लाद को वरदान दिया है। प्रह्लाद ने पिता के लिए मुक्ति माँगी और बीच में ही मयासुर का वर्णन आया है। उसके बाद नारद द्वारा वर्णाश्रम धर्म का कथन आता है, परन्तु बीच में ही मयासुर का वर्णन पढ़नेवालों को सन्देह होता है कि इसका क्या सम्बन्ध है? इन कथाओं का परस्पर सम्बन्ध नहीं है, ऐसा लगता है, परन्तु परस्पर सम्बन्ध यह है कि नृसिंह भगवान की स्तुति में श्री हरि-विष्णु का वर्णन है। विष्णु व शिव में भेद होगा ऐसा न लगे इसलिए बीच में यह मयासुर की कथा आयी है। सातवें स्कन्ध के दसवें अध्याय तक ये सब बातें आयी हैं। उसके बाद पाँच अध्यायों में सनातन धर्म का विवेचन किया गया है। सनातन धर्म का वह वर्णन और स्मृति में जो

धर्मवर्णन आता है वह एक ही है, परन्तु उसमें एक बात है। वह दार्शनिकों के लिए, शास्त्रज्ञों के लिए है। सामान्य लोगों के लिए दोनों वर्णन सरीखे ही हैं।

स्मृति में वेदों को जो स्थान दिया है वही स्थान भागवत में श्रीहरि को दिया गया है। आप पढ़ेंगे तो मालूम होगा कि '**वेदोऽखिलोधर्ममूलम्...**' वेद अर्थात् एक अपौरुषेय *(Transpersonal)* विचारधारा है। वैदिकों में भी ऐसी एक धारणा है कि वेदों का निर्माण भगवान ने भी नहीं किया। वेद अपौरुषेय *(Transpersonal)* हैं। यह कोई चर्चा का विषय नहीं है। वेद अपौरुषेय हो सकते हैं। हमारे सामने कुछ लोग प्रश्न रखते हैं कि 'वेद किसी ने नहीं बनाये ऐसा कैसे कह सकते हैं? किसी ने तो वेद बनाये हुए होंगे ही! अन्यथा वेद निर्माण कैसे हुए?'

इन लोगों से पूछना चाहिए कि इंग्लैंड का संविधान *(constitution)* अलिखित *(Transpersonal)* है या नहीं? पढ़े-लिखे लोग इस बात को मानते हैं, इतना ही नहीं, उसको प्रमाणभूत भी मानते हैं, तो फिर हमारे वेद अपौरुषेय *(Transpersonal)* क्यों नहीं हो सकते?

वेद अपौरुषेय हैं ऐसी एक विचारधारा है। दूसरी एक विचारधारा '**ईश्वरोक्तत्वात् वेदस्य प्रामाण्यम्-**' है। यहाँ श्रीहरि को महत्त्व है। इस प्रकार स्मृति में जो वेदों को प्रमुखता दी गयी है वह प्रमुखता भागवत में श्रीहरि को दी गयी है। '**ईश्वरोक्तत्वात् वेदस्य प्रामाण्यम्-**' वेद ईश्वर ने निर्माण किये हैं। ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया। उसके बाद संविधान *(Constitution)* भी लिखा और उसके द्वारा सृष्टि में कैसे रहना है यह भी निश्चित किया। वह जो निश्चित किया वही वेद है। वेद आदि भगवान ने लिखे हैं ऐसा कहते हैं।

उसके बाद वर्णधर्म और स्त्रीधर्म का वर्णन है। स्त्रीधर्म का बहुत सुन्दर वर्णन है। उसमें लिखा है कि घर की व्यवस्था ही स्त्री का सर्वस्व है। उसे पति को श्रेष्ठ समझना उचित है, ऐसा समझाया है। व्यक्ति और वस्तु की व्यवस्था का अर्थ होता है परिवार-कुटुंब! घर में आयी हुई वस्तु का प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व स्त्री का है। उसी प्रकार जन्म लिये हुए व्यक्ति का प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व भी स्त्री का है। यह कार्य का, श्रम का विभाजन *(Division of labour)* है। यह सब बहुत सुन्दर भाषा में लिखा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि स्त्री के सम्बन्ध में यह गुलामी वृत्ति *(slavish mentality)* है। यह पढ़नेवालों को उसमें गुलामी वृत्ति दिखायी देती है। स्त्री पुरुष एकत्र आने के बाद कोई व्यवस्था करनी हो तो ऐसे विभाग *(Division)* तो करने ही पड़ते हैं। इस प्रकार घर का प्रबन्ध स्त्री को करना है और दूसरी बात पति को श्रेष्ठ मानना उचित है। ये दो बातें हे।

अब, संस्कार देने के लिए घर में कोई व्यक्ति होना चाहिए, वह आत्मीय व्यक्ति होना चाहिए, यह हमारा पुराना मनोविज्ञान *(psychology)* है और आज के मनोविज्ञान ने भी यह बात सिद्ध की है। आज भी परिवार चलानेवाले को अपनी सन्तान के पास बैठने की पाँच मिनट की फुर्सत नहीं होती। समझ लीजिए, परिवार का प्रमुख तीन तीन फैक्ट्रियाँ चलाता है

तो वह लड़कों के पास कब बैठेगा? यदि वह लड़कों के पास नहीं बैठा तो लड़कों की उन्नति कैसे होगी? लड़के श्रेष्ठ कैसे बनेंगे? इसके लिए मानवी-स्पर्श *(Human Touch)* की आवश्यकता है। पिता केवल फीस देता है और बच्चों को स्कूल में भेजता है इससे क्या होता है? 'मेरा लड़का तीसरी कक्षा में पढ़ता है या चौथी में इसका मुझे पता नहीं है' ऐसा कहने में आज का पिता अपना गौरव समझता है। वह यह कहना चाहता है कि बाहर का कार्य सँभालते हुए घर में कोई ध्यान ही नहीं रहता। वास्तव में लड़कों को संस्कार देना आवश्यक बात है। केवल लड़कों को फीस देना, पैसा कमाना, उनके लिए पैसे रखने से ही लड़के उन्नत नहीं बनते।

पाँडीचेरी की सरकार ने तीस साल पहले एक सुन्दर प्रयोग किया था। एक सरीखे भूमि के दो टुकड़ों में पौधे लगाये थे। दोनों टुकड़ों की जमीन सरीखी, जल समान, वातावरण-आबोहवा सब एक समान! फ़र्क़ केवल इतना ही था कि एक टुकडे के पौधों को एक किसान सँभालता था। वह स्वयं काम करता था, पौधों के पास जाता था, उन पर प्रेम से हाथ फेरता था, स्वयं पानी दिया करता था। दूसरे टुकड़े में यही सब काम मशीन द्वारा किया जाता था। उस टुकड़े में मानव का प्रवेश भी नहीं था। परिणाम यह हुआ कि जिस टुकड़े में किसान देखभाल करता था वहाँ के पौधों के फलों के क़द, स्वाद, रंगरूप आदि में और जहाँ मशीन से काम लिया जाता था वहाँ के पौधों के फलों के क़द, स्वाद, रंगरूप आदि में बहुत फ़र्क था। जहाँ मानवी स्पर्श था वहाँ के पौधे के फल, मशीन द्वारा कार्य होनेवाले पौधों के फलों से अत्यधिक मधुर थे। उनका आकार भी बड़ा था। यह पाँडीचेरी सरकार का सरकारी स्तर पर किया हुआ संशोधन है।

इसी प्रकार परिवार-प्रमुख यह कहेगा कि 'मैं लड़कों की पढ़ाई का सर्वोत्तम प्रबंध करता हूँ, फीस देता हूँ, उनके लिए रसोईये द्वारा भोजन का प्रबंध करता हूँ' तो इतने से नहीं चलेगा। इसमें घर के लोगों का मन मर जाता है। घर का प्रबन्ध ऐसा करना चाहिए, जिसमें मानव-स्पर्श मिलेगा। यह प्रथम बात है। उसके बिना नहीं चलेगा।

दूसरी बात यह कही है कि पत्नी को अपने पति को श्रेष्ठ समझना चाहिए। गृहस्थाश्रम में इन दोनों बातों को भागवत ने प्रधानता दी है। पत्नी को अपने पति को श्रेष्ठ मानना चाहिए। पति और पत्नी ये दो जीवनप्रवाह हैं। दोनों जीवनप्रवाह एकत्र आनेवाले हैं। दोनों प्रवाह एकत्र होने पर भँवर निर्माण होता है, जिसमें व्यक्ति गिर जाता है। एक प्रवाह को दूसरे प्रवाह में मिल जाना है, उसी की शिक्षा परिवार में मिलती है। जहाँ एक प्रवाह दूसरे प्रवाह में नहीं मिलता है वहाँ संवादिता *(Harmony)* नहीं होती। वहाँ समझौता *(adjustment)* होता है। संवादिता व समझोते में फ़र्क़ है। संवादिता के लिए दोनों प्रवाहों को एक दूसरे में मिल जाना चाहिए। उसके लिए पत्नी को पति की आवश्यकता लगनी चाहिए यह प्रथम बात है। पति का आकर्षण लगना चाहिए यह दूसरी बात और पति श्रेष्ठ लगना चाहिए यह तीसरी बात है। पति को श्रेष्ठ मानना चाहिए। यह मनोवैज्ञानिक समस्या है। कॉलेज में दोनों साथ में पढ़ाई करते थे, दोनों में प्रेम हो गया। दोनों ने प्रेम-विवाह

कर लिया। ऐसे विवाह से एक प्रवाह दूसरे प्रवाह में विलीन नहीं हो सकता यदि पत्नी को पति की श्रेष्ठता न लगती हो तो। पति बनने के लिए भी कुछ गुण होने चाहिए, ऐसा मनु कहते हैं। आज के लोगों की दृष्टि में मनु बेकार है, पुराने जमाने का है, जंगली है, परन्तु उसे मनोविज्ञान का पूर्ण ज्ञान है।

दो जीवनप्रवाहों को यदि मिल जाना हो तो एक प्रवाह को दूसरा प्रवाह श्रेष्ठ लगना ही चाहिए तभी वह दूसरे प्रवाह में विलीन हो सकेगा, अन्यथा नहीं। पति बड़ा लगना चाहिए, दो इंच भी क्यों न हो पति ऊँचा होना चाहिए। आज भी शारीरिक ऊँचाई *(Physical height)* देखते हैं, दूसरी कोई ऊँचाई नहीं देखते, फिर कहते हैं जोड़ा अनुरूप *(Matching)* नहीं है। केवल स्थूल ऊँचाई ही नहीं देखनी है, गुणों की भी ऊँचाई देखनी चाहिए।

भागवत में स्त्रीधर्म के बारे में लिखा है-

संतुष्टा लोलुपा दक्षा धर्मज्ञा प्रियसत्यवाक्।
अप्रमत्ता शुचिः स्निग्धा पतिं त्वपतितं भजेत्।। (भा.७-११-२८)

(जो कुछ मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट रहे, किसी भी वस्तु के लिए ललचाये नहीं, सभी कार्यों में तत्पर, धर्मज्ञ हो, सत्य व प्रिय बोले, अपने कर्तव्य में सावधान रहे, पवित्रता व प्रेम से परिपूर्ण रहकर पातकरहित अपने पति की सेवा करे।)

उसमें एक पंक्ति है-**'पतिं त्वपतितं भजेत्'**- अर्थात् जो पतित नहीं है (यानी पातक-रहित है) ऐसे पति की सेवा करनी चाहिए ऐसा कहा है। हमारे में ऐसी मान्यता आ गयी है कि पति कोई भी पाप करेगा तो चलेगा, उसके सामने पत्नी को सिर झुकाना ही चाहिए।' परन्तु ऐसा कहनेवाली भागवतसंहिता नहीं है। पुराण में ऐसा वर्णन आता है कि पति वेश्या के पास जाता था। जब वह स्वयं वेश्या के पास जाने में असमर्थ हुआ तो उसकी पत्नी उसे उठाकर वेश्या के पास ले जाती है। अर्थात् पति कितना भी पतित हो, पत्नी को उसे भगवान समझना चाहिए ऐसी मान्यता पुराण में है, परन्तु भागवत ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि **'पतिं त्वपतितं भजेत्-'** अपतित (पापरहित) पति हो तो उसकी सेवा पत्नी को करनी चाहिए। भागवतकार बुद्धिशील *(Rational)* हैं, प्रगतिशील विचारक *(Advanced Thinker)* है। भागवतकार की लिखी हुई यह पंक्ति दूसरी किसी जगह आपको पढ़ने को नहीं मिलेगी।

'पति कितना ही पाप करेगा तो चलेगा, पत्नी को उसके सामने सिर झुकाना चाहिए-' यह व्यवहार कहने के लिए नहीं बैठे हैं। क्या आपको नहीं लगता कि भागवत में जो कुछ लिखा है वह बौद्धिक ऊँचाई *(Intellectual height)* का है? भागवतकार ने भी कुछ विचार किया है। **'पतिं त्वपतितं भजेत्-'** यह कुछ बीसवीं सदी में नहीं लिखा है कि जो आज के साक्षर साहित्यकार का लिखा हुआ हो!

दूसरी-वर्णव्यवस्था में एक दूसरी व्यवस्था आयी है। प्रह्लाद की लिखी हुई जो वर्णव्यवस्था है वह पढ़ने जैसी है। प्रह्लाद का लिखा हुआ संविधान *(Constitution)* इस देश में, बिना उसमें किसी सुधार के एक हजार वर्ष तक चला। उसके साथ प्रह्लाद ने एक वर्णव्यवस्था मानी है। वर्णव्यवस्था जन्मसिद्ध मानी है इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु वर्ण निश्चित करने के लिए लक्षण देखकर उस व्यक्ति का वर्ण मानना चाहिए, ऐसा कहा है। आज की पीढ़ी को यह विवाद मालूम ही नहीं है। इसका कारण आज हम चातुर्वर्ण्य व्यवस्था छोड़कर बैठ गये हैं। कोई चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का नाम लेगा तो तुरन्त उसके विरोध में खड़े हो जाते हैं। इसका कारण उसके सम्बन्ध में विचार ही नहीं करना है। सन १९३०-१९४० के बीच में यहाँ दो प्रकार का चिन्तन चलता था। एक,चातुर्वर्ण्य व्यवस्था माननी हो तो वह **'गुणकर्मविभागशः'** माननी चाहिए और दूसरा पक्ष यह कहता था कि वह जन्मसिद्ध माननी चाहिए।

भागवतकार ने स्पष्ट भाषा में लिखा है कि वर्ण निश्चित करने के लिए व्यक्ति में जो लक्षण दिखायी देंगे उनके अनुसार उस व्यक्ति का वर्ण मानना चाहिए। समझ लीजिए, एकाध व्यक्ति में ब्राह्मण के लक्षण देखने को मिले तो उसको ब्राह्मण मानना चाहिए। अर्थात् लक्षण से वर्ण निश्चित करना चाहिए। वर्णव्यवस्था गुणसिद्ध होनी चाहिए, यह सिद्धान्त है और वर्णव्यवस्था जन्मसिद्ध होनी चाहिए यह व्यवस्था है। ऐसा हमारे लोगों ने माना है। अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति को कौनसा शिक्षण देना है यह कब निश्चित करेंगे? शिक्षण तो बचपन में ही देना होता है। यदि बचपन में ही शिक्षण देना है तो बचपन में ही उसका वर्ण निश्चित होना चाहिए। वर्ण निश्चित होने पर ही उसको शिक्षण दे सकेंगे, नहीं तो शिक्षण कैसे मिलेगा?

समझ लीजिये कि एकाध व्यक्ति को शिक्षक-ब्राह्मण बनाना है तो क्या बीसवें वर्ष में उसके लक्षण देखकर वर्ण निश्चित करके उसको शिक्षक बनायेंगे? वह कैसे शक्य होगा? टॉलस्टाय तो कहता है कि मनुष्य का शिक्षण तो जब वह आठ साल का होता है तब तक ही पूरा हो जाता है, यानी आठ साल तक उसको जो शिक्षा मिलेगी वही उसकी शिक्षा है। उसके आगे उसके मन को मोड़ नहीं मिलता। उसके बाद सब जानकारी की शिक्षा *(Informative Education)* होगी। जानकारी *(Information)* भिन्न व शिक्षा *(Education)* भिन्न है। मनुष्य के जीवन को एक निश्चित मोड़ मिलना चाहिए। इसके लिए बचपन में ही उसको कौनसा शिक्षण देना है यह निश्चित हो जाना चाहिए। उसके लिए वर्णव्यवस्था जन्मसिद्ध ही माननी चाहिए। गुणसिद्ध वर्णव्यवस्था सिद्धान्त है और जन्मसिद्ध वर्णव्यवस्था व्यवस्था है ऐसी धारणा है।

भागवतकार कहते हैं कि लक्षण से वर्ण मानना चाहिए। ब्राह्मणकुल में जन्म हुआ है इसलिए वह ब्राह्मण ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। लक्षण से ही वर्ण निश्चित करना चाहिए। ऐसा होते हुए भी वर्णव्यवस्था जन्मसिद्ध मानी है। यह व्यवहार है, अन्यथा नहीं चलता।

आज हमारे कितने ही गुणमान लोग भगवान के काम के लिए सर्वस्व देकर काम कर रहे हैं, क्या वे ब्राह्मण नहीं है? उनमें क्या ब्राह्मण के गुण नहीं हैं? क्या दूसरों को खड़ा करने के, उन्नत बनाने के गुण उनके पास नहीं हैं? यदि आपको व्यवस्था रखनी होगी तो आपको जन्मसिद्ध वर्णव्यवस्था ही माननी पड़ेगी। गुणसिद्ध वर्ण यह सिद्धान्त और जन्मसिद्ध वर्ण यह व्यवस्था ऐसा वर्णव्यवस्था का वर्णन सप्तम स्कन्ध में आया है।

उसके बाद आश्रमव्यवस्था का वर्णन आता है। ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी का और साधक का जीवन कैसा होना चाहिए इसका वर्णन है। वेदाध्ययन व ईश्वर प्राप्ति के लिए गुरु होना चाहिए। गुरु कहेंगे वही करना होगा ऐसा भागवत कहता है। हमें जो मालूम नहीं है, वह जानने के लिए ही तो हम गुरु के पास जाते हैं न? फिर गुरु जो कहेंगे वह मानना ही पड़ेगा। यदि तुम यह कहोगे कि 'भले ही गुरु कहें, परन्तु हमारे दिमाग में उतरेगा तो ही हम वैसा करेंगे' तो फिर उसका उत्तरदायित्व गुरु पर नहीं आता है। गुरु को तो भिन्न भिन्न सीढ़ियों पर से तुम्हें आगे ले जाना है, तुम्हारे जीवन को मोड़ देना है, इसलिए वे कहेंगे वैसा व उतना ही करना चाहिए। तुम थोड़ा मानोगे और फिर आगे का मानना बंद कर दोगे तो क्या होगा? अतः गुरु कहेंगे वही मानना पड़ेगा।

वेदाध्ययन करनेवाला विद्यार्थी और ईश्वरप्राप्ति की इच्छा रखनेवाला साधक इन दोनों के लिए इन्द्रियदमन आवश्यक है। विषयों का चिन्तन करनेवाला, विद्यार्थी या साधक बन ही नहीं सकता। ऐसा स्पष्ट सिद्धान्त भागवत ने कहा है। ब्रह्मचर्याश्रम में विषय का चिन्तन नहीं होना चाहिए। यदि विषय का चिन्तन होता होगा तो वह ब्रह्मचर्याश्रम ही नहीं है। ब्रह्मचर्याश्रम में विद्यार्थी को उपभोग का पता ही नहीं होना चाहिए। आज तो हम स्कूल में ही लैंगिक ज्ञान *(Sexual Education)* देने की माँग कर रहे हैं। हम बहुत प्रगत *(Advanced)* बने हैं न? स्मृतिकार कहते हैं वह हमें पुराना लगता है। वे कहते हैं कि विद्यार्थी के लिए विषयों का उपभोग व उसका चिन्तन दोनों वर्ज्य हैं। विद्यार्थीदशा में पुरुष के लिए जिस प्रकार स्त्री का चिन्तन वर्ज्य माना है, वैसा ही स्त्री के लिए भी पुरुष का चिन्तन वर्ज्य माना है। इतना ही नहीं, अपितु उसके सम्बन्ध की बातें भी उसे नहीं सुननी चाहिए। गीता ने तो उसकी परम्परा ही दिखायी है-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। (गीता-२/६२-६३)

(इन्द्रिय विषयों का चिन्तन करने से मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम और काम से क्रोध होता है, क्रोध से मोह निर्माण होता है, मोह से स्मरणशक्ति भ्रमित होती है, स्मृति-भ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से अधःपतन होता है।)

जो विद्यार्थी कॉलेज में, 'मेरी पत्नी कैसी होगी, जीवनसाथी कैसा होगा' ऐसा विचार करता हो तो वह तेजस्वी विद्यार्थी कैसे बन सकता है? हमारे वैदिकों की पुरानी परम्परा के अनुसार तो पचीस वर्ष की उम्र होने तक पत्नी के सम्बन्ध में, विवाह के सम्बन्ध में उसको सोचना भी नहीं चाहिए। इतना ही नहीं, बल्कि अपरिणीत युवक को किसी के विवाह समारोह में भी नहीं जाना चाहिए। आज तो लड़का बाहरगाँव पढ़ता हो और इधर चाचा के लड़के का विवाह हो तो लड़के को तुरन्त बुला लेते हैं और लड़का भी स्कूल छोड़कर विवाह में आता है, कारण अपने रिश्तेदारों के यहाँ विवाह में जाना ही चाहिए न? मनुस्मृति कहती है कि ऐसे रिश्तेदारों के विवाह में तपोवन में पढ़नेवाले विद्यार्थी को जाने की कोई आवश्यकता नहीं है, इतना ही नहीं, तपोवन के विद्यार्थी को अपने पिता के अतिरिक्त अन्य कोई भी चाचा, मामा, मौसा या कोई सगा व्यक्ति मर गया तो उसे सूतक का भी पालन नहीं करना चाहिए, तपोवन छोड़कर जाना भी नहीं चाहिए। इसीलिए तो तपोवन में शिक्षण पूर्ण होने के बाद, समावर्तन संस्कार होने पर विद्यार्थी घर जाता था तब अध्ययनकाल में जो व्यक्ति मर गये उनका तीन दिन मृताशौच का पालन करता था। इतनी प्रगत *(Advanced)* शिक्षाप्रणाली किसी भी देश में नहीं होगी।

हमारे यहाँ धार्मिक विधि और क्रियाकाण्ड माननेवाले लोग मृताशौच को अशुभ मानते थे, परन्तु वेदविद्या का अध्ययन करने की, वैसे ही पूजा आदि करने की विद्यार्थी को छूट थी। जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम के विद्यार्थी किसी विवाह में नहीं जाता था, वैसे ही लड़की अठारह वर्ष की होने तक किसी के भी विवाह में नहीं जाती थी। आज तो दस बारह वर्ष की लड़की विवाह में जाती है, तब विचार करने लगती है कि 'जिस प्रकार ये वरवधू आज मंच पर खड़े हैं वैसे ही मैं भी किसी के साथ खड़ी रहूँगी तो कैसा रहेगा!' ऐसे विचार उसके मन में आयेंगे ही। परन्तु हम ठहरे पागल! इस बात का विचार ही नहीं करते।

सुबह में विवाह की विधि होती है तब किसी को वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं है। स्वागत समारोह में आज जिसको *Reception* कहते हैं- वर वधू को आशीर्वाद देने के लिए सगे-सम्बन्धी और स्नेहीजन आते थे। उनमें कौन होते हैं? पचीस साल से कम उम्र का कोई था ही नहीं, कारण आठ साल के बाद के सभी लड़के तपोवन में चले जाते थे। पचीस साल तक का कोई आयेगा ही नहीं और जिनका विवाह हुआ है ऐसे दम्पति जो साठ साल के अन्दर होंगे, वे ही आते थे। साठ साल से अधिक आयु के लोगों का विवाह में जाना बेकार है, और गये तो वह उनका अपमान माना जाना चाहिए। कारण वर वधू ऐसे लोगों का आशीर्वाद चाहते होंगे तो उनको उन लोगों के यहाँ जाना चाहिए। वृद्ध लोग उनके पास क्यों आयें? परन्तु आज तो ऐसे बूढ़े भी आशीर्वाद देने दौड़ते हैं और आइस्क्रीम खाते हैं। क्या यह कोई व्यवस्था कहलाती है? वृद्ध पुरुषों का आशीर्वाद लेने के लिए वर वधू जाएं ऐसी प्रणालिका है। इसका कारण वृद्ध पुरुष कोई सामान्य नहीं हैं। उन्हें भी मालूम होना चाहिए कि हम इस विश्व के मानार्ह व्यक्ति *Senior citizens of the world*- हैं। प्राचीन काल में ऐसी पद्धति थी।

पचीस वर्ष से कम तथा साठ वर्ष से अधिक उम्र के लोग तो विवाह में रहते ही नहीं। पचीस से अधिक उम्र के लोग एक दूसरे की मसखरी करते हों, आनन्द प्रमोद करते हों और आइसक्रीम खाते हों, वही सच्चा विवाह है। प्राचीन काल में विवाह समारोह की ऐसी व्यवस्था थी। उसके पीछे मानसशास्त्र का ज्ञान था।

उसके बाद, ब्रह्मचर्याश्रम के विद्यार्थी और साधक-दोनों का आचरण कैसे होना चाहिए वह लिखा है। उसमें प्रमुख बात यह है कि गुरु का कहना मानना चाहिए। यह तो सिद्धान्त ही है, इसका कारण अज्ञात मार्ग से जाना हो तो उस मार्ग से जो लोग गये हैं, उनका कहना मानना ही चाहिए। दूसरी बात, उनके पास इन्द्रियनिग्रह व इन्द्रियदमन होना चाहिए। विषयों में पड़ा हुआ मनुष्य विद्यार्थी हो ही नहीं सकता ऐसी भागवत की मान्यता है। विद्यार्थी को विषयचिन्तन करना ही नहीं चाहिए।

जो अभ्यासु लोग हैं उनके लिए भी एक बात है, वह कहता हूँ। सातवें स्कन्ध के बारहवें अध्याय में कहा है:-

सायं प्रातरुपासीत गुर्वग्न्यर्कसुरोत्तमान्।
उभे सन्ध्ये च यतवाग् जपन् ब्रह्मसमाहितः।। (भा. ७/१२/२)

(सायंकाल व प्रातःकाल गुरु, अग्नि, सूर्य और श्रेष्ठ देवताओं की उपासना करें और मौन होकर एकाग्रता से गायत्री का जप करते हुए दोनों समय की सन्ध्या करें।)

'उभे सन्ध्ये' लिखा है, त्रिकाल सन्ध्या नहीं, जैसे हम त्रिकाल सन्ध्या कहते हैं। भागवत में स्पष्ट भाषा में **'उभे सन्ध्ये'** (प्रातःकाल व सायंकाल) ऐसा लिखा है। हमारे में ऐसी भावना आ गयी थी कि मध्याह्न, सन्ध्या व त्रिकाल सन्ध्या करनी चाहिए, परन्तु भागवतकार को यह मान्य नहीं थी। इसका अर्थ यह नहीं कि भागवतकार को त्रिकाल सन्ध्या मान्य नहीं थी। उन्होंने दो समय सन्ध्या करने का आग्रह रखा है।

उसके बाद, सबके निर्वाह का प्रश्न आया है। नारद ने युधिष्ठिर को निर्वाहार्थ वर्णव्यवस्था समझायी है। वर्णव्यवस्था में उच्च-नीचता नहीं है। सभी का योगक्षेम-निर्वाह अच्छी तरह से चलना चाहिए। इतना ही नहीं, अपितु **आपत्सु सर्वेषामपि सर्वदा...** आपत्ति में कोई भी वर्ण कोई भी धन्धा कर सकता है ऐसा लिखा है। धर्माधर्म का वर्णव्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है। जो वर्णव्यवस्था नहीं मानते हैं वे अनाध्यात्मिक *(Non- spiritualistics)* हैं ऐसा नहीं है और जो वर्णव्यवस्था मानते हैं वे आध्यात्मिक *(Spiritualistics)* हैं ऐसा भी नहीं है। वर्णव्यवस्था भौतिक जीवन की पद्धति है।

भौतिक जीवन शान्तिपूर्वक चलना चाहिए इसीलिए वर्णव्यवस्था है। सम्पूर्ण समाज जब शान्त होता है तब एकाध व्यक्ति चित्त एकाग्र करके भक्ति कर सकता है और जीवन-विकास साध्य कर सकता है। इसलिए सम्पूर्ण समाज की शान्ति अपेक्षित है। वर्णव्यवस्था में कोई धार्मिक या आध्यात्मिक भावना नहीं है, उसमें भौतिक भावना है। आज हम ऐसा समझते हैं कि जो वर्णव्यवस्था को मानते हैं वे धार्मिक हैं। यह सब ठीक नहीं है।

नारद ने युधिष्ठिर से जो कहा उसे पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि उसमें भारतीय समाजवाद का चित्रण है। उनका कहना है कि पर्जन्यशक्ति से मिलने वाला अनाज और भूमि में से निकलने वाले खनिज पदार्थ- सोना, रूप, लोहा, कोयला आदि- ईश्वरनिर्मित हैं, उस पर किसी व्यक्ति का स्वामित्त्व नहीं है। वह सब **अच्युतनिर्मितम्** है। मुझे ऐसा लगता है कि कट्टर साम्यवादी भी ऐसा नहीं कहता होगा। ऐसी विचारधारा भागवत में है।

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ।। (७-१४.८)

(मनुष्यों का अधिकार केवल उतने ही धन पर है, जितने से उनकी भूख मिट जाय। इससे अधिक सम्पत्ति को जो अपनी मानते हैं, वह चोर है, उसे दण्ड मिलना चाहिए।) अब इसमें मनुष्य की आवश्यकता कितनी? यह प्रश्न है। जितना चाहिए उतना ही हम रख सकते हैं, उससे ज्यादा नहीं! 'जो भूमि में मिला है वह **अच्युतनिर्मितम्** है अत: **'यथावत् कामान् संविभजेत्'** आवश्यकता के अनुसार विभाजन करके दो, ऐसा भागवत में लिखा है।' मैं इससे आगे जाकर कहता हूँ, आपको आश्चर्य होगा, परन्तु किसी भी विचार में जब अतिरेक आ जाता है तब किधर तक चले जाते हैं, इसका यह उदाहरण है। आज के साम्यवादी *(Communist)* लोग भी इस विचार के हैं। एक बहुत प्रभावी विचार ऐसा है, जैसा कि भागवत में लिखा है, **'यथावत् कामान् संविभजेत्'** इसमें, 'यह मेरी है' ऐसा अभिमान निर्माण करनेवाली पत्नी भी **'संविभजेत्।'** ऐसा कहती है। समझे होंगे तो अच्छी बात है, नहीं समझे होंगे तो छोड़ देता हूँ। पाश्चात्य समाजवाद में अभी तक स्त्री सभी की होनी चाहिए ऐसी भावना है। उस समाजवाद का जिसने अभ्यास किया होगा उसके ध्यान में आयेगा कि यह एक प्रभावी विचारधारा है कि स्त्री एक व्यक्ति की नहीं हो सकती। मार्क्स, एन्जल आदि के चले जाने के बाद स्त्री सम्पत्ति *(Property)* होती है या नहीं यह प्रश्न खड़ा हो गया। वे लोग अब इस सम्बन्ध में मौन धारण करते हैं, परन्तु साम्यवादी *(Communist)* विचारधारा जिन्होंने अथ से इति तक पढ़ी होगी उन्हें मालूम होगा कि स्त्री सभी की होनी चाहिए ऐसा विचार उसमें है, क्योंकि स्त्री सम्पत्ति है या नहीं यह प्रश्न है न? इस प्रश्न के सम्बन्ध में जब विकसित विचारधारा *(Advanced Thinking)* आ गयी तब स्त्री को संपत्ति मानना बेकार है ऐसा लिखा हुआ है तब उन्होंने इस सम्बन्ध में मौन धारण किया, वे गूँगे बन गये, परन्तु पाश्चात्य समाजवाद में स्त्री सभी की होनी चाहिए। ऐसी अतिरेकी विचारधारा दिखायी देती है।

स्वामित्व की भावना निकालने की जो भाषा है वह अपूर्व व अनर्थकारक है ऐसा साम्यवादी लोग *(communist)* कहते हैं। मुझे इतना ही कहना है कि वह अनर्थकारक है इसमें सन्देह ही नहीं, परन्तु वह अपूर्व नहीं है। वह पुराने समय में भी थी। जिन्होंने साम्यवाद नहीं पढ़ा होगा उन्हें इस बात की जानकारी नहीं होगी। आज तो साम्यवाद का अर्थ लोग इतना ही समझते हैं कि मजदूरों *(workers)* को बोनस देना या नहीं देना इसका विचार उसमें है, परन्तु वह एक सम्पूर्ण विचारधारा है। वह मानवजीवन की विचारधारा है।

हम साम्यवाद का अभ्यास नहीं करते, कोई उसे नहीं पढ़ता, फिर सभी अपने को साम्यवादी *(communists)* मानते हैं। कदाचित् *communist* शब्द अधिक लगेगा इसका कारण वह एक राजनीतिक पार्टी का शब्द हुआ है, इसलिए मैं समाजवादी *(Socialist)* शब्द कहता हूँ। हम समाजवादी जीवनपद्धति *(Socialistic Pattern of Life)* माननेवाले लोग हैं। भारतीय समाजवाद भगवान को केन्द्र में रखकर खड़ा रहा हुआ वाद है। पाश्चात्य समाजसत्तावाद रोटी को केन्द्र में रखकर खड़ा हुआ वाद है, परन्तु दोनों की भाषा एक है। उसके कारण हमारे जैसे लोगों को उसे पढ़कर कुछ मानसिक परेशानी भी होगी। ऐसी स्थिति भागवतकार ने लिखी है। यह पत्नी 'मेरी है' ऐसी स्वामित्व की भावना पत्नी के सम्बन्ध में होती है, वह अक्षम्य है।

आश्वाघान्तेऽवसायिभ्यः कामान् संविभजेद्यथा।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः'

यह बहुत ही कठिन लगता है। कोई भी विचारधारा जब अतिरेकी बनकर अन्तिम कक्षा *(Extreme)* में जाती है, तब लोग कितना आगे जाते हैं यह इसमें दिखायी देता है। वह विचारधारा पुराने समय की हो या आज की हो, यह प्रश्न नहीं है। विचार को अतिरेकी रखना या नहीं? यही कृष्ण भगवान का प्रश्न है।

'हम इक्कीस दिन तक नहीं खायेंगे- उपवास करेंगे-' तो हम आध्यात्मिक हैं, वैसे हम सुबह से शाम तक खाते ही रहेंगे- वह भी प्रसाद समझकर! तो भी हम आध्यात्मिक हैं। ये दोनों बातें कृष्ण भगवान ने नामंजूर कर दी हैं। वे कहते हैं:-

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। (गीता ६/१६-१७)

अधिक भोजन करना या बहुत कम खाना दोनों बेकार हैं। अतिरेकी विचार *(Thinking)* किस रास्ते पर ले जाते हैं। इसका दर्शन इस स्कन्ध में यहाँ भारतीय समाजसत्तावाद में होता है।

इसके बाद सत्पात्र का वर्णन किया है। आपके पास जो कुछ है उसमें से आपको किसी को देना पड़ेगा। मरते समय किसी को नहीं तो अन्त में लड़के को तो देंगे ही। इस प्रकार हमारे पास जो कुछ है वह किसी को देना पड़ेगा ही। तो किसको देंगे? किस तरह से देंगे? यह प्रश्न निर्माण होता है। दो लोग आ गये तो लेना-देना आता ही है। मुझे कुछ लेना है और दूसरे को कुछ देना है। आदान-प्रदान का अर्थ ही जीवन है।

इस आदान-प्रदान में सत्पात्र कौन? इसके सम्बन्ध में विचार किया है। सत्पात्र कौन? ऐसा विचार करेंगे तो सभी में भगवान हैं अतः सभी सत्पात्र हैं यह भागवत की प्रथम

धारणा है। सभी में भगवान हैं तो सत्पात्र कौन? यह भाषा ही नहीं बोलनी है! फिर भी कहना ही हो तो तप, विद्या और सन्तोष इनसे जो युक्त हैं वे सत्पात्र हैं ऐसा समझो। अपनी कमाई में से कुछ भी देना हो तो वह सत्पात्र को देना चाहिए।

तप का अर्थ क्या है? जीवन में कुछ ध्येय हो तो उसके लिए जो सुख-दुःख सहना पड़ता है उसको तप कहते हैं। उसके लिए ध्येयनिष्ठ जीवन होना चाहिए तभी तप होता है। जो कुछ खाता नहीं हैं अथवा दीर्घ समय तक धूप में या पानी में खड़ा रहता है उसे तप नहीं कहते। **'तपो द्वन्द्वसहनम्'** जीवन में ध्येय रखकर उसके लिए जो सुख-दुःख सहन करता है वह तपस्वी है। दूसरी बात, जो काम हाथ में लिया है उसको जो सातत्य से करता है वह तपस्वी है। सनक में आकर कोई किसी को दे देता है अथवा एकाध काम करता है वह तपस्वी नहीं है। 'मैंने सतत, बीस साल तक नियमित रूप से अमुक अमुक (वित्त, समय, शक्ति) दिया है' ऐसा कह सकूँ तो मैं तपस्वी हूँ। कार्य में सातत्य होना चाहिए तभी तप का कुछ अर्थ है। तप के अलावा जीवन में जिसके पास विद्या और सन्तोष है वह सत्पात्र है ऐसा भागवतकार कहते हैं।

मान लीजिये तप, विद्या और सन्तोष से परिपूर्ण एकाध व्यक्ति भी न मिला तो क्या करना? यहाँ भगवान की प्रतिमा का वर्णन आ गया! सातवें स्कन्ध में कहते हैं कि प्रतिमा यानी मूर्ति को सत्पात्र समझो और उसके सामने रख दो। प्रतिमा देनी है। मैंने भगवान को दिया है, उसमें ऐसी मान्यता है।

देना है, लड़की भी देनी है। मैंने पाल पोषकर बड़ी की है वह लड़की किसी के हाथ में देनी है। मैं एक जीव को दूसरे जीव के हाथ में सौंपता हूँ। जिसके हाथ में सौंपना है उसमें कितना पशुत्व है किसे मालूम? विचारवान माता-पिता को लड़की किसी के हाथ में सौंपते हुए कितनी व्यथा होती होगी? ऐसा समझकर कन्यादान करते समय कुछ नहीं होता। विचारवान मनुष्य कहता है, 'मैं प्रामाणिक हूँ, मैंने एक जीव का पोषण ठीक तरह से किया है। भगवान! मैं उसे किसके हाथ में दूँ?' हमारे शास्त्रकारों ने कहा है कि तुम्हें जिसके हाथ में कन्या देनी है, उसको व्यक्ति नहीं समझना, अपितु **'विष्णुस्वरूपाय वराय तुभ्यं संप्रददे'** ऐसा कहकर संकल्प करो और दे दो। उस दिन, इसीलिए लड़की के माता-पिता जामात को विष्णु समझकर नमस्कार करते हैं। उसमें मैंने **विष्णुस्वरूपाय वराय**-विष्णु को दी है। वह विष्णु कैसे निकलेगा मुझे मालूम नहीं है।

सत्पात्र न मिला तो क्या करना? इसलिए भगवान की प्रतिमा-मूर्ति आ गयी। भगवान को दे दो। वह मन्दिर की कल्पना है। मन्दिर में भगवान को जो पैसा देना है, उसका अर्थ यह है कि, अपनी कमाई का भाग निकालकर देना है जो अपना नहीं है। वह **अच्युतनिर्मित'** है उसे मैंने भगवान के सामने रख दिया है। उसमें से गरीबों को देना है। वह भगवान देते हैं ऐसा समझकर देने का काम मन्दिरों की व्यवस्था देखनेवालों का है। नहीं तो क्या भगवान भिखारी हैं कि उनके सामने पाँच पैसे रखते हो? इसका अर्थ यह हुआ कि एक भिखारी मन्दिर के बाहर खड़ा है और दूसरा मन्दिर के भीतर खड़ा है।

भगवान को आप भीख देते हैं या उनका भाग? भगवान के सामने आप जो पैसा रखते हैं वह आपकी कमाई में से भगवान का भाग है। हम उसका प्रबन्ध अच्छी तरह से नहीं कर पाते, परन्तु मन्दिर की व्यवस्था देखनेवाले लोग उसका प्रबन्ध ठीक करेंगे इस विश्वास से भगवान के सामने उनका भाग रखना है। यही हमारी मन्दिर की सच्ची कल्पना है। मन्दिर गाँव का सामाजिक-आर्थिक केन्द्र *(Socio-economic centre)* है। पूजा तो घर में करनी होती है, मन्दिर में नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि मन्दिर में पूजा नहीं करनी है, वह तो करनी ही है।

मन्दिर किसलिए हैं? सामाजिक अन्याय *(Sociw injustice)* न हो इसलिए मंदिर है। ऐसा एक स्थान होना चाहिए कि जहाँ भगवान के सामने भगवान का भाग रखेंगे। प्रतिमा सत्पात्र है। प्रतिमा के सामने रखे हुए भाग को उठाकर प्रतिष्ठित प्रभावी लोगों के हाथ में सौंप देंगे और वे लोग, जो गरीब हैं उनके पास प्रभु के प्रसाद के रूप में पहुँचा देंगे। ऐसी मन्दिर के पीछे की भावना है। इस दृष्टि से स्वाध्याय-परिवार कुटिर मन्दिर-अमृतालयम् बनाते हैं। अलग अलग गाँवों में ऐसे मन्दिर बनाये हैं। वे कहाँ तक सफल होंगे यह भगवान को मालूम! परन्तु गाँववाले अपनी कमाई का भाग भगवान को अर्पण करते हैं। प्रसाद के रूप में वह, गाँव में जो, जरूरतमन्द हैं उनके घर में पहुँचाते हैं। भगवान का प्रसाद है, किसी का दिया हुआ आर्थिक दृष्टि से कमजोर नहीं, अपितु भगवान का दिया हुआ है। कितना भव्य विचार है मन्दिर के पीछे! मन्दिर यह भारतीयों की एक पवित्रतम भावना है। विचार समझाने के लिए, आचार जानने के लिए, तेजस्विता खड़ी करने के लिए मन्दिर हैं। इसमें कोई किसी की ओर दीन दृष्टि से नहीं देखेगा। लेनेवाला भी 'भगवान का प्रसाद ले रहा हूँ' इस भावना से लेता है, अतः उसके मन में भी दीनता का भाव नहीं आयेगा, वह लाचार नहीं बनेगा। कारण किसी का धन मेरे घर में नहीं आया है। भगवान का धन आया है। उसमें मेरा भी भाग भगवान को अर्पण किया हुआ है। कितनी भव्य व श्रेष्ठ कल्पना है यह! मुझे तो लगता है कि मन्दिर की कल्पना के जैसी श्रेष्ठ कल्पना विश्व में किसी के पास नहीं होगी जो इस भारत में थी।

सप्तम स्कन्ध में मूर्ति की, प्रतिमा की कल्पना आयी है। उसके बाद इसी प्रकरण में भागवतकार ने श्राद्ध का आग्रह रखा है। जीवित व्यक्ति को तो सँभालना ही चाहिए, परन्तु मृत पितरों को पिण्ड देने चाहिए, उनका स्मरण करना चाहिए। गृहस्थों के लिए भागवतकार ने श्राद्ध का आग्रह रखा है। मृत्यु के बाद भी जीवन का सातत्य रहता है। मृत पितर जीवन का सातत्य *(Continuity of life)* हैं, वे कहाँ भी (किसी भी योनि में) गये हों, उनके प्रति कृतज्ञता होनी चाहिए। जिनके माध्यम से मैं इस जगत् में आया, जिन्होंने मुझे पाला-पोसा, बड़ा किया उनका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना चाहिए, वह जो नहीं करेगा वह गृहस्थ नहीं हैं, ऐसा भागवतकार का कहना है।

भारतीय संस्कृति में श्राद्धविधि अलौकिक है। जो मुझे इस जगत् में लाये उनका श्रद्धापूर्वक स्मरण करना चाहिए। दूसरी बात, मुझे भी एक दिन इस जगत् से जाना है

इसका ध्यान रखना चाहिए। मैं जिस प्रकार किसी का श्राद्ध करता हूँ, वैसा मेरा भी कोई श्राद्ध करेगा। मैं इस जगत् में कायम रहनेवाला नहीं हूँ यह भावना निरन्तर जागृत रहनी चाहिए, इसीलिए श्राद्ध का आग्रह है।

श्राद्ध का एक कर्मकाण्ड भी है और वह बौद्धिक *(Rational)* है। परन्तु इस विषय में हम गहराई में जायेंगे तो बाहर निकलना मुश्किल होगा, कारण हमारे पास इतना समय नहीं है। श्राद्ध की विधि अलौकिक है। जिस प्रकार, किसी का लड़का अमेरिका में जाकर रहता है, वह अमेरिका से अपने पिता को यहाँ मनिऑर्डर भेजता है तो यहाँ की सरकार उसका रुपयों में रूपान्तर करके वह रकम उसके पिता को देती है, वैसी ही व्यवस्था की कल्पना श्राद्ध में है। श्राद्ध में तुम जो कुछ देंगे वह तुम्हारे पिता जिस योनि में होंगे वहाँ उन्हें रूपान्तरित करके मिल जायेगा। समझ लीजिये किसी का पिता दूसरे जन्म में बैल की योनि में पैदा हुआ और जिस दिन उसका लड़का अपने पिता का श्राद्ध करेगा वह हरे घास में रूपान्तर होकर उसके पिता को मिल जायेगा। हमारे जीवन में भी कितनी ही बार ऐसा होता है कि एकाध दिन हम अकस्मात् खुशी में आ जाते हैं। बहुत खुशी में! मालूम नहीं क्यों खुशी है? कुछ खाया नहीं, कुछ देखा नहीं, कुछ सुना नहीं, फिर भी खुशी ही खुशी होती है, भीतर से भी खुश रहते हैं, तब समझ लेना कि पिछले जन्म का अपना कोई लड़का होगा, उसने श्राद्ध किया होगा। इसलिए श्राद्ध का आग्रह रखा है।

श्राद्ध की विधि भी बहुत सुन्दर है, वह भागवत में लिखी हुई है! श्राद्ध के दिन दो ब्राह्मण बिठाये जाते हैं। उस दिन, उस समय में ब्राह्मणों को ब्राह्मण के रूप में नहीं अपितु भगवान के प्रतिनिधि के रूप में खिलाना है। पिता, पितामह व प्रपितामह के रूप में उन पर आरोपण करना है। जिस प्रकार मिट्टी की मूर्ति बनाकर उसपर हम गणपति का आरोपण करते हैं, उसी प्रकार उन ब्राह्मणों पर हमारे पितरों का आरोपण करना है और फिर उनको जिमाना है। श्राद्धविधि आप पढ़ेंगे तो आपको अच्छी लगेगी।

श्राद्ध की विधि इतनी संवैधानिक है कि श्राद्ध में बैठे हुए ब्राह्मण को उस समय दक्षिणा नहीं देनी है, कारण उस समय वे हमारे पितर-पिता, दादा, परदादा होते हैं, उनको कैसे दक्षिणा दें? वे जब भोजन करके, बाहर आते हैं तब ब्राह्मण बन जाते हैं तब उन्हें उनके जो तीन घण्टे का समय लिया है उसकी मजदूरी देनी है। उनको भिक्षा नहीं माँगनी है।

श्राद्धविधि में जो प्रतिवचन हैं वे भी अत्यन्त संवैधानिक हैं। पितरों को श्राद्ध में बुलाते हैं तब उनके लिए जो रसोई बनायी जाती है वह अधिक होती है। पितरों का भोजन होने के उपरान्त शेष अन्न का क्या करें? ऐसा प्रश्न यजमान पूछता है तब ब्राह्मण प्रतिवचन में कहते हैं, **'इष्टैः सह भुज्यताम्'** इष्ट मित्रों के साथ भोजन करो।'

श्राद्ध में आये हुए पितरों को आपने बुलाया है। भोजन के समय आप उनसे प्रार्थना करेंगे कि जो कुछ चाहिए, मांग लीजिए। तब वे कहेंगे कि 'जलेबी दो' तो क्या करेंगे? जलेबी तो नहीं बनायी है, अत: वह कैसे देंगे? आपके मुँह से निकले हुए शब्द असत्य

होंगे। अतः प्रार्थना के शब्द भी विधि में लिखे हुए हैं। परोसी हुई थाली की ओर निर्देश करते हुए कहते हैं कि **'विद्यमान शाकपाकादिपदार्थेषु, यद्रोचते तद्ग्राह्यं यत्र रोचते तत्त्याज्यं, सुखेनैव भोक्तव्यम्।'** विद्यमान व्यंजनों में से जो रुचिकर होगा उसका स्वीकार कीजिए, शेष छोड़ दीजिए, सुखपूर्वक भोजन कीजिए। श्राद्धविधि पढ़ने पर आपको लगेगा कि हमारे पूर्वज कितने अक्लमन्द थे।

उसके बाद सातवें स्कन्ध में तीर्थयात्रा का भी आग्रह है। जहाँ भगवान का नाम लिया जाता है, जहाँ भगवान का काम चलता है, जहाँ से भगवान का काम करने की प्रेरणा मिलती है वह स्थान.पवित्र है, तीर्थ है।

आप काशी का इतिहास पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि काशी पवित्र क्यों मानी जाती है? काशी की एक कहानी है। वह काशी आज नहीं रही है। **'काशीमरणान्मुक्तिः'** ऐसा भारत के कोने कोने में लोगों को लगता था। क्यों? भारत के किसी भी कोने में रहनेवालों के पास कुछ लोग जाते थे। भगवान के विचार जीवनस्पर्शी विचार उन्हें समझाते थे। उनसे वे कुच्छ नहीं लेते थे। चाहे केरल के किनारे झोपड़ी में बैठे हुए लोगों के पास कोई गये होंगे तब उसे लगा होगा कि ये लोग मेरी झोपड़ी में क्यों आये होंगे? उसने पूछा होगा, "आप लोग क्यों आये हैं? आपको भेजनेवाला कौन है?' उन लोगों ने कहा होगा," हम काशी से आये हैं, वह वाराणसी है। 'वारणा और असी' के बीच में जो स्थान है, उसे वाराणसी कहा जाता है। वहाँ से हजारों लोगों को प्रेरणा मिलती है, उस प्रेरणा से हम लोग यहाँ आये हैं, आपको विचार देने के लिए, प्रभु के विचार समझाने आये हैं।' तभी लगों के दिमाग में बैठ जाता था। उन्हें लगता, "जो कुछ माँगते नहीं, चाय भी नहीं लेते, स्वयं अपना खाना खाते हैं और प्रभु का काम करते हैं ऐसे लोग जिस भूमि से निकले होंगे वह भूमि पवित्र होगी, जब हमारी मृत्यु आयेगी तब काशी-वाराणसी में जाकर रहेंगे' ऐसी एक अभिलाषा लोगों के मन में निर्माण होती थी।

नर्मदा के तट पर याज्ञवल्क्य ने भी ऐसा ही तप किया था, इसलिए नर्मदा पवित्र है। ऐसे पवित्र क्षेत्रों तथा पवित्र नदियों की सूची भागवतकार ने दी है। तीर्थयात्रा करने का यही महत्त्व है।

आज ये सब बातें खत्म हो गयी हैं। अब तो रूढिग्रस्त यात्रा चल रही है। अब तो कुछ करना नहीं होता, वापसी टिकट खरीदकर लोग तीर्थयात्रा कर आते हैं। यह क्या तीर्थयात्रा है? इसमें भी व्यापारी बीच में किसी स्टेशन से ही ट्रंक कॉल करके पूछता है कि बाजार भाव कौनसा है?

यात्रा का अर्थ है- स्वविकास के लिए घूमना, घर घर जाकर प्रभु के विचार, प्रभुमान्य जीवन समझाना! ऐसी तीर्थयात्रा स्वाध्याय परिवार ने कुरुक्षेत्र में की, महाराष्ट्र में पैठण में की, वैसे ही बद्रीनाथ की तीर्थयात्रा की। चारों तरफ के गाँवों में एक भी घर, एक भी झोपड़ी ऐसी नहीं रखी जहाँ हमारा स्वाध्यायी नहीं गया हो और जीवनस्पर्शी प्रभु के विचार नहीं समझाये हों। सात-सात दिन स्वाध्यायी घूमे, कुछ कहकर आये। गाँव के लोगों की झोपड़ी में रहे,

सूखी रोटी खाकर रहे। फिर आठवें दिन बद्रीनाथ की पूजा करने गये। इसी कारण तो हजारों वर्षों की परम्परा को तोड़कर वहाँ के पुजारी-रावल को अलकनन्दा को लाँघकर आना पड़ा। बद्रीनाथ ने भेजा उन्हें! जाओ! आज तक आया है कोई ऐसा तीर्थयात्रा करने के लिए? उन्होंने परम्परा तोड़ दी और तीर्थयात्रा के मण्डप में मिलने आये! यह ऋषि का रास्ता है। स्वाध्याय परिवार इस रास्ते से जा रहा है। इसीको यात्रा कहते हैं।

ऐसी तीर्थयात्रा करनी चाहिए, ऐसा भागवतकार आग्रह रखते हैं। अभी, थोड़े समय पूर्व महाराष्ट्र के अन्तिम किनारे पर जहाँ भौतिक विचारधारा प्रभावी है, वहाँ मराठी भाषी मच्छीमार अलग-अलग स्थानों में बसे हुए हैं। उनमें हमारे स्वाध्याय परिवार के सैंकड़ों भाई गये। उनसे मिले, माँझी लोगों से मिले, उन्हें विचार समझाये, ऊष्मा दी। उनसे ऊष्मा ली। वे मच्छीमार हैं तो क्या हुआ? क्या वे मानव नहीं हैं? अरे! आज वे मच्छीमार सौ सौ संस्कृत श्लोक कंठस्थ करके गाते हैं, और इधर हमारी मुंबई विद्यापीठ यहाँ बैठे-बैठे चर्चा करती हैं कि संस्कृत भाषा मृत भाषा *(dead language)* है, कठिन भाषा है! इसलिए हम लोगों को नहीं आयेगी। जिन्हें बैठकर चर्चा ही करनी है उनकी बात अलग है। हमारे मच्छीमार सौ-सौ श्लोक कण्ठस्थ करके गाते हैं। मुंबई के जो सफेदपोश लोग हैं उनको कितने श्लोक कंठस्थ हैं? होंगे तो गाकर दिखायें!

हम भक्ति का अर्थ इतना ही समझते हैं- आरती और प्रसाद! इतना किया कि हो गयी भक्ति पूरी! भक्ति का अर्थ ऐसा नहीं है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ रिश्ता, सम्बन्ध जोड़ता है। इस तीर्थयात्रा में पचीस हजार मराठीभाषी मच्छिमार एकत्रित हुए थे। किसने किया यह काम? यह असली ब्राह्मणों ने किया है। ऐसा ब्राह्मणपूजन समझाया है। तीर्थयात्रा समझायी है। तीर्थयात्रा करनेवालों को भूदेव समझकर उनका पूजन समझाया है। ये लोग अपना भौतिक लाभ उठा सकते थे, परन्तु अपना भौतिक लाभ छोड़कर ये लोग गाँव-गाँव और झोपड़ी-झोपड़ी में गये। क्या ये ब्राह्मण नहीं हैं? यदि ये ब्राह्मण नहीं होंगे तो फिर ब्राह्मण कौन हैं? इसे तीर्थयात्रा कहा जाता है।

इस रूप में यदि तीर्थयात्राएं होती रही तो मानवी जीवन में प्रकाश आयेगा। आज अन्धकार छा गया है, दुर्गन्ध आती है, वह सब दूर हट जायेगा। परन्तु हमारी तीर्थयात्रा ही अलग है। विश्रामघाट में स्नान करना है, उससे मुक्ति मिल जायेगी ऐसा समझकर उस कीचड़ में जाकर हम स्नान कर आते हैं। इसी कारण भागवतकार को तीर्थयात्रा का वर्णन करना पड़ा है और सच्ची तीर्थयात्रा का आग्रह रखना पड़ा है। हमारे स्वाध्याय परिवार ने सच्चे अर्थ में सौ से भी अधिक तीर्थयात्राएं भारतभर में की हैं।

उसके बाद गृहस्थाश्रम के लिए लिखा है कि उसका जीवन सन्तोषपूर्ण होना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को आठ घण्टे काम करना चाहिए और उससे जो प्राप्ति होगी उसमें सन्तोष मानना चाहिए। यदि हमारा मानसिक सन्तोष *(psychological satisfaction)* नहीं होगा तो हमारा जीवन समाप्त हो जायेगा, और समाज भी खत्म हो जायेगा। हमें कितना भी मिलता होगा फिर भी हम असन्तुष्ट ही रहते हैं क्योंकि हमें अधिकाधिक समृद्ध बनने की

इच्छा होती है, हम आगे का देखते हैं। जरूर देखना चाहिए, क्यों नहीं? परन्तु निश्चित करना चाहिए कि मुझे आर्थिक व्यवहार के लिए आठ घंटे देने हैं, ज्यादा नहीं! उससे जो मिलेगा, उसे मैं स्वीकार करूँगा।

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानां इतश्चेतश्च धावताम्।।

(सन्तोषरूपी अमृत तृप्त, शान्त चित्तवाले व्यक्ति को जो सुख प्राप्त होता है वह सुख धन के लोभ से इधर-उधर दौड़नेवाले को कहाँ से प्राप्त होगा?)

मुख्य बात सन्तोष चाहिए। गृहस्थाश्रम में वित्त चाहिए, रेडियो, टी.वी. चाहिए, उनके साथ सन्तोष भी चाहिए। सन्तोष नहीं होगा तो हम अस्वस्थ-अशान्त रहेंगे। जहाँ सम्पूर्ण समाज अस्वस्थ और अशान्त है, वहाँ समाज की आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक तथा भौतिक उन्नति भी नहीं होती। इस अध्याय में सन्तोषपूर्ण जीवन समझाया है।

सन्तोष कहाँ से लायेंगे? वह कौन से बाज़ार में मिलता है? सन्तोष मिलता ही नहीं? जीवन के अन्तिम श्वास तक वह मिलता ही नहीं। मस्तिष्क में पैसे का ही विचार चलता है। पैसा नहीं कमाना ऐसा नहीं है, परन्तु उसके लिए आठ घण्टों का समय दो। उससे अधिक समय मैं नहीं दूँगा, मुझे भी जीवन है, मृत्यु के बाद भी जीवन है। **धर्मार्थं कामार्थं सममेव सेव्यः**। हमारे शास्त्रकार धर्म, अर्थ, काम के लिए छ छ घण्टे देने को कहते हैं, और शेष छ घण्टे नींद के लिए रखने को कहते हैं। ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। अर्थ के लिए और दो घण्टे धर्म के लिए दो और आठ घण्टे अर्थ के लिए रखो, फिर जो मिलेगा उसमें सन्तोष मानो।

सन्तोष का अर्थ यह नहीं है कि कुछ करना ही नहीं। परन्तु अन्तिम साँस तक क्या पैसे का ही विचार करते रहना चाहिए? एक शेअर बाज़ार का व्यापारी था। उसको बुखार आया। बुखार बहुत बढ़ गया, अन्तिम साँस चल रही थी। कभी होश में आ जाता तो कभी बेहोश हो जाता था। लड़कों ने डॉक्टर को बुलाया। व्यापारी बेहोश था। डॉक्टर ने बुखार देखा। लड़कों ने पूछा, "कितना है?' डॉक्टर ने कहा, "एक सौ पाँच है। उसी समय व्यापारी होश में आया और डॉक्टर के शब्द कानों में पड़े। उसने तुरन्त कह दिया, 'एक सौ दस होगा तब बेच दो।' अरे! एक सौ दस बुखार होने पर तू भी नहीं रहेगा। परन्तु उस व्यापारी ने जीवन में पैसा-बाज़ार इसके सिवाय दूसरा कुछ सोचा ही नहीं। क्या करेगा बेचारा? **'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्'** यह क्या मज़ाक की बात है? उसके लिए सन्तोषयुक्त जीवन की आवश्यकता है। सन्तोषयुक्त जीवन यानी कर्ममन्द जीवन नहीं! कर्मप्रवण भी सन्तोषी रह सकता है। इसीलिए तो **'स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम्'** कहा है। स्वाध्याय नियमित होना चाहिए।

एक भी मन्दिर ऐसा नहीं होना चाहिए, जहाँ वैदिक तत्त्वज्ञान का स्वाध्याय न चलता हो। मन्दिर में केवल मूर्ति है इसलिए वहाँ भगवान होते हैं ऐसा नहीं है। जहाँ स्वाध्याय

नहीं चलता है उस मन्दिर में भगवान रह ही नहीं सकते, ऐसा शास्त्र कहता है। इसका कारण- **यस्य निश्वसितं वेदाः**। वेद भगवान के श्वासोच्छ्वास हैं। वेद, उपनिषद, गीता का जहाँ स्वाध्याय नहीं चलता है वह मन्दिर, मन्दिर नहीं है। इतना प्रभावी लिखा है। परन्तु पढ़ता कौन है? और पढ़ना किसे है? जानना भी किसे है? जिसे कुछ जानना है उसके लिए यह सब कुछ है। हमारी नीति तो पीछे से आया-आगे धकेल दिया' के समान है। फिर भी हम धार्मिक हैं, क्योंकि हम तिलक लगाते हैं, आरती-प्रसाद करते हैं! उसमें भी पंजाबी लोग 'प्रसाद' के बदले 'प्रशाद' बोलते हैं। संक्षेप में, सन्तोषपूर्ण जीवन देने की शक्ति मन्दिर में होनी चाहिए। उसे जो देता है, उसीको मन्दिर कहते हैं। गृहस्थाश्रमी का जीवन सन्तोषपूर्ण होना चाहिए ऐसा भागवत में लिखा है। बहुत ही सुन्दर वर्णन है।

इसके बाद भागवतकार ने तीन शब्द प्रयुक्त किए हैं- **भावाद्वैत, क्रियाद्वैत** और **द्रव्याद्वैत-** ऐसा जीवन होना चाहिए। **भावाद्वैत** अर्थात् सर्वत्र प्रभुदर्शन! भाव से अद्वैत! फिर अन्य अद्वैत, यानी क्रिया से अद्वैत, द्रव्य से अद्वैत!

अद्वैत चर्चा नहीं है, तत्त्वज्ञान नहीं है, विचारधारा भी नहीं है। अद्वैत जीवन है। जैसा मुझे चाहिए वैसे ही दूसरे को भी चाहिए। जो दूसरे का होगा, उसे मैं खींचूंगा नहीं। अद्वैत का यही अर्थ है, जैसे मुझे जीवित रहना है, वैसे दूसरे को भी जीवित रहना है, अतः अद्वैत होना चाहिए। सबके साथ भावाद्वैत होना चाहिए। यह सृष्टि भगवान की बनायी हुई है। जिस प्रकार भगवान जीवन चलाते हैं मेरे शरीर में रक्त का संचार कराते हैं, मेरा हृदय चलाते हैं उसी प्रकार दूसरे की भी ये सारी क्रियाएं भगवान ही करते हैं, इस सम्बन्ध से इस भाव से झोपड़ी झोपड़ी में जाना चाहिए। आज कितने ही लोग झोपड़ी में जाते हैं, परन्तु वे सामाजिक कार्यकर्ता *(Social worker)* बनकर जाते हैं। यह नहीं होना चाहिए। दूसरे के पास भावाद्वैत के कारण जाना चाहिए। 'वह निम्न श्रेणी का *(Inferior)* है, मैं उच्च श्रेणी का *(Superior)* हूँ इसलिए मैं उसे कुछ मदद देने जाता हूँ' इस भावना से जाना अनाध्यात्मिक है। इसमें मैं स्वयं को दानी और दूसरे को दीन ठहराता हूँ। यह भूमिका अनाध्यात्मिक है। मेरा व उसका सम्बन्ध है, हम एक ही भगवान की सन्तान हैं, वह कदाचित् असंस्कृत होगा, अस्वच्छ होगा, अशिक्षित होगा, फिर भी मुझे उसके पास जाना है, इसीको भावाद्वैत कहते हैं। हमारे स्वाध्याय परिवार ने जो भक्तिफेरी उठायी है वह भावाद्वैत के लिए उठायी है। भागवत में उसके सम्बन्ध में कुछ कहा है, इसलिए उठायी है। हम माथे पर तिलक लगाते हैं। लगाते हैं या नहीं यह भी एक अलग बात है, परन्तु भागवत बनकर हम जाते हैं। भावाद्वैत से समाज के अन्तिम व्यक्ति तक *(unto the last)* जाना है, उसको जीवन समझाना है। वह भी मनुष्य है। कौन जायेगा उसके पास? भावाद्वैत की दृष्टि से स्वाध्यायी भक्तिफेरी में जाता है।

भावाद्वैत यह एक अभ्यास है। मनुष्य आज नहीं तो कल, इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में, तीसरे जन्म में भी- जैसा गीता में कहा है वैसा- **'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते-'** प्राप्त कर सकेगा। यह एक जन्म का अभ्यासक्रम *(course)* नहीं है, अनेक जन्मों का है।

सभी लोगों के साथ भावाद्वैत नहीं होता। कैसे होगा? कोई दुष्ट है, कोई दुराचारी है, शराबी है उसमें मैं भगवान किस प्रकार देखूँ? मेरा अभ्यास भी उतना नहीं होगा। इसलिए हमारे शास्त्रकारों ने कहा, एक को मानव सृष्टि *(Human world)* का प्रतिनिधि *(Representative)* मान, पिता को मान ले और **'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव'** समझ! पशुसृष्टि *(Animal world)* में भी भगवान हैं। उसका प्रतिनिधि गाय है। कृष्ण भगवान गोपालकृष्ण बने, उसी प्रकार वनस्पति-सृष्टि में भी भगवान हैं। उसका प्रतिनिधि **'तुलसी'** है। हमारा स्वाध्याय परिवार इस भावाद्वैत की दृष्टि का अभ्यास करता है कदाचित् यह दृष्टि आने के लिए दस जन्म भी लगेंगे, लेकिन उनका मार्ग सच्चा है, योग्य है। हमारा स्वाध्याय परिवार 'वृक्ष में वासुदेव' देखने का प्रयोग उपवन में करता है। इसीलिए वे वृक्ष में भगवान की प्राणप्रतिष्ठा करते हैं। श्रावण महीने में भगवान को अभिषेक करने के लिए इधर से कितने ही व्यक्ति हमारे प्रतिनिधि बनकर गये थे। हम उनको प्रतिनिधि मानेंगे तो हमें भी पुण्य मिलेगा। ऐसे पुण्य लेने की हमारी तैयारी है, झूठे पुण्य लेने के लिए हमारी तैयारी नहीं है।

आत्मगौरव *(Reverence for self)*, मनुष्य गौरव *(Reverence for man)*, पशु गौरव *(Reverence for animal)* और सृष्टि गौरव *(Reverence for all creation)* ये सब मिलकर भक्ति होती है। यह भक्ति का दर्शन है। भगवान की बनायी हुई बात है।

एक पौधा है, वह बड़ा कैसे होता है? कौन उसे बड़ा करता है? भीतर कुछ चैतन्य है, इसलिए वह बड़ा होता है। मैं छोटा था, बड़ा कैसे बन गया? मेरे भीतर **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'** भगवान बैठे हैं। इसी कारण मैं बड़ा बना। पौधा भी उसी प्रकार बड़ा बनता है। उसमें भी वही चैतन्य है। हमारा चैतन्य मलिन न हो इसीलिए प्रकृति की ओर देखने से प्रसन्नता आती है। इसका कारण प्रकृति का चैतन्य हमसे ज्यादा विशुद्ध है। इसीलिए इसे भावाद्वैत कहा है।

दूसरा है क्रियाद्वैत! इसमें मानवी जीवन की उन्नति समझायी है। क्रियाद्वैत में प्रभु को क्रिया अर्पण करनी है। शरणागति *(surrender)* भिन्न बात है और अर्पण भिन्न बात है। गीता ने अर्पण शब्द प्रयुक्त किया है, शरणागति नहीं। आज जिन्होंने अंग्रेजी में शिक्षा प्राप्त की है वे लोग कहते हैं कि भगवान को *self surrender* करना चाहिए। *surrender* का अर्थ शरणागति होता है। उसके पीछे अगतिकता, असहायता है। समझो, बाजार के चौराहे पर किसी व्यक्ति को चार बदमाश एकत्रित होकर घेर लेते हैं और छुरी दिखाते हैं तब वह अपनी जेब में जो कुछ होता है वह निकालकर दे देता है। यह शरणागति *(Surrender)* है। उसमें अगतिकता और असहायता है, परन्तु 'अर्पण' में भाव है, भक्ति है। अर्पण के लिए जो *Surrender* शब्द प्रयुक्त करते हैं, उन्हें संस्कृत और अंग्रेजी दोनों भाषाओं का ज्ञान नहीं है, ऐसा कह सकते हैं।

कितने ही लोग कहते हैं, 'मुझे *Self Surrender* होना है।' इसमें मज़ा नहीं है। इसमें अगतिकता और असहायता है। उसके बदले, 'मुझे भगवान को अर्पण करना है, आत्मसमर्पण करना है' ऐसा बोलने में एक भिन्न ही भाव है, भिन्न ही आनन्द है। गीता कहती है-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।। (गी-४-२४)

यह अर्पण है। जिसे हम अर्पण करते हैं, उसके प्रति प्रेम होना चाहिए, तभी अर्पण होता है। उसके लिए भगवान के प्रति प्रेम बढ़ना चाहिए, तभी भगवान को क्रिया अर्पण होगी। मेरी क्रिया मेरी-अपनी नहीं है, भगवान की है।

आप किसी मन्दिर में जाते हैं, वहाँ एक सौ एक रुपये भेंटस्वरूप अर्पण करते हैं, तब पूछा जाता है कि 'रसीद किसके नाम की बनाऊँ?' तब आप लड़के का नाम बताते हैं। पैसा आपका है और नाम लड़के का बताते हैं। क्यों? लड़के पर प्रेम है इसलिए! इसी प्रकार, कर्म मैं करूँगा और उस पर नाम प्रभु का! प्रभु के प्रति प्रेम बढ़ेगा तभी यह बात संभव है। कर्म तभी अर्पण होगा।

पत्नी के पेट से लड़का पैदा होता है। उसका जन्म होने तक सब कष्ट पत्नी को ही होते हैं, पति को नहीं! वह सिर्फ पिता बनता है और वह भी बिना कष्ट के, बिना किसी परेशानी के! इतना होने पर पत्नी से किसी ने पूछा कि यह लड़का किसका है? तो वह पति का नाम बताती है। इसका कारण उसका अपने पति पर प्रेम है। उसे लगता है, 'मेरा सब कुच्छ मेरे पति का ही है, तो लड़का भी उसीका है। समझ लो, वह ऐसा कहने लगी कि 'अधिक से अधिक कठिनाइयाँ मैं उठाती हूँ, रात को आवश्यकता पड़ने पर मैं ही उठती हूँ, पति उठता ही नहीं, अतः लड़के के नाम के आगे मेरा नाम लिखो, उसके पिता का नहीं,' तो? परन्तु कोई स्त्री ऐसा नहीं कहती।

रात को बच्चा रोने लगता है तब वह अपनी पत्नी को जगाता है और कहता है, 'अरी, उठ! तेरा लड़का रो रहा है। तो क्या वह तेरा नहीं है? इतना होने पर भी वह लड़के के नाम के आगे पिता का नाम लिखवाती है, अपना नहीं। इसमें पत्नी का पति पर प्रेम है। यह गुलामी मनोवृत्ति *(slavish mentality)* नहीं है। कृति में से जब सुगन्ध चली जाती है तब वह गुलामी मनोवृत्ति *(slavish mentality)* लगती है। क्रिया में जब तक सुगंध है तब तक वह गुलामी मनोवृत्ति नहीं लगती। यह क्रियाद्वैत है, क्रिया का अद्वैत है।

क्रिया प्रभु को अर्पण करनी चाहिए, इतना ही नहीं अन्त में ऐसा लगना चाहिए कि अर्पण करनेवाला मैं कौन हूँ? क्रिया करनेवाले भी प्रभु ही है, उनकी शक्ति से ही क्रिया होती है। अर्पण किस वस्तु का होता है? जिस वस्तु पर अपना स्वामित्त्व होता है उसी वस्तु का अर्पण होता है, परन्तु इस क्रिया पर मेरा स्वामित्त्व ही नहीं है तो मैं उसका अर्पण कैसे करूँ? क्रिया करनेवाले प्रभु हैं। *'It is not ye that speak but the spirit of thy father that speaketh in you-'* मैं नहीं बोलता हूँ, मेरे भीतर बैठी हुई कोई शक्ति बोल रही है। मुझे मालूम नहीं है कि जीभ का छोर मुँह में कहाँ लगाने पर 'ट' का उच्चार होता है, फिर भी मैं बोल रहा हूँ। यह मुँहरूपी हार्मोनियम से सभी स्वर निकलते हैं वे किस प्रकार निकलते हैं? बाहर का- स्थूल हार्मोनियम बजाना हो तो उसके लिए शिक्षा लेनी पड़ती है, अन्यथा उसको बजा नहीं सकते। कहाँ अंगुली दबाने से 'सा,' 'रे,' ग-'... ऐसे सात स्वर

निकलते हैं इसकी शिक्षा लेनी होती है। बोलने के लिए कोई शिक्षा या ज्ञान न होने पर भी हम वर्षों से बोलते ही आये हैं! आज भी किसी से पूछेंगे कि 'त' का उच्चार करने के लिए या 'म' का उच्चार करने के लिए जीभ कहाँ लगानी पड़ती है तो वह कह नहीं सकता, परन्तु पचास-पचास वर्षों से वह इन अक्षरों का उच्चार करता आया है। वह किस शक्ति से बोलता है? भीतर कोई शक्ति बैठी है, वही क्रिया करती है। कर्म मेरा नहीं है उसीका है, क्रियाद्वैत इसीको कहते हैं।

तीसरा है द्रव्याद्वैत! मेरे पास जो द्रव्य (धन-सम्पत्ति) है वह मेरे सम्पूर्ण परिवार का है, मेरा अकेले का नहीं है। सभी प्रभुरूप हैं। मैं कमाता हूँ और पत्नी को खिलाता हूँ' ऐसा अहंकार भक्त के अन्तःकरण में नहीं होना चाहिए। मैं भगवान का जीव हूँ, वैसा वह भी भगवान का जीव है। हम दोनों साथ रहते हैं, तो अहंकार क्यों करूँ? परन्तु आज पुरुषप्रधान संस्कृति में एक अहंकार निर्माण हुआ है। अत: आपमें यदि अहंकार आयेगा तो पत्नी में भी अहंकार आयेगा। क्यों नहीं आयेगा? फिर दोनों प्रवाह साथ में आने पर एक भँवर पैदा होता है। उस भँवर में ही लोग डूब गये हैं और परिवार भी डूब गये हैं। फिर वह पूछती है कि 'तुम मुझ पर अधिकार चलाने वाले कौन हो? तुम जो कमाते हो, उस पर मेरा भी अधिकार है।'

जिस प्रकार वित्त परिवार का है, वैसा प्रभु का भी है। **'महालक्ष्मी च विद्महे विष्णुपत्नी च धीमहि तन्नो लक्ष्मीः प्रचोदयात्-'** इसीलिए तो हम मन्दिर में जाकर भगवान के सामने पैसा रखते हैं वह भगवान के भाग के रूप में रखते हैं। भगवान तुम्हारा भागीदार *(partner)* है यानी वे तुम्हारे *sleeping partner* हैं। यदि भगवान न होते तो तुम अभ्यास करने या पैसा कमाने के लिए दफ्तर नहीं जा पाते, व्यापार भी नहीं कर पाते। इसलिए भीतर बैठे हुए भगवान तुम्हारे *sleeping partner* हैं। तुम्हें उनका भाग देना है भगवान के मन्दिर में! मन्दिर की व्यवस्था रखनेवालों को उसका उपयोग समाज के दुर्बल जरूरतमंद वर्ग के लिए करना है। इसीलिए तो गाँव-गाँव में मंदिरों का निर्माण हुआ था। वे मन्दिर गाँव के सामाजिक-आर्थिक केन्द्र *(Socio-economic centre)* थे।

भगवान के सामने लोग भगवान का हिस्सा विश्वासपूर्वक रखते है, क्या करना है उसका? प्रसाद के रूप में योग्य वितरण करना है! प्रत्येक गाँव में यदि ऐसा एक एक मन्दिर खड़ा होगा तो समाज में दुर्बल वर्ग ही नहीं रहेगा, वह किसी का आश्रित भी नहीं रहेगा। किसी के दबाब में भी नहीं रहेगा, उसे शरमिंदा नहीं होना पड़ेगा क्योंकि वह भगवान का प्रसाद लेगा।

आज की जो अमीर-गरीब *(Haves and haves not)* की समस्या है वह कर *(Taxation)* से हल नहीं होगी। इसका कारण यह है कि कर *(tax)* देनेवाले को आनन्द नहीं है और लेनेवाले में कृतज्ञता नहीं है। आज समाज में डॉक्टर या इंजिनियर बनने तक की शिक्षा मुफ्त में मिलती है। मुफ्त में शिक्षा कौन देता है? सरकार! सरकार कौन है? पुलिस? कलेक्टर? क्या मंत्री सरकार है? सरकार निर्गुण-निराकार परब्रह्म के जैसी है। उसका

न कोई रूप है न आकार! फिर शिक्षा लेनेवाला किसके प्रति कृतज्ञ रहेगा? परिणामस्वरूप कर देनेवाले को आनंद नहीं कि मैं किसी को उठाता हूँ, खड़ा करता हूँ। इसलिए बीच में जब्ती *(confiscation)* आयी कि निकालो इसकी जेब से और दे दो उसको। उसकी अपेक्षा यह (मन्दिर) का अलग ही रास्ता है। रास्ता मानसशास्त्रीय *(psychological)* है।

मानसशास्त्र की दृष्टि से मन्दिर एक अद्भुत रास्ता है। गाँव के मजदूर को भी अपनी कमाई में से भगवान के चरणों में भाग धरना होगा। जो प्रसाद के रूप में पाता होगा उसे भी लज्जित नहीं होना पड़ेगा, क्योंकि भगवान के चरणों में एकत्रित राशि में उसका भी हिस्सा था। उसे समाधान है कि 'मैंने भी भगवान का भाग दिया है, उसमें से ही मुझे प्रसाद मिलता है।'

समाज में समर्थ-असमर्थ *(Haves and Haves not)* रहेंगे ही। समर्थ से लेकर असमर्थ को कैसे दिया जाय यह प्रश्न अनादि काल से चला आ रहा है। उसका सुन्दर मार्ग मन्दिर निर्माण करके हमारे पूर्वजों ने निकाला। आज मन्दिर में इतनी दुर्गन्ध आयी है कि मन्दिर किसलिए हैं इसका ही लोगों को पता नहीं है। समाज के सभी लोगों में एकता आनी चाहिए। ऊँच-नीचता एक घण्टे के लिए भूलना है। इसलिए मन्दिर हैं। आरती के समय सारा गाँव मन्दिर में एकत्रित होगा। चाहे कितना भी बड़ा जमीनदार हो या सामान्य मजदूर हो, सब साथ में खड़े रहेंगे। मन्दिर में सभी एक ही भगवान की सन्तान के नाते बैठेंगे। इससे सामाजिक अन्याय *(social injustice)* कम हो जाता है। सभी मन्दिर में अपनी कमाई में से भगवान का भाग रखेंगे। उसके प्रसाद में से ऐसी व्यवस्था होगी कि गाँव में कोई भूखा नहीं रहेगा, नंगा नहीं रहेगा। लोगों को भूखा-नंगा किसने रखा? गलत आर्थिक नीतियों ने! इसलिए द्रव्याद्वैत में पुरानी परम्परा है। जिस प्रकार परिवारप्रमुख को जो पैसे की कमाई होती है वह सम्पूर्ण परिवार की है, उसी प्रकार उसे जो वित्त मिलता है वह लक्ष्मीरूप है, समाज का भी है। लोगों को मदद नहीं देनी है, अपितु भगवान के सामने रखना है। मन्दिर के व्यवस्थापक उसका ठीक तरह से उपयोग करेंगे। यह द्रव्याद्वैत है। भावाद्वैत, क्रियाद्वैत व द्रव्याद्वैत यह अलौकिक कल्पना सातवें स्कन्ध में समझायी है।

उसके बाद सत्संग का वर्णन है कि सत्संग कितना महान् है, सत्संग से क्या होता है। एक बार एक राजा अपने महल की अटालिका में बैठा था। इतने में उस अटालिका के किनारे पर एक तोता आकर बैठ गया और गालियाँ देने लगा। सतत एक घण्टे तक गालियाँ देते रहना आसान बात नहीं है। ताकत हो तो सतत दस मिनट गालियाँ बोलकर दिखाओ। उसमें एक शर्त यह है कि एक बार दी हुई गाली दूसरी बार नहीं देनी है।

गालियों का भी एक शास्त्र है। उसके पीछे भी तत्त्वज्ञान है। गालियों ने कितने ही लोगों के मस्तिष्क टूटने से बचाये हैं। मान लो, एकाध व्यक्ति का किसी ने नुकसान किया, उसको अत्यन्त क्रोध आया वह डंडा लेकर नुकशान करनेवाले का सिर फोड़ने के लिए दौड़ जाता है। इतने में कोई सात्त्विक महापुरुष आया होगा और उसने कहा होगा, 'अरे! यह क्या करता है तू? तुझे क्रोध ही आया है न? तो उसका सिर मत फोड़। एकाध गाली दे दे उसे! और तब से गाली पैदा हुई होगी। गालियों का भी कुछ मूल्य है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पाठशाला

में गालियाँ देने की छूट है। परन्तु गालियों के पीछे कुछ कारण हैं। उनके कारण कितने ही खून होने से बच गये होंगे।

उस तोते के मुँह से गालियाँ सुनकर राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। थोड़ी देर में वह तोता उड़कर चला गया। फिर वहाँ दूसरा तोता आया। राजा उसे देख रहा था। यह दूसरा तोता आया और उसने ब्रह्मसूत्र के सूत्र बोलना प्रारंभ किया।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं ।।१।।
प्रवृत्तिश्च ।।२।।
पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि।।३।।
व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात।।४।।
अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।।५।।

यह सुनकर राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। राजा ने कहा, 'तू तो पवित्र है, तुझे नमस्कार करना चाहिए। पहले जो तोता आया था वह सतत गालियाँ दे रहा था। कितनी बुरी गालियां थी।

तब तोते ने कहा, 'राजन! मैं सूत्र बोलता हूँ इसमें मेरा कोई कर्तृत्त्व नहीं है और वह दूसरा तोता जो गालियाँ दे रहा था उसमें उसका कोई दोष नहीं है। इसका कारण

गवाशनानां स शृणोति वाक्यमहं हि राजन्वचनं मुनीनाम्
न चास्य दोषो न च मद्गुणो वा संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।।

गोमांस भक्षण करनेवाले कसाई के घर वह चला गया और वहाँ सुबह से लेकर रात तक वह गालियाँ ही सुनता था। मैं तपोवन में जाकर रहा। मुझे सुबह के प्रहर पवित्र सूत्र सुनने को मिलते थे। हम दोनों एक ही माँ-बाप की सन्तान...मगर संस्कारों के कारण हममें फर्क़ हुआ।

मनुष्य को जैसा संसर्ग मिलता है, वैसा वह बनता है। सत्संग का माहात्म्य इस सातवें स्कन्ध में लिखा है। उसमें एक स्वतंत्र बात कही है। उसके लिए एक शब्द प्रयुक्त किया है। कर्म के अनुसार होनेवाली वासना शुभ भी हो सकती है और अशुभ भी हो सकती है।

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पुरुषेण प्रयत्नेन आपनीया शुभां मतिम्।।

(शुभ-अशुभ वासना कर्म के अनुसार होती है। भक्तों का कोप होने से अशुभ वासना होती है और भक्तों की कृपा होने से शुभ वासना होती है। इसलिए भक्ति की निन्दा नहीं करनी चाहिए।) यह भागवतकार का सिद्धान्त है। इस प्रकार भक्त का वर्णन करते हैं और सातवाँ स्कन्ध समाप्त होता है।

अष्टमः स्कन्धः

अष्टम स्कन्ध के प्रारंभ में मन्वन्तर का वर्णन है। उसमें अलग-अलग मन्वन्तर कहे हैं। **'सत्त्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृतिः विषमावस्था विकृतिः'**- सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं और इन तीनों गुणों की विषमावस्था को विकृति कहते हैं। इन तीनों गुणों में जब विकार आ जाता है तब लोकस्थिति को एक अनुकूल झुकाव देना पड़ता है। वैसा अनुकूल झुकाव देने के लिए अवतार आता है। परिस्थिति का बिगड़ जाना और अवतार आने के बाद उसमें सुधार होना इन दोनों के बीच में जो समय चला जाता है उसको मन्वन्तर कहते हैं। जगत् में अवतार आता है और बिगड़ी हुई परिस्थिति को सुधारता है और उस अवतार को सहायता करनेवाला वर्ग निर्माण होता है तब मन्वन्तर पूर्ण होता है। ऐसे चौदह मन्वन्तरों का वर्णन भागवतकार ने किया है।

अलग-अलग मन्वन्तर हैं और अलग-अलग मनु हुए हैं। हमें तो मनुस्मृति का जो मनु है वही केवल मालूम है, परन्तु भागवतकार ने चौदह मनुओं का वर्णन किया है, वे हैं: १) स्वायंभुव मनु, २) स्वारोचिष मनु, ३) उत्तम मनु, ४) तामस मनु, ५) रैवत मनु, ६) चाक्षुष मनु, ७) वैवस्वत मनु, ८) सावर्णि मनु, ९) दक्षसावर्णि मनु, १०) ब्रह्मसावर्णि मनु, ११) धर्मसावर्णि मनु, १२) रुद्रसावर्णि मनु, १३) देवसावर्णि मनु और १४) इन्द्रसावर्णि मनु।

संक्षेप में, समाज में उत्थान-पतन *(Ups and downs)* होता रहता है ऐसा लिखा है। समाज जिस प्रकार सुधरता है वैसा बिगड़ भी जाता है। कितने ही लोग पूछते हैं कि 'एक समय समाज उन्नति पर था तो फिर उसमें बिगाड़ कैसे आ गया?' यह पूछना बेकार है। एक बार परिवार में आयी हुई लक्ष्मी चली भी जाती है। वह क्यों चली जाती है? दुर्गुणों

के कारण! लक्ष्मी घर में आने के बाद दुर्गुण भी घुस जाते हैं, परिणामस्वरूप लक्ष्मी चली जाती है। समाज सात्त्विक होने के बाद भी अध:पतित हो जाता है।

समाज का परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि समाज में सत्तर प्रतिशत लोग अनुयायी *(followers)* होते हैं और तीस प्रतिशत लोग तज्ज्ञ *(experts)* होते हैं। तज्ज्ञ यानी केवल युनिवर्सिटी की उपाधियाँ पानेवाले नहीं। समाज में जो कुशल बढ़ई, कुम्हार, लुहार, नाई आदि लोग हैं वे भी तज्ज्ञ *(expert)* माने जाते हैं। सत्तर प्रतिशत और तीस प्रतिशत यह समाज की व्यवस्था है। समाज में जो तीस प्रतिशत लोग होते हैं उनमें पन्द्रह प्रतिशत लोग भौतिकवादी होते हैं। खाओ, पीओ, मौज मनाओ-*eat, drink and be merry* की वृत्तिवाले ये लोग होते हैं और शेष पन्द्रह प्रतिशत लोग कुछ अलग विचारधारा रखनेवाले होते हैं। इन्हें लगता है कि हमारा कोई निर्माता है। ये लोग जब एकत्रित होकर प्रभावी नहीं होते तब भौतिक विचारधारा के लोग एकत्रित होकर प्रभावी बनते है और उनके हाथ में सत्ता, सम्पत्ति आने के बाद समाज के सत्तर प्रतिशत लोग उनके पीछे आ जाते हैं। परिणामत: पचासी प्रतिशत लोग *eat, drink and be merry* की वृत्ति के बन जाते हैं। इसी को हम कलियुग कहते हैं। उस समय भी समाज में पन्द्रह प्रतिशत लोग सात्त्विक वृत्ति के होते ही हैं। ये लोग जब एकत्रित होंगे, एक विचार के, एक उच्चार के बनेंगे यानी प्रभावी बनकर इनका इंजिन जब सत्तर प्रतिशत लोगों के डिब्बे के साथ जुड़ जायेगा तब पचासी प्रतिशत लोग समाज में सात्त्विक बन जायेंगे। यही रास्ता है कलियुग को सुधार कर सत्ययुग में जाने का!

पन्द्रह प्रतिशत लोग जो सात्त्विक और बुद्धिशाली होते हैं वे एकत्रित हो जायेंगे और शेष सत्तर प्रतिशत लोग इनके साथ जुड़ जायेंगे तो पचासी प्रतिशत लोग सात्त्विक होने से रामराज्य आ जायेगा। रामकाल में भी रावण तो था ही। अर्थात् उस समय भी पन्द्रह प्रतिशत लोग तामसी बुद्धि के रहेंगे ही, परन्तु वे क़मजोर रहेंगे, उनकी उपद्रव-क्षमता कम हो जायेगी कारण सत्तर प्रतिशत लोग उनके पीछे नहीं हैं। इन सत्तर प्रतिशत लोगों के साथ कौन जाता है यही प्रश्न है। इसलिए भक्तिफेरी है। इससे पन्द्रह प्रतिशत लोग प्रभावी बनकर एकत्रित होंगे और सत्तर प्रतिशत लोग उनसे जुड़ जायेंगे। इस, सत्तर प्रतिशत सामान्य लोगों के इंजिन को कौनसा-किधर जानेवाला इंजिन लगता है यह प्रश्न है। यदि सात्त्विक लोगों का इंजिन लग गया तो गाड़ी इलाहाबाद-तीर्थक्षेत्र में पहुँच जायेगी।

परिस्थिति में बिगाड़ और सुधार के कालखण्ड को मन्वन्तर माना जाता है, इसी को *Highest phase of communism* कहते हैं। रामायण में इसका वर्णन है-

न राज्यं न च राजासीत् न दण्ड्यो न च दाण्डिकः।
स्वधर्मेण प्रजास्तावत् रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

समाज को इस स्थिति तक ले जाना चाहिए! वहाँ पहुँचने पर फिर से समाज नीचे उतर आयेगा। ऐसा बिगाड़ और सुधार (उत्थान-पतन) चलता ही रहेगा। उसमें समाज को

उत्थान की ओर ले जानेवालों के साथ जुड़कर प्रयत्नशील बनना आवश्यक है, ऐसा भागवतकार का कहना है। 'भगवान की इच्छा है इसलिए बिगाड़ हो रहा है' ऐसा कहना या मानना बेकार है। यदि समाज बिगड़ा होगा तो उसमें सुधार लाने के लिए प्रयत्न करने चाहिए। इन दोनों के बीच में जो समय है उसी को मन्वन्तर कहते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान सहायता करते हैं। बिगड़े हुए समाज को सुधारने के लिए प्रयत्न करनेवाले जो लोग हैं, उनकी भगवान सहायता करते हैं। इस सहायता का नाम ही अवतार है। सम्पूर्ण समाज बिगड़ गया तो भगवान अवतार लेते हैं यह मान्यता मिथ्या है। समाज में सुधार लाने के लिए जो लोग परिश्रम करते हैं उनकी सहायता करने के लिए भगवान अवतार लेते हैं। गीता में कहा है:-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।४/८।।

साधु, सज्जन, सात्त्विक लोग जहाँ मिलकर काम करते हों तब उनकी सहायता करने के लिए, मार्गदर्शन करने के लिए भगवान आते हैं। यह अवतार का अर्थ है। प्रत्येक मन्वन्तर में अवतार होता है ऐसा कहा है।

उसके बाद आठवें स्कन्ध में एक ऐसी चर्चा की है कि तपस्वी मनु अच्छी तरह से राज्य करके, राज्य छोड़कर सुनन्दा नदी के किनारे पर तपश्चर्या करने के लिए गये। यहाँ राजा स्वयं राज्यपद का त्याग करता है, वह भी निरंकुश राज्यसत्ता *(Autocratic Rule)* में! हम पर यह आरोप लगाया जाता है कि हमारे देश में निरंकुश राजसत्ता थी, पर वैसा नहीं है। हमारे यहाँ लोकतंत्र *(democracy)* भी था। कृष्ण भगवान स्वयं प्रजातंत्रवादी *(democratic)* थे। वे राजा नहीं थे, राजप्रमुख थे। राम राजा हो सकते हैं, मगर कृष्ण राजा नहीं थे। निरंकुश राज्यसत्ता के होते हुए भी राजा राज्यपद का त्याग कर तपस्या करने के लिए चला जाता है। उसे क्यों जाना पड़ता है। राजा के ऊपर भी धर्मसत्ता शासन करती है ऐसी मान्यता इस देश में थी। इसका कारण धर्मसत्ता निरपेक्ष लोगों के हाथों में रहती थी, जब कि राज्यसत्ता स्वार्थी लोगों के हाथों में जाती है। इसीलिए राज्यसत्ता के ऊपर अष्टऋषिमण्डल होना चाहिए ऐसी रामराज्य की व्यवस्था थी। यही प्राचीन भारतीय संविधान था। ऐसी पालक-पद्धति *(Guardian system)* अथवा पालकपद *(Guardionship)* की व्यवस्था फलातून (प्लेटो) ने भी मान्य की है जो बात उसके मस्तिष्क में थी, परन्तु साकार न हो सकी। वह समझता नहीं था कि ऐसे अभिभावक हो सकते हैं, परन्तु उसके दिमाग में यह जरूर था।

एकतंत्र राज्यप्रणाली के राजा से राज्य छोड़कर जाने को कौन कहता था ऐसा सत्ता कहती थी। आप यदि राजसूय यज्ञ का प्रयोग पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि राजसूय यज्ञ वही राजा कर सकता था, जिसका पृथ्वी पर किसी भी प्रदेश में कोई शत्रु नहीं हो, उसके विरुद्ध कोई खड़ा नहीं रह सकता हो। **'साम्राज्यं भोज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं**

राज्यं....समुद्रपर्यन्ताया एकराट्' ऐसे साम्राज्य का सम्राट जब राजसूय यज्ञ करता था तब एक विधि में वह स्वयं तीन बार कहता था **'अदण्ड्योऽस्मि, अदण्ड्योऽस्मि, अदण्ड्योऽस्मि-** मुझे कोई दण्ड देनेवाला नहीं है।' तब वसिष्ठ जैसे गुरु जो उसके पीछे खड़े रहते थे वे हाथ में दर्भ का दण्ड लेकर राजा के मस्तिष्क पर प्रहार करके कहते थे, **'धर्मदण्ड्योऽसि, धर्मदण्ड्योऽसि, धर्मदण्ड्योऽसि।'** राजा! तू अदण्ड्य नहीं है, धर्म तुझे दण्ड देगा।' ऐसी एक व्यवस्था हमारे पूर्वजों ने खड़ी की थी।

जिनके पास वित्त आ जाता है, शक्ति आ जाती है वे जरूर राक्षस बनते हैं। उन पर नियंत्रण कैसे करना इस सम्बन्ध में भारतीय संस्कृति ने निश्चित विचार किया था। इतना ही नहीं, हजारों वर्षों तक उस बात को व्यवहार में चरितार्थ किया था और उसमें वे यशस्वी भी हुए थे।

इसी कारण, मनु राज्य करके, राज्य छोड़कर तपस्या करने के लिए चले लये। आठवें स्कन्ध के प्रथम अध्याय में श्लोक ९ से लेकर १६ तक मनु ने जो कहा है उसे **'मन्त्रोपनिषद'** कहते हैं। इस मन्त्रोपनिषद में बहुत सी बातें तत्त्वज्ञान की भी हैं। उनमें सृष्टि भगवान की बनायी हुई है फिर भी भगवान निष्क्रिय हैं ऐसा कहा है। कर्म करके निष्क्रिय रहना चाहिए, कर्म छोड़कर नहीं, ऐसा उनका कहना है, तब कर्म छोड़ने ही पड़ते हैं, यानी सब व्यावहारिक कर्मो का त्याग करके ही भक्ति करने बैठेंगे तभी भक्ति होती है अन्यथा भक्ति नहीं होगी।' भागवतकार का कहना ऐसा नहीं है। भारतीय परंपरा भी ऐसा नहीं कहती है। परिवार खड़ा करने पर भक्ति करने में जरूर कठिनाइयाँ आयेंगी। कठिनाइयों का मुकाबला करके जब मनुष्य खड़ा रहता है तभी वह मनुष्य है, तभी वह ध्येयवादी कहा जाता है। सभी सानुकूल होने पर अमुक एक बात की तो वह ध्येय कैसे कहलायेगी? प्रतिकूलता के सामने भी खड़ा रहना पड़ेगा।

मनु ने कहा है कि सृष्टि भगवान ने बनायी है फिर भी वे निर्लिप्त हैं। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य कर्म करके भी निर्लिप्त रह सकता है। कर्म करके निर्लिप्त रहना चाहिए, न कि कर्म छोड़कर। कर्म करना आवश्यक है। यह महत्त्वपूर्ण बात मन्त्रोपनिषद में मनु ने कही है। कितने ही तथाकथित भक्त कहते हैं कि सब कुछ छोड़कर भक्ति करने चले जाइये ऐसा भागवत में कहा है परन्तु भागवतकार ने ऐसा नहीं कहा है। भागवत ने जीवन-पराङ्मुखता या जीवन-पलायनवाद *(Escapism)* का स्वीकार नहीं किया है। जिन्होंने इसका स्वीकार किया होगा उन्हें आत्मज्ञान नहीं हो सकता। आत्मज्ञान के लिए पलायनवाद नही चलता। इसलिए कर्म करना ही होगा ऐसा आग्रह है।

मन्त्रोपनिषद में आगे नीतितत्त्व भी समझाये हैं। मन्त्रोपनिषद के श्लोक बहुत अच्छे हैं। कण्ठस्थ भी कर सकते हैं, परन्तु कठिन हैं। जीवन में भोग आयेंगे ही। उनका उपभोग लेना या नहीं? जब मैं परिवार में रहूँगा, व्यवहार में रहूँगा, काम करूँगा तब मुझे भोग भी मिलेंगे। उनका स्वीकार करना या नहीं? उसके लिए भागवतकार ने लिखा है,

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किंचिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।। (भाग.८-१-१०)

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा-बहुत सुन्दर लिखा है। उसके (भगवान के) द्वारा दिये हुए भोग का उपभोग कर, कमाया हुआ भोग नहीं। इस प्रकार वृत्ति बदलने का अर्थ ही भक्ति है। आज हम सब समझते हैं कि 'मैंने भोग कमाये हैं, वित्त कमाया है, सुख-सुविधाएं कमायी।' उपनिषद् कहता है कि वृत्ति बदलो- मेरा कमाया हुआ भोग नहीं, अपितु भगवान का दिया हुआ भोग है, इसमें दैव (भाग्य) चला जाता है। दैव की बात आ जाती है तब वह भक्त को भी हैरान करती है। इसका कारण दैव का अर्थ यह है कि गत जन्म का मेरा कर्म भी एक अहंकार है, 'अपने कर्म से मुझे मिला है।' दैव से मिलता होगा, मिलता ही है, परन्तु उसको वैसा मानना नहीं चाहिए। भक्त समझता है कि मेरे कमाये हुए भोग नहीं हैं बल्कि भगवान द्वारा दिये हुए भोग हैं।

इस प्रकार कर्म से छूटने का रास्ता भागवत ने दिखाया है, 'सब कुछ वे (भगवान) करते हैं।' इसमें कृति का अहंकार चला जाता है। इसी को भक्ति कहते हैं। उन्हीं (भगवान) के दिये हुए भोग हैं और वे जो करते हैं, वह कृति है। यह भावना जब होगी तब उसे भक्ति कहते हैं।

'भक्ति बढ़नी चाहिए' इसका अर्थ सभी प्रान्तों में यह हुआ है कि घर में भगवान की आरती उतारना और प्रसाद लेना! परन्तु, भक्ति अन्दर का परिवर्तन है। भक्ति में वृत्ति ही बदल जाती है। 'कमाया हुआ भोग नहीं, भगवान का दिया हुआ भोग' और दूसरी बात 'वे कर्म करते हैं, मैं नहीं' यह बदली हुई वृत्ति ही भक्ति है।

श्रीमदाद्य शंकराचार्य विवेकचूडामणि में कहते हैं:-

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी- मुक्ति की कारणरूप सामग्री में भक्ति ही सबसे बढ़कर है।' भक्ति केवल भगवान की खुशामत नहीं है। भक्ति से ही जीवन उन्नत होता है, समाज उन्नत होता है, भक्ति से ही परिवार उन्नत होता है। भक्ति एक सामाजिक शक्ति है *(Bhakti is a social force)* ऐसा जब बोलते हैं तब भक्ति का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि मन्दिर में जाते हैं और फूल चढ़ाते हैं। भगवान को फूल चढ़ाना ही चाहिए, उसके विरोध में हम नहीं है, परन्तु वहीं भक्ति पूर्ण नहीं होती। 'भोग भगवान के दिये हुए हैं, मैनें नहीं कमाये हैं और कर्म भगवान कराते हैं, मैं नहीं। ये दो बातें मानना ही भक्ति है।

कर्म ही भक्ति है ऐसा उन्होंने कहा है और वह सिद्ध करने के लिए इस देश में बारंबार सन्तों, भक्तों और अवतारों को कहना पड़ा है।

हमारे देश में- पंढरपुर में भक्त पुंडलिक ऐसे ही कर्मनिष्ठ थे। उनकी कर्मनिष्ठा को देखकर स्वयं भगवान उनसे मिलने आये। पुंडलिक को लगा कि भगवान मिलने आये, परन्तु

मैं अपना कर्म छोड़कर कैसे जाऊँ? इसके सम्बन्ध में एक जनश्रुति भी है। हमारे महान् सन्त तुकाराम महाराज पुंडलिक से कहते हैं-

का रे पुंड्या मातलासि।
उभे केले विठ्ठलासि...।

('अरे पुंड्या (पुंडलिक का प्रेमभरा संबोधन)! तुझे इतनी मस्ती चढ़ गयी कि तूने भगवान विठ्ठल को भी खड़ा रखा?)'। भगवान मिलने आये तब पुंडलिक ने भगवान की ओर एक ईंट सरका दी और भगवान से कहा कि उस पर खड़ा रहो। भक्त की कर्मनिष्ठा से प्रसन्न भगवान उस ईंट पर खड़े रहे। आज भी खड़े हैं, इसीलिए तो उनका ऐसा दर्शन हमें मिलता है। भगवान मिलने आये और पुंडलिक उनसे नहीं मिले। वे कर्म में मग्न थे इसलिए भगवान को खड़ा रहना पड़ा। आज भी महाराष्ट्र के लोग आरती में कहते हैं-'**युगें अट्ठावीस विटेवरी उभा- वामांगी रखुमाई दिसे दिव्य शोभा।**' विठ्ठल भगवान को किसने खड़ा रखा? पुंडलिक ने! इसका एक दूसरा अर्थ है। अब इतना ही कहता हूँ कि भागवत ने कर्म की इतनी महत्ता समझायी है। जब लोग कर्म छोड़कर बैठ जाते हैं तब उन्हें कर्म की महत्ता समझानी पड़ती है-

अपहाय निजं कर्म कृष्णकृष्णेति वादिनः।
ते हरेर्द्वेषिनः पापाः धर्मार्थं जन्म यद्धरेः।।

(जो लोग अपना कर्म छोड़कर केवल कृष्ण कृष्ण बोलते रहते हैं वे हरि के द्वेषी है...।)'

कर्म कैसा करना है यह मन्त्रोपनिषद में कहा है। हम कर्म किसके लिए करते हैं? घरवालों के लिए करते हैं। घरवाले यानी कौन? पत्नी, पुत्र आदि घरवाले हैं, परन्तु उन्हें उद्देश्यकर नहीं कहा है। घरवाले यानी आँख, कान, रसना आदि इन्द्रियाँ। इन इन्द्रियों के सन्तोष के लिए हम कर्म करते हैं। इनके स्थान पर भगवान के लिए कर्म होने चाहिए, इन्द्रियों के लिए नहीं। मुझे उनके (भगवान के) लिए काम करना है। फिर इन्द्रियाँ भी अच्छी रहनी चाहिए। उनके लिए भगवान जो भोग मुझे देंगे, उनका स्वीकार करूँगा। मशीन के प्रत्येक पुरजे को तेल देना *(oiling* करना) पड़ता है। उसी प्रकार मेरी इन्द्रियों को भोग तो मिलेंगे ही परन्तु वे भगवान के दिये हुए भोग होंगे और मैं कर्म उनके (भगवान) लिए करूँगा। यह प्रथम बात है।

भगवान ही शक्ति देते हैं यह दूसरी बात है और भगवान ही काम करते हैं यह तीसरी बात है। यह भक्ति के विकास *(Development)* की सीढ़ी है। यही गीता ने कहा है- **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य....**' वही भागवत ने कहा है। मनु महाराज राज्यपद छोड़कर तपश्चर्या करने गये, वे कर्म से भागकर नहीं गये। यह समझाने के लिए मनु के मुँह में यह मन्त्रोपनिषद रखा गया है। उसमें उन्होंने कर्म की महत्ता समझायी है। कर्म करना ही

पड़ेगा। बिना कर्म किये नहीं चलेगा। अनियंत्रित राज्यसत्ता का राजा राज्यपद छोड़कर जंगल में चला जाता है यह एक विशेष बात है।

बीच के समय में एक अन्धकार-युग *(Dark age)* आ गया था। उसमें पिता अपनी मृत्यु तक सम्पत्ति की तिजोरी की चाबी अपने जनेऊ में बाँधकर रखता था ऐसा हमने देखा। उसको छोड़ना पड़ेगा। सब सम्पत्ति छोड़कर जाना पड़ेगा और राजा को भी राज्यपद छोड़कर जाना पड़ेगा। उसीके लिए धर्मदण्ड है। इसलिए भागवत सुननेवालों को भागवत में कही भक्ति समझनी चाहिए।

भागवतकार कहते हैं कि जीवन में वृत्ति बदलनी पड़ेगी तभी सच्ची भक्ति होगी। भक्ति एक वृत्ति है। ईश्वर भोग देते हैं, भोग कमाये नहीं जाते। **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा**... उसी प्रकार कर्म वही करता है मैं नहीं करता हूँ। भोग और कृति दोनों शरीर द्वारा होते हैं। दोनों के प्रति जिसकी वृत्ति बदलेगी, वही सच्चा भक्त है। भोगों से भागनेवाला भक्त नहीं है वैसे ही कर्म से भागनेवाला भी भक्त नहीं है। भागवतकार उनको भक्त कहने के लिए तैयार नहीं हैं।

उसके बाद चौदह मनुओं का वर्णन किया गया है।

फिर गजेन्द्र की कथा आयी है। बहुत सुन्दर कथा है। भगवान ने गजेन्द्र की मगर से रक्षा की। इस कथा का भावार्थ सभी को मालूम ही है। हम यह समझते हैं कि गजेन्द्र ने जिस प्रकार भगवान का स्मरण किया वैसा हम भी करेंगे तो भगवान हमारी सहायता करेंगे।

गजेन्द्र हाथी था। वह त्रिकूट पर्वत पर गया था। भागवत में इस त्रिकूट का वर्णन है कि वह दस हजार योजन लंबा था और उसकी परिधि भी उतनी ही थी। इसका अर्थ आज की भाषा में कहना हो तो पृथ्वी का घेरा अस्सी हजार मील था। आज भी पृथ्वी का घेरा (परिधि) चौबीस हजार मील है। इसलिए ऐसा लगता है कि यह त्रिकूट पर्वत पृथ्वी पर नहीं होगा, दूसरे भूगोल पर होगा अथवा 'योजन' का परिमाण उस समय कुछ भिन्न होगा। जिस प्रकार भारत में रुपये का सिक्का है, अमेरिका में डालर है, इग्लैंड में पाऊंड है, कहीं मार्क का सिक्का है- उनका मूल्य जैसे भिन्न-भिन्न होता है, वैसा उसका परिमाण अलग होगा। यह कथा पृथ्वी की नहीं होगी, दूसरे भूगोल की होगी कारण दूसरे खगोल पर भी मानव जाता था। हमें सन्देह नहीं है कि मानव इतना विकसित था।

आज भी मानव की उन्नति हुई है ऐसा हम नहीं मानते। **'धाता यथा पूर्वमकल्पयते।'** और आज की उन्नति भी एक दिन सागर में डूब जायेगी। इसका कारण विकास तो हुआ है, परन्तु साथ साथ मानव कितना भयभीत हुआ है! लोग भय से ऊब जायेंगे और आज खोज किया हुआ अणु *(Atom)* का परिमाप सागर में छोड़ देंगे तभी सभी को शान्ति मिलेगी, तभी सबको, गरीबों को भी खाने को मिलेगा। आज संरक्षण *(Defence)* के लिए कितना खर्च हो रहा है? उसके कारण कितने ही लोगों को खाना भी नहीं मिलता है। एक दिन ऐसा आयेगा भी! पुराने समय इसी प्रकार लोगों ने

नारायणास्त्र को नमस्कार करके 'आज से तेरी आवश्यकता नहीं' ऐसा कहकर समुद्र में डूबा दिया था। समाज में एक दिन ऐसा भी आता है। जो लोग समाज का चिन्तन करते हैं उनके जीवन में ऐसा दिन आता है।

कथा ऐसी है कि त्रिकूट पर्वत के एक सरोवर पर गजेन्द्र अपनी सहधर्मचारिणी और बच्चों के साथ गया था। वह सरोवर में सबको स्नान करा रहा था, साथ-साथ जलक्रीड़ा भी कर रहा था। अकस्मात् एक मगर ने उसका पैर पकड़ा और उसको जल में खींचा। उसकी पकड़ से छूटने का गजेन्द्र अथक प्रयत्न किया। उसका प्रयत्न बहुत दिनों तक (भागवतकार ने तो लंबा समय लिखा है) चलता है, परन्तु उसे यश नहीं मिला। अन्त में उसने भगवान का स्तवन किया ऐसी कथा है। गजेन्द्र ने इतना अच्छा स्तवन किया इसका भी कारण है।

गजेन्द्र पूर्वजन्म में एक राजा था। उसका नाम इन्द्रद्युम्न था और वह महान भक्त था। भागवत का एक ही कहना है और वह है भक्ति! दूसरी कोई बात समझाने के लिए भागवत है ही नहीं और इसी दृष्टि से भागवत की ओर देखना चाहिए।

इन्द्रद्युम्न गत जन्म में राजा था, मगर भक्त था। पूर्व जन्म के संस्कार जन्म जन्मान्तर तक काम आते हैं। इन्द्रद्युम्न द्रविड देश का राजा था, विष्णुभक्त था और परम्परा के अनुसार राज्यपद छोड़कर तपश्चर्या करने चला गया था। वह एक दिन विष्णु भगवान की पूजा कर रहा था, तब वहाँ अगस्ति मुनि आये। इन्द्रद्युम्न राजा स्वागत के लिए सामने नहीं आया और सम्मान न कर एकान्त में बैठा रहा। यह देखकर अगस्ति मुनि को क्रोध आया और उन्होंने राजा को शाप दिया कि 'इस दुष्ट दुरात्मा राजा की बुद्धि पर अच्छे संस्कार नहीं हैं और यह ब्राह्मणों का अपमान कर रहा है, इसलिए यह अज्ञानरूप अन्धकार में गिर पड़े और हाथी जैसी बुद्धि होने पर यह घमण्डी होने के कारण इसे हाथी का जन्म प्राप्त हो।' परिणामस्वरूप इतना अच्छा, पवित्र, विकसित जीव हाथी बन गया।

यहाँ एक समझने जैसी बात है। आगे नवम स्कन्ध में अम्बरीष राजा की कथा आयी है। अम्बरीष राजा ने भी इसी प्रकार दुर्वासा ऋषि का अपमान किया था। दुर्वासा भी अम्बरीष को शाप दिया परन्तु वही शाप दुर्वासा को कष्ट दिया और यहाँ शाप का परिणाम इन्द्रद्युम्न को भोगना पड़ा, अगास्ति को नही! यह विचित्र लगता है।

जो विचारक, अभ्यासु व संशोधन करनेवाले हैं, उन्हें लगेगा कि भागवतकार इस प्रकार भिन्न-भिन्न चित्रण क्यों करते हैं? इन्द्रद्युम्न व अम्बरीष की स्थिति एक ही है। एक ने अगस्ति का अपमान किया तो दूसरे ने दुर्वासा का अपमान किया। दुर्वासा ने शाप दिया तो उसका परिणाम दुर्वासा को ही भोगना पड़ा। अम्बरीष को नहीं! ऐसा क्यों? अम्बरीष कथा में भागवतकार ने विष्णुभक्ति का माहात्म्य समझाया है और इन्द्रद्युम्न की कथा में भागवतकार को कर्म तथा ब्राह्मण का माहात्म्य समझाना है। भागवत पढ़ते समय, आगे-पीछे का (पूर्वापर) सन्दर्भ देखकर पढ़ना चाहिए। बिना संदर्भ देखकर पढ़ेंगे तो पाठक ऐसा ग़लत अर्थ निकालते हैं।

अम्बरीष की कथा में भागवतकार समझाते हैं कि जो विष्णुभक्त होंगे उनको कोई शाप नहीं दे सकता। इन्द्रद्युम्न की कथा में दो बातें समझायी हैं। इन्द्रद्युम्न को अकारण सजा मिली। वह कदाचित् गैरसमझ *(misunderstanding)* से हुई होगी, परन्तु उसमें कर्म का माहात्म्य समझाना है। अगस्ति क्रोधित क्यों हुए? उनको क्रोध क्यों आया? एक ही कारण था। उन्हें लगा कि इन्द्रद्युम्न राजा यहाँ स्नान-संध्या आदि करने के लिए राज्यपद छोड़कर क्यों आया है? गैरसमझ हुई होगी या नहीं? कैसे हुई इसकी चर्चा में मैं नहीं पड़ता हूँ। भागवतकार को क्या समझाना है, यह समझना चाहिए। अगस्ति आये और उन्होंने देखा कि राजा राज्य का कारोबार छोड़कर यहाँ स्नान सन्ध्या करने आया है। यह योग्य नहीं है।

इतिहास में ऐसी एक घटना हुई है। माधवराव पेशवा दक्षिण में राज्यकारोबार सँभालता था। उस समय रामशास्त्री प्रभुणे प्रमुख न्यायाधीश *(Chief Justice)* थे। उनके जैसा मुख्य न्यायाधीश कभी हुआ नहीं होगा। वह भी एकतंत्रीय राजसत्ता के काल में, प्रजातंत्र में नहीं। एकतंत्रीय राजसत्ता में उनको किसी का आधार नहीं था, कोई सँभालनेवाला भी नहीं था। उस समय ईश्वर पर श्रद्धा रखकर, स्वधर्म के प्रति श्रद्धा रखकर निर्णय लेना था। जहाँ कुर्सी का आश्वासन है, संरक्षण है ऐसे प्रजातंत्र में कदाचित् वैसा निर्णय लिया भी जाता होगा, उसमें कोई बड़ी बात नहीं है।

रामशास्त्री प्रभुणे चार पाँच बार माधवराव पेशवा से मिलने गये, राज्य के कार्य के सम्बन्ध में ही मिलने गये, परन्तु पेशवा नहीं मिले। खोज करने पर पता चला कि पेशवा स्नान-सन्ध्या, होमहवन, यज्ञ में ही व्यस्त हैं। अन्त में पेशवा मिलते हैं तब रामशास्त्री प्रभुणे ने उन्हें स्पष्ट भाषा में कहा कि यदि आपको स्नान-सन्ध्या, यज्ञयागादि कर्म करने हैं तो राज्यपद छोड़कर कनखल जाकर बैठिये। राज्यगद्दी पर बैठे हैं तो राज्य का कारोबार ठीक तरह से चलाना चाहिए। वह आपका कर्तव्य है। माधवराव पेशवा ने रामशास्त्री का कहना मान्य किया।

इसी प्रकार इन्द्रद्युम्न राजा को देखकर अगस्ति को लगा कि वह राज्य करोबार छोड़कर आया है और इसलिए उन्होंने राजा को शाप दिया। इसका कारण कदाचित् उनकी गैरसमझ भी होगी। दूसरी बात, ब्राह्मणमाहात्म्य इस कथा में समझाना है। ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा सँभालना, उनको सम्मान देना उचित है। शिक्षक, ब्राह्मण और गुरु को, प्रत्येक व्यक्ति को योग्य सम्मान देना ही चाहिए, भले ही वह राजा हो!

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

यहाँ ब्राह्मणमाहात्म्य जातिमाहात्म्य नहीं है। शिक्षण में यह एक मानसिक मुद्दा *(psychological point)* है। जो संस्कार देता है, शिक्षा प्रदान करता है उसको शिक्षा लेनेवाले को श्रेष्ठ समझना चाहिए। यदि वह श्रेष्ठ नहीं समझेगा तो शिक्षा तथा संस्कार के परिणाम नहीं होंगे। अपनी आवश्यकता समझकर ब्राह्मण को नमस्कार करना चाहिए, शिक्षक

को बड़प्पन देना चाहिए, गुरु को महान मानना चाहिए वह गुरु के लिए नहीं, बल्कि अपने लिए है। यह ब्राह्मण का जातिमाहात्म्य नहीं है, अपितु यह कार्यमाहात्म्य है। उसको श्रेष्ठ मानेंगे तभी वह जो कहेगा उसका आप पर परिणाम होगा, अन्यथा नहीं! इसलिए ब्राह्मणमाहात्म्य गाया है। जिससे संस्कार ग्रहण करने हैं वह महान् लगना ही चाहिए।

पानी नैसर्गिक रीति से नीचे की ओर ही बहता है। उसके लिए शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती, परिश्रम की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। पानी को यदि ऊपर ले जाना हो तो उसके लिए परिश्रम करना पड़ता है। समाज को **प्रवृत्तरेषा भूतानां निवृत्तस्तु महाबलम्'**- नीचे ले जाने के लिए किसी बात की आवश्यकता नहीं होती। गत तीस-पैंतीस वर्षों में हममें बहुत परिवर्तन *(change)* हुआ है ऐसा कहते हैं, परन्तु परिवर्तन *(change)* का अर्थ विकास नहीं है। उसमें मनुष्य का अध:पतन भी हुआ होता है। समाज को, मनुष्य को ऊपर ले जाना हो तो गुरु को कठिन परिश्रम करने पड़ते हैं। समाज में एक भी गुण लाना हो तो वह अत्यन्त कठिन कार्य है। यह बात इतनी सरल नहीं है कि सुनने के लिए आये और आ गये संस्कार! ऐसा नहीं होता। ऐसे कितने ही पागल लोग हैं जो कहते हैं, 'आप सुनने के लिए जाते हैं तो फिर ऐसे ही कैसे रहे?' मनुष्य सुनने के लिए जाता है तो क्या तुरन्त सुधर जाता है? क्या वसिष्ठ का कोई साँचा है कि उसमें डाल दिया कि मनुष्य बन गया वसिष्ठ? ऐसा नहीं हो सकता।

मनुष्य को समझाना है। उसका जड़ नहीं है। उसे सुबह जो अच्छा लगता है वह दोपहर को अच्छा नहीं लगता। रात्रि में जो लगता है वह सुबह नहीं लगता। एक विचार स्थिर रखकर उसके दिमाग में उतारना है, जीवन में ले जाना है। यह बहुत कठिन बात है। इसलिए भारतीय संस्कृति में ब्राह्मणमाहात्म्य और ब्राह्मणमहत्त्व आये हैं। वह कार्य-महत्व है। उसके बिना मनुष्य पर संस्कार नहीं होंगे और लोग उससे संस्कार या विचार नहीं लेंगे।

अगस्ति का अनादर होने से इन्द्रद्युम्न को शाप मिला। शाप मिलने से वह हाथी बना। मगर हाथी का पैर खींचने लगा। उससे बचने के लिए हाथी ने अपनी शक्ति का उपयोग किया। लोग समझते हैं कि जब तक अपनी शक्ति प्रयुक्त की जाती है तब तक भगवान सहायता नहीं करते। इसलिए शक्ति का प्रयोग करना छोड़कर बैठ जाओ, फिर भगवान सहायता करेंगे। तो क्या शक्ति का उपयोग न करनेवाले मूर्खों की भगवान सहायता करते हैं? क्या निष्क्रिय व्यक्ति की भगवान सहायता करते हैं? भगवान स्वयं इतने सक्रिय हैं, उनका निष्क्रिय पर प्रेम भी कैसे होगा? कितने ही करनेवाले कहते हैं कि 'जब तक गजेन्द्र ने अपनी शक्ति सरोवर से बाहर आने में लगायी तब तक भगवान नहीं आये। जब उसने अपनी शक्ति का उपयोग करना छोड़ दिया और भगवान को पुकारा तब भगवान आये ऐसा लिखा है।' वास्तव में ऐसा नहीं है। मनुष्य के पास जितनी शक्ति है उतनी प्रयुक्त करनी चाहिए तभी उसको भगवान की सहायता मिलती है। गजेन्द्र के पास जितनी शक्ति थी उसे यदि वह प्रयुक्त करता और केवल भगवान को पुकारता तो भगवान भी बेकार नहीं बैठे थे कि उसकी सहायता के लिए दौड़ जाते। इस कथा में ऐसा वर्णन है कि गजेन्द्र ने

अपनी संपूर्ण शक्ति काम में लगायी और अन्त में भगवान को पुकारा। आज का गजेन्द्रभाई क्या कहता है, जब तक गजेन्द्र ने अपनी शक्ति का उपयोग किया तब तक भगवान नहीं आये, इसीलिए अपनी शक्ति का उपयोग करना छोड़कर भगवान की शरण जाकर उन्हें बुलाना चाहिए।' इस गजेन्द्रभाई को कुछ मिलनेवाला नहीं है।

वैदिक विचारधारा यह है कि जब तक अपनी शक्ति का उपयोग करके थक नहीं जाते तब तक भगवान दोस्ती नहीं करते- **ऋते श्रान्तस्य न सख्याय देवाः।**' भागवत की विचारधारा भी वेदों को छोड़कर नहीं है। तुम यदि मेहनत, परिश्रम करते होंगे तो भगवान तुम्हारी सहायता करने जरूर आयेंगे। हम अपनी शक्ति का उपयोग ही नहीं करेंगे और भगवान को पुकारेंगे- **असेल माझा हरी तर देईल खाटल्यावरी-** तो भगवान नहीं आयेंगे, सहायता नहीं करेंगे। यह बात समझाने के लिए भागवतकार ने गजेन्द्र की कथा कही है। कितने वर्षों तक गजेन्द्र ने कठोर परिश्रम किये उसका उसमें वर्णन है।

गजेन्द्र ने स्तुति करते हुए कहा, 'भगवान! मैंने अपनी संपूर्ण शक्ति प्रयुक्त की है, अब आपको आना ही चाहिए, और मेरा उद्धार करना चाहिए।' उस समय भगवान की स्तुति गायी है। भागवत में बार-बार ईश-स्तवन आता है इसलिए उसका महत्त्व है। गजेन्द्र द्वारा की हुई स्तुति अत्यंत सुन्दर व मनोहारी है। वह कहता है-

'देह को सचेतन करनेवाले प्रभु को मेरा नमस्कार है।' हम समझ नहीं पाते कि देह को सचेतन करनेवाला कौन है?' मनुष्य यही समझता है कि 'मैं ही देह को सचेतन करता हूँ।' गजेन्द्र कहता है कि 'देह को सचेतन करनेवाले भगवान हैं। उनको मैं नमस्कार करता हूँ, बारंबार नमस्कार करता हूँ।' श्रीमदाद्य शंकराचार्य भी कहते हैं कि

देहस्त्रीपुत्रमित्रानुचरहयवृषास्तोषहेतुर्ममेत्थं
सर्वे स्वायुर्नयन्ति प्रथितमलममी मांसमीमांसयेह।
एते जीवन्ति येन व्यवहृतिपटवो येन सौभाग्यभाजः।
तं प्राणाधीशमन्तर्गतममृतममुं नैव मीमांसयन्ति।। (शतश्लोकी-५)

हम शीशे में अपना मुँह देखते हैं तब ऐसा नहीं लगता कि यह वैभव किसने दिया है? क्यों दिया है? अन्दर यदि राम नहीं होंगे तो वह संपूर्ण वैभव बेकार हो जाता है, इसलिए गजेन्द्र कहता है कि देह को सचेतन करनेवाले प्रभु को मेरा नमस्कार है। यह अतिशय सुन्दर वर्णन है, इसके मूल श्लोक ही पढ़ने चाहिए।

'भगवान! आप स्वयंसिद्ध हैं। आप वासना या कर्म से काम नहीं करते।' हम वासना तथा पूर्वजन्म के कर्म से काम करते हैं। हम कोई भी काम वासना से करते हैं। प्रेरणा *(Incentive)* के बिना हम काम नहीं करते। उसीको वासना कहते हैं। पूर्वजन्म कर्म की शक्ति *(Force)* हमें खींचकर ले जाती है। हमें भगवद्गीता पाठशाला में नहीं जाना है, परन्तु पूर्वजन्म का कर्म इतना प्रभावी होता है कि वह हमें खींचकर पाठशाला में ले जाता है। फिर वहाँ हम सातत्य रखकर टिकेंगे या नहीं वह हमारे हाथ की बात है। पूर्वजन्म का कर्म

हमें अच्छे स्थानों में ले जाता है। इतना काम वह करता है। फिर वहाँ टिकना या न टिकना यह हमारे हाथ की बात है। इस प्रकार वासना और कर्म के कारण हम काम करते हैं। परन्तु भगवान! आपने इतनी कृति की! आप स्वयंसिद्ध हैं। आपने वासना से इस सृष्टि की निर्मिति नहीं की है। इसलिए सृष्टि दोषरहित है।

आज लोग पूछते हैं कि भगवान ने सृष्टि क्यों बनायी? क्या भगवान को कोई वासना थी?' इसका कारण वासनारहित व्यक्ति कुछ काम करेगा यह हमारे मस्तिष्क में उतरता ही नहीं। कर्मप्रेरणा क्या है? यह हमारे लिए समस्या है। लोगों को लगता है कि भगवान को भी प्रेरणा *(Incentive)* होगी इसीलिए तो उन्होंने यह सृष्टि बनायी, अन्यथा यह सृष्टि बनाने का कारण क्या है?' ऐसा पूछनेवाले लोग बेकार हैं। वे विकसित जीव *(Developed soul)* नहीं समझ सकते।

वासना से सृष्टि का निर्माण नहीं हुआ यह जब समझेंगे तभी कर्म किस तरह करना है यह भी समझ में आ जायेगा। उसी प्रकार भगवान के सिर पर कर्म आ पड़ा है, वह करना ही चाहिए, इसलिए भगवान कर्म नहीं करते। हमारी देखभाल भगवान को करनी ही चाहिए। यह कार्य सिर पर आ पड़ा है, इसलिए भगवान नहीं करते। भगवान हमें प्रेम से सँभालते हैं। वह प्रेम भी निरपेक्ष तथा निराकांक्ष है। गजेन्द्र ने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। गजेन्द्र द्वारा-पशुयोनि के जीव द्वारा की हुई प्रार्थना भी हम मानते हैं। हमारे यहाँ का तत्त्वज्ञान वैसा भेद करेगा तो दो जगत् मानव-जगत् व पशुजगत् मानने पड़ेंगे। कुछ लोग, मानव हमेशा मानव *(Man is ever man)* ही रहता है ऐसा मानते हैं। वे तर्क करते हैं कि एक बार मनुष्य बना कि वह मनुष्य ही रहेगा, परन्तु हमारा शास्त्र वह मान्य नहीं करता। वह कहता है कि मनुष्य पशु भी बन सकता है। अन्यथा पशु और मानव ऐसे दो भिन्न जगत् मानने पड़ेंगे। पशु जगत् *(Animal world)* और मानव जगत् *(Human world)* भिन्न नहीं हैं। वे अलग अलग मानना शास्त्रीय भी नहीं है।

गजेन्द्र ने सुन्दर स्तुति की है। उसमें पूर्वजन्म के संस्कार किस प्रकार काम करते हैं यह दिखायी देता है। 'भगवान स्वयंसिद्ध हैं, वे वासना से काम नहीं करते। वैसे, काम किया है तो उन्हें सृष्टि को सँभालना ही पड़ेगा न? सँभालना चाहिए इसलिए भी सँभालते नहीं। उन्होंने वासना के बिना सृष्टि निर्माण की है, वह दोषरहित है, वे प्रेम से उसे सँभालते हैं' ये सभी बातें समझ लेनी चाहिए और वैसा जीवन बनाना चाहिए।

'भगवान! आप स्वयंप्रकाश हैं। आप नेत्रादिकों को प्रकाश देनेवाले हैं, आपको मेरा नमस्कार है।' नेत्रादि इंद्रियों को प्रकाश देनेवाले भगवान हैं इसलिए 'नेत्रों से मुझे भगवान दिखाओ' ऐसा हमारा हाथी भी नहीं बोलता। क्योंकि वह भी तो भारतीय संस्कृति का हाथी है! कुत्ता भी नहीं बोलेगा, क्योंकि उसे मालूम है कि जिन इन्द्रियों को प्रकाश देनेवाले भगवान हैं उन इन्द्रियों से भगवान का ज्ञान कैसे होगा? मूर्ख लोग ही ऐसा कहते हैं कि हमें भगवान दिखाओ तभी हम भगवान को मानेंगे।

भगवान हैं ही। ऐसी अनेक बातें हैं जो दिखायी नहीं देती, फिर भी हम मानते हैं कि वे हैं। आप काम-चेष्टा करते हैं, परन्तु उस कामशक्ति को क्या आपने देखा है? क्या वात्सल्य आपने देखा है? नहीं, तो भी आप उनको मानते हैं या नहीं? किं बहुना उनका उपयोग भी करते हो। ऐसी और भी अनेक बातें हैं। बिजली *(Electricity)* के रूप का किसी को पता है? उसका कार्य *(Functioning)* मालूम है, परन्तु रूप का पता नहीं है, फिर भी बिजली है ऐसा मानते हैं। फिर भी भगवान दिखाओ ऐसा उनका आग्रह है। 'भगवान दिखाओ- फिर मैं मानूँगा' ऐसा हमारा पशु भी नहीं कहता है। वह (गजेन्द्र) कहता है, 'भगवान! आप स्वयंप्रकाश हैं। आप भी नेत्रों को प्रकाश देनेवाले हैं, आपको प्रत्यक्ष देखने का मेरा आग्रह नहीं है।'

'भगवान! आप अन्धकार से परे हो। जब अन्धकार हट जायेगा तभी भगवान आप मिलेंगे।' भगवान कब मिलेंगे यह इस स्तुति में समझाया है। जब बुद्धि में से अन्धकार जाकर प्रकाश आयेगा तब भगवान मिलेंगे। बुद्धि में अन्धकार है, प्रकाश नहीं है। मैं जगत् में क्यों आया हूँ, किसलिए आया हूँ, मैं किसका हूँ, मुझे क्या करना है, कहाँ जाना है आदि बातों के सम्बन्ध में अन्धकार है। जब तक यह अन्धकार है तब तक भगवान नहीं मिलेंगे। 'भगवान! आप अन्धकार से परे हो, इसलिए आपको नमस्कार।' बहुत सुन्दर वर्णन है।

भगवान को तप से अथवा बुद्धि से नहीं देखा जा सकता। कोई महान बुद्धिशाली होगा। बहुत से लोगों को बुद्धि होती है, परन्तु भगवान को देखने या भगवान का अनुभव करने के वे अधिकारी नहीं हैं। सच्चे अर्थ में तपस्वी भी भगवान का अनुभव करने के अधिकारी नहीं हैं। आज के काल में, किसीने खाना छोड़ दिया, उपवास करने लगा कि हम उसको तपस्वी समझते हैं। ऐसे तपस्वियों की बात ही छोड़ दो। सच्चे तपस्वी को भी भगवान नहीं मिलते। कुछ निश्चित ध्येय के लिए, खाना छोड़ दिया होगा तो वह सच्चा तपस्वी है। **'तपो द्वंद्वसहनम्-'** निश्चित ध्येय के लिए ही जो सुख दुःख सहन करता है वह तपस्वी है।

यह भारत की भूमि पूर्णतया भगवानवादी *(God-intoxicate)* है। इस भूमि में पूर्ण जड़वाद *(Communism)* का तत्त्व जिन्होंने फैलाया है, उसके पीछे उन लोगों की कठोर तपस्या है। बिना तप के किसी को यश नहीं मिलता। इसी स्कन्ध में आगे देव-दैत्य का वर्णन आता है। केवल तप और बुद्धि से भगवान नहीं मिलते ऐसा लिखा है।

'शक्तिशाली ऋषि भी जिनको समझने के लिए भोगों को छोड़ देते हैं ऐसे भगवान, आपको मेरा नमस्कार! ऋषि के पास जबरदस्त शक्ति थी फिर भी उन्होंने भोगों का त्याग किया था। जो लोग भोगलंपट हैं, जिनके मस्तिष्क में केवल भोग ही हैं उन्हें तो भगवान नहीं मिलते।

'भगवान! ब्रह्मस्वरूप होने से आप **अरूप** हैं! अनन्त शक्ति होने से आप बहुरूपी हैं। कितना सुन्दर वर्णन है? आप निर्गुण हैं और सगुण भी हैं। **'सगुण निर्गुण दोन्ही**

विलक्षण।' भगवान सगुण भी हैं और निर्गुण भी हैं। एक समभावच्छेद *(Simultaneously)* एक ही शरीर में सगुणता व निर्गुणता रहती है। उसकी चर्चा अभी हम नहीं करते।

फिर गजेन्द्र कहता है, 'वाणी, मन और चित्त से जो अगोचर हैं, ऐसे भगवान को मेरा नमस्कार!' भगवान के बारे में समझना कठिन है। वे वाणी के लिए अगोचर हैं, उनका चिन्तन कष्टसाध्य है, क्योंकि वे अज्ञात *(unknown)* हैं। जिनको भगवान का साक्षात्कार हुआ होगा, जिनको भगवान के स्पर्श की अनुभूति हुई होगी वे किस भाषा में कहेंगे? किस तरह कहेंगे? और समझनेवाले समझेंगे भी कैसे? इसलिए वाणी, मन और चित्त से अगोचर ऐसे भगवान! आपको मेरा नमस्कार!

इस वर्णन में साधक के लिए कुछ तत्त्वज्ञान की बातें भी समझायी हैं। भगवान वाणी से अगोचर है। जो फलेच्छारहित बनकर शुद्धचित्त के होते हैं उनको ही भगवान की प्राप्ति होती है। कोई भी मनुष्य उन्हें बुलाये और तुरन्त वे आ जाएं ऐसे भगवान नहीं हैं। जो स्त्री भोगलंपट है उसके बुलाने से क्या भगवान आते हैं? नहीं आते! जो फलेच्छारहित कर्मों से शुद्धचित्त बना है उसीको भगवान के स्पर्श का पता चलता है।

फिर कहता है, 'जो शान्त हैं और घोर हैं ऐसे भगवान को नमस्कार!' भगवान कैसे हैं? **'नमः शान्ताय तेजसे...'** हमारे स्वाध्याय परिवार ने यही स्वीकार किया है। भगवान शान्त हैं तो क्या चाहे वह करने की छूट है? नहीं! वे जैसे शान्त हैं वैसे घोर, तेजस्वी भी हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ करेंगे, तो वे जला देंगे। वे शान्त भी हैं और तेजस्वी भी हैं।

ऐसा सारा तत्त्वज्ञान इस स्तुति में आ गया है। भगवान कैसे हैं? तो कहते हैं, **'क्षेत्रज्ञ'** हैं और **सर्वाध्यक्ष, सर्वसाक्षी** हैं। भगवान क्षेत्रज्ञ हैं यह गीता में कहा है। **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।'** शरीर बनानेवाले भगवान हैं। वे सर्वाध्यक्ष, सबके अधिपति हैं। सभी इन्द्रियों के अधिपति भगवान हैं। मनुष्य जब भगवान की स्तुति करता है तब वह अपनी ही ओर देखता है, विश्व की ओर नहीं देखता। हम किसी कोने में भी कुछ करेंगे तो भगवान को पता चल जाता है क्योंकि वे सर्वसाक्षी हैं।

फिर कहते हैं, 'सबका कारण भगवान हैं, फिर भी वे निष्कारण हैं' इसलिए वे दोषरहित हैं। ऐसा क्यों कहा है गजेन्द्र ने? इसके लिए दर्शनशास्त्र का अभ्यास करना पड़ेगा। 'भगवान ने सृष्टि बनायी है' ऐसा कहने में दर्शनशास्त्र को कुछ कठिनाई है। वैसा कहने में भगवान पर **वैषम्य नैर्घृण्य** का दोष आता है। दर्शनशास्त्र कहता है कि ब्रह्म में से सृष्टि का उद्भव हुआ है।

गजेन्द्र कहता है, 'सबका कारण होते हुए भी भगवान! आप निष्कारण हैं।' शास्त्रवासना के चले जाने पर जो मिलते हैं ऐसे भगवान को मेरा नमस्कार है!

जहाँ तक शब्द की पहुँच है वहाँ तक मैं जा सकता हूँ। यह बहुत बड़ा तत्त्वज्ञान है। मन की कार्यकक्षा शब्द के जितनी मर्यादित है। *If there is no naming and terming there is no operative mind*। हम क्या करते हैं? कोई भी विकार आने पर उसका नामकरण करते हैं। वह नामकरण करना छोड़ दो ऐसा तत्त्ववेत्ता कहते हैं। *If there is no naming, there is no operative mind*। जहाँ नामकरण नहीं है वहाँ मन की कार्यकक्षा भी नहीं है। मन की कार्यकक्षा शब्द के जितनी ही मर्यादित है। जहाँ शब्द नहीं पहुँचता वहाँ मन भी नहीं पहुँचता। शास्त्रवासना जब तक निकल नहीं जाती तब तक भगवान नहीं मिलते ऐसा तत्त्ववेत्ता कहते हैं।

गजेन्द्र कहता है कि 'संकट के समय आनेवाले व 'दयापूर्ण भगवान को मेरा नमस्कार!' अर्थात् भगवान पर कोई संकट ही नहीं आता इसलिए वे हमारा संकट दूर कर सकते हैं। वे स्वयं ही संकट में आते हों तो दूसरे की सहायता कैसे कर सकते हैं। थर्मामीटर को अपना खुद का ज्वर नहीं है इसलिए वह दूसरे का ज्वर माप सकता है। यदि थर्मामीटर को खुद का ज्वर होगा तो वह दूसरे का ज्वर कैसे नाप सकता है?

भगवान स्वयं बँधे हुए नहीं हैं, इसलिए वे दूसरे को बंधन से मुक्त कर सकते हैं। फिर कहते हैं, "भगवान समीप होने पर भी, देह-पुत्र में और उनकी आसक्ति में फँसे हुए लोगों को भगवान नहीं मिलते। ऐसे भगवान को नमस्कार!

भगवान मनुष्य के पास ही हैं। देह, स्त्री, पुत्र की आसक्ति में फँसे हुए मनुष्य का प्रेम मोड़ लेता है। उसका प्रेम भगवान के बदले पत्नी की ओर, पुत्र, देह की ओर मुड़ जाता है। तो क्या पुत्र, पत्नी या देह के प्रति प्रेम नहीं करना चाहिए? यह समस्या है। नहीं! यह समस्या नहीं है। पत्नी के प्रति, पुत्र के प्रति प्रेम अवश्य करना है, पर वे भगवान के हैं, इसलिए प्रेम करना है। पत्नी और पुत्र तो उन्हीं के दिये हुए हैं, इसलिए उन पर प्रेम है' यह समझ आने पर प्रेम को मोड़ नहीं मिलता, कारण पत्नी या पुत्र पर प्रेम करेंगे तो भी वह प्रेम भगवान पर ही है। इस प्रकार शास्त्र में पत्नी पर प्रेम करने की छूट है अतः ग़लतफहमी होने की आवश्यकता नहीं है। भगवान के विचार सुनने के लिए जानेवालों का पत्नी के प्रति प्रेम कम नहीं होता। उस प्रेम का रूप बदल जायेगा। इतना ही समझ लो कि पत्नी व पुत्र भगवान के दिये हुए हैं। यह नहीं भूलना चाहिए फिर उन पर प्रेम करने में कोई बाधा नहीं है।

फिर कहता है, 'सर्व प्रकार के भोग व जो माँगा नहीं ऐसा शरीर देनेवाले भगवान आप हैं, तो क्या आप मेरी सहायता नहीं करेंगे? सभी भोग किसने दिये हैं? आपने ही दिये हैं। मैंने शरीर नहीं माँगा था, फिर भी आपने मुझे शरीर दिया है। तो फिर आपसे सहायता माँगने की भी क्या आवश्यकता है? भगवान! मैंने अपनी पूरी शक्ति आपके लिए प्रयुक्त की है, अब आपको आना ही पड़ेगा और मेरी सहायता करनी पड़ेगी!'

शुद्ध बने योगियों के हृदय में जिनका ज्ञान होता है ऐसे भगवान! आप आइये और मेरी सहायता कीजिये।

इस गजेन्द्र-मोक्ष में गजेन्द्र द्वारा की हुई स्तुति बहुत ही सुन्दर है। ऐसी भिन्न भिन्न स्तुतियाँ इस ग्रंथ में हैं। उन पर बोलने जैसा है, परन्तु नारायणोपनिषद में आये हुए भागवत के अलग अलग स्तोत्रों पर विस्तार से विचार करेंगे तो नारायणोपनिषद रह जायेगा। हम भागवत पर स्वतंत्र विचार करने नहीं बैठे हैं। नारायण उपनिषद में 'नारायणपरता' विचारधारा है, वह जिस ग्रंथ में है, उस भागवत ग्रंथ को हम नमस्कार करते हैं। यह हमारा संशोधन भी नहीं है। यह तो नारायणपर महान् ग्रंथ भागवत को किया हुआ नमस्कार है।

गजेन्द्र द्वारा की हुई स्तुति लोकोत्तर है। लोग कदाचित् पूछेंगे कि क्या हाथी भी भगवान की स्तुति कर सकता है? क्यों नहीं कर सकता? प्रथम बात यह है कि भागवतकार की बुद्धि का कौशल्य है, दूसरी बात पूर्वजन्म का परिणाम कितना प्रभावी रहता है उसे समझाते हैं। गजेन्द्र पूर्वजन्म में इन्द्रद्युम्न नाम का महान् विष्णुभक्त था। गजेन्द्र द्वारा की हुई स्तुति मधुर काव्य है।

इसके बाद आठवें स्कन्ध में अमृतमन्थन-समुद्रमंथन की कथा आती है। देवता व असुरों में युद्ध हुआ और उसमें देवताओं की पराजय हुई यह उसकी पार्श्वभूमि है। देवताओं की पराजय हुई, इन्द्र का राज्य नष्ट हो गया और वह वैभवहीन बना। तब देवता ब्रह्मदेव के पास गये। ब्रह्मदेव उन्हें विष्णु भगवान के पास ले गये। वहाँ उन्होंने भगवान विष्णु की वैदिक मन्त्रों से स्तुति की। उस समय विष्णु भगवान ने देवताओं को समुद्रमंथन करके अमृत प्राप्त करने को कहा। उसके लिए असुरों को भी साथ लेने को कहा।

समुद्रमंथन करने के लिए मंदार पर्वत को मथनी बनायी और वासुकी नाग की रस्सी बनायी। देवासुरों ने समुद्रमंथन किया, उसमें से कालकूट विष निकला। उसे भगवान शंकर ने स्वीकारा। उसके बाद कामधेनु, उच्चैश्रवस, ऐरावत, कौस्तुभमणि, पारिजातक, सुरा, लक्ष्मी, अप्सरा, धन्वन्तरी, चन्द्र, शंख, कमल और अन्त में अमृत निकला। अमृत निकलने पर भगवान ने मोहिनीरूप धारण कर देवताओं को अमृत पिलाया और असुरों को बिना अमृत के रख दिया ऐसी सर्वसामान्य रूपरेखा समुद्रमंथन की है।

समुद्रमंथन का चित्र बहुत ही मनोहारी है इसमें सन्देह नहीं है। मथनी के उपयोग करने के लिए वे मंदराचल पर्वत उखाड़कर लाये। उसमें उन्हें कितनी परेशानी उठानी पड़ी उसका भी वर्णन है। संस्कृत साहित्य की दृष्टि से वह पढ़ने जैसा है। कुछ वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से, तो कुछ वर्णन उपदेश की दृष्टि से तो कुछ वर्णन साहित्यिक दृष्टि से होता है। जिसे हम साहित्यिक मूल्य *(Literary Value)* कहते हैं वह उसमें है, परन्तु यह एक रूपक है।

भागवतकार को रूपक में कहने की आदत है। प्रारंभ में पुरंजन राजा का रूपक कहा है। वह रूपक है यह स्वयं भागवतकार ने ही कहा है। पुरंजन आख्यान में जीव की परिस्थिति दिखाकर उसका रूपक बनाया है। समुद्रमंथन के वर्णन में वह रूपक है, ऐसा भागवतकार ने नहीं लिखा है। समुद्रमंथन का रूपक व्यवहार-कुशलता का दर्शन करानेवाला रूपक है। उसमें भगवान ने व्यवहार-कुशलता समझायी है।

देवता और दैत्य दोनों प्रभावी होते हैं। एक दैवी सम्पत्ति के लोग होते हैं और दूसरे आसुरी सम्पत्ति के होते हैं। दोनों के पास तप होता है और विद्या भी होती है। असुर भयानक होते हैं ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है। एक ऐसी कल्पना हो गयी है कि दैत्य-असुर वे हैं जिनके लंबे-लंबे दाँत हैं, भयानक-विकराल रूप है। परन्तु ऐसा लेखन कहीं भी नहीं है। असुरों के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना कैसे हुई इसका कुछ पता नहीं चलता। **'असुषु रमन्ते इति असुराः'** अपने प्राणों में ही रमनेवाले असुर हैं। 'खाओ, पीओ और मज़ा करो।' यही उनका जीवन-सूत्र होता है।

देवता और दैत्य दोनों तप तथा विद्या से प्रभावी होते हैं। समाज में हमेशा यह देखने मिलता है कि दैवी सम्पत्ति के लोग व आसुरी सम्पत्ति के लोगों में लड़ाई होती है तब उसमें दैवी सम्पत्ति के लोग हार जाते हैं। यह जानकर हमारे मन को धक्का लगता है। दैवी सम्पत्ति के लोग विजयी बने तो आसुरी सम्पत्ति के लोगों के हार जाने का हमारे मन को धक्का नहीं लगता। दैवी सम्पत्ति के लोगों की पराजय होती है तब मन को लगता है कि सात्त्विक लोगों का पराभव क्यों होता है? परन्तु देवताओं को पराजय का स्वीकार करना ही पड़ता है। उनकी दुर्दशा के कारण भी पराभव होता है।

तप तो दोनों के पास होता है, परन्तु देवता निश्चिन्त रहते हैं। सात्त्विक लोग हमेशा निश्चिन्त रहते हैं। देवताओं के पराभव के दो-तीन कारण हैं। एक तो देवता नीतिनिपुण होते हैं इसलिए उनकी पराजय होती है। वे निश्चित मार्ग से हार जाते हैं। उलटा-सीधा, बेढंगा तरीका उनको स्वीकार्य नहीं है। दैत्यों का तो नीति-निपुणता के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। स्वार्थ साधने के लिए वे किसी भी मार्ग को अजमाने को तैयार हो जाते हैं। दूसरी बात, देवता भोगलंपट होते हैं, इसलिए उनको पराजय का स्वीकार करना पड़ता है। जब वैभव आता है तब मनुष्य भोगलंपट बनता है। उसके बाद भोग या त्याग इनमें से मार्ग निकालना चाहिए और उसके लिए जो समतोल *(Balance)* रखना चाहिए वह उनके जीवन में नहीं होता। परिणामस्वरूप उनकी पराजय होती है। तीसरी बात यह है कि देवताओं को ऐसा लगता है कि 'हम भगवान को मानते हैं, इसलिए हमें भगवान की मदद मिलेगी, असुरों को भगवान की मदद नहीं मिलेगी। ऐसा समझकर वे निश्चिन्त रहते हैं।

मुक्ति की दृष्टि से वे आत्मलक्ष्यी *(Egocentric)* बन जाते हैं। उनको दूसरे से कोई वास्ता नहीं रहता। भगवान का लाड़ला बनना है और मुक्ति प्राप्त करनी है ऐसी उनकी विचारधारा होती है। परिणामस्वरूप वे संगठित नहीं रहते, परन्तु असुर संगठित रहते हैं।

सात्त्विक लोगों को इस बात का सचमुच विचार करना चाहिए। इस सृष्टि में सत्तर प्रतिशत लोग अनुयायी होते हैं और तीस प्रतिशत लोग तज्ज्ञ-बुद्धिशाली *(Experts)* होते हैं। इन तीस प्रतिशत लोगों में से पन्द्रह प्रतिशत लोग दैवी विचार के होते हैं और शेष पन्द्रह प्रतिशत आसुरी विचार के होते हैं। पन्द्रह प्रतिशत सात्त्विक वृत्ति के लोगों में एकता नहीं होती। वे सब अलग अलग होते हैं। वे व्यक्तिगत रूप में अच्छे होते हुए भी साथ बैठकर एक नहीं रहते। जब कि आसुरी वृत्ति के पन्द्रह प्रतिशत लोग संगठित होते हैं और उनका सत्तर प्रतिशत लोगों के साथ अच्छे से अच्छा सम्बन्ध और सम्पर्क होता है। अतः वे सत्तर प्रतिशत लोग आसुरी वृत्ति के लोगों के साथ मिलते ही उनकी संख्या पचाशी प्रतिशत हो जाती है। उनके सामने दैवी वृत्ति के पन्द्रह प्रतिशत लोग रह जाते हैं।

समझ लीजिए कि समाज के अन्तिम व्यक्ति तक आसुरी वृत्ति के लोग रोटी, कपड़ा लेकर पहुँचे तो स्वाभाविक ही उन पर आसुरी वृत्ति के लोगों का ही प्रभाव रहेगा। *Eat, drink and be merry* ऐसी भौतिक दृष्टिवालों का ही प्रभाव रहेगा और वे लोग स्वार्थ की दृष्टि से भी एकत्र ही रहेंगे। समाज में स्वार्थ की दृष्टि से लोग एकत्र ही रहते हैं। भिन्न भिन्न संगठन हैं, उनमें एकता होती है। उनके पीछे केवल स्वार्थ ही होता है, कोई तत्त्वज्ञान नहीं होता। मजदूरों की युनियन स्वार्थ के लिए होती है वैसे ही मिल-मालिकों का संगठन भी स्वार्थ के लिए ही होता है। अन्यथा कौन किसको माननेवाला है? कौन किसको पूछनेवाला है?

सभी स्वार्थ से भरे हुए दैत्य लोग ऐसा समझते हैं कि 'हम पन्द्रह प्रतिशत लोग एकत्र मिलकर रहेंगे तभी हममें शक्ति *(Force)* निर्माण होगी' इसलिए वे मिलकर रहने का प्रयत्न करते हैं, जब कि दैवी सम्पत्ति के लोगों को एकत्रित रहना ही नहीं है, अलग ही रहना है। उसका परिणाम क्या होता है? पन्द्रह प्रतिशत बुद्धिशाली व तज्ज्ञ *(Expert)* लोग एकत्र आते ही प्रभावी बनते हैं, उनकी शक्ति *(Power)* खड़ी हो जाती है और यह इंजिन जब सत्तर प्रतिशत लोगों के डिब्बों से मिल जाता है तब पचासी प्रतिशत लोग भौतिक दृष्टि के बन जाते हैं। खाओ, पीओ और मजा करो, दूसरा कुछ है ही नहीं। चीनी, गुड़ और मिट्टी का तेल आदि भौतिक चीजें कहाँ से व कैसे मिलेंगी इन्हींका विचार करना है। इन बातों के बिना जीवन में दूसरा कुछ है ही नहीं। बस्स! लेनेवाले पुकारनेवाले, बेचनेवाले, रखनेवाले, सँभालनेवाले सब वही एक बात बोलते हैं। जब पचासी प्रतिशत समाज ऐसा बन जाता है तब समाज में कहा जाता है कि आसुरी वृत्ति बढ़ गयी है, कलियुग आ गया है। उस समय भी समाज में पन्द्रह प्रतिशत सात्त्विक लोग होते हैं, परन्तु वे अलग-अलग रहते हैं और उनका शेष सत्तर प्रतिशत लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। इसका कारण ये लोग ऐसा समझते हैं कि 'उन लोगों ने पाप के कारण जन्म लिया है, उनके पास जाना बेकार है।' इसलिए वे उनके पास नहीं जाते।

लोग कहते हैं, 'कलियुग में क्या करना है?' तो केवल- **'हरेर्नामैव केवलम्'**- हरि का नाम लो।' **'हरेर्नामैव केवलम्-'** कहनेवालों का अभिप्राय यह होता है कि हरि को

समझ लो, हरि का अर्थ समझ लो। जो खींचनेवाला है वह हरि! जीवन में दुःख है, भय है, आपत्ति है, अहंकार है, जो इन सबको खींचता है, उसे हरि कहा जाता है। परन्तु इसका अर्थ कौन समझता है? इसलिए वे अकेले हो जाते हैं। दैवी विचारों के लोगों के लिए दो बातें आवश्यक हैं। पहली बात उनको अलग-अलग नहीं अपितु मिलजुलकर रहना चाहिए। यह राजविद्या है। समूह-विद्या को राजविद्या कहते हैं। दूसरी बात साथ रहने के लिए समान हेतु *(Common interest)* रखना चाहिए। असुरों में रोटी, कपड़ा, मकान, चीनी, मिट्टी का तेल- ये हेतु हैं। दैवी सम्पत्ति के लोगों में ये हेतु नहीं हैं। उनमें व्यक्तिगत हेतु *(Individual interest)* होता है। व्यक्तिगत विकास, समूह की दृष्टि में समान हेतु हो ही नहीं सकता। वेदों, उपनिषदों, भागवत आदि पुराणों में- देवासुरों की लड़ाइयों का जो वर्णन है, वह यह दिखाने के लिए ही है।

दैवी सम्पत्ति के लोगों को अलग-अलग नहीं बल्कि एकत्र रहना चाहिए, इतना ही नहीं, अपितु उनका समान हेतु *(Common interest)* होना चाहिए। 'भगवान का काम' समान हेतु है। 'इस सृष्टि में कुछ तत्त्व, गुण लाने हैं, कुछ बदलना है, कुछ खड़ा करना है' यह समान हेतु रहना चाहिए। ऐसा होगा तभी उनके साथ सत्तर प्रतिशत लोग जुड़ जायेंगे। तब समाज में पचासी प्रतिशत लोग सात्त्विक हो जायेंगे। तभी देवताओं की विजय हुई ऐसा माना जाएगा।

देवता तथा दैत्यों की लड़ाई का अर्थ यह नहीं है कि देवता और दैत्य तलवार लेकर सामने-सामने लड़ने के लिए खड़े थे। यह लड़ाई वैचारिक लड़ाई थी, जीवनदृष्टि की लड़ाई थी और इस लड़ाई में हमेशा देवताओं की पराजय होती थी। ऐसी ही पराजय की बात इस स्कन्ध में आयी है। पराभूत देवता ब्रह्मदेव के पास गये। ब्रह्मदेव उनको विष्णु के पास ले गये। वहाँ जाने के बाद ब्रह्मदेव ने विष्णु की सुन्दर स्तुति की। आठवें स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में श्लोक २६ से ५० तक यह स्तुति है। भागवत का यही वैशिष्ट्य है। भागवत ईश्वरस्तुति से भरा हुआ है। भागवत में से स्तुति-स्तोत्रों के श्लोक अलग निकालेंगे तो लगभग सत्तर प्रतिशत भागवत छोटा बन जाएगा। ब्रह्मदेव ने जो स्तुति की है वह बहुत ही सुन्दर है। इस स्तुति में श्रुति-मन्त्र नहीं हैं, श्रुति-मन्त्रों का अर्थ लेकर ही की हुई यह स्तुति है।

अविक्रयं सत्यमनन्तमाद्यं गुहाशयम् निष्कलमप्रतर्क्यम्।
मनोऽग्रयानं वचसा निरुक्तं नमाम्यहं देववरं वरेण्यम्।। (भा. ८/५/२६)

(सर्व विकारों से रहित, सत्यस्वरूप, अनन्त, आद्य, सर्वान्तर्यामी, उपाधिरहित, तर्कातीत, मन से भी अधिक वेगवान और वाणी से भी वर्णनातीत ऐसे सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम देवता को हम नमस्कार करते हैं।)

उसके बाद भगवान प्रकट होते हैं। भगवान प्रकट होने के लिए कैसी स्तुति करनी चाहिए और भगवान के प्रकट हो जाने पर कैसी स्तुति करनी चाहिए, इसका सुन्दर चित्र

भागवतकार ने प्रस्तुत किया है। भगवान के प्रकट होने पर छठे अध्याय में आठवें श्लोक से पन्द्रह तक के श्लोकों में भगवान के सामने ब्रह्मदेव द्वारा की हुई स्तुति का वर्णन है:-

अजातजन्मस्थितिसंयमायागुणाय निर्वाणसुखार्णवाय।
अणोरणिम्नेऽपरिगण्यधाम्ने महानुभावाय नमो नमस्ते।। (भा.८/६/८)

(जिसका जन्म, स्थिति तथा नाश नहीं होता, जो गुणरहित तथा मोक्ष का समुद्र है, ऐसे महान प्रभावी भगवान को हमारा वारंवार नमस्कार है।)

इसमें प्रश्न पूछा है कि भगवान! देवताओं का कल्याण कैसे होगा? अर्थात् देवता अपने कल्याण के लिए नहीं पूछते हैं, परन्तु दैवी विचारों का कल्याण कैसे होगा इसलिए पूछते हैं।

भगवान को लगा कि अब देवता ठीक मार्ग पर आ गये हैं। इस सृष्टि में एक विशिष्ट विचारधारा प्रभावी होनी चाहिए, टिकनी चाहिए ऐसी इच्छा हो तो सात्त्विक और भगवान को माननेवाले लोगों को अपनी शक्ति का उसके लिए उपयोग करना चाहिए। यह बात जब लोग भूल जाते हैं, तब उनको जगाकर समझाना पड़ता है। देवताओं का कल्याण कैसे होगा? यह प्रश्न उन्होंने पूछा है और दैवी विचारों का कल्याण कैसे होगा यह मेरा प्रश्न है।

भगवान ने कहा, 'अब तक तुम अपना-अपना कल्याण देखते थे। अब तुम रास्ते पर आये हो। मुझे लगता है कि ऐसा सभी समाजों में होता है। ऐसा नहीं है कि समाज में अच्छे लोग नहीं होते, परंतु प्रत्येक यह कहता है कि 'मुझे ऐसा लगता है ऐसा करना चाहिए।' अरे! तुझे क्या लगता है, ऋषियों को क्या लगा यह विचार कर, आज तक का इतिहास क्या कहता है, वह देख! उसके लिए **'इतिहास पुराणम्'** तुझे क्या लगता है, इसे महत्त्व नहीं है परन्तु 'श्रद्धा से, शुद्ध हेतु से, निस्वार्थ हेतु से मैं यदि कुछ काम करूँगा तो मुझे फल मिलना चाहिए' ऐसा कुछ लोग कहते हैं, परन्तु निःस्वार्थ हेतु से बदमाशी भी हो सकती है। अपना कुछ स्वार्थ न होते हुए भी मैं दूसरे को मारता हूँ। केवल निःस्वार्थ रहना पर्याप्त नहीं है।

उसके बाद विष्णु भगवान ने ब्रह्मदेव आदि देवताओं को उपदेश दिया है। इस उपदेश में तत्त्वज्ञान अथवा आत्मस्वरूप का आविष्कार नहीं है। भगवान ने देवताओं को जो उपदेश दिया है उसमें वास्तव में, उच्च तत्त्वज्ञान होना चाहिए। उच्च आत्मज्ञान का आविष्कार होना चाहिए, परन्तु यह उसमें है ही नहीं! वह पूर्णरूप में व्यावहारिक उपदेश है। आप पढ़ेंगे तो आपको लगेगा कि यह कोई कूटनीतिक *(Diplomat)* बोल रहा है। राजनैतिक व्यक्ति भिन्न और कूटनीतिक भिन्न!

भगवान ने कहा, 'तुम जैसे समर्थ हो वैसे दैत्य भी समर्थ हैं। तुमने तप किया है वैसे दैत्यों ने भी तप किया है। तुम्हारे पास विद्या है वैसे देत्यों के पास भी विद्या है।

उनको दैत्य समझकर तुमने उनको अलग रखा यह अयोग्य है। तुम्हें लगता है कि दैत्यों को छूना नहीं चाहिए, उनके पास नहीं जाना चाहिए। ऐसा बोलना झूठ है। समर्थ शत्रु के साथ सुलह करना उचित है। दैत्यों के साथ हस्तांदोलन *(shake hand)* करो। भगवान ने जो कहा है उसमें तत्त्वज्ञान नहीं है, आत्मज्ञान भी नहीं है। उसमें केवल व्यावहारिक ज्ञान है।

समर्थ शत्रु के साथ सुलह करना उचित है यह कहते हुए भगवान ने एक दृष्टान्त दिया। एक सन्दूक में साँप फँसा हुआ था और उसके साथ चूहा भी फँसा हुआ था। चूहा साँप का शत्रु है, परन्तु साँप उसके साथ झगड़ा नहीं करता है, सुलह करता है। वह चूहे से कहता है कि तू इस संदूक में एक छेद कर दे। तू तो मेरा बड़ा भाई है। इस प्रकार चूहा बड़ा भाई बना, उसने सन्दूक में एक छेद कर दिया और बाहर निकल आया। उसके बाद साँप भी बाहर आया। बाहर आने के बाद साँप उस चूहे को खा गया। ऐसी नीति होनी चाहिए।

यह दृष्टान्त देकर भगवान देवताओं से कहते हैं कि तुम्हें दैत्यों को संभालना चाहिए। धीरज से कार्य बनता है, जबरदस्ती से नहीं होता। यह उपदेश बहुत ही सुन्दर है। भगवान कहते हैं, **'अरयोऽपि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे।'** 'तुम्हें यदि कार्यार्थ गौरव है तो शत्रु के साथ भी सुलह करो।' जिन्हें कुछ कार्य करना है उनकी यह बात है। जिन्हें कुछ कार्य ही नहीं करना है, उनकी क्या बात करना? उन्हें किसी के साथ सुलह करने की आवश्यकता ही नहीं है। सुभाषितकार कहते हैं-

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः।
अथैवमागते काले भिन्द्याद्घटमिवाश्मनि।।

चाणक्य जैसे लोगों की नीति है कि 'जब तक विपरीत काल होता है तब तक शत्रु को भी अपने कन्धों पर उठाकर लो। अनुकूल समय आने पर पत्थर पर जिस प्रकार मटका पटककर फोड़ते हैं वैसे शत्रु को भी पटक दो।' ऐसी नीति भगवान देवताओं को समझाते हैं, वह पढ़कर आश्चर्य होगा, परन्तु आश्चर्य लगने जैसा उसमें कुछ नहीं है। भगवान ऐसा कहते हैं इसका कारण दैत्य जब जब प्रभावी बने हैं तब तब उन्होंने करोड़ों लोगों का मन बिगाड़ा है। अत: पन्द्रह प्रतिशत दैत्य प्रभावी बने तो शेष सत्तर प्रतिशत लोग उनके साथ मिल जाते हैं और सम्पूर्ण समाज का अध:पतन करते हैं। समाज भौतिकवादी बनता है। भौतिक बातों को ही सर्वस्व मानने लगता है। सृष्टि को निर्माण करनेवाले भगवान की कुछ अपेक्षा है, अभिलाषा है वह यहाँ दिखाते हैं **'सति कार्यार्थगौरवे।'** देवताओं के पास कार्यार्थ ही नहीं होगा और वे विजय चाहते हैं तो वह नहीं मिलती। तुम्हें बिना कार्यार्थ के पैसा अथवा कोई भी शक्ति की चाह होगी परन्तु वह इच्छा पूर्ण नहीं होगी। अपने पास कुछ कार्यार्थ गौरव होना चाहिए। कार्यार्थ गौरव होगा तो ही विजय मिलने की संभावना है। यह अतिशय सुन्दर विवेचन है। उसमें सात्त्विक, धर्मनिष्ठ और भगवदीय लोगों का दर्शन

है। क्या करना चाहिए, कैसे करना चाहिए, कैसे रहना चाहिए आदि बातों का इसमें विवेचन है।

भगवान देवताओं से कहते हैं कि तुम्हें दैत्यों के साथ सुलह करनी पड़ेगी, इतना ही नहीं, बल्कि सुलह हुई है ऐसा उनको लगना चाहिए। उनके लिए तुमने कुछ छोड़ा है ऐसी उनको प्रतीति होनी चाहिए! सुलह कब होती है? तुम्हारे लिए सामने के पक्ष ने कुछ छोड़ा है ऐसा जब तुम्हें मालूम पड़ता है तब सुलह होती है! तुमने कुछ छोड़ा न भी हो, फिर भी सामने के पक्ष के लिए तुम कुछ छोड़ते हो ऐसा उन्हें दिखाना पड़ेगा।

उसके बाद भगवान ने ही देवताओं को तरकीब बतायी है। समुन्द्रमन्थन करने के लिए मंदराचल पर्वत की मथनी और वासुकी नाग की डोरी बनायी। एक ओर देवता रहेंगे और दूसरी ओर दैत्य रहेंगे और समुद्रमन्थन करेंगे ऐसी व्यवस्था की। इसके लिए भगवान के बताये अनुसार देवताओं ने आग्रहपूर्वक कहा कि 'हम देवता हैं इसलिए वासुकी के मुँह की ओर रहेंगे और पूँछ का भाग दैत्य सँभालेंगे। उस समय दैत्यों ने भी कहा कि 'हम क्या तुमसे कम हैं? तेज, बुद्धि, विद्या या तप- कौनसी बात हमारे पास तुमसे कम है? हम कर्तृव्य में भी तुमसे कम नहीं हैं। हम पूँछ की ओर नहीं, मुँह की ओर रहेंगे। इस प्रकार भगवान की सलाह से देवताओं ने झगड़ा किया। फिर झगड़ना छोड़ दिया और कहा, 'अच्छा भाई! तुम वासुकी के मुँह की ओर रहो और हम पूँछ का भाग पकड़ेंगे।' इसमें दैत्यों के लिए देवताओं ने कुछ छोड़ा है ऐसा देवताओं ने दिखाया।

उसके बाद समुद्रमन्थन प्रारंभ हुआ। प्रारंभ होते ही वासुकी के हजार मुँहों में से विष बाहर निकलने लगा जिससे दैत्य त्रस्त हुए। परन्तु अब करें भी क्या? स्वयं ही मुँह की ओर रहने का निर्णय लिया था। इधर देवता पूँछ की ओर रहने से शान्ति से काम कर सके।

ऐसा चित्रण भागवतकार ने किया है। यह केवल कूटनीति को लेकर हुआ है ऐसा नहीं है। **'सति कार्यार्थगौरवे'** है। इस सृष्टि में सात्त्विकता रहनी चाहिए, भगवान का काम होना चाहिए, सात्त्विकता बढ़नी चाहिए ऐसा लगता हो तो बाकी के सत्तर प्रतिशत लोगों के पास जाना पड़ेगा। इतना ही नहीं, अपितु दैत्यों के साथ भी सुलह करनी पड़ेगी। उनको अलग रखने से नहीं चलेगा। अन्यथा दैत्य प्रभावी बनेंगे, उनके साथ सत्तर प्रतिशत लोग जुड़ जायेंगे तो उनसे अलग रहकर दैवी सम्पत्ति के सात्त्विक लोग मंदिर में जाकर शान्ति से पूजा भी नहीं कर सकेंगे।

कुछ लोग कहते हैं कि 'एकाध मन्दिर का निर्माण करेंगे तो हमें मुक्ति मिल जायेगी।' मुक्ति रास्ते में पड़ी हुई वस्तु नहीं है। हम भगवान को कैसे प्रसन्न करेंगे? भगवान केवल भाषा से प्रसन्न नहीं होते, कृति से प्रसन्न होते हैं।

यह विश्व भगवान का है। इस विश्व में क्या होना चाहिए? कैसे रहना चाहिए यह देखना चाहिए। वह किये बिना केवल स्तुति करेंगे तो उससे भगवान प्रसन्न नहीं होते। देव-दैत्यों की लड़ाई विचार करने जैसी है।

भगवान ने देवताओं से कहा, "देखिये! तुम दैत्यों के साथ सुलह करेंगे तब कुछ कठिनाइयाँ आयेंगी, विघ्न भी आयेंगे, कुछ मोहक बातें भी मिलेंगी तो लोभ से मोहित मत होना। कदाचित् विपत्ति आ गयी तो डिगना नहीं। कुछ लोग कहते हैं, 'हम भगवान का काम करते हैं तो विपत्ति क्यों आयेगी?' अरे! विपत्ति आयेगी ही, उससे डिगना नहीं चाहिए। विपत्ति कार्य करनेवालों की परीक्षा करने के लिए आती है। उसके लिए मोहक वस्तुएं और तकलीफ देनेवाले विघ्न भेजे जायेंगे और देखा जायेगा कि कार्य करनेवाले विचलित होते हैं या नहीं? परीक्षा हो जाने पर जो पक्ष धैर्य से स्थिर-दृढ़ रहता है उस पक्ष में भगवान आकर खड़े होते हैं। कारण देवता या दैत्य दोनों भगवान के ही पुत्र हैं। भगवान को इन दोनों में कुछ फर्क़ नहीं लगता। देवता भगवान को मानते हैं और दैत्य नहीं मानते इतना ही फर्क़ है। उसमें भी दैत्यों को भगवान की आवश्यकता नहीं लगती। पुराणों में जो राक्षस हैं वे नास्तिक नहीं हैं। दैत्य भगवान को मानते हैं, मन्दिरों में भी जाते हैं, परन्तु दैनन्दिन व्यवहार में भगवान का कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसा वे मानते हैं।

यहाँ देव-दैत्यों की लड़ाई और उसका अर्थ समझाया है। भागवतकार ने स्पष्ट रूप में दिखाया है कि देवताओं ने जैसा भगवान ने कहा वैसा ही आचरण किया। भगवान के उपदेश का सही-सही पालन किया। भर्तृहरि अपने नीतिशतक में कहता है-

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः।।१३२।।

समुद्रमंथन में से मूल्यवान रत्न निकले, इससे देवता सन्तोष मानकर बैठे नहीं रहे, अथवा भयंकर कालकुट विष निकला इसलिए भयग्रस्त भी नहीं हुए। अमृतप्राप्ति का ध्येय सिद्ध होने तक अपने प्रयत्नों का त्याग नहीं किया। धैर्यशील (उद्योगशील) पुरुष अपने निश्चित कार्य से विचलित नहीं होते।

राक्षस यानी जंगली ऐसा अर्थ नहीं है। **रक्षयामि-'** हमारा रक्षण हम कर सकते हैं ऐसा कहनेवाले राक्षस हैं। अपना रक्षण करने के लिए उन्हें भगवान की आवश्यकता नहीं लगती। वे कहते हैं, भगवान होंगे, हमारा उनके साथ कोई विरोध नहीं है।

कितने ही तथाकथित ढोंगी देवता, अपने को देवता कहलाते हैं, परन्तु सहायता राक्षसों की करते हैं। मस्तिष्क पर चन्दन का तिलक भी लगाते हैं, परन्तु शक्ति का उपयोग राक्षसों के लिए करते हैं। ऐसा दंभ भगवान के दरबार में नहीं चलता। राक्षसों के पास धैर्य होगा, तप होगा तो वे प्रभावी होंगे और विजय भी उन्हीं की होगी, देवताओं की नहीं।

देवताओं को विजय प्राप्त करनी हो तो सात्त्विक वृत्ति के पन्द्रह प्रतिशत तज्ज्ञ लोगों में एकता होनी चाहिए, **'सति कार्यार्थगौरवे-'** अन्तःकरण में कार्यार्थगौरव होना चाहिए, तभी मुक्ति तुम्हारे हाथ में है ऐसा भगवान कहते हैं। बहुत सुन्दर विवेचन है। अनन्तकाल तक मानवजाति को मार्गदर्शन करनेवाला यह मनोहारी चित्र है। देवताओं को दैत्यों के साथ सुलह करनी पड़ेगी, उनके लिए कुछ छोड़ना पड़ेगा, समझौता *(Compromise)* भी करना पड़ेगा।

अर्थात् उस समय तत्त्व को नहीं छोड़ेंगे। सिद्धान्त *(Principle)* में समझौता नहीं। *There will be no compromise in principle* ऐसा भगवान कहते हैं।

दैत्यों ने वासुकी के मुँह के तरफ का भाग हाथ में लिया। फिर उन्हें बहुत कष्ट हुआ। उनको ऐसा लगने लगा कि कौनसा पाप किया था जो इस तरफ के भाग को स्वीकार किया! यह सब भगवान की बतायी हुई चालाकी थी, परन्तु वह स्वार्थ के लिए नहीं थी। भगवान विष्णु ने देवताओं को ऐसा व्यावहारिक उपदेश दिया। इससे भागवतकार का कहने का हेतु स्पष्ट होता है कि **सत्ये विश्वं प्रतिष्ठितम्।'** सत्य का उद्देश्य विश्व को खड़ा करना है, विश्व का विनाश करना नहीं है। विश्व के स्थैर्य के लिए जो साधनभूत होगा वही सत्य होगा। **'यल्लोकहितमन्त्यन्तं एतत् सत्यं मतं मम'** ऐसा महाभारत में भी लिखा है। विश्व की, चिरन्तन चलनेवाली नीतिमत्ता, जीवनदृष्टि उसके लिए जो उपयोगी, साधनभूत बनेगा वही सत्य है, ऐसा समुद्रमन्थन का रहस्य है।

समुद्रमन्थन होने पर उसमें से भिन्न भिन्न रत्न निकले। सर्व प्रथम विष निकला उसे भगवान शंकर ने स्वीकार किया। उसके बाद **हविर्धानी ततोऽभवत्-** हविर्धानी का अर्थ होता है कामधेनु! कामधेनु निकली। **'हविर्नाम घृतम् निर्धीयते यस्याम् इति हविर्धानी'** ऐसी हविर्धानी शब्द की परिभाषा है। जड़वादी और चेतनवादियों का भी जब समुद्रमंथन-विचारमंथन होगा तब उसमें से कुछ रत्न निकलनेवाले हैं। समुद्रमंथन से निकली हुई कामधेनु ऋषियों ने ली। किसी को तो देनी चाहिए थी। भगवान ने कहा था कि झगड़ा नहीं करना है। अत: देव-दैत्यों की अपेक्षा ऋषियों ने उसका स्वीकार किया।

ऋषियों ने कामधेनु क्यों ली? हवि-घृतम् घृत में शक्ति होती है और स्निग्धता होती है यानी शक्तिशाली व स्निग्ध विचार ऋषियों ने उठाये और कहा, "ये विचार शेष सत्तर प्रतिशत लोगों में ले जाने हैं। उनको शक्ति देनी है और स्निग्धता भी देनी है। घृत में ये दोनों गुण होते हैं। ये दोनों गुण वेदों में, गीता के विचारों में हैं, इसलिए ऋषियों ने ये विचार उठाये। यज्ञ के लिए कामधेनु को स्वीकार किया है। आज हम शब्द का अर्थ इतना ही समझते हैं कि अग्नि प्रज्वलित करना और उसमें स्वाहा स्वाहा करके दूध, दही, घी की आहुतियाँ डालना। परन्तु गीता और वेदों में 'यज्ञ' का भिन्न ही अर्थ है। गीता ने तो यज्ञ के चार प्रकार समझाये हैं-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।।४/२८।।

यज्ञ अर्थात् **देवपूजा संगतिकरण मित्रकरण-** इनको यज्ञ कहते हैं। यज्ञ का यह अर्थ जब मालूम पड़ेगा तब ऋषियों ने यज्ञार्थ कामधेनु क्यों ली इसका पता चलेगा। समाज के जिस स्तर में स्निग्धता और शक्ति नहीं गयी है उस स्तर में वह ले जानी है। व्यक्ति के मस्तिष्क में शक्ति भी जानी चाहिए और स्निग्धता भी। इसलिए ये दो बातें देनेवाले विचारों को ऋषियों ने उठाया है।

उसके बाद **उच्चैःश्रवा** घोड़ा निकला। घोड़े में गति और चंचलता होती है। वह राक्षसों ने लिया। राक्षसों की बुद्धि स्थिर नहीं होती, चंचल होती है। भारत में भी तीस वर्ष पहले नेता जो बोलते थे उसके बिल्कुल विपरीत वे आज बोलते हैं, इसलिए राजकीय नेता जो बोलते हैं उसको सनातन नहीं कहते। सनातन तो वही लोग बोलते हैं जिन्होंने एक बार जो कहा, वही वे किसी भी समय कहेंगे। राक्षस सनातन हो ही नहीं सकते। उनमें गति है और चंचलता है। ये दोनों गुण उन्होंने उठाये हैं। उनको हमेशा परिवर्तन-गति *(change)* चाहिए। खाने-पीने में, घूमने-फिरने में, वस्त्र पहनने में, बाल कटवाने में, सभी बातों में उनको बदलाव चाहिए। एक ही बात उन्हें नहीं चलती। गति होनी चाहिए ऐसा उनको लगता है।

उसके बाद हाथी ऐरावत निकला। हाथी में शक्ति तो होती ही है, परन्तु उसे भविष्य का ज्ञान भी होता है। **बलेषु हस्ति बलादीनि-** ऐसा योगदर्शन में कहा है। हमारे पुराने समय में हाथी की शक्ति, शक्ति का मापदण्ड था। हमने आज घोड़े की शक्ति का मापदण्ड रखा है। अमुक अमुक मोटर- इतनी इतनी हॉर्सपावर की है ऐसा बोला जाता है। भीम का बल कितना था? महाभारत में लिखा है- **नवनागसहस्र बलः** नौ हजार हाथियों की शक्ति के जितना बल उसमें था। बल का मीटर हाथी था। अब उसका स्थान घोड़े ने लिया है। पहले हाथी का बल श्रेष्ठ माना जाता था। आज हम तनिक नीचे आये हैं और अश्वशक्ति *(Horse power)* मानते हैं।

हाथी के पास भविष्यदर्शन और बल होने से देवताओं ने ऐरावत लिया। इसका कारण देवताओं को हमारे उज्वल भविष्य के लिए शक्ति का उपयोग करना था, आज के लिए नहीं! सात्विक लोगों को थेगली लगा-लगाकर गुदडी नहीं बनानी है। समाज के मूलभूत प्रश्नों को सुलझाना है। तीसरी पीढ़ी कैसे होगी, इस ओर उनकी दृष्टि होती है। उसके लिए उनको अपनी शक्ति प्रयुक्त करनी है। ये लोग भविष्य देखकर शान्तिपूर्वक अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं। रामराज्य क्या दूसरे ही दिन तैयार होता है? उसके लिए पाँच पाँच पीढ़ियाँ लग जाती हैं। दिलीप, उसका पुत्र रघु, रघु का पुत्र अज, उसका पुत्र दशरथ और दशरथ का पुत्र राम- इस प्रकार पाँच पीढ़ियों तक विशिष्ट प्रकार से काम किया तब रामराज्य आया, राजा दिलीप ने ब्राह्मणों को तैयार किया इसलिए वरतन्तु और कौत्स जैसे ब्राह्मण सांस्कृतिक कार्य करते थे। उसका वर्णन वाल्मीकि रामायण में करते हैं —

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।।

(मेरे इस जनपद में कोई भी चोर नहीं है, कोई दूसरे के धन को छीननेवाला नहीं है, कोई कंजूस नहीं है, कोई ऐसा नहीं है जो शराब पीता हो, प्रतिदिन यज्ञ नहीं करता हो ऐसा भी कोई नहीं है, कोई मूर्ख, अनपढ़ या अविद्वान भी नहीं, कोई पुरुष यहाँ व्यभिचारी नहीं है, तब व्यभिचारिणी स्त्री कैसे हो सकती है?) ऐसा समाज रामराज्य में बना.

था। ऐसा समाज बनाना होगा तो पीढ़ियों तक परिश्रम करने पड़ेंगे। उसके लिए भविष्य की ओर दृष्टि होनी चाहिए। हमारी शक्ति हमें अपने भविष्य के लिए प्रयुक्त करनी है। उसमें से आज क्या उगा यह देखने की हमें आवश्यकता नहीं है। व्यवहार में भी लोग ऐसा करते हैं। घर बनाना हो तो उसकी नींव मजबूत बनानी पड़ती है। उसके लिए इंजिनियर नींव में बहुत सिमेंट डालता है। उससे क्या लाभ हैं? इसका पता आज नहीं चलेगा। पचास वर्ष के बाद मालूम पड़ेगा। व्यवहार में ऐसा चलता है तो समाज का विचार करते समय भविष्य की ओर दृष्टि न रखकर कैसे चलेगी? लोगों को आज फ़ायदा चाहिए। इतनी मेहनत का क्या लाभ हुआ? ऐसा पूछनेवाले सब राक्षस हैं।

उसके बाद कौस्तुभमणि निकली। कौस्तुभ यानी **कुम् नाम भूमिं स्तुन्भाति इति कौस्तुभः।** जो भूमि को चकित करती है वह कौस्तुभ। समुद्रमन्थन से एक ऐसी मणि निकली कि जिससे भूमि चकित हो जाती है। उस कौस्तुभमणि को विष्णुभगवान ने स्वीकार किया। इस भूमि को चकित करनेवाले व्यक्ति पैदा हों तो विष्णु भगवान उन्हें अपने गले में धारण करते हैं।

कौस्तुभमणि के बाद 'पारिजात' निकला। 'पारिजात' का अर्थ है जरूरतमन्द को वित्त से सन्तुष्ट करने की वृत्ति। यह देवताओं ने लिया। जिसको जो चाहिए वह दे दो। जो हैरान करते हैं उनको सन्तुष्ट कर दो। मजदूर हैरान करते हैं तो बोनस दे दो। पारिजात यानी तृप्त करनेवाला।

पारिजात के बाद अप्सराएं निकलीं। इन अप्सराओं को भी देवताओं ने स्वीकार किया। इसका कारण- मिलन! स्त्री-पुरुष का मिलन कब होता है? जब दोनों को एक दूसरे के प्रति आकर्षण होता है! देवताओं को अप्सराओं का और अप्सराओं को देवताओं का आकर्षण होता है। यह मिलन एकदिशा मार्ग *(one way Traffic)* नहीं होता। दोनों में आकर्षण होना चाहिए। दैत्यों को अप्सराएं चाहिए परन्तु अप्सराओं को दैत्यों के प्रति आकर्षण नहीं है। शाकुन्तल नाटक जिसने पढ़ा होगा उसे मालूम होगा कि उसमें जब शकुन्तला ने इच्छा प्रदर्शित की— **श्रिया दुरापः कथं ईप्सितो भवेत्।'** वैसा यह है। दैत्यों को अप्सराएं और देवताओं में परस्पर आकर्षण होने से अप्सराओं को देवताओं ने स्वीकार किया।

अप्सराओं के बाद एक महान् शक्ति-लक्ष्मी निकली। देवता, असुर, मनुष्य सभी उसकी इच्छा करने लगे। सभी ने उसका बहुत ही आदर-सम्मान किया। उसका भागवत में सुन्दर वर्णन है। आदर-सत्कार होने पर लक्ष्मी इधर उधर विचरण करने लगी कि किसका वरण करूँ? गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण, देवता आदि में कोई भी अपने योग्य पुरुष उसे नहीं मिला। उसने देखा कि कोई तपस्वी है मगर क्रोधी है। किसीके पास ज्ञान है परन्तु वह अनासक्त नहीं है। किसी में धर्माचरण है परन्तु प्राणियों के प्रति उसमें पूरा अभाव है। किसी में शील-मंगल है, दीर्घायु भी है परन्तु अमंगल वेष में रहता है। जिसके पास तपस्या है उसके पास बुद्धि नहीं, जिसके पास बुद्धि तथा तपश्चर्या हों तो उसके पास कंजूसी भी है। ऐसे विचार करते करते वह सभी को छोड़कर आगे बढ़ती गयी। उसने परशुराम को भी

छोड़ दिया, क्योंकि उसके पास क्रूरता है शूरता नहीं। लक्ष्मी को क्रूरता नहीं बल्कि शूरता (शौर्य) चाहिए। जो आलसी जीवन जी रहें हैं वे भी लक्ष्मी को नहीं चाहिए। लक्ष्मी किसके पास जाय इसका सुन्दर चित्रण भागवत में है। अन्त में स्थिर बैठे हुए भगवान विष्णु को लक्ष्मी माला पहनाती है।

आज भी लक्ष्मी- (पैसा) घर बदलती है। वह ढूँढ रही है कि किसके पास जाऊँ? वह व्यक्ति भी बदलती है। किसी के घर में लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती है। वास्तव में यह लक्ष्मी का दोष नहीं है। लक्ष्मी जिसके घर में जाती है उसका दोष है। लक्ष्मी जब घर में आती है तब उस मनुष्य का दिमाग ही बिगड़ जाता है, अत: उस घर में से लक्ष्मी को जाना पड़ता है। आठ-आठ पीढ़ियों तक लक्ष्मी किसी के घर में नहीं रहती है। क्योंकि लक्ष्मी जिसके पास जाती है उसका दिमाग बिगड़ जाता है यह पहली बात है। वहाँ जाने पर टिकती नहीं, प्रतिदिन बदलती रहती है।

लक्ष्मी देश भी बदलती है। लोग ऐसा कहते हैं कि इस भारत में एक समय सोने का धुआँ निकलता था। किसे पता है, सोने का धुआँ कैसे निकलता था! कदाचित् निकलता भी होगा। आज तो लोग जो धुआँ निकालते हैं उसको हम सोना कहने लगे हैं। दशहरे के दिन एक दूसरे को सोना कहकर हम वृक्ष के पत्ते देते हैं। उनको सोना कहते हैं। उन पत्तों में तमाखू भरकर लोग धुआँ निकालते भी हैं। अब लक्ष्मी अमेरिका चली गयी है। पता नहीं अब वह मध्य-पूर्व *(Middle East)* में भी घूमने लगी होगी-वहाँ तेलसम्पन्न देश *(Oil-rich Country)* हैं। लक्ष्मी देश बदलती है।

इस देश में भी अलग अलग जातियों *(Community)* में लक्ष्मी गयी थी। पहले मुंबई में, ऐसा कहा जाता है कि पाठारे प्रभु के हाथ में लक्ष्मी थी। उनके हाथ में से लक्ष्मी भाटिया लोगों के पास गयी। फिर वह रूठ गयी और बनियों के हाथ में गयी। फिर कहते हैं कि वह लक्ष्मी मारवाड़ियों के पास गयी, वहाँ से कुपित होकर सिंधियों के हाथ में गयी। मैं इतिहास नहीं कह रहा हूँ क्योंकि मैं इतिहासतज्ज्ञ नहीं हूँ। लोग क्या कहते हैं यह बता रहा हूँ। जिसके हाथ में लक्ष्मी आती है वह बिगड़ गया तो लक्ष्मी दूसरे के पास चली जाती है। बहुत सुन्दर वर्णन है। अन्त में लक्ष्मी विष्णु को वरण करती है।

कालकूट विष पहले निकला, ऐसा भागवत में कहा है, और महाभारत में वह अन्त में निकला, ऐसा लिखा है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखना चाहिए। एक भाई ने मुझे पूछा, विष प्रथम निकला या अन्त में? मैंने कहा, 'देव-दैत्यों का मनोमन्थन होता है तब प्रारंभ में ही विष निकलता है और फल मिलने के बाद भी विष निकलता है। इसलिए भागवत भी उठा लो और महाभारत भी उठा लो, फल मिलने के बाद भी वातावरण विषैला बना रहता है। फल मिलने के पहले भी लोग झगड़ते हैं और फल मिलने के बाद भी झगड़ते हैं। फल तो मिलने दो, बाद में देखेंगे।

अन्त में अमृत निकला। अमृत कौन ले गया? जिसने आयुर्वेद लिखा है वह धन्वन्तरी ले गया। बीच में सुरा भी निकली। वह सुरा दैत्यों ने ली, कारण बेहोशी आनी चाहिए। जिसको लड़ना है, युद्ध करना है, उसे बेहोशी आनी चाहिए, अन्यथा वह लड़ेगा कैसे? बिना बेहोशी के सभी बंधन कैसे छूटेंगे? इसीलिए नागरिकों के लिए नशाबंदी है, मगर सैनिकों *(Military)* के लिए नशाबंदी नहीं होती, इसका कारण जवानों को तो मैदान में लड़ना पड़ता है। लड़ते समय उनको सब कुछ भूल जाना चाहिए। लड़ते समय पत्नी या माँ याद आयेगी तो लड़ेगा कैसे? उसको वैसा प्रशिक्षण *(Training)* देना चाहिए।

अन्त में अमृत निकला। भगवान विष्णु के अंश से उत्पन्न व वैद्यशास्त्र के प्रवर्तक धन्वन्तरी अमृत-कलश हाथ में लेकर समुद्र से बाहर आये। असुर शीघ्रता से झपटकर अमृत-कलश छीन लेते हैं और चल पड़ते हैं। देवता खिन्न होकर भगवान विष्णु की शरण में जाते हैं। भगवान विष्णु उनको आश्वासन देते हैं। इधर अमृत पीने के लिए अत्यन्त आतुर बने दैत्य 'पहले मैं पीऊँगा, तुम मत पीओ, मैं पहले पीऊँगा, तू नहीं' ऐसे आपस में झगड़ा करने लगे। तब अकस्मात् वहाँ विष्णु भगवान मोहिनीरूप लेकर आये। उस मोहिनी के नखरे देखकर दैत्य पागल बन गये। सुभाषितकार कहता है वैसे-

प्रमदा मदिरा लक्ष्मीर्विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
दृष्ट्वैवोन्मादयत्येका पीता चान्याति संचयात्।।

हमें तो एक ही प्रकार की सुरा मालूम है, परन्तु सुभाषितकार कहता है कि सुरा तीन प्रकार की है- **'प्रमदा, मदिरा** और **लक्ष्मी....।'** उसमें प्रथम प्रमदा-स्त्री है। स्त्री को देखते ही मनुष्य अपने होश खो बैठता है। माता, पिता आदि सबको भूल जाता है। अपने संस्कारों को भी भूल जाता है। देवयानी को देखने पर ययाति कहता है-

क्व कार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतिमहो कोपेऽपि सा दुर्लभा
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति।।

इसका भाषान्तर नहीं करता हूँ, समझनेवाले समझ जायेंगे।

दूसरी सुरा है मदिरा! उसको पीने पर नशा चढ़ता है और तीसरी सुरा है लक्ष्मी! उसका संचय करने पर मनुष्य को नशा चढ़ता है। बड़े बड़े क्लबों में जानेवाले सभी नशे में ही होते हैं

मोहिनी का रूप देखते ही दैत्यों को उन्माद चढ़ गया। उन्होंने मोहिनी से कहा, 'तुम्हारे हाथों से हमें जो कुछ मिलेगा वह हम स्वीकार कर लेंगे।' तब मोहिनी ने कहा, 'देखो! बाद में तुम्हें झगड़ा नहीं करना है, अन्यथा तुम कहोगे कि पक्षपात किया।' ऐसा कहकर मोहिनी ने दैत्यों को शब्दों में बाँध लिया। इस प्रकार भगवान ने कोई अन्याय नहीं

किया। दैत्यों ने ही कहा था कि 'तुम्हारे हाथों से जो भी कुछ, भले जल ही क्यों न हो हम स्वीकार करेंगे, वह हमारे लिए अमृत ही होगा।' फिर देवताओं को अमृत मिला। इसमें भगवान ने कोई चालाकी नहीं की। केवल दैत्यों की दुर्बल बाजू *(weak side)* देखी और देवताओं को अमृत दिया।

अमृतमन्थन की ऐसी अद्भुत कथा है। देव-दैत्यों की लड़ाई हमेशा चलती रहती थी। इसीलिये भगवान ने गीता में **'दैवासुरसम्पद्विभागयोग-'** लिखा है। उसका अभ्यास करना चाहिए, केवल उपेक्षा करके अलग रखने जैसी यह बात नहीं है। जब देव-दैत्यों को समुद्रमंथन में बाधा आयी, कठिनाई आयी तब कूर्मावतार हुआ। अमृत की धुन में पड़कर हम कूर्मावतार को भूल गये, परन्तु कूर्मावतार ने समुद्रमन्थन में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

दैवी व आसुरी विचारों का झगड़ा अनादिकाल से चलता आया है। समुद्रमन्थन की कथा में व्यावहारिक जीवन का उपदेश है, और वह उपदेश प्रत्यक्ष भगवान ने किया है। भगवान के बाद किसी की शक्ति होगी तो वह विचारों की शक्ति है। इसलिए हमारे शास्त्रकारों ने भगवान के बाद वेदों को माना है। विचार मनुष्य को खड़ा भी कर सकता है और गड्ढे में गिरा भी सकता है। विचार में जबरदस्त शक्ति है। एक गलत विचार मस्तिष्क में घुस गया तो देवता भी असुर बनता है। और एक अच्छा विचार बुद्धि में आ गया तो असुर भी देवता बन सकता है। इन दोनों का चित्रण भागवतकार ने किया है।

देवता-असुरों के विचारों का झगड़ा जो निरन्तर चलता रहता है उसमें शान्ति से सुलह भी करनी पड़ती है। आसुरी विचारों के लोग बहुत ही बुरे, खराब होते हैं ऐसा भी नहीं है। इसीलिए समुद्रमन्थन की कथा भागवत में आयी है।

समुद्रमन्थन शुरु होने के बाद तल में (नीचे) कोई आधार न होने से मन्दराचल पर्वत पानी में डूबने लगा, तब भगवान ने कूर्मरूप धारण करके अपनी लक्षयोजन पीठ पर वह पर्वत सँभाला, ऐसा वर्णन है। सम्पन्न जीवन और समृद्ध जीवन में निरन्तर झगड़ा चलता है। कितने ही प्रभावशाली लोग समृद्ध जीवन को मानते हैं। समृद्ध जीवन का अर्थ है- भौतिक, भोगवादी और शक्तिशाली जीवन। सम्पन्न जीवन का अर्थ मैं यह करता हूँ कि भीतर से प्रसन्न और उदात्त बना हुआ जीवन!

बाह्य सुख-समृद्धि चाहिए, परन्तु उसके साथ भीतर की भी सुख समृद्धि चाहिए। आन्तरिक जीवन उदात्त और प्रसन्न होना चाहिए, ऐसा आग्रह रखनेवाला एक वर्ग है और दूसरा वर्ग ऐसा है कि जो रोटी, कपड़ा पैसा आदि भौतिक जीवन को ही सर्वस्व मानते हैं। इसमें भी बुद्धिशाली लोग होते हैं। इनमें प्रथम वर्ग अतीन्द्रिय शक्ति को लेकर चलता है तो दूसरा वर्ग, अतीन्द्रिय शक्ति दिखायी नहीं देती अतः वह है ही नहीं ऐसा मानकर चलता है। ऐसे दो वर्ग समाज में निरन्तर रहते हैं। उनमें झगड़ा चलता रहता है, परन्तु उनको शान्ति से बैठकर सुलह भी करनी पड़ती है।

समुद्रमंथन की कथा में कूर्मावतार आता है। कूर्म का अर्थ है कछुआ। कच्छुए के जैसा शान्त बुद्धिमान, सम्पूर्ण आशावादी, प्रसंग को देखकर चलने की कला जिसके पास है ऐसा दृढ़ मनोवृत्तिवान, महान् शक्तिशाली एक महापुरुष उत्पन्न हुआ। वही कूर्म-कछुआ! सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो पता चलेगा कि मन्दराचल पर्वत बिहार में भागलपुर के पास है। वहाँ आज़ भी कूर्म जाति का समाज देखने को मिलता है। वहीं मानव संस्कृति की महान् परिषद हुई होगी। उसमें दोनों प्रभावशाली वर्गों ने जबरदस्त मनोमन्थन किया होगा वही समुद्रमन्थन है। समृद्ध भौतिक जीवन को माननेवाले भी प्रभावशाली होते हैं। उनके पास भी तर्कयुक्त दलीलें *(Logical arguments)* होती हैं। दैवी जीवन समझानेवालों को तो अतीन्दिय शक्ति को स्वीकारना पड़ता है, अत: कितनी ही बार वे तर्कयुक्त भाषा द्वारा विचार समझा नहीं सकते, कारण जहाँ तर्क *(Logic)* समाप्त होता है वहाँ से उनका प्रान्त शुरु होता है। अतीन्द्रिय शक्ति- **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** है।

मन्दराचल पर्वत के पास मानव संस्कृति की परिषद हुई होगी। उसमें एक महान्, अवतारी व्यक्ति ने समृद्ध जीवन व सम्पन्न जीवन माननेवाले दोनों वर्गों के लोगों को मनोमन्थन करने के लिए कहा होगा। केवल समृद्ध जीवन को उठाने से नहीं चलता, सम्पन्न जीवन का भी स्वीकार करना पड़ता है। वैसे ही केवल सम्पन्न जीवन का स्वीकार करना भी पर्याप्त नहीं है, भौतिक जीवन के पीछे लगे हुए लोग समृद्ध की उपेक्षा करते हैं। उनको लगता है कि समृद्धि तो भौतिक है, उसकी धुन में हम नहीं पड़ते। उसी प्रकार समृद्ध जीवन के लोगों को तो सम्पन्न जीवन की आवश्यकता ही नहीं लगती कारण वे अतीन्द्रिय शक्ति को अदृश्य मानते ही नहीं। इस प्रकार ऐसे दो अभेद्य विभाग *(Watertight Compartment)* बन जाते हैं। ऐसे दो समूहों का मनोमन्थन करने के लिए समीप लाने का काम किसी दिव्य शक्ति का ही है।

यह महान् शक्ति कछुए जैसी शान्तबुद्धि तथा सम्पूर्ण आशावादी है। उसके पास प्रसंग को देखकर चलने की कला है अच्छा क्या है, किस मार्ग से जाना है, किस मार्ग से समाज को ले जाना है जो यह सब जानता है। ऐसा महापुरुष कूर्म समाज से आया होगा और उसने मनोमन्थन करने के लिए कहा होगा। भागवतकार के पास लाक्षणिक भाषा में बोलने की कला तो है ही। कुछ स्थानों पर स्वयं लाक्षणिक भाषा में बोलते हैं ऐसा दिखाते हैं और कभी कभी वैसा प्रकट नहीं करते।

समृद्ध जीवन का अर्थ है **'काम।'** यहाँ काम यानी लैंगिक भूख अथवा स्त्री की कामना ऐसा अर्थ नहीं लेना है। **'काम'** का अर्थ है भौतिक जीवन! भौतिक जीवन को- 'काम' को स्वीकारना ही पड़ेगा। **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्‌सिद्धिः सः धर्मः'** ऐसी धर्म की व्याख्या कहने के लिए महापुरुषों को जगत् में आना पड़ा। अभ्युदय की ओर पीठ फेरने से व्यक्ति का जीवन उन्नत नहीं बनेगा। उपनिषद में तो **उभे अविद्यां च विद्यां च** ऐसा ऋषियों ने कहा है। समुद्रमंथन में समृद्ध जीवन को ही माननेवाले दैत्यों को अपने पास लेंगे, उनके साथ हाथ मिलायेंगे, उनकी शक्ति का उपयोग करेंगे तो उनको भी बदल सकेंगे। समृद्ध और

सम्पन्न जीवन के झगड़ों में समृद्ध जीवन की आवश्यकता है। दोनों का सिद्धान्त एक ही है कि मानवजाति को सुखी बनाना। परन्तु उसमें मूलभूत फर्क है। यह झगड़ा एक काल में हुआ ऐसा नहीं है। अनादि काल से वह चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

मनुष्य के पास विचार है, परन्तु जैसे कि कठोपनिषद में कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।। (कठो २-१-१)

(स्वयं प्रकट होनेवाले भगवान ने सभी इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर जानेवाले ही बनाये हैं, इसलिए मनुष्य इन्द्रियों द्वारा प्राय: बाहर की वस्तुओं को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं! किसी (भाग्यशाली) बुद्धिमान मनुष्य ने ही अमरपद को पाने की इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर से लौटाकर अन्तरात्मा देखा है।) मनुष्य बाह्य विषयों को ही देखता है, परन्तु आगे का देखनेवाले भी लोग हैं। 'जिस दृष्टि से मैं देखता हूँ उसको शक्ति देनेवाला कौन है' यह सोचनेवाला वर्ग भी है। बाह्य विषयों की ओर देखनेवाले वर्ग को छोड़ने से नहीं चलेगा। उसको अपने पास लेकर, सहकार और सहजीवन का अमृत देवताओं का मिला।

भागवत का अभ्यास करने के बाद दैत्यों को महाभयंकर मानने की आवश्यकता नहीं है। दिति के पुत्र दैत्य और अदिति के पुत्र देवता! इन दोनों देव-दैत्यों का सिद्धान्त एक ही है कि सुख प्राप्त करो। समृद्ध जीवन व सम्पन्न जीवन को माननेवाले दोनों को शान्ति से रोटी खानी है। स्वयं शान्ति से रोटी खाते समय दूसरों की ओर भी देखना है ऐसा समृद्ध लोग बोलते हैं।

आज भी चुनाव में सभी राजकीय पक्ष एक ही भाषा बोलते हैं कि सभी को रोटी मिलनी चाहिए। कौन ऐसा कहता है कि सभी को रोटी नहीं देनी चाहिए? ऐसा कहनेवाला कोई अभी पैदा होनेवाला है।

देवता अथवा दैत्य, दोनों भी झूठ नहीं बोलते। दोनों को रोटी चाहिए! एक वर्ग कहता है कि स्वयं को रोटी खानी हो और शान्ति से खानी हो तो दूसरे को भी रोटी देनी पड़ेगी। यह दैत्यवर्ग है। दूसरा वर्ग देवताओं का है। वह कहता है कि रोटी के कारण ही नहीं, अपितु दूसरों के सम्पूर्ण जीवन में रिश्ते से या सम्बन्ध से भी मिल जाना चाहिए। यह मनोमंथन है और यही समुद्रमंथन का अमृत है। केवल दूसरों की कमी के कारण होनेवाली परेशानी देखनी है दूसरों के समग्र जीवन में मिल जाना है। यही चर्चा है। दोनों में से एक भी वर्ग को दूसरे को मारना नहीं है। दोनों कहते हैं कि मुझे दूसरे को जीवित रखना है, परन्तु किस दृष्टि से जीवित रखना है? यह प्रश्न है!

आम चुनाव के समय सभी राजकीय पक्ष जो निवेदन करते हैं उनमें क्या फर्क़ है? कुछ भी नहीं! सभी एक ही बात कहते हैं। तो फिर उनके पक्ष अलग क्यों होते हैं? सबका विचार एक ही है। सबको समाज को सुखी बनाना है।

देवता और दैत्यों की विचारधारा में जो मूलभूत फर्क़ है उसके सम्बन्ध में सांस्कृतिक महापरिषद् में मन्दराचल पर्वत के पास मनोमंथन हुआ। उसमें कूर्मजाति का महामानव-अवतार आया होगा और उसने कहा होगा कि झगड़ा नहीं चाहिए, मनोमंथन करो। यह अतिशय सुन्दर कथा भी है- और उसमें सुन्दर मार्गदर्शन भी है। अनन्त काल तक मार्गदर्शन करनेवाला उपदेश भी है। इस आठवें स्कन्ध में अधिक भाग व्यावहारिक है, शेष बातों में अध्यात्म कम है ऐसा मुझे लगता है। व्यवहार को छोड़कर अध्यात्म नहीं मिलता यह सिद्धान्त है। आप व्यवहार को कैसे छोड़ सकते हैं? उसके बाद आठवें स्कन्ध में वामनावतार आता है।

हिरण्यकशिपु-प्रह्लाद-विरोचन और विरोचन का पुत्र बलि है। बलि की यह पिंडत्रयी है। बलि में हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद और विरोचन का मनोवैज्ञानिक मिश्रण दिखायी देता है। बलि राजनीतिज्ञ, प्रभावी और शूर भी था। वह प्रभावी राजनीतिज्ञ और शूर था इसीलिए तो उसने देवताओं को पराजित किया। इतना ही नहीं, उसने असुरों का राज्य प्रस्थापित किया। बलि का प्रभावी राज्य स्थापन हुआ इसलिए देवताओं को खामोश रहना पड़ा। देवताओं के गुरु बृहस्पति ने उनको खामोश रहकर प्रतीक्षा करने का उपदेश किया और कहा कि बिना इसके इस समय दूसरा मार्ग नहीं है।

बलि बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ था। उसका चरित्र पढ़ने जैसा है। उसके लिए महाभारत व भागवत दोनों एक साथ पढ़ने चाहिए। बलि अतिशय शूरवीर भी था! देवताओं ने बृहस्पति से पूछा कि बलि का पराभव कब होगा? बृहस्पति ने कहा, जब ब्राह्मण का अपमान होगा तब बलि का पराभव होगा' **तेषामेवापमानेन सानुबन्धो विनंक्ष्यति'** ऐसा भागवत में लिखा है।

'बलि ने सुराज्य स्थापित किया। उसके राज्य में जब ब्राह्मण्य पतित होगा तब बलि समाप्त हो जायेगा। तब तक तुम्हें प्रतीक्षा करनी होगी।'

यह बहुत विचार करने जैसी बात है। ब्राह्मण्य यानी क्या? ब्राह्मण कौन है? ब्राह्मण को क्या करना है? इसका अभ्यास करना चाहिए।

बलि ने राज्य प्रस्थापित किया। सबसे पहले उसने आर्त-दुःखी लोगों को समाधान दिया। दूसरी बात, उसने क्षत्रियों को निस्तेज बना दिया। सभी को नौकर बना दिया। शिक्षा ब्राह्मणों के हाथ में थी, वह निकालकर राजसत्ता के हाथ में दे दी। सभी प्रकार की शिक्षा राजसत्ता के हाथ में आ गयी। आज भी शिक्षा राजसत्ता के हाथ में ही है।

ब्राह्मण दो प्रकार के होते हैं। एक वर्ग शिक्षण देता है और दूसरा वर्ग गाँव गाँव में जाकर लोगों को आचार समझाता है। शिक्षा देनेवाले गुरुकुल में-तपोवन में रहकर लोगो को शिक्षा देकर तैयार करते थे। आचार समझानेवाले ब्राह्मण यज्ञ द्वारा झोपड़ी-झोपड़ी में जाकर

आचार समझाते थे। उनको यज्ञीय ब्राह्मण कहा जाता था। बलि ने शिक्षा प्रदान करनेवाले गुरुओं को राजसत्ता का नौकर बना दिया और आचार समझानेवाले यज्ञीय ब्राह्मणों को यज्ञों में रोक कर कर्मकाण्डी बना दिया। जो ब्राह्मण समाज के अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचकर आचार समझाते थे, संस्कार देते थे उनको विपुल दक्षिणा देकर यज्ञ में ही रोककर सन्तुष्ट कर दिया। ब्राह्मण हुआ तो क्या हुआ? अन्त में वह भी मनुष्य ही है। आलस तो आयेगा ही, भोगलंपटता भी आती है। यदि राजा पर्याप्त मात्रा में दक्षिणा देता है तो शान्ति से एक स्थान में बैठकर शास्त्र की चर्चा करना यही उनका काम हो गया। गाँवों में होनेवाला आचार-संस्कार का कार्य बंद हो गया।

एक बात समझने जैसी है कि भक्ति करनेवाले रावण को राम ने मारा, अच्छी तरह से राज्य चलाकर विष्णुयाग करनेवाले दुर्योधन को कृष्ण ने मारा और यज्ञ करनेवाले बलि को वामन भगवान ने मारा है। इन तीनों में से कोई भी अधार्मिक नहीं था। तीनों अवतारों का परीक्षण करते समय रावण, दुर्योधन, बलि को भगवान ने क्यों मारा? यह प्रश्न खड़ा न हो तो परीक्षण करनेवाला बुद्धिमान ही नहीं। आगे बढ़कर कहूँ तो परीक्षण करनेवाला बुद्धिमान ही नहीं है। मनुष्य भी नहीं! उसका यह जन्म तो व्यर्थ ही गया परन्तु दूसरा जन्म भी व्यर्थ जायेगा। इन लोगों में अन्य सब बातों की अकल है केवल इसी बात का विचार करने की अक्ल नहीं है?

विरोचन-बलि की शिक्षा प्रणाली का प्रमुख कुलपति *(chancellor)* शुक्राचार्य थे। प्रणाली के अनुसार ही शिक्षा देनी चाहिए यह उनका आग्रह था। जीवन व्यवहार, जीवन का मांगल्य, जीवन की तेजस्विता ये सभी बातें स्वतंत्र शिक्षा-प्रणाली से ही आ सकती हैं। शिक्षा राजसत्ता के हाथ में नहीं होनी चाहिए, ऐसा आग्रह हमारे शास्त्रकारों ने प्राचीन समय से ही रखा है। भौतिकवाद और भौतिक सुखों में ही फँसी हुई राजसत्ता के हाथ में जब शिक्षण संस्था आ जाती है तब मनुष्य तेजस्वी, उन्नत बन ही नहीं सकता। राजसत्ता के हाथ में शिक्षणसंस्था कभी भी नहीं जानी चाहिए। उसके लिए निरन्तर प्रयत्न करने चाहिए। जिस देश में शिक्षण-संस्था राजसत्ता के हाथ में गयी है उस देश की उन्नति नहीं हुई। इसका कारण मानव की केवल भौतिक उन्नति ही नहीं देखनी है, उसकी भीतरी उन्नति भी शिक्षण-संस्था को देखनी चाहिए। अन्तर्बाह्य उन्नति एक साथ होनी चाहिए।

राजसत्ता को तो निःसत्त्व मनुष्य ही चाहिए। वह ऐसी ही शिक्षा देती है ताकि मनुष्य निःसत्त्व बन जाय। राजसत्ता के हाथ में शिक्षण-संस्था आने पर ब्राह्मण शिक्षक की नौकरी में ही फँसे हुए रहते हैं और यज्ञीय ब्राह्मण कर्मकाण्डी बनकर फँसे रहते हैं।

राजा भी दस वर्षों, बीस वर्षों तक चलते रहें ऐसे यज्ञ करता था। ब्राह्मणों को तो **'हिरण्यं दद्यात् रजतं दद्यात्'** सोना, चांदी दे दो। ब्राह्मण को शान्ति से बैठकर सोना चांदी मिली तो उसको दूसरा क्या चाहिए? परन्तु राजसत्ता को हिला देनेवाले मनुष्यों को खड़ा करने की ताकत ही ऐसे ब्राह्मणों में नहीं रहती।

नौकरी में और कर्मकाण्ड में फँसा हुआ ब्राह्मण वर्ग, निस्तेज व नौकर बना हुआ क्षत्रिय वर्ग और धन्धा समझकर कारीगरी करनेवाला शूद्र वर्ग-ऐसा उस समय के समाज का चित्र दृष्टिगोचर होता है। उसमें रोटी सभी को मिलती थी, खाना सभी को मिलता था। कुत्ते भों-भों करके झगड़ा करते तब उनके सामने रोटी का टुकड़ा फेंकने से उनका झगड़ा, भौंकना बंद हो जाता था। उस समाज का ऐसा चित्र दिखायी देता है। **शान्तिरस्तु पुष्टिरस्तु तुष्टिरस्तु....** समाज शान्त दिखायी देता था।

हमार .ऋषि **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः'** बोलते थे, हम भी बोलते हैं। क्यों बोलते हैं? कुछ बोलना चाहिए इसलिए नहीं बोलते हैं! इसमें आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक- तीनों प्रकार की शान्ति की माँग है। केवल माँग ही नहीं, अपितु आग्रह भी है कि ये तीनों शान्तियाँ समाज में प्रस्थापित हों इसलिए हम प्रयत्न करेंगे, तीनों शान्तियाँ मिलनी चाहिए।

बलि के समय में जब समाज निस्तेज और निःसत्त्व बन गया था तब स्त्रीसमाज में जागृति आयी हुई दिखायी देती है। स्त्रीसमाज को लगने लगा कि 'जन्म लेना, शिक्षा प्राप्त करना, पैसा कमाना, विवाह करना, बच्चे पैदा करना, उनके विवाह कराना और मर जाना यही क्या जीवन है? क्या इसकी अपेक्षा दूसरा कुछ देखना नहीं है? कुछ करना नहीं है? कुछ करने की अभिलाषा ही नहीं? बालकों को ऐसी ही शिक्षा मिलनेवाली हो और उनका जीवन ऐसा ही बननेवाला हो तो बालकों को पैदा करने का हेतु ही क्या है? बच्चे पैदा करना ही बेकार है। इससे तो हम अनन्त पीढ़ियों तक जीवन को बिगाड़ते है।'

हमेशा ऐसा ही होता है कि स्त्री अकस्मात् जागृत हो जाती है। वह सोच समझकर जागृत होती है। उसको लगता है कि भयानक, सामाजिक आँधी में से बाहर निकालनेवाला बालक मुझे चाहिए। ऐसा आग्रह रखनेवाली एक स्त्री पैदा हो गयी। आज की भाषा में कहना हो तो स्त्रियों की नेता उत्पन्न हुई। वह थी अदिति! कथा तो सबको मालूम है। मैं भागवत की कथा करने यहाँ नहीं बैठा हूँ। भागवत की अतिशय सुन्दर कथा करनेवाले लोग हैं, वे करेंगे। भागवत की बौद्धिक समालोचना करने और भागवत को नमस्कार करने का प्रयत्न हम कर रहे हैं।

अदिति ने भगवान से कहा, 'भगवान! मुझे पुत्र देना होगा तो ऐसा दीजिए कि जो इस भौतिक जीवन में नहीं फँसेगा। अदिति की निष्ठा और कश्यप की तपश्चर्या से उनको पुत्रप्राप्ति हुई। उसका नाम रखा गया वामन। वामन ने जिस दिन जन्म लिया वही वामन-जयन्ति का दिन है।

भगवान ने देखा कि स्त्री-समाज में जागृति आयी है। अतः अदिति के पेट से वामन भगवान ने अवतार लिया। आठवें स्कन्ध में एक पयोव्रत बताया है। आज भी कर्मकाण्डी ब्राह्मण, जिनको पुत्र नहीं होता है उनको पयोव्रत करने को कहते हैं। उसकी एक कर्मकाण्डी पद्धति भी है। उसमें अर्थ भी है, नहीं है ऐसा मैं नहीं कहता हूँ। कर्मकाण्ड में कौनसा

जप करना चाहिए, फाल्गुन महीने में प्रतिपदा से त्रयोदशी तक यह व्रत करना चाहिए, उसमें कुछ हवन भी करना चाहिए आदि बातें बतायी हैं। उनका तात्पर्य यह निकलता है कि संयमित जीवन, सात्त्विक आहार और भोगविमुख विचार ये तीनों बातें सँभालकर दम्पत्ति रहेंगे तब तेजस्वी सन्तान उनके यहाँ जन्म लेती है। इन तीनों बातों के लिए कुछ कर्मकाण्ड भी बताया है।

अदिति ने यह पयोव्रत किया। पयोव्रत करने से उसके पेट से वामन उत्पन्न हुआ।

बचपन में वामन को विरोचन से ही शिक्षा लेनी पड़ती थी। इसका कारण उसके अलावा दूसरी शिक्षा को स्वीकार करने की समाज की तैयारी नहीं थी और राजसत्ता भी तैयार नहीं थी। शिक्षा देनेवालों को दूसरी शिक्षा उठानी नहीं थी और सीखनेवालों को भी दूसरी शिक्षा नहीं चाहिए थी। तो अब क्या करना चाहिए?

वामन जैसे लोग जो निश्चित ध्येय लेकर आये थे उनका जीवन अलग होता है। वामन विद्यार्थियों के छोटे छोटे समूह बनाकर उनको घूमने के लिए ले जाने लगा। उन्हें वामन कुछ नहीं सिखाता था। लोग पूछते थे, 'कहाँ जाते हो?' तो कहते, "हम घूमने के लिए जाते हैं। 'शिक्षा देनी है' ऐसा कहकर शिक्षा नहीं देनी चाहिए ऐसा वैदिक प्रणाली का सिद्धान्त है। सुबह ग्यारह से सायं पाँच बजे तक शिक्षा देना शिक्षा नहीं है ऐसी हमारी भारतीय धारणा है, इसीलिए तो तपोवन पद्धति की शिक्षा थी।

विश्वामित्र को राम-लक्ष्मण को शिक्षा देनी थी। परन्तु राम-लक्ष्मण को शिक्षा के लिए मेरे साथ भेजो, ऐसा उन्होंने नहीं कहा। उन्होंने दशरथ राजा से कहा कि यज्ञ की रक्षा करने के लिए राम-लक्ष्मण को मेरे साथ भेजो। यज्ञ का रक्षण करने हेतु राम-लक्ष्मण गये और सम्पूर्ण शिक्षा लेकर आये। ऐसी एक अलौकिक शिक्षा-प्रणाली भारत में थी।

शिक्षा माँगने से नहीं मिलती। 'शिक्षा देनेवाले को मालूम नहीं होना चाहिए कि मैंने कुछ दिया और लेनेवाले को पता नहीं चलना चाहिए कि मैंने कुछ लिया' तब जो मिलता है उसे शिक्षा कहते हैं। उसके लिए तपोवन पद्धति *(Residential Education systems)* की शिक्षा होनी चाहिए। सुबह गुरु के साथ घूमने चल पड़े हैं, गुरु बातें कहते हैं, उसमें ज्ञान कब दिया और कब लिया इसका पता न चलकर ज्ञान प्राप्त होता था। आजकल के जैसे 'वस्तुपाठ' जैसा पाठ नहीं होता।

गुरु के साथ लड़के बैठे हों, प्रश्न पूछते हों और गुरु उत्तर देते हों। लड़के पूछते हैं, "हम यहाँ विद्यालय में आये हैं न?' गुरु कहते हैं, "तुम विद्यालय में नहीं, अपने घर में आये हो।' लड़के पूछते हैं, 'घर किसे कहते हैं? घर किसलिए होता है? और गुरु बातों-बातों में कहने लगते हैं, लड़कों को ज्ञान मिलता जाता है।

घर किसे कहते हैं? रहनेवालों की रक्षा होनी चाहिए इसके लिए जो स्थान होता है उसको घर कहते हैं। किसकी रक्षा करनी है? मानवता की रक्षा करनी है। मानवता की जब रक्षा नहीं होगी तब घर नहीं रहेगा। जिस घर में से कृतज्ञता और भाव ये दोनों बातें चली

गयी हैं वह घर नहीं है। इसलिए **यास्तेषां स्वैरकथाः उपदेशानि भवन्ति इतराणि'** ऐसी शिक्षा होनी चाहिए। यह एक भिन्न ही शिक्षा-प्रणाली है। शिक्षा का अर्थ है- मानव को बदलना! शिक्षा जानकारी *(information)* नहीं है। मानव को बदलना, उसकी वृत्ति को, उसके जीवन को एक भिन्न ही मोड़ देना चाहिए। इसीको शिक्षा कहते हैं।

वामन के पीछे खुफिया पुलिस भी घूमती थी। उनके द्वारा वह क्या करता है इसका पता चलता था। बाहर जाते समय पूछा जाता तो ये लड़के कहते थे, 'हम घूमने जा रहे हैं, खेलने जा रहे हैं।' कृष्ण भगवान ने भी ऐसा ही किया था। गोकुल के गोपबालकों को वे यमुना के तीर खेलने के लिए ले जाते थे। खेलते खेलते अभ्यास होता था। हमने उसमें से केवल क्रीड़ा उठायी और शिक्षा छोड़ दी है। शिक्षा के लिए क्रीड़ा थी। क्यों खेलना है? शिक्षा के लिए खेलना है, शिक्षा लेनी है इसलिए खेलना है। अब तो खेल की ही शिक्षा दी जाती है, उसके लिए शिक्षक *(Tutor)* रखा जाता है। कृष्ण भगवान गुल्ली-डण्डा, गेंद लेकर गोपबालकों के साथ यमुना किनारे जाते थे।

वामन को पूछते थे कि कहाँ जा रहे हो? वामन कहता कि हम खेलने के लिए, घूमने के लिए जा रहे हैं। राजसत्ता निरन्तर जागृत रहती है, राजसत्ता को जागृत रहना ही चाहिए। क्योंकि राजसत्ता को सभी बातें अपने हाथ में रखनी होती है तब तो बहुत ही जागृत रहना पड़ता है।

राजा की खुफिया पुलिस इन लोगों का पीछा करती थी। उसने बलिराजा से कहा कि वामन अनेक लोगों के विचारों में परिवर्तन लाकर उनका जीवन बदल रहा है, उनके जीवन को एक विशेष मोड़ दे रहा है। बलि कहता, 'अरे! कहाँ मैं और कहाँ वामन! वह तो एक गरीब, असहाय ब्राह्मण है। उसके पास वित्त भी नहीं है। वह क्या कर सकता है?' इसका कारण, सभी वित्तशक्ति राजा के पास थी। सभी धनवान लोग राजा के सामने नतमस्तक होकर रहते थे। धनवान लोग हमेशा राजसत्ता के पीछे गुलाम बनकर दौड़ते रहते हैं। फिर वह इन लोगों को खुश करने के लिए कुछ करती है, नहीं करती ऐसा नहीं, परन्तु उन लोगों का समर्थन राजा को ही मिलता था।

ब्राह्मण वर्ग को तो राजा ने यज्ञ में ही रोक रखा था। कितने ही ब्राह्मणों को शिक्षण-संस्था में नौकर बना दिया गया था।

'वामन' का अर्थ होता है 'बौना।' यह वामन अब व्यापक-बड़ा बनने लगा, बढ़ने लगा, महान् बनने लगा। तब शुक्राचार्य ने बलि के पास आकर कहा, 'ध्यान में रख! यह वामन विष्णु है, वह व्यापक बन रहा है, उसको रोकना चाहिए।' भागवत में ऐसा स्पष्ट लिखा है।

शुक्राचार्य को एकाक्ष कहते हैं। शुक्राचार्य एकाक्ष थे या नहीं, उनमें शारीरिक व्यंग्य था या नहीं यह मुझे मालूम नहीं है, इसका कारण उस समय उनकी कोई तसवीर नहीं खींची गयी थी। एकाक्ष का अर्थ है कि जिसमें एक ही दृष्टि थी कि असुरों का भला

किसमें है वही देखना। उनको दूसरा कुछ मालूम नहीं था! उनको मानवता आदि कुछ ज्ञात नहीं था। इसलिए उनको एकाक्ष कहते थे। इंग्लैण्ड के चर्चिल साहब एकाक्ष थे। सभी राजनीतिज्ञ लोगों को एकाक्ष ही बनना चाहिए। जो एकाक्ष नहीं है वह राजनीतिज्ञ भी नहीं बन सकता और राजनैतिक भी नहीं होता। चर्चिल की एक ही दृष्टि थी कि 'मेरे ब्रिटेन का कल्याण किसमें है?' सम्पूर्ण दुनिया का कल्याण करने के लिए सन्त पुरुष होते हैं। नैतिक लोगों को सपूर्ण दुनिया का कल्याण करना हो तो राजसत्ता छोड़ देनी चाहिए। चर्चिल को एक ही बात मालूम थी कि मेरे इंग्लेंड का राज्य अच्छा चलना चाहिए। इसीको एकाक्षता कहते हैं। शुक्राचार्य के पास इस प्रकार की एकाक्षता थी।

शुक्राचार्य ने बलि से कहा, 'जो विष्णु (वामन) है उसको खत्म करना चाहिए।'

बलि ने कहा, 'वामन को खत्म करना गलत काम है। जगह-जगह पर वामन का नाम सुनायी देता है। इतना ही नहीं, उसको पूजनेवाले भी लोग बहुत हैं। वामन के विचारों को उठाये हुए लोगों की संख्या भी बहुत है, अत: उसके साथ सन्धि करना ही अच्छा है, वही योग्य होगा। मैं वामन के साथ सन्धि करूँगा।'

यहाँ बलि में हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद और विरोचन के संस्कारों का मिश्रण दिखायी देता है। उसमें प्रह्लाद के संस्कार भी दिखायी देते हैं। उसने कहा, 'वामन को मारने की अपेक्षा मैं उसके साथ संधि करूँगा।'

शुक्राचार्य ने कहा, 'वामन के साथ सन्धि करने में तू अपनी मौत ही माँग रहा है। यह कोई अच्छी बात नहीं है।'

इस प्रसंग का राजनीतिक दृष्टि से भी विश्लेषण करने की आवश्यकता है। यहाँ सुनने के लिए आये हुए लोगों में बड़े बड़े राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्रज्ञ, सुशिक्षित लोग हैं, वे इसका अर्थ अच्छी तरह से समझ लेंगे। मैं उसका विश्लेषण करने लगूँगा तो भागवत अपूर्ण रह जायेगा।

बलि ने वामन के साथ सन्धि करने की बात की, उसीमें से उसका शुक्राचार्य के साथ मतभेद हो गया। शुक्राचार्य ने स्पष्ट कहा कि वामन के साथ सन्धि करने का अर्थ यह है कि आज तक हमने जिस प्रणाली को स्वीकार किया था उसको खत्म करना।

बलि ने कहा, 'इसमें प्रणाली खत्म करने की बात कहाँ आयी? वैसी कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी। हम केवल वामन के साथ सन्धि करेंगे। वह क्या माँगना चाहता है यह समझ लेंगे।'

शुक्राचार्य को बलि का कहना मान्य नहीं था, अत: अपना विरोध बताकर वे चले गये। उसके बाद बलि ने अपने यज्ञ में आने के लिए वामन को बहुत प्रतिष्ठापूर्वक आमंत्रण भेजा। उसके साथ सन्धि करने के लिए उसे यज्ञ में बुलाया। वामन भगवान के यज्ञ में आने पर बलि ने उसका बहुत बड़ा सम्मान किया। बलि का यह सौजन्य था। इसलिए जैसे

कि पहले कहा गया है बलि में हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद और विरोचन- इन तीन पीढ़ियों का मिश्रण दिखायी देता है।

बलि ने वामन से कहा, 'क्या हमें सन्धि करनी चाहिए?'

'जरूर' वामन ने कहा।

'तो कहिये, आपको क्या चाहिए?' बलि ने पूछा।

वामन ने कहा, 'मुझे तो त्रिपदा भूमि चाहिए।'

बलि ने कहा, 'ठीक है, ले लीजिए।'

वामनरूप विराट बना। वामन भगवान ने अपने दो पैरों में से एक पैर से भूलोक, दूसरे पैर से अन्तरिक्ष व दिशाओं तथा स्वर्ग लोक व्याप्त कर दिया और बलि से पूछा, "तीसरा पैर कहाँ रखूँ?' कोई स्थान शेष नहीं रहा था। वामन भगवान का स्वरूप इतना विराट बना था ऐसा लिखा है। हजार वर्षों पहले का यह लेखन है। इस लेखन को न्याय देना चाहिए या नहीं? क्या एक पग में पृथ्वी व्याप्त हो गयी? तो फिर यज्ञ कहाँ था? बलिराजा कहाँ था? यज्ञ के ब्राह्मण-दक्षिणा लेनेवाले- कहाँ चले गये? वामन कहाँ थे?

त्रिपदा भूमि माँगी है। इसका अर्थ यह है कि वामन भगवान ने समाज के तीन पैर प्रथम खड़े करने को कहा कि 'चौथा पैर मैं खड़ा करूँगा।' समाज के तीन पैर कौनसे हैं? पहला पैर है ब्राह्मण! शिक्षा ब्राह्मण के हाथ में होनी चाहिए, राजसत्ता के हाथ में नहीं! वामन भगवान की यह पहली माँग है।

यह एक अजब बात है कि आज के जमाने में भी ऐसी माँग की जाती है कि शिक्षा का राष्ट्रीयकरण *(Nationalization)* करो। यह बात बड़े बड़े शिक्षा तज्ज्ञ *(Educationist)* भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि सत्तावानों और वित्तवानों ने ही उनको शिक्षा-तज्ज्ञ ठहराया है। गुजरात में तो यह चल ही रहा है। एक जगह राष्ट्रीयकरण हो गया कि सभी जगह हो जायेगा। आज शिक्षा का अर्थ राष्ट्रीयकरण तो हुआ ही है।

इसीलिए वामन ने कहा, 'प्रथम शिक्षा राजसत्ता के हाथ से निकाल लो और ब्राह्मणों के हाथों में सौंप दो। शिक्षा स्वतंत्र रूप से होनी चाहिए।

इसी माँग में वामन ने कहा, 'यज्ञ बंद कर दो।' यह समझने की बात है कि वामन जैसा अवतार भी यज्ञ क्यों बंद कराता है? यज्ञ में रोके हुए ब्राह्मण विपुल दक्षिणा लेते हैं, प्रसाद खाते हैं और धुआँ निकालते हुए बैठे रहते हैं। उन सबको बाहर निकालो और गाँव-गाँव में जाने दो। दो प्रकार के ब्राह्मण होते हैं- शिक्षा देनेवाले ब्राह्मण और दूसरे गाँव-गाँव में जाकर आचरण समझाने वाले ब्राह्मण! ऐसे दोनों वर्ग खड़े करो। फिर समाज खड़ा हो जायेगा, समाज में अस्मिता जागृत होगी।

दूसरा पैर है क्षत्रियों का! दूसरी माँग में क्षत्रिय वर्ग को खड़ा करने को कहा। आज क्षत्रिय जड़वादी और बोदे (न बजनेवाले) रुपयों के जैसे बन गये हैं। वे वैसे नहीं रहने चाहिए। वे खन-खन आवाज करनेवाले रुपयों के जैसे होने चाहिए। राजसत्ता में ईश्वरवादी क्षत्रिय होने चाहिए। क्षत्रिय स्वतंत्र होने चाहिए और उनको ब्राह्मण द्वारा शिक्षा मिलनी चाहिए, राजसत्ता द्वारा नहीं! उसमें भारतीय प्रशासनिक सेवा *(Indian Civil Service)* नहीं चलती। राजसत्ता ने क्षत्रियों को निस्तेज बना दिया है, और ब्राह्मणों को भूख के पीछे, रोटी के पीछे लगे हुए भिखारी बना दिया है। इन दोनों वर्गों को मुक्त करो।

तीसरा पैर यानी वैश्य! वामन ने तीसरी माँग की कि वैश्य लोगों को बदल दो। धन्धा शब्द मिट जाना चाहिए, उसके स्थान पर कर्तव्य शब्द आना चाहिए। **'विशति इति वैश्यः'** ऐसा वैश्यवर्ग खड़ा करो।

इस प्रकार की त्रिपदा भूमि वामन द्वारा .माँगने पर बलिराजा को लगा कि 'सन्धि की ये सभी बातें मान्य करूँगा तो मेरा अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। मैं किधर रहा? जो शुक्राचार्य कहते थे वह सत्य था। मैंने उनका नहीं माना।' शुक्राचार्य कहते थे कि बलि राजा की जन्मकुंडली अच्छी नहीं है। उसका राज्य अब नहीं टिकेगा। कारण शुक्राचार्य को मालूम था कि माँगनेवाला कौन है, उसकी क्या माँगें हैं, उसके पीछे कौन सी शक्ति है।

वामन ने कहा, मैंने तेरे लिए अच्छी जगह ढूँढ ली है। वह है सुतल! वहाँ अपने ज्ञातिबांधवों के साथ तू सुखपूर्वक निवास कर। वहाँ तुझे किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होगी। मैं सभी उपद्रवों से तेरी रक्षा करूँगा व नित्य तेरे पास रहूँगा। तेरा द्वारपाल बनूँगा।

बलि को 'सुतल' में भेज दिया। हमारे यहाँ चतुर्दश भुवन माने हैं। भूः भुवः स्वः महः, जनः, तपः, और सत्यम् ये ऊपर के भुवन हैं तथा अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल और पाताल! कौनसा भुवन कहाँ है यह निश्चित करना है। पाताल नीचे होगा तो आज अमेरिका भी नीचे है। कदाचित् अमेरिका ही पाताल होगी। ऐसा भी हो सकता है।

वामन ने बलि को 'सुतल' भेजकर स्वयं उसके द्वारपाल बने। आज की भाषा मे कहना हो तो बलि राजा पर वामन ने प्रवेश निषेधात्मक आदेश *(Preventive Detention Act)* जारी किया।

बलिराजा को सुतल में रखने के बाद समाज को अच्छी तरह से श्वासोच्छ्वास लेने को मिला। समाज में दीपोत्सव मनाया गया। वह दीपोत्सव आज भी हम मनाते हैं। कनक और कान्ता दोनों की ओर देखने का दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। कनक में सत्ता आ गयी और कान्ता में स्त्री! 'कनक' के लिए लक्ष्मी पूजन और कान्ता के लिए भाई दूज का दिन! दोनों की ओर देखने की दृष्टि बदलेगी, भोग की नहीं रहेगी तब दीपोत्सव हो सकता है, तब दिवाली होती है। कनक और कान्ता की ओर देखने की दृष्टि बदलने की शिक्षा

दीपोत्सव से मिलनी चाहिए। दिवाली और भाईदूज के बीच में एक दिन आता है। वह है बलिप्रतिपदा! बलिराजा का दिन! जिस दिन वामन ने बलिराजा को नज़रकैद बनाकर सुतल भेज दिया वह दिन!

बलिराजा ने बुरा नहीं किया था। वह राज्य छोड़कर चला गया, इसीलिए तो बलिप्रतिपदा का दिन बलिराजा के लिए रखा है। इसके कारण बलिराजा के प्रति कटुता नहीं रही। १९४७ में ब्रिटीश यहाँ से चले गये मगर उनके प्रति भी हमने कटुता नहीं रखी। इतना ही नहीं, माऊंटबेटन को हमने भारत का प्रथम गवर्नर जनरल बनाया, इसका कारण ब्रिटिश समझकर, जानबूझकर यहाँ से सत्ता छोड़कर चले गये। यह रक्तलांछित सिंहासन नहीं था। हमेशा सिंहासन पर से एक सत्ता चली जाती है और दूसरी आती है जो खून बहाये बिना नहीं आती। बिना खून बहाये ब्रिटीशों ने सत्ता परिवर्तन *(Transfer of Power)* किया। एक दिन-पन्द्रह अगस्त को रात्रि में हम सत्ता से नीचे उतरेंगे और तुम सत्ता हाथ में ले लो, इतनी शान्ति से उन्होंने निश्चित किया और उसके अनुसार ही हुआ। उसके कारण कटुता नहीं हुई। हम *Common Wealth* के सदस्य बने, जिसके साथ डेढ़ सौ वर्षों तक झगड़ा करते थे, साहब लोगों को मारते थे, उनके कामनवेल्थ के हम सदस्य रहे। उनके ही आदमी को प्रथम गवर्नर जनरल बनाया।

बलिराजा ने भी कटुता नहीं रखी। वह वहाँ का राजा तो रहा ही था। इसके जो दूरगामी परिणाम हैं वे सामान्य मनुष्य को मालूम नहीं पड़ते। आज, समझो कि ब्राह्मण्य खत्म हुआ तो, क्या होगा? होने दो! राजसत्ता के हाथ में शिक्षा जायेगी, जाने दो। शिक्षक को अच्छा वेतन मिलेगा, वह नौकर बन जायेगा, उसकी नाक नीचे होगी, वह स्वतंत्रता से श्वास लेना खो बैठेगा, इसकी जानकारी सामान्य लोगों को नहीं होती। नौकर किसी भी दिन दूसरे के जीवन को मोड़ नहीं दे सकता। यह मूलभूत *(Basic)* समझ जब समाज में से चली जाती है, तब समाज बिगड़ जाता है।

बलिराजा का बलि प्रतिप्रदा का दिन दीपोत्सव में आया। लक्ष्मीपूजन, बलिप्रतिपदा और भाई दूज-तीन दिन दीपोत्सव किया। अब अच्छी तरह से भागवतीय राज्य चलेगा इसलिए वामन भगवान ने यह किया।

उसके बाद उसमें एक एक घटना जुड़ती गयी। चतुर्दशी का दिन! जिस दिन नरकासुर को कृष्ण भगवान ने मारा। इस दिन कृष्ण भगवान ने नरकासुर को मारकर उसके कैदखाने से सोलह हजार युवतियों को मुक्त किया। इस नर्क चतुर्दशी के दिन को भी दीपोत्सव में शामिल किया। ऐसे कुल मिलकर चार दिन दीपोत्सव मनाया जाता है। पहले दिन नर्क चतुर्दशी, दूसरे दिन लक्ष्मीपूजन, तीसरे दिन बलिप्रतिपदा यानी नया वर्ष और चौथे दिन भाई दूज-मिलकर चार दिन दीपोत्सव! इस दीपोत्सव के पीछे कुछ क्रान्ति *(Revolution)* थी, कुछ विचारधारा थी। दीपोत्सव मनानेवालों को उसके पीछे की विचारधारा को जीवन में अपनाना चाहिए, तभी दीपोत्सव करो। अन्यथा दिवाली का शुभारम्भ देकर-लेकर दिवाली मनाते ही हैं लोग! दिवाली की विचारधारा समझते कौन हैं। प्रकाश का

अर्थ दिवाली नहीं है। प्रकाश तो होली में भी होता है। दिवाली का अर्थ भिन्न है। नर्क चतुर्दशी, लक्ष्मीपूजन, बलिप्रतिपदा और भाई दूज। कनक और कान्ता के लिए एक-एक दिन देने की आवश्यकता थी। स्त्रियों ने ही सुधारवादी क्रान्ति *(Reformative Revolution)* किया है। क्रान्ति के पीछे स्त्री ही थी। अदिति इसके पीछे थी, पूरा स्त्री वर्ग था। आज (दीपोत्सव) से स्त्री की ओर देखने का भिन्न दृष्टिकोण होना चाहिए, भोगवादी दृष्टिकोण नहीं रहना चाहिए यह निश्चित करना चाहिए ऐसी विचारधारा, जीवन श्रेणी, तथा क्रान्ति दीपोत्सव के पीछे है।

आज भी हम दिवाली मनाते हैं। फटाकों की आतिशबाजी करते हैं। व्यापारी लोगों ने दिवाली सँभाली है, कारण प्रतिपदा से उनका नया वर्ष प्रारंभ होता है, परन्तु दिवाली में प्राण नहीं है, चैतन्य नहीं है। हमने दिवाली को प्राणहीन, चैतन्यशून्य व निरुत्साही बना दिया है।

वामन अवतार को नमस्कार करता हूँ। इस अष्टम स्कन्ध में समुद्रमन्थन और बलिराजा-वामनावतार ये दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं।

उसके बाद मत्स्यावतार की कथा आती है। मत्स्यावतार ने सत्यव्रत मनु को सर्वत्र प्रलय होनेवाला है ऐसी सूचना देकर, उस प्रलय में से बचाया है। मुझे आश्चर्य होता है कि इस सार्वत्रिक प्रलय की सूचना अनेक धर्मों के पुराणों में आती है। वह केवल हमारे ही धर्म के पुराण में है ऐसा नहीं है। ईसाइयों के पुराण में भी नोहा को भगवान ने नौका देकर महान् सार्वत्रिक प्रलय में से बचाया है ऐसी कथा आती है। उसी प्रकार मत्स्यावतार ने सत्यव्रत मनु को बचाया है ऐसी कथा भागवत में है। संपूर्ण विश्व के कोने कोने में एक ही कथा प्रचलित हो गयी है ऐसा लगता है।

आदिकाल में मत्स्यावतार ने मनु को सँभाला, ऐसी कथा है। वैसी दूसरी भी एक कथा है। हयग्रीव नाम का एक राजा था, वह असुर था। वह वेदों को चुराकर ले गया। तब भगवान मत्स्यावतार लेकर उसके पास से वेदों को वापस लाये, ऐसी कथा है।

यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है कि 'वेदों को चुराकर ले गया' इसका अर्थ क्या है? क्या वह हयग्रीव राजा वैदिक ग्रंथों को चुराकर ले गया? वेदों को चुराकर ले गया इसका अर्थ वेदविद्या की चोरी की ऐसा होता हो तो दूसरा प्रश्न खड़ा होता है कि एक बार किसी के मस्तिष्क में विद्या गई होगी तो वह वापस कैसे लायी जा सकती है? इसलिए यह सम्पूर्ण कथा रूपकात्मक है। उसका अभ्यास करना चाहिए।

आर्यों की वेदविद्या हयग्रीव राजा चुराकर ले गया, इसका अर्थ यह है कि वेदों में भौतिक जीवनदर्शन है और भौतिक जीवनविकास भी है। उतना ही असुर ले गये। यह वेदों पर किया हुआ अन्याय है। समझो कि एकाध पुस्तक का एकाध प्रकरण किसी को अनुकूल लगने से वह उतना ही उठायेगा तो वह उस पुस्तक पर अन्याय है। पुस्तक को स्वीकार करना हो तो सम्पूर्ण स्वीकार करना चाहिए, उसीका एकाध प्रकरण स्वीकार करने से नहीं

चलेगा। इसी प्रकार वे वेदों के भौतिक विचारों को ही लेकर लोगों से कहने लगे कि वेदों में केवल भौतिक विचार ही हैं और ऐसा करके उन्होंने वेदों की महत्ता ही नष्ट कर दी।

वेदों का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए इसलिए उस समय से वेदों का अध्ययन कौन कर सकता है, किसको बोलना है आदि के सम्बन्ध में निश्चित कानून बनाये गये। कोई भी व्यक्ति उस कानून के अनुसार ही वेदों का अभ्यास करने का अधिकार पा सकता है। जो अनाधिकारी हैं वे वेदविद्या का अभ्यास नहीं कर सकते। अधिकारी व्यक्ति यदि वेदविचार का अभ्यास करता है तो उसका सदुपयोग होता है।

भागवत के आठवें स्कन्ध में जो मत्स्यावतार आया है उसके सम्बन्ध में दो मान्यताएं हैं। प्रथम, सत्यव्रत मनु तपश्चर्या करता था। एक दिन वह नदी के किनारे जल से तर्पण कर रहा था तब उसकी अंजलि में एक मछली आयी। उसको सँभालने हेतु मनु ने अपने कमण्डलु में उसको रखा व आश्रम में वापस आया। एक रात्रि में ही वह मछली इतनी बढ़ी कि वह कमण्डलु छोटा पड़ने लगा। फिर मनु ने उसे एक बड़े पानी के घड़े में रखा। परन्तु वहाँ रखने पर वह मछली दो ही घड़ी मे तीन हाथ बढ़ गयी फिर मनु ने उसको उठाकर एक बड़े सरोवर में डाल दिया। थोड़े ही समय में वह मछली इतनी बढ़ गयी कि उसने विशाल रूप धारण कर सरोवर के जल को घेर लिया। अन्त में उसको मनु ने समुद्र में छोड़ दिया।

मछली के आश्रयदाता मनु हैं इसलिए उसके प्रति मछली ने कृतज्ञता दिखायी। हम 'मनुष्य' शब्द बोलते हैं, परन्तु वह शब्द निर्माण कैसे हुआ, यह देखना चाहिए। **मनोर्जाता मनोरपत्यं मनुष्यः'** ऐसा पाणिनि के व्याकरण में लिखा है। 'मैं मनु की सन्तान हूँ' जो ऐसा मान्य करता है उसीको मनुष्य शब्द लगा सकते हैं। जब प्रलय हुआ तब मनु की नौका डूबती थी अपने आश्रयदाता मनु की नौका डूब रही है यह देखकर मछली ने उसको बचाया, ऐसी एक कथा है।

मत्स्यपुराण में दूसरी भी एक कथा मत्स्यावतार के सम्बन्ध में आती है। उसमें कहा गया है कि हयग्रीव राजा ने वेदों को डुबाया तब मत्स्यावतार ने हयग्रीव असुर को मारकर उससे वेद छीन लिये, सत्यव्रत मनु को राज्य पर बिठाया और उसके हाथ में वेदविद्या सौंप दी।

वेदविद्या हयग्रीव ने डुबायी ऐसा कहते हैं। आज भी हम वेदविद्या को डुबाकर ही बैठे हैं। हमारा अध्यात्म वैदिक अध्यात्म नहीं है यह दु:ख की बात है। 'सब असत्य है, जगत् दु:खमय है-' ऐसा बोलना ही अध्यात्म है, ऐसे विचार आज आ गये हैं। हमारे यहाँ वैदिक अध्यात्म रहा ही नहीं, यह दु:खद बात है। नीतिशास्त्र अध्यात्म में आता है। 'सभी के साथ अच्छा बर्ताव करो' यह नीतिशास्त्र में आता है। नीतिशास्त्र के कानून भी निश्चित नहीं होते। भिन्न-भिन्न काल में भिन्न भिन्न नीति आती है, अत: नीति कहनेवालों में फ़र्क़ पड़ता है, इसका कारण नीति की नींव निश्चित नहीं है, जब वह वेदों की नींव पर खड़ी

रहेगी तभी ठीक होगा। वेदों के मूल सिद्धान्त मिट गये हैं। वैसा ही हयग्रीव के समय हुआ होगा। उन लोगों ने वेदों की उपेक्षा की यह प्रथम बात है। वेदों का विपरीत अर्थ लगाया यह दूसरी बात है और कानून बनाकर वेदों को जला दिया यह तीसरी बांत है। ऐसा काम हयग्रीव राजा ने किया।

उन्होंने वेदों को चुरा लिया, इसका अर्थ क्या है? क्या वे किताबें चुराकर ले गये? वेदों को चुरा लिया इसका अर्थ है, वेदविद्या को चुराकर ले गये। तो फिर वापस कैसे दे दी? एक बार विद्या चली गयी, तो वापस कैसे आयेगी? समझो, विद्युतशक्ति *(Electricity)* की विद्या हमने यूरोप से चुराकर ली तो क्या अभी वे लोग उसे ले जा सकते हैं? वह हमारे पास रह गयी! क्या करेंगे वे लोग? अधिक से अधिक वे कच्चा माल *(Raw material)* नहीं देंगे, दूसरा क्या करेंगे? दिमाग तो नहीं उठाकर ले जायेंगे?' इसलिए 'वेदों को चुरा ले गये, इसके दो अर्थ होते हैं- ग्रंथ चुराकर ले गये और दूसरा अर्थ वेदविद्या चुराकर ले गये। यदि वेदविद्या चुराकर ले गये होंगे तो वापस कैसे देंगे? यहाँ तो स्पष्ट भाषा में लिखा है कि असुरों ने वेदविद्या को वापस दिया!

इस प्रकार की दो कथाएं मत्स्यावतार की आती हैं। आज से पचीस हजार वर्ष पूर्व हिमपुरुष के युग का भारत का भूगोल देखेंगे तो भारत के दो भाग थे। ऊपर विंध्यपर्वत था और नीचे समुद्र था। भारत का वर्णन करते हुए **'आर्यावर्तः पुण्यभूमिः मध्ये विन्ध्य-हिमाचलौ'** ऐसा वर्णन आता है। हिमालय पर्वत और विन्धयपर्वत के मध्य में जो भूमि का भाग है, वह भारत-आर्यावर्त कहा जाता है।

नीचे जो समुद्र का भाग था, वहाँ समुद्र में रहनेवाले, नौका में ही घूमनेवाले, जीवन का बहुतांश भाग नौका में ही व्यतीत करनेवाले, तैरने में निष्णात, निपुण लोगों को 'मत्स्य' कहा जाता था। अठारहवीं या उन्नीसवीं सदी का इतिहास पढ़ेंगे तो भारत में फ्रेंच और अंग्रेज लोग जो सागर मार्ग से आये थे, उनको 'जलचर' की तरह माना जाता था। वे समुद्रमार्ग से आये थे और पानी में ही रहते थे इसलिए उनको जलचर कहा होगा। हाल ही में काश्मीर में इतिहास के जो प्राचीन ग्रंथ मिले हैं, उनमें उनका जलचर के रूप में ही उल्लेख है। समुद्र में विचरण करनेवाले, नौका में रहनेवाले, तैरने में निपुण ऐसे लोगों को जलचर कहा है।

हिमाचल की पश्चिम दिशा में कांगड़ा जिला है। कांगड़ा जिले के कुल्लु-मनाली विभाग में मनाली में मनु का आश्रम था। उस समय में उत्तर भारत में मनु के आश्रम की बहुत ही मान्यता थी। मनु ने सभी को जीवन सम्पदा, विचार सम्पदा देकर जीवन में जोश भर दिया, आनंद और भाव निर्माण किया, अर्थात् मनु ने मनुष्य को गृहस्थी बनाया इतना ही इसका अर्थ है।

जो चार दीवारों के बीच घर बनाकर रहता है वह गृहस्थी बना ऐसा नहीं है। सहकार्य, प्रेम और भाव ये तीन बातें दूसरों के लिए होती हैं, तभी उसको परिवार

(Family) कहते हैं। जब मनुष्य आत्मलक्ष्यी बनता है तब परिवार खत्म हो जाता है। आज की समस्या यही है। आज घर खत्म हुआ है। हम अलग अलग संस्थाएं *(Societies)* बनाकर घर बनाते हैं, परन्तु उसमें घर ही नहीं रहा है। चार दीवारें ही घर नहीं है। चार दीवार का अर्थ ही यदि घर होता हो तो गायें, भैंसे भी जहाँ रहते हैं वह (गौशाला या अस्तबल) भी घर होगा। पशु भी घर में रहते हैं। 'घर' शब्द में कुछ अतिरिक्त मूल्य *(Plus value)* यानी सहकार्य, प्रेम और भाव- होने चाहिए। ये जहाँ नहीं होते उसे घर नहीं कहते। यदि दूसरे की ओर देखने की भाव की दृष्टि न हो, पति-पत्नी भी अपना ही देखने लगे तो क्या होता है? उनको प्रत्येक को अच्छा लगा तो साथ में रहते हैं और अच्छा न लगा तो छोड़कर चल पड़ते हैं।

'मुझे दूसरे के लिए जीना है' यह भाव, सहकार, प्रेम निर्माण न होता हो तो वह घर नहीं है। मनु ने प्रथम मनुष्य को गृहस्थी बनाया और जीवन का अर्थ समझाया कि तुझे दूसरों के लिए जीने का पाठ पक्का करना हो तो चार दीवारों के बीच में साथ रहकर ही हो सकता है। उसीको घर कहते हैं। मनु ने यह सब व्यवस्था की है इसीलिए हम मनुष्य कहलाते हैं।

मनु ने समझाया कि जो 'मैं और मेरा' इतना ही देखते हैं, उनका जीवन पशु के समान है। समझो कि एक घर में- चार दीवारों के घेरे में पति, पत्नी और लड़के रहते हैं, उसमें पति अपना ही सुख देखता है, पत्नी भी केवल अपना ही सुख देखती है और लड़के भी अपना ही सुख देखते हैं तो वह घर नहीं है, पशुजीवन है, आत्मलक्षी जीवन है। मनु ने मानव संस्कृति की नींव रखी।

दस-पन्द्रह वर्ष पूर्व मैं मनाली गया था। वहाँ मनु के आश्रम का स्थान वहाँ के लोगों ने दिखाया। परन्तु किसी को वैदिक विचार, वैदिक जीवन की कल्पना भी नहीं है। बूढे होने पर तत्त्वज्ञान सुनना है, यह जगत् झूठा है, मिथ्या है ऐसा कहनेवाले क्या तत्त्वज्ञानी हैं? मूल बात यह है कि वैदिक विचारधारा ही उसमें से चली गयी है।

मनाली में अपने आश्रम में रहकर मनु ने मानव में जोश भरा, उन्हें उत्साही बनाया, उनमें आनंद तथा उनके जीवन में भाव भर दिया। उसी समय दक्षिण की ओर चार जातियाँ, मानवसमूह प्रभावी थे। वे थी नाग, वानर, ऋक्ष (रीक्ष) और असुर! असुर बहुत पढ़े-लिखे, शूर व कर्तृत्ववान थे, परन्तु वे आत्मलक्षी *(Egocentric)* थे। **'असुषु रमन्ते इति असुराः'** जो प्राणों में ही मग्न रहते हैं- यानी खाना, पीना और मौज करना यही जिनकी वृत्ति है वे असुर! वे 'मैं और मेरा' ही देखनेवाले थे। शहरी संस्कृति आने के बाद ऐसा होता ही है। इसीलिए गांधीजी ने कहा था कि शहर नष्ट हो जायेंगे तो मुझे दुःख नहीं होगा। इसका कारण यह है कि शहरों में मानव आत्मलक्षी बनता है। शहरों को नष्ट करने के लिए गांधीजी खड़े हुए थे ऐसा इसका अर्थ नहीं है। उनका शहरी संस्कृति- आत्मलक्षी संस्कृति से विरोध था। शहर में कुछ नीतिमूल्य रहने चाहिए, वे नहीं रहते हैं।

पुराने शहरों में कुछ स्थानों पर चाल-पद्धति से उसमें भिन्न-भिन्न जाति के, स्तरों के लोग साथ रहते थे। अब तो हमारी ब्लोक संस्कृति *(Block culture)* आ गयी है। प्रत्येक कुटुंब (परिवार) का ब्लोक अलग अलग। मैं पहली बार जब ब्लोक में रहने गया और दरवाजा बन्द किया तब मुझे लगा कि 'मैं जगत् से अलग हो गया हूँ, मेरा विश्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा, मैं अकेला हो गया हूँ।' अब तो ब्लॉक में भी अलग अलग कमरे हो गये हैं। प्रत्येक का अलग कमरा और प्रत्येक का अलग जीवन! यानी एक ही परिवार के लोगों में भी एकवाक्यता नहीं। दूसरे के लिए मुझे कुछ करना है यह कल्पना ही नष्ट हो गयी है। उल्टे, दूसरा मेरे कितने उपयोग का है यह देखा जाता है। उपयोगी है तो ठीक है, नहीं तो निकाल दो।

असुर लोगों का जीवन भौतिकवादी था, और वे सुधरे हुए माने जाते थे। वे काफी शक्तिशाली थे। उनका समुद्र के रास्ते व्यापार भी चलता था। अफ्रिका तक उनका व्यापार चलता था। पचीस हजार वर्ष पहले की यह बात है। उस समय भिन्न भिन्न द्वीपों में ये असुर लोग रहते थे। एक ही बात उनमें थी कि वे वैदिक संस्कृति के आन्तरिक विकास *(Internal development)* की ओर मृत्यु के बाद जीवन *(Life after death)* की विचारधारा को नहीं मानते थे। केवल वैदिक संस्कृति का भौतिक जीवन ही उनको मान्य था।

कालान्तर में असुरों की आबादी-बस्ती बढ़ने लगी, परिणामस्वरूप मत्स्य, नाग, वानर, ऋक्ष आदि भिन्न भिन्न जातियों के उपनिवेशों पर असुरों का आक्रमण होने लगा। वे प्रभावी थे, शक्तिशाली थे और बुद्धिमान भी थे। परिणाम यह हुआ कि आक्रमण के कारण उन लोगों को अपने उपनिवेशों से भागना पड़ा। असुरों ने जब मत्स्य समूहों को वहाँ से हटाया तब उनमें से एक मत्स्य-समूह सागर को पार करके उत्तर में मनु के आश्रम में पहुँच गया। मनु के आश्रम में उनको स्वीकार किया गया। आज तक प्रगतिशील लोग अप्रगत लोगों का स्वीकार नहीं करते थे, ऐसा उन्होंने देखा। परन्तु मनु के आश्रम में उनका स्वीकार हुआ, स्वागत हुआ तब उनको आश्चर्य लगा। उन्होंने वहाँ के लोगों से पूछा, "क्या हमें भी मनु के आश्रम में स्थान है?'

स्थानिक लोगों ने कहा, "क्यों नहीं? आप भी मनुष्य हैं। यही वैदिक संस्कृति की विशेषता है। आप अनपढ़ होंगे, अस्वच्छ होंगे, असंस्कृत होंगे, परन्तु मानव अवश्य हैं, अत: आपको भी मनु के आश्रम में स्थान है। यह देखकर मत्स्यों को बहुत आनन्द हुआ। जब कुछ मत्स्यों का वहाँ स्वीकार हुआ तो यह देखकर समूह के अन्य मत्स्य भी आने लगे। दूसरे लोग भी आने लगे। यह तो होता ही है। आज भी वही समस्या है। दूसरे देश के, बाहर के लोग घुस आते हैं। जहाँ अच्छी तरह से रहने को मिलता है, सुविधाएं मिलती हैं, शान्ति मिलती है वहाँ लोग रहने जाते हैं। परदेश के लोग कायम वास्तव्य करते हैं तब पारगमन *(Immigration)* की समस्या खड़ी हो जाती है।

मत्स्य समूह के लोग जब मनु के आश्रम में आकर रहने लगे। मनु ने उन्हें जीवन जीना सिखाया। तब तक उन लोगों को ऐसा ही लगता था कि लड़ना-झगड़ना, खाना इसके

सिवाय दूसरा जीवन ही नहीं है। खाना पाने के लिए झगड़ना, पाया हुआ सँभालने के लिए झगड़ना इसीमें जीवन समाप्त हो जाता था। इससे एक भिन्न ही जीवन मनु के आश्रम के लोगों ने उन्हें दिखाया तब उनको बहुत आनन्द हुआ। परन्तु आये हुए लोग वहाँ नहीं रह सके। समुद्र के किनारे पर रहनेवाले इन लोगों को उत्तर भारत के अलग वातावरण में रहना कठिन लगा होगा। हवामान भी अनुकूल नहीं लगा होगा। तब उन्होंने मनु की अनुमति ली और वापस अपने जगहों में जाने लगे। जाते समय उन्होंने मनु से कहा, 'आपने हम पर उपकार किया है। मानव जीवन कैसे जीना यह आपने हमें सिखाया है। आपके उपकार हम नहीं भूलेंगे। भविष्य में जब कभी आपके आश्रम पर आपत्ति आयेगी तब हम आपके साथ खड़े रहेंगे और आपकी सहायता करेंगे।' ऐसा कहकर ये मत्स्य समूह वापस दक्षिण में आ गये।

दक्षिण में असुरसमूह प्रभावी, शक्तिशाली बना था। उन लोगों ने वेदों का उपहास किया, वेदों की उपेक्षा करने लगे। इतना ही नहीं, उन्होंने ऐसा कानून बनाया कि सृष्टिकर्ता को मानना पुरुषार्थहीनता है।

'अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता।।'

जिनके पास बुद्धि नहीं है, पौरुष नहीं है ऐसे लोग ही सृष्टिकर्ता की भाषा बोलते हैं और उसके द्वारा अपना उदरभरण करते हैं। ऐसी मधुर वाणी वे लोग बोलने लगे। उसी समय, मनु के आश्रम में रहकर वहाँ का प्रभावी जीवन देखकर, उसे जीकर कितना आनंद मिलता है वह अनुभव करके और जिनकी बुद्धि में मनु ने जोश निर्माण किया था ऐसे मत्स्य लोग आ गये। वे लोग अकिंचन थे- कम पैसेवाले थे। उनके सामने असुर प्रभावी थे, शक्तिशाली थे। वे दिन रात वेदों का उपहास करते थे, उपेक्षा करते थे।

ऐसा जीवन जब मत्स्य लोगों ने देखा तब उनका जो प्रमुख था, उसने सबके साथ मिलकर इन असुरों के विरुद्ध विद्रोह *(Revolt)* कर दिया। असुरों को पराभूत करके द्रविडेश्वर देवव्रत को राजगद्दी पर बिठाया और देश के कोने-कोने में जाकर उन्होंने लोगों को जीवन समझाकर संस्कृति का प्रचार किया। यह मत्स्यावतार का रहस्य है। उसी समय उत्तर भारत में महान् प्रलय हुआ। जिन्होंने कभी इतना पानी देखा नहीं था! उनको पानी में रहने की नौबत आयी।

आज भी ऐसे कितने ही लोग भारत के मध्यभाग में रहते हैं, जिन्होंने समुद्र देखा ही नहीं। उनके पास जाने पर 'समुद्र कैसा होता है?' ऐसा वे लोग पूछते हैं। हम लोग मुम्बई में समुद्र के समीप रहते हैं, इसलिए उनका प्रश्न सुनकर हमें आश्चर्य लगता है।

उत्तर भारत में जब महान् प्रलय आया तब दिन रात पानी में रहनेवाला जो मत्स्यसमूह था वह वहाँ पहुँच गया और उसने मनु तथा मनु के आश्रम के लोगों को सँभाला, बचाया। यह मत्स्यावतार का रहस्य है।

मत्स्यावतार भी एक सांस्कृतिक संघर्ष है, सांस्कृतिक पुनरुत्थान *(Ranaissance)* है। हमेशा, समाज में भगवान तक ले जानेवाली मानवता की संस्कृति के विरोध में लोग खड़े होते हैं और संस्कृति के अनुकूल तथा प्रतिकूल लोगों के बीच झगड़ा होता है। उसीको कहते हैं देवता और असुरों का झगड़ा। गीता में मनुष्य के दो ही प्रकार बताये हैं- **दैवआसुर एव च।'** मत्स्यावतार की ऐसी कथा आठवें स्कन्ध में आती है और स्कन्ध पूरा होता है।

आठवें स्कन्ध में आयी हुई समुद्रमंथन की कथा, कूर्मावतार की कथा, मत्स्यावतार की कथा आदि पढ़ने पर लगता है कि पूरा आठवां स्कन्ध व्यावहारिक दृष्टि देनेवाला स्कन्ध है। व्यावहारिक दृष्टि में, व्यवहार में किसी सिद्धान्त *(Principle)* को सँभालना पड़ता है। किसी तत्त्व को समाज के अन्तिम मनुष्य तक ले जाना हो तो क्या करना चाहिए, यह इस आठवें स्कन्ध में समझाया है। इस स्कन्ध को मैं व्यावहारिक व सांस्कृतिक स्कन्ध कहूँगा। जैसे गीता में सभी अध्यायों के अलग अलग नाम हैं वैसे आठवें स्कन्ध को व्यावहारिक और सांस्कृतिक स्कन्ध कह सकते हैं।

मत्स्यावतार के सम्बन्ध में बहुत बोलने जैसा है, परन्तु **'दशावतार'** नामक पुस्तक में वह पढ़ने को मिलता है, इसलिए मैं फिर से उस पर नहीं बोलता हूँ। 'दशावतार' पर बोलकर बहुत साल हो गये हैं इसलिए कुछ संक्षेप में कह दिया। मत्स्यावतार का अभ्यास करेंगे तो भारत का विकास कैसे हुआ, मनु जैसे महापुरुष ने इतने विशाल समूह को प्रशिक्षण *(Training)* देकर, आत्मीयता दिखाकर उनको एक विशिष्ट संस्कृति देकर किस प्रकार दक्षिण में भेजा इसका पता चलेगा। वह पता चला तो आपको मनाली जाकर मनु का आश्रम देखकर आने की इच्छा होगी। आज लोग मनाली में वायुसेवन के लिए जाते हैं। कुलु-मनाली में राजनैतिक लोग जाते थे इसलिए अभी भी कुछ लोग वहाँ जाते हैं, परन्तु मनाली में एक विशिष्ट संस्कृति, एक वैश्विक संस्कृति खड़ी हुई है यह आठवें स्कन्ध के अध्ययन से जानने को मिलता है।

नवमः स्कन्धः

नवम स्कन्ध में सूर्यवंश और चन्द्रवंश की उत्पत्ति तथा विस्तार की कथा है। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न कथाएं हैं, परन्तु उनका हम अभ्यास करेंगे तो समाजशास्त्र की दृष्टि से संस्मरणीय बातें देखने को मिलेंगी। आज भी समाज में पुनर्निर्माण *(Reconstruction)* की बातें चल रही हैं। इस काल में भी हमें नवम स्कन्ध पढ़ने के बाद कुछ प्रकाश मिलेगा। उस काल में हमारे पूर्वज कितनी उदार विचारधारा *(Broad Thinking)* के थे इसका भी पता चलेगा। आज हम लकीर के फकीर बने हैं। इसलिए समाज-जीवन में कूड़ा कचरा घुस गया है। प्राचीन काल में उदार दृष्टिकोण के लिए कुच्छ दृष्टिकोण संभाले जाते थे, इसे पढ़कर उन्हें समझा जा सकेगा, उस दृष्टि से इस स्कन्ध का अतिरिक्त महत्त्व है।

पुनर्निर्माण की दृष्टि से नवम स्कन्ध अत्यन्त उपयोगी है। आज की भाषा में बोलना हो तो, मुझे लगता है कि ये सूर्यवंशी व चंद्रवंशी लोग सुधारवादी *(Reformer)* थे। उस समय की विचारधारा आज भी उपयुक्त है। पहले ही एक अद्‌भुत कथा है। सभी शास्त्रों के अभ्यासु लोगों को इस कथा का अभ्यास करना चाहिए। इस समय वह हमारा विषय नहीं है।

इस कथा में प्रथम मनु और उसकी पत्नी श्रद्धा का गृहस्थी जीवन दिखाया है। दोनों सन्तान की इच्छा करते हैं। उसके लिए वे यज्ञ करते हैं। परन्तु यज्ञ में दोनों की कामना अलग-अलग रहती है। मनु को पुत्र की इच्छा थी और श्रद्धा को पुत्री चाहिए थी। भिन्न-भिन्न कामना के कारण यज्ञ में एक उलझन खड़ी हो जाती है। हमें यज्ञ मालूम नहीं है। हमें इतना ही मालूम है कि यज्ञ करना यानी एक मण्डप का निर्माण करना, ब्राह्मणों को बुलाना और यज्ञ कराकर उनको दक्षिणा देना, इतने में ही हमारा यज्ञ पूर्ण होता है।

यज्ञ एक मानसिक प्रक्रिया है। कौनसी भावना रखकर यज्ञ करते है यह महत्त्वपूर्ण है। समझो कि पति-पत्नी भिन्न-भिन्न भावना रखकर सत्यनारायण की पूजा करते हैं तो उसका फल भी भगवान को भिन्न-भिन्न देना पड़ता है। उसमें दोनों में से जिसका भाव प्रभावी होगा उसको उस भाव के अनुसार फल मिलता है।

दस लोग साथ-मिलकर यज्ञ करते हैं तो उनकी भावना एक ही होनी चाहिए। पति-पत्नी द्वारा मिलकर किये हुए सत्कर्म में यदि उनकी भावना भिन्न-भिन्न होगी तो उसका परिणाम भी अपेक्षा के अनुसार नहीं मिलेगा। परस्परविरोधी भावना हो तो जिसकी भावना प्रभावी है वैसा फल मिलता है।

मनु को पुत्र व श्रद्धा को पुत्री की कामना थी। समस्या निर्माण हुई। यज्ञ समाप्त होने के बाद श्रद्धा को कन्या हुई। मनु को क्रोध आया। उसने गुरु से पूछा, 'भगवन्! यज्ञ किसलिए किया था और क्या मिला?' जाँच करने पर पता चला कि श्रद्धा की भावना प्रभावी थी। उसको लड़की चाहिए थी इसलिए लड़की पैदा हुई। उसका नाम 'इला' रखा गया।

कथा बहुत सुन्दर है। मनु को लगा कि यह नहीं चलेगा। उस समय अलग-अलग ब्राह्मणों में भी अलग-अलग भौतिकशास्त्र का अभ्यास करनेवाले लोग रहे होंगे। ब्राह्मणों ने कहा, ठीक है। भागवत की कथा के अनुसार, वसिष्ठ ने कन्या का लिंग *(sex)* परिवर्तित करके उसको पुरुष बना दिया।

अब उन्होंने लिंग-परिवर्तन किस प्रकार किया? वह शरीरशास्त्र जाननेवालों का विषय है, हमारा नहीं। परन्तु लिंग-परिवर्तन हो सकता है यह कल्पना उस समय थी इतना हम कह सकते हैं। *You can change your sex* आज भी 'हम सुधर गये हैं। हमें विकसित *(developed)* मानने का कोई कारण नहीं है।

'इला' का लिंग परिवर्तन कर दिया; इतना ही नहीं, भागवत में जो लिखा हुआ है वह पढ़ने जैसा है। लिंग परिवर्तन करने पर भी झगड़ा हो गया। इला का नाम सुद्युम्न रखा। सुद्युम्न लड़के का नाम व इला लड़की का नाम। आज कदाचित लोग लिंग-परिवर्तन करेंगे भी, परन्तु उस काल में लोग कितने आगे बढ़े हुए *(advanced)* थे यह देखो! जैसा कि भागवत में वर्णन है, सुद्युम्न एक महीना पुरुष रहेगा और एक महीना स्त्री रहेगा। यह कौनसा शास्त्र होगा? समझो, एकाध व्यक्ति पाठशाला में आया तब पुरुष था और जाते समय स्त्री बन गया। तो क्या यह हो सकता है? हो सकता है! लिंग परिवर्तन कर सकते हैं यहाँ तक बात समझ सकते हैं, वहाँ तक तर्क भी चलता है, परन्तु यहाँ तो केवल ऐसा नहीं हुआ है। एक ही जीव एक महीना सुद्युम्न रहता है और एक महीना इला बनकर रहता है! यह कितना विकास *(Development)* होगा! ऐसा कौन सा रसायन मिला होगा कि एक ही व्यक्ति सुबह काम करते समय पुरुष बने और रात्रि के समय स्त्री बन जाय! ऐसी यह चमत्कारिक कथा है।

एक दिन सुद्युम्न बनने पर, सुद्युम्न को यह बात लज्जास्पद लगी। अपनी इच्छा के अनुसार स्त्री या पुरुष बन सकेगा ऐसा नहीं था। वह एक महीना पुरुष व एक महीना स्त्री बनने लगा। इस कारण से, ऐसी लज्जाजनक अवस्था में रहने की अपेक्षा घर छोड़कर चले जाने का सुद्युम्न ने निश्चय किया और उसके अनुसार अपने पुत्र पुरूरवा को राज्यभार सौंपकर वह वन में चला गया। पुरूरवा द्वारा जो वंशविस्तार हुआ वह चन्द्रवंश है। समाजशास्त्र की दृष्टि से उसका अभ्यास करने जैसा है। हमारे पूर्वज कितनी उदार विचारधारा *(Broad Thinking)* के थे इसका पता चलेगा। हम तो समझते हैं कि पुराने लोग सनातनी थे, कुछ सोचते ही नहीं थे। मानो हम ही केवल विचार करनेवाले, होशियार हैं! नवम स्कन्ध में चन्द्रवंश का सुन्दर वर्णन किया गया है।

उसके बाद एक अति सुन्दर कथा आयी है। भागवत में अनेक मनोहारी कथाएं हैं। उनमें यह च्यवन ऋषि की कथा है। सुकन्या नामक एक राजकन्या थी। एक दिन वह जंगल में अपने पिता के साथ वनशोभा देखने के लिए गयी। वहाँ उसने एक बाँबी में जुगनू के जैसी चमकती हुई दो ज्योतियां देखी। अज्ञानवश तथा कुतूहलवश उसने हाथ में काँटा लेकर उसमें चुभा दिया। परिणामस्वरूप वहाँ से वेग से खून बहने लगा। उस बाँबी में तपश्चर्या में लीन च्यवन ऋषि की आँखें फूट गयी थीं। सुकन्या को लगा कि ऋषि के शरीर में मेरे कारण घाव लगा है, अतः उनका जीवन चलाने का उत्तरदायित्व मुझ पर है। नवयुवती, अति सुन्दर व राजकन्या होते हुए भी सुकन्या ने अति वृद्ध व व्यंग्यपूर्ण च्यवन ऋषि के साथ विवाह किया। इसमें मानवता का कितना महान् दर्शन होता है! कितने उन्नत विचार की होगी सुकन्या! किसी भी विश्वविद्यालय में गये बिना मानवता *(Humanity)* का उसने कितना अभ्यास किया होगा! सुकन्या का पिता राजा होते हुए भी उसको अनुमति देता है।

च्यवन ऋषि बूढ़े थे। बाद में वे नवयुवक बने। यह पढ़कर लोगों को लगता है कि उन्होंने कोई वनस्पति खायी होगी। आज भी उनके नाम का च्यवनप्राश मिलता है। किसी को भी बुढ़ापा पसन्द नहीं आता। हर एक को नवयुवक बनना है। बुढ़ापा ऐसी अवस्था है कि वह किसी को अच्छी नहीं लगती। किसीने 'बूढ़ा' कहा तो बुरा लगता है। सुभाषितकार कहता है-

आपाण्डुराः शिरसिजास्त्रिवली कपोले
दन्तावली विगलिता न च मे विषादः।
एणीदृशो युवतयः पथि मां विलोक्य
तातेति भाषणपराः खलु वज्रपातः।।

(सिर के बाल सफेद हो गये, तन पर झुर्रियां आयीं इसका मुझे दुःख नहीं है, परन्तु ये मृगनयनी युवतियां जब 'बाबा! बाबा!' कहकर पुकारती हैं तब मुझ पर सचमुच वज्रपात होता है।) शेष सब कुछ सहन होता है परन्तु कोई उसमें भी युवतियाँ 'बूढ़ा' कहती हैं तो मनुष्य को धक्का लगता है, इसीलिए तो लोग च्यवनप्राश खाते हैं।

भागवत में लिखा है कि च्यवन ऋषि का अश्विनीकुमारों के साथ सम्बन्ध आया। अश्विनीकुमारों को यज्ञ में स्थान नहीं था। वे भौतिक जीवन देखनेवाले माने जाते थे। पुराने काल में उनकी ओर हलकी दृष्टि से लोग देखते थे। स्मृतिग्रंथ में लिखा है कि एक समय वैद्य के घर अन्नग्रहण करने की मनाई थी। वैद्य अपनी आजीविका चलाने के लिए लोगों की दुर्बलता का लाभ उठाता है इसलिए उसके यहाँ अन्नग्रहण करना अच्छा नहीं है ऐसा माना जाता था।

आज भी कोई राजशाही तथा उदार व्यवसाय *(Royal and noble Profession)* होगा तो डॉक्टरों का माना जाता है, परन्तु एक समय में वेद्यों की अवहेलना होती थी। वैद्य से भी अधिक अध:पतित ज्योतिष देखकर अपना जीवन चलानेवाले ब्राह्मण को माना जाता था। उसका भी यही कारण था कि वह भी दूसरों की दुर्बलता का लाभ उठाता है।

उस समय, इसी कारण अश्विनीकुमारों को यज्ञ में स्थान नहीं मिला होगा। उनको यज्ञ में हविर्भाग भी नहीं, अधिकार भी नहीं थे। अश्विनीकुमारों के साथ च्यवन ऋषि का सम्बन्ध आने पर च्यवन ऋषि ने उनसे अनुरोध किया कि (आप समर्थ वैद्य हैं, अत: स्त्रियों का अति प्रिय यौवन और सुन्दर रूप आप मुझे प्राप्त करा दो, उसके बदले मैं आपको यज्ञ में सोम प्राशन करने का जो अधिकार नहीं है उसे प्राप्त करा दूँगा।' फिर अश्विनीकुमारों ने च्यवन ऋषि को कौनसी औषधि दी, उसका पता नहीं है, परन्तु उस औषधि के सेवन से च्यवन ऋषि फिर से यौवनसम्पन्न बन गये, सुन्दर, आकर्षक और रमणीय दीखने लगे। जिस सुकन्या ने उनका उत्तरदायित्व उठाकर, तपश्चर्या की थी, त्याग किया था उसका पारिवारिक जीवन अतिशय सुखद व आनंदरूप बना।

एक दिन च्यवन ऋषि और सुकन्या साथ में बैठकर आनन्द से बातें कर रहे थे। उस समय यज्ञ का हेतु लेकर सुकन्या का पिता राजा शर्याती आश्रम में आया। उसने देखा कि अपनी कन्या किसी सुन्दर और आकर्षक नवयुवक के साथ बैठी है। राजा अतिशय अप्रसन्न हुआ। सुकन्या के नमस्कार करने पर आशीर्वाद न देते हुए वह बोला, 'कुल का अध:पतन करनेवाली, तू जारिणी है, अपने लोकवंद्य पति को धोखा देकर तू जारा के साथ बैठी है..आदि।'

तब, इस प्रकार बोलनेवाले अपने पिता से सुकन्या ने हँसकर कहा, पिताजी! ये आपके जामाता च्यवन ऋषि ही हैं, आप व्यर्थ सन्देह क्यों करते हैं? ऐसा कहकर सुकन्या ने अपने पति को यौवन व सुखरूप कैसे प्राप्त हुआ इसका विस्तृत वृत्तान्त अपने पिता को सुनाया। वह चमत्कारिक वृत्तान्त सुनकर राजा अत्यन्त आश्चर्यचकित हुआ और ऐसी अद्भुतता देखकर नतमस्तक हो गया।

तदनन्तर च्यवन ऋषि ने शर्याती राजा से सोमयज्ञ कराया व उसमें अश्विनीकुमारों को अपनी सामर्थ्य से सोमपान की प्राप्ति करायी, यज्ञ में स्थान प्राप्त कराया व हविर्भाग का अधिकार भी दिया।

'भौतिक जीवन की चिकित्सा करनेवाले कोई हीन, तुच्छ नहीं हैं। भौतिक जीवन की चिकित्सा होनी चाहिए। शरीर अच्छा व स्वस्थ होगा तभी उससे सत्कर्म हो सकेंगे। **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं'** अतः शरीर की चिकित्सा करनेवाले लोग भौतिक नहीं है। वे केवल इहलोक का विचार करनेवाले नहीं है। परलोक का विचार करने के लिए सुविधा प्राप्त करानेवाले ये लोग हैं।' ऐसा कहकर च्यवन ऋषि ने अश्विनीकुमारों को उपरोक्त अधिकार दे दिए।

उस समय, अश्विनीकुमारों को यज्ञ में नहीं लेना चाहिए, वे यज्ञ के लिए अनुकूल नहीं हैं कहकर उनको यज्ञ का अनाधिकारी ठहरानेवाले लोगों के साथ कितना संघर्ष हुआ होगा? च्यवन ऋषि ने उनको ये सब अधिकार प्राप्त कराये ऐसा हम दो मिनट में कह देते हैं, परन्तु लोगों का मानस परिवर्तन करने के लिए कम से कम पचीस साल तो लगे होंगे। च्यवन ऋषि अतिशय प्रभावी थे इसलिए वे यह कर सके।

उसके बाद, एक पिता-पुत्र की कथा आती है। कुछ समझाना है इसलिए ऐसी कथा आयी है। वह नाभाग की कथा है। वह ज़माना ऐसा रहा होगा कि जिसके पास अन्न-वस्त्र की अनुकूलता है उसे पढ़ने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा अनुमान है। नाभाग के भाई पढ़ने के लिए तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि हमारे पिता के पास विपुल धन है तो पढ़ने की आवश्यकता ही क्या है? हमारे देश में भी कभी ऐसा ज़माना था कि जिसके पास धन है उसके लड़के पढ़ते नहीं। पढ़ने के लिए कौन जायेगा? जिनके पास खाने की व्यवस्था नहीं है वे लोग पढने के लिए जाते थे। ऐसी एक कल्पना पचीस-तीस वर्ष पहले थी। हर समय समाज में कुछ न कुछ क़चरा घुसता जाता ही है।

नाभाग के भाई पढ़ने को तैयार नहीं थे। वित्त कमाने के लिए ही पढ़ने को वे विकृति मानते थे। समाज में ऐसी विकृति घुसती है। मानवता के विकास के लिए पढ़ना चाहिए। धन्धे के लिए नहीं, सेवा के लिए पढ़ना पड़ता है।

नाभाग का कोई भाई पढ़ने के लिए नहीं गया। परन्तु नाभाग का पिता व नाभाग तपोवन में गये और पिता ने नाभाग को गुरु के हाथों में सौंप दिया। उस काल में जीवन की कुछ भिन्न ही धारणा थी। सोलह वर्ष में अध्ययन पूर्ण होने पर सुदृढ़ शरीर, तेजस्वी मन और बुद्धिमान, स्नातक बना हुआ नाभाग घर जाने के लिए गुरु की आज्ञा लेने के लिए गुरु के गृह के पास जाकर खड़ा हुआ। प्रसंग भी ऐसा ही था। नाभाग की इच्छा थी कि इस समय प्रातःकाल है, गुरु भगवद्भक्ति करके घर से बाहर निकलेंगे तब उनके सामने जाऊँगा, जिससे उनकी भावपूर्ण दृष्टि मुझ पर पड़ेगी।

गुरु की प्रथम दृष्टि पड़ने पर नाभाग ने कहा, 'गुरुदेव! मुझे आपके सान्निध्य में रहकर उसे आज सोलह वर्ष पूर्ण हुए हैं। मैं सात वर्ष का था तब तपोवन में आया था। अब मेरा अध्ययन पूर्ण हो गया है। आप अनुज्ञा देंगे तो घर जाने की मेरी इच्छा है। मैंने आपको बहुत कष्ट दिये हैं, परन्तु पिता से भी अधिक प्रेम आपने मुझे दिया है। आज मैं

असमंजस में पड़ा हूँ। एक ओर मेरे माता-पिता, पारिवारिक जनों का मुझे आकर्षण है। अनेक वर्षों से मैंने उन्हें नहीं देखा है इसलिए उनका आकर्षण मुझे खींच रहा है, तो दूसरी ओर मिट्टी के इस देह की मूर्ति बनानेवाले शिल्पकार आप हैं। आपको छोड़कर जाने का मेरा मन नहीं हो रहा है, अत: जाऊँ या नहीं जाऊँ ऐसी दुविधा में मैं पड़ा हूँ।'

गुरूजी ने उत्तर दिया, 'सोलह वर्ष पहले तू यहाँ आया था तब तू अपने पिता का हाथ पकड़कर आया था, अब तू पिता को हाथ देने जा रहा है यह बहुत ही अच्छी बात है। बेटा! तू एक बात अच्छी तरह ध्यान में रखना। विद्या पेट भरने के लिए नहीं है, सरस्वती बेचने के लिए नहीं है, संस्कार के लिए है, जीवन उन्नत बनाने के लिए है। मैंने कई बार तुझे कठोर वाणी में जो कुच्छ कहा होगा, वह तू भूल जा।'

नाभाग ने कहा, 'आपने तो मुझे पिता से भी अधिक प्रेम दिया है तो आपके लिए मैं क्या कहूँ? आपने मुझे विद्या नहीं सिखायी, बल्कि जीवन सिखाया है। गुरुदेव! मुझे ठीक याद आ रहा है। एक दिन आप हमें पाठ सिखा रहे थे, उसी समय राजा आपसे मिलने आया, परन्तु आप वर्ग छोड़कर उठे नहीं, उससे मुझे पता चला कि कर्तव्यपरायणता किसे कहते हैं! राजा आया तो भी बीच में से उठना नहीं है, कर्तव्य छोड़ना नहीं है इसका प्रत्यक्ष ज्ञान आपसे मिला।'

फिर नाभाग कहता है, 'एक बार आप शान्ति से वृक्ष के नीचे बैठे थे, उस समय गाँव का एक सामान्य व्यापारी आपसे मिलने आया। मैंने देखा कि आप कितने प्रेम से उसके साथ बातें कर रहे थे। बातें पूर्ण होने पर आप उसको दरवाजे तक विदा करने गये। यह चित्र देखकर मेरे ध्यान में आया कि किसीको भी हलका नहीं समझना चाहिए। कर्तव्यपरायण अवश्य बनना चाहिए, परन्तु साथ ही किसीको भी हलका नहीं समझना है। भले ही वह धनवान हो या कंगाल। सबके साथ कैसा बर्ताव करना है यह मैंने आपके चरणों में बैठकर सीखा है। जीवन में अनेक प्रकार की समस्याएं आती हैं, उस समय कैसा विचार करना, क्या करना यह प्रत्यक्ष आपका जीवन देखकर मैंने सीखा है। आपने मुझे केवल विद्या नहीं बल्कि जीवन भी दिया है, इससे अधिक मैं क्या कहूँ? एक बात आपसे कहता हूँ कि हमें पढ़ाते समय आपका दिल टूटता था, उतने ही दिल से मैं भी प्रेम रखूँगा। आपके सामने तो महान् कार्य है। उसके लिए आपको वित्त भी चाहिए। मेरे पिताजी धनवान हैं, इसीलिए मेरा कोई भाई पढ़ने नहीं गया। मेरे पिता के धन में से जो कुछ मेरे हिस्से में आयेगा वह मैं गुरुदक्षिणा के रूप में आपके चरणों में रखने के लिए आऊँगा। मैं इसी आश्रम में छोटे से बड़ा हुआ हूँ। आश्रम को अनेक छोटे-बड़े काम करने हैं इसका मुझे पता है। उसके लिए आपको वित्त की आवश्यकता पड़ेगी। मैं वित्त लेकर वापस आऊँगा।' ऐसा कहकर गुरु को नमस्कार करके, गुरु से आशीर्वाद लेकर नाभाग वहाँ से चल पड़ा।

मार्ग में ऐसे कितने ही विद्या सिखानेवाले आश्रम थे। ऐसे ही एक आश्रम में नाभाग एक रात्रि निवास करने के लिए रहा। आश्रम में सभी को पता चला कि नाभाग आया है।

उस समय तक तो नाभाग की कीर्ति सभी आश्रमों में पहुँच गयी थी। आश्रम यानी विश्वविद्यालय *(University)* ही समझो न! यह मैं आज की भाषा में बोल रहा हूँ, अन्यथा आश्रम की महत्ता का सभी को पता नहीं चलेगा। आज तो लूला-लँगड़ा, अपाहिज, अपंगों को जहाँ जिमाया जाता है उसे आश्रम कहते हैं। आश्रम शब्द का आज ऐसा ही अर्थ हो गया है, इसलिए मैं *(University)* शब्द का प्रयोग करता हूँ। आश्रमवासियों की आँखों के सामने नाभाग यानी एक प्रभावी, तेजस्वी और तत्त्वनिष्ठ महापुरुष का चित्र था। नाभाग की इतनी ख्याति हो गयी थी। उन्होंने उस दिन रात्रि में ही नाभाग का एक व्याख्यान रखा।

एक वृक्ष के नीचे स्नातक विद्यार्थियों के साथ बैठकर नाभाग व्याख्यान दे रहा था। नाभाग की तेजस्वी और भावपूर्ण अमृतरूप वाक्धारा से उसके विचारों को सुननेवाले तल्लीन हुए थे। नाभाग की वाणी सुनकर एक वयोवृद्ध पुरुष, जो एक वृक्ष के नीचे बैठा था, उसका हृदय भर आया और उसकी आँखों से आनन्दाश्रु झरने लगे। वह वृद्ध पुरुष नाभाग का पिता था। उसकी आँखों के सामने सोलह वर्ष पूर्व का नाभाग आ रहा था, जिसको उसने तपोवन में अध्ययन करने, विद्या प्राप्त करने के लिए रखा था।

उसको लगा कि नाभाग मुझे नहीं पहचान सकेगा, परन्तु मैंने तो उसको पहचान लिया है। नाभाग कितना बड़ा हो गया है! नाभाग बड़ा हुआ है, वैसा उसका नाम भी बड़ा हुआ है। इस आश्रम में आने के बाद पिता ने उसकी कीर्ति सुनी थी। उसकी वाणी सुनकर पिता के हृदय में क्या हुआ होगा? व्याख्यान समाप्त होने पर विद्यार्थी अपने अपने आवास में चले गये। उसके बाद वयोवृद्ध पिता नाभाग के पास आया। नाभाग ने भी अपने पिता को पहचान लिया और तुरन्त उनको चरणस्पर्श करके नमस्कार किया। नाभाग को उठाकर पिता ने अपनी छाती से लगा लिया।

नाभाग ने पूछा, 'पिताजी! आप यहाँ कैसे आ गये? आप आश्रम में आकर क्यों रहे हैं?'

पिता ने कहा, 'जीवन शान्ति से जीना हो तो आश्रम में ही जीया जा सकता है। मेरी जिंदगी के जो अनुभव हैं वे मैं यहाँ के आश्रमवासियों को देता हूँ। यहाँ मैं शान्ति से भगवन्नामस्मरण भी कर सकता हूँ। अब मेरा अन्तिम जीवन यहीं, आश्रम में अच्छी तरह से व्यतीत हो रहा है।

नाभाग ने पूछा, 'पिताजी! घर में सब कैसे चल रहा है?'

पिता ने कहा, 'घर में रहने जैसा नहीं रहा इसीलिए मैं आश्रम में रहने के लिए आया हूँ। सभी सम्पत्ति तेरे भाइयों के हाथ में सौंपकर मैं यहाँ आ गया हूँ।'

जिसने तेजस्विता से जीवन बिताया, उसको निस्तेज बनकर रहने का प्रसंग आया अथवा निस्तेजता का एक शब्द भी सुनना पड़ा तो उसको लगता है कि अब इस घर में किसलिए रहना है? और किसके लिए रहना है? वह उस घर से निकल जाना है। मैं घर से निकल आया हूँ।'

नाभाग ने कहा, 'ठीक है। मैं घर जाता हूँ और देख आता हूँ। मेरा भी भाग उन्होंने रखा होगा न?'

पिता ने कहा, 'उन्होंने किस प्रकार बँटवारा किया है इसका मुझे पता नहीं है। मैं तो यहाँ आ गया हूँ।'

उसके बाद नाभाग अपने घर गया और अपने भाइयों से मिला। भाई भी प्रेम से मिलते हैं और कहते हैं, 'तेरी कीर्ति बहुत सुनी है। अरे! सभी विद्यालयों में तेरे ही नाम का गुणगान हो रहा है। हमारे कुल की भी शान बढ़ गयी है। हमने तेरा बहुत वर्णन सुना है।' ऐसा दिखावटी बहुत वर्णन करते हैं।

दो-तीन दिन वहाँ रहने के बाद नाभाग ने भाइयों से पूछा, 'पिता की सम्पत्ति का बँटवारा तो तुमने कर लिया है, तो उसमें मेरा भी कुछ भाग होगा न?'

भाइयों ने कहा, 'तेरा भाग? तू तो विद्याधन को श्रेष्ठ समझनेवाला, त्यागी, पुरुषार्थी और कर्तृत्ववान है। 'दूसरों का कमाया हुआ धन किसलिए लेना' ऐसी तेरी वृत्ति है। तुझे धन की क्या आवश्यकता है? हमने तो सारी सम्पत्ति बाँट ली है।'

नाभाग ने पूछा, 'बँटवारा हो गया, उसमें मेरा कोई भाग नहीं?'

भाइयों ने कहा, 'तेरा भी एक भाग हमने रखा है। वह है वृद्ध पिताजी! उनका पालन-पोषण करना तेरा काम है। पिताजी की सम्पत्ति हमने ली है और तेरे हिस्से में पिताजी रखे हैं।'

ऐसी क्षुद्र वृत्तिवाले भाइयों को देखकर नाभाग को अब एक क्षणभर भी वहाँ रहना अच्छा नहीं लगा। नाभाग ने कहा, 'लोग इस वृत्ति के बन गये हैं इसीलिए मेरे गुरु कहते हैं कि गाँव-गाँव में जाना चाहिए और लोगों की वृत्ति बदलनी चाहिए। जब तक लोगों की दृष्टि व दिमाग नहीं बदलेंगे तब तक मनुष्य, मनुष्य नहीं रहेगा। मनुष्य को कुछ खिलाने से उसमें मनुष्यता नहीं आती। विचार देने से ही उसमें मानवता आती है। ठीक है। तुम्हारी ऐसी क्षुद्र वृत्ति देखकर यहाँ रहा नहीं जाता। मुझे अब यहाँ का जल भी नहीं चाहिए। मैं फिर से यहाँ आऊँगा व तुम्हें सुधारूँगा।' फिर उसने कहा, वित्त को ही सर्वस्व माननेवाले लोग जीवन को नहीं समझ पाते, भाव का स्वीकार नहीं करते, उनके पास दीर्घदृष्टि भी नहीं होती। नीतिमय जीवन किसे कहते हैं यह भी उन्हें मालूम नहीं होता। मुझे तुम्हारे घर का जल भी नहीं चाहिए ऐसा कहकर नाभाग वहाँ से चल पड़ा और पिता के पास आ पहुँचा।

पिताजी के पास आकर, चरण स्पर्शकर उसने नमस्कार किया। पिता से उसने कहा, 'भाइयों ने मुझे बहुत बड़ी सम्पत्ति दी है, जिसके पुण्यप्रताप से मैं जीवन में जो चाहूँ वह कर सकता हूँ।'

सच बात हैं। जिनके हृदय में कृतज्ञता व भाव हैं वे जगत् में जो चाहे कर सकते हैं। उनके पीछे भगवान खड़े रहते हैं। जिन्होंने कृतज्ञता व भाव का धन गँवाया है वे मानव नहीं, शैतान, राक्षस हैं।

कथा तो बहुत बड़ी है। नीतिशास्त्र समझाने के लिए भागवतकार ने यह कथा कही है। जीवन क्या है? कुटुंब किसे कहते हैं, समाज क्या है? इन सब बातों का विचार करना चाहिए।

उस प्रदेश में एक राजा का बड़ा यज्ञ चल रहा था। उस यज्ञ में अंगिरस प्रमुख थे। वे बुद्धिमान व विद्वान थे, फिर भी प्रति समय छठे दिन अन्तिम सूत्र भूल जाते थे और परिणामतः यज्ञ की पूर्णाहुति नहीं होती थी। नाभाग के पिता को इस बात का पता था। उन्होंने नाभाग से कहा, "पितृभक्ति व गुरुभक्ति से तू परिपूर्ण है। राजा अनेक वर्षों से यह यज्ञ कर रहा है, परन्तु वह पूर्ण नहीं होता, इसका राजा को बहुत दुःख है। मुझे वे अन्तिम मन्त्र मालूम हैं, वे मैं तुझे कहता हूँ। तू वहाँ जाकर राजा का यज्ञ पूरा करा दे।'

ऐसा वर्णन है कि नाभाग वहाँ गया और राजा का यज्ञ पूर्ण हुआ। इसके पीछे भी एक अर्थ है, परन्तु वह सब कहते बैठूँगा तो भागवत पूर्ण नहीं होगा।

नाभाग के यज्ञ पूर्ण करने से ऋत्विज व राजा दोनों बहुत प्रसन्न हुए। ऋत्विज भी अच्छे थे। उन्होंने कहा कि राजा ने यज्ञ के लिए जो वित्त निकाला है वह सब तुम्हारा है, इसलिए उसका स्वीकार करो कारण तुमने ही यज्ञ पूर्ण किया है।' ऐसा कहकर सब धन उन्होंने नाभाग को दे दिया। नाभाग धन लेकर चलने लगता है।

भागवतकार ने यहाँ नाट्यपूर्ण *(Dramatic)* प्रसंग खड़ा किया है। नाभाग चलने लगता है, इतने में वहाँ एक काला पुरुष आता है और नाभाग से कहता है, "यह वित्त तू कहाँ ले जा रहा है? यह तेरा नहीं है। यज्ञभूमि पर शेष द्रव्य मेरा है।"

नाभाग ने कहा, 'मैंने यह वित्त चोरा नहीं है। यज्ञ की समाप्ति दस वर्षों से नहीं हो रही थी, वह मैंने की है इसलिए प्रसन्न होकर ऋत्विजों ने यज्ञ का शेष भाग, यह वित्त मुझे दिया है, अतः वह मैं ले जा रहा हूँ।'

काले पुरुष ने कहा, "परन्तु धर्मशास्त्र इस सम्बन्ध में क्या कहता है? उसे भी देखना चाहिए या नहीं?

नाभाग ने कहा, 'मेरे पिता और गुरु को देने के लिए मुझे यह वित्त चाहिए था, मुझे इस वित्त से अपना घर नहीं बनाना है।'

काले पुरुष ने कहा, 'तू अभी छोटा है, पढ़ा हुआ है पर सयाना नहीं है। जा, अपने पिता से इस सम्बन्ध में पूछ कि ऋषियों द्वारा दिये हुए इस वित्त पर रुद्र अपना अधिकार बताता है।'

आँखों के सामने विपुल वित्त दिख रहा है, निर्धनता है, वित्त की अत्यन्त आवश्यकता है, वित्त हाथ में आया भी है, फिर काले पुरुष ने कहा इसलिए नाभाग अपने पिता के पास आकर पूछता है।

पिताजी कहते हैं, 'धर्मशास्त्र की दृष्टि से यज्ञ में शेष वित्त रुद्र-शिव का ही होता है, दूसरे किसी का वह नहीं हो सकता। वह वित्त यजमान या ऋत्विजों का नहीं होता, अत: वे भी किसी दूसरे को वह वित्त नहीं दे सकते। वह वित्त रुद्र का है इसलिए उसीके लिए उस वित्त का उपयोग होना चाहिए।'

नाभाग तुरन्त काले पुरुष के पास वापस आता है! वह काला पुरुष दूसरा कोई नहीं, स्वयं रुद्र (शिव) थे। नाभाग ने उनसे कहा, 'यह सब वित्त आपका है, मेरा नहीं। पिताजी ने कहा है और धर्मशास्त्र भी यही कहता है, वह मुझे मान्य है। ऐसा कहकर वह सब वित्त रुद्र को दे देता है।

रुद्र अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्हें वित्त से क्या करना था? रुद्र कुछ सिखाना चाहते थे इसलिए बीच में आये। वित्त कहाँ से आया, कौन देता है, कैसा है यह सब देखकर वित्त का स्वीकार करना है यह समझाने के लिए वे आये थे। रुद्र ने कहा, 'यह सब वित्त मेरा है, वह तेरा ही है, तू उसे ले जा।' ऐसा कहकर रुद्र ने नाभाग को सारा वित्त दे दिया।

जब भगवान शिव अपने ही हाथों से वित्त देते हैं वह किसी दिन कम थोड़े ही होनेवाला है? उन्होंने कहा, 'तेरी व तेरे पिता की नि:स्पृह व निर्लोभ वृत्ति तथा शुद्ध वर्ताव देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। तेरे जैसे के पास ही लक्ष्मी होनी चाहिए। **'तृप्तां तर्पयन्तीम्'** लक्ष्मी होनी चाहिए। गुरुभक्ति, पितृभक्ति और प्रभुभक्तियुक्त नाभाग के पास अक्षय सम्पत्ति आयी।

सम्पत्ति एक शक्ति है। जिस प्रकार बाहुबल क्षत्रिय की सम्पत्ति है, उसी प्रकार सम्पत्ति भी शक्ति है। यह सम्पत्ति जब समाज में अव्यवस्थित रूप में प्रयुक्त होती है तब वित्तवानों को सजा मिलनी चाहिए। भगवान उनको सजा देते ही हैं। संस्कृति को नष्ट करने में ये लोग अधिक से अधिक उत्तरदायी हैं। वित्त एक शक्ति है, परन्तु वित्त देकर व्यक्ति को सुधारा नहीं जा सकता। वित्त का योग्य उपयोग करके ही मनुष्य को सुधार सकते हैं। नाभाग ने वह कार्य इस वित्त से किया है, इतना ही नहीं, आगे बढ़कर कहूँ तो नाभाग राजा बना। उसका पुत्र था अम्बरीष। इन पिता-पुत्र की बात बहुत ही सुन्दर है।

अम्बरीष ने वित्त का योग्य उपयोग करके लोगों में परिवर्तन लाया, इतना ही नहीं, वह सभी के हृदय का राजा बना।

अम्बरीष को पितृसम्पत्ति मिली। स्वयं की सम्पत्ति होती है, वैसी पैतृक सम्पत्ति भी होती है। अम्बरीष को पैतृक सम्पत्ति मिली।

अम्बरीष राजा था, ईशभक्त था। यही भारत की महत्ता है। भारतीय संस्कृति यह नहीं कहती कि जो भक्त है, जिसको भक्ति करनी है, वह कंगाल ही होना चाहिए। बीच के काल में ऐसी मान्यता आ गयी थी। हमारे देश में भी आ गयी थी। पाँच सौ-हजार वर्षों में ज्ञान चला गया और कचरा घुस गया। तब से ऐसी समझ हो गयी कि भक्त कंगाल ही होना चाहिए। खाने पीने का वह मुहताज रहना चाहिए, तभी वह भक्त कहलायेगा। यह कल्पना लेकर ही कथाकार विदुर को कंगाल चित्रित करते हैं। भक्त के पास वित्त होना ही नहीं चाहिए ऐसी गलत मान्यता बुद्ध के विचार आने के बाद घुस गयी है। जिसके पास राज्य और वित्त है उसको भगवान नहीं मिलते ऐसी गलत मान्यता घर कर गयी है। यह विचार वैदिकों को मान्य नहीं है।

गलत मान्यता के कारण ही विदुर की भाजी प्रख्यात हुई। महाभारत का विदुर हिंदुस्थान का प्रधानमंत्री *(Prime Minister)* था। उस जमाने में, जब भारत में सोने का धुआँ निकल रहा था, उस काल में प्रधानमंत्री-विदुर के घर में भगवान को खिलाने के लिए केवल भाजी ही हो, तो ऐसे देश की कीमत कितनी? उसकी आवश्यकता ही क्या है? परन्तु यह कथा इतनी प्रभावी हो गयी कि विदुर के पास विपुल धन, सम्पन्नता थी ऐसा कोई कहनेवाला निकला तो उसको झूठा माना जाता, इसका कारण बूढ़े लोगों से सुनी हुई कथा यही हमारी पूँजी है। इतना ही नहीं ज्ञान रहा है परन्तु यह गलत धारणा है कि भक्त के पास वित्त नहीं होना चाहिए। हमारे देश में राजा भक्त हो सकता था, इतना ही नहीं, वह मुक्त भी हो सकता था- राजसिंहासन पर बैठने पर भी। भक्ति और मुक्ति- ये दोनों मन और बुद्धि का विकास है। हम कोन से वस्त्र पहनते हैं या कौन से घर में रहते हैं इस पर उसका आधार नहीं है। मन-बुद्धि पर उसका आधार है।

अम्बरीष राजा पूर्ण ईशभक्त था। उसने इतनी सुन्दर तरह से राज्य किया कि उसकी प्रजा में किसी को स्वर्ग में जाने की भी अभिलाषा नहीं रही, ऐसा भागवत में वर्णन है। जिस प्रकार आज लोग अमेरिका जाते हैं, उसी तरह उस समय कदाचित् लोग स्वर्ग में भी जाते होंगे। आज हम ऐसा समझते हैं कि मरने के बाद ही स्वर्ग मिलता है। उस समय लोग जीवित रहते हुए ही स्वर्ग में जाकर आते थे। वैसी व्यवस्था उस समय रही होगी। अर्जुन भी इन्द्र की सहायता करने स्वर्ग में गया था ऐसा वर्णन महाभारत में है।

अम्बरीष के राज्य में किसी प्रजाजन को स्वर्ग में जाने की इच्छा नहीं होती थी, इसका कारण स्वर्ग में जो कुछ था वह सभी अम्बरीष राजा अपने राज्य में लाया था। स्वर्ग में कौन रहता है? देवता। दैवता कैसे हैं? **अमरा निर्जरा देवाः'** स्वर्ग के लोग अमर, अजर व देव होते हैं। अमर-यानी लोगों की वृत्ति अमर होनी चाहिए।

हम घर-घर में झोपड़ी-झोपड़ी में जाते हैं तो मरने की वृत्ति *(will to die)* देखने को मिलती है, जीने की वृत्ति *(will to live)* नहीं! मुमुक्षु लोग देखने को नहीं मिलते, मुमुर्षु देखने को मिलते हैं। सबके भीतर मरने का भय बैठ गया है। मरण यानी अपनी

मृत्यु नहीं। समझो कि मनुष्य की कीर्ति है पर वह चली गयी तो? ऐसा भय प्रत्येक व्यक्ति को लगता है। आज सम्पत्ति है, पर चली जायेगी तो? भयभीत मनुष्य उपयोग भी नहीं कर सकता। उपयोग करने के लिए भी निर्भयता होनी चाहिए। भगवान के पास पहुँचने के लिए निर्भयवृत्ति होनी चाहिए वैसे ही उपभोग करने के लिए भी निर्भयवृत्ति होनी चाहिए। उसके लिए अमरवृत्तियुक्त बनना चाहिए।

हम सूखी रोटी खायेंगे, मगर हमारे गाल टमाटर जैसे लाल होंगे! इसका कारण हम सूखी रोटी तत्त्वज्ञान में भीगोकर खायेंगे। उसके बिना तो बादाम-पिस्ता खानेवालों का मुँह देखने जैसा होता है। फुला हुआ मुँह किस काम का? जब तक जीवन की ओर भिन्न दृष्टि से देखने की समझ नहीं आती तब तक जीवन किस काम का?

अम्बरीष ने बहुत प्रभावी ढंग से राज्य चलाया। राज्य कोई रोटी देने के लिए नहीं है। आज तुम रोटी दोगे मगर शाम की रोटी का क्या होगा? यह प्रश्न खड़ा ही रहता है! शाम को फिर भूख लगी तो तुम क्या करोगे? अत: रोटी की अपेक्षा ज्ञान और विचार का दान करोगे तो? तो मनुष्य स्वयं अपनी रोटी कमायेगा और कमायी हुई रोटी समाधानपूर्वक खायेगा। ऐसी ही शिक्षा देनी चाहिए, होनी चाहिए! दिन-रात, मेरे पास गमबूट नहीं है, फलाँ-फलाँ अमुक नहीं है, तो **वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्** उसके पास सोने का बटन है, परन्तु मेरे पास नहीं है, अत: जीवन व्यर्थ है। अरे! सोने के बटन का और जीवन का क्या सम्बन्ध है? सोने का बटन मिला तो चलेगा, कदाचित् नहीं मिला तो भी चलेगा, इसमें क्या हुआ? ऐसी बातों के लिए ही मनुष्य दु:खी बनता है। इससे उसका मन मर जाता है। ऐसी स्थिति में रहता हुआ मनुष्य जीवित नहीं कहलाता। वह अमरवृत्ति का नहीं है। जीने की वृत्ति तथा शासन करने की वृत्ति- *Will to live and will to power* निर्माण होनी चाहिए। यही जीवन है। ऐसी ही शिक्षा की आवश्यकता है। मन्दिरों में, शास्त्रों में, सरकारी व्यवस्था में ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए। वह यदि न मिलती हो तो तीनों संस्थाएं बेकार हैं।

हमें जीवित रहना है, इसकी शिक्षा हमें मिलनी चाहिए। यही शिक्षा अम्बरीष राजा देता था। इसीलिए स्वर्ग में जाने की किसी को इच्छा नहीं होती थी- कोई स्वर्ग में से बुलाये तो भी! लोगों में ऐसी अमरवृत्ति थी।

उसी प्रकार निर्जर वृत्ति भी थी। महाभारत में वर्णन है कि एक सौ पचासी वर्ष के भीष्म पितामह युद्ध के मैदान में खड़े थे। आज तो तीस-पैंतीस वर्ष का मनुष्य बोलता है, "हमारा सब कुछ हो गया है अब!" मनुष्य इस प्रकार मन से बूढ़ा बन गया है। जो मन से बूढ़ा बना उसे समाप्त समझो। उसकी रचनात्मक शक्ति *(creative energy)* ही समाप्त हो जाती है। यह रचनात्मक शक्ति निरन्तर जागृत रहनी चाहिए, जागृत रखनी चाहिए। अलग-अलग प्रयोग द्वारा उसको जागृत रखना चाहिए। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ बुढ़ापा ही बुढ़ापा है।

अंग्रेजी में 'मैं' उन्नीस वर्ष का हूँ' ऐसा कहना हो तो कह जाता है, *I am nineteen years old*- अरे! कोई उन्नीस वर्ष का भी बूढ़ा होता है। रिश्वत के बिना पैसा कैसे मिलेगा? बिना पहचान के नौकरी कैसे मिलेगी? नौकरी नहीं मिली तो खाने को कैसे मिलेगा? खाने को नहीं मिला तो मेरा क्या होगा? इस प्रकार मनुष्य का आत्मविश्वास ही नष्ट हो गया है। मैं अपनी रोटी कमाऊँगा ही' ऐसा विश्वास ही निर्माण नहीं होता। वह भी पन्द्रह-सोलह वर्ष पढ़ने पर भी! मनुष्य रोता ही है, उसको जीवन की दृष्टि ही नहीं मिलती। इसका अर्थ काल मनुष्य के शरीर पर परिणाम नहीं करता और मनुष्य बूढ़ा नहीं बनता, ऐसा नहीं है। वह शरीर से बूढ़ा बनेगा, परन्तु वृत्ति से जवान रहेगा।

अम्बरीष राजा परम भक्त था। 'भक्त' कहा कि लोगों को लगता है कि जो सुबह से शाम तक भगवान, भगवान करता है, वह भक्त है। लोग 'भगवद्भक्त' का अर्थ ही नहीं समझते। भक्ति एक सामाजिक परिबल है *(Bhakti is a social force)* ऐसा कहने पर भी हमारी दृष्टि के सामने आरती और प्रसाद- यही दो बातें आती हैं। अम्बरीष राजा भक्त था और भक्ति की शक्ति से ऐसा समाज, ऐसी प्रजा उसने बनायी थी। वह विष्णु भगवान का भक्त था। विष्णु भगवान का भक्त मूर्ख (पागल) रहता ही नहीं। राज्य कारोबार चलाते हुए भी अम्बरीष में इतनी भक्ति, दुर्दम्य श्रद्धा और विश्वास टिका था। एक-दो व्यक्ति के साथ हमारा सम्बन्ध आने के बाद हमारा मानवता से विश्वास उठ जाता है। हम व्यापारी मनुष्य पन्द्रह-बीस लोगों के साथ सम्बन्ध रखते हैं और कहते हैं, 'दादा! यह जगत् इतना खराब है कि हमारा मानवता से विश्वास ही उड़ गया है। तब, अम्बरीष राजा ने लाखों लोगों के साथ सम्बन्ध रखकर भी मानव पर विश्वास बनाये रखा था यह कोई सामान्य बात नहीं है! उस समय भिन्न ही शिक्षा मिली होगी, भिन्न ही बात स्वीकारी होगी तभी यह हो सकता है।

अम्बरीष का द्वादशी का व्रत था। उस दिन व्रत पूर्ण होने पर ही भोजन कर सकते हैं। उस समय ऋत्विज भी भोजन के लिए आये थे। मुझे लगता है कि अम्बरीष राजा ने इतना अच्छा राज्य तैयार किया इसलिए आये हुए ऋत्विज प्रभु के कार्यकर्ता रहे होंगे। घर-घर में जाकर अतिशय दैवी विचार लोगों को देनेवाले वे कार्यकर्ता थे। अम्बरीश यदि ब्राह्मणों को खिलाकर समाधान माननेवाला होता तो वह राज्य ही नहीं कर पाता।

ब्राह्मण भोजन करने बैठे थे। इतने में वहाँ दुर्वासा मुनि आ पहुँचे। दुर्वासा उस समय के प्रभावी पुरुष थे। अम्बरीष ने कहा, 'भोजन तैयार है, भोजन करने बैठिये।' तब दुर्वासा ने कहा, 'मध्याह्न का समय हुआ है, अतः नदी पर जाकर स्नान करके मध्याह्न सन्ध्या करके हम आते हैं।' अम्बरीष ने कहा, ठीक है, आप आइये। मैं आपकी प्रतीक्षा करूँगा।'

अम्बरीष प्रतीक्षा कर रहा था, परन्तु दुर्वासा नहीं आये। भोजन तैयार था, परन्तु दुर्वासा नहीं आये, अब क्या करें? उपवास का व्रत तो छोड़ना ही था और वह द्वादशी के दिन छोड़ना था। एक घटिका के बाद द्वादशी समाप्त होती थी। यह तो धर्मसंकट खड़ा

हुआ। द्वादशी का व्रत अपूर्ण रहा तो कैसे चलेगा? द्वादशी के दिन ही पारणा होनी चाहिए। यह शास्त्रीय मीमांसा, शास्त्र का प्रश्न है। मीमांसावादी लोग यानी आज की भाषा में कहना हो तो संवैधानिक *(constitutionalist)* लोग! संविधान में जो लिखा है, उसीका अर्थ देखकर चलनेवाले लोग!

ब्राह्मणों ने कहा, 'द्वादशी समाप्त होने के बाद त्रयोदशी लगती है तब पारणा करेंगे तो नहीं चलेगा।' अब क्या करना चाहिए? सभी ब्राह्मणों ने कहा, 'आप व्रत में जल भी नहीं पीते हैं, तो व्रत के उद्यापनार्थ जल प्राशन करेंगे तो चलेगा।' अम्बरीष राजा ने तुलसीपत्र लेकर उस पर जल पी लिया।

इतने में दुर्वासा आये। उनको पता चला कि अम्बरीष राजा ने जल पीकर द्वादशी के व्रत का उद्यापन कर लिया है। उन्होंने तुरन्त कहा, हमें भोजन का निमंत्रण दिया, परन्तु हमारे पहले ही जल पीकर व्रत का उद्यापन किया? यह हमारा अपमान है।'

अम्बरीष ने कहा, 'मैंने भोजन नहीं किया है। केवल द्वादशी का व्रत पूर्ण करने हेतु जल पिया है।'

दुर्वासा कुछ सुनने के लिए तैयार नहीं थे। क्रोध से उन्होंने एक जटा निकाली और उससे प्रलयकाल के अग्नि के समान प्रखर ऐसी एक कृत्या निर्माण करके अम्बरीष पर छोड़ दी। अखिल विश्व को भस्म करनेवाली वह कृत्या जब आने लगी तब अम्बरीष ने आंखें बंद करके विष्णु भगवान का स्मरण किया। विष्णु भगवान उसके रक्षक थे इसलिए अम्बरीष को सुदर्शन चक्र उन्होंने पहले ही दिया था। उस चक्र ने कृत्या को जला दिया तथा वह दुर्वासा के पीछे पड़ा। यहाँ भक्त की महिमा समझाने का प्रयत्न है।

दुर्वासा के पीछे सुदर्शन लगने से वे वहाँ से भागने लगे, परन्तु सुदर्शन ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। दुर्वासा न खा सके, न बैठ सके, न खड़ा रह सके, वे भागने लगे। वे ब्रह्मदेव के पास गये। ब्रह्मदेव ने कहा, इस सुदर्शन को शान्त करने की शक्ति किसी देवता में नहीं है, वैसे ही मेरे पास भी नहीं है।' फिर दुर्वासा रुद्र के पास गये।' उन्होंने भी कहा कि इस सुदर्शन का निवारण करने की शक्ति मुझमें नहीं है। अन्त में दुर्वासा विष्णु भगवान के पास गये। यह पौराणिक कथा है इसलिए इतना वर्णन है। विष्णु, शिव आदि एक ही हैं। दुर्वासा ने विष्णु भगवान से कहा, 'आपके इस सुदर्शन चक्र से मुझे बचाओ।

विष्णु भगवान ने कहा, 'यह बात तो मेरे हाथ से भी निकल गयी है। मैं इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता। तुम अम्बरीष के पास जाओ। वही तुम्हें बचायेगा। तुम्हारा अपमान अम्बरीष ने नहीं किया है, उल्टे तुमने ही भक्त का अपमान किया है। जाओ, उसके चरणस्पर्श करो। उसके बिना इससे जगत् की कोई शक्ति तुम्हें नहीं बचा सकती। तुम्हें अम्बरीष से क्षमा माँगनी पड़ेगी।'

जो मनुष्य भक्त के विरोध में खड़ा रहता है उसको कोई नहीं बचा सकता। **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** ऐसा भगवान ने गीता में कहा है। इसका अर्थ उसके घर गेहूँ व चावल

भगवान पहुँचाते हैं ऐसा नहीं है। भगवान अपने भक्तों को सभी बातों से तथा सभी तरफ से सँभालते हैं।

उसके बाद दुर्वासा अम्बरीष के पास गये और अम्बरीष से क्षमा माँगी, उसको नमस्कार किया। उस समय अम्बरीष ने कहा, 'आप महान् ब्राह्मण हैं। आपको अपनी शक्ति प्रभुकार्य में लगानी चाहिए। शक्ति विध्वंस के लिए नहीं, निर्माण के लिए होती है। शक्ति विघातक नहीं, विधायक होनी चाहिए। उसके लिए आपको प्रयत्न करने चाहिए। आपके पास प्रचण्ड शक्ति पड़ी है, तो आप उसका उपयोग प्रभुकार्य में क्यों नहीं करते?' इस प्रकार अम्बरीष ने दुर्वासा को समझाया और उनके पीछे पड़े हुए सुदर्शन को शान्त किया।

इस कथा में भक्त और भक्ति का माहात्म्य समझाया है। जो काम भगवान भी नहीं कर सकते वह काम भक्त कर सकता है, ऐसा दिखाया है। भगवान के कहने से दुर्वासा ने अम्बरीष के पास जाकर उनको नमस्कार करके प्रायश्चित किया।

नवम स्कन्ध में नीतिशास्त्र समझाने के लिए ये कथाएं आयी हैं। पितृभक्ति, गुरुभक्ति और प्रभुभक्ति इन तीनों का मिश्रण नाभाग में दिखायी देता है। उसका सत्य सिद्धान्त पर अटूट विश्वास था, अतः उसे स्वयं रुद्र वैभव देते हैं, इतना ही नहीं, उसे राजा बनाते हैं। उसीका पुत्र अम्बरीष है। **'न मे भक्तः प्रणश्यति'** मेरे भक्त का विनाश नहीं हो सकता, मैं उसको सँभालता हूँ' इतना ही भगवान नहीं कहते। भक्त इतना प्रभावी होता है कि जो काम मैं न कर सकता वह भक्त कर सकता है यही अम्बरीष की कथा में कहा है। भगवान उसका बड़प्पन बढ़ाते हैं। इसमें भक्त की रक्षा का प्रश्न नहीं है, भक्त की महिमा तथा प्रभाव का प्रश्न है, यह अद्‌भुत है ऐसा इस कथा में समझाया है।

उसके बाद कितनी ही कथाएं कहकर नैतिक विवेचन किया है। फिर इक्ष्वाकु वंश का वर्णन करते करते प्रभु रामचन्द्र का जन्म कहा है तथा यदुवंश का वर्णन करके श्रीकृष्ण का जन्म समझाया है। उसके पहले जो लोग पैदा हुए उनकी जानकारी वंशवार दी है। उसमें युवनाश्व का वर्णन आता है। वह एक प्रभावी राजा था। इतिहास में प्रभावी राजाओं का ही वर्णन आता है। प्रभावी राजा दो प्रकार के होते हैं। एक विख्यात *(famous)* और दूसरे कुख्यात *(notorious)* होते हैं। इतिहास में दोनों का नाम रह जाता है। जिस प्रकार राम का नाम है वैसा रावण का भी है।

युवनाश्व राजा का पुत्र मांधाता है। उसकी उत्पत्ति अजब है। युवनाश्व को सन्तति न होने से ऋषियों ने ऐन्द्री नाम का यज्ञ किया। उस यज्ञ में रानियों के लिए अभिमन्त्रित जल रात्रि में प्यास लगने पर युवनाश्व स्वयं पी गया जिससे उसके पेट में गर्भ रह गया। एक पुरुष के पेट में गर्भ रहा। आज तक सभी लोग स्त्री के पेट से पैदा होते आये हैं। परन्तु मान्धाता की विचित्रता यह है कि वह पुरुष के पेट से पैदा हुआ। युवनाश्व के पेट में गर्भ बढ़ने लगा। यहाँ प्रश्न निर्माण होता है कि शुक्र और रज एक साथ मिलने

पर गर्भ बढ़ता है, पर उसके लिए गर्भाशय की आवश्यकता है या नहीं? गर्भाशय के बिना शुक्र-रज के मिश्रण से यदि गर्भ पैदा होता है तो फिर टेस्टट्यूब में भी गर्भ पैदा होना चाहिए। यह पण्डितों का विषय है। गर्भाशय के बिना पुरुष के पेट में सन्तति कैसे पैदा होती है यह एक प्रश्न है, परन्तु वैसा हुआ है। वह गर्भ कैसे रहा? तो आपरेशन से मान्धाता का जन्म हुआ होगा। मांधाता का जन्म ऐसा हुआ कि स्तनपान कराने के लिए माँ ही नहीं थी। बिना माँ के लड़का पैदा हो गया ऐसा विचित्र दर्शन मांधाता का है। मान्धाता कोई सामान्य राजा नहीं था वह वेदों में भी मान्य राजा था। मांधाता की माँ ही नहीं तो उसे स्तनपान किसने कराया? इन्द्र भगवान ने उसको स्तनपान कराया है। **मां धाता'** ऐसा इन्द्र ने कहा, इसलिए उसका नाम मांधाता पड़ा है। इस प्रकार पुरुष के पेट से मान्धाता पैदा हुआ, ऐसा भागवत में लिखा है।

मान्धाता शूर व प्रभावी राजा था इसमें सन्देह नहीं। इसके सम्बन्ध में ऐसी कहानी है कि मुंज नाम का राजा था वह भोज का चाचा था। उसी भोज का जिसके दरबार में कालिदास थे। भोज के पिता की जब मृत्यु हुई तब भोज छोटा था, इसलिए राज्य मुंज के हाथ आया। राजलक्ष्मी हाथ में आ जाने के बाद उसको छोड़ने की किसी की भी इच्छा नहीं होती। मुंज को लगा कि भोज बड़ा होगा तब उसे राज्य देना पड़ेगा, कारण प्रजा जागृत थी। तो क्या करना चाहिए? राज्यलोभ के कारण मुंज ने भोज को मरवाने का निश्चित किया। मुंज ने जल्लादों को धन देकर जंगल में भोज को ले जाकर मारने के लिए भेज दिया।

जल्लाद अच्छे व्यक्ति थे। मारने के पहले उन्होंने भोज से कहा कि 'तेरे पिता का अन्न हमने खाया है। तेरे चाचा मुंज ने तुझे मारने के लिए हमें जंगल में भेजा है। इसलिए मरते समय तुझे समझाना है। मरने के पहले तेरी कुछ इच्छा हो तो बता दे, हम उसे पूर्ण करेंगे।'

भोज ने कहा, 'मेरी इच्छा? मेरी इच्छा यह है कि मुझे मारने के पहले मैं तुम्हें एक श्लोक लिखकर देता हूँ। वह मुंज चाचा को देकर, उसे पढ़ाकर आओ और बाद में मुझे तुम भले ही मार डालो।' जल्लादों को भोज ने जो श्लोक लिखकर दिया उसमें प्रथम नाम मांधाता का है।

मांधाता स महीपतिः क्षितितलेऽलंकार भूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो यावन्न एवाभवन्नेके-
नापि समं गता वसुमती मुञ्ज त्वया यास्यति।।

बहुत सुन्दर श्लोक है। पृथ्वीतल का अलंकार बनकर मांधाता चला गया, समुद्र पर जिसने सेतु बनाया वह दशास्यान्तक (रावण का वध करनेवाला) राम कहाँ गया? **अन्ये चापि...युधिष्ठिर** जैसे कितने ही अच्छे अच्छे राजा आकर चले गये। किसी के भी साथ

यह पृथ्वी नहीं गयी। परन्तु चाचा मुंज! यह तेरे साथ निश्चित आनेवाली है। (इसीलिए तो तू मुझे मार रहा है।) **'मुञ्ज त्वया यास्यति...।'**

श्लोक पढ़कर मुंजचाचा की आँखें खुलती हैं और वह भोज को वापस बुलाता है, भोज बच जाता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मांधाता का वर्णन सभी जगहों में पढ़ने को मिलता है। मांधाता बहुत प्रभावी राजा था! जो लोग इतिहाससंशोधक हैं उनके लिए कहता हूँ कि भारत में भिन्न भिन्न पुँज थे। **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** की गर्जना करनेवाले आर्यों ने इन पुँजों को आत्मसात किया। अलग-अलग मानव समूह थे और प्रत्येक में लाखों लोगों की आबादी थी। उनमें दस्यु, दानव, राक्षस, वानर, यक्ष, किन्नर, द्रविड आदि लगभग पचीस पुँज थे। आर्यों ने प्रत्येक पुँज की श्रद्धा को बनाये रखकर उनको आर्यों की जीवनप्रणाली समझायी थी। उनमें दस्युओं के समय मांधाता राजा हो गया। उसका काल इतिहासकार निश्चित करेंगे। मांधाता दानशूर राजा था। उसके पास जो वित्त था वह संस्कृति के लिए ही प्रयुक्त होता था। मांधाता पराक्रमी तथा शक्तिशाली था। इन्द्र भगवान ने उसको दूध पिलाया था। इन्द्र भगवान कोई सामान्य नहीं है। सौ-सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला सामान्य होता ही नहीं! बल्कि बहुत ही प्रभावी होता है। इन्द्र भगवान का पौराणिक चित्र भिन्न है, परन्तु उसका कर्तृत्ववान के रूप में चित्र भिन्न ही है। एक अश्वमेध-यज्ञ करने के लिए 'विश्वजित' बनना पड़ता है। सौ वर्ष की आयु मानेंगे तो एक जन्म में तीन या चार अश्वमेध यज्ञ हो सकते हैं। क्योंकि एक बार समाज बिगड़ जाता है तो उसको सुधारने में बीस-पचीस साल का समय बीत जाता है। ऐसे सौ अश्वमेध यज्ञ करने के लिए पचीस तीस जन्म लेने पड़ते होंगे। प्रत्येक जन्म में सत्ता, सम्पत्ति, शक्ति, कर्तृत्व सब होते हुए भी मनुष्य न बिगड़े यह कोई सामान्य बात नहीं है। सामान्य कीर्ति या सम्पत्ति जब मनुष्य को मिलती है तो मनुष्य का दिमाग ही बदल जाता है। जिसका दिमाग पचीस-तीस जन्म तक नहीं बिगड़ा वह सामान्य थोड़े ही होगा? पुराणों में इन्द्र का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि उसकी हँसी उड़ाने-उपहास करने की इच्छा होती है। इन्द्र के लिए उलटा सुलटा बोलने की अपनी योग्यता नहीं है और हमें अधिकार भी नहीं है। अत्यन्त कर्तृत्ववान, स्थिरबुद्धिमान पुरुष ही इन्द्र बन सकता है। जिसको इन्द्र भगवान ने दूध पिलाया है वह माँधाता प्रभावशाली और दानशूर था। अपना वित्त दस्युओं को सुसंस्कृत बनाने और संस्कृति का रक्षण करने में उसने व्यय किया। इसलिए महाभारत में उसको **'त्रसत् दस्यु'** ऐसा नाम दिया है।

उतथ्य नाम का एक कूटनीतिज्ञ *(statesman)* पुराने समय हो गया। राजनीतिज्ञ *(Politician)* भिन्न और कूटनीतिज्ञ *(statesman)* भिन्न! राजनीतिज्ञ छिछला होता है, परन्तु कूटनीतिज्ञ प्रौढ़ होता है, गंभीर होता है। उतथ्य प्रभावी राजनीतिज्ञ था। मांधाता को उतथ्य ने राजनीति समझायी। महाभारत के शान्तिपर्व में **'उतथ्यगीता'** पढ़ने को मिलती है। हमारे लोगों ने स्वतंत्र राज्य स्वीकार किया, परन्तु पुराने समय में जो राजनीति लिख रखी है वह किसी को नहीं पढ़नी है। मैं विनोद में कहता हूँ कि अशिक्षित *(Illiterate)* लोगों के हाथ में

संविधान लिखने का काम सौंपा गया। संविधान किसने लिखा? किसने बनाया? अशिक्षित लोग थे वे! पढ़ाई ही नहीं हुई थी। पुराने समय की राजनीति का किसीने अध्ययन ही नहीं किया था। यह उनको दोष नहीं है। उतथ्यगीता में संपूर्ण राजनीति का वर्णन है।

मांधाता एक अलौकिक व्यक्ति था, जो मर्द से पैदा हुआ था। महाभारत तथा वेदों में भी उसका वर्णन पढ़ने को मिलता है इतना वह प्रभावी था। उसने अपनी बुद्धिशक्ति, शरीरशक्ति, वित्तशक्ति और राजनैतिक शक्ति, सभी शक्तियाँ दस्युओं को सुसंस्कृत बनाने में व्यय की हैं। मांधाता की पचास लड़कियाँ थी। वे बहुत ही सुन्दर थी। राजा की लड़कियाँ सुन्दर ही होंगी। जहाँ राजा होता है वहाँ रानियाँ होती है। मांधाता की दो रानियाँ थीं। राजा की दो दो रानियाँ होती हैं और उनकी लड़कियाँ हमेशा सुन्दर ही होती हैं। वह तो होना ही चाहिए और लिखना भी चाहिए। इन सुन्दर लड़कियों के सम्बन्ध में, उस जमाने में एक विशिष्ट बात भागवतकार ने समझायी है।

जैसे मांधाता की कथा समझायी है वैसे सौभरि की कथा है। सौभरि ऋषि नहीं बल्कि वह तपस्वी था। इस तपस्वी की कथा बहुत सुंदर है। तपस्या करते समय एक दिन सौभरि को मछली के युग्म की कामक्रीड़ा देखने को मिली। वह देखकर उसके मन में कामचेष्टा उद्दीपित हुई, उसके मन में काम जागृत हुआ। वह अपना भान भूल गया और राजा के पास उसकी लड़की माँगने गया। उसने राजा से कहा, "तू दानशूर है न? तो तेरी लड़की मुझे चाहिए।'

राजा को लगा कि यह तपस्वी बूढ़ा है, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, इसके साथ गुलामी में रहने के लिए मेरी लड़की थोड़े ही जायेगी? राजा ने कहा, जो लड़की आपके साथ आने को तैयार होगी उसे आप ले जाइये। भागवत में ऐसा वर्णन है कि मांधाता की सभी लड़कियाँ सौभरि के साथ चली गयी।

अन्त में, कितने ही वर्षों तक विषयोपभोग को ही परम पुरुषार्थ मानते हुए सौभरि को अत्यन्त दुःख हुआ। वह समझ गया कि मैं किस स्थिति में था और किस गर्त में आ पड़ा हूँ। मैं कैसा था और अब कैसा बन गया हूँ? समझ आने पर उसे बहुत दुःख हुआ। अन्त में उसने श्रीहरि की भक्ति शुरू की। उससे उसको मुक्ति मिली। इतना ही नहीं, उसकी जो पत्नियाँ थीं वे भी मुक्त हो गयीं। भागवत में ऐसा हरिभक्ति का वर्णन है।

सौभरि की कथा द्वारा यह समझाया गया है कि कामक्रीड़ा नहीं देखनी चाहिए। कामक्रीड़ा की कथा भी नहीं पढ़नी चाहिए। इतना ही नहीं, उसमें यहाँ तक कहा गया है कि जिसने चतुर्थाश्रम-संन्यासाश्रम-स्वीकारा है उसे तो, संन्यासी के लिए जो संविधान है उसके अनुसार **'न पश्येत् लिखितामपि-'** स्त्री का चित्र भी नहीं देखना चाहिए।

संन्यासाश्रम अन्तिम आश्रम है। प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम, फिर गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और बाद में संन्यासाश्रम है। तीन आश्रमों के बाद ही संन्यास लेना चाहिए ऐसा आग्रह किया गया है। बुद्ध भगवान के बाद ब्रह्मचारी सीधे संन्यास लेने लगे (जिनको नैष्ठिक ब्रह्मचारी

कहते हैं।) वह हमारे धर्मशास्त्र की दृष्टि में अशास्त्रीय संन्यास है। वे शास्त्रीय संन्यासी ही नहीं हैं उनके लिए जो संविधान लिखा गया है उसमें भी उनके लिए **'न पश्येत् लिखितामपि'** लिखकर वर्जना की गयी है। कामक्रीड़ा देखकर मनुष्य के मन में काम उद्दीप्त होता है। इसलिए कामक्रीड़ा को हमने गोपनीय माना है। कामक्रीड़ा गोपनीय तथा पवित्र है ऐसा माना है।

आज अलग-अलग देशों से ऐसी विचारधारा आयी है कि 'कामक्रीड़ा नैसर्गिक *(natural)* है उसको छिपाने की आवश्यकता कौनसी है? जो नैसर्गिक है उसको छिपाना नहीं चाहिए। वे कहते हैं कि कामक्रीड़ा खुल्लमखुल्ला होनी चाहिए।' परन्तु कामक्रीड़ा खुल्लमखुल्ला करेंगे तो उसमें वह असामाजिक है, असभ्य है और असंस्कृत है उससे आप कितने लोगों का मन बिगाड़ते हैं? इसलिए कामक्रीड़ा नैसर्गिक होते हुए भी खुल्लमखुल्ला नहीं होनी चाहिए ऐसा भारतीय मानते है। हमारे देश में ऐसी विचारधारा बाहर से आती है, परन्तु हमारी-भारतीयों की जीवनदृष्टि ही भिन्न है। भारतीय संस्कृति में काम को चतुर्थ पुरुषार्थ माना है। काम जुगुप्सित नहीं, तिरस्करणीय नहीं है, परन्तु गोपनीय है ऐसा माना है।

भारतीय संस्कृति ने काम को पुरुषार्थ मानकर जिस प्रथम विवाहसंस्था को स्वीकारा उसमें तीन अलग अलग विभाग माने हैं। एक है एकीकरण *(Merging)* दूसरा है जातीय संबन्ध *Mating* और तीसरा है प्रजोत्पत्ति *(Reproduction)* ये तीन मिलकर *Marriage* (विवाह) बनता है। आज लोग कहते हैं कि 'एकीकरण *(merging)* का प्रश्न ही नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है। व्यक्तित्व टिकाने के लिए जीवन बिगाड़ने की, एकीकरण की आवश्यकता नहीं है। उसी प्रकार प्रजोत्पत्ति *(Reproductive Value)* कैसे कम होगी उसके पीछे हम पड़े हैं। फिर रहा केवल जातीय सम्बंध *(mating)* और वह नैसर्गिक है, इसलिए उसको छिपाने की जरूरत नहीं है।' देश विदेशों में इस प्रकार की हवा- विचारधारा बह रही है और वह भारत में भी आ गयी है। *Mating* यदि नैसर्गिक है तो उसमें आप रुकावट क्यों लाते हैं ऐसा वे लोग पूछते हैं।

आज स्पष्टवादी भी खुल्लमखुला ऐसा नहीं कहते हैं। विवाह में एकीकरण *(Merging)* मानसिक है, वह दोनों के लिए आवश्यक है इसलिए भारतीय संस्कृति ने उसे मान्य किया है। प्रजोत्पत्ति सांस्कृतिक होने से मान्य की गयी है और *Mating* को गोपनीय रखा है। 'विवाह *(Marriage)* केवल *Mating* के लिए है' इस विचारधारा पर भारतीय संस्कृति ने प्रहार किया है। विवाह यदि *Mating* के लिए है और कामक्रीड़ा नैसर्गिक ही माननी हो तो उसको गोपनीय मानने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु भारतीय संस्कृति ने कामक्रीड़ा को पवित्र और गोपनीय माना है। इसका कारण यह है कि कामक्रीड़ा को गोपनीय न रखा तो दूसरों को हैरानी होती है। उनको व्यथा होती है। कामक्रीड़ा का दूसरों पर परिणाम होता है। यह परिणाम कराने की हमें सत्ता नहीं है। इसलिए कामक्रीड़ा को स्वीकार करके भी उसको गोपनीय माना है। काम बहुत बड़ा विषय *(Subject)* है।

इस सौभरि की कथा में एक विशेष बात है। इसमें तपस्वी व भक्त ये दो अलग अलग हैं। सौभरि केवल तपस्वी था तब वह कामहत हो गया। उसने भक्ति की, फिर वह प्रभुचरणों में पहुँचा। इसका अर्थ यह है कि केवल तप से काम पर विजय नहीं पाया जा सकता। अनेक लोग तप करते हैं। तप से सिद्धि मिलती है, तप से कुछ चमत्कार भी दिखाये जा सकते हैं, तप में यह शक्ति है। अलग-अलग तप हैं। शारीरिक तप है, पंचाग्नि साधन है, कोई अनशन करते हैं। ऐसे तप का मन पर कोई परिणाम नहीं होता, मन की भी उन्नति नहीं होती, मन प्रभावी व शक्तिशाली भी नहीं बनता। सुभाषितकार कहता है-

मीनः स्नानरतः फणी पवनभुक् मेषस्तु पर्णाशने
नीराशी खलु चातकः प्रतिदिनं शेते बिले मूषकः।
भस्मोद्धूलनतत्परो ननु खरो ध्यानाधिरूढो बकः
सर्वे किं न हि यान्ति मोक्षपदवीं भक्तिप्रधानं तपः।।

(मीन (मत्स्य) नित्य जल में स्नान करती है, साँप वायु भक्षण करके रहता है, बकरा पत्ते खाकर रहता है। चातक तृषित रहता है, चूहा बिल में रहता है, गधा भस्मलेपन (धूल) करता है बगुला आँखे मूँदकर बैठता (ध्यान करता) है, इनमें से किसी को भी मोक्ष नहीं मिलता है, कारण तप में प्रधान भक्ति है।)

तप से यदि मोक्ष मिलता हो तो इनको क्यों नहीं मिला? ऐसा प्रश्न खड़ा किया है। तप से मुक्ति नहीं मिलती। तप का परिणाम मन पर नहीं होता है, हुआ तो कम होता है, बिलकुल नहीं होता ऐसा मैं नहीं कहता हूँ। कुछ धर्म, संस्कृति, लोकाचार और लौकिक कल्पनाएं ऐसी हैं कि उनके अनुसार तप से भगवान मिल जाते हैं। हमें पढ़ने को मिलता है कि अमुक एक साधु ने प्रखर तप किया और फिर वह साधु बिगड़ गया। उन्हें पूछना चाहिए कि प्रखर तप किया था फिर भी कैसे बिगड़ गया? साधु महाराज ने तप किया होगा, अनशन करके भी रहे होंगे, मगर उनके मन पर तप का कोई परिणाम नहीं हुआ, मन उन्नत नहीं बना। तप के कुछ शारीरिक परिणाम हैं, कुछ सिद्धियाँ भी मिलती हैं। इन सिद्धियों के लिए योगदर्शनकार ने लिखा है, **'स्थान्युपमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टः प्रसंङ्गात्-'** (संग अथवा स्मय करने से फिर से संसार रूप अनिष्ट का प्रसंग प्राप्त होता है)। निश्चित तप के कुछ गुण *(Qualities)* भी हैं। तप से शरीर पर कुछ नियंत्रण *(control)* आता है, परन्तु काम को जीतने की शक्ति तप में नहीं है। इसलिए तपस्वी जब विरुद्ध लिंगी *(Opposite sex)* के संपर्क में आयेगा, उसके सामने खड़ा होगा तब पिघल जायेगा, विचलित हो जायेगा। सौभरि की ऐसी स्थिति हो गयी थी।

भागवत में मछली का युग्म (जोड़ी) लिखा है, उसका स्थूल अर्थ लेते हैं। मछली की कामक्रीड़ा उसमें लिखी है, वह क्रीड़ा उसने देखी। मछली मारनेवाले जो लोग हैं उनका भी युग्म हो सकता है। उनमें से किसी युग्म की कामक्रीड़ा खुल्लमखुल्ला देखी होगी। वह देखकर सौभरि के मन में काम जागृत हुआ। इतना जागृत हुआ कि वह पागल बन गया।

दृढयोग में कुछ ऐसी प्रक्रियाएं हैं कि जिनकी कुछ जानकारी प्राप्त किये बिना यदि कोई उनका प्रयोग करने लगा तो वह इतना कामी बन जाता है, इतना पागल बन जाता है कि बेशर्म बनकर, रास्ते में चल रही किसी भी स्त्री का हाथ पकड़ लेता है। हठयोग के प्रति पतंजलि भगवान, श्रीकृष्ण भगवान, सभी अवतार और ऋषि सानुकूल नहीं होते हैं।

तप से तपस्वी के मन पर परिणाम नहीं होता, तो फिर किससे होता है? भक्ति से ही मन पर परिणाम होता है। भक्ति शब्द आने के बाद, फिर जब भागवत में भक्ति शब्द आता है तब हमारे सामने दो ही बातें आती हैं- आरती और प्रसाद! हमारे घर में भक्ति चल रही है, यहाँ ऐसी भक्ति नहीं है! इस भक्ति से मन पर परिणाम नहीं होता। कितने ही लोग पूछते हैं कि बहुत समय से भक्ति कर रहे हैं, मगर हमारे मन पर परिणाम क्यों नहीं होता?' इसका एक ही उत्तर है," सच्ची भक्ति नहीं है इसलिए! तुम भगवान से विभक्त हो तो भक्ति कैसे होगी?

इसलिए प्रथम भावभक्ति की आवश्यकता है, वह चित्त एकाग्र करने से (*concentration* से) होती है। भावभक्ति के साथ ही दूसरी बात दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। भक्ति जीवन है, दृष्टिकोण है, स्थिति है, एक वृत्ति है। भक्त का स्त्री की ओर देखने का दृष्टिकोण जब बदल जाता है तभी कामविकार पर प्रभुत्व प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं! कामविकार पर प्रभुत्व तभी हो सकता है जब दृष्टिकोण बदल जाता है, चित्तैकाग्रता से मन पर परिणाम होता है। तप में ये दोनों बातें नहीं हैं। तप में कुछ सोचना भी नहीं है और कुछ चित्तैकाग्रता भी नहीं करनी है। तप भी भिन्न भिन्न-प्रकार के हैं। उनमें पंचाग्निसाधन है, कुछ क्रियाकाण्ड है, कुछ यज्ञ है, कुछ जप भी करने होते हैं। ऐसा भी होता है कि इधर जप चल रहा है और उधर मन है। पार्वती का वर्णन है- **'अपर्णा पार्वती दुर्गा मृडानी चण्डिकांबिका-'** वह खाना छोड़कर बैठ गयी थी। इस प्रकार के तप से मन पर कोई परिणाम नहीं होता, उससे मन प्रभावी नहीं होता, यह भागवतकार को सौभरि के रूप में दिखाना है। वह राजा के पास उसकी कन्या माँगने गया। इतना पागल आज बीसवीं सदी में भी देखने को नहीं मिलेगा। आज रोटी माँगने वाले बहुत होंगे परन्तु 'मुझे पत्नी दो।' ऐसा माँगनेवाला कोई नहीं मिलेगा। ऐसा कोई पागल होगा तो उसे पागलखाने *(Mental Hospital)* में ही भेज देना चाहिए। सौभरि इतना भान भूल गया कि मांधाता के पास उसकी लड़की माँगने गया। इतना वह कामहत बना था। उसका मन इतना बेकाबू बन गया था। मन को बदलने का काम भक्ति से होता है, तप से नहीं!

आज हम मानते हैं कि भक्ति से मन बदलेगा, परन्तु भक्ति का अर्थ क्या है? जप करना, उपवास करना अथवा नवरात्रि में रात भर गरबा खेलने जाना इतना ही अर्थ हम समझते हैं। भक्ति का परिणाम मन पर होना चाहिए, जीवन के दृष्टिकोण पर होना चाहिए। जीवन, वित्त, व्यक्ति, घर-गृहस्थी, कीर्ति इनकी ओर देखने के दृष्टिकोण को बदलने की आवश्यकता है। यह दृष्टिकोण बदलने का नाम भक्ति है। हमने तिलक लगाया है या नहीं,

यह स्वतंत्र बात है, परन्तु दृष्टिकोण बदला है या नहीं, अथवा बदलने की कुछ कोशिश चल रही है यह भक्ति में प्रथम बात है। जीवन का दृष्टिकोण बदलना चाहिए।

इसलिए चित्तैकाग्रता *(Concentration)* से की हुई भक्ति और दृष्टिकोण बदनले के लिए किये हुए परिश्रम से कामविजय हो सकती है। सौभरि यह बात समझ गया, उसने नारायणस्वरूप में लीन होने की इच्छा प्रदर्शित की और फिर भक्ति करके वह नारायण स्वरूप में लीन हो गया, ऐसा भागवत में लिखा है। जो तप से शक्य नहीं हुआ वह भक्ति से शक्य बना। वह भक्ति समझनी चाहिए। भगवान की तसवीर को एक फूल की माला चढ़ायी कि हो गयी हमारी भक्ति पूरी। यह भी स्वयं नहीं करते। सेठ को समय नहीं मिलता है इसलिए दुकान में रखी हुई भगवान की तसवीर को माला चढ़ाने के लिए किसी ब्राह्मण को रखा जाता है। वह आकर प्रतिदिन तसवीर को माला चढ़ाता है।

भक्ति का अर्थ यह है कि उसका मन तथा बुद्धि पर परिणाम होना चाहिए। मन पर परिणाम होने के लिए चित्त एकाग्र करके भक्ति होनी चाहिए और बुद्धि पर परिणाम होने के लिए उच्च साहित्य का स्वाध्याय होना चाहिए। गुजराती भाषा में तो प्रथम पाठ और फिर पूजा करने को कहते हैं। 'पाठपूजा' शब्द गुजराती में रूढ़ बन गया है। प्रथम पाठ-स्वाध्याय और फिर पूजा! जब तक पाठ नहीं होता है तब तक पूजा कैसे हो सकती है? पाठ-स्वाध्याय का महत्त्व है। आज के दिनों में नवरात्रि में तो घर-घर में पाठ होते ही हैं, परन्तु पाठ यानी स्वाध्याय! उसमें उच्च साहित्य की अपेक्षा है और वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

सौभरि के जैसा महान् तपस्वी, सामान्य तपस्वी नहीं, जो शरीर बदल सकता है ऐसा भागवत में वर्णन है। सोमवार के दिन एक वक्त खाना खानेवाला तपस्वी नहीं था वह। जिसने शरीर को बदल दिया ऐसा तपस्वी। वह काम से क्या से क्या हो गया था, वह भी भक्ति से पूरी तरह बदल गया। इसलिए भक्ति करनी चाहिए यह भागवतकार का आग्रह है। परन्तु भक्ति का अर्थ जब तक समझ नहीं पड़ता तब तक जीवन में कोई फर्क़ पड़नेवाला नहीं है। सच्ची भक्ति से ही जीवन बदलता है, उन्नत बनता है। भगवान को फूल की एक माला चढ़ा दी यानी भक्ति पूरी हुई ऐसा समझकर भागवत सुनने पर भी हम भक्ति नहीं समझे हैं। भागवत में तो भक्ति ही है।

कितने ही लोग कहते हैं, 'हम भक्ति माननेवाले लोग हैं, ज्ञान माननेवाले लोग नहीं है।' इसमें कौन भक्तिवाले और कौन ज्ञानवाले इसका पता ही नहीं चलता। क्या बिना ज्ञान के भक्ति हो सकती है? 'यह मेरी माँ है' जब तक यह ज्ञान नहीं होता तब तक उस पर प्रेम कैसे होगा व कैसे बढ़ेगा? जब तक प्रेम नहीं बढ़ता है तब तक भक्ति कैसे होगी? वैसे ही प्रेम और ज्ञान न हो तो उसके लिए कर्म कैसे हो सकता है? उसके लिए कर्म भी नहीं हो सकता। अतः कर्म, भक्ति और ज्ञान ये अलग-अलग विभाग नहीं हो सकते, जाने दीजिए! मूल बात यह है कि उच्च साहित्य की आवश्यकता है, तभी भक्ति समझ सकते हैं।

सौभरि ने तप किया, परन्तु चित्त एकाग्र नहीं किया और उच्च साहित्य का स्वाध्याय भी नहीं किया। उच्च साहित्य नियमित रूप से हर दिन पढ़ना चाहिए, उच्च विचार हर दिन सुनने चाहिए, उच्च विचारों के साथ सम्बन्ध रखना चाहिए। यह संभव नहीं हुआ तो सप्ताह में एक बार तो निश्चित रूप से सुनना चाहिए।

नवरात्रि में सरस्वती का पूजन करने को कहा है। नवरात्रि में महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती का पूजन करना होता है। सरस्वती-पूजन के लिए सारस्वतों को सोचना चाहिए कि कौनसा साहित्य लोगों के सामने रखना चाहिए। कामप्रधान साहित्य रखेंगे तो लोकप्रीति मिलेगी, वित्त भी मिलेगा। लोकप्रीति और वित्त ही प्रमुख बात होगी तो यह ठीक है, परन्तु समाज का अन्तिम कल्याण करने की दृष्टि होगी तो कामसाहित्य समाज के सामने रखने जैसी बेकार बात दूसरी कोई नहीं है। वह तो दुर्गंधयुक्त बात है। उच्च साहित्य निर्माण होना चाहिए।

सारस्वतों को सोचना चाहिए कि कौन सा साहित्य समाज के सामने रखना है। भारतीय लोगों ने सरस्वती कि ओर कौनसी दृष्टि से देखा है? वेदों में लिखा है कि सरस्वती मंजुल हास्य करनेवाली बाला नहीं है, मनमोहिनीमुग्धा नहीं है, वैसे ही विलासचतुरा प्रौढ़ा भी नहीं है। वह नित्य यौवना और स्तन्यदायिनी माँ है। ऐसे सारस्वत खड़े होने चाहिए और सरस्वती की ऐसी पूजा होनी चाहिए जिससे जीवन के प्रति, कर्तृव्य पर श्रद्धा निर्माण होगी व स्वकर्तव्य की स्मृति जाग उठेगी, मनुष्य की मेधा शुद्ध बनेगी और अन्तिम शान्ति प्राप्त होगी। सरस्वती की ऐसी श्रेष्ठता दुर्गा सप्तशती में है—

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।
या देवी सर्वभूतेषु स्मृतिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।
या देवी सर्वभूतेषु मेधारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।
या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

बहुत ही सुन्दर है सप्तशती। उसमें से दो-चार श्लोक मैंने बताये हैं। श्लोक चाहिए उतने बोलो परन्तु जीवन के लिए वे आवश्यक हैं और माँ समझकर सरस्वती के पास जाना चाहिए। ऐसी सरस्वती होनी चाहिए और उसका पूजन करनेवाले सारस्वत चाहिए, पूजन के योग्य पुस्तकें होनी चाहिए। जब तक सरस्वती का पूजन नहीं होता और सरस्वती को अपनी निजी क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिए इस्तेमाल किया जाता है तब तक सरस्वती की विडंबना ही होती है। जब तक सरस्वती की विडंबना चलती रहेगी तब तक मन और बुद्धि पर उसका परिणाम नहीं होगा। मन और बुद्धि पर परिणाम न होने से

सौभरि की क्या अवस्था हुई? अरे! सौभरि तो तपस्वी था, परन्तु आज एक भी तपस्वी नहीं है और सभी लोग दृश्य देख रहे हैं, कामचेष्टाएं दिखाने की कोशिशें चल रही हैं और उनके पीछे ही सब प्रयत्नशील हैं।

सौभरि की कथा दो बातें समझाती है। उच्च सारस्वत निर्माण होने चाहिए और असली भक्ति खड़ी होनी चाहिए। केवल तप करना पर्याप्त नहीं है। आज तथाकथित तपस्वियों को सुनने, पढ़ने या अध्ययन करवाने की आवश्यकता ही नहीं लगती। इतना ही नहीं उनको बाल कटवाने की फुरसद भी नहीं मिलती इसलिए जटाएं बढ़ाते हैं। ये लोग कुछ पढ़ते नहीं और उनको चित्त एकाग्र करके भक्ति करने की कल्पना भी नहीं है।

इस समय नवरात्रि के, नवदुर्गा, सरस्वती पूजन के दिन चल रहे हैं। हम भगवान के पास माँगते हैं कि भगवान! हमारी आँखों के सामने सच्ची सरस्वती खड़ी रहेगी तो हमारी दृष्टि बदलेगी, ऐसी सरस्वती के लिए समाज में रुचि पैदा होनी चाहिए।

नवम स्कन्ध में विविध कथाएं हैं। जो लोग सुसूक्ष्म अभ्यास करनेवाले हैं उनके लिए कहता हूँ कि समाज पुनर्रचना *(Reconstruction)* जिस काल में कर रहे हैं उस काल में समाज की पुनर्रचना के लिए अतिशय मार्गदर्शक कोई होगा तो भागवत का यह नवम स्कन्ध है।

आज हम लकीर के फकीर बन गये हैं। इसके कारण सामाजिक जीवन में कचरा घुस गया है। पुराने समय में सामाजिक जीवन में कितना उदार दृष्टिकोण *(broad outlook)* रखा जाता था इसकी कल्पना इस नवम स्कन्ध से आती है। नवम स्कन्ध का अतिशय महत्त्व है। हमें वह प्रकरण लेना ही पड़ेगा। उसमें सौभरि, मांधाता, महान् भगवद्भक्त अम्बरीष और नाभाग की कथाएं हैं। उसके बाद इस स्कन्ध में दूसरी एक महत्त्वपूर्ण बात है, वह है प्रभु रामचंद्र का अवतार! उनकी कथा इसी स्कन्ध में आती है।

स्वर्ग से गंगा को इस पृथ्वी पर लानेवाले सगर राजा की कथा भी इसी स्कन्ध में है। सगर का चरित्र भिन्न ही है। सगर की माँ जब गर्भवती थी तब उसको उसकी सौतों ने अन्न के साथ विष खिलाया, परन्तु वह नहीं मरी, उसे पुत्र हुआ। वह गर यानी विष के साथ पैदा हुआ इसलिए उसका नाम सगर पड़ा। उसकी माँ को गर्भावस्था में विष क्यों दिया गया इसका कारण राजनीतिक है।

सगर के वंश में अंशुमान हुआ। अंशुमान का पुत्र दिलीप और दिलीप का पुत्र भगीरथ। यह भगीरथ ही स्वर्ग से गंगा को पृथ्वी पर लाया। भगीरथ ने तपश्चर्या की और सगरपुत्रों का उद्धार किया, ऐसी भागवत में कथा है।

भगीरथ ने विचार किया कि सगर-पुत्रों के उद्धार के लिए मैं जब गंगा को पृथ्वी पर लाऊँगा तब उसके वेग को कौन संवरण करेगा? उसके वेग को नियंत्रित नहीं किया गया तो पृथ्वी खत्म हो जायेगी। भगीरथ ने भगवान शंकर को तपश्चर्या करके प्रसन्न कर लिया। भगवान शंकर ने प्रसन्न होकर कहा कि सारे समाज का कल्याण होता हो तो मैं गंगा को

स्वर्ग से आते हुए मेरे सिर पर जटाओं में पकड़ लूँगा और बाद में शनैः शनैः पृथ्वी पर छोड़ दूँगा जिससे पृथ्वी का कोई नुकसान नहीं होगा और लोगों को भी गंगा का उपयोग होगा।

गंगा को भगीरथ पृथ्वी पर लाया है इसमें शंका नहीं है। इसीलिए तो भारत की लगभग सभी भाषाओं में 'भगीरथ प्रयत्न' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। भगीरथ ने जो प्रयत्न किये हैं उनके सामने सिर झुक जाता है। भगवान शंकर की जटा से निकली हुई और भगवान विष्णु के पदकमल को स्पर्श करने वाली गंगा बीच के लाखों एकड़ भूमि को **सुजलां सुफलाम्''** बनाती है। कितने ही जीवों को जीवन देती है। ऐसी गंगामैया का दर्शन करने से जी भर आता है। गंगा ने सगरपुत्रों का उद्धार तो किया ही है, परन्तु हम भी गंगा के सम्बन्ध में सोचेंगे विचार करेंगे तो हमारा भी उद्धार हो जायेगा इसमें सन्देह नहीं है। ऐसी गंगा है।

जगन्नाथ बहुत प्रभावी और प्रखर पंडित थे। उनके जैसा विद्वान कोई हुआ ही नहीं। ऐसा एक भी शास्त्र नहीं है कि जिस पर उन्होंने अधिकृत रूप से नहीं लिखा। ऐसे जगन्नाथ पंडित, श्रीमद् वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विठ्ठलनाथ जी की लड़की का पुत्र! योगशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, जैसे शास्त्रों पर उनके प्रमाणभूत ग्रंथ हैं। उन्होंने **'रसगंगाधर'** लिखा है। उसमें दूसरों के ग्रंथों में से कुछ नहीं लिया है। केवल खण्डन करने के लिए दूसरे ग्रंथ के प्रमाण लिये होंगे। शेष सब स्वयं ही स्वतंत्र रीति से लिखा है। सभी रसों का आविष्कार करना सामान्य बात नहीं है। उनका लेखन जिन्होंने पढ़ा होगा उन्हींको पता चलेगा। ऐसे जगन्नाथ पंडित गंगामैया की प्रार्थना करते हैं —

समृद्धं सौभाग्यं सकलवसुधायाः किमपि तत्
महैश्वर्यं लीलाजनितजगतः खण्डपरशोः।
श्रुतीनां सर्वस्वं सुकृतमथमूर्तं सुमनसां
सुधासौन्दर्यं ते सलिलमशिवं नः शमयतु।। (गंगालहरी/१)

(सम्पूर्ण पृथ्वी का अवर्णनीय समृद्ध सौभाग्य, भगवान विष्णु द्वारा सरलता से निर्मित जगत् का महैश्वर्य, श्रुति का सर्वस्व देवों का पुण्य और अमृत का सहोदर ऐसा तेरा जल हमारे अकल्याण-अमंगल का शमन करे!)

तेरा जल मेरा पाप धो डाले- ऐसी मांग जगन्नाथ पंडित गंगामैया से करते है, 'मैं पापी हूँ। तू मेरा पाप धो डाल।' उसने बावन श्लोक गाये हैं। कथा ऐसी है कि उसकी प्रार्थना सुनकर गंगामैया बावन सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आयी और उसने जगन्नाथ को अपने में समा लिया। इन बावन श्लोकों की रचना का ही नाम है **गंगालहरी।**

संस्कृत वाङ्मय में पवित्र करनेवाला जो वाङ्मय है, उसमें से एक 'गंगालहरी' है। जगन्नाथ कहते हैं, 'मां! तेरा जो जल है, उसके सामने हम हमारा सिर झुकायेंगे तो उसमें से अमंगल नष्ट हो जायेगा।' ऐसे बावन श्लोक उनके मुँह से निकले हैं। सच कहा जाय

तो ये श्लोक उनके मुँह से नहीं अपितु हृदय से निकले हुए हैं। वैसे ही ये श्लोक उसके मस्तिष्क से भी नहीं निकले हैं। जो मस्तिष्क से निकलता है उसका परिणाम नहीं होता। जो हृदय से निकलता है उसका परिणाम होता है। हृदय के साथ मस्तिष्क अवश्य होना चाहिए। गंगालहरी एक चिरन्तन पवित्र काव्य है। उसको काव्य कहना भी बेकार है, उसको 'मन्त्र' ही कहना चाहिए। वह सुनकर ही गंगामैया बावन सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आयी और जगन्नाथ पंडित को ले गयी।

इस गंगामैया को देखकर गढ़वाली गीत **शिवजी की जटा छोड़ी बगदी जो आई, हिमवंती गुणवंती मेरी गंगामाई..** याद आता है।

जगन्नाथ पंडित कहता है, **समृद्धं सौभाग्यं...** मां! तेरा सकल विश्व का समृद्ध सौभाग्य है इसमें शंका नहीं है। दूसरा कुछ न हो तो भी चल सकेगा परन्तु बिना जल के तनिक भी नहीं चलेगा। जल तो चाहिए ही। संस्कृत भाषा में जल के लिए 'जीवन' शब्द है। अर्थात् जल जीवन है, इतना ही नहीं, अपितु भक्तों की दृष्टि में वह प्रभु की करुणा है। सामान्यों की दृष्टि में जल जीवन है। बिना अन्न के चल सकता है परन्तु बिना जल के नहीं चलता। इसीलिए जल के लिए 'जीवन' शब्द है। **तज्जलान्-** पानी में प्रभु हैं। हमारे उपनिषद् का ऋषि जल को देखकर पागल बना, इतना ही नहीं ग्रीकों का थेल्स भी पागल बना। ग्रीक संस्कृति, ग्रीक तत्त्वज्ञान जिन्होंने पढ़े होंगे उनको पता होगा कि ग्रीक तत्त्वज्ञान थेल्स से ही प्रारंभ होता है। थेल्स पानी में ही प्रभु मानता था।

भक्तों की दृष्टि में जल प्रभु की प्रेम-करुणा है। यहाँ **'समृद्धं सौभाग्यं'** कहा गया है। सौभाग्य में भी अलग अलग बातें आती हैं। जगन्नाथ गंगा को केवल भारत का ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व का- **सकलवसुधायाः-** संपूर्ण सौभाग्य मानते थे। इसलिए उसमें जाकर स्नान करके पाप धोकर आये, फिर से पाप करने को तैयार! परन्तु जो गंगा की असली रूप में पूजा करते हैं उनकी बुद्धि में पाप आयेगा ही नहीं। ऐसी गंगामैया है।

माँ! तेरा समृद्ध सौभाग्य ऐसा है कि उसका वर्णन करने में भाषा चलती ही नहीं! भाषा में उसका वर्णन नहीं हो सकता।

फिर कहते हैं, **महैश्वर्यं लीलाजनित जगतः खण्डपरसोः** यह किसकी लीला है? महेश्वर की लीला है। क्योंकि शिव ने ही गंगा को जटा में रखा था न? और शनैः शनैः छोड़ दिया था।

महैश्वर्य लीला- माँ तू ही महद् ऐश्वर्य है। पावित्र्य, सौन्दर्य, आकर्षकता और अलौकिकता ये चारों गुण गंगामैया में हैं।

गंगा में सौन्दर्य है। सौंदर्य देखने के लिए भी मनुष्य के पास सौन्दर्य की दृष्टि *Aesthetic View* होनी चाहिए। केवल गंगा के तट पर जाकर पानीपुरी खाकर वापस आयेंगे तो नहीं चलता। किसी से पूछो कि हरिद्वार में क्या मिलता है? तो वह कहेगा,

पानी-पुरी मिलती है। हरिद्वार में गंगा मिलती है ऐसा लोग नहीं कहते। पानी-पुरी मिलती है ऐसा कहते हैं।

पावित्र्य, सौन्दर्य, आकर्षण और अलौकिकता यानी गंगा। 'गंगा' शब्द बोलते ही लगता है कि उसके तट पर चलें जाएं। जिसने गंगा पर प्रेम किया है उसको तो ऐसा लगता ही है। गंगा में पवित्रता है। पवित्रता बहुत बड़ी बात है। 'गंगा' शब्द बोलते ही अपवित्र विचार चले जाते हैं। अपवित्र जीवन ही समाप्त हो जाता है, जीवन में से अपवित्रता चली जाती है।

महैश्वर्य लीलाजनित जगतः खण्डपरशोः- भगवान, शिव ने उसको अपने सिर पर धारण किया है और शिव का परशु खंडित है। वह परशु मार भी सकता है और नहीं भी मार सकता है। क्यों नहीं मार सकता? **'नमः शान्ताय तेजसे'** यह उसका रूप है। भगवान ही मारने लगे, काटने लगे तो हम बचेंगे ही कैसे? और भगवान लाड़ करने लगेंगे तो हमारा उद्धार कैसे होगा? उसको शान्त ही रहना पड़ता है। परन्तु बेवकूफ जैसे शान्त नहीं! वे तेजस्वी भी हैं। वे शान्त व तेजरूप हैं।

श्रुतीनां सर्वस्वं- श्रुति को, वेदों को जो कहना है वही गंगा कहती है। वेदों के दो महान् सिद्धान्त हैं। एक भगवान ही सत्य हैं, शेष सब असत्य हैं। शिवलिंग उसका ही प्रतीक है। **'एकं अन्यत् शून्यम्।'** शिवलिंग की हम पूजा इसीलिए करते हैं। लोग उसमें अश्लीलता लाते हैं। 'लिंग' शब्द का अर्थ ही लोगों को मालूम नहीं है। **'लिङ्ग'** अर्थात् चिह्न! लोग संस्कृत का ठीक तरह से अभ्यास नहीं करते। स्वयं संस्कृत भाषा में कमजोर होते हुए भी संस्कृत लेखन का अर्थ करने लगते हैं, छपवाते भी हैं। उनको छापनेवाले भी मिल जाते हैं। बेवकूफी सर्वत्र है न? 'लिंग' का अर्थ है, चिह्न। एकम् और अद्वितीय **एकमेवाद्वितीयम्**। एक और अद्वितीय ब्रह्म है, शेष सब शून्य है। **अन्यत् शून्यम्।** भगवान सत्य हैं यह वेदों का प्रथम सिद्धान्त है। वेदों को क्या कहना है? क्या समझाना है? कहाँ ले जाना है उनको? एक ही बात समझानी है- भगवान सत्य हैं। सत्य नारायण!

वेद दूसरी बात यह समझाते हैं कि बातें न करते हुए काम करना चाहिए। तभी उद्धार है। उसीको कहते हैं- **निष्काम कर्मयोग।**' 'भगवान सत्य हैं' यह सिद्धान्त हुआ। भगवान के पास जाने का मार्ग निष्काम कर्मयोग है यह गीता ने समझाया है। ये दो बातें वेदों को कहनी हैं। वेद इन बातों को अलग-अलग रूप में जैसा जिसका अधिकार होता है वैसी भाषा में समझाते हैं। वेदों को अन्तिम बात यही समझानी है कि भगवान सत्य हैं और बातें न करते हुए काम करके उनके पास जाना है।

श्रुतीनां सर्वस्वं- गंगा-मैया-आवाज न करती हुई काम करती है। इतना काम करती है पर कहीं आवाज नहीं करती। आप उसके पास जायेंगे तो वह मिलती है, नहीं जायेंगे तो उसको अफसोस नहीं है। वह किसी दिन अफसोस नहीं करती है कि मुंबई का छगनभाई मिलने नहीं आया। बिना आवाज किये ही वह काम करती है। वेदों का यही सिद्धान्त है।

हम तो काम शुरु करने के पहले ही कितनी बातें करते हैं! हमारा पहले योजना और बड़ी बातें! लोग आकर पूछते हैं, "आप का प्लैन *(Plan)* क्या है? तनिक बताओ तो! 'अरे भाई! वहाँ जाओ और देखो तो पता चलेगा।' बिना बोले काम किया तो वह भक्ति होती है। काम करने के बाद बोलना भक्ति और काम करने से पहले बोलना शेखी होती है। पहले ही बातें न करो!

सुकृतमयमूर्तं सुमनसाम्- 'माँ!' जो पुण्यशील लोग होंगे, उनका जो सुकृत होगा वह तुम हो। सभी ऋषियों का साकार न बना हुआ पुण्य माँ! तुम हो।' यह गंगा की महत्ता है। जल तो अनेक स्थानों में होता है। हमारे नल में भी पानी आता है। यह जल क्या शैतान ने निर्माण किया है? गंगा का जल यानी ऋषियों का साकारित पुण्य!

सुधा सौन्दर्यं ते। सुधा अमृत को कहते हैं। उस अमृत की तू सगी बहन है। **सलिलमशिवं नः शमयतु-** तेरा ऐसा पवित्र जल हमारा पाप नष्ट करे, हमारे जीवन में जो कचरा है वह तू स्वच्छ कर!

गंगालहरी के बावन श्लोक अलौकिक हैं। **दरिद्राणां दैन्यं दुरितमथ दुर्वासनद्रुतं दूरी कुर्वन्...** और आगे कहते हैं- **अपि प्राज्यं राज्यं तृणमिव परित्यज्य सहसा....** इतना ही नहीं, **परिहसति निर्वाणपदवीम्**-...नौकरी, व्यापार पैसा जाने दे तेरे सामने मेरा प्राज्य राज्य तुच्छ लगता है। तेरे सामने प्राज्य राज्य का भी कोई मूल्य नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न है कि सगरपुत्र भगीरथ आकाश से गंगा नीचे लाये। यह तो आकाश में से गंगा आयी हो ऐसा लगता है? हम तो गंगा का मूल-गंगोत्री का दर्शन कर आये हैं। तो फिर गंगा आकाश में से आयी इसका क्या अर्थ है? आकाश तो सर्वव्यापी है। आकाश में से गंगा आयी यानी ऊपर से नीचे आयी यह समझ सकते हैं। तो फिर बीच में शिवजी को लाया होगा। गंगा का जल नहर द्वारा लाया और उसका उपयोग किया। इसमें समय तो लगा ही है। हमें स्वतंत्रता मिली तबसे हम वर्षों से जप करते रहे हैं कि नर्मदा का जल सौराष्ट्र और कच्छ में लायेंगे। व्यर्थ जानेवाले जल का उपयोग करेंगे। इसमें एकाध पीढ़ी समाप्त हो गयी, परन्तु अब तक कुछ हुआ ही नहीं। हमारे *Plans* अभी तक स्वीकृत होने के हैं। ऐसा ही भगीरथ को लगा होगा कि गंगा का जल, वीरान प्रदेश में उपयोग में लाऊँगा। वह लाने में पीढ़ियों का समय लगा होगा। नहर बनवाने में समय तो लगता ही है। उस समय भी दो-तीन राज्यों में से गंगा बहती होगी। उनके प्रश्नों का हल आते आते ही दो-तीन पीढ़ियाँ-अंशुमान, दिलीप और भगीरथ- लगी होगी। नर्मदा के जल के वितरण में इतना समय लगा, उसमें आश्चर्य क्या है? कुछ लोग कहते हैं कि उसी बात में अद्‌भुतता लाने के लिए शिवजी को बीच में लाया होगा। उसमें समय लगा यह बात ठीक है, परन्तु बीच में शिवजी को लाने का कोई अर्थ नहीं है।

नदी का जल उपयोग में लाने के लिए बाँध बनाना हो तो अनेक गाँवों का स्थलान्तर करना पड़ता है, नुकसान उठाना पड़ता है। लोगों के भव का कल्याण देखना हो

तो आज का नुकसान तो सहन करना ही पड़ता है। आज लोग भविष्य का कल्याण न देखकर आज का नुकसान ही देखते है और चीखने-पुकारने लगते हैं। उनको दूरदृष्टि ही नहीं होती। बुद्धि भी नहीं होती और शक्ति भी नहीं। ऐसे लोग कहते हैं कल का कल की पीढ़ी देखेगी, हमें कल का देखने की कोई आवश्यकता नहीं है, आज का देखो! इस प्रकार के विवाद में नहर निकालने में विलंब हुआ होगा तो फिर बीच में शिवजी को लाना बेकार है। अत: अद्‌भुतता लाने के लिए बीच में शिव को लाया गया होगा।

गंगा को आकाश में से लाना अद्‌भुत लगता है क्योंकि हम गंगा का उद्गमस्थान देखकर आये हैं, वहाँ उसको नमस्कार कर आये हैं। गंगा ऊपर से आयी है यह अद्‌भुतता है, शंकर भगवान ने उसको अपनी जटा में धारणकर शनैः शनैः छोड़ दिया यह भी अद्‌भुतता है। गंगा जगन्नाथ पंडित के लिए बावन सीढ़ियां चढ़कर ऊपर आयी और उसे मुक्त कर गयी यह तीसरी अद्‌भुतता है। वहाँ के लोग यह अद्‌भुतता देखकर क्या गंगा को नमस्कार न करें और मुक्त न होंगे? ऐसा होता तो कोई उपाध्याय, मिश्रा नहीं रहते। सभी मुक्त हो जाते। ये सब अद्‌भुतताएं कथा में अच्छी लगती हैं। परन्तु उस पर सोचेंगे तब पता चलेगा कि भागवतकार को गंगावतरण की कथा द्वारा कुछ भिन्न ही कहना है।

आज का युग अणु *(Atom)* का युग है। जिस प्रकार अणु *(Atom)* को फोड़कर वैज्ञानिकों ने शक्ति देखी वैसे ही 'गंगा' शब्द को भी फोड़कर देखना है। **'गंगा'** शब्द की व्याख्या है: **'गम्यते नाम प्राप्यते भगवत् पदम् येन सा गङ्गा।'** गंगा का नाम कैसे पड़ा? जिस प्रकार रामचन्द्र नाम नहीं था। लोगों को राम चंद्र के जैसा लगा इसलिए लोगों ने बना दिया जोड़ शब्द और नाम हुआ 'रामचन्द्र'। वास्तव में उसका नाम था **'राम' रमन्ते योगिनः अस्मिन् इति रामः।'** योगी जिसमें लीन होते हैं वह राम! और लोगों को वह चंद्र जैसे लगा इसलिए रामचन्द्र नाम पड़ा और प्रचार में रामचन्द्र ही नाम है।

इसी प्रकार **गम्यते प्राप्यते भगवद्पदम् येन सा गंगा।** जिस प्रेमप्रवाह को पहचानने पर भगवद्पद मिलता है, जिस प्रवाह के किनारे पर बैठने से भगवद् प्रवाह मिलता है। यह प्रेमप्रवाह कौन सा है? चौबीस घण्टे अपने शरीर में चलनेवाला एक प्रेम-प्रवाह है। पैर के अंगूठे से लेकर मस्तिष्क तक वह प्रेमप्रवाह चलता है। एक चेतन *(consciousness)* का प्रवाह है और दूसरा प्रेमप्रवाह है। यह जो प्रेमप्रवाह है उसको पहचानेंगे, उसके तट पर बैठकर उसको समझ लेंगे तो पता चलेगा कि प्रत्येक मनुष्य के पास गंगा है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य पवित्र माना गया है। भारत में जन्म लिया हुआ कोई भी मनुष्य अपवित्र नहीं है। वह अस्वच्छ होगा, असंस्कृत, अनपढ़ होगा मगर अपवित्र नहीं। इसका कारण उसके हृदय में प्रभु का वास्तव्य है। गीता में भगवान ने कहा है, **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः।'** अत: मनुष्य अपवित्र नहीं है।

इस प्रेमप्रवाह को गंगा कहते हैं। जिस प्रवाह को पहचानने के बाद, उसके तट पर बैठने के बाद, उसका स्पर्श हो जाने के बाद व्यक्ति पवित्र बन जाता है, इतना ही नहीं,

'भगवद् पदम् प्राप्यते' भगवद्रूप बन जाता है, भगवान का जो प्रेमप्रवाह अपने भीतर चल रहा है उसीको गंगा कहते हैं। इसमें कोई अद्‌भुतता नहीं है।

अब, यह जो प्रेमप्रवाह है उसे शिवजी को क्यों धारण करना पड़ा? शिवजी को धारण करना पड़ता है। शिव ज्ञान के देवता हैं। हम समझते हैं कि अनेक अलग-अलग देवता ऊपर हैं, उनका अलग-अलग राज्य है। यदि ऐसा होता तो सारा विश्व ही समाप्त हो जाता। यदि शिव विष्णु के साथ व विष्णु शिव के साथ लड़ते होंगे तो हमारा क्या होगा? शिव ज्ञान के देवता हैं। जिस शुद्ध चैतन्य ने इस जगत् का निर्माण किया, जो इसको चलाता है उसकी जो परिपूर्ण-विशुद्ध ज्ञानावस्था है उसीको शिव कहते हैं। **'चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।'** वही अन्तिम कल्याण है। ज्ञान आने पर जीवन शुरु हो जाता है, चाह-अनचाह *(Likes-dislikes)* शुरु हो जाते हैं। एक भिन्न ही प्रवाह निर्माण हो जाता है। शिव ने गंगा को अपने सिर पर धारण किया इसमें जो अद्‌भुतता लगती है वह कौन सी अद्‌भुतता है? वह जो प्रेमप्रवाह है उसको विवेक ने पकड़ रखा है। विवेक यानी ज्ञान! विवेक-ज्ञान जागृत होने के बाद ही वह मिलता है, विवेक होगा तभी वह पचाता है। 'मुझमें भगवान हैं' यह समझते हैं परन्तु उसको विवेक-ज्ञान यानी शिव नहीं पकड़ेंगे तो क्या होगा? उल्टा-सीधा हो जायेगा। विवेक जागृत होने पर ही ज्ञान मिलता है। यह प्रथम बात है और विवेक होगा तभी वह पचेगा यह दूसरी बात है। अन्यथा रोग पैदा होगा। मनुष्य में विवेक न हो और उसके काम में 'मुझमें भगवान हैं' ये शब्द आयेंगे व भगवान उनको नहीं पकड़ेंगे तो ऐसा लगेगा कि मुझे अब कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि विवेक नहीं है। वैसे ही 'भगवान मुझमें हैं' तो इस शरीर द्वारा जो कुछ होता है उसका उत्तरदायित्व भी मुझ पर नहीं है यह दूसरी बात आ जायेगी। उसको कोई पूछता है कि ऐसा वर्ताव क्यों करता है? तो वह कहेगा, 'यह सब भगवान करते हैं, अत: उसका उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं है!'

उसको किसी ने पूछा कि 'भाई! तू पशु से मानव बना है तो विकास करके मनुष्य से भगवान बनना है या नहीं?' तब वह उत्तर देता है कि यह काम मेरा नहीं है, यह उत्तरदायित्व मेरा नहीं है इसलिए भगवान को कहना पड़ा कि **सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः** मैं सबके शरीर में बैठा हूँ ऐसा जब मैं कहता हूँ तब यह समझना चाहिए कि प्रत्येक के शरीर में, उस जीव का जैसा विकास होगा उसके अनुसार मेरी भूमिका **'उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः-** अनुक्रम से बदलती रहती है। संक्षेप में विवेक-ज्ञान न हो तो प्रथम बात यही खड़ी होती है कि 'मुझे कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, दूसरी बात यह आती है कि 'उत्तरदायित्व मेरा नहीं है और जो कुछ बुरा होता है वह उसकी प्रेरणा से होता है और अच्छा होता है तो वह मेरी प्रेरणा से होता है' यह तीसरी बात आ जाती है। 'जो कुच्छ बुरा होता है वह उसकी प्रेरणा से व उसकी इच्छा से हो रहा है' ये बातें यदि जीवन में आ गयीं तो सब समाप्त!

भगीरथ को गंगा लानी थी- यानी ऊपर बैठे हुए भगवान को नीचे लाना था, हमारे साथ बिठाना था, 'भगवान तेरे साथ हैं, तुझमें हैं' यह कहना था। परन्तु यह कहते समय,

मनुष्य में यदि विवेक नहीं होगा तो ज्ञान नहीं होगा और वह पचेगा भी नहीं। भगीरथ ने शिव जो ज्ञान के देवता हैं- से गंगा को धारण करने की प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना सुनकर भगवान शिव ने गंगा को धारण कर लिया। उसके बाद, यह ज्ञान होने के बाद गंगा बावन सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आयी, किसलिए? जगन्नाथ पंडित धीरे-धीरे समझकर ऊपर चले गये।

परन्तु यह अद्भुतता किसलिए? गंगा आकाश से आयी है। हमें तो गंगा के उद्गम-गंगोत्री का पता है। गंगा को शिव ने धारण कर रखा है यह दूसरी अद्भुतता है। अभी-अभी तीन-चार सौ साल पूर्व जगन्नाथ पंडित के लिए गंगा बावन सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आयी होगी तो क्या उस समय काशी के लोगों ने यह चमत्कार देखा नहीं होगा? गंगा जगन्नाथ को ले गयी और उसकी मुक्ति हो गयी यह तीसरी अद्भुतता है। इसलिए 'गङ्गा' का अर्थ समझना चाहिए।

यह प्रेमप्रवाह सम्पूर्ण वसुधा का सौभाग्य है। व्यक्ति को देखो, प्रकृति को देखो, सभी में सौन्दर्य भरा हुआ है। शीशे में अपना मुख देखेंगे तो वह सौन्दर्य से भरा हुआ दिखाई देता है, प्रकृति में सर्वत्र सौंदर्य है। किसका सौंदर्य है? बादल सुन्दर हैं, कौआ भी सुन्दर ही है, मोर को देखो वह भी सुंदर है। सभी में सौन्दर्य है, भिन्न भिन्न सौन्दर्य है। यह सब सौन्दर्य भगवान ने भरा है। यह सब करके भगवान हमारे भीतर आकर बैठे हैं इसीलिए तो हमारा जीवन चलता है। यह भगवान की लीला है।

यह सृष्टि किसने बनायी और क्यों बनायी? यह हमारे सामने प्रश्न है। जिसे ज्ञान हुआ है, उसे यह प्रश्न नहीं है कि यह सृष्टि क्यों? यह दु:ख से भरी हुई सृष्टि उसने क्यों निर्माण की है? किसलिए बनायी है? इसीलिए तो गीता है। अर्जुन कहता है, **स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव-'** अब मैं दृढ़ नींव पर खड़ा हूँ, अब मैं विचलित नहीं होऊँगा।'

'भगवन! आपमें सौन्दर्य है, शक्ति है। आपका जो बड़प्पन है वह न क्षमा है न ऐश्वर्य। क्षमा या ऐश्वर्य आपका बड़प्पन ही नहीं है। तो कौन सा बड़प्पन है आपका? आप मुझ पर प्रेम कर रहे हैं यही आपका बड़प्पन है। भगवान! आपकी शक्ति, विवेक समझने की ताकत मुझमें नहीं है। मुझमें 'शिव' जागृत नहीं होता। मैं शिव का उपासक नहीं हूँ।' प्रथम शिव (ज्ञान) का उपासक बनो फिर विष्णु बनो। विष्णु यानी व्यापक! जो जो मुझे मालूम है वह सबको कहता जाऊँगा। **'जे जे आपणांसी ठावें ते ते दुसऱ्याशी शिकवावे-शहाणे करूनी सोडावे सकल जन।'** जो कुछ मैं जानता हूँ उसको व्यापक बनाऊँगा। यह विष्णु की उपासना है।

गंगा का जो प्रेमप्रवाह है उसके बीच में यदि शिव (ज्ञान) नहीं होंगे तो वह प्रवाह पचेगा नहीं! प्रेम का ज्ञान नहीं होगा तो ज्ञान नहीं पचेगा। 'भगवान मेरे साथ हैं' इस ज्ञान के साथ विवेक नहीं होगा तो मुझे कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, उत्तरदायित्व मेरा

नहीं है और जो होता है वह उसीकी इच्छा-प्रेरणा से होता है, ये तीन बातें एकत्रित हो जायेंगी तो मनुष्य समाप्त हो जायेगा। इसलिए विवेक (ज्ञान-शिव) चाहिए। इसीलिए 'शिव' को बीच में लाया है।

श्रुतीनां सर्वस्वं- श्रुति को अन्त में क्या कहना है? गीता में भगवान को क्या कहना है? **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः**- मैं सबके हृदय में बैठा हूँ।' सर्वत्र भगवान हैं तो वे मुझे छोड़कर थोड़े ही हैं? हम सर्वत्र भगवान हैं ऐसा मानते हैं, मगर स्वयं अपने को छोड़कर! क्या मुझे छोड़कर भगवान रहेंगे? नहीं। श्रुति को क्या कहना है? 'तू समर्थ है, पुण्यवान है, तू ईश्वर है' यही श्रुति का कहना है! अरे! मनुष्य ऐसा विचार सुनेगा, सोचेगा तो जो मुर्दे जैसा होगा वह भी खड़ा हो जायेगा। उसे लगेगा, मैं समर्थ हूँ, ईश्वर हूँ, पुण्यशाली हूँ।'

पुण्य के भी प्रकार होते हैं। एक पुण्य से सुख-समृद्धि मिलती है। दूसरा एक विशेष पुण्य होता है जिससे खुशी, सुख-समृद्धि आती है, उसके साथ वह मनुष्य से प्रभु का काम कराता है। हमारे पास सुख-समृद्धि है, मगर हमारा प्रभु की ओर झुकाव नहीं है, प्रभु के कार्य की ओर झुकाव नहीं है। समझो कि आपका गत जन्म का सामान्य पुण्य होगा तो आप प्रभु की ओर नहीं मुड़ेंगे। यदि आप में विशेष पुण्य होगा तो आप प्रभु की ओर-प्रभुकार्य की ओर आकर्षित हो जायेंगे। तीसरा एक महान् पुण्य है। वह आपको सुख-समृद्धि तो देगा ही, प्रभु कार्य भी करायेगा, साथ साथ भगवान का यह जो प्रेमप्रवाह है उसकी पहचान भी करायेगा। उसीको **'सुकृतमथ मूर्तं सुमनसां-'** कहते हैं। अतः बीच में शिव आये हैं इसमें कोई अद्भुतता नहीं है।

'मुझमें भगवान बैठे हैं' यह समझने के लिए भगीरथ को तीन पीढ़ियों तक काम करना पड़ा होगा। भगीरथ भाग्यशाली कहा जाता है कारण तीन पीढ़ियों में वह काम हुआ, अन्यथा दस-दस पीढ़ियों तक प्रयत्न करते रहने पर भी यह विचार समाज में दृढ़ नहीं होता है। मनुष्य को ऐसा लगता है कि कतार में खड़ा रहकर भी मुझे मिट्टी का तेल नहीं मिलता तो मुझमें भगवान हो ही कैसे सकते हैं? उसे किसी ने कहा कि तुझमें भगवान हैं तो वह विचार उसकी बुद्धि में उतरता ही नहीं। कदाचित् उतरा तो पचेगा नहीं। तो फिर ऐसा काम करने के लिए पीढ़ियों तक का समय लगेगा या नहीं? निश्चित लगेगा। भगीरथ ने अथक परिश्रम करके सगरपुत्रों को मुक्ति दिलायी इसमें कोई अद्भुतता नहीं है।

यह जो प्रेमप्रवाह है वह पैर के अंगूठे से लेकर मस्तिष्क तक चौबीसों घंटे अस्खलित *(Non stop without holiday)* चलता रहता है। उसमें छुट्टी का दिन नहीं है। मुझे किसी ने पूछा, 'कौनसा दिन अच्छा है?' मैंने कहा, 'जब तक तू जीवित है तब तक प्रत्येक दिन अच्छा, पवित्र *(Holy)* ही है। इसलिए *holiday* व *holy-day* अलग बात है। 'जब तक मैं जीवित रहता हूँ तब तक मेरे लिए प्रत्येक दिन *holy-day* ही है। इसलिए

यह गंगामैया का प्रेमप्रवाह पवित्र है। भारत में यदि कुच्छ है तो यह सिद्धान्त ही है, इसे विश्व में ले जाना है। यही सिद्धान्त विश्व को प्रकाश देगा, जब तक यह प्रकाश नहीं आता तब तक नहीं चलेगा।

गम्यते प्राप्यते भगवत्पदं येन सा गंगा-' जिससे भगवत्पद, ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है वह गंगा है। स्वर्ग में से गंगा आयी, उसको शिव ने धारण किया और फिर धीरे धीरे पृथ्वी पर छोड़ा इसका अर्थ यह है कि भगवान के प्रेमप्रवाह को पहचानना चाहिए। केवल 'मुझमें भगवान बैठे हैं' इस समझ से विकृति पैदा होगी इसलिए बीच में शिव आये। शिव विवेक व ज्ञान की मूर्ति हैं। इसका अर्थ यह है कि विवेक जागृत होने के बाद प्रेमप्रवाह मिलता है इस समझ से क्रियाशील शक्ति का चक्र *(wheel of creative energy)* समाप्त हो जाता है।

जो धर्म और अध्यात्म जीव की क्रियाशील शक्ति का चक्र खत्म करता है वह धर्म और अध्यात्म त्याज्य है ऐसा भारतीय संस्कृति ने माना है। मनुष्य की क्रियाशील शक्ति *(creative energy)* को काम में लगाना चाहिए। 'मनुष्य में भगवान हैं' यह बात सच है, परन्तु मनुष्य विवेकशून्य बनकर अपना जीवन नष्ट न करे इसलिए भीतर बैठी हुई शक्ति और जीव का सम्बन्ध कौन सा है इसका गीता में विवेचन किया गया है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।। (१३-२२)

'मुझमें भगवान हैं' यह विचार मिला पर विवेक न हो तो केवल वह पढ़ने से विकृति पैदा होकर व्यक्ति और समाज का जन्मजन्मान्तर का नुकसान होगा। ज्ञानरूप शिव (विवेक) ने यह प्रेमप्रवाह धारण किया और फिर शनैः शनैः पृथ्वी पर छोड़ा यह बात एक लक्षणा से समझायी है।

गंगावतरण के बाद अनेक अच्छे चरित्रों का वर्णन नवम स्कन्ध में आता है। ऋचिक का चरित्र, जमदग्नि का चरित्र, राजा रन्तिदेव का चरित्र- ऐसे विविध चरित्रों का वर्णन आया है। रन्तिदेव के चरित्र द्वारा भागवतकार यह समझाते हैं कि करुणामय दृष्टि से रहनेवाले पर भगवान प्रसन्न होते हैं। नवम स्कन्ध में ही एक महान् चरित्र आता है जिसका नाम है राम!

खट्वांग से शुरु रघुवंश के वर्णन में रघु, अज, दशरथ आदि राजाओं का वर्णन आता है। जिस रघुवंश ने संस्कृति सँभाली उसका पूँजीभूत पावित्र्य राम है। भागवत को श्रीकृष्ण का चरित्र विस्तार से कहना है इसलिए रामचरित्र अतिशय संक्षेप में कहा है। कारण भागवत का प्रमुख उद्देश्य ही कृष्णचरित्र कहना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि राम में कुछ गौणता है।

'राम' यह नाम इतना प्रभावी, इतना ओजस्वी, इतना प्रकाश देनेवाला व सर्वव्यापी है कि भारत का एक भी गाँव ऐसा नहीं है कि जहाँ राम का नाम न गया हो और राम की

मूर्ति न हो। ऐसा राम का प्रताप है। ऐसे राम के सम्बन्ध में हम क्या बोल सकेंगे? और बोलना हो तो कितना बोल सकेंगे? कुछ बोलने जैसा है ही नहीं, कारण यह अवतार नमस्कार करने के लिए ही पैदा हुआ है।

नमस्कार करने के लिए भी व्यक्ति निर्दोष होना चाहिए अन्यथा मनुष्य नमस्कार करेगा किसे? किसके सामने सिर झुकायेगा? ऐसा भी प्रश्न भगवान के सामने आया होगा। जो अदृष्ट शक्ति *(unseen power)* है ऐसे विष्णु और शिव का रूप भी अज्ञात है। उनका संपूर्ण जीवन भी अज्ञात है। तो फिर एक मानवरूप में पूंजीभूत पावित्र्य, पूंजीभूत ओज होना चाहिए या नहीं? नहीं तो मनुष्य किसके सामने सिर झुकायेगा?

एक बार मैं कुछ अछूतों के बीच बैठा था। उनमें से कुछ शिक्षित लोगों ने मुझे पूछा, 'दादा! हमें कुछ नहीं चाहिए, तुम हमें क्या समझते हो यह भी सवाल नहीं है, परन्तु हम इन्सान हैं या नहीं? मनुष्य को एक ऐसा आदर्श व्यक्ति होना चाहिए या नहीं कि जिसके सामने हम सिर झुकायेंगे? क्या वे राम भी हमारे नहीं? क्या कृष्ण भी हमारे नहीं? हम उनको छू भी नहीं सकते। तो फिर हम किसके सामने सिर झुकायेंगे?

इन लोगों की समस्या ही भिन्न है। हम उनको अछूत समझते हैं इसका भी उन्हें दुःख नहीं है। उनके जीवन में आदर्श भी नहीं है। जीवन में जो आदर्श होगा वह 'मेरा' लगेगा ऐसा होना चाहिए। उनको ऐसा आदर्श नहीं मिलता यह दुःख की बात है। मानवजाति का कोई आदर्श होना चाहिए या नहीं? होना ही चाहिए। इसलिए प्रभु रामचंद्र का अवतार नवम स्कन्ध में है। कृष्ण का चरित्र विस्तार से कहना है इसलिए राम का चरित्र संक्षेप में लिखा है और राम और कृष्ण में हम फर्क नहीं करते हैं। दोनों प्रभु के अवतार हैं। रामचरित्र के सम्बन्ध में क्या बोलना? इतना ही कहता हूँ कि-

रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे
रामेणाभिहता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहं
रामे चित्तलयः सदा भवतु मे भो राम मामुद्धर।।

बस्स! केवल माँग ही करनी है, दूसरा क्या करना है? राम को अपना वर्णन सुनने की इच्छा नहीं है और उनका वर्णन करने की हमारी शक्ति भी नहीं है तो वर्णन कैसे करेंगे? भगवान राम को इतना ही कहेंगे- **'भो राम मामुद्धर-** राम! मेरा उद्धार करो!'

रामे चित्तलयः सदा भवतु मे मेरा चित्त पौनःपुन्य (पुनरावृत्ति) से विक्षिप्त होता है। पुनः पुनः (बार बार) स्मृति हुआ करती है और वह मेरे चित्त को सताती है। इन्द्रियों को विषयसुख की स्मृति रहती है, और वह स्मृति, विषयसुख कब मिलेगा, कैसे मिलेगा यही देखती है। मुझे अपना चित्त राम में लगाना है, ऐसा होगा तभी मेरा उद्धार होगा। भगवान! आपकी गोद में मेरा स्थान है। मैं आपकी गोद से गिर गया हूँ और यहाँ रहने के लिए आ गया हूँ। प्रभो! मुझे उठा लो, मेरा उद्धार करो। मेरे चित्त का लय होना चाहिए।

आपके नामोच्चार से ही भगवान! मेरा उद्धार है इसीलिए न भगवान को वर्णन की अपेक्षा है और न हममें शक्ति है।

रामचरित्र पर वाल्मीकि जैसे वीतराग, तप:स्वाध्यायनिरत ऋषि मोहित हो गये हैं। उनको विश्व में कुछ नहीं चाहिए था। विश्व में भगवान को कुछ चाहिए, परन्तु इनको तो कुछ भी नहीं चाहिए था। भगवान को विश्व में कुछ करना है, परन्तु वाल्मीकि जैसे ऋषियों को कुछ नहीं करना था। ऐसे वीतराग वाल्मीकि राम-चरित्र पर मोहित हो गये। रामचरित्र में उन्होंने जो लिखा है वह मोहित बनकर लिखा है। किसी को राम की जानकारी देने के लिए वाल्मीकि ने यह चरित्र नहीं लिखा है और न इतिहास के लिए ही लिखा है। राम का चरित्र लिखकर वाल्मीकि को किसी प्रकार की पुण्यप्राप्ति नहीं करनी थी। राम का चरित्र देखकर वाल्मीकि पागल बन गये थे कि क्या एक मानव का जीवन ऐसा हो सकता है? इस प्रकार मोहित बनने से वाल्मीकि ने रामायण लिखी है।

वाल्मीकि के रामचरित्र पर प्राकृत भाषा में अनेक ग्रंथ हैं। मराठी में हैं, हिन्दी में हैं, गुजराती में हैं। एक भी भाषा ऐसी नहीं है, जिसमें राम पर ग्रंथ नहीं हैं। तुलसीदास ने तो प्रभु रामचन्द्र पर 'रामचरितमानस' लिखकर प्रभु रामचन्द्र को ऐसा उठाया है कि सारा उत्तर भारत उस ग्रंथ को सिर पर लेकर नाचता है। परन्तु संस्कृत भाषा में भी कितने रामायण लिखी गयी हैं! इसीलिए विचार करनेवाले संशोधकों के मन में अनेक बार गलतफहमी निर्माण होती है। इसका कारण एक रामायण में एक बात लिखी है तो दूसरी रामायण में दूसरी ही बात लिखी है। आज उपलब्ध संस्कृत रामायणों में वाल्मीकि रामायण तो सभी को मालूम ही है। इसके अतिरिक्त व्यास रामायण है, वसिष्ठ रामायण है, शुक्ररामायण है. विभीषण रामायण है, ब्रह्मरामायण है, अगस्ति रामायण है, शेष रामायण है, अध्यात्म रामायण है, शैवरामायण है, अगम रामायण है, कूर्म रामायण है, स्कन्द रामायण है, पौलस्ति रामायण है, अरुण रामायण है, पद्म रामायण है, भरत रामायण है, धर्म रामायण है, आश्चर्य रामायण है, अद्भुत रामायण है। इनमें अद्भुत बातें हैं। इतनी तो संस्कृत में रामायण हैं। प्राकृत भाषाओं में कितनी होंगी? सभी भाषाओं में राम पर कुछ न कुछ लिखा गया है।

रामचरित्र भावपूर्ण, सांस्कृतिक व ऐतिहासिक काव्य है। भारतीय संस्कृति के उच्चतम ध्येयवादी जीवन का संपूर्ण आविष्कार उसमें देखने को मिलता है। भारत क्या है -*What is Bharat?* तो 'राम' कहने से पता चलता है। भारतीय संस्कृति को क्या बनाना है यह रामचरित्र पढ़कर ध्यान में आता है।

आज भारत, जब पतन की सीमा पर खड़ा है, तब उसको कौन खड़ा कर सकता है? खाने को मिल गया यानी भारत खड़ा हुआ ऐसा नहीं है। खाने को तो मिलना ही चाहिए। कृमिकीटकों को भी खाने को मिलता ही है। भारत को कौन बचाएगा? यह प्रश्न आज ही उत्पन्न हुआ है ऐसा नहीं है। यवनी सत्ता जब यहाँ थी तब समाज का नैतिक अध:पतन होने लगा। उस समय एकनाथ महाराज ने सबको नीतिमान बनाने के लिए

रामचरित्र उठाया। समर्थ रामदास स्वामी ने नैतिक स्तर ऊँचा करने के लिए प्रभु राम को नमस्कार करके उन्हीं का चरित्र उठाया। इतना ही नहीं, यवनी सत्ता जब यहाँ बद्धमूल होने लगी व समाज का नैतिक स्तर गिरने लगा तब श्रीमान् प्रात:स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी रामचरित्र को उठाकर भारत को खड़ा किया।

राम का चरित्र हजारों वर्षों के बाद, वर्षों तक लाखों-करोड़ों लोगों को प्रेरणा दे सकता है। उसको नमस्कार ही करना चाहिए। जब राष्ट्र मरने लगता है जब अध:पतित होने लगता है, जब नैतिक स्तर खत्म होता है तब 'राम' नाम का उच्चारण ही हमारा उद्धार करेगा। भारतीय लोगों की यह दृढ़ मान्यता है कि यह देह छोड़ते समय जब 'राम' का उच्चारण निकलेगा तब उद्धार होगा।

अध:पतन की सीमा पर समाज सतत आता है। एकाध बार ही आता है ऐसा नहीं है। जब जब वैसा समय आया तब तब लोगों ने रामचरित्र को उठाया। भारतीय लोगों के विविध स्तर के नेता अमेरिका, रूस जैसे देशों में जाकर जब कहते हैं कि 'भारत विश्व को कुछ मार्गदर्शन करेगा' तब उनकी धृष्टता देखकर किसी भी सज्जन मनुष्य को हँसी आयेगी। जिन राष्ट्रों ने सृष्टि के मूल तत्त्वों की शक्ति को अंदर से बाहर निकाला है, ऐसे रूस, अमेरिका जैसे देशों को, जो अपनी स्त्रियों की इज्जत नहीं सँभाल सकते, जिनका नागरिक जीवन वीरान बन गया है, जिनको सत्तापिपासा के बिना दूसरा कुछ नहीं दिखायी देता, जिस देश के लोग संपत्ति के पीछे ही दौड़ते हैं, उसके लिए जिस देश के लोग अपनी संस्कृति, देश और अपनी स्त्री को भी बेचने के लिए तैयार होते हैं, जिस देश में गरीबी बनाये रखने का प्रयत्न चलता रहता है ऐसे दुर्बल भारत के लोग क्या मार्गदर्शन करेंगे? ये नेता जब ऐसा बोलते हैं तब हँसी आती है। 'वे अमेरिका व रूस का मार्गदर्शन करेंगे' यह सुनकर भी हँसी आती है।

इस बात में संदेह नहीं है कि भारत अपनी निजी कमाई में कंगाल है। भारत के पास निजी कमाई नहीं है जिससे वह विश्व को मार्गदर्शन कर सके, परन्तु भारत की भूतकाल की तिजोरी में ऐसे कौस्तुभमणि और रत्न हैं जिन्हें हम विश्व को दिखा सकते हैं। उस शक्ति के बल पर हम कह सकते हैं कि भारत विश्व को मार्गदर्शन कर सकता है। ऐसा हम रामचरित्र व राम को देखकर कह सकते हैं। केवल राममन्दिर का निर्माण करके, चैत्र शुक्ला रामनवमी के उत्सव में प्रसाद खाकर हमने रामनवमी मनायी इसका समाधान माननेवाले सभी लोग नहीं है। उनमें, जो प्राणवान प्रवाह है, जीवनप्रवाह है, चैतन्यदायी प्रवाह है जो उसको समझते हैं, जानते हैं, पूजते हैं ऐसे भी कुछ लोग हैं।

जन्म लेकर राम प्रभु को कुछ समझाना था। प्रभु रामचन्द्र के जीवन में बहुत सी बातें समझाने के लिए ही हैं। प्रभु रामचन्द्र का स्मरण करते ही एक बात ध्यान में आती है और वह है स्वार्थत्याग! दूसरी बात है शब्दपालन। तीसरी बात है भाइयों का प्रेम। चौथी बात है पति-पत्नी का प्रेमभाव जो पारिवारिक जीवन में अत्यावश्यक है। पाँचवी बात है सद्विचारों को प्रोत्साहन, छठीं बात है दुष्ट वृत्ति का दमन। ये सभी बातें राम के जीवन में

देखने को मिलती हैं। राम का जन्म कहाँ हुआ, उनकी माँ कौन थी, पिता कौन था आदि बातें कहने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, कारण, यहाँ जो सुनने के लिए बैठे हैं, उनमें से कितने ही लोग इन बातों पर बोलनेवाले हैं। राम का चरित्र देखने के बाद ध्यान में आती है राम की स्वार्थत्याग की पराकाष्ठा! उसके जीवन में स्वार्थ की दृष्टि ही नहीं है। राम ने तीन-तीन राज्यों का त्याग किया है। विश्व में अजोड़ स्वार्थत्याग है यह! अयोध्या का राज्य उसने छोड़ दिया। किष्किंधा का राज्य तो उसका ही था, वह भी छोड़ दिया। लंका का राज्य तो उन्होंने रावण को मारकर ही कमाया हुआ था! वह भी उसने छोड़ दिया। यही पराकाष्ठा का स्वार्थत्याग है।

शब्दपालन भी कैसा? जब उन्हें किष्किंधा राज्य मिला। उस समय लोग कहते थे कि दशरथ ने आपको वनवास दिया है, इसका अर्थ आपको अयोध्या के राज्य के बाहर रहना है। अतः आप किष्किंधा में राज्य के अतिथि बनकर रह सकते हैं। वनवास में जाने की क्या आवश्यकता है? परन्तु शब्दपालन! राम कहता है, कि 'कहनेवाले का हेतु, तुम लोग जो कहते हैं वैसा नहीं था। शब्द में से क्या निकलता है उसकी अपेक्षा शब्द जिसने निकाला है उसका हेतु क्या था, कौन सा था यह बात महत्त्वपूर्ण है। हेतु देखकर चलना चाहिए। अतः मैं वन में ही रहूँगा। किष्किंधा में नहीं।' ऐसा कहकर राम एक पर्णकुटी बनाकर उसमें रहे।

राम का बन्धुप्रेम भी बेजोड़ है। बन्धुओं का जो ऐक्य है उसीसे बंधुप्रेम का पता चलता है। राज्यपद के लिए खून बहाने का इतिहास है। एक भाई दूसरे भाई का खून बहाता है। परन्तु यहाँ तो एक भाई कहता है, राज्य तेरा है तुझे ही चलाना है।' दूसरा भाई कहता है, 'राज्य मुझे नहीं चलाना है, तुझे ही चलाना है।' ऐसी दो भाइयों के बीच जो लड़ाई है वह विश्व में बेजोड़ है। कहीं भी देखो, ऐसा झगड़ा इतिहास में नहीं मिलेगा। यह है बन्धुओं का ऐक्य!

भागवत पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि भगवान का जन्म हुआ, वे विवाह करने जाते हैं और वापस आते समय, बीच में ही मार्ग में भागवतकार परशुराम लाये हैं। भागवतकार को कितने ही वैश्विक सिद्धान्तों को प्रस्थापित करना था, जिनकी आज भी आवश्यकता है। सीता स्वयंवर में राम ने धनुर्भंग किया और उसके बाद परशुराम का पराभव होता है ऐसा भागवतकार ने लिखा है। मार्ग में ही परशुराम मिलते हैं। चारों और मानव-हड्डियों के ढेर पड़े हैं, उनके बीच में ही राम और परशुराम मिलते हैं और परशुराम का पराभव होता है, इतना ही लिखा। अक्लमंद की हार होती है, इतना ही लिखा। अक्लमंद को सन्देह होता है कि परशुराम का पराभव के लिए युद्ध कब हुआ? बिना युद्ध के परशुराम की हार कैसे हुई, भागवत में जहाँ कहीं युद्ध हुआ प्रत्येक युद्ध का वर्णन है। यहाँ परशुराम जैसा श्रेष्ठ व्यक्ति एक अवतार और सामने राम भी अवतार, ये दो अवतार खड़े हैं। उनमें युद्ध कब हुआ? युद्ध का वर्णन नहीं आता है। दोनों लड़ने के लिए एक दूसरे के सामने आये हैं ऐसा भी वर्णन नहीं है। युद्ध तो हुआ नहीं और परशुराम का पराभव हुआ।

परशुराम ने क्या किया वह भी भागवतकार ने लिखा है। परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी निःक्षत्रिय की। गन्ने के जैसे टुकड़े करते हैं वैसे क्षत्रियों के टुकड़े किये और क्षत्रियसत्ता नष्ट कर दी। पृथ्वी को इक्कीस बार निःक्षत्रिय किया इसका अर्थ क्या है? यदि सभी क्षत्रियों को परशुराम ने मारा होगा तो फिर उनका वंश कैसे चला?

निःक्षत्रिय पृथ्वी की, इसका अर्थ यह है कि क्षत्रिय बनकर जो रणांगण में आ सकते हैं ऐसे क्षत्रियों को यानी अठारह वर्ष से जो अधिक आयु के हैं- ऐसे क्षत्रियों को परशुराम ने मारा। जो अठारह वर्ष से कम आयु के थे वे रह गये, उनका वंश चला। जिन क्षत्रियों को परशुराम ने मारा उनका वर्णन भी भागवत में है। समस्रार्जुन जैसे क्षत्रिय शक्ति प्राप्त होने पर कैसे उन्मत्त बने इसका भी वर्णन है। शक्ति का परिणाम उन्मत्तता है। वह कोई भी शक्ति हो, यानी वित्त की शक्ति हो, बुद्धि की हो, बाहुओं की हो या सौन्दर्य की हो। उसका यदि सदुपयोग नहीं हुआ तो उन्मत्तता आती है।

उस समय क्षत्रिय उन्मत्त बने थे। उनको कण्ठस्नान कराना चाहिए इस दृष्टि से परशुराम ने क्षत्रियसत्ता को नष्ट किया। परशुराम ने एक प्रयोग किया। इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय बना दिया। उसके बाद परशुराम तपश्चर्या करने चले गये। राम ने उनसे एक ही प्रश्न पूछा था कि 'जब तुम पृथ्वी को निःक्षत्रिय बनाकर गये थे तब पृथ्वी कैसी थी? पृथ्वी **'सुजलां सुफलाम्'** थी। अब कैसी है? स्थान स्थान पर मानवी हड्डियों के ढेर दिखायी देते हैं। ये ढेर क्यों दिखायी देते हैं? क्षत्रियसत्ता एक प्रभावी शक्ति है। केवल नीति से जगत् नहीं चलता। नीति के पीछे शक्ति की आवश्यकता होती है ऐसी भारतीय धारणा है, ऋषियों की धारणा है। भौतिक शक्ति को हम कम नहीं समझते। जब हायड्रोजन बम का विस्फोट हुआ था तब एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ। उसका नाम *(Title)* है, *'Third world war is impossible*।' अर्थात् तीसरा विश्वयुद्ध असंभव है। इसका अर्थ यह है कि किसी देश के पास जबरदस्त शक्ति है। सार्वजनिक लोगों में नीतिमत्ता का पालन उपदेश से नहीं होता, शक्ति से होता है। इसीलिए तो शक्तिपूजन है। हम नवरात्रि में शक्ति-पूजन ही करते हैं। शक्ति के बिना नहीं चलता। शक्ति को कम नहीं मानना चाहिए, परन्तु शक्ति से मनुष्य उन्मत्त बनता है यह बात भी उतनी भी सत्य है। ऐसे समय क्या करना चाहिए? सात्त्विक, प्रभावी, ध्येयनिष्ठ और तत्त्वनिष्ठ, शूर समाज सँभालना चाहिए या नहीं? यह एक वैश्विक प्रश्न है। परशुराम ने उस समाज को खत्म करके एक प्रयोग किया।

रामचन्द्र भगवान ने परशुराम से प्रश्न पूछा कि एक सात्त्विक, प्रभावी, ध्येयनिष्ठ शूर व तत्त्वनिष्ठ क्षत्रिय समाज उन्मत्त बना था यह बात सत्य है। उसको आपने नष्ट कर दिया। इससे क्या हुआ? राक्षस बढ़ गये। मानव में जो अनिष्ट शक्ति *(Evil Power)* है उसको नियंत्रित *(Control)* करने की किसी के पास शक्ति नहीं रहती तब अनिष्ट शक्ति बढ़ जाती है। वही राक्षसों की शक्ति *(Power)* है। राक्षस बढ़ गये और मनुष्य खत्म हो गया। इसीके कारण आज स्थान स्थान पर मानवी हड्डियों के ढेर दीख रहे हैं। यह किसका परिणाम है?'

ऐसा राम-परशुराम के बीच मूक संवाद है। परशुराम मिले तब राम ने हड्डियों के ढेर दिखाये। उनको देखकर परशुराम ने कहा, "मेरी हार हुई, अब मैं तपश्चर्या करने जाता हूँ।' ऐसा कहकर परशुराम चले गये। बीच में ही मानवी हड्डियों के ढेर क्यों आये क्योंकि एक सात्त्विक, ध्येयनिष्ठ, प्रभावी, तत्त्वनिष्ठ शूर समाज ही नष्ट हो गया था। परिणामस्वरूप आसुरी संपत्ति बढ गयी, राक्षसी-वृत्ति बढ़ गयी, उसको कोई भी नियंत्रित *(control)* नहीं कर सका। परिणाम यह हुआ कि मानव नष्ट हुआ। शक्ति आने के बाद उन्मत्तता आती है तब उसका नियंत्रण अवश्य करना चाहिए, उसको नष्ट नहीं करना चाहिए। राम ने कहा और परशुराम ने मान्य किया, यही परशुराम का पराभव है।

क्षत्रियसत्ता को नष्ट नहीं करना चाहिए, उसका नियंत्रण करना चाहिए। शक्ति आने के बाद मनुष्य उन्मत्त तो बनता ही है, परन्तु शक्तिशाली को नष्ट नहीं करना चाहिए, उसकी शक्ति का योग्य उपयोग करना चाहिए। समाज के अन्तिम-शुभ कल्याण के लिए जो शक्ति है वह भगवद्शक्ति है। इसीलिए शक्तिपूजन माना है। महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती का पूजन हमारे भारतीय ऋषि-मुनियों ने किया है। महाकाली को- शक्ति को हमने गलत नहीं माना है, पराक्रम को हलका-क्षुद्र नहीं समझा है। उनको भौतिक समझकर हमने उनका तिरस्कार करके नहीं छोड़ा है। 'केवल किसी को कुछ नहीं करना है यही आध्यात्मिकता है' ऐसा भारतीय ऋषि नहीं समझते थे, इसी कारण हमारे देश में, लड़नेवाले भी आध्यात्मिक हैं। लोगों को यही आश्चर्य लगता है कि 'लड़नेवाले आध्यात्मिक कैसे हो सकते हैं।' 'लड़नेवाले भी आध्यात्मिक हैं' ऐसा कहनेवाली यह भारतीय संस्कृति है।

उस समय क्षत्रियसत्ता उन्मत्त बनी और उसने जगत् में तूफान मचाया। क्षत्रियसत्ता अनिर्बन्ध बनी तो उसका नियंत्रण करो ऐसा भारतीय संस्कृति कहती है। रामराज्य का अर्थ है नियंत्रित क्षत्रियसत्ता! परशुराम ने भूल की कि इस क्षत्रियसत्ता को नष्ट कर दिया। समाज को मारना नहीं चाहिए। वही एक समस्या लेकर आज का मानव भी खड़ा है।

एक समय क्षत्रियसत्ता उन्मत्त बनी थी, वैसा जमाना आ गया है। आज वित्तसत्ता उन्मत्त बनी है। वह किसी को मानने को तैयार नहीं है। वित्तवान स्वयंकेन्द्रित बना है। उस समय भी क्षत्रियसत्ता भोगप्रधान बन गयी थी। जिस प्रकार क्षत्रिय एक शक्ति है, वैसे ही वित्त भी एक शक्ति है। बुद्धि, वित्त और भौतिक शरीरशक्ति ये तीन शक्तियाँ हैं। इन तीनों शक्तियों को नियंत्रण में रखना चाहिए। यही समाज-जीवन का उन्नत प्रयोग है।

वित्तवान उन्मत्त बने इसका अर्थ वे लोगों को मारते हैं ऐसा नहीं हैं। उनकी भाषा तो बहुत ही नम्र होती है, परन्तु उनकी नम्र भाषा के पीछे कपटता है। जिस प्रकार क्षत्रियसत्ता भोगप्रधान बनी और परशुराम को उसके प्रति चिढ़ हुई, वैसे ही आज वित्तवान वर्ग स्वयंकेन्द्रित बना है। 'वित्त हमारा है और उसका उपयोग कैसे करना यह हमारा प्रश्न है। उसका उपयोग कैसे करना यह कहने का दूसरे किसी को अधिकार नहीं है' यह उनकी प्रथम धारणा है। उनका कहना है कि वित्त हमारा है, उसका उपयोग कैसा करना यह कहनेवाले तुम कौन होते हो, क्षत्रियसत्ता में जिस प्रकार भोगप्रवणता का दोष था वैसा

वित्तवानों में स्वयंकेन्द्रितता का दोष है। इसीके कारण वित्तशक्ति हैरान करती है। आज इसी कारण वित्तशक्ति के विरुद्ध अनेक लोग हैं। वित्तशक्ति को अमान्य करेंगे या हटायेंगे, इन दो बातों का विचार करना है।

वित्त एक शक्ति है ऐसा मानना चाहिए, परन्तु वह किसी एक व्यक्ति के पास नहीं रहनी चाहिए। दो विचारधाराएँ इसके पीछे हैं। उनमें से एक समानता की विचारधारा है। इस विचारधारावाले लोग कहते हैं कि वित्त ही निकाल दो। वित्त मानवनिर्मित है। श्रम से जितना पैदा होगा उतना ही खाओ। वित्त को अतिरिक्त मूल्य देना और उसको विनिमय के लिए प्रयोग में लाना यह मानव की प्रभावी बुद्धि का प्रयोग है। परन्तु यह अशास्त्रीय प्रयोग है। वित्त को हटा दो ऐसा बोलनेवाला एक विचारप्रवाह है। दूसरा एक विचारप्रवाह है जो यह कहता है कि वित्त रहना चाहिए, किन्तु किसी एक व्यक्ति के पास नहीं रहना चाहिए। वित्त शक्ति है, वह सुधार सकती है और बिगाड़ भी सकती है, दोनों काम कर सकती है।

अब समझ लीजिए कि हम वित्तवानों को खत्म करेंगे, तो क्या होगा? सात्त्विक, संनिष्ठ, जिनके पीछे परंपरा है ऐसे लोगों के हाथों से वित्त यदि चला जायेगा तो वह बदमाश, गुण्डे लोगों के हाथ में जायेगा। वित्तशक्ति के प्रभाव से संपूर्ण जगत् को बदलना, बिगाड़ना यह सहज संभव है। आज वित्तशक्ति का दुरुपयोग *(Misuse and abuse)* हो रहा है। आज वित्तवान-जिनको रखना नहीं चाहते, उनके लिए हम क्या करते हैं? कुछ नहीं! वित्तवानों को लज्जित करेंगे? उनका उपहास करेंगे? 'हाँ मैं वित्तवान हूँ' यह बोलने की किसी वित्तवान में भी हिम्मत नहीं है। वित्तवान के पास वित्त है इसलिए क्या हम उस पर समानता व आध्यात्मिकता के पुट चढ़ाकर लज्जित करेंगे? हम यदि वित्तवान को लज्जित करेंगे तो सज्जन व्यक्ति वित्त का आग्रह रखेगा ही नहीं। वह वित्त का उपहास करेगा। अथवा जिसके पास वित्त है वह माया में फँसा हुआ है, ऐसा समझेगा। जो माया में फँस गया है उसे भगवान कहाँ से मिलेंगे? यदि वित्तवान भी वैसा समझने लगा कि मुझे भगवान कैसे मिलेंगे? मेरे पास तो वित्त है। तो वह वित्त छोड़ देगा, वित्त कमाने की मेहनत नहीं करेगा।

वित्त एक अनिष्ट शक्ति *(evil power)* है, समझ लीजिए कि जो शक्ति वित्तवानों के हाथ में है उसको हटायेंगे तो दो प्रकार से हटानी होगी। एक, वित्त मिथ्या है, वह निर्माण किया गया है वित्त यह मानवी कल्पना है। एक धातु का टुकड़ा उठाया व उसको आकार दे दिया, कागज़ का नोट बनाया और उसको वित्त समझने लगा। यह एक काल्पनिक बात है। इसलिए श्रम करो, जो उत्पादन होगा उसे रखो, खाओ। जिसको मिलेगा वह रहेगा, जिसको नहीं मिलेगा वह मरेगा। यह वित्त को निकालने का एक प्रकार है।

दूसरे प्रकार में वित्त को माया ठहराया है, अतः वित्त के पीछे न लगो। वित्त माया है वह भगवान से तुम्हें अलग करेगा। भगवान से अलग करनेवाला कोई है तो वह वित्त है। कोई कुछ नहीं सुनता, परन्तु इससे होता क्या है? सत्प्रवृत्त लोगों में एक अपराधी मनोवृत्ति *(Guilty conscious)* निर्माण होती है कि हम वित्त कमाते हैं यह बहुत बुरी बात

है। वित्त कमाना भौतिक *(wordly)* काम है, यह तिरस्करणीय बात है। परिणामस्वरूप सात्त्विक और उन्नत लोग वित्त हाथ में नहीं लेंगे। वित्तशक्ति अध:पतन व क्षुद्र लोगों के हाथ में चली जायेगी। फिर क्या होगा? वित्तशक्ति के बल पर वे जगत् में उथलपुथल मचायेंगे। इसलिए किसी व्यक्ति के हाथ में वित्त नहीं रखना चाहिए, वित्त सरकार के हाथ में रहना चाहिए यह दूसरा रास्ता है।

सरकार के हाथ में वित्त आया तो क्या होगा? उसके पास सत्ता है ही, शक्ति (बाहुशक्ति) भी है और वित्त भी उसके हाथ में आएगा तो सरकार एक बड़ी पूँजीपती बन जायेगी। एक पूँजीवाद *(Capitalist)* को खत्म करके दूसरा जबरदस्त पूँजीवाद खड़ा करने का नाम सरकार *(Government)* है। पहले एक पूँजीवादी *(Capitalist)* के पास पैसा था, सत्ता नहीं थी। उसके बदले सरकार के हाथ में पैसा आ गया। उसके पास सत्ता है ही अब वित्तशक्ति का उफ़ान आ गया। सबका राष्ट्रीयकरण *(Nationlization)* करो- किसी को भी वित्तवान न रखो। यह दूसरा रास्ता निकाला।

अब प्रश्न खड़ा होता है कि जिस प्रकार क्षत्रियसत्ता उन्मत हुई, उद्दाम बनी, उन्मार्गी हुई, उसको नियंत्रित *(Control)* करने की आवश्यकता थी, खत्म करने की नहीं, वही बात वित्तसत्ता को भी लागू होती है। वित्तवान की उन्मत्तता अलग है- वह है स्वयंकेन्द्रितता। वित्त हमारा-निजी है, उसको कैसे व्यय करना यह हमारा निजी प्रश्न है यह उनका कहना है। इसलिए वित्तशक्ति उन्मार्गी बन गयी, स्वयंकेन्द्रित बनी हो तो उसे हटा देंगे, निकाल देंगे तो वह शक्ति गुण्डों के हाथों में जाकर उसका दुरुपयोग होगा। अत: वित्तवान को खत्म नहीं करना है। जैसी क्षत्रियसत्ता नियंत्रित *(Controlled)* होनी चाहिए वैसा वित्तवान पर भी नियत्रंण रखना चाहिए। यह आज की भी समस्या है। उसका राम-परशुराम की जो लड़ाई है, उसमें जवाब मिलता है।

क्या तुम वित्तशक्ति नष्ट करोगे, फेंक दोगे या वित्त को मिथ्या समझोगे? क्या करोगे? असली बात यह है कि जिनके पास वित्त है वे लोग स्वयंकेन्द्रित हैं इसमें सन्देह नहीं है। **सहस्राणां कश्चित्** कोई वित्तवान ऐसा निकलेगा कि जिसको सच्ची समझ है। शेष सभी स्वयंकेन्द्रित हैं। उनकी भाषा कैसी है यह प्रश्न नहीं है। उनकी भाषा मायावी हो सकती है। अपना निजी भण्डार सँभालने के लिए मृदु भाषा वे प्रयुक्त करेंगे ही। उनकी भाषा कठोर नहीं होती। जब यन्त्रवाद आ गया, पूँजीवाद *(Capitalism)* आ गया तब पूँजीपतियों की भाषा बदल गयी। एक जमाने में गुलामी प्रथा में गुलाम को पेट भर खाना खिलाना पड़ता था तभी उससे काम ले सकते थे। अब भाषा बदल गयी। अब मालिक कहता है कि रोज तुझे खाने के लिए पाँच रुपये लगते हैं, मुझे मालूम है। परन्तु मेरा जो कारखाना है उसको तुझे पाँच रुपये देना संभव नहीं है, वह तुझे दो ही रुपये दे सकता है। तुझे पुसाता हो तो तू यहाँ रह सकता है, अन्यथा दूसरी जगह जा सकता है। भाषा सरल हो. गयी, परन्तु परिणाम यह हुआ कि आधी रोटी खाकर मजदूर को काम करना पड़ता है, इसका कारण मालिक को दूसरे मजदूर मिल सकते हैं, परन्तु मजदूर को दूसरा कारखाना-मालिक नहीं

मिलता। भाषा बदल गयी है। बेगार प्रथा में गुलाम को भरपेट खिलाना पड़ता था और पहनने के लिए कपड़े देने पड़ते थे। अब बेगारप्रथा चली गयी। मजदूर स्वतंत्र बन गया। *You are independent, you can say 'No'*। वह काम करने से इन्कार कर सकता है, परन्तु परिणाम भयंकर हुआ है। आधा पेट खाकर उसको काम करना पड़ता है। इसीलिए मार्क्स ने लिखा है कि 'सब सम्पत्ति चारी है *All wealth is theft*-।' मजदूर को पाँच रुपये खाने के लिए देने चाहिए वे नहीं दिये, दो ही रुपये दिए, अत: मालिक के तीन रुपये बच गये। वही उसकी संपत्ति है। यह अर्थशास्त्र में नहीं आता। परन्तु मालिक की भाषा बदल गयी है। वह मानता है कि 'वित्त मेरा हैं।' वह उन्मत्त बन गया है, स्वयंकेन्द्रित बना है। ऐसी वित्तशक्ति सच्चा दैवी कार्य नहीं कर सकती। वित्त को खत्म करने, हटाने की भाषा व्यर्थ है। वित्तवान को नियंत्रित करना है। इसलिए उस पर धर्मनियंत्रण, विवेकनियंत्रण, लोकनियंत्रण और चौथा राज्यनियंत्रण ऐसे चार नियंत्रण होने चाहिए। इनमें राज्यनियंत्रण चौथा है। राज्यनियंत्रण से वित्त पर नियंत्रण नहीं आता। राजा कितना देखेगा? क्या क्या देखेगा? इसलिए प्रथम धर्मनियंत्रण होना चाहिए। क्षत्रियसत्ता को भी हमारे पूर्वजों ने धर्मदण्ड्य ठहराया है।

प्राचीनकाल में राजा जब अश्वमेध यज्ञ करता था, तब उसमें एक धार्मिक विधि की जाती थी। राजा को अवभृत स्नान कराया जाता था। उसके बाद राजा यज्ञ में बैठता तब वह बोलता था कि पृथ्वी पर मेरे लिए कानून बनानेवाला कोई नहीं है, मैं जो कानून बनाऊँगा वही सबको मानना होगा क्योंकि मैं **'अदण्ड्योऽस्मि अदण्ड्योऽस्मि अदण्ड्योऽस्मि'** हूँ। ऐसा वह तीन बार बोलता था। उस समय उसके पीछे धर्मप्रतिनिधि के नाते खड़े ऋषि अपने हाथ में ली हुई दर्भदण्ड से राजा की पीठ पर प्रहार करते हुए बोलते थे, **'धर्मदण्ड्योऽसि, धर्मदण्ड्योऽसि, धर्मदण्ड्योऽसि।'** तू अदण्ड्य नहीं है, धर्मदण्ड्य है। तुझे दूसरा कोई दण्ड नहीं देगा परन्तु धर्म का दण्ड तुझे मानना पड़ेगा। ऐसा धर्मनियंत्रण प्रथम लाना पड़ेगा। केवल कर्मकाण्ड *(Ritual)* नहीं चलेगा। दूसरा - विवेक नियंत्रण लाना पड़ेगा। तीसरा लोक-नियंत्रण है और चौथा है राजनियंत्रण। ऐसे नियंत्रणों से नियंत्रित वित्तशक्ति *(controlled economy)* आयेगी तभी वैश्विक प्रश्न हल होगा, तभी जीवन की दीवाली होगी, सम्पूर्ण मानव समाज की दीवाली होगी।

समाज में तीन शक्तियाँ हैं- बुद्धिशक्ति, वित्तशक्ति और राज्यशक्ति। इनका सन्तुलन रहना चाहिए। राज्यशक्ति में केवल राज्य नहीं आता। सभी भौतिक शक्तियाँ दण्ड की शक्ति, बाहुशक्ति भी आ जाती है।

बुद्धिशक्ति यानी ज्ञान की शक्ति। वह गुलाम नहीं बननी चाहिए। यह राम का सिद्धान्त है। आज बुद्धिशक्ति गुलाम बन गयी है, अपनी वासना और सरकार-दोनों की वह गुलाम बनी है। ऐसा जहाँ होता है वहाँ स्वप्न में भी रामराज्य अशक्य है। *We are craving for Ramrajya, but where is Ram?* आज हम रामराज्य के लिए छटपटा रहे हैं, परन्तु राम कहाँ है? यह प्रश्न है। बुद्धिशक्ति जो ज्ञान की शक्ति है, वह किसीकी गुलाम नहीं बननी

चाहिए। वह बेचनी नहीं चाहिए। बेचनेवाला ज्ञानी नहीं है और जो ज्ञानी खरीद लिया जाता है उसकी सलाह श्रेष्ठ नहीं है। रामकाल में कुछ बन्धन रखा था। रामराज्य का अभ्यास करेंगे तब पता चलेगा। मूल बात यह है कि ज्ञान की शक्ति गुलाम नहीं बननी चाहिए।

दूसरी राजसत्ता है। उसका अर्थ है भौतिक शक्ति। यह शक्ति अनियंत्रित नहीं रहनी चाहिए। तीसरी वित्तशक्ति है वह आत्मकेंद्रित, स्वयंकेन्द्रित नहीं होनी चाहिए। ऐसा जब होता है तब रामराज्य आता है, तभी दीवाली होती है।

यह एक महान प्रयोग है। ये तीनों शक्तियाँ हाथ में रखनी हैं। उनको मनमानी बनने का अवसर ही नहीं देना चाहिए और उन तीनों को कार्य में लगाना है। इन्हीं को कहते हैं, 'महाकाली, महासरस्वती, महालक्ष्मी!'

रामचन्द्र भगवान ने एक वैश्विक प्रयोग करके दिखाया है। इसीलिए परशुराम का पराभव है। भागवत में परशुराम की पराभव हुई इतना ही लिखा है। राम-परशुराम के युद्ध का वर्णन नहीं। परशुराम भी अवतार है।

किसी भी शक्ति से उन्मत्तता आती है, तब उसको नष्ट करने का मन होता है। उसको नष्ट करने से क्या होता है वह प्रयोग करके समझाने के लिए अवतार आते हैं। अवतार का कारण ही वह है। धर्मनियंत्रित, विवेकनियंत्रित वित्तशक्ति रहनी चाहिए। तभी दीवाली होती है। इसीलिए भारतीय संस्कृति में दीवाली में लक्ष्मीपूजन करते हैं। लक्ष्मी समझाने के लिए लक्ष्मीपूजन है। आज का लक्ष्मीपूजन भिन्न ही है। अगले वर्ष में शनि महाराज तकलीफ न दे इसलिए महाराज (पुरोहित) को बुलाते हैं, कारण शनि महाराज को रोकने की शक्ति पुरोहित महाराज में है ऐसा वे मानते हैं। महाराज को बुलाकर लक्ष्मीपूजन करवाते हैं। सेठजी इसी कारण महाराज को नमस्कार करता है। लक्ष्मीपूजन दैवी बात है।

'राम' बोलने पर राज्य ही ध्यान में आता है। 'कृष्ण' बोलने पर राज्य ध्यान में नहीं आता। 'राम' बोलने पर **राजमणि** ध्यान में आता है। रामचरित्र बहुत दैवी है, नमस्कारार्ह है। राम का जन्म कहाँ हुआ? उसकी माँ कौन थी, पिता कौन थे? ये प्रश्न नहीं हैं। यह तो सभी को मालूम है। राम ने क्या समझाया है वह ध्यान में रखने और समझने की बात है। उसे छोड़कर केवल 'राम-राम' कहते बैठेंगे तो ऋषि कहेंगे, **'ते हरेर्द्वेषिनः पापाः।'** समाजजीवन की दीवाली मनानी हो तो रामचरित्र का विचार करना पड़ेगा।

आर्थिक शोषण के लिए साम्राज्य करनेवाले अनेक सम्राट भौतिक विश्व ने दिये हैं। परन्तु केवल चारित्र के लिए प्रभुशक्ति का व्यय करनेवाला, आर्थिक शोषण या सत्तापिपासा से जिसका अणुमात्र सम्बन्ध नहीं है, ऐसा एक ही सम्राट हुआ, जिसका नाम है, राम! सम्राट कैसा होना चाहिए? राम के जैसा! हम तत्त्वज्ञानी राम को नहीं मानते। राम ने बहुत तत्त्वज्ञान कहा है। रामगीता भी है, परन्तु तत्त्वज्ञान के लिए हम राम को नहीं मानते। हम

राम को राजा समझकर मानते हैं, इसीलिए 'रामराज्य' शब्द हमने दृढ़ किया है। राम लोगों का हृदयसम्राट है। 'रामराज्य' उत्कृष्ट राज्य का पर्याय शब्द है। 'हमें' रामराज्य चाहिए' इसका क्या अर्थ है? क्या केवल राम को बुलाना है? या कौसल्या को लाना है? क्या हम उन्हें ला सकेंगे? क्या दशरथ को बुलाना है? हमें रामराज्य चाहिए। *We are craving for Ramrajya*। हमें रामराज्य चाहिए यानी उत्कृष्ट राज्य चाहिए। जहाँ जहाँ उत्कृष्ट राज्य होगा उसे हम रामराज्य कहेंगे। रामराज्य यानी दशरथपुत्र राम का राज्य नही, अपितु उत्कृष्ट राज्य! इसलिए रामराज्य उत्कृष्ट राज्य का पर्याय है।

रामराज्य उत्कृष्ट था इसका क्या अर्थ है? रामराज्य का सिंहासन अच्छा था? क्या वह सोने का था? या कानून अच्छे थे? क्या कार्यपालिका अच्छी थी? क्या उसका न्यायतंत्र *(Judiciary)* अच्छा था इसलिए रामराज्य अच्छा था? नहीं! यह सब तो अच्छा था ही, परन्तु 'रामराज्य अच्छा था' यह कहने का अभिप्राय यह है कि उसने लोगों को अच्छा बनाया था। अद्भुत लोग बनाये थे उसने! कानून तो सभी लोग अच्छे बनाते हैं, सभी संविधान *(Constitution)* अच्छे होते हैं। सभी स्थानों में योजनाएं *(Planning)* अच्छी होती है। इसीलिए रामराज्य अच्छा था ऐसा नहीं है। रामराज्य के लोग अच्छे थे। रामराज्य का अर्थ ही रामकालीन लोग हैं। केवल राम नहीं, कौसल्यापुत्र या दशरथनंदन राम नहीं, अपितु रामकालीन लोग और उनको वैसा बनानेवाला राम!

राज्यसत्ता का वैशिष्ट्य क्या है? क्या भरपेट खाने को मिलना वैशिष्ट्य है? खाना तो भरपेट मिलना ही चाहिए। लज्जा बचाने के लिए, शरीर को आच्छादन करने, ओढ़ने के लिए वस्त्र तो मिलने ही चाहिए। प्रत्येक के पास रहने के लिए अपना घर होना चाहिए। मगर, केवल इतना होने से नहीं चलेगा। ऐसे अनेक राष्ट्र हैं जहाँ अन्न, वस्त्र, मकान सबको मिलते हैं। स्वतंत्रतापूर्वक श्वासोच्छ्वास था। जहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता का श्वासोच्छ्वास चला गया, जहाँ व्यक्ति गुलाम बना, जहाँ जीवित रहने के लिए किसी संस्था या शक्ति की लाचारी व्यक्ति को करनी पड़ती है, वह राज्य, राज्य ही नहीं है। वह कुशासन *(Anarchy)* है। प्रत्येक व्यक्ति को श्वासोच्छ्वास, स्वतंत्र श्वासोच्छ्वास करने को मिलना चाहिए। यही राज्य-व्यवस्था का अर्थ है। **साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं महाराज्यम्** ये सभी राज्यव्यवस्थाएं ही हैं।

जिस समाज में, विवाह से लेकर शिक्षा तक सभी संस्थाएं सुवर्ण से खरीदी जा सकती हैं उस समाज में धर्म और संस्कृति की भाषा ढोंग है। इधर आज सब खरीदा जाता है। *You can Purchase anybody, any intellectual person*। जहाँ आर्थिक जीवन सम्पन्न, सुखी और स्वतंत्र है, वहीं धर्म, प्रेम, संस्कृति का अभिमान और चरित्र का कल्पवृक्ष खिलता है। हमने स्वतंत्र श्वासोच्छ्वास माँगे हैं। केवल रोटी-मक्खन *(bread-Butter)* नहीं माँगा है। रोटी के साथ स्वतंत्रता का श्वासोच्छ्वास मिलना चाहिए यह महत्त्वपूर्ण बात है। तत्कालीन-रामकालीन ऐतिहासिक समालोचना करेंगे तो पता चलेगा। वाल्मीकि रामायण में बालकाण्ड के छठे सर्ग में लिखा है।

तस्मिन् पुरवरे दृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः।।६।।

(उस उत्तम नगर में निवास करनेवाले सभी मनुष्य प्रसन्न, धर्मात्मा बहुश्रुत, निर्लोभी, सत्यवादी तथा अपने-अपने धन से सन्तुष्ट रहनेवाले थे।)

जहाँ ऐसे लोग तैयार हुए थे। साथ ही उच्च कक्षा का राष्ट्रीय चरित्र निर्माण किया था। इसीका नाम रामराज्य है। केवल आर्थिक योजनाएं *(Economic Planning)* बनाने से राज्य ऊपर नहीं आता। उसे राष्ट्र भी नहीं कहा जाता।

रामराज्य में आर्थिक योजनाओं के साथ उच्च कक्षा का राष्ट्रीय चरित्र निर्माण किया गया था। उस समय के लोग अलुब्ध (निर्लोभी), सत्यवादी तथा आस्तिक थे, इतना ही नहीं, वे क्रियाशील थे। जब बेकार भत्ता *(Unemployment allowance)* मिलता है तब क्रियाशून्यता आ जाती है। उस समय क्रियाशील लोग थे। इसका कारण शिक्षा स्वतंत्र थी। शिक्षा राज्याश्रित और वित्ताश्रित नहीं थी। यही राज्य का वैशिष्ट्य है।

जहाँ शिक्षा राज्याश्रित या वित्ताश्रित होगी वहाँ किसी भी दिन स्वतंत्र श्वासोच्छ्वास नहीं होगा, वहाँ राष्ट्रीय चरित्र का पुनरुत्थान नहीं होगा। शिक्षा स्वतंत्र ही होनी चाहिए।

संस्कृति का मानचिह्न, समाजशास्त्रज्ञों का सुखस्वप्न और वास्तविकता इनमें बहुत ही फर्क है। क्यों? रामराज्य ने क्या किया था? राम ने क्या किया था? आज हमें कर्तव्य *(Duty)* समझाया जाता है। व्यक्ति को कर्तव्यपरायण बनना चाहिए ऐसा कहा जाता है, परन्तु केवल कर्तव्यपरायण बनने से नहीं चलेगा। राम ने कर्तव्यपरायण तथा लोभविवार्जित समाज बनाया था। यही रामराज्य का वैशिष्ट्य है।

मनुष्य की आर्थिक व्यवस्था किसी भी प्रकार की हो, वह भले ही परम्परा से चलती आयी हो जैसे डॉक्टर का लड़का डॉक्टर बनता हो या दर्जी का पुत्र दर्जी बनता हो, परन्तु वह स्वतंत्र व स्वच्छ होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तृत्व के अनुसार मौका मिलना चाहिए। उसके अन्तःकरण में निर्माण होनेवाली विजिगीषु वृत्ति, काम तथा इच्छाशक्ति का उद्रेक जब तक जैसा का वैसा रहेगा अर्थात् उसको अपने कर्तव्य के अनुसार मौका नहीं मिलेगा तब तक समाजहित की कोई भी कल्पना सफल नहीं होगी ऐसा संपूर्ण दर्शन किसीको हुआ होगा, तो वह प्रभु रामचंद्र को हुआ था। इसीलिए उन्होंने रामराज्य का एक विशिष्ट समाज बनाया था। यह रामराज्य की विशेषता है।

केवल ज्ञानोपासना पर्याप्त नहीं है। आज यांत्रिक विकास *(Technical Development)* कितना बढ़ गया है परन्तु इसी ज्ञानोपासना से भय भी है। प्रत्येक समाज में तथा प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में भय निर्माण हुआ है। प्रत्येक के अन्तःकरण में रहे आक्रमकता और पशुता को हटाने का कहीं प्रयत्न ही नहीं हो रहा है।

प्रत्येक के अन्तःकरण में आक्रमकता तथा पशुता होती है। मनुष्य एक प्राणी है, परन्तु वह बुद्धिशील प्राणी है *(Man is an animal no doubt, but a rational animal)* हम

कहेंगे *Divine animal* है। कितने ही लोग कहते हैं, *'Man is an animal, termed by woman*। लेकिन *animal* है इसमें सन्देह नहीं, उसमें पशुता है यह निःसन्देह है। भिन्न भिन्न विचार ही होंगे उसके दिमाग में। परन्तु उसके अन्तःकरण में रहे पशुता व आक्रमकता को नष्ट करने का प्रयत्न ही नहीं है। लोभमूलक प्रवृत्ति नष्ट करने से सुख मिलेगा ऐसा हम समझते हैं। परन्तु वित्त बहुत कम है और लोग अनगिनत हैं। बँटवारा करके तो देखो कि किसके हाथ में कितना पैसा आता है। वित्त का बँटवारा करने से सब सुखी बन जायेंगे यह हम सबकी कल्पना है, परन्तु जब तक लोभमूलक प्रवृत्ति नष्ट नहीं होगी तब तक केवल वित्त के बँटवारे से सुख नहीं मिलेगा।

राम और रावण में फर्क़ है। क्या फ़र्क़ है? रामराज्य में केवल एक ही राम नहीं था। प्रत्येक घर में राम था। यही राम-राज्य का वैशिष्ट्य है। सैकड़ों राम निर्माण करने की शक्ति जिसमें है वही राम है। अकेला राम अच्छा हो सकता है, दौड़ भी सकता है, परन्तु हजारों लोगों को खड़ा करके उनको दौड़ाने की शक्ति जिसमें है वह राम है! राम अकेला नहीं होता!

'राम' का अर्थ क्या है? विश्वात्म होकर सभी के सुख व दुःख के साथ समरस बनने की कोशिश यानी राम! व्यक्तिवादी व आत्मकेन्द्रित बनना ही रावण है। ये दो स्पष्ट अर्थ हैं। रामराज्य में राम ने समाज में 'राम' का निर्माण किया था, रावण का नहीं। यही रामराज्य की विशेषता है!

हम रामराज्य के काल का वर्णन पढ़ेंगे तो लगता है, ओ हो! क्या ऐसे व्यक्ति हो गये हैं! क्या ऐसा संभव है? इसीलिए तो हमारे पढ़े-लिखे लोग बोलते हैं कि 'यह तो कल्पना होगी। उच्च श्रेणी का मानव कैसा होना चाहिए इस सम्बन्ध में वाल्मीकि की यह कल्पना है। यह एक काव्य है, यह काल्पनिक मानव है। ऐसा समाज हो सकता है यह कल्पना में भी नहीं आता।' इन लोगों को यह सब उपन्यास जैसा लगता है। समाज ऐसा बनाना चाहिए। उसके लिए समाज के अन्तिम व्यक्ति तक *(Unto the last)* केवल रोटी *(bread)* पहुँचाना पर्याप्त नहीं है। चरित्र, जीवनविषयक विचार ले जाकर लोगों का पृष्ठवंश मजबूत बनाना पड़ता है। उससे लोगों का दिमाग बदल जाता है, हृदय बदल जाते हैं। समाज का अन्तिम व्यक्ति ऐसा हो सकता है इसका इन लोगों को आश्चर्य लगता है। इसीलिए 'रामायण' सत्य है ऐसा मानने को ये लोग तैयार नहीं हैं। आज शिक्षित लोग कहते ही हैं कि 'रामायण यह एक काव्य है।' आज जिस प्रकार लेखक उपन्यास लिखते हैं, वैसे वाल्मीकि द्वारा पुराने समय में लिखा हुआ उपन्यास रामायण है! क्या ऐसा कभी हो सकता है?' इसलिए राम व रावण की व्याख्या करनी पड़ी।

स्वतंत्र शिक्षा देकर राम ने घर घर में राम निर्माण किये थे। उस समय शिक्षा राज्याश्रित या वित्ताश्रित नहीं थी। शिक्षा न वित्त की गुलाम थी और न राज्यसत्ता की! शिक्षा और शिक्षक गुलाम हों तो उस शिक्षा से क्या मिलेगा? प्याज़ बोने के बाद गेहूँ कैसे मिलेंगे? बोना है प्याज़ और मिलना चाहिए गेहूँ! यह कैसे हो सकता है? प्याज़ बोने

पर कितने ही नमस्कार करेंगे, कितनी ही श्रद्धा होगी, और कहेंगे कि हमारी भगवान पर श्रद्धा है, हम सुबह उठने से लेकर रात्रि में सोने तक दर्शन करते हैं, तो हमें गेहूँ मिलना चाहिए तो यह कैसे बन सकता है? गेहूँ चाहिए, पर क्या बोया है यह तो देखो न! जो बोया होगा वही मिलेगा। प्याज़ बोया होगा तो प्याज ही मिलेगा, फिर गेहूँ की कल्पना ही गलत है। इसीलिए राम-रावण में फर्क़ है।

रावण उत्पन्न होता है, राम निर्माण करना पड़ता है। शुभकामना तथा शुभेच्छाओं से राम निर्माण नहीं होता। राम को निर्माण करना पड़ता है। रावण तो खुद ही निर्माण होता है। पैदा होना अलग बात है, निर्माण करना अलग बात है।

जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति भौतिकवादी, व्यक्तिवादी और आत्मकेन्द्रित बनता है तब समाज रावण का बनता है, राम का नहीं। रावण कहता है, 'मुझे अपना ही देखना है, वह आज का देखता है, कल का नहीं।' यही रावण की विशेषता है। ऐसा बोलना अच्छा व रोचक लगता है। उसके पीछे लोग दौड़ते हैं। रामकाल में आत्मकेंद्रित, व्यक्तिवादी समाज नहीं था। विश्वात्म बनकर सबके सुखदु:ख में समरस बनने का प्रयत्न करनेवाला समाज राम ने बनाया था। उसीका नाम रामराज्य है। ऐसा समाज अपने आप निर्माण नहीं होता। उसको निर्माण करना पड़ता है। ऐसा समाज जब निर्माण किया जाता है तब वह रामराज्य बनता है।

मनुष्य को केवल कर्तव्यपरायण नहीं, अपितु लोभविवर्जित भी बनाया गया था। हम कर्तव्य *(Duty)* का एक नारा लगाया करते हैं मगर उससे कर्तव्यपरायणता नहीं आती। आये भी कहाँ से? किसीसे कहो, 'तुझे अपना कर्तव्य करना है,' तब क्यों? मुझे क्या मिलेगा? ये प्रश्न प्रथम खड़े होते हैं। किसीसे कहो, 'स्वाध्याय करो' तो उससे क्या मिलेगा? यह प्रश्न वह पूछता है।

समाज में-*Social life* में क्या कमी है, क्या होना चाहिए यह राम को मालूम था। वह असली डॉक्टर था। समाज को कौनसा रोग हुआ है, कौनसा रोग हो सकता है और उसकी दवाई क्या है, समाज को उससे कैसे बचाना यह संपूर्ण जानकारी राम को थी। इसीलिए सब लोग उसने **'नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः'** ऐसे बनाये थे। तुष्ट बनना अलग बात है। लक्ष्मी **'तृप्तां तर्पयन्तीम्'** होनी चाहिए। अन्यथा लक्ष्मी आने के बाद भूख बढ़ती है। ऐसी लक्ष्मी मुझे नहीं चाहिए। मुझे डकार देनेवाली लक्ष्मी चाहिए। उसीको लक्ष्मी कहते हैं। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को राम ने **'अलुब्ध, सत्यवादी, अलम्पट, क्रियाशील** और **आसक्त'** बनाया था। महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम महाराज कहते हैं, **'आपणा सारिखे करीतो तात्काळ-नाही काळवेळ तया लागी।'** यह उच्च कक्षा का राष्ट्रीय चरित्र है। राम स्वयं अकेले नहीं बना। राम ने संपूर्ण समाज को वैसा बनाने का प्रयत्न किया। सभी राम कैसे बन सकते हैं? सभी राम तो नहीं बन पायेंगे, परन्तु राम जैसा बनाने का प्रयत्न किया। यही उसका वैशिष्ट्य है, यही उच्चतम चरित्र है।

लोग रावण नहीं बनने चाहिए, राम बनने चाहिए। राम ने उसके लिए प्रयत्न किया। यही राम-रावण का युद्ध है। **'रामरावणयोः युद्धं रामरावणयोरिव'** ऐसा जो लिखा है, वह रणमैदान में उन दोनों के बीच का युद्ध ही नहीं, आज तक भी वह वैचारिक युद्ध चलता है। आज हम रावण बनाने के कारखाने खोलते हैं, कि जिनसे व्यक्ति सुखवादी, आत्मकेन्द्रित और स्वार्थी बनता है। ऐसे कारखाने खोलनेवाले और चलानेवाले लोगों के पीछे भी वित्ताधिष्ठित व राज्याधिष्ठित लोग होते हैं। उनके सामने ये लोग लज्जित होते हैं। वहाँ वे स्वतंत्रतापूर्वक श्वास नहीं ले सकते। हमें केवल रोटी नही, स्वतंत्र श्वासोच्छ्वास चाहिए। हर व्यक्ति को तनिक सोचना चाहिए।

जब मनुष्य को राम बनाने के प्रयत्न चलते हैं और समाज में राम बढ़ते हैं तब हम दीवाली समझते हैं। समाज की दीवाली करनी है या होली? दीवाली-होली दोनों में प्रकाश तो होता ही है उससे अंधकार चला जाता है। दीवाली एक भिन्न बात है। हमें होली नहीं करनी है।

दीवाली के बाद प्रथम बार हम सब स्वाध्यायी मिल रहे हैं। सब मिलकर भगवान से प्रार्थना करेंगे, 'भगवान! हम सबको लक्ष्मी चाहिए क्योंकि हमें आपका काम करना है। हम राम के पूजक हैं, रावण के नहीं। हम सबको राम बनाने का प्रयत्न करेंगे। सभी राम बनेंगे या नहीं यह देखने का हमें कोई कारण नहीं है। हम वैसा प्रयत्न जरूर करेंगे। हमारी शक्ति मर्यादित है। इसलिए गुणलक्ष्मी, भाग्यलक्ष्मी, आत्मलक्ष्मी, सभी प्रकार की लक्ष्मी हमारे पास होनी चाहिए।

हम साथ मिलकर प्रार्थना करेंगे। आज का जमाना ऐसा है कि साथ मिलकर सामुदायिक पद्धति से माँगेंगे तो देनेवाले को देना ही पड़ता है। हम घर में अकेले माँगेंगे तो भगवान ना भी कह सकते हैं, परन्तु सब मिलकर माँगेंगे तो भगवान को देना ही पड़ेगा। मगर हमें विशुद्ध हेतु से माँगना है।

भगवान! हमें पता है कि रावण बन जाता है, राम बनाना पड़ता है। रामराज्य का वैशिष्ट्य हम समझ गये हैं, वह हमें मान्य है। हम रामराज्य लाने का प्रयत्न करेंगे।

कुछ सुशिक्षित अभ्यासार्थी लोगों ने मुझे क़हा कि 'रामराज्य के सम्बन्ध में विचार किया ही है, परन्तु जब प्रसंग आया ही है तो पुराने समय में राज्य की कल्पना कैसे थी, क्या थी इस पर भी कहेंगे तो अच्छा होगा।' मैंने उनसे कहा, यह राजनीति *(Politics)* का विषय है, इसलिए वह सामान्य लोगों के लिए कठिन होगा, क्योंकि वह शास्त्रीय विषय है। सुननेवाले विशिष्ट और आम लोग *(Mass)* साथ ही बैठे हैं। विषय शास्त्रीय है यह बात सच है, परन्तु उस पर विचार करने की आवश्यकता है, इसमें सन्देह नहीं। रामराज्य का पर्यायी शब्द है उत्कृष्ट राम। रामराज्य उत्कृष्ट कैसा था यह हमने देखा ही है।

समाज को अन्न, वस्त्र और निवास की आवश्यकता तो है ही। वह काम राज्यसंस्था को करना चाहिए। साथ ही मनुष्य को बनाना और उसको खड़ा करने का काम भी करना

आवश्यक है। राम ने यह काम किया था और रामराज्य की महत्ता उसीमें है। राम ने क्या किया होगा यह मालूम नहीं है। क्या राम ने कुछ जादू किया था? वह जादू नहीं था। रघु, अज, दशरथ- इन तीन पीढ़ियों का रामराज्य परिणाम था। प्रारंभ हुआ दिलीप से, परन्तु असली रूप में रघु से शुरुआत हुई। इसीलिए आज रघुवंश बोला जाता है, रामवंश नहीं, राम अवतार था, फिर भी मैं रामवंशी हूँ' ऐसा कोई नहीं कहता। 'रघुवंशी हूँ' ऐसा कहता है। लोगों को अच्छा बनाने की नींव रघु से प्रारंभ हुई थी।

राज्य के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विचारधाराएं हैं। उत्क्रान्ति *(evolution)* की दृष्टि से राज्य कैसे निर्माण हुआ? राजा कैसे आया? इस संबंध में हमने चतुर्थ स्कन्ध में विचार किया है। राज्यव्यवस्था की कल्पना क्या थी इसका भी विचार किया है।

आज सब उलटा हो गया है। आज हम लोगों के दरवाजे पर जाते हैं और हमें राजा बनाओ ऐसा कहते हैं। प्राचीन काल में लोगों ने स्वयं जाकर मनु से राजा बनने के लिए कहा था। इतना फ़र्क़ है। इसीको विपरीत काल कहते हैं। कलियुग का अर्थ क्या है? क्या कलियुग में लोग सिर के बल चलते हैं? नहीं! पैर से ही चलते हैं!

भारतीयों की राज्य की कल्पना पवित्र थी। अलग अलग राज्य की विशिष्ट कल्पना थी। हमारे पुरोहित महाराज घर-घर जाकर कर्मकाण्ड कराते हैं। पूजा में आरती, पुष्पांजलि के मंत्र बोलते हैं। वे क्या बोलते हैं उसका अर्थ स्वयं वे भी नहीं जानते और सुननेवाले क्या सुनते हैं इसका उन्हें भी पता नहीं चलता। सभी हाथ में फूल लेकर खड़े रहते हैं और पुरोहितजी जोर जोर से बोलने लगते हैं-

ॐ राजाधिराजाय प्रसह्यसाहिने। नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे। स मे कामान्कामकामाय मह्यं कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु। कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः। ॐ स्वस्ति। साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठयं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुषः आन्तादापरार्धात्। पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराळिति।। तदाप्येषः श्लोकोऽभिगीतो मरुतः परिवेष्टारो मरुत्तस्यावसन् गृहे। आविक्षितस्य कामप्रेर्विश्वेदेवाः सभासद इति।।

उस समय सब लोग हाथ में पुष्प लेकर खड़े होते हैं। उन्हें यह लगता है कि कोई भगवान की स्तुति चल रही है। यह कितना पागलपन चल रहा है! बोलनेवाला तथा सुननेवाले दोनों को पता नहीं और हमारी पूजा तो हो गयी। लोग पूछते भी हैं कि क्या मंत्रपुष्प हो गया? लेकिन उसमें क्या है?

एक बात अच्छी है कि हमारे लोगों ने मंत्रपुष्प में राजा और राजसत्ता को ग्रथित कर रखा है। राज्यसत्ता के कौन-कौन से प्रयोग हमने किये, उनका वर्णन-चित्रण इसमें है। परन्तु उसका अभ्यास ही नहीं हुआ। मैं हमेशा विनोद में कहता हूँ कि भारत का संविधान *(constitution)* अनपढ़ लोगों का बनाया हुआ है। यह कहने पर लोग मुझे कोसेंगे, परन्तु मैं व्यासपीठ से बोल रहा हूँ इसलिए वे नहीं कोसेंगे। क्योंकि व्यासपीठ में वेदव्यास की

शक्ति है, मेरी नहीं है। परन्तु हमारा संविधान अनपढ़ लोगों ने बनाया है। समझ लीजिए, फ्रान्स का संविधान मुझे मालूम नहीं है, इंग्लैंड तथा जर्मन का भी संविधान मुझे मालूम नहीं है, तो मैं अनपढ़ माना जाऊँगा, वैसे ही भारत का संविधान *(constitution)* का जिनको पता नहीं है वे लोग अनपढ़ क्यों नहीं? परन्तु यह पूछनेवाला कोई माई का लाल-सपूत नहीं निकला! किसी का दिल जलता ही नहीं है। किसी के दिमाग में कुछ आता ही नहीं। संविधान बनानेवाले ने वह देखा ही नहीं था। केवल रामराज्य, राम को हम मानते हैं और नवरात्रि में रामनवमी का उपवास करते हैं। उससे ज्यादा हम लोगों ने कुछ किया ही नहीं है। सभी जगत् के संविधान जिनको मालूम हैं ऐसे लोगों को एकत्र किया और उनके द्वारा हमारा संविधान बना लिया। जिनको भारत के संविधान का कुछ पता ही नहीं था ऐसे लोगों को संविधान बनाने के लिए क्यों बिठाया? उनको भारत के संविधान का अभ्यास करना चाहिए था और फिर भारत का संविधान लिखना चाहिए था। प्रथम अभ्यास करो और फिर संविधान लिखने बैठो ऐसा कहनेवाला कोई नहीं था। कुछ तेज ही नहीं है। भारत में राज्यव्यवस्था के कुछ अलग-अलग प्रयोग हुए थे। हमें एक ही बात समझायी जाती है कि फ्रेंच-राज्यक्रान्ति के बाद हमें लोकतंत्र *(Democracy)* मिली। सभी पढ़े लिखे लोग यही बोलते हैं। उनसे पूछना चाहिए कि कृष्ण का राज्य किस प्रकार का था? वह लोकतांत्रिक राज्य था। *It was a Democratic Republic State. There is difference between Democracy and Democracy Republic*। गणतांत्रिक राज्य व लोकतांत्रिक में फर्क है। कृष्ण के समय लोकतांत्रिक राज्य था, परन्तु पढ़े-लिखे लोगों की मान्यता है कि फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद हमें पहले लोकतंत्र मिला। हम अंग्रेजी में बोलते हैं इसलिए हम पढ़े-लिखे हैं। और जो संस्कृत में बोल रहे हैं, हाथ में पुष्प लेकर **'साम्राज्यं वैराज्यं...'** बोलते हैं उन्हें पता ही नहीं है कि वे क्या बोल रहे हैं।

वेदव्यास ने भविष्य पुराण में लिखा है, **'कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव-'** फाल्गुन महीने में होली के दिनों में बालक जो कुछ बोलते हैं, वह क्या बोलते हैं इसका उन्हींको पता नहीं होता। वैसा ही आज वेदान्त के सम्बन्ध में हो गया है। परन्तु उस मंत्र में, भिन्न भिन्न राज्यव्यवस्थाएं हो गयीं थी उनका वर्णन है। उसमें एक **वैराज्यं** की कल्पना है।

'वैराज्यम्' अर्थात् राज्यविहीन अव्यवस्था। उसमें शासनव्यवस्था नहीं, राजा नहीं, राष्ट्राध्यक्ष नहीं, ग्रामसभा तथा राज्यसभा भी नहीं। इसको अंग्रेजी में *Anarchism* कहते हैं। अंग्रेजों ने उसके सम्बन्ध में विचार किया है, परन्तु हमें *Anarchism* अर्थात् अव्यवस्था गड़बड़ी. अन्धाधुन्ध इतना ही मालूम है, परन्तु *Anarchism* का यह अर्थ नहीं है। तुम अभ्यास करोगे तो पता चलेगा कि स्वयंशासित राज्य- *Self-Governed Government* यानी वैराज्य *Anarchism,* उसीको शासनाभाव कहते हैं। उसमें बिलकुल अव्यवस्था नहीं होती। *There is no nesessity of king or Government.* शासनाभाव में यह प्रथम प्रश्न पूछा जाता है कि सरकार तुम्हें क्या देती है? क्या बुद्धि देती है? क्या बुद्धि की शक्ति

बढ़ाती है? क्या देती है सरकार तुम्हें? कुछ नहीं! 'वाहन बायीं ओर से चलाओ' ऐसा सरकार कहती है। वह हम निश्चित करेंगे। और समझ लीजिये, हम नहीं करेंगे, हममें यदि सौजन्य नहीं होगा तो हम दाहिनी ओर से वाहन चलायेंगे और कोई दुर्घटना *(accident)* हो जायेगी तो अन्त में, कानून का पालन करना अथवा न करना व्यक्ति के सौजन्य पर निर्भर है। जब तक व्यक्ति में सौजन्य नहीं बढ़ता तब तक कानून किसके लिए हैं? पुलिस का डर है। जो दस प्रतिशत दुर्जन हैं वे पुलिस से नहीं डरते। नंगे से भगवान भी डरते हैं, तो वे (नंगे) पुलिस से क्यों डरेंगे? तो फिर कानून किसके लिए हैं? क्या समझदार लोगों के लिए कानून की आवश्यकता है? हममें समंजसता, सज्जनता यदि बढ़ेगी, बढ़ती जायेगी तो कानून की, सरकार की आवश्यकता ही कहाँ रही? इसको स्वयंशासित राज्यव्यवस्था *(Anarchism)* कहते हैं। ऐसी वैराज्य की कल्पना हमारे देश में हुई है और उसका प्रयोग भी हुआ है।

स्वयंशासित राज्य का प्रयोग वसिष्ठ ने किया था। ऐतिहासिक दृष्टि से वसिष्ठ का वर्णन बहुत दीर्घकाल से चलता है। अर्थात् वसिष्ठ व्यक्ति है अथवा संस्था है? जैसे शंकराचार्य सात, आठ सौ वर्षों से चलते ही आ रहे हैं! आज भी शंकराचार्य हैं। शंकराचार्य एक संस्था है वैसी 'वसिष्ठ' भी एक संस्था होगी। उस पर अन्वेषण *(Research)* होने की आवश्यकता है। परन्तु वसिष्ठ ने स्वयंशासित राज्य-वैराज्य का प्रयोग किया था।

वसिष्ठ-विश्वामित्र का जो झगड़ा है वह आध्यात्मिक नहीं है, राजनैतिक झगड़ा है। वसिष्ठ ने स्वयंशासित राज्य खड़ा करके लोगों को इतना अच्छा बनाया था कि उनको शासन की आवश्यकता ही नहीं थी। उसीको **'वैराज्यम्'** कहते हैं।

इसी प्रकार एक प्रकार है **'विराट्'** का! विराट् यानी विशेष प्रकार का राष्ट्र। ऋषियो ने विविध प्रकार के राजनैतिक प्रयोग किये थे। उनमें अलग-अलग, एक लंबा दस हजार साल का मानव का इतिहास है। मानव के इतने प्रदीर्घ इतिहास में इन प्रयोगों में कौनसा प्रयोग अच्छा होगा? अन्त में उन्होंने लिखा है-**'साम्राज्यं, भौज्यं स्वाराज्यं....पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति।'** एकराट् एक सांघिक राज्य अर्थात् विराट को श्रेष्ठ राज्य समझा गया है। **समुद्रपर्यन्ताया पृथ्वी एकराट्** यह सब रोज की पूजा में-मंत्रपुष्पांजलि में आया है। जिसने मंत्रपुष्पांजलि में यह रखा वह बहुत ही अक्लमंद था इसमें संदेह नहीं। इसलिए यह टिका है अन्यथा नहीं टिकता। बिना मंत्रपुष्पांजलि के पूजा समाप्त नहीं होती और प्रतिदिन **गणानां पतिः गणपतिः** के सामने यह बोलनी चाहिए।

यह जो वैराज्य-विराट् है, यह एक प्रकार का प्रयोग है। इसमें पृथ्वी में ऋषियों की संघराज्य की कल्पना थी। **समुद्रपर्यन्ताया पृथिव्यै एकराट्** संपूर्ण विश्व के लिए एक ही संघराज्य होगा तभी विश्व अच्छी तरह से चलेगा ऐसा ऋषियों का कहना है। भूगोल खण्ड पर अलग-अलग राज्य होंगे तो सभी को अलग-अलग मिलिटरी रखनी पड़ेगी। प्रत्येक देश

को मिलिटरी को सँभालने के लिए अपनी आय में से अस्सी प्रतिशत कर (*Taxes*) व्यय करने पड़ते हैं। यह व्यय यदि बचेगा तो भौतिक दृष्टि से समाज सुखी, आनंदी, स्वस्थ बन सकता है। समाज के अन्तिम व्यक्ति को भी अन्न-वस्त्र-आवास मिल सकता है।

भारत की सरकार जितना कर लेती है उसमें से अस्सी प्रतिशत मिलिटरी पर खर्चा होता है। उसके सम्बन्ध में पूछना भी नहीं है। यदि विश्व का संघराज्य निर्माण हुआ तो यह व्यय बच जायेगा और समाज के अन्तिम व्यक्ति की आर्थिक स्थिति सुधार सकते हैं। इसके लिए विश्व में संघराज्य की आवश्यकता है। यही कल्पना यूनो *UNO*- की है। इसी दृष्टि से यूनो की स्थापना की है, परन्तु जिन्होंने उसकी स्थापना की वे भयग्रस्त थे। इसका कारण यूनो की कल्पना ही स्वार्थी और भयग्रस्त राजनीतिज्ञों की है। उसके सामने संघराज्य-विराट् की कल्पना निस्वार्थी, निर्भय और मानवतावादी ऋषियों की कल्पना है। दोनों का अर्थ एक ही है।

यूनो *(UNO)* की कल्पना में जिस भूगोलखंड को दूसरा राष्ट्र तकलीफ देगा, वहाँ *UNO* की सेना पहुँच जायेगी और उस राष्ट्र का रक्षण करेगी। यूनो में सेना रहेगी, दूसरे किसी देश के पास सेना नहीं होगी। पुलिस रहेगी, परन्तु सेना नहीं! यूनो की मूल कल्पना ऐसी थी। वह अच्छी भी थी। अब तो युनो डिबेटिंग सोसायटी *(Debating Society)* बन गया है। युनो से विश्वशान्ति की कल्पना करना भैंसे से दूध की कल्पना करने जैसा है। इसका कारण यह है कि यूनो स्वार्थी और भीतिग्रस्त राजनीतिज्ञों की कल्पना है। मूल कल्पना किसकी है इस पर भी सांघिक राज्य की जो कल्पना है उसीको **विराट्** कहते हैं। यह संघराज्य की कल्पना ऋषियों को सर्वश्रेष्ठ लगी इसीलिए वे अन्त में गाते हैं। **'पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया...आविक्षितस्य कामेप्रर्विश्वेदेवाः सभासद इति..।'** और ऐसा कहकर गणपति भगवान पर फूल चढ़ा देते हैं।

साम्राज्यम् तीसरी एक साम्राज्य की कल्पना है। उसमें एक राजा की अपने अधीनस्थ राजाओं पर सत्ता चलानी होती है। राजा अर्थात् **राजते नाम शोभते-** यानी संपूर्ण पृथ्वी की शोभा अर्थात् राजा। साम्राज्य में अलग-अलग राज्य होते हैं, परन्तु उन सबकी विचारधारा एक ही होती है। अन्य राजाओं की सत्ता और उनका अस्तित्व टिकाकर उसको सम्राट बनना है। इसमें सम्राट किसी राजा की सत्ता अथवा उसका अस्तित्त्व नहीं छीनता है, परन्तु एक विचार से ही ये सब राज्य चलने चाहिए। इसीलिए हमारे देश में राजसूय, अश्वमेध यज्ञ की शुरुआत हुई। राम और कृष्ण जैसे अवतारों ने क्षत्रियों को राजसूय यज्ञ करने की कल्पना दी है। क्योंकि एक विचार का राज्य चलना चाहिए। इन राजाओं पर जिसकी सत्ता और प्रभाव चलता है वह सम्राट है और उसके राज्य को साम्राज्य कहते हैं। उसमें दूसरे राजाओं की सत्ता और अस्तित्त्व टिकाकर राज्य चलाना है, सभी का एक विचार और एक उच्चार है।

दूसरा एक राज्य का प्रकार है जिसे **भौज्यं** राज्य कहते हैं। ऋषियों ने प्रयोग करके दिखाया है कि सभी काम राजा पर नहीं सौंपने चाहिए। राजा को मर्यादित काम सौंपने हैं

और राजसत्ता रखनी है। कौन से काम राजसत्ता को सौंपने हैं? भोजनादि का काम और उपभोग की व्यवस्था राजप्रबंधक के द्वारा ही होती थी। ऐसा जो राज्य है उसे **भौज्यं** कहते हैं। सभी का योगक्षेम अच्छी तरह से चलना चाहिए। वह ठीक तरह से चल रहा है या नहीं, यह देखना राजा का कर्तव्य है। सभी को रहने के लिए घर, पहनने-ओढ़ने के लिए वस्त्रों का प्रबन्ध और वृद्धावस्था की व्यवस्था ये सभी बातें इस राज्य में राज्यसत्ता करती है, उसीको **भौज्यं राज्यं** कहते हैं। इसीको हम आज की भाषा में कल्याणकारी राज्य *(Welfare State)* कहते हैं। इस राज्य को यह सब प्रबंध करना ही चाहिए। नहीं करेंगे तो पाप है, अपराध है। *Not only crime but sin*। राज्य को ही यह सब देखना है। वेदकाल में ऋषियों ने कितना अभ्यास किया होगा, कितने प्रयोग किये होंगे।

इस प्रयोग में ऋषियों ने देखा कि मनुष्य के लिए, अन्न, वस्त्र व आवास का प्रबंध राज्य द्वारा होने से मनुष्य में दुर्बलता पैदा होती है, अकर्मण्यता घुस जाती है। इसीलिए **भौज्यं** राज्य व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ नहीं मानी जाती है। कुछ तत्कालीन राज्यव्यवस्था रही होगी। प्रयोग करके ऋषियों ने देखा कि अन्न-वस्त्र तथा आवास की व्यवस्था राजसत्ता करती है तो उसमें व्यक्ति का विकास, उन्नति नहीं होती है। कल्याणकारी राज्य *(Welfare state)* कह सकते हैं वैसी शब्दश: व्यवस्था भौज्य राज्य में देखने को मिलती है, परन्तु उसमें व्यक्ति का मनोदौर्बल्य बढ़ जाता है और अकर्मण्यता घुसती है। मनुष्य को यदि बेरोजगार भत्ता मिलता हो तो वह काम ही क्यों करेगा? उसके मन में यही विचार रहता है कि पैसा मिलता है, पीने के लिए शराब मिलती है तो काम किसलिए करना? हम बेरोजगार ही रहेंगे। यह चिरन्तन सत्य ध्यान में रखना चाहिए कि स्वतंत्रता और सुरक्षितता *(Liberty and security)* जहाँ साथ में आते हैं ऐसा कोई भी देश और कोई भी समाज कभी ऊपर नहीं आ सकता। स्वतंत्रता और सुरक्षितता दोनों साथ में नहीं होनी चाहिए। सुरक्षितता देनी हो तो स्वतंत्रता वापिस लो और स्वतंत्रता देनी हो तो सुरक्षितता वापिस लो।

आज सभी सुरक्षित हैं। प्रत्येक को लगता है कि मुझे भत्ता मिलना चाहिए, रोटी मिलनी ही चाहिए, मुझे सुरक्षितता है। 'हर व्यक्ति सुरक्षित है, उसके साथ काम न करने की स्वतंत्रता है। *I do not want to work,* मुझे यह काम अच्छा नहीं लगता है, मुझे नहीं करना है। इंग्लैंड में आज यही स्थिति है। लोग काम देते हैं परन्तु काम करनेवाले कहते हैं, 'यह काम हमारी हैसियत के अनुसार नहीं है, इसलिए हमें नहीं करना है।' यह समस्या *(Problem)* सभी लोगों के सामने खड़ी हुई! इस चिरन्तन सत्य के बारे में हमारे ऋषियों ने विचार किया था। सुरक्षा और स्वतंत्रता जिन लोगों ने साथ में ली है, वे बेवकूफ लोग हैं! वे आज देखते होंगे, परन्तु हजार वर्षों तक मानवजाति मानवसमाज का कल्याण देखने की शक्ति उनमें नहीं है। भविष्यकाल देखने की शक्ति उनमें नहीं है। 'आज कोई चिल्लाता है तो दे दो उसका चिल्लाना बंद हो जायेगा।' ये लोग भविष्यदर्शी, ऋषि नहीं और क्रान्तदर्शी भी नहीं हैं। उनको क्रान्तदर्शी नहीं कहा जाता। सुरक्षा व स्वतंत्रता दोनों साथ में रहने से भौज्यराज्य में परेशानी आती है। इसलिए ऋषियों ने अलग-अलग राज्यों के प्रयोग किये।

दूसरा एक प्रयोग **'स्वाराज्यम्'** का हुआ था। **'भौराज्यम् स्वाराज्यम्'** ऋग्वेद में पढ़ेंगे तो **'भौराज्यम्'** अर्थात् अनेक जनपद के नेताओं तथा प्रतिनिधियों की अनुमति से राज्य चलाना उसको **स्वाराज्यम्** कहते हैं। अपने अपने प्रतिनिधि प्रजा चुनती थी और ऐसे चुने हुए प्रतिनिधियों की एक समिति बनायी जाती थी। यह सभा राज्यशासन के नियम निश्चित करती थी और राज्य चलाया जाता था। **'भौराज्यम् स्वाराज्यम्'**- यह वेदमन्त्र हम केवल कण्ठस्थ करके बोलते हैं और उसीको वेदपूजा समझते हैं, परन्तु उसके अर्थ का हमें पता नहीं होता। बहुमत की सम्मति से राज्य चले ऐसा प्रयोग इस भारत में हुआ है। उसमें कितने ही वर्ष लग गये। यह एक संशोधन का विषय है। कदाचित् दो-तीन पीढ़ियाँ भी लगी होंगी।

इस **स्वाराज्यम्** में बहुमत से राज्य चलाना पड़ता था। एक ओर इक्कावन मत और दूसरी ओर उनपचास मत पड़े तो बहुमत से निर्णय लेना पड़ता था। उनपचास लोगों को वह निर्णय मान्य न होते हुए भी, वे विरोध में हैं फिर भी उस निर्णय को मानना पड़ता था। यह एक दोष है, बहुमत से राज्य चलता है। एक ओर इक्कवान लोग हैं। दूसरी ओर उनपचास लोग होते हैं। इनको ५१ लोगों का मानता पड़ता है। फिर वे लोग अपने पक्ष में सामनेवाले पक्ष में से दो लोग फोड़कर समान *(equal)* बन सकते हैं। जब तक व्यक्ति दुर्बल, लोभी, स्वार्थी व डरपोक हैं तब तक वे फोड़े जा सकते हैं। ये लोग समाज का चिरन्तर नुकसान भी कर सकते हैं। परन्तु यह **स्वाराज्यम्** व्यवस्था अच्छी होगी ऐसा ऋषियों ने सोचा और उसका प्रयोग करके देखा।

उसके बाद **पारमेष्ठ्यम्** यह एक व्यवस्था है। **परमेष्ठि प्रजापतिः बृहति इति पारमेष्ठ्यम्।'** अथर्ववेद में यह आता है। परमेष्ठि में रहनेवाले लोगों का राज्य अर्थात् विशिष्ट वर्ग *(class)* का राज्य! परमश्रेष्ठ प्रजाजनों से नियुक्त होकर व्यक्ति शासक बन सकता है।

आज भी कितने ही लोग कहते हैं कि 'अनपढ़ लोगों को मताधिकार नहीं देना चाहिए।' जो पढ़े हुए हैं उनको ही मताधिकार दो। इससे शासन अच्छा चलेगा। कारण पढ़े हुए लोग समझदार होते हैं।' इसका विरोध करनेवाले लोग कहते हैं कि क्या सभी समझदार होते हैं? क्या राजनीति की पुस्तकें पढ़नेवाले तथा फ्रान्स और इग्लैंड का इतिहास जिन्होंने पढ़ा है, उनको ही समझ है? अपना स्वार्थ किसके द्वारा सिद्ध होगा, मुझे कौन सँभालेगा यह समझने की शक्ति सभी में है। फिर वे पढ़े हुए हों या अनपढ़ हों। सभी यह बात समझ सकते हैं। दोनों पक्षों के लिए अनेक दलीलें हैं इसलिए दो पक्ष निर्माण होते हैं। एक पक्ष कहता है कि सामान्यों को समझ नहीं होती है, अतः उनको मताधिकार न दो। तब दूसरा पक्ष कहता है कि तुम सामान्य लोगों के अधिकार छीन रहे हो। हमें किस शासन के अधीनस्थ रहना है यह निश्चित करने का अधिकार प्रत्येक को होना चाहिए।

पारमेष्ठ्यम् का एक और अर्थ है- राष्ट्रप्रमुख पद्धति *(Presidential Rule)*। इसमें एक व्यक्ति को नियुक्त करते हैं और वह शासन करता है। वह जो निश्चित करेगा वह सभी

को स्वीकारना पड़ता है। आज अमेरिका में ऐसी पद्धति चल रही है। भारत में भी इसकी चर्चा चलती है कि पार्लियामेंट पद्धति के बदले राष्ट्रप्रमुख पद्धति अपनाना या नहीं।

दूसरी एक राज्यव्यवस्था थी- **जनपदराज्य** प्रजाजनों का राज्य! ऐसा राज्यशासन प्रजाजनों की सम्मति से ही चलता है। शासनाधिकारी न राजा होगा न राजनियुक्त होगा। प्रजा निश्चित करेगी। जब जब उलझनें आयेंगी तब प्रजा ही निश्चित करेगी। प्रजा का कहना होता है कि राज्य चलाने के लिए नियुक्त व्यक्ति हमें नहीं चाहिए। इस व्यवस्था में न राज्यशासन है, न राजा है, न राजनियुक्त व्यक्ति है। परन्तु उसमें क्यों होने लगा? इस प्रजातांत्रिक राज्य में अनिश्चितता निर्माण होने लगी। उसके कारण किसी भी व्यक्ति को समाज का कल्याण करने का मौका नहीं मिलता। कारण कुछ योजना *(Planning)* ही नहीं! जनपद राज्य में प्रत्येक प्रश्न का सुझाव देकर लोगों को निश्चित करना है कि तुम्हें यही करना है। इस जनपद राज्य में कोई भी योजना सुरक्षित नहीं रहती। किसी भी योजना को पूरा करना है तो उसके लिए समय लगेगा ही!

एक प्रयोग **विप्रराज्य** का भी हमारे देश में लोगों ने किया था। **विप्रराज्य** अर्थात् विशेष ज्ञानी लोगों का राज्य। समझो कि ब्राह्मणों के हाथ में राज्य दिया। इन ब्राह्मणों को सत्ता या वित्त की स्पृहा नहीं है। वे ही अच्छी तरह से राज्य कर सकते हैं। जिसके पास राजसत्ता आती है उसके पास शक्ति भी आती है और सम्पत्ति भी आती है। इसलिए ऐसे व्यक्ति के हाथ में सत्ता के सूत्र होने चाहिए कि जिसको सत्ता व सम्पत्ति दोनों में से किसी का भी मोह न हो। परन्तु विप्रराज्य दुर्बल *(weak)* होने लगा। ब्राह्मण कितना भी अच्छा क्यों न हो, परन्तु वह शासक कैसे बन सकता है? इसका कारण वह ज्ञानी होने से सभी में भगवान देखने लगा तो गड़बड़ी हो जाती है। कोई भूल करेगा तो उसको वह सज़ा नहीं देगा और कहेगा, 'भूल तो हो गयी परन्तु वह सुधर सकता है। उस पर क्रोध कैसे किया जा सकता है?' ऐसा कहने से वह राज्य नहीं चला सकेगा। हमारे यहाँ कहावत है- हुक्म गरमाई का और व्यापार नरमाई का। इसीलिए विप्रराज्य कमजोर होने लगा।

विप्रराज्य के बाद एक **'समर्थ राज्य'** की कल्पना ऋषियों ने दी। यहाँ समर्थ का अर्थ होता है धनपति, पूँजीपति, वैश्य! वैश्य के हाथ में राज्य सौंप देना। इसका कारण जो कुछ भौतिक उत्पादन-कृषि आदि हैं, वह सब वैश्य समझता है, अधिक अच्छी तरह से समझता है इसलिए वैश्यों के हाथ में राज्य देना। धनपति-वैश्य मानव को मानव नहीं बना सकता और किसी का रक्षण भी नहीं कर सकता। ये वैश्य मानव बनाने के लिए और प्रजा का रक्षण करने के लिए किराये पर मनुष्य लेने लगे। किराये के मनुष्यों में जोश नहीं होता और उसका प्रभाव भी नहीं पड़ता। किसी को मानव बनाना हो तो चरित्र का प्रभाव पड़ना चाहिए। यदि जीवन का, चरित्र का और विचारों का प्रभाव न हो तो मानव बनाना अशक्य है।

किराये के व्यक्ति अथवा वेतन देकर लाये हुए ब्राह्मण चरित्र निर्माण कैसे कर सकते हैं? जो गुलाम बने हैं वे ऐसा काम किस प्रकार कर सकते हैं? आज भी शिक्षा का

राष्ट्रीयकरण *(Nationalization)* करने की बातें चल रही हैं। स्वयं शिक्षक ही वैसी माँग कर रहे हैं। राजसत्ता के गुलाम बने हुए लोग क्या करेंगे? वे इतना ही कहेंगे कि हमने दिन भर दिये हैं, रजिस्टर में दस्तखत कर दिये हैं। हमने कितना पढ़ाया है यह देखने की आवश्यकता नहीं है। आप हमें निकाल नहीं सकते। हमें अपना वेतन मिलना ही चाहिए। इन लोगों को पढ़ाने की आवश्यकता नहीं लगती, वे सुबह ग्यारह बजे रजिस्टर में दस्तखत करते हैं या नहीं यही देखते हैं और वेतन पाते हैं। दस्तखत हुआ यानी काम पूरा हो गया। दस्तखत हुआ है यानी उपस्थिति है, उन्होंने पढ़ाया है या नहीं यह देखने की जरूरत नहीं है, उनको वेतन दे दिया जाता है। शिक्षक कोई उत्तरदायित्व उठाने के लिए तैयार ही नहीं!

तुम किसी को नौकर या गुलाम अथवा आश्रित बनाओ, वह उत्तरदायित्व उठा नहीं सकेगा। संरक्षण एक बात है और मानव बनाना दूसरी बात है। शिक्षा का राष्ट्रीयकरण करने से शिक्षक को संरक्षण मिलेगा, परन्तु उसके द्वारा मानव तैयार होगा इसमें सन्देह है। **समर्थ राज्य** में यही दोष आया। वैश्यों में वह शक्ति ही नहीं थी कि वे मानव बना सकेंगे। वे जोश और प्रभाव कहाँ से लायेंगे? किराये के लोगों में ये दोनों बातें नहीं होती।

दूसरा एक **अधिराज्य** का प्रयोग है। उसमें छोटे छोटे दुर्बल राज्यों के समूह पर एक बलाढ्य राजा का अधिकार होता है। इसमें सारी शक्ति केन्द्र में *(central)* रहती है, दूसरे किसी के हाथ में नहीं। उसको अधिराज्य कहते हैं। इसमें एक बलाढ्य शासन जानबूझकर दूसरे राज्यों को दुर्बल रखता है ताकि उन पर राज्य किया जा सके। यह एक निष्कृष्ट शासन था और निष्कृष्ट शासन होने के कारण प्रजाजनों के क्लेशों की कोई मर्यादा नहीं थी। राजा अशक्त, असमर्थ बन गया और प्रत्येक व्यक्ति बलाढ्य राजा तक नहीं पहुँच सकता। अत: इस अवस्था में सामान्य प्रजा क्या करेगी? अत: यह प्रयोग पनप नहीं सका।

और एक प्रयोग **'महाराज्य'** का हुआ। इसमें छोटे छोटे राज्यों की कोई सत्ता ही नहीं। उनको एक महासत्ता में पूर्णतया विलीन हो जाना आवश्यक था। जिस प्रकार वर्षों पहले छ सौ रियासतें विलीन हो गयी और भारत एक महाराज्य बना।

उसके बाद **'आधिपत्यम् राज्यम्'** का प्रयोग हुआ। अधिपति यानी अधिकारी। अधिकारियों के तन्त्र से चलनेवाला राज्य **'आधिपत्यम् राज्यम्'** कहलाता है। इसे आज की भाषा में नौकरशाही का राज्य *(Bureaucracy)* कहते हैं। उनके हाथ में शासन दे दो, चौबीसों घण्टों *(full time)* वे लोगों की सेवा करेंगे।

फिर **'समन्तपर्यायी'** का प्रयोग हुआ। इसका अर्थ होता है- मांडलिक राजा-सम्राट को कर देने के बाद जो सामन्त अथवा राजा बन सकता है वह। वह वांशिक राजा बन सकता है। कृष्ण के समय ऐसे अनेक राज्य थे। नन्दराजा भी वैसा ही राजा था। सम्राट को कर देने पर वांशिक राजा हो सकता है।

उसके बाद आता है **राज्य**! इसमें राज्य राजा की निजी सम्पत्ति मानी जाती थी।

भारत में अभी अभी रियासतों *(state)* को विलीन कर देने के बाद उनको विशेष अधिकार *(Status)* और सालियाना दिया जाता था। वह सब पार्लियामेंट ने बंद कर दिया। उस समय लोग बहुत चिल्लाने लगे थे। उनका कहना था कि सालियाना दूसरी पीढ़ी में आधा और तीसरी पीढ़ी में उससे भी आधा होकर अन्त में समाप्त ही होना था। तो फिर वह बंद क्यों किया?' उसका एक मानसशास्त्रीय *(psychological)* कारण था। प्रजातंत्र *(Democratic Republic)* उनको जो पैसा देते थे उसका अर्थ यह होता था कि वे रियासतों के राजा भूमि के मालिक थे। इस भूमि का कोई मालिक नहीं है- *(Nobody is master of soil)* यह निश्चित करने के लिए पार्लियामेन्ट ने वैसा किया। प्रत्येक बात के पीछे, प्रत्येक कृति के पीछे केवल आर्थिक *(economic)* दृष्टि ही नहीं होनी चाहिए। सालियाना बंद किया, विशेष अधिकार लिये और उनको भी कर देने के लिए बाध्य किया। मैं उसका समर्थन करता हूँ ऐसी बात नहीं है, परन्तु उसके पीछे जो हेतु है वह कहता हूँ।

राज्य में, जहाँ राज्य प्रजा की निजी सम्पत्ति मानी जाती थी वहाँ हम नागरिक नहीं थे, प्रजा थे। प्रजा भिन्न बात है और नागरिक भिन्न बात है। नागरिक के कुछ अधिकार *(Rights)* होते हैं और प्रजा को राजा निजी सम्पत्ति मानता है। राजा आया कि प्रजा आ गयी। आज भी हम **'प्रजातांत्रिक'** शब्द प्रयुक्त करते हैं, पर दूसरे अर्थ में करते हैं। परन्तु **'प्रजा'** शब्द का अर्थ ही हमें मालूम नहीं है। इसीलिए तो संविधान *(Constitution)* संस्कृत में नहीं होना चाहिए ऐसा लोग कहते हैं। कारण संविधान यदि संस्कृत में हुआ तो लोगों को बहुत परेशानी हो जायेगी, कारण संस्कृत भाषा में- शब्दों के अर्थ निश्चित हैं। एकाध शब्द इधर उधर कर दिया या अधिक डाल दिया ऐसा नहीं चल सकता। हमारा संविधान जिन्होंने बनाया है उनमें एक दलित भाई थे, फिर भी उनका आग्रह था कि भारत का संविधान संस्कृत में होना चाहिए, परन्तु अन्य भाइयों ने नहीं माना और कहा कि संविधान अंग्रेजी में होना चाहिए। प्रजा अलग होती है और नागरिक अलग। नागरिक के कुछ जीने के हक़ *(Rights)* हैं तो प्रजा को जिलाना पड़ता है। राजा की प्रजा होती है, वह राजा की निजी सम्पत्ति है। ऐसा एक राज्य होता है, परन्तु **प्रकृतिरञ्जनात् तस्य इदम् राज्यम्।** उसमें सारी शक्ति प्रजा को सन्तुष्ट करने में व्यय की जाती है। जिस राज्य में प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण सन्तुष्ट है वह **रामराज्य** है।

'प्रकृतिरञ्जनात् तस्य इदम्-' ऐसा वेद में लिखा है कि **विशा मे अङ्गानि'** प्रजाजन मेरे शरीर के अंग है, अर्थात् बुद्धि और इन्द्रियाँ जिस प्रकार अवैतनिक हैं, वैसे राज्य में सभी लोग अवैतनिक काम करेंगे। यह काम हमारा-अपना है ऐसा समझकर काम करेंगे। शरीर में सभी इन्द्रियाँ काम करती हैं, पर क्या वे वेतन माँगती हैं? नहीं! वैसे अवैतनिक काम करनेवाले, सम्पत्ति बढ़ानेवाले सम्पत्ति बढ़ायेंगे, परन्तु यह सम्पत्ति निजी नहीं रहेगी, सबकी होगी।

सारी प्रजा मिलकर एक राष्ट्रपुरुष बनता है। उसमें एक ऐसी मान्यता है कि हम सब एक हैं। यह कल्पना हो और विभिन्न भाव ही मनुष्य में निर्माण न हों ऐसा एक राज्य होना चाहिए। इसी नींव पर राम का राज्य खड़ा था।

हमारे देश में भी राज्य के प्रयोग हुए हैं और राज्यव्यवस्था के सम्बन्ध में लोगों ने कुछ विचार किया है, इतना ही नहीं, अपितु उनके प्रयोग भी किये हैं। इसलिए मैं मज़ाक में कहता हूँ कि अनपढ़ लोगों ने हमारा संविधान बनाया है। इसीलिए अनपढ़ लोग जिस प्रकार संविधान बनायेंगे वैसा हमारा संविधान बना है। प्याज़ बोना और गेहूँ की अपेक्षा करनी है, वह कैसे सफल होगी? जो बोयेंगे वही मिलेगा।

राम को नमस्कार किया, साथ ही वैदिकों को भी नमस्कार किया। वैदिकों ने भी विविध प्रयोग किये हैं। विविध प्रकार के प्रयोग करके उनमें क्या कमियाँ हैं यह देखा। इन प्रयोगों के सम्बन्धों में हमने कभी विचार ही नहीं किया। यह दुःख की बात है। पुरोहित महाराजों ने उन राज्यव्यवस्थाओं को मन्त्रपुष्पाञ्जलि में रख दिये इसलिए वे सँभाले गये हैं। जिसे इस संबंध में संशोधन करना हो, करे।

ईशावास्यमिदं सर्वम्- सारी प्रजा मिलकर एक राष्ट्र बनता है। उनमें 'हम सब एक हैं' यह भाव होता है, विभिन्नता का भाव ही नहीं होता। उस समय ऐसी एक मनोवृत्तियुक्त समाज खड़ा किया गया था जिसमें समाज के सभी लोगों को ऐसा लगता था कि यह मेरा राज्य है, मैं राज्य का नौकर नहीं हूँ। एक बात समझकर चलो कि जहाँ नौकरी *(Service)* का प्रश्न आता है वहाँ व्यक्ति का श्वासोच्छ्‌वास ही खत्म होता है। जिस समाजरचना में कम से कम नौकर होते हैं वह श्रेष्ठ समाजरचना है। उस समय ऐसी समाजरचना थी। उसका विचार हमने किया।

राज्य कैसा होना चाहिए? वेद कहते हैं, **'सपर्यगात्'** यानी सभी स्थानों में जानेवाला, पहुँचनेवाला होना चाहिए। राज्य सबका अच्छी तरह से निरीक्षण करनेवाला होना चाहिए।

वैभव आया कि मनुष्य बदल जाता है। वह वैभव चाहे कुर्सी का हो या जेब का अथवा मस्तिष्क का हो। कोई भी वैभव आने पर मनुष्य, मनुष्य से भिन्न हो जाता है। राजा से प्रारंभ कर प्रत्येक मनुष्य ऐसा होना चाहिए कि वह मनुष्य से भिन्न न दिखे। उसका उत्तरदायित्व राजा पर होता था।

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माऽभूत् राजा कालस्य कारणम्।।

वेदव्यास ने यह चिरन्तन काल का सिद्धान्त कहा है। नेतृत्व समाज का निर्माण करता है या समाज नेतृत्व का निर्माण करता है, यह आज की चर्चा का विषय है। वैदिक काल में इसकी चर्चा नहीं थी। उनकी निश्चित धारणा थी कि नेता समाज निर्माण करता है। समाज नेतृत्व निर्माण करता है यह भ्रान्त धारणा है। राजा पर एक महान् उत्तरदायित्व था। राजा को सच्चरित्रवान् बनना ही चाहिए, ऐसा आग्रह था। राजानेता यदि ऐसा बोले कि 'सभी सामान्य मनुष्य जिस मिट्टी के बने हैं उसी मिट्टी का मैं भी हूँ' तो उससे कहना चाहिए कि तुम कुर्सी छोड़ दो। सिंहासन या कुर्सी को स्वीकार करने पर उस पर विशेष उत्तरदायित्व आता है। उससे कुछ विशेष अपेक्षा है। आज तो राजानेता ऐसा बोलता है, न्यायदान

करनेवाला न्यायाधीश भी वैसा ही बोलता है कि जैसे सामान्य लोग हैं वैसे हम भी हैं। यदि ऐसा है तो तुम कुर्सी पर न बैठो। जो कुर्सी पर बैठता है उससे कुछ विशेषता की अपेक्षा है। तुम्हारे पास वैसी कोई विशेषता न हो तो कुर्सी छोड़ दो।

साम्यवादियों का एक सिद्धान्त है कि जहाँ औद्योगिक विकास हुआ है वहीं साम्यवाद आता है। यह सत्य है। जहाँ नौकर होंगे वहीं साम्यवाद आता है। किसान कभी भी कम्युनिस्ट नहीं बन सकता, कारण वह मालिक है, नौकर नहीं है। मार्क्स लिखता है कि *A peasant socialist is almost a contradiction in term*।' इस दृष्टि से साम्यवाद जर्मनी, फ्रान्स और इग्लैंड में दृढ़ होना चाहिए था। परन्तु वह दृढ़ कहाँ हुआ? जहाँ एक भी उद्योग नहीं था ऐसे रूस में! क्यों? उसके यश का कारण लेनिन का प्रभावी व्यक्तित्व था। *Credit goes to Lenin!* इसीलिए राजा को भी ऐसा बनना चाहिए- **'सपर्यगात्!'** आज राज शिष्टाचार *(Protocol)* खड़ा किया जाता है। किसका शिष्टाचार खड़ा किया जाता है? कौन उसे खड़ा करता है? प्रजा से, लोगों से जिसको भय है वह खड़ा करता है। जो कुर्सी पर बैठे हैं उनका शिष्टाचार खड़ा किया जाता है। उनको लगता है कि अपने को कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, लोग हमें सम्मान देनेवाले ही हैं। इसलिए राजा **सपर्यगात्** सर्वत्र पहुँचनेवाला होना चाहिए। उसे अपने आप सम्मान मिल जाता है।

वैसे ही राजा **'शुक्रम्'** अर्थात् वीर्यवान होना चाहिए। वह निर्बल होगा तो नहीं चलेगा। जगत् मानव के सद्वर्तन पर नहीं चलता, बल पर चलता है। नीतिमत्ता के पीछे बल नहीं होगा तो नीति पर प्रवचन व्यर्थ है।

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतंत्राय हि रणे जयश्रीः।। (किरात- ३/१७/)

यह सिद्धान्त वेदव्यास और भगवान श्रीकृष्ण ने प्रस्थापित किया है। इसीलिए हम महाकाली का पूजन करते हैं। महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती का पूजन करने पर जीवन की ओर देखने की एक विशिष्ट दृष्टि और शक्ति आने के बाद हमारा अध्यात्म प्रारंभ होता है। असहायता, असफलता और उद्विग्नता से अध्यात्म नहीं आता। यदि वह आया तो टिकता नहीं! ऐसा अध्यात्म मनुष्य का विकास *(Development)* नहीं कर सकता। 'थक गये, जगत् से नफरत हो गयी, चलो अब अध्यात्म की ओर मुड़ेंगे' इस तरह से अध्यात्म की ओर नहीं जाया जाता।

राजा **शुक्रम्** वीर्यवान होना चाहिए। हम नीति का उद्घोष करेंगे और घर-घर में नीति की पुस्तकें देंगे तो नहीं चलेगा। उससे समाज में नीतिमत्ता नहीं आयेगी। नीतिमत्ता के पीछे बल होना चाहिए। जब हायड्रोजन बम का विस्फोट हुआ तब उस पर एक पुस्तक प्रकाशित हुई- *'Third War is impossible-* अब तीसरा विश्वयुद्ध असंभव है।' शक्ति उसका कारण है, बल बढ़ा है यह कारण है। कुछ झगड़े-फसाद होंगे परन्तु विश्वयुद्ध *(war)* नहीं होगा। इसलिए राजा **वीर्यवान्** होना चाहिए।

वैसे ही राजा **शुद्धम्** होना चाहिए। कारण वीर्य आने के बाद शौर्य आता है और शौर्य आया कि क्रौर्य आता ही है। शौर्य के साथ निःस्वार्थता आयी तो शौर्य खिल उठता है, उसमें सुगंध आती है। परन्तु वह बदलायेगा कौन, यह प्रश्न है। बल तो किसी के पास रहेगा ही। महाकाली रहेगी ही!

क्षत्रियों के पास से सत्ता खींच लेंगे, उनको समाप्त करेंगे तो सत्ता गुडों के हाथों में चली जायेगी। फिर वे कितना उधम मचायेंगे, कहा नहीं जा सकता। शक्ति तो रहेगी ही मगर वह कहाँ रखनी है, उसका नियंत्रण कैसे करना है इसका विचार करना चाहिए। क्षत्रियों को समाप्त करने से नहीं चलेगा।

शौर्य और स्वार्थ दोनों हाथ में हाथ में मिलाकर आयेंगे तो क्रौर्य आता है। शौर्य और निःस्वार्थता हाथ मिलायेंगे तो सुगन्ध आती है। प्रश्न यह है कि स्वार्थ के स्थान पर निःस्वार्थता लायेगा कौन? वेदों में यह प्रश्न खड़ा किया गया है। राजा में वीर्य होना चाहिए और वह शुद्ध भी होना चाहिए।

शासक और शासनाधिकारी शुद्ध होने चाहिए। वैसे ही वे **अपापविद्धम्** भी होने चाहिए। राज्य के शासन पर रहनेवाला शासक निर्दोष, निष्पाप होना चाहिए। केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसका संपूर्ण परिवार निष्पाप होना चाहिए। उसके परिवार के किसी भी व्यक्ति के प्रति किसी को भी शंका नहीं होनी चाहिए। रामचरित्र में यही विशेषता है। सीता के सम्बन्ध में शंका हुई, राम को खात्री थी कि सीता निष्पाप है परन्तु राम जैसे पति थे वैसे राजा भी थे। राजा राम ने रानी सीता का त्याग किया। सीता-त्याग इतिहास का एक अलौकिक सुवर्ण-पत्र है।

वाल्मीकि रामायण में कहा है कि चौराहे-चौराहे पर सीता के चरित्र के सम्बन्ध में लोग बोलते थे, कोई एकाध धोबी नहीं बोला था। वाल्मीकि रामायण में धोबी की कथा है ही नहीं। स्थान-स्थान पर लोग बोलते थे। राजा यदि ऐसी स्त्री का स्वीकार करेगा तो प्रजानन क्यों नहीं करेंगे? इसीलिए राजा का परिवार निष्पाप होना चाहिए ऐसा आग्रह है।

दिलीप, रघु, अज, दशरथ और राम, इस ईश्वाकु वंश ने इस पद्धति की **राज्यम्**-व्यवस्था की थी, और तीन-चार पीढ़ियों के बाद रामराज्य आया। रामचन्द्र के जैसा पवित्र चरित्र जगत् में शायद ही दिखायी देता है। बुद्धिपुरस्सर संशोधन करेंगे तो भी उनके जीवन में दोष मिलना मुश्किल है। हम इस चरित्र का क्या वर्णन करेंगे? जहाँ वाणी नहीं चल सकती है, और बुद्धि काम नहीं करती है ऐसा चरित्र राम ने जीकर दिखाया है।

रामचरित्र का क्या वर्णन करूँ? प्रजा का पालन करनेवाला आदर्श राजा कहकर उसकी स्तुति करूँ? उनके जैसा राजा हुआ ही नहीं है। उत्कृष्ट योद्धा कहकर उनका वर्णन करूँ? उनके जैसा योद्धा हुआ ही नहीं है। एक सच्चे कर्मयोगी के रूप में उनकी स्तुति करूँ? उनके जैसा कर्मयोगी हुआ ही नहीं है। तो फिर 'संकटकाल में न डिगनेवाला'

कहकर स्तुति करुँ? उनके जैसा साधुपुरुष हुआ ही नहीं है। किसी भी दृष्टि से देखेंगे तो राम का चरित्र लोकोत्तर है। उनकी राज्यपद्धति भी लोकोत्तर है।

इंग्लैंड की राज्यपद्धति जैसी राज-प्रजातांत्रिक है वैसी रामराज्य की राज्यपद्धति भी राज-प्रजातांत्रिक थी। फर्क़ इतना ही है कि इग्लैंड के राजा को कोई सत्ता नहीं है। अन्तिम सत्ता संसद- *Parliament* के हाथ में है। रामराज्य में ऐसा नहीं था। वह *Monarchy* राजतांत्रिक पद्धति नहीं थी। सूक्ष्म दृष्टि से रामराज्य का अवलोकन करना चाहिए। इग्लैंड के राजा को कोई सत्ता नहीं है। दूसरा कोई मार्ग नहीं मिला इसलिए प्रजातंत्र *(Democracy)* की चीखें मारने लगे। बड़े बड़े लोगों ने भी कहा कि हमने प्रजातंत्र का स्वीकार किया है उसे राजतंत्र से राहत के रूप में स्वीकारा है। प्रजातंत्र संपूर्ण पद्धति नहीं है। *'We accept democracy only a relief for autocratic Rule, It is not a perfect system*।' इग्लैंड का राजा केवल नामधारी राजा है। विश्व में सभी राजा चले गये, तब एक भाई ने मज़ाक में लिखा है कि जगत् से सभी राजा गये फिर भी पाँच राजा स्थिर रहेंगे ही। उनमें चार राजा ताश में हैं और पाँचवां राजा इग्लैंड का है।

रामराज्य में इंग्लैंड से भिन्न राज-प्रजातांत्रिक पद्धति थी। राम लोगों का राजा था। राजा पर लोगों का अमर्याद प्रेम होना चाहिए। ऐसा प्रेम तभी होता है जब राजा निस्पृह होता है। रामराज्य में ऐसा आग्रह है। रामराज्य का अर्थ यह है कि प्रजा को बदलना है, बनाना है, गढ़ना है। यह प्रथम बात है। यह कोई अन्तिम बात नहीं है। लोग समझते हैं कि प्रजा को गढ़ना अन्तिम बात है, इसीलिए कहते हैं कि पहले प्रजा की भूख देखो! भूख भी कितने प्रकार की है! वित्त की भूख, रोटी की भूख, कीर्ति की भूख आदि! रोटी की भूख समझ सकते हैं, पर वित्त की भूख? वह तो कभी तृप्त होती ही नहीं! **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।'** वित्त से मनुष्य की तृप्ति कभी नहीं होती। इसीलिए पुराने जमाने में ब्राह्मण को खिलाने का आग्रह था। ब्राह्मण को तृप्त करना हो तो उसको जिमाना ही चाहिए। उसको चाहे कितनी ही दक्षिणा दो पर वह तुप्त नहीं होता। विवाह में ब्राह्मण को पाँच सौ रूपये दक्षिणा देंगे तो उसको लगेगा कि विवाह का मण्डप बनाने में एक हजार रुपये व्यय किये तो मुझे एक हजार रुपये दक्षिणा क्यों नहीं?' वह ऐसा पूछेगा ही! परन्तु भोजन में लड्डू जितने खायेगा उतने खाने पर, 'अब नहीं चाहिए' कहकर ही उठेगा। इस प्रकार मनुष्य को भोजन से तृप्त करना शक्य है, वित्त से नहीं!

किसी की भी वित्त से तृप्ति नहीं होती। वित्त की भूख, प्रतिष्ठा की भूख, स्त्री की भूख, सत्ता की भूख ऐसी अनेक प्रकार की भूख है। किसकी तृप्ति करेंगे? प्रथम प्रजा को बदलने का काम रामराज्य में किया गया। यह महत्त्वपूर्ण बात है। प्रजा को बदलना, उसमें परिवर्तन लाना भिन्न ही बात है। राज्य अलग बात है, राष्ट्र अलग बात है। हमारे यहाँ राज्यव्यवस्था नहीं थी, राष्ट्रव्यवस्था थी। लोग कहते हैं कि ब्रिटिशों के आने के बाद हमें राष्ट्रकल्पना मिली। तब तक हमें राष्ट्र *(Nation)* की कल्पना ही नहीं थी। गत पाँच सौ हजार वर्षों का विकृत इतिहास देखकर लोग ऐसा बोलते हैं। समाज बिगड़ जाता है।

आहार-विहार की सुविधाओं पर राष्ट्र-व्यवस्था निर्भर नहीं है। विशिष्ट-जीवनदृष्टि, विशिष्ट श्रद्धा, एकनिष्ठा से बना हुआ जो मानवसंघ है उसको राष्ट्र कहते हैं। जीवनदृष्टि को राष्ट्र कहते हैं। आज लोग राष्ट्र और राष्ट्रीय अस्मिता *(National Spirit)* की भाषा बोलते हैं। आप राष्ट्र किसे कहते हैं? राष्ट्र कोई भौगोलिक खण्ड नहीं है। वैसा होता तो भारत एक राष्ट्र था। उसका हमने विभाजन कर दिया, आधा उधर पाकिस्तान में चला गया। राष्ट्र में भौगोलिक मर्यादा *(Geographical line)* नहीं आती, वह जीवन पद्धति में आती है। इसलिए राज्य अलग व राष्ट्र अलग बात है।

वैदिकों ने तथा रामचन्द्र भगवान ने राष्ट्र खड़ा किया था, राज्य नहीं! यही रामचंद्र भगवान की विशेषता है। इसीलिए राजसूय यज्ञ था, अश्वमेध यज्ञ था। अपने राज्य का विस्तार करने के लिए ये यज्ञ नहीं थे। आसेतु हिमाचल एक विशिष्ट जीवनदृष्टि का, विशिष्ट श्रद्धा का, विशिष्ट निष्ठा का, विशिष्ट विचारों का एक मानव संघ बनाना था। वह रामराज्य में हुआ था। केवल भौतिक प्रबंध करने से नहीं चलता। मान लीजिए, भौतिक प्रबंध हो गया, सभी को अन्न मिल गया, सभी के पास कर्तृत्व है, कर्तृत्व दिखाने का अवसर मिल गया, यह सब हो गया परन्तु इसके साथ विजिगीषु भावना, विविध प्रकार की कामनायें जो मनुष्य में पड़ी हुई हैं उनका नियंत्रण करने की आवश्यकता है। उसे नियंत्रित कौन करेगा?

इसीलिए एक दिन मैंने कहा था राम और रावण में फर्क़ है। वह इतना ही था कि रावण आत्मकेन्द्रित व लोभी व्यक्ति था। आत्मकेन्द्रित व लोभपूर्ण व्यक्ति रावण होता हैं। आत्मकेन्द्रित *(egocentric)* व्यक्ति, मैं, मेरा संसार, मेरा परिवार, मेरा धन्धा इतना ही देखते हैं। इस वृत्तिवाले सभी लोग रावण ही हैं। रामतत्त्व में समाज के अन्तिम मानव तक पहुँचकर उसको लोभविवर्जित बनाने का प्रयत्न चलता था। किसी भी काल में कानून के आधार पर अन्याय व पशुता बंद नहीं होगी। हम समझते हैं कि संसद में एक कानून बनाकर हम सारी दुनिया सुधार देंगे। परन्तु कानून से कोई नहीं सुधरता।

जहाँ कानून आता है वहीं मनुष्य बिगड़ता है। जहाँ कानून ने प्रवेश नहीं किया है वहाँ आज तक मनुष्य स्वच्छ है। लोग मुझे कहते हैं, 'कानून से दिये हुए पैसे हैं न? उनके झगड़े अदालत में जाते हैं, परन्तु बिना कानून के दिये हुए पैसों के सम्बन्ध में झगड़े होते ही नहीं। वह पैसा लोग बराबर दे देते हैं।' आज के बिगड़े हुए समाज में भी यह बात है ऐसा लोग कहते हैं। जहाँ कानून आया वहाँ झगड़ा प्रारंभ हुआ ही। लेनेवाला कहता है, 'अदालत में जाओ' मुझे समय मिल जायेगा। दस-बीस साल तक मुकदमा चलता रहेगा, तब तक हम मौज मनाएंगे। बीस साल के बाद देखा जायेगा।

इसलिए कानून से जगत् नहीं सुधरेगा। आज ही नहीं, परन्तु किसी भी काल में कानून के विश्वास पर अन्याय और पशुता बंद नहीं होगी। कारण कानून शब्द पकड़कर चलता है। इस सम्बन्ध में मैंने एक बार दृष्टान्त दिया था कि एक साहब प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यात्रा कर रहा था। गाड़ी मनमाड स्टेशन पर आयी। एक लड़का 'गरमागरम पुरी,

गरमागरम पुरी' कहते हुए बेचने आया। साहब ने पुरी खरीद ली। थोड़े ही समय में साहब ने देखा कि ऊपर की दो-तीन पुरियाँ गरम हैं, नीचे की सब ठंडी हैं। यह देखकर साहब को क्रोध आया। पुरी बेचनेवाले लड़के को बुलाया और कहा, "तू गरमागरम पुरी' कहकर ठंडी पुरियाँ बेचता है और लोगों को ठगता है, चल! मैं तुझे स्टेशन मास्टर के पास ले जाता हूँ।'

उस लड़के ने ठंडे दिमाग से कहा," साहब! मैं क्या बोलता था वह क्या तुम्हें याद है? 'गरमागरम पुरी यानी गरम और अगरम (ठंडी) मिलकर गरमागरम पुरी! उनमें ठंडी पुरियाँ हैं, यह मैंने कहा ही था। तुम समझ नहीं पाये तो मैं क्या करूँ भला? इसमें मेरी कोई भूल नहीं है।'

शेक्सपीयर के 'मर्चंट ऑफ वेनिस' नाटक में पोर्शिया कानून का शब्द पकड़कर अपने मुवक्किल को बचाती है यह सबको मालूम ही है।

आज भी भौतिक हक़ की भाषा चल रही है। जहाँ हक़ की भाषा आती है वहाँ संघर्ष मिटता ही नहीं। मनुष्य को कितना मिले और चाहे कितना भी उसके पास हो, परन्तु संघर्ष चलता ही रहता है। सर्वत्र आज भी हक़ की ही भाषा दिखायी देती है। *Human rights, equal rights* जैसे बड़े बड़े रत्न समुद्रमंथन से प्राप्त हुए। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद इसमें से कितने ही रत्न निकले-स्वतंत्रता, समता, बंधुता आदि। परन्तु इन रत्नों के साथ विष निकला था। जिसे शिवजी पी गये, परन्तु यह हक़ का विष कौन पीयेगा? हक़ आया कि संघर्ष मिटाना चाहिए। समाज वैसा बनना चाहिए। ऐसा समाज रामराज्य में बना था। इन सबका विचार राम ने किया था। संघर्ष खड़ा किया गया तो व्यक्ति अस्वस्थ-बेचैन बनता है, इसलिए कर्तव्य समझाना चाहिए। इससे संवादिता निर्माण होती है। हीनता, दुर्गुण, पशुता ये कानून से नहीं निकले हैं। इन दोषों के प्रति मनुष्य के अन्तःकरण में घृणा पैदा होनी चाहिए। तभी ये दोष जायेंगे।

'सभी स्त्रियों का सम्मान करना चाहिए' यह कानून बना दिया, परन्तु प्रत्यक्ष में क्या दिखायी देता है? क्या स्त्री का सम्मान किया जाता है? नहीं! कारण एक ही है, वैसा अन्तःकरण नहीं बनाया गया। इन दोषों के प्रति अन्तःकरण में घृणा निर्माण होनी चाहिए, वह कौन करेगा? रामायण में यह प्रश्न खड़ा किया गया है। मनुष्य को बदलने के बाद ही जीवन की सभी समस्याएं *(Problems)* हल हो सकती हैं। उसी प्रकार मनुष्य को प्रेम से अपनाने से ही सब काम हो सकते हैं।

आज हमारा सबसे अधिक विश्वास वित्तशक्ति पर ही है। कोई भी योजना *(plan)* बनानी हो तो प्रथम समिति *(committee)* नियुक्त की जाती है और वह समिति पहले चंदा *(Funds)* इकट्ठा करती है, इसका कारण चन्दे में पैसा आने पर चाहे उस व्यक्ति को खरीदा जा सकता है। *(We can purchase anybody)* और माना जाता है कि काम हो जायेगा।

मानवता के बारे में, मानव के अन्तःकरण के बारे में, मानव में जो महान् शक्ति पड़ी है उसके बारे में इतनी झूठी कल्पना, गलत कल्पना किसी भी काल में नहीं रही होगी, जितनी आज है। वर्तमान समय में आज कई प्रकार की लापरवाही खड़ी हुई है, जीवन के बारे में निराशा है और इसी में से अध्यात्म आ गया है। लोग कहते हैं कि आज अध्यात्म की ओर लोगों का अधिक झुकाव है। जीवन के प्रति लापरवाही व निराशा के कारण खड़ा हुआ अध्यात्म, अध्यात्म नहीं है। वह दंभ है।

रामचंद्र के काल में ऐसी कल्पना थी कि प्रत्येक व्यक्ति में कर्तव्यनिष्ठा, निर्लोभिता व निर्भयता खड़ी करनी चाहिए। इसीके लिए अध्यात्म चाहिए। अध्यात्म किसलिए चाहिए? इस संबंध में हममें और रामचंद्र भगवान में मतभेद हैं। फिर भी हम नवरात्रि में रामनवमी का व्रत तो रखते ही हैं। हमारे मूलभूत सिद्धान्तों में मतभेद हैं *(we differ in basic fundamentals)*। कर्तव्यनिष्ठ बनने पर संवादिता आयेगी। प्रजा को केवल कर्तव्यनिष्ठ बनना ही पर्याप्त नहीं है, उसमें निर्लोभिता व साथ साथ निर्भयता भी आनी चाहिए इसके लिए रामकाल में अध्यात्म आवश्यक माना जाता था। इसीलिए ऋषि को बुलाना पड़ेगा। ऋषि को जंगल में रखने से नहीं चलेगा। ऋषि को 'कनखल में जाकर बैठो और धुनी रमाओ' ऐसा कहने से नहीं चलेगा, अन्यथा वर्षों तक स्वामी महाराज कनखल में बैठे रहेंगे और फिर पाद्यपूजा लेने के लिए मुम्बई में सालभर में एक बार आयेंगे, ऐसा हो जायेगा।

ऋषि को बुलाना होगा तो? ऋषि का अर्थ है विशिष्ट दृष्टि से जीवन जीनेवाला। ऋषि को बुलाये बिना राज्य अच्छी तरह से नहीं चलेगा। यह बात वैदिक तत्त्वज्ञान ने और रामचन्द्र भगवान ने स्वीकार की थी। ऋषि के पास न सत्ता थी, न सम्पत्ति थी। लोगों को आकर्षित करने के लिए दो बातें होती हैं- सत्ता और सम्पत्ति! इसका अर्थ यह नहीं है कि ऋषि सम्पत्ति कमाने में असमर्थ थे। ऋषि को तो उसकी अभिलाषा ही नहीं थी। ऋषि यदि सम्पत्ति कमाने लगेंगे तो सबसे बड़े उद्योगपति *(Industrialist)* बन जायेंगे। उद्योगपति या पूंजीपति को ज्यादा अक्ल होती है ऐसा समझना पागलपन है। ऋषि अच्छे में अच्छा उद्योगपति बन सकते हैं। हिमालय जितनी प्रचंड बुद्धि और मनुष्य को समझने की शक्ति उनमें होती है। काम करने की जबरदस्त ताकत, दुर्दम्य उत्साह उनके पास होता है। वे कारखाने *(Industries)* खड़े कर सकते हैं, परन्तु सम्पत्ति की उन्हें कोई अभिलाषा नहीं होती है।

वैदिक काल में और रामराज्य में ऋषियों को सत्ता दी गयी, वही **अष्टऋषिमण्डल** है। इंग्लैंड का राज-प्रजातांत्रिक राज्य और रामराज्य की जब तुलना करते हैं तब इंग्लैंड का राजा निकम्मा है और रामराज्य में राजा कर्तृत्ववान था, ऐसा जान पड़ता है। फिर भी राजा पर नियंत्रण करनेवाली ऋषिसत्ता थी। हमें भी यह सत्ता खड़ी करनी पड़ेगी। हमारे भले के लिए ऋषियों को सत्ता देनी पड़ेगी। उनको तो सत्ता की आवश्यकता ही नहीं है; अभिलाषा भी नहीं होती। हमें सन्मार्ग से जाना होगा और विकास साध्य करना होगा तो ऋषियों को सत्ता देनी पड़ेगी।

रामराज्य में चुना हुआ मंत्रिमंडल था और उसके ऊपर राजा था। परन्तु राजा का चुना हुआ मंत्रिमण्डल हमेशा निम्न श्रेणी का *(Inferior)* होता था, राजा के अधीन होता था। इसलिए राजा से भी ऊपर ऐसा ऋषिमण्डल था जिसे कोई अभिलाषा नहीं थी। ऐसी एक गार्डियन सत्ता की कल्पना अफलातून (प्लेटो) ने अपने रिपब्लिक में खड़ी की थी। वह कल्पना, कल्पना में ही रह गयी है, परन्तु रामराज्य ने वह कल्पना प्रत्यक्ष कर दिखायी है। चुना हुआ मंत्रिमण्डल राजा को सलाह देता है। राजा शक्तिशाली व कर्तृत्ववान है फिर भी वह अनियंत्रित नहीं है। उसके ऊपर ऋषिसत्ता है। रामराज्य में ऐसी राजसत्ता थी। यही भगवान रामचन्द्र का जीवन-रहस्य है।

अयोध्या का वर्णन सर्वत्र आता है। उसमें भौतिक सुख की अनियंत्रितता नहीं थी और आध्यात्मिक जीवन की विकृत कल्पना भी नहीं थी। ऐसा समाज भगवान रामचंद्र ने खड़ा किया था। उसी प्रकार आर्थिक जीवन से स्वावलंबी, शैक्षणिक दृष्टि से प्रगत, सांस्कृतिक दृष्टि से विकसित, जीवनोपयोगी अध्यात्म से युक्त तथा संघर्षरहित मानवता से परिपूर्ण वह समाज था।

मानवता व पशुता का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। कभी कभी यह संघर्ष काम से पैदा होता है, कभी धर्मसंप्रदायों से निर्माण होता है और कभी प्रभुत्व की आकांक्षा लेकर होता है, परन्तु संघर्ष खड़ा होता ही है। इस संघर्ष का कारण एक ही है। इसलिए कर्तव्य के लिए कर्तव्य, चरित्र के लिए चरित्र और विद्या के लिए विद्या यही नारा रामचंद्र भगवान ने लगाया था।

कर्तव्य किसलिए? हमें उससे कोई लाभ नहीं मिलता है, कोई सुख नहीं मिलता है तो कर्तव्य किसलिए बजाना? कर्तव्य करने से कुछ मिलता हो तो वह व्यापार बनेगा। वह तो तू करेगा ही। कर्तव्य के लिए कर्तव्य होना चाहिए। उससे क्या मिलेगा यह प्रश्न ही खड़ा नहीं होना चाहिए। हम चरित्र सँभालेंगे, परन्तु जिनके पास चरित्र नहीं है वे सुखी हैं और हम दुःखी हैं। क्या इसकी व्यथा है? तुम चरित्रहीन नहीं बनते इसका कारण चरित्रहीन बनने के लिए जो शक्ति चाहिए वह तुममें नहीं है। तुम चरित्रवान नहीं बन सकते। उसके पीछे कोई सिद्धान्त नहीं है।

विद्या किसलिए? **'निष्कारणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयः ज्ञेयश्च।'** बिना किसी कारण के विद्या प्राप्त करनी है। संक्षेप में, रामचन्द्र भगवान ने ऐसा समाज बनाया था। इसका कारण स्वतंत्र शिक्षण-पद्धति और ऋषिमंडल का नियंत्रण था। परिणामस्वरूप लोभ, व्यक्तिवाद और आत्मकेन्द्रितता खत्म हुई थी। रामराज्य कैसा होता है इसे दिखाने के लिए, उसका प्रत्यक्षीकरण के लिए वैश्विक सत्ता, विश्व चलानेवाली शक्ति ने साकार रूप लिया था। उसी का नाम है **राम-रमन्ते योगिनः अस्मिन् इति रामः।** योगी जिसमें लीन होते हैं उसका नाम राम है। राम द्वारा प्रस्थापित राज्य रामराज्य है। ऐसे रामराज्य की हमें आतुरता है।

राम ने लोक-शिक्षण द्वारा व्यक्तिवाद आत्मकेन्द्रितता और लोभ खत्म किये थे। यही उनकी विशेषता है। रामराज्य की विशेषता यह है कि राम ने मानव को खड़ा किया था। मानव खड़ा करने के लिए कितनी मेहनत करनी पड़ती है यह भी दिखाया है। तीन तीन पीढ़ियों तक काम करना पड़ेगा, तब राम आयेंगे।

राम का चरित्र इतना अलौकिक है कि आज लोगों को लगता है कि क्या ऐसा राम हुआ होगा? राम ने ऐसा मानव खड़ा किया होगा? क्या यह सब उपन्यास जैसी कल्पना है? वाल्मीकि ने उपन्यास में एक कल्पना लिखी वह रामायण है, ऐसा विदेशी लोगों ने लिखा। और हमारे पंडित? जो बुद्धू हैं वे हमें कहने लगे, क्योंकि उनको अंग्रेजी किताब में लिखा हुआ मिला। वे अपने लेखन में वैसा उल्लेख *(Quote)* करते हैं। उन्हें संदेह होता है कि क्या ऐसा मानव हो सकता है?

राम ने एक अलौकिक मिट्टी का मानव बनाया था। उसका ध्वज **'राम'** है। रामचरित्र बेजोड़ है। सीता भी बेजोड़ है। केवल सुगन्ध ही लेनी है, दूसरा कुछ नहीं है। 'सीता' शब्द में ही सुगन्ध है। इस फूल का वर्णन करूँगा, उसकी समालोचना करूँगा तो उसका सौन्दर्य नहीं रहेगा। सौन्दर्य को सौन्दर्य की दृष्टि से ही देखना चाहिए। शरीर के अन्दर आंत कितना लंबा है यह देखने लगेंगे तो उस व्यक्ति का सौन्दर्य ही खत्म हो जायेगा। डॉक्टर भी किसी सुन्दर व्यक्ति को, सुन्दर स्त्री को देखने पर उसके अन्दर के आंत की लंबाई का ही विचार करेगा तो सौन्दर्य ही नष्ट हो जाएगा। उसमें सौन्दर्य की दृष्टि कहाँ रही? सीता का चरित्र बेजोड़ है, और लक्ष्मण! सब छोड़कर बड़े भाई के साथ चल पड़ा। लक्ष्मण ने जो किया वह अच्छा किया या बुरा किया, इसकी चर्चा आज के पंडित करते हैं। यह चर्चा करनेवाले पंडित कौन हैं, जिनको सौ रूपये का नोट खींच सकता है वे! उन्हें पूछो, पहले अमुक स्थान में काम करते थे अब इधर कैसे आ गये?' तो वे कहेंगे, 'यहाँ सौ रूपये अधिक मिलते हैं इसलिए। सभी व्यवहार तो देखने चाहिए न?' ऐसा देखनेवाला डिबेटिंग सोसायटी का प्रमुख होता है और वह लक्ष्मण की कृति की चर्चा करता है कि 'लक्ष्मण ने अच्छा किया या बुरा किया, वह व्यवहारी था या अव्यवहारी था!' अरे! किस चरित्र की चर्चा करता है तू? जिसके पास जाने की, जिसकी ओर देखने की तेरी शक्ति नहीं है, उसकी तू समालोचना करता है?

भरत को देखो! साम्राज्य पास में आया है तो भाई का साम्राज्य समझकर भाई को देने चले जाता है। ऐसा पागल इस विश्व में, यहीं की मिट्टी में ही पैदा होता है। भारत की मिट्टी ही पागलों की है। ऐसा रामचरित्र नवम स्कंध में आया है। प्रभु रामचंद्र समझाने के लिए आये थे।

राम यानी स्वार्थत्याग की पराकाष्ठा! उस पर भी शब्दपालन, भाइयों का ऐक्य, पति-पत्नी का प्रेम, सद्विचारों को निरन्तर प्रोत्साहन, दुष्ट वृत्ति का दमन और वैश्विक सिद्धान्तों की प्रस्थापना ऐसे कार्य करने के लिए प्रभु रामचन्द्र आये थे। इसी दृष्टि से देखेंगे तो

रामचरित्र मालूम पड़ेगा। इसी दृष्टि से रामचरित्र की ओर देखेंगे और उसको नमस्कार करेंगे, तभी वह नमस्कार राम तक पहुँच जायेगा।

हम रामचरित्र की महत्ता समझते ही नहीं और चैत्र की नवरात्रि में नौ दिन सूरन खाते हैं और अपने को रामभक्त मानते हैं। दो भजन गाकर व सूरन खाकर रामचरित्र को न्याय नहीं मिलेगा। रामचरित्र को न्याय तो हम दे ही नहीं सकते। परन्तु उसके पास जाना हो तो रामचरित्र समझना चाहिए।

राम ने राजसत्ता नियंत्रित की और वह भी चरित्र से! अर्थात् चरित्र को सर्वश्रेष्ठ माना गया। भरत जब अयोध्या में आया तब प्रभु रामचंद्र वन में चले गये थे। भरत को पता चला कि राम को वनवास में भेज दिया है, राजगद्दी के लिए उन्हें अनधिकारी क्यों माना गया होगा तब भरत पूछता है—

कश्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित्।
कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः।।
कश्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते।
कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः।।

(वा.रा.अयोध्याकांड ७२/४४-४५)

किस कारण से राम को वनवास में भेजा गया है? ब्राह्मणों का धन संस्कृति संवर्धन के लिए होता है, वह ब्राह्मणधन क्या राम ने हरण किया है? संस्कृतिसंवर्धन के लिए जो धन है उसमें से राजा यदि कर लेता हो तो वह पापी राजा है। धर्मादाय *(Charity)* का हिसाब सँभालने के लिए धर्मादाय पर कर *(Tax)!* इसका कारण उनका दफ्तर चलना चाहिए न? तो फिर राजसत्ता पुलिस रखती है उसके लिए उसको कर लेना चाहिए। यह जैसा राजसत्ता का कर्तव्य है वैसे प्रजा के पैसे *(public money)* का योग्य उपयोग होता है या नहीं, यह देखना उसका कर्तव्य है। पंगु, लूले-लंगड़ों के लिए यदि पैसा निकाला जाय तो उसमें से पैसे लेकर दफ्तर चलानेवाले राजा को कौन सी गति मिलेगी? इसलिए भरत पूछता है क्या राम ने ब्राह्मण के धन का अपहरण किया? और न किया हो तो **कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः'** किस कारण से राम को दण्डकारण्य में भेजा गया है? ये भरत के प्रश्न हैं। ऐसा यदि राम ने किया होगा तो मेरा भाई होते हुए भी उसको वन में जाना ही चाहिए। यह कैसा प्रभाव है रामराज्य में?

राम ने मानव को, समाज के प्रत्येक सदस्य को खड़ा किया था। मनुष्य के भीतर की शक्ति को राम ने जागृत किया था। यही रामराज्य का वैशिष्ट्य है।

राम का चरित्र नवम स्कंध में आया है। राम ने क्या किया था व क्या कहा था, वह महत्त्वपूर्ण है। रामचरित्र का महत्त्व समझना चाहिए। समझेंगे तो राम का पूजन हुआ, रामराज्य को नमस्कार हुआ, इतना ही हमारा कर्तव्य है। रामचरित्र का विश्लेषण करना, उसकी

समालोचना करना हमारी शक्ति के बाहर की बात है। जितना उनका चरित्र समझ सकेंगे उतना उठाना है।

अवतार खेलने-कूदने के लिए नहीं होता है। अवतार को कुछ करना होता है। कुछ करके दिखाना होता है, मनुष्य को मनुष्य बनाना होता है। ऐसे राम अवतार को नमस्कार करते हैं-

रामो राजमणि: सदा विजयते रामं रमेशं भजे
रामेणाभिहता निशाचरचमू रामाय तस्मै नम:।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहं
रामे चित्तलय: सदा भवतु मे भो राम मामुद्धर।।

नवम स्कंध में सूर्यवंश का वर्णन है और चन्द्रवंश का विस्तार भी समझाया है। उसमें पुरुरवा और उर्वशी की एक मनोरंजक कथा आयी है। परशुराम व हैहयराज अर्जुन की भी कथा आयी है। ब्राह्मणों और क्षत्रियों का एक-दूसरे का प्रतिशोध उसमें है। हमेशा आध्यात्मिक सर्वोपरिता *(spiritual supremacy)* व आर्थिक *(economic)* सर्वोपरिता का झगड़ा होता है। किसी समय अनपढ़, दीन और वांशिक रूप से आये हुए ब्राह्मणों को सर्वोपरिता मिल जाती हैं तब वह क्षत्रियों को अमान्य होती है। उसके विरोध में क्षत्रियजाति खड़ी हो जाती है। किसी समय क्षत्रिय भी सत्ता और सम्पत्ति के कारण बेहोश हो जाते हैं तब उनके विरोध में ब्राह्मणजाति खड़ी हो जाती है। ऐसा यह निरन्तर चलते रहनेवाला झगड़ा है।

ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर *(Non-Brahmins)* संघर्ष आज के जमाने में आया है। यह झगड़ा कभी कलियुग में था ऐसा नहीं है। यह तो आता ही है। आध्यात्मिक सर्वोपरिता का स्वीकार अपने आप हो तो वह बहुत अच्छी बात है, परन्तु जब उसका स्वीकार कराना पड़ता है तब यह दु:ख की बात होती है। ब्राह्मण-क्षत्रियों का झगड़ा निरन्तर चलनेवाला है। यह दो वृत्तियों का झगड़ा है।

समाज पर सर्वोपरिता *(supremacy)* किसकी चलेगी? इसी बात का झगड़ा है। उसके बाद नवम स्कन्ध में नहुष राजा की कथा आयी है। एक बार असुरों द्वारा देवताओं की पराजय हो जाने पर इन्द्र भगवान के सिंहासन पर बैठनेवाला कोई नहीं रहा। उस समय नहुष राजा की शक्ति, कर्तृत्व आदि देखकर उसको इन्द्रपद स्वीकार करने के लिए स्वर्ग से बुलावा आया। वहाँ, नहुष राजा इन्द्राणी को देखकर विचलित हो जाता है, फिर उसकी जो अवस्था होती है उसका चित्रण है। यह चित्रण इसलिए आया है कि इतना कर्तृत्ववान, प्रभावी, उत्कृष्ट राज्य चलानेवाला नहुष राजा भी गिर सकता है यह यहाँ भागवतकार को दिखाना है।

नहुष की कथा के बाद ययाति की कथा आती है। उसीके यदु-वंश में श्रीकृष्ण भगवान ने जन्म लिया। नवम स्कन्ध के २४ वें अध्याय में ५५ से ६२ तक के श्लोकों में परमेश्वर का अवतार का हेतु कौन सा है, परमेश्वर अवतार किसलिए लेता है यह अतिशय सुन्दर तरीके से समझाया है। मनुष्यरूप में परमेश्वर को अवतार क्यों लेना पड़ता है? यह भी समझाया गया है। कृष्ण भगवान का अवतार तो नांदी है। भागवत कहता है-

कलौ जनिष्यमाणानां दुःखशोकतमोनुदम्।
अनुग्रहाय भक्तानां सुपुण्यं व्यतनोद् यशः।। (भा.९/२४/६१)

(कलियुग में जन्म लेनेवाले भक्तों के दुःख, उद्वेग व अज्ञान नष्ट कर उन पर कृपा करने हेतु भगवान ने अत्यन्त पुण्यकारक ऐसा यशस्वी चरित्र कर दिखाया है।)

शोक, दुःख, दैन्य, दारिद्र्य से भरा हुआ जो समाज है, व्यक्ति है उसको जीवन समझाने के लिए अवतार आता है, यह अवतार की महत्त्वपूर्ण बात है।

इस स्कंध में समाजशास्त्र का विचार करनेवालों को अभ्यास करने के लिए भागवत का विषय है। भागवतकार जन्मसिद्ध वर्णव्यवस्था नहीं मानते। वर्णव्यवस्था कर्मगुणसिद्ध माननी चाहिए। ऐसी उनकी मान्यता है। यह भागवतकार का सिद्धान्त है कि वर्णव्यवस्था जन्मसिद्ध नहीं है, वह कर्मगुणसिद्ध हो सकती है, परन्तु आज किसीको सत्ता ही नहीं है, किसीमें इसे बदलने की सामर्थ्य ही नहीं है । इसलिए कोई कुछ नहीं कह सकते। परन्तु भागवतकार की मान्यता के अनुसार ब्राह्मण का क्षत्रिय व क्षत्रिय का ब्राह्मण बन सकता है। इतना ही नहीं, इसी स्कन्ध में भागवतकार ने कानीन प्रजा का स्वीकार किया है! कानीन यानी कौमार्यावस्था में जो प्रजा होती है उसका स्वीकार किया है। आगे बढ़कर विवाहबाह्य सन्तति को प्रतिष्ठा दी है। अश्विनीकुमार जैसे लोगों को यज्ञ में स्थान नहीं था। वह स्थान भागवतकार ने उनको दिया है। एक दृष्टि से देखेंगे तो समाजसुधारक *(social reformer)* जैसा यह लगता है। यहाँ नीतिकल्पना परिवर्तनशील है। कृष्ण भगवान का वंश भी आन्तरजातीय विवाह *(Intercaste marriage)* से शुरु हुआ है- इतना ही नहीं, जीवितपति नियोग व मृतपति नियोग ये दोनों मान्य किये हैं। व्यास और दीर्घतमस ऋषियों के- श्रेष्ठ ऋषियों के बीज का उपयोग किया है। भागवतकार कितने सुधारक *(Reformer)* हैं, परन्तु बिना कानून के भी जो कुछ हो गया उसका भी स्वीकार किया है। इसका कारण एक ही है- विचारप्रणाली *('Way of thinking)*, जीवनप्रणाली *(Way of Life)*, और भक्तिप्रणाली *(Way of Worship)* ये तीनों श्रेष्ठ होंगी तो चलेगा। उसको स्वीकारना है, खत्म नहीं करना है, उसको गढ्ढे में फेंकना नहीं है।

उसके बाद निमि राजा की बात आती है। यह संधोधन करने जैसी बात है। जिस प्रकार इजिप्त में प्राचीन काल में मृतराजा का शरीर मसाले में रखते थे, वैसे ही निमिका मृत शरीर सुगंधयुक्त वस्तुओं में रखा था। इसमें एक संदेह की व अभ्यास की बात यह है कि निमि का प्रेत अनेक वर्षों के बाद जवाब देता है, वह कहता है कि मुझे देहबंधन नहीं चाहिए। ऋषि जब उसको फिर से जीवित करने की बात करते हैं तब वह यह उत्तर देता है। यहाँ एक प्रश्न आता है कि मृतात्मा की भौतिक देह *(physical body)* कुछ मसाले आदि भर कर इजिप्त में सँभाली जाती थी, वैसा कुछ सुगंध पदार्थ भर के निमि की देह सुरक्षित रखी होगी, परन्तु यहाँ तो लिंगदेह सँभालने की बात आती है स्थूल देह औषधियाँ आदि से सँभाली जा सकती होंगी, परन्तु लिंगदेह वे लोग कैसे संभाल सके होंगे? यह

एक विचारणीय बात है। इसका कारण, लिंगशरीर का चैतन्य के साथ सम्बन्ध आता है। वह केवल स्थूल शरीर *(body)* नहीं है। उसको ऐसा नहीं संभाला जा सकता। उसकी अलग व्यवस्था होनी चाहिए। लिंगशरीर की रक्षा हुई है ऐसा उस मृत राजा के जवाब से लगता है। इसीलिए निमि राजा की बात संशोधन करने जैसी है।

कृष्ण भगवान का चरित्र दशम स्कन्ध में आनेवाला है। उसकी पूर्वभूमिका में रूप में यदुवंश की तैयारी है। उस समय का जो समाज था उसका भी चित्रण किया है। 'गोत्र' और 'प्रवर' पारिभाषिक *(Technical)* शब्द हैं। सबको उसका पता नहीं है। परन्तु यहाँ गोत्र और प्रवर का सम्बन्ध तोड़ दिया है। उसमें कितने ही लोग सगोत्र जैसे लगते हैं। सुप्रजननशास्त्र *(Genetics)* का अध्ययन करनेवालों को उसमें जबरदस्त सुधार जान पड़ेगा।

इसी स्कन्ध में कच और ययाति द्वारा दो विचार प्रवाह दिखाये गये हैं। मैं उसको विचारप्रवाह की कहता हूँ। ययाति व्यक्ति है। उसकी कहानी सर्वश्रुत है। वह महान् पराक्रमी था और भोगों के पीछे दौड़नेवाला था। अपने बुढ़ापे के बदले में उसने पुत्र का यौवन माँगा। भोगों के पीछे दौड़नेवाले ययाति ने अपने पुत्र का यौवन माँगा इसलिए हम उस पर हँसते हैं, परन्तु उस पर हँसने की जरूरत नहीं है। अपने पुत्र का यौवन स्वीकारने की ययाति में शक्ति थी, इसलिए उसने वैसा किया। हममें वह शक्ति नहीं है अन्यथा हम भी वैसा ही करते।

भोग का अन्तिम परिणाम क्या होता है, यह ययाति के जीवन में दिखायी देता है। ययाति और कच इन दोनों के चित्रण में समाज में दो विचारप्रवाह दिखायी देते हैं। आज भी वे विचारप्रवाह हैं। हमेशा विचारकों, चिन्तकों में दो विचारप्रवाह- *Two schools of thinking* होते हैं। भक्ति में भी दो विचारप्रवाह *(Two schools)* हैं। एक विचारप्रवाह कहता है कि मनुष्य-प्रयत्न *(Human efforts)* से सब कुछ सिद्ध हो सकता है। दूसरा विचारप्रवाह कहता है कि नहीं! ईशकृपा *(Grace of God)* के बिना कुछ नहीं मिलता। ये दोनों स्वतंत्र विचारक *(independent thinkers)* हैं। मनुष्य प्रयत्न माननेवाले विचारक प्रभावी रूप से यह मानते हैं कि भगवान साधन-साध्य हैं। दूसरे विचारक कहते हैं कि भगवान कृपासाध्य हैं। ऊपरवाला कहेगा तब उधर जायेंगे। तब तक हमें कुछ भी सोचने की आवश्यकता नहीं है। ये दो विचारप्रवाह स्वतंत्र रूप से चलते हैं। परिणामस्वरूप समाज को गलत मार्गदर्शन मिलता है। भक्तिमार्ग में जिस प्रकार ऐसा परिवर्तन होता है वैसा जीवन-व्यवहार में भी होता है।

भोग या त्याग में से किसे स्वीकार करना चाहिए? यह बहुत बड़ी समस्या है। भोग तो हैं ही, सुन्दर हैं, रमणीय हैं। इन्द्रियों को आकर्षित करते हैं और आकर्षक लगते हैं। फिर भोग भोगने चाहिए या त्याग करना चाहिए?

एक विचारधारा भोग समझाती है। भोग भोगने चाहिए, फिर से भोगते रहो ऐसा कहती है। ययाति ने स्वयं आत्मनिवेदन के रूप में जो लिखा है वह किसीको कदाचित्

अश्लील लगेगा, परन्तु ययाति ने स्वयं उसका अन्तिम परिणाम लिखा। बहुत सुन्दर रीति से उसने कहा।

मनुष्य के जीवन में कुछ आदर्श होने चाहिए या नहीं? जन्म लेने के बाद मनुष्य भोगों के ही पीछे दौड़ता रहता है, उसके जीवन में बिना भोग के दूसरा कुछ होना चाहिए या नहीं, यह प्रश्न है। छोटे बच्चे के हाथ में केला दिया तो वह सीधे अपने मुँह में डालता है। वह माँ की गोद में बैठा होने पर भी माँ ने केला खाया है या नहीं इसका विचार नहीं करता है। उसको वैसी आवश्यकता भी नहीं लगती। मुझे केला मिला है तो वह मुझे खाना है, बस्स! दूसरा विचार ही नहीं आता। मानवी जीवन में दूसरा कोई आदर्श होना चाहिए या नहीं, इस संबंध में विचार करने का समय आज आया है।

जीवन में आदर्श रखना होगा तौ कौन सा आदर्श रखेंगे? यह दूसरा प्रश्न है। ये दो विचारप्रवाह सभी संस्कृतियों में चलते हैं। फिर वह चाहे ग्रीक संस्कृति होगी अथवा आर्यों की संस्कृति होगी। सेमेटिक होंगे या आर्यन होंगे। दोनों में यह प्रभावी विचारधारा है।

एक विचारधारा को भोग ही चाहिए और दूसरा जो कुछ चाहिए वह भी भोग के लिए ही चाहिए। उनको भगवान भी भोग के लिए ही चाहिए। ये लोग नास्तिक नहीं होते। दूसरी विचारधारा त्याग, त्याग और त्याग ही समझाती है। कठोपनिषद् कहता है-

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।। २-१-१

(स्वयं प्रगट होनेवाले परमेश्वर ने समस्त इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर जानेवाले ही बनाये हैं। इसलिए (मनुष्य इन्द्रियों द्वारा प्रायः) बाहर की वस्तुओं को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। किसी बुद्धिमान मनुष्य ने ही अमर पद को पाने की इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर से लौटाकर अन्तरात्मा को देखा है।)

इन्द्रियों की दौड़ भोगों की तरफ है वह नैसर्गिक है। भोगों के पीछे दौड़नेवाले मनुष्यों का **भोगायतनं शरीरम्।** शरीर से विशेष कुछ है ही नहीं, ऐसे माननेवालों का जीवन पशुजीवन है। उसको इंद्रियसुख ही सर्वस्व लगेगा। जीवन में कुछ आदर्श रखना चाहिए इस संबंध में मतभेद हो जाते हैं।

जीवन में आदर्श होना ही चाहिए। जब आदर्श टूट जाए तब क्या होता है? मैं तो कहता हूँ कि आदर्श तोड़ने के प्रयत्न किये जाते हैं। मनुष्य को खत्म करना हो तो उसका आदर्श प्रथम तोड़ दो। रूस ने इसी विचारप्रवाह का स्वीकार किया। रूस को क्रान्ति करनी थी। उसको लगा कि जब तक पुराने आदर्श रहेंगे तब तक क्रान्ति नहीं होगी। इसलिए आदर्श तोड़ने चाहिए।

आज के विकट समय में यह सोचने की आवश्यकता है कि समाज में आदर्श होने चाहिए या नहीं? और यदि होने चाहिए तो कौन से होने चाहिए?

व्यक्ति का जैसे भौतिक जीवन है, भावजीवन है वैसा एक नैतिक और आध्यात्मिक जीवन भी है। मनुष्य के नैतिक जीवन में जो कुछ बना है, या बनेगा अथवा बनने की संभावना है वह उसको कितना ही अप्रिय, अनिष्ट अथवा अमंगल लगता हो, परन्तु उसमें सामान्य मनुष्य का दोष बहुत ही कम है ऐसा लगता है। यहाँ सामान्य अर्थात् प्रवाहपतित व्यक्ति! 'सामान्य' का अर्थ विश्वविद्यालय का उपाधिप्राप्त या पूँजीपति भी हो सकता है। सामान्य यानी झोपड़ी में रहनेवाला इतना ही अर्थ हमारे ध्यान में आता है। यहाँ सामान्य का अर्थ है प्रवाहपतित। सुभाषितकार कहता है-

गतानुगतिको लोकः न लोकः पारमार्थिकः।

एक ने किया, वह देखकर दूसरे ने किया, तीसरा भी करता है। इसको गतानुगतिक-सामान्य कहते हैं। परिस्थिति के कारण उसे वैसा बनना पड़ता है। अन्तर्मुख होकर, स्वतंत्र रीति से सोचकर उसके अनुसार आचरण करने की शक्ति ही उसके जीवन में नहीं होती और चिन्तन करने के लिए आवश्यक स्वास्थ्य भी उसको नहीं मिलता। चरितार्थ-निर्वाह का चिन्तन करने में ही सब खत्म हो जाने से उसको चिन्तन के लिए मौका भी नहीं मिलता। उसे चिन्तन करना अशक्य है। उसके लिए महान आदर्श की आवश्यकता है।

आज समाज का नैतिक जीवन देखें तो बाल-बच्चेवालों को, लेखकों को मन्दिर में जानेवालों को या न जानेवालों को, आस्तिक या नास्तिक को, तत्त्वज्ञानी, राष्ट्रवादी या कम्युनिस्ट सभी को ऐसा लगता है कि आज नैतिक जीवन का स्तर नीचे गिर गया है। उपरोक्त सभी लोगों को इस सम्बन्ध में सोचना पड़ेगा।

पुराने जमाने का सामान्य मानव परलोक की कल्पना से, स्वर्ग की आशा से और नरक की भीति से कुछ बदला हुआ लगता था, बंधा हुआ सा लगता था। क्या हुआ और किसलिए हुआ यह ध्यान में रखना चाहिए। ऐसा नहीं है कि पुराने लोग अच्छे थे और आज के लोग बिगड़े हैं। पुराने जमाने का सामान्य मनुष्य परलोक की कल्पना, स्वर्ग की आशा व नरक का भय इनके साथ बंधा हुआ था। उसको ईश्वरी श्रद्धा की एक फौलादी चौखट में ऐसा बिठा दिया गया था कि वह बाहर निकल ही नहीं सकता था। इसलिए निर्माण किया हुआ पावित्र्य कृत्रिम था इसमें सन्देह नहीं। वह पावित्र्य भीतर से आया हुआ नहीं था। वह कृत्रिम था, परन्तु कुछ ऐसा ढांचा बनाया गया था कि मनुष्य को सन्मार्ग से हिलना अशक्य होता था। अनेक श्रद्धाएं, अन्धश्रद्धाएं थी, अन्धश्रद्धाएं थीं फिर भी मनुष्य प्रामाणिक था। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। उसने किसी दिन मूर्तिभंजन नहीं किया।

आज यह अच्छी बात है, विचारों से वह आयी है कि नवयुवक इस फौलादी चौखट में से बाहर निकला है, परन्तु उसके भीतर स्थित भगवान और उसके अंदर रही हुई दुर्दम्य कर्तृत्वशक्ति को उसे कोई समझाता नहीं, यह दुःख की बात है।

व्यक्ति-सुख और व्यक्ति-स्वतन्त्रता तो होने ही चाहिए, यह आज का नारा है। यह व्यक्ति-सुख व व्यक्ति-स्वतंत्रता की बात मैं भी मान्य करता हूँ, परन्तु सुख व स्वतंत्रता की कुछ मर्यादा होनी चाहिए अथवा नहीं? यह प्रश्न है।

आपने रूस का वाङ्मय पढ़ा होगा कि रूस में जब क्रान्ति हुई तब एक स्त्री मार्ग में बीच में ही खड़ी थी। मार्ग पर वाहन, मोटर-गाड़ियों का आवागमन तेज गति से चालू था। एक भाई ने उस स्त्री को मार्ग से हटकर तनिक अलग खड़ा रहने को कहा, तब उस स्त्री ने जबाब दिया कि 'मैं आज़ाद हुई हूँ, मुझे चाहे उधर चलने का हक़ है, तुम मुझे रोकनेवाले कौन होते हो?' बहुत लंबी कथा है, आपने पढ़ी होगी ही, क्योंकि आप पढ़े लिखे लोग हैं।

मुझे इसमें इतना ही दिखाना है कि व्यक्तिसुख व व्यक्ति-स्वतंत्रता का नारा लगानेवाले लोगों की कुछ मर्यादा होनी चाहिए यह मानेंगे या नहीं? यह प्रश्न है। आज समाज में से पुराने मूल्य चले गये हैं, नये मूल्य आये नहीं और लाने का कोई प्रयत्न नहीं करता है इसकी मुझे व्यथा है। पुराने मूल्य चले गये इसकी किसी को भी व्यथा नहीं है। पिता भी मर जाता है तो हम उसे जला देते हैं। पुराना चला गया, उसमें व्यथा नहीं है, परन्तु क्या नया मूल्य आया है? कुछ स्वीकारा है? यह प्रश्न है। और जिनमें यह करने की शक्ति नहीं है वे **कीलोत्पाटीव वानरः..** जैसा कर देते हैं। ऐसा काम उनको नहीं करना चाहिए, परन्तु बुद्धि का घमण्ड हो गया है। बुद्धिस्वातंत्र्य का जमाना आ गया है। बुद्धि के घमण्ड के कारण ये लोग चरित्र-हनन करते हैं। जिसके पास बुद्धि है वह उसका दुरुपयोग करके चाहे उस महान् चरित्र को दो मिनट में नष्ट कर देता है।

'भीष्म प्रभावी चरित्र है' ऐसा कहा तो वह कहता है, 'भीष्म दुर्बल भी थे। वे क्या कर सकते थे? उनका एक भी निर्णय सच्चा नहीं था। उन्होंने सभी निर्णय झूठे लिये थे। निर्णय लेने में वे कच्चे थे, पक्के नहीं थे। उन्होंने जिसको हाथ लगाया वह मिट्टी बन गया। संपूर्ण कुरुवंश का इतिहास देखेंगे तो भीष्म की ऐसी स्थिति है-' ऐसा बुद्धि से वह दिखा सकता है। बुद्धि की शेखी दिखाने के लिए केवल चरित्रहनन करता है। परन्तु इन महान् चरित्रों के साथ कुछ सिद्धान्त हैं। इन चरित्रों का हनन करने का जो महापाप, ब्रह्महत्या का पाप जिस पीढ़ी ने किया है वही पीढ़ी आज रोने लगी है कि समाज में से सत् चला गया है। परिवार का प्रमुख व्यक्ति चल बसने पर जिस प्रकार की रिक्तता आती है वैसी रिक्तता आज समाज में आयी हुई है। समाज के सभी क्षेत्रों में ऐसी ही विषमता दिखायी देती है। किसी भी मार्ग से सुख मिला तो वह लेना है, बस! फिर वह मार्ग नैतिक है या अनैतिक, धार्मिक है या अधार्मिक, युक्त है या अयुक्त है यह कुछ देखने का किसी को कारण नहीं है। जो और जैसा सुख मिलेगा वह प्राप्त करना है। यह विचार स्वीकार करने के बाद आदर्श चला गया, निकालकर फेंक दिया गया। साथ ही अन्तिम भोग ही सर्वस्व है, दूसरा कुछ नहीं यह धारणा दृढ़ हुई। 'मुझे किसी भी रास्ते से सुख मिलना चाहिए और चाहे जिस रास्ते से मुझे सुख मिलेगा उसे मैं स्वीकारूँगा' यह धारणा समाज में आयी है।

जीवन के मूल्य टूट गये हैं, तोड़ने के प्रयत्न सतत चल रहे हैं। समाज के सभी स्तरों में विषमता आयी है। शिक्षा का स्तर कितना नीचे गिर गया है! उसे क्या शिक्षा कहना चाहिए? किसी विद्यार्थी को अनुत्तीर्ण ही नहीं करना है! इसका कारण अनुत्तीर्ण करने से उसे दुःख होगा। किसी के दिल को दुःख क्यों पहुँचाना चाहिए? ऐसी आध्यात्मिक विचारधारा चल रही है। दूसरे के दिल को सँभाले! दूसरी ओर विद्यार्थी शिक्षक से कहता है कि मुझे उत्तीर्ण नहीं किया तो मैं तुम्हें खत्म कर दूँगा! निम्न स्तर की शिक्षा! ऐसी ही निम्न स्तर की भक्ति, निम्न स्तर का अध्यात्म, निम्न स्तर का आर्थिक जीवन और निम्न स्तर का व्यावहारिक ज़ीवन बन गया है। यह किस मूल्य का परिणाम है? यह सोचना चाहिए कि समाज ने कौन से मूल्यों को स्वीकार किया है, कौन से मूल्य टिकाये हैं, बढ़ाये हैं? आज जो परिणाम दीख रहा है वह किसका फल है?

शिक्षा इतनी निम्न स्तर पर आयी है तो हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं है। क्या पैसा कमाने के लिए शिक्षा चाहिए? हम हल चलाकर खेती करेंगे? मज़दूरी करेंगे, उसमें शिक्षा की क्या आवश्यकता है? सभी निम्न स्तर का बन गया है उसको उच्चस्तर पर लाने का कार्य किसका है? आदर्श मर गये हैं, जीवन-मूल्य नष्ट हो गये हैं। किसी भी मार्ग से क्यों न हो, पर सुख चाहिए, भोग चाहिए।

आँखों के सामने दो आदर्श खड़े होते हैं। एक है ययाति और दूसरा है कच! ये दो विचारधारायें हैं। ययाति-जिससे यदुवंश प्रारंभ हुआ। भगवान गोपालकृष्ण ने इस वंश में जन्म लिया। ययाति भोग, अधिक भोग, अधिकतर भोग-इस विचारधारा का था। हम बूढ़े बन गये तो क्या हुआ? क्या भोग छोड़ देने हैं? जब तक जीवित रहेंगे, तब तक भोग भोगते रहेंगे। डॉक्टर कहेंगे ठीक है, परन्तु डॉक्टर का कहना भौतिक *(Physical)* होता है। उसके पीछे दूसरा कौन सा भाव है? कुछ नहीं! मनुष्य जीवन के अन्त तक भोग भोगना चाहता है। यह ययाति का विचारप्रवाह है। यह विचारप्रवाह नैतिकता का और जीवन मूल्यों का सत्यानाश करता है। इसमें अन्त तक केवल भोग का ही विचार है, दूसरा कुछ नहीं।

दूसरा एक विपरीत विचार खड़ा हुआ है, वह है कच! वह कहता है, सब कुछ छोड़ दो, त्याग दो। व्यक्ति के रूप में यह एक दूसरा विचारप्रवाह है। ययाति के भोग के विचारप्रवाह का एकदम उलटा प्रवाह है। यह त्याग का विचारप्रवाह है। वह कहता है, सृष्टि में कुछ नहीं है, जीवन में कुछ नहीं है, परिवार में कुछ नहीं है। सब तिरस्करणीय है। वह मानव में घृणा निर्माण करके त्याग समझाता है। एक विचारप्रवाह भोग कहता है और दूसरा विचारप्रवाह त्याग कहता है।

ययाति को अन्त में कहना पड़ा है-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते।।

ये ययाति के उद्‌गार हैं! भागवतकार ने पूरा अध्याय ययाति के मनोमंथन के लिए लिखा है। इन्द्रियों की माँग पूर्ण करने की मुझमें शक्ति है तो मैं पूर्ण करूँगा, यह उसका कहना है। उसके सामने कोई आदर्श नहीं, कोई मूल्य नहीं है। इन्द्रियों की माँग जितनी है उतनी पूर्ण करूँगा, उसके विरोध में दूसरा क्यों बोले? मुझे समझाने की किसीको आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिस्वातंत्र्य और व्यक्तिसुख ही अन्तिम है ऐसा बोलनेवाली एक विचारधारा है जबकि दूसरी विचारधारा कहती है कि सब तिरस्करणीय है, त्याज्य है, घृणास्पद है। इन दो विचारप्रवाहों से भिन्न एक विचारप्रवाह-संयम का विचारप्रवाह निकालने के लिए भगवान कृष्ण यदुवंश में पैदा हुए थे। कृष्ण भगवान को कुछ कहना है, समझाना है।

संयम शब्द पुराना व रूढ़िग्रस्त *(Orthodox)* लगता है। संयम शब्द सुनकर नवयुवक घबड़ा जाते हैं। उनको लगता है कि 'जिनमें कमाने की शक्ति नहीं है, सँभालने की, उठाने की, उपभोग करने की शक्ति नहीं है ऐसे नामर्द लोग संयम की भाषा बोलते हैं। जीवनेच्छा और जीवन में पैदा होनेवाली उपभोग की इच्छा मानव की प्रेरक शक्ति है।' यह किसीको अमान्य नहीं है। हम सबकी प्रेरक शक्ति जीवनेच्छा और उपभोगेच्छा ही है। मनुष्य इसी दृष्टि से शिक्षा लेता है।

मनुष्य की किसी भी कृति के लिए दो बातें ही प्रेरक शक्ति हैं। लड़का पूछता है, दूध कब मिलेगा? तो पिता कहता है, 'पहले भगवान को नमस्कार करो, फिर दूध मिलेगा।' तो भगवान को नमस्कार भी होने लगता है। उपभोग की इच्छा प्रेरक है। लड़का सोचता है, मुझे दूध पीना है, पिताजी की शर्त है कि जब तक भगवान को नमस्कार नहीं करता हूँ तब तक दूध नहीं मिलेगा।' अच्छा नमस्कार करता हूँ, उसमें जीवनेच्छा और उपभोगेच्छा ये दो प्रेरक शक्तियाँ हैं।

सभी के जीवन में 'राम' और 'काम' ये दो प्रभावी शक्तियाँ हैं। इनमें उदात्तता और पवित्रता लाने की आवश्यकता है या नहीं? यही प्रश्न है। सर्वत्र जब नग्न भोगविलास दिखायी देता है तब क्या करना चाहिए? काम-वासना और अन्नवासना दोनों आवश्यक हैं, स्वाभाविक हैं। उनका अस्तित्व, सौन्दर्य और सामर्थ्य मान्य भी हैं, परन्तु मनुष्य जब वासना-वासना का ही विचार करता है, तब वासना-वासनारूप में ही रहती है और वह उन्माद रूप में परिणत होती है ऐसा भागवतकार का कहना है। वासना, वासना के रूप में ही रहेगी। आदिवासी जैसे रहते हैं वैसे हम भी आदिवासी ही हैं, नग्न हैं। हमारी जो वासना है वह नग्न है। पूर्णतया नग्न वासना लेकर हम खड़े हैं। ऐसा यह अत्यन्त घृणित कार्य चल रहा है।

काम, क्रोध और लोभ ये शत्रु हैं ऐसा माननेवाले कितने ही लोग होंगे, परन्तु ये हमारे मित्र हैं। इसका कारण ये विकार हमने निर्माण नहीं किये हैं। काम, क्रोध और लोभ का रूप हमें मालूम नहीं है। निर्माण करनेवाला कोई है, इनकी मानवी जीवन में आवश्यकता होगी इसलिए इनको निर्माण किया होगा। ये विकार हमारे मित्र हैं इसका कारण उनका निर्माण गलत नहीं है।

कुत्ता हमारा ईमानदार मित्र है, परन्तु वह जब पागल बनता है तब उसको मारना ही पड़ता है। प्रश्न यह है कि उसके पागल बन जाने पर उसको रखना है या नहीं? वह ईमानदार है, मित्र है घर में रहता है परन्तु पागल है, क्या फिर भी सँभालेंगे? काम-वासना में कामभावना, प्रीतिभावना ऐसी दिन प्रतिदिन उदात्तता आनी चाहिए या नहीं? यदि उसमें उदात्तता नहीं आयेगी तो समाज कैसा बनेगा? इसका विचार करना चाहिए। यह विचार करने के लिए, विचारधारा देने के लिए, अन्तिम मानव तक पहुँचकर उसको यह जीवन समझाने के लिए विश्व की एक महान् शक्ति अवतार लेकर आती है। वही कृष्ण भगवान का अवतार है, कृष्ण भगवान का अवतार यदुवंश में हुआ।

ययाति और कच- ये दो विचारप्रवाह हैं। ये विचारप्रवाह आज भी चल रहे हैं। कितने ही लोग अपने को आध्यात्मिक कहलाते हैं। कुछ खाते नहीं, पानी भी नहीं पीते। सब मिथ्या है, खाना, पीना, विवाह करना, पैसा कमाना सब मिथ्या है, हमें कुछ नहीं चाहिए, यह एक विचारप्रवाह है। दूसरा प्रवाह कहता है कि यह नहीं चलेगा। इन्द्रियाँ मिली हैं वे उपभोग के लिए मिली हैं। हमें सर्वत्र उपभोग चाहिए। उपभोग देने के लिए हमें भगवान चाहिए। मैं हमेशा मजाक़ में कहता हूँ कि बाजू में लक्ष्मी है इसलिए नारायण है, अन्यथा कौन नारायण को पहचानता है?

महाराष्ट्र में, पंढरपुर में नारायण को अकेला रखा है। सभी जगह, नारायण के साथ लक्ष्मी होनी चाहिए ऐसा आग्रह दिखायी देता है, परन्तु पंढरपुर में पांडुरंग भगवान अकेले हैं। वारकरी लोगों की भगवान की मूर्ति अकेली है। वारकरी संप्रदाय चुस्त वैष्णव संप्रदाय है।

भागवतकार ने 'ययाति' और 'कच' के रूप में दो विचारधाराएं दिखायी हैं। यदुवंश में श्रीकृष्ण भगवान का अवतार हुआ है, यहीं नवम स्कन्ध पूर्ण होता है। फिर दशम स्कन्ध प्रारंभ होता है।

दशमः स्कन्धः

आज मार्गशीर्ष महीने का प्रथम रविवार है। **'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्'** ऐसा प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा है। मार्गशीर्ष मास भगवान की विभूति है। आनन्द की बात है कि इस मार्गशीर्ष मास में ही भागवत का दशम स्कंध आ गया है।

कृष्ण का नाम आते ही एक भावविभोर अवस्था बन जाती है। सभी के हृदयसम्राट भगवान के सम्बन्ध में क्या बोला जा सकता है? यह प्रथम प्रश्न है। दूसरा प्रश्न है, 'क्या उन पर बोल सकते हैं?' क्या बोलना उचित है? यह तीसरा प्रश्न है और क्या बोलने का अधिकार है? यह चौथा प्रश्न है। इन प्रश्नों से बुद्धि कुंठित बन जाती है। ऐसा एक लोकोत्तर चरित्र दशम स्कन्ध में आया है। मुझे तो लगता है कि उसको नमस्कार करके ही आगे बढ़ना चाहिए।

कृष्ण पूर्णावतार हैं। उनके जीवन में एक भी कमजोरी नहीं है कि जिस पर हम चोंच मार सकें। कृष्ण के जैसा समाजोद्धारक हुआ ही नहीं है और होगा भी नहीं। कृष्ण के जैसा नीतिज्ञ कोई हुआ ही नहीं और होगा भी नहीं। कृष्ण के जैसा राजनीतिज्ञ भी नहीं हुआ है। अध्यात्म के लिए कृष्ण भगवान का जीवन ही देखना चाहिए। 'कृष्ण' नाम और 'कृष्ण भगवान' यह एक लाजवाब चरित्र है। रत्नों में कृष्ण कौस्तुभ मणि है। कृष्णावतार भारत का भूषण है, और महाभारत का वैभव है। महाभारत में से दो व्यक्तियों— कृष्ण और भीष्म को निकाल देंगे तो क्या रहेगा? कुछ नहीं! तो फिर महाभारत को डूबो देना चाहिए, उसकी आवश्यकता ही नहीं है।

कृष्ण पूर्णावतार हैं इसमें सन्देह ही नहीं है। **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'** कृष्ण के सम्बन्ध में इतना बोल तो दिया, परन्तु मेरे मन में उपरोक्त चार प्रश्न अब भी खड़े होते हैं और मैं असमंजस में पड़ जाता हूँ।

जब सन् १९५४ में जापान में सर्वधर्म परिषद *('World Religion Conference)* में अवतारवाद *(Advent of Saviour)* पर चर्चा हुई, तब उसमें आये हुए लोगों ने कुछ न कुछ कहा। उनमें से श्री. काम्प्टन व रुडफ्रे *(Compton and Rudfrey)* जैसे प्रभावी ब्रिटिश और अमेरिकी दार्शनिकों ने कहा कि अवतार मानना होगा तो दोनों के विषय में विचार करना होगा एक ईसा मसीह व दूसरा कृष्ण! कृष्ण सात्विक पुरुष थे, महापुरुष थे, राजनीतिज्ञ थे और उनके सामने जो जो खराब, असत्, झूठा आया उसको उन्होंने समाप्त किया। वह एक अच्छी बात थी। जरासन्ध, कालयवन, कालनाग जैसे महाप्रतापी राजाओं, सम्राटों को उन्होंने कण्ठस्नान कराया। सात्विक और नैतिक दृष्टि में मानव कैसा होना चाहिए यह उन्होंने समझाया, परन्तु कृष्ण भगवान का अवतार नहीं हो सकते।

उन्होंने कहा, ईसा मसीह अवतार है। जो कोई भगवान होगा वह परम कारुणिक होना चाहिए। ईसा मसीह ने प्रत्येक में मांगल्य देखा। 'पड़ोसी पर प्रेम करो- *(Love thy neighbour)'* ऐसा उन्होंने कहा। प्रत्येक में मांगल्य देखनेवाला ईसा मसीह है, वे अवतार हो सकते हैं। असत्, खराब जो कुछ था उसको दुरुस्त करनेवाला सात्विक कहलाता है। आवश्यकता पड़ने पर मारा भी होगा। वह राजनीतिज्ञ है परन्तु धार्मिक नहीं और अवतार भी नहीं हो सकता।

यह सब सुनकर मैं बोलने के लिए खड़ा हुआ। मैंने कहा, कॉम्पटन साहब अथवा दूसरे कोई यहाँ एकत्रित हुए हैं वे न तो ईसाई हैं, न हिन्दु। हम सब यहाँ पर तत्त्वज्ञान *(Philosophy)* का विचार करने के लिए एकत्रित हुए हैं। मानव जीवन में, मानव में पड़े हुए विकारों में से जिनकी आवश्यकता है उनको रखना है और जो अनावश्यक हैं उनको निकालना है। कैसे निकालेंगे? जिन पर बंधन कैसे रखेंगे? इन बातों पर चर्चा करने के लिए विद्वान लोग एकत्रित हुए हैं। वे वैश्विक लोग हैं। विशुद्ध रूप से देखेंगे तो मैं इतना ही कहूँगा कि जिसने इस सृष्टि का निर्माण किया है, जो सृष्टि का सर्जनहार है, सृष्टि को चलाता है, उसीने अनेक आकार निर्माण किये हैं वह खुद अपने लिए भी एक आकार लेगा इसमें सन्देह नहीं है।

वह यदि मानवी आकार लेकर आयेगा तो किसलिए आयेगा? वह क्या खेल खेलने के लिए आयेगा? विश्व निर्माण करनेवाली और उसे चलानेवाली शक्ति यदि मनुष्याकार लेकर आयेगी तो किसलिए आयेगी? वह क्या केवल 'पड़ोसी पर प्रेम करो' इतना ही कहने के लिए आयेगी? ईसा मसीह के प्रति अत्यधिक प्रेम रखकर मैं कहता हूँ कि ईसा मसीह एक सन्त चरित्र *(Saintly Character)* है। ऐसे सन्तपुरुष चंपा, मोगरा के फूल जैसे होते हैं। इन फूलों की सुगन्ध जिन्हें लेनी है ले सकते हैं और जिन्हें न लेनी हो

वे मुँह फेर सकते हैं। सन्तपुरुष भी ऐसे ही होते हैं। वे स्वयं अपनी सुगंध बहाते जाते हैं। जगत् में जिन्हें वह सुगंध लेनी है वे लें, और न लेनी है तो न लें।

यदि सृष्टि चलानेवाले भगवान मनुष्याकार लेकर इस जगत् में आते हैं तो किसलिए आते हैं? मुझे लगता है कि वे मनुष्य को जीवन समझाने के लिए आते हैं। मनुष्य के जीवन में पाँच कक्ष होते हैं। पहला मानसशास्त्र *(Psychology)*, दूसरा समाजशास्त्र *(Sociology)*, तीसरा अर्थशास्त्र *(Economics)*, चौथा राज्यशासन *(Politics)*, और पाँचवां कक्ष तत्त्वज्ञान- *(Philosophy)* है। इन सभी कक्षों को जो प्रकाशित करे, इतना ही नहीं अपितु दो हजार वर्षों तक जिसके सिद्धान्त अबाधित, अखंडित रहेंगे, वही अवतार माना जायेगा। अवतार का कार्य यही होता है। अवतार क्या गेंद खेलने के लिए आता है? और खेलन के लिए यदि आता होगा तो इसके जैसा बचपना दूसरा कौन सा होगा? अवतार लेकर आने के बाद वह खेलता है इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु सिर्फ खेलने के लिए वह नहीं आता। वह क्या 'पड़ोसी पर प्रेम करो' इतना कहकर ही चला जायेगा?

यदि आप कृष्ण-चरित्र देखेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि कृष्ण ने जीवन के सभी कक्ष प्रकाशित किये हैं। उनके जो सिद्धान्त हैं वे अबाधित हैं। हजारों वर्षों तक उन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार मानव को चलना पड़ेगा ऐसे वे सिद्धान्त हैं।

इतना सुनते ही उन्होंने मुझे पूछा, 'कृष्ण का समाजशास्त्र, मानसशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, राज्यशास्त्र क्या है? उनके लिए क्या कोई पुस्तकें हैं?' चार-पाँच हजार वर्ष हो गये, 'कृष्ण, कृष्ण' नाम लेकर, जिस कृष्ण को भगवान समझकर लोग खड़े हैं, उस कृष्ण के देश में कृष्ण पर जितना अन्याय हुआ है उतना किसी दूसरे पर नहीं हुआ है। उनके सम्बन्ध में एक भी पुस्तक नहीं है। क्या उन लोगों से यह कहेंगे कि महाभारत अथवा हरिवंश पढ़ो?

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।। (मनु. २/२०)

(इस देश में समुत्पन्न ब्राह्मणों से पृथ्वी के समस्त मानव अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें।) ऐसी भाषा बोलनेवाले हम, मनुष्यजाति को मार्गदर्शन करने के लिए आये हैं, न केवल हिन्दुओं के लिए! मानव का विकास, उद्धार, मानव का भाव, मानव का जीवन, मानव का भगवान के पास जाना और उनसे मिलने का जो मार्ग है उसे निश्चित करने के लिए कृष्ण का अवतार है। कृष्ण भगवान ने मानव जीवन के सभी कक्ष प्रकाशित किये हैं। उनके सिद्धान्त आज भी अबाधित हैं, परन्तु उन पर- श्रीकृष्णचरित्र पर संशोधन *(Research)* करना पड़ेगा। उस समय उन लोगों से मुझे कहना पड़ा कि ऐसा *Research* भारत में नहीं हुआ है। यह दुःख की बात है।

श्रीकृष्ण का चरित्र जब-जब हाथ में आता है, कृष्ण का नाम जब मुख में आता है तब मुझमें अपराधी मनोवृत्ति *(guilty conscious)* पैदा होती है। कृष्ण भगवान का नाम लेनेवाले,

मुख से **'श्रीकृष्णः शरणं मम'** बोलनेवाले लोगों ने उन पर बड़ा अन्याय किया है। श्रीकृष्ण को जो कहना था, समझाना था, सिखाना था उसकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं है। मुझे लगता है कि उस दिन मैंने परिषद में सभी तत्त्वज्ञानियों को अवतार का हेतु समझाया वह सभी ने मान्य किया। श्रीकृष्ण भगवान ने जो काम किया है वही हमें दिखाना है। हम कृष्ण भक्त हैं, कृष्ण की जयंति भी मनाते हैं, कृष्ण के मंदिर भी हैं, परन्तु एक भी व्यक्ति को ऐसा नहीं लगता कि कृष्ण के विचार समझने चाहिए, दूसरों को समझाने चाहिए, उनका कुछ काम करना चाहिए। इनमें से कुछ भी न करके हम कृष्णभक्त हैं और कृष्ण के लिए **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'** बोलते हैं। जगत् को तो जाने दीजिए, परन्तु इस सी.पी. टँक के चौराहे पर रहनेवालों के भी वे गुरु नहीं हैं, फिर वे **'जगद्गुरुम्'** कैसे होंगे? जिसका पुत्र प्रभावी नहीं होता है, उस माँ को रोना ही पड़ता है। एक सुभाषितकार कहता है—

एकेनापि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम्।
सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति रासभी।।

शेरनी का एक सुपुत्र हो तो वह निर्भयता से सो जाती है। परन्तु दस-दस लड़के होने पर भी गर्दभी भार ही ढोती है।

कृष्ण का नाम लेते ही मेरे मन में विचार आता है कि क्या हमने उनको न्याय दिया है? क्या हमने उनके विचार उठाये हैं? कृष्ण को समझने का क्या हमने प्रयत्न किया है? कृष्ण का अवतार किसलिए था? क्या समझाने के लिए अवतार आता है? कृष्ण का नाम आते ही मैं स्वयं काँप उठता हूँ कि क्या हम उनकी पूजा करने के अधिकारी हैं? उनके चरित्र पर बोलने का क्या मुझे अधिकार है? कृष्ण का नाम लेने के भी हम अधिकारी हैं इस सम्बन्ध में शंका है।

कृष्ण-चरित्र के चार पहलू हैं। प्रथम पहलू में उन्होंने भक्तों पर प्रेम की वर्षा की है। कृष्ण भगवान प्रेम का प्रतीक है। जन्म से लेकर देहोत्सर्ग तक उन्होंने सभी को प्रेम ही दिया है, दूसरा कुछ नहीं। कृष्ण प्रभावी राजनीतिज्ञ थे यह उनका दूसरा पहलू है। तीसरा पहलू यह है कि दैवी काम करनेवालों के वे सखा थे। जहाँ-जहाँ दैवी कार्य चलता होगा, वहाँ मैं खड़ा रहूँगा ऐसी उनकी प्रतिज्ञा है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। (गीता. ९/२२)

वे मानववंश के उद्धारक हैं, यह उनका चौथा पहलू है। गीता कहकर उन्होंने मानववंश का उद्धार किया है। ऐसा कृष्ण भगवान का चरित्र है। इस चरित्र पर बोलना चाहिए या नहीं? अभी तक निर्णय नहीं होता है। अर्जुन की जैसी स्थिति हो गयी थी— लड़ूँ या न लड़ूँ? वैसी मेरी अवस्था हुई है, बोलना बेकार लगता है। इसकी अपेक्षा कृष्ण भगवान का एक अष्टक ही गायेंगे-

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकी परमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।१।।

अतसीपुष्पसंकाशं हारनूपुरशोभितम्।
रत्नकङ्कणकेयूरं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।२।।

कुटिलालकसंयुक्तं पूर्णचन्द्रनिभाननम्।
विलसत्कुड्मलरदं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।३।।

मन्दारगन्धसंयुक्तं चारुहासं चतुर्भुजम्।
बर्हिपिच्छावचूडांगं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।४।।

उत्फुल्लपद्मपत्राक्षं नीलजीमूतसन्निभम्।
यादवानां शिरोरत्नं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।५।।

रुक्मिणीकेलिसंयुक्तं पीताम्बरसुशोभितम्।
अवाप्ततुलसीगन्धं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।६।।

गोपिकानां कुचद्वंद्वं कुंकुमांकितवक्षसम्।
अनिकेतं महेष्वासं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।७।।

श्रीवत्साङ्कं महोरस्कं वनमालाविराजितम्।
शंखचक्रधरं देवं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।।८।।

कृष्णाष्टकमिदं पुण्यं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
कोटिजन्मकृतं पापं स्मरणात्तस्य विनश्यति।।९।।

गर्गसंहिता में यह कृष्णाष्टक आया है। इसमें से एक श्लोक हम प्रतिदिन बोलते हैं। मुझे लगता है यह जो कृष्णाष्टकम् स्तोत्र कुच्छ समझाता है। भगवान कैसे हैं? जगद्गुरु हैं! जगद्गुरु का अर्थ क्या 'मुक्ति देनेवाले' हैं? सभी समझाते हैं। प्रथम श्लोक में ही पारिवारिक जीवन समझाया है। भगवान अवतार लेकर आये हैं, परन्तु **वसुदेवसुतं–** उनको पिता का गौरव है। पितृगौरव यानी जिसका जन्म पिता का गौरव बन जाता है। जिसका 'जन्म लेना' ही पिता को गौरवास्पद लगता है। परिवार में 'मैं वैसा हूँ या नहीं' यह देखना चाहिए। उसके बाद ही 'मैं कृष्ण का हूँ' ऐसा कह सकते हैं, मेरे जन्म से क्या पिता को गौरव लगता है? यह सोचना चाहिए। जिन्होंने मुझे पैदा किया है वे (भगवान) मेरे पिता हैं। उनको मेरे जन्म से क्या गौरव लगता है? यह प्रत्येक कृष्णभक्त को सोचना चाहिए।

कंसचाणूरमर्दनम्– इसमें पुरुषार्थ है। केवल पिता को आनंद देनेवाला इसका अर्थ ऐसा नहीं कि घर में बैठकर उनके चरण छूते रहना, उनका सिर दबाना! पुत्र पुरुषार्थी होना चाहिए, तभी वह पिता को गौरवप्रद लगता है। कृष्ण के भक्तों को पुरुषार्थी बनना चाहिए।

देवकी परमानन्दं – माँ को ऐसा लगना चाहिए कि इस पुत्र को जन्म देकर मैं कृतार्थ बन गयी हूँ। **कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च येन** – अन्यथा लड़के तो पैदा होते ही हैं। यही पारिवारिक जीवन है। हमने परिवार चलाया इसका अर्थ क्या हुआ? पुत्र-कन्या पैदा हुए, उनको बड़ा किया और उनके विवाह कराये, क्या 'परिवार चलाया' इसीको कहते हैं?

अवतार की परिवार के सम्बन्ध में भिन्न कल्पना है। वही प्रथम श्लोक– **वसुदेवसुतं देवं**... में कृष्ण कैसे थे यह बताया है। कृष्ण के जैसा मुझे बनना है यह उसका दूसरा अर्थ है। **'कृष्णो भूत्वा कृष्णं यजेत्'**– कृष्ण को बाँधकर नहीं रखना है। उनको जीवन में लाना है। कृष्णजन्म मंदिर में नहीं होना चहिए, अपने जीवन में होना चाहिए। हम मंदिर में जाकर कृष्णजन्म करते हैं और कराते हैं।

आपको तत्त्वज्ञानी बनना है तो कृष्ण भगवान का जीवन देखिये। वे जगद्गुरु हैं। लोगो को कृष्ण भगवान तत्त्वज्ञानी नहीं लगते, क्योंकि उन्होंने गृहस्थी की है, लड़ाइयाँ लड़ी हैं, भिन्न भिन्न दुःख उठाये हैं। यह देखकर लोगों को लगता है कि वे भगवान कैसे हो सकते हैं? तत्त्वज्ञानी का अर्थ क्या है? वह उच्च आसन पर बैठा हुआ होना चाहिए, **'शान्तम्-शान्तम्'** बोलते रहनेवाला होना चाहिए, तभी वह तत्त्वज्ञानी कहलाता है। जो हँसता है, खेलता है वह तत्त्वज्ञानी कैसे हो सकता है? यह जो कल्पना तत्त्वज्ञानी की है, उसका कृष्ण भगवान ने वस्त्रहरण किया है।

मनुष्य पुरुषार्थी होना चाहिए। माता-पिता को आनंद देनेवाला होना चाहिए। यदि लड़का माँ को छोड़ता ही नहीं, उसीके पास बैठा रहता है, तो कैसे चलेगा? उसको पुरुषार्थी बनना चाहिए, तभी माता-पिता को गौरव लगता है। पुरुषार्थी के साथ साथ मनुष्य को विनयशील बनना चाहिए। नहीं तो लड़का पुरुषार्थी बनता है और पिता को जेलखाने में डाल देता है। अनादि काल से ऐसा चलता आया है। कोई कहेगा, हमने पिता को जेलखाने में नहीं डाला है। हमारे-सबके पिता जेलख़ाने में ही हैं। खाओ, पीओ और रहो। सबको खाना मिलेगा। सोने को मिलेगा। सोने के लिए अच्छी गद्दी मिलेगी। बैठे रहो, और तुम्हें क्या चाहिए? ऐसा पिता को कहा गया तो वह जेलख़ाने में ही है। तत्त्वज्ञान का यदि यही परिणाम होगा तो परिवार ही समाप्त हो जायेगा। उसको तत्त्वज्ञान ही नहीं कहते। यही कृष्ण भगवान को कहना है। कृष्ण भगवान ने परिवार को स्वीकारा है यह महत्त्वपूर्ण बात है।

फिर दूसरे श्लोक में कहते हैं– **अतसीपुष्पसंकाशम्**– कृष्ण भगवान ने हाथ में अलसी का फूल लिया है। अलसी एक औषधि है। वह फूल आरोग्य के लिए अच्छा है। शरीर में कुछ भी बीमारी हो तो वह अलसी के फूल से मिट जाती है। इस फूल में न सुगंध है न दूसरा कुछ। ऐसा फूल भगवान ने हाथ में लिया है। शरीर सँभालो। **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्** - ऐसा भगवान कहते हैं, शरीर की अवगणना न करो। यदि तुम तत्त्वज्ञान चाहते हो तो शरीर को सँभालना चाहिए।

कितने ही लोग ऐसा समझते हैं कि शरीर झूठा है, माया है। उसकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए, शरीर को फेंक दो। जितने कष्ट होंगे उतने उठाने चाहिए। शरीर को कष्ट देने चाहिए। फ्रैंक थिली *(Frank Thilly)* ने *History of Philosophy* में लिखा है कि भारत में तत्त्वज्ञान *(philosophy)* है ही नहीं। वहाँ केवल देवतार्चन व देह-दण्ड इसके सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं। फ्रैंक थिली बड़ा दार्शनिक है। आज किसीको तत्त्वज्ञान विषय लेकर एम. ए. करना हो तो फ्रैंक थिली पढ़ने के बाद ही वह एम. ए. कर सकता है। उसने अपने ग्रंथ में स्पष्ट भाषा में लिखा है कि अरबस्तान, ईरान और भारत में तत्त्वज्ञान है ही नहीं। देवतार्चन व देहदण्ड है। देह को कष्ट देना है। परन्तु भगवान गीता में कहते हैं—

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।। (गीता. १७/६)

शरीर को पीड़ा देने से अध्यात्म नहीं मिलता। मन का उन्नतिकरण, बुद्धि का शुद्धिकरण और आत्मा के पवित्रीकरण से ही मनुष्य आध्यात्मिक बनता है। भगवान ने उपरोक्त श्लोक में कहा है कि केवल देहदण्ड देनेवाले मुझे ही कष्ट देते हैं, अतः उनको असुर समझो।

कृष्ण भगवान की जीवन की ओर देखने की एक भिन्न ही दृष्टि है। यह मान्य होगी तभी '**कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्** होगा।'

फिर कहते हैं- **हारनूपुरशोभितम्**- भगवान के गले में हार है। यह कोई फूलों का हार नहीं है। जीवनों का हार है। विश्वामित्र, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, पतंजलि, तथा निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाई, एकनाथ, नामदेव, तुकराम इन सबके जीवनों का हार भगवान के गले में है। उनके जैसा मेरा भी जीवन उन्नत बनना चाहिए, मेरे जीवन को भी सुगन्ध आनी चाहिए। मेरे मन और बुद्धि इतने उन्नत हों कि उन्हें देखकर भगवान मुझे भी गले में रख लेंगे।

नूपुरशोभितम्- भगवान के चरणों में नूपुर शोभा देते हैं। भगवान के लिए जीवन एक नृत्य है। **लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्**- जीवन एक लीला है। जिसे जीवन भयानक, तिरस्करणीय, तुच्छ लगता है वह कृष्ण के तत्त्वज्ञान का अधिकारी ही नहीं है। **तुष्यन्ति च रमन्ति च** - यह गीता के तत्त्ववेत्ता की भूमिका है। इसीलिए वे नूपुर लेकर खड़े हैं। इन सभी श्लोको में '**कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्**' लिखा हुआ है। उनको क्या सिखाना है? संपूर्ण जीवन समझाना है। जीवन आनन्दी बनना चाहिए यह उनको कहना है, इसलिए '**हारनूपुरशोभितम्।**' जीवन में दुःख आते ही हैं, इसमें क्या बात है? ऐसा एक भी दुःख नहीं है कि जो श्रीकृष्ण भगवान के जीवन में न आया हो। वैसे ही एक भी सुख ऐसा नहीं जो भगवान के चरणों के पास नहीं आया। फिर भी भगवान अचल रहे।

अरे! हम बाबू से बड़े बाबू बन गये तो हमारा दिमाग ठिकाने नहीं रहता। दुकान में एकाध साल अधिक लाभ हो गया तो दिमाग में गरमी आ जाती है। उसको स्वयं पता भी

नहीं चलता कि उसका दिमाग ठिकाने पर नहीं है। युनिवर्सिटी की परीक्षा में लड़का प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ तो उसे लगता है कि 'मैं कोई हूँ।' जीवन में सुख-दु:ख आते हैं तब कैसे रहना है यह कृष्ण भगवान ने जीकर दिखाया है। भगवान का अवतार इसीलिए है। लोग पूछते हैं, कृष्ण यदि भगवान थे तो लोगों ने उनका क्यों नहीं माना? भगवान यही तो सिखाने आये थे कि जगत् में तेरा कोई नहीं मानेगा। तेरी घरवाली भी तेरा नहीं मानेगी, तेरा पुत्र भी तेरा कहना नहीं मानेगा। तुझे परिवार में ही रहना होगा तो—

दु:खेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। (गीता:२/५६)

ऐसा रहना होगा। कृष्ण भगवान को तो उनका लड़का ही नहीं मानता था, उसके मस्तिष्क में बेहोशी आ गयी थी, फिर भी भगवान शान्त थे, स्वस्थ थे। **'शान्ताकारं भुजगशयनम्।'** शेषनाग हजार मुखों से जहर निकालता रहता है फिर भी भगवान शान्ति से सोते हैं। परिवार में तो ऐसे जहर आते रहते हैं। रात-दिन ऐसे प्रसंग आते हैं तो क्या परिवार से दूर भाग जाना है? दु:ख भी आयेंगे, सुख भी आयेंगे। दोनों में मनुष्य को स्वस्थ रहना है। कृष्ण भगवान ने ऐसा जीकर दिखाया है। उसीको कहते हैं **'नृत्यन्ति'**– नाचनेवाला। उसका अर्थ भिन्न नहीं है। उसको समझकर अर्थ लेना चाहिए। **'हारनूपुरशोभितम्'** का यही अर्थ है।

रत्नकङ्कणकेयूरम् - ये रत्न क्या हैं? पत्थर, भगवान कहते हैं कि पत्थर की भी शोभा है, यह समझने की हिम्मत होनी चाहिए। पत्थर में शोभा है। यह बिलकुल सच्ची बात है। क्या हमें पत्थर की शोभा मान्य है? नहीं, जिनके पास हीरे हैं, नवरत्न हैं उनको उनकी शोभा का पता ही नहीं है। उनको हीरों तथा रत्नों के मूल्य का पता है, इसीलिए तो वे उनको सँभालते हैं। वे पत्थर *(stone)* होकर भी कीमती पत्थर *(precious stones)* हैं।

पत्थर को शोभा होती है, उसमें दिव्यता होती है। वह देखने की दृष्टि मिलनी चाहिए। मनुष्य में- सचेतन में तो शोभा देखनी ही चाहिए, परन्तु अचेतन में भी शोभा देखने की दृष्टि मिलनी चाहिए। तभी **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'** हो सकता है। सचेतन में जैसी शोभा है वैसी अचेतन में भी शोभा है। आज पत्थर के पीछे नाचनेवाले लोग हैं, उनके सामने मैं बोल रहा हूँ, फिर भी कहता हूँ कि उनको पत्थर की शोभा मालूम नहीं है, मान्य नहीं है। उनको पत्थर की कीमत मान्य है, इसीलिए उनके घर में पत्थर हैं।

पत्थर भी जिनके सान्निध्य से शोभास्पद लगते हैं, ऐसा कृष्ण भगवान का जीवन है। कृष्ण को जीवन में क्या कहना है क्या यह देखने की दृष्टि मिली है? उनके जीवन से जीवन जीने की दृष्टि लेनी हो तो बोलो **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।'**

यह बहुत सुन्दर अष्टक है! मुझे लगता है कि कृष्ण पर क्या बोलूँ? वे कब पैदा हुए, मथुरा से गोकुल कैसे गये? नन्दराजा के घर वसुदेव ने उनको कैसे पहुँचाया? वसुदेव

ने उनको गोकुल पहुँचाया होगा, उसमें क्या है? उसका भी कोई अर्थ है, परन्तु उन्होंने जो जीवनदृष्टि दी है वह समझनी चाहिए।

पत्थर में शोभा देखने की दृष्टि मिलनी चाहिए। लोगों को उसकी कीमत मालूम है इसीलिए तिजोरी में सँभालकर रखते हैं। उसको वे किसी दिन बाहर निकालते ही नहीं। पत्थर में स्थित शोभा देखने की दृष्टि कौन देगा? दृष्टि तब मिलती है जब बुद्धि बदलती है। जब तक बुद्धि में फर्क़ नहीं पड़ता है तब तक सृष्टि की ओर देखने की दृष्टि नहीं बदलती। बचपन में माँ-बाप अपने लड़के से बिछुड़ जाने के बाद, अनेक वर्ष बीत जाने पर अपना ही लड़का सामने से आया तो पहचान नहीं सकते। बुद्धि को पता चला कि यह अपना लड़का है तो तुरन्त आचरण में फर्क पड़ जाता है। बुद्धि में फर्क हो तो उसकी ओर देखने की दृष्टि ही बदल जाती है। इसलिए पत्थर को भी शोभा है। जड़ को भी शोभा है। इतना ही नहीं, पत्थर भी जिसके सान्निध्य से शोभास्पद लगे ऐसा जीवन होना चाहिए।

भगवान का जीवन ऐसा ही है। उनके सान्निध्य से पत्थर की शोभा बढ़ गयी। शोभा पत्थर को है या मुझे? शोभा मुझे है। मुझमें शोभा होगी तो वह पत्थर में भी आ जायेगी। मैं कोई भी पत्थर लूँगा तो उसको शोभा आनी चाहिए। इसलिए बुद्धि बदलो। जब तक बुद्धि में कुछ नहीं आता तब तक कृष्ण भगवान के सामने सिर तो झुकाते हैं मगर उसकी कीमत नहीं है। भगवान के सामने वह मस्तक झुकाना चाहिए, जिसमें कुछ भव्य, दिव्य विचार भरे हुए हों। उसका मूल्य है। शंका-कुशंका, तर्क-वितर्क, क्षुद्रता जैसे पत्थरों से भरा हुआ मस्तक भगवान के सामने झुकायेंगे तो उसका क्या अर्थ है?

भगवान के सामने कौन मस्तक झुकाता है? ज्ञानेश्वर झुकाते हैं, शंकराचार्य झुकाते हैं तो उसका मूल्य है। उसके लिए बुद्धि बदलनी पड़ेगी तभी **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।** अन्यथा नहीं।

रत्न एक पाषाण-पत्थर है। पत्थर से शोभा है यह देखने की जिसमें दृष्टि आयी है उसीको तत्त्वज्ञानी कहा जाता है। रत्न को पत्थर समझकर फेंक देनेवाला तत्त्वज्ञानी नहीं है। हम पत्थरों का संग्रह करते हैं क्योंकि उनको कीमत है इसलिए करते हैं, उनको शोभा है इसलिए उनका संग्रह नहीं करते। रत्नों से पैसा मिलता है इसलिए लोग उनका संग्रह करते हैं। इसमें तत्त्वज्ञान की दृष्टि नहीं है।

फिर कहते हैं– **पूर्णचन्द्रनिभाननम् कुटिलालकसंयुक्तम् अलक–** यानी बाल। कृष्ण के बाल घुंघराले हैं। कृष्ण के मुखारविंद को पूर्णचन्द्र की शोभा है। रद यानी दाँत। उनके दाँत शुभ्र कली के समान लगते हैं।

जीवन में सौन्दर्य की दृष्टि आनी चाहिए, ऐसा उनका कहना है। **कृष्णाष्टकम्** में हमने उसका वर्णन देखा है। उस समय मैंने बहुत कहा था। बालों के प्रति एक सौन्दर्यदृष्टि है। जीवन में सौन्दर्यदृष्टि आवश्यक है। उसके स्थान पर आज जो शरीर की ओर ध्यान

नहीं देते उनको हम तत्त्वज्ञानी समझते हैं। हमारी यह धारणा बन गयी है कि जिसे तत्त्वज्ञानी बनना है, उसे अपना शरीर गंदा रखना चाहिए, दाढ़ी भी नहीं बनानी चाहिए, कारण जो अच्छा दिखायी देता है वह तत्त्वज्ञानी नहीं है। परन्तु यह गलत धारणा है। **'युवासुवासाः परिवीत आगात'** **'सुवासाः'** जिसके कपड़े अतिशय सुन्दर हैं ऐसा तत्त्वज्ञानी होना चाहिए ऐसा वेद कहते हैं। गृहस्थाश्रम कैसा होना चाहिए? उसमें सौन्दर्य की दृष्टि होनी चाहिए।

पूर्णचन्द्रनिभाननम् – जीवन में पूर्णचन्द्र की मनोहारिता, शीतलता और प्रकाश इन तीनों की आवश्यकता है। मनोहारिता होनी चाहिए, साथ ही शीतलता भी आनी चाहिए, उसी प्रकार प्रकाश भी होना चाहिए। स्त्री का मुख मनोहारी लगता है, पर वहाँ प्रकाश नहीं होता है। मनौती करने पर प्राप्त पुत्र का मुख शीतल लगता है, पर वहाँ प्रकाश नहीं होता। जिसके जीवन में प्रकाश है, शीतलता है और मनोहारिता है, उसके पास जाने से अन्धकार चला जाता है, विचारों का, जीवन का अन्धकार चला जाता है। **'पूर्णचन्द्र निभाननम्।'** गोपालकृष्ण ऐसे थे।

लोग जगद्गुरु किसे समझते हैं? जो त्याग *(Renunciation)* समझाता है वह गुरु है! दीर्घकाल से तत्त्वज्ञान में यह कचरा घुस गया है। लोगों को याज्ञवल्क्य, श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष तत्त्वज्ञानी ही नहीं लगते। मनुष्य का जीवन पराङ्मुख नहीं बनना चाहिए, जीवन में सुगंध आनी चाहिए– **मन्दारगन्धसंयुक्तम्** - मन्दार पुष्प की सुगंध जीवन में आनी चाहिए। जो जीवन पराङ्मुख बनते हैं, जो पलायनवादी हैं क्या उनके जीवन में सुगंध है? कौन सी सुगन्ध है? जीवन में कोई समस्या आती हो तो हल नहीं कर सकते। समस्या आयी कि दूर भाग जाते हैं। इस प्रकार जो जीवन से भागनेवाले हैं उनके जीवन को सुगंध नहीं आती। जीवन से भागना नहीं चाहिए। पलायनवाद *(Escapism)* तत्त्वज्ञान में नहीं बैठता। इसलिए कहता हूँ कि इस अष्टक में सारा वर्णन जगद्गुरु का है, ऐसा समझ लेना चाहिए। यह वर्णन कृष्ण का नहीं है। जगद्गुरु का वर्णन है।

जीवन में पराङ्मुखता नहीं होनी चाहिए, **किंबहुना चारुहासम्** - चारु हास्य होना चाहिए। जिसका हास्य चारु है। कितने ही शब्द ऐसे होते हैं, जिनका भाषान्तर नहीं हो सकता। चारु शब्द भी ऐसा ही है कि उसका भाषान्तर नहीं हो सकता। 'चारु शब्द का भाषान्तर करो' ऐसा कहा तो कहेंगे, 'हम नहीं कर सकते।' महाराष्ट्र में हमारी महिलाएं जो 'इश्श' बोलती है उसका भाषान्तर क्या करेंगे? इस शब्द का अर्थ बहुत बड़ा है। इसमें अनेक भिन्न भिन्न अर्थ हैं, अलग-अलग भाव भरे हुए हैं परन्तु उनको अर्थ में व्यक्त नहीं किया जा सकता। ऐसे अनेक शब्द हैं कि जिनको उसी भाषा में ही आपको समझना पड़ेगा। हमारे यहाँ कर्मकाण्ड में 'पिण्ड' शब्द आता है। उसका भाषान्तर क्या होता है? मैक्समुल्लर ने भाषान्तर किया है- *Balls of Rice*। परन्तु यह पिंड शब्द का अर्थ नहीं है। पिण्ड शब्द में कुछ विशेष *(plus)* है। शब्दकोश में उसका अर्थ नहीं मिलता।

'माँ' शब्द का अर्थ क्या है? इसका अर्थ शब्दकोश में नहीं मिलता। 'माँ' का अर्थ माँ ही समझना चाहिए। 'माँ' का अर्थ 'पिता की पत्नी' करेंगे तो माँ का अर्थ ही समाप्त हो जायगा। 'माँ' में ही उसका अर्थ समाया हुआ है। वैसा ही चारु शब्द है। इस शब्द का अर्थ उसीमें है। जिस भाषा का यह शब्द है उसी भाषा में उसको समझना चाहिए। **चारु हास्यम्-** आत्मीयता, आकर्षकता और सुन्दरता जहाँ एकत्र हैं उस हास्य को चारु हास्य कहते हैं।

कितने ही हास्य में आकर्षकता होती है तो सुन्दरता नहीं होती। इसका कारण आकर्षकता उपयुक्तता में से आती है। कोई व्यक्ति आकर्षक लगता होगा तो वह उपयुक्तता के कारण लगता है। वह सुंदर नहीं है, उसका सुन्दर होना आवश्यक भी नहीं है। जो सुन्दर है, परन्तु उपयुक्त नहीं है तो वह आकर्षक नहीं लगता। आकर्षकता और उसके साथ आत्मीयता नहीं होगी तो उसमें चारुत्व नहीं आता।

हास्य अलग-अलग प्रकार का है। युवती के हास्य में कामुकता होती है। शिष्य के हास्य में विनय दिखायी देता है। जब गुरु किसी समस्या का हल बताते हैं तब शिष्य के मुख पर जो हास्य विलसित होता है उसमें विनय होता है। ज्ञानी के हास्य में प्रसन्नता होती है। अर्भक के हास्य में भावशून्यता होती है, हास्य में भाव, अर्थ नहीं है, परन्तु हास्य है। हास्य से हम भी हँसेंगे, इतना ही नहीं, हमें भी कुछ मिलेगा!

टेनिसन जैसा महाकवि आत्महत्या करने निकला था। जाते समय उसने मार्ग में एक बालक का हास्य देखा और मरने के लिए गया हुआ यह महाकवि वापस लौटा। उसको लगा कि इस बालक के जीवन में कुछ हँसने जैसा है तो मेरे जीवन में क्यों न हो? मैं तो पढ़ा-लिखा हूँ, मुझे पढ़ना आता है, देखना आता है, सब आता है, समझ सकता हूँ तो भी मेरे जीवन में आनंद नहीं है, और इस बालक के जीवन में आनन्द है? इस प्रकार एक बालक के हास्य ने टेनिसन को आत्महत्या करने से बचाया, एक हास्य ने, भावशून्य हास्य ने!

बालक के हास्य में भावशून्यता मिलेगी। जो पराया होता है उसके हास्य में उपहास होगा। इस प्रकार हास्य में भिन्न-भिन्न भाव होते हैं। इन सबका मिश्रण चारुहास्य है।

उपनिषद में ब्रह्मानन्द का वर्णन करते हुए मनुष्यानन्द से लेकर ब्रह्मानन्द तक का वर्णन किया गया है और अन्त में कहा गया है कि इतने आनन्द होने पर ब्रह्मानन्द होता है। इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मानंद का वर्णन करना अशक्य है। वैसा ही **'चारुहास्य'** के सम्बन्ध में है। समय समय पर जिस हास्य में भिन्न भिन्न तरंग आते हैं वह चारुहास्य है। नहीं तो हास्य! हँसते ही रहते हैं। ऐसा हास्य नहीं चलेगा। हास्य के लिए संस्कृत भाषा में अलग-अलग शब्द हैं, उनके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। जितना तुम्हारा मानसिक विकास हुआ होगा उतना हास्य का परिणाम होगा। इस दृष्टि से अंग्रेजी भाषा कंगाल है। उसमें हास्य के लिए *Laugh, smile* ऐसे दो ही शब्द हैं। संस्कृत भाषा में भावों के अनुसार भिन्न-भिन्न शब्द

हैं। हास्य भिन्न हैं, स्मित भिन्न हैं। गुजराती में क्रूर हास्य के लिए एक शब्द प्रयुक्त करते हैं– 'दाँत काढवा।' हिन्दी में इसको 'दांत निकालना' कहते हैं इसमें भीतर से कोई भाव नहीं होते, केवल हँसते 'ही हैं। ऐसा कई बार होता है। जिसके जीवन में चारुहास्य आया है उसे तत्त्वज्ञानी कहते हैं।

चतुर्भुजम् - भगवान चतुर्भुज हैं। अलग-अलग बातें आती हैं। जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चतुर्विध पुरुषार्थ समझाने के लिए भगवान को चतुर्भुज बनाया है, अन्यथा भगवान को चार हाथ किसलिए चाहिए? क्या एक हाथ से नहीं चलता? एक हाथ हो तो मानव नहीं लगेगा। तो दो हाथ नहीं चलेंगे? मुझे कितने ही लोगों ने पूछा, 'योगेश्वर के कितने हाथ थे? योगेश्वर के चार हाथ होने चाहिए या नहीं?' मैंने कहा, 'योगेश्वर के तो लाखों हाथ थे, इसलिए कम से कम दो मानेंगे तो पर्याप्त है। एक संभालने के लिए और दूसरा तमाचा मारने के लिए। कुछ भूल होगी तो तमाचा मारेंगे और कुछ अच्छा करेंगे तो इनाम देंगे। भगवान के दो हाथ काफी हैं।

विष्णु भगवान के चार हाथ हैं। एक एक हाथ में एक एक बात - पुरुषार्थ- देने हैं। **'धर्मार्थ कामाः सममेव सेव्याः'**– यह तत्त्वज्ञान है। धर्म को ही लेकर बैठे रहेंगे तो आप तत्त्वज्ञानी नहीं हैं। उसी प्रकार केवल अर्थ का ही विचार करेंगे, सुबह से रात्रि तक पैसा, पैसे का ही विचार, मन्दिर में भी पैसे के लिए ही जाना, तो आप तत्त्वज्ञानी नहीं हैं। मन्दिर में जाते होंगे तभी कोई आपको तत्त्वज्ञानी नहीं कहेगा। 'धर्म, अर्थ और काम **सममेव सेव्याः।**' कितनी सुंदर व्यवस्था थी वह! तीनों के लिए समान समय देना चाहिए। और धर्म, अर्थ, काम- इन तीनों का मुँह मोक्ष की ओर रखना चाहिए। इसलिए **चतुर्भुजम्।**

बर्हिपिच्छावचूडांगम् - जिसने मोर के पिच्छ का शिरोभूषण धारण किया है। मोर सरस्वती का वाहन है। जिसने सरस्वती को उठाया है, जो सरस्वती का वाहन बनने का प्रयत्न करता है, उसको कृष्ण भगवान अपने सिर पर धारण करते हैं। कोई पूछेगा, 'तो क्या सभी सुशिक्षित लोगों को भगवान अपने सिर पर लेंगे?' ये सुशिक्षित लोग सरस्वती को नहीं उठाते हैं। हम सरस्वती किसे कहते हैं? जो पाप, क्षुद्रता, विकारों को निकालती है और भव्यता तथा प्रसन्नता लाती है उसे सरस्वती कहते हैं। किसीने तंत्रज्ञान का *(technical)* अभ्यास किया होगा तो उसने सरस्वती को उठाया है ऐसा नहीं कहा जाता। तांत्रिक अभ्यास करना सरस्वती की उपासना नहीं है। रोटी बनानी हो तो भी ज्ञान की आवश्यकता होती है। तुम रोटी बनाने का प्रयत्न करके देखो। तुम्हारे पास रोटी बनाने का ज्ञान नहीं होगा तो तुम रोटी नहीं बना सकोगे, कच्ची ही रह जायेगी। तुम्हारी रोटी का आकार न जाने कौन सा होगा। एक बार मैं शुरु शुरु में रोटी बनाने बैठ गया तो रोटी को हिंदुस्थान का आकार आ गया। रोटी बनाना यह भी यांत्रिक है, विद्या है। आप विद्या किसे कहेंगे? इलेक्ट्रिसिटी का वायरिंग करना होगा तो उसमें भी ज्ञान की आवश्यकता है। क्या ऐसे ज्ञान को सरस्वती कहते हैं? जगत् में ज्ञान अनेक प्रकार का है। गाय को दुहना भी ज्ञान है। चाहे वह व्यक्ति गाय को नहीं दुह सकता हो। यह ज्ञान है, पर ऐसा ज्ञान सरस्वती में नहीं बैठता।

सरस्वती किसे कहते हैं यह ऊपर बताया गया है। भागवत में शुकाचार्य ने 'वाङ्मय' की अति सुन्दर व्याख्या की है– **स वाग्विसर्गः जनताघविप्लवः** वाङ्मय की इतनी सुन्दर व्याख्या आज तक कहीं नहीं मिली। वाङ्मय- (सरस्वती) उसीको कहते हैं, जो क्षुद्रता, पाप, दीनता, लाचारी जैसे पापों को निकाल देता है। वाङ्मय-सरस्वती से जीवन में भव्यता और प्रसन्नता आनी चाहिए। उसीको सरस्वती कहते हैं। इस सरस्वती का वाहन जो बनते हैं उनको भगवान सिर पर लेते हैं।

एक जमाने में ब्राह्मण सरस्वती का वाहन बनता था इसीलिए वह **भूदेव** कहलाता था। वह भगवान का प्रिय माना जाता था। इसलिए सरस्वती को उठानेवाले लोगों को सिर पर लेनेवाले भगवान- **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'** हैं।

उत्फुल्लपद्मपत्राक्षम् विकसित कमलपत्र के समान जिसकी आँखें हैं। परन्तु वह आँखें मूँदकर नहीं बैठा है। तत्त्वज्ञानी को आँखें मूँदकर नहीं बैठना है। आँखें मूँदकर तो हम बैठते हैं, क्योंकि हमें कुछ देखना नहीं है, जानना नहीं है, समझना नहीं है। भगवान के नेत्र तो विकसित कमलपत्र के समान विशाल हैं, खुले हैं। इतने विशाल नेत्र हैं कि छोटे से छोटे पाप का भी उनको पता चलता है। वैसे ही भगवान के नेत्र इतने विशाल हैं कि सूक्ष्म से सूक्ष्म सत्कर्म भी उनकी आँखों में दर्ज कर लिया जाता है। भगवान की आँखें विशाल हैं इसलिए तो सभी मूर्तिकार, चित्रकार भगवान की आँखें लंबी बनाते हैं। विशेष तौर पर माताजी-चामुंडा देवी- की आँखें तो इतनी बड़ी-लंबी बनाते हैं कि देखते ही डर लगता है। ऐसी मूर्ति देखकर मुझे तो डर लगता ही है। मैं तो कहता हूँ कि माँ! तू ऐसी होगी- तेरी आँखें इतनी भयंकर होंगी तो मुझे तेरे पास नहीं आना है। मूर्तिपूजा में, मूर्ति की आँखें प्रेमल होनी चाहिए। परन्तु **'विशालनेत्र'** ऐसा वर्णन पढ़कर लोग नाक से लेकर कान तक लंबी-बड़ी आँखें चित्रित करते हैं।

भगवान की आँखें विशाल हैं, इसमें कुछ अर्थ निहित है। बड़े लोगों के, महान् पुरुषों के सत्कर्म विश्व में जाहिर हो जाते हैं। उनकी प्रशंसा होती है और विश्व में सभी को पता चल जाता है। सामान्य व्यक्ति का किया हुआ छोटा सा सत्कर्म किसे मालूम होता है? किसीको भी नहीं! उसका छोटा सा सत्कर्म भी भगवान की विशाल आँखों में से नहीं खिसक सकता। वहाँ उसको दर्ज कर लिया जाता है।

'विशालनेत्र' का दूसरा अर्थ यह है कि भगवान भविष्य का भी देखते हैं। आज एकाध जीव पतित होगा, चोर होगा, पापी होगा, परन्तु कल वह सन्त भी बन सकेगा। यह देखने की दृष्टि भगवान में ही है। आज जीव कैसा है यह भगवान नहीं देखते। वे भविष्य का देखते है। कल वह जीव कौन बनेगा यह भगवान देखते हैं। वैसे ही कल वह जीव कैसा था यह भी भगवान देखते हैं

भगवान को हमारे भविष्य का भी पता है। आज हमें कोई उपहार मिलता है उसका क्या कारण है? भगवान कल का देखते हैं। एकाध व्यक्ति आज नयी फैक्ट्री शुरु करता

है और वह ऐसी चलने लगती है कि मत पूछो! उस समय उसे विचार करना चाहिए कि मेरी ही फैक्ट्री इतनी अच्छी क्यों चल रही है? दूसरों की क्यों नहीं चलती? 'ऐसा किसलिए?' यह प्रश्न जिसके दिमाग में नहीं आता उसे दिमाग ही नहीं है। 'मुझे ही यह किसलिए मिला?' इसके पीछे कोई कारण होगा। मेरे पास कर्तृत्व है वैसा कर्तृत्व दूसरे के पास भी होगा। मेरी जितनी बुद्धिमत्ता दूसरों के पास भी है, तो फिर इतना अच्छा फल मुझे ही क्यों मिला?' ऐसा प्रश्न जिसकी बुद्धि में नहीं आता उसके पास बुद्धि है ही नहीं!

भक्ति के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। मूर्तिपूजा क्यों करनी है यह प्रश्न ही किसीके दिमाग में नहीं आता। मूर्तिपूजा क्यों करनी है? दादा मूर्तिपूजा करते थे, पिताने भी की इसलिए मैं भी कर रहा हूँ। पूजा क्यों करनी है, मूर्ति को क्यों मानना है, ये प्रश्न ही मनुष्य के दिमाग में नहीं आते और खड़े करने भी नहीं हैं। कितनों को तो ऐसा लगता है कि ऐसे प्रश्न खड़े करना पाप है। परिणामस्वरूप ऐसे प्रश्न खड़े ही नहीं होते।

भगवान मेरा कल का देखते हैं इसीलिए मुझे आज ऐसा फल दिया है। वैसे ही भगवान मेरा भूतकाल भी देखते हैं और फल देते हैं। कितने ही बदमाश लोगों को हम जेलखाने में देखते हैं, और उनको जो पीड़ा दी जाती है उसे देखकर हमें दुःख होता है, परन्तु सरकार उनको सजा देती है। क्यों? सरकार को उनके भूतकाल के दुष्कृत्य मालूम हैं इसलिए। जिनको सरकार पीड़ा देती है, उन्होंने पूरे परिवार के सदस्यों को काट दिया था, पचासों लोगों की आँखों में से आँसू निकाले थे, इसका हमें पता नहीं है, परन्तु सरकार को पता है इसलिए उनको सज़ा दी जाती है।

वैसा ही इस सृष्टि में चल रहा है। हमारी बुद्धि के पास टिमटिमाती लालटेन है। उससे हम देखते हैं। कितना दिखायी देगा? वह जितना दिखाती है उतना ही हम देख सकते हैं। भगवान को जीवमात्र का भूतकाल ज्ञात है, वैसे ही उनको भविष्यकाल भी ज्ञात है, इसीलिए भगवान **उत्फुल्लपद्मपत्राक्षम्** हैं।

नीलजीमूतसन्निभम् - जीमूत का अर्थ है बादल। नील बादल के समान जिनका वर्ण है। संस्कृत भाषा में नीलवर्ण भव्यता का सूचक है। जहाँ जहाँ भव्यता है वहाँ नीलवर्ण है। समुद्र के पास भव्यता है, इसी कारण समुद्र नीलवर्ण है। आकाश की ओर देखेंगे तो आकाश नीलवर्ण है। यहाँ 'श्वेत या काले बादल के जैसा वर्ण,' ऐसा न कहकर 'नीलवर्ण' कहा है। श्रीकृष्ण भगवान के पास भव्यता है।

यादवानां शिरोरत्नम् - वे यादवों के नेता हैं। यादवों का नेता बनना मुश्किल था। अति अक्लमंद लोगों का नेता बनना बहुत कठिन है। अनपढ़, बकरों जैसे लोगों का नेता बनना सामान्य बात है। इसका कारण वहाँ एक मनुष्य खड़ा हुआ कि दूसरा खड़ा होता है, फिर तीसरा.... अनेक खड़े हो जाते हैं। वहाँ *Mob psychology* काम करती है। यादवों का वर्णन ऐसा है कि वे विकसित जाति के थे। एक समूह के नहीं थे। वे अत्यन्त बुद्धिशाली

थे, इसीलिए यादवों ने प्रजातांत्रिक राज्य *(Republic)* खड़ा किया था। उनसे काम लेने के लिए श्रीकृष्ण भगवान को तरह तरह की तरकीबें ढूँढ़नी पड़ती थी।

गोकुल में श्रीकृष्ण ने एक बार कहा कि तुम इन्द्रपूजा क्यों करते हो? उसकी अपेक्षा गोवर्धनपूजा किया करो। तब आधे पल में लोगों ने इन्द्रपूजा छोड़ दी और गोवर्धन पूजा प्रारंभ की। एक भाषण भगवान ने दे दिया और परंपरा से पीढ़ि दर पीढ़ि चलती रही इन्द्रपूजा छोड़कर लोग गोवर्धन की पूजा करने लगे।

अति यजेत नीजां यदि देवतां उभयतश्च्यवते जुषतेऽप्यध।
क्षितिभृतैव सदैवतका वयं वनवताऽनवता किमहिद्रुहा।।

ऐसा एक प्रवचन करने के बाद गोपाल बदल गये, परन्तु ऐसे एकाध प्रवचन से बदल जायेंगे ऐसे यादव नहीं थे। गोपाल भावुक थे, परन्तु यादव अक्लमन्द थे। ऐसे यादवों के श्रीकृष्ण शिरोरत्न थे। उस समय यादवों ने ही प्रजातांत्रिक राज्य बहुत सुंदर तरीके से चलाकर दिखाया था। उस समय कंस, जरासन्ध, कालयवन, दुर्योधन आदि सब एकक्षत्र साम्राज्य थे। मुख्य झगड़ा वही था। कृष्ण किसी भी दिन राजा नहीं थे। वे वृष्णिसंघ के प्रमुख थे। इसीलिए कहा है– **'यादवानां शिरोरत्नम्।'** ऐसा नेता बनना चाहिए। नेता के भी अनेक प्रकार हैं। हमें कहाँ नेता बनना है? हमें तो भक्त बनना है। **'गणमुख्योऽसि केशव'** ऐसा कहा गया है। गणमुख्य कैसा होना चाहिए? उसका भी कुछ रूप है। ऐसे कृष्ण को नमस्कार है।

रुक्मिणीकेलिसंयुक्तम् -क्रीडा करनेवाले श्रीकृष्ण पीतांबर से सुशोभित और **अवाप्त तुलसीगन्धं** -तुलसी की गन्ध जिन्हें आती है ऐसे थे। ऐसे जगद्गुरु कृष्ण को नमस्कार!

श्रीकृष्ण तत्त्वज्ञानी थे, फिर भी गृहस्थ थे। 'तत्त्वज्ञानी है और साथ ही गृहस्थ भी हैं' ऐसा केवल इसी देश में हो सकता है। हमारे देश में ऋषि तत्त्वज्ञानी थे, परन्तु एक भी ऋषि ऐसे नहीं थे कि जिनकी पत्नी नहीं थी। एक गलत धारणा आ गयी है कि जो तत्त्वज्ञानी है उसको गृहस्थी से दूर रहना चाहिए। गृहस्थ - पारिवारिक होने से अध्यात्म में स्खलन नहीं होता। सच्चा अध्यात्म समझ लेना चाहिए।

पारिवारिक बनना बहुत कठिन है। परिवार चलाना आसान नहीं है। मनुष्य संन्यासी बन सकता है, परन्तु पारिवारिक बनना कठिन है, अशक्य लगता है। इसका कारण अध्यात्म जीवन में लाना है। स्वयं नहीं मरना है और दूसरे को न मारकर रहना है। यह कठिन है।

कितने ही लोगों को लगता है कि जो तत्त्वज्ञानी है उसको सुंदर, अच्छे कपड़े नहीं पहनने हैं। कृष्ण तत्त्वज्ञानी हैं, जगद्गुरु हैं। वे सुंदर वस्त्र पहनते थे। यह शरीर एक मन्दिर है, भीतर भगवान बैठे हैं। यही तत्त्वज्ञान है। यह यदि तत्त्वज्ञान है तो हमें शरीर अच्छा और स्वच्छ रखना चाहिए। आज तो ऐसी धारणा बन गयी है कि जो स्नान नहीं करता है,

मलिन रहता है, फटेपुराने कपड़े पहनता है, शरीर को नहीं सँभालता है, 'शरीर का जो होना हो वह होने दो' ऐसा बोलता है, वह तत्त्वज्ञानी *(Philosopher)* है। यही विकृति है। इसीको कलियुग कहते हैं। आज विपरीत धर्म खड़ा हुआ है। उसका यह परिणाम है। परन्तु सुन्दर वस्त्र पहननेवाला भी तत्त्वज्ञानी, आध्यात्मिक बन सकता है। श्रीकृष्ण ऐसे थे इसीलिए वे **पीताम्बरं सुशोभितम्** हैं।

अवाप्ततुलसीगन्धम् - तुलसी में जो गन्ध है वह भाव की सुगंध है। उसमें भोग की गन्ध नहीं है। तुलसी के पास कोई भोग नहीं है, भाव है। भोग की अपेक्षा भी नहीं है। वह न छाया देती है और न फूल-फल! तुलसी क्या देती है? कुछ नहीं! तुलसी में भाव की गंध है। वह जिनको आती है अथवा उसका जिनको पता चलता है, ऐसे कृष्ण को नमस्कार!

गोपिकानां कुचद्वन्द्वं... जिसके वक्षस्थल पर गोपिकाओं का कुंकुम अंकित हुआ है ऐसे कृष्ण जब छोटे थे तब प्रत्येक गोपी को अपने लगते थे। हर गोपी उनको उठा लेती थी। बचपन ऐसा होना चाहिए, हर व्यक्ति को अपना लगना चाहिए। ऐसा कृष्ण का बचपन था। सात साल का होने के बाद गोकुल छोड़ दिया। फिर किसी भी बहाने गोकुल नहीं गये। यौवन में आने के बाद **'श्रीनिकेतं महेष्वासं...।'** लक्ष्मी के साथ विवाह किया है। जो विशुद्ध है उसको लक्ष्मी कहते हैं। पैसों को लक्ष्मी नहीं कहते। विशुद्धता को लक्ष्मी कहते हैं, भाग्यलक्ष्मी, सौन्दर्यलक्ष्मी, गुणलक्ष्मी... (यह सब वर्णन 'श्रीसूक्तम्' के प्रवचनों में आ गया है।) किसीके पास चार पैसे हैं यानी उसके पास लक्ष्मी है ऐसा हम नहीं कहते हैं। नारायण के पास लक्ष्मी है यानी क्या नारायण से रुपये के नोट्स चिपके हुए हैं? क्या कोई ऐसा कहता है? नहीं! इसका कारण रुपये के नोट का अवमूल्यन *(Devaluation)* होता है। जिसका मूल्य *(value)* है उसका अवमूल्यन *(Devaluation)* भी होता है। वह लक्ष्मी कैसे हो सकती है? जिसका मानव अवमूल्यन कर सकता है उसको लक्ष्मी नहीं कहते।

तो क्या सोना *(Gold)* लक्ष्मी है? वह भी लक्ष्मी नहीं है। कारण उसकी कीमत घट जाती है। तो रत्न लक्ष्मी है? नहीं, रत्न भी लक्ष्मी नहीं है। सौन्दर्यलक्ष्मी, भाग्यलक्ष्मी, गुणलक्ष्मी ऐसी भिन्न भिन्न प्रकार की लक्ष्मी है।

जगद्गुरु कृष्ण कैसे हैं इसका इस अष्टक में वर्णन है। जगद्गुरु का अर्थ यह नहीं है कि सब कुछ छोड़कर हिमालय में जाकर बैठना और कपड़े का भी ज्ञान न रखना। जगद्गुरु जीवन और जीवनार्थ समझाते हैं।

कृष्णाष्टकमिदं पुण्यं... यह कृष्णाष्टक जो पढ़ता है उसके सारे जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। इसमें 'स्मरण' यह बात असली है। कृष्ण के नाम में एक ऐसी सुगंध है, एक ऐसा तेज है, एक ऐसा ओज है कि कृष्ण के नाम का उच्चार करते ही सोया हुआ मनुष्य भी उठकर खड़ा होता है, खड़ा हुआ चलने लगता है और चलनेवाला दौड़ने लगता है। ऐसा वह चरित्र है।

आज **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्** कहनेवालों की सूरत कैसी होती है यह देखो। उनकी रोती सूरत होती है। ऐसी रोती सूरतवाले ही कृष्ण को नमस्कार करते हैं। गोपाल-नारायण, गोपाल-नारायण! भगवान तुम्हारे साथ हैं तो सूरत रोती क्यों है? वह रोती नहीं होनी चाहिए। 'मैं रोऊँगा अवश्य, परन्तु भाव से रोऊँगा, दुःख से नहीं' ऐसी दृष्टि होनी चाहिए ऐसा **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'** अष्टक का भावार्थ है।

गत पचास साल से हम गर्गसंहिता के इस अष्टक का प्रथम श्लोक पाठशाला में बोलते आ रहे हैं, परन्तु यह सम्पूर्ण स्तोत्र हमें मालूम नहीं है इसलिए इसका उच्चार किया है, पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं किया है। इस दशम स्कन्ध में भावविभोर स्थिति हो जाती है। भगवान के पास कुछ तो बोलना चाहिए! प्रारंभ में लगता था कि भगवान के पास जाना मुश्किल है, अशक्य है और अयोग्य भी है, परन्तु कुछ समय बीत जाने पर लगता है कि हम उनके पास जा भी सकते हैं।

दशम स्कन्ध पूर्णावतार का स्कन्ध है। इसमें पूर्णावतार श्रीकृष्ण भगवान का चरित्र इस तरह से कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को वह मोहित करता है। इस पवित्र भूमि पर भगवान ने मानवी देह लेकर अधर्म-रत दुष्ट जनों का नाश करके धर्म की संस्थापना की है, तथा हजारों वर्षों तक मानव को मार्गदर्शन किया। भारत के हृदयसम्राट कृष्ण की लीला में नारद, शुकदेव जैसे नररत्न तन्मय होकर ब्रह्मानन्द में लीन हो गये। कृष्ण का बनने के लिए हजारों लोगों ने भौतिक सुखों और पारिवारिक सुखों को छोड़ दिया। इतना ही, कृष्णलीला जहाँ हुई वह गोकुल, वृंदावन, मथुरा जैसे जड़स्थल भी चिन्मय बन गये। कृष्ण का लीलाचातुर्य अद्भुत ही था इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु उसका अभूतपूर्व व अक्षय कार्य धर्म-संस्थापना तथा विचारप्रदान है।

भगवान के विविध अवतार हुए हैं। उन अवतारों ने वेदों का उद्धार किया है, वेदों की रक्षा की है, दानवों का संहार किया है, यज्ञ-यागादि को सँभाला है, परन्तु कृष्णावतार में उन्होंने छोटा परन्तु बहुमूल्य, बड़ा ही हितकारक ऐसा ग्रंथ दिया कि जो लाजवाब है। वह है **श्रीमद्भगवद्गीता।** जब देहोत्सर्ग का समय आया तब उद्धव को निमित्त बनाकर भागवत धर्म का उपदेश दिया, वह भी चिरन्तन है। उसमें संपूर्ण संसार के भावजीवन की पुष्टि और आध्यात्मिक जीवन का कल्याण उन्होंने देखा है। ऐसी दो विचारधाराएं देकर कृष्ण भगवान ने अलौकिक काम किया है। भावजीवन की पुष्टि और आध्यात्मिक जीवन का कल्याण करनेवाला यह अवतार है। भगवान के अवतार-कार्य की ओर देखने पर मन तृप्त होता है। इसीलिए उन्हें पूर्णावतार कहते हैं।

चिरन्तन मार्गदर्शन करनेवाली जो अक्षय गीता है, उसके सम्बन्ध में कितने ही लोग बच्चों के समान बोलते हैं। वे पूछते हैं, क्या आपकी गीता सभी समस्याओं को हल करती है? तो फिर हमारी साइकिल का टायर पंक्चर हो गया है, इस सम्बन्ध में गीता क्या करेगी?' ऐसा बोलना कितना बचपना है। जब महापुरुष ऐसा कहते हैं कि गीता जीवन की

सभी समस्याओं को हल करती है, तब उसका अर्थ यह है कि गीता जीवन समझाती है, जीवनविकास समझाती है। गीता, रसोई कैसे बनानी है यह नहीं कहती।

कृष्ण भगवान ने गोवर्धन पर्वत उठाया, पूतना मौसी को मारा, इन बातों की क्या महत्ता है? लोग पूछते हैं, ब्रह्माण्ड के हजारों गोलों को जिसने धारण किया है, जिनको एक क्षण में नष्ट करने की जिनमें शक्ति है, ऐसे भगवान ने गोवर्धन पर्वत उठाया या पूतना को मारा तो इसमें कौन से पराक्रम की बात हो सकती है?

इस सृष्टि के अनन्त चमत्कारों को देखकर तथा हमारे शरीर में रहे इस चिद्घनशक्ति के चमत्कारों को देखकर भी ईश-भक्ति की भावना निर्माण नहीं होती। परन्तु वही चिद्घनशक्ति मनुष्य-देह लेकर, जब मानव के लिए अशक्य बातें करके दिखाती है तब सामान्य व्यक्ति के अन्तःकरण में ईशश्रद्धा निर्माण होती है, जो धार्मिक व्यक्ति हैं उनको मदद मिलती है। इसीलिए ये चमत्कारों की बातें की हैं।

श्रीकृष्ण के सम्पूर्ण चरित्र का गहन रहस्य एक ही शब्द में कहना हो तो इतना ही कह सकते हैं- **अनासक्त कर्म।** कृष्ण की बाललीला, राजनीतिज्ञता और उनका कहा हुआ तत्त्वज्ञान यह सब देखकर जी भर आता है।

व्यावहारिक लोगों को कृष्ण की बाललीला आक्षेपार्ह लगती है, और प्रौढ़ लोगों को, तत्त्वचिन्तकों को कृष्ण की प्रौढ़लीला आक्षेपार्ह लगती है। दोनों कृष्ण भगवान पर आक्षेप करते हैं। बाललीला आक्षेपार्ह है, ऐसा बोलनेवालों को भारतीय दण्ड विधान *(Indian Penal Code)* का भी ज्ञान नहीं है। भारतीय दण्डविधानों के अनुसार भी सात वर्ष से कम उम्र का बालक यदि कुछ अपराध करेगा तो वह दण्डनीय नहीं माना जाता, फिर भी ये लोग कृष्ण की बाललीला पर आक्षेप करते हैं।

प्रौढ़ बनने पर कृष्ण ने जो पारिवारिक जीवन स्वीकारा है और राजनीतिज्ञ के जैसा आचरण किया है वह सामान्य लोगों को आक्षेपार्ह लगता है। उनको लगता है कि 'कृष्ण तत्त्ववेत्ता कैसे हैं? उसने तो सत्ता टिकाने के लिए राजनीतिज्ञ को शोभा दे ऐसा आचरण किया है। इससे कृष्ण में विशेष क्या है? कृष्ण क्या भगवान बुद्ध के जैसा तत्त्वचिन्तक हो सकता है?' इसका कारण, उनको ऐसी समझ है कि तत्त्वज्ञान और राजनीतिज्ञता देखकर उनको कृष्ण का जीवन आक्षेपार्ह लगता है। परन्तु दोनों में कृष्ण की अनासक्ति का दर्शन है। अनासक्त कर्म कैसे करना है उसका असली दर्शन कृष्ण के उपरोक्त जीवन में है। अनासक्त कर्म कैसे होता है और अनासक्त रहकर कर्म कैसे करने चाहिए यह श्रीकृष्ण भगवान ने स्वयं जीकर दिखाया है।

सामान्य मनुष्यों को मार्गदर्शन करने के लिए उन्होंने सुख, दुःखों को स्वीकार किया है। राज्यतृष्णा और वैभवाकांक्षा से उन्होंने किसीको भी नहीं मारा, किसी का भी विनाश नहीं किया। तत्त्वचिन्तकों की दृष्टि में कृष्ण तत्त्वचिन्तक थे ही नहीं, वे पारिवारिक व राजनीतिज्ञ थे। उनका अनासक्त जीवन देखें तो तत्त्वचिन्तकों तथा सामान्य लोगों के आक्षेप **समूलं च विनश्यति** - नष्ट हो जाते हैं।

कृष्णचरित्र गूढ़ है, मनोहारी है, अद्‌भुत है। कृष्ण के पीछे तमाम भारत के लोग हजारों वर्षों से पागल बने हुए हैं, वे कोई मूर्ख नहीं हैं। कृष्ण को न समझनेवाले लोग मूर्ख हैं, वे लोग बुद्धिमानी का ठेका लेकर बैठ गये हैं। इसलिए उनको मूर्ख कहेगा कौन?

पुराने जमाने में दिल्ली के बादशाह के जो विशाल महल थे उनमें यदि देहाती व्यक्ति घूमने जाता तो वह भूलभुलैया में फँस जाता था, कारण अपने जीवन से भिन्न जीवन उसने नहीं देखा था, वैसे एक निश्चित जीवन की कल्पना लेकर बैठे हुए, विषयों से आसक्त, विषयों में ही फँसे हुए मानव कृष्ण-चरित्र नहीं समझ सकते। एक अंग्रेजी पुस्तक में लिखा है, *The man, that saw him, did not know him, then how can we?* जिस व्यक्ति ने उनको देखा था वह उनको नहीं समझ सका, तो हम कैसे समझ सकते हैं? यह लेखक का प्रश्न है और बिलकुल सत्य है। उस जमाने में जो लोग कृष्ण के साथ थे वे भी कृष्ण को नहीं समझ सके, तो हम कैसे समझ सकेंगे? कृष्णचरित्र एक जटिल समस्या है।

एकाध आलिशान मकान में बढ़ई, लुहार, मिस्त्री आदि अनेक लोग जाते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति मकान को अपनी ही दृष्टि से देखता है। मिस्त्री जायेगा तो मकान में प्रयुक्त लकड़ी ही देखकर आयेगा और कहेगा कि बर्मा की साग की लकड़ी अच्छी है। वह दूसरा कुछ देखेगा ही नहीं। लुहार अंदर गया तो लोहा देखकर आयेगा। बढ़ई जायेगा तो ईटें, पत्थर, चुना कैसा है यह देखकर आयेगा। चित्रकार चित्रकारी देखकर आयेगा।

उसी प्रकार भागवत एक विशाल भवन है। उस भवन में जानेवाले लोग अपनी-अपनी बुद्धि, अपना व्यवसाय, निजी स्वार्थ, अपना छोटासा विकास *(Development)* जो हुआ है, उसे लेकर उस भव्य, विशाल भवन में जाकर देखने लगते हैं। परन्तु भागवतरूपी भवन में जो शक्ति भरी हुई है उसे केवल भगवान का भक्त ही समझ सकता है, दूसरा कोई नहीं। प्रातःस्मरणीय श्रीमद् वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य जैसे विद्वानों को भागवत में जो कुछ मालूम हुआ वह दूसरे को कैसे मालूम होगा? व्यास ने स्वयं लिखा है–

अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा।
भक्त्या भागवतं शास्त्रं न च बुद्ध्या न च टीकया।।

व्यास कहते हैं, **'अहं वेद्मि'**– 'भागवत का रहस्य मैं ही समझता हूँ।' सच्ची बात है, कारण लिखनेवाला ही समझेगा न? किस दृष्टि से लिखा है, क्यों लिखा है, क्या लिखा है, लिखते समय दृष्टि के सामने क्या था?' उसके बाद शुक समझता है। संजय समझ पाया या नहीं इसके सम्बन्ध में सन्देह है। भागवतरूपी भवन में जाना हो तो **भक्त्या भागवतं शास्त्रम्** - भक्ति से ही जाना होगा, **न च बुद्धया न च टीकया** – बुद्धि चलाने अथवा टीका-आलोचना करने की दृष्टि से जायेंगे तो नहीं चलेगा। यहाँ **भक्त्या** शब्द अधोरेखित *(underlined)* करने जैसा है। हम जिसको भक्ति समझते हैं वह भक्ति नहीं। कोई खाना छोड़ देता है, चंदन तिलक लगाता है उसको हम भक्त समझते हैं। हमारी भक्ति

इतनी सीमित है। ऐसी भक्ति अपेक्षित नहीं है। जो सच्चा भक्त है वही भागवत समझ सकता है। जो भावविभोर बनकर भक्ति करता है, जिसकी भक्ति अन्तःकरण में निर्माण हुई है वह सच्चा भक्त है। हमारी भक्ति दुर्बलता, कमजोरी या अन्य बातों के कारण होती है वह भक्ति नहीं है। जिसके जीवन में केवल भाव से भक्ति निर्माण हुई है, जो सुबह के समय भावभक्ति करता है, 'भगवान सबका ध्यान रखते हैं, सबको सँभालते हैं,' इस दृष्टि से जो कृतिभक्ति भी करता है, ऐसा पूर्ण भक्त ही भागवत का महत्त्व समझ सकता है।

कोई अस्सी साल की बूढ़ी है वह अभी भी (इतनी उम्र में) एकादशी करती है उसे हम भक्त समझते हैं। कीर्तन, आरती व प्रसाद में ही हमारी भक्ति समाप्त हो जाती है। वेदव्यास **भक्त्या** शब्द प्रयुक्त करते हैं। जो भावभक्ति और कृतिभक्ति से पूर्ण भक्ति होगी, वह भक्ति इसमें है। माँ और पुत्र का प्रेम दूसरा कैसे समझ सकता है? 'माँ' शब्द का उच्चारण करने पर माँ के दिल में जो गुदगुदी होती है वह केवल माँ ही समझ सकती है। पुत्र व पुत्रवधु का प्रेम माँ भी नहीं समझ सकती। मुझे इतना ही कहना है कि केवल सामीप्य से भी हम यह नहीं समझ सकते। माँ पुत्र के समीप होती है, परन्तु पुत्र और उसकी पत्नी में जो प्रेम है वह माँ नहीं समझ सकती। गाय और बछड़े में जो प्रेम होता है वह अहीर नहीं समझ सकता। अहीर गाय को खिलाता है, उसका दूध भी दोहता है, फिर भी बछड़े का गाय के प्रति जो प्रेम है वह अहीर नहीं समझ सकता। प्रेम गणितशास्त्र में मालूम नहीं पड़ता है। वह गणितशास्त्र का विषय नहीं है। इसी प्रकार भगवान और भक्त का जो प्रेम है वह क्या चिकित्सा का विषय बन सकता है? माँ और पुत्र का प्रेम जिस प्रकार चिकित्सा का विषय नहीं है। वैसे ही भगवान और भक्त का प्रेम चिकित्सा का विषय नहीं बन सकता। कोई भी प्रेम चिकित्सा से नहीं समझा जा सकता। पुत्र व पुत्रवधु के प्रेम का माँ केवल अनुमान लगा सकती है, प्रत्यक्ष समझ नहीं पाती है। वैसे ही **'भक्त्या भागवतं शास्त्रम्'**— भागवत शास्त्र को समझना होगा तो भक्ति से ही समझना चाहिए।

भागवत के मन्दिर में सभी को जूते उतारकर ही प्रवेश करना चाहिए। **नग्नो निःसंगशुद्धः** बनकर ही उसमें प्रवेश करना चाहिए। मनुष्य को निःसंग बनना चाहिए। 'मैं कोई हूँ' यह भावना तथा 'मेरी बुद्धि में उतरेगा वही मानूँगा' यह भूमिका उसमें नहीं चलती। यह एक भिन्न ही कक्ष है। आज भी हमारा भक्ति का कक्ष भिन्न ही होता है। उसके भीतर जूते उतारकर ही जाना पड़ता है। वह एक लाक्षणिक बात समझनी होगी। जूते पहनकर जायेंगे तो क्या भगवान की प्रार्थना *(Prayer)* नहीं होगी? चर्च में लोग जूते पहनकर ही जाते हैं, तो क्या वे प्रार्थना नहीं करते? क्या प्रार्थना नहीं हो सकती है? हो सकती है, परन्तु मन्दिर में जूते पहनकर न जाना पवित्रता का प्रतीक है, दर्शन है। शंका-कुशंका के जूते पहनकर बुद्धि चलती है। वे जूते बाहर उतारकर बैठना है। इसीलिए **भक्त्या भागवतं शास्त्रं** कहा है।

आज भक्ति शब्द घिस गया है, इसलिए कहता हूँ कि चित्त एकाग्र करके जो भावभक्ति होती है, उसकी बैठक में भोग नहीं, अपितु भाव है। जो भोग के लिए नहीं,

अपितु भाव के लिए है, जिसके साथ कृतभक्ति भी है, वह भक्ति **भक्त्या** शब्द में समझायी गयी है। इस सृष्टि का सौन्दर्य देखकर जिसका हृदय भर आता है, अपना जीवन देखकर, शरीर में चल रही क्रियाओं को देखने के बाद जिसका अन्त:करण उन क्रियाओं को चलानेवाले के प्रति भाव से भर आता है, उसके मन में जब विचार आते हैं कि भगवान! आप कहाँ हो? कैसे हो? आपको अच्छा लगना है इसलिए कैसे रहना चाहिए, यह शास्त्र जब खड़ा हो जाता है तब उसकी बैठक में भाव निर्माण होता है। मुझे पैदा करनेवाले भगवान हैं, यह भाव निर्माण हुआ कि उसके लिए कृति आती ही है। कृति नहीं और केवल भाव है ऐसी भक्ति व्यर्थ है। केवल भावभक्ति दुर्बल है। भावभक्ति और कृतिभक्ति दोनों साथ होनी चाहिए। जिसकी चित्तैकाग्रता *(Concentration)* की भक्ति है, उसकी भी नींव में भाव होना चाहिए। ऐसी जो भक्ति है, **भक्त्या भागवतं शास्त्रम्** उसके लिए है।

न च बुद्ध्या न च टीकया - जब लड़का माँ को 'माँ' कहकर पुकारता है तब माँ को गुदगुदी होती है। शब्द में शक्ति नहीं है, पुकारनेवाले में शक्ति है। समझो कि लड़का माँ को भी भाभी कहकर पुकारेगा तब भी माँ को गुदगुदी होती है। इसका कारण क्या कहकर पुकारा यह प्रश्न नहीं है, कौन पुकारता है यह प्रश्न है। नाम में शक्ति अवश्य है, परन्तु लड़का 'भाभी' कहकर पुकारता है उसके पीछे का भाव माँ समझती है, इसीलिए उसको गुदगुदी होती है। इसलिए यहाँ लिखा है कि भागवतशास्त्र भक्ति से समझना है, बुद्धि या टीका से नहीं। वेद व्यास कहते हैं कि 'मैंने किसी के लिए भागवत नहीं लिखा है। अत: उसका अंगविच्छेदन *(Dissection)* करने की आवश्यकता ही नहीं है। जिनको वह करना है वे यहाँ से चले जायँ।'

'अहं वेद्मि' पढ़कर मुझे बहुत आनंद होता है। ऐसा वेदव्यास ही लिख सकते हैं। जिसे संस्कृत भाषा आती होगी उसीको इसका महत्त्व मालूम होगा। टीका या बुद्धि से भागवत शास्त्र मालूम नहीं होगा। इसी कारण भगवान और भक्त का प्रेम टीका का विषय नहीं हो सकता।

प्रभु रामचंद्र की भक्ति मर्यादित भक्ति है। उसमें कुछ मर्यादा है। मर्यादा लाँघकर वह भक्ति जा ही नहीं सकती। मर्यादा छोड़कर बुद्धि चली जायेगी तो वह भक्ति नहीं कहलाएगी। प्रभु रामचंद्र की भक्ति मर्यादा-भक्ति है, परन्तु कृष्ण की भक्ति मस्ती की भक्ति है, पागल बनकर ही उसको पहचानना पड़ेगा। अक्लमंद, टीकाकार, चिकित्सक, वणिक् वृत्ति के जो लोग हैं उनको इस भक्ति का पता नहीं चलेगा। मैं यहाँ जो 'वणिक् वृत्ति' कह रहा हूँ वह वैश्य समाज को उद्देश्यकर नहीं है। 'मुझे क्या मिला? कितना मिला?' यह देखने की वृत्ति वणिक् वृत्ति है। यह वृत्ति ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों में भी हो सकती है। वणिकवृत्तिवालों को भागवत का ज्ञान नहीं होगा। पागल बनकर ही उसको समझना होगा।

दशम स्कन्ध के प्रथम अध्याय में अवतार की सिद्धता दिखायी गयी है। अवतार क्यों हुआ? पृथ्वी दु:खी बन गयी है, घर-घर में दु:ख छा गया है, मनुष्य का जीना मुश्किल हुआ है। तब पृथ्वी भगवान के पास गयी। सभी में चैतन्य है तो पृथ्वी में क्यों नहीं?

पृथ्वी भगवान से पूछती है, 'भगवान! इन सब पापियों का बोझ उठाने के लिए ही क्या आपने मुझे पैदा किया है? तब भगवान आश्वासन देते हैं कि, 'तुम घबराओ नहीं, मैं आ रहा हूँ।'

उसके बाद वसुदेव के विवाह की बात आयी है। वसुदेव वृष्णिसंघ के प्रमुख नेता थे। वसुदेव और अक्रूर-दोनों प्रभावी थे। परन्तु वसुदेव तत्त्वनिष्ठ और अक्रूर मौकापरस्ती थे, ऐसा लगता है।

जब वसुदेव का विवाह हुआ तब कंस आनंदी तथा उल्लासपूर्ण दिखायी देता था। **'स्वसुः प्रियचिकीर्षया'** -ऐसा लिखा है। मेरी बहन का कल्याण कितना होगा वही करना है।' कथा तो सबको मालूम है ही। इतने में आकाशवाणी हुई। आकाशवाणी सुनने के बाद कंस का दिमाग ही बदल गया। देवकी के सभी अपत्यों को उसने मार दिया। भागवतकार को यहाँ यह समझाना है कि कंस का अपनी बहन पर प्रेम था परन्तु वहम निर्माण होने के बाद मनुष्य कितना क्रूर बन सकता है, इसका चित्रण है। एक वहम घुसने पर मनुष्य इतना क्रूर बनता है तो आज हमारे मस्तिष्क में कितने वहम घुसे हुए हैं?' 'किसीका स्पर्श होने से छूत लग जायेगी, धर्म से च्युत हो जायेंगे' वहम घुस गया। इस धारणा से कितने लोगों का हम तिरस्कार करते हैं, उन्हें मार देते हैं। दूसरों को तुच्छ समझकर छोड़े देते हैं, क्योंकि हम धार्मिक हैं। वहम के कारण धार्मिक मनुष्य भी कितने क्रूर बन सकते हैं। भगवान श्रीकृष्ण को धर्मसंस्थापना करनी थी, वहम नहीं बढ़ाने थे।

कंस की बुद्धि जन्मजात दुष्ट नहीं थी ऐसा भागवत में दिखाया गया है। लेकिन झूठी कल्पना के पीछे दौड़नेवाले मानसिक कायर लोग चाहे कितने ही पराक्रमी होंगे तब भी मानसिक तौर पर मर जाते हैं। कंस इतना महान् पराक्रमी था फिर भी वह मानसिक दृष्टि से मर गया। भविष्यवाणी सुनी उसने! आज भी बड़े बड़े लोग भविष्यवाणी सुनकर खत्म हो जाते हैं। वे अच्छी तरह से काम करते हैं, इतने में कोई आता है और कह जाता है कि आगामी तीन महीने जरा सावधानी बरतना। तुम पर संकट आयेगा। फिर संकट न भी आनेवाला हो तो भी वह आ जाता है। वहम घुस गया कि मनुष्य खत्म हो जाता है।

भागवतकार ने यह बहुत अच्छी बात बतायी है कि कंस जन्मजात दुष्ट बुद्धि का नहीं था। जो 'भगिनी-प्रिय' था वह आकाशवाणी सुनने पर 'भगिनीद्वेषी' बन गया। फिर रिस्ता-वास्ता कुछ नहीं। ऐसी कथाएं सभी पुराणों में आती हैं। जो शिक्षित लोग हैं उनके लिए कहता हूँ कि ग्रीक पुराण में भी ऐसी कथा आयी है। ओक्रेशिअस की कथा है। उसकी लड़की का नाम डेनी था। ओक्रेशिअस ने आकाशवाणी सुनी कि डेनी का लड़का तुझे मार डालेगा। डेनी का विवाह भगवान के साथ होनेवाला है। आकाशवाणी सुनने पर ओक्रेशिअस ने निश्चित कर लिया कि डेनी का विवाह ही नहीं कराना है। उसने डेनी को

कारागृह में डाल दिया। जैसा इधर वर्णन है, वैसा वहाँ भी वर्णन है। कारागृह में लड़की को डाल दिया, बाप ने लड़की का विवाह ही नहीं कराया। क्योंकि वहम घुस गया कि उसका लड़का मारनेवाला है। अस्थिर बुद्धि का मनुष्य ऐसा कर सकता है। जिसकी बुद्धि भोगलंपट है, जिसको राज्य की, कीर्ति की, सभी की अभिलाषा होती है, उसकी बुद्धि स्थिर रह ही नहीं सकती। वह अस्थिर बनती है, भाव खत्म हो जाता है। ओक्रेशिअस लड़की का विवाह नहीं कराता है, परन्तु जो होनेवाला था वह हुआ ही। ज्युपीटर कारागृह में गया तथा उसने डेनी के साथ गांधर्व विवाह किया। उसके बाद डेनी को अपोलो नाम का लड़का होता है और वह अपने नाना को (ओक्रेशिअस को) मार देता है। वहम घुसने पर रिश्ता-वास्ता कुछ नहीं रहता, फिर वह लड़की हुई तो क्या हुआ?

मनुष्य के मन में वहम घुस गया कि यह लड़का अपने लिए अच्छा नहीं है तो उस लड़के को नदी में फेंक देने वाले पिता जगत् में कम नहीं है, कारण ज्योतिषी बाबा ने कहा है। अन्तिम ब्रह्मदेव कोई होगा तो ज्योतिषी! क्योंकि लोग समझते हैं कि उसके हाथ में जीवन की डोरी है। वहम घुस गया कि व्यक्ति, व्यक्ति का कर्तृत्व सब समाप्त हो जाता है। दूसरों के प्रति प्रेम भी नष्ट हो जाता है, सम्बन्ध भी विस्मृत हो जाते हैं। ऐसा ही कंस का चित्रण है। इसीलिए भागवतकार ने उसका प्रेम भी चित्रित किया है। जो भगिनीप्रेमी था वह भगिनीद्वेषी बन गया और अपनी बहन के लड़कों को मारने के लिए तैयार हुआ।

उसमें भी, अग्नि में घी डालने का काम किसीने किया होगा तो वे हैं हमारे प्रात:स्मरणीय नारदजी! नारद एक अलौकिक शक्ति थी। वे कुछ झगड़े लगानेवाले नहीं थे। भागवत पढ़ने पर पता चलता है कि कंस युक्तिसंगत है। वह किसीकी बात नहीं सुनता था ऐसा नहीं है। कोई तर्क से समझाने लगा और उसे युक्तिसंगत लगी तो वैसा करनेवाला कंस था। भागवत में वैसा वर्णन है।

वसुदेव ने कंस को समझाया कि आठवाँ लड़का तुझे मारेगा ऐसा वहम तेरे दिमाग में है, तो आठवाँ लड़का मैं स्वयं आकर तुम्हें दे दूँगा उसके लिए सभी लड़कों को मारना व्यर्थ है। अच्छी बात नहीं है वह! वसुदेव की यह बात कंस ने मानी है। कंस युक्तिसंगत *(logical)* था। वसुदेव को प्रथम लड़का हुआ, वह उसने कंस को सौंप दिया, परन्तु कंस ने यह लड़का वापस कर दिया। भागवत में उसका वर्णन है। इसके बाद नारद वहाँ आये और उन्होंने कंस का बुद्धिभेद किया।

नारद ने कहा, 'तुझे पता है कि देवताओं ने यह निश्चित किया है कि तुझे और तेरे साम्राज्य को नष्ट करने के लिए सभी देवता यादवों के रूप में आनेवाले हैं और उसके अनुसार सभी देवताओं ने यादवों में जन्म भी लिया है। तुझे तो पता ही नहीं चलता। कौन किस तरह से आयेगा और तुझे मारेगा यह मालूम भी नहीं पड़ेगा। उसी प्रकार वसुदेव के पुत्रों की गिनती किस प्रकार की जायेगी वह कैसे कहा जायेगा? तू

ध्यान में रख कि तीव्र प्रतिशोध की भावना लेकर देवता खड़े हो गये हैं।' ऐसा कहकर नारद ने कंस के अन्त:करण में भी तीव्र प्रतिशोध की भावना भर दी।

उस दिन से कंस ने यादवों का छल करना प्रारंभ किया। इसका कारण नारद है। दूसरी बात, नारद राजनीतिज्ञ हैं। जिसने कौटिल्य अर्थशास्त्र का अभ्यास नहीं किया होगा उसको इस बात का पत्ता नहीं चलेगा। संपूर्ण प्रजा को कंस के विरोध में खड़ी करनी चाहिए उसका यही एक मार्ग है, ऐसा सोचकर नारद ने कंस को सलाह दी। नारदजी की बात सुनकर कंस ने यादवों का जबरदस्त छल करना प्रारंभ किया। परिणामस्वरूप यादव कंस के विरोध में होने लगे। जब कंस वसुदेव का एक-एक पुत्र मारता गया तब चौकीदारों के भी अन्त:करण में कंस के प्रति द्वेष होने लगा। जब वसुदेव को आठवाँ पुत्र हुआ तब चौकीदारों के अन्त:करण में कंस के प्रति की प्रतिशोध की तीव्रता इतनी पराकाष्ठा तक पहुँची थी कि उन्होंने वसुदेव को अपना पुत्र ले जाने के लिए अनुकूल वातावरण बना दिया। योगमाया से चौकीदार सो गये ऐसा वर्णन है। इसमें हमें शंका नहीं है। परन्तु योगमाया मानेंगे तो भी अच्छी बात है। योगमाया से सब सो गये और भगवान को जाने दिया। सोना, खाना, पीना इन शब्दों के अलग अलग अर्थ भी होते हैं। 'किसीने उठाया' इस अर्थ में 'खा लिया' शब्द प्रयुक्त होते हैं। परन्तु शब्द का भाषान्तर करते समय लोग वह बात ध्यान में नहीं लेते।

वसिष्ठ आश्रम में आकर पूछते हैं, कौन आया है? तब लड़के कहते हैं, **'कपिला गौ: मडमडायिता....।'** जिसने हमारी एक गाय खायी वह! यहाँ 'खायी' का अर्थ 'दान में ली' ऐसा होता है। लोग उसका अर्थ यह करते हैं कि गाय को काटकर, पकाकर खा ली। लोग पढ़ते समय कुछ पूर्वग्रहित होकर ही पढ़ते हैं। आज के काल में कोई लिखेगा कि अमुक एक व्यक्ति ने दो हजार रुपये खाये। यह पंक्ति वर्षों के बाद कोई पढ़ेगा तब इतिहास-संशोधक ऐसा अर्थ निकालेंगे कि उस समय में मुद्रा *(currency)* रोटी के जैसे रही होंगी कि जिसको लोग खा सकते थे। बाद में लोग यह लिखा हुआ दिखायेंगे। यह है उनका संशोधन। यहाँ रुपये खाये इसका अर्थ है कि उसने रिश्वत ली।

चौकीदार योगमाया से सो गये होंगे। परन्तु वे सो गये इसके पीछे नारद द्वारा कंस के प्रति निर्माण किया हुआ असन्तोष और विरोध है। आप देखिए, जब कृष्ण कंस को मारने गये तब वे कंस को सिंहासन से खींचकर नीचे पटकते हैं और मारते हैं, तब एक भी प्रजाजन, इतना ही नहीं, कंस का रक्षक *(Body guard)* भी आगे नहीं आता है। कंस इतना बड़ा सम्राट था, तो उसका एकाध अंगरक्षक को तो उसको बचाने के लिए आगे आना चाहिए था! परन्तु कोई नहीं आया, इसका तात्पर्य यह है कि कंस के प्रति इतना तीव्र असन्तोष लोगों के मन में निर्माण हुआ था। कंस भले ही कितना भी बुरा राजा था, परन्तु कुछ पांच-पचास लोगों का तो उसने कल्याण किया होगा या नहीं? ये तो कंस को अच्छा मानते होंगे या नहीं? परन्तु एक भी यादव, एक भी प्रजाजन कंस को बचाने के लिए आगे नहीं आता है। कंस से इतना दुष्ट वर्ताव होने लगा था इसका कारण नारद है।

कंस के दुराचारों से संपूर्ण प्रजा में तीव्र असन्तोष निर्माण हुआ था। नारद ने ऐसा बुद्धिभेद किया है, ऐसा भागवत में लिखा है।

दशम स्कन्ध के दूसरे अध्याय के छब्बीसवें श्लोक में भगवान की स्तुति का वर्णन है। सभी देवता देवकी के पास आते हैं, उसका अतिशय सुंदर वर्णन है—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यामृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।। (भा. १०-२-२६)

इसमें भगवान का वर्णन है, स्तुति है वह बहुत ही सुन्दर है। भागवत में अनेक स्तुतियाँ हैं, सभी सुन्दर हैं, परन्तु उनकी ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। इसका कारण, हमारे पास उतना समय ही नहीं होता। देवता देवकी के पास आते हैं और स्तुति करके देवकी से कहते हैं कि तेरे उदर में कौन आ रहा है, कम से कम तुझे मालूम होना चाहिए। स्तुति करके देवता चले जाते हैं।

उसके बाद अकस्मात् सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश दीखने लगा। तब वसुदेव देवकी दोनों घबरा जाते हैं। कुछ अद्भुतता हुई तो कोई भी घबरा जाता है। सभी अन्धःकार में अकस्मात् प्रकाश होने पर घबरा जाते हैं कि यह प्रकाश कहाँ से आया? कोई पिशाच तो नहीं आया होगा? फिर दोनों भगवान का वर्णन करते हैं। यह वर्णन पढ़ने जैसा है। इसको नहीं पढ़ेंगे, नहीं छुएंगे तो भागवत की कथा पूर्ण नहीं होगी।

वसुदेव व देवकी की स्तुति सुनने पर भगवान ने स्वयं देवकी से जो कहा वह तो अपूर्ण है। भगवान कहते हैं, 'तू इस जन्म में ही मेरी माँ है ऐसा नहीं है। मुझे जब जब जन्म-अवतार लेना पड़ा है तब तुझे ही मैंने अपनी माँ बनाया है। आज ही किसी अकस्मात् *(accident)* से तू मेरी माँ नहीं बनी है। पिछले अवतारों में भी तू ही मेरी माँ थी। आज भी मैं तेरे उदर से जन्म लेता हूँ। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह सुनकर देवकी को क्या हुआ होगा कि भगवान मेरी ही गोद में आना पसन्द करते हैं! **देवकी परमानन्दम्** ऐसा जब जब पढूँगा तब देवकी को भाग्यशाली समझूँगा। उसको 'जीव' कहना भी ठीक नहीं है, परन्तु जीव नहीं कहेंगे तो दूसरा क्या कहेंगे? इसलिए 'जीव' ही कहना है।

भगवान ने जब अर्जुन से कहा, **'पाण्डवानां धनञ्जयः'** तब अर्जुन की क्या अवस्था हुई होगी? उसी प्रकार भगवान ने देवकी से कहा, जब जब मैंने अवतार लिया है, तब तब तेरे ही उदर में जन्म लिया है। तू ही मेरी माँ होती है।

उसमें वेदकालीन अवतारों का भी उल्लेख किया है। यह सब सुनकर देवकी को क्या हुआ होगा? ये सब श्लोक पढ़ने जैसे हैं। सभी श्लोक पढ़ने लगेंगे तो भागवत से हम बाहर निकलेंगे ही नहीं वह इतना विशाल जंगल है!

उसके बाद योगमाया की शक्ति से सब लोग सो गये यह बात भी सत्य है। योगमाया की शक्ति से सभी चौकीदार सो गये होंगे, इसमें अशक्य बात क्या है? उसी

प्रकार नारदजी ने जो षड्यन्त्र रचा था उसका भी परिणाम हो सकता है। कंस के क्रूर कर्म देखकर उसके प्रति क्या किसी को सहृदयता रही होगी? एक भी व्यक्ति कंस के पक्ष में नहीं था। नारद ने कंस को बहकाकर उसके द्वारा ऐसे क्रूर कर्म कराये कि सभी में कंस के प्रति नफरत निर्माण हुई थी। यह काम नारद ने अर्थात् नारद मिशन *(Mission)* ने किया है। उसका भी परिणाम होगा।

सभी चौकीदार सो गये थे, तब वसुदेव ने प्रभु को उठाकर गोकुल में पहुँचाया और वहाँ से एक लड़की को ले आये।

जब कंस ने सुना कि वसुदेव को आठवीं लड़की हुई है, लड़का नहीं, तब उसने विचार किया कि इन देवताओं पर विश्वास करना बेकार है। किसी भी तरह वसुदेव का आठवाँ बालक जीवित नहीं रहना चाहिए। वह उस लड़की को मारने गया। उसको उठाकर जब पत्थर पर पटकने गया तो वह बिजली बनकर उसके हाथ से निकल गयी और आकाश में जा पहुँची। उसके बाद आकाशवाणी हुई।

आकाशवाणी और भविष्य-कथन से सभी राक्षस, भले वे कितने ही शक्तिशाली क्यों न हों, डर जाते हैं। जो जितना अधिक शक्तिशाली उतना अधिक कायर होता है। सबसे अधिक कायर इन्द्र माना जाता है। कोई भी तपश्चर्या करने लगा कि इन्द्र को लगता है कि यह मेरा स्थान ले लेगा तो? वह इतना कायर है।

आकाशवाणी हुई कि 'कंस! व्यर्थ ही तूने वसुदेव के सब पुत्रों को मारा। उनको मारते समय तूने तनिक भी विचार नहीं किया, तेरा शत्रु तो बड़ा हो रहा है।' फिर कंस को बहुत पश्चात्ताप हुआ। उस पश्चात्ताप का वर्णन भी बहुत ही सुंदर है। जो अभ्यास करनेवाले हैं उनके लिए संदर्भ दे रहा हूँ। भागवत खोलकर वे पढ़ सकते हैं। चौथे अध्याय में चौदह से लेकर चौबीसवें श्लोकों में पश्चात्ताप का वर्णन है। उसमें कंस कहता है, मैंने आज तक बहुत गलत काम किया है। इतना ही नहीं, वह वसुदेव-देवकी से क्षमा माँगकर उनके पैर छूता है। भागवत में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

दुष्टों की दुष्टता के नीचे एक समंजस, सहृदय व दयार्द्र अन्तःकरण होता है। कंस के पश्चात्ताप का वर्णन पढ़कर ऐसा लगता है कि उसको सचमुच पश्चात्ताप हुआ होगा, परन्तु *Devils quoting the bible* (शैतान के मुँह में राम) जैसा वह कहता है। आगे वह कहता है, मैं क्या कहूँ? मैं नियति के हाथ का एक खिलौना हूँ। जो कुछ होनेवाला था, वही हुआ। वे (बालक) तो मरनेवाले ही थे, परन्तु नियति ने मुझे उसमें निमित्त बनाया।'

एक बात सच्च है। पश्चात्ताप में कंस ने गाली दी कि 'केवल मनुष्य ही झूठे नहीं है, देवता भी झूठ बोलते हैं। देवताओं पर विश्वास करके मैंने यह दुष्कर्म किया है। गलतफहमी के कारण मुझसे ऐसा हुआ, अतः मैं आपको प्रणाम करता हूँ और आपको कारागृह से मुक्त करता हूँ।' ऐसा कहकर उसने वसुदेव-देवकी को कारागृह से छोड़ दिया।

यह प्रसंग ही बहुत हृदयंगम है। दीर्घकाल तक भाई के जेलखाने में पड़ी रही बहन-देवकी को वह मुक्त करता है, देवकी का क्रोध शान्त होता है। नीतिशास्त्र में कहा है—

विशाखान्ता गता मेघाः प्रसूतान्तं च यौवनम्।
प्रणामान्तः सतां कोपो याचनान्तं हि गौरवम्।।

सत्पुरुषों का क्रोध नमस्कार करने पर शान्त होता है। देवकी का अंत:करण भर आता है, परन्तु वसुदेव ज्ञानी थे, कंस को सुनाने का यही अवसर है ऐसा समझकर, उसने कंस को सुनाया, 'तुझमें बहुत शक्ति है, युक्ति है, बुद्धि है, सब है, परन्तु अहंकार के कारण स्वार्थी भाव निर्माण होता है और मनुष्य अन्धा बन जाता है। इस अहंकार से ही मनुष्य विकारों के अधीन होता है। तुझे अहंकार का त्याग करना चाहिए। अहंकार के त्याग के लिए भक्ति करनी चाहिए।' ऐसा भागवतकार ने लिखा है।

अहंकार का त्याग करने के लिए भागवतकार भक्ति करने को कहते हैं, परन्तु 'भक्ति' शब्द सुनते ही हमारी धारणा क्या होती है इसके पूर्व कहा ही है। वैसी भक्ति किसी काम की नहीं है।

अहंकार तो रहेगा ही। उसके पीछे कुछ तर्क *(Logic)* हैं। उनका कोई विचार ही नहीं करता। यदि अहंकार नहीं रहेगा तो यह शरीर ही नहीं चलेगा। अहंकार तो होना ही चाहिए। इस अहंकार को अंग्रेजी में *Ego* कहते हैं। गुजराती भाषा में अहंकार शब्द वस्तुनिष्ठ अहंकार के रूप में प्रयुक्त करते हैं, इसलिए मैं अहंकार के लिए *Ego* शब्द प्रयुक्त करता हूँ। जब तक द्वैत है, शरीर है तब तक यह अहंकार रहेगा ही। तो उसको किस प्रकार निकालेंगे? उसके लिए कौन सा मार्ग है? यह जो 'मैं हूँ' है उसके साथ दूसरा एकाध शब्द लगाना चाहिए ऐसा शास्त्रकारों को लगता है। 'मैं किसीका हूँ' ऐसा कहना ही भक्ति है। यहाँ 'किसीका' यानी भगवान का! जब तक यह भाव पैदा नहीं होता तब तक भक्ति शुरु नहीं होती।

आज भागवत सुनानेवाले कहते हैं कि वसुदेव ने कंस को उपदेश किया है कि अहंकार के कारण विपरीत वर्तन होता है इसलिए भक्ति करनी चाहिए। परन्तु भक्ति करना इसका इतना ही अर्थ ये लोग समझते हैं कि भगवान के चित्र पर माला चढ़ाने के लिए किसी ब्राह्मण को नियुक्त करके उसको वेतन देना है। कितने लोग ब्राह्मण को श्रीसूक्त का पारायण करने के लिए रखते हैं। क्योंकि उसके पास समय नहीं है।

कारागृह से निकलते समय कंस को जितना सुनाना चाहिए था उतना वसुदेव ने सुनाया। उसमें वसुदेव की बुद्धि का भी पता चलता है। वसुदेव ने स्पष्ट भाषा में कहा कि तेरे हाथ से जो हुआ है वह गलतफहमी से नहीं, अपितु अहंकार से हुआ है। अहंकार से द्वैतभाव खड़ा होता है, मनुष्य अन्धा बनता है और विकारों के अधीन हो जाता है। उससे मनुष्य के सभी गुण मिट्टी के मूल्य के बन जाते हैं। यह अहंकार

निकालने के लिए भक्ति करनी चाहिए। यह भक्ति क्या है इसे कम से कम स्वाध्यायी भाई समझ लें। अहंकार तो रहेगा ही।

'मैं हूँ' यह अहंकार है और 'मैं किसीका हूँ' यह भक्ति है। 'मैं करता हूँ,' 'मेरे हाथों से हुआ' यह समझ जानी चाहिए। और उसके स्थान पर 'कोई कराता है,' 'मैं किसीका साधन हूँ' यह समझ आनी चाहिए। गीता का फलित 'निमित्त बनो'– *(Instrumental devotion)* है। कृष्ण भगवान का गीता में यही कहना है कि **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।'** जो कुछ मेरे हाथ से होता है, वह मैं नहीं करता हूँ। इसमें किसीके हाथ का साधन बनने में, नियति के हाथ में जाना, कुदरत के हाथ में, दूसरों के हाथ में जाना यह बेवकूफों की बात है, मूर्खता है। किसी के हाथ का साधन बनना चाहिए। उसीका अर्थ भक्ति है। मैं किसका हूँ? मैं भगवान का हूँ, यह बात वसुदेव ने बहुत सुन्दर रीति से समझायी है। देवकी ने कंस को क्षमा कर दिया, परन्तु वसुदेव ने उसको समझाया है।

कंस के रूप में एक अस्थिर मन का मनुष्य कैसे होता है यह दिखाया है। वसुदेव - देवकी के पुत्रों को मारते समय वह जितना मजबूत था उतना ही भविष्यवाणी सुनकर ढीला पड़ गया इसलिए उसने वसुदेव-देवकी से क्षमा माँगी।

वसुदेव द्वारा किया हुआ उपदेश केवल कंस के लिए ही नहीं है, सभी के लिए है कि भक्ति से ही अहंकार से मुक्ति मिलेगी। मुझे किसका साधन बनना है यह निश्चित होना चाहिए। किसको स्वामी बनाना है? स्वामी नारायण! नारायण को मेरा स्वामी बनाना है। यह स्वामीनारायण संप्रदाय बहुत अच्छा संप्रदाय है।

उसके बाद कंस वहाँ से चला गया, वसुदव भी यादवों के साथ चले गये। यादवों को कितना आनंद हुआ इसका भी वर्णन है।

कंस जाकर अपने मंत्रिमंडल की सलाह लेता है। कंस की भाषा ऐसी थी कि वह कदाचित राम अथवा केशव बन जायेगा ऐसा लगता था। राक्षसों के मुँह में भी वैसी भाषा है। इसीलिए मैंने कहा कि *Devils quoting the Bible,* जैसा यह है। कितने ही समय राक्षस भी ऐसा बोलते हैं कि 'सभी में भगवान हैं। हम भगवान की पूजा नहीं करते, परन्तु सभी में स्थित जो भगवान हैं, उनकी सेवा करते हैं।' वे किसलिए सेवा करते हैं वह उनको मालूम है और आपको भी मालूम है कि उनकी सेवा किसलिए चल रही है।

कंस ने मंत्रिमण्डल की बैठक बुलायी और मंत्रियों की सलाह ली। आज की भाषा में कहना हो तो कंस के मंत्रिमण्डल में बैरिस्टरों, विदेश जाकर आये हुए वकील, सोलिसिटर्स-जैसे बुद्धिशाली लोग थे। उनमें कितनों को तो अन्तरराष्ट्रीय कानून- *(International law)* का भी ज्ञान था। इसका कारण उस समय भी भिन्न-भिन्न कितने ही साम्राज्य थे। वृष्णिसंघ का गणराज्य था, वैसे ही कंस. जरासंध, कालयवन, कालीनाग जैसे सम्राटों के साम्राज्य थे। आन्तरराष्ट्रीय *International* - यह शब्द आज का ही नहीं है। कानून का भी अभ्यास किए हुए लोग मंत्रिमण्डल में थे।

मंत्रिमण्डल की बैठक हुई। उसने कंस को सलाह दी कि ऐसा नहीं चलेगा। कंस का क्रोध बढ़ाने का प्रयत्न किया। अंग्रेजी में कहा गया है मनुष्य उसके सहयोगी से पहचाना जाता है — *A man is known by the company he keeps* -- सुभाषितकार कहता है—

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालनात्
विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्।
ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयान्
मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्प्रमादाद्धनम्।।

यह नीतिशास्त्र है। मंत्रियों से यदि गलत सलाह मिली तो राजा अच्छा होते हुए भी खत्म हो जाता है। संन्यासी को संग लगा कि संन्यासी खत्म होता है। लड़कों का अति लालन, लाड़-प्यार किया तो वे बिगड़ जाते हैं। ब्राह्मण यदि अध्ययन नहीं करेगा तो खत्म हो जाता है। कुल में एकाध कुपुत्र पैदा हो जाय तो कुल का सत्यानाश हो जाता है। आप भले ही शुद्ध चारित्र के और शीलवान हैं, मगर खल-दुष्ट व्यक्ति के साथ आपका सम्बन्ध हुआ तो शील नष्ट हो जाता है। शराब पीनेवालों की शर्म चली जाती है। फिर उसको पत्नी, समाज, सम्बन्धी व्यक्ति या भगवान की भी शर्म नहीं रहती। कृषि की ओर किसान यदि दुर्लक्ष करेगा, कृषि नहीं करेगा तो कृषि खत्म हो जाती है। अति प्रवास करनेवालों का परिवार के प्रति, दूसरों के प्रति स्नेह नष्ट हो जाता है। मित्रों के प्रति प्रणय कम हुआ तो मित्रता समाप्त हो जाती है। समृद्धि आने पर नम्रता चली जाती है, उद्दण्डता आती है। अति त्याग या प्रमाद होने से धन चला जाता है। इन सबमें प्रथम बात यह है कि दुर्मंत्रियों की सलाह से राजा समाप्त हो जाता है।

कंस पर वसुदेव के शब्दों का परिणाम हुआ था। उसके जीवन को नया मोड़ मिलेगा ऐसा लगता था। सच था या झूठ पता नहीं, परन्तु हमने देखा है कि कंस को पश्चात्ताप हुआ, उसने वसुदेव-देवकी के चरण पकड़कर क्षमा भी माँगी। ठीक उसी समय मंत्रिमण्डल की बैठक होती है।

मंत्रिमण्डल ने कहा कि देवता लोग विश्वास करने योग्य नहीं है। अब क्या करना? इस पर भी आकाशवाणी हुई कि तुम्हारा शत्रु बड़ा हो रहा है। तो फिर क्या करना? आसपास के संपूर्ण प्रदेश में जितने बालक दस दिन से कम उम्र के होंगे उन सबकी हत्या कर दीजिये। उसमें क्या है? एक राजा को बचाने के लिए इतनी हत्याएं करनी पड़ती हों तो करनी चाहिए। राजा बचना चाहिए।

मंत्रिमण्डल ने विश्लेषण करके कंस से कहा कि आपमें जो परिवर्तन हुआ है वह नहीं होना चाहिए। आपको बदलने का कोई कारण नहीं है। देवताओं से डरना बेकार है। शेष दूसरे देवतओं को जाने दिजिए परन्तु उनमें एक विष्णु है, उससे तनिक सँभलना चाहिए। वह एकान्तप्रिय है। वह कब तुम्हारे सामने लड़ने के लिए आनेवाला है? जो

मैदान में आया ही नहीं वह कैसे लड़ सकता है? लड़ने के लिए मैदान में आना पड़ता है। विष्णु मैदान में नहीं आया है। उसे युद्ध का अनुभव कहाँ है?

यह सच्ची बात है कि युद्ध का अनुभव होना चाहिए। मिलिटरी का नियम है। हमारे देश की मिलिटरी को भी हमने दूसरे देश में भेजा था। क्यों? *field* का अनुभव प्राप्त हो इसलिए! दूसरा कोई कारण नहीं था, फिर भी भेज दिया था।

मंत्रिमण्डल ने कहा, 'विष्णु को लड़ने का अनुभव नहीं है, अत: वह तुम्हारे साथ कैसे व कब लड़ेगा? उससे भी डरना बेकार है। दूसरा उनका बड़ा देवता शंकर है वह अरण्यवासी है। हम सम्पन्न लोग हैं - *Technically developed* लोग हैं। शंकर तो जंगली है। उसे क्या मालूम कि कैसे लड़ा जाता है! इसलिए देवताओं से डरना बेकार है।'

'शरीर में रोगरूपी शत्रु घुस जाने के बाद उसकी उपेक्षा करना अक्लमन्दों का काम नहीं है। शत्रु की उपेक्षा करना राजनीति नहीं है। आपको यदि शत्रु की उपेक्षा करनी है तो आपको राजगद्दी पर नहीं बैठना चाहिए। राजगद्दी पर बैठने के बाद शत्रु की उपेक्षा नहीं हो सकती। मगर हम देवता और देवियों के आधारस्थान को ही नष्ट कर देंगे।'

मंत्रिमण्डल का भाषण पढ़ने जैसा है। वेदव्यास ने जो इतना लिख रखा है वह किसलिए है? हमें समझाने के लिए कि राक्षस, मधुर बोलनेवाले सुशिक्षित लोग भी धर्म का सत्यानाश कैसे करते हैं! हमें समझना चाहिए कि वे लोग पद्धति के अनुसार *(systematic)* काम करते हैं। भागवत में मंत्रिमण्डल के मुँह से वह स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। उन्होंने कहा है कि जो भगवान भगवान करते हैं उनका आधार कौन है इसका पता है? वेद उनका आधार है। गाय, विप्र, तप, यज्ञ, इन्द्रियदमन, शान्ति, श्रद्धा, तितिक्षा, सहनशीलता, दया आदि सब विष्णु के स्थान हैं। विष्णु के स्थान कौनसे हैं यह भागवत में लिखा है और यह बात शत्रुपक्ष के, राक्षसों के मुँह से आ रही है। भागवत में उल्लेख है कि उसके लिए क्या क्या हो सकता है? जो जो विषय के स्थान हैं उन पर प्रहार करने के लिए शक्ति लगा देंगे तो देवता क्या करेंगे? देवता कुछ नहीं कर सकते!

यज्ञ का विध्वंस करेंगे, वेदों को हटा देंगे, ब्राह्मणों को निर्वीर्य करेंगे, तप की महिमा नष्ट करेंगे, गाय की महत्ता नष्ट करेंगे, उसके बाद क्या होगा? वह बहुत सुंदर रीति से कहा है। मुझे तो लगता है कि जो जो ईश्वरवादी लोग हैं उन्हें वह पढ़ना चाहिए। कंस के मंत्रिमण्डल का जो षड्यंत्र है, जो गोपनीय *confidential meeting* है, लोहे के पर्दे के पीछे हुई बैठक है, वह वेदव्यास को मालूम हुई। उस बैठक में जो कहा गया वह वेदव्यास ने लिख रखा है। इसका कारण ये राक्षस ईश्वरवाद को नष्ट करने के लिए क्या क्या कर सकते हैं, इसका ईश्वरवादी लोगों को पता न चले। मंत्रिमण्डल में सब बातें निश्चित हो गयीं और सर्वप्रथम ऋषि-ब्राह्मणों का छल करना प्रारंभ हो गया। इन लोगों के प्रयत्न कैसे होते हैं यह भागवत में लिख रखा है। शत्रुपक्ष क्या करता है यह सामान्य मनुष्य को मालूम हो इसलिए लिख रखा है।

उन्होंने निश्चित किया कि वेदों का और यज्ञों का विध्वंस करेंगे तो सब खत्म हो जायेगा। उसमें प्रथम गाय चली गयी। गाय चली गयी इसका अर्थ कृतज्ञता और वात्सल्य चले गये। गाय का अर्थ केवल गाय नहीं। धत् यानी-धेनु- इसका अर्थ जो जो स्तनपान कराती है वह धेनु है। जब समाज में से कृतज्ञता वात्सल्य खत्म होता है तब समाज में भौतिकवादी *(Materialistic)* लोग खड़े होते हैं। आज भी वही होता है। अच्छी अच्छी पुस्तकों में संशोधन क्रिया गया है कि सहज प्रेरणा *(Instinct)* खत्म कर दी गयी है। उनका कहना है कि वात्सल्य जैसी कोई बात ही नहीं है। आपने पढ़ा होगा। नहीं पढ़ा होगा तो आपके लड़के पढ़ेंगे। वात्सल्य है ही नहीं। वात्सल्य वातावरण का परिणाम *(Environmental effect)* है। यह रूस का संशोधन है। मनोविज्ञान में उन्होंने सहजप्रेरणाओं को खत्म कर दिया है। उसके कारण युरोपियन और अमेरिकन देश घबरा गये हैं। हमें-भारत को घबराने का कारण नहीं है।

मैंने एक अमेरिकन मनुष्य से कहा कि मैं धनवान हूँ, मेरे बाप-दादा-पूर्वज बहुत ही धनवान थे। सहजप्रेरणाएं समाप्त हो गयी इससे मुझे डरने की आवश्यकता नहीं है। तुम डरते हो कारण तुम मैकडुगल की सहजप्रेरणाओं को मानते हो। हम तो पुनर्जन्म *(Rebirth)* मानते हैं। सहजप्रेरणाओं को खत्म किया जा सकता है, पुनर्जन्म को खत्म नहीं कर सकते।

उनका कहना है कि गाय का बछड़ा गाय के स्तनों को चूसकर दूध पीता है, वह सहजप्रेरणा से करता है। उसके ऊपर ही उनका मानसशास्त्र खड़ा है। हम कहते हैं कि बछड़ा जन्मजन्मान्तर से माँ के स्तन से दूध चूसता आया है, इसलिए उसको वैसा अभ्यास है।

वे कहते हैं, मातृवात्सल्य, पितृवात्सल्य- ये सब झूठी बाते हैं। उनका यही कहना है कि प्रथम विचार नष्ट करने चाहिए और वह भी जानबूझकर! उनकी पुस्तकें अच्छी होंगी, छपाई अच्छी होगी, भाषा अच्छी होगी और अंग्रेजी में होगी। कितने ही उच्चभ्रू लोगों का कहना है कि गीता अंग्रेजी में कहो। मानो उनके माता-पिता मम्मी-डैडी ही हैं। अंग्रेजी भाषा के प्रति मुझे नफ़रत नहीं है मगर उसे एक प्रतिष्ठा खड़ी हो गयी है। वह एक भाषा है। दस भाषाएं हैं, उनमें से यह भी एक भाषा है, परन्तु ऐसे लोगों ने अंग्रेजी को प्रतिष्ठा दे दी है।

मातृवात्सल्य, पितृवात्सल्य है ही नहीं ऐसा उनका संशोधन है। वे कहते हैं कि गैरकानूनी सन्तान *(Illegal Progeny)* को माँ अपने पास नहीं रखती, उसे कूड़े के ढेर में फेंक देती है। क्यों? उस बालक को जन्म देने से उसको सामाजिक प्रतिष्ठा *(Social status)* नहीं मिलती। जिससे सामाजिक प्रतिष्ठा मिलेगी ऐसा ही बालक उसे चाहिए। वह प्रतिष्ठा जिससे नहीं मिलेगी ऐसी सन्तान मर भी जाय तो उसे कुछ नहीं पड़ी है। जिस बालक से उसको प्रतिष्ठा नहीं मिलती उस पर उसका प्रेम नहीं होता। तो वात्सल्य कहाँ गया? पुराने जमाने में आठ पुत्रों की माँग थी, क्योंकि आठ पुत्र होने से प्रतिष्ठा मिलती थी। **'अष्टपुत्रा सौभाग्यवती भव'** ऐसा आशीर्वाद दिया जाता था। आज तो किसीके आठ

पुत्र होंगे ही नहीं और होंगे वह किसीसे कहेगी नहीं, कारण कहने से सामाजिक प्रतिष्ठा समाप्त हो जायेगी। वे लोग ऐसा सिद्ध करना चाहते हैं कि वात्सल्य है ही नहीं! ऐसा कहकर वे सहजप्रेरणाएं खत्म कर देते हैं।

एक बार वात्सल्य व कृतज्ञता समाप्त हो गयी कि परिवार भी समाप्त हो जाता है। यही राक्षसी वृति है। राक्षस खाने को तो देते ही हैं, स्वयं भी खाते हैं, पीते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। सभी आधारस्थान खत्म करने के लिए क्या क्या करना चाहिए वह कंस के मंत्रिमण्डल ने स्पष्ट कहा है और भागवत में वह सब लिखा हुआ है।

प्रथम यह कहता है कि गाय को खत्म करो। गाय में विष्णु का स्थान है, उसीको खत्म कर दो। गाय के रूप में वात्सल्य व कृतज्ञता चली जाने के बाद लोग जायेंगे कहाँ? हमारे ही पास आयेंगे। उनको बदलने की आवश्यकता नहीं है, वे अपने आप बदल जायेंगे। वे शगूफा बकरी के जैसे बदल जायेंगे। ऐसे विचार का एक शगूफा छोड़ देना है। इसके विरोध में क्या कोई पुस्तक निकली है? हमारी तो भक्ति चल रही है। आरती, माला, प्रसाद यह हमारी भक्ति है! यह तो मन्दिर-मन्दिर में चलती है। क्या किसीका दिल टूटता है उसके लिए? क्या किसीके अन्तःकरण से वात्सल्य और कृतज्ञता दोनों खत्म होनेवाले हैं। वे खत्म होते हैं तो होने दो। आपके मन्दिर कौन तोड़ता है? वे तो आपके लड़के ही स्वयं तोड़ेंगे। हमें उनको तोड़ने की क्या आवश्यकता है? महमद गजनी पागल था इसलिए वह मंदिर व मूर्ति तोड़ने निकला था। मन्दिरों को तोड़ने की आवश्यकता ही नहीं है। वे तो आप स्वयं तोड़ेंगे और उनके स्थान पर कारखाने खड़े कर देंगे। आपको ही लगेगा कि ऐसे मन्दिरों की आवश्यकता ही क्या है? वहाँ उद्योग खड़े करो। मन्दिर का काम क्या है यह मन्दिरवालों को ही मालूम नहीं है, वे मन्दिर सँभालने के लिए बैठे हुए हैं। मन्दिरों की ओर ध्यान नहीं दिया गया तो आगे की प्रजा मन्दिरों को नष्ट करनेवाली ही है।

कंस के मंत्रिमण्डल ने निर्णय किया, 'विष्णु के जो जो स्थान हैं उनको तोड़ दो। कृतज्ञता व वात्सल्य को खत्म करो', अब तप का मजाक उड़ाओ।

स्वार्थ के लिए जीवन में गुण आ जाते हैं। स्वार्थरहित गुण जीवन में लाने के लिए समय लगता है, धीरज लगती है, उसीको तप कहते हैं। मैं हमेशा कहता हूँ कि जो व्यापारी है, वह स्थितप्रज्ञ के जैसा है। उसको ग्राहक गाली भी देगा तो भी वह गुस्सा नहीं होता, सहन करता है। उलटे, वह कहता है, ग्राहक तो हमारा भगवान है। आप और दो-चार जगह जाकर आइये, हमारे भाव में दूसरा कोई व्यापारी माल नहीं देगा, आपको दूसरी जगह यह माल न मिला तो अवश्य यहाँ वापस आइये। मैं झूठ नहीं बोलता हूँ। व्यापारी के पास जितनी स्थितप्रज्ञता है उतनी वसिष्ठ के पास भी रही होगी या नहीं मुझे इसमें सन्देह है।

स्वार्थ से गुण आते हैं, परन्तु उन गुणों को सुगंध नहीं आती। बिना स्वार्थ के जो गुण जीवन में संवर्धित किये जाते हैं उनमें सुगंध होती है। व्यापारी की दुकान में लिखा

रहता है- *Honesty is our best Policy*। बिलकुल सच्ची बात है। *Honesty* यह व्यापारी की *Policy* है, *Principle* नहीं है। पॉलिसी जब चाहे तब बदली जा सकती है। सिद्धान्त *(Principle)* में परिवर्तन नहीं कर सकते। व्यापारी तो खुले आम कहता है कि प्रामाणिकता उसकी नीति *(Policy)* है। परन्तु लोग समझते ही नहीं, वे लोग पागल हैं! इसलिए 'तप' का मजाक उड़ाया है।

जीवन में बिना स्वार्थ के अभ्यास करना चाहिए। परन्तु हम वैसा अभ्यास नहीं करेंगे। किसीसे कहा कि चलो, उपनिषद् सुनने जायेंगे तो वह पहला प्रश्न पूछता है कि 'क्या मिलेगा?' ये सभी राक्षस प्रथम प्रश्न पूछते हैं, क्या मिलेगा? कुछ मिलता हो तभी ये लोग अभ्यास करेंगे। जहाँ कुछ नहीं मिलता वहाँ ये लोग अभ्यास करने का प्रयत्न करने को तैयार ही नहीं हैं। तो फिर तप कैसे बढ़ेगा? जीवन में धीरज होना चाहिए, वह कैसे आयेगा? इन्द्रियदमन नहीं है, शान्ति भी नहीं है। तप होगा तो शान्ति मिलेगी। तप ही नहीं है तो शान्ति कहाँ से आयेगी? राक्षसों को सभी को अशान्त ही रखना है। उनको सतत अशान्ति *(Unrest)* चाहिए। वे सभी के जीवन में, 'चाहिए, चाहिए' ही निर्माण करते हैं। 'चाहिए' की अशान्ति और 'नहीं मिलता है' इससे भी अशान्ति रहती है। सब मिलकर अशान्ति ही अशान्ति। अशान्ति बढ़ गयी तो एक भी गुण जीवन में नहीं आ सकता।

अशान्ति! कितना मानसशास्त्रीय अभ्यास है उन लोगों का! एक बार लोगों के मन में अशान्ति भर दो। फिर उनको चिल्लाने दो। लोग चिल्लाते रहें इसीलिए तो उनके प्रयत्न होते हैं। चिल्लाते-चिल्लाते लोगों की शक्ति खत्म हो गयी कि हम शान्ति से बैठे सकेंगे, यह उनका ध्येय रहता है। एक बार अशान्ति निर्माण कर दी कि घर-गृहस्थी ही नष्ट हो जाती है। जहाँ शान्ति होती है, उसीको घर कहते हैं।

भगवान विष्णु के जो जो स्थान मंत्रिमण्डल ने बताये, उनमें ब्राह्मण भी विष्णु का एक स्थान है। विष्णु के सभी स्थानों को खत्म कर देने की बात मंत्रिमण्डल ने कही। उस मंत्रिमण्डल ने कंस से कहा, 'ब्राह्मण विष्णु का महत्त्वपूर्ण आश्रयस्थान है, इसको तोड़ना हो तो क्या करना चाहिए? उनकी कीमत कम करनी चाहिए अथवा उनको वित्त से खरीदना चाहिए। उनको वित्तलोलुप बनाना चाहिए। हम ब्राह्मणों से कहेंगे कि 'शास्त्रों का अध्ययन करने से आपको क्या मिलेगा? उसके स्थान पर हम कहेंगे उस शिक्षा को ग्रहण करेंगे तो आपको प्रारंभ से ही पर्याप्त वेतन मिलेगा। एक शास्त्र का अध्ययन करने में बारह-बारह साल लगते हैं और बदले में कुछ नहीं मिलता। उसकी अपेक्षा आप इधर परिश्रम करेंगे तो आपको सामाजिक प्रतिष्ठा मिलेगी और वित्त भी मिलेगा। इतनी मेहनत करने पर आपको कुछ मिलना चाहिए या नहीं?'

इन राक्षसों की वाणी बहुत ही मधुर *(Sweet tongue)* होती है। इसीलिए तो उनको चारुवाक् - चार्वाक कहते हैं। उनकी वाणी सुनकर ऐसा ही लगता है कि उनके हृदय में मानवता के लिए कितना प्रेम है? मधुर भाषा बोलकर वे ब्राह्मण-संस्था को ही समाप्त करते हैं। ब्राह्मण जिस विद्या का अध्ययन करते हैं उस विद्या की समाज में कीमत ही नष्ट कर

देने की यह प्रथम बात है। उसके लिए **शनैः शनैः** काम करना पड़ता है। उसका परिणाम पचास वर्षों के बाद मिलेगा। पचास वर्ष पूर्व ब्राह्मण की समाज में कितनी प्रतिष्ठा थी और आज वह कहाँ चली गयी? ब्राह्मण का मूल्य किसने नष्ट किया? ब्राह्मण का मूल्य नष्ट करना यह पहली बात और उसको वित्त से खरीद लेना दूसरी बात है। यह होने पर ब्राह्मण रहा ही कहाँ? वे लोग ब्राह्मण को वित्तलोलुप बना देते हैं, यह तीसरी बात है। वित्तलोलुप बनने पर ब्राह्मण ही समाप्त हो जाता है। ब्राह्मण्य चले जाने पर बचे हुए ब्राह्मण का अर्थ ही क्या है?' मैं ब्राह्मण हूँ, कारण मेरे पिता ब्राह्मण थे। संस्कृत में इसके लिए एक 'ब्रह्मबंधु' गाली है। 'ब्रह्मबन्धु' यानी ब्राह्मण का भाई है, अर्थात् वह ब्राह्मण नहीं है। एक बार ब्राह्मण का मूल्य समाप्त हो गया कि फिर ब्राह्मण जो बोलता है, उसका मूल्य ही क्या रहा? उसकी विद्या भी नष्ट हो जायेगी व समाज में उसका स्थान भी नहीं रहेगा। धर्म और भक्ति में जितना कचरा घुसेगा उतना अच्छा ही है। कचरा घुस जाने पर धर्म तथा भक्ति की शक्ति ही समाप्त हो जाती है। राक्षसों को वही तो चाहिए। उसी के लिए तो राक्षस प्रयत्नशील रहते हैं। फिर ब्राह्मण क्या करेगा? जैसे हिन्दी में कहते हैं कि ब्राह्मण यानी पीर, बबर्ची, भिस्ती और रबर! वैसा बना दिया ब्राह्मण को!

यज्ञ में विष्णु का वास है। **'यज्ञो वै विष्णुः'** ऐसा कहा गया है। राक्षस यज्ञ नहीं चाहते थे। वे यज्ञों का विरोध नहीं करते। यदि विरोध करते तो लोग उनके विरोध में खड़े रहते थे इसलिए वे विरोध नहीं करते, अपितु बुद्धि चलाकर यज्ञ की आत्मा ही नष्ट करते थे। यज्ञ में कर्मकाण्ड चालू रखते हैं। कर्मकाण्ड करने दो, स्वाहा-स्वाहा-स्वाहा जितनी चाहे उतनी आहुतियाँ डालकर कौन सा पुण्य मिलता है? लेने दो उस पुण्य को उन्हें! उसमें हमारा क्या जाता है? यज्ञ का प्राण ही निकाल लेते हैं।

पुराने समय में ऋषि यज्ञ करते थे, ब्राह्मण यज्ञ करते थे, तब राक्षस उन यज्ञों का विध्वंस करते थे। क्यों? उसके पीछे उनका कुछ तर्क *(Logic)* था। ऋषि और ब्राह्मण जहाँ यज्ञ करते थे, उस प्रदेश के आसपास के समाज के अन्तिम व्यक्ति तक *(Unto the last)* पहुँच कर उस समाज में मानवता खड़ी करते थे, उनमें अस्मिता जागृत करते थे। यज्ञीय ब्राह्मण लोगों को समझाते थे कि तुम सिंह की औलाद हो प्रभु की सन्तान हो।' इससे उनकी अस्मिता जाग उठती थी। जहाँ व्यक्ति का मूल्य बढ़ जाता है वहाँ राक्षस खत्म हो जाते हैं। राक्षसों से वह सहन नहीं होता था, इसलिए वे यज्ञ का विध्वंस करते थे। राक्षसों की विचारधारा के अनुसार व्यक्ति का व्यक्ति के रूप में मूल्य नहीं बढ़ना चाहिए। यह उनका सिद्धान्त है। यज्ञ के कर्मकांड को रखकर, यज्ञ में जो कृति-भक्ति है उसीको नष्ट किया तो फिर यज्ञ का प्रत्यक्ष विध्वंस करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। वह अपने आप नष्ट हो जाता है। यही काम राक्षस करते थे। कंस के मंत्रिमण्डल ने कंस को ऐसी सलाह दी।

जिस प्रकार यज्ञ नष्ट करने के लिए कहा, वैसे ही वेदों का भी ध्वंस करने को कहा। उन्होंने पद्धतिनुसार प्रचार किया। वेद, वेद क्या है? **'त्रयो वेदस्य कर्तारः**

धूर्तभाण्डनिशाचराः' वेद किसने बनाये हैं? ब्राह्मणों, जो धूर्त भाण्ड, निशाचर हैं उन लोगों ने वेद बनाये हैं। क्यों बनाये?

'बुद्धिःपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिताः' बुद्धि और पौरुष जिनके पास नहीं, उनकी जीविका कैसे चलेगी? इसलिए उन्होंने वेदों का निर्माण किया है, ऐसा वे कहते थे। राक्षस वेदों को जलाते हैं यानी वेदग्रंथों को जलाते हैं ऐसा नहीं है। वे वेदों में जो जीवनदृष्टि है उसको नष्ट करते हैं। वे कहते हैं, वेदों का काल आदिमानवों *(Primitive)* का काल था। उनके इस प्रचार के कारण ही आज के सभी शिक्षित लोग भी वैसा ही मानने लगे हैं। इनमें से किसीने भी वेद नहीं पढ़े हैं, वेदों पर कभी विचार ही नहीं किया। यज्ञों और वेदों को नष्ट करने के लिए राक्षस लोग ऐसा रूख अपनाते थे।

कंस का मंत्रिमण्डल कहता था कि यह कार्य करने के लिए मायावी रूप लेना पड़े तो वह भी लो। मायावी रूप लेने से दो बातें हो सकती हैं। एक विरोधी बनकर उनको खत्म करो अथवा अभ्यासी बनकर उनके विचारों को, विरुद्ध प्रतिपादन करके काट दो।' आपको मालूम है कि रामायण पर ये लोग *Research* कर रहे हैं? हमारे लोग उसका बहुत वर्णन कर रहे हैं। संशोधक बड़े चालाक हैं। एकाध व्यक्ति का वे वर्णन करते हैं, यह मनुष्य बहुत बुद्धिशाली है, विद्वान है, फलाँ फलाँ है आदि दस गुण लिखते हैं और अन्त में जो चार दुर्गुण (जैसे वह व्यक्ति हरामखोर है, बदमाश है और चोर है) ऐसे बता देते हैं कि ऊपर के दस गुण धुल जाते हैं। मायावी रूप लेकर वे वेदों का, रामायण का ऐसा संशोधन *(Research)* करते हैं। सीधा प्रहार करके अथवा मायावी रूप लेकर ऐसा संशोधन करके वे रामायण, वेद जैसे ग्रंथों पर आक्रमण करते हैं।

वे कहते हैं कि जीवन-व्यवहार में से वैदिक तत्त्वज्ञान और भक्ति निकाल दो और जीते रहो चिर काल तक! वे यह भी कहते हैं कि हम भक्ति के विरोध में नहीं हैं, परन्तु वैदिक विचारों की भक्ति नहीं होनी चाहिए। वे ऐसा कोई कानून नहीं करते परन्तु ऐसी कुछ तरकीबें करते हैं कि वैदिक विचार ही नष्ट हो जायेंगे, भक्ति में से प्राण ही चला जायेगा। फिर ऐसी भक्ति का जीवन पर कोई परिणाम ही नहीं होगा।

वसुदेव ने कंस को भक्ति करने को कहा, परन्तु भक्ति यानी क्या? गुरुवार के दिन दत्त भगवान को एक माला पहना दी और दिन भर उपवास रखा या एक बार खाना खाया क्या इतनी से ही भक्ति पूर्ण होती है? वेदों ने भक्ति बतायी है। जो भगवान से विभक्त नहीं है वह भक्त है, भक्त निरन्तर भगवान के साथ ही जुड़ा रहता है।

जिस प्रकार भक्ति खत्म करनी है वैसे श्रद्धा भी खत्म करनी है। मंत्रिमण्डल कहता था कि उनके श्रद्धास्थान ही बदल दो कि काम पूरा हो गया।

राक्षस किस तरीके से काम करते थे, इसका विश्लेषण भागवत में जैसा किया है वैसा अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता। दैवी विचार और देव (यानी भगवान) को जगत् में से हटाने के लिए क्या करना चाहिए इसका संपूर्ण विवरण इस मंत्रिमण्डल की सलाह में है।

वे लोग मन्दिर तोड़ने के लिए नहीं कहते। मन्दिर रहने दो। उनके पुजारियों को वेतन दो और मन्दिर के लिए वर्षासन दो। उसमें हमारा क्या जाता है? फिर भले ही लोग मन्दिर में जाते रहें, उससे कुछ बिगड़नेवाला नहीं है।

चौथे अध्याय के अन्तिम श्लोक में भागवतकार ने कहा है—

आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च।
हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः।। (भा.१०/४/४६)

(जो कोई बड़ों की अवज्ञा करता है उस पुरुष की आयु, संपत्ति, कीर्ति, धर्म, उत्तम लोक, उपभोग के विषय और सब प्रकार की हितकारक बातों का नाश होता है।)

महापुरुषों का-बड़ों का अपमान होने से आयु.... इत्यादि सबका नाश होता है यह सहज सिद्धान्त है। दैवी विचारों के लोगों में से यह सब चला जायेगा, तो सब समाप्त हो जायेगा। वेद जाने दो, यज्ञ जाने दो उनका रूप बदल दो फिर उनको यज्ञ करने दो। उसमें ब्राह्मण केवल स्वाहा, स्वाहा करते बैठेंगे तो युवक उनके खिलाफ हो जायेंगे वे कहेंगे कि हमें खाने के लिए घी चाहिए, आप लोग अग्नि में घी बेकार गँवा रहे हो यह नहीं चलेगा। इस प्रकार वे आपस में ही एक दूसरे को मारेंगे। ऐसा होने दो। उनकी प्रतिष्ठा कम करनी है। ब्राह्मण, यज्ञ, दैवी विचारों के विरोध में कैसे योजनाबद्ध प्रयत्न होते हैं उसका चित्रण भागवत में है। वैसा निर्णय मंत्रिमण्डल ने लिया है और उसी समय से ब्राह्मणों को छलना प्रारंभ किया है। यह सब एक दिन में थोड़े ही होता है? एक दिन में मानव को नहीं बदल सकते। उसको बदलने में कुछ समय लगता ही है।

लोग कहते हैं कि आज की प्रजा बिगड़ी है। लोगों को पता नहीं है कि वर्षों से प्रजा बिगड़ती आयी है और आज उनको पता चला है। आज कितने ही लोग कहते हैं, 'सब गधे बन गये हैं।' तब मैं उनसे कहता हूँ कि तनिक सँभालकर बोलो कारण वह तुम्हारी ही सन्तान है। इसलिए ऐसा बोलना बेकार है। आरंभ से बरतन गिरता आया है और अन्तिम सीढ़ी पर जब 'ठम्' आवाज आयी तब उन्हें पता चला है।

भागवत में इसका वर्णन बहुत सुंदर किया गया है। वह समझ लेंगे तो भगवान के अवतार का रहस्य समझेंगे। कंस के मंत्रिमण्डल ने जो निर्णय लिया आज की भाषा में कहना हो तो उसकी पार्लियामेंट का वह प्रस्ताव है। मंत्रिमण्डल ने सर्व प्रथम, कंस के दिमाग से डर निकाला है। उन्होंने कहा, देवता कुछ नहीं कर सकते। हम प्रभावी बनेंगे तो देवता क्या कर सकते हैं? उनको स्थान ही नहीं रहेगा। देवताओं के जो स्थान हैं, बैठकें हैं उनको ही हटा दो। फिर देवता रहेंगे कहाँ?' देवताओं के स्थानों पर प्रहार करने चाहिए और वे किस प्रकार करने हैं, वह सब मंत्रिमण्डल ने कहा।

राक्षस भी वेदों का अभ्यास करते हैं, संशोधन भी करते हैं। हम जैसे वर्णन करते हैं कि 'देखो, रूस में भी वेदों का अभ्यास चलता है, रूसी भी वेदों का संशोधन करते हैं।'

रूस में वेदों का अभ्यास होता है, पर हमारे यहाँ क्यों नहीं होता? ऐसा उनको कहना चाहिए। मायावी रूप से यह सब करने का मंत्रिमण्डल ने निर्णय लिया। इतना ही नहीं उसी दिन से क्रियान्वयन करने का प्रारंभ किया। जहाँ जहाँ 'सत्' दिखायी देगा वहाँ पर किस प्रकार प्रहार करना है उसकी निश्चित रूप में व्यवस्था की। इधर ऐसी व्यवस्था की गयी और उधर गोकुल में कृष्ण बड़ा हो रहा है। भागवतकार ने कृष्णलीला भी लिखी है।

नंद के घर में प्रभु का बाल्योत्सव हुआ। प्रभु के बाल्य को नमस्कार करना चाहिए। हम भी नमस्कार करेंगे। प्रभु का बाल्यकाल अद्‌भुत है। प्रभु रामचन्द्र का बाल्यकाल किसीको याद भी नहीं आता। प्रभु रामचन्द्र का बाल्यकाल बालकाण्ड में बंदिस्थ है। प्रभु रामचंद्र बालक थे ऐसा दिमाग में आता ही नहीं है। ईसा मसीह जैसे धर्मोपदेशक या धर्मसंस्थापक अथवा बुद्ध भगवान जैसों का बाल्य प्रौढ़ता ने समाप्त कर लिया है। इसलिए उनका बाल्यकाल आँखों के सामने आता ही नहीं। कृष्ण का बाल्यकाल घर घर में घूम रहा है। एक ही ऐसा तत्त्वज्ञानी *(philosopher)* है जिसका बाल्यकाल इतना सुमधुर, सुन्दर, मनोहारी और आकर्षक है और वह है कृष्ण। राम किसी दिन बालक था ही नहीं। बुद्ध छोटा था ही नहीं, बच्चा था ही नहीं। हमारी दृष्टि के सामने वह आ ही नहीं सकता। ईसा मसीह का बचपन हम लोगों को मालूम ही नहीं है, याद नहीं है। उसमें हमें रुचि भी नहीं है। परन्तु कृष्ण का बाल्यकाल घर घर में है। उसके बचपन के चमत्कारपूर्ण जीवन का पूर्ण परिचय होता है।

जगन्नाथ का पालन-पोषण गुप्त रीति से हुआ यह एक आश्चर्य है। गुजरात का नाथ कौन है? द्वारकानाथ! जगत् का नाथ जगन्नाथ है। जो विश्व को सँभालनेवाला है, द्वारकानाथ, जगन्नाथ है उसका पालन-पोषण गुप्त होता है यह एक आश्चर्य है। परन्तु उसमें आश्चर्य करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उसका निवास ही गुप्त है। आज भी सर्वत्र प्रभु है। 'आसपास, आकाश में, अन्तर में आभास - घास चासके पास भी विश्वपति का वास' ऐसा नरसी मेहता कहते हैं। इतना होने पर भी प्रभु गुप्त ही हैं, वे व्यक्त हैं ही नहीं। उनको व्यक्त करना मुश्किल है, समझना कठिन है, निकालना मुश्किल है। ऐसे जगन्नाथ का पालन-पोषण गुप्त रीति से होता है।

कितनी गुप्तता है? भागवतकार ने यह सुंदर रीति से दिखाया है। नंद वार्षिक कर भरने के लिए मथुरा गये। वहाँ उनसे वसुदेव मिले। दोनों दोस्त हैं। एक दूसरे के साथ बातें करते हैं। उनमें नंदजी के यहाँ पुत्र हुआ इसकी वसुदेव बधाई देते हैं। वसुदेव के पुत्र मारे गये इसका नंद दुःख व्यक्त करते हैं, सब बातें करते हैं, फिर भी वसुदेव नंद के साथ यह बात नहीं करते हैं कि कृष्ण को वे वहाँ (नंद के घर) छोड़कर आये हैं। वसुदेव उच्च श्रेणी के राजनीतिज्ञ *(Top class politician or statesman)* हैं। वसुदेव अवसर देखकर दौड़नेवाले अक्रूर जैसे नहीं थे। अक्रूर अवसरवादी *(opportunist)* थे। इसीलिए तो वसुदेव को बंदीखाने में जाना पड़ा।

वसुदेव के प्रति कृष्ण के अन्त:करण में अपार प्रेम और आदर था। हमारी आँखों के सामने 'साले ने जेल में डाला है' ऐसे ही वसुदेव आते हैं। उन्होंने केवल बालकों को पैदा किया, इसके अलावा दूसरा कोई उनका जीवन कार्य हमारी आँखों के सामने आता ही नहीं। वास्तव में वसुदेव का जीवन महान् है। उन्होंने नंद को तीन-तीन बार कहा है कि कृष्ण को सँभालना, खतरा बहुत है। व्रज में तो बहुत बड़ा भय है इसलिए कृष्ण को सँभालना। परन्तु नंद उसका अर्थ नहीं समझता। उनको यही लगता है कि मेरा पुत्र छोटा है इसलिए सँभालने को कहते हैं।

कृष्ण की बाल्यावस्था का सर्वप्रथम कर्तृत्व पूतना को मारना है! गोकुल तथा व्रज के सभी नवजात बालकों को मारने के लिए पूतना की नियुक्ति की गयी थी। उसका स्तनपान करने पर बालक मर जाते थे। अपनी स्वाभाविक दुष्टता के कारण पूतना ने कृष्ण को अपनी गोद में लेकर स्तनपान कराना शुरू किया। परन्तु कृष्ण ने उसके स्तनों को चूसकर उसके प्राण ही खींच लिये और पूतना को सद्गति मिल गयी ऐसा भागवतकार का कहना है। पूतना दुर्गंधयुक्त थी वह सुगंधयुक्त बन गयी। यह नैसर्गिक है, कारण कृष्ण भगवान के हाथों से उसकी मृत्यु हुई, उसको सद्गति मिली।

उसके बाद शकटासुर की कथा है। गोपाल केवल खेती करनेवाले देहाती लोग नहीं थे। वे गोरस बेचनेवाले थे। अत: स्थलान्तर करनेवाली जनजाति थी, बारबार स्थलान्तर करती थी। उसका भागवत में वर्णन है।

गोपालों की बैलगाड़ी कैसी थी, उस पर कौन और कैसे बैठते थे, पीछे कौन रहते थे, आगे कौन रहते थे इसका संपूर्ण वर्णन भागवतकार ने सुंदर रीति से किया है। एक जनजाति जिसको अंग्रेजी में *Tribe* कहते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते समय क्या क्या करती है, कितनी दक्षता रखती है, उस पूर्ण दक्षता की कल्पना का भी संपूर्ण वर्णन भागवत में किया गया है।

एक बार कृष्ण भगवान के करवट बदलने का अभिषेक-उत्सव मनाया जा रहा था। आवश्यक विधि संपन्न हो जाने पर यशोदा ने देखा कि कृष्ण को नींद आ रही है। अत: उसने छकड़े के नीचे लटकाये हुए पालने में सुला दिया और स्वयं अन्य कार्य में जुट गयी। बीच में ही कृष्ण भगवान की आँखें खुल गयीं और भूख के कारण वे स्तनपान के लिए रोने लगे। यशोदा माता शीघ्र न आने से वे रोते-रोते अपने पाँव उछालने लगे। उनके छोटे से पाँव का धक्का लगते ही वह विशाल छकड़ा उलट गया, उसमें रखे हुए सब पदार्थ इधर-उधर बिखर गये। छकड़े के पहिये तथा धुरे अस्त-व्यस्त हो गये, उसका जुआ फट गया। बालक को वह छकड़ा राक्षस जैसा लगा इसमें कोई सन्देह नहीं। शकटासुर राक्षस था ऐसा लगा, परन्तु वह छकड़ा ही था।

महाभारत में भीष्मपर्व में शिशुपाल ने कृष्ण की बचपन की क्रियाओं का उपहास करते हुए शकटासुर-वध के सम्बन्ध में कहा कि **'चेतनारहितं काष्ठं यदनेन निपातितम्।'**

चेतनारहित काष्ठ के छकड़े को कृष्ण ने उलट दिया इसमें उसका क्या कर्तृत्व था? उसमें कृष्ण ने कौनसी बड़ी बात की है? उसमें कृष्ण का क्या पराक्रम है!

शकटासुर के बाद तृणावर्त असुर की कथा आती है। तृणावर्त का अर्थ है आँधी! आँधी से संपूर्ण गोकुल अस्त-व्यस्त हुआ और उस समय कृष्ण कहीं दिखायी नहीं दे रहे थे। कहाँ चले गये किसीको पता नहीं। आँधी में धूल उड़ रही थी, सबकी आँखें बंद हो गयी, खुलती ही नहीं। कृष्ण न दिखायी देने से माँ की क्या स्थिति हुई होगी इसका भी चित्रण भागवतकार ने किया है। भागवतकार की लेखनी ही अतिशय सुंदर है। संस्कृत भाषा मनोहारी है और भागवतकार की लेखनी रमणीय है, परन्तु कितनी ही बातें ऐसी होती हैं कि उनका भाषान्तर करने से उनका स्वाद ही चला जाता है। लोग कहते हैं कि भाषान्तर करो, परन्तु मैं हमेशा कहता हूँ कि जो कुछ लिखा है वह उसी भाषा में पढ़ना चाहिए, उसी में उसकी महत्ता है। भाषान्तर से उसमें अन्तर आ जाता है।

माँ आकुल-व्याकुल हुई परन्तु अन्त में कृष्ण मिले। इस प्रकार भिन्न-भिन्न आपत्तियाँ आती थीं और कृष्ण हँसते मुँह से सब सहन करते थे। आयी हुई सभी आपत्तियों, मुश्किलों में से हँसते-हँसते पार पड़ते थे।

इतने में एक प्रश्न वसुदेव के मन में खड़ा हुआ। जो जन्म लेता है, उसके संस्कार होने चाहिए। कृष्ण के संस्कार होने चाहिए, परन्तु वे जिस समाज में रहते हैं उन गोपालों में संस्कार करने की पद्धति नहीं थी। अब क्या करना चाहिए? कृष्ण के जातकर्म आदि संस्कार होने चाहिए। हम गणपति की स्थापना करते हैं, उसमें भी संस्कार करते हैं। सोलह संस्कार हैं, उनमें से पन्द्रह संस्कार करने होते हैं और अन्तिम सोलहवाँ संस्कार मृत्यु होने पर श्मशान में होता है। भगवान भी जब सगुण साकार बनकर आते हैं तो उनके भी संस्कार करने चाहिए। कारण **'संस्कारात् द्विज उच्यते।'** अतः कृष्ण के भी संस्कार होने चाहिए ऐसा वसुदेव को लगता था। उनको लगा कि मेरा लड़का है और उसके संस्कार न हों तो कैसे चलेगा? इसलिए वसुदेव ने गर्गाचार्य को नंद के पास भेजा। यह बहुत ही सुंदर घटना है।

गर्गाचार्य को भेजते समय वसुदेव ने उनसे कहा कि जो क्षत्रिय कुलोचित संस्कार हैं, वे सभी करने हैं, परन्तु ये संस्कार किसीको भी पता न चलें इस तरह करने हैं। इसीमें आपकी चतुराई है।

फिर गर्गाचार्य नंद के घर गये। नंद उनका यथोचित स्वागत करके पूछा 'आपका हमारी इस कुटिया में आगमन कैसे हुआ?' गर्गाचार्य ने कहा, 'ऐसे ही, सहज आया हूँ।'

गर्गाचार्य ज्योतिषशास्त्री थे, पण्डित थे। वे हमारे जैसे पण्डित नहीं थे। हम तो किसी को भी 'पण्डित' शब्द लगाते हैं। गर्गाचार्य सच्चे अर्थ में पण्डित थे। वे भूत-भविष्य जान सकते थे।

नंद ने गर्गाचार्य के पास बैठकर बातें शुरु की। नंद ने कहा, लड़कों के संस्कार तो होने ही चाहिए, परन्तु हमारे यहाँ कोई संस्कार नहीं करते। क्या आप मेरे लड़के के संस्कार करेंगे? मेरा लड़का तो अति तेजस्वी है। उसके संस्कार करेंगे आप?

गर्गाचार्य ने कहा, 'संस्कार तो मैं करूँगा, परन्तु, संस्कार करने के बाद क्या होगा? मैं यादवों का उपाध्याय हूँ। यादवों का उपाध्याय तुम्हारे यहाँ तुम्हारे लड़के का संस्कार कर रहा है यह बात कंस को मालूम पड़ी तो? कारण कंस की खुफिया पुलिस यादव और गोकुलनिवासी लोग एक ही हैं ऐसी मान्यता कंस के दिमाग में है। तुम तो वसुदेव के मित्र हो। कंस को इस बात का पता चलेगा तो उसके दिमाग में एक बड़ा वहम खड़ा होगा कि मेरा शत्रु गोकुल में बढ़ रहा है, ऐसा मैंने सुना है, तो यह शत्रु नंद के ही घर में है। फिर तुम पर आपत्ति न आनेवाली हो तो भी आयेगी। तुम्हारे लड़के के सभी संस्कार तो होने ही चाहिए। क्यों न हों?' गर्गाचार्य प्रेम से क्या कहते हैं, मालूम है? वे कहते हैं, 'भगवान जैसा पुत्र तुम्हारे यहाँ आया है, तुम्हारे यहाँ उसके संस्कार नहीं होंगे तो कहाँ होंगे? संस्कार के योग्य कुल कोई होगा तो तुम्हारा ही कुल है, परन्तु मैं संस्कार नहीं करूँगा। कारण संस्कार करूँगा तो किसीको पता चल जायेगा और बात जाहीर हो जायेगी। ऐसा होगा तो तुम्हारे लड़के के लिए परेशानी होगी।'

नंद ने कहा, 'आप ही तो कहते हैं कि प्रत्येक मानवदेहधारी जीव के संस्कार होने ही चाहिए। आप यदि संस्कार करने के लिए तैयार हैं तो हम छुपकर संस्कार करेंगे, उसमें क्या है?'

तब गर्गाचार्य कहते हैं, 'तुम्हारा तो इकलौता लड़का है और उसमें भी वह तुम्हारा अत्यन्त लाड़ला है। उसके संस्कार करने हों तो कुछ धांधल-गड़बड़ होगी ही और बात प्रकट हो गयी तो कंस तुम्हारे लड़के को छोड़ेगा ही नहीं! इसलिए मैं ना कहता हूँ।'

नंद ने कहा, 'हम उसके सब संस्कार गुप्त निजी गोशाला में ही करेंगे, जिससे किसीको पता ही न चले, पर संस्कार तो होने ही चाहिए।'

नंद का आग्रह देखकर गर्गाचार्य ने संपूर्ण संस्कार किये। फिर नामकरण का प्रश्न आया। नामकरण तो करना ही चाहिए, मगर कैसे करें? रोहिणी का पुत्र था। यह रोहिणी का पुत्र सभी को आनंद देगा। गर्गाचार्य को भूत-भविष्य का सभी मालूम है न! जो सबको आनंद देनेवाला है, वह है राम! **'रमन्ते योगिनः अस्मिन् इति रामः'** योगी जिसमें मग्न होते हैं उसे राम कहते हैं। इसलिए उसका नाम 'राम' रखना मुझे अच्छा लगता है। दूसरी बात, वह अत्यन्त बलवान है, इसलिए 'राम' के साथ 'बल' जोड़कर उसका नाम 'बलराम' रखा। नंद ने कहा, आप जो नाम रखेंगे वह स्वीकार है।

नामकरण संस्कार चल रहा था। जहाँ नाम, रूप ही चले जाते हैं, ऐसे भगवान का नामकरण संस्कार चल रहा था। भागवत में यह सब वर्णन पढ़ते हैं तब गुदगुदी पैदा होती है। जो नामरूपातीत हैं, जिनका पालन-पोषण गुप्त होता है, उसके जातकर्म इत्यादि संस्कार

होते हैं। इसमें इन संस्कारों के पीछे पिता का अन्त:करण भी दिखायी देता है और गर्गाचार्य की चतुराई भी दीख पड़ती है। फिर आया दूसरा लड़का। इसका नाम क्या रखेंगे? गर्गाचार्य पूछते हैं तब नन्द कहते हैं कि आप तो ज्योतिषशास्त्रवेत्ता हैं। इसलिए इसका भी नाम आपको ही रखना होगा। तब गर्गाचार्य कहते हैं, 'ठीक है। तुम कहते हो तो मैं नाम कहता हूँ। मुझे तो यह लड़का भगवान जैसा लगता है।' यह सुनकर कौन से पिता को खुशी नहीं होगी? नंद को बहुत आनंद हुआ। गर्गाचार्य आगे कहते हैं, 'तुम्हारा यह लड़का कोई सामान्य लड़का नहीं है। वह भगवान जैसा है। भगवान ने अनेक अवतार लिये हैं। उनके भिन्न-भिन्न अवतार हैं। उनमें श्वेत, रक्त, पीत ये अवतार हो चुके हैं। अब एक कृष्णावतार होनेवाला है। कृष्ण यानी काला! मुझे तो लगता है कि अब जो अवतार होगा यह कृष्ण वर्ण का होगा। तुम्हारा लड़का कृष्ण वर्ण का है। दूसरी बात, **'कर्षति इति कृष्णः'** यह सबको आकर्षित करता है। अत: इसका नाम कृष्ण रखते हैं। तुम्हें कोई पूछेगा कि इसका नाम कृष्ण क्यों रखा? तो तुम्हें कहना है कि वह संपूर्ण गोकुल को अच्छा लगता है या नहीं? उसका वर्ण भी काला है, इसलिए कृष्ण नाम रखा है।' इस प्रकार गर्गाचार्य नन्द के दिमाग में सभी बातें, तर्कयुक्त *(Logically)* पहले ही भर देते हैं। जैसा कि भागवत में वर्णन किया है, गर्गाचार्य आगे कहते हैं कि तुम्हारा यह सुन्दर पुत्र पहले एक बार वसुदेव के यहाँ पैदा हुआ था, इसलिए उसको ज्ञाता लोग **'वासुदेव'** भी कहेंगे। यह वासुदेव बन जायेगा।

नन्द पूछते हैं, 'क्या वासुदेव होगा?' तो गर्गाचार्य कहते हैं, 'हाँ! वासुदेव होगा।' यह बहुत ही सुंदर वर्णन है। भोला और ग्रामीण नन्द तथा चतुर गर्गाचार्य इन दोनों का जो संभाषण है वह पढ़ने जैसा है। गर्गाचार्य की चतुराई से किसीको भी पता न चलते हुए सरलता से सभी संस्कार गोशाला में ही सम्पन्न हुए।

इसके बाद एक दूसरा वर्णन आता है, जो हमारा मन मोह लेता है। कृष्ण भगवान मिट्टी खाते हैं। यशोदा माता उनसे पूछती है, 'कृष्ण! तूने मिट्टी खायी है? तेरे ये सखा व भाई बलदेव भी कहता है।' कृष्ण ने कहा, 'माँ! मैंने मिट्टी नहीं खायी ये सब झूठ बोलते हैं।' यशोदा ने कहा, 'ऐसा? तो खोल तेरा मुँह, मुझे देखने दे!' माँ के कहने पर कृष्ण ने अपना मुँह खोल दिया। यशोदा उस मुख में संपूर्ण विश्व का दर्शन करती है ऐसा भागवतकार ने लिखा है। विश्वरूपदर्शन होने पर यशोदा को संपूर्ण तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई। तीन श्लोकों में उसका वर्णन है। यशोदा को यह सब यदि याद रहे तो यह नाटक अभी समाप्त हो जाता इसलिए यशोदा को विस्मृति लानी चाहिए। अत: यशोदा ने जो कुछ देखा था उस पर भगवान विस्मृति का पर्दा डाल देते हैं और यशोदा सब कुछ भूल गयी। क्योंकि प्रारंभ में उसे लगता था, 'मैं जो देख रही हूँ यह क्या है? क्या यह मेरा लड़का है? क्या मैं यह स्वप्न देख रही हूँ या कोई ईश्वरी माया देख रही हूँ? क्या मुझे भ्रम हो गया है?' फिर वह स्वयं कहती है कि 'नहीं! मुझे भ्रम नहीं हुआ है, परन्तु भगवान के सही रूप का दर्शन हुआ है।' ऐसा कहकर तीन श्लोकों में वह तत्त्वज्ञान कहती है। उसे

सुनकर भगवान को लगा कि मेरी माँ यदि तत्त्वज्ञानी बन जायेगी तो मुझे भगवान ही समझने लगेगी और यह सब नाटक यहीं समाप्त होगा। इसलिए भगवान ने उसे विस्मृति करायी है: कारण सभी बालक्रीड़ाएँ तो होनी ही चाहिए।

फिर एक प्रसंग आता है। यशोदा कृष्ण को ऊखल से बाँध देती है। कृष्ण ऊखल को अपने साथ घसीटते हुए समीप ही दो जुड़वा वृक्षों के बीच में चले जाते हैं, परन्तु ऊखल टेढ़ा होकर अटक जाता है। भगवान उसे जोर से खींचते हैं और जुड़वा वृक्षों की सारी जड़ें उखड़कर दोनों वृक्ष धराशायी होते हैं। ये दो वृक्ष नल-कुबेर व मणिग्रीव ये धनकुबेर के लाड़ले पुत्र थे। उनकी मुक्ति हो गयी। वे वहाँ कैसे आये, क्यों आये आदि वर्णन भागवत में है।

ऐसी घटनायें निरन्तर होती रहने से नन्द को लगा कि अब रहने का स्थान बदलना चाहिए, दूसरी कोई अच्छी जगह पसन्द करनी चाहिए। यहाँ तो एक के बाद दूसरी ऐसी घटनाएं होती जा रही हैं। यह जगह ही अच्छी नहीं है। ऐसी जमात के लोग इतने भोले होते हैं कि उनको ऐसा लगना सहज है।

कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि नया फर्निचर घर में लाने के बाद घर में कुछ खराब प्रसंग आया, बुरी बात हो गयी तो तुरन्त नया लाया हुआ फर्निचर बेच देते हैं। अरे! फर्निचर ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? जो प्रसंग आया वह तुम्हारे कर्म के कारण ही आया है, उसे फर्निचर क्या करेगा? परन्तु मनुष्य को ऐसा लगने लगता है कि जब से फर्निचर लाया है तब से आपत्ति खड़ी हुई है, अत: यह फर्निचर ही घर में नहीं चाहिए।

दुर्घटनाओं को देखकर नन्द भी दूसरी जगह पसन्द करते हैं। गोकुल छोड़कर वृन्दावन जाते हैं। इसका वर्णन भागवतकार ने बहुत सुंदर तरीके से किया है। उसमें स्थलान्तर करनेवाली जमात कैसे स्थलान्तर करती है और उस समय क्या क्या होता है उसका सुंदर वर्णन पढ़ने को मिलता है।

नन्द गोकुल से वृन्दावन आ गये और वहाँ रहने लगे। वृन्दावन को वे लोग 'नया गोकुल' कहने लगे। जिस प्रकार मुम्बई और नयी मुम्बई हम कहते हैं वैसा नया गोकुल बसाया होगा। वृन्दावन में भी दो-तीन घटनाएं हो गयी थी। बकासुर, अघासुर आते थे। अजगर के रूप में राक्षस आता था। यह एक मानसशास्त्रीय चमत्कार है। अभ्यास करनेवाले लोगों के लिए इसे कहता हूँ। पिछली स्मृति कैसे चली जाती है उसका सुंदर वर्णन है। जो राक्षस था वह अजगर के रूप में आता है और उसको मारने में एक साल बीत गया। परन्तु एक साल बीत गया उसकी गिनती करने में कुछ घोटाला हो जाता है और उसमें एक वर्ष बढ़ जाता है। यह एक वर्ष गोकुल को कैसे सँभाला? एक साल कहाँ गया? उस समय की बातें रीपवान विंकल जैसी लगती हैं। परन्तु यह मानसशास्त्रीय होने से विस्मृति हो गयी है।

उसके बाद धेनुकासुर आता है। उसे बलराम मार देता है। अलग-अलग राक्षस कृष्ण को मारने के लिए आते हैं। उनको मार दिया जाता है। फिर कालिया मर्दन की कथा आती है। यमुना में एक कुण्ड था, उसका जल विषैला बना था, उसे कोई पी नहीं सकता था। उसके समीप भी कोई नहीं जा सकता था। उस जल को शुद्ध बनाने के लिए कृष्ण भगवान उस कुण्ड में कूद पड़े। अन्दर जाने के बाद दिखायी नहीं दिये। उन्होंने यह आपत्ति स्वयं ही अपने ऊपर ली। इस बात का पता चलते ही संपूर्ण गोकुल आकुल-व्याकुल हो गया। पशु-पक्षियों की भी अत्यन्त दीन अवस्था हुई। इसका कारण कृष्ण भगवान ने सभी को प्रेम दिया था। हमें तो शंका नहीं है कि **कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्।** अतः कृष्ण के न दीख पड़ने पर गायें घास भी नहीं खाती। कृष्ण सो गये हैं ऐसा किसीने कहा तो भी नहीं चलता, कारण उन्होंने कृष्ण को कुण्ड में कूदते हुए देखा था। वृक्ष, वनस्पति, पशु-पक्षी, लोग सबकी कैसी अवस्था हुई उसका बहुत सुंदर वर्णन भागवतकार ने किया है। अन्त में कालिया नाग को हराकर उसे समुद्र में जाने के लिए छोड़ दिया उस समय नागपत्नियाँ कृष्ण का वर्णन करती हैं कि, 'आपने हम पर अनुग्रह किया है। भगवान! दुष्ट और सुष्ट दोनों आपही के पुत्र हैं। आप तो सभी पर अनुग्रह करते हैं। कालिया को हराकर आपने हम पर भी अनुग्रह किया है।

इसके बाद बीस-इक्कीसवें अध्याय में वर्षा और शरद ऋतु का वर्णन है। क्योंकि भागवतकार को रासक्रीड़ा की ओर आना है। इसलिए इन दोनों ऋतुओं का अति काव्यमय वर्णन है। वह इतना सुन्दर है कि उसकी कोई उपमा नहीं है। संस्कृत काव्य में भी उपमा नहीं है। यह वर्णन अतिशय अनुपम है। उसका साहित्यिक मूल्य *(Literary value)* भी बहुत है। उसके बाद चौबीस और पचीसवें अध्याय में गोवर्धन-पूजा आती है।

गतानुगतिक इन्द्र-पूजा चलती थी। कृष्ण भगवान के आग्रह से वे लोग इन्द्रपूजा छोड़ देते हैं और गोवर्धन की पूजा करते हैं। कृष्ण भगवान उनसे कहते हैं :

अतियजेत निजां यदि देवतामुभयतश्च्यवते जुषतेऽप्यधम्।
क्षितिभृतैव सदैवतका वयं वनवताऽवनता किमहिद्रुहा।।

तुम्हें अति दूर रहनेवाले इंद्र की पूजा क्यों करनी है? इन्द्र ने हमें क्या दिया है? कुछ भी नहीं! यदि इन्द्र भगवान हमें कुछ नहीं देता है तो हमें उसकी पूजा क्यों करनी है? हम गोवर्धन-पूजा करेंगे।' कृष्ण के कहने पर गोपों ने गोवर्धन की पूजा की। उसके बाद घनघोर वर्षा होती है। उस समय गोवर्धनपर्वत के माध्यम से श्रीकृष्ण भगवान ने उसे सँभाला। कृष्ण भगवान ने अंगुली पर गोवर्धनपर्वत उठाया। उसमें चमत्कार का वर्णन है। ऐसे चमत्कारों का वर्णन होना चाहिए या नहीं? होना ही चाहिए। क्यों नहीं?

इस सृष्टि में अनन्त चमत्कार हैं, परन्तु सामान्य मनुष्य के दिमाग में वे चमत्कार नहीं बैठते। जिन्होंने पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूतों का अभ्यास किया होगा, उनको मालूम होगा कि प्रत्येक महाभूत है, उदाहरणस्वरूप, अग्नि महाभूतों में से एक महाभूत है, उसमें आठ आने

अग्नितत्त्व है और दो दो आने पृथ्वी, आप, वायु व आकाश तत्त्व हैं। ये सब मिलकर अग्नितत्त्व है। ये दूसरे तत्त्व यदि अग्नितत्त्व के साथ न हों तो अग्नितत्त्व नहीं दिखायी देगा। अग्नि में जलतत्त्व है। जलतत्त्व और अग्नितत्त्व एक साथ रहते हैं। यह कौन रखता है? क्या यह चमत्कार नहीं है? यह चमत्कार ही है। सृष्टि में ऐसे अनन्त चमत्कार हैं।

भगवान ने गुरुत्वाकर्षण से अनन्त गोल आकाश में उपग्रह पकड़ रखे हैं। परन्तु यह चमत्कार लोगों के मस्तिष्क में नहीं बैठता। शरीरविज्ञान में कितने चमत्कार हैं? चमत्कारों से भरा हुआ यह शरीर (मानव देह) है। स्त्री अथवा पुरुष के शरीर में अड़तालीस रंगपरमाणु होते हैं, परन्तु पुरुष के वीर्य में और स्त्री के रज में चौबीस रंग परमाणु होते हैं। ऐसा क्यों? इसका पता नहीं चलता। ऐसा नहीं होता तो? वीर्य *Semen* और रज *(Ovem)* में भी अड़तालीस रंग परमाणु होते तो दोनों मिलकर जो शरीर बनता है उसमें छयानबे रंग परमाणु हो जाते। वह न हो इसीलिए वीर्य और रज में चौबीस-चौबीस रंगपरमाणु होते हैं, जिससे बालक पैदा होता है उसके शरीर में अड़तालीस रंगपरमाणु रहते हैं। वैसा नहीं होगा तो पहली पीढ़ी में छयानबे, दूसरी पीढ़ी में एक सौ बयानबे ऐसा गुणाकार होता जायेगा। वीर्य और रज में चौबीस-चौबीस ही परमाणु क्यों होते हैं यह आज के विज्ञान को एक चुनौती *(challenge)* है। जिन्होंने रंगपरमाणु *(chromoson Theory)* का अभ्यास किया होगा उनको यह बात मालूम होगी। यह एक चमत्कार है, दूसरा क्या है? यह शरीर चमत्कारों से भरा हुआ है।

सृष्टि में प्राकृतिक चमत्कार कितने हैं। परन्तु मानवीरूप में आयी हुई शक्ति के द्वारा जब चमत्कार होते हैं तब भक्तिभाव खड़ा होता है। भागवतकार को भक्तिभाव ही खड़ा करना है। इसलिए ये चमत्कार हुए होंगे। अब प्रश्न इतना ही उठता है कि ये जो चमत्कार हुए वे सार्वजनीन थे ऐसा माना तो कंस बदल जाना चहिए था, कारण कंस, जरासंध, दुर्योधन ये सभी बुद्धिशाली लोग थे। ऐसे चमत्कार देखकर वे बदल जाने चाहिए थे। परन्तु वे नहीं बदले। क्यों? यह एक प्रश्न है। इसलिए इन चमत्कारों के सम्बन्ध में कुछ सोचना पड़ेगा। ऐसे चमत्कार प्रतिदिन सृष्टि में हुआ ही करते हैं, अतः उनसे व्याकुल होने की कोई आवश्यकता नहीं है। चमत्कार देखने चाहिए। भागवतकार ने भक्तिभाव जागृत करने के लिए ही उनका भागवत में वर्णन किया है।

मुझे यदि कोई पूछता है कि 'भागवत में जो चमत्कार लिखे हुए हैं वे हुए होंगे या नहीं?' तो मैं कहता हूँ कि भागवतकार ने जो लिखा है वे सत्य घटनायें हैं। वे हुई ही हैं। वे सत्य हैं। 'जो घटी हुई घटना है वही सत्य है' ऐसा ही तुम यदि समझते होंगे तो तुम्हें 'सत्य' का अर्थ ही मालूम नहीं है। घटी हुई घटना सत्य नहीं है। जो 'सत्' के पास ले जाता है वह सत्य है। भागवत में लिखे हुए चमत्कारों की घटनायें मनुष्य को भगवान की ओर, भगवान के पास ले जाती हैं। अतः वे सत्य हैं।

भगवान ने गोवर्धन पर्वत उठाया, इस चमत्कार से, घटना से मनुष्य को विश्वास हो जाता है कि जिसने पर्वत को उठाया है वह क्या मेरे जीवन का भार नहीं उठायेगा? अतः

वह घटना मनुष्य को सत् की ओर ले जाने से सत्य है। 'सत्य' का अर्थ जो हम समझते हैं कि, घटी हुई घटना सत्य है, वह झूठ है। **'सते हितं सत्यम्।'** 'सत्' की ओर ले जानेवाली घटना सत्य है। ईसा मसीह ने एक रोटी में दो हजार लोगों को जिमाया ऐसा लिखा है। यह घटना हुई होगी या नहीं मुझे मालूम नहीं है, परन्तु इस घटना को पढ़ने पर हजारों लोगों के अन्तःकरण में विश्वास निर्माण होता है और वे भगवान की ओर मुड़ते हैं। अतः वह सत् की ओर ले जानेवाली होने से सत्य है।

दूसरी बात, इस स्कन्ध में राक्षस, शकटासुर, बकासुर आदि लिखा है। सभी नैसर्गिक आपत्तियों के लिए राक्षस शब्द लिख सकते हैं। जो शकटासुर आया वह राक्षस जैसे लगा। वैसा किसीको भी लगता है। इसका कारण वह छकड़ा आदि लड़के पर गिरता तो क्या होता? वह राक्षस जैसे लगता है। वक्तृत्व में न्यूनोक्ति, अतिशयोक्ति और विकृतीकरण आते ही हैं। विविध वासनाओं के व्यंग्यचित्र का नाम राक्षस हो सकता है। आज जो व्यंग्यचित्र देखने में आते हैं, जिनको कार्टुन कहते हैं, उन व्यंग्यचित्रों के जैसा शरीर मूल व्यक्ति का नहीं होता। इसका कारण कार्टून-व्यंग्यचित्र कुछ समझाने के लिए होता है। इसी प्रकार विकृति दिखाने के लिए आपत्तियों को राक्षस कहा जाना ही संभव है।

पूतना का वर्णन है। उस पूतना के जैसी कोई स्त्री आयी भी होगी, इसमें सन्देह नहीं है। आपने सुश्रुत का वैद्यकशास्त्र पढ़ा होगा तो आपको पता होगा कि उसमें बालरोगों के भिन्न भिन्न नाम आये हुए हैं। उसमें शीतला आदि भी रोग हैं। उनमें 'पूतना' यह एक बालरोग का नाम है। यह रोग बालक को शीघ्रातिशीघ्र हैरान करता है, इतना ही नहीं रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। यह रोग कैसे निर्माण होता है इसका पता नहीं चलता। उसको आज की भाषा में कहना हो तो **'वायरस'** कह सकते हैं। जिस रोग के सम्बन्ध में बुद्धि नहीं चलती उसे डॉक्टर *Virus infection* कहते हैं। अर्थात् जिस रोग का कारण नहीं कहा जा सकता उसके सूक्ष्म जन्तु को चेप कहते हैं। उस समय गोकुल में 'पूतना' नाम का रोग आया होगा, उसमें से कृष्ण भगवान बच गये, इतना ही नहीं, उन्होंने पूतना को मार डाला ऐसा भी हुआ होगा। समझाने के लिए ऐसा लिखा होगा कि पूतना नाम की राक्षसी आयी।

आध्यात्मिक दृष्टि में पूत का अर्थ होता है 'पवित्र।' जो पवित्र नहीं है वह पूतना - पूत+ना। पूतना आयी वह घटना चतुर्दशी के दिन हुई है। भागवतकार ने अन्य किसी घटना की तिथि नहीं लिखी है, परन्तु पूतना की घटना की तिथि लिखी है। पूतना कब आयी? चतुर्दशी के दिन आयी। किसलिए आयी? तो जो चौदह बाते हैं उनमे पूतना-अपवित्रता घुस जाती है। ये चौदह बातें यानी पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इनमें अपवित्रता घुस जाती है और उससे दुर्गन्ध आने लगती है। कृष्णस्पर्श होने पर यह दुर्गन्ध चली जाती है। मगर तब तक अपवित्रता की दुर्गन्ध रहती है। भागवतकार ने यह समझाने के लिए पूतना की घटना की तिथि लिखी है।

शकटासुर के सम्बन्ध में **'चेतनारहितं काष्ठम्'** - ऐसा तो लिखा ही है। गृहस्थाश्रम की जो गाड़ी है, उस पर भगवान बैठने चाहिए। वह एक व्यंग्यचित्र है। गृहस्थाश्रमी जीवन में यदि भगवान को गौणत्व आयेगा तो भगवान यह नहीं स्वीकारेंगे और संसार समाप्त हो जायेगा। भगवान को कभी गौणत्व नहीं देना चाहिए। प्रत्येक गृहस्थाश्रमी को जीवन में भगवान को प्रथम स्थान देना चाहिए। हमारे जीवन में भगवान का अन्तिम स्थान है। तुम्हारी पहली मुलाकात भगवान से होनी चाहिए। *Your first appointment must be with God* - वैसा ही गोवर्धन पूजा द्वारा बताया गया है। भगवान ने गोवर्धन पर्वत की पूजा करने के लिए कहा होगा इसमें सन्देह नहीं है। उठाया भी होगा इसमें भी हमें संदेह नहीं है। उसी प्रकार अंगुली निर्देश करके भगवान ने उनको गोवर्धन पर्वत की गुहाओं में रहने के लिए कहा होगा। इन्द्र भगवान कितने दिन वर्षा करेगा? एक दिन, दो दिन, तीन-चार-छ-सात दिन करेगा। अन्त में उसे भी थक जाना तो चाहिए न! 'जब तक वर्षा होगी तब तक गोवर्धन पर्वत की गुहाओं में रहो' ऐसा कहा होगा। इस प्रकार सबकी व्यवस्था कृष्ण भगवान ने कर दी, ऐसा भी हो सकता है।

इंद्र भगवान ने भी वर्षा की होगी, परन्तु कृष्ण भगवान ने गोवर्धन पूजा करने के लिए कहते ही इंद्रपूजा के पक्षपाती लोगों ने क्रोध की वर्षा की होगी, यह भी संभव है। परम्परा को बदला जाता है तब परम्पराभिमानी लोगों का गुस्सा सहना ही पड़ता है। कितने ही लोग परम्परा के अभिमानी होते हैं। एकाध व्यक्ति परम्परा को तोड़कर दूसरे मार्ग पर चलने लगता है तब वे उस पर आग बरसाते हैं। ऐसा हुआ होगा, तब कृष्ण भगवान ने कहा होगा कि 'परम्पराभिमानी लोग गालियाँ देंगे तो देने दो। कितने दिन वे गालियाँ देंगे?'

गोवर्धन का अर्थ **गवां छेदनस्थानम्** यानी गोछेदन का स्थान। वर्धन शब्द का अर्थ जैसे 'बढ़ाना' होता है वैसे दूसरा अर्थ होता है 'काटना।' आप मद्र-देश-मद्रास की पुरानी परंपरा देखेंगे तो वहाँ गायों को कत्ल करने के कारखाने थे। वे लोग गोमांस भक्षण करते थे। इसलिए **'गवां छेदनस्थानम्'** को बदलकर कृष्ण भगवान ने **गवां संवर्धनस्थानम्** - गायों का संवर्धनस्थान बना दिया होगा। लोगों के मुँह में एक बार गोमांस का स्वाद लग गया हो तो उनके मुँह में से गोमांस खींच लेना अर्थात् उनको गोमांसभक्षण से परावृत्त करना आसान बात नहीं है। कृष्ण भगवान ने गोसंवर्धन-स्थान बनाने पर उनको सात दिन तक जूझना पड़ा होगा।

एक काल ऐसा था कि उस समय यज्ञ में मनुष्य-वध होता था। उनको लगता था कि मनुष्य का वध करके अग्नि में उसकी आहुति देनी ही चाहिए। उसके बिना यज्ञ पूर्ण ही नहीं होता। यह मनुष्यबध रोकने के लिए ऋषियों को कितना काम करना पड़ा है। इन लोगों की धार्मिक श्रद्धा *(Religious faith)* का प्रश्न था, उसका समाधान करने के लिए ऋषियों को भी लोगों को समझाना पड़ा, कितनी ही तरकीबें करनी पड़ी। ऋषियों ने उन्हें कहा, 'तुम्हें मनुष्य की ही आहुति देनी है न? तो तुम विश्वामित्र की सृष्टि के मनुष्य की आहुति दो!' उसके लिए विश्वामित्र की कथा खड़ी करनी पड़ी। विश्वामित्र प्रतिसृष्टि निर्माण

करते थे। उसमें जो मनुष्यरूप नारियल था! नारियल की आँखें हैं, चोटी है, सब कुछ है। बीच में ही प्रतिसृष्टि निर्माण हुई तो गड़बड़ी पैदा होगी, अत: ब्रह्मदेव ने प्रतिसृष्टि निर्माण करने का काम बंद कराया। 'तुम्हें मनुष्यवध ही करना है तो अग्नि में विश्वामित्र की प्रतिसृष्टि का मनुष्य यानी नारियल ही होम दो' यह बात वे लोग मान गये। तबसे यज्ञकुण्ड में नारियल होमने की प्रथा प्रारंभ हुई। नारियल का हवन किये बिना यज्ञ पूर्ण नहीं होता।

भगवान के सामने भी उसी प्रकार नारियल फोड़ा जाता है। वह भी मांसाहार का ही प्रतीक है। नारियल की चोटी का भाग भगवान को देना है और नीचे का भाग प्रसाद के रूप में घर ले जाना है। इस प्रकार की पद्धति है। इस प्रकार गोवर्धनपूजा करके कृष्ण भगवान ने गायों का यज्ञीय बलिदान रोक दिया। इसीलिए क्षत्रिय **गोब्राह्मणप्रतिपालक** कहलाये।

गवां छेदनस्थानम् - गोवर्धन - यज्ञ के रूप में गायों की बलि दी जाती थी। इंद्र भगवान के यज्ञ में गायों की आहुति दी जाती थी। वह कृष्ण भगवान ने बंद कर दी। गोवध करनेवालों के साथ उनको लड़ना पड़ा। कृष्ण भगवान ने गोवर्धन पर्वत उठाया ऐसा जो वर्णन है उसका अर्थ **'गवां छेदनस्थानम्'** के बदले **'गवां वर्धनस्थानम्'** कर दिया। संक्षेप में कहना हो तो यज्ञ के रूप में जो गोवध होता था वह बंद कर दिया और गोसंवर्धन खड़ा किया। आज भी उसके कुछ चिह्न हैं। जिस प्रकार मनुष्य-यज्ञ के चिह्नरूप में नारियल होमा जाता है वैसा यज्ञ में गोमुख होना चाहिए ऐसा आग्रह रखते हैं। यह सब करने के लिए कृष्ण भगवान को कितना जूझना पड़ा होगा?

कृष्ण ने कहा, 'तुम गाय को मारते हो, यह अच्छी बात नहीं है। गाय तो हम सबकी माँ है।' ऐसा कहकर गाय का संरक्षण किया। उस समय से शिवाजी के काल तक क्षत्रिय **'गोब्राह्मणप्रतिपालक'** का विरूद लगाते थे। शिवाजी के समय का वर्णन है, **'उद्दण्ड जाहले पाणी स्नान सन्ध्या करावया।'** अर्थात् स्नानसंध्या करने के लिए विपुल जल हुआ। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके पहले जल नहीं था। रामदास स्वामी ने यह जो लिखा है उसका अर्थ यह है कि पहले निश्चितता से विशुद्ध रीति से स्नानसन्ध्या नहीं हो सकती थी। कहाँ से मुसीबत आ पड़ेगी वह निश्चित नहीं था। शिवाजी के कर्तृत्व से वह चिन्ता दूर हो गयी ऐसा उन्होंने समझाया है। इसी प्रकार गोवर्धनपूजा का लेखन है। 'कृष्ण भगवान ने गोवर्धन पर्वत उठाया' इसके ऐसे भिन्न भिन्न अर्थ हैं।

कृष्ण भगवान ने चमत्कार किये होंगे या नहीं? किये होंगे। हमारा वैसा विश्वास है। यशोदा को उन्होंने विस्मरण भी किया होगा, उसमें क्या है? वह व्यंग्यचित्र भी हो सकता है। परन्तु इसके लिए संशोधन की आवश्यकता है। संशोधन करेंगे तो पता चलेगा कि कृष्ण भगवान ने ऐसे चमत्कार नहीं दिखाये हैं। भागवतकार चमत्कारों का वर्णन करते हैं, परन्तु वे लाक्षणिक भाषा में लिखते हैं। 'लक्षणारूप में लिखता हूँ' ऐसा भागवतकार ने स्वयं अपने मुँह से, पुरंजन के आख्यान कहते समय स्वीकार किया है। ऐसी हमारी लेखन-शैली है। हम समय क्या बतायेंगे? भागवत में लिखा है वह सत्य है। संशोधन करके कोई मुझे

पूछेगा कि ये सब घटनायें क्या सत्य हैं? तो मैं कहूँगा कि शत प्रतिशत सत्य है, कारण उन घटनाओं से भगवान के प्रति भाव बढ़ता है।

परित्यक्त जो गोप हैं, उनके पास कोई नहीं जाते थे। अत: जातकर्म कैसे करना? जातकर्म के लिए गर्गाचार्य को गुप्त भेजना पड़ता था इस पर से उस समय की धार्मिक स्थिति का भी पता चलता है कि बिना क्षत्रियों के, अन्य किसीके जातसंस्कार आदि नहीं होते थे। उसी प्रकार, उस जमाने में इंद्र भगवान के यज्ञ में गायों की आहुति देने की प्रथा कृष्ण भगवान ने बंद करायी है। इसमें कुच्छ भी मनगढ़ंत नहीं है, वस्तुस्थिति दर्शायी गयी है।

उसके बाद रासक्रीड़ा का अलौकिक वर्णन आता है।

दशम स्कन्ध के बीसवें अध्याय में वर्षा ऋतु और शरद ऋतु का अतिशय सुन्दर काव्यात्मक वर्णन है। उसके बाद इक्कीसवें अध्याय में श्रीकृष्ण की मधुर मुरली के निनाद से संपूर्ण गोकुल, खास करके गोपियाँ कैसे पागल बनीं, इसका मनोहर वर्णन है। वह प्रवचन का विषय नहीं है। उस वर्णन को पढ़ना चाहिए व समझना चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण की मुरली देखो। एक बाँस का टुकड़ा पड़ा होगा, उसे उठाया और उसमें प्राण फूँक दिये। हम भी पड़ जाते हैं। पड़े हुए, गिरे हुए हमें भी भगवान किसी दिन उठाते हैं। भगवान ने बाँस के टुकड़े में प्राण भरे, भाव भरे इसलिए उसमें मनोहारित्व आया। भगवान की दो मुरलियाँ प्रसिद्ध हैं। एक मुरली उन्होंने गोकुल में बजायी और दूसरी मुरली कुरुक्षेत्र-मुरली थी जो कुरुक्षेत्र में बजायी वह ज्ञान-मुरली गीता है। इनमें जो भावमुरली है वह अखिल प्राणिमात्र के अन्त:करण को मोहित करनेवाली है। उसके पीछे सारा गोकुल पागल बना था। अलग-अलग श्लोक में अलग-अलग बातें लिखी हुई हैं।

एक गोपी कहती है, 'तुम्हारे मुखकमल के दर्शन से आँखें, तृप्त व प्रसन्न होती हैं, परन्तु आज तक कान कृतार्थ नहीं हुए थे।' भगवान ने जब मुरली बजायी तब कान भी कृतार्थ हो गये। केवल आँखें कृतार्थ बनकर नहीं चलता, 'इस मुरली का कितना भाग्य होगा? है तो बाँस की, मगर भगवान के अधरों तक पहुँच गयी।' यह सब वर्णन संस्कृत में पढ़ना चाहिए। वह संस्कृत लोगों के लिए ही है। कितने ही कहते हैं, 'हमें संस्कृत नहीं आती। उनसे कहना चाहिए कि तुम असंस्कृत हो। जिसे संस्कृत नहीं आती है उसे सुसंस्कृत कैसे कहा जाय? जीवन, काव्य, सौन्दर्य, पौरुष, तेज, मोक्ष वगैरे तक के सभी भाव तथा रस यदि किसी भाषा में भरे हुए हों तो वे संस्कृत भाषा में ही भरे हुए हैं। इसलिए मूल संस्कृत में ही पढ़ना चाहिए।

तीसरी एक गोपी कहती है, 'वृन्दावन की धूल भी सार्थक हो गयी है, क्योंकि उसे भगवान की मुरली सुनने को मिली है।' संपूर्ण गोकुल मुरली के पीछे पागल बन गया था। जब मुरली के सूर सुनायी देते थे तब गाय, हिरन जैसे पशु भी स्तब्ध रहकर उन

सूरों को सुनते थे। वे खाना भी छोड़ देते थे। इतना ही नहीं, गाय के बछड़े को यदि गाय का स्तनपान करते समय मुरली के सूर सुनायी देते तब वह स्तनपान करना छोड़ देता था। कृष्णमुरली के सूरों का किया हुआ वर्णन बेजोड़ है। उनमें भाव है, हृदय है, दिव्यता है। मुरली के सूरों में बहुत शक्ति है।

सूर और स्वर में फरक है। जिसके पीछे कुछ अर्थ आता है उसे स्वर कहते हैं। जिसमें अर्थ नहीं आता है उसे सूर कहते हैं। सूर और स्वर दोनों में शक्ति है, परन्तु यह शक्ति व्यक्ति के हृदय और बुद्धि की है। इसका बहुत ही सुन्दर वर्णन भागवतकार ने किया है।

उसके बाद बाईसवें अध्याय में कात्यायनीव्रत समझाया गया है। सभी ब्रज-कुमारिकाएं 'कृष्ण के समान पति मिलना चाहिए' इसलिए कात्यायनी व्रत करती हैं, इसका सुन्दर वर्णन है। इसके बाद का जो अध्याय है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे अध्याय महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कितने ही फूल ऐसे होते हैं कि उनको शब्द का स्पर्श हुआ तो उनकी शोभा चली जाती है। मुरलीनिनाद का जो अध्याय है उसमें मुरली के माधुर्य का वर्णन है। यह सब वर्णन अच्छा ही है। उसके बाद एक घटना घटी, कुछ ब्राह्मण लोग यज्ञ कर रहे थे। उस समय कृष्ण भगवान ने गोपमित्रों से कहा कि तुम ब्राह्मणों के पास जाओ और मेरा तथा मेरे बड़े भाई बलराम का नाम लेकर कहो कि 'हम भूखे हैं, हमारे लिए कुछ भोजनपदार्थ दे दीजिये।'

यज्ञ चल रहा था, ब्राह्मण स्वाहा, स्वाहा कर रहे थे, गोपों ने उनके पास जाकर भोजन माँगा, परन्तु ब्राह्मणों ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। गोपों को भोजन पदार्थ नहीं दिये। 'ना' भी नहीं कहा। कारण यज्ञ में आये हुए व्यक्ति को 'ना' नहीं कहा जाता। 'ना' कहना अयोग्य है, अशास्त्रीय है। ब्राह्मणों के 'हाँ' या 'ना' कुछ न कहने से गोप खिन्न हो गये। कारण उनकी दृष्टि में कृष्ण भगवान के शब्द यानी अन्तिम- *absolute truth* था। उन शब्दों को कोई न माने तो कैसे चलेगा? अतः वे बहुत ही खिन्न हुए। उनको लगा कि ब्राह्मण लोग इतने पढ़े लिखे होने पर भी कुछ नहीं समझते, उन्होंने भगवान कृष्ण के शब्दों को भी नहीं माना? अरे! किसने कहा है? कृष्ण भगवान ने! फिर भी ये लोग नहीं मानते? इनमें इतनी भी अक्ल नहीं है? ये लोग इतने मूर्ख क्यों हैं?' गोप खिन्न हो गये और वापस श्रीकृष्ण के पास आकर कहने लगे, 'तुम्हारे कहे अनुसार हमने ब्राह्मणों से भोजन माँगा, परन्तु उन्होंने भोजन नहीं दिया, वैसे ही 'ना' भी नहीं कहा। ब्राह्मणों की इतनी तटस्थता देखकर हम खिन्न हो गये।'

कृष्ण भगवान ने कहा, 'इस सृष्टि में इस प्रकार खिन्न बनकर कैसे चलेगा? हमें जो चाहिए वह एक जगह से नहीं मिला तो उसे प्राप्त करने के लिए दूसरी जगह जाना चाहिए। तुम अब ऐसा करो कि ब्राह्मण-पत्नियों के पास जाओ और उनसे भोजन माँगो।' यह सुनकर सारे गोप ब्राह्मणपत्नियों के पास गये और उन्होंने भोजन माँगा। ऐसा वर्णन है

कि ब्राह्मण-पत्नियाँ गोपों को भोजन देती हैं, अपने पतियों को समझाती हैं। यहाँ एक स्वतंत्र प्रकरण खड़ा होता है।

धार्मिक सुधारणा *(Reformation)* और संस्कृति के उन्नतिकरण *(Renaisssance)* के लिए कृष्ण भगवान ने अवतार लिया था। कृष्ण भगवान ने यज्ञ के भिन्न भिन्न रूप समझाये हैं। उस समय यज्ञ चलते थे। उनके विरोध में कृष्ण भगवान को खड़ा रहना पड़ा। धार्मिक रुढ़ि चल रही थी वह अच्छी थी, परन्तु उसमें रहा हुआ प्राण चला गया था। उस समय कृष्ण भगवान को अलग मार्ग दिखाना पड़ा।

यज्ञ के लिए भी कृष्ण भगवान ने भिन्न भिन्न यज्ञ के रूप दिखाये हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। (गीता : ४/२८)

यज्ञ में केवल स्वाहा, स्वाहा नहीं है। उसमें जो कर्मकाण्ड है वह झूठा नहीं है, परन्तु कर्मकाण्ड में से भाव चला जाता है, बुद्धि चली जाती है। जिस कृति में से भाव व बुद्धि दोनों चले जाते हैं उस कृति को कर्मकाण्ड कहते हैं। प्रत्येक जगह कर्मकाण्ड आवश्यक है। ऐसा जो यज्ञ चल रहा था, उसमें गोपों ने ऋषिपत्नियों, ब्राह्मणपत्नियों को समझाया और उनको अन्न मिल गया ऐसा वर्णन है।

यह एक कथा है। ब्राह्मणपत्नियों को समझाने के बाद ब्राह्मणपत्नियों ने अपने पतियों को समझाया और उसके बाद ब्राह्मणों ने क्षमा माँगी। यह सब वर्णन एक पंक्ति में आता है परन्तु वैसा होने में बहुत समय लगता है। हम सिनेमा देखने जाते हैं, सिनेमा में एक क्षण में विवाह निश्चित होता है और दूसरे क्षण में विवाह भी हो जाता है। इसी प्रकार कथा-कहानियों में भी ऐसा ही लेखन आता है परन्तु प्रत्यक्ष घटना होने में समय लगता है, वह सब कथा में नहीं आता।

जो यज्ञ चलता था, वह सामान्य बात थी। उसमें कृष्ण भगवान कहते हैं कि हमें भूख लगी है, खाने को दो। आपको मालूम है कि कृष्ण भगवान और गोपमित्र जब एकत्रित होते थे तो साथ में सभी भोजन-नाश्ता लाते ही थे। तो क्या उस दिन यशोदा माता ने कृष्ण को भोजन नहीं दिया होगा? सभी के साथ में खाना लेकर ही आना है ऐसा उनका नियम था और वे सभी नियम का पालन करनेवाले लोग थे। उनके पास खाने के लिए तो था ही। तो फिर, हमें भूख लगी है, खाने को दो' ऐसा कृष्ण ने क्यों कहलवाया? अत: ऐसी कथा कुछ समझाने के लिए होती है।

यज्ञ अनेक चलते हैं, परन्तु भगवान भूखे ही रह जाते हैं। यज्ञ में स्वाहा, स्वाहा तो चलता है। यज्ञ का कारण क्या है? यज्ञ किसलिए करने चाहिए, किस प्रकार करने चाहिए? इस प्रसंग द्वारा भावशून्य यज्ञ की अपेक्षा भावपूर्ण भक्ति कैसे श्रेष्ठ है यह समझाया गया है।

कृष्ण भगवान बहुत भूखे हैं। लोग प्रतिदिन भगवान को राजभोग खिलाते हैं फिर भी भगवान भूखे ही हैं। तुम भगवान को कचौड़ी-पूरी आदि वस्तु खिलाते हो, क्या उन्हें भगवान खाते हैं? इसका अर्थ यह है कि भगवान की भूख भिन्न है। गोप भी ब्राह्मण को ऐसा नहीं कहते कि हम भूखे हैं। वे ऐसा कहते हैं कि कृष्ण भूखे हैं इसलिए भोजन दो, परन्तु ब्राह्मणों ने भोजन नहीं दिया।

यज्ञ किसलिए हैं? पुराने समय के ऋषियों ने यज्ञ किसलिए किये? जिस प्रकार अन्न की भूख होती है वैसी भाव की भी भूख होती है, संस्कृति की भी भूख होती है। भाव और संस्कृति समाज के अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचें इसलिए यज्ञ है। इसका अर्थ यह नहीं कि स्वाहा, स्वाहा नहीं करना चाहिए। स्वाहा, स्वाहा तो करना ही है। अग्निदेवता को आहुति तो देनी ही चाहिए। कर्मकांड करने में कोई बुराई नहीं है। बारह बजे तक कर्मकाण्ड चलने दो, परन्तु वह पूर्ण होने पर दोपहर ब्राह्मणों को जिस स्थान में संस्कृति नहीं पहुँची है उसके विचार नहीं पहुँचे हैं, जहाँ कोई नहीं जाता है वहाँ पहुँच जाना चाहिए, ऐसे ही ब्राह्मण हमें यज्ञ में चाहिए।

यज्ञ में एक ही बार भोजन करना पड़ता है, इसलिए ब्राह्मण सन्ध्या के पाँच बजे नारियल की आहुति देते हैं और फिर खाना खाने बैठ जाते हैं। ऐसा रूप आज यज्ञ का हो गया है। यज्ञ का यह रूप बदलना है, असली रूप समझाना है। क्योंकि लीक से चलनेवाले लोग लीक से ही चलते हैं। इसलिए कृष्ण भगवान ने बीच में ही यज्ञ का प्रकरण निकाला। यह प्रकरण गोकुल में हुआ। गोपों ने ब्राह्मणों को समझाया, जो नहीं समझे, उनकी पत्नियों को समझाया।

इस कथा में तीन बातें आती हैं। एक, यज्ञ का रूप बदलना पड़ेगा, दूसरी बात, जब हम कुछ अच्छा काम करते हैं, लोग नहीं मानते तब हमें खिन्न होने का कारण नहीं। मनुष्य को ऐसा लगता है कि इतने अच्छे विचार हैं फिर भी लोग नहीं मानते, तब खिन्नता आती है। अरे भाई! अच्छी बात अच्छे लोग मानते हैं, परन्तु सभी लोग अच्छे तो नहीं होते। उनको अच्छा बनाना चाहिए। उनको अच्छा बनाने पर वे तुम्हारी बात मानेंगे। **'संस्कारात् द्विज उच्यते।'** जब तक संस्कार नहीं पड़ते तब तक वे द्विज नहीं हैं। इसीलिए यज्ञ का एक अलौकिक रूप समझाने का प्रयत्न कृष्ण भगवान ने किया है।

पुराने जमाने में ऐसे ही यज्ञ चलते थे। उनमें पचासों ब्राह्मण आते थे। सुबह के यज्ञ-विधि के समाप्त होने पर, दोपहर को वे ब्राह्मण जहाँ संस्कृति, विचार नहीं पहुँचे, वहाँ जाते थे। किसी शहर में वित्तवान के आँगन में यज्ञ हुआ, ऐसा वर्णन पढ़ने को नहीं मिलता। यज्ञ शहर से दूर जंगलों में होते थे।

ऐसा वर्णन है कि यज्ञ होते थे तब राक्षस उन यज्ञों में विघ्न लाते थे। प्रश्न यह है कि यज्ञ में विघ्न लाने का राक्षसों को क्या कारण है? राक्षसों को तो परलोक मान्य नहीं था और वे भगवान को भी नहीं मानते थे, तो फिर ऋषि यज्ञ करके स्वर्ग में गये

तो उसमें राक्षसों का क्या जाता था? कुछ भी नहीं! तो फिर यज्ञ में विघ्न लाने की राक्षसों को क्या आवश्यकता थी? राक्षस विघ्न लाते थे इसका अर्थ ही यह है कि उनको कुछ खलता था।

राक्षसों का क्या खलता था? यज्ञ में जो ब्राह्मण आते थे वे सामान्य और पशुतुल्य बने हुए लोगों के बीच जाकर उनको विचार देकर उनमें प्राण भरते थे। यज्ञ में इस प्रकार के विचारों की आहुति दी जाती थी। उससे लोगों में अस्मिता जागृत होती थी। सामान्य मनुष्य जब तेज और अस्मितायुक्त बनता है तब वह बात राक्षसों को अच्छी नहीं लगती, कारण सामान्य लोगों पर से उनका आधिपत्य चला जाता था। इसलिए राक्षस यज्ञ के विरोध में खड़े होते थे। यज्ञ करके ब्राह्मणों को स्वर्ग मिले या पुण्य मिले इसका राक्षसों को दु:ख नहीं था, परन्तु यज्ञ के कारण राक्षसों का ही इहलोक बिगड़ता था। वही उनके सामने समस्या थी। इस दृष्टि से देखेंगे तो यज्ञ का अर्थ ज्ञात होगा। यज्ञ में केवल कर्मकांड ही चलता था, इसीलिए श्रीकृष्ण के कहने से गोप ब्राह्मणों को कहने गये थे, परन्तु ब्राह्मणों ने नहीं माना, जो गोपों की खिन्नता का कारण बना।

भगवान ने गोपों से कहा, 'इस प्रकार खिन्न बनने से नहीं चलेगा। तुम फिर से प्रयत्न करो।' कितने ही लोग कहते हैं, 'हम गावों में जाते हैं, परन्तु लोग सुनते ही नहीं!' भगवान कहते हैं, रुढ़िग्रस्त लोग हैं इसलिए नहीं सुनते। परन्तु वे भी मनुष्य हैं, अत: उनमें भी बुद्धि है या नहीं? तुम बार बार उनको समझाने का प्रयत्न करो तो वे निश्चित ही समझेंगे।' इसलिए भगवान ने बीच में ही यह प्रकरण खड़ा किया है, और गोप फिर से ब्राह्मणों की ओर गये। तीसरी महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी है कि यदि घर की स्त्री बदल जायेगी तो सब बदल जायेगा।

आज घर खत्म हुआ है, कारण स्त्री ही खत्म हुई है। वह पौरुषेय स्त्री *(manly woman)* बनी है। वह स्त्रैण स्त्री *(womanly woman)* नहीं रही है। उसको लगता है, 'पुरुष जो कर सकता है वह मैं क्यों नहीं कर सकती? वह मैं भी करूँगी, उसमें क्या है?' भगवान कहते हैं कि एक स्त्री सुधरती है, वह कुछ विचार उठाती है, तो आज नहीं, कल उसके घरवालों को वे विचार उठाने ही पड़ेंगे, उसके लड़कों को भी वे विचार उठाने होंगे।

आज धर्म इतनी अध:पतित स्थिति में आ गया है उसका कारण स्त्री-शिक्षा नहीं है। स्त्रियों ने जो धर्म उठाया है वह वहम का धर्म है, फिर वही धर्म रह गया और सच्चा धर्म खत्म हो गया। सच्चा धर्म अच्छा था।

कृष्ण भगवान ने धार्मिक सुधार *(Reformation)* का जो काम किया है वह किसीने नहीं किया है। उन्होंने यज्ञ का रूप ही बदल दिया। कालप्रवाह के विरुद्ध कृष्ण को झगड़ना था, इसलिए बीच में ही यज्ञ का प्रकरण आया है।

भगवान भी भूखे हैं। समाज के अन्तिम मनुष्य तक हम पहुँचते ही नहीं। कैस खाना है यह उन लोगों को मालूम नहीं है, उनमें भी भगवान बैठे हैं, इसलिए कैसे खाना, यह उनको समझाना चाहिए। अन्यथा रोटी की भूख तो है ही। मनुष्य कोई जानवर नहीं है, उसको रोटी चाहिए ही, परन्तु रोटी मिलने के बाद, एक उन्नत मानव-स्थिति है। मानव-स्थिति का भाव हम जागृत करते हैं या नहीं, यह प्रश्न है।

सभी में भगवान बैठे हैं। हम गीता पढ़ते हैं। उसमें भगवान कहते हैं, **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'** तो क्या समाज के अन्तिम व्यक्ति में भगवान नहीं हैं। संस्कृति और भाव की भूख सभी को है। उनको हम भाव नहीं समझाते इसलिए भगवान भूखे हैं। ये विचार हमें समाज के अन्तिम व्यक्ति तक ले जाने चाहिए। हम वे नहीं ले जाते हैं इसके परिणामस्वरूप, पशु जैसे खाता है वैसा ही मनुष्य भी खाता है।। गधा जैसे सोता है वैसा मनुष्य सोता है। क्या उसीको 'खाना' और 'सोना' कहते हैं? क्या हमारा खाना-सोना व पशुओं का 'खाना-सोना' एक है? सामने दीख पड़ा कि लगे खाने! क्या इसीको खाना कहते हैं? समाज के अन्तिम मनुष्य तक विचार पहुँचाना ही यज्ञ है।

स्वाध्याय परिवार प्रत्येक जिले में कम से कम दस हजार से लेकर बीस हजार या उससे भी अधिक वयस्थों तक त्रिकाल सन्ध्या के माध्यम से प्रभु के विचार पहुँचाता है। स्वाध्याय परिवार को समाज के अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचना है और उसको समझाना है कि 'भगवान ने तुझे मुठ्ठी भर-भर कर दिया है। जीवन में तीन बातें महत्त्वपूर्ण है। तू सुबह उठता है तब भगवान तुझे स्मृति देते हैं- स्मृति देते हैं। तू जो खाता है उसको पचाकर भगवान तुझे शक्ति देते हैं। तू जब सो जाता है तब शान्ति देते हैं। 'स्मृति-शक्ति-शान्ति' प्रत्येक मनुष्य को चाहिए। ये तीनों बातें भगवान तुझे मुठ्ठी भर भर कर देते हैं, उनको तू धन्यवाद *'Thank you'* भी नहीं बोलता।'

आज सभी बड़े-बड़े लोगों के घर - यानी डॅडी-मम्मी के घर के बालक किसीको नमस्कार नहीं करते, परन्तु उनको एक चोकलेट या बिस्कुट दो, तो वे तुरन्त *'Thank you* बोलेंगे। वैसा उनको पढ़ाया गया है, वह उनकी शिक्षा है। वह अच्छी ही शिक्षा है, मैं उसके विरोध में नहीं हूँ। चोकलेट या बिस्कुट देनेवाले को तुम *Thank you* कहते हो तो मुक्त हस्त से तुम्हें स्मृति-शक्ति-शान्ति देनेवाले भगवान को *'Thank you'* बोलना क्यों नहीं सिखाते? भगवान सुबह तुम्हारे उठने पर तुम्हें स्मृति नहीं देंगे तो तुम्हारा क्या होगा? घरवाली कौन और तुम्हारी पड़ोसन कौन यह भी तुम्हें याद नहीं रहेगा। अतः अजीब परिस्थिति निर्माण होगी।

रात्रि में सोते समय तुम कितने ही व्यग्र, अस्वस्थ हो, पर तुम्हारी सारी व्यग्रता, अस्वस्थता निकालकर, तुम्हें सुलाकर भगवान शान्ति प्रदान करते हैं। तुम जो खाते हो उसको पचाकर शक्ति प्रदान करते हैं। ये तीनों बातें तुम्हें मुक्त हस्त से देनेवाले भगवान को तुम *Thank you* भी नहीं बोलते तो क्या भगवान भूखे नहीं होंगे? उनको लगेगा कि

मैंने इसको मनुष्यदेह दी परंतु यह तो पशु जैसा रहता है। पशु के जैसा वह क्यों खाता है? यज्ञ नहीं होते, यह इसका कारण है। यदि पुरानी पद्धति से फिर से यज्ञ शुरु हो जायेंगे तो सभी समस्याओं का निराकरण होगा। इसीलिए कृष्ण भगवान ने यज्ञ का रूप बदला है। उसमें एक मार्ग दिखाया है कि तुम्हें धर्म के बारे में कुछ भी करना हो तो स्त्री को बदल दो।

आज भी ब्राह्मणों का सम्बन्ध यजमान (पुरुष) के साथ नहीं होता। उनका सम्बन्ध सीधे यजमान की स्त्री के साथ होता है क्योंकि उनको स्त्री के पास से ही अधिक दक्षिणा मिलती है। परन्तु ब्राह्मण भी कैसे हो गये हैं? उन्होंने क्या सँभाला है? सुभाषितकार कहता है–

उच्चैरध्ययनं पुरातनकथा स्त्रीभिः सहालापनं
तासामर्भकलालनं पतिनुतिस्तत्पाकमिथ्यास्तुतिः।
आदेशस्य करावलम्बनविधिः पाण्डित्यलेखक्रिया
होरागारुडमन्त्रतन्त्रकविधिर्भिक्षोर्गुणा द्वादश।।

बस्! इसमें सब आ गया। पुरोहित महाराज को दूसरी शिक्षा किसलिए चाहिए? उसको शिक्षा की जरूरत ही नहीं है। कितने ही लोग तो कहते हैं कि भगवान ने ही कहा है कि '**अविद्यो वा सुविद्यो वा ब्राह्मणः मानकी तनुः।**' यह उन्होंने कहाँ से निकाला भगवान जाने!

यज्ञ का प्रकरण आया है कारण भगवान भूखे हैं। उनको कौन सी भूख है? भाव की भूख है, संस्कृति की भूख है। भगवान ने योग्य रीति से भक्तिमार्ग समझाया है। उस मार्ग से कैसे जाना है यह भी समझाया है।

सत्यनारायण की पूजा करानी हो तो पुरोहित महाराज पुरुष से कहेगा तो पूजा होगी ऐसा उसे विश्वास नहीं होता। वही बात यदि घर की स्त्री से कहेगा तो पूजा होगी ही! भिन्न भिन्न रूप से यह बात पति के गले में कैसे उतारनी है इसे वह बहुत अच्छी तरह से जानती है। इसीलिए एक स्त्री को बदलेंगे तो संपूर्ण परिवार बदलेगा। एक पुरुष को बदलने से केवल वह पुरुष ही बदलता है। यज्ञ प्रकरण में यह बात भगवान ने गोपों को समझायी है।

उसके बाद आती है— भागवत की पवित्रतम रासलीला! मुम्बई शहर में सन १९२०-२१ में मिशनरियों की बहुत बड़ी परिषद हुई थी। उसमें संस्कृत के अर्वाचीन तथा प्राचीन - दोनों पंडित एकत्र हुए थे। उस परिषद में एक मिशनरी ने प्रश्न पूछा था, 'गीता का उच्च ज्ञान कहनेवाला कृष्ण, गोपियों के साथ शृंगार चेष्टा करनेवाला और गोकुल में चोरी करनेवाला कृष्ण - ये कृष्ण एक हैं या दो? यदि दोनों एक ही हैं तो ऐसा कृष्ण क्या तत्त्वज्ञान कह सकता है? और तत्त्वज्ञान कहनेवाला कृष्ण गोपियों के साथ शृंगार चेष्टा अथवा गोकुल में चोरी कर सकता है? इन दोनों में से कौनसा कृष्ण तुम्हें मान्य है?' तब

हमारे पण्डितों ने उत्तर दिया कि 'हमारा कृष्ण ऐसा वाहियात वर्ताव नहीं करेगा। अतः भागवत में जो रासलीला है वह बाद में किसी ने घुसा दी है। इसका कारण महाभारत में उस रासलीला का वर्णन नहीं है।' यहाँ एक प्रश्न खड़ा होता है। महाभारत में रासलीला का वर्णन नहीं है, इसलिए रासलीला हुई ही नहीं थी ऐसा जवाब हमारे पण्डितों ने मिशनरियों को दिया होगा, परन्तु वह जवाब ठीक नहीं लगता। अच्छा भी नहीं है। कारण यह है कि महाभारत ऐतिहासिक ग्रंथ है, जिसमें रासलीला का विषय आना अप्रस्तुत है। शिवाजी का इतिहास पढ़ेंगे तो, शिवाजी ने कुछ मजाक किया होगा उसका उल्लेख, उनके लेखन में नहीं आता। वैसा महाभारत के सम्बन्ध में है। महाभारत में न होने से रासलीला परप्रक्षिप्त है ऐसा कहना व्यर्थ है।

पुराणों में आदि पुराण जिसे कहा जाता है उस 'ब्रह्मपुराण' में भी रासलीला का वर्णन है। जैसी रासलीला भागवत में है वैसी ब्रह्मपुराण में भी है। आधुनिक लोगों ने जिस प्रकार प्रश्न पूछा वैसा ही प्रश्न परीक्षित राजा ने भी शुकदेव से पूछा कि धर्मसंस्थापना के लिए आये हुए कृष्ण भगवान ने रासलीला में धर्मविरुद्ध वर्ताव क्यों किया? उसके उत्तर में कहा गया है कि 'श्रीकृष्ण तो पूर्णकाम भगवान हैं। इसलिए उनको दोष नहीं लगता।' परन्तु पूर्णकाम को ऐसा वर्ताव करने की आवश्यकता क्यों हुई?

शुकदेव ने कहा, 'अग्नि के साथ सम्बन्ध आने पर सभी पदार्थ जिस प्रकार जल जाते हैं, उसी प्रकार कृष्ण भगवान के पास जाने पर सभी वासनाएं जलकर भस्म हो जाती हैं। फिर कोई क्षुद्र वासना रहती ही नहीं!

तीसरा प्रश्न भागवत में भी खड़ा किया गया है कि **'महाजनो येन गतः स पन्थाः'** इस दृष्टि से सभी लोग रासलीला करेंगे तो क्या होगा? हमारे भगवान ने जैसा वर्ताव किया वैसा हमें भी करना होता है।' तब भागवतकार ने एक दृष्टान्त देकर समझाया कि महान् लोग जैसा करते हैं वैसा सामान्य लोगों को नहीं करना चाहिए। भगवान शंकर ने हलाहल विष पी लिया क्या इसलिए सामान्य मनुष्य भी विष प्राशन करेगा?

दूसरी एक दन्तकथा शंकराचार्य की है, जिसमें वह ऐतिहासिक नहीं है, (कदाचित शंकराचार्य होंगे या दूसरे कोई आचार्य होंगे), शंकराचार्य जिधर जाते थे, उनके साथ उनके शिष्य भी जाते थे। प्रथम पाँच घर में भिक्षा के लिए जाना, जो कुछ मिलेगा वह खाना, उसमें भी भगवान जिस घर भेजेंगे उस घर जाना, वे निश्चित करके नहीं जाते थे। एक दिन शंकराचार्य एक घर गये तो घरवाले ने शराब की बोतल उन्हें भिक्षा में दी। सभी शिष्य खुश हो गये, उनको लगा कि गुरु के साथ भिक्षा में जाना बहुत आनन्द की बात है, शराब भी मिलती है। दूसरे दिन जिस घर गये वहाँ काँच बनाने का कार्य चलता था। वहाँ काँच का रस था। घरवाले ने कहा, यह काँच का रस देता हूँ उसे ले लो, मेरे पास दूसरा कुछ नहीं है। शंकराचार्य (अथवा दूसरा कोई आचार्य) उस गरम रस को पी गये। शिष्य भौंचक्के रह गये। शंकराचार्य ने शिष्यो से कहा, 'तुम जिस मुँह से शराब पीते हो, उसी मुँह से यह काँच का गरम रस पीओगे न? नहीं पीओगे? तो फिर तुम्हें शराब भी

नहीं पीनी चाहिए थी।' इसीलिए मर्यादा है। बड़े जैसा करते हैं वैसा दूसरों को नहीं करना चाहिए। यह एक दन्तकथा है। इसके सम्बन्ध में एक सुभाषित भी है–

भार्गवेण हता माता एकदारास्तु पाण्डवाः।
गोपदाररतः कृष्णः न देवचरितं चरेत्।।

भगवान शिव ने हलाहल प्राशन किया और उसको पचाया भी। यदि हम भी हलाहल पीयेंगे तो? मर जायेंगे।

तीसरी बात - गोपियाँ परदारायें-परस्त्रियाँ ऐसा बोलेंगे, तो कृष्ण के लिए वे परस्त्रियाँ हो ही नहीं सकती, इसका कारण कृष्ण तो भगवान हैं और सभी में कृष्ण हैं। 'काम' में भी कृष्ण हैं। क्या 'काम' शक्ति तुमने निर्माण की है? बनायी किसने? सँभाली किसने? वह कृष्ण की ही शक्ति है, अत: उनको कोई दोष नहीं दे सकता।

जिस समय कृष्ण के पास गोपियाँ थीं उसी समय वे अपने पति के पास भी थीं। ऐसा कुछ चमत्कार दिखाया गया है फिर लिखा है कि व्यभिचार मन से होता है, शरीर से नहीं! **येनैव आलिंगिता कान्ता तेनैव आलिंगिता सुता'** - जिस शरीर से मनुष्य पत्नी को आलिंगन देता है, उसी शरीर से अपनी लड़की को भी आलिंगन देता है। इसमें मानसिक भूमिका भिन्न भिन्न होती है।

भागवत में, श्रीकृष्ण के गोवर्धन पर्वत उठाने की कथा के बाद तुरन्त रासलीला की कथा आयी है। गोवर्धन पर्वत उठाने के सम्बन्ध में लिखा है—

'को सप्तायनौ बालः को महाद्रिविधारणम्।'

सात वर्ष का बालक कहाँ और महाद्रि का विधारण कहाँ? सात वर्ष के बालक ने गोवर्धन पर्वत उठाया था। यदि सात वर्ष का बालक गोपियों के साथ शृंगार चेष्टा करता होगा तो वह भगवान ही है। छोड़ दो इस चर्चा को। इसका कारण मानव में इतना शौर्य, इतनी शक्ति होना असंभव ही है। सात साल तक के बालक को दण्डविधान *(Criminal Code)* भी लागू नहीं होता। इस प्रकार रासलीला के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न तरह से समझाया है, परन्तु भागवतकार और पुराणकार हमेशा लाक्षणिक दृष्टि से कहने का प्रयत्न करते हैं। रासलीला का कोई दूसरा लाक्षणिक अर्थ होगा। पुरंजन का आख्यान कहते समय भागवतकार ने लिखा ही है कि 'मैंने यह लाक्षणिक लेखन लिखा है।' **'परोक्षप्रिया हि देवाः'** देव परोक्षप्रिय होते हैं।

स्कन्द पुराण में, शंकर-पार्वती का रति-प्रसंग, काल के प्रारंभ से काल के अन्त तक चलता है, ऐसा लिखा है। यहाँ शंकर चैतन्य *(spirit)* है और पार्वती जड़ *(Matter)* है। जड़ और चैतन्य का सम्बन्ध होने पर ही जगत् निर्माण होता है। ये दोनों जब बिछुड़ते हैं तब प्रलय होता है। पुराणकार ने इस बात का लाक्षणिक भाषा में शिव-पार्वती के रतिप्रसंग के रूप में वर्णन किया है।

पुराणकारों ने कितनी ही बातें लाक्षणिक रूप में लिखी हैं। उनकी लाक्षणिक रूप में लिखने की बड़ी आदत थी, उदाहरणस्वरूप, सोम ने बृहस्पति की पत्नी उठा ली। दक्ष प्रजापति की सत्ताईस कन्याएं थी और उनका विवाह उन्होंने चंद्र के साथ कराया। प्रजापति की अपनी लड़की पर दृष्टि पड़ती थी। वह जो बात लिखी है वह शुद्ध राजनीतिक *(Pure Political)* है। ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण में यह बात आती है। अथर्ववेद में, सभा व समिति की राज्यव्यवस्था थी, उसका वर्णन है। जैसे राज्यसभा और लोकसभा है। इंग्लैंड में भी *House of commons* और *House of Lords* है। वैसी सभा व समिति की राज्यव्यवस्था प्रजापति ने निर्माण की है और उसका उपभोग प्रजापति ही लेता है। उसीका यह लाक्षणिक रूप में वर्णन है। बकासुर कितना खाता था इसका वर्णन है। उसमें लिखा है कि वह प्रतिदिन एक गाड़ाभर अन्न खाता था, ऊपर से एक बकरा और एक मनुष्य भी खाता था। उसमें जो जो बातें लिखी हैं उनका रुपयों में कितना मूल्य होता है इसका कुछ लोगों ने हिसाब किया। आज की कीमतों के अनुसार बकासुर एक साल में एक लाख रुपयों की चीजें खाता था। इसका अर्थ, बकासुर सालाना जितना वेतन लेता था, उतना उसका खर्च था, ऐसा हो सकता है। यह लाक्षणिक लेखन है, यह समझ लेना चाहिए।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ८५वें सूक्त में **'सोमः प्रथमो विविधे गन्धर्वो विविधः उत्तरः'** ऐसा एक वेदवचन है। इसमें क्या लिखा है, मालूम है? प्रत्येक स्त्री का उपभोग सर्व प्रथम सोमदेव लेता है, फिर गन्धर्व उसका उपभोग लेता है, उसके बाद अग्नि उसका उपभोग लेता है और उसके बाद मनुष्य को उपभोग के लिए स्त्री मिलती है। ऐसा हो तो प्रत्येक स्त्री व्यभिचारिणी हो गयी। यहाँ वेदों ने मानसिक पृथक्करण किया है और वह अतिशय सुन्दर है। इस मंत्र में सोम का अर्थ है चन्द्र। **चन्द्रमा मनसो जातः।** सर्व प्रथम स्त्री के मन में काम-यौवन निर्माण होता है। उसके बाद गंधर्व यानी स्वर। गंधर्व स्वरवाचक शब्द है, अर्थात् पुरुष की वाणी से उसमें 'काम' जागृत होता है। उसके बाद अग्नि का काम-सन्ताप शुरू होता है और उसके बाद वह पुरुष के योग्य बनती है। ऐसा लाक्षणिक रूप में वेद में कहा है। केवल पुराणों में ही ऐसा अर्थ किया गया है ऐसा नहीं है। वेदों में भी आपको स्थान-स्थान पर ऐसा लाक्षणिक लेखन मिलेगा। **'गो'** शब्द का अर्थ है इन्द्रियाँ और उनका शासन करनेवाला **गोप** है। ऐसा भी आध्यात्मिक अर्थ लोग करते हैं।

रासक्रीड़ा के सम्बन्ध में चिकित्सकों की दृष्टि कुत्सित होगी, परन्तु प्रेमी और विचारवान भक्तों की दृष्टि रासक्रीड़ा के सम्बन्ध में सात्त्विक ही है। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य चैतन्य महाप्रभु, जयदेव, तुकाराम, एकनाथ आदि सभी महापुरुषों को रासक्रीड़ा का प्रसंग श्रेष्ठ लगता है। उनका निजी व्यवहार अत्यन्त शुद्ध था। अशुद्ध वर्ताव करनेवालों को समझाने के लिए उन्होंने ऐसा कहा, ऐसा नहीं है। उनका स्वयं अपना व्यवहार भी अतिशय शुद्ध था। कबीर अपने शिष्यों से कहता है कि—

कबीर कबीर क्या करो जाओ जमुना के तीर।
एक एक गोपी के प्रेम में बह गये कोटि कबीर।।

अत: रासक्रीड़ा यह लाक्षणिक रूप में है यह कहने की भी आवश्यकता नहीं है। कृष्ण भगवान हैं, उनको छूट है, ऐसा कहने की भी आवश्यकता नहीं है।

रासक्रीड़ा भक्ति का अत्यन्त उच्च, उच्चतम, मधुरतम श्रेष्ठतम रूप है। वह प्रभुप्रेम की अन्तिम अवस्था है। रासक्रीड़ा हुई ही होगी। वह जो प्रेम है वह अशरीरी *(occult)* प्रेम है। प्रेम में पति-पत्नी का प्रेम उच्च कोटि का प्रेम माना जाता है। सर्वत्र वैसा ही माना गया है। जहाँ जहाँ जिनको आध्यात्मिक अनुभव *(Religious experiences)* है, वहाँ वहाँ वैसा ही माना गया है। कहते हैं, *In all ages, love between husband and wife has been the symbol of union between the supreme and his devotee.* रासक्रीड़ा एक अति रम्य प्रसंग है। भागवतकार ने रासक्रीड़ा का जो वर्णन किया है वह वाहियात नहीं है। उसको लक्षणा मानेंगे तो भी उसको अर्थ है, परन्तु लक्षणा नहीं मानेंगे तो भी चलेगा।

भगवान की रासक्रीड़ा भक्ति की अन्तिम स्थिति है और वह श्रेष्ठतम भक्ति की स्थिति है। 'रासलीला' यह एक शब्द उच्चार करके रास को नमस्कार करना चाहिए और वह भक्ति की अन्तिम अवस्था है ऐसा मानकर उसकी ओर देखना चाहिए।

रासक्रीड़ा एक सुमधुर, सुमनोहर सत्य है। उसको आध्यात्मिक दृष्टि से समझाने की आवश्यकता नहीं है। उसमें जो शृंगारिक श्लोक हैं वे वैसे ही लेने में कोई आपत्ति नहीं है। भक्तिशास्त्र का जिन्होंने अभ्यास नहीं किया है उनको ऐसा अवश्य लगता होगा, वे उसका आध्यात्मिक दृष्टि से अर्थ करते हैं। मेरी दृष्टि में शृंगारिक श्लोकों का जैसा अर्थ है वैसा ही स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है, हानि भी नहीं है।

रासक्रीड़ा भिन्न ही अवस्था है उसे समझना चाहिए। भक्तों ने परमेश्वर की कृपा संपादन करने के लिए अनेक मार्गों को स्वीकार किया है और उनके साथ समरस होने का प्रयत्न कर रहे हैं। भक्ति का अन्तिम रूप प्रभु में विलीन हो जाना है। संपूर्ण विलीन होने के सम्बन्ध में तनिक सन्देह रह जाता है। रामानुजाचार्य कहते हैं कि मुझे भगवान में संपूर्ण विलीन नहीं होना है। शंकराचार्य कहते हैं कि भक्ति की उच्चतम अवस्था में पहुँचने पर भगवान में विलीन होना या न होना तुम्हारे हाथ की बात नहीं है। जिस प्रकार चुंबकीय क्षेत्र में प्रवेश करने पर चुंबक को चिपक जाना या नहीं यह लोहकणों के हाथ की बात नहीं रहती, उनको चिपकना ही पड़ता है। उसी प्रकार भक्ति करते समय भक्ति की उच्चतम स्थिति में पहुँचने पर प्रभु का चुंबकीय क्षेत्र इतना शक्तिशाली होता है कि भक्त को प्रभु में विलीन होना ही पड़ता है।

रामानुजाचार्य को अन्तिम द्वैत चाहिए वैसे शंकराचार्य को भी चाहिए। इसीलिए उन्होंने कहा है—

न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः।
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः।।

भक्ति का अन्तिम रूप परमेश्वर में विलीन होना है। इसलिए भक्त विविध मार्ग ढूँढ़ता है। परमेश्वर हमारे पिता, माता, बंधु तथा सखा हैं। ऐसे अलग अलग सम्बन्ध उसने निर्माण किये हैं। इन सभी सम्बन्धों में सर्वशक्तिमान प्रभु के साथ अनुराग से एकरूप होना है, इसी भावना के कारण भिन्न-भिन्न सम्बन्ध आये और प्रभु का भी मानवीकरण हुआ। विविध रूप जिसने निर्माण किये हैं वह मानवी रूप क्यों नहीं ले सकता? उसके बारे में हमें संशय नहीं है। इतना ही नहीं, हमें मानवी रूप में ही भगवान चाहिए। मनुष्य को भगवान का मानवी रूप ही नजदीक का लगता है। *Human form is the most intimate form for us.*

मानवी अनुराग का जो अन्तिम रूप है वह पति-पत्नी का प्रेम है। दूसरे सम्बन्धों में कुछ कमी रहती है। पति-पत्नी के सम्बन्ध में कोई कमी नहीं रहती। पति-पत्नी के सम्बन्ध में निर्माण होनेवाला जो अभेद है वही अभेद भक्त और भगवान को चाहिए। भेद रखकर भी अभेद रखना चाहिए। उसमें विलोभनीय अभेद है। दोनों में मिलन की आतुरता होती है। पति और पत्नी दोनों में मिलन की उत्कंठा और आतुरता समान नहीं रहे तो मिलन में आनंद ही नहीं रहता। दोनों में मिलने की उत्कंठा और आनंद समान होने चाहिए।

प्रियकर दूर हो जाने के बाद विरह में मिलन या आलिंगन के लिए होनेवाली छटपटाहट, विरह से तप्त काया अथवा राह देख देखकर रतजगा होने के कारण थकी हुई आँखें, उसी प्रकार प्रियकर के आने से होनेवाला हर्षोल्लास, प्रियकर के मिलन से मिलनेवाला समाधान, उस मिलन की तल्लीनता से होनेवाला विश्व का विस्मरण ये सब बहुत बड़ी बड़ी बातें हैं। यह जो आत्मनिष्ठ आनंद (*Subjective happiness*) है वह सबको नहीं मिलता। उसमें भक्त को विश्व को भूल जाना चाहिए।

प्रत्येक को अज्ञान से भी क्यों न हो, विश्व भूलना है। नींद का अर्थ क्या है? विश्व, सम्बन्ध, स्थिति, विद्या सभी भूल जाने हैं और केवल अस्तित्व (*existence*) रखना है। होना और खेलना ये दो स्थितियाँ हैं, विश्व को भूल जाना कमनीय अवस्था है। यह सब स्थिति भक्त को प्रियकर और प्रियतमा के रूप में अथवा पति-पत्नी के सम्बन्ध में ही मिलती हैं। इसीलिए जीव ने शिव के साथ, ससीम ने असीम के साथ जो शृंगारमूलक सम्बन्ध स्थापने की कोशिश की है उसीका नाम है मधुराभक्ति। यह भक्तिशास्त्र में अन्तिम स्थिति है।

वल्लभाचार्य जैसे महापुरुष **'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'** कहते हैं। लोग मधुराधिपते के स्थान पर मथुराधिपते बोलते हैं, इसका कारण उनको पता ही नहीं है कि यह मधुराभक्ति है। मधुराभक्ति का जन्म वेद में है। वेद में उसका केवल उल्लेख ही नहीं, अपितु वर्णन भी है।

बाइबल में *Old Testament* में सालोमन गीत है उसमें वही शृंगार का रूप है। विल्यम जेम्स की *Varieties of Religious Experiences* नाम की एक पुस्तक है। पुस्तक बहुत सुंदर है। *Religion* शब्द सुनने पर हमारी आँखों के सामने कर्मकाण्ड आता है, उसे

छोड़ दो। अंग्रेजी साहित्य में *Religion* शब्द का अर्थ, भक्त के जो अनुभव *(experiences)* हैं, उनको उद्देश्य करके हैं। इसलिए रास को रूपक मानने की आवश्यकता नहीं है। उसी प्रकार उसको एक कल्पना भी समझने की जरूरत नहीं है।

रास में जो शृंगार का वर्णन आता है वह काल्पनिक नहीं है, सच्चा वर्णन है। परन्तु वह अशरीरी प्रेम *(occult love)* है। हमें भक्ति का सच्चा अर्थ नहीं समझता, इसलिए सबकी शक्ति समान ही लगती है। कोई पाठ-पूजा करने लगा कि हम उसे भक्त समझने लगते हैं। भक्ति के अलग-अलग मार्ग हैं, अलग-अलग नहरें हैं। आपको भगवान को रिझाना है न? किसीको रिझाना हो तो उसके अलग-अलग मार्ग होते हैं। सेठ को रिझाना हो तो? सेठ गुस्सा हो गया तो उसको रिझाने का प्रत्येक का मार्ग अलग-अलग होता है। सेठ को रिझाने के लिए नौकर जो मार्ग अपनाता है, वह मार्ग पुत्र नहीं अपनाता। जो मार्ग पुत्र अपनाता है, वह पत्नी नहीं अपनाती और पत्नी सेठ को रिझाने के लिए जो मार्ग अपनाती है, वह मार्ग दूसरा कोई भी नहीं अपना सकता। उसी प्रकार भगवान को प्रसन्न करने के मार्ग सम्बन्धों पर निर्भर हैं।

गीता में जीव के अलग-अलग सम्बन्ध बताये गये हैं। केवल, 'मैं भगवान का लड़का हूँ' ऐसा कहने से भगवान का लड़का नहीं बना जाता। लड़के के कोई लक्षण *(characteristics)* होने चाहिए तभी लड़का बन सकते हैं। भगवान के तुम लड़के हो तो वैसा तुम्हारा जीवन होना चाहिए, मित्र हो तो मित्र के जैसा जीवन होना चाहिए। जीवन बदलना है। 'गीता एक जीवन-ग्रंथ है। भगवान ने गीता में कहा है, जैसा तेरा जीवन होगा वैसा तेरा व मेरा सम्बन्ध होगा। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** - तुझमें पुत्र के गुण आयेंगे तो मैं पिता बनूँगा। जो रूप तू लेगा उसके अनुरूप मैं रूप लूँगा।'

भक्त के जीवन में चित्त-एकाग्रता *(concentration)* की स्थिति आती है, उसीको भक्ति कहते हैं। गीता में भगवान ने कहा है, **मय्यावेश्य मनो ये माम् - मयि मनः आवेश्य** - यह भक्ति है। यह चित्तैकाग्रता भौतिक *(physical)* नहीं है, अपितु मानसिक *(psychological)* है। उसमें भक्त का मन ही मूर्ति का आकार लेता है। ज्ञ मन, अज्ञ मन, कृतिशील मन, सुषुप्त मन *(experienced state of mind, unexperienced state of mind,, active mind and inactive mind)* सबको यह आकार लेना पड़ता है। उससे संपूर्ण मन शुद्ध होता है। मन को विशुद्ध बनाना है। मन केवल प्रगमनशील *(progressive)* और शक्तिशाली *(Powerful)* बनेगा तो हम राक्षस बन जायेंगे। उसे भावप्रधान *(sensitive)* भी बनाना चाहिए। इन तीनों के लिए मूर्तिपूजा आवश्यक है।

मूर्तिपूजा संपूर्ण शास्त्र *(perfect science)* है। उसमें चित्तैकाग्रता बहुत बढ़ जाती है, आधा घण्टा या एक घण्टे तक चित्त एकाग्र रहता है, तो पूर्णता की अनुभूति *(experiencing the fulness)* मिलती है। चित्तैकाग्रता और मनन में बहुत फर्क है।

चित्तैकाग्रता में तुम ही मन को मूर्ति का आकार देते हो। वह मानसिक मूर्ति रहनी चाहिए। उसीसे तुम्हारे अज्ञ मन *(Inexperienced state of mind)* का शुद्धिकरण *(purification)* होता है। इस भक्ति में संपूर्ण मन भगवान की मूर्ति का आकार लेता है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी जैसे ही रात्रि में भक्त चित्त एकाग्र करने बैठता है उसकी चित्तैकाग्रता बढ़ जाती है, तब उसमें भक्त-भगवान के विविध खेल चलते हैं, उसमें 'रास' भी एक खेल है इसलिए शृंगार पढ़ने में हानि नहीं है। वह अशरीरी प्रेम *(occult love)* है। रास का जो वर्णन है, वह असली है, उसको मानने में कोई कमी नहीं है। वह कौन सी स्थिति है? इस स्थिति में आपके मन ने भगवान को खड़ा किया है यह समझना चाहिए। भगवान अन्त में भक्त का ही सर्जन *(creation)* है और भगवान को, उस चिद्घनशक्ति *(supreme power)* को वह रूप लेना पड़ता है। ऐसी जो अशरीरी अवस्था है, उस समय का यह शृंगार है। वह भक्ति की चरमावस्था है।

पति-पत्नी के संबंध में भी चरमावस्था है। उसमें दोनों समान हैं, फिर भी 'पति कुछ बड़ा है' ऐसा लगना चाहिए। तभी विलीनीकरण *(Merging)* होगा, अन्यथा नहीं। *Merging* समान है, वही भगवान की लक्ष्मी है। वही भगवान की शोभा है। उसीको हम लक्ष्मी नारायण कहते हैं। नारायण के साथ एक नारीरूप रखने की क्या आवश्यकता है? परन्तु हम रखते हैं, उसमें हमारी कोई शिकायत नहीं है, परन्तु उसे रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। लक्ष्मी का अर्थ होता है शोभा! अन्तिम जीव भगवान की शोभा है। लक्ष्मी-नारायण देव की जय! वसिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, पतंजलि इत्यादि महापुरुष उस दृष्टि से भक्ति करते थे।

हम जब मधुसूदन सरस्वती का भक्ति-रसायन पढ़ेंगे तो उसमें ज्ञानी ही भक्ति कर सकता है ऐसा लगता है। यहाँ ज्ञानी का अर्थ 'शब्दपांडित्य का ज्ञान रखनेवाला' ऐसा नहीं है। यह भक्ति की एक चरम अवस्था है, वह भक्त जीवन की एक सीढ़ी है। इसीलिए भगवान ने गीता में कहा है–

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते - झटपट मनुष्य मुक्त हो सकता है ऐसा हमारे शास्त्र में लिखा हुआ नहीं है। प्रगमनशील आदर्शवाद *(Progressive Idealism)* गीता ने स्वीकार किया है। उसमें जीव उन्नत बनते-बनते, विकसित होते हुए ऊपर जाता है। जिस प्रकार भौतिक जीवन में मनुष्य **शनैः शनैः** उन्नत होता जाता है वैसा ही आध्यात्मिक तथा भक्तिजीवन में भी जीव शनैः शनैः उन्नत होता जाता है।

जब तक देहनिष्ठ भक्ति चलती है, भीति से भक्ति चलती है, वहम से भक्ति चलती है तब तक भक्ति की ऐसी स्थिति निर्माण नहीं होगी। कितने ही अज्ञेयवादी *(Agnostic)* भी भक्ति करते हैं। होगा तो होगा, नहीं होगा तो छोड़ देंगे, एकाध घंटा नमस्कार करने में क्या जाता है?' ऐसे लोग हैं। परन्तु इन वहम या भीति से भक्ति करनेवालों से जब भक्त आगे निकल जाता है, तब सोने के झूले पर बैठे हुए नयनमनोहर भगवान से उसके रिश्ते

शुरू हो जाते हैं। एक ही जन्म में दो-दो, तीन-तीन रिश्ते भी हो जायेंगे। कदाचित् एक-एक रिश्ते के लिए एक-एक जन्म भी लेना पड़ेगा। भगवान सोने के झूले पर बैठे हैं, भक्त का भय चला गया है, वहम चला गया है, परन्तु वह प्रारंभ में भगवान के पास किसलिए जाता है? माँगने के लिए जाता है। उसको अपनी कमजोरी का पता चलता है। उसका प्रभु पर विश्वास बैठ जाता है। यहाँ दो बातें होनी चाहिए। अपनी कमजोरी का पता होना चाहिए और भगवान के ऊपर शत प्रतिशत श्रद्धा होना चाहिए। पत्नी सोलह आने पतिव्रता होनी चाहिए, चौदह आने पतिव्रता चलेगी? नहीं चलेगी! भगवान पर शत प्रतिशत श्रद्धा होनी चाहिए। जिसकी भगवान के प्रति शत प्रतिशत श्रद्धा है और जिसे अपनी कमजोरियों का पता चला है वह भगवान के पास माँगने के लिए जाता है यह एक महान स्थिति है। मुझे माँगना है, परन्तु प्रभु के पास ही माँगना है, किसी दूसरे के पास नहीं! हम तो सभी के पास भीख माँगते हैं, भगवान के पास भी माँगते हैं, अर्थात् भगवान को भी हम सामान्य व्यक्ति की पंक्ति में बिठा देते हैं।

'भगवान! मैंने किसी के पास नहीं माँगा है' यह एक उन्नत अवस्था है। वह याचक ही है, परन्तु उसकी अवस्था उन्नत है। उसकी एक बात निश्चित हो चुकी है कि माँगूँगा तो भगवान के पास ही माँगूँगा, अन्य किसीसे नहीं। सोने के झूले पर बैठे हुए भगवान के पास वह माँगता है। भगवान के पास माँगना बुरा नहीं है। श्रीमदाद्य शंकराचार्य ने भक्त का पक्ष लेकर भगवती से कहा है—

आपत्सु मग्नः स्मरणं त्वदीयं करोमि दुर्गे करुणार्णवेशि।
नैतच्छठत्वं मम भावयेथाः क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरन्ति।। (देव्य-१०)

भूख व प्यास लगने पर ही बालक को माँ का स्मरण होता है। माँ! तेरे पास माँगने के लिए बालक आता है, उसमें उसका शठत्व नहीं है।

उन्नत भक्त भगवान के पास माँगता है। अपनी कर्ममन्दता, भावमन्दता, बुद्धिमन्दता, साधनरहितता की समझ जिसे आयी है वह भगवान के पास माँगता है। भगवान के पास माँगना है यह एक सम्बन्ध है।

सेठ के पास कोई भिखारी माँगने के लिए आता है, तब उसका और सेठ का क्या सम्बन्ध होता है? यहाँ भक्त का तो भगवान के साथ सम्बन्ध है। वह भगवान से कहता है, 'देखिये, भगवान! मैं केवल आपके ही पास माँगता हूँ। मैंने किसी दूसरे के पास नहीं माँगा है और माँगूँगा भी नहीं।' यह प्रथम सीढ़ी है।

फिर दूसरी सीढ़ी आती है। इस प्रकार जीवन बदलना चाहिए। केवल बोलना पर्याप्त नहीं है। जीवन कैसा होना चाहिए यह गीता बताती है, इसलिए गीता श्रेष्ठ है। गीता एक भक्तिगीत *Devotional song* - है। उसके बाद विवेक जागृत होता है। प्रभु भी समझाते हैं कि 'तू माँगता क्यों है? हक़ से ले। माँगना व्यर्थ है। तू मेरा अंश है। मेरा

अंश होकर तू हाथ फैलाकर माँगता क्यों है? मेरे पास भी क्यों माँगता है?' ऐसा भगवान समझाते हैं।

भक्त में भी विवेक जागृत होता है कि मैंने भले ही केवल भगवान के पास माँगा है, परन्तु भगवान के पास माँगने पर मिलता है यह झूठी बात है। इसका कारण यह है कि भगवान से बिना माँगे ही कितनी- सब बातें मिली हैं। क्या मैंने नींद माँगी थी? क्या भूख माँगी थी? सूर्य माँगा था? वर्षा की माँग की थी? क्या यह देह माँगा था? क्या माँगा था मैंने? कुछ भी नहीं! कोई आवेदनपत्र *(application form)* भी नहीं भेजा था। फिर भी ये सब बातें मुझे मिली हैं। मैं नहीं माँगता हूँ फिर भी भगवान मुझे देते हैं, इसलिए उनके पास माँगना व्यर्थ है।

दूसरी बात, माँगने पर वे देंगे ही ऐसा विश्वास नहीं है। इसका कारण हमारी माँग दूसरों के लिए हानिकारक भी हो सकती है। तो फिर भगवान क्या करेंगे? उनको तो सबकी तरफ देखना पड़ता है। हम भगवान के पास जो माँगेंगे वही भगवान दे देंगे तो भगवान का भगवानपन ही समाप्त हो जायेगा। इसलिए हम माँगते हैं वह भगवान नहीं देते। ऐसा भक्त का विवेक जागृत होता है कि भगवान के पास माँगना बेकार है।

भगवान भी समझते हैं, अरे! क्या माँग रहा है? तू मेरा अंश है। **'ममैवांशो जीवलोके.....।'** मेरा अंश होते हुए भी तू माँगता है यह तुझे शोभा नहीं देता। तू मेरा काम कर और हक़ से ले। इस प्रकार भगवान भक्त को काम सौंपते हैं और मजदूरी देते हैं। मैंने अपने व्यवहार के लिए जो कुछ किया होगा वह मेरा अपना काम है। जिसमें निजी व्यवहार नहीं है ऐसा जो काम होगा वह भगवान का काम है।

हमारे स्वाध्यायी भाई भक्तिफेरी में जाते हैं, उसमें उनका क्या स्वार्थ है? उनका कोई स्वार्थ नहीं होता। उनको मान-सम्मान कुछ नहीं चाहिए। उस दृष्टि से वे जाते भी नहीं, उसकी ओर देखते भी नहीं। गाँव के लोग सम्मान करेंगे तो वे ऊब जायेंगे। मुझे भी कितने ही लोग कहते हैं कि 'हजारों लोग गाँवों में काम करने के लिए जाते हैं, आप उनका सम्मान भी नहीं करते?' मैं उनसे कहता हूँ कि मैं यदि उनका सम्मान करूँगा तो उनको वह अच्छा नहीं लगेगा। उनको सत्कार नहीं चाहिए। हमारे लोगों का तुम्हें पता नहीं है। वे जिसके हैं उसको ही पता हैं। दूसरे को उसका पता नहीं चलेगा।

भगवान काम सौंपते हैं और मजदूरी देते हैं, यह दूसरी सीढ़ी है। 'काम करके हक़ से लेता हूँ, मैंने भगवान का काम किया है अत: हक़ से लेता हूँ।' द्रौपदी पर आपत्ति आने के बाद उसने भगवान से कहा, 'भगवान! मेरे पति ने खून की बूंद-बूंद आपके लिए दी है, अब आपको हमारे साथ खड़ा रहना पड़ेगा।' इस प्रकार 'काम करके हक़ से लेना' इसे हम सात्त्विक कहते हैं।

इसके बाद तीसरी सीढ़ी आती है। बड़े-बड़े सेठों के यहाँ मजदूर काम करते हैं। मजदूरी लेने की अपेक्षा भी रखते हैं, परन्तु वे किसी दिन अपना हिसाब नहीं माँगते,

क्योंकि उनका विश्वास है कि हमारा सेठ हमारी मजदूरी देगा। कामना से ही वे सेवा करते हैं, मगर हिसाब नहीं माँगते।

परन्तु कितने ही मजदूर मजदूरी करते हैं और शाम को अपनी मजदूरी माँग लेते हैं। इतना-इतना काम किया है, मजदूरी दे दो। परन्तु इनसे आगे बढ़ा हुआ कहता है, 'मैंने काम किया है, मेरा सेठ है, वह समय के, काम के अनुसार मजदूरी देगा ही।' वह काम करता है, पर मजदूरी नहीं माँगता, मजदूरी का हिसाब भी नहीं रखता, सेठ देगा उतनी मजदूरी ले लेता है। इसे अपेक्षा है, वह निरपेक्ष नहीं है, परन्तु उसे अपनी मजदूरी नहीं माँगनी है। ऐसी स्थिति भक्त की होती है।

फिर चौथी सीढ़ी आती है। इस अवस्था में भक्त को भगवान का काम अच्छा लगता है इसलिए वह काम करता रहता है। मजदूरी के सम्बन्ध में विचार भी नहीं करता। भगवान का काम करके उसे आनंद मिलता है। अपने को क्या मिलेगा इसका हिसाब भी नहीं रखता। कितना मिला, क्या मिला, कौनसा मिला, कैसे मिला इसका भी विचार नहीं करता। भगवान का काम करने में ही उसे आनंद है।

महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम महाराज भगवान का काम करते थे। वे लोगों से कहते, **'देव घ्या कुणी देव घ्या, देव घ्या फुका न लगे रुका...।'** तब लोग उनसे पूछते थे कि तुम भगवान का कितना काम करते हो? भगवान ने तुम्हें क्या दिया? तुम्हारा तो व्यापार भी नहीं चलता। तुम भगवान के पास क्यों नहीं माँगते?'

ऐसे पूछनेवाले लोगों को चित्तैकाग्रता क्या है यही मालूम नहीं है। सभी कामनाओं को भूल जाने के बाद ही चित्तैकाग्रता *(Concentration)* हो सकती है। एक भी कामना का उदय हुआ तो चित्तैकाग्रता नष्ट हो जाती है। टूट भी जाती है। चित्तैकाग्रता करके की हुई मूर्तिपूजा में मन ही मूर्ति का आकार लेता है। वही सच्ची मूर्तिपूजा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि स्थूल मूर्तिपूजा नहीं करनी है। वह भी करनी है। क्यों करनी है? भीतर का भाव जागृत होने के लिए करनी है।

भीतर सभी रस पड़े हुए हैं, परन्तु बाह्य परिस्थिति में भीतर के रस जागृत होते हैं। शृंगार रस, हास्य रस, करुण रस, वीर रस आदि सभी रस अंदर ही हैं। वैसे ही भीतर भक्ति रस भी है। वह जागृत करने के लिए बाहर की परिस्थिति खड़ी करनी चाहिए। उसीके लिए भक्ति में कर्मकाण्ड भी आता है, परन्तु वास्तव में **'मय्यावेश्य मनो ये माम्.....'** यही सच्ची भक्ति है।

इस स्थिति में पहुँचा हुआ भक्त मजदूरी के बारे में सोचता ही नहीं और अपेक्षा भी नहीं रखता। यह मानसिक उन्नत भक्त है। उसको महान् कर्मयोगी कहते हैं। जो अपेक्षा रखकर कर्म करता है वह सात्त्विक कर्मयोगी होगा, परन्तु निरपेक्ष भाव से वह महान् कर्मयोगी है। ऐसा निष्काम कर्मयोग भगवान के लिए उपकारक है।

ज्ञानेश्वर भगवान भी दौड़ते थे। किसलिए? **'अवघाची संसार सुखाचा करीन....।'** उनको क्या पाना था? हम भी दौड़ते हैं। क्यों? हमारा जीवनविकास होना चाहिए, हमारे जीवन को मोड़ मिले, इसलिए हम दौड़ते हैं। तुकाराम महाराज का अत्युच्च जीवनविकास हुआ था। तो फिर वे क्यों दौड़ते थे? उनसे लोगों ने पूछा तब उन्होंने कहा, **'आता उरलो उपकारापुरता।'** 'मैं उपकार के लिए दौड़ता हूँ।' किस पर उपकार? लोगों पर? लोगों को उनकी आवश्यकता ही नहीं थी। क्योंकि लोगों को तो मिट्टी का तेल व चीनी चाहिए। उनको जीवनविकास अथवा भावजीवन कहाँ चाहिए? तो फिर किस पर उपकार करना चाहिए? भगवान पर। जो भगवान पर उपकार करने के लिए दौड़ते हैं, वे महान् कर्मयोगी हैं।

पाँचवीं सीढ़ी में भगवान भक्त को अपने पास झूले पर बिठाते हैं। अब वह पूर्ण कर्मयोगी बन गया है। कभी कभी सेठ अपने बड़े मुनीम को आत्मीयता से अपनी बाजू में गद्दी पर बैठने को कहते हैं, परन्तु वह नहीं बैठता। बैठना ही पड़ा तो बड़े संकोच के साथ एक कोने पर बैठता है। भक्त के जीवन में भी ऐसी स्थिति आती है। भगवान कहते हैं, आ! मेरे साथ बैठ। **'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।'** उस समय भगवान की बाजू में झूले पर बैठने में भक्त को संकोच होता है। इसका कारण, भगवान के पास बैठते समय भगवान कितने महान् हैं इसका उसे पता चलता है, और स्वयं कितना छोटा है यह भी वह जानता है।

उसको लगता है कि मैं जगत् में घूमता था तब लोग मुझे सन्त कहते थे, परम करुण कहते थे। परन्तु भगवान कितने करुण हैं! गाँव के सरपंच की पत्नी सौ रुपयों की साड़ी पहनकर बाहर जाती है तो उसे अपनी साड़ी पर गर्व होता है कि मेरी साड़ी सौ रुपयों की है। परन्तु वह किसी के विवाह में मुंबई जैसे शहर में आती है तब वहाँ करोड़पति की पत्नी बीस-तीस हजार की साड़ी पहनी हुई देखती है, तो उसे अपनी साड़ी तुच्छ लगती है। इसी प्रकार यह भक्त जब जगत् में विचरण करता है, तब लोग उसे करुण कहते हैं, परन्तु भगवान के पास आने पर उसे अपनी करुणता की शर्म आती है। कारण उसे पता चलता है कि मुझसे भी भगवान कितने अधिक करुण हैं! मराठी में कहा है– **'थोरापासून दूर दूर वसतो.....।'** भगवान के गुण देखकर उसे संकोच होता है। बड़े ही संकोच के साथ वह भगवान के पास बैठता है।

उसके बाद छठी सीढ़ी आती है। अब भक्त का संकोच दूर होता है। वह भगवान की बाजू में बिना संकोच के व्यवस्थित रूप में बैठने लगता है, सलाह-मशविरा करने लगता है, भगवान के साथ खेलता भी है। **'तुष्यन्ति च रमन्ति च....।'** ऐसा गीता वर्णन करती है। उसका जीवन कैसा है? उसके साथ भगवान हैं, उसके भीतर बैठकर भगवान खेलते हैं, वह भी खेलता है। ऐसी एक स्थिति आती है। सुख व दुःख रूपी दोनों गेंद खेलते हैं।

इसके बाद भगवान के साथ असली, बहुत नजदीक का सम्बन्ध शुरू होता है। यह खेल ही ऐसा है। एक बार साइकिल पर समतोल *(Balance)* साध लिया कि साइकिलस्वार एक हाथ छोड़कर, दोनों हाथ छोड़कर साइकिल चला सकता है। इसी प्रकार इस स्थिति में

पहुँचने पर जो भक्ति की स्थिति आती है उसमें भगवान और भक्त का मित्र का सम्बन्ध शुरू हो जाता है। उसीको सख्यभक्ति कहते हैं। भक्त और भगवान दोनों एक दूसरे के कंधों पर हाथ रखकर साथ में चलते हैं। शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य आदि भगवान के प्रिय सखा हैं। भगवान उनसे कहते हैं, 'यह जगत् भावशून्य बन गया है। किसी का किसी पर भाव नहीं है। सब झूठे बन गये हैं। मुझे व्यथा होती है। तनिक जगत् में जाकर देखकर तो आओ।' इसीलिए ये महापुरुष जगत् में जन्म लेते हैं। वे अपना प्रारब्ध लेकर नहीं आते। लोग शंकराचार्य, वल्लभाचार्य की जन्मपत्रिका बनाते हैं। जन्मपत्रिका बनानेवाले तो कृष्ण भगवान की भी जन्मपत्रिका बनाते हैं और कहते हैं, इनकी जन्मपत्रिकाओं में ऐसे ही ग्रह थे, इसलिए ऐसा हुआ, यह होना ही था।' अरे! ग्रह कब होते हैं? कर्म से ग्रह बनते हैं। जिनके अपने नाम पर कोई कर्म ही नहीं है उनको ग्रह बाधा दे भी कैसे सकते हैं? ऐसे महापुरुष दुःख झेलते हैं। दुःख की स्थिति में कैसे रहना है यह समझाने के लिए दुःख झेलते हैं तथा उसे सहन करते हैं।

उसी प्रकार भक्त की पुत्र की भूमिका भी होती है। भक्त पुत्र की स्थिति में आता है, तब भगवान अनुनय करते हैं कि, मेरे पास आओ, मेरी गोद में बैठो।' भगवान को भी अनुनय करना पड़ता है, ऐसी स्थिति आती है। भक्त, पुत्र के नाते भगवान की गोद में बैठता है, परन्तु इसमें दोनों में खींचाव नहीं होता। मधुरा भक्ति में दोनों भक्त और भगवान में खींचाव होता है। तुम अपने पुत्र को खींचते हो, अपनी गोद में बिठाते हो, उस पर चुंबनों की झड़ी लगाते हो, परन्तु उसमें पुत्र को आनंद नहीं है, उल्टे वह हैरान हो जाता है, कारण उसको ऐसी कोई आवश्कता नहीं है। पिता भले ही उसके चुंबन लेता रहे। अन्त में हैरान होकर वह रोने लगता है। उसे लगता है कि यह क्या पागलपन है? पिता पुत्र को प्रेम से, भाव से अपने पास लेता है, उसे चूमता है, परन्तु इससे दोनों में खींचाव नहीं है।

पति-पत्नी के सम्बन्ध में जितना खींचाव पति को होता है उतना ही खींचाव पत्नी को भी होता है। ऐसी ही भक्त और भगवान की स्थिति जब आती है, तब मधुरा भक्ति शुरू होती है। इसमें भक्त और भगवान का सच्चा मिलन होता है। यह मधुरा भक्ति है। इसके लिए भक्त को प्रभु के साथ वैसा सम्बन्ध जोड़ना पड़ता है। उसके लिए जीवन बदलना पड़ेगा।

भगवान के साथ पुत्र, सखा या प्रिय का सम्बन्ध जोड़ना हो तो भक्त को अपना जीवन बदलना ही पड़ेगा। *Son and Holy faher* या *Holy father and son* कहने मात्र से पुत्र नहीं बन सकते। पुत्र के कुछ गुण हैं वे भक्त में आने चाहिए। उसी प्रकार मित्र के जो लक्षण हैं वे भक्त में आयेंगे तो मित्र बन सकता है। भक्त का वैसा जीवन होना चाहिए। पुत्र जिस प्रकार पिता का काम करता है, वैसे भक्त जब प्रभु का काम करता है तब पुत्र बन सकता है। भक्ति जैसे-जैसे उन्नत होती जाती है वैसे-वैसे भगवान के साथ संबंध जुड़ता जाता है।

पिता-पुत्र के सम्बन्ध में दोनों में खींचाव नहीं होता। मित्र-सम्बन्ध में तटस्थता होती है। मित्र-सम्बन्ध में प्रत्येक जन अपना अपना ही देखता है। उसमें एक दूसरे को एक दूसरे की आवश्यकता नहीं होती। सम्बन्ध ऐसा होना चाहिए जिसमें दोनों में मिलन की आतुरता हो, उत्कंठा हो। वह सम्बन्ध है **'प्रियः प्रियायाः.....।'** प्रियकर और प्रियतमा का सम्बन्ध, यह मधुरा भक्ति है। इसमें भक्त और भगवान दोनों में समान खींचाव होता है, मिलन की समान आतुरता व उत्कंठा होती है।

भक्तिशास्त्र में ऐसी एक अवस्था आती है कि जिसमें भक्त और भगवान समान होते हैं। इस स्थिति में पहुँचा हुआ भक्त भगवान के जैसा ही है, भगवान ही है। संपूर्ण विश्व उसका है। **'तस्येयं सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्'** संपूर्ण विश्व उसी की दौलत है। पिता पुत्र के सम्बन्ध में पुत्र का चेक पर हस्ताक्षर चलता है। परन्तु पति-पत्नी के सम्बन्ध की बात ही भिन्न है।

पुराने जमाने की घरवाली के नाम पर कुछ था ही नहीं। फिर भी सब उसीका था। वह ऐसा कहती थी कि मेरा कुछ नहीं है, सब इनका (पति का) ही है, परन्तु भीतर ही उसे मिजाज था कि सब मेरा ही है। यह सब जिसका है उसकी लगाम मेरे हाथ में है। ऐसी पुराने समय के प्रेम की स्थिति थी। अब तो पति-पत्नी दोनों समान हो गये हैं। अब 'मेरा इतना व तेरा इतना' ऐसा हिसाब होता है।

पति -पत्नी के सम्बन्ध में क्या है? दोनों समझते हैं, हमउम्र हैं, फिर भी पति थोड़ा बड़ा लगना चाहिए तभी पत्नी पति में विलीन हो सकती है। विलीन हो जाना बहुत बड़ी बात है। भगवान में विलीन हो जाना है। इसीलिए शंकराचार्य ने कहा है-

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः।।

(हे नाथ, आपका और मेरा भेदभाव चला गया है फिर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं हैं। जिस प्रकार तरंगें समुद्र की हैं, समुद्र तरंगों का नहीं।)

सन्त तुकाराम महाराज कहते हैं, **'तुज मज नाहीं भेद केला सहज विनोद।'** हम दोनों समान हैं हममें भेद नहीं है, फिर भी 'तू मेरा है' ये शब्द झूठे हैं,' मैं तेरा हूँ।' आप मुझसे तनिक बड़े हैं। इस स्थिति से मधुरा भक्ति प्रारंभ होती है। इस स्थिति में रासलीला शुरू होती है। चित्तैकाग्रता बढ़ती है, कम से कम एक घंटे तक टिकती है तब यह लीला प्रारंभ होती है। वल्लभाचार्य मधुराभक्ति के आचार्य हैं। वे **'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'** कहते हैं।

यूरोप-अमेरिका में जो प्रयोगजन्य मानसशास्त्र है उसके विविध पंथ हैं। उनमें एक पंथ ऐसा है कि वह मन, इच्छा, आशा, संकल्प, वासना आदि अमान्य ही करता है। उसका पुरस्कर्ता वॉट्सन *(Watson)* है। वह मन ही नहीं मानता। हमारे यहाँ की पिछली पीढ़ी पर

वाट्सन के इन विचारों का जबरदस्त प्रभाव पड़ा था। वे इन विचारों से मोहित हो गये थे। उसके कहने के अनुसार भगवान के दरबार में पैदा हुआ व्यक्ति एक सरीखा ही है। सब समान हैं। परन्तु सभी सरीखे नहीं होते, प्रत्येक जीव दूसरे जीव से भिन्न है, प्रत्येक जीव अपना दाना (पाथेय) पिछले जन्म से ही साथ लेकर आता है, यह मूलभूत पुनर्जन्म का सिद्धान्त उसने प्रस्तुत किया है, जिसका परिणाम एक पीढ़ी पर तो हुआ ही। वोट्सन मन को ही अमान्य *(Discount)* करता है।

दूसरा एक मानसशास्त्र का प्रयोग वैद्यकशास्त्र में हुआ है। वैद्यकशास्त्र में शरीरशास्त्र का विचार है। उसमें भी उन्होंने मन की 'अज्ञ' स्थिति दिखायी है। इसके पुरस्कर्ता फ्राईड, एडलर और जुंग हैं। उन्होंने मन की 'अज्ञ' स्थिति मानी है। उन्होंने उसके मूल में कामासक्ति मानी है। भक्ति के मूल में भी वह होगी ही, ऐसा उनका मानना है। परन्तु ये लोग एक बहुत अच्छी बात मानते हैं वह है कामासक्ति का उन्नयन *(Sublimation)*। वे कहते हैं कि कामुक वृत्ति तुम्हें सामाजिक कार्य की ओर ले जा सकती है। यदि वह सामाजिक कार्य की ओर ले जा सकती हो तो वह भक्ति की ओर क्यों नहीं ले जा सकती? उनका अभ्यास करने जैसा है। उनके विचार मधुराभक्ति के लिए उपयोगी हैं, क्योंकि अज्ञ मन का पता चला तो चित्तैकाग्रता किसलिए है, यह भी समझ में आ जायेगा। चित्तैकाग्रता का ज्ञान होगा तभी मूर्ति किसलिए यह भी समझ में आ जायेगा। इस सम्बन्ध में फॉईड के विचार उपकारक हैं। उसके विचारों में जो कुछ अच्छा है उसे स्वीकार करना ही चाहिए।

विल्यम् मैक्डुगल *(William MacDugal)* का *Introduction to social psychology* नाम का ग्रंथ है। वह ग्रंथ मधुराभक्ति के लिए उपयोगी है। उसका जो स्कूल है उसे हम हॉर्मिक स्कूल कहते हैं। उसमें उसने एक सहज प्रेरणा *(Instinct)*, दूसरी भावना *(Emotion)* और तीसरी स्थिरवृत्ति *(Sentiment)* ऐसी तीन कक्षाएं मानी हैं। मक्डुगल के उपरोक्त ग्रंथ के उन्नीसवें संस्करण के परिशिष्ट में उसने एक स्वतंत्र प्रकरण लिखा है। वह कामुक प्रेरणा *(Sex Instinct)* का स्वतंत्र प्रकरण है। उस ग्रंथ के तेरहवें प्रकरण में *'The instinct through which religious conceptions effect social life'* यह विषय लेकर अत्यन्त सुदंर विवेचन किया गया है। उसमें उसने भक्ति-भावना का विवेचन किया है। वह लिखता है, *'Sex sentiments and religious sentiments* (कामुक भावना व भक्तिभावना) मानवी मन की इन दो प्रमुख भावनाओं का विचार करके (केवल उनका स्वतंत्र विचार करके नहीं), उनका परस्पर सम्बन्ध तथा उनका एक दूसरे पर होनेवाले परिणाम का भी विचार करना चाहिए।' कामुक वृत्ति भक्तिमय बन जाती है अथवा भक्तिभावना वैश्विक भावना में से निर्माण होती है? ऐसा उसने प्रश्न उपस्थित किया है। उसका अभ्यास करने जैसा है।

रासक्रीड़ा में जो वर्णन आया उससे डरने का कारण नहीं है, उसका दूसरा आध्यात्मिक अर्थ करेंगे या उसे आध्यात्मिक रूप देंगे तो भी वह ठीक है, परन्तु रासलीला

वास्तव में शृंगारिक है ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है। शृंगार के जो श्लोक हैं, शब्द हैं उनको बदलने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह शृंगार अशरीरी है। उसे अशरीरी प्रेम कहते हैं।

रासलीला का विषय नाजुक है और उसके सम्बन्ध में मतभेद *(controversy)* भी बहुत है। कितने ही लोग रासलीला के अनुकूल हैं तो कितने ही लोग प्रतिकूल भी हैं, परन्तु रासलीला का वर्णन सत्य है और इसीलिए आज तक टिका है।

चित्तैकाग्रता भक्ति मानी गयी है। भगवान की कृपा होती है, होनी ही चाहिए। वह तो दिन-रात है, इसलिए तो बोल सकते हैं, सुन सकते हैं, देख सकते हैं, परन्तु जीवन का, जीव का उन्नतिकरण भक्ति में माना गया है। इस उन्नतिकरण के लिए ही मूर्तिपूजा उपयोगी है। चित्तैकाग्रता करके ही शुद्धता आती है तभी व्यक्ति आगे बढ़ सकता है। उसका विकास हो सकता है।

एक सेकंड की चित्तैकाग्रता दूसरे सेकंड तक बढ़ाना, उसका सातत्य बनाये रखना यह कार्य कितना कठिन है, जो चित्तैकाग्रता का अभ्यास करते हैं उन्हीं को मालूम है। हम तो तुरन्त ध्यान *(Meditation)* पर जाते हैं। अपना पैर नहीं, पेट नहीं, मुख नहीं, कान नहीं, नाक नहीं ऐसा कहते हैं, परन्तु वह मार्ग अत्यन्त कठिन है। मूर्ति में चित्त एकाग्र करके जब वह बढ़ जाती है तब मनुष्य विश्व को भूल जाता है। तभी सच्ची चित्तैकाग्रता-भक्ति हुई ऐसा कहा जाता है। तुकाराम महाराज ने कहा है- **'हेचि थोर भक्ति आवडते देवा संकल्पावी माया संसाराची'**- इस स्थिति में विश्व चला जाता है और भक्त का एक अलग ही मानसिक विश्व खड़ा हो जाता हैं।

यह चित्तैकाग्रता भौतिक नहीं है। उसमें आप एक नया ही मानसिक विश्व खड़ा करते हैं। आपके मन में इतनी ताकत भगवान ने रखी है कि उस शक्ति से आप प्रतिसृष्टि निर्माण कर सकते हैं। अभी यहीं बैठे बैठे आँखें मूँदकर आप अपनी आँखों के सामने कुछ भी खड़ा कर सकते हैं। आपके मन में वह शक्ति है। चित्तैकाग्रता कैसे करनी है, किसलिए करनी है, उसमें क्या करना है, उसके लिए जीवन कैसा होना चाहिए आदि बातें हमें योगदर्शनकार ने बतायी हैं।

चित्तैकाग्रता एक घण्टे तक टिकती हो तो भी भक्त की भूमिका पर रासलीला का आधार है। भक्त की विविध भूमिकाएं होती हैं। भक्त को भगवान पिता, शास्ता, दाता लगते हैं। विविध सम्बन्धों से भक्ति करके विविध भावनाएं पुष्ट होती हैं। मनुष्य के लिए भगवान ने भक्ति की सीढ़ियाँ बनायी हैं। प्रत्येक सम्बन्ध में भक्त को तत् तत् भावना प्रिय होती हैं। इसीलिए भगवान ने गीता में लिखा है, **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** तू जिस सम्बन्ध से मेरे पास आयेगा वैसा रूप मैं लूँगा। विविध भावनाएं, विविध सम्बन्धों से पुष्ट होती हैं। वे सभी भावनाएं पुष्ट होनी चाहिए। इसलिए भगवान ने गीता में कहा है, **'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते'** वह व्यर्थ नहीं कहा है। और **'ये**

यथा मां ...' तू जैसा रूप लेगा उसका विरुद्ध रुप मैं लूँगा। द्वैत में विरोध तो होना ही चाहिए। आज लोग विरोध से डरते हैं और तत्त्वज्ञान में लोग पूछते हैं, 'विरोध खत्म कैसे करेंगे?' उनसे कहना चाहिए कि तुम खत्म होंगे तब विरोध भी खत्म होगा। आमने-सामने *(Face to face)* देखने की शक्ति होनी चाहिए, देखने की हिम्मत होनी चाहिए। मैं हूँ तब तक विरूद्ध तो रहेगा ही।

वात्सल्यासक्ति और कान्तासक्ति इन दो आसक्तियों में संकोच की ग्रंथि छूट जाती है। **'गुणरहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षणं वर्धमानं अविच्छिन्नं, अनुभवरूपं'** ऐसा जो प्रेम और भक्ति के लिए लिखा है उसका कारण यही है।

प्रेम और भक्ति की स्थिति में क्या होता है? उदाहरणस्वरूप, भक्त याचक की भूमिका में होता है तब बहुत सी बातें विकसित होती हैं, परन्तु 'भगवान के ही पास माँगूंगा' इस निश्चय के कारण विश्वास निर्माण होता है। सेवक की भूमिका में स्वामीनिष्ठा विकसित होती है। पुत्र की भूमिका में उसमें कृतज्ञता और तत्परता विकसित होती हैं। मित्र की अवस्था में सलाह - मशविरा करने की शक्ति विकसित होती है। इन सभी बातों का जोड़ मधुरा भक्ति में होता हैं। यह भक्त जीवन की समग्रता है- *'This is integration of your devotional life.'*

प्रारंभ में क्या होता है? अपने सामर्थ्य की कल्पना और असमर्थता की समझ आयी कि माँग शुरू होती है। सामान्य मनुष्य भगवान के पास माँगता है और यह याचक-बना भक्त माँगता भी है मगर इसमें फर्क़ है। विकसनशील व्यक्ति को स्वसामर्थ्य की कल्पना और अपनी असमर्थता की समझ दोनों साथ ही होनी चाहिए। 'मैं असमर्थ ही हूँ' केवल ऐसा ही कहेंगे तो आप साधना नहीं कर सकेंगे। आपको अपने सामर्थ्य की कल्पना होनी चाहिए, साथ ही साथ अपनी असमर्थता का ज्ञान भी होना चाहिए, तभी भक्त की माँग शुरू होती है।

माँग शुरू होने के बाद भक्त में अस्मिता जागृत होती है। भगवान! मैं आपके पास क्यों माँगूं? उसकी अपेक्षा मैं आपका सेवक बनकर आपके उपयोग आ सकूं। यह विकास की स्थिति है। उसके बाद भक्त को लगता है कि भगवान! मैं आपका बन जाऊँ, परन्तु कैसे बनूँ? आपका सखा बनूँ? सख्यता में तटस्थता होती है, तटस्थता में क्या आनंद है? प्रभो! आपके साथ नहीं, मैं आपका बनकर रहूँगा। इस स्थिति में संकोच की ग्रंथि छूटती है।

प्रभो! मैं समझ चूका हूँ कि माँगने पर आप देते हैं और बुलाने पर आते हैं। परन्तु बिना माँगे ही जो देते हैं और बिना बुलाये ही मदद के लिए नहीं, बल्कि जीवन चलाने के लिए आते हैं, इस स्थिति में प्रभो! आपका व मेरा सम्बन्ध भिन्न ही होगा। इसीमें से **त्वमेव माता च पिता त्वमेव....** सम्बन्ध आता है। इसमें बंधु-सम्बन्ध नहीं आता।

पुत्र-सम्बन्ध में उपकारिता है और मित्र-सम्बन्ध में तटस्थता है। ये दोनों जब खत्म हो जाते हैं तब दोनों का खींचाव जिसमें है, ऐसी मधुराभक्ति यानी **प्रियः प्रियायार्हसि,** प्रियकर प्रियतमा का सम्बन्ध निर्माण होता है। मधुरा भक्ति में नित्य सम्बन्ध की जानकारी

हैं। हम बोलते हैं या देखते हैं तब बोलनेवाली अथवा देखनेवाली इन्द्रियाँ को भीतर किसी शक्ति का स्पर्श होने पर ही ये क्रियाएं होती हैं, परन्तु उस स्पर्श का हमें ज्ञान नहीं होता। उसका हमें अनुभव नहीं है और जानकारी भी नहीं हैं। अत: उस स्पर्श से हमें गुदगुदियाँ नहीं होती।

भक्ति के शिखर पर पहुँचे हुए भक्त के जीवन में खाना, पीना, सोना जो कुछ क्रियाएं होती हैं, उनमें उसकी - **यद्यद् कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभोस्तवाराधनम्-** यह भूमिका होती है। प्रत्येक क्रिया में उसे अनुभव होता है। इसलिए **'प्रभु का संग'** यह स्थिति चली जाती है; उसका प्रभु से नित्यसम्बन्ध स्थापित होता है।

हमें तो अभी 'प्रभु हैं' इस पर विश्वास करना है, फिर प्रभु का काम करना है। उसके बाद 'प्रभु का संग' की कल्पना आयेगी। भक्त को, प्रभु-संग नहीं, नित्य-सम्बन्ध के बिना जीवन अशक्य है इसकी समझ आती है।

हमारे पास जो कुछ विद्वत्ता आदि साधक की सम्पत्तियाँ आती हैं, उनमें साधक अवस्था में प्रथम सीढ़ी पर 'मैंने कमाया है' यह समझ होती है। दूसरी सीढ़ी पर 'भाग्य से मिला है,' तीसरी सीढ़ी पर 'प्रभु ने दिया है भाग्य ने नहीं' ऐसी समझ आती है। भाग्य में अपने गत जन्म के कर्म ही होते हैं, 'प्रभु ने दिया है' इसमें प्रसाद है। भाग्य ने दिया है और प्रभु ने दिया है, इन दोनों में फर्क है। प्रभु ने दिया और पति ने दिया इसमें भी फर्क है। प्रभु ने दिया है वह मेरे लिए दिया है और पति ने दिया है वह अपने लिए दिया है। ऐसा दोनों में बहुत फर्क है। हम तो अभी तक 'प्रभु देंगे' इस स्थिति पर भी नहीं पहुँचे हैं।

'प्रभु देते हैं तो मेरे लिए देते हैं और पति देता है तो वह अपने लिए देता है' इस स्थिति में पहुँचे हुए भक्त की भक्ति स्वभाव, एक अवस्था बन जाती है। इस स्थिति पर पहुँचने पर ही बिना हेतु, बिना स्वार्थ नि:संकोच मिलन हो सकता है।

हम जब भक्ति करते हैं तब सब कूड़ा-कचरा साथ में लेकर ही जाते हैं। **'रूपं देहि यशो देहि..... सर्व कामांश्च देहि मे'** यह कचरा साथ है तो नि:संकोच मिलन कैसे होगा? किसी सेठ के पास पेट में कुछ छुपी बात रखकर गये तो सेठ के साथ नि:संकोच मिलन कैसे होगा? सेठ के पास किसी नौकरी की, पैसे की, दान की, ऋण की अपेक्षा मन में होगी तो नि:संकोच मिलन कैसे होगा? नि:संकोच मिलन में प्रथम स्वार्थ-हेतु ये दोनों बातें निकल जानी चाहिए।

भक्तिशास्त्र में 'शान्तिरति, दास्यरति, सख्यरति, वात्सल्यरति और मधुर-उज्ज्वलरति' ये सब प्राप्त करने के लिए भक्त को अपना संपूर्ण जीवन बदलना पड़ेगा।

कोई ऐसा कहेगा कि 'मैं भगवान का पुत्र हूँ' तो ऐसा कहने मात्र से भगवान का पुत्र नहीं हुआ जाता। पुत्र का एक विशिष्ट जीवन होता है। वैसा हमारा जीवन हो तो हम भगवान के पुत्र हो सकते हैं। मैं आज भगवान से कहूँ कि आप मेरे पति हैं, तो क्या

हुआ? मेरा जीवन यदि पत्नी के जैसा नहीं होगा तो भगवान को पति कहने का क्या अर्थ है? जो भूमिका स्वीकारनी है उसके अनुसार जीवन भी होना चाहिए।

चित्तैकाग्रता तो बढ़नी ही चाहिए, एक घण्टे तक टिकनी चाहिए। जिस भूमिका से भक्ति करते होंगे वैसा जीवन बनना चाहिए। उसमें अति उच्च स्थिति आती है। आप यदि *Religious experiences* पढ़ेंगे तो ख्रिस्त कहता है *'He must be born again'* अब तू पहले था वैसा नहीं रहा, तू बदल गया है, दूसरा बन गया है।

सन्त तुकाराम महाराज कहते हैं, **'मीच व्यालो मज पोटी आपुलिया झालो'** 'मैं ही अपने पेट में जन्मा।' अब इन दोनों का लेखन संशोधकों *(Research scholars)* के हाथ में आया तो वे चर्चा करते हैं कि ख्रिस्त व तुकाराम इन दोनों में से पहले किसने जन्म लिया? किसने किसकी नकल की? इन संशोधनों को किसका संशोधन करना, किसलिए करना, कैसे करना यह भी मालूम नहीं होता। तुकाराम ख्रिस्त के बाद हुए अत: उन्होंने ख्रिस्त के विचार लिए ऐसा कहते हैं। मानो तुकाराम महाराज अंग्रेजी पढ़ने गये थे। उनको तो संस्कृत भी नहीं आती थी। फिर भी वे मिजाज़ से कहते हैं, **'वेदांचा तो अर्थ आम्हासीच ठावा, इतरांनी वाहावा भार माथां।'** वेदों का अर्थ तो हम ही जानते हैं, दूसरे भले ही अपने सिर पर बोझ ढोते रहें!' कितनी जबरदस्त मस्ती है यह!

'He must be born again' उसको फिर से जन्म लेना चाहिए इसका क्या अर्थ है? आज तक साधक के पास जो दया, करुणा आदि गुण थे, वे उसके अपने कमाये हुए थे। भक्ति की इस उच्च स्थिति और भूमिका में उसके पास जो सद्‌गुण हैं वे पतिरूप भगवान ने दिये हैं, व्यवहार में जिस प्रकार पति पत्नी को देता है, विवाह के पहले वरपक्ष की ओर से वधू के लिए वस्त्र भेजे जाते हैं। उसे लगता है कि मेरी पत्नी को मेरे द्वारा भेजे हुए वस्त्र ही धारण करने चाहिए। उसी प्रकार इस स्थिति में पहुँचे हुए भक्त के पास संपन्न दया, संपन्न करुणा होती है। हमारी दया, करुणा में और भक्त की दया, करुणा में फर्क होता है।

भक्त के पास सम्पन्न दया होती है। संपन्न दया किसे कहते हैं? जो दूसरे को हीन बनाकर की जाती है वह साधारण दया है। संपन्न दया जिस पर की जाती है वह हीन-दीन नहीं बनता। हमसे दूसरे का दु:ख देखा नहीं जाता, हम उसे सहन नहीं कर सकते, इसलिए दूसरे पर दया करते हैं। हौब्स और हेल्वेसियस इसे उन्नत स्वार्थ *(enlightened self-interest)* कहते हैं। परन्तु भक्त की दया 'अपना विकास होना चाहिए' इस दृष्टि से होती है। उसे संपन्न दया कहते हैं। इस भक्त के मन, बुद्धि आदि अपने नहीं हैं क्योंकि उसे भगवान से संपन्न मन, संपन्न बुद्धि मिली है। उसने साधना करके जिस बुद्धि को विशुद्ध बनाया वह चली गयी है और उसे भगवान से यह दूसरी बुद्धि मिली है। अन्यथा मेंढकी अपना पेट फुला फुलाकर कितना फुलायेगी? यह बैल जितनी बड़ी थोड़े ही बनेगी। उस प्रयास में उसका पेट फट जायेगा और वह मर जायेगी।

हम अपनी बुद्धि को कितना भी शुद्ध बनायेंगे तो भी वह भगवान के जैसी कैसे बन सकेगी? उच्च स्थिति में पहुँचे हुए भक्त को भगवान स्वयं सम्पन्न बुद्धि और सम्पन्न मन देते हैं। किसकी बुद्धि सम्पन्न कही जाती है? सम्पन्न (भगवान) ने जिसका स्वीकार किया है उसे सम्पन्नबुद्धि कहते हैं। इस सृष्टि में अति सम्पन्न यदि कोई है तो वह प्रभु है। प्रभु ने जिसकी बुद्धि और मन का स्वीकार किया है उसकी बुद्धि व मन संपन्न है इस भक्त ने अपना मन तथा अपनी बुद्धि भगवान को अर्पण कर दिये हैं, परन्तु अपना अहम् नहीं दिया है, वह अहम् नहीं देता है। इस स्थिति में रास निर्माण होती है। भक्त भगवान को अहम् क्यों नहीं देता? उसे अहम् अर्पण करना नहीं है, ऐसा नहीं है। वह अहम् अर्पण कर सकता है, परन्तु उसे अहम् नहीं देना है। क्यों? वह भगवान से कहता है, 'आप मेरे स्वामी हैं। मेरा अहम् मंगलसूत्र जैसा है। जब तक मेरा अहम् मेरे पास है तब तक आपकी मुझ पर सत्ता चलती है, यह निश्चित है।' विवाह के बाद स्त्रियाँ पति के नाम का मंगलसूत्र पहनती हैं, वैसा भक्त का अहम् मंगलसूत्र के जैसा है। भक्त कहता है, 'भगवान! मेरे अहम् में आपकी सत्ता दिखायी देती है, इसलिए मैं अपना अहम् अपने पास ही रखता हूँ।'

इस भक्त के मन व बुद्धि को भगवान ने स्वीकार किया है। भक्त के सभी गुण सम्पन्न बन गये हैं। इस स्थिति में भक्त का जीवन बदल जाता है। उसके बाद प्रेम, स्नेह, प्रणय, मान, राग, अनुराग महाभाव और दिव्योन्माद इन सीढ़ियों से प्रेम आगे बढ़ता जाता है। यह स्थिति जीवन बदलने के बाद ही आती है। इस स्थिति में दुःख नहीं, भय नहीं, शर्म नहीं, भक्त का अपनापन भी चला जाता है। यह स्थिति प्राप्त होती है तब रास की पूर्वभूमिका तैयार होती है। यह कल्पना नहीं है। यह स्थिति चित्तैकाग्रता बढ़ जाने के बाद जीवन की वृत्ति वैसी होने के बाद निर्माण होती है। उसे मधुराभक्ति कहते हैं।

वेदों में मधुराभक्ति है। यह मानव जीवन की एक स्थिति है, अवस्था है। एक ओर चित्तैकाग्रता बढ़नी चाहिए और दूसरी ओर जीवन बदलना चाहिए। भक्त का भगवान पर प्रेम है, वह तो मधुराभक्ति की प्रारंभिक अवस्था है। उसमें भक्त को भगवान के सिवाय अन्य किसी वस्तु का आकर्षण नहीं होता है।

ऐसा कहते हैं कि मजनू के सामने अल्ला आकर खड़ा हुआ। तब मजनू ने कहा, 'चले जाइए यहाँ से।' क्यों? 'आपको यदि मुझसे मिलना है तो लैला बनकर आइये, अल्ला बनकर नहीं।' मजनू को लैला के बिना कुछ नहीं चाहिए था। इसी प्रकार भक्त को भी भगवान के प्रेम के सिवाय अन्य किसी वस्तु का आकर्षण नहीं होता। उसे वस्तु चाहिए, सुस्थिति भी चाहिए, परन्तु उन दोनों का आकर्षण प्रभु के लिए ही है। हमारा प्रभु के प्रति आकर्षण वस्तु और सुस्थिति के लिए होता है! हमें वस्तु के लिए वासुदेव चाहिए और भक्त को वासुदेव के लिए वस्तु चाहिए। यह बहुत छोटा फर्क है। यह फर्क जीवन में लाने के लिए **'बहूनां जन्मनामन्ते...'** साधना चाहिए। **'बहूनां'** शब्द सुनकर डरने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रत्येक जन्म में आनंद है, सुख है। दृष्टि बदलने के बाद, भक्ति स्वीकार करने के बाद- **'तुष्यन्ति च रमन्ति च'** यही स्थिति है। इसीलिए भक्त भगवान

के पास जन्म माँगते हैं। तुकाराम महाराज भगवान से कहते हैं, **'तुका म्हणे गर्भवासी सुखें घालावे आम्हासी।'** भगवान! आप मुझे गर्भवास दीजिए।' शंकराचार्य के चरणों में मुक्ति पड़ी है फिर भी वे भगवान से जन्म मांगते हैं—

इस स्थिति में पहुँचे हुए भक्त को प्रभु के सिवाय किसी दूसरी वस्तु का आकर्षण नहीं है, इसका अर्थ किसी वस्तु का धिक्कार भी नहीं है। उनको वस्तु का आकर्षण केवल प्रभु के लिए होता है।

उसके बाद भक्त के प्रेम का रूपान्तर स्नेह में होता है। प्रेम में जब अधिक गहराई आती है, तीव्रता अधिक आती है तब उसे स्नेह कहते हैं। इसमें प्रेम अधिक स्निग्ध बनता है। उसके बाद की स्थिति प्रणय की है। स्निग्धता से प्रणय उत्पन्न होता है। प्रणय में तीव्र आत्मविश्वास होता है। यह एक भिन्न स्थिति है। भगवान के साथ भक्त के सम्बंध से भक्त को नितान्त विश्वास रहता है। उसे लगता है कि अपने और भगवान के सम्बंध में फर्क नहीं रह सकता। भक्त की ऐसी नितान्त विश्वास की स्थिति आ जाती है।

भगवान के मन में कामना निर्माण करने के लिए भक्त को क्या-क्या करना पड़ता है? कारण कामना हमारे मन में है, भगवान के मन में नहीं है। निष्काम को सकाम बनाना है क्योंकि वे निर्गुण निराकार है। यह कितना कठिन काम है? कोई एक दो भजन गाते गाते तल्लीन- बेहोश हो गया तो क्या वह मुक्त हो गया? मुक्ति रास्ते में पड़ी नहीं है। मुक्ति शास्त्रीय विकास है। जब जीवन की इच्छा-अनिच्छा *(Likes and dislikes)* बंद होती हैं। तब मुक्ति मिलती है।

प्रणय के बाद 'मान' की स्थिति निर्माण होती है। प्रणय में लज्जा, असूया आदि पर भाव निर्माण होता है और फिर 'मान' की अवस्था खड़ी होती है। ये सभी अवस्थाएं शृगार में हैं। मान की उत्क्रांति 'राग' में होती है। उसमें व्यक्तिगत सुख दुःख का विचार चला जाता है। लौकिक शर्म और परवाह नष्ट हो जाते हैं। जीवन बेचैन लगने लगता है।

दो अवस्थाएं होती हैं। एक अवस्था ऐसी है कि जिसमें चित्तैकाग्रता एक घण्टे तक टिके इतनी बढ़ जाती है, आँखें बंद हैं, सभानावस्था है। सभानावस्था में आँखें बंद करनी हैं। मन ने ही भगवान की मूर्ति का आकार लिया है- विश्व को भूल जाने के बाद ही यह हो सकता है- जीव स्वयं को भी भूल जाता है, तब उसे पूर्णता की अनुभूति *(Experiencing the fullness)* होती है, उसमें स्वयं मूर्ति भी आँखों के सामने से चली जाती है, विषय ही खत्म हो जाता है। ऐसी यह **पूर्णमदः पूर्णमिदं**- पूर्णता की स्थिति है।

दूसरी अवस्था में जीवन उन्नत होने के बाद रास शुरू होती है। उसमें जीव को प्रभु से मिलने की आतुरता होती है। ये दोनों अवस्थाएं उन्नत हैं। रास की आगे की अवस्था में 'अनुराग' निर्माण होता है। भक्त भगवद्प्रेम में इतना पागल बनता है कि वह अपने को ही भूल जाता है। 'मैं कुछ हूँ, मुझे कुछ चाहिए, मुझे कुछ बनना है, होना है,' ये सब बातें समाप्त हो जाती हैं। इस स्थिति का वैशिष्ट्य परमानन्द *(inaffable joy)* होता है। यह कृति

एक भिन्न ही **'तुष्यन्ति च रमन्ति च'** की स्थिति है। भक्त को लगता है कि अपने अनुभव किससे कहूँ? पतिमिलन का आनन्द किससे कहूँ? कैसे कहूँ? जो कुआंरी हैं उससे कहना बेकार है क्योंकि वह समझ नहीं सकती। और विवाहिता से कहना व्यर्थ है कारण वह उस अनुभव को लेती है, उसे उसकी जरूरत नहीं है। इस सम्बन्ध में उसके साथ बोलना ही व्यर्थ है।

भक्त को लगता है कि 'मैं भगवान के पास रोऊँगा तो लोग मुझे भक्त कहेंगे, परन्तु भगवान के साथ सम्बन्ध रखूँगा तो लोग मुझे पागल कहेंगे।' इस परमोच्च स्थिति में रास शुरू होती है। इसमें भगवान की मूर्ति चली जाती है व पूर्णता की अनुभूति मिलती है। इस एक क्षण, एक अमृतबिंदु में जब जीव चला जाता है, वह आनंद अवर्णनीय है। इस स्थिति में मूर्ति स्वयं चली जाती है, उसे हटाने की आवश्यकता नहीं रहती। सभानावस्था (*conscious state*) में ही मूर्ति स्वयं चली जाती हैं।

एक भाई ने मुझसे कहा, "मैंने चित्त एकाग्र किया और उसमें मूर्ति चली गयी।" मैंने कहा, 'ऐसा? तो तुम बहुत आगे बढ़े हो! तुम जब चित्त एकाग्र करने बैठे तब कैसे बैठे थे?' उसने कहा, 'पद्मासन लगाकर सीधा (तनकर) बैठा था।' 'ऐसा? तो फिर मूर्ति चली गयी तब तुम कौन सी स्थिति में थे?' उसने कहा, 'मेरा सिर कंधे पर झुका हुआ था।' मैंने कहा, 'तब तुझे नींद आ गयी थी।'

तात्पर्य यह है कि इस स्थिति में मूर्ति स्वयं चली जाती है, उसे हटाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह पूर्णता की अनुभूति अनेक बार मिलती है और कभी महीने में एकाध बार मिलती है। उस समय भक्त अस्वस्थ बनता है। पूर्णता की अनुभूति में उतना सौख्य है। पूर्णता की अनुभूति मूर्तिपूजा की, भक्ति की चरमावस्था है। यह स्थिति प्राप्त होने पर, वैसा जीवन बनने पर उस स्थिति में रास शुरू होती है।

रास में तीन बातें आती हैं। संगीत, साहित्य और नृत्य। इन तीनों का मिश्रण है रास। रास का संगीत स्वतंत्र ही है। वह आकर्षित करता है, उन्मादक बनाता है, विश्व को भूलाता है।

रास के साहित्य में दैन्य नहीं है, याचना-माँग नहीं है, श्रेष्ठता का घमंड नहीं है। उसमें आत्मीयता का कलरव है।

इस स्थिति में एक नृत्य शुरू होता है, जिसमें मन डोलता है, बुद्धि हिल जाती है। इस स्थिति में पहुँचनेवाले का जीवन एक विशिष्ट आकार का बन जाता है। यह महत्त्वपूर्ण बात है। यह अशरीरी *(occult)* प्रेम है। उसको **अनङ्गवर्धनम्** कहते हैं। **अनङ्गवर्धन** यानी जिसके अंग नहीं हैं।

रासपंचाध्यायी में यह अशरीरी वस्तुस्थिति है, सत्य है, उसका शृंगार भी सत्य है उसका वर्णन भी सत्य है परन्तु वह अशरीरी है।

रास में भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं। आत्मा की शरीर के साथ लीला, आत्मा की मन के साथ लीला, आत्मा की बुद्धि तथा इन्द्रियों के साथ और आत्मा की आत्मा के साथ लीला ऐसे विविध प्रकार की रास रासपंचाध्यायी में है। इसके लिए जीवन अत्यन्त विकसित होना चाहिए, जीवन में सूक्ष्मता, मृदुता, मधुरता और सौन्दर्य आना चाहिए, चित्तैकाग्रता बढ़नी चाहिए।

जब चित्तैकाग्रता कम से कम एक घण्टा अखंड टिकती है तब उस अवस्था में आँखें बंद करके एक अलग ही विश्व निर्माण करना है। वह पृथ्वीलोक नहीं, गोलोक हैं। गो-लोक यानी बुद्धि का लोक, मन का लोक। ऐसे भिन्न लोक हैं। वह अनन्य स्थिति है। यह स्थिति **अनङ्ग** है। उसमें अङ्ग नहीं हैं परन्तु अङ्ग के हावभाव हैं, अङ्ग की स्थिति है। तो फिर क्या यह स्वप्न है? स्वप्न आते हैं और यह स्थिति लानी पड़ती है, यही फर्क़ है।

रास में अन्तिम जीवन है। लगभग ऐसा कहा जा सकता है कि वह जीव भगवान तक पहुँचा है, भगवान ही है। रामानुजाचार्य कहते हैं कि मुझे शक्कर नहीं बनना है, शक्कर खानी पड़ती है। द्वैत टिकाने के लिए वे भगवान की अपेक्षा छोटे बनते हैं। वे भगवान ही बन गये हैं, परन्तु अपने को वे भगवान नहीं कहते हैं। कहा भी है:-

आदम को खुदा मत कहो आदम खुदा नहीं।
लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं।।

प्रथम चित्तैकाग्रता बढ़नी चाहिए और जीवन बदलना चाहिए। दोनों बातें साथ होनी चाहिए। चित्तैकाग्रता बढ़ाना कठिन है। प्रांरभ में तो सन्देह निर्माण होता है कि 'मैं जो कर रहा हूँ वह सच है या नहीं?' हम चित्त एकाग्र करते हैं क्योंकि ग्रंथों में वैसा करने को कहा है। चित्त एकाग्र करना चाहिए इसलिए करते हैं। ऐसी चित्तैकाग्रता किसी काम की नहीं है। जिसकी चित्तैकाग्रता एक घण्टे तक चलती रहती है, उसी समय दूसरे ही विश्व में, अशरीरी प्रेम में यह लीला शुरू होती है। तब प्रतिमा नहीं होती, कल्पना नहीं होती, मूर्ति भी नहीं होती, उसे स्वरूप कहते हैं। वल्लभाचार्य ने कहा है कि मधुराभक्ति में भगवान का स्वरूप होता है। उन्होंने ऐसा नहीं कहा है कि उस समय मूर्ति होती है। मूर्ति तो साधक बना सकता है। बनायी हुई मूर्ति, की हुई कल्पना, देखी हुई प्रतिमा- इनमें से उस समय कुछ नहीं होता, उस समय केवल स्वरूप होता है। वल्लभाचार्य ने अपना अनुभव कहा है, इसलिए हम भी कहने लगे कि भगवान को स्वरूप होता है,

भक्ति का प्रारंभ होने के बाद भक्ति टिकनी चाहिए। सम्पत्ति अथवा विपत्ति में जिसकी भक्ति विचलित नहीं होती, ऐसी भक्ति होने पर जीवन में भगवान के साथ भिन्न भिन्न सम्बन्ध शुरू होते हैं। अलग-अलग सम्बन्धों के अलग-अलग गुण जिस एक सम्बन्ध में एकत्रित होते हैं, वह अन्तिम मधुराभक्ति का संबंध है। उस समय कम से कम एक घण्टे तक चित्तैकाग्रता टिकती है तब यह लीला शुरू होती है और इस लीला में 'स्वरूप' होता है। यह 'स्वरूप' शब्द सुनने जैसा है। वल्लभाचार्य कहते हैं, वह 'स्वरूप' है। उसे वे मूर्ति

या प्रतिमा नहीं कहते हैं। मूर्ति, प्रतिमा भिन्न हैं और 'स्वरूप' भिन्न है। उनके सामने जो आया वह 'स्वरूप' था। हमारे सामने जो आती है वह मूर्ति है। 'स्वरूप' में भगवान प्राण लेकर आते हैं। इसके लिए जीवन की वैसी व्यवस्था बनानी पड़ेगी।

अन्तिम स्थिति में पहुँचने के बाद जीवन की व्यवस्था कैसी होती है? सूक्ष्मता, मधुरता, मृदुता और सौंदर्य इन चार बातों से युक्त वह स्थिति होती है।

सर्व प्रथम भक्त को सूक्ष्म बनना चाहिए। कितने ही भक्त कहते हैं, 'हम अब सूक्ष्म में पहुँच गये।' लोग उनका उपहास करते हैं। इसका कारण उनको इसका अर्थ मालूम नहीं है। उनको लगता है, ये दिखने में तो तगड़े लगते हैं, और सूक्ष्म में कैसे गये? अस्सी किलो तो इनका वज़न है, तो सूक्ष्म में किस प्रकार गये?

सूक्ष्म में जाना है और उसके लिए सूक्ष्म बनना आवश्यक है। व्यक्ति के जीवन में दो शोभास्पद बातें हैं। एक गुण और दूसरी क्रिया-कर्म! ये दोनों उसकी शोभा हैं। इस स्थिति में पहुँचे हुए मनुष्य के जीवन में अनेक गुण हैं, परन्तु उसकी भूमिका व समझ ऐसे हैं कि 'ये गुण मैंने नहीं कमाये हैं, ये गुण मुझमें आये हैं।' गुण कमाना भिन्न बात है और गुण आना भिन्न बात है। भगवान मुठ्ठी खोल-खोलकर किसी को नहीं देते। भगवान यदि इस प्रकार देते होंगे तो उनके दरबार में यह पक्षपात है। ऐसा होना संभव ही नहीं है। गुण कमाने ही पड़ते हैं। गुण उठाने के लिए साधना करनी ही पड़ती है। साधना किये बिना गुण नहीं आते। वास्तव में, साधक गुण कमाकर ही भक्त की अत्युच्च स्थिति प्राप्त करता है। उसके विविध गुण लोगों को आकृष्ट करते हैं। वह कहता है, 'मैं ये गुण नहीं लाया हूँ, वे आये हुए हैं।' उसका घमण्ड समाप्त हो गया है। वास्तव में गुण उसने कमाये हैं, परन्तु वह कहता है, 'गुण आये हैं मैं नहीं लाया हूँ।' फिर से कहता हूँ कि गुण साधना से ही आते हैं, फिर भी लाये हुए गुण नहीं, आये हुए गुण हैं।

इस भक्त की क्रियाएं लोगों को विशिष्ट लगती हैं, अच्छी लगती हैं, महान् लगती हैं, फिर भी कहता है कि क्रिया मेरी नहीं हैं। क्रिया तो भगवान ही करते हैं। यह भक्त झूठ नहीं बोलता है। वह उसकी असली भावना है। वह किसीका उठाया हुआ नहीं बोलता है। क्योंकि व्यवहार में लोग वैसा बोलते ही हैं। किसीसे पूछो, 'क्यों, व्यापार कैसे चल रहा है?' तो वह कहता है, 'अजी! भगवान अच्छी तरह से चला रहे हैं, उनकी कृपा से बहुत अच्छा चल रहा है,' परन्तु उसे मन में शत-प्रतिशत विश्वास है कि इसमें मेरा-अपना कर्तृत्व है। परन्तु वैसा बोलना अच्छा नहीं लगता, शोभा भी नहीं देता और डर लगता है कि 'सब मैं करता हूँ ऐसा कहूँ और कदाचित् कल सब चला गया तो?' व्यवहार में मनुष्य वैसा बोलता है यह बात अलग है और भक्त सच्ची भावना से बोलता है कि सभी क्रियाएं भगवान की हैं, वह बात अलग है।

लोकेषणारहित जीवन होना चाहिए। लोकेषणा नहीं होगी, तो क्या लोग उसके लिए तिरस्करणीय हैं? नहीं! उन्हें लोकेषणा नहीं है, फिर भी उनका जीवन लोक-प्रेम से भरा

हुआ होता है। वह बड़ा विचित्र जीवन है। उसे लोकेषणा नहीं होती। लोग कौन? लोगों का क्या मूल्य है? मेरी कद्र करनेवाले, मुझे अच्छा कहनेवाले वे कौन होते हैं? ये लोग मुझे अच्छा कहते हैं इसलिए क्या मैं अच्छा हूँ? एक ऐसी अवस्था भी आ जाती है कि इन्हें लोगों की कीमत ही नहीं होती, परन्तु वह ऐसी स्थिति नहीं है। यह भक्त का जीवन तो लोकप्रेम से भरा हुआ है। ऐसे लोकेषणारहित और लोकप्रेम से भरे हुए जीवन को सूक्ष्म जीवन कहते हैं। यह भक्त सूक्ष्म में चला गया ऐसा कहते हैं। वह सूक्ष्म बना। वह कुछ लोगों से ऊबा हुआ नहीं है। 'लोकेषणारहित और लोक-प्रेम से भरा हुआ जीवन' यह बात **वदतो व्याघात्** जैसी है। **वदतो मे जिह्वा नास्ति** - 'मैं बोलता हूँ मगर मेरी जीभ नहीं है, यह कहने जैसी है। ऐसा सूक्ष्म जीवन होना चाहिए।

दूसरा गुण है- **'मार्दवम्'**- उसके जीवन में जिस प्रकार सूक्ष्मता है वैसे ही मार्दव (मृदुता) भी है। जीवन मृदु बनना चाहिए। उस स्थिति में पहुँचने पर जीवन मृदु बनता है। उसे निजी सुखदु:ख है ही नहीं। फिर भी वह सृष्टि के सुख दु:ख के साथ समरस होता है। वह उदासीन *(Indifferent)* नहीं है। उसके लिए जीवन में उदासीनता नहीं है। ऐसे महापुरुषों का वर्णन है—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।।

(इन महापुरुषों का अन्त:करण फूल के जैसा कोमल, परंतु वज्र से भी कठोर होता है। ऐसे लोकोत्तर अन्त:करण को कौन जान सकता है?) लोगों का दु:ख देखकर वे पिघल जाते हैं। उसी समय, भगवान को यह विश्व चलाना है, यह जानकर हृदय कठोर बना देते हैं। हमने लोगों पर प्रेम ही नहीं किया है, इसलिए लोगों का दु:ख देखकर किच-किच करके छोड़ देते हैं। लोगों के दु:खों के साथ समरस हो जाने पर एक शंका आती है कि लोगों के दु:खों में समरस होना क्या उस विश्वचालक भगवान की व्यवस्था में हाथ डालना नहीं है? इस शंका का समाधान होना ही चाहिए। उन लोगों के शब्दों का भगवान के पास मूल्य है, वजन है, फिर भी वे वैश्विक क्रियाओं के बीच में हस्तक्षेप नहीं करते हैं। उसके लिए उन लोगों को कठोर बनना ही पड़ता है। दूसरों का दु:ख देखकर उनका अन्त:करण पिघल जाता है, फिर भी वे कठोर बनकर सहन करते हैं।

मार्दव का अर्थ 'नरम' मत समझना। उनका अन्त:करण कठोर भी है। जीवन में जिस प्रकार सूक्ष्मता आती है, मार्दव आता है वैसे ही माधुरता भी आती है। जीवन मधुर लगना चाहिए, सृष्टि मधुर लगनी चाहिए। वल्लभाचार्य का जो 'मधुराष्टकम्' है उसमें सभी मधुर है। वे कहते हैं—

गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।

सभी मधुर लगना चाहिए। भक्त को जीवन मधुर लगता है।

कितने ही लोग कहते हैं, 'यह जगत् अच्छा नहीं है, हम माया में पड़े हैं' आदि। परन्तु इस अवस्था में पहुँचा हुआ भक्त कहता है, 'हम माया में कैसे पड़े हैं? भगवान हमारे साथ हैं, जीवन मधुर है, सृष्टि भी मधुर है, हम गिरे हुए नहीं है।

सृष्टि तो अनेकों को मधुर लगती है। नवयुवकों को क्या सृष्टि मधुर नहीं लगती? लगती है। भक्त को सृष्टि मधुर लगती है वैसे ही जीवन भी मधुर लगता है। उसका जीवन वैसा ही है। उसके जीने में प्राण है, कुछ स्वाद है। उसे दुःख व व्यथा में भी मधुरता लगती है। यह माधुर्य असली माधुर्य है।

हम दुःख सहन करते हैं या छोड़ देते हैं, हमें कुछ मधुर नहीं लगता। भक्त को दुःख भी मधुर लगता है। वह जीवन का विकास *(Development)* है। दुःख, व्यथा मधुर लगने चाहिए। दुःख व व्यथा में जिनको मधुरता लगने लगती है उनका जीवन मधुर है, वे तृप्तात्मा हैं। चेहरे पर माधुर्य कब दिखायी देता है? तृप्तात्मा हो तो चेहरे पर माधुर्य दिखायी देता है।

मनुष्य को कहीं जाना न हो, गाड़ी पकड़ने की जल्दी न हो तो वह शान्ति से बैठा रहता है। आठ बज गये फिर भी उसकी नाड़ी की धड़कनें नहीं बढ़ती। समझो कि आपको काम पर जाना है इतने में आठ बजने का टकोरा सुनते हैं, तुरन्त आपके हृदय में धड़कनें होने लगती हैं- गाड़ी की गति धड़कने बढ़ाती है, इसका कारण आपको गाड़ी पकड़नी है। परन्तु जो तृप्तात्मा है उसके भीतर की मनःस्थिति भिन्न ही होती है। गीता भी कहती है—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।। (गीता. ६/८)

ऐसा तृप्तात्मा बनना चाहिए। हमारी आत्मा अतृप्त है। इसलिए हमारे मुँह को बदबू आती है। जिसके मुँह को बदबू आती है वह रासलीला का अधिकारी कैसे बन सकता है?

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।।

जिसके मुँह को दुर्गंध आती है उसके अधर मधुर कैसे होंगे? सुगंध आनी चाहिए। अतृप्त आत्मा को दुर्गन्ध आती है। ज्ञानतृप्त आत्मा को सुगन्ध आती है।

अज्ञान से भी तृप्ति आती है। कितने ही लोगों ने अमेरिका का नाम भी नहीं सुना होगा। हम गाँववालों के पास जायेंगे तो पता चलेगा कि कितने ही लोगों को अमेरिका का नाम मालूम नहीं है, उन्होंने सुना ही नहीं है। वे लोग तृप्तात्मा है। उनमें से किसी को अमेरिका नहीं देखनी है। अमेरिका देखने को नहीं मिली है इससे वे बेचैन नहीं होते हैं। अज्ञान से भी तृप्ति आती है, परन्तु उसे तृप्ति नहीं कहते। अतृप्त आत्मा के जैसा नहीं होना चाहिए, ज्ञानतृप्त होना चाहिए। ज्ञानतृप्तता को ही मधुरता कहते हैं।

माधुर्य का एक ताला भी है। जो छोटा-बड़ा, अनपढ़-पढ़ा हुआ, आदि सबको अच्छा लगता है उसका जीवन मधुर है। मधुरता आने के बाद जीवन में सौंदर्य आता है। उसके लिए जीवन बदलना चाहिए।

जीवन में सौंदर्य आना चाहिए। जीवन आकर्षक लगना चाहिए। सौन्दर्य कैसा होना चाहिए? लाजवाब! हमें एक ही सौंदर्य मालूम है वह है शारीरिक सौन्दर्य! इस सौन्दर्य के सिवाय वैचारिक सौन्दर्य है, मानसिक सौन्दर्य है। विचारों में भी एक सौन्दर्य होता है, वैसे मन का भी सौन्दर्य है।

जिसे आवश्यकता नहीं है उसे सुन्दर लगना है, यह कोई सामान्य बात नहीं है। भगवान को क्या आवश्यकता है रास खेलने की? बिलकुल आवश्यकता नहीं है। जो निष्काम है उसके मन में कामना खड़ी करनी है। यह कितनी कठिन बात है।

समझो, मुझे पूना नहीं जाना है, पूना जाने की मुझे कामना नहीं है, तो मुझे पूना ले जाना कितना कठिन है? परन्तु किसी रेसवाले से पूछो, पूना में रेस चलती है, उसको पूना ले जाना सहज शक्य है। इसका कारण उसने पूना में घोडों की रेस देखी है, यह रेस देखने का शौकीन है। जिसे क्रिकेट का मैच देखने का शौक है उसे उस बहाने तुम खींच सकते हो। परन्तु जिसे किसी प्रकार का आकर्षण नहीं है, कोई कामना नहीं है उसे आकर्षित करना बहुत कठिन है।

भगवान को कोई आवश्यकता नहीं है, उनके जीवन में किसी प्रकार की कमी नहीं है। उनके अन्तःकरण में कामना निर्माण करना कितना कठिन है? जिस भक्त के जीवन का सौन्दर्य भगवान के अन्तःकरण में आकर्षण निर्माण करता है उस सौन्दर्य का अधिक क्या वर्णन करना? उसका एक ही शब्द में वर्णन करना हो तो 'यह सौन्दर्य लाजवाब है' इतना ही कह सकते हैं।

इस स्थिति में भक्त का एक भिन्न ही मानसशास्त्र *(Psychology)* होता है। अब मधुरा भक्ति में भगवान पति बन गये। भगवान पति बने तो मुझे पत्नी बनना है। पत्नी बनना यानी क्या अलंकार पहनना है? क्या नारीरूप लेना है? पत्नी की भी एक स्त्री-मानस *(woman psychology)* है। उसमें अगतिकता *(passivity)* लगनी चाहिए। 'उसके (पति के) बिना मैं अगतिक हूँ' ऐसा लगना चाहिए। इतना ही नहीं, 'मैं उस पर निर्भर हूँ' इसमें आनंद लगना चाहिए, तभी 'पत्नी है' ऐसा कहा जाता है। स्वतंत्र *(Independent)* रहने में जब तक आनंद है, तब तक वह भागीदार *(partner)* है। कितने ही लोग विवाह को भागीदारी *(partnership)* समझते हैं। विवाह को पचास साल हो गये, पचास साल की भागीदारी हो गयी। भागीदारी में दोनों भागीदार स्वतंत्र होते हैं। जब तक भागीदारी चलती है तब तक चलने देना है। नहीं चली तब अलग हो जाते हैं। परन्तु भक्त को मधुराभक्ति में परावलंबी *(dependent)* रहने में ही आनंद आता है।

भगवान ने हमें परावलंबी रखा है इसका कारण यही है। पिता भी पुत्र को परावलंबी रखता है। वह पुत्र को दो रुपये देता है और कहता है कि ये समाप्त होने पर फिर

आओ। उसको कोई कहेगा कि सब पुत्र का ही है तो अधिक पैसा दे दो न! तो पिता कहता है, नहीं! मैं दो रुपये देता हूँ, वे खर्च होने पर पुत्र को फिर से मेरे पास आना चाहिए। पुत्र माँगता है और पिता देता है, इसीमें पिता को आनंद आता है। वह आनंद कुछ भिन्न ही है। (यह पुराने जमाने के पिता की बात बता रहा हूँ। आज तो पिता अपने नाम पर अधिक पैसा रख ही नहीं सकता। करेगा भी क्या? कानून भी ऐसा ही हुआ है कि पिता को **'नग्नो निःसङ्गशुद्धः'** बनाने के प्रयत्न चल रहे हैं।) मरते समय मनुष्य के पास कुछ होना ही नहीं चाहिए। उसकी सब लोग व्यवस्था कर रहे हैं। पुराने समय में शास्त्रकार यही कहते थे। गद्दी पर मनुष्य का जब अन्तिम श्वास चलने लगता तब उसे गद्दी पर से नीचे उतारकर जमीन पर कम्बल पर रखते थे, मानो इसमें यह कहना है कि उस गद्दी को अब छोड़ दो। उसे छोड़ना ही होता है।

भगवान! मैं आप पर निर्भर रहूँगा। मैं आपका आश्रित रहूँगा, आपका आश्रित रहने में आनंद है। लोग कहेंगे, ऐसा है तो हम भी भगवान के आश्रित बन जायेंगे, उसमें क्या है?' परन्तु ऐसा नहीं चलेगा। आपको अपना खाता *(Account)* बंद करना होगा तभी आश्रित बन सकते हैं। हमारा खाता तो कर्म से दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। वही हमारी पूँजी है। जो कुछ कर्म हमने किये हैं उनमें प्रत्येक कर्म पर हमारा नाम है। नाम छोड़कर जब कर्म करेंगे तब वह आपके खाते में नहीं जायेगा। इसके लिए गीता ने मार्ग बताया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। (गीता. ९/२७)

(हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, जो कुछ तप (स्वधर्माचरण) करता है वह (सब) मुझे अर्पण कर।)

भगवान की पत्नी बनना है न? तो कर्म छोड़ने पड़ेंगे, निर्धन बनना पड़ेगा। मेरा धन नहीं, भगवान का धन! कर्म पर अपना नाम नहीं रखना है। आज हम प्रत्येक कर्म पर अपना नाम लिखते हैं। कोई कहेगा कि 'हम कुछ कर्मों पर अपना नाम नहीं लिखते हैं।' अपने मन में लिखते हैं। भगवान भीतर ही बैठे हैं। उनको सब पता चलता है। उनको कोई प्रमाण या गवाही की आवश्यकता नहीं है। प्रमाण तो उनके पास ही है। गीता की **सर्वस्य चाहं हृदि संन्निविष्टः** - यह पंक्ति जितनी अच्छी है उतनी ही भयानक है। भगवान हमारे भीतर न बैठे होते तो अच्छा होता। वे भीतर बैठे हैं इसलिए उनको सब कुछ पता चलता है।

'कर्म मेरा नहीं है,' 'कर्म का खाता नहीं है,' ऐसी स्थिति आनी चाहिए। ऋषि अनेक कर्म करते थे, परन्तु उन पर अपना नाम नहीं लिखते थे, भगवान का नाम लिखते थे। सत्कर्मों का पार्सल भगवान के पास जाता था। भगवान के पास पार्सल आने पर भगवान कहते थे, 'यह पार्सल मेरा नहीं है, मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है, जहाँ से आया है

वहाँ वापस भेज दो।' वह पार्सल वापस ऋषि के पास आता था। ऋषि कहते थे, 'यह मेरा नहीं है, मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है।' कोई उसका स्वीकार नहीं करता था, अन्त में सत्कर्म यहीं पड़े रहते हैं, उसकी खाद बनती है और उसमें से संस्कृति खड़ी होती है। संस्कृति का वृक्ष खड़ा करने की शक्ति उसमें है। सत्कर्म करनेवाले ऋषि सत्कर्मों का स्वीकार नहीं करते थे और भगवान भी नहीं लेते थे। उनका खाता ही नहीं था।

जिस प्रकार अगतिकता चाहिए, वैसी ही ग्रहणशीलता *(Receptivity)* भी चाहिए। पत्नी बनने में नारीरूप नहीं लेना है, स्त्री के वस्त्र भी नहीं पहनने हैं। नारी के मानस *(psychology)* जैसा मानस बनाना है। पत्नी तुरन्त ग्रहण करती है। उसके पास तीव्र ग्रहणशीलता *(Quick receptivity)* होती है। वह पति के गुण तुरन्त उठा लेती है। वह पति के इशारे पर चलती है। सुभाषितकार कहता है—

स्त्रीणां हि साहचर्याद्भवन्ति चेतांसि भर्तृसदृशानि।
मधुरापि हि मूर्च्छयते विषविटपिसमाश्रिता वल्ली।। (वेणी-१/२०)

(साहचर्य के कारण स्त्री का अन्तःकरण पति के जैसा बनता है। जिस प्रकार लता मधुर होते हुए भी विषवृक्ष को लिपटे रहने से विषैली बन जाती है।)

यह साहचर्य शारीरिक साहचर्य नहीं है, मानसिक साहचर्य है। शरीर का साहचर्य तो नौकर को भी मिलता है, मन का साहचर्य चाहिए। नौकर को मन का साहचर्य नहीं मिलता, इसलिए वह सेठ के गुण नहीं उठा पाता। सेठ के मन का साहचर्य मिला तो सेठ के गुण उठायेगा। उसी प्रकार भगवान के मन का साहचर्य मिलना चाहिए तभी भगवान के गुण ग्रहण कर सकते हैं।

चातुर्मास्य में भगवान सो जाते हैं। भगवान सो जाते हैं यह कल्पना ही चमत्कारिक लगती है। बचपन में मुझे, भगवान चार महीने सो जाते हैं यह पौराणिक बात अच्छी नहीं लगती थी। भगवान सो कैसे जायेंगे? और भगवान चार महीने सोते होंगे तो मुझे चार घण्टे अधिक सोने में क्या हर्ज है? ऐसा मुझे लगता था। बड़ा होने पर मुझे पता चला कि विश्व में अन्न और जल ये रत्न हैं और ये रत्न भगवान चातुर्मास्य में ही देते हैं। चातुर्मास्य के समाप्त होने पर कार्तिक महीने में भक्त जब भगवान से कहता है कि भगवान! आपकी कृपा से इतना अन्न व जल मिला है। तब भगवान तुरन्त कहते हैं कि, 'अरे! यह तो सब तेरी मेहनत का फल है, मैं चातुर्मास्य में सो गया था।' संपूर्ण वर्ष में चातुर्मास्य के चार महीने अति महत्त्वपूर्ण महीने हैं। इन्हीं के आधार पर हम वर्ष के शेष आठ महीने व्यतीत करते हैं। इन्हीं महत्त्वपूर्ण महीनों में भगवान यदि सो जायेंगे तो हमारा क्या होगा? भगवान सो जाते हैं, मगर वह कर्म के बारे में सो जाते हैं। इस प्रकार किया हुआ प्रभुकार्य गाने में प्रतिष्ठा नहीं है, न गाने में प्रतिष्ठा है ऐसा भक्त को लगता है। यह ग्रहणशीलता भक्त में है इसलिए भगवान के गुण उसने उठाये हैं।

लोग उसे 'प्रभु' कहते हैं तो उसे अच्छा नहीं लगता। 'प्रभु का बनने का' उसका प्रयत्न रहता है, प्रभु बनने का नहीं! वह कहता है, भगवान मुझे आपका बनना है। तू ही, तू ही, तू ही, दूसरा कोई नहीं। आप ही सत्य हैं। **'एकं सत्यं अन्यत् शून्यम्।'** वह प्रभु के इशारे पर चलता है। हम वासना-कामना के इशारे पर चलते हैं। किसी न किसीके इशारे पर चलना तो पड़ता ही है। किसके इशारे पर चलना है वह निश्चित करना है।

नामदेव महाराज से किसी ने पूछा, 'चलिए, तीर्थयात्रा करने जायेंगे,' तीर्थयात्रा करनी हो तो इतना ही देखना पड़ता है कि जेब में पैसे हैं या नहीं अथवा दूसरे के पैसों से तीर्थयात्रा करनी है? कितने ही लोग ऐसे होते हैं। एक व्यक्ति ने मुझे कहा, 'मैं हमेशा दूसरे के पैसों से तीर्थयात्रा करता हूँ।' मैंने पूछा, 'क्यों?' वह कहता है, 'अपने पैसों से तीर्थयात्रा करने से घमण्ड आता है।' वाह रे वाह! बहुत अच्छी बात है। अपना पैसा बैंक में रखना और दूसरे के पैसों से तीर्थयात्रा करनेवाले को हम लोग आध्यात्मिक कहते हैं। सुनते हैं कुछ, मानते हैं दूसरा ही। गुजराती में कहावत है— **'कीधुं कशुं ने समझ्यो कशुं, आँखनु काजल गाले घस्युं।'** ऐसा होता है।

नामदेव से जब लोगों ने तीर्थयात्रा में चलने को कहा, तब नामदेव ने कहा 'तनिक ठहरो! मैं अभी आया।' नामदेव तुरन्त विठ्ठलनाथ के पास गये, उनकी आँखों में आँसू थे। विठ्ठलनाथ से पूछते हैं, 'भगवान! ये सब लोग मुझे तीर्थयात्रा में चलने के लिए कहते हैं, क्या मैं जाऊँ?' हमें इसमें नामदेव का पागलपन लगता है। परन्तु यह पागलपन नहीं है, यह एक मन की स्थिति है। भगवान के इशारे पर चलनेवाले भक्त ऐसे होते हैं।

तीसरा एक गुण है, **'शरणागति।'** मेरा कुछ नहीं है, सब तुम्हारा है। मन, बुद्धि और अहम् भी मेरे नहीं हैं। शरणागति के लिए अंग्रेजी में *Surrender* शब्द है, परन्तु यह शब्द अच्छा नहीं है, इसमें अगतिकता होती है। अगतिक बनने पर जो दिया जाता है उसे शरण *(Surrender)* होना, ऐसा कहा जाता है। भक्त की ऐसी स्थिति नहीं है, वह अगतिक नहीं है। वह जो मन, बुद्धि, अहम् भाव से देता है। उसे समर्पण कहते हैं। 'भगवान! मन, बुद्धि, अहम् ये सब मेरे नहीं हैं, आपके हैं, और आप मेरे हैं। अतः संपूर्ण विश्व मेरा है।' मेरा कुछ नहीं है यह प्रथम बात है और आप मेरे हैं, अतः संपूर्ण विश्व मेरा है' ऐसी स्थिति आती है, तब उसे हम 'शरणागति' कहते हैं।

'आप मेरी शरण हैं।' एक महापुरुष ने कहा, **'श्रीकृष्णः शरणं मम'**— यह महान् मन्त्र है। यहाँ 'शरण' शब्द का अर्थ है संरक्षण *Protection - defence* और मदद *(help)* करना, पोषण करना। शब्दकोश में देखिये, 'शरण' शब्द का अर्थ क्या है। नहीं तो अर्थ क्या होता है? **'श्रीकृष्णः शरणं मम'** यानी श्रीकृष्ण मुझे शरण आ गये, ऐसा अर्थ होता है। जिनको संस्कृत नहीं आती है, वे ऐसा अर्थ करते हैं। **'श्रीकृष्णः शरणं मम'। 'मम'** यानी मेरा। मेरा रक्षण करनेवाले, पोषण करनेवाले व मदद देनेवाले श्रीकृष्ण हैं। मुझे

किसीके हाथ से मदद मिलती होगी, परन्तु वह उन्होंने ही दी है, उसे भगवान ने ही भेजा है। स्वसामर्थ्य से, स्वकर्म से पोषण नहीं बल्कि अज्ञात की कृपा से पोषण है। आज तक किसीकी कृपा स्वीकार नहीं की, परन्तु भगवान! आपकी कृपा स्वीकार करने में मुझे आनन्द है। साधक अवस्था में किसीकी कृपा नहीं लेनी है और सिद्ध अवस्था में प्रभु की कृपा स्वीकार करनी है। क्योंकि कृपा लेने की आदत ही चली गयी है। दया भी उनकी (भगवान) ही चाहिए। आत्यन्तिक प्रेम जिस पर होता है उस पत्नी को संस्कृत में **दयिता** कहते हैं। 'दयिता' यानी दया करने योग्य, परन्तु वह शब्द हम व्यवहार में प्रयुक्त करते हैं उस अर्थ में दया शब्द यहाँ नहीं है।

'आज तक किसीकी कृपा का स्वीकार नहीं किया परन्तु आपकी कृपा स्वीकारने में आनन्द है' ऐसी स्थिति आती है उसे शरणागति कहते हैं। यह एक मानसिक स्थिति है और भक्ति में यह स्थिति लानी है। उसके बाद रास शुरू होती है। ऐसी जीवन की अवस्था होनी चाहिए। चित्तैकाग्रता बढ़नी चाहिए, स्थिति बदलनी चाहिए और इस स्थिति से ऊपर आने के बाद जब चित्तैकाग्रता बढ़ जाती है तब यह लीला सत्यरूप में शुरु होती है। इसका आध्यात्मिक अर्थ लगाने की आवश्यकता नहीं है। भगवान ने रासलीला की, मगर वह निर्दोष है ऐसा भी अर्थ लेने की आवश्यकता नहीं है।

यह स्वयं की लीला है। उसके जीवन में वर्तनचातुर्य *(Tact)* आ जाता है। 'पति पर प्रेम है' यह दूसरे को पता नहीं चलना चाहिए। पति को ही वह प्रेम समझना चाहिए। प्रेम दिखाना नहीं है, बोलना नहीं है, परन्तु पति को प्रेम मालूम होना चाहिए। ऐसा यह वर्तनचातुर्य है। जप कितना किया यह किसी को कहना नहीं पड़ता। इसीलिए तो गोमुखी में हाथ रखकर माला फेरते हैं।

मैं हमेशा दृष्टान्त देता हूँ कि नव परिणीत लड़की मायके जाती है। वह घर में अकेली बैठी है और चावल बीनती है। बीनते-बीनते वह चावल में पति का नाम लिखती है, 'गंगाप्रसाद...' कारण पति याद आता है। अब वे दफ्तर गये होंगे...' ऐसा सोचती हुई पति का नाम लिखती है। इतने में छोटा भाई दौड़ता आता है, भाई को देखते ही वह अपने पति का नाम पोंछ देती है। 'मैं अपने पति को याद कर रही हूँ' यह किसीको मालूम नहीं होना चाहिए। ऐसी अवस्था भक्त की होती है।

अपनी सेवा-पूजा तो सबको मालूम होनी चाहिए ऐसा हमें लगता है। कोई सात बजे मिलने आनेवाला है, तो हम सात को पांच मिनट कम होते हैं तब पूजा में बैठते हैं, क्योंकि आनेवाले को मालूम होना चाहिए कि हम पूजा कर रहे हैं। पूजा कब हुई, कैसे हुई यह किसीको मालूम ही नहीं होनी चाहिए। हम गोमुखी में हाथ रखकर जप करते हैं, परन्तु आनेवाले व्यक्ति को मिलने के लिए हम गोमुखी हाथ में लेकर ही बाहर आते हैं।

उच्च स्थिति में पहुँचे हुए भक्त में एक विशिष्ट प्रकार की लज्जा *(Bashfulness)* निर्माण होती है। यह गुण आया कि स्त्री का गुण आ जाता है। प्रारंभ में साधक अवस्था

में दुष्कृत्यों की शर्म आनी चाहिए, परन्तु उन्नत अवस्था में उसके जीवन में दुष्कृत्य हैं ही नहीं! **'न मे वाक् अनृतं प्राह—'** ऐसा धर्मराज युधिष्ठिर कहता था। किसीने धर्मराज से कहा कि आप सत्यवाक् हैं, तो धर्मराज ने कहा, इसमें मेरा वर्णन करने जैसी कौन सी बात है? मैं सत्यवाक् नहीं हूँ। मेरी वाणी असत्य बोलती ही नहीं। मेरे हाथ में नहीं है कि मैं असत्य बोलूँ! सत्य बोलना या असत्य बोलना यह बात मेरे हाथ में होती तो अलग बात है। तब मेरे सत्य बोलने का वर्णन हो सकता है। सत्य बोलना मेरा स्वभाव ही बन गया है।

उसके बाद असमर्थता की शरम आने लगती है। प्रभो! आपका बन जाने पर अब मेरी असमर्थता चली गयी है। अब तक मुझे लगता था कि 'मैं असमर्थ हूँ, परन्तु अब आपका बन गया हूँ।' चमार की लड़की राजा को पसन्द आयी, राजा ने उसके साथ विवाह किया, वह रानी बन गयी। उसी समय से डी.एस.पी. भी उसे सलाम करने लगा, भगवान का बनते ही भगवान के सभी डी.एस.पी. शनि, मंगल, राहु, केतु सभी उसे सलाम करने लगते हैं। अब भक्त की असमर्थता चली गयी है।

उसके बाद बालिशता की शर्म होती है। भगवान! आप कितने महान् हैं यह आपके पास आने पर मुझे मालूम हुआ। आप कितने सुंदर हैं यह भी आपके पास आने पर ही मालूम हुआ। अब तक मैं केवल आपके सौंदर्य की कल्पना ही करता था। आप कितने बड़े और कहाँ मैं अदना सा व्यक्ति! फिर भी मैं आपके साथ 'हम-उम्र' का सम्बन्ध बाँध रहा हूँ, यह मेरा बचपना है।

भक्त के जीवन में अलग-अलग बातें आती हैं। उसके जीवन में विनय *(Modesty)* आता है। कार्य महान् है, परन्तु पति ने किया है, मैंने नहीं किया। उसने अपनी साधना से कमाया है, परन्तु उन्होंने भेजा है, ऐसा पत्नी कहती है। सेवा होती है अपनी इच्छा से, परन्तु कहती है, सेवा उसकी इच्छा से हो रही है। ऐसा विनय आता है। यह भी एक स्थिति है, बोलने की बात नहीं है।

वैसे ही भक्त के जीवन में आज्ञांकितता आनी चाहिए। मुझ पर किसी की आज्ञा नहीं चलेगी, केवल प्रभु की ही आज्ञा चलेगी। किसी कामना की, वासना की आज्ञा नहीं चलेगी। हमारा स्वामी नारायण नहीं, बल्कि कामना-वासना हमारा स्वामी है। उनकी पूर्ति के लिए हम स्वामीनारायण को नमस्कार करते हैं। इस भक्त के नारायण ही स्वामी हैं, दूसरे किसीकी सत्ता उस पर नहीं चलती।

यह स्थिति जब आती है तब **'रसो वै सः'** की स्थिति आती है। उसमें 'उपभोग' यह स्थिति चली जाती है। उसके बाद रास शुरू होती है। उसीका यह वर्णन है। उसकी ओर एक भिन्न दृष्टि से ही देखना चाहिए कि यह वर्णन सत्य है। उसे आध्यात्मिक ठहराने की आवश्यकता नहीं है। उस समय जीव-भक्त और भगवान की वैसी लीला होती ही है।

'रसस्य अयं इति रासः।' जिसमें रस ओतप्रोत है, अनुस्यूत है, उसे रास कहते हैं। **रसो वै सः** यह भोक्ता-भोग्य-विवर्जित रस है। उस समय 'बुद्धिदेह' रहती है और देहबुद्धि नष्ट हो जाती है। यह बेभान- *Unsonscious* स्थिति नहीं है। यह अति *Super conscious state* है। इसमें भावरूपता है, अभाव नहीं है। एक दृष्टान्त देता हूँ, नींद में अभावरूपता आती है। रास की स्थिति में वह अभावरूपता नहीं होती, विश्व नहीं, वह स्वयं नहीं है फिर भी अभावरूपता नहीं है, भावरूपता है। 'अभाव' भावरूप पदार्थ है ऐसा मानना नैयायिकों का बुद्धिविलास है।

भक्त की उस समय कैसी स्थिति होनी चाहिए? उसे प्रभु को समग्रता से मानना और समग्र रूप से प्रभु को जानना चाहिए। यहाँ 'समग्रता से' यह शब्द अधोरेखित *(underline)* करने जैसा है। गीता में उसके लिए खास तौर पर लिखा है—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।७-१।।

व्यक्ति को भी समग्ररूप से समझना, जानना मुश्किल है। कदाचित् किसी भक्त को भगवान के दर्शन हो भी जाएं, परन्तु समग्रता से वह भी भगवान को जानता है या नहीं कोई नहीं जानता।

हमारे हिन्दीभाषी भाइयों की भाषा ही भिन्न है। प्रारंभ में मुझे आश्चर्य लगता था कि यह क्या चल रहा है। वे बोलते हैं, 'आपका मुझे जब साक्षात्कार हुआ.....।' 'मिले' को ये लोग साक्षात्कार कहते हैं।' उनकी भाषा में 'मिलना' यानी साक्षात्कार होना है। परन्तु भगवान को समग्रता से पहचानना बहुत कठिन है। **'असंशयं समग्रं मां....'** इस स्थिति में पहुँचा हुआ भक्त प्रभु को समग्रता से मानता है और समग्रता से जानता भी है।

ऐसी जीवन की स्थिति हो जाने के बाद यह क्रीड़ा प्रारंभ होती है। अशरीरी *(occult)* स्थिति में यह रासक्रीड़ा है। अभावरूप नहीं है। भावरूप है और वह असली रास की क्रीड़ा है। **'रसो वै सः'** इसका एक भिन्न ही मानसशास्त्र निर्माण हो जाता है। यह रासलीला केवल कल्पना नहीं है, केवल बौद्धिक विलास नहीं है। यह मन की स्थिति है आनेवाला अनुभव है। जिस प्रकार मातृत्व तथा वात्सल्य का अनुभव भारत में आता है वैसा ही अमेरिका में भी आता है। यह जितना सार्वजनिक है उतना भक्ति की उच्च स्थिति में आनेवाला अनुभव भी नहीं है। ख्रिश्चन गूढ़वाद *(Christian Mysticism)* में *An assertion of individuality* के समान अनुभव है। इसमें *assertion* का अर्थ निश्चित प्रतिपादन है। आज हमारा कोई निश्चित प्रतिपादन नहीं होता। हम शुद्ध हैं, हमारे मन में तनिक भी मैल नहीं है ऐसा हम नहीं कह सकते।

हम भगवान से कहते हैं, 'भगवान! मेरा मन जैसा है वैसा चला लीजिए। आप बड़े हैं, मैं छोटा हूँ।'

'मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं सुरेश्वर।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे।।'

ऐसी हमारी स्थिति है। हमने व्यक्तित्त्व की प्रतिज्ञा की ही नहीं!

इस स्थिति में पहुँचे हुए जो भक्त हैं, उनको अपने सम्बन्ध में संशय नहीं है। 'मेरा बदलना मुश्किल है' ऐसी भाषा उनकी खत्म हो गयी है। सामान्य मनुष्य की भाषा ऐसी होती है कि भगवान! मेरा मन जैसा है वैसे चला लो, मेरे लिए उसे बदलना कठिन है। मैं कैसा हूँ यह मुझे मालूम नहीं है, वह आप ही जानते हैं।' परन्तु इस भक्त की भाषा भिन्न ही होती है। उसे अपने सम्बन्ध में शत प्रतिशत विश्वास है। प्रभो! मेरा मन मलिन नहीं है, स्वच्छ और शुद्ध है, आप उठा लीजिए।' ऐसी विशुद्ध *(Refined)* स्थिति में व्यक्तित्व की प्रतिज्ञा *(An assertion of Individuality)* है। उसका जीवन स्वार्थरहित है। वह कहता है, मैंने स्वार्थ के लिए अपनी देहली पार नहीं की है और स्वार्थ के लिए किसीकी देहली पर नहीं गया हूँ। भगवान! आप मेरा संपूर्ण जीवन जाँचकर देखिए। स्वार्थ के लिए मैंने एक डग भी नहीं भरा है।

कितने ही लोगों का स्वार्थ बड़ा होता है और कितनों का स्वार्थ छुपा होता है तो कुछ लोगों का स्वार्थ प्रकट होता है। इस भक्त के जीवन में व्यक्त या अव्यक्त कोई स्वार्थ नहीं होता। उसका मोहरहित जीवन अर्थात् *Refined* जीवन है। वित्त, कीर्ति और स्त्री का मोह उसे किसी दिन नहीं हुआ है। वह भगवान से वैसा कह सकता है। कीर्ति, वित्त, स्त्री (स्त्री के लिए पुरुष) ये मोह के प्रमुख कारण हैं। उनके लिए यह भक्त कभी विचलित नहीं होता।

तीसरी बात, इस भक्त में विश्वासपूर्णता होती है। भगवान! मैंने आप पर ही विश्वास रखा है, वैसे ही मुझे अपने प्रति भी विश्वास निर्माण हुआ है। जीवन में विविध अवस्थाएँ आयी थी, परन्तु मेरी स्थिति कभी दोलायमान नहीं हुई, मेरा पतन नहीं हुआ। भक्त की इस स्थिति को व्यक्तित्त्व की प्रतिज्ञा कहते हैं। उसे निश्चित प्रतिपादन कहते हैं। इस भक्त का जीवन कितना स्वच्छ होगा? उसका 'ज्ञ' मन *(experienced state of mind)* भी शुद्ध हो गया है। इस स्थिति को व्यक्तित्व की प्रतिज्ञा कहते हैं। उसे 'रास'की अनुभूति मिलती है।

इस भक्त का व्यक्तित्त्व तथा चरित्र भगवान के प्रेम के साम्राज्य में विकसित हुआ है। इसके लिए गूढ़वाद में कहा है– *Mysticism is an assertion of individuality under the sway of love*। वहाँ के और यहाँ के भक्तों का अनुभव समान है। फिर से कहता हूँ कि वात्सल्य, मातृत्व, पति-पत्नी का आकर्षण ये बातें भारत-अमेरिका में ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व में समान ही हैं।

रासलीला बुद्धि का विलास नहीं है और कल्पना भी नहीं है। लाखों-हजारों मील अलग रहनेवाले दोनों भक्तों का अनुभव जब समान होता है तब उसे कीमत *(value)* आती है, उसका मूल्य मानना पड़ता है। जिसे उस स्थिति का अनुभव नहीं है उसे वह तर्क से *(logically)* समझाना पड़ता है। इसलिए व्यक्तित्त्व की प्रतिज्ञा है।

व्यक्ति का व्यक्तिमत्व स्वार्थ या भोगलालसा से भी विकसित होता है। उससे गुण भी आते हैं और चरित्र भी उन्नत होता है। इसलिए हम कहते हैं न, जो परिपक्व बुद्धि के वृद्ध लोग हैं उन्होंने अनेक वर्षाकाल (चौमासा) देखे हैं। अनेक चौमासे देखे हैं यानी चरित्र उन्नत किया उसके कारण गुण आ गये। व्यवहार से, स्वार्थ से या भोगलालसा से भी गुण आते हैं व चरित्र उन्नत बनाया जाता है, परन्तु इस भक्त के सभी सद्गुण उसका चारित्र सभी प्रभु प्रेम के फव्वारे के नीचे ही विकसित हुए हैं।

व्यापारी भी लोगों को सँभालते हैं और प्रभु के भक्त भी लोगों को सँभालते हैं। ज्ञानेश्वर भगवान ने भी सभी लोगों को सँभाला है। यह जो खुदरा व्यापारी *(Ratail shopkeeper)* है वह भी सभी को सँभालता है। व्यापारी जैसे लोगों में वे गुण स्वार्थ व भोगलालसा से आते हैं और भक्त में प्रभु-प्रेम से आते हैं, यह दोनों के सद्गुणों में फर्क़ है। व्यापारी भी लोकसंग्रह करते ही हैं। वे लोगों के साथ अच्छा ही बोलते हैं। डॉक्टर भी रोगियों के साथ अच्छा बोलते हैं, सभी व्यावसायिक *(professional)* लोग अच्छा बोलते हैं। परन्तु इन लोगों का अच्छा बोलना और भक्त का अच्छा बोलना, इनमें फर्क़ है। भक्त के बोलने में सुगंध है और इन लोगों के बोलने में दुर्गंध तो नहीं कहता हूँ, परन्तु सुगंध नहीं है।

भक्त का व्यक्तित्त्व, सद्गुण प्रभु-प्रेम के साम्राज्य में विकसित हुए हैं इसलिए उनके प्रत्येक इन्द्रिय पर, उनके मन पर संपूर्ण अधिकार भगवान का है। इस स्थिति में उनका व्यवहार शुरू होता है। आत्मा की परमात्मा के साथ ऐक्यपूर्ण समझ भिन्न बात है। वैसा ही अनुभव *Mysticism* में हैं। वे कहते हैं-*Consciousness of union with the self and God-* आत्मा की परमात्मा के साथ ऐक्यपूर्ण समझ होने के बाद उसमें निरपेक्ष आनन्दमयता निर्माण होती है। विषय और व्यक्ति के बिना, उसके सम्बन्ध के बारे में सोचने से अन्दर मिलन का आनन्द होता है। गुदगुदियाँ होती हैं। हमें भी अन्दर आनन्द होता है, परन्तु कब? विषय अथवा व्यक्ति के साथ सम्बन्ध होता है तब! विषय और व्यक्ति न हों तो हमें गुदगुदी भी नहीं होती। हमें आनन्द के लिए विषय या व्यक्ति चाहिए। हमारी आनंदमयता निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष है।

भक्त की आनन्दमयता निरपेक्ष होती है। वह कार्यरत होता है तब भी उसमें मिलन का आनन्द होता है। याज्ञवल्क्य जैसे महापुरुषों की चित्तैकाग्रता में, भगवान के साथ मिलन होता है उसका उनको आनंद होता है। सुबह वे व्यवहार शुरू करते हैं तब कार्यरत होने पर भी उनको मिलन का आनन्द मिलता है। इसलिए उनकी गुदगुदियाँ सतत चालू रहती हैं। ऐसा जीवन बनने पर रास होती है। रास का अर्थ यह नहीं है कि दो डण्डियाँ ली और रास शुरू हुई। सौराष्ट्र में तो सभी लोग रास खेलते हैं, परन्तु वह असली क्रीड़ा नहीं है। वैसे तो छोटे बच्चे घर का खेल खेलते हैं यानी खेल में परिवार खड़ा करते हैं, वैसा ही इस डाण्डिया रास का हुआ है।

हमारे आनन्द में कुछ न कुछ अपेक्षा रहती है। उसमें कुछ खराब है ऐसा मैं नहीं कहता हूँ। समझो कि हम रात को अथवा प्रातः आरती में गये तो हमें आनंद होता है। वह आनंद विषय या पदार्थ के साथ सम्बन्ध आने से होता हैं, अतः वह निरपेक्ष आनंद नहीं है। विषय या पदार्थ के न होने पर भी जो आनंद मिलता है वह निरपेक्ष आनंद है। ऐसी जीवन की एक स्थिति है और उसमें अलौकिक क्रियाशीलता निर्माण होती है, उसमें नवनिर्माण क्षमता हैं। हम ऐसा समझते हैं कि इस स्थिति में पहुँचा हुआ भक्त जड़भरत के जैसा कुछ न करते हुए बैठा रहता होगा। परन्तु ऐसी यह स्थिति नहीं है। उसमें क्रियाशीलता होती है। *Christian Mysticism* में कहा है, *'It is active and Creative-'* मैं यह इसलिए कह रहा हूँ कि इस भक्त का अनुभव और हजारों मील दूर रहनेवाले वहाँ के महापुरुषों का अनुभव एक है। यह अनुभव का विषय है, कोई बौद्धिक विलास या कल्पना नहीं है।

इस मिलन में - *It is active and creative* - सभी इन्द्रियाँ और संकल्प पवित्र बन जाते हैं। हमारी इन्द्रियों या मन पर से भौतिक प्रवाह नष्ट हो जाता है। यह प्रभाव अत्यन्त सूक्ष्म होने से हमें उसका पता नहीं चलता, परन्तु इन्द्रियों पर भौतिक प्रभाव पड़ता है। हम भजन सुनने जाते हैं उसमें भी भौतिक प्रभाव है। सूर अच्छे हैं, गानेवाले का गला अच्छा है यह पता करने पर ही हम सुनने के लिए जाते हैं। यही भौतिक प्रभाव है। इसका अर्थ हम भावशून्य हैं ऐसा नहीं है। जब मैं ऐसा दृष्टान्त देता हूँ तब ऐसा नहीं समझना कि वह भावशून्यता है। उसमें भावशून्यता नहीं है, परन्तु भौतिक प्रभाव अधिक है। कारण गानेवाले की आवाज अच्छी होनी चाहिए, हार्मोनियम, तबलावादन सभी अच्छे होने चाहिए, यह अपेक्षा रहती है।

इन्द्रियों पर भौतिक प्रभाव नहीं रहना चाहिए। श्रवण-साक्षात्कार, दर्शन-साक्षात्कार, स्पर्श-साक्षात्कार ऐसा जो कहा जाता है वह उसीके लिए कहा जाता है। जिसकी इन्द्रियों पर भौतिक प्रभाव नहीं पड़ता है, तब प्रश्न यह निर्माण होता है कि क्या ऐसे अनुभव आते हैं? क्या यह सत्य है अथवा चित्तभ्रम *(Illusion)* है? या अवस्तुभ्रान्ति *(Hallucination)* है? अन्डर हिल *(Under Hill)* नामक व्यक्ति ने इसके लिए एक स्वतंत्र प्रकरण लिखा है- *Voices and vision*। क्या रास का वस्तुनिष्ठ अस्तित्व है? हम इस समय रास का विचार कर रहे हैं। परन्तु रास का विचार कल्पनाजन्य है या वस्तुनिष्ठ है? उसका कुछ वस्तुनिष्ठ मूल्य *(Objective value)* है या नहीं? यह प्रश्न है।

भ्रम क्या है? वस्तुभ्रान्ति होती है वैसे ही अवस्तुभ्रान्ति *(Hallcination)* भी होती है। रस्सी पर सर्प का आभास होता है वह वस्तुभ्रान्ति है। इस प्रकार क्या रास का वस्तुनिष्ठ अस्तित्व है? यह प्रश्न है। सन्तों की, ऋषियों की, ज्ञानी भक्तों की जो अनुभूति है वह बौद्धिक *(Intellectual)* है अथवा काल्पनिक *(Imaginary)* है? अथवा शारीरिक *(corporal)* है? ये प्रश्न हैं।

समझो कि मुझे कोई अनुभूति हुई। तो वह बौद्धिक है, काल्पनिक है अथवा शारीरिक है? यह देखने के लिए चार कसौटियाँ मानी गयी हैं। परन्तु ये चारों कसौटियाँ जहाँ निष्फल होती हैं, वैसी यह स्थिति है। ये चार कसौटियाँ हैं, पहली सर्वगत तत्त्व *(Universality)*, दूसरी बौद्धिकता *(Intellectuality)*, तीसरी भावात्मकता *(Emotionality)* और चौथी नैतिकता *(Morality)*। ये चारों कसौटियाँ जहाँ फ़ीकी पड़ती हैं ऐसी एक स्थिति है। उसका सार्वजनिक अनुभव नहीं होता। वह अनुभव तो **'सहस्राणां कश्चित्'**- हजारों में एकाध को होता है। दूसरी- उसमें से बौद्धिकता ही चली जाती है। मैंने प्रारंभ में ही कहा कि बुद्धिदेह रहती है, देहबुद्धि समाप्त हो जाती है। यदि भावनात्मकता हो तो उसमें द्वैत की आवश्यकता है। यहाँ तत्त्व *(Substance)* समझेंगे तो वह एक ही है, ऐसी स्थिति यह है। वह बहुत ही आनंद की स्थिति है। अतः चारों ही कसौटियाँ बेकार हैं। इसमें इतना ही कह सकते हैं कि उसका प्रमाण निजी अनुभव है। वह कसौटियों से मालूम नहीं पड़ेगी। यहाँ वह स्वयं ही न्यायाधीश है। ऐसी स्थिति में रास है। वहाँ जो लिखा है वह सत्य है।

उस समय एक भिन्न ही जीवनदृष्टि बन जाती है। उसमें एक प्रभावी विजयवृत्ति होती है। उसी को *Sense of liberation and victom* कहते हैं। विषय, वासना, भय और आसक्ति इन चारों से मुक्ति मिलती है। हम तो इन चारों से लिप्त हैं। इस स्थिति में पहुँचे हुए भक्त को विषय-वासना तो रहती ही नहीं- **'हेची थोर भक्ती आवडते देवा संकल्पावी माया संसाराची।'** यह एक भिन्न ही स्थिति है।

तुकाराम महाराज का धन्धा ठीक तरह से नहीं चलता था। लोग उनसे कहते कि तुम प्रतिदिन भगवान के पास बैठते हो, उस समय भगवान से कहो न कि मेरा व्यापार क्यों नहीं चलता?' इन लोगों को तुकाराम भला क्या कहें? लोगों को क्या पता कि तुकाराम महाराज भगवान में तल्लीन होते हैं तब वे तुकाराम नहीं रहते थे, तो फिर वे भगवान से कहेंगे कैसे? विषय या वासना उस समय रहती ही नहीं थी। इसीलिए कहते हैं कि विषय-वासना, भय व आसक्ति से मुक्ति मिलती है। वेदान्त में 'विषय' शब्द स्थूल व्यवहार के अर्थ में प्रयुक्त नहीं करते। उसमें विषय यानी *object* है। हम भगवान के दर्शन करने के लिए जाते हैं तब भगवान की मूर्ति हमारे सामने होनी चाहिए क्योंकि वह *object* है। उस समय विषय से, *sense of liberation* इन सभी से मुक्ति मिल जाती है इसलिए वह विजय *victory*- है। विषय नहीं, वासना नहीं, आसक्ति नहीं ऐसी स्थिति में जीव का अस्तित्व *(existence)* होता है। इसीलिए लोगों को शंका आती है कि यह अनुभव है, सत्य है अथवा चित्तभ्रम है? उसका अस्तित्व उस समय होता है।

दूसरी बात ईश्वर के सान्निध्य का विश्वास *Conviction of nearness of God* है। ऐसा गूढ़ज्ञान *(Mysticism)* में लिखा है। ईश्वर के सान्निध्य का उपदेश हमारी स्थिति है, ईश्वर के सान्निध्य की कल्पना हमारा तर्क *(logic)* है, परन्तु ईश्वर के सान्निध्य विश्वास एक भिन्न ही बात है। उनकी प्रत्येक कृति भक्ति है, प्रभु के लिए हैं। हमें भी लगता है कि भगवान हमारे पास हैं परन्तु, वह हमारा तर्क *(logic)* है जब कि यह महापुरुषों का विश्वास

(Conviction) है। गाँव में जाकर किसी से भी पूछो, 'भगवान किधर हैं?' तो अनपढ़ किसान भी उत्तर देगा, 'भगवान मेरे अन्दर बैठे हैं।' ऐसा कहना अलग बात है, कल्पना करना अलग बात है, समझना अलग बात है, पढ़नां अलग बात है, *Logic* से मानना यह अलग बात है और उसका अनुभव तो सबसे अलग ही बात है। यह अनुभव है, ऐसी एक स्थिति है।

उनमें जिस प्रकार ईशसान्निध्य का विश्वास है वैसा भगवान के प्रति नितान्त प्रेम है। भगवान पर उनका कारणरहित प्रेम है। हमारा भी भगवान पर प्रेम होता है, परन्तु वह किसी कारणवश होता हैं। भगवान समर्थ हैं, दाता है, **कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुम् समर्थ** हैं, वे ही मुझे उठा सकते है, मुझे बदल सकते हैं, ऐसा कुछ न कुछ हमारा कारण भगवान के प्रति प्यार के पीछे रहता है। हमारा प्रेम सकारण है। प्रेम के पीछे 'कुछ है' ऐसी भावना जिनकी नहीं है, ऐसे ये लोग हैं।

भगवान हमें ऊपर उठा लेंगे ऐसा हमें लगता है, परन्तु जो स्वयं उठ ही गये हैं (उन्नत हुए हैं) उनको क्या उठाना? वल्लभाचार्य को क्या उठाना है! वे उठ ही गये हैं, वहाँ तक पहुँच गये हैं। भगवान के प्रति उनके प्रेम के पीछे 'कुछ हैं' है ही नहीं। उनका भगवान पर नितान्त प्रेम है। गूढ़ज्ञान में उनके लिए लिखा है, *A sentiment of love towords God* अर्थात् भगवान और भगवान की सभी बातों पर संपूर्ण प्रेम है। उस प्रेम के लिए कोई कारण नहीं, भगवान पर उनका कारणरहित प्रेम है।

मेरा गीता पर प्रेम है। लोग पूछते हैं, 'आपका गीता पर इतना प्रेम क्यों है?' तब मुझे लगता है, 'इनसे क्या कहूँ ?' गीता में ज्ञान है, आश्वासन है, भक्ति है, गीता पवित्र करती है, शुद्ध करती है क्या इसलिए गीता पर प्रेम है? गीता में ज्ञान है या नहीं आश्वासन, भक्ति है या नहीं, वह पवित्र, शुद्ध करती है या नहीं, यह मुझे मालूम नहीं है, यह सब देखने की मुझे आवश्यकता भी नहीं है। मेरा गीता पर प्रेम है इसका कारण वह कृष्ण भगवान ने गायी है और वे समग्र रूप में मेरे हैं। बस इतना ही मुझे मालूम है और इसीलिए गीता पर मेरा प्रेम हैं।

गीता में कहा है, **'असंशयं समग्रं माम्.....'** भगवान को समग्र रूप में जानना चाहिए। गीता में तो अवश्य लिखा है परन्तु उसे समझना कठिन है। लोग कहते हैं कि 'दादा' गीता के प्रखर अभ्यासी हैं' तब मैं काँपने लगता हूँ। गीता की गहराई किसने देखी है? गीता की कितनी गहराई है? जितना हम गहाराई में उतर सकें उतनी वह गहन है। जैसे-जैसे हमारी गहराई में जाने की शक्ति बढ़ती जायेगी उतनी गीता की गहराई भी बढ़ जायेगी। गहराई तो बहुत है। शब्दों के अर्थ भिन्न बात है। अनेक लोग *Doctor of letters* होते हैं। इसलिए जो प्रेम है उसके पीछे कोई कारण नहीं होना चाहिए।

हमारा भगवान पर प्रेम है, इसका कारण भगवान इस सृष्टि के स्वामी हैं, सर्वशक्तिमान हैं, पवित्र हैं, उनके पास लक्ष्मी है। नारायण की बाजू में लक्ष्मी को रख दिया है हमारे

चित्रकारों ने! नारायण की बाजू में लक्ष्मी होने से लोग नारायण को नहीं भूलेंगे। भिन्न-भिन्न लोगों को अलग-अलग बातें दिखानी चाहिए। समझो, तुम्हारे पास छोटा बालक आया तो तुम झट् से जेब में से चोकलेट निकालते हो और बालक को देते हो। वैसा ही यह है। भगवान की ओर भी लोग भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते हैं। परन्तु भगवान को समग्र रूप में जानना चाहिए। *A sentiment of love towards God* । इस महान भक्त का भगवान पर अपार प्रेम है। गीता पर प्रवचन भी करता हूँ, उसमें ज्ञान कितना है, भक्ति कैसी भरी हुई है, भगवान ने कैसे- कैसे आश्वासन दिये हैं, भक्ति को साहित्यिक मूल्य *(Literary value)* कितना है यह सब मैं कहता हूँ, परन्तु सच बात यह है कि गीता श्रीकृष्ण भगवान ने गायी है इसलिए मेरा गीता पर प्रेम है। यह कृष्ण यानी यशोदा का पुत्र नहीं, मेरे भगवान किसी का पुत्र हो ही नहीं सकते। सब लोग उनके ही लड़के हैं। इसलिए गीता में 'श्रीकृष्ण उवाच' नहीं है, परन्तु 'श्री भगवानुवाच ' ऐसा लिखा हुआ है। भगवान किसी के पुत्र या पौत्र नहीं हैं।

ऐसी एक स्थिति आ जाती है कि जिसमें भक्त का भगवान पर नितान्त प्रेम होता है। इस स्थिति में रास निर्माण होती है।

दशम स्कन्ध के उनतीसवें अध्याय में रास प्रारंभ होती है। मैं केवल इतना ही कहता हूँ कि रास एक सत्य बात है। चित्तैकाग्रता, भक्ति बढ़ने के बाद अशरीरी प्रेम *(Occult- Love)* में यह रासक्रीड़ा निर्माण होती है।

जिस प्रकार अग्नि के पास कोई दोष नहीं टिकता, वैसे भगवान ने रासक्रीड़ा की भी होगी, तो भी उनके सम्बन्ध से दोष चले जाते हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं है। दोष जाने के लिए सम्बन्ध रखने की आवश्यकता नहीं है। यह मधुरा भक्ति की अन्तिम अवस्था है। वह सत्य स्थिति है। भगवान ने प्रथम ही **'स्वागतं वो महाभागाः'** कहकर रासक्रीडा का सुंदर प्रारंभ किया है। स्वाध्यायियों को विश्वास होना चाहिए कि रासलीला सत्य है। लोग रासलीला को शृंगारिक कहें तो उसमें शर्म लगने जैसी कोई बात नहीं है। घबड़ाने की भी आवश्यकता नहीं है। वह एक सत्य घटना है।

लोग रासलीला का आध्यात्मिक अर्थ करते हैं, करने दो। वह असत्य नहीं है। फिर से कहता हूँ, परन्तु उसकी आवश्यकता नहीं है। रासक्रीड़ा का यह अर्थ कैसा है यह बताने में जब असमर्थता होती है, तब अलग- अलग अर्थ करने की इच्छा हो जाती है। वैसी इच्छा नहीं होनी चाहिए। यह भक्त के जीवन में होनेवाली आवश्यक सत्य घटना है। जैसे- जैसे चित्तैकाग्रता बढ़ती जायेगी वैसे जीवन भी भिन्न- भिन्न रूप में बदलते जाना चाहिए। सम्बन्ध बदलने चाहिए। भगवान के सान्निध्य और सामीप्य का ज्ञान होने के बाद सम्बन्ध का ज्ञान होना चाहिए, अन्यथा भगवान इतने महान हैं कि जीव भयभीत हो जायेगा। **'सर्वस्य चाहं हृदि संन्निविष्टः'** भगवान मेरे अन्दर बैठे हैं ऐसा कैसे बोल सकते हैं। क्योंकि 'इतनी महान शक्ति मुझमें बैठी है' ऐसा बोलना कोई मामूली बात नहीं है। जीव घबड़ा जायेगा, परन्तु भगवान के साथ के भिन्न-भिन्न सम्बन्ध रखकर भगवान के पास जा सकेगा। एक विशिष्ट प्रकार का जीवन और विशिष्ट प्रकार की चित्तैकाग्रता होने पर ऐसी लीला हो सकती है।

भक्त को तीव्र लालसा होनी चाहिए। मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरसायन में कहा, **'कामः शरीरसम्बन्धविशेषः स्पृहयालुता।'** 'भगवान चाहिए ही ऐसा लगना चाहिए। भगवान चाहिए यह तो हमें भी लगता है। कल कोई भगवान दिखायेगा तो किसे नहीं देखना है? सभी को देखना है। परन्तु उसके पीछे किसी प्रकार की तीव्र लालसा *(Urge)* नहीं है, मन में कोई छटपटाहट नहीं है। कुछ अस्वस्थता लगती ही नहीं। **'स्पृहयालुता'** चाहिए। चाहिए ही ऐसी तीव्र लालसा निर्माण होनी चाहिए। तीव्र लालसा निर्माण होने के बाद भगवान के वर्ताव के लिए भी माधुर्य निर्माण होता है। किसी भी रूप में भगवान अच्छे लगने चाहिए। कवि कालिदास के शाकुन्तल नाटक में राजा दुष्यन्त शकुन्तला को देखकर कहते हैं :

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।। (शाकुंतल १/१९)

'शैवाल से भरे हुए सरोवर में कमल हो तो शैवाल उसकी शोभा बढ़ाता है, चन्द्र पर जो धब्बा है वह उसकी लक्ष्मी है, उल्टे वह धब्बा चन्द्र की शोभा बढ़ाता है। वल्कल पहनकर भी शकुन्तला सुन्दर लगती हैं।'

कौन से कपड़े पहनकर भगवान आये हैं यह प्रश्न नहीं है। कृष्ण भगवान ने पीतांबर धारण किया है या लंगोटी पहनी है, वे महल में रहते हैं या स्मशान में बैठे हैं, यह प्रश्न ही उसके मन में खड़ा नहीं होता।

कभी-कभी मुझे लगता है कि संस्कृत का भाषान्तर करना ही बेकार है। जिसे नहीं समझता हो वह छोड़ दे। मूल भाषा में जो भाव है, वह दूसरी भाषा में आ ही नहीं सकता। उसका भाषान्तर हो ही नहीं सकता। प्रत्येक भाषा को अपना अपना सौंदर्य होता है। वह सौंदर्य दूसरी भाषा में नहीं आ सकता। **सरसिज......।'** इतना करने से भी ऐसा होगा, हम संस्कृत नहीं पढ़ते हैं उसका दुःख होता है। **सरसिज..... मधुराणां...।' बस्!** सभी मधुर लगना चाहिए। भगवान! आपका रंगरूप काला है ऐसा लोग कहते हैं परन्तु आप मुझे मेघश्याम लगते हैं। मधुर हैं आप! इस काले को श्याम किसने कहा? यह तो उसका माधुर्य है। भगवान! आप दुःख देते हैं, फिर भी अच्छे लगते हैं। आपके प्रति मुझे चिढ़ नहीं आती। जो दुःख देता है उस पर चिढ़ आनी चाहिए या नहीं? परन्तु भगवान! आप मुझे अच्छे लगते हैं।

महाभारत में एक घटना है। महाभारत के युद्ध में कौरव एक दाँव खेलते हैं। झूठी अफवाह फैलाने के लिए वे चार्वाक को भेजते हैं। वह कुशलता से प्रचार करता है कि भीम मर गया। भीम कैसे मरा? तो वह कहता है कि बलराम ने दुर्योधन को इशारे से ऐसी तरकीब बतायी और गदायुद्ध के नियमों को तोड़कर दुर्योधन ने भीम पर प्रहार किया

उससे भीम मर गया। चार्वाक ने अभिनय भी इतना अच्छा किया था कि युधिष्ठिर उस बात को सत्य मान गया। इतना होने पर भी युधिष्ठिर विचलित नहीं हुआ। उसने अर्जुन को सन्देश भेजा कि

हली हेतुः सत्यं भवति मम वत्सस्य निधने
तथाप्येष भ्राता सहजसुहृदस्ते मधुरिपोः।
अतः क्रोधः कार्यो न खलु यदि च प्राणिषि ततो
वनं गच्छेर्मा गाः पुनरकरुणां क्षात्रपदवीम्।। (वेणी-६/२८)

तू कदाचित् इस युद्ध में विजयी हुआ तो तुझे कृष्ण भगवान के प्रति चिढ़ आयेगी। कृष्ण के प्रति तुझे चिढ़ आनी ही नहीं चाहिए, परन्तु बलराम पर भी क्रोध नहीं करना है। क्यों भला? कारण बलराम श्रीकृष्ण के भाई हैं।

यह कितना मानसिक संतुलन *(Balance of mind)* है? सर्वनाश हुआ है, विजय तो मिली ही नहीं, बदनामी हुई है, एक भाई मर चुका है, दूसरा मरने वाला है और स्वयं अग्निप्रवेश करने तैयार हुआ है, ऐसी स्थिति है। इस स्थिति में युधिष्ठिर के मुँह में ये शब्द हैं।

भगवान! आपका रंग भले ही काला होगा, परन्तु मुझे वह मेघश्याम लगता हैं। भगवान! आप मेरा मज़ाक उड़ाते हैं फिर भी मुझे गुदगुदियाँ होती हैं। मज़ाक में भी अनेक मज़ाक क्रूर होते हैं। काल्पनिक भी होंगे, परन्तु एक घटना सत्य लिखी हुई है। एक बार कृष्ण भगवान के यहाँ एक संन्यासी आया। बातें होने के बाद सब एक साथ भोजन करने बैठे। बातें करते हुए कृष्ण भगवान ने संन्यासी से पूछा, **'संन्यासस्य महाबाहो तत्त्व मिच्छामि वेदितुम्'.... महाराज!** संन्यास का तत्त्व जानने की मेरी इच्छा है। संन्यासी तो असली संन्यासी था। वह गंभीर होकर उत्तर देने लगा, **'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः.....'** ऐसी बातें चल रही थीं। इतने में सुभद्रा खीर परोसने के लिए आयी।

सुभद्रा को देखते ही अर्जुन को रोमांच हो आया। वह उसकी तरफ निर्मेष देखने लगा। कृष्ण भगवान ने कहा, 'महाराज! संन्यास क्यों लिया जाता है इसका आपको ज्ञान है ऐसा नहीं लगता। आपने व्यर्थ ही संन्यास लिया है। **सुभद्राहरणं त्वेकं...।'** भगवान ऐसा मज़ाक करते थे।

भगवान! आपका कोई भी व्यवहार अच्छा लगता है। आप मज़ाक करेंगे, दुःख भी भेजेंगे, मेरे मन के विरुद्ध भी करेंगे तो भी मुझे अच्छे ही लगेंगे, मधुर लगेंगे।' माधुर्य में ऐसी स्थिति होती है। भगवान के सम्बन्ध में माधुर्य, माधुर्य ही, दूसरी कोई भाषा नहीं।

उसके बाद भक्त के मन में क्रोध निर्माण होता है। भक्त भगवान से कहता है, 'भगवान! जन्मजन्मांतर में साधना करके मैंने क्रोध छोड़ दिया है। उसके लिए मैंने जीवन का दृष्टिकोण ही बदल दिया जिससे किसी पर क्रोध न हो। भगवान! अब चित्तैकाग्रता बढ़ती है, परन्तु पूर्णता की अनुभूति नहीं आती।' ऐसी स्थिति आती है तब भक्त को क्रोध आता है। भक्तों के जीवन में क्या होता है इसका हमें पता नहीं चलता। हमें ऐसा ही लगता है कि 'यह भक्त होते हुए भी क्रोध क्यों करता है?' उसका क्रोध हमारे प्रति नहीं, भगवान के प्रति होता है।

रात को पति-पत्नी में झगड़ा होता है और सुबह उठने के बाद पत्नी क्रोध में ही व्यवहार करती हैं। सास को लगता है कि मैंने तो सुबह से बहू को कुछ नहीं कहा है, तो वह ऐसा क्रोध क्यों कर रही है? अरे! उसका गुस्सा सास पर नहीं है, पति के साथ रात को अनबन हो जाने से वह पति पर गुस्सा हुई है। सास को लगता है कि बहू उसी पर गुस्सा कर रही है। इसी प्रकार जब दीर्घकाल तक भक्त को भी पूर्णता की अनुभूति नहीं मिलती तब वह अस्वस्थ होता है। कभी कभी छींक आ रही है ऐसा लगता है परन्तु छींक नहीं आती। तब जैसी हमारी स्थिति होती है वैसी ही स्थिति इस भक्त की होती है। इधर हम छींक निकालने लगते है और बीच में ही कोई हमारे साथ बोलने लगा तो ऐसा लगता है कि एक चप्पत मार दें उसे!

साधना करके एक बार निकाला हुआ क्रोध इस अवस्था में फिर से निर्माण होता है। भक्त भगवान से कहता है, 'भगवान! आप मिलते क्यों नहीं? क्या आप बहुत बड़े हैं इसलिए नहीं मिलते? मैं आपको नहीं देख सकता। क्यों? आप बहुत दूर हैं इसलिए? मैं आपको नहीं समझ सकता। क्यों? आप गूढ़ हैं इसलिए? ऐसे प्रश्न निर्माण होते हैं कि प्रभो! आप बड़े क्यों हैं? आप दूर क्यों रहे हो? आप गूढ़ क्यों बने? भक्त की इस अवस्था की हमें कल्पना भी नहीं आयेगी।

भक्त कहता है, आप बड़े हैं तो मुझे क्यों नहीं बड़ा बनाया? मुझे छोटा क्यों रखा? आपको बड़ा रहना है तो मुझे भी बड़ा बना दो। मैं स्वयं बड़ा नहीं बन सकता, आप मुझे बड़ा नहीं बनाते, इसलिए आप नहीं मिलते। मैं किस पर क्रोध करूँ? ऐसी स्थति आ जाती है, तब सर्वस्व देने को मन होता है। मूल्य सर्वस्व देने का है, क्या देता है इसको मूल्य नहीं है। सबसे अधिक मूल्य उसे हैं जो सर्वस्व देता है।

एक बड़ा चित्रकार था। उसने बहुत सुन्दर चित्र बनाया। उस चित्र को वह राजा के पास ले गया। राजा उसे चित्र के लिए दस हजार रूपये देने लगा। पुराने समय के दस हजार रूपये थे वे, आज के घटे हुए मूल्य के रूपये नहीं थे। चित्रकार ने कहा, 'मुझे यह चित्र आपको नहीं देना है।' इतने में वहाँ एक कलाकार आया। उसने भी वह चित्र देखा, और कहा, 'वाह! कितना सुन्दर चित्र बनाया है!' कलाकार गरीब था, उसकी जेब में कुछ नहीं था। उसने अपने शरीर से वस्त्र उतारकर चित्रकार को दे दिये। चित्रकार ने कलाकार को वह चित्र दे दिया।

यह देखकर राजा ने पूछा, "इन वस्त्रों का मूल्य दो रूपये भी नहीं है, मैं तो तुझे दस हजार रूपये देता था। इतना होन पर भी तूने वह चित्र मुझे न देकर कलाकार को क्यों दिया?'

चित्रकार ने कहा, राजासाहब! आपके पास तो लाखों रूपये पड़े हैं, उसमें से दस हजार रूपये देने को आप तैयार हुए, परन्तु इस कलाकार के पास दूसरा कुछ नहीं था। उसके वस्त्र ही उसका सर्वस्व था। अपना सर्वस्व ही उसने मुझे दे दिया। मूल्य दस हजार रूपयों का नहीं है, सर्वस्व देनेवाले का मूल्य है। जो सर्वस्व देता है उसका मूल्य है।

चित्रकार ने राजा को चित्र नहीं दिया, बल्कि मैली धोती देनेवाले कलाकार को दिया। रास में 'भूलना' आवश्यक है। यही सर्वस्व है। देवता (भगवान) देवत्व को भूलना है व जीव की क्षुद्रता को भूलना है। तब रास निर्माण होती है। जब तक देवता का देवत्व व जीव का क्षुद्रत्व रहेगा तब तक रास नहीं होगी। भागवत में रास का बहुत ही सुन्दर वर्णन है, परन्तु इस स्थिति की कल्पना करके भागवत पढ़ना चाहिए। मैं भागवत कहने के लिए नहीं बैठा हूँ, भागवत की ओर किस दृष्टि से देखना है वह कहने के लिए बैठा हूँ। रासलीला की ओर कौन सी दृष्टि से देखना है यह कह रहा हूँ।

यह असली रासलीला है। भगवान और जीव दोनों सो गये हैं। दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता है। देवता को देवत्व भूलना पड़ेगा, जीव को क्षुद्रत्व भूलना पड़ेगा, तभी मिलन होता है। किसी भी मिलन में सर्वस्व अर्पण करने के बाद ही इस स्थिति में मिलन होता है। सामान्य व्यावहारिक मिलन में भी यही बात है। कलेक्टर व उसकी पत्नी का मिलन कब होता है? 'मैं कलेक्टर हूँ' यह पति को भूलना होगा, तभी मिलन होता है। अन्यथा मिलन शक्य नहीं है। सर्वस्व देने पर ही मिलन होता है।

दोनों सो गये हैं। कौन किसे जगायेगा? दोनों को मिलन की आतुरता है, अधीरता है। परन्तु कौन किसे जगाये? वेदान्त कहता है,

अहंकारो धियं ब्रूते तं सुप्तं मा प्रबोधयेत्।
उत्थिते परमानन्दे न त्वं नाऽहं न वै जगत्।।

अब क्या रहा? केवल अहंकार रहा। अहंकार का अर्थ व्यावहारिक अहंकार नहीं है। पैसे का या अधिकार का यह अहंकार नहीं है। जिसे 'अहं' *(Ego)* कहते हैं वह अहंकार यह है। 'मैं हूँ' इस अहंकार की यह बात है।

यह अहंकार बुद्धि से कहता है, जो पास में सो रहे हैं उन भगवान को जगाना नहीं। क्यों? वे यदि जाग पड़ेंगे, उठेंगे तो तू नहीं रहेगी, मैं नहीं रहूँगा और यह जगत् भी नहीं रहेगा।'

जीव और भगवान सोते हैं, वे ढोंग करते हैं। कौन किसे जगायेगा यह सन्देह जीव के मन में निर्माण होता है। तो फिर कौन जगाता है? भगवान परमानंद ही जगाते हैं।

भागवतकार लिखते हैं कि वैकुंठनाथ वेणुनाद करके गोपियों को जगाते हैं। भक्त को आतुरता, तीव्रता, अधीरता और बेचैनी है, फिर भी मुग्धता है। भाव नहीं दिखा सकते तब भगवान वेणुनाद करते है। इस वेणुनाद का अत्यधिक महत्व है।

रासलीला में वेणुनाद शुरू होता है। **शृंगं राति इति शृंगार:रा दाने** और शृंगम् का अर्थ है उत्कृष्टता। जिसमें दोनों की उत्कृष्टता रहती है उसे शृंगार कहते हैं। शृंगार शब्द का संस्कृत भाषा का अर्थ कहता हूँ। जिस सम्बन्ध में, जिस मिलन में दोनों की उत्कृष्टता कायम है, जिसमें कोई कनिष्ठ नहीं, कोई वरिष्ठ नहीं उसे शृंगार कहा जाता है। व्यवहार में देने में हमेशा देनेवाला बड़ा लगता है और लेनेवाला छोटा लगता है। जहाँ लेने-देनेवालों में कोई छोटा नहीं है, उसे शृंगार कहते हैं।

फिर भक्त कहता है, 'प्रभो! मैं अपनी बुद्धि की कूद से आपके पास नहीं पहुँच सकता। मेरा मन आपके मन को नहीं नाप सकता। क्योंकि वह अगाध है। परन्तु मुझे जैसा चाहिए वैसा शरीर तो आप दे सकते हैं, उसमें क्या है?' सगुणता प्रभु की शक्ति है या भक्तों की भक्ति है, यह एक प्रश्न है। भगवान सगुण बने वे अपनी शक्ति से बने या भक्तों की भक्ति से बने? भक्त कहता है, 'प्रभो! मुझे जैसा चाहिए वैसा शरीर आप धारण कर सकते हैं।' जहाँ संकीर्णभाव, देहभाव और अहंभाव शान्त हो गये हैं ऐसी यह स्थिति है। केवल अहंकार *(Ego)* रहा शेष सब चला गया है। बुद्धि है ही नहीं ऐसी यह स्थिति है। इस स्थिति में रासलीला शुरू होती है। जहाँ बद्धि है ही नहीं ऐसी अवस्था चित्तैकाग्रता में आती है।

वह 'बुद्धि-शरीर' है, शरीर की बुद्धि नहीं है। शरीर की बुद्धि चली गयी है। केवल अहंकार का वस्त्र रहा है। इसका कारण क्रीड़ा के लिए, खेल के लिए जुदाई होनी चाहिए, अलग रहना ही चाहिए। अलग रखने की शक्ति अहंकार में होती है। इसलिए यह जो अहंकार का वस्त्र है व खींचा नहीं है, फेंका नहीं है, फाड़ा भी नहीं है, केवल उतार रखा है। इसी कारण जीव फिर से अहम् को उठा सकता है और जीवन-व्यवहार कर सकता है। जिसके जीवन में रासलीला होती होगी वह रासलीला के बाद भी सामान्य व्यक्ति के जैसा जीवन-व्यवहार कर सकता है। कारण भगवान ने उसका अहं लिया नहीं है, फेंका नहीं है, सिर्फ उतार कर रखा है, जिससे जीव फिर से उसे उठा सके व जीवन-व्यवहार कर सके।

ऐसी एक स्थिति आती है जिसमें भक्ति में केवल अहंकार है। समझ भी नहीं है कारण समझ बुद्धि का विषय है। वह एक अनुभव है। समझ भिन्न है और अनुभव भिन्न है। इस अनुभव की समझ होनी चाहिए या नहीं? अनुभव की समझ ही माया है।

ऐसी स्थिति आने के बाद रास शुरू होती है। दशम स्कन्ध के उनतीसवें अध्याय में रास की शुरूआत में श्रीकृष्ण भगवान के मुखारविंद से निकला हुआ श्लोक है—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ।।

जीव आता है, उसका भगवान स्वागत करते हैं। वे केवल गोपियाँ नहीं, जीव हैं। उस जीव को भगवान अपनी मधुर वाणी सुनाते हैं। वैसी मधुरवाणी विश्व में दूसरी नहीं हैं। भगवान कहते हैं, युग-युग से तू (जीव) इतना चलकर आया है, मैं तेरा स्वागत करता हूं। मैं तेरा क्या प्रिय करूँ? तुझे क्या चाहिए? मुझे मिलने के लिए तू सर्वस्व छोड़कर आया है, तुझे क्या चाहिए?

इस स्थिति तक पहुँचने के लिए सर्वस्व छोड़ना पड़ता है। तुकाराम महाराज कहते हैं, **'हेचि थोर भक्ती आवडते देव-संकल्पावी माया संसाराची।'** जब चित्तैकाग्रता बढ़ती है तब 'मैं हूँ' की समझ आती है। मुम्बई याद आयी, अपना स्वयं का विकास भी याद आया तो चित्तैकाग्रता टूट जाती है। इसलिए सब कुछ भूलना पड़ता है।

भक्त यह सब कुछ छोड़कर आया है। भगवान उससे पूछते हैं, 'तुझे क्या चाहिए, बोल तो सही! तू मेरे पास क्यों आया है?' तब भक्त कहता है, 'भगवान! इस स्थिति में भी आप मेरी परीक्षा लेते हैं? क्या मैं कीर्ति, वैभव या राज्य के लिए आपके पास आया हूँ? करोड़ों जन्म लेकर प्रत्येक जन्म में एक एक परीक्षा देकर मैं आपके पास आया हूँ। मुझे न कीर्ति चाहिए, न वैभव, न राज्य चाहिए। किसी भी कारण से मैं आपके पास नहीं आया हूँ। और इतनी दूर आपके पास आने पर आप पूछते हैं,' **प्रियं किं करवाणि वः?** यहाँ भक्त जो भगवान को समझा रहा है वह भगवान को मालूम नहीं है ऐसा नहीं है, परन्तु उत्तर कौन सा देंगे।

दूसरा प्रश्न खड़ा करते हैं, **'व्रजस्यानामयं कश्चिद्'** – क्या व्रज पर कोई संकट आया है? यहाँ व्रज का अर्थ है विश्व, सृष्टि **'व्रजति नाम गच्छति इति जगत्!'** जो टिकता नहीं, पिछले क्षण का अगले क्षण नहीं रहता उसे जगत् कहते हैं। आप यदि हक्सले *(Huxley)* पढ़ेंगे तो पता चलेगा। हक्सले का मूल तत्त्व यह है कि प्रत्येक क्षण जगत् बदलता रहता है। इसलिए तो बुद्ध भगवान को शंका हुई कि क्या यह जगत् सत्य होगा? महावीर पूछते हैं, 'क्या तू सच बोल सकता है? नास्ति बोलेगा तो अस्ति तो है और अस्ति बोलेगा तो 'अस्ति', का ति चला-जायेगा या अभी जिस स्थिति में तू था वही चली जाएगी। जैनदर्शन बहुत प्रगत विचार है। **सप्तभंगी** में सब 'सत्' में लीन हो गया है।

भगवान पूछते हैं, 'व्रज पर (यानी सृष्टि पर) कोई संकट आया है इसलिए परोपकार बुद्धि से क्या तू मेरे पास आया है? किसलिए तू मेरे पास आया है?' क्योंकि ये महापुरुष स्वयं का दुःख लेकर भगवान के पास नहीं जाते, विश्व का दुःख लेकर जाते हैं। रामदास स्वामी एक दिन रो रहे थे। माँ ने पूछा, क्यों रो रहा है तू?' रामदास स्वामी कहते हैं, **'आई, चिन्ता करतो विश्वाची।'** विश्व ऐसा क्यों, इतना व्यथित क्यों? यह सोचकर मैं रो रहा हूँ। विश्व की चिन्ता कर रहा हूँ।' ये महापुरुष अपने लिए नहीं आते हैं, मगर सृष्टि के लिए जरूर आते हैं। इसलिए भगवान ने पूछा, क्या परोपकार

बुद्धि से आया है? **'प्रियं किं करवाणि वः'** क्या स्वार्थ बुद्धि से आया है? **'व्रजस्यानामयं....... ब्रूतागमनकारणम्'** क्या परोपकार बुद्धि से आया है? ये दोनों होंगे तो मिलन नहीं हो सकता। इसलिए भगवान पूछते हैं, **'आगमनकारणं ब्रूत।'** तेरे आगमन का कारण क्या है?

भक्त जब साधना करते हुए आगे बढ़ता है तब भगवान के समीप आने पर उसे भगवान के शब्द सुनायी देते हैं, 'बेटा! तू अच्छा है।' भगवान के मुँह से ये शब्द सुनने पर भक्त को लगना चाहिए कि जो भगवान से प्राप्त करना था वह मिल गया, अब भक्ति पूर्ण हुई। परन्तु ऐसा नहीं होता। वह भक्ति चालू ही रखता है। उससे पूछो, 'तूने भगवान के मुँह से सुना कि तू अच्छा है, फिर अब तुझे क्या चाहिए?

हमें दुनिया अच्छा कहती है वह स्वार्थ के कारण कहती है, परन्तु भगवान जब अच्छा कहते हैं उसमें भगवान का कोई स्वार्थ नहीं होता। भगवान के 'अच्छा है' कहने पर भी भक्त की भक्ति चलती ही रहती है, तब भगवान कहते हैं, 'तू मेरा है।' फिर भी उसकी भक्ति चलती ही रहती है। अन्त में भगवान कहते हैं, 'मै तेरा हूँ।' इस प्रकार श्रवण में तीन बातें आती हैं, तू अच्छा है, तू मेरा है, और मैं तेरा हूँ। इस स्थिति में आने पर भगवान पूछते हैं, **'ब्रूतागमनकारणं।'** तू क्यों आया है? क्या मुक्ति की अपेक्षा है? क्या आसक्ति के कारण आया है? अथवा एकता की दृष्टि से आया है? क्या तुझे 'मैं और तू' की निवृत्ति चाहिए?'

तब भक्त कहता है, 'भगवान! आप तो जानते ही हैं कि मैं क्यों आया हूँ। फिर भी बोलने में आनन्द आता है और सुनने में भी आनन्द आता है। इसलिए आप ऐसा पूछ रहे हैं?

दशम स्कन्ध में उनतीसवें अध्याय में भगवान उसे भय दिखाते है। 'तू इस प्रकार के घोर अन्धकार की रात को यहाँ क्यों आया? यहाँ तो बाघ हैं, सिंह हैं, वे तुझे तकलीफ देंगे। यह बात तुझे मालूम है या नहीं? अथवा क्या तू पागल है? उसके बाद भगवान अलौकिक प्रेमासक्ति खड़ी करते हैं, कर्मबंधन समझाते हैं, तेरा यहाँ आना अकीर्तिकर है ऐसा समझाते हैं, भगवान उसे हटाने का प्रयत्न करते हैं। **'स्वागतं वो महाभागाः...'** श्लोक में, भगवान को, आये हुए भक्त का शुद्ध हेतु जानना है कि मिलन के सिवाय दूसरा हेतु तो नहीं है न?

भगवान लौकिक प्रेमासक्ति खड़ी करते हैं। उसे उसकी पत्नी की याद दिलाते हैं। उसके पुत्र का स्मरण कराते हैं। तब भक्त कहता है, 'भगवान! अलग अलग जन्म में आपने मुझे अच्छा परिवार दिया था। अच्छी, अनुकूल पत्नी दी थी, परन्तु मैं उसीमें व्यस्त रहा। उसीमें मस्त बनकर पड़ा रहा? आपने मुझे अच्छे लड़के दिये थे तो क्या मैं उन्ही में व्यस्त रहा? दूसरों के लड़के देखने के बाद 'मेरे अपने लड़के इतने अच्छे हैं' इस अभिमान में क्या मैं मस्त रहा? मैंने सभी परीक्षाएँ दी हैं।

कितनी ही बार ऐसा होता है कि मनुष्य अमुक बातें भूल जाता है। किसी के स्मरण कराने पर वे बातें उसे फिर से याद आती हैं और उसके मस्तिष्क में से वे दीर्घकाल तक नहीं जाती। इस सम्बन्ध में वेदान्त में एक कथा है। एक साधक संन्यासी के पास गया और उसने कहा, 'महाराज! मेरा ध्यान नहीं लगता। आप मेरा ध्यान लगा दो।' संन्यासी ने कहा, ठीक है, तू कल आ जाना।' दूसरे दिन वह साधक संन्यासी के पास गया। मार्ग में एक मरा हुआ ऊँट पड़ा था, उसने उसे देखा। उसका विचार करते हुए वह संन्यासी के पास गया।

संन्यासी को नमस्कार करके खड़ा रहा। संन्यासी ने उसे बिठाया और पूछा, 'तुझे ध्यान लगाना है न? साधक ने कहा, हाँ महाराज!' संन्यासी ने कहा, यदि ध्यान लगाना है तो मस्तिष्क में से सभी बातों को हटा दे। सब भूल जायेगा तो ध्यान लगेगा। साधक ने कहा, 'महाराज! मस्तिष्क में से सब हटा दिया है। सब निकल गया है।

संन्यासी ने कहा, सब निकल गया, परन्तु मार्ग में मरा हुआ ऊँट पड़ा था वह भी निकल गया? ऐसा कहते ही साधक के मस्तिष्क में वह मरा हुआ ऊँट इस प्रकार आकर बैठ गया कि किसी भी उपाय से वह बाहर निकलता ही नहीं था।

मनुष्य के मन की ऐसी अवस्था है कि *normal psychology, abnormal psychology* तथा *subnormal psycology* इन तीनों का ही अभ्यास पर्याप्त नहीं है। *Higher psychology* और *Meta psychology* का भी अभ्यास होना चाहिए तभी पता चलेगा कि मन कितना अद्भुत है! मनुष्य का मन सचमुच अद्भुत है। संन्यासी जैसे जैसे ऊँट की बात साधक से पूछता जाता था वैसे वैसे वह बात साधक के मस्तिष्क में प्रविष्ट होती गयी। साधक ने कहा, 'महाराज! अब ऊँट की बात मत पूछिये। आप जैसे पूछते जाते हैं, वैसे वह बात मेरे मस्तिष्क में दृढ़ता से बैठती जाती है।

भगवान भी इस स्थिति में पहुँचे हूए भक्त को पतिप्रेम, पुत्रप्रेम, पत्नीप्रेम का स्मरण कराते हैं, तब भक्त कहता है, भगवान! कितने जन्मों से ये परीक्षाएं देकर मैं यहाँ तक आया हूँ। मैं कोई सामान्य नहीं हूँ, अन्यथा यहाँ तक पहुँच ही नहीं पाता। 'जो भक्त **'अधरं मधुरम्'** तक पहुँचा है वह सामान्य है ही नहीं!

उसके बाद भगवान धर्मबंधन समझाते हैं। शरीर धारण करने के बाद धर्मबंधन तो स्वीकारना ही चाहिए। धर्मबंधन एक आवश्यक बात है। भगवान पूछते है, 'तेरा धर्म क्या है? यह सब छोड़कर बैठना तेरा धर्म है या उन्हें पकड़कर सुधारना तेरा धर्म है?' भगवान कर्मयोगी को समझाते हैं, 'क्या सबको छोड़कर अकेले बैठना तेरा धर्म है, अथवा सबको साथ रखकर उनको स्वच्छ करना, उनको बदलना यह तेरा धर्म है?' ऐसा कहकर उसको धर्मबंधन समझाते है। और कहते हैं कि तेरा यह व्यवहार अकीर्तिकर है।

तू कर्ता है, तू मेरे पास आया है, परन्तु लोग क्या कहेंगे पता है? वे कहेंगे, 'यह कुछ कमा नहीं सका इसलिए भगवान के पास चला गया।' शक्ति इतनी अलौकिक है कि

लोग रूपये ही कमाते हैं, तू भगवान को प्राप्त कर सकता है। रूपये कमाने वाले में यदि अक्ल होगी, तो भगवान को प्राप्त करनेवाले में कितनी अक्ल होगी? परन्तु तेरे इस व्यवहार से अकीर्तिकरता आयेगी। इतना सुनने पर भी भक्त दृढ़ रहता है। भक्त के इस प्रकार दृढ़ रहने पर शृंगारिक वर्णन प्रारंभ होता है।

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार।। (भा. १०/२९/४६)

लोग भागवत में शृंगारिक वर्णन है ऐसा आक्षेप करते हैं। वह वर्णन इसी अध्याय में है। बहुत ही सुन्दर वर्णन है।

भगवान बाहु फैलाते हैं और कहते हैं, 'तू दूर न रह, समीप आ।' बाहु दो होते हैं। एक आसक्ति की दूसरा अनासक्ति की। मनुष्य के पास ये दोनों बाहु होने चाहिए।

जिस क्षण आपको अनासक्ति है उसी क्षण आपको आसक्ति भी उतनी ही होनी चाहिए। यही भक्ति का रहस्य है। निर्वाण और ब्रह्म-निर्वाण में यही फर्क़ है। बुद्ध के निर्वाण में अनासक्ति ही है। अपनी देह, मन-बुद्ध सब की अनासक्ति है। भक्त के हृदय में केवल अनासक्ति नहीं है, आसक्ति और अनासक्ति दोनों हैं। उसे आसक्ति प्रभु की होती है और अनासक्ति संसार, परिवार, व्यवहार व जगत् की होती है। उसका दाहिना हाथ प्रभु की आसक्ति का है और बायां हाथ सृष्टि के प्रति अनासक्ति का है। यह बोलने में बहुत अच्छा लगता है, सरल भी लगता है, परन्तु वह कितना कठिन है जो इस प्रकार रहते होंगे उन्हीं को मालूम है कि वह कैसी कसरत है।

जब आप प्रभु के प्रति आसक्ति रखते हैं, तब प्रभु संपूर्ण सृष्टि में छुपे रहते हैं। अतः सृष्टि के प्रति भी आसक्ति खड़ी होगी। क्यों नहीं होगी? बायां हाथ और दाहिना हाथ दोनों हैं, इनमें रोटी, कपड़ा और मकान को ही देखने वाले बाएं हाथ के *(Left handed)* होते हैं। उनकी आँखों में दूसरा कुछ होता ही नहीं! दूसरे दाहिने हाथ के *(Right handed)* होते हैं। इस स्थिति में प्रभु के प्रति आसक्ति और सृष्टि के प्रति अनासक्ति दोनों एक साथ ही लानी है। इस सम्बन्ध में तनिक शान्ति से बैठकर विचार करेंगे तभी इस विषय का ज्ञान होगा। यहाँ कहने का वह विषय नहीं है। आप विचार करो कि क्या ऐसा शक्य है? सृष्टि प्रभु की ही निर्मिति है, अतः उसके प्रति आसक्ति होगी ही, कारण सृष्टि में ही प्रभु बैठे हैं। प्रभु के कारण ही सृष्टि की शोभा है। यही आसक्ति का कारण है। इसलिए 'प्रभु की आसक्ति' यही एक शब्द रहेगा, यानी एक ही हाथ रहेगा, दो हाथ नहीं रहेंगे और दो हाथ नहीं होंगे तो आलिंगन अशक्य है। इसलिए दूसरा बनावटी (कृत्रिम) हाथ भी रखना पड़ेगा तभी आलिंगन होगा। नहीं तो **'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्'** कैसे मिलेगा?

भक्त कहता है 'भगवान! अनेक बार आपने मेरे हाथ पकड़े हैं। मेरे उद्धार के लिए हाथ पकड़े हैं। अब मुझे अपने उद्धार के लिए आपके हाथ नहीं चाहिए। मेरा उद्धार हो

गया है- **'तुका झाला पांडुरंग'** तुकाराम पांडुरंग हो गया है। अब मुझे क्या चाहिए? कुछ नहीं चाहिए। मैं ही भगवान बन गया हूँ। अब उद्धार के लिए आपका हाथ नहीं चाहिए। मैं आपका हाथ अब खेलने के लिए माँग रहा हूँ जिसमें न मदद है न उद्धार।' खेल किसे कहते हैं? जिसमें किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रहती, जो निरपेक्ष होता है उसे खेल कहते हैं। अपेक्षा आयी कि खेल समाप्त!

मनुष्य के जीवन में खेल होना ही चाहिए। उसका कारण यह है कि अपयश स्वीकारने की तैयारी खेल में ही होती है। मन को तैयारी करनी है। अपयश स्वीकारने का मन को अनुभव देना है। इसीसे मनुष्य आगे बढ़ता है, शक्तिशाली, दृढ़ बनता है। व्यापार में अपयश आया कि मनुष्य खत्म हो जाता है। बाजार अभ्यास करने की जगह नहीं है, परन्तु खेल में अपयश आया तो चलता है। जिसे खेल में अपयश स्वीकारने का अनुभव है वह जीवन में यशस्वी होता है।

इसी श्लोक में 'ऊरू-स्पर्श' है। जो भार उठाता है उसको ऊरू कहते हैं। भगवान! मेरा पारिवारिक भार आपको ही उठाना पड़ेगा, तभी मैं आपके पास आ सकता हूँ। फिर नीवी-स्पर्श है। अविद्याग्रंथि छूटनी चाहिए।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ।।

फिर स्तनस्पर्श है। स्तन में आसक्ति भरी हुई है। जीने में आसक्ति आती है उसका मुझे अभिमान है। आज तक मुझे अभिमान था, परन्तु वह भौतिक गर्व था, वह भौतिक आसक्ति थी। अब मुझे आपकी आसक्ति है, भौतिक आसक्ति नहीं है।

भागवत में ऊरूस्पर्श, नीवीस्पर्श, स्तनस्पर्श आदि सब का बहुत ही सुंदर वर्णन है। आसक्ति से हँसना है। मजाक से हँसना भिन्न है, आसक्ति से हँसना भिन्न है और आत्मीयता से हँसना भिन्न है। हास्य में भी फ़र्क़ है। उसे समझने के लिए सुसूक्ष्म बुद्धि चाहिए। संस्कृत भाषा समृद्ध भाषा है। अंग्रेजी भाषा इतनी समृद्ध नहीं है। उसमें हास्य के लिए *Laugh, smile* जैसे एक दो ही शब्द हैं। संस्कृत में भिन्न भिन्न प्रकार के हास्य के लिए भिन्न भिन्न शब्द हैं। भागवतकार की भाषा इतनी सुंदर है। लोग मुझे उसका भाषान्तर करने कहते हैं, तब मुझे बहुत व्यथा होती है। उसका भाषान्तर ही नहीं होता। उसी भाषा में उसे समझना चाहिए। **'चारुलोचनम्'** का अर्थ क्या करेंगे? सुंदर आँखें? **'चारु'** शब्द का क्या अर्थ है उसमें? उसका अर्थ समझने के लिए आपको प्रथम 'चारु' शब्द का अर्थ समझना चाहिए। **'चारु'** शब्द का अर्थ चारु ही होता है, दूसरा कोई नहीं! उदाहरणस्वरूप मराठी भाषा में **'मनाला हुरहुर लागली'** ऐसा लिखा हैं। इस 'हुरहुर' का भाषान्तर नहीं हो सकता। उसी भाषा में उसका अर्थ समझना चाहिए।

उसके बाद भक्तिरस उद्दीपित होता है और मिलन की उतावली होती है। मिलन की उतावली होते ही भगवान अन्तर्धान हो जाते हैं। भगवान किधर गये, कैसे गये कुछ पता

नहीं चलता। भक्त अकेला रह जाता है। आगे गोपियों ने भगवान की स्तुति गायी है। उसे गोपीगीत कहते हैं। यह गोपी गीत बहुत ही सुंदर है। इतनी सारी तैयारी होने के बाद मिलन की उतावली हुई, तब जो भक्ति खड़ी हुई उसमें दूसरा कोई रस मिश्रित नहीं होता। वह स्वच्छ, शुद्ध भक्ति है।

भगवान कहाँ चले गये इसका पता नहीं। भगवान तो नटखट हैं। भगवान के अन्तर्धान होने के बाद गोपीगीत शुरू होता है। मिलन की इतनी उतावली हुई है और अकस्मात् भगवान चले जाते हैं इसमें गोपियों का विरोध था वैसा हमारा भी विरोध है कि भगवान! आप बीच में ही कहाँ चले गये?

प्रारंभ में भगवान **'ब्रूतागमनकारणम्'** पूछकर परीक्षा लेते हैं। भय भी दिखाते हैं, प्रलोभन का भी भय दिखाते हैं। पतिप्रेम, पत्नीप्रेम, पुत्रप्रेम का स्मरण कराते हैं। भक्त जब इस स्थिति पर पहुँचता है तब भगवान परीक्षा लेते हैं। उसमें प्रलोभन खड़े होते हैं, आकर्षण खड़ा होता है। उनके सामने कैसे खड़े रहना? सृष्टि को स्वीकार किया तो आसक्ति निर्माण होती है और धिक्कार किया तो अभक्त बनते हैं। इसीलिए न स्वीकार न धिक्कार ऐसी एक स्थिति भक्त के जीवन में आनी ही चाहिए। जिनको भक्ति के शिखर पर पहुँचना है उनको इन सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना ही पड़ता है।

उस समय भक्त जो कुछ कहना चाहते हैं उसे गोपियों के रूप में समझाया है। गोपियाँ कहती है, 'भगवान! सर्वस्व देने वालों के मनोरथ आप पूर्ण करते ही हैं ऐसा हमने सुना है तो फिर आप हमारे मनोरथ क्यों नहीं पूर्ण करते? हमने सर्वस्व अर्पण किया है, हमारे अर्पण में क्या कोई कमी है? मन से सब व्यवहार होते हैं। आप व्यवहार की भाषा बोलते हैं, परन्तु हमने मन तो आपको दे दिया है, वह हमारे पास नहीं है। अतः हम व्यवहार में भी नहीं रह सकती और व्यवहारातीत आप, हमें नहीं मिल रहे हैं, ऐसी हमारी अवस्था हुई है।

भक्त के जीवन में ऐसी स्थिति आती है कि वह सर्वस्व छोड़ देने से न इधर का (इस जगत् का) रहता है और उधर भगवान उसका स्वीकार नहीं करते। यह अस्वस्थता की स्थिति है। इस स्थिति को वद पक्ष की स्थिति कह सकते हैं।

इसके बाद भगवान प्रकट हुए और उन्होंने कृपा करके बाहुप्रसार ऊरूस्पर्श, नीवीस्पर्श, स्तनस्पर्श किया उसका शृंगारिक वर्णन है, क्योंकि 'यह शरीर मेरा है और मेरे लिए है' यह जब तक सिद्ध नहीं होता तब तक मिलन पूर्ण नहीं होता। यह एक मानसशास्त्रीय विवेचन है। यह शृंगारिक वर्णन है। इसके सम्बन्ध में वामन पंडित ने लिखा है--

जो नेणे विषयाविणे रुचितया आम्हा तुम्हा कारणं
यांनी कोण गोपवधु विलासरसा विरव्यात नारायणी ।।
याही उपरी काव्यनाटकविषये शृंगार जो पाहणे
श्रीगोविंदकथामृती न रमणे धीक् धीक् त्या जने ।।

संक्षेप में उनका कहना है कि तुम नाटक आदि देखने जाते हो, उसमें जो शृंगार आता है वह तुम देखते हो, सुनते हो, वह नाटक तुम्हें चलता है, परन्तु श्री गोविंद का जो कथामृत है उसमें तुम मग्न नहीं होते होंगे तो तुम्हें धिक्कार है।' वह वर्णन शृंगारिक है ऐसा समझकर नहीं छोड़ना चाहिए।

बर्ट्रान्ड रसेल जैसे कहते हैं कि अतृप्त कामनाओं को तृप्त करने के लिए लोग उपन्यास, कहानियाँ आदि पढ़ते हैं। जो विषय मैं स्वीकार नहीं कर सकता वह विषय उपन्यास का नायक स्वीकारता है इसलिए उसे पढ़ना अच्छा लगता है। उपन्यास का महत्व इसीलिए है। वामन पंडित का कहना है कि यदि शृंगार ही पढ़ना है तो गोविंद का पढ़ो।

रास प्रारंभ होती है और प्रभु उसमें खेलते हैं। क्रीड़ा में गोपियों के मन में आकार निर्माण होता है। जिसने विश्व का निर्माण किया, जो विश्व को चलाता है, वह मेरे साथ खेल रहा है, तो अहंकार आयेगा ही। कितने ही लोगों को तो वे विश्वंभर हैं या नहीं इसीकी शंका है। वह बात समझने की बुद्धि भी उनमें नहीं है। 'ऐसी महान् शक्ति मेरे साथ खेल रही है' यह भावना अहंकार बढ़ायेगी ही। गोपियों का अहंकार बढ़ने के कारण भगवान अन्तर्धान हो गये।

चित्तैकाग्रता बढ़ाने के बाद अहंकार नहीं बढ़ता, अन्तर्धानता आती है। गोपियों के बीच में से भगवान अन्तर्धान हो गये इसलिए अहंकार शब्द का उद्धार किया है। परन्तु यह भी भगवान का एक खेल है। चित्तैकाग्रता एकाध घण्टे तक बढ़ने पर मूर्ति भी चली जायेगी। वह मानसिक विश्व *(Psychological world)* है वही चला जायेगा। चित्तैकाग्रता बढ़ाने पर अहंकार आयेगा तो भगवान अन्तर्धान नहीं होते, तुम होश में आओगे। अशरीरी प्रेम की स्थिति चली जायेगी। ऐसी स्थिति गोपियों की हुई है जिसका भागवतकार ने बहुत सुंदर वर्णन किया है।

उसके बाद अत्यन्त मनोहर और काव्यमय वर्णन है। गोपियाँ पागल बनकर भिन्न भिन्न वृक्ष वल्लरियों, हिरणादियों से पूछती हैं कि तुमने भगवान को कहीं देखा है? कहाँ हैं भगवान?' एक बार यह आनंद मिलने पर वह चला गया तो पागल जैसे बनते हैं। मैंने इसके पहले भी बताया है कि चित्तैकाग्रता बढ़ जाने के बाद मूर्ति स्वयं जब चली जाती है तब पूर्णता की अनुभूति मिलती है। वह प्रतिदिन नहीं मिलती, परन्तु सप्ताह, दो महाने में, महीने में एकाध बार तो मिलनी चाहिए। वह यदि नहीं मिलती है तो भक्त की स्थिति डांवाडोल हो जाती है। शारीरिक तथा मानसिक दोनों अस्वस्थताएं एक साथ होती हैं। गोपियाँ प्रत्येक वृक्ष से, वल्लरी से पूछने लगी कि हमारा कृष्ण कहाँ है? ऐसा होता ही है।

रामायण में प्रभु रामचंद्र का भी ऐसा ही वर्णन है। प्रभु रामचंद्र मानवी रूप लेकर आये थे। सीताहरण होने के बाद अत्यन्त शोक-विह्वल होकर विलाप करते हुए राम जंगल में स्थान स्थान पर घूमते हैं और विविध वृक्षों से पूछते हैं, 'क्या तुमने मेरी सीता को देखा है?' अत्यन्त आनन्द अथवा अत्यन्त शोक के प्रसंग में मनुष्य को विवेक नहीं रहता है। राम की उस परिस्थिति का वर्णन वाल्मीकि ने किया है।

इसी प्रकार कृष्ण प्रभु अन्तर्धान हुए तब भावावेश में गोपियाँ हरे भरे पेड़ों से पूछती हैं कि क्या कृष्ण को तुमने देखा है?' अब वृक्ष कैसे जवाब देंगे भला? वृक्ष कभी जवाब नहीं देते हैं।

यहाँ हरे-भरे वृक्ष यानी जो हरे-भरे लोग हैं, अर्थात् जो परोपकारी लोग हैं उनसे गोपियाँ पूछती हैं। परोपकारी लोगों में भी दो प्रकार होते हैं। जो पुण्यार्थ परोपकार करते हैं वे पहले प्रकार के हैं और दूसरों का दुःख नहीं देखा जाता इसलिए सहायता करते हैं वे दूसरे प्रकार के लोग हैं। तीसरा एक प्रकार है कि जो लोग भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से परोपकार करते हैं। ऐसे परोपकारी लोगों का जीवन हरा ही हरा यानी सुखी होता है। ऐसे लोगों से गोपियाँ पूछती हैं कि कृष्ण भगवान कहाँ चले गये क्या इसका तुम्हें पता है? बीच में ही कृष्ण कैसे चले गये? सभी उत्तर देते हैं कि हमें पता नहीं हैं।'

यही बात है। सब उन लोगों को मालूम है। क्या ऋषियों को मालूम नहीं है कि भगवान कहाँ चले गये? परन्तु वे नहीं कहते। यह एक खेल है खेल! उनको कहना नहीं है यह बात सत्य है।

फिर भागवतकार कहते हैं कि गोपियाँ फलदार वृक्षों से पूछती हैं। इसका कारण यह है कि जिन वृक्षों में (जैसे आम, अमरूद, जामुन आदि) फल आते हैं वे नम्र होते हैं। गोपियों को लगता है कि ये फलदार वृक्ष जरूर बतायेंगे, परन्तु वे (फलदार) वृक्ष भी कोई उत्तर नहीं देते। जिनका जीवन सफल बना है ऐसे ज्ञानियों का वे रूप हैं। ज्ञानी भी गोपियों को कोई उत्तर नहीं देते ।

भागवत में लिखा है कि गोपियों को लगता है कि वृक्ष पुरुषजाति के होने से उनके अन्तःकरण में दया-माया नहीं है। उनकी अपेक्षा कोमल स्त्री से पूछना चाहिए। कोमल स्त्री अवश्य उत्तर देगी। वे तुलसी के पास जाती हैं और पूछती हैं कि क्या तुम्हें पता है कि कृष्ण भगवान कहाँ चले गये? भगवान बीच में ही क्यों अन्तर्धान हुए? तुलसी भी जवाब नहीं देती है। तब गोपियाँ कहती हैं, 'प्रभु के साथ विवाह हुआ है न! इसलिए अकड़ गयी है, दूसरा क्या है? इसीलिए तो बोलती नहीं है।' फिर गोपियाँ मोगरा, चमेली आदि फूल के पौधों के पास जाती हैं और पूछती हैं। इसमें गोपियों का पागलपन दिखाया है। इस पागलपन में भी एक दृष्टि है। जिनका जीवन सुगंधी है, सुंदर, यानी भक्ति से जिनका जीवन सुन्दर बना है। ऐसे कितने ही लोग होते हैं। इस प्रकार के भिन्न भिन्न जीवन के लोग होते हैं। सभी का जीवन सरीखा नहीं है। ये सभी महापुरुष, हम खाते हैं वही खाना खाते हैं, परन्तु सभी का जीवन सरीखा नहीं होता। कुछ जीवन हरे ही हरे होते हैं, कितने ही लोगों का जीवन सफल होता है, तो कुछ लोगों का जीवन भक्ति से सुन्दर बनता है। उनका जीवन कितना सुगंधी व कोमल होता है! उनके पास गोपियाँ पूछने जाती हैं, परन्तु ये सभी लोग ऐसा ही कहते हैं कि 'हमें पता नहीं है।' कोई जवाब नहीं देता है। अन्त में सबको पूछ पूछकर गोपियाँ थक जाती हैं।

इसके बाद गोपियों ने गीत गाया है वह गोपीगीत कामदा वृत्त में हैं। उन्नीस श्लोक हैं, ये बहुत ही सुन्दर श्लोक हैं। पूरा इकतीसवाँ अध्याय गोपीगीत का है। उसका प्रारंभ है-

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयति दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्तां विचिन्वते।।

(हे श्रीकृष्ण! इस व्रज भूमि में तुम्हारा जन्म होने के कारण यहाँ लक्ष्मी निरन्तर वास्तव्य करती है। इसलिए यह गोकुल अधिक उन्नत बनता जा रहा है, परन्तु तुम्हें ही प्राणों का सर्वस्व अर्पण करनेवाली हम गोपियाँ सभी दस दिशाओं में तुम्हें ढूँढ रही हैं, अत: भगवन्! हमारी ओर देखो!)

गूढ विद्या और वेदान्त *(Mysticism and Vedant)* दोनों साथ साथ चल रहे हैं। चित्तैकाग्रता बढ़नी चाहिए। क्योंकि रासलीला में जो भगवान का प्रेम है, वह अशरीरी *(occult)* प्रेम हैं। प्रेम का भी एक शास्त्र है। विविध प्रेम के भिन्न भिन्न स्वाद होते हैं। प्रेम के अनेक प्रकार हैं। एक पारिवारिक प्रेम *(Family Love)* है, सामाजिक प्रेम *(social Love)*, राष्ट्रीय *(National)* प्रेम, धार्मिक *(Religious)* प्रेम, आध्यात्मिक *(spiritual)* प्रेम। ऐसे भिन्न भिन्न प्रकार हैं। उसके बाद एक तात्त्विक प्रेम *(Philosophical Love)* है। धार्मिक प्रेम, आध्यात्मिक प्रेम और तात्त्विक प्रेम के रूप भिन्न भिन्न हैं और उसके बाद अशरीरी प्रेम *(occult Love)* शुरू होता है। इसके बाद चित्तैकाग्रता बढ़ती है और चित्तैकाग्रता बढ़ने के बाद रासलीला शुरू होती है।

इस रास में दो गीत प्रमुख हैं। पहला वेणुगीत तथा दूसरा गोपीगीत **अनंगवर्धनं गीतं** सुनकर जो भक्त आता है उसके जीवन में भगवान वेणुगीत गाते हैं। वह सालोमन गीत *(Solomon's song)* के जैसा है। अनङ्ग यानी अंगरहित प्रेम। यह गीत सुनकर भक्त खड़ा हुआ परन्तु उसके बाद भगवान अन्तर्धान हो गये। उसके बाद **अहंकाररहितं गीतं** सुनकर भगवान प्रकट हुए। ये *Engine and Guard* जैसे दो गीत हैं। वेणुगीत से रासलीला का प्रारंभ होता है। वेणुगीत के बाद गोपीगीत हैं। गोपीगीत को हरी झंडी *(green signal)* दिखाने के बाद रासक्रीड़ा शुरू हुई। **'अहंकाररहितं गीतं'** गोपीगीत सुनने के बाद उनका अहंकार चला गया है ऐसा भगवान को लगा और भगवान प्रकट हुए।

अनङ्गवर्धन गीत, वेणुगीत सुनकर भक्त आया है और **'अहंकाररहित गीत'** सुनकर भगवान आये हैं। गोपीगीत है, जिसे सुनकर भगवान आये। गोपीगीत घरेलू दृष्टान्तों से भरा हुआ है। उसमें आज तक भगवान ने क्या क्या किया उसका संपूर्ण चित्र खड़ा किया गया है। इन सब में खास तौर पर पाँच छः बातें दृष्टिगोचर होती हैं।

प्रारंभिक श्लोकों में प्रभु की स्वयंसिद्धता बतायी गयी है। आप अदृश्य रहे, स्वयं प्रकट होंगे तभी मिल सकते हैं। आप स्वयंसिद्ध होने से हम आपको खोज नहीं सकते, कुछ नहीं कर सकते। यहाँ दर्शनशास्त्र में जो कही है वह स्वयंसिद्धता बतायी गयी है।

भगवान साधना से मिलते हैं ऐसा कहना व्यर्थ है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने कहा है, प्रभु कृपासाध्य हैं। यह पढ़कर लोग समझने लगे कि साधना करने की कोई आवश्यकता नहीं है, भगवान की कृपा होगी तब वे स्वयं आकर सामने खड़े होंगे।' वे लोग ऐसे दिन की राह देखते बैठे हैं। कुछ करते ही नहीं। इतना पागलपन कहीं भी नहीं होगा। भगवान कृपासाध्य हैं ऐसा जब महाप्रभु कहते हैं तब किस अवस्था में पहुँचने पर कृपा होगी, कौन सी कृपा होगी यह समझ लेना आवश्यक है।

भगवान स्वयंसिद्ध हैं, साधना से नहीं मिलते, तो क्या साधना नहीं करनी है? साधना भक्त की दृढ़ता सिद्ध करती है, मन की दृढ़ता सिद्ध करती है, अतः साधना की नितान्त आवश्यकता है। यदि जीवन में साधना-दृढ़ता नहीं होगी तो भगवान तक नहीं पहुँच सकेंगे। विव्हलता की परीक्षा देने के लिए साधना करनी ही पड़ेगी। इसका अर्थ यह नहीं है कि साधना से भगवान मिलते हैं। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वल्लभाचार्य के 'भगवान कृपासाध्य हैं' इस कथन के विरोध में यह विचार है, परन्तु वल्लभाचार्य कहते हैं कि भगवान तक पहुँचने के बाद, वे स्वंयसिद्ध होने के कारण वे स्वयं ही प्रकट हो जायेंगे तभी आपको मिल सकते हैं, अन्यथा नहीं!

हमारी ईशाभिलाषा दृढ़ होनी चाहिए। वह दृढ़ है या नहीं यह भगवान देखेंगे। वे हमें कभी सुस्थिति में डालेगें तो कभी बुरी अवस्था में, कीर्ति देंगे, सत्ता, वैभव देंगे और देखेंगे कि क्या हम अपनी अभिलाषा से विचलित होते हैं अथवा हमारी ईशाभिलाषा टूट जाती है? उस समय यदि हम कह सकेंगे कि --

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयंत्यापो न शोषयति मारुतः।। (गी. २/२३)

यह जो आत्मा के लिए कहा है वही मेरी ईशाभिलाषा को भी लागू है तभी हमारी ईशा अभिलाषा दृढ़ है ऐसा कहा जायेगा। यह कहना चाहिए, 'भगवान! मेरी ईशाभिलाषा को शस्त्र नहीं तोड़ सकते, अग्नि नहीं जला सकती, वर्षा गीला नहीं कर सकती, आँधी हो या तूफान, मेरी अभिलाषा उनके सामने नहीं झुकेगी वह खून से स्नान करती है मगर आँखों में पानी नहीं ऐसी ईश-अभिलाषा होनी चाहिए।

प्रभु को व्यक्त करना हमारे हाथ में नहीं है, वे स्वयं ही व्यक्त हो जाते हैं, परन्तु उसके लिए हमारे मन की दृढ़ता को साधना द्वारा सिद्ध करना पड़ता है और विह्वलता की परीक्षा देनी पड़ती है। हमारी विव्हलता कितनी तीव्र है? वह खून से स्नान करती है फिर भी आँखों में आँसू नहीं आते। विपत्ति आयेगी परन्तु आँखों में पानी नहीं हैं। आँखों में पानी केवल भाव से ही आयेगा, दुःख से नहीं! भावाश्रु भिन्न बात है। हमारी आँखों में दुःख में आँसू नहीं आने चाहिए, इतना ही नहीं, अपितु 'प्रभो! आप मुझे क्यों नहीं मिलते' ऐसा कहकर भी साधक की आँखों में आँसू नहीं आने चाहिए। ठीक है, भगवान नहीं मिलते? भगवान तो मेरे साथ ही हैं। उनके बिना मैं चल भी नहीं सकता। मैं समझ नहीं

सकता यह मेरी दुर्बलता है, उसकी मुझे व्यथा है। इसीलिए साधक कहता है कि मेरी ईशाभिलाषा शस्त्र के प्रहार से विद्ध नहीं होती, आघातों से घायल होनेवाली, पराभव से पराभूत होनेवाली वह नहीं है। जीवन से प्रज्वलित होनवाली, मृत्यु से अमर बननेवाली मेरी ईशाभिलाषा है।

साधक की ईशाभिलाषा को अन्तःकरण में शस्त्रघात का भय नहीं होता। जीवन में अनेक आघात होंगे परन्तु ईशाभिलाषा घायल नहीं होनी चाहिए।

आज तो हमारे जीवन में तनिक आघात हुआ, विपत्ति आयी कि हमारा ईशाभिलाषा दुबली बन जाती है। एकाध नदी में बाढ़ आयी और उसमें पाँच-दस लोग बह गये तो तुरन्त मन में आता है कि ईश्वर है तो ऐसा क्यों हुआ?' ऐसा क्यों हुआ इसका पता हमें नहीं है। सृष्टि चलानेवाला ही जानता है कि ऐसा क्यों हुआ? सरकार ने किसी को सजा दी तो हमें पता नहीं चलता कि सजा क्यों दी गयी है। उसकी रिपोर्ट हमारे पास नहीं होती, परन्तु पुलिस खाते में संपूर्ण रिपोर्ट होती है। इसी प्रकार नदी में बाढ़ आयी, कुछ लोग बह गये, मर गये इन सबके पीछे की कारण-मीमांसा अथवा दूसरा कुछ होगा तो वह भगवान के पुलिस खाते में- अर्थात् शनि महाराज के संपूर्ण विवरण के साथ तो होगा ही!

किसी भी प्रसंग में ईशाभिलाषा नहीं टूटनी चाहिए। उसकी परीक्षा भगवान लेते हैं। दृढ़तम ईशाभिलाषा हमारे जीवन में देखने को मिली कि भगवान स्वयं प्रकट हो जाते हैं। भगवान कृपासाध्य है परन्तु ईशाभिलाषा की परीक्षा ली जाती है।

हमारे जीवन में त्याग होता है, परन्तु वह अगतिकता से होता है। इस भक्त ने तेजोमयता से त्याग किया है, उसके त्याग में अगतिकता नहीं होती। जब संग्राम आयेगा तब सामर्थ्य निर्माण हो, ऐसी ईशाभिलाषा होनी चाहिए। साधक के जीवन में बैठने के लिए सोने का सिंहासन भी मिल गया तो भी ईशाभिलाषा के बदले उसका स्वीकार नहीं करता। उसकी ईशाभिलाषा सोने के सिंहासन को चूर्ण करने वाली और सम्राटों के मुकुटों को मिट्टी के समान समझनेवाली होती है। उसकी दृष्टि में सम्राट यानी कौन? एक कुर्सी (सत्ता) के पीछे दौड़ने वाला क्या साधक बन सकता है? भगवान का काम करने लगे कि दो-चार लोग काम करने के लिए आते ही हैं। परन्तु वे यदि ऐसा कहेंगे कि हमें कमिटी में क्यों नहीं लिया? तो क्या ऐसे लोग साधक हैं? कमिटी में नहीं लिया इसलिए वे लोग काम नहीं करते। ऐसे लोग *social workers* हैं, प्रभु-भक्त नहीं हैं, साधक नहीं हैं। साधक की ईशाभिलाषा सम्राटों के मुकुटों को मिट्टी के समान समझनेवाली होनी चाहिए।

गुलामों को मानव, दासों को स्वामी बनानेवाली, संहार तथा सेवा करनेवाली ईशाभिलाषा होनी चाहिए। इस प्रकार की ईशाभिलाषा साधक की है या नहीं इसकी परीक्षा भगवान लेते हैं।

समझ लीजिए, साधना के उच्च शिखर तक साधक के पहुँच जाने पर भगवान अन्तर्धान हो जाते हैं, तब साधक अस्वस्थ होता है, ऐसे समय वह भगवान से क्या कहता

है इसकी भी परीक्षा होती है। साधना इसीलिए आवश्यक है कि वह दृढ़ता निर्माण कराती है। विव्हलता की परीक्षा के लिए साधना है।

दूसरी एक महत्त्वपूर्ण बात गोपीगीत में कही गयी है- भगवान! आप ही सकल सृष्टि के रक्षक हैं। आपकी कृपा से ही दिव्य शक्ति मिली है इसलिए मैं इस स्थिति पर पहुँच सका हूँ। मेरी चित्तैकाग्रता क्या मेरी शक्ति से बढ़ी? आपकी कृपा है इसलिए वह बढ़ी। यह मैं नहीं भूलता हूँ। जिस समय मैं यह भूल जाऊँगा उसी क्षण आप अन्तर्धान हो जायेंगे।

इस स्थिति में कौन सा अहंकार आता है? यह समझने के लिए कहता हूँ। चित्तैकाग्रता बढ़ने के बाद वह खेल प्रारंभ होता है तब भी अहंकार आ जाता है, व्यक्ति को ऐसा लगने लगता है। परन्तु भगवान! आप रक्षक हैं, दिव्य शक्ति आपकी कृपा से ही मिली है, हममें सँभालने की शक्ति नहीं हैं। हम प्रलोभनों के सामने नहीं टिक सकते। प्रभो! आप ही भाव की रक्षा कर सकते हैं। भगवान! आप अन्तर्धान होते हैं तब मन अस्वस्थ होता है, तो भी भाव टिकना चाहिए, बढ़ना चाहिए। यह हमारे हाथ की बात नहीं है। जो कुछ भाव है वह भी आपकी कृपा से ही निर्माण हुआ है। उसे हम सँभाल नहीं सकते। हमारी रक्षा करनेवाले आप ही हैं।

गोपीगीत में तीसरी बात यह है कि, भगवान! आप हमारे साथ खेलते हैं, हमारे काम करते हैं हमारी सेवा भी करते हैं, परन्तु आप हमारे नहीं हैं। आप व्यापक हैं। जब आप हमारे समीप आते हैं तब लगता है कि आप हमारे हैं। सामीप्य से अपनापन आ जाता है, परन्तु आप हमारे ही नहीं हैं, सभी के हैं। मानवी आकार में हम आलिंगन माँग रहे हैं, मानव के आकार में ही क्यों? आलिंगन ही चाहिए तो किसी भी आकार में आप दे सकते हैं। 'मानव आकार में ही आलिंगन चाहिए' यह हमारी माँग अयोग्य है।

चौथी बात, भगवान! हम आसक्त हैं, आप अनासक्त हैं। हमने कामना छोड़ दी है इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु हमें आपकी कामना है। आपका बनने की हमारी कामना नहीं छूटती है। इसका अर्थ हम 'कामनाशून्य' नहीं रह सकते। बिना आधार के जीव कैसे रह सकता है?

लोग कहते हैं, कामना छोड़ दो। परन्तु कामना के बिना जीव रह नहीं सकता। वह उसका आधार है। आँखें खुली कि कामना आ ही गयी। 'निष्काम कर्मयोगी' शब्द को कितना अर्थ है। उसे भौतिक कामना नहीं है ऐसा अर्थ है। **'एक बार कहो तुलसीदास मेरा'** यह भी कामना ही है। **'ह्याचसाठी केला होता अट्टहास-शेवटचा दिवस गोड व्हावा',** 'अन्तिम दिन मधुर हो इसलिए इतनी दौड़धूप की' यह भी कामना ही है। जब द्वैत है और आँखें खुली हों क्या तब कामना शून्यता रह सकती है? नहीं रहेगी। कामना तो रहेगी ही!

प्रभो! हमने सभी कामनाएं छोड़ दी हैं, परन्तु 'आपका बनने की' आपका बनकर रहने की कामना नहीं छूटती है।' जिनके चरणों में मुक्ति पड़ी हुई थी, ऐसे रामानुजाचार्य भी

कहते हैं, 'हमें शक्कर नहीं बनना है, शक्कर खानी है। हमें प्रभु नहीं बनना है, प्रभु का बनकर रहना है।' अद्वैत का वैश्विक सिद्धान्त कहनेवाले श्रीमद् आद्य शंकराचार्य कहते हैं कि तुम भगवान के पास पहुँचोगे तब अमुक परिधि में प्रवेश करने पर वहाँ लोह-चुम्बक जैसी शक्ति इतनी शक्तिशाली है कि वह तुम्हें खींच लेगी। वहाँ पहुँचने पर तुम्हारा स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रहेगा। शंकराचार्य का कहना बौद्धिक है, तर्कसम्मत *(Logical)* है इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु वे क्या माँगते हैं?-

न मोक्षस्याकांक्षा भवविभववाञ्छापि च न मे ।
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः ।
अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै।
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः ।।

(हे शशिमुखी माँ! मुझे मोक्ष की इच्छा नहीं है, संसार के किसी भी वैभव की लालसा नहीं है, मुझे विज्ञान की-शिल्पशास्त्र, कला कौशल आदि की अपेक्षा नहीं है, और अन्य किसी भी सुख की इच्छा नहीं है, परन्तु माँ! मैं तुम्हारे पास इतना ही माँगता हूँ कि मेरा सारा जन्म **'मृडानी, रुद्राणी, शिव शिव भवानी'** ऐसा जप करते हुए बीते।)

तुकाराम जैसे सन्त माँगते हैं- **'तुका म्हाणे गर्भवासी-सुखे घालावे आम्हांसी।'** किसने कहा कि हमें मोक्ष चाहिए! किसने माँगी है मुक्ति! आप सुखपूर्वक हमें गर्भवास दीजिए।

इस प्रकार सभी कामनाएं छूट गयी हैं, परन्तु आपकी कामना व आपका बनने की कामना नहीं छूटती और वह छूटेगी भी नहीं! कामनाशून्य हम कभी नहीं रह सकते। सुबह आँखें खुलते ही कोई भी कामना तुम्हारे अन्त:करण में नहीं होगी तो तुम्हारी स्थिति ही नहीं! आपकी आँखें खुलते ही प्रथम कामना होती है कि घड़ी देखूँ! दूसरी कामना होती है कि उठूँ, तीसरी कामना होती है चाय पीऊँ! इस प्रकार कामना शुरू हो जाती हैं। आँखें खुली हैं और कोई कामना नहीं है, ऐसी स्थिति किसी दिन रही है? रह सकती है? नहीं! 'कामनाशून्य जीव रहता है' यह अशास्त्रीय भाषा है। प्रभो! हम कामनासक्त हैं परन्तु आप कामनाशून्य हैं, आपका अस्तित्व कामनाशून्य है। आप अनिर्वचनीय हैं, जहाँ 'तर्क काम नहीं करता है, बुद्धि परास्त होती है। **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** आप बुद्धि से परे हैं। आप कामनाशून्य रह ही कैसे सकते हैं यह हमारी बुद्धि में नहीं आता। कामनाशून्य और अस्तित्व एक साथ रह ही नहीं सकते। असंभव बात है यह! लोग कहते हैं कि सभी बातें बुद्धि में उतरनी चाहिए, परन्तु कुछ बातें बुद्धि के परे होती हैं। उनमें से यह एक बात है।

जिस प्रकार भगवान के आधार के बिना नहीं रह सकते उसी प्रकार कामना के आधार के बिना भी नहीं रह सकते। परन्तु भगवान! आप आधार के बिना रह सकते हैं। कैसे रह सकते हैं? यह आपको ही मालूम! अंग्रेजी में इसके लिए *Only god knows* जैसा शब्दप्रयोग है। किसी रोगी के सम्बन्ध में पूरी जाँच करने पर भी डॉक्टर को रोग का ज्ञान

नहीं हुआ तो? ब्रिटन में डॉक्टर *OGK* लिख देते हैं यानी *only god knows* वैसे यहाँ के डॉक्टरों को भी रोग-लक्षण ज्ञात नहीं होते, परन्तु मैं वहाँ का दृष्टान्त देता हूँ इसका कारण वहाँ के डॉक्टर्स गुरुस्थान में हैं।

ऐसा ही 'कामनाशून्यता और अस्तित्व' का है। आपने उस शास्त्र का अध्ययन नहीं किया होगा तो आपको बेचैनी नहीं होगी। मैं बेचैन होता हूँ कारण 'कामनाशून्यता और अस्तित्व' यह बात असंभव है। भगवान कामनाशून्य रह सकते हैं ऐसा गोपियाँ कहती हैं इसका अर्थ यह है कि 'भगवान! हमें मिलन की कामना है ऐसा समझकर यदि आप अन्तर्धान हुए होंगे तो वह व्यर्थ है।' गोपियाँ भगवान को भी सुनाती हैं कि हमें तो कामना रहेगी ही, आप कामनाशून्य रह सकते हैं।

'हम आपके बिना अगतिक हैं' यह पाँचवी बात है। बौद्धिक निर्णय आपका ही होना चाहिए। हम अपना निर्णय करने लगे तब पता चला कि आप क्यों अन्तर्धान हुए। मिलन का संकल्प आपको ही करना है मगर वह हमने किया। आपको मिलन की अपेक्षा नहीं है। हमने जो संकल्प किया, वह हमें अपनी अगतिकता का पता नहीं है इसलिए किया। हमने संकल्प किया तो आप पूछते है कि संकल्प करनेवाले हम कौन हैं? बहुत ही उच्च स्थिति में पहुँचने के बाद की यह बात कहता हूँ। आज हम जिस स्थिति में हैं उसमें हमें ही संकल्प करना है। हमें अच्छा बनना है, अच्छे काम करने हैं प्रभु का बनना है। ये सब संकल्प हमें करने ही पड़ेंगे। परन्तु जीवन की एक ऐसी उन्नत स्थिति आती है जिसमें भक्त कहता है, 'भगवान! आपके साथ मिलन का संकल्प आपको करना चाहिए वह मैंने किया यह मेरी भूल है। गोपियाँ अन्तःकरण से यह बात कहती हैं, उसमें अर्थ है, काव्य है और उनका हृदय भी दिखता है।

ऐसे गोपीगीत सुनने पर भगवान स्वयं प्रकट होते हैं। मनुष्य को एक सिद्धान्त समझना चाहिए कि भगवान स्वयंसिद्ध हैं। भगवान ही रक्षक हैं। मनुष्य आसक्त है और भगवान अनासक्त हैं। मनुष्य स्वयं अगतिक है यह बात सिद्ध होनी चाहिए।

आज हम भी अगतिक हैं। क्यों? काम करते हैं पर शक्ति कम पड़ती है। परन्तु जिसकी कामना छूट गयी है उसे अगतिकता लगने का क्या कारण है? कौन सी बात है? हम अगतिक हैं इसका कारण हम पचीस कामनाएं करते हैं और एक भी पूर्ण नहीं होती, और पूर्ण करने की हमारी शक्ति भी नहीं है। फिर भी हम कामना करते रहते हैं' परन्तु उस स्थिति में जाने के बाद जिसे कामना ही नहीं है उसे अगतिकता लगनी चाहिए। यहाँ ध्यान में रखना है कि हमारी अगतिकता और उसकी अगतिकता में फर्क है। हम तो दिन-रात, सुबह से शाम तक दस बार कहते ही रहते हैं कि हम अगतिक हैं। कामनाशून्यता आने के बाद अगतिकता लगनी चाहिए। कामनाशून्य अस्तित्व ध्यान में नहीं आता। कामनाशून्य को अगतिकता कैसे लगेगी? क्यों लगेगी? पर लगनी ही चाहिए, यह सब गोपीगीत में बताया है। दार्शनिकों के दिमाग को भी हैरान कर दे ऐसा यह गोपीगीत है। उसमें सामान्यों के लिए घरेलू दृष्टान्त हैं। भगवान ने गोकुल में पराक्रम किये हैं उसका

वर्णन है। गोपीगीत के लेखन में सभी को स्थान मिलता है। सभी कहते हैं कि हमें भागवत मालूम हो गया है। परन्तु गहराई में जाने पर पता चलता है कि भागवत में क्या, लिखा है। भागवत में परस्पर विरोधी बातें लगती हैं। तनिक सोचो कि कामनाशून्य को अस्तित्व कैसे होगा? उसे अगतिकता कैसे लगेगी? परन्तु वह दैवी अगतिकता है। गोपीगीत एक अलौकिक गीत है। इसके बाद भगवान प्रकट होते हैं। यह बहुत ही सुन्दर वर्णन है। वह अतिशय लोकोत्तर है ऐसा कहकर उसको नमस्कार करता हूँ।

उसके बाद भागवत में एक अतिशय सुंदर प्रकरण खड़ा किया गया है। उसे गोपियों ने खड़ा किया है। वे व्यंग्य में भगवान से बोलती हैं। भगवान अन्तर्धान हो गये थे उसके लिए प्रश्न पूछती हैं। भक्त भगवान को भी नहीं छोड़ते और ऐसे ही भक्त भगवान को अच्छे लगते हैं। गोपियों ने प्रेम के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे हैं। दशम स्कंध के बत्तीसवें अध्याय में सोलहवें श्लोक से उसकी चर्चा है। गोपियाँ उलाहना देते हुए प्रेम के तीन प्रकार बताती है। वे पूछती हैं —

भजतोऽनुभजंत्येक एक एतद्विपर्ययम् ।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः।।१०/३२/१६।।

(जगत् में कितने ही लोग ऐसे होते हैं, जो अपने पर प्रेम करनेवालों से ही प्रेम करते हैं और कुछ लोग अपने पर प्यार न करनेवालों पर भी प्रेम करते हैं और कितने ऐसे भी होते हैं कि कोई प्रेम करनेवाला हो अथवा न हो, किसी पर भी प्रेम नहीं करते। हे प्रियतम! आपको इन तीनों में से कौन अच्छा लगता है?)

गोपियाँ भगवान से व्यंग्यपूर्वक बोल रही हैं कि हम हमारा सर्वस्व छोड़कर आपके पास आ गयीं और आप अन्तर्धान हो गये? हमने प्रेम के तीन प्रकार बताये हैं, इनमें आप कौन से प्रकार में बैठते हैं? यह बहुत ही सुंदर वर्णन है, प्रेम का मार्मिक विवेचन उसमें किया है।

भगवान उत्तर देते हैं, 'प्रेम का अर्थ होता है आकर्षण! हमें किसी का आकर्षण होता है, वह क्यों होता है? आकर्षण भिन्न भिन्न रूपों में होता है। कुछ लोगों को, जिनसे कुछ मिलने की अपेक्षा रहती है उनके प्रति आकर्षण होता है। कुछ लोगों को बौद्धिक दृष्टि से आकर्षण होता है। कुछ लोगों की कृति देखकर उनकी ओर आकर्षण होता है। कुछ लोगों को पूर्व-जन्म के सम्बन्ध के कारण आकर्षण होता है। उसको ऋणानुबंध *(Law of attraction and repulsion)* कहते हैं।

भगवान आगे कहते हैं कि किसी से कुछ मिलने की अपेक्षा से उस पर जो प्रेम होता है वह सापेक्ष होने से स्वार्थी प्रेम है। उसे प्रेम नहीं कहते। प्रेम शब्द को इस प्रकार निम्न श्रेणी में लाना अच्छा नहीं है वैसे ही उपकार का बोझ उतारने के लिए जो प्रेम किया जाता है वह भी स्वार्थी प्रेम है। इसमें दो प्रकार हैं। उपकार का बोझ लगता है

इसलिए प्रत्युपकार की भावना होती है और बड़ा होने पर उस उपकार के बोझ को उतारने का मैं प्रयत्न करता हूँ, उसके लिए उस व्यक्ति पर प्रेम करता हूँ। इन दोनों में स्वार्थ है। अत: इस कृति में न प्रेम है न धर्म! उदाहरणस्वरूप, एकाध व्यक्ति समाजसेवा करता है, परन्तु वह किसलिए समाजसेवा करता है? उसे पैसा चाहिए इसलिए! इसके अलावा किसी को पैसा नहीं चाहिए, परन्तु कीर्ति चाहिए इसलिए वह समाजसेवा करता है। आगे दौड़ो और कीर्ति पाओ। *Get on and get honoured* कीर्ति के लिए समाजसेवा करना स्वार्थ ही है। वह समाजसेवा करेगा परन्तु उसके भीतर का विकास *(Internal development)* नहीं होगा। वह एक व्यापार है।

मैं हमेशा एक दृष्टान्त देता हूँ। एकाध व्यक्ति गाँव में पचीस हजार रूपये व्यय करके कुआँ बना देता है। फिर कहता हैं, गाँववालों को पीने का जल नहीं मिलता था इसलिए कुआँ बना दिया, परन्तु उसके मन में क्या भावना रहती है? भविष्य में चुनाव आनेवाला है, उसमें मैं खड़ा रहने वाला हूँ, तब मुझे गाँव के सभी मत *(Vote)* मिलने चाहिए। इसलिए मैंने कुआँ बनवाया है। गाँव के लिए कुआँ बनाकर देने का मुझे हक़ है और उनके मत *(Vote)* पाने का भी मुझे हक़ है।' परन्तु उसे कोई सत्कर्म कहने का हक़ नहीं हैं और प्रेम कहने का भी हक्क नहीं है। इससे उसका अन्तर्विकास नहीं होता।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो सत्कर्म स्वार्थ से नहीं करते। 'कुछ चाहिए' इसलिए नहीं करते, कीर्ति चाहिए इसलिए भी नहीं करते। उनसे दूसरों की पीड़ा या दु:ख नहीं देखा जाता। वह कम करने के लिए वे उपयोगी होते हैं ऐसा हॉब्स और हेल्वेशिअस ये तत्त्ववेत्ता कहते हैं। इसे वे उच्च स्वार्थ *(Enlightened self-interest)* कहते हैं। दूसरों का दु:ख न देखा जाने से उपयोगी बनना भी स्वार्थ ही है, तनिक उच्च स्वार्थ है। परन्तु अपेक्षा रखकर जो कुछ किया जाता है वह प्रेम नहीं कहलाता। कृष्ण भगवान कहते हैं कि अपेक्षा रखकर किया हुआ कर्म, व्यापार है, उसमें वणिक् वृत्ति है। कुछ लोगों को बड़प्पन चाहिए। उनको कमिटी में लिया जायेगा तो वे काम करने को तैयार होते हैं। इसका कारण, उनको लगता है कि हम जो कुछ करेंगे उसका दस लोगों को पता चलना चाहिए, तभी हम काम करेंगे।' इन व्यक्तियों को बड़प्पन लेने का अधिकार है परन्तु अपने कार्य को सत्कर्म कहने का अधिकार नहीं है। ऐसा कार्य करके वे लोगों को खुश करेंगे, उनको अच्छा लगेगा परन्तु इससे उनका आंतरिक विकास *(Internal development)* नहीं होगा। भागवतकार लिखते हैं कि ऐसी कृत्ति में प्रेम नहीं है और धर्म भी नहीं हैं।

दूसरा प्रकार है, अपेक्षारहित प्रेम करनेवालों अथवा प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखकर उपकार करने वालों का। इसमें दो प्रकार हैं। उसमें एक प्रकार साधुसन्तों का होता है। वे अपेक्षारहित प्रेम करते हैं, उनको प्रत्युपकार की अपेक्षा भी नहीं रहती। उनको धर्मप्राप्ति होती है। ये लोग जगत् पर क्यों प्रेम करते हैं? ज्ञानेश्वर महाराज ने संपूर्ण विश्व पर प्रेम किया। शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य आदि आचार्यों ने भी अखिल विश्व पर प्रेम किया। वह क्यों किया? उनको क्या चाहिए था? ज्ञानेश्वर ने कहा, **'अवघाचि संसार सुखाचा**

करीन- आनन्दे भरीन तिन्ही लोक।' परन्तु उनको क्या चाहिए था? कुछ नहीं! शंकराचार्य केरल से बद्रीनाथ तक दौड़े। उनको क्या चाहिए था? क्या बड़प्पन चाहिए था? 'सभी गाँवों में मेरा परिचय हो जायेगा तो मेरा संप्रदाय बढ़ेगा, मैं महान् कहलाऊँगा' क्या ऐसी उनको अपेक्षा थी? बिल्कुल नहीं! दूसरी बात यह है कि शंकराचार्य का कोई संप्रदाय ही नहीं था। मन्दबुद्धि लोग इन महापुरुषों के सम्बन्ध में कुछ भी बोलते हैं। परन्तु इन महापुरुषों को कुछ भी अपेक्षा नहीं थी, प्रत्युपकार की भी अपेक्षा नहीं थी।

कुछ वर्षों पहले मुझे एक कार्डिनल ने पूछा था कि 'तुम्हारे धर्म में क्या पापियों का उद्धार नहीं है?' मैंने कहा, 'क्यों? पापियों का उद्धार क्यों नहीं है? उनके उद्धार के लिए तो गीता है।' तो उसने कहा, 'पापियों की उपेक्षा करो ऐसा योगसूत्र है। उसने मुझे योगसूत्र का एक सूत्र बोलकर बताया, **'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'** -यह सुनकर मुझे लगा कि खिश्चन कार्डिनल ने कितना अभ्यास किया होगा! ये लोग हमारे वाङमय का इतना अभ्यास करते हैं, परन्तु हमारे यहाँ कोई नहीं करता, इसकी शर्म आनी चाहिए। हम तो कुछ अभ्यास करते ही नहीं। **श्रीराम जय राम जय जय राम....'** ऐसा बोलकर हमें राम चाहिए। कैसे मिलेंगे राम! कुछ करना नहीं है, सोचना नहीं है, कुछ बनना नहीं है, बनाना नहीं है। केवल रामनाम लेनेवाले ही लोग बनेंगे तो कैसे होगा? भगवान दिन-रात कर्मशील हैं, वे ऐसे अकर्मण्यशील लोगों पर प्रेम कैसे करेंगे? करेंगे ही नहीं। तात्पर्य यह है कि कार्डिनल ने भी योगदर्शन का अभ्यास किया था।

उसने कहा, 'इस सूत्र में पापी की उपेक्षा करने को कहा गया है।' मैंने कहा, बराबर है, परन्तु **'उपेक्षा'** शब्द का अर्थ क्या है, इसका कुछ विचार तो करो! उसने कहा, **'उपेक्षा'** यानी उदासीनता (*Indifference)* ऐसा शब्दकोश में लिखा है।' मैंने कहा, आज के काल में वैज्ञानिकों ने अणु को भी फोड़कर अलग किया है। इस प्रकार शब्द को भी फोड़ना चाहिए। **'उपेक्षा'** शब्द में कौन से शब्द हैं? **'उप'** और **'ईक्षा'** ये दो शब्द हैं। **'उप'** शब्द का अर्थ है पास (नजदीक) आना, ईक्षा का अर्थ है देखना। इसलिए **उपेक्षा** शब्द का अर्थ होता है, पास जाकर सूक्ष्म निरीक्षण *(minute observation)* करो कि सामने का मनुष्य पापी क्यों बना? उपेक्षा का अर्थ उदासीनता *(indifference)* नहीं है।'

'उपकार' का अर्थ इस दृष्टि से देखना चाहिए। उसमें रुक्षता *(Dryness)* नहीं है, परन्तु लोग वैसा अर्थ करते हैं। उपकार में **'उप'** यानी पास में और **'कार'** यानी कृति। पास लेकर कृति करना यानी अपना बनाना! मैंने किसी पर उपकार किया इसका अर्थ, मैंने उसे अपने पास लिया- अपना बनाया, पराया नहीं समझा। आज व्यवहार में हम बोलते हैं कि 'मुझे किसी के उपकार नहीं चाहिए।' अर्थात् किसी के दबाव के नीचे मुझे नहीं आना है। **उपकार**= उप+कृति यानी जिस पर उपकार किया उसे पास में लिया- अपना बनाया और फिर उसकी सहायता की। इस प्रकार 'उपकार' में 'अपना बनाने' का प्रयत्न है।

जो अपेक्षारहित प्रेम करनेवाले हैं वे प्रत्युपकार की अपेक्षा नहीं रखते। इसमें दो प्रकार हैं। एक सन्तों, साधु-पुरुषों का है। ये लोग हम पर क्यों प्रेम करते हैं इसका पता नहीं

चलता। जिस प्रकार भगवान दिन-रात हमारा जीवन चलाते हैं, शरीर में रक्त बनाकर उसे घुमाते हैं फिर भी उनको कोई अपेक्षा नहीं है। भगवान चौबीस घण्टे और तीन सौ पैंसठ दिन अविरत हृदय चलाते हैं। हृदय की एक धड़कन भी रुक जाय तो मनुष्य मर जाता है। शरीरविज्ञान में उसे *Bundle of His* कहते हैं। इस *His* में *'H'* कैपिटल है इसका अर्थ यह है कि *His* यानी भगवान! कितने ही लोगों को लगता है कि *His* नामक व्यक्ति ने वह खोज निकाला इसलिए एच *(H)* कैपिटल लिखते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ *His* शब्द भगवान को उद्देश्य कर लिखा है। भगवान और सन्त पुरुष हम पर क्यों प्रेम करते हैं यह मालूम नहीं पड़ता। वे हम पर अकारण प्रेम करते हैं।

मनुष्य में कुछ कमी हो तो उस कमी को जो पूर्ण करता है उस पर मनुष्य प्रेम करते हैं। किसलिए? ऐसा ही सन्तों, ऋषियों के सम्बन्ध में कह सकते हैं। उनमें भी कुछ कमी नहीं है। फिर भी वे हम पर प्रेम करते हैं। ऐसे सन्तों को धर्मप्राप्ति होती है ऐसा भागवत में लिखा है।

प्रत्युपकार की अपेक्षा रखे बिना प्रेम करनेवाले दूसरे माँ-बाप हैं। उनको सुखप्राप्ति होती है ऐसा भागवतकार कहते हैं। सन्तों को धर्मप्राप्ति होती है और माँ-बाप को सुख-प्राप्ति होती है। क्यों? माँ-बाप वात्सल्य से अपनी सन्तान पर प्रेम करते हैं। वे दूसरों की सन्तान पर प्रेम नहीं करते। माँ-बाप को वात्सल्यप्रेरणा *(incentive)* है। इसलिए माँ-बाप को सुखप्राप्ति होती है और सन्तों को धर्मप्राप्ति!

कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वे उन पर प्रेम करनेवाला और प्रेम न करनेवाला इनमें से किसी पर भी प्रेम नहीं करते। उनका किसी पर प्रेम होता ही नहीं है। ऐसे लोगों के भागवतकार ने चार प्रकार किये हैं। ये लोग किसी पर प्रेम या उपकार नहीं करते। प्रथम प्रकार है, आत्मस्वरूप में मग्न होने वाले लोगों का। दूसरा प्रकार है निरिच्छ ज्ञानी पुरुषों का, तीसरा प्रकार है मूर्खों का और चौथा प्रकार है गुरुद्रोह करनेवाले दुष्टों का।

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः।।

(जो अत्यधिक मूर्ख होते हैं अथवा जो बुद्धि के परे स्थित परमात्मा स्वरूप को प्राप्त हुए हैं वे दो ही जन सुखी होते हैं, बीच के मनुष्य क्लेश पाते हैं।)

बाह्य आचरण में पागल और तत्त्वज्ञानी दोनों समान लगते हैं। पागल को पैसों की कीमत नहीं होती वैसे ही तत्त्वज्ञानी को भी नहीं होती। तीसरे मूर्ख होते हैं और चौथे गुरुद्रोह करनेवाले। इनका किसी पर भी प्रेम नहीं होता। उनका केवल अपने पर ही प्रेम होता है।

आत्मस्वरूप में मग्न होनेवाले लोग जो प्रत्युपकार करते हैं, कर्म करते हैं वह उनकी सहज क्रिया होती है। उनका सत्कर्म सहज होता है। मैंने किसी गरीब की सहायता की तो

मुझे अहंभाव (*Superiority complex*) निर्माण हो जाता है क्योंकि 'देनेवाला मैं हूँ।' परन्तु 'मैं श्वासोच्छ्वास करता हूँ' इसका क्या किसी को घमण्ड होता है? 'मैंने कल चौबीस घण्टे श्वासोच्छ्वास किया' ऐसा कोई नहीं बोलता। इसी प्रकार सत्पुरुष जो सत्कर्म करते हैं वह उनकी सहज क्रिया होती है। उनको सत्कर्म का घमण्ड नहीं होता। उनको लगता है कि सत्कर्म न करूँ तो दूसरा क्या करूँ? मेरे हाथ से सत्कर्म ही होते हैं।

हमारे हाथ से एकाध सत्कर्म हुआ तो हमें मानपत्र मिलता है। इसका कारण हमने एकाध ही अच्छा कर्म किया है। शेष सब कर्म बुरे ही हैं। जिसका स्वभाव ही अच्छे कर्म करने का है उसे मानपत्र की क्या आवश्यकता? उसे मानपत्र कौन देगा? मैं श्वसोच्छ्वास करता हूँ वह क्या मानपत्र पाने जैसा कर्म है? वह सहज कर्म है। वैसा आत्मस्वरूप में मग्न होनेवालों के लिए सत्कर्म सहज है। उनको प्रत्युपकार की या अन्य किसी बात की अपेक्षा नहीं होती।

दूसरे निरिच्छ ज्ञानी पुरुष होते हैं। उनकी प्रत्युपकार की अभिलाषा नष्ट होती है। उनके जीवन में अभिलाषा ही नहीं है। उनका *Becoming and crave for becoming something* समाप्त होता है। उनको कुछ 'होना' या 'बनना' नहीं है। हमें कुछ 'होना' या 'बनना' है। मैं गरीब हूँ, मुझे धनवान बनना है, मैं अनपढ़ हूँ मुझे विद्वान बनना है, मैं दुर्गुणी हूँ मुझे सद्‌गुणी बनना है। 'कुछ होना-बनना है' इसी को भव-*Becoming* कहते हैं। जिसका 'भव' बंद हुआ उसे अभिलाषा ही नहीं होती। वह दूसरे का काम करेगा, परन्तु माँगेगा नहीं। उस पर कोई प्रेम करे या न करे, उसे इससे कुछ लेना देना नहीं है। उसे कोई आवश्यकता ही नहीं है। उसका स्वभाव ही ऐसा है इसलिए वह सत्कर्म करता है।

तीसरा प्रकार मूर्खों का है। उन पर किसी ने प्रेम किया है, क्यों किया है यह वे समझते ही नहीं। वे मूर्ख हैं। अपने पर प्रेम और उपकार हुआ है, किसी ने किया है, क्यों किया है यह उनके दिमाग में आता ही नहीं। भगवान ने हम पर प्रेम किया है यह बात क्यों हमारे मस्तिष्क में नहीं आती? हम भगवान के प्रेम की वर्षा में नहाते हैं, चौबीस घण्टे रक्त का अभिषेक चल रहा है, हमारा श्वासोच्छ्वास अखण्ड चल रहा है। यह सब कौन करता है? इसका विचार भी हमारे मस्तिष्क में नहीं आता। हम श्वास लेते हैं तब उसके द्वारा प्राणवायु -(आक्सीजन) हम अंदर लेते हैं, परन्तु प्राणवायु क्या है यह क्या हमें मालूम है? फिर भी हम श्वास लेते ही हैं! हमें पता न होते हुए हमारा जीवन चल रहा है, वह भगवान के प्रेम के कारण चल रहा है। हम कैसे बोलते हैं यह क्या आपको मालूम हैं? **'ट'** का उच्चार कैसे करना यह भी हमें मालूम नहीं है, परन्तु वर्षों से हम उसका उच्चार करते आये हैं। यह किसकी शक्ति है इसका विचार हम कभी नहीं करते। इतना होते हुए भी हम घण्टों तक बोलते रहते हैं। इसीलिए ख्रिस्त ने कहा है, 'तू नहीं बोलता है, तेरे भीतर बैठी हुई शक्ति बोलती है, *(It is not ye that speak but the spirit of thy father that speaketh in you)* यह केवल भाव नहीं है, कल्पना है, यह हक़ीकत है। ये केवल प्रेम से कहे हुए शब्द नहीं हैं, यह बौद्धिक, तर्कसम्मत *(Rational)*

कथन है। कैसे बोलना, बोलते समय किसी शब्द का उच्चार करना हो तो कहाँ जीभ लगाने पर उस शब्द का उच्चार होता है इसका हमें ज्ञान नहीं है। फिर भी हम बोलते हैं, यह किसका प्रेम है? भीतर बैठे हुए भगवान का यह प्रेम है। भगवान हम पर प्रेम या उपकार क्यों करते हैं इसका कोई विचार भी नहीं करता है। इतने वे मूर्ख हैं, पागल हैं। इन लोगों की संख्या बहुत बड़ी है।

भगवान ने शरीर दिया, जीवन दिया, चलाया, केवल जीवन देकर भगवान अलग नहीं हुए। पूरा जीवन वे हमारे साथ ही रहते हैं और मनुष्य के साथ ही वे जायेंगे। भगवान का ऐसा प्रेम मूर्ख लोग नहीं समझते। माता-पिता ने प्रेम से बड़ा किया, परन्तु यह बात आज कौन समझता है? किसकी सदिच्छा व प्रेम के कारण बड़ा हुआ है यह वह भूल जाता है। 'मैं छोटा था, गैलेरी में घूमता था, अब बड़ा हुआ हूँ इसका कारण किसी के प्रेम से भीना होकर ही मैं बड़ा हुआ हूँ। ये सब बातें मैं भूल जाता हूँ।' यह भूलने वाले लोग मूर्ख हैं।

चौथा वर्ग गुरुद्रोह करनेवाले दुष्टों का है। जिससे कुछ लिया है, पाया है, प्रेम मिला है, भाव मिला है, जिसने नींद में से जगाया है, उसी पर वमन करनेवाला मनुष्य दुष्ट है।

भागवतकार कहते हैं कि आत्मस्वरूप में मग्न रहने वाले और निरिच्छ ज्ञानी का किसी पर प्रेम नहीं होता। वैसा ही मूर्ख और गुरुद्रोह करने वाला दुष्ट समझता है कि मुझे किसी ने उठाया है, परन्तु मुझे उसके उपकार के बोझ के नीचे नहीं रहना है। उसमें से छूटने के लिए वह गुरु पर आरोप करके छूट जाता है। फिर कहता है, नहीं! मैं गुरु को मानता था, परन्तु अब उनमें दोष आ गये हैं इसलिए नहीं मानता हूँ।' उससे पूछना चाहिए, आज तक दोष नहीं दिखते थे और अब अकस्मात् कहाँ से आ गये? मनुष्य को गुरु उठाते हैं इसलिए सभी उसका सम्मान करते हैं, आदर करते हैं, परन्तु जिस गुरु ने उसे उठाया उसके सामने उसे नम्र तो होना ही पड़ता है? यह एक मानसिक शरारत *(Psychological perversion)* है।

भगवान कहते हैं, 'मैं इनमें से किसी भी प्रकार में नहीं आता। मेरी स्थिति इन सबसे भिन्न है।' कारण यहाँ कृष्ण भगवान पर ही आरोप चल रहा है कि भगवान अन्तर्धान क्यों हो गये? गोपियाँ कहती हैं कि आपने हमारा प्रेम नहीं पहचाना, हमारे प्रेम के सम्बन्ध में सोचा तक नहीं आप अन्तर्धान हो गये? गोपियाँ व्यंग्य से बोल रही हैं। वे भोली-भाली नहीं हैं। भगवान के पास भोले लोग जा सकते हैं यह मान्यता मिथ्या हैं। समझदार व्यक्ति ही भगवान के पास पहुँच सकता है। इस सृष्टि में अनेक अवरोधों के बीच आपको खड़ा रहना पड़ता है, उनसे लड़ना पड़ता है।

गोपियाँ भोली नहीं थीं। उनके पास उद्धव आते हैं तब उन्होंने उद्धव को ऐसा सुनाया है कि मत पूछो! उन्होंने उद्धव से कहा कि 'निर्गुण की उपासना करो' ऐसा हमें कहने की

आवश्यकता नहीं है। यह निर्गुण किस देश का वासी है? वह कहाँ पैदा हुआ है? उसके माँ-बाप कौन हैं? उसकी सखियाँ कौन हैं? उसकी पत्नी कौन है? उसके पुत्र कौन हैं? यह जरा बताओ तो सही! ऐसा नहीं होगा तो वह भगवान हमें नहीं चाहिए।' उद्धव गोपियों को यह समझाने के लिए आये थे कि अब कृष्ण भगवान इधर नहीं आयेंगे, तुम्हें निर्गुण की उपासना करनी चाहिए। उद्धव को ऐसा उत्तर देनेवाली गोपियाँ क्या कम अक्लमंद थीं?

भगवान गोपियों से कहते हैं कि मैं इन चार वर्गों में से किसी भी वर्ग में नहीं आता। मेरी स्थिति बिलकुल भिन्न है। दृष्टान्त देकर उन्होंने समझाया कि एकाध मनुष्य जुआ खेलता है वह सब पैसा गवाँ देता है तब उसके मस्तिष्क में रात-दिन पैसे के सिवाय कोई बात आती ही नहीं। जो अपने से दूर चला गया है उसी की बात रात-दिन मस्तिष्क में आती है। 'तुम्हारी आतुरता तुम्हारा प्रेम बढ़ाने और दृढ़ करने हेतु मैं अन्तर्धान हो गया था।' यहाँ भगवान ने शपथपत्र *(affidavit)* दिया है कि वे अन्तर्धान क्यों हुए थे। भगवान ने यहाँ जो निवेदन किया वह केवल गोपियों के लिए ही नहीं है, परन्तु जो लोग चित्तैकाग्र *(concentration)* करके भक्ति करते हैं, उनके लिए स्वयं क्यों अन्तर्धान होते है इसका स्पष्टीकरण है। इन्हीं लोगों को इस बात का पता होगा। दूसरों के लिए यह प्रश्न खड़ा ही नहीं होता।

इस अशरीरी प्रेम में एक भिन्न ही मानसिक विश्व *(Psychological world)* खड़ा होता है। मन में जबरदस्त शक्ति है। आप आँखें बंद करके यहाँ बैठे-बैठे अपना घर, फर्निचर आदि एक साथ बना सकते हैं। उसमें बढ़ई, मिस्त्री, सीमेंट, लकड़ी आदि की कोई आवश्यकता नहीं होती। आप आँखें बंद करके संपूर्ण विश्व खड़ा कर सकते हैं। इसी प्रकार सगुण मूर्ति का मन को आकार देकर भक्ति करनी है। भक्ति भगवान को खुश करने के लिए नहीं करनी है।

बत्तीसवाँ अध्याय पूर्ण होने पर तैंतीसवें अध्याय में रासलीला का वर्णन है। वह वर्णन अलौकिक और सुंदर है। प्रत्येक गोपी के साथ एक ही समय कृष्ण हैं व एक ही समय भगवान प्रत्येक गोपी के साथ क्रीड़ा करते हैं। वैसे उनके साथ दूसरी गोपियाँ भी क्रीड़ा करती हैं। आप सब बुद्धिमान हैं, पढ़े लिखे हैं इसलिए मैं पूछता हूँ, 'क्या भौतिक दृष्टि में यह शक्य है? भगवान कोई चमत्कार नहीं करते। भगवान यदि इस प्रकार चमत्कार करते तो कंस ने भी उनके चरण पकड़े होते। वह राक्षस रहता ही नहीं! कंस मूर्ख नहीं था, बुद्धिमान था। प्रत्येक गोपी के साथ वे ही कृष्ण क्रीड़ा करते थे। यह स्थूल दृष्टि से अशक्य है। इतना ही नहीं, उसमें **सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः सर्वाः शरत्काव्यकथा-रसाश्रयाः।**भा-१०-३३-२६।। 'ऊर्ध्वरेतस् होने से संपूर्ण क्रीड़ा में रेत विसर्जन नहीं हुआ' यह लिखने की आवश्यकता क्या थी? इसका अर्थ ही यह है कि इस क्रीड़ा और रेत का कोई सम्बन्ध नहीं था।

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चित्- हजारों में एकाध ज्ञानी भक्त ही इस स्थिति में पहुँचता है। ऐसा होते हुए भी दस भक्त होंगे तो प्रत्येक के साथ वैसी रास-लीला होगी। शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य जैसे भक्त एक साथ ही चित्त एकाग्र करेंगे

तो प्रत्येक के साथ भगवान होंगे ही और क्रीड़ा करेंगे। यह स्थूल दृष्टि से अशक्य लगता है। इसलिए समझाने के लिए कहते हैं कि रास भक्ति-चित्तैकाग्रता का अति उच्च रूप है।

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः
स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्।।
आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत।। (भा.१०/२७,२८,२९)

अब, न समझनेवाला अप्रबुद्ध परीक्षित प्रश्न पूछता है। मैं परीक्षित को अप्रबुद्ध नहीं समझता, परन्तु वह अप्रबुद्ध लोगों का प्रतिनिधि बनकर यह प्रश्न पूछता है कि धर्मधुरन्धर, धर्म का काम करने आये हुए कृष्ण भगवान ने ऐसी शृंगारिक लीला क्यों की? उसको समझाने के लिए शुकदेव ने उत्तर दिया है कि सर्वसमर्थ को बाधा नहीं होती। समझ लीजिए कि शंकर भगवान ने हलाहल विष पी लिया। आप उसका अनुकरण करके नाइट्रिक एसिड पीयेंगे तो क्या होगा? आप मर जायेंगे! इसी प्रकार कृष्ण भगवान ने जो किया वह हम भी करेंगे। उसमें क्या है? कृष्ण भगवान ने जो किया वह हम भी करेंगे तो क्या होगा? क्या होगा यह सोचने के लिए आप रहेंगे ही नहीं! इसलिए सर्वसमर्थों का अनुकरण नहीं करना चाहिए यह प्रथम बात है। दूसरी बात, अच्छा-बुरा, शुभाशुभ, पाप-पुण्य आदि द्वंद्व जिसके हृदय में भाव निर्माण ही नहीं करते उसे कोई बाधा नहीं है। उसी प्रकार, सुख-दुःख की समझ और स्त्री-पुरुष का भेद जिसके मस्तिष्क में से चला गया है उसके लिए ऐसी अधार्मिकता का प्रश्न नहीं है। नीति-अनीति की चर्चा करते समय ऐसा जवाब शुकदेव ने दिया है। शंका करनेवाले लोगों की अवस्था दयनीय है, कारण जिनके चरणरज से दिन-रात कर्म करनेवाले ऋषि भी मुक्त हो गये वे कृष्ण स्वयं कर्म से बन्धे हुए कैसे होंगे? शुकदेव ने इतना ही उत्तर दिया है।

भागवत में यह प्रश्न उठा है, परन्तु शुकदेव को शत-प्रतिशत ज्ञात था कि यह रासलीला अशरीरी है। अशरीरी स्थिति की यह रासलीला है, फिर भी सामान्य लोगों को समझाने के लिए ऐसां कहना पड़ता है। उसी को प्रातिभाषिक सत्य कहते हैं। सत्य तीन प्रकार का होता है। उसे अंग्रेजी में *Degrees of truth* कहते हैं। मुझे एक परदेशी व्यक्ति ने पूछा था कि सत्य को *Degrees* कैसे हो सकती हैं? सत्य, सत्य ही होना चाहिए। *Truth must be absolute*। परन्तु सत्य की *degrees* होती हैं। हमारे शंकराचार्य ने भी *Degrees of Truth* माना है। उसके तीन प्रकार हैं- व्यावहारिक सत्य, प्रातिभाषिक सत्य और पारमार्थिक सत्य!

व्यावहारिक सत्य भिन्न होता है। हीरा कार्बन है, और कोयला भी कार्बन है। यह सत्य है, परन्तु व्यवहार क्या है? कोई हीरे को भट्टी में नहीं जलाता है और कोई कोयले

का हार गले में नहीं पहनता है। वास्तव में, विज्ञान की दृष्टि में दोनों कार्बन हैं। दोनों का एक ही रूप है। फिर भी व्यावहारिक सत्य मानकर हीरे का हार बनाया जाता है और कोयले को सेगड़ी में जलाते हैं। उसके बिना व्यवहार नहीं होता। सभी में भगवान बैठे हैं यह सत्य है, फिर मगनभाई कौन और छगनभाई कौन? ऐसा भेद नहीं करेंगे तो व्यवहार ही नहीं होगा। यह व्यावहारिक सत्य है।

दूसरा प्रातिभाषिक सत्य है। सामने वाले व्यक्ति का ओहदा *(standard)* देखकर उसे समझाना पड़ता है। उसे असत्य भी समझाना पड़ता है। बिंदु को लंबाई, चौड़ाई नहीं है- *A point has no length and breadth* ऐसा कहना पड़ता है या नहीं? वास्तव में कागज़ और पेन्सिल का सम्बन्ध आया कि लंबाई, चौड़ाई आ ही गयी। परन्तु 'बिन्दु को लंबाई, चौड़ाई नहीं है' इस पर गणितशास्त्र खड़ा है। उसीको कहते हैं--

'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते'

इसे प्रातिभाषिक सत्य कहते हैं। इसका एक दूसरा दृष्टान्त देखिए, एक बार पाँच साल का लड़का और उसका पिता दोनों बरामदे में बैठे थे। इतने में आकाश में बादल घिर आये, बिजली चमकने लगी, तब लड़के ने पूछा, पिताजी यह क्या हो रहा है? इस समय उस पाँच वर्ष के बालक को पिता क्या कहेगा? जो सत्य बात है वह बतायों तो लड़का कुछ नहीं समझ पायेगा। पिता कहता है, 'हम उस दिन विवाह में गये थे न? वहाँ डेकोरेशन हुआ था, उसमें लाईट थी, बाजे बज रहे थे या नहीं? लड़के ने कहा, हाँ! तो पिता ने कहा, इसी प्रकार भगवान के घर विवाह है इसलिए डेकोरेशन की लाईट चमक रही है और बाजे बज रहे हैं!' यह बात लड़के के मस्तिष्क में उतर गयी। फिर वर्षा होने लगी। लड़के ने पूछा, यह क्या है? पिता ने कहा, विवाह में भोजन के बाद हमने हाथ धोये थे, उसी प्रकार देवता खाने के बाद हाथ धो रहे हैं, उसका यह पानी है। यह बात भी लड़के के मस्तिष्क में उतर गयी। लड़कों में विशेष समझ नहीं होती। उनके मस्तिष्क में उतरेगी वैसी ही बात उनको समझानी पड़ती है। यह झूठ है या सत्य? इसे प्रातिभाषिक सत्य कहते हैं। इसलिए शुकदेव को सत्य ज्ञात था फिर भी सामान्य मनुष्य के लिए यह प्रातिभाषिक सत्य कहना पड़ा। हम भी कहने लगे, 'भगवान ने रासलीला की। परन्तु इसमें भगवान का दोष नहीं है। जिस प्रकार अग्नि में सभी दुर्गन्धयुक्त खराब पदार्थ जल जाते हैं वैसे सभी कामनाएं कृष्ण के पास गयीं व जल गयीं। इसमें शुकदेव झूठ नहीं बोलते हैं। कारण हम पाँच साल के हैं। कहने वाला झूठ नहीं कहता है, मगर वह सत्य नहीं है। सत्य यह है कि भगवान और भक्त का यह अशरीरी प्रेम *(Occult love)* है। इस प्रकार यह रासलीला का प्रकरण पूर्ण होता है।

रासलीला के प्रकरण के बाद चौत्तीसवें अध्याय में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएं आती हैं। उसमें प्रथम नंदजी को एक साँप काटने के लिए आता है उस समय कृष्ण ने नंद को बचाया। पिता पर कोई आपत्ति आती है तब पुत्र दौड़कर पिता को आपत्ति में से छुड़ाता है। उसके बाद भागवतकार यह कहते हैं कि पिछले जन्म में यह साँप विद्याधर था, उसका

नाम सुदर्शन था। उसे उस जन्म मे विद्या और सौन्दर्य के कारण नशा चढ़ गया था। वह नशे में अंगिरस ऋषि की उपेक्षा करता है, निंदा करता है। इतना ही नहीं, वह अंगिरस के विरुद्ध खड़ा रहता है। परिणामस्वरूप अंगिरस के शाप से उसे साँप का जन्म मिलता है। ऐसा भागवतकार ने कहा है।

यहाँ भागवतकार ने एक वैश्विक प्रश्न खड़ा किया है। वित्त व सौन्दर्य के कारण मनुष्य को नशा चढ़ता है इसमें सन्देह नहीं है। भागवतकार कहते हैं कि सुदर्शन नित्य विमान में घूमा करता था। आज भी विमान में घूमनेवाले कितने ही विद्याधर होंगे। उस समय अंगिरस नाम के एक ऋषि थे। अंगिरस हमेशा पापियों के पास जाते थे। उन्होंने **'प्रायश्चित्त स्मृति'** लिखी है। 'प्रायश्चित्त' का अर्थ यह नहीं है कि पाप करते जाओ और प्रायश्चित्त लेते जाओ। किसी ने अनजान, अज्ञान से या नासमझी के कारण पाप किया होगा तो क्या उसे भविष्य नहीं है? क्या वह सुधर नहीं सकता है? वह सुधर सकता है। उसने पिछले दिनों में जो कुछ पाप किया होगा उसे भूल जाने के लिए प्रायश्चित समझाया है। प्रायश्चित्त लो और भूतकाल भूल जाओ। भविष्यकाल तुम्हारे हाथ में है। वर्तमान जो तुम्हारे हाथ में है, उसे सुधारकर तुम भविष्यकाल बदल सकते हो। प्रायश्चित्त का ऐसा अर्थ है। इस दृष्टि से आज भी अपराध विज्ञान (*Science of criminology*) बदल रहा है। आज के बुद्धिशाली लोग भी कहते हैं कि 'जो व्यक्ति अपराध करता है उसे प्रतिशोध की दृष्टि से सजा नहीं देनी चाहिए। उसे सुधारने की दृष्टि से सज़ा देनी चाहिए। जेल को सुधार-शाला (*Reformative school*) बनाने की आवश्यकता हैं। कितने ही राष्ट्रों में उसका प्रारंभ हो चुका है। अपराधविज्ञान बदलने के बाद पता चलेगा कि जिसने सर्वप्रथम प्रायश्चित्त का प्रतिपादन किया होगा वह कितना महान् होगा।

यह काम प्रथम अंगिरस ऋषि ने किया। उनका लिखा हुआ प्रसिद्ध ग्रंथ **'प्रायश्चित्त स्मृति'** आज भी उपलब्ध है। अंगिरस वैदिक काल के ऋषि थे। वे पापियों के पास जाते थे और उनको खड़ा करते थे। पापियों के पास जाकर सूक्ष्म निरीक्षण (*Minute observation*) करना चाहिए कि वह पापी क्यों बना? पाप का कारण क्या है? पापी बनने के कुछ परिस्थितिजन्य परिणाम (*Environmental effects*) भी हो सकते हैं, कुछ पारंपरिक कारण भी होते हैं। कुछ बुरे विचार मस्तिष्क में घुस जाने से भी मनुष्य बिगड़ जाता है। पापी बनने के कारण समझकर उसे समझाकर बदल सकते हैं। अंगिरस ऋषि ऐसा काम करते थे। उन्होंने बहुत काम किया है।

हमारे प्राचीन ऋषि क्या करते थे, उनका जीवन कैसा था आदि बातों का हमें पता नहीं है। ऋषि नाक पकड़कर बैठते थे ऐसा हमें लगता है। उनकी समाधि लगती ही होगी। परन्तु समाधि के साथ ही भाव-समाधि है, ज्ञान-समाधि है, कार्य-समाधि भी है। कार्य करनेवाले लोग एकाक्ष दृष्टि ही रखते हैं। कौन सा पत्थर कौन से कार्य में किस तरह उपयोगी होता है यह वे देखते है। इसीको कार्य-समाधि कहते हैं। अंगिरस ऋषि की कार्यसमाधि भी रही होगी। वे पापियों को खड़ा करते थे।

उस समय विद्याधर सुदर्शन को वित्त, विद्या और सौन्दर्य के कारण बेहोशी आयी थी। उसे लगता था कि अंगिरस ऋषि तो पापियों के बीच घूमनेवाले हैं। परन्तु वे पापियों के पास क्यों जाते हैं, वहाँ क्या करते हैं इसका विचार उसने नहीं किया। विचार करनेवाले लोग हमेशा बहुत कम होते हैं। बिना विचार किये ही सुदर्शन जैसे लोग कुछ धारणा बना लेते हैं।

मुझे एक भाई मिला था। वह कहता था कि नवग्रह पीड़ा देते हों तो उनकी 'शान्ति' की जा सकती है। परन्तु एक दशम ग्रह है, वह पूर्वग्रह है। इस पूर्वग्रह के लिए कोई शान्ति नहीं है। कुछ ऐसे पूर्वग्रह होते हैं, 'जैसे धर्म मोटा है,' उसकी शान्ति नहीं है। इसका कारण शास्त्रकारों को पता नहीं था कि बुद्धिमान लोग पूर्वग्रह से देखेंगे। ऐसे पीड़ित लोगों को समझाना मुश्किल है। सुदर्शन को अपने वित्त, विद्या, सौन्दर्य से बेहोशी आयी थी। इसलिए उसने अंगिरस ऋषि की उपेक्षा की, निंदा की और उनके विरोध मे खड़ा हुआ। परिणामस्वरूप उसे साँप का जन्म मिला। परन्तु उसे अपने कृत्य का पश्चात्ताप भी हुआ था। अत: उसे मुक्ति मिल गयी ऐसा लिखा है। भागवतकार सबको मुक्ति देने के लिए ही बैठे हैं। कम से कम देह से मुक्ति मिलती है। दूसरी मुक्ति का किसे पता? मुक्ति कैसी है, उसकी सुगंध कैसी है क्या पता? परन्तु एक बात है, वित्तवान और सौन्दर्यवान की दृष्टि में आकर्षण होता है, परन्तु विचाराकर्षण नहीं होता है।

अंगिरस के पास क्या था? केवल विचार थे, वित्त व सौन्दर्य नहीं था। वित्ताकर्षण व सौन्दर्याकर्षण से व्यक्ति हिल सकता है परन्तु विचाराकर्षण से नहीं! कहा जाता है कि मनुष्य बुद्धिशील प्राणी *(Rational animal)* है। परन्तु उसके पास बुद्धि है या नहीं तथा वह उसका (बुद्धि का) कुछ उपयोग करता है या नहीं इसका पता नहीं चलता। समाज में विचाराकर्षण का मूल्य बढ़ाना चाहिए। वेदकाल से लेकर आज तक उसकी आवश्यकता प्रतीत होती आयी है। इसका अर्थ यही है कि ब्राह्मण्य का मूल्य बढ़ाना चाहिए। ब्राह्मण के पास न सम्पत्ति होती है न सत्ता! उसके पास केवल प्रभावी विचार होते हैं। अत: समाज में विचाराकर्षण बढ़ना चाहिए, उसके लिए विचार का मूल्य बढ़ना चाहिए, अत: ब्राह्मण का मूल्य बढ़ाना चाहिए। भागवतकार ने नीति समझायी है वैसे ही इस घटना द्वारा भीति भी दिखायी है। प्रारंभ में भीति होनी ही चाहिए। भगवान का भी प्रारंभ में भय होना चाहिए। *Fear of God is the begining of wisdom* ऐसा कहा है।

दूसरी कथा है शंखचूड़ की। वह एक राक्षस था। 'राक्षस' शब्द कहते ही आपकी आँखों के सामने एक अकराल-विकराल, भयंकर मनुष्य खड़ा होता है। वह बात मस्तिष्क में से निकाल दो। यह राक्षसों के सम्बन्ध में एक पूर्वग्रह है। 'राक्षस' यानी अपना रक्षण हम स्वयं करेंगे। हमें भगवान की आवश्यकता नहीं है, अपना विकास हम कर सकते है। उसमें भगवान को नमस्कार करने की कौन-सी आवश्यकता हैं?' ऐसा कहने वाले सब राक्षस माने जाते हैं। वैसे ही असुर! असुर शब्द का अर्थ है, **'असुषु रमन्ते इति असुराः'** प्राणों में ही मग्न रहनेवाले सब असुर हैं। 'खाओ, पीओ और मौज करो' ऐसी मान्यता वाले सब असुर हैं। इसके बिना दूसरा कोई विचार उनके जीवन में नहीं होता।

शंखचूड़ राक्षस था, वह कुबेर का दूत था। कुबेर यानी सम्पत्ति का, धन का राजा। बहुत बड़े धनवान लोग कुबेर हैं। शंखचूड़ राक्षस ने बलपूर्वक गोपियों को उठाया और उत्तर की ओर भागने लगा। वित्त से उन्मत्त लोग हमेशा स्त्री का शिकार करते हैं और शारीरिक दुर्बलता के कारण स्त्री शिकार बनती है, शिकार का लक्ष्य बनती है। जब शक्तिशाली लोग स्त्री का शिकार करते हैं तब सात्विक शाक्तिशाली लोगों को ऐसी स्त्रियों को सँभालने की आवश्यकता है। इसलिए उनको भी शक्ति संचय करनी चाहिए।

शंखचूड़ गोपियों का अपहरण करके उत्तर की ओर भागने लगा परन्तु बलराम और कृष्ण उसे मारकर गोपियों को छुड़ाकर लाते हैं।

ऐसी दो कथाएं हैं। ब्राह्मण और स्त्री का रक्षण होना चाहिए, तभी संस्कृति का रक्षण होगा। जहाँ ब्राह्मण्य खत्म हुआ वहाँ स्त्रीत्व भी खत्म हो जाता है। स्त्रीत्व खत्म करना हमारे वश में नहीं है, वह नैसर्गिक बात है। स्त्री जाति *(Female gender)* को क्या हम खत्म कर सकते हैं? परन्तु स्त्रीत्व खत्म कर सकते हैं। स्त्री को हम पौरूषी स्त्री (*Manly woman*) बना सकते हैं और पौरूषी स्त्री बनने के बाद स्त्रैण पुरुष *(Womanly man)* बन ही जाता है। उसका यह दूसरा भाग है। इसके कारण सारी घटना अव्यवस्थित बन जाती है।

इसलिए संस्कृति की रक्षा करने के लिए ब्राह्मण व स्त्री दोनों की रक्षा होनी चाहिए, कारण ये दोनों ही संस्कृति को संभाल सकते हैं। इसीलिए ब्राह्मणत्व और स्त्रीत्व का रक्षण होना चाहिए यह समझाने के लिए इस अध्याय में ये दो कथाएं आयी हैं।

ब्राह्मणत्व का रक्षण होना चाहिए ऐसा कहा है, ब्राह्मण का नहीं! ब्राह्मण को जिमाया तो ब्राह्मण का रक्षण होगा। सच्चे अर्थ में ब्राह्मणत्व का रक्षण होना चाहिए। श्रीमदाद्य शंकराचार्य ने कहा है, **'ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितो स्याद् वैदिको धर्मः।'** ब्राह्मणत्व के रक्षण से ही वैदिक धर्म की रक्षा होगी। 'ब्राह्मणत्व' में ब्रह्म का अर्थ है वेद, विचार! प्रभु! जो प्रभु व विचार को ले जाता है वह ब्राह्मण! समाज में प्रभुनिष्ठ विचार ले जानेवाला कोई भी हो वह ब्राह्मण है ऐसा कहने का समय आयेगा।

आप अत्रि-स्मृति आदि पढ़ेंगे तो उनमें म्लेच्छ ब्राह्मण, मनुष्य ब्राह्मण, आदि ब्राह्मणों के नाम दिखाई देंगे। ऋषि ब्राह्मण व मुनि ब्राह्मण ये दो ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। आज तो पिता ब्राह्मण है इसलिए पुत्र भी ब्राह्मण है ऐसी स्थिति आयी है। अनुवंश होना चाहिए। उसके लिए कुछ बंधन भी होने चाहिए इसलिए ऐसा लिखा है। परन्तु जो ब्राह्मण, ब्राह्मण का काम नहीं करता है उसे ब्राह्मण कौन कहेगा? ब्राह्मण को विचार व प्रभु समाज में ले जाने चाहिए। मान लीजिए, वह काम मच्छीमार लोग करेंगे तो? तो भगवान उनको ब्राह्मण कहेंगे। परन्तु एक दो दिन ऐसा काम करके ब्राह्मण नहीं बना जाता। जो लोग निरन्तर ब्राह्मण का काम करते हैं उनको क्या भगवान ब्राह्मण नहीं कहेंगे? अवश्य कहेंगे। दूसरे को अपने पास लेकर उसके जीवन को मोड़ देने का काम ब्राह्मणों का है। यह काम एक दो दिन में नहीं

होता। एकाध दिन गाँव में जाने से ब्राह्मण नहीं बना जाता। योगदर्शनकार कहते हैं वैसा- **'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारा सेवितो दृढ़भूमि-** (पा.यो दर्शन १४)।' सातत्य होना चाहिए। इसलिए ब्राह्मण्य व स्त्रीत्व का रक्षण होना चाहिए!

स्त्री के रक्षण का अर्थ केवल नारी जाति का रक्षण नहीं है। स्त्री में स्त्रीत्व होना चाहिए। उसके सम्बन्ध में मैं अभी नहीं बोलता हूँ, कारण स्त्रीत्व में क्या क्या आता है यह देखना हो तो उसके लिए समय चाहिए। संस्कृति रक्षण में ब्राह्मणत्व व स्त्रीत्व का रक्षण ये दो बातें आवश्यक हैं। कितने ही लोग कहते हैं कि आज जमाना बहुत बुरा आया है। परन्तु जमाना हमने ही बनाया हैं। जमाना हमें बनाता है या हम जमाने को बनाते हैं? मैं जमाना खड़ा करूँगा ऐसी मस्ती दिमाग में होनी चाहिए। हम जमाना बदलेंगे ऐसी अस्मिता भी आज नहीं दिखायी देती। मरे हुए लोग न तो जीवन जी सकते हैं न भगवान तक पहुँच सकते हैं, न आत्मज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उपनिषद में लिखा है- **'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'** बलहीन व्यक्ति के लिए आत्मज्ञान नहीं है।

इसके लिए कौन-सा बल चाहिए? क्या दूसरों को मारने का बल चाहिए? यह बल, बल नहीं है। यह बल अलग ही है! हम जमाना बदल सकते हैं ऐसी धारणा होनी चाहिए। इसीलिए ब्राह्मणत्व व स्त्रीत्व, दोनों की रक्षा इस अध्याय में समझायी है। श्रीकृष्ण भगवान ने दोनों की रक्षा की है।

विचाराकर्षण सभी लोगों में नहीं हो सकता। वित्त का आकर्षण सबको होता है। सुभाषितकार कहता है, **'स्त्रीबालवृद्धानां षंढानामपि सर्वदा'** सभी को वित्त का आकर्षण होता है। रूपये हाथ में लेकर समाज को बनानेवाले लोग नहीं समझते कि रुपयों के जोर पर वे संस्कृति को उठा नहीं सकते, बना नहीं सकते। ये लोग विश्व में कुछ नहीं कर सकते और वे भगवान के पास भी पहुँच नहीं सकते। वित्ताकर्षण व सौन्दर्याकर्षण के सामने विचाराकर्षण खड़ा करना यह एक वैश्विक आवश्यकता है। ब्राह्मणत्व का रक्षण यह केवल इस देश की आवश्यकता नहीं है, बल्कि वैश्विक आवश्यकता है। इसलिए विचार समझानेवाले लोगों की प्रतिष्ठा बढ़ाने की सभी को आवश्यकता है। समाज के सभी पुरुषों को, ये विचार देनेवाले, विचार समझानेवाले, जीवन को मोड़ देनेवाले जो लोग हैं उनको सँभालने की आवश्यकता है। इसलिए शंकराचार्य ने लिखा है, **'ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मः।'** रासलीला के बाद के अध्याय में यह चिरन्तन सत्य समझाया है।

इसके बाद पैंतीसवें अध्याय में श्रीकृष्ण नहीं दिखायी देते। वे कदाचित् जंगल में गये होंगे। उस समय उनको याद करके गोपियाँ आपस में बातें करती हैं। बहुत अच्छी बातें हैं, उनको **'विरहमाधुरी'** कह सकेंगे इतनी सुंदर बातें हैं वे! श्रीकृष्ण कैसे थे, कैस मिलते थे, अब श्रीकृष्ण कहाँ चले गये? श्रीकृष्ण गायों को लेकर जंगल में गये होंगे। उस समय सभी गोपियाँ एकत्रित होती हैं और श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में, सब अपने-अपने अनुभव, विचार कहती हैं। अतिशय सुन्दर वर्णन है। श्रीकृष्ण पर जिनका प्रेम होगा उनके लिए अत्यन्त सुंदर वर्णन है। वैसा न होगा तो वह लेखन वाङ्मय की, साहित्य की दृष्टि में भी सुंदर

है। मैं तो इतना ही कहूँगा कि विरह में जो मधुरिमा निर्माण होती है वह गोपियों में दिखायी देती है।

कृष्ण नहीं दिखायी देते इसलिए उनका, उनकी कृतियों का चिन्तन शुरू होता है। वह चिन्तन भागवतकार ने बहुत ही सुन्दर प्रकट किया है।

उसके बाद नारद आते हैं। उनको लगता है कि अब समय ठीक आया है। अब तक तो कुछ नहीं हुआ। अब समय आया है। कारण गोकुल को जिस तरीके से बदलना था उस तरीके से श्रीकृष्ण ने गोकुल बदल दिया है। श्रीकृष्ण दार्शनिक थे। स्त्रियों के बदलने से सारा गाँव बदल जाता है, पुरुष भी बदल जाते हैं यह काम उन्होंने करके दिखाया है। गोपियों के साथ खेलते-खेलते वे गोकुल में परिवर्तन लाये। बड़े होने पर यदि उन्होंने गोपियों के साथ क्रीड़ा की होती तो गलतफहमी खड़ी हो जाती। इसलिए बचपन में ही उन्होंने यह प्रयोग किया। गोकुल बदल गया है यह देखने के बाद नारदजी कंस के पास जाते हैं क्योंकि अब कुछ आग तो लगानी चाहिए न? अन्यथा सब किया-कराया चौपट हो जायेगा।

नारदजी कंस के पास जाकर कहते है, कंस! क्या तुम्हें पता है कि कृष्ण ने सारे गोकुल को पागल बना दिया है! हम एक व्यक्ति को भी पागल नहीं बना सकते, और कृष्ण ने तो पूरे गोकुल को पागल बनाया है। उसने गोकुल को कितना बदल दिया है इसका क्या तुम्हें पता है? वहाँ पहले इन्द्रपूजा होता थी परन्तु कृष्ण ने उसके स्थान पर गोवर्धन पूजा शुरू करा दी। कृष्ण के एक भाषण से पीढ़ियों से चली आयी इंद्रपूजा गोकुलवासियों ने छोड़ दी और गोवर्धनपूजा को स्वीकार किया। यह क्या मामूली बात है?'

बात सही है। कृष्ण भगवान ने कहा था,

अतियजेत निजां यदि देवतामुभयतेश्च्यवते जूषतेऽप्यघम्।
क्षितिभृतैव सदैवतकावयं वनवताऽनवता किमहिद्रुहा।।

यह सुनकर गोकुलवासियों ने इंद्रपूजा बंद कर दी और गोवर्धनपूजा शुरू की। इसमें एक वृद्ध ने भी विरोध नहीं किया।

नारद ने कंस से पूछा, यह सब क्या दिखाता है? क्या तुम सो गये हो तुम्हें पता है कि आकाशवाणी कभी असत्य नहीं होती। तुझे मारनेवाला तो जन्म ले चुका है और वह बलराम कृष्ण के रूप में है।

कंस कहता है, 'यह कैसे संभव है? वे दोनों तो नंद के लड़के हैं। मुझे मारनेवाला तो वसुदेव-देवकी के उदर में से पैदा होनेवाला था।'

नारद ने कहा, "तुझे तनिक भी मालूम नहीं है। वे दोनों वसुदेव-देवकी के ही लड़के हैं। वसुदेव ने ही उनको नंद के घर रख दिया था। तुझे गफ़लत में नहीं रहना चाहिए।'

इतना सुनने पर कंस को लगा कि अब वसुदेव-देवकी को ही मारना चाहिए। उसने जब नारद से यह कहा तब नारद ने कहा, 'ऐसी बेकार ब्रह्महत्या तू क्यों करता है? उसका पाप तुझे लगेगा ही और दूसरी बात, उनको मारने पर कृष्ण तो जीवित ही रहता है।'

तब कंस ने कहा, 'बहुत अच्छा हुआ कि आपने मुझे स्पष्ट समझाया। तो मैं क्या करूँ?'

नारद ने कहा, 'तुझे चाहिए कि तू वसुदेव-देवकी को बन्धन में डाल दे।' कंस मान गया और वसुदेव-देवकी को जेलखाने में डाल दिया।

कंस ने विचार किया कि अब क्या करना चाहिए। वह बुद्धिशाली तो था ही। बलराम और कृष्ण को मथुरा में मारने के लिए कैसे बुलाया जाय? गोकुल में तो सभी उनके ही पक्ष में हैं। वहाँ मारूँगा तो मथुरा के लोग भी विरोध में खड़े रहेंगे। कंस विचार करने लगा। अन्त में उसने मथुरा में एक धनुर्याग का आयोजन किया और उसके निमित्त दोनों को बुलाकर मारने का उपाय निश्चित किया।

भागवत व महाभारत में वेदव्यास ने ऐसा दिखाया है कि यज्ञ करनवाले लोग भिन्न-भिन्न हेतु से यज्ञ करते हैं। इसलिए किसी के यज्ञ में जाकर यज्ञ-वेदी को नमस्कार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। मनु महाराज ने ऐसा स्पष्ट ही कह दिया है, कारण वह यज्ञ कामुक यज्ञ भी हो सकता है। उसमें बीच में दूसरों को घुसने की क्या आवश्यकता है? यह पागल लोगों की बात है कि वे ऐसे यज्ञ में **यज्ञो वै विष्णुः** कहकर नमस्कार करने आते हैं। जिसकी जैसी भावना होगी वैसा वह यज्ञ करता होगा।

कंस ने 'धनुर्याग' का आयोजन किया। अति प्राचीन काल में आदिवासी जातियों में बल प्रदर्शन के उत्सव हुआ करते थे उन उत्सवों को ब्राह्मणों ने धार्मिक रूप दे दिया। उसमें धार्मिकता भी है और बलप्रदर्शन भी है। कंस को लगा कि धनुर्याग के निमित्त कृष्ण को मथुरा में लाया जा सकेगा। इसका कारण कृष्ण बल का पक्षपाती व बलवान पर प्रेम करनेवाला है, वैसे ही वह धार्मिकता पर भी प्रेम करता ही है। बहुत सोचने के बाद कंस ने धनुर्याग करने का निश्चय किया।

धनुर्याग करना है तो संपूर्ण गोकुल को आमंत्रण देना चाहिए। प्रत्येक घर-घर में जाकर आमंत्रण देंगे तो ही कृष्ण मथुरा में आयेगा। दूसरा, कृष्ण को यज्ञ में तो बुलाऊँगा ही। उसमें कृष्ण से भी बलवान पहलवान कृष्ण को मारेंगे ही, परन्तु उसके भी पहले हाथी द्वारा उसे मरवाऊँगा तो 'अकस्मात्' में वह मर जायेगा। कोई मनुष्य मारेगा तो कानून की बाधा आयेगी परन्तु किसी पशु ने ही मार दिया तो वैसा प्रश्न ही निर्माण नहीं होगा। इसका कारण हाथी को थोड़े ही अदालत में खींचना था?

कंस बहुत बड़ा राजनीतिज्ञ व अक्लमंद था। उसने अंबष्ट नाम के महावत को बुलाया व कुवलयापीड हाथी को शराब पिलाकर मस्त बनाने को कहा और कृष्ण जब धनुर्याग देखने के लिए आयेगा तब हाथी द्वारा उसे मार देने की तरकीब बतायी। परा षडयंत्र रचा गया।

अब कृष्ण को बुलाना है। उसे मथुरा कौन ला सकेगा? जिसको दोनों पक्षों में मान्यता है ऐसा ही व्यक्ति ला सकेगा। ऐसा व्यक्ति था अक्रूर! कंस ने अक्रूर को बुलाया और अति नम्रता से उसके साथ बातें की। ये बदमाश लोग आवश्यकता पड़ने पर कितने नम्र बनते हैं। स्वार्थ की बात आयी कि वे नम्र बनते ही हैं।

कंस ने नम्रता से अक्रूर से कहा, 'मुझे तुम्हारी सहायता चाहिए। मैं धनुर्याग कर रहा हूँ। उसमें सब गोकुलवासी, बलराम व कृष्ण आयेंगे तो कितना अच्छा होगा। परन्तु गोकुलवासी गाँव के लोग हैं, वे शहर में आने से डरते हैं, परन्तु उनको शहर में लाना तो चाहिए और उनके साथ बलराम और कृष्ण भी आने चाहिए। यह काम केवल आप ही कर सकेंगे ऐसा मुझे लगता है, इसलिए मैंने तुम्हें बुलाया हैं।'

अक्रूर कृष्ण के चाचा थे। वृष्णि संघ के दो प्रमुख नेता थे। एक वसुदेव व दूसरा अक्रूर। वसुदेव सिद्धान्तवादी था। अक्रूर मौका देखकर चलनेवाला यानी अवसरवादी था। अक्रूर को दोनों पक्षों में मान्यता थी इसलिए कंस ने यह काम अक्रूर को सौंपा।

अक्रूर कृष्ण पर प्रेम करनेवाला था। वह उसकी नीति भी होगी, कारण वही अक्रूर श्रीकृष्ण पर स्यमन्तक मणि की चोरी का आरोप लगाने में भाग लेता है, ऐसा भागवत में लिखा है। नारदजी, जिन्होंने यह आग सुलगायी, वे भी कृष्ण के विरोध में नहीं थे परन्तु वह उनकी नीति थी। वैसी अक्रूर की भी होगी।

भागवतकार ने लिखा है कि अक्रूर गोकुल जाता है। मार्ग में वह यमुना में स्नान करता है तब उसकी दृष्टि ही बदल जाती है। उसमें बौद्धिक परिवर्तन हो जाता है। उसे लगता है कि कृष्ण कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। वह भगवान है। अक्रूर नंद के घर दौड़कर आता है। वहाँ उसका अतिथिसत्कार होता है। सत्कार करते समय नंद कहते हैं कि निर्दय राजा की प्रजा सुखी कैसे हो सकती है? उसमें भी तुम्हारी स्थिति अतिशय दयनीय है। इसका कारण तुम वह सब देख नहीं सकते और उसके विरोध में भी नहीं जा सकते। तुम्हारे जैसे सात्त्विक मनुष्य की कैसी अवस्था होती होगी, भगवान जाने!'

उसके बाद नंद ने सारे गोकुल को मथुरा जाने को कहा। आज्ञा (*order*) हुई है इसलिए सब मथुरा जाने के लिए निकले पड़े। कृष्ण भी मथुरा मे आये है, परन्तु वे किसी के यहाँ नहीं ठहरे है। नगर के बाहर बगीचे में ठहरे। उन्होंने अक्रूर से कहा कि मैं यह सब हो जाने के बाद आपके घर आ जाऊँगा। कृष्ण गाँव के बाहर क्यों ठहरे? समझ लीजिये, कृष्ण यदि कंस के शाही मेहमान (*Royal Guest*) बनकर जाते तो उनसे कोई भी नहीं मिल सकता था। गाँव के बाहर ठहरने से कोई भी व्यक्ति उनसे मिल सकता था। इससे मथुरा की स्थिति कैसे है यह कृष्ण जान सकते थे और एक दो दिन में ही कृष्ण ने मथुरा का सब हाल जान लिया। उनको पता चला कि एक भी मथुरावासी कंस के साथ नहीं है, उल्टे सब विरोध में हैं। परन्तु वे कुछ नहीं कर सकते थे इसलिए कंस के सभी व्यवहार चल रहे थे। यह बात कृष्ण जान गये।

दूसरे दिन मथुरा शहर में धनुर्याग की व्यवस्था देखने के लिए कृष्ण भगवान गये। संपूर्ण शहर सुशोभित किया गया था। रास्ते में धोबी मिला, उसे सज़ा दी। कुब्जा मिली, उसे आशीर्वाद दिया। मार्ग में कुवलयापीड हाथी मस्त बनकर कृष्ण पर दौड़ आता है, उसे मार देते हैं और उसका हाथीदाँत कंधे पर रखकर कंस के दरबार में आ पहुँचे। उस समय कुवलयापीड हाथी को मारकर कंस के दरबार में आये हुए कृष्ण सभी को कैसे लगे इसका सुंदर वर्णन भागवतकार ने किया है।

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां।
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः।। (भा. १०/४३/१७)

यह कहने में अखाडे में अलग-अलग लोग भी थे यह कहने का भागवतकार का अभिप्राय है।

इस स्थल को भागवतकार ने रंगभूमि कहा है। वहाँ सब मल्ल उपस्थित थे उनको श्रीकृष्ण वज्रकठोर शरीर के लगे। सामान्य प्रतिष्ठित लोगों को कृष्ण कोई श्रेष्ठ पुरुष है ऐसा लगा। स्त्रियों को तो श्रीकृष्ण साक्षात् कामदेव ही लगे। यहाँ काम का अर्थ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध इतना मर्यादित अर्थ नहीं लेना है। काम यानी आकर्षण। गोप भी वहाँ उपस्थित थे। संपूर्ण सभा कैसी थी वह समझाने की भागवतकार की यह शैली है। गोपों को कृष्ण स्वजन लगे। उन्मत्त-दुष्ट राजाओं को लगा कि मानों कृष्ण उनको दण्डित करने के लिए ही आये हैं। वहाँ पितृतुल्य जो लोग थे उनको कृष्ण अपने लड़के जैसे लगे। कंस को वे साक्षात् मृत्यु जैसे लगे। कृष्ण को देखने पर कंस की अन्तरात्मा उससे कहने लगी कि अब तेरे दिन पूरे हो गये हैं। अज्ञानी लोगों को श्रीकृष्ण 'विराट पुरुष' लगे, योगियों को परब्रह्म रूप दीख पड़े और यादवों को कोई श्रेष्ठ देवता लगे।

मुझे लगता है कि स्वाध्याय में जिस प्रकार विद्वान-अविद्वान, गरीब-अमीर, सब साथ में बैठते हैं, वैसे इन सभी में मल्ल, स्त्रियाँ, नरश्रेष्ठ, सामान्य, योगी सभी एक साथ बैठे थे।

जिनको कुछ अभ्यास करना होगा उनके लिए कहता हूँ कि वहाँ चाणूर मल्ल था। वह अतिशय सुन्दर भाषा बोलता था। राक्षस शब्द सुनकर लगता है कि वे मस्त, उन्मत्त जंगली होंगे। उनमें भी जो पहलवान होते हैं उनमें बुद्धि ही नहीं होती ऐसी हमारी धारणा बन गयी है। परन्तु ऐसा नहीं है। चाणूर ने अत्यन्त स्थलोचित व प्रसंगोचित भाषण किया। पढ़ना है तो बयालीसवें अध्याय में (श्लोक ३२ से) पढ़ सकते हैं। स्थलोचित और प्रसंगोचित कैसे बोलना यह उसमें दिखाई देता है। चाणूर कहता हैं, 'हम एक राजा की प्रजा हैं। (कारण गोकुल भी कंस की ही प्रजा थी)। राजा को प्रसन्न करना प्रजा का काम है। तुम सब गोपाल कुश्ती में प्रवीण हो। मनुष्य अपनी कला दिखाकर राजा को

प्रसन्न करता है। तुम्हारे पास कुश्ती की कला है। उसे तुम राजा को दिखाकर प्रसन्न कर सकते हो।'

कृष्ण ने कहा, 'हम कंस की प्रजा हैं यह बिलकुल सत्य बात हैं। परन्तु हम तो बालक है। तुम्हारे जैसे के साथ हमारे जैसे बालकों को कुश्ती लड़ना अयोग्य है। समर्थ असमर्थ के साथ कुश्ती नहीं लड़ता। और असमर्थ समर्थ के साथ कुश्ती लड़ने का साहस नहीं करता। अत: यह कुश्ती समर्थ-असमर्थ की होगी। यह कैसे संभव है?

तब चाणूर ने कहा, 'हजार हाथी का जिसमें बल था ऐसे कुवलयापीड जैसे हाथी को जिसने मार डाला वह बालक नहीं हो सकता और कमजोर भी नहीं हो सकता। तू हमारे साथ लड़ सकता है। उसके बाद चाणूर व कृष्ण की कुश्ती हुई, परन्तु उन दोनों का संभाषण पढ़ने जैसा है।

सबल और निर्बल का युद्ध देखकर सभा में बैठे हुए लोगों को ऐसा लगा कि इस सभा में अधर्म चल रहा है। जिस सभा में अधर्म चलता है उस सभा में बैठे रहने से पाप लगता है।

न सभां प्रविशेत् प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन्।
अब्रुवन् विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्विषमश्नुते।। (भा. ४४/१०)

भागवतकार का यह श्लोक है। संपूर्ण सभा उठकर चले जाने की तैयारी करती हैं कि हमें समर्थ-असमर्थ की लड़ाई नहीं देखनी है।

सभा छोड़कर चले जाना यह अनादि काल से ही चलता आया है। वह आज के पार्लियामेंट में ही चलता है ऐसा नहीं है। परन्तु आज केवल 'हमें मान्य नहीं है' इसलिए सभात्याग होता है और पुराने समय में, ऐसा काम धर्म को मान्य नहीं है, तब सभा छोड़कर जाते थे। भागवत में स्पष्ट भाषा में लिखा है कि 'इस सभा में अधर्म चलता है इसलिए सभा छोड़कर जा रहे हैं।' यह विरोध दिखाने का एक प्रकार है। परन्तु इतना कहकर भी उन लोगों ने सभात्याग नहीं किया। इसका कारण श्रीकृष्ण का आकर्षण इतना जबरदस्त था कि जाने के लिए सब खड़े हो गये थे परन्तु श्रीकृष्ण की ओर देखने के बाद सभा छोड़कर जाने का उनका मन नहीं हुआ। स्त्रियाँ भी जाने की तैयारी करती हैं, परन्तु कोई नहीं गया। कृष्ण का मधुर रूप और उसका वर्णन सब फिर से करते हैं और सभा छोड़कर नहीं जाते। उन्होंने श्रीकृष्ण का वर्णन बहुत सुंदर किया है। उस समय का कृष्ण का रूप जिन्होंने देखा, जिनके हृदय में श्रीकृष्ण के लिए प्रेम है उसे वे ही समझ सकेंगे। साहित्य की दृष्टि से भी वह श्रेष्ठ वर्णन है।

उसके बाद कृष्ण ने चाणूर को मार दिया। तब कंस बहुत डर गया। वह बोला, 'कृष्ण को सभा में से बाहर निकाल दो, वह यहाँ नहीं चाहिए।' इसका अर्थ उसे देश से बाहर निकालो ऐसा होता है। परन्तु वहाँ से जाने के लिए कृष्ण तो आये ही नहीं थे, तो जायेंगे कैसे?

कृष्ण ने कंस को उसके बाल पकड़कर नीचे गिराया और मार दिया। कंस के मरने के बाद उसकी अन्त:पुर की स्त्रियाँ वहाँ आकर विलाप करती हैं। परन्तु विलाप करते हुए भी वे कृष्ण को दोष नहीं देती। कंस की पत्नियों ने भी स्पष्ट भाषा में कहा कि अधार्मिक काम करनेवालों को शान्ति कैसे मिलेगी? शान्ति मिलने जैसा काम तुमने जिंदगी में किया ही नहीं तो तुम्हें शान्ति कैसे मिलेगी?

कंस को मारने के बाद कृष्ण भगवान अपने माता-पिता को बन्धन से मुक्त करते हैं। माता-पिता का सांत्वन करने पर वे उग्रसेन को राज्यपद पर बिठाते हैं। फिर अपने स्नेही तथा परिवार से मिलते हैं। उसका वर्णन बहुत ही हृद्य है। प्राणान्तिक संकटों के बाद श्रीकृष्ण वसुदेव-देवकी से मिलते हैं वह प्रसंग जब पढ़ते हैं तो आँखों में भावाश्रु आते हैं। भागवतकार की लेखनी और भाषा सुंदर हैं।

उसके बाद वसुदेव ने गर्गाचार्य को बुलाकर श्रीकृष्ण का उपनयन संस्कार किया। उपनयन संस्कार होने पर श्रीकृष्ण सांदीपनि के आश्रम में अध्ययन के लिए जाते हैं ऐसा भागवतकार वर्णन करते हैं। आश्रम में भगवान कितने दिन रहे इसका मुझे पता नहीं है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि में अधिक दिन रहे होंगे ऐसा नहीं लगता। भागवत के अनुसार चौदह विद्या और चौसठ कलाओं का अध्ययन भगवान कृष्ण ने चौसठ दिन में किया और गुरु दक्षिणा देकर वे वापस लौटे। इसका अर्थ वे वहाँ लगभग दो महीने रहे होंगे।

फिर भागवतकार ने एक अतिशय रम्य विभाग प्रारंभ किया है। उसमें उद्धव आते हैं। उद्धव महान् ज्ञानी हैं और भगवान के परमभक्त हैं। कृष्ण भगवान के मन में जिनके प्रति आदर था उनमें सर्वप्रथम उद्धव हैं, इतने वे महान् हैं। सृष्टि छोड़ते समय भगवान ने उद्धव को उपदेश किया है। उसे **'उद्धव गीता'** कहते हैं। अति महत्वपूर्ण गीता है। यह जगत् छोड़ते समय, मैं जगत् में क्यों आया, कैसे रहना चाहिए आदि सभी बातें भगवान ने उद्धव को समझायी हैं। उन्हीं बातों को उद्धव ने फिर से कहा उसीको उद्धव गीता कहते हैं। कृष्ण भगवान की कही हुई एक गीता है ही, परन्तु यह उद्धव द्वारा आयी इसलिए उसे **उद्धव गीता** कहते हैं।

भगवान उद्धव को गोकुल भेजते हैं। उद्धव वहाँ जाकर कृष्णलीला गाते हैं। कृष्ण भगवान का परमभक्त कृष्णलीला गाता है इसमें क्या कहना? उद्धव के मुख से कृष्णलीला सुनकर यशोदा की आँखों से आनन्दाश्रु की वर्षा होने लगती है। अपने पुत्र का ऐसा वर्णन सुनकर किस माँ-बाप को आनंद नहीं होता? यहाँ तो अलौकिक माँ-बाप, अलौकिक लेखनी, भाषा भी अलौकिक और समझानेवाला भी अलौकिक! सब अलौकिक! बहुत सुंदर, हृद्य वर्णन है।

उद्धव यशोदा माता से कहते हैं, 'आपका पुत्र कितना अमानी है! उसने विश्व में अशक्य काम किया है, परन्तु सामान्य में सामान्य मनुष्य जैसे रहता है वैसे वह हमारे जैसे सामान्यों के साथ रहता है।' यह वर्णन मनोहारी है। विष्णुसहस्रनाम में भगवान के नाम हैं,

उनमें **'अमानी मानदो मान्य....'** है। अर्थात् जो अमानी है, वह दूसरों को मान देता है यानी वह मान्य बन जाता है। उसी प्रकार भगवान ऐसा अशक्य काम करके सामान्य मनुष्य के जैसे रहते हैं यही उनका बड़प्पन है। कृष्ण की महानता यही है।

कृष्ण की महानता देखकर मुझे एक बात का स्मरण होता है। टॉल्स्टाय ने लिखा है कि लेनिन के प्रति मेरे अन्तःकरण में जो आदर निर्माण हुआ वह उसका तत्त्वज्ञान पढ़कर हुआ उससे भी अधिक उसके वर्ताव से हुआ हैं। टॉल्स्टाय कहता है कि लेनिन यशस्वी होने के बाद उसका भाषण सुनने के लिए मैं एक बार गया था। मुझे लगा कि लेनिन नौ बजे आयेगा तब उसे देख सकूँगा। ठीक नौ बजे और लेनिन का नाम पुकारा गया। मैं देख रहा था, अब लेनिन आयेगा और लोग सम्मानपूर्वक 'आइये, आइये' कहते हुए ले आयेंगे। परन्तु उसके बदले देहातियों के बीच बातें करते हुए बैठा हुआ लेनिन खड़ा हुआ और उसने मंच पर आकर बोलना प्रारंभ किया। वह देखकर मुझे लगा कि सारा रूस जिनको इतने आदर से देखता है वह लेनिन, सामान्य किसानों के साथ बातें करते बैठा है! वहाँ से उठकर वह मंच पर आया। उस प्रसंग का मुझ पर जितना प्रभाव पड़ा उतना उसका लेखन पढ़कर भी नहीं पड़ा।'

इसी प्रकार विश्व में अशक्य काम करके दिखानेवाले कृष्ण सामान्य में सामान्य रीति से रहते हैं, सबके साथ समरस बनते हैं फिर भी बिल्कुल निःस्वार्थी हैं, ऐसा उद्धव कहते हैं। यह बात सबको मालूम ही है, फिर भी वह कहने में आनंद आता है। उद्धव ऐसा वर्णन करते हैं। वर्णन करनेवाला उद्धव, श्रोता नंद-यशोदा और वर्ण्य विषय कृष्ण! उसमें रात बीत जाती है।

दूसरे दिन उद्धव गोपियों से मिलते हैं। गोपियाँ पूछती हैं, कृष्ण को हमारी कोई बात याद आती है? कृष्ण भगवान बड़े-बड़े लोगों में गये हैं। बड़े लोगों में जाने के बाद गाँववालों की विस्मृति हो जाती है। ऐसे भगवान कृष्ण क्या हमें भूल गये हैं? तब उद्धव ने गोपियों के पास भी कृष्ण भगवान का वर्णन किया। गोकुलवासियों ने उद्धव को एक महीने तक अपने पास रखा और प्रतिदिन उद्धव के मुँह से कृष्णलीला सुनते रहे। यही सच्चा वर्णन है। इसका कारण जो हृदय से कृष्ण का भक्त है, जिन्होनें कृष्ण को देखा है, कृष्णचरित्र का बौद्धिक विश्लेषण करने की जिनमें शक्ति है, जो केवल भावुक नहीं हैं ऐसे उद्धव श्रीकृष्ण की लीला गाते हैं और गोकुलवासी सुनते हैं।

गोपियों से उद्धव कहते हैं कि तप व साधना करके जो मिलते नहीं वे तुम्हें सहज मिले। फिर तनिक हँसकर कहते हैं, 'तुम्हें सहज मिले इसका अर्थ यह नहीं हैं कि तुमने कुछ किया नहीं! तुम्हारा भी पिछला जन्म बहुत पुण्यशाली था। भगवान का संदेश है कि 'तुम समझ लो कि मैं सर्वव्यापक हूँ अतः मेरा वियोग अशक्य है।' बहुत सुंदर वर्णन है परन्तु उसके लिए मूल संस्कृत श्लोक पढ़ने चाहिए। वरना वर्णन भी कितना करना? कम से कम संस्कृत भाषा हमारी तात्त्विक तथा धार्मिक भाषा है, इसलिए सभी को पढ़नी

चाहिए। वह सार्वजनिक तो हो नहीं सकेगी, परन्तु हम पढ़ सकेंगे। यदि मच्छीमार पढ़ते हैं तो क्या हम नहीं पढ़ सकते? परन्तु मुझे शंका है, मच्छीमार संस्कृत अवश्य पढ़ेंगे पर हम नहीं पढ़ेंगे कारण मच्छीमारों में पढ़ने की तीव्रता है, वे संस्कृत पढ़कर दिखायेंगे। संक्षेप में यह जो वर्णन है, वह बहुत सुंदर है।

गोपियों ने कहा, 'यहाँ कृष्ण का विरह है ही किसे? हमें विरह है यह बात बिल्कुल झूठ है।' परन्तु मैं एक बात कहता हूँ, उसमें एक लकीर है, वह ध्यान में रखने जैसी है। गोपियाँ कहती हैं, **'परं सौख्यं हि नैराश्यम्-।'** यह गोपियों का वाक्य है। सृष्टि में परम सौख्य कौन सा है? तो **'नैराश्यम्-'** आशारहितता। नैराश्य का अर्थ हम व्यवहार में जो 'निराशा' करते हैं, वह नहीं है। आशारहित जीवन रखना आवश्यक है। इसलिए **'परं सौख्यं हि नैराश्यम्'** ऐसा गोपियाँ जवाब देती हैं।

उसके बाद भगवान की दृष्टि वैश्विक कार्य की ओर जाती है। अब तक भगवान का प्रादेशिक काम चल रहा था। अब भगवान की दृष्टि वैश्विक कार्य के लिए हास्तिनापुर की ओर गयी। वहाँ तानाशाही चल रही थी। तानाशाही के दुष्परिणाम भगवान जानते थे। साथ ही प्रजातंत्र को स्वीकार करना चाहिए यह भी वृष्णिसंघ को मान्य था। वृष्णिसंघ प्रजातंत्र राज्य व्यवस्था थी जिसे हम आज *Democratic state* कहते हैं। आज हमारे यहाँ के पागल लोग कहते हैं कि ब्रिटिशों से हमने प्रजातंत्र (*Democracy)* लिया है। बिल्कुल सत्य है, कारण हमारा अपना प्राचीन काल हमें मालूम ही नही हैं।

कृष्ण कभी भी राजा नहीं थे। वे राज्यप्रमुख थे। उस समय लोग 'राज्य-प्रमुख' बोलते थे। आज 'राष्ट्रपति' यह अलग ही शब्द आया है। राष्ट्र का कोई पति नहीं हो सकता, वह राष्ट्राध्यक्ष बन सकता है। परन्तु अस्मिता का इतना सुसूक्ष्म ज्ञान अत्यल्प लोगों में होने से यह शब्द रूढ़ हो गया है। कृष्ण भगवान वृष्णिसंघ के प्रमुख थे, इसलिए वे राजा नहीं थे। तानाशाही के दुष्परिणाम देखने पर प्रजातंत्र को स्वीकार करना चाहिए, परन्तु यह काम तुरन्त नहीं होता। इसलिए कृष्ण भगवान ने सबसे पहला प्रयोग किया सामूहिक नेतृत्व (*Collective leadership*) का। कोई भी एक व्यक्ति पूर्ण नहीं है। भगवान ने सभी प्रयोग किये हैं। स्त्री-शिक्षा द्वारा गोकुल का उद्धार किया वैसा सामूहिक नेतृत्व का प्रयोग करने के लिए उन्होंने पाण्डवों को पसंद किया। पांडव पाँच थे फिर भी मन से एक थे। प्रत्येक पांडव में एक एक गुण था। युधिष्ठिर में एक ऐसा गुण था कि कभी हिलता नहीं था यानी स्थिर था। अर्जुन शूर था प्रारंभ में युधिष्ठिर कहता था कि हमें लड़ना नहीं है, तब अर्जुन, भीमादि गर्जना करके कहते थे कि नहीं! हमें लड़ना ही चाहिए। युद्ध के मैदान में आने पर अर्जुन शिथिल पड़ गया था परन्तु युधिष्ठिर स्थिर था उसने दृढ़तापूर्वक कहा कि लड़ना ही है। भीम के पास अलग गुण था तो नकुल, सहदेव के पास भी भिन्न-भिन्न गुण थे। इसलिए सामूहिक नेतृत्व निर्माण करके पांडवों के गुणों का उपयोग किया, उनको अपना साधनयंत्र बनाया।

जैसे अक्रूर कंस का दूत बना था वैसा कृष्ण का भी बना। कृष्ण भगवान ने अक्रूर को हस्तिनापुर की स्थिति देखने के लिए हस्तिनापुर भेजा।

कंस, जरासंध, कालयवन, कालनाथ, दुर्योधन आदि निरंकुश राजा *(Autocratic Rulers)* थे। तानाशाह होने से उनके राज्य में सब स्वेच्छाचार चल रहा था। इसलिए हस्तिनापुर में क्या चल रहा है यह देखने के लिए कृष्ण अक्रूर को भेजते हैं। यहाँ भागवत में कृष्ण भगवान का पूर्व चरित्र पूर्ण होता है। दशम स्कंध के दो विभाग हैं। यहाँ पूर्व विभाग पूर्ण होने पर अब उत्तर विभाग शुरू होता है।

अस्ति व प्राप्ति ये दोनों जरासंध की पुत्रियाँ थीं। उनका विवाह कंस के साथ हुआ था। कृष्ण द्वारा कंस को मारने पर वे विधवा बनीं। इसलिए जरासंध ने प्रतिशोध की दृष्टि से मथुरा पर हमला किया। सत्रह बार मथुरा पर उसने आक्रमण किया परन्तु हर बार उसे पराभूत होकर भागना पड़ा। अन्त में, भारत में पहले कभी नहीं हुआ ऐसा काम जरासंध ने किया। उसने देशद्रोह करके यवनाधिपति की सहायता माँगी। उस समय कृष्ण भगवान ने विचार किया कि वृष्णि संघ और जरासंध के आपसी झगड़े में अब बाहर की संस्कृति प्रवेश कर रही है। यह अच्छी बात नहीं है। जिस संस्कृति को यहीं स्थिर करके विश्व में भेजना है उसके स्थान पर बाहरी संस्कृति आ रही है, अतः उन्होंने मथुरा छोड़कर भाग जाने का विचार किया। वे द्वारका में आकर बस गये और काठियावाडी बन गये। मथुरा छोड़कर वे जा रहे हैं यह देखकर कालयवन ने उनका पीछा किया। कृष्ण ने एक गुहा में प्रवेश करके मुचुकुंद द्वारा कालयवन को भस्म कराया व फिर मथुरा आकर कालयवन की संपूर्ण सेना का विध्वंस करके परकीय संस्कृति को यहाँ आने से रोक दिया।

अब तक कृष्ण भगवान गृहस्थाश्रमी नहीं थे। काठियावाड में जाकर उन्होंने गृहस्थाश्रम का स्वीकार किया।

सर्वप्रथम उनका रुक्मिणी के साथ विवाह हुआ। यह राक्षस विवाह है। लड़की को उठाकर ले जाना व विवाह करना यह राक्षसविवाह कहलाता है। कृष्ण भगवान का यह प्रेमपूर्ण राक्षस विवाह था, जबरदस्ती से भगाकर ले जाकर किया हुआ राक्षस विवाह है। विवाह के आठ प्रकार शास्त्रकारों ने बताये हैं, उनमें से यह एक प्रकार है।

रुक्मिणी ने कृष्ण को प्रेमपत्र भेजा था। विश्व का शायद वह पहला प्रेमपत्र *(Love Letter)* होगा। उसमें विशेष यह था कि जिसे कभी नहीं देखा है, ऐसे कृष्ण पर रुक्मिणी ने प्रेम किया। देखा-देखी होने पर यदि किसी पर प्रेम हो जाये तो अलग बात है। परन्तु ब्राह्मण द्वारा गुण वर्णन सुनने पर रुक्मिणी को कृष्ण के प्रति प्रेम हो गया और उसने कृष्ण को प्रेमपत्र लिखा। रुक्मिणी के बाद अन्य अलग-अलग स्त्रियों के साथ कृष्ण का विवाह हुआ ऐसा वर्णन है। कृष्ण की आठ पट्टरानियाँ थी।

कृष्ण भगवान जब प्रभावी रीति से काम करने लगे तब प्रतिपक्ष के लोगों ने उनका चरित्रहनन करने का प्रयत्न किया। हमेशा ऐसा होता है। जब मनुष्य प्रभावी रीति से दैवी

कार्य, प्रभुकार्य करने लगता हैं तब प्रतिपक्षी लोग उसका चरित्रहनन करके उसे लोगों के मन से उतारने का प्रयत्न करते हैं। उनकी यह नीति होती है। जैसे रामकाल में धोबी निकला। इसका कारण एक ही है कि सात्त्विक काम करनेवाले सत्ता व सम्पति को नहीं उठाते, वे प्रेम और विचारों को उठाते हैं। परिणामस्वरूप वे लोगों के हृदय के स्वामी बनते हैं। पुराने जमाने में जो लोग केवल भौतिक जीवन को ही सर्वस्व मानते थे उन्हें राक्षस कहा जाता था तब प्रतिपक्षी लोग उनका चरित्रहनन करने का प्रयत्न करते थे। श्रीकृष्ण भगवान के जीवन में भी ऐसा प्रसंग आया।

सत्राजित के पास एक स्यमन्तक मणि था। वह मणि प्रतिदिन आठ भार (६४०० तोले) सोना देती थी। इतनी प्रभावी थी वह। वह मणि सत्राजित को सूर्य से प्राप्त हुई थी। उस मणि की चोरी का आरोप कृष्ण भगवान पर करके, कृष्ण भगवान चोर हैं ऐसा प्रचार कराकर श्रीकृष्ण का चरित्रहनन करने का प्रयत्न किया उन लोगों ने! जैसे रामकाल में उस समय के लोगों ने सीता अपवित्र है ऐसा प्रचार किया। वह धोबी नहीं बोलता था। वह एक वेतनभोगी नौकर बोला होगा। उसके जैसे लोग चौराहे-चौराहे पर खड़े रहकर योजनाबद्ध ढंग से *(Systematic)* प्रचार करते थे, ऐसा वाल्मीकि रामायण में लिखा है। कृष्ण पर स्यमन्तक मणि की चोरी का आरोप हुआ। ऐसा हमेशा होता है।

जिस काल में लोग मनुष्य की बलि देते थे उस समय वसिष्ठ भगवान उन लोगों के विरोध में खड़े हुए और उन्होंने प्रचार किया कि मनुष्य का हनन नहीं करना चाहिए। मनुष्य वध का विरोध करने पर वसिष्ठ के विरोधियों ने उनके यश चरित्र पर आघात किया। एक दुर्बल मनोवृत्ति का मनुष्य ढूँढकर उसे अपना साधन बनाया। वह स्थान-स्थान पर जाकर प्रचार करने लगा कि वसिष्ठ स्वयं माँसभक्षी हैं। वसिष्ठ पर ऐसा आरोप होते ही उनको गाँव-गाँव में जाकर छाती पर हाथ रखकर कहना पड़ा कि यदि मैंने मनुष्य का माँस खाया है तो अभी इसी समय मर जाऊँगा। **'अद्यमुरीय यदि यातुधानोऽस्मि'** ऐसा कहा है। ईश्वरी कार्य करनेवालों के जीवन में ऐसे प्रसंग आना संभव है। कारण उनकी प्रतिष्ठा व उनका जनमानस में आदर, जिनसे वे व्यक्ति को बदलते हैं, उन्हीं को खत्म करने के लिए विरोधी लोग उनके चरित्र का हनन करने का प्रयत्न करते रहते हैं। कारण हमारे भारतीय-दर्शन की दृष्टि में नेतृत्व समाज को तैयार करता है। व्यक्तियों में से नेता बनता है यह अशास्त्रीय सिद्धान्त है। इसके सम्बन्ध में सप्तम स्कंध में विस्तृत विवेचन प्रारंभ में किया है।

इसी दृष्टि से अलग-अलग प्रकार से नेता मान्य किये गये हैं। कुछ दर्शनीय नेता *(Symbolic Leader)* होते हैं। उनको किसी उच्च पद के कारण प्रतीकात्मक महत्त्व मिलता है। उनमें स्वयं कोई शक्ति या प्रभाव नहीं होता। उदाहरणस्वरूप, इंग्लैंड का बादशाह, भारत के राष्ट्रपति। उनके पास कुछ होता ही नहीं, होना संभव भी नहीं। उनको केवल उच्च पद देकर प्रतीकात्मक नेतृत्व दिया गया है। इसको 'दर्शनीय नेता' कहते हैं।

दूसरा प्रकार होता है वतनदार नेता का! इसको अंग्रेजी में *'Head man'* कहते हैं। इस प्रकार में सरदार, संस्थानिक जैसे नेता आते हैं।

तीसरा प्रकार है तज्ज्ञ नेता का *(Expert Leader)*। ज्ञान के क्षेत्र में अत्युच्च काम करते हैं इसलिए नेतृत्व आ जाता है। शेक्स्पियर, न्यूटन, गैलीलियो आदि इस प्रकार में आते हैं।

चौथा प्रकार बुद्धिमान नेता *(Intellectual Leader)* का है। वे लोग बौद्धिक और वैचारिक सामर्थ्य से लोगों पर सत्ता चलाते हैं। अब्राहम लिंकन, रसेल, लेनिन हमारे देश में चाणक्य- ये सब लोग बुद्धिमान नेता हैं।

पाँचवां प्रकार प्रशासनिक नेता- *Administrative Leader* का होता है। किसी भी देश का प्रधानमंत्री *(Prime Minister)*, किसी उद्योग समूह का प्रमुख, ये प्रशासनिक नेता हैं।

छठे प्रकार में शासनाधिकारी नेता *(Bureaucratic Leader)* आते हैं। सभी *I.C.S. I.A.S.* लोग शासनाधिकारी नेता हैं।

सातवाँ प्रकार होता है, प्रक्षोभक अथवा सुधारक नेता का, इनको आन्दोलन करने *(Agitator)* अथवा सुधारक नेता *(Reformer Leader)* कहते हैं। इनके पास कोई सरकारी सत्ता या अधिकार नहीं होता, परन्तु मत-परिवर्तन से तत्त्वप्रणाली दृढ़ करनवाले ये लोग होते हैं। जैसे लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, मार्टिन ल्यूथर, रस्कीन आदि!

आठवाँ प्रकार होता है, सत्तालोलुप नेताओं का। इनको तानाशाही नेता *(Authorisation Leader)* कहते हैं। नेपोलियन, हिटलर, स्टैलिन आदि इस प्रकार के नेता हैं।

नौवें प्रकार का नेता यानी प्रजातंत्र का नेता *(Democratic Leader)* ये लोग प्रतिनिधि के रूप में चुनाव में जीतकर नेता बनते है। इसके बाद—

दसवाँ प्रकार है- दैवी शक्तिशाली नेताओं का। इनको अंग्रेजी में *Cherishmatic Leader* कहा जाता है। कृष्ण, राम, बुद्ध आदि इस प्रकार के नेता हैं।

ये दैवी शक्तिमान नेता सत्ता या सम्पत्ति से किसी को आकर्षित नहीं करते हैं। उनका जीवन प्रभावी होता है और प्रभावी जीवन से वे लोगों को आकर्षित करते हैं। उनका नेतृत्व वित्ताधिकारी व शासनाधिकारी लोगों को अच्छा नहीं लगता। 'हमारे पास इतना वित्त है, इतनी सत्ता है फिर भी लोग हमारे पीछे क्यों नहीं आते? प्रजा हमारे पीछे होनी चाहिए। दैवी नेता को लोगों के मन से ऐसे नेताओं को उतारना चाहिए।' वे विचार करते हैं, परन्तु उनको लोगों के मन से उतारेंगे कैसे? उनको कुछ लगता ही नहीं है। उनको किसी साधन से महानता आयी होगी तो साधन तोड़ देंगे, महानता चली जायेगी। ये नेता स्वयं महान् हैं। दूसरे नेताओं का प्रभाव दो चार साल में समाप्त हो जाता है। दैवी नेताओं का प्रभाव सतत टिकता है। इसलिए उनको लोगों के मन से उतारने का एक मार्ग इन लोगों के पास रहता है वह है उन दैवी नेताओं का चरित्रहनन करना! इसलिए वे उनका चरित्र हनन करने लगते हैं। उनको लगता है कि चरित्रहनन ऐसी प्रभावी रीति से करना चाहिए कि

भोली-भाली प्रजा उस बात को मान ले और वे लोग प्रजा के मन से उतर जायेंगे। उनका एक ही लक्ष्य होता है कि लोगों के मस्तिष्क में एक बात दृढ़ कर देनी है कि हम मानते थे वैसे ये नेता महान् नहीं हैं।

कृष्ण भगवान पर चोरी का आरोप किया गया। सचमुच वह नकली-हलाहल था। जो सत्य है उसको कुछ तर्क *Logic* होता है। वह मर्यादित कंपनी *(Limited Company)* है, परन्तु असत्य को कोई तर्क की आवश्यकता नहीं होती। वह अमर्यादित कंपनी है। सत्य कुछ मर्यादा तक बोलना पड़ता है। असत्य के लिए कोई मर्यादा नहीं होती। कुछ भी बोल सकते हैं। जो घटना हुई ही नहीं वह हुई है ऐसा एक दूसरे से कहता है, दूसरा तीसरे से कहता है और चारों ओर वह बात फैल जाती है।

कृष्ण भगवान को लोगों के मन से उतारने का षडयंत्र रचाया गया उसमें अन्य लोगों के साथ अक्रूर भी था। भागवतकार उसके सम्बन्ध में मौन हैं, कारण उन्होंने अक्रूर को एक महान् भक्त के रूप में चित्रित किया है। परन्तु महाभारत, हरिवंश जैसे ग्रंथों में अक्रूर उस षडयंत्र में शामिल था ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। अक्रूर भक्त था इस बात का समर्थन करनेवाले लोग कहते हैं कि भगवान कितने शुद्ध थे वह दिखाने के लिए अक्रूर ने कृष्ण पर तोहमत लगायी है। वाह रे वाह! भगवान को शुद्ध सिद्ध करने के लिए अक्रूर को बीच में आना पड़ा?

स्यमन्तक मणि की चोरी का आरोप झूठा है यह सिद्ध करने के लिए कृष्ण को आकाश-पाताल एक करना पड़ा और अन्त में उन्होंने उस आरोप को झूठा साबित किया है।

अवतारों ने ऐसा प्रसंग दैवी काम करनेवालों को सावधान करने के लिए, उनको समझाने के लिए उठाये हैं और ऐसे प्रसंगों में भी बिना घबड़ाये कैसे खड़े रहना है वह भी सिखाया है। दैवी कार्य के विरोधियों का एक ही काम होता है। उनके लिए भगवान ने एक खास *(Special)* स्थान **'नरक'** को रखा ही है। वह स्थान पूर्णतया उनके लिए ही रहना चाहिए।

दशम स्कन्ध के साठवें अध्याय में एक मजेदार प्रसंग खड़ा किया है। उसमें कृष्ण व रुक्मिणी का नर्म विनोदयुक्त संभाषण है।

श्रीकृष्ण रुक्मिणी से कहते हैं, तेरा सौन्दर्य अद्भुत है, अलौकिक है। लोकोत्तर है। देवताओं के दरबार में भी दुर्लभ ऐसा तेरा सौंदर्य है, परन्तु तूने मुझे पसंद किया उसमें तूने कम अक्ल का काम किया ऐसा मुझे लगता है। पराक्रम, सम्पत्ति, रूप, सामर्थ्ययुक्त ऐसे अनेक राजा हैं। तेरे लिए वे ही अनुरूप थे। कितने ही राजा तेरे सौंदर्य पर मोहित थे। मुझमें पराक्रम नहीं है। तुझे मालूम ही है कि मैं मथुरा छोड़कर यहाँ भाग आया हूँ। रूप का तो पता ही नहीं है, मैं काला हूँ। मेरे पास सम्पत्ति भी नहीं है। तानाशाही राजाओं के पास जैसी सम्पत्ति होती है वैसी मेरे पास कैसे रहेगी? मेरे पास सम्पत्ति नहीं है। जिसके पास सम्पत्ति नहीं है, पराक्रम नहीं है, सौन्दर्य नहीं है उस पर सुंदर स्त्री प्रेम थोड़े ही कर सकती है?'

भगवान यहाँ रुक्मिणी की परीक्षा ले रहे हैं। वे कहते हैं, 'एक दूसरी बात कहता हूँ। जो प्रथा के अनुसार नहीं चलता है ऐसे मनुष्य के साथ विवाह करनेवाले को दुःख ही मिलता है। प्रथावान लोग विवाह करते हैं, उनके बालक होते हैं, वे बालकों का पालन-पोषण करते हैं, बड़ा करते हैं, विवाह कराते हैं, बूढ़े बनते हैं और एक दिन मर जाते हैं। उनका जीवन सरल होता है। मैं प्रथा के अनुसार चलने वाला नहीं हूँ। ध्येयनिष्ठ मनुष्य के साथ विवाह करने से जीवन में दुःख ही मिलता है, इतनी सामान्य बात तेरे ध्यान में कैसे नहीं आयी? तूने दूसरे किसी के साथ विवाह किया होता तो तू सुखी रहती और उसके परिवार को भी सुखी बना सकती।' कुछ ध्येय आया कि दुःख आया ही। तप का अर्थ ही यह है, खुशी से दुःख का स्वीकार! आया हुआ दुःख तो सभी सहन करते हैं, परन्तु ध्येयनिष्ठ लोग दुःख उठाते हैं और सहन करते हैं। जो रूढ़ि से चलनेवाले लोग होते हैं उनके जीवन में शान्ति होती है, सुख होता है। ध्येयनिष्ठ लोगों के जीवन में दुःख ही होता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं, मैं रुढ़ि से चलनेवाला नहीं हूँ। सब लोग जिस रास्ते से जाते हैं उस रास्ते से जाना चाहिए। परन्तु मुझ जैसे पागल लोग अलग ही रास्ता अपनाते हैं। अतः उनको दुःख सहन करना पड़ता है। मेरे साथ विवाह करने से तुझे दुःख ही उठाना पड़ रहा है। मेरे साथ सभी निष्कांचन लोग हैं, सामान्य लोग हैं। वैभववान लोग मेरे साथ हैं ही नहीं, परन्तु मेरे विरोध में खड़े हैं। मेरे साथ तो सामान्य गोपाल हैं।

यह बहुत ही सुंदर वर्णन है। उसके मूल संस्कृत श्लोक ही पढ़ने चाहिए। प्रभावशाली व्यक्ति को क्या क्या करना पड़ता है इसका भी उसमें दर्शन है। ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति की पत्नी भी कैसे विचार की होनी चाहिए यह भी दिखाया है।

श्रीकृष्ण आगे कहते हैं, 'तूने मुझे देखा भी नहीं था, फिर भी तूने मुझ पर प्रेम किया? यह तेरा पागलपन है और निष्कांचन पर प्रेम किया यह तेरी भूल है।'

यहाँ कदाचित् रुक्मिणी प्रश्न पूछेगी, 'तो फिर मुझे उठाकर क्यों लाये?' इसलिए भगवान स्वयं कहते हैं," तू मुझे पूछेगी कि मैं तुझे उठाकर क्यों लाया? तो कहता हूँ कि 'अपने शौर्य से, अन्धे बने हुए राजाओं को सज़ा देने के लिए मैं तुझे उठा लाया हूँ, तेरे साथ विवाह करने हेतु नहीं उठा लाया।'

प्रतिपक्षी जो प्रश्न पूछनेवाला है उसे स्वयं तैयार करके जो उसका जवाब देता है वह उत्कृष्ट वकील कहलाता है। सच्चा वकील कोई हो तो कृष्ण भगवान ही हैं।

वक्तृत्वं सुंदरं यस्य कीर्तिर्यस्य भुवस्तले।
लक्ष्यं च सर्वकार्येषु स वै वकील इति स्मृतः।।

व-की-ल! वक्तृत्व, कीर्ति व लक्ष्य तीनों से जो युक्त है उसे वकील कहते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं, तू अब भी सोच सकती है। तू इतना ध्यान में रख कि मैं

स्वात्मसन्तुष्ट हूँ अतः उदास हूँ। घर का तथा गृहस्थी जीवन का मुझे बिल्कुल आकर्षण नहीं है। तू अत्यन्त सौंदर्यवती है और सभी राजा तुझ पर मोहित हैं, अतः तू मुझे अकिंचन, भागकर आया हुआ मुझे छोड़कर दूसरे किसी के साथ विवाह कर सकती है।

कृष्ण भगवान स्वयं रुक्मिणी से कहते हैं कि 'मैं मथुरा से भागकर आया हूँ।' इसके पीछे बहुत बड़ा राजकारण (राजनीति) है। भगवान रण छोड़कर क्यों गये? बाहर का यवनराजा का आगमन उनको अच्छा नहीं लगा। उसके द्वारा मथुरा का विनाश उनको टालना था और उस संस्कृति-विध्वंसक म्लेच्छ राजा का उसकी सेना के साथ सर्वनाश कराना था। तनिक सोचने जैसी बात है। क्यों भाग गये? *Greatest good of the greatest number* के लिए भाग गये। परन्तु बोलने वाले यही बोलेंगे कि कृष्ण रणांगण छोड़कर भाग गये। 'भगवान रणांगण छोड़कर चले गये' हमारे पंडित लोग इसका अर्थ लगा ही नहीं सकते। इसलिए कथा करते समय वे कहते हैं, 'रणछोड़ का अर्थ होता है ऋणछोड़। विविध ऋणों से जो छुड़ाता है वह! 'भगवान रणांगण छोड़कर गये' ऐसा वे कहना नहीं चाहते। क्यों नहीं कहना चाहिए? अवश्य कहना चाहिए, परन्तु वे क्यों भागे यह समझना चाहिए।

श्रीकृष्ण का संभाषण सुनकर रुक्मिणी भय से काँपने लगी। जिस पर मैंने प्रेम किया, जो मुझे उठाकर लाया, जिसके साथ मुझे परिवार चलाना है, वह स्वयं ऐसी बातें करता है? अब क्या करना चाहिए? फिर भी रुक्मिणी ने सुन्दर उत्तर दिया है। जिसने कुमारसंभव पढ़ा होगा उसे पता होगा कि कुमारसंभव में शिव स्वयं पार्वती की परीक्षा लेते हैं उस समय उनका पार्वती के साथ जो संवाद है वैसा ही यह कृष्ण-रुक्मिणी का संवाद है।

पार्वती शिव के साथ विवाह करना चाहती थी। इसलिए वह तप करने लगी। वहाँ बटु के वेश में स्वयं भगवान शिव आते हैं और पार्वती को तप से चलित करने का प्रयत्न करते हैं। बटु कहता है, 'तू इतनी सुंदर स्त्री होकर भी तपश्चर्या क्यों कर रही है?'

पार्वती कहती है, 'मुझे भगवान शंकर के साथ विवाह करना है इसलिए!' बटु ने कहा, 'क्या तू शिव के साथ विवाह करना चाहती है? क्या तूने शिव को कभी देखा भी हैं? उसका रूप कैसा है क्या इसका तुझे पता है?'

वपुर्विरूपाऽक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद् बालमृगाऽक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने।। (कुमारसंभव ५/७२)

(यह शिव विकृतलोचन है, जन्म का कहीं पता नहीं और दिगंबर है। इससे उसके पास सम्पत्ति क्या होगी इसका पता चलता है। वधु वर के गुण व रूप देखती है। इसमें से उसके पास कुछ भी नहीं है।)

सबको दो आँखें होती हैं, परन्तु शिव की तीन आँखें हैं, जन्म का कहीं पता नहीं है। वह स्वप्न में आयेगा तो भी उसे देखकर तू डर जायेगी तो प्रत्यक्ष में उसके साथ परिवार कैसे चलायेगी? और भी, उसके न कुल-शील का पता है न माँ-बाप का! तू पूछेगी, 'कुलशील से मुझे क्या लेना है उसके पास सम्पत्ति तो होगी ही! बस है।' मगर उसके पास सम्पत्ति भी नहीं है, घर बनाने के लिए भी पैसा नहीं है, वह स्मशान में रहता है और लंगोटी पहनता है। क्या ऐसे व्यक्ति के साथ तू विवाह करना चाहती है?

बटु के ऐसे वचन सुनकर पार्वती ने उसे जो उत्तर दिया वह बहुत ही सुंदर है। उसका साहित्यिक मूल्य *(Literary value)* भी है, भाषा का सौंदर्य भी है। पार्वती कहती है, तूने जो सब वर्णन-निंदा कही है वह मैं समझ गयी, तू बटु है इसलिए तुझे छोड़ देती हूँ। परन्तु तेरी एक बात मुझे बहुत पसंद आयी कि उसके माँ-बाप का पता नहीं है, कुलशील नहीं है। जिनके माँ-बाप का पता है वे आज बारात के घोड़े पर बैठेंगे और कल चार जनों के कंधों पर चढ़कर स्मशान में भी जायेंगे। शिव के माँ-बाप नहीं यानी उनका जन्म नहीं, जन्म नहीं अर्थात् उनको मृत्यु भी नहीं, इसीलिए मैं उनके साथ विवाह करना चाहती हूँ।'

इस प्रकार कृष्ण के वचन सुनकर कंपित रुक्मिणी कृष्ण को उत्तर देती है वह पढ़ने जैसा है। वास्तव में यह दोनों में नर्म संवाद है, एकान्त में हुआ है। यह संवाद सुना किसने? कब सुना? प्रकट क्यों किया? यह सब मालूम नहीं है। रुक्मिणी कहती है, आपने कहा कि 'मैं पराक्रमी नहीं हूँ' यह बिल्कुल सत्य बात है। मुझे मालूम है कि आप पराक्रमी नहीं हैं। मैं पढ़ी-लिखी हूँ अत: मैं 'पराक्रम' का अर्थ जानती हूँ। **परान् आक्रमते असौ पराक्रमः--'** जो दूसरे पर आक्रमण करता है वह पराक्रमी है। संरक्षण - *defence* का अर्थ पराक्रम नहीं है। दूसरों पर आक्रमण करने को पराक्रम कहते हैं। 'मुझे तेरे पास से कुछ लेना है' इसे पराक्रम कहते हैं। परन्तु जहाँ कोई पर (दूसरा) है ही नहीं वहाँ पराक्रम कैसा? आप पराक्रमी हैं ही नहीं। बचपन से आज तक आपने जो कुछ किया है वह पराक्रम नहीं है। आपने अद्भुत काम किये हैं वह आपका पराक्रम नहीं है, वह तो आपका स्वभाव है। स्वभाव को पराक्रम नहीं कहते। समझ लीजिये, सिंह बकरी को मारता है, तो उसमें सिंह का पराक्रम नहीं है, वह उसका स्वभाव है। स्वभाव से विशेष कुछ किया जाएगा तो उसे पराक्रम कहा जाता है। आपने जन्म से जो कुछ किया है वह पराक्रम नहीं है, वह आपका स्वभाव है।

दूसरी बात आपने कही कि आपके पास वैभव नहीं है। यह बात भी मुझे मान्य है। आप वैभवहीन हैं यह बात सत्य है। इसका कारण आप स्वयं वैभव हैं, तो आपसे भिन्न वैभव कौन सा हो सकता है? जिसकी जेब में दूसरा कुछ होगा उससे उसकी कीमत बढ़ती होगी, उसे वैभववान कहते है, परन्तु आप स्वयं वैभव होने से वैभववान कैसे बन सकते हैं? आपने वैभववान राजाओं का वर्णन किया और मुझे कहा कि मैं फिर से सोच सकती हूँ, जा सकती हूँ, शिशुपाल के साथ भी विवाह कर सकती हूँ।

ऐसा जो क्रूर, निष्ठुर, कठोर वचन आपने कहे उससे मैं कंपित हो गयी हूँ। ऐसे वैभववान राजाओं के साथ कौन विवाह करेगी? जिसका सत् पर प्रेम नहीं है, जिसकी बुद्धि में असली बात समझने की शक्ति नहीं है, ऐसी स्त्री शिशुपाल आदि राजाओं के साथ विवाह करेगी और परिवार चलायेगी। आपने जिन राजाओं का वर्णन किया वे कैसे हैं, मालूम है? वे सब सुंदर स्त्री के पीछे दौड़नेवाले व लाचारी करनेवाले हैं। स्त्री को किसी दिन लाचार पति अच्छा नहीं लगता। इसमें स्त्री का मनोगत रुक्मिणी ने कहा है। उन लोगों के लिए कठोर बचन भी कहे हैं।

ये सब भौतिक जीवन जीनेवाले लोग सुंदर स्त्रियों के घर में गधे के जैसे भारवाहक बनते हैं, बैल जितने क्लेश सहन करते हैं, कुत्ते जैसा अपमानित और बिल्ली जैसा दुर्बल जीवन व्यतीत करते हैं। इतना ही नहीं, सुंदर स्त्रियों के सामने सेवक के जैसे हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं। वे जीवित मुर्दे जैसे हैं। उनमें चेतना नहीं है, दुसरों मे चेतना निर्माण करने की शक्ति नहीं हैं। ये सब उसके शब्दों में कहता हूँ ये मेरे अपने शब्द नहीं हैं। आप भागवत खोलकर पढ़ सकते हैं। फिर रुक्मिणी कहती है, 'ऐसे पुरुषों के पीछे कौन सी स्त्री भागती है? जिसमें अक्ल नहीं है, समझने की शक्ति नहीं है ध्येयशून्य व्यक्ति के साथ आनंद भोगना क्षुद्र स्त्री का काम है। ध्येयवान व्यक्ति के साथ दुःख सहन करने की तैयारी रखना स्त्री का सौन्दर्य है।

रुक्मिणी ने बहुत सुंदर वर्णन किया है और उसमें अपना मनोगत समझाया है। स्त्री के पीछे कुत्ते जैसी पूँछ हिलाते हुए दौड़नेवाले लोग स्त्रियों को पसन्द नहीं आते। स्त्री को अच्छा लगने के लिए पुरुषों में कुछ गुण होने चाहिए। स्त्री पुरुष के सामने नतमस्तक हो ऐसे गुण पुरुष में होने चाहिए तभी उन गुणों के सामने स्त्री नतमस्तक होती है। रुक्मिणी ने स्त्री का मनोगत कहा है और अपना शपथपत्र *(affidavit)* भी दिया। यह सब कहते हुए रुक्मिणी ने यह भी कहा कि कुमारिका को जब तक पति नहीं मिलता है तब तक उसका मन वैभववान की ओर जाता है, इसका कारण उसका पति तय नहीं हुआ है। ऐसी व्यभिचारी स्त्री के साथ तुमं विवाह मत करो, परन्तु आप ध्यान में रखो कि मेरा मन आज तक किसी पर मोहित नहीं हुआ।

रुक्मिणी का ऐसा प्रभावी भाषण सुनकर कृष्ण भगवान ने कहा, 'मैंने जो कुछ कहा वह तेरी परीक्षा लेने के लिए कहा। तेरे प्रेम की परीक्षा लेनी थी। मेरा भी तुझ पर प्रेम है।' उसके बाद कृष्ण भगवान ने अत्यन्त प्रेम भरा संभाषण किया है वह मैं नहीं कहता हूँ। उसमें जितनी दलीलें आवश्यक थीं उतनी मैंने बताकर समझायी हैं।

गृहस्थाश्रम परिहास करने के लिए होता है। उसमें परिहास होना चाहिए और परिहास समझनेवाला प्रतिपक्षी होना चाहिए। अन्यथा परिवार खत्म हो जायेगा। दशम स्कंध के साठवें अध्याय में यह सब सुंदर वर्णन है। उसके मूल श्लोक पढ़ने चाहिए। उनके भाषान्तर में उतना आनन्द नहीं आता।

उसके बाद चौसठवें अध्याय में नृगराजा की कथा है। इस कथा में भागवतकार ने पाप-पुण्य का विचार किया है। नृगराजा पिछले जन्म में इक्ष्वाकु का पुत्र था और इस जन्म में वह गिरगिट बना था। कृष्ण भगवान ने उसका गिरगिट की योनि से उद्धार किया ऐसा वर्णन है। वह गिरगिट क्यों बना? श्रीकृष्ण भगवान के पूछने पर उसने उत्तर दिया। वह जब राजा था तब दान करता था। उसने अनगिनत गायों को ब्राह्मणों को दान में दिया था। एक दिन एक (प्रतिग्रह न लेनेवाले) ब्राह्मण की गाय भूलकर राजा की गायों के समूह में आकर मिल गयी। राजा को इस बात का पता नहीं था। उसने उस गाय को एक दूसरे ब्राह्मण को दान में दे दिया। वह ब्राह्मण गाय को ले जा रहा था। तब असली मालिक ने उस गाय को पहचान लिया और ब्राह्मण से कहा कि यह गाय मेरी है। परन्तु गाय को ले जानेवाले ब्राह्मण ने कहा, 'यह गाय मेरी है और नृगराजा ने मुझे दान में दी है। दोनों में झगड़ा शुरू होता है व राजा के पास दोनों आते हैं। राजा ने दोनों से क्षमा माँगी और भूल से यह बात हुई, ऐसा कहा। तो फिर राजा अगले जन्म में गिरगिट क्यों बना? अपराध-शास्त्र *(Science of criminology)* में यह बात ध्यान में नहीं आती है। भागवतकार ने लिखा है, परन्तु किसी बुद्धिमान व्यक्ति के भी ध्यान में यह बात नहीं आती। स्वयं राजा ने किसी की गाय उठाकर दूसरे किसी को नहीं दी है। राजा की हजारों गायें थीं, उनमें वह गाय वापस आ गयी थी और वही दूसरे को फिर से दान में दे दी गयी थी। यह राजा से भूल से हुआ था और उसने क्षमा भी माँगी थी। तो उसे पाप क्यों लगा? और पाप की इतनी सख्त सजा क्यों? यह मालूम नहीं पड़ता। उसका इस अध्याय में अति विस्तृत वर्णन है।

मुझे लगता है कि यह जो वर्णन किया गया है। वह इसलिए किया होगा कि आगे जो बात बतानी है वह महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण का धन लेना बहुत बुरी बात है ब्राह्मण को ठगना नहीं चाहिए। ये दो बातें आगे विस्तार से कही हैं। अन्यथा यह मस्तिष्क में नहीं उतरता। इस कथा के पीछे कोई तर्क *(Logic)* नहीं लगता। ऐसा होगा तो भगवान के दरबार में अंधेर है। प्रायश्चित्त मयूख लिखनेवाले ऋषि, अपराधशास्त्र का बहुत दूर तक सोचनेवाले हमारे पूर्वजों को इसके द्वारा कुछ समझाना है। जो भगवान का काम करनेवाला ब्राह्मण है, जिसने कभी अपने भौतिक जीवन की ओर ध्यान नहीं दिया, उसे ठगना पाप है, ब्राह्मण वर्ग मानव-समाज की उन्नति कैसे होगी इसीकी चिन्ता करता है और अपने रक्त का एक एक बूँद अहर्निश उसमें व्यय करता है। उसका धन लेना पाप है। समाज को यह बात समझाने की आवश्यकता है। इसका कारण ब्राह्मण सब पर विश्वास करके चलता है। मैं पुराने समय के ब्राह्मण की बात कर रहा हूँ, आज के ब्राह्मण की नहीं। वह तो किसी पर विश्वास नहीं करता है। प्राचीन काल का ब्राह्मण केवल मनुष्य की आध्यात्मिक, नैतिक, शैक्षणिक- सभी प्रकार की उन्नति देखता था। उसे ठगना अच्छा नहीं है। इसके लिए यहाँ यह कथा कही गयी है।

उसके बाद अड़सठवें अध्याय में एक बहुत बड़ा प्रकरण खड़ा किया गया है। उसमें अभिजात क्षत्रियत्व का वाद है। कौरव अभिजात क्षत्रिय माने जाते थे और यादव हलके या

बनावटी क्षत्रिय माने जाते थे। उस समय क्षत्रिय कौन थे? इसका जवाब बलराम बल से देते हैं।

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।

बलराम ने सिद्ध किया था कि बल से क्षत्रिय निश्चित होता है, वह बल का उपयोग कैसा करता है यह देखकर क्षत्रियत्व निश्चित होता था। कौरवों ने यह मान्य किया। इसका वर्णन अड़सठवें अध्याय में आता है।

उसके बाद उनहत्तरवें अध्याय में एक मनोरंजक कथा है। नारद सोचते हैं कि 'कृष्ण भगवान ने हजारों स्त्रियों के साथ विवाह किया। यह क्यों किया होगा भला?' बालकों को समझाने के लिए होगा, परन्तु उसके पीछे एक सामाजिक कारण भी है।

नरकासुर व जरासंध के बंदीखाने से बाहर निकली हुई कुमारियों का प्रश्न खड़ा हुआ। पिता के घर में उनका स्वीकार नहीं हुआ था और समाज भी उनका स्वीकार नहीं करता था। तो ये कुमारिकाएं क्या करें? हमारे देश का विभाजन हुआ तब हजारों स्त्रियों को पाकिस्तानियों के बलात्कार, अत्याचार का शिकार होना पड़ा। उनके घरवाले उनका स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। और न समाज में उनके साथ विवाह करने के लिए कोई तैयार था। तब एक ही रास्ता उनके लिए था- वेश्या बनना अथवा मर जाना!

बंदीखाने से छुड़ायी हुई कन्याएं श्रीकृष्ण से पूछती हैं कि 'आपने हमें क्यों छुड़ाया? आपके छुड़ाने से हमारी स्थिति और भी खराब हो गयी है।' उन सबको सामाजिक प्रतिष्ठा देने हेतु, 'मैं तुम्हारा पति हूँ' कहकर भगवान ने उनको स्वीकार किया है। बहुत बड़ा कारण है उसके पीछे। परन्तु यह एक मनोरंजन खड़ा किया है इस अध्याय में नारद सोचते है कि कृष्ण ने हजारों स्त्रियों के साथ विवाह किया है तो वे सभी स्त्रियों को न्याय कैसे देते होंगे? इसलिए कृष्ण का परिवार देखने के लिए नारद आते हैं भागवत में उसका वर्णन है, बच्चों को भी अच्छा लगेगा ऐसा वर्णन है।

नारद प्रत्येक रानी के कमरे में जाते हैं उनको किसी घर में कृष्ण रानी के साथ बैठे हुए दिखते हैं, तो किसी घर में वे अपनी रानी के साथ खेलते हुए दिखायी देते हैं। कहीं वे खाना खा रहे हैं तो कहीं आराम करते हुए दिखाई देते हैं। प्रत्येक घर में नारद जाकर आये, परन्तु ऐसा एक भी घर नहीं था कि जहाँ कृष्ण भगवान नहीं थे। यहाँ कृष्ण भगवान का व्यापकत्व समझाया है। यह शंका नारद को ही नहीं थी, आज के सभी लोगों (हम सभी आधुनिक नारद हैं) को भी यह शंका होती है जिसका उत्तर इस कथा में है। वैसा हुआ भी होगा इसमें मुझे शंका नहीं है। लिखा है तो हुआ भी होगा। भगवान के लिए अशक्य कुछ नहीं है। नारद को तो पता था ही कि कृष्ण, भगवान हैं। ऐसा अद्भुत चमत्कार जब सार्वजनिक होता है तब उसके सम्बन्ध में सोचना पड़ता है। इसका कारण, ऐसे चमत्कार यदि भगवान करते तो कंस, जरासंध, दुर्योधन मूर्ख थोड़े ही थे कि वे कृष्ण को न मानते! उन्होंने क्यों नहीं माना? नारद तो सब जानते थे। भगवान का सर्वव्यापकत्व समझाने के लिए कथा कही गयी है। यह बहुत सुंदर कथा है।

सत्तरवें अध्याय में श्रीकृष्ण की दिनचर्या का वर्णन है। उसमें आदर्श गृहस्थाश्रमी की दिनचर्या का वर्णन है, कृष्ण की सम्पत्ति का वर्णन है, वैसे विपत्ति का भी वर्णन है। उनका चरित्रहनन हुआ वह भी लिखा है। यह घटना ऐतिहासिक है। महाभारत और हरिवंश अक्रूर को नहीं छोड़ते। अक्रूर उस घटना में शामिल था ऐसा इन ग्रंथों में लिखा है। भागवतकार ऐसा आक्रमणकारी कदम नहीं उठाते। उनको वह नहीं लेना है। उनकी भूमिका ही भिन्न है। चाहे जैसी परिस्थिति जीवन में आये, उसका सामना कैसा करना उसे कृष्ण भगवान ने दिखाया हैं। कौन सी स्थिति में कैसा वर्ताव करना इसका उसमें दर्शन है।

हमारे घर में कृष्ण भगवान की तस्वीर क्यों रखनी है? कृष्ण भगवान का जीवन मालूम हो तभी तस्वीर रखने का कोई अर्थ है। रूझवेल्ट अपने कमरे में अब्राहम लिंकन की तस्वीर रखता था। किसी ने उनको पूछा कि आपने यह तस्वीर क्यों रखी है? तब रूझवेल्ट ने उत्तर दिया, 'जब मैं मुसीबत में आता हूँ, उलझनें, समस्याएँ खड़ी होती हैं तब मैं शान्ति से विचार करता हूँ, क्योंकि उतावली नहीं करनी चाहिए। निर्णय लेने में उतावली नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उतावली से निर्णय लेने से गड़बड़ी होती है और गड़बड़ी ही चिन्ता का कारण है- *confusion is the main cause of worries* इसलिए मैं शान्ति से विचार करता हूँ कि ऐसी परिस्थिति अब्राहम लिंकन के सामने आयी होती तो वे क्या निर्णय लेते?' ऐसा विचार करने के लिए मुझे अब्राहम लिंकन की तस्वीर चाहिए! इसी प्रकार घर में कृष्ण भगवान की तस्वीर रखने का कारण यही है कि जीवन में कोई मुसीबत आयी तो शान्ति से उस तस्वीर के सामने बैठकर विचार कर सकूँ कि ऐसी कठिनाई आने पर कृष्ण भगवान क्या करते?' इसका कारण जीवन की सभी परिस्थितियों में कृष्ण भगवान पार पड़े हैं। हम ऐसा विचार करेंगे तभी हम कृष्ण भगवान के सच्चे उपासक हैं। इसलिए कृष्ण भगवान की दिनचर्या दी गयी है।

इसी अध्याय में, राजनीति का भी विचार आया है। युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने की इच्छा होती है। इसके बीच में राजनीति की अनेक बातें आती हैं, परन्तु इस राजनीति में कुछ विसंवाद भी दिखायी देता है। युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने की इच्छा है, परन्तु जब तक जरासंध जीवित है तब तक राजसूय यज्ञ नहीं हो सकता। तब क्या करना चाहिए? जरासंध को मारने के लिए स्वयं श्रीकृष्ण नहीं जा सकते। उसके पीछे भी एक राजनीतिक कारण है। युधिष्ठिर की राजसूय यज्ञ करने की इच्छा का संदेश मिलने पर कृष्ण भगवान ने युधिष्ठिर को संदेश भेजा कि जब तक जरासंध खड़ा है तब तक तुम राजसूय यज्ञ नहीं कर सकते। जरासंध को कैसे मारना इस सम्बन्ध में चर्चा हुई, उस चर्चा का भागवत में वर्णन है। कृष्ण भगवान किसे प्रश्न पूछते हैं मालूम है? यह राजनीतिक समस्या है, उसमें से मार्ग निकालना है किसी भोले-भाले या मूर्ख को नहीं पूछना है। कृष्ण ने प्रश्न उद्धव से पूछा। उद्धव उसका जवाब देता है, उसमें उसकी चतुराई का दर्शन होता है। उद्धव भक्त है।

लोग ऐसा समझते हैं कि भक्त भोला और कम अक्लमंद होता है। गुजरात में तथा उत्तर प्रदेश में भी भक्त को 'भगत' कहते हैं। भगत यानी जो पागल है, भोला है, 'भक्त'

का ऐसा अर्थ कृष्ण के समय नहीं था। उस समय में भक्त का अर्थ प्रभावी, बुद्धिशाली था। वह दूसरे की बदमाशी व ढोंग समझता है, पर छोड़ देता है यह बात भिन्न है। परन्तु वह ऐसा नहीं समझता है।

कठिन परिस्थिति में राजनीतिज्ञ किसकी सलाह लेते हैं? निवृत्त सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश की, या जो दिन रात चालाकी करते हैं, उनकी! परन्तु कृष्ण भगवान ने वैसे किसी न्यायाधीश को नहीं पूछा। उद्धव को पूछा है, उद्धव भक्त था और उद्धव ने जो मार्ग बताया वह सच्चा व उचित है ऐसा कृष्ण भगवान ने कहा है।

ऐसी ही एक घटना भगवान रामचंद्र के जीवन में हुई थी। एक ओर रणवाद्यों का घोष हुआ, युद्ध शुरू हुआ तब अकस्मात् शत्रुपक्ष का-रावण का सगा भाई विभीषण राम के पास आता है। उसे अपने पक्ष में स्वीकार करना या नहीं? ऐसी स्थिति चल रही थी। आनेवाला व्यक्ति रावण का सगा भाई है, वह उधर से इधर आया है, आज तक उसका हमारा कोई सम्बन्ध भी नहीं था। जासूसी के लिए भी आया होगा या अन्य किसी अन्य हेतु से भी आया होगा। उसे स्वीकार करना या नहीं? राम ने प्रमुख अधिकारियों से पूछा। सभी ने विरोध में मत व्यक्त किया। सबसे पहले सुग्रीव जैसे प्रभावी वीर ने अपनी राय दी कि उसका स्वीकार करना यानी खतरा मोल लेना है, वह कदाचित् अच्छा भी होगा, हम उसे बुरा नहीं कहते परन्तु इस समय उसका स्वीकार करने में खतरा है। सभी का यही मत था। प्रभु राम ने अन्त में हनुमान से उसका मत पूछा। जिसे हम बंदर समझते हैं। जिसे राम का दूसरा प्राण माना जाता था उस हनुमान से राम पूछते हैं कि विभीषण को स्वीकार करना चाहिए या नहीं? उसकी आँखें देखकर जवाब दो! हनुमान ने तुरन्त जवाब दिया 'विभीषण को स्वीकार करना चाहिए।' सभी विरोध में होते हुए भी प्रभु रामचंद्र ने विभीषण का स्वीकार किया।

कृष्ण भगवान उद्धव से पूछकर यही बात समझाते हैं कि भक्त बुद्धू या बेवकूफ नहीं होता। आज समाज में यह विपरीत धारणा है कि भक्त भोला, पागल होना चाहिए, कदाचित् वैसा न हो तो उसे मूर्ख के जैसा व्यवहार करना चाहिए तभी लोग उसे भक्त कहेंगे।

हनुमान का मानसशास्त्र का बड़ा अभ्यास था। वनवास से वापस लौटते समय राम ने विचार किया, 'भरत अच्छा था और है ही, परन्तु राज्यलक्ष्मी का सहवास वर्षों तक मिलने से उसमें फर्क़ न हुआ होगा ऐसा कैसे कह सकते हैं? भरत का चेहरा पढ़ने *(Face Reading)* के लिए राम हनुमान को भेजते हैं। वे हनुमान से कहते हैं कि जाकर भरत को खबर दो कि राम आ रहे हैं। यह सुनते ही भरत के मन में सहज ही यह भाव आ जाय कि राम इतने जल्दी आये कि क्या चौदह साल समाप्त हो गये? तो मैं अयोध्या नहीं जाऊँगा।'

बात सत्य है। राज्यलक्ष्मी का मोह ही वैसा है। जब तक राज्यलक्ष्मी नहीं मिलती तब तक उसके प्रति आसक्ति नहीं रहती। एक बार कुर्सी मिल गयी कि लोगों के

सलाम लेने की आदत हो जाती है। फिर कुर्सी छोड़ना बहुत कठिन होता है, लगभग अशक्य हो जाता है।

इतना कठिन काम राम ने हनुमान को सौंपा था। वाल्मीकि ने भी हनुमान का, उसकी बुद्धि का बहुत वर्णन किया है। सीता की खोज करके हनुमान वापस आते हैं तब राम को खबर देते समय प्रथम शब्द हनुमान ने जो कहा है उसीमें उनकी बुद्धि के वैभव का परिचय वाल्मीकि कराते हैं। राम के पास आकर वह यह नहीं कहता कि **'सीता दृष्टा मया राम।'** कारण **सीता** शब्द बोलने के बाद **दृष्टा** या नहीं **दृष्टा?** अपने स्वामी के मन में संशय निर्माण न हो कि मिली या नहीं मिली? अतः हनुमान कहते हैं, **'दृष्टा सीता मया राम।'** प्रथम शब्द **दृष्टा** ही उनके कानों में जाना चाहिए। ऐसी छोटी छोटी बातों में भी हनुमान का मानसशास्त्र का ज्ञान दिखायी देता है। हनुमान के जैसे ही उद्धव पूर्ण ज्ञानी और पूर्ण भक्त हैं। इसलिए जगत् को छोड़ने का प्रसंग आया तब उद्धव को ही ज्ञान दिया है। इतने उद्धव प्रभावी भक्त हैं।

भगवान ने जरासंध के सम्बन्ध में उद्धव से पूछा है। उद्धव ने अपना मन्तव्य प्रकट किया कि भीम के हाथों से जरासंध को मारना चाहिए। उसके लिए भीम को ही साथ क्यों ले जाना चाहिए, कैसे ले जाना चाहिए यह भी उद्धव ने बताया है। उसमें उद्धव का बुद्धि-कौशल्य दृष्टिगोचर होता है। भगवान ने उद्धव का कहना माना है और यह अध्याय पूर्ण होता है।

हम दशम स्कन्ध की पूजा कर रहे हैं। उसमें अध्याय अस्सी व इक्यासी में सुदामा की कथा आती है। वह सर्वमान्य कथा है। सुदामा निर्धन ब्राह्मण था और भगवान का मित्र था। उसने भगवान कृष्ण के साथ कितने ही दिन तपोवन में व्यतीत किये थे। उसके दारिद्र्य का वर्णन करने में कथाकार, कथालेखक, पौराणिक बहुत मसाला भरते हैं। लेखकों के लिए गरीबी-कंगालियत आदि उत्कृष्ट विषय हैं।

सुदामा इतना दरिद्री था कि उसके पास खाने के लिए भी कुछ नहीं था। उसकी पत्नी ने एक दिन कहा, 'आप द्वारकाधीश के पास जाओ। वह बड़ा लक्ष्मीपति है, आपका मित्र है, आप रातदिन उसका वर्णन करते हैं। उसके पास जाओ तो वह आपको कुछ देगा।' सुदामा ने कहा, 'मैं उसके पास माँगने के लिए नहीं जाऊँगा, परन्तु उसे मिलने-देखने के लिए अवश्य जाऊँगा। सुदामा द्वारका गया तब भगवान ने उसका बहुत बड़ा सत्कार किया। भगवान ने स्वयं अपने हाथों से उसे नहलाया। रुक्मिणी को भी उसकी सेवा करने के लिए कहा।

सुदामा का नाम 'श्रीदाम' है। उसका सुदामा बन गया। श्रीदाम यानी श्री के रूप में जो दाम ही नहीं माँगता संपूर्ण वैभव ही उसका दाम है। उसका बहुत वर्णन करते हैं। कथाकार तो उसका वर्णन करते हैं। सुदामा जब द्वारका से वापस जाने के लिए निकले तब भगवान कहते हैं, पुराने-फटे कपड़े ही पहनकर जाओ, कारण मार्ग में चोरों का भय है।

अच्छे कपड़े पहनाये थे वे उतार लिये और सुदामा के पुराने-फटे वस्त्र पहनाकर सुदामा को वापस लौटा दिया। सब नये कपड़े उतार लेने पर भी सुदामा को क्रोध नहीं आया। वह घर लौटा। घर के पास आने पर उसे अपनी झोपड़ी के स्थान पर सोने की सुदामपुरी देखने को मिली ऐसा वर्णन किया जाता है।

सुदामा द्वारका में आया तब उसका आतिथ्य करने के बाद कृष्ण पूछते हैं, 'मित्र! तुमने मेरे लिए कुछ लाया होगा न?' सुदामा ने कहा, आपके लिए लाने योग्य था ही क्या घर में! परन्तु तुम्हारी भाभी ने कुछ चिऊड़ा बांधकर दिया है, यह देखो!' ऐसा कहकर उपवस्त्र के छोर में बांधा हुआ चिऊड़ा भगवान के हाथ में धर देता है। फिर वह चिऊड़ा खाने के लिए कृष्ण भगवान व रानियों में स्पर्धा होती है। कृष्ण अकेले ही खाने लगे तब रानियाँ कहने लगीं, 'आपको प्रसाद मिला है तो हमें क्यों नहीं? ऐसा बहुत ही सुंदर वर्णन भागवत में है। भागवतकार इसके द्वारा ब्राह्मण का महत्त्व समझाते हैं। भागवत में **'पृथक् तण्डुलान्'** शब्द हैं। इसका अर्थ हिन्दी में चिऊड़ा है। भगवान बड़े प्रेम से वह चिऊड़ा खाते हैं।

सांस्कृतिक व नैतिक उत्थान के लिए अपनी बुद्धि, कर्तृत्व का उपयोग करके विश्व में भाव, ओज, प्रेम, स्वास्थ्य, धर्मशीलता बढ़ाने के लिए संपूर्ण जीवन देनेवाले वर्ग को पुराने जमाने में 'ब्राह्मण' कहते थे। भगवान ब्राह्मण की इज्जत करते हैं। नि:स्वार्थ वृत्ति से यह वर्ग काम करता था अत: वह सम्मान, प्रतिष्ठा की अपेक्षा नहीं रखता था। समाज के स्वास्थ्य के लिए, नैतिक उत्थान के लिए भक्ति की रीति व योग्य जीवन समझानेवाला तत्त्वज्ञान खड़ा करने के लिए रात-दिन कटिबद्ध रहनेवाला व पीढ़ियों से उसके लिए अपना जीवन समर्पण करनेवाला जो ब्राह्मण वर्ग है उसका महत्त्व इस भारतीय संस्कृति में अद्भुत है। ऐसे ब्राह्मण वर्ग की तुलना भ्रष्ट, अध:पतित सत्तालोलुप पोपसत्ता के साथ होती है तब ब्राह्मण के बारे में नफ़रत पैदा होती है। इतना सच है कि बीच के काल में ब्राह्मणों ने भी ऐसे पराक्रम किये हैं जिनके कारण उनको यह नफरत सहन करनी चाहिए। वे उनके अपने पराक्रम हैं। सच्चे ब्राह्मण का महत्त्व समझाने का यहाँ प्रयत्न है।

समाज कितना भी सुबुद्ध होगा, कितना भी वित्त कमाता होगा, परन्तु यदि ब्राह्मण वर्ग नष्ट हुआ तो समाज में सुख, शान्ति, स्वास्थ्य, समाधान रहना असंभव है, ऐसी भारतीय संस्कृति की धारणा है। ब्राह्मण अध:पतित हुआ इसका अर्थ दूसरा कोई अध:पतित नहीं हुआ, अपितु संपूर्ण समाज अध:पतित हुआ है। उसमें ब्राह्मण भी हैं। किसी समाज को ब्राह्मण को बोलने का यह अधिकार नहीं है कि 'आप अध:पतित क्यों हैं?' फिर भी ब्राह्मण बड़ा भाई है, वह जब अध:पतित होता है तब समाज में खतरा खड़ा हो जाता है, अत: उसे अधिक सजा मिलनी चाहिए। तुलनात्मक व तटस्थ दृष्टि से मानव इतिहास की ओर देखनेवाले जो लोग हैं वे ब्राह्मण को ही गुनाहगार मानेंगे।

यह जो ब्राह्मण की महिमा है, वह अद्भुत है। जीवन के व्यवहार में प्रत्येक स्थान में ब्राह्मण प्रविष्ट हआ है। इसका क्या कारण है? ब्राह्मण का कार्य धन्धा नहीं था, एक वृत्ति

थी। जब वृत्ति को लोग धन्धा बना देते हैं तब उसका क्या परिणाम होता है यह आज हम देख रहे हैं। लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए दो-चार पुरानी कथा कहना अथवा कर्मकाण्ड के दो-चार श्लोक बोलना इतना ही ब्राह्मण का काम नहीं है। समाजस्वास्थ्य, पारिवारिक स्वास्थ्य, नैतिक पुनरुत्थान, भक्ति की असली समझ और तत्त्वज्ञान को सुयोग्य मोड़ देने की तथा भगवान तक पहुँचने का मार्ग समझाने की ताकत ब्राह्मण में होनी चाहिए। ब्राह्मण इतना कर्तृत्ववान होना चाहिए। भले ही चार्वाक ने लिखा हो कि

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुंठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविका धातृनिर्मिता।।
यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

परन्तु ब्राह्मण कर्तृत्ववान शूर तथा जबरदस्त बुद्धिशाली (*Highly intellectual)* होता है। उसके पास इतनी बौद्धिक शक्ति होती है कि वह सबकी जेब काट सकता है और वह भी इस तरीके से कि सामनेवाले को पता भी न चले। फिर भी वह अपनी शक्ति अपने स्वार्थ के लिए प्रयुक्त नहीं करता है। कृष्ण भगवान का वर्णन करने वाले भागवतकार जब ब्राह्मण-माहात्म्य तथा ब्राह्मणों के लिए कष्ट झैलने की भगवान को उत्सुकता ही नहीं बल्कि उत्कंठा भी रहती है, ऐसा जब वर्णन करते हैं तब मेरी दृष्टि के सामने वह ब्राह्मण खड़ा होता है। वह ब्राह्मण आज का भीमाशंकर या जटाशंकर नहीं है। आँखों के सामने वैभव दिखायी देता है, कमा सकता है, मिल सकता है, फिर भी उसकी ओर ध्यान न देकर जो एकाध गाँव में जाकर बैठता है और अपना सर्वस्व, अपनी शक्ति, व्यक्तित्व, प्रभाव आदि का संपूर्ण समाज की उन्नति के लिए उपयोग करता है, उसे लोग यदि भगवान समझकर उसकी पूजा करते होंगे तो **"किं तव छिन्नम्?"** किसी के बाप का क्या जाता है? लोग उसे मानेंगे ही। उसे भूदेव समझेंगे ही।

जब तक ब्राह्मण भूदेव है तब तक उसे भूदेव मानने में कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु जब वह भूदेव नहीं रहेगा, उसका भूदेवत्व चला जायेगा तब उसका कान पकड़कर उससे मजदूरी करवा लो ऐसा स्मृतिकार कहते हैं। उसे मजदूर से कम समझो ऐसा भी स्मृतिकार लिखते हैं। ऐसे स्मृतिकार ने ब्राह्मण का महत्त्व बढ़ाया है। कृष्ण भगवान भी ब्राह्मणों के पूजक थे।

ब्राह्मण समाज में फिरता था और बालकों को संस्कार देता था। वह बालक जब युवक बनता तब उसे यह ब्राहाण ऊष्मा देता था। युवक के जीवन में ऐसे कितने ही प्रसंग आते हैं। वह जीवन में पराभूत होता है, जीवन-पराङ्मुख बनता है, जीवन से भागना चाहता है तब ब्राह्मण उसके पास जाकर उसे ओजस्वी, तेजस्वी जीवन समझाकर उसे स्वाभिमानी बनाता था।

स्त्री तेजपूजक होती है, भोगपूजक नहीं। स्त्री तेजपूजक होनी चाहिए। तेजस्वी जीवन का आदर रखनेवाला नवयुवक और तेजपूजक स्त्री, दोनों ने निश्चित किया कि हमें-दोनों को

साथ में रहना है। जिसने जीवन समझाया, संस्कार दिये उस ब्राह्मण के पास दोनों जाकर कहते, "आपने हमें जीवन दिया है, अब हम गृहस्थाश्रम में रहने की इच्छा करते हैं," तब ब्राह्मण कहता, 'बिलकुल ठीक है, साथ में रहना चाहिए, पर एक बार भी अलग नहीं होना है, आमरण विवाह मान्य है?' दोनों उसके लिए तैयार होते और ब्राह्मण से कहते, 'हम विवाह करेंगे तब आपको वहाँ उपस्थित रहना होगा, हम आपके सामने प्रतिज्ञा लेंगे, आपके आशीर्वाद लेकर हमारा जीवन शुरू करेंगे।' अत्यधिक विनम्रता से ब्राह्मण कहता, "अग्नि हमारा भगवान है, उसके सामने ही तुम दोनों को प्रतिज्ञा लेनी चाहिए---**'धर्मे च अर्थे च कामे च नातिचरामि नातिचरामि नातिचरामि।'**उस समय मैं उपस्थित रहूँगा। तुम्हें आशीर्वाद देने की मुझमें शक्ति नहीं है, मैं तुम्हारे जैसा ही सामान्य हूँ। वेदों में कुछ आशीर्वाद दिये हैं उनका पठन करेंगे।

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्वां भव।
ननोन्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु।। (ऋ.१०/८४/४६)
समानी व आकूतिः समानानि हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। (ऋ.१०/१९१/४)

(हे वधु! तु श्वशूर सास, ननद और देवरों की सम्राज्ञी-महारानी के सदृश हो, सबके ऊपर प्रभुत्व कर।

तुम्हारा संकल्प एक समान रहे, तुम्हारे हृदय एकविध-एक समान रहें। तुम्हारे मन एक समान हों जिससे तुम्हारा परस्पर कार्य पूर्ण रूप से संगठित हो।

यह वेदान्त है, किसी ब्राह्मण द्वारा बनाये हुए नहीं हैं। मैं इन मंत्रों को पढ़ूँगा। कितनी नम्रता है इस ब्राह्मण की! एक-एक सिद्धान्त को जीवन में लाने के लिए तीन-तीन, चार-चार पीढ़ियों तक प्रयत्न करने पड़ते हैं, तब वह सिद्धान्त जीवन में आता है। मनुष्य को खड़ा करना सरल, आसान है, परन्तु उसे सिद्धान्त पर टिकाना कठिन होता है। जिसे खड़ा करना है, चलाना है उसीके जैसा बनना पड़ता है। 'मैं सामान्य ही हूँ' यह भूमिका उसे लेनी पड़ती है। 'वेदों का दिया हुआ आशीर्वाद ही मैं पढ़ूँगा' यह ब्राह्मण की कितनी बौद्धिक नम्रता-*(Intellectual modesty)* है। वेद खड़ा करने की जिसमें शक्ति है वह कहता है कि वेद में जो लिखा है वही मैं बोलूँगा। इस रीति से ब्राह्मण विवाह में प्रविष्ट हुआ है, अन्यथा ब्राह्मण की विवाह में क्या आवश्यकता है? 'मियाँ-बीबी राजी तो क्या करेगा काजी' क्या आवश्यकता है काजी-की? विवाह में ब्राह्मण क्यों आया यह समझ लेना चाहिए।

श्राद्ध में ब्राह्मण क्यों आया? पिता जिस दिन चल बसा उस दिन पिता का स्मरण करना चाहिए या नहीं? यह ब्राह्मण ने ही उसे समझाया, 'तेरे पिता ही तुझे इस समाज के आँगन में लाये, तुझे पाल-पोसकर बड़ा किया, उसके अनन्त उपकार तुम्हारे ऊपर हैं, उन्हें यदि तू भूल जायेगा तो तेरा जीवन व्यर्थ है। तू कृतघ्न कहलायेगा।' उसके प्रयाण के दिन

तुम्हें श्रद्धा से उनका स्मरण करना चाहिए।' युवक को वह बात जँच गयी। श्राद्ध के दिन वह ब्राह्मण के पास जाकर बोला, 'आप मेरे पिता के जैसे हैं।

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।। (रघु-१/२४)

आपने मुझे शिक्षा दी, आपत्तियों में रक्षा की, अतः आप ही मेरे पिता हैं। आज मेरे पिता का निर्वाण दिवस है, आप मेरे घर आकर भोजन करेंगे तो बहुत आनंद होगा।' ब्राह्मण उस दिन उसके घर जाता है। ब्राह्मण बनकर नहीं जाता था। आज जिस प्रकार श्राद्ध चल रहा है, वह जितना शीघ्र चला जायेगा उतना अच्छा होगा। तभी जगत् में कुछ अच्छा आने का संभव है। ब्राह्मण ने इतना प्रेम प्राप्त किया था। समाज के हृदय में स्थान पाया था, इसलिए प्रत्येक व्यवहार में ब्राह्मण प्रविष्ट हुआ है।

जब ब्रह्मसत्ता सत्ताधिष्ठित अथवा वित्ताधिष्ठित और कांचनमूल्यवादी बनती है तब समाज का भयानक अधःपतन होता है। जन्मपत्रिका में जब गुरु अपना स्थान छोड़कर निम्न स्थान पर आता है तब सब कार्य चौपट हो जाते हैं। कितनी भी फसल आती होगी, आर्थिक विकास *(Economical development)* भी जबरदस्त होगा, परन्तु कहीं भी यश नहीं मिलता। गुरु का महत्त्व हम समझे ही नहीं! इसलिए ब्राह्मण का बहुत बड़ा महत्त्व है। भागवतकार ने भी लिखा है--

एतद् ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः।
लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद् विमुच्यते।। (भा.१०/८१/४१)

(ब्राह्मणों को अपना इष्ट देव माननेवाले भगवान की इस ब्राह्मण-भक्ति को जो सुनता है उसको भगवान के चरणों में प्रेमभाव प्राप्त होता हैं और वह कर्मबंधन से मुक्त हो जाता हैं।)

जो ब्राह्मणसत्ता अपना स्वार्थ न देखकर घूमती है, ऐसे ब्राह्मण पीढ़ियों के परिश्रम से ही तैयार होते हैं।

केवल चार महिने पहले स्वाध्याय परिवार ने निश्चय किया था कि घर-घर, गाँव-गाँव जाकर लोगों को नीतिमत्ता देनी है, चार महीनों में चौदह वयस्थ-संचलन हुए, तो भी किसी के पास फंड या चन्दा मांगने कोई नहीं गया। निश्चय करने के बाद स्वाध्यायी परिवार के लोग अलग-अलग क्षेत्रों में फिरने लगे, उन्होंने धूप, ठन्डी या सर्दी की भी परवाह नहीं की, खाना, पीना तथा सोने की भी किसी को चिन्ता नहीं थी। वे अपना कार्य करते रहे, प्रत्येक वयस्थ संचलन में लाखों लोग आये, वेरावल में छः तालुकाओं के साठ हजार लोग एकत्र हुए थे। साधारणतः वहाँ दो लाख लोग आये थे, वहाँ सभा में एक जबरदस्त सिंह बनाया गया था, जब उस सिंह ने गर्जना की तब मुझे लगा अब, इस समय अवतार तथा ऋषि प्रसन्न होकर देखते होंगे, यह सिंह की गर्जना थी, कोई बकरी या गधे की आवाज न

थी। सिंह अधिक विचार नही करता है वह निश्चित करके चल देता है। चौदह वयस्थ संचलनों में कितने लोग आये शे जरा गिनकर तो देखो, लाखों लोगों को जबरदस्ती लाये नहीं थे। वे स्वयं श्लोक पाठ करके जीवन-दीक्षा लेकर आये थे, आये हुए वयस्थों ने अपना कलेवा साथ लाया था और अपना खर्चा करके आये थे। इस प्रकार लोगों को खड़ा करके जीवन-दीक्षा देकर लाने के लिए स्वाध्याय परिवार के जो लोग दौड़े होंगे उन्हें कितनी मेहनत करनी पड़ी होगी, क्या आप उन्हें ब्राह्मण नहीं कहोगे? क्या ऐसे ब्राह्मण नहीं चाहिए? ऐसी ब्राह्मणसत्ता के निकल जाने पर आप समाज का चाहे वैसा विकास करोगे फिर भी समाज सुखी नहीं बन सकता, स्वस्थ नहीं बन सकता, शान्त नहीं रह सकता है। यह अशाक्य है, ब्राह्मणसत्ता खड़ी करनी ही पड़ेगी, वह जादू से खड़ी नहीं होती।

लाखों वयस्थ तैयार हुए, कई लोगों ने अपनी धन्धे की तरफ नौकरी की तरफ देखा नहीं, धूप की परवाह नहीं की और चल पड़े, रात-दिन काम किये, मुझे नहीं लगता कि ये लोग दो या तीन घंटे भी सोये होंगे, तभी ऐसा काम होता है।

कई लोग पूछते हैं 'कितने लोग आये थे?' तमाशा देखने आनेवाले लोगों की हम नापतोल नहीं करते। ऐसे वयस्थ खड़े करने वाले लोगों ने परिश्रम किया है। क्या भगवान इस ब्रहमसत्ता का पूजन नहीं करेगा? क्या समाज को इस ब्रह्मसत्ता की जरूरत नहीं है? ब्रह्मसत्ता चाहिए, ब्राह्मण माहात्म्य रहना चाहिए, अगर वह समाज में से चला गया तो मानवता का भी नाश होगा, आज भी मानवता कहाँ रह गयी है? वह कब की समाप्त हो गयी है, आज हम दो पैरों से चल रहे है इसका अर्थ मानवता नहीं है, कौआ भी दो पैरों से चलता है,

स्वाध्याय परिवार के लोगों ने कभी सत्ता अथवा वित्त की आशा नहीं रखी। यह महान कार्य कैसे होगा इसकी कभी चिन्ता नहीं की। फंड कहाँ से आयेगा इसका भी कभी विचार नहीं किया, उन्हें कोई समस्या ही नहीं थी। निश्चित करके वे चल पड़े। प्रत्येक आदमी ऐसे ही चला इसलिए यह काम हुआ। इस तरह घूमनेवाले लोग धन्यवाद के पात्र हैं। यह वेदव्यास की पुरातन व्यासपीठ है उसके ऊपर से मैं इन सभी ब्राह्मणों को, जिन्होंने इतना परिश्रम किया नतमस्तक होकर नमस्कार करता हूँ। उन्होंने सत्, सज्जनता तथा भगवान के पास जाने के लिए कदम उठाये हैं, यह मत भूलें।

'ब्राह्मण माहात्म्य' शब्द सुनकर कदाचित् किसी को लगेगा कि यह क्या *Brahmanism* चल रहा है? बीच के काल में ब्राह्मण वैसे हुए थे यह भी सत्य है। वे कहते, 'तू हलका है इसलिए मैं बड़ा हूँ।' ऐसा बोलनेवाले ब्राह्मण हुए हैं। हमारे पूर्वजों ने जो कुछ किया होगा, वह सहन करना ही पड़ेगा। बीच के एक हजार साल तक ब्राह्मणों ने ऐसा यदि किया होगा तो गालियाँ खानी नहीं पड़ेगी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्मसत्ता नहीं चाहिए। इतना निश्चित कह सकते हैं कि ब्रह्मसत्ता के बिना समाज को स्थिर रखना, स्वस्थ, शान्त रखना अशक्य है। समाज में शान्ति व स्वस्थता रहना अशक्य है।

भागवतकार ने कृष्ण भगवान ब्राह्मण का पूजन करते हैं ऐसा चित्र दिखाया है। यह देखने के बाद किसी को लगेगा कि यह कथा क्यों लिखी है? ब्राह्मण का पूजन करने से, ब्राह्मण के चरण प्रक्षालन करने से क्या होनेवाला है? इसलिए मैं कहता हूँ कि आज के जमाने में भी ये लोग ब्राह्मण हैं, जिन्होंने समाज में घूम-घूमकर मानव के उन्नयन के लिए प्रयत्न किये हैं और कर रहे हैं।

कृष्ण भगवान ने सुदामा को आलिंगन दिया। उसकी सेवा की। क्या अवतार लेकर आये हुए कृष्ण इतने पागल हैं? क्या ब्राह्मण के चरण धोकर चरणामृत लेने से मुक्ति मिलेगी ऐसा वे मानते होंगे? कृष्ण के जीवन में एक भी बात पागलपन जैसी नहीं दिखती है। फिर वे ब्राह्मण की सेवा क्यों करते हैं? कृष्ण ने उठकर ब्राह्मण को आलिंगन दिया, क्यों? जिनको ब्राह्मसत्ता का महत्त्व ही मालूम नहीं है उन लोंगो को ऐसा लगता है। क्योंकि बीच के काल में ब्राह्मण भी ऐसे हुए थे कि जो ब्राह्मण नहीं अपितु 'ब्रह्मबंधु' थे। ब्रह्मबंधु संस्कृत भाषा में गाली है। किसी को सभ्य भाषा में गाली देना हो तो बोलेंगे, 'यह ब्रह्मबंधु है।' इस शब्द का अर्थ है, 'यह ब्राह्मण है इसका कारण इसका पिता ब्राह्मण था।' अर्थात् इसमें ब्राह्मण्य नहीं है। हमारी लौकिक प्राकृत भाषा में बोलेंगे तो 'साला' यह गाली है। 'साला' यानी पत्नी का भाई। एक साहब को किसी ने गाली दी। पुराने जमाने में प्रथम साहब जो इंग्लैंड से आया था उसे 'साला' कहा। साहब ने कहा, 'क्या बोला?' इस भाई ने फिर से कहा, 'साला।' उस साहब को गुजराती भाषा नहीं आती थी। उसने शब्दकोश खोलकर देखा तब उसे पता चला कि साला यानी पत्नी का भाई! उसे लगा, यह तो मेरा सम्मान हुआ। वास्तव में साला यह गाली है। उसी प्रकार ब्रह्मबंधु का अर्थ गाली है।

कृष्ण भगवान यदि ऐसा कहते होंगे कि ब्राह्मण के चरण-स्पर्श से मुक्ति मिलती है तो उनकी गीता का कोई अर्थ ही नहीं। कृष्ण भगवान ऐसा कहते ही नहीं हैं। इस प्रसंग में, जिस विचारधारा तथा जीवनश्रेणी की आवश्यकता है उसका माहात्म्य और गौरव चल रहा है। कृष्ण ने जिस सुदामा को देखा वह सुदामा हमारे ध्यान में नहीं आता। हमें तो ऐसा ही लगता है कि सुदामा यानी जो पैसा नहीं कमा सका, रात दिन कर्मकाण्ड ही करता रहता है, प्रतिदिन तीन बार स्नान करता है, मस्तिष्क पर इस ओर से उस ओर तक भस्म लगाता है, जिसे खाने के लाले पड़े हैं अनेक बच्चे हुए हैं, ऐसा अकर्मण्य, नगण्य, क्षुद्र परन्तु प्रसंगवशात् कृष्ण के साथ तपोवन में पढ़ता था ऐसा सुदामा कृष्ण को मिलने जाता है। कथा करनेवाला ब्राह्मण ऐसा ही सुनाता है और सुननेवाले उसी दृष्टि से सुदामा का चरित्र सुनते हैं। इसका कारण ब्राह्मण की सच्ची कल्पना ही नष्ट हो गयी है। चोटी है या नहीं? कितनी लंबी है? चोटी नहीं होगी तो खलास! वसिष्ठ की चोटी नहीं थी। उनको कौन ब्राह्मण कहता है? हमें सच्चे ब्राह्मण की कल्पना ही नहीं है।

स्वयं भगवान ने सच्चे ब्राह्मण का वर्णन किया है, उसमें वे कहते हैं कि ब्राह्मण यानी ब्रह्मज्ञानी, विरक्त, शान्तचित्त, जितेंद्रिय व्यक्ति! भागवत में सुदामा का ऐसा वर्णन है।

सुदामा समाज में कृतिभक्ति करता था क्या ऐसा भागवत में लिखा है? भागवत में स्वयं भगवान के मुखारविंद से निकला हुआ श्लोक है---

केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः।
त्यजन्तः प्रकृतिर्दैवीर्यथाहं लोकसंग्रहम्।।१०/८०/३०।।

(जगत में विरल ही ऐसे लोग होते हैं जो भगवान की माया से निर्मित विषयसंबन्धी वासनाओं का त्याग करके मेरे समान केवल लोकसंग्रह के लिए कर्म करते रहते हैं।) अर्थात जैसा मैं लोकसंग्रह कर रहा हूँ, वैसा लोकसंग्रह करनेवाला भी ब्राहमण है। इसका अर्थ क्या करेंगे आप? भागवत में यह श्लोक है।

लोकसंग्रह यानी क्या? क्या लोगों को इकट्ठे करना? वैसे तो अभिनेत्री भी कितने ही लोगों को एकत्रित करती है। क्या यह लोकसंग्रह है? लोकसंग्रह का अर्थ है, लोगों को उन्नति के मार्ग से ले जाना उनकी उन्नतिकरण करने के लिए प्रयत्न करना, उसे लोकसंग्रह कहते हैं। कृष्ण भगवान ने ऐसा काम करनेवाले ब्राह्मण की अपने साथ तुलना की है। **'यथाहं लोकसंग्रहम्'** ऐसा कहा है। ऐसा ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानी है। ब्रह्म का अर्थ होता है वेद! **'ब्रह्म वेदः तत् अध्ययनार्थं व्रतं अपि ब्रह्म, तच्चरति इति ब्रह्मचारी।'** यह पाणिनि का सूत्र है। ब्रह्म यानी वेद-विचार! ब्राह्मण विचार-पूजक है, बुद्धि प्रामाण्यवादी है।

आज हम यह समझते हैं कि धर्म श्रद्धालु लोगों का विषय है। श्रद्धा का अर्थ क्या है? जिसे दिमाग नहीं होता व जो अपना दिमाग नहीं चलाता उसीको श्रद्धालु कहते हैं।

'करने की शक्ति मुझमें है,' ऐसी समझ जिसमें निर्माण हुई है, करने की उत्कण्ठा जिसे है, इतना ही नहीं, 'मैं काम करने लगूँगा तो मुझे अवश्य सहायता मिलेगी' ऐसे विश्वास से जो काम करने लगता है, उसे **'आत्मश्रद्धावान्'** कहते हैं। गीता में **'श्रद्धात्रयविभागयोग'** नाम का एक अध्याय है।

सुदामा कैसा था? ब्रह्मज्ञानी था। ब्रह्मज्ञानी किसे कहते हैं? जो वेद लेकर, भगवान लेकर, पावित्र्य, मांगल्य लेकर घर-घर में जाता है वह ब्रह्मज्ञानी है। ऐसा काम करनेवाले को विरक्त रहना पड़ता है। आसक्त व्यक्ति ईशकार्य नहीं कर सकता। इसका कारण वह मुझे इस कार्य से क्या मिलेगा इतना ही देखता है। प्रभु का काम करनेवाले विरक्त होने चाहिए। प्रभुकार्य करनेवाले ब्राह्मण विरक्त होते हैं। जब वे पावित्र्य, मांगल्य, प्रभुविचार ले जाते हैं तब उनको वित्त, मत *(Vote)* या अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। उनकी एक ही वृत्ति रहती है, प्रभो! हमने अपने कर्म का मूल्य नहीं लिया है, ऐसा कर्मयोग हम आपके चरणों में रखते हैं। उसीसे हम आपकी पूजा करते हैं।

भगवान ने सुदामा के लिए विरक्त शब्द प्रयुक्त किया है। परन्तु आज ब्राह्मणों के दिमाग से यह बात चली गयी है। सिंह को ही पता नहीं है कि वह सिंह हैं। यह दुःख की बात है। उसे यही लगता है कि 'मैं बकरा जैसा हूँ।' जैसा मेरा यजमान वैसा मैं।

परिणामस्वरूप आज का ब्राह्मण पीर, बबर्ची, भिस्ती और खर बन गया है। सिंह को यदि 'मैं सिंह हूँ' इसकी विस्मृति हो गयी तो फिर उसे खड़ा कैसे करेंगे?

सुदामा ब्रह्मज्ञानी था, विरक्त था। शान्तचित्त था। जिसे भगवान का काम करना है, उसे अनेक लोग मिलते हैं। उनको छोड़ना नहीं है वैसे उनके पीछे पागल भी नहीं बनना है। अपनी बैठक स्थिर रखकर उनके साथ बातें करनी हैं। इसलिए उसे शान्तचित्त रहना ही पड़ेगा। यह उसका गुण *(quality)* है। ब्राह्मण में यह गुण होना चाहिए।

सुदामा जितेन्द्रिय था। उसकी इन्द्रियाँ अपने काबू में थीं। भगवान कहते हैं, मैं जैसा लोकसंग्रह करता हूँ वैसा ही सुदामा का भी लोकसंग्रह है। भगवान कृष्ण का लोकसंग्रह कौन-सा था वह तो देख सकते हैं, अर्थात् जैसा काम भगवान कर रहे थे, वैसा ही काम सुदामा करता था। सुदामा ऐसा ब्राह्मण था और ऐसे ब्राह्मण की भगवान पूजा करते हैं। जो हजारों लोगों को दीप दिखानेवाला, जीवन प्रकाश देनेवाला है उसकी पूजा लोगों को तो करनी ही चाहिए, परन्तु भगवान को भी उसकी पूजा करनी चाहिए ऐसा भागवतकार का कहना है। इसी कारण भागवत ने ब्राह्मण-माहात्म्य गाया है।

आज के जमाने में ब्राह्मण-माहात्म्य पर बोलनां कठिन है। मैं व्यासपीठ पर बैठा हूँ इसलिए बोल सकता हूँ, नहीं तो लोग मुझे पूछेंगे कि 'ब्राह्मण में क्या विशेष है? हमारे बत्तीस दाँत हैं तो क्या ब्राह्मण को चौतीस दाँत होते हैं? तो ब्राह्मण अपने को क्यों बड़ा मानता हैं?' इसमें ब्राह्मण को अपने को बड़ा मानना नहीं है, परन्तु आपको ही ब्राह्मण को बड़ा मानना पड़ेगा यदि समाज व व्यक्ति को उन्नति की ओर ले जाना हो तो!

कृष्ण-सुदामा का मिलन अति सुंदर, अद्भुत है। कृष्ण भगवान ने सुदामा को आलिंगन दिया, उसकी सेवा की, रुक्मिणी को बुलाकर उससे कहा कि सुदामा की सेवा कर पुण्य मिलेगा। अवतार पागल नहीं होता है। कृष्ण भगवान भी पागल नहीं थे। वे तो सारी चालाकी से परिपूर्ण थे। वे जब सुदामा को आलिंगन देते हैं और उसका चरणस्पर्श करते हैं तब उनको ब्राह्मण-माहात्म्य समझाना है। ऐसा ब्राह्मणों का वर्ग खड़ा करना होगा। वैसा ब्राह्मणवर्ग खड़ा नहीं होगा, तो ब्राह्मण का काम करनेवाले जो होंगे उनको हम ब्राह्मण कहेंगे। वाल्या का वाल्मीकि ऐसा ही हुआ होगा। जटाशंकर, गौरीशंकर, लाभशंकर कुछ न करते बैठे रहेंगे व लड्डू खाते रहेंगे तो क्या दूसरे लोगों को भी बैठे रहना है? ऐसे समय जो संस्कृति का काम करते हैं उनको ब्राह्मण मानना पड़ेगा, मानना चाहिए। पुराणों में स्थान स्थान पर ब्राह्मण-माहात्म्य गाया है, इसका कारण उसके बिना समाज की उन्नति ही नहीं होगी। ब्राह्मण-माहात्म्य पढ़कर अंत:करण भर आता है। इसीको संस्कृति कहते हैं, उसी का नाम दर्शन, उसी का नाम दीर्घदृष्टि है। यहाँ सुदामा के रूप में ब्राह्मण-माहात्म्य समझाया है।

उसके बाद सत्तासीवें अध्याय में वेदस्तुति आती है। श्लोक चौदह से लेकर इकतालीस तक वेदस्तुति के हैं। वेदों ने स्तुति की है। परीक्षित पूछता है कि 'वेद शब्दमय

होने से सगुण पदार्थ का या सगुण वस्तु का वर्णन हो सकता है? 'निर्गुण का वर्णन' यह शब्द का प्रयोग ही मिथ्या है। निर्गुण का वर्णन कैसे होगा? वर्णन करना यानी वस्तु के सम्बन्ध में कुछ कहना, परन्तु ब्रह्म वस्तु है ही नहीं, तब उसका वर्णन कैसे होगा? श्रुति ब्रह्म का वर्णन करती हैं, परन्तु ब्रह्म का वर्णन शब्दों से नहीं हो सकता। शब्द की मर्यादा *(limitation)* होती है, परन्तु ब्रह्म अमर्याद है, उसका किसी के साथ, कभी भी, कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तो उसका वर्णन कैसे हो सकता है?' ऐसा प्रश्न परीक्षित ने उठाया है। उसके लिए शब्द की अर्थबोधक शक्ति का शास्त्रीय विवेचन किया है।

अर्थबोधक शक्ति तीन प्रकार की होती है— मुख्य, लाक्षणिक और ध्वन्यात्मक! मुख्य प्रकार में शब्द का एक शास्त्र है। 'पंकज' शब्द बोलने पर तुम्हारी आँखों के सामने 'कमल' ही आयेगा, मछली नहीं आती। इसका कारण क्या है? मछली भी जल में ही पैदा होती है। यह मुख्य प्रकार है। दूसरी शक्ति 'लक्षणा' है। लक्षणा के तीन प्रकार हैं- जहा-लक्षणा, अजहा-लक्षणा, जहलजहा-लक्षणा! उदाहरण के रूप में, कोई पूछता है कि तुम्हारा घर कहाँ है?' तो सामने का व्यक्ति उत्तर देता है, 'गंगा के ऊपर है।' अब गंगा किसे कहते हैं? प्रवाह को गंगा कहते हैं, तो क्या गंगा प्रवाह के ऊपर घर है? नहीं! गंगा पर घर है इसका अर्थ गंगा के किनारे घर है।

वदस्तुति के श्लोक बहुत कठिन हैं। दर्शनशास्त्र का पूर्ण अभ्यास होगा तभी ये श्लोक समझे जा सकते हैं। लोग कहते हैं दशम-स्कंध पूरा हो गया। अरे! दशम-स्कंध कब पूर्ण हुआ? जब तक वेदस्तुति नहीं होगी तब तक दशम-स्कंध पूर्ण नहीं होगा।

कृष्ण का वर्णन करनेवाला यह दशम-स्कन्ध है। कृष्ण का वर्णन करके भक्त को कृतार्थ करनेवाला यह स्कन्ध है। उसमें जो कथाएं आयी हैं वे हजारों वर्षों तक छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सबको मोहित करनेवाली हैं। सैंकड़ों तर्क-वितर्क के प्रहार सहन करनेवाला मानव का मार्गदर्शन करता हुआ यह दशम-स्कन्ध मेरू पर्वत के समान स्थिर खड़ा है। यह दशम-स्कन्ध नमस्कारार्ह है, अद्वितीय है।

दशम स्कन्ध की समीक्षा करना बुद्धि के परे की बात है। उसकी समीक्षा नहीं हो सकती। दशम-स्कन्ध को तो नमस्कार करना चाहिए, वह हम करते हैं। परन्तु एक बात है, दशम-स्कन्ध को नमस्कार करने के बाद भी कृष्ण भगवान का चरित्र, कृष्ण का रूप, कृष्ण का जीवन, आँखों के सामने से नहीं जाता, वह सामने खड़ा ही रहता है। एकादश स्कन्ध तो ज्ञान से परिपूर्ण है, इसीलिए वह सबसे महत्त्वपूर्ण स्कन्ध है परन्तु लोग उसी स्कन्ध को नहीं सुनते।

कृष्ण-चरित्र इतना विलोभनीय है कि कृष्ण आँखों के सामने खड़े ही रहते हैं। उस चरित्र के अलग-अलग विभाग भी बना सकते हैं। सुभद्राहरण और कृष्ण, खाण्डववन-दहन और कृष्ण, जरासंध-वध और कृष्ण, शिशुपाल-वध और कृष्ण, सखा कृष्ण, सुहृद कृष्ण, सहायक कृष्ण स्थिर-बुद्धि कृष्ण, चित्तज्ञ कृष्ण, शान्ति-दूत कृष्ण, संस्कृतिरक्षक कृष्ण, योगाचार्य कृष्ण, गुरु कृष्ण आदि रूपों में कृष्ण का चरित्र देख सकते हैं।

कृष्ण-चरित्र में अलौकिक मार्गदर्शन है, बुद्धिमत्ता है, वैसे ही राजनीतिक कुशलता उसमें देखने को मिलती है। भगवान तो संपूर्ण जीवन समझाने आये थे इसलिए भोलापन भरा हुआ जीवन और चतुराई से भरा हुआ जीवन भी समझाते हैं। इस जगत् में चालाकी करनेवाले लोग बहुत हैं, जिन्होंने इस जगत् का सत्यानाश किया है।

कृष्ण के अलग-अलग रूप हैं। उनमें राजनीति है, बुद्धि की कुशलता है, लोकानुग्रह है। ऐसे अनेक विषय हो जायेंगे। सुभद्राहरण क्यों हुआ? कैसे हुआ? किसने किया? सुभद्राहरण कराने के पीछे किसका हाथ था? और क्यों था? इस सम्बन्ध में जब सोचेंगे तो कृष्ण भगवान की राजनीति, उनकी चतुराई आदि पढ़कर उनके सामने नतमस्तक हो जायेंगे। खाण्डववन उन्होंने क्यों जलाया? कृष्ण कोई पागल नहीं थे। उसमें कौन सी मुश्किलें आयीं वह जानना चाहिए। जरासंध-वध भी कोई सामान्य बात नहीं थी। जरासंध यावनी सत्ता को आमंत्रित कर देशद्रोही और संस्कृति-द्रोही बना था। इसी कारण कृष्ण भगवान रण छोड़कर द्वारका गये। इसका इतिहास पढ़ना चाहिए। वैसी ही शिशुपाल-वध की घटना है। ऐसी भिन्न भिन्न घटनाओं को लेकर कृष्ण भगवान के जीवन की तरफ देखना चाहिए। वैसे ही उनके गुणों का अभ्यास करके उनका चरित्र देख सकते हैं।

सखा के रूप में कृष्ण विलोभनीय हैं। कृष्ण पांडवों के सखा बन गये। केवल भागवत को लेकर नहीं चलेगा, महाभारत और हरिवंश साथ में लेकर कृष्ण-चरित्र का विचार करना चाहिए, क्योंकि महाभारत और हरिवंश को छोड़कर भागवत में बहुत-सा लिखा नहीं हैं। परन्तु सखा-रूप में कृष्ण विलोभनीय हैं। कृष्ण अर्जुन के सुहृद थे। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक घटनाओं के साथ जैसे कृष्ण-चरित्र देखा जा सकता है वैसे कृष्ण के विविध गुणों का विचार करके भी उनका चरित्र देखा जा सकता है। वह अलग विषय होगा। सुनने के लिए आये हुए लोगों में अनेक चिन्तनिका देनेवाले लोग हैं। उनके लिए भिन्न भिन्न विषय देता हूँ, जिससे वे अभ्यास कर सकेंगे। इन सब दृष्टियों से देखा जाय तो पता चलेगा कि कृष्ण का चरित्र हिमालय से भी उत्तुंग है। हिमालय की स्थूल ऊँचाई से भी कृष्ण-चरित्र अधिक उन्नत है।

अर्जुन के सुहृद के रूप में कृष्ण आकर्षक हैं। सुहृद हो तो कृष्ण के जैसा। वैसे ही सहायक के रूप में भी कृष्ण शोभा देते हैं। कर्म सँभालनेवाले जो लोग हैं उनकी भी भगवान ने सहायता की है। सुहृद के रूप में आकर्षक हैं, सखारूप में विलोभनीय हैं और सहायक-रूप में कृष्ण आश्वासक लगते है। यह कृष्ण की गुण-महत्ता है। कर्मनिश्चय के रूप में कृष्ण का भिन्न ही रूप देखने को मिलता है। निश्चित किया हुआ कार्य वे करके ही रहते। 'मैं करूँगा ही' यह निश्चय कृष्ण के जीवन में दिखायी देता है। 'कार्य होगा ही' ऐसा कृष्ण कहते थे और निश्चित किया हुआ कार्य उन्होंने करके ही दिखाया है। 'होगा तो करूँगा' ऐसी भाषा कृष्ण के जीवन में थी ही नहीं।

हम सामान्य बातों के लिए भी निश्चयात्मक नहीं बोलते। हम वचनबद्ध होते ही नहीं। 'देखेंगे,' 'बन सका तो करेंगे' ऐसी भाषा बोलते हैं, फिर भी अपने को कृष्ण का

उपासक मानते हैं। हमारे जीवन में 'करेंगे ही' ऐसा एक भी निश्चय नहीं है। कितने ही पागल लोगों के जीवन में, उल्टा-सीधा करनेवालों के जीवन में निश्चय होता है। जैसे- 'एक भी दिन ऐसा नहीं जायेगा कि उस दिन मैंने किसी की जेब नहीं काटी।' ऐसे निश्चय का कोई अर्थ है? दैवी कार्य के लिए जीवन में कोई निश्चय न होगा तो उसको कृष्ण का उपासक कैसे कहा जायेगा?

कृष्ण के पास स्थिर बुद्धि है। कृष्ण सुलह करने के लिए आ रहे हैं ऐसा जब कौरवों को पता चला तब धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, कौरव, कर्ण, शकुनि की एक बैठक हुई। वह प्रसंग पढ़ने जैसा है। उसमें धृतराष्ट्र कहता है कि प्रलोभन देकर चाहे उस व्यक्ति को वश में कर सकते हैं। किसी को वित्त, किसी को सम्मान का प्रलोभन चाहिए। कृष्ण का ऐसा भव्य सत्कार करो कि वह विरोध में एक शब्द भी न बोल सके।' यह धृतराष्ट्र की राजनीति थी। उस समय भीष्म, विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा कि कृष्ण को समझने के लिए आपको दूसरा जन्म लेना पड़ेगा। आपको मालूम नहीं है, परन्तु कृष्ण को वित्त, स्त्री, सम्मान या अन्य किसी उपाय से नहीं लुभा सकेंगे, ऐसे वे राजदूत हैं। तब दुर्योधन ने कहा कि यदि प्रलोभनों से कृष्ण वश में नहीं होंगे तो मैं उनको बंदी बनाकर बंदीशाला में डाल दूँगा।

दौत्यकर्म करके भगवान कृष्ण ने, अलोलुप, स्थिरबुद्धि, सर्वहितकारी और अत्यन्त सावध--ऐसे दूत का दर्शन कराया है। शान्तिदूत कैसा होना चाहिए और उसमें कितनी दृढ़ता होनी चाहिए यह कृष्ण भगवान ने दिखाया है। आज तो जिसकी स्वयं की कोई बैठक ही नहीं है उसे शान्तिदूत बनाकर भेजा जाता है।

वह किसी भी विचार पर स्थिर नहीं रहता। गंगा गये गंगादास और जमना गये जमनादास के जैसे अस्थिर, चंचल सभी के सामने झुकनेवाले को आज शान्तिदूत कहा जाता हैं। शान्तिदूत की बैठक कितनी स्थिर होनी चाहिए इसका दर्शन कृष्ण में होता है। कृष्ण का अभ्यास किये बिना किसी को भी राजदूत *(Ambassador)* बनाया जाता है। वे, बनानेवाले, बननेवाले दोनों मूर्ख हैं व ऐसे व्यक्ति को शान्तिदूत माननेवाले भी पागल हैं। राजदूत बनने के लिए, 'जिसमें अमुक स्थिर गुण हैं वही राजदूत बन सकेगा,' ऐसा कानून बनाना चाहिए। राजदूत क्यों बनना है, बनकर क्या करना है, उसका कर्तव्य क्या है आदि बातों का ज्ञान जिसने जीवन में चरित्रार्थ करके दिखाया है ऐसे कृष्ण का जीवन पढ़ते ही नहीं, क्योंकि उसका वर्णन महाभारत में है, भागवत में है। इन लोगों की दृष्टि में ये दोनों ग्रंथ तथा कृष्ण भगवान प्रतिगामी हैं। कृष्ण प्रतिगामी हैं और ये क्या पुरोगामी हैं? ऐसा प्रश्न इन लोगों से पूछना चाहिए!

एक भाई ने मुझे पूछा था कि 'कृष्ण के समय सब कुछ था ऐसा आप बोलते हैं, परन्तु उस समय समाजवाद कहाँ था?'

मैंने उससे कहा, 'उस समय समाजवाद नहीं था यह तुम्हें किसने कहा? उल्टे, जगत् में प्रथम समाजवादी-कोमेरड *(Socialist Comrade)* यदि कोई होगा तो वह कृष्ण

है!' तुम्हारे सामने मुझे कृष्ण-चरित्र कहना होगा, तो मैं *Comrade krishna* से ही प्रारंभ करूँगा। वह राजकुमार होते हुए भी कोलेज *(college)* में पढ़ने नहीं गया। वह सामान्य मनुष्यों के बालकों के साथ पढ़ता था। छोटे लड़कों को सबसे अच्छा वर्ग कौनसा लगता है? डिब्बे का वर्ग! दोपहर में सब लड़के अपना अपना डिब्बा लेकर भोजन के लिए बैठते तो कृष्ण ने उनको समझाया कि हमारे सभी के शरीर में रक्त बनानेवाले भगवान एक ही हैं। तो हम सभी के डिब्बों में जो पदार्थ हैं वे सब एकत्रित करके खायेंगे तो? जिसे जितना लगेगा उतना वह लेगा।' सभी लड़कों ने वह बात मान ली तथा वैसा ही किया। तो अब तुम क्या नहीं कह सकते कि कृष्ण भगवान *Socialist* था! इससे अधिक समाजवाद-*(Socialism)* हैं?'

शान्तिदूत कैसा होना चाहिए यह कृष्ण के जीवन से जान सकते हैं। इतना ही नहीं, युद्ध मंत्री *(War Minister)* कैसा होना चाहिए यह भी कृष्ण ने दिखाया है। इस एक एक विषय पर मैं बोलूँगा तो भी कृष्ण को न्याय नहीं दे सकूँगा। परन्तु कृष्ण को मेरा नमस्कार होगा। इसका कारण, कृष्णचरित्र को न्याय देना मेरी बुद्धि के परे है। मेरे पास बहुत छोटी बुद्धि है। कृष्ण युद्धमंत्री थे, संरक्षण मंत्री *(Defence Minister)* नहीं थे। युद्धमंत्री व संरक्षण मंत्री में बहुत फर्क़ है।

कृष्ण श्रेष्ठ सारथी थे। पुराने समय में युद्ध में आधा युद्ध सारथी लड़ता था और आधा युद्ध योद्धा लड़ता था। कृष्ण तो श्रेष्ठ सारथी थे। व्यक्तिगत जीवन में कृष्ण श्रेष्ठ चित्तज्ञ थे। चित्त को जाननेवाले, पहचानने वाले, और दूसरे के चित्त की उन्नति कैसे करनी, चित्त को कैसे दृढ़ बनाना, उसके लिए कौनसा मार्ग अपनाना, इसके कृष्ण जानकार थे। यह केवल लिखा हुआ मानसशास्त्र नहीं है। कृष्ण के पास व्यवहारोपयोगी मानसशास्त्र *(Applied Psychology)* का ज्ञान था। उनको चित्तज्ञ कह सकते हैं।

कृष्ण अपने जीवन में **'ध्रत्युत्साहसमन्वितः'** थे। स्वयं धृति और उत्साह से युक्त तो थे ही परन्तु दूसरे को भी वैसा बनने के लिए प्रेरणा देते थे। जिसके जीवन में धृति और उत्साह होते हैं उसे आलौकिक पुरुष कहते हैं। हममें उत्साह नहीं है ऐसा नहीं है। प्रातःकाल ठीक पाँच बजे दूध लाने के लिए हम उठते हैं, फिर उत्साह नहीं हैं ऐसा कैसे बोल सकते हैं? हम पूर्ण उत्साही हैं।

उत्साह के दो प्रकार हैं। पहला भौतिक उत्साह तथा दूसरा आध्यात्मिक उत्साह। बिना भौतिक प्रेरणा के क्या हमने कोई काम उठाया है? और उठाया होगा तो क्या उसमें उत्साह है? यह हम सबको स्वयं ही जाँचना है। वैसा काम तो हम उठाते नहीं और उठाया होगा तो समय मिलेगा तब करते हैं। हमें स्वाध्याय करना है, परन्तु उसी समय बीच में ही कुछ व्यवहार की लाभ की बात आ गयी कि हमारा स्वाध्याय छूट जाता है। इसका अर्थ हममें उत्साह ही नहीं हैं। जिसमें भौतिक स्वार्थ नहीं, वहाँ कितना उत्साह दिखाया? यह प्रश्न है।

भक्ति, धर्म इत्यादि बातें समय बिताने के लिए आयी हुई बातें नहीं हैं। अब कोई काम नहीं है, तो चलो माधवबाग में प्रवचन सुनने के लिए। वहाँ कुछ सुनेंगे। यह उत्साह नहीं कहलाता। धृति और उत्साह ये दो भिन्न बातें हैं। ये मानवी जीवन को उन्नत बनाती हैं। अन्यथा हम जो दौड़ते रहते हैं, वह सभी करते हैं। रोटी का टुकड़ा दिखाते ही कुत्ता पूँछ हिलाते हुए दौड़ता आता है, कौआ भी आता है। वैसा छगनभाई भी आता है, उसमें क्या फर्क है? 'जिसमें भौतिक स्वार्थ नहीं है, ऐसे किसी काम के लिए क्या मैं नियमित रूप से, निश्चित करके दौड़ता हूँ?' यह प्रत्येक मनुष्य को देखना है, क्योंकि अध्यात्म में मनुष्य स्वयं ही अपना परीक्षक है और भगवान भी उसे जानते हैं। इसमें दूसरा परीक्षक नहीं चलता। क्या ऐसा एकाध नि:स्वार्थ काम है कि जिसमें हमारा उत्साह टिका है? यदि टिका हो तो वह अध्यात्मिक उत्साह है।

वसिष्ठ, शंकराचार्य, वल्लभाचार्य आदि का उत्साह जीवनभर बना रहा, वह आध्यात्मिक उत्साह था। वैसे तो एक उद्योगपति ने एक फैक्टरी खोली, दूसरी खोल दी, तीसरी खोलनी है ऐसी दिन रात दौड़धूप करता है। उसके पास उत्साह है, परन्तु वह भौतिक उत्साह है। उस उत्साह को विलायती फूल कहते हैं। उसमें सुगंध नहीं होती। असली-सच्चे फूल में सुगंध होती है।

कृष्ण भगवान ही एक ऐसे हैं जिन्होंने कहा,

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। (गीता ३/२२)

(हे अर्जुन! इन तीनों लोकों में मुझे अपने लिए कोई कर्तव्य (करना) नहीं हैं (कारण) मुझे अप्राप्त अथवा प्राप्तव्य कुछ नहीं है, फिर भी मैं निरन्तर कर्तव्यप्रवृत्त हूँ।)

त्रिभुवन में मुझे कुछ नहीं चाहिए, फिर भी मैं निरन्तर कार्य करता रहता हूँ। इसीको धृति और उत्साह कहतें हैं। हम सुबह सात बजे रेल पकड़कर दफ्तर में हाजिर होते हैं, वह उत्साह नहीं माना जाता। कृष्ण भगवान धृति-उत्साह से मुक्त हैं।

संस्कृति की दृष्टि में कृष्ण यज्ञरक्षक हैं। यज्ञ से ही संस्कृति का रक्षण होता है। अत: भगवान यज्ञरक्षक हैं, संस्कृति के रक्षक हैं।

कृष्ण भगवान योगाचार्य हैं। कोई पूछेगा; "कृष्ण! और योगाचार्य?" वे तो भोगाचार्य दिखायी देते हैं, क्योंकि हजारों स्त्रियों के साथ उनका सम्बन्ध है, कितना विशाल परिवार है उनका! सोलह हजार एक सौ आठ स्त्रियों और प्रत्येक स्त्री के दस-दस पुत्र! एक स्त्री के साथ विवाह करके हम पारिवारिक बनते हैं तो इस दृष्टि से कृष्ण कितने बड़े पारिवारिक होंगे? सभी तत्त्वज्ञानी लंगोटी पहनकर बैठे हैं और कृष्ण ऐसे तत्त्वज्ञ हैं कि सोने के झूले पर बैठते थे, रणांगण में युद्ध करते थे और हजारों स्त्रियों के साथ गृहस्थी भी करते थे, तो उनको योगचार्य कैसे कहें?'

योग में तीन बातें आती हैं साधना, भक्ति और समर्पण! योग चोटी, जटाएं बढ़ाने से या दाढ़ी रखने से नहीं होता। वह वृत्ति का रसायन है। उसमें साधना चाहिए, प्रतीक्षा *(Wait)* करने की तैयारी चाहिए, वैसी शिक्षा चाहिए, उसे साधना कहते हैं। द्यूत में सब कुछ गवांकर पांडवों को जंगल में जाना पड़ा तब बारह साल तक भगवान रुक गये, उन्होंने प्रतीक्षा की। यह उनकी साधना थी। इसलिए वे योगी थे।

आज किया तो तुरन्त फल की अपेक्षा करनेवाला योगी नहीं है। आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और कौटुंबिक-सभी प्रकार के जीवन में साधना की आवश्यकता है। व्यापारी के पास भी साधना होनी चाहिए। आज फैक्टरी खोली और कल फल मिला ऐसा कभी नहीं होता। प्रतीक्षा करने की तैयारी होनी चाहिए। मुझे एक व्यापारी ने कहा, 'मेरी फैक्टरी चलती है। एक हजार दिन तक घर का खाकर फैक्टरी का काम करता था।' एक हजार दिन, अर्थात् लगभग तीन साल घर का खाना खाता है फैक्टरी चलती है! कितना सच है, कितना झूठ है या उसमें कितनी अतिशयोक्ति है, इसका मुझे पता नहीं है, परन्तु मेरा कहना इतना ही है कि भौतिक जीवन में भी साधना चाहिए। तो फिर जीवन में गुण लाने के लिए आध्यात्मिक विकास साधने के लिए, चित्त एकाग्र कर भक्ति करने के लिए क्या साधना नहीं चाहिए? अवश्य चाहिए।

एक भाई कहता है, 'मैं चित्तैकाग्रता के लिए कितना प्रयत्न करता हूँ पर चित्त एकाग्र होता ही नहीं!' कैसे होगा? उसकी कोई चाबी नहीं है कि जिसका उपयोग करके किसी भी मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाय, उसके लिए साधना चाहिए। इसीलिए भगवान ने गीता में छठ्ठे अध्याय में साधना समझायी है। उसमें भगवान कहते हैं।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

यह भगवान ने किसलिए कहा है? साधना चाहिए इसलिए! कृष्ण भगवान के जीवन में साधना दिखायी देती है।

योग में भक्ति चाहिए। जो काम करेंगे उसमें भावपूर्ण अन्तःकरण चाहिए। किसी भी कर्म में पवित्रता से भरा भाव होना चाहिए। धन्धे में भी पवित्रता लायेंगे तो भक्ति हो जाती है। मुझे अपने लिए धन्धा नहीं करना है, भगवान के लिए, भगवान का भाग अर्पण करने के लिए धन्धा करना है। यह भूमिका हो तो वह धन्धा करना, भक्ति ही है। 'भगवान! काम करके, कमाई करके आपका भाग निकालना है इसलिए मैं धन्धा करने के लिए इस गद्दी पर बैठा हूँ' ऐसा बोलनेवाला व्यापारी कितना परोपकारी है! परोपकार यानी भगवान पर उपकार! श्रेष्ठ पर उपकार! कारण 'पर' का अर्थ श्रेष्ठ होता है।

जीवन में समर्पण होना चाहिए। इतनी बातें हों तो उसे योग कहते हैं। समर्पण यानी पूर्ण अन्तःकरणपूर्वक *(whole hearted), half hearted* नहीं, काम करना! जो कुछ काम

उठाना होगा वह अन्तःकरणपूर्वक उठाओ। अनन्यमनस्कता से मत उठाओ। 'होगा तो करूँगा, देखूँगा' ऐसी वृत्तिवालों की कितनी ही संस्थाएं चलती हैं। उनमें अनेक पदाधिकारी पड़े हुए हैं, जिनको कुछ करना नहीं है, उठाना नहीं है, बदलना नहीं है। इन सबको भगवान के दरबार में जवाब देना पड़ेगा। फिर वह कितना ही महान् मनुष्य क्यों न हो! भगवान का न्यायासन अलौकिक है। उसमें से कोई नहीं छूटता है। राजा को भी कहा गया है, **'धर्मदण्ड्योऽसि, धर्मदण्ड्योऽसि, धर्मदण्ड्योऽसि!'**

इसीलिए योगाचार्य भगवान का एक अलौकिक रूप है। अलग-अलग रूपों में कृष्ण आँखों के सामने खड़े हो जाते हैं। कृष्ण गुरु ही थे। **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।'** जगत्गुरु! श्रेष्ठ अध्यात्म जिसने कहा है उसे जगत्गुरु कहते हैं। कृष्ण जगद्गुरु हैं। भारत में जितनी संहिताएं निर्माण हुई, वे सब कृष्ण भगवान 'अवतार' हैं ऐसा ही प्रतिपादन करती हैं। **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं'** ऐसा कहती हैं। कृष्ण भगवान को हम विभूति नहीं कहते, अवतार कहते हैं। विभूति भिन्न व अवतार भिन्न है ऋषि, आचार्य आदि महान् व्यक्ति विभूति हो सकते हैं। दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष को विभूति कहते हैं। मानव तथा धर्म का उद्धार करने के लिए जो आता है उसे अवतार कहते है।

कृष्ण भगवान की आँखों के सामने, जिसे आज हम 'धरम्, धरम्' कहते हैं। वह धर्म नहीं था। धर्म कोई संप्रदाय नहीं है। आज हम भक्ति प्रणाली *(way of worship)* को ही धर्म समझ बैठे हैं। धर्म का उद्धार संप्रदाय का उद्धार नहीं है। कृष्ण भगवान धर्म का उद्धार करनेवाले थे, संप्रदाय का नहीं। दैवी जीवन खड़ा करने के लिए उन्होंने अन्तर्बाह्य दृष्टि से विचार किया था। इसलिए वे मानवता का अवतार हैं। इसी कारण **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'** कहकर जगत् को गुरु माना है। कृष्ण भगवान किसी संप्रदाय के अवतार नहीं हैं, वे पूर्णावतार हैं। संपूर्ण दैवी जीवन का अर्थ समझाने के लिए उनका अवतार है। दैवी जीवन, प्रभावी जीवन निर्माण करने के लिए अन्तर्बाह्य विचार करना, दैवी जीवन खड़ा करना बहुत कठिन बात है यह कृष्ण भगवान जानते थे। ऐसा काम तुरन्त नहीं होता। उसके लिए मनुष्यों में प्रथम रुचि निर्माण करनी पड़ती है, फिर दैवी जीवन निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न करनी पड़ती है, उसके बाद वैसा काम करने के लिए सत्त्व और स्वत्त्व खड़े करने पड़ते हैं। फिर साधना की अभिलाषा निर्माण करनी पड़ती है और साधना से दृढ़ता लानी पड़ती है। उसके बाद यश समीप आने पर फिसलने की संभावना रहती है यह भी दिखाना पड़ता है। इसलिए दैवी जीवन की अभिलाषा निर्माण करके दैवी जीवन तक ले जाने के लिए प्रगमनशील आदर्शवाद *(progressive Idealism)* का मार्ग कृष्ण भगवान ने गीता में दिखाया है।

यह एक उच्च जीवन है। 'सब व्यर्थ है, जगत् तुच्छ है, क्षुद्र है, विषयों का त्याग करो' ऐसा कहनेवाला अवतार नहीं हो सकता। अवतार को प्रथम दैवी जीवन के लिए रुचि निर्माण करनी पड़ती है। जब तक दैवी जीवन के प्रति रुचि निर्माण नहीं होती है तब तक जीवन को मोड़ नहीं मिलेगा। जबरदस्ती से या कानून से दैवी जीवन खड़ा नहीं किया जा

सकता। कितने ही लोग कहते हैं कि धर्म का प्रचार करने के लिए हाथ में सत्ता ले लो। सत्ता हाथ में लेकर धर्म का प्रचार करेंगे तो धर्म ही समाप्त हो जायेगा। कानून से मनुष्य में गुण निर्माण नहीं होते। कानून का यह काम नहीं है, कानून में वह शक्ति नहीं है। कानून की कुछ मर्यादायें हैं। मनुष्य नीचे गिर न जाय इसलिए बनायी हुई दीवार कानून है। इसलिए कृष्ण भगवान ने दैवी जीवन के लिए रस निर्माण करना आदि सब काम किये हैं। वे धर्मसंस्थापनार्थ आये थे और वह काम उन्होंने किया है।

दैवी जीवन के प्रति रस निर्माण करने के बाद, इच्छा निर्माण करनी पड़ती है। कितने ही लोगों को लगता है कि यह जीवन बहुत अच्छा है। वे कहते हैं, आपका स्वाध्याय-कार्य बहुत अच्छा है, आप कर रहे हैं यह बहुत ही अच्छा है। परन्तु यह अच्छा काम करने की इच्छा उनमें निर्माण नहीं होती। दैवी काम करने की अभिलाषा और वह भी बिना प्रेरणा के, निर्माण करना बहुत कठिन है। एकाध बार आ गया, एकाध प्रवचन किया, एकादशी के दिन प्रसाद दे दिया कि काम हो गया ऐसा नहीं होता। इससे जगत् नहीं सुधरता है।

प्रसाद का अर्थ प्रतिसाद (प्रतिभावन) है। हम भगवान को उनके कार्य में जो साथ देते हैं (सहकार करते हैं) भगवान उसका प्रतिसाद देते हैं। इस प्रतिसाद शब्द का अपभ्रंश है **'प्रसाद।' 'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते'** ऐसा भगवान कहते हैं।

कुछ लोग कहते हैं, 'हम माँगकर प्रसाद लेते हैं।' यह भगवान का कहा हुआ प्रसाद नहीं है। प्रसाद यानी भगवान का प्रतिसाद *(Response)*।

दैवी जीवन के लिए केवल रस निर्माण करना पर्याप्त नहीं है, इच्छा भी निर्माण करनी है। रस निर्माण करना अलग बात है और इच्छा निर्माण करना अलग बात है। केवल इच्छा निर्माण करने से भी नहीं चलता। अनेक लोगों को इच्छा होती है परन्तु वे अच्छा काम प्रारंभ ही नहीं करते, उनसे कृति होती ही नहीं। कृति करने के लिए दो बातें आवश्यक हैं- पहली सत्त्व और दूसरी स्वत्त्व! सत्त्व और स्वत्त्व दोनों खड़ा करने के बाद दैवी जीवन निर्माण होता है।

कुछ लोग पूछते हैं, 'तुम पाठशाला में जाते हो फिर भी तुम्हारा जीवन नहीं बदला है? ऐसा पूछनेवाले लोग मूर्ख हैं और उनका सुनकर हाथ में लिया हुआ काम छोड़नेवाला तो नमस्कार करने ही योग्य है। आज सुना और कल क्या जीवन बदल जायेगा? यह प्रक्रिया क्या इतनी शीघ्र होती है? दैवी जीवन के लिए कौन से सोपान चढ़ने पड़ते हैं यह ऊपर बताया ही है। अर्थात् रस, इच्छा, सत्त्व स्वत्त्व, साधना की अभिलाषा, दृढ़ता, फिसलने का भय, उससे सावधानी आदि पूर्ण होने के बाद ही दैवी जीवन खड़ा होता है।

दैवी जीवन का अर्थ है, सम्पूर्ण ज्ञानमयता, प्रकाशपूर्ण भावमयता, सामर्थ्यपूर्ण क्रियाशीलता, निरपेक्षता और निरहंकारता! उसके लिए उपरोक्त बातें जीवन में लानी पड़ेंगी। ऐसे जीवन के प्रति मनुष्य में भूख निर्माण करना सहज-सरल काम नहीं है। यह जादू से होनेवाला काम नहीं है।

दैवी जीवन के लिए संपूर्ण ज्ञानमयता चाहिए। ज्ञान और अज्ञान की व्याख्या गीता में की हुई है। तेरहवें अध्याय में **अमानित्वमदम्भित्वम्....** से प्रारंभ कर **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्...** तक **एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा**- तक दूसरा सब अज्ञान है ऐसा कहा है।

दैवी जीवन में प्रकाशमय भावमयता अपेक्षित है, क्योंकि आसक्ति से भी भाव पैदा होता है। आपके जो नन्हे मुन्ने हैं उन पर आपका भाव है या नहीं? है। परन्तु वह प्रकाशपूर्ण भाव नहीं है। आसक्तिमय भाव है। भाव को क्या चिपका हुआ है यह महत्त्वपूर्ण है। इसलिए महाराष्ट्र के एक भक्त ने कहा है, **'भावभक्तिचे लग्न लागे जरी तव कृपा होई।'** यानी भाव-भक्ति का विवाह, भगवान! आपकी कृपा हो तभी होता है। आपका अपने पौत्र पर भाव है। धनवान का अपनी संपत्ति पर भाव होता है, इतना ही नहीं, उसका अपनी पत्नी से भी अधिक भाव सम्पत्ति पर होता है। यह भाव आसक्ति के कारण होता है। प्रकाशपूर्ण भावमयता यह भिन्न ही बात है।

तीसरी बात, दैवी जीवन में सामर्थ्यपूर्ण क्रियाशीलता होनी चाहिए। प्रथम बात यह है कि क्रियाशीलता होती ही नहीं। कदाचित् हो तो सामर्थ्य नहीं होता। सामर्थ्यपूर्ण क्रियाशीलता अपेक्षित है।

चौथी बात, निरपेक्षता और निरहंकारता होनी चाहिए। हमारे स्वाध्याय में, भक्तिफेरी के लिए भी प्रथम रस निर्माण करना पड़ता है। चलो, चलो, पिकनिक में जायेंगे। पन्द्रह दिन जाकर आयेंगे, घर में बैठकर भी क्या करेंगे? उसकी अपेक्षा तनिक घूमकर आयेंगे। ऐसा सुनकर दूसरे भाई तैयार होते हैं। गाँव में जाने के बाद, गाँव के लोगों का प्रेम देखने को मिलता है। गाँव छोड़ते समय गाँव के लोग बस अड्डे पर विदा देने आये। पहले भाई ने कहा, 'देखा? अपने गाँव से निकले तब तुम्हारा लड़का भी बस अड्डे तक पहुँचाने नहीं आया। यहाँ गाँव के लोग कितने प्रेम से आये हैं?' ऐसी बातों से रस निर्माण होता है। ऐसा करते-करते अन्त में निरपेक्षता और निरहंकारता तक का दैवी जीवन समझाते हैं।

गीता में भगवान ने कहा है, **'जन्म कर्म च मे दिव्यं एवं यो वेत्ति तत्त्वतः'** इसमें **तत्त्वतः** ध्यान में रखने जैसा है। भगवान कहते हैं, 'मेरा जन्म दिव्य है वैसा कर्म भी दिव्य है।'

कृष्ण को जीवन में से निकाल देंगे तो जीवन खत्म हो जायेगा। जब से हमने कृष्ण को छोड़ दिया है तब से हमारा जीवन खत्म ही हो गया है। कोई कहेगा, 'ऐसा कैसा? हमने तो कृष्ण का मन्दिर बनाया है।' तुमने मन्दिर में कृष्ण की प्रतिमा रख दी है, कृष्ण नहीं। कारण मंदिर में जानेवालों को कृष्ण के एक भी गुण का पता नहीं है। पूजा करनेवालों को भी कृष्ण का जीवन मालूम नहीं है। ऐसे पुतले तो मुंबई की चौपाटी पर भी हैं। उनके सिर पर कौए बैठते हैं। तुमने भी मंदिर में पुतला रखा है और फिर एक चौकीदार भी रखा है कारण पुतले को पहनाये हुए अलंकार कोई चुराकर न ले जाए। भगवान पर चौकीदार! मन्दिर के एक दरवाजे पर ताला और उस पर भी चौकीदार! दूसरों

ने कृष्ण को तो छोड़ ही दिया है, परन्तु मन्दिर बनानेवालों ने भी छोड़ दिया है। इसीलिए जीवन निस्तेज, लाचार, दीन, दुर्बल, असहाय, परोपजीवी बन गया है।

नवयुवकों को समझ लेना चाहिए कि कृष्ण कैसे हैं? हमारे स्वाध्याय परिवार के युवक कृष्ण को समझ चुके हैं, इसीलिए वे वयस्थ संचलन करते हैं। इसका एक ही कारण है कि दैवी जीवन के प्रति रस निर्माण हो। उसके बाद कृति होगी। 'लोग पूछते हैं, कितने लोग खड़े हुए?' अब आप क्या करेंगे?' मैं कहता हूँ कि कुछ नहीं करूँगा, उनको खड़ा तो रहने दो। खड़ा रहनेवाला चलने लगता है। चलनेवाले मूर्ख नहीं हैं। वे सोचकर चलते हैं। तो उनको कुछ सोचने दो। बैठे थे, वे खड़े तो हो गये।

केवल कृष्ण भगवान का जन्म-दिन मनाने से नहीं चलता। कृष्णजन्म के दिन कितनी भीड़ इकट्ठी होती है! परन्तु कृष्ण-जन्म कहाँ होता है? मन्दिर में होता है। उनके अन्तःकरण में नहीं होता है तथा उनके मस्तिष्क में भी नहीं होता। इसका कारण अन्तःकरण और मस्तिष्क दोनों हम घर में छोड़कर ही मन्दिर में जाते हैं। दिल नहीं ले जाना है और दिमाग नहीं चलाना है। इसी का नाम है कथा। कथा तो होती ही है। उसमें दिमाग नहीं चलाना है। शान्ति से बैठना है। गुजराती भाषा में कहते हैं कि कथा थकावट उतारने की जगह है।

कृष्ण भगवान का जीवन अद्भुत है। कृष्ण भगवान अवतार हैं। उनके भिन्न-भिन्न रूप तो आँखों के सामने खड़े होते ही हैं, परन्तु अवतार रूप में जब कृष्ण सामने खड़े होते हैं, तब उनका क्या वर्णन करना? केवल नतमस्तक हो जाता हूँ। कृष्ण भगवान सामान्यों को मार्गदर्शन करने के लिए आया हुआ अवतार है। कृष्ण भगवान का अवतार पण्डितों या ज्ञानियों के लिए नहीं है। जब उद्धव गोपियों को ज्ञान देने लगे, तब गोपियों ने कहा, 'जाओ, आपके लिए कृष्ण नहीं हैं। कृष्ण हमारे लिए हैं।' इसका क्या अर्थ है? कृष्ण हमारे लिए हैं। सामान्यों के लिए कृष्ण थे।

लोग पूछते हैं कि कृष्ण भगवान अवतार थे तो दुर्योधन ने क्यों नहीं माना? ऐसे अनेक लोग हैं, जो गोकुल छोड़कर मथुरा जाने के बाद का कृष्ण का चरित्र पढ़ते ही नहीं! कारण यह बताते हैं कि जब तक कृष्ण गोकुल में थे तब तक उनमें पुरुषोत्तमत्त्व था। मथुरा जाने के बाद उनमें पुरुषोत्तमत्त्व नही रहा। मेरा दिमाग तनिक उलटा चलता है, इसलिए मैं उनसे पूछता हूँ कि उनका पुरुषोत्तम गया तो क्या उनमें पुरुषाधमत्त्व आया?' अरे! कृष्ण की प्रत्येक कृति, उनका उठाया हुआ प्रत्येक चरण दैवी ही था--**'जन्म कर्म च मे दिव्यम्।'** जीवन में कृष्ण भगवान ने दुःखों को स्वीकार क्यों किया? कृष्ण भगवान का अवतार सामान्य लोगों के लिए था यह नहीं भूलना चाहिए। एक भी सुख ऐसा नहीं था कि जो कृष्ण के चरणों में नहीं था और एक भी दुःख ऐसा नहीं था कि जिसे कृष्ण ने नहीं स्वीकारा। सुख या दुःख के प्रसंग में जीवन कैसे जीना है यह उन्होंने स्वयं जीकर दिखाया है। सुख व दुःख की तरफ शान्ति से कैसे देखना यह उन्होंने समझाया है।

जिन पर विश्वास रखा था, वे पाण्डव द्यूत खेलने के लिए चले गये। बारह वर्षों तक उनको छोड़ दिया। उस समय कृष्ण भगवान को कितना दुःख हुआ होगा? उन पर चोरी का अभियोग लगाया गया, जिसमें अक्रूर जैसे लोग थे। कृष्ण भगवान ने समझाया कि दैवी कार्य करनेवालों का चरित्रहनन होगा यह बात ध्यान में रखो! क्या कृष्ण भगवान गोपियों के साथ क्रीड़ा करने आये थे? वैश्विक दृष्टि से देखा जाए तो अनन्त गोलों में से पृथ्वी एक छोटा सा गोला है। कितने गोले होंगे पता नहीं। सबके निर्माता भगवान हैं। इस पृथ्वी पर कितनी योनियाँ हैं। उनमें कितने नर व मादा होंगे। उनमें मानवजाति की एक मादा, क्या कृष्ण को आकर्षित कर सकती है? जिसने अनन्त नारीरूपों का निर्माण किया वह क्या नारीजाति की तरफ आकर्षित होगा?

कृष्ण भगवान जीवन समझाने के लिए आये थे। इसीलिए उन्होंने सभी दुःखों को स्वीकार किया, वे सामान्य में सामान्य बनकर रहे। आज बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता कृष्ण को तत्त्वज्ञ कहने के लिए तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में बुद्ध तत्त्वज्ञ हो सकता है, पर कृष्ण नहीं! सुवर्णनगरी में रहनेवाले कृष्ण तत्त्वज्ञ कैसे हो सकते हैं? परन्तु—

दुःखेष्वानुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।। (गी.२।५६)

ऐसे कृष्ण भगवान थे।

दशम स्कन्ध को छोड़ते समय भी कृष्ण का विचार हम छोड़ नहीं सकते। अलग-अलग रूपों में कृष्ण के सम्बन्ध में सोचने जैसा है। एक एक रूप अभ्यास का विषय है। अभ्यासु लोगों को विषय का विस्तारपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। इतना ही कहता हूँ कि कृष्ण-चरित्र सोचते रहो, सोचते रहो। सोचते सोचते दिमाग बदल जायेगा, जीवन बदल जायेगा और संस्कृति बदल जायेगी और संस्कृति की रक्षा भी होगी। इसलिए मैं कृष्ण को नमस्कार करता हूँ।

दशम स्कन्ध को नमस्कार करते हैं, तब कृष्ण का जीवन, कृष्ण का पुरुषार्थ, कृष्ण का जीवनरस आँखों के सामने खड़ा होता है, जिसे भूल जाने से संस्कृति में, अध्यात्म में, जीवन में कमी हुई है। हम कृष्ण-जन्म मनाते हैं तब कृष्ण के गले में एक पुष्पमाला पहनाते हैं, परन्तु कृष्ण भगवान ने जो जीवन समझाया है उसे हम स्वीकार नही करते हैं। उन्होंने जो जीवन जीकर दिखाया है उसको उठाने के लिए हम तैयार नहीं हैं। उस जीवन को हम मान्यता नहीं देते। परिणामस्वरूप अध्यात्म और तत्त्वज्ञान में कचरा गया है। सब कुछ छोड़कर, लंगोटी पहनकर जंगल में जाकर बैठनेवाला तत्त्वज्ञ और आध्यात्मिक है ऐसी समझ हमारे मस्तिष्क में दृढ़ हुई है। हम कृष्ण को भगवान समझते हैं, परन्तु विचारक लोग कृष्ण को तत्त्वज्ञ नहीं मानते हैं ऐसी स्थिति है।

कृष्ण भगवान के पास विलोभनीय स्थिर बुद्धि है। उनकी निर्लोभिता भी कमाल की है। कंसवध करने पर राजसिंहासन उग्रसेन को सौंप दिया। उसके जैसा शान्तिदूत ढूँढने पर

भी नहीं मिलेगा। कृष्ण के नाम का उच्चार करते ही उनका अलौकिक जीवन आँखों के सामने खड़ा होता है। कृष्ण योगाचार्य हैं, वे योगी तो हैं ही, परन्तु स्वयं योग हैं। **योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम्** 'इतना ही नहीं, कृष्ण भगवान चिरन्तन काल से गुरु हैं, इसीलिए हम प्रतिदिन **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्** इस पंक्ति का पारायण करते हैं। कृष्ण केवल वैष्णवों के गुरु नहीं हैं, केवल भारतवासियों के ही नहीं, अपितु संपूर्ण विश्व के गुरु हैं और चिरन्तन काल तक गुरु हैं। वे विचार और जीवन के गुरु हैं। उन्होंने जीवन जीकर और सोचकर जीवन के सभी कक्ष प्रकाशित किये हैं। उन्होंने तो मनौती भी की हैं। इससे और कितना सामान्य बनना है? समाजशास्त्र, मानसशास्त्र, अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र, आध्यात्मिक शास्त्र, तत्त्वज्ञान ये सभी कक्ष उन्होंने प्रकाशित किये हैं। इसीलिए वे जगद्गुरु हैं, अवतार हैं।

सन् १९५४ में जापान में विश्वधर्म परिषद हुई थी। उसमें विश्व के विचारकों ने कृष्ण को राजकारणी *(Politician)* ठहराया था। मैंने उनसे पूछा, 'विश्व को चलानेवाली, चंद्रसूर्य को चलानेवाली शक्ति जब मानवी आकार लेकर आती है तब वह क्यों आती है? वह जीवन के उपरोक्त सभी कक्ष प्रकाशित करने के लिए तथा चिरन्तन काल तक वे विचार मार्गदर्शन करते रहेंगे, इसलिए आती है, उसे अवतार कहते हैं।

यंत्रयुग से भोगजीवन खड़ा हुआ, यंत्रयुग से सभी वस्तुओं की विपुलता होने पर भी वे सभी को मिलती हैं ऐसा नहीं है। भोगजीवन सृमद्ध बना तथा उससे लंपटता निर्माण हुई और भौतिकवाद खड़ा हुआ। भौतिकवाद की भयानकता और सुखलोलुपों की लंपटता तत्त्वचिंतक, सत्त्वशील और शान्तिप्रिय लोगों को भयभीत करती है। ऐसे समय तात्त्विक अधिष्ठान पर आधारित धर्म की माँग खड़ी होती है। यन्त्रशक्ति से हतोत्साह बने हुए मानव को क्या प्रेरणा मिलेगी? ऐसा आज का प्रश्न है। कुछ कमाने के लिए प्रेरणा है, परन्तु निःस्वार्थ काम करने के लिए क्या प्रेरणा मिलेगी? यह आज की समस्या है। वित्त या कुछ और कमाने की प्रेरणा को प्रेरणा नहीं कहा जाता। ऐसी प्रेरणा तो चूहे को भी, गधे को भी है, प्रत्येक पशु को वह प्रेरणा है।

विज्ञान से मानव, मानव के समीप आया है परन्तु मानव-मानव में क्या आत्मीयता निर्माण हुई है? यह प्रश्न है। मानव-मानव के पास आया है, एक दूसरे को नहीं छोड़ सकता। इंग्लैंड में या अमेरिका में कुछ इधर-उधर हो गया तो भारत में गुड़ महंगा हो जाता है, इतने समीप मानव आया है, परन्तु उनमें आत्मीयता निर्माण नहीं हुई है। आत्मीयता निर्माण नहीं होती है। **वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'** सारा जगत् वासुदेवरूप है ऐसी समझयुक्त एकता खड़ी नहीं होती। ऐसी एकता निर्माण करने के लिए धर्म और आध्यात्मिक शक्ति को उठाना पड़ेगा। उसके बिना यह बात शक्य नहीं है। पाँच हजार वर्ष पूर्व इस बात का कृष्ण ने विचार किया था।

विश्वसभा *(U.N.O.)* स्थापित करके भी यह प्रश्न हल नहीं होता है। वास्तव में, विश्वसभा निर्माण करके मानव ने एक अलौकिक और लोकोत्तर चरण उठाया है। वह एक

अलौकिक प्रयोग है। अब किसी भी देश को मिलिटरी रखने की आवश्यकता नहीं है। यू.एन.ओ. की मिलिटरी रहेगी। इससे कितना व्यय बचेगा? प्रत्येक राष्ट्र का आर्थिक बोझ कितना कम होगा और मानवमात्र कितना सुखी बनेगा! विश्वसभा की दृष्टि अच्छी है। विश्वसभा की स्थापना करके भी मानव, मानव के बीच आत्मीयता का प्रश्न हल नहीं होता है। एच.जी.वेल्स एक महान् तत्त्वचिन्तक थे। उन्होंने उपन्यास भी लिखे है परन्तु उन्हें समझना भी कठिन है। उनका एक *-Outline of the history of world -* नामक ग्रंथ है। उसमें उन्होंने विश्वसभा की भावना के संबंध में विचार किया है। इतना ही नहीं, संपूर्ण सृष्टि मे एक ही विश्वराज्य होना चाहिए इसका उन्होंने बल देकर समर्थन किया है। इसके बिना मानवता ऊपर नहीं आ सकेगी ऐसा उनका मन्तव्य है। विज्ञान को स्वीकार करेंगे तो यह करना ही पड़ेगा। विश्वसभा धर्माधिष्ठित रहनी चाहिए, परन्तु वह धर्म संकीर्णता से भरा हुआ नहीं चलेगा। संकीर्णता से भरा हुआ धर्म स्वीकार्य ही नहीं है ऐसा उन्होंने लिखा है।

उन्होंने लिखा है कि *'It will be based upon a common world's Relgion very much simplified and universalized and better understood. It will not be christianity, nor Islam, nor Buddism, nor any such specialised form of a religion, but the religion based upon selfless human service।'* इसमें निष्काम कर्मयोग की माँग है। वह किसने की है? ये उन्हींके शब्द हैं। विश्वसभा केवल खड़ी करना पर्याप्त नहीं है, वह धर्माधिष्ठित होनी चाहिए। यहाँ कौन सा धर्म अपेक्षित है? ' *'The Religion based upon selfless human service'* धर्म निष्काम मानव सेवा पर आधारित होना चाहिए। ऐसा धर्म कौन सा ग्रंथ प्रतिपादित करता है? किसने इस प्रकार की अनाग्रही वृत्ति रखकर मानवजाति का उत्थान किया है? वह ग्रंथ है **गीता**। गीता ने भगवान स्वीकारते समय न विष्णु लिया, न लिया कृष्ण और न दूसरा कोई लिया। **मयि** शब्द प्रयुक्त किया है वह कृष्ण को उद्देश्यकर नहीं है। अखिल ब्रह्माण्ड जिसने निर्माण किया, ऐसे अहम् *(Ego)* और बुद्धि *(Intellect)* के साथ जो चैतन्य है, उसे उद्देश्यकर **मयि** शब्द है।

एच.जी.वेल्स ने लिखा है कि 'निष्काम सेवा पर आधारित धर्म होना चाहिए। वह धर्म वैयक्तिक नहीं चलेगा। वैसे ही व्यक्ति व समाज दोनों को लक्ष्य में रखकर खड़ा हुआ धर्म होना चाहिए।' यह मैं सब इसलिए कह रहा हूँ कि उनकी जो माँग है वह कृष्ण भगवान ने पूर्ण की है, गीता ने पूर्ण की है।

बर्ट्रंड रसेल का *Social Reconstruction* नामक ग्रंथ है। उसमें लिखा है कि प्रोटेस्टंट धर्म वैयक्तिक है और कैथोलिक धर्म समाजलक्षी है। ये दोनों धर्म नहीं चलेंगे। तो कौन सा धर्म चलेगा? उसके लिए सोचना पड़ेगा। इस दृष्टि से गीता ग्रंथ कितना अलौकिक व लोकोत्तर है कि जो भगवान श्रीकृष्ण का दिया हुआ है। इसीलिए तो कृष्ण को जगद्गुरु कहा है।

धर्म कैसा होना चाहिए? व्यामोह स्थिति में पड़े हुए मनुष्य को मार्गदर्शन करनेवाला होना चाहिए। केवल परलोकवादी व मृत्यु के बाद क्या होता है इतना ही देखनेवाला धर्म

किस काम का? शेक्सपियर का हैम्लेट व्यामोह की स्थिति में आने पर पागल बना था। व्यामोह की स्थिति प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आती है। शेक्सिपियर का हैम्लेट पागल बना परन्तु वेदव्यास का अर्जुन पागल नहीं बना। क्या कारण है इसका?' उसे कृष्ण भगवान का मार्गदर्शन मिला इसलिए उस स्थिति में भी वह खड़ा रहा।

विश्वसभा का प्रयोग मानव का उठाया हुआ अलौकिक चरण है। यह प्रयोग यदि यशस्वी होगा तो मानव सुखी बनेगा। फिर किसी देश को अपनी मिलिटरी रखने की आवश्यकता नहीं होगी। केवल विश्वसभा की सेवा रहेगी। अन्य सब देशों में पुलिस रहेगी, सेना की जरूरत नहीं रहेगी। ऐसी विश्वसभा हो तो कितना अच्छा? परन्तु उस पर एक धर्म होना चाहिए जिसका ऊपर वर्णन किया गया है, अर्थात् जो धर्म वैयक्तिक है व सामाजिक भी है, निष्काम मानवसेवा पर आधारित है और व्यामोह की स्थिति में मार्गदर्शन करनेवाला है, वैसे धर्म का प्रतिपादन करनेवाला गीताग्रंथ देनेवाले कृष्ण को जगद्गुरु कहनेवाले हम पागल नहीं हैं। जिस समय कृष्ण को जगद्गुरु कहा उस समय भी जगत् शब्द केवल भारत **'आर्यावर्तः पुण्यभूमिः मध्ये विन्ध्यहिमाचलौ'** को उद्देश्यकर नहीं प्रयुक्त किया है। सारे विश्व को उद्देश्यकर वह शब्द है।

जगत् की आज की समस्या, अपनी समस्या है ऐसा समझकर उसका महत्त्व ही हम नहीं समझते हैं। उसकी आवश्यकता भी हम नहीं समझते। कितने ही हारे हुए, भग्न, असफल, असहाय बने हुए, संदेह से भरे हुए लोग गीता को हाथ में उठाते हैं। नहीं उठाते ऐसा नहीं है। मरने के बाद पिता को स्वर्गलोक मिलना चाहिए इसलिए उठाते हैं, उनको स्वयं को स्वर्ग नहीं चाहिए, पिता को चाहिए, इसलिए किसी ब्राह्मण को बुलाकर गीता-पाठ कराते हैं। गीता की इतनी बदनामी दूसरे किसी ने कभी नहीं की होगी।

व्यक्तिजीवन की जो उच्चतम स्थिति है, उसका वर्णन करनेवाला, भगवान तेरे साथ हैं तो रोता क्यों हैं? रोना बंद कर- **न त्वं शोचितुमर्हसि-** ऐसा आदेश देनेवाला एक ही ग्रंथ है और वह है गीता! परन्तु इस ग्रंथ की कीमत लोगों को पता नहीं है। अशिक्षितों को नहीं है, धार्मिकों को तो सोचना ही नहीं है, पढ़े लिखे लोगों को तो गीता का कोई मूल्य ही नहीं है क्योंकि उनको गीता की तरफ देखना ही नहीं है। अब कुछ घरों में गीता दिखायी देती है, इसका कारण घर की बूढ़ी स्त्री ने गीता सँभालकर आलमारी में रख है इसलिए। इतना ही गीता का स्थान रहा है। गीता की बदनामी क्यों हुई? उसकी संतानें मूर्ख हैं इसलिए हुई है।

कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् कहते समय हमारी छाती फूलनी चाहिए। **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्** यह कोई सामान्य बात नहीं है। कृष्ण से भी अधिक आश्वासन जगत को दे सकेगा ऐसा कोई है? गीता में 'भगवान मेरे साथ हैं' ऐसा आश्वासन है। भोग या त्याग? प्रवृत्ति या निवृत्ति? इस द्वन्द्व में फँसे हुए मानव को गीता ने मार्ग दिखाया है। भोग दिखायी देते हैं, परन्तु भोग से दूर रहो, त्याग करो ऐसा कहा जाता है। 'त्याग करो' तो क्या यह सृष्टि बनानेवाला पागल था? 'भोग या त्याग' का विचार करते हैं तो बुद्धि संभ्रमित हो

जाती है। 'भोग या त्याग' यह प्रश्न आते ही संयम का तत्त्वज्ञान किसी ने बताया होगा तो वह गीता ने बताया है। जागतिक धर्म का इतिहास देखेंगे तो संयम का तत्त्वज्ञान समझानेवाला एक ही ग्रंथ है और वह है गीता। हम इसी कारण कहते हैं, **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।'** उनके तत्त्वज्ञान में भोगों का न स्वीकार है, न धिक्कार! भोगों का स्वीकार करने से भी तकलीफ होती है और धिक्कार करने से भी तकलीफ होती है। वैसी ही प्रवृत्ति और निवृत्ति की बात है। उत्साह, तेज, उद्योग, साहस ये प्रवृत्ति के गुण हैं और तप अनासक्ति, निरहंकारता ये सब निवृत्ति के गुण हैं। यदि निवृत्ति का स्वीकार नहीं करेंगे तो ये गुण भी नहीं आयेंगे। तो आप कौन सी बात स्वीकारने वाले हैं? प्रवृत्ति या निवृत्ति? उत्साह, तेज, उद्योग व साहस ये गुण आपके पास नहीं हैं और निरहंकारता है, तो उस निरहंकारता का अर्थ क्या है?

प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच में आज धर्म खड़ा है। समझ लीजिये, किसी ने बहुत अच्छे कपड़े पहने हैं, तो हमारे जैसे देखनेवाले लोग भी उसे धार्मिक नहीं कहते। इसका कारण 'धार्मिकता' को अमुक एक अर्थ चिपक गया है कि जो त्याग का प्रदर्शन करता है वह धार्मिक! क्या हम धर्म समझ चुके हैं? भोग या त्याग? प्रवृत्ति या निवृत्ति इन दोनों द्वंद्वों में फँसे हुए मानव को मार्गदर्शन करनेवाला कौन है? **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'** यही एक है। होमर *(Homer)* की प्रवृत्ति ने मानव को कितना परेशान किया? होमर के समय प्रवृत्ति का प्राबल्य था। प्रवृत्ति, प्रवृत्ति, प्रवृत्ति, बस! दूसरा कुछ नहीं। जितने भोग इधर हैं उतने भोगने चाहिए। भोग मिलने चाहिए और सभी को मिलने चाहिए। 'भोग सभी को मिलने चाहिए' यह भाषा आज की नहीं है, अनादि काल से चली आयी हुई भाषा है। इसी कारण होमर के समय प्रवृत्ति का नग्न नृत्य चलता था। ऐसे समय मनुष्य अस्वस्थ बन जाता है, घबड़ा जाता है, व्यक्तित्व खत्म हो जाता है। यही अवस्था होमर के समय हुई थी। उसके बाद पायथागोरस आया। उसने कहा, 'यह क्या चल रहा है?' उसने निवृत्ति के पाठ सिखाये। पूर्ण निवृत्ति! यह सब झूठ है, इसमें कुछ अर्थ नहीं है। वित्त नहीं कमाना चाहिए, परिवार नहीं खड़ा करना चाहिए। दो विभिन्न लिंग *(opposite sex)* के व्यक्ति एकत्रित होने ही नहीं चाहिए। ऐसा एक समाज का चित्र खड़ा हुआ। प्रवृत्ति को छोड़ने पर समाज में से उत्साह, साहस, तेज, उद्योग चले गये, फिर तप कहाँ से लायेंगे? किसकी अनासक्ति रखेंगे? और निरहंकारता का अर्थ भी कौन सा है? जब आपके हाथ में कुछ है ही नहीं तब निरहंकारता को क्या अर्थ रहता है? पदपथ *(Foot path)* पर रहनेवाला कहने लगेगा कि मैंने बंगले का या कोठी का त्याग किया है तो उसके कहने को क्या अर्थ है? इस प्रकार की निरहंकारता को कोई अर्थ नहीं है।

पायथागोरस के बाद एपिक्युरस आया। उसने आनंदमय जीवन दिखाया है। उसने कहा कि जीवन आनंदमय है, उसे स्वीकारना चाहिए। उसने यही एक बात बतायी। परिणामस्वरूप उधर का समाज ऐशो आराम में पड़ गया। उसके बाद ईसा मसीह आया। उसने संपूर्ण संन्यास समझाया। उसके कारण बैरागी व बैरागनों की संख्या अधिक बढ़ गयी और उन्होंने

कितना अनाचार किया। यह देखकर प्रोटेस्टन्ट्स खड़े हो गये। इस प्रकार होमर से लेकर प्रोटस्टन्ट्स तक समाज की अत्यन्त कठिन और भयानक अवस्था हुई है। इसका अर्थ क्या है? ठोस तत्त्वज्ञान नहीं है। निश्चित रूप में **'इदम् इत्थम्'** ऐसा ही है' ऐसा कहनेवाला तत्त्वज्ञान नहीं है।

निश्चित रूप में, 'ऐसा करो, वैसा न करो' ऐसा कहनेवाला तत्त्वज्ञान होना चाहिए। गीता ने समन्वयात्मकता का स्वीकार किया है। विश्व के चिरन्तन सिद्धान्त गीता ने उठाये हैं। **'जगद्गुरु कृष्ण'** यह बोलने के बाद दृष्टि ठहर जाती है, आगे जाती ही नहीं। जिसने कृष्ण पर प्रेम किया होगा उसे मालूम होगा कि कृष्ण क्यों आये, किसलिए आये, कौन सी बातें की, उनको कौन सा जीवन अच्छा लगता था? **जगद्गुरु** कृष्ण योगाचार्य जैसे थे। विश्वसभा के धर्म की माँग पढ़ते हैं तो गीता के सिवाय दूसरा ऐसा कोई ग्रंथ नहीं दिखायी देता कि जो उस माँग को पूर्ण करता है। परन्तु गीताग्रंथ जिनके हाथ में है वे इतने दुर्बल हैं कि मत पूछो!

गीता यह जीवनग्रंथ है इस दृष्टि से हमने गीता की ओर कभी देखा ही नहीं। अध्यात्म की भाषा लोग बोलते हैं, परन्तु अध्यात्म का अर्थ किसे मालूम है? लोगों को लगता है कि जो हाथ में मिट्टी लेकर उसका सोना बनाता है वह आध्यात्मिक है। यह अध्यात्म कैसे हो सकता है? इसको तो जादू कहते हैं। अध्यात्म का अर्थ ही विकृत हो गया है। ऐसा ही पाश्चात्य देशों में हुआ है। वहाँ मेस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म, आदि भी अध्यात्म में आते हैं। हमारे यहाँ भी वैसा ही है। जो गुरुवार या शनिवार का उपवास करता है, पोथी पढ़ता है उसे लोग आध्यात्मिक मानते हैं। वास्तव में वह डरपोक होगा इसलिए भी करता होगा।

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीन शब्द हैं। परन्तु आधिदैविक और आध्यात्मिक का अर्थ ही लोगों को मालूम नहीं है। **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'** कहते ही छाती फूलती होगी और मस्तिष्क गौरव से ऊपर उठता होगा तभी उसका अर्थ समझे हैं ऐसा कह सकते हैं। अर्थ समझकर **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्** बोलो तो उसका अर्थ भिन्न है, अद्भुत है।

आज के ज्ञात विश्व के तो कृष्ण गुरु हैं ही परन्तु भविष्य में भी जगत को मार्गदर्शन करने की शक्ति कृष्ण की गीता में है। अत: वे 'जगद्गुरु' हैं।

विश्वसभा होनी चाहिए, विश्वराज्य होना चाहिए ऐसी माँग तो है, परन्तु राजनैतिक लोग सब बातें नहीं कर सकते। वे स्वयं ही उन बातों को नहीं समझते और समाज भी नहीं समझता। समाज को लगता है कि यह सब ये राजनैतिक लोग करेंगे। राजनैतिक समझते हैं कि हम करेंगे, उस दृष्टि से तो यूनो की स्थापना की है। बहुत अच्छी बात है। मानव की ओर उन्होंने एक कदम उठाया है। बहुत समय तक *UNO* की बात चलती थी, परन्तु आज तो उसके जैसी निर्वीर्य, गतवीर्य, हतोत्साही सभा दूसरी नहीं होगी ऐसा हो गया है। यूनो का भवन देखने के लिए अनेक लोग जाते हैं। उनका हेतु अच्छा है, भवन भी सुंदर है, परन्तु उस भवन में विचरण करनेवाले लोगों को मालूम नहीं है कि क्या करना है?

जो धर्म व्यक्ति में ओज, तेज, उत्साह, साहस, पराक्रम नहीं भर सकता हो तो उसे धर्म क्यों कहना चाहिए? कौन उसे धर्म कहेगा? जिसमें प्रवृत्ति के गुण, उत्साह, तेज, उद्योग, साहस हैं वैसे ही तप, अनासक्ति, निरहंकारता ये निवृत्ति के भी गुण हैं उनको प्राप्त करने का मार्गदर्शन करनेवाला यदि कोई ग्रंथ होगा तो वह गीता है। इसलिए हमने गीता उठायी है और **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्** समझकर हम घूमते हैं। हम कोई पागल नहीं हैं। हम कृतिभक्ति से गीता के सिद्धान्त ले जाते हैं। कृतिभक्ति में जानेवाले गीता कहते होंगे स्तोत्र कहते होंगे या दूसरा कुछ कहते होंगे, परन्तु वे गीता का तत्त्वज्ञान कहते हैं।

दशम स्कन्ध में कृष्ण भगवान आये हैं। कृष्ण भगवान के आने पर दृष्टि आगे जाती ही नहीं। एकादश स्कन्ध अलौकिक है, लोकोत्तर है परन्तु भागवत का सप्ताह करानेवाले व सुनानेवाले उसको नमस्कार करके आगे चले जाते हैं। एकादश स्कन्ध में निश्चित तत्त्वज्ञान है। हमें एकादश स्कन्ध शुरू करना है। आज दशम स्कन्ध को नमस्कार करेंगे।

एकादशः स्कन्धः

नारायणपर ग्रंथ श्रीमद्भागवत का एकादश स्कन्ध ज्ञान से भरा हुआ है। यह ज्ञान जीवनविषयक है। भारतीय संस्कृति में वित्त देनेवाली जो विचारधारा या धारणा है, उसे कला कहते हैं। चौदह विद्या व चौसठ कलाएं हैं। जीवन उन्नत बनानेवाली जो विचारधारा है, ज्ञान है उसीको हम ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान से भरा हुआ यह एकादश स्कन्ध है।

यहाँ एकत्रित आया हुआ जो वर्ग है, वह सोचनेवाला वर्ग है, सभी अक्लमंद लोग यहाँ बैठे हैं। ज्ञान क्या है? उसकी आवश्यकता क्या है? जीवनविषयक ज्ञान का विचार करना चाहिए। सोचने लगेंगे तो पता चलेगा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वर्तमान स्थिति अच्छी नहीं लगती है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना मनोविज्ञान *(Psychology)* होता है, आवश्यकता होती है। मुक्त व विरक्त लोगों को छोड़ दीजिए। उनके लिए सोचने की आवश्यकता नहीं है। उनको यह बात लागू नहीं पड़ती।

प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि में, अन्तःकरण में अधिक सुख, अधिक ज्ञान, ठोस अस्तित्त्व की अभिलाषा रहती है। और वह अभिलाषा व्यक्ति को नचाती है। मनुष्य छोटा हो या बड़ा, उसकी जो स्थिति है वह उसे अच्छी नहीं लगती है।

परिवारसंस्था, गोत्रसंस्था, जातिसंस्थां, राष्ट्र-संस्था इन सभी संस्थाओं का निर्माण होने का एकमात्र प्रमुख कारण है अधिक सुख की कामना। प्रत्येक व्यक्ति ने परिवार स्वीकार किया। क्यों? शरीर सुदृढ़ कैसे रहेगा? यह क्षुद्र शरीर सुदृढ़ रखना है, जीवन में निश्चिन्त बनना है। धन कमाना है और उसे सँभालना भी है। उससे सुख व प्रतिष्ठा मिलेगी। मनुष्य को उसके अस्तित्व से भी अधिक सुख प्रतिष्ठा देती है। 'मैं हूँ' इससे भी 'मैं धनवान हूँ,

विद्वान हूँ' इसमें मनुष्य को अधिक सुख मिलता है। 'शरीर अधिक सुदृढ़ कैसे रहेगा, उसको सँभालना चाहिए' ऐसा विचार मनुष्य सतत करता रहता है।

खाने के लिए रोटी चाहिए, धन नहीं; परन्तु धन से प्रतिष्ठा मिलती है। खाने के लिए धन चाहिए यह गलत बात है। द्रव्य-वित्त किसे कहते हैं? अर्थशास्त्र में मार्क्स व एंजेल्स ने सम्पत्ति *(Wealth)* रखनी चाहिए या नहीं इसकी चर्चा की है। वे कहते हैं कि वित्त क्या है? समझ लीजिए, दो सौ रूपये मेरा खर्च है, तो मेरे पास वित्त नहीं है। परन्तु, मैं दो सौ रूपये कमाता हूँ और मेरा व्यय एक सौ नब्बे रूपयों का है, तो जो दस रूपये बचते हैं, उसे वित्त कहते हैं। और जो बच गया है उसे सँभालना चाहिए। क्योंकि उससे प्रतिष्ठा मिलती है। सभी के प्रति मनुष्य के मन में असमाधान है। उसे लगता है कि शरीर जैसा है, उससे भी अधिक सुदृढ़ होना चाहिए, निश्चिन्तता मिलनी चाहिए। मनुष्य के मस्तिष्क और अन्तःकरण में जो असमाधान है उसके कारण उसने परिवार-संस्था खड़ी की। सुख की वृद्धि के लिए वह निजी स्वतंत्रता खो बैठा और विवाह किया। वह विवाह के चक्र में फँस गया। वह जानबूझकर उसमें फँस गया। उसमें एक दूसरी बात भी है। **'न एकाकी रमते'-** भी होगी और 'वंशवृद्धि द्वारा मनुष्य-जाति अविच्छिन्नता से चलनी चाहिए' यह प्रकृति का हेतु भी होगा। परन्तु उससे भी अधिक अपनी सुख-वृद्धि की अभिलाषा है। इसीलिए परिवार संस्था खड़ी की है। उसे लगा कि परस्पर समागम में हम आज जितने सुखी हैं उससे अधिक सुखी बनेंगे। वह मेरा ध्यान रखेगी व मैं उसका ध्यान रखूँगा और हम निश्चिन्त बन जायेंगे। शरीर को सँभालने के लिए भी हमें एक दूसरे की आवश्यकता है। परस्पर समागम में अधिक सुख है, यह समझकर **'धर्मे च अर्थे च कामे च नातिचरामि नातिचरामि नातिचरामि'-** कहकर उसने बहुत बड़ा बंधन स्वीकार किया। शपथ लेकर स्वतंत्रता खो दी और पराधीनता स्वीकार की। दयनीयता मान्य की। इस प्रकार प्रत्येक परिवार का प्रमुख दयनीय बना। मराठी भाषा में पति को **'नवरा'** कहते हैं। **न-वरा-** तब तक वह वर-श्रेष्ठ था। उसकी वर-ता चली गयी और वह न-वरा बन गया। उसने दयनीयता का स्वीकार क्यों किया?

अधिक सुख, टिकनेवाला सुख प्राप्त करने के लिए उसने परिवार स्वीकार किया। 'यह मेरी है' इसमें मानसिक सुख है। विश्व में मेरी आवश्यकता किसी को नहीं है, मैं किसे 'मेरा' कहूँ? ज्ञानी सभी को अपना कहता है, परन्तु सामान्य व्यक्ति किसे 'मेरा' कहे? 'मेरा' अथवा 'मेरी' यह एक मानसिक माँग है। 'यह मेरी है' अथवा 'यह मेरा है' इसके बिना मन को सुख ही नहीं है। उसमें श्रेष्ठ सुख है। लड़का या लड़की इसीलिए चाहिए क्योंकि उसे 'मेरा' या 'मेरी' कह सकेंगे। यह मानसिक सुख है। इसीलिए परिवार-संस्था निर्माण की और उसका स्वीकार किया।

परिवार-संस्था का स्वीकार करने पर नीतिमत्ता खड़ी हुई। उसकी नींव में क्या है? अधिक सुख उसकी नींव में है। अधिक सुख के लिए ही नीतिमता का स्वीकार किया है। इस प्रकार परिवार स्वीकारने में कितना बंधन है? बहुत बड़ा बंधन है, परन्तु यह इतना रूढ़ हो

गया है कि हमें बंधन लगता ही नहीं। इससे तटस्थ रहकर, विश्व से तनिक दूर रहकर विचार करेंगे तो पता चलेगा कि कितना बंधन हमने स्वीकार किया है।

परिवार-संस्था के बाद गोत्र-संस्था आयी। एक को स्वीकार करने पर दूसरे को स्वीकार करना ही पड़ता है। गोत्र स्वीकारने के बाद जाति-संस्था खड़ी हुई। उसके बाद राष्ट्र-संस्था निर्माण हुई। जातिसंस्था के आने पर 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय.....' यह नियम आ गये। नियमों को स्वीकार करना पड़ा। जिस समाज में अहिंसा, सत्य, अस्तेय जैसे नियमों को सँभाला जाता है, वही समाज अच्छा है और वही समाज आत्मविश्वासपूर्ण बन सकता है।

अस्तेय- अर्थात् दूसरे के पसीने का मैं कुछ भी नहीं लूँगा। मुफ्त में लेना स्तेय (चोरी) है। 'एक रूपये में लाख रूपये' कहकर मुफ्त का लेने की शिक्षा बड़े-बड़े लोग दे रहे हैं। यही लोग व्यक्ति को, समाज को तथा राष्ट्र को सँभालने निकले हैं। 'हम स्वयं सभी को सँभालते हैं' ऐसा वे मानते हैं और दूसरे के व्यक्तित्व को वे मिटा देते हैं। परन्तु 'स्वयं मरते जा रहे हैं' मरनेवालों को पता नहीं चलता तब तक ही मरना अच्छा है, इसका कारण उनको पता नहीं है कि वे स्वयं मर रहे हैं।

जिस समाज में अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि का लोगों ने प्रभावी ढंग से स्वीकार किया है वह समाज श्रेष्ठ है। वही समाज अधिक आत्मविश्वासपूर्ण, अधिक शूर-वीर, अधिक ज्ञानी और अधिक सुखी बनता है। परिवार आदि सभी संस्थाएं त्याग करने को कहती हैं। परिवार स्वीकारने में बहुत बड़ा त्याग है। सभी नारी-जाति का त्याग करके एक नारी का हाथ पकड़ा है, इसीमें बड़ा त्याग है। इसमें त्याग बड़ा है और स्वीकार छोटा है।

व्यक्ति जितना उन्नत होगा, उतनी उसकी सुख की कल्पना भी उन्नत होगी। इसलिए सुखार्थ जैसी परिस्थिति है। जैसा व्यक्ति है वैसा ही कर्म होता है।

मनुष्य कर्म करता है, परन्तु कर्म का फल तुरन्त नहीं मिलता। किसी पर विश्वास तो करना ही पड़ता है। समझो, ज्येष्ठ या आषाढ़ के महीने में बोया होगा तो फल कब मिलता है? अश्विन महीने में या अन्त में मार्गशीर्ष महीने में! किसी भी कर्म का फल त्वरित नहीं मिलता, विलंब से मिलता है। कर्म और फल के बीच में जो समय है, उस समय में मेरा कर्म सँभालनेवाला और फल देनेवाला कौन है? यह प्रश्न स्वाभाविक निर्माण होता है। कोई एक अतिमानुष, अतीन्द्रिय शक्ति है कि जो मेरा कर्म संभालती है। यह कल्पना आने पर कर्म संभालने के लिए भी देवताओं की आराधना शुरू हुई। यह भी विचारपूर्वक ही हुआ है। किसी ने कहा है इसलिए या किसी ने लादा है इसलिए नहीं हुई। अध्यात्म लादने की बात नहीं है। यह स्वीकार की हुई बात है। कर्मफल मेरे हाथ में ही है तो उसे सँभालनेवाला कौन है? महिम्नस्तोत्र में पुष्पदन्त ने कहा है—

क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं
श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा कृतपरिकरः कर्मसु जनः।।

(हे शंकर! यज्ञों का कर्म समाप्त हुआ तो भी यज्ञ करनेवाले को यज्ञ का फल देने में आप जागृत रहते हैं। विनाश को प्राप्त कर्म का फल आपकी आराधना के बिना कभी नहीं मिलता है। अत: यज्ञ का फल देने के लिए आप जामिन हैं ऐसा समझकर वेदों के वचनों पर विश्वास कर लोग यज्ञ कर्म करने की ओर प्रवृत्त होते हैं।)

इसलिए देवी-देवताओं की आराधना प्रारंभ हुई। इतना ही नहीं, ऐहिक सुख जो आज मुझे मिलता है उससे अधिक अच्छा पारलौकिक सुख है ऐसी समझ आने पर ऐहिक सुख का त्याग करके पारलौकिक सुख के पीछे मनुष्य जाता है।

कर्म आने पर धर्म भी आता है। यदि कर्म का स्वीकार किया हो तो धर्म का स्वीकार करना ही पड़ता है। धर्म का अर्थ क्या है? अभी संविधान *(Constitution)* एक धर्म है। भारतीय दंड विधान *(Indian Penal Code)* भी धर्म है। प्राचीन काल में उसे स्मृति कहते थे। आज भारतीय दण्ड विधान बनानेवाले भी चुनौती देते हैं कि **स्मृतिकार** कहने वाले कौन हैं? परन्तु भारतीय दण्ड विधान बनानेवाले आप कौन हैं? ऐसा हम नहीं पूछते। स्वीकार करते हैं। तुम जिस बात का उल्लंघन करने निकले हो वही बात तुमने भी खड़ी की है, परन्तु तोड़नेवालों को यह मालूम नहीं है। वे यही समझते हैं कि 'हमने सुधार *(Reform)* किया है। परन्तु तुमने एक अलग कानून बनाया है।

कर्म! कर्म! आखिर कर्म किसे कहते हैं? अनियमित और अनियंत्रित हलचल को कर्म नहीं कहते। नियंत्रित, ज्ञानपूर्वक और सप्रयोजन से जो कृति इंद्रियों द्वारा होती है उसे कर्म कहते हैं। उदाहरणस्वरूप, तुम सो रहे हो। तुम्हारी बाजू में हाई कोर्ट का न्यायाधीश सो रहा है। नींद में तुम उसे लात मारोगे तो वह तुम्हारा कर्म नहीं है, तुम पर मुकदमा नहीं चलेगा। उसका कारण तुमने अनियंत्रित, अज्ञान से व हेतुरहित ऐसी क्रिया नींद में की है। गीता ने कहा है- **'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।'** ज्ञान, कर्म अथवा धर्म का कारण असमाधानी जीव है।

असमाधान कम करना या निकाल देना चाहिए। उसके लिए ज्ञान चाहिए या नहीं? कितने ही लोग कहते हैं कि हमें ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। हमें ज्ञान नहीं चाहिए, इसीलिए कहता हूँ कि जो जीवनस्पर्शी होता है उसे ज्ञान कहते हैं।

किसी भी बात की नींव में असमाधान है। जिस स्थिति में है उससे अधिक अच्छी स्थिति चाहिए यह माँग है। प्रत्येक व्यक्ति की माँग उसकी कल्पना के अनुसार होती है। उसके बाद समाज खड़ा होता है। समाज की कुछ धारणा होती है। वह धारणा इतनी दृढ़ बन जाती है कि उसे ललकारना मुश्किल होता है।

मनुष्य में जो असमाधान है वह कम कैसे करना है? यदि विश्वास पैदा हुआ तो असमाधान कम होता है। यह एक मार्ग है। दूसरा मार्ग है, उसमें पूर्णता की कल्पना से असमाधान कम होगा। **'पूर्णमदः पूर्णमिदं...... वशिष्यते।'** विश्वास यह प्रथम बात है और पूर्णता की कल्पना दूसरी बात है। इन दो बातों से असमाधान निकल जाता है।

विश्वास पैदा करना है। उसीको भक्ति कहते हैं। पूर्णता की समझ निर्माण करना, उसे ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार भक्ति या ज्ञान यह बात ऋषियों ने किसी के मस्तिष्क में नहीं रखी है।

परिवार में सबसे अधिक त्याग करना पड़ता है। जितना त्याग अध्यात्म में है उतना ही त्याग ऐहिक जीवन में है। लोग ऐसा समझते हैं कि अध्यात्म में बहुत बड़ा त्याग है। वैसा बिलकुल नहीं है। परिवार में आपने कितनी ही बातें छोड़ दी हैं, छोड़नी पड़ी हैं और आपने स्वयं को मार दिया है। इसीलिए तो आप खड़े हैं। परिवार है, जाति है, समाज है, राष्ट्र है, पर उनमें आप कहाँ हैं? इनमें आप ही खत्म हुए हैं? सबसे अधिक त्याग परिवार में है।

ऐसी एक ग़लत धारणा खड़ी हो गयी है कि परिवार में भोग है और परमार्थ में त्याग है। यह गलतफहमी है। दोनों में त्याग है। दोनों भी त्याग पर ही निर्भर हैं। एक में आप **'अहम्'** को व्यापक करते हैं और दूसरे में उसका संकोच करते हैं।

परिवार में क्या होता है? प्रथम आप अकेले 'मैं' थे। उसके बाद आपने विवाह किया। आप (मैं) और आपकी घरवाली (मेरी) 'दो' बने। यह 'मैं' ही है। उसके बाद आप, घरवाली, आपका लड़का ये सब मिलकर आपका 'अहम्' हुआ। आपके हाथ में केला आया, आपको खाने की इच्छा भी है, फिर भी आप अपने लड़के के लिए भी केला घर ले जाते हैं, कारण लड़का आपका 'मैं' ही है। **'आत्मा वै पुत्र नाम।'** लड़के को केला देने में आपने त्याग ही किया न? आपको भूख लगी थी, केला अच्छा लग रहा था, फिर भी स्वयं न खाकर लड़के के लिए ले गये। यह त्याग ही है। परिवार में आप **'अहम्'** को व्यापक करते हैं और अध्यात्म में उसे संकुचित करते हैं।

अज्ञान और स्वार्थ का त्याग करना है। अज्ञान के त्याग को ज्ञान कहते हैं और स्वार्थ के त्याग को भक्ति कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान और भक्ति अलग कैसे हो सकते हैं? कितने ही लोग कहते हैं 'हम भक्तिमार्गी हैं।' इसका क्या अर्थ है यह मुझे मालूम् नहीं पड़ता। ज्ञान के बिना भक्ति रह ही नहीं सकती।

जब तक मुझे ज्ञान नहीं हुआ कि यह मेरी माँ है, तब तक मैं उसके लिए त्याग भी नहीं करूँगा, उसे प्यार भी नहीं करूँगा। प्यार करने के लिए भी ज्ञान की आवश्यकता है। बिना ज्ञान के प्यार नहीं होता और प्यार होने के बाद त्याग आ ही जाता है। प्यार है और त्याग नहीं, ऐसा हो ही नहीं सकता। अज्ञान के त्याग के लिए ज्ञान और स्वार्थ के त्याग के लिए प्रेम है। स्वार्थ का त्याग आप कब करेंगे? प्रेम होगा तब! आप अपनी सभी जायदाद *(Estate)* लड़के के नाम कर देते हैं, यह क्या कम त्याग है? संन्यासी से भी अधिक त्याग है। घर में रहता है, सब देखना है और 'मेरा नहीं है' ऐसा कहना है। यह कितना त्याग है। संन्यासी तो सब छोड़कर चल पड़ता है। उसके पास तो कुछ नहीं है।

मनुष्य को जिस घर में रहना है वह घर उसका नहीं है। आज मुंबई में तो सभी के घर पत्नी के नाम पर होते हैं। जिस घर में स्वयं रहता है वह स्वयं का नहीं है, पत्नी का है। जिस कुर्सी पर बैठता है वह लड़के के नाम पर है। इस प्रकार सब देखना, करना और अपना नहीं है ऐसा कहना, यह कितना त्याग है! मुझे लगता है कि संन्यासी से भी यह त्याग महान् है।

स्वार्थत्याग के लिए प्रेम होना चाहिए। प्रेम के बिना स्वार्थत्याग अशक्य है। अन्यथा आप स्वार्थ क्यों छोड़ेंगे? किसलिए छोड़ेंगे? छोड़ने का कारण क्या है? प्रत्येक मनुष्य के पास बुद्धि है भले ही कम होगी, छोटी होगी। *Man is an animal but he is rational animal*। मनुष्य अवश्य प्राणी है, पर वह बुद्धिशाली प्राणी है। इसलिए यह जो ज्ञान है, भक्ति है, उनसे असमाधान को कम करना है या निकाल देना है। कारण सभी की नींव में असमाधान है। अब इस असमाधान को कम करने या निकाल देने की आवश्यकता है या नहीं?

लोग पूछते हैं कि एकादश स्कन्ध में क्या है? ज्ञान है। ज्ञान है इसका अर्थ क्या है? अमेरिका कहाँ है और वहाँ के हवाई जहाजों का उड़ने का समय क्या है इस प्रकार का ज्ञान भागवत में नहीं है। लोग कहते हैं, गीता में ज्ञान है। गीता में सभी ज्ञान है। किसी की साइकिल पंक्चर हो गयी तो वह पंक्चर क्या गीता निकाल सकती है? साइकिल पंक्चर हो गयी है तो उसे दुरुस्त करो और आगे बढ़ो। केवल रोते हुए मत बैठो, यह कहनेवाली गीता है। लोग बेवकूफ जैसे बोलते हैं, दिल्लगी उड़ाते हैं। परन्तु दिल्लगी उड़ाने के लिए भी दिमाग होना चाहिए। गीता में सभी ज्ञान है इसका अर्थ यह है कि जीवन में जो असमाधान है उसे कम करने या निकालने का मार्गदर्शन गीता करती है।

परिवार में रहकर जो शान्त रहता है, उसका मूल्य है। जनक राजा के पास शुकदेवजी गये थे। वे अपने को ज्ञानी समझते थे। इस सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा है व किंवदन्ती भी है। उसके अनुसार जनक राजा ने शुकदेव का स्वागत कर उनको अपने सिंहासन पर बिठाया और स्वयं उनके स्थान पर बैठ गये। सिंहासन पर बैठने के बाद शुकदेव ने ऊपर देखा तो एक नंगी तलवार, बाल से बांधी हुई, सिर पर लटक रही है। बाल दिखायी नहीं देता था। शुकदेव जनक राजा के साथ बातें करते थे, परन्तु बार बार ऊपर तलवार की ओर देखते थे। डर लगता होगा कि न जाने कब गिर पड़ेगी। किसने बाँधी है, कैसे बाँधी है कुछ मालूम नहीं है। इस सम्बन्ध में अंग्रेजी में कहा है -*'Uneasy lies the head that wears the crown--'*

मनुष्य को दिन रात डर लगता है कि कहीं गिर जाऊँगा। इसलिए भक्ति की आवश्यकता है, वैसे ही ज्ञान की भी आवश्यकता है। भक्ति और ज्ञान किसी के द्वारा लादी हुई बात नहीं है, वैसे ही उनका अगतिकता से स्वीकार भी नहीं करना है। दोनों को पूर्णतया सोचकर स्वीकार करना है। जब कारण में जायेंगे तब पता चलेगा कि भक्ति क्यों है? जब तक भगवान के प्रति शत प्रतिशत विश्वास पैदा नहीं होता तब तक असमाधान

रहेगा ही। आप जब छोटे थे तब असमाधान नहीं था, कारण आपको जो चाहिए वह माता-पिता देंगे ऐसा विश्वास था। अब आप बड़े हुए। रास्ते में चलते हुए किसी की कमीज देखने पर लगता है कि क्या ऐसी कमीज मुझे मिलेगी? बचपन में विश्वास था कि कमीज चाहिए तो माँ या पिता से कहने पर वे देंगे। इसलिए असमाधान नहीं था। मेरे पिता मुझे सब कुछ ला देंगे ऐसी गलतफहमी सभी लड़कों में होती है। इसीलिए तो वे छोटे से बड़े होते हैं, अन्यथा बड़े कैसे होते? मेरे पिता कमीज ला देंगे इस विश्वास से उसकी बुद्धि में से कमीज चली जाती है और वह खेलने लगता है। वैसा हम नहीं कर सकते। उसका कारण हमारा अपने पिता-(भगवान) के प्रति विश्वास ही खत्म हुआ है। कम हुआ है ऐसा नहीं कहता हूँ, खत्म हुआ है ऐसा कहता हूँ।

यह विश्वास पैदा करनेवाली जो विचारधारा, समझ है उसीको हम ज्ञान, भक्ति कहते हैं। एकादश स्कंध उससे भरा हुआ है।

एकादश स्कन्ध तो ज्ञान से भरा हुआ है। व्यक्ति के जीवन में ज्ञान और भक्ति की नितान्त आवश्यकता है। इतना ही नहीं, वही, उन्नत जीवन की माँग, एकादश स्कन्ध में है। एकादश स्कन्ध में इकतीस अध्याय हैं और सभी स्कंध तथा अध्यायों में मुक्ति की मीमांसा हैं।

मुक्ति शब्द सुनते ही हम घबड़ा जाते हैं। न मालूम मुक्ति क्या है? निर्वाण है या ब्रह्मनिर्वाण है? गीता कहती है कि 'ब्रह्मनिर्वाण' है। बुद्ध जैसे लोग कहते हैं, 'निर्वाण है।' मैं कुछ नहीं हूँ, मैं कुछ नहीं हूँ यह कैसे हो सकता है? 'हूँ' आ गया तो 'नहीं' कैसे हो सकता है? यह एक बड़ी बात है, इसलिए मुक्ति से हम घबड़ा जाते है।

सभी अध्यायों में मुक्ति की मीमांसा हमें दिखायी देती है। मुक्ति का अर्थ क्या हैं? कर्मबन्धन से मुक्ति प्रथम मुक्ति है। उसमें कर्मों की आवश्यकता ही खत्म हो जाती है। व्यक्ति कर्म कब तक करता है? जब तक अपूर्णता है तब तक! कामना कब निर्माण होती है? जब तक अपूर्णता है। मुझ में कुछ कमी है, ऐसा जब तक लगता है, तब तक कर्म होता रहता है। कर्म का कारण ही अपूर्णता है। बिना अपूर्णता के कर्म ही नहीं होता। सुबह उठने पर प्रथम अपूर्णता लगती है कि अब मुझे 'चाय' चाहिए। बिना चाय के मैं नहीं रह सकता। इसलिए कर्म करने का प्रयत्न शुरू होता है। यह जो अपूर्णता है, यह जो कर्म करने की आवश्यकता है उन्हें खत्म करने का नाम मुक्ति है।

कर्मबन्धन से मुक्ति पाना है, तो क्या यहाँ से चले जायँ? जब तक कर्म होता है तब तक कामना होगी और जब तक कामना होगी तब तक अपूर्णता रहेगी। यह सब चलता ही रहेगा। भगवान भी इस जगत् में आते हैं तब कर्म करते हैं। फिर **'जन्म कर्म च मे दिव्यं-'** ऐसा लिखते हैं। वे लिखते हैं वह सच है, पर कर्म तो होता ही है। कर्म करके भी मुक्त रहने का नाम मुक्ति है। कर्मबन्धन से मुक्ति में कर्म की आवश्यकता ही खत्म हो जाती है। कर्म करके मुक्ति में परिणाम खत्म हो जाता है। कम करने पर उसका परिणाम

मिलता है। बाह्य दृष्टि से कुछ मिलता है, उतना ही वह परिणाम नहीं है। हम जो कर्म करते हैं उसका सिक्का *(Imprint)* आता है, इसलिए परिणाम खत्म होना मुक्ति है। इस प्रकार मुक्ति का अर्थ है, कर्मबन्धन से मुक्ति और कर्म करके परिणाम से भी मुक्ति।

व्यावहारिक जीवन में परिवारिक लोगों के लिए मुक्ति यानी दुःख, दैन्य व दारिद्य से मुक्ति। प्रत्येक व्यक्ति परेशान है। उसकी परेशानी कौन सी है? दुःख! कुछ दुःख आये हुए हैं और कुछ आनेवाले हैं। उनकी विवंचना-भ्रम यही व्यक्ति का दुःख है। इस दुःख से मुक्ति चाहिए। इसलिए भक्ति की, किसी भी अवस्था में नितान्त आवश्यकता है। दुःख से मुक्ति का अर्थ दुःख आयेंगे ही नहीं, ऐसा नहीं है। दुःख लगेगा ही नहीं? दुःख आना अलग बात है और दुःख लगना अलग बात है। जीवन का दृष्टिकोण *(Outlook)* बदलेगा तो दुःख आयेगा पर लगेगा नहीं। दुःख, दैन्य, दारिद्य को निकालना पड़ेगा।

मनुष्य दो प्रकार से दीनता स्वीकारता है। 'मुझमें कुछ कमी है' इसलिए और 'मुझ से दूसरे के पास अधिक है' इसलिए मनुष्य दीन बनता है। यह दीनता आत्मिक पाप है। दारिद्य केवल जेब का दारिद्य नहीं। दारिद्य भाव का, विचारों का, संस्कारों का और ज्ञान का भी होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार का दारिद्य है। मन का दारिद्य, बुद्धि का दारिद्य, यह इन सबको निकालना पड़ेगा। भगवान के दरबार में जाना हो तो उनके दरबार में शोभा दें ऐसे वस्त्र पहनकर जाना चाहिए। दुःख, दैन्य, दारिद्य से मुक्ति यह मुक्ति की मीमांसा है। ऊपर से नीचे तक आयेंगे तो भी मुक्ति शब्द सुनकर घबड़ाना नहीं चाहिए।

रोग, भय और विकार इन तीनों से जीवन त्रस्त बनता है, क्षुद्र बनता है। इसलिए इन तीनों से मनुष्य को मुक्ति चाहिए। रोगमुक्ति यह शारीरिक मुक्ति का लक्षण है, भय और विकारमुक्ति मानसिक मुक्ति के लक्षण हैं।

रात-दिन घबड़ाया हुआ मनुष्य कुछ सत्कर्म भी करता है, परन्तु वह भय से करता है। वह भगवान के पास भी भय से ही जाता है। वह कुछ दान-धर्म भी भय से करता है। उसे लगता है कि अभी सत्कर्म नहीं करूँगा तो मरने के बाद कौन सी अवस्था होगी! भय, भय, भय! इसलिए हम सत्कर्म भी करते हैं, परन्तु उस सत्कर्म में सुगन्ध नहीं है, कारण सत्कर्म की नींव में भय है। गीता में भगवान ने दैवी सम्पत्ति का वर्णन किया है, उसमें सर्वप्रथम शब्द **'अभयम्'** है। मनुष्य को भयमुक्ति और विकार मुक्ति मिलनी चाहिए या नहीं? मुझे इतना ही कहना है कि 'मुक्ति' शब्द से घबड़ाने का कारण नहीं है।

एकादश स्कन्ध में मुक्ति की मीमांसा है। आप जिस सीढ़ी पर होंगे वैसी आपकी मुक्ति होगी। रोग, भय और विकार से मुक्ति आवश्यक है। मुक्ति की मीमांसा का अर्थ ही यह है कि प्रवृत्ति पर कर्म को निवृत्ति पर कर्म करने का मार्ग बताया है। कर्म क्या किसी दिन निवृत्ति पर हो सकता है? यह तो **'वदतो मे जिह्वा नास्ति'** मै बोलता हूँ पर मुझे जीभ नहीं है' जैसी बात हुई। निवृत्ति होगी फिर प्रवृत्ति नहीं होगी। कामना नहीं होगी,

वासना नहीं होगी। फिर कर्म क्यों, किसलिए, कैसे? ये प्रश्न खड़े होते हैं। यह एक दार्शनिक उलझन है।

जब हम बोलेंगे कि निष्काम कर्म करना चाहिए, तब दार्शनिक लोग- जो अति बुद्धिमान- *(Highly intellectual)* हैं वे हँसने लगेंगे। निष्काम और कर्म? यह तो अशक्य है। यदि कामना ही नहीं होगी तो कर्म शुरू कैसे होगा? अत: निष्काम कर्म का अर्थ क्या है यह समझाना पड़ेगा। यह एकादश स्कन्ध में समझाया है। कर्म निवृत्ति पर कैसे करना और सकाम भक्ति से निष्काम भक्ति तक कैसे जाना यह भी एकादश स्कंध में बताया गया है।

प्रारंभ में भक्ति सकाम ही होती है। सकाम भक्ति होती है इसमें कुछ गलत नहीं है। सकामता त्याज्य अथवा तिरस्करणीय नहीं है। परन्तु उससे आगे जाना है या नहीं? सकाम भक्ति से प्रारंभ होता है, परन्तु उसके बाद कदर *(appreciation)* के रूप में भक्ति होनी चाहिए। फिर भगवान के प्रति बौद्धिक प्रेम *(Intellectul love towards God)* होना चाहिए। प्रारंभ में माँ अच्छी लगती है। क्यों? वह लड्डू देती है इसलिए। माँ यदि लड्डू नहीं देगी तो वह अच्छी नहीं लगेगी। माँ से कुछ अपेक्षा *(expectation)* है, परन्तु उससे आगे बढ़ेंगे या नहीं? सकाम भक्ति से निष्काम भक्ति पर कैसे जाना यह इस स्कन्ध में समझाया गया है। इस दृष्टि से देखा जाय तो सबसे अधिक आवश्यक, महत्त्वपूर्ण, वर्णनीय, चिंतनीय, मननीय, आचरणीय स्कन्ध कोई होगा तो वह एकादश स्कन्ध है। उसमें जीवन के अन्तिम विकास की सीढ़ी बतायी गयी है। परन्तु हम तो 'एकादश स्कन्ध ठीक है, उसमें ज्ञान भरा हुआ है' ऐसा समझकर उसे छोड़ देते हैं।

लोग ज्ञान का अर्थ ऐसा समझते हैं कि '**घटत्वाच्छिन्न पटः** और **पटत्वाच्छिन्न घटः**।' 'घट पट' की छटपट। वास्तव में ज्ञान और विज्ञान से भरा हुआ एकादश स्कन्ध हैं। इसीलिए परम भक्त एकनाथ महाराज ने एकादश स्कंध पर ही भागवत लिखा है, वह 'एकनाथी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। एकनाथ महाराज परम वैष्णव, परम भक्त थे। उनके घर त्रैलोक्यनाथ भगवान पानी भरते थे। 'इसके घर में काम करूँगा तो शुद्ध होऊँगा' ऐसा भगवान को लगता था। हम कल्पना भी नहीं कर सकते। वे इतनी ऊँचाई पर हैं कि हम वहाँ जायेंगे तो हमारा श्वासोच्छ्वास ही बंद हो जायेगा। ऐसे एकनाथ महाराज ने एकादश स्कंध पर ग्रंथ लिखा है। मुक्ति की मीमांसा के साथ ही अलग-अलग रूप में व्यक्ति का विकसित रूप भी इस स्कंध में दिखाया गया है।

एकादश स्कंध यानी गीता का विस्तृत संस्करण *(enlarged edition)*। इसलिए गीता पढ़नेवालों का एकादश स्कंध पर प्रेम होना चाहिए। गीता में मोहग्रस्त अर्जुन है जिसे भगवान ने गीता सुनायी है। एकादश स्कंध में भक्ति-सम्पन्न, भक्ति-पारंगत उद्धव को भगवान ने गीता सुनायी है। अर्जुन को सुनायी हुई गीता भगवद्गीता के रूप में है। उद्धव को सुनायी हुई गीता एकादश स्कंध में रखी है जिसे 'उद्धव-गीता' कहते हैं।

उद्धव महान् भक्त थे। उद्धवगीता में पारिवारिक लोगों के अनेक प्रश्न खड़े किए गये है। वास्तव में लोग ऐसा समझते हैं कि परिवार को छोड़कर जो बैठा हुआ है वह भक्त! उसे परिवार की आसक्ति नहीं है, शरीर की आसक्ति नहीं है- यानी नहीं होनी चाहिए, हो तो दिखानी नहीं चाहिए। ऐसे लोगों को भक्त कहते हैं। इसलिए कोई भक्त बीमार पड़ा और औषधि लेना हो तो लोगों को लगता है, अरे! यह भक्त है फिर भी औषधि लेता है? परन्तु भक्त औषधि लेता है उसमें बुरा क्या है? जिस प्रकार वह अन्न लेता है, वैसे औषधि भी लेता है। लोगों की एक गलत धारणा बन चुकी है कि भक्त को दवा नहीं लेना चाहिए। यदि वह औषधि लेता है तो उसका भगवान पर कम विश्वास है। उनसे पूछना चाहिए कि औषधि किसने बनायी है? जिस प्रकार अन्न में प्रोटीन, विटामिन होते हैं वैसे औषधि में भी गुण हैं। वह भी भगवान ने ही बनायी है। परम भक्त भी दवा लेता है। उसे लगता है कि मेरी यह क्षुद्र व्यथा के लिए मैं भगवान को परेशान नहीं करूँगा।' भगवान की बनायी हुई दवा मैं लूँगा और अच्छा हो जाऊँगा। परन्तु परम भक्त औषधि नहीं लेगा ऐसी मान्यता प्रचलित हो गयी है। इसीको कलियुग कहते हैं।

उद्धव ने उद्धवगीता में अनेक पारिवारिक प्रश्न खड़े किये। अर्जुन ने भगवान से पूछा कि क्या करूँ? कैसे करूँ? हेम्लेट की स्थिति और अर्जुन की स्थिति समान है। क्या करूँ? कैसे करूँ? यह अर्जुन का प्रश्न है। उद्धव का प्रश्न है कि भक्ति कैसी करनी चाहिए और दूसरा प्रश्न है कि भक्ति क्यों करनी चाहिए? अर्जुन का यह भी प्रश्न है कि कर्म क्यों करना है और कैसे करना है? एकादश स्कंध समझाता है कि भक्ति और कर्म अलग-अलग हो ही नहीं सकते। कर्म का ही रूप भक्ति है और भक्ति का ही रूप कर्म है। इसका निरीक्षण करने पर एक बात स्पष्ट होती है कि सकाम और साहंकार कर्म का निष्काम और निरहंकार कर्म में रूपान्तर करेंगे तो वह कर्म श्रेष्ठ है। उसीको भक्ति कहते हैं। कर्म हमेशा साहंकार ही होता है। इंद्रियाँ, बुद्धि, कामना, वासना और अहंकार का जब तक सम्बन्ध नहीं होता तब तक कर्म नहीं होता।

वैसे ही योग-सिद्धि में फँस जाने के बाद वही शक्ति सभी के लिए होनी चाहिए ऐसा आग्रह दिखायी देता है। योग-सिद्धि व्यक्ति के लिए मर्यादित व सीमित नहीं रहती। उसका लाभ सभी को मिलेगा, वैसा करने का आग्रह भी दिखायी देता है। तीसरी बात, सर्वज्ञत्व विश्व ज्ञान से ही होगा। इसलिए विश्व का ज्ञान होना चाहिए।

एक बार वसिष्ठ जा रहे थे तब उनकी चप्पल की गाँठ टूट गयी। सामने ही मोची था, उसके पास जाकर चप्पल की गाँठ मारने को कहा। मोची के दिमाग में अहंकार आया कि वसिष्ठ कितने भी बड़े होंगे, राम के गुरू होंगे, परन्तु चप्पल की गाँठ कैसे मारनी है उनको कहाँ मालूम है? वह तो मैं ही जानता हूँ। वसिष्ठ को इस अहंकार का तुरन्त पता चला। उनके हाथ में दर्भ थी। उन्होंने दर्भ को गाँठ मारकर मोची को दिखायी और कहा कि इस प्रकार गाँठ मारनी चाहिए। इसीलिए तो गीता में कहा है–

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

(जिसे जानकर संसार में फिर और कुछ जानने योग्य शेष नहीं रहता)।

सर्वज्ञत्व का ज्ञान विश्वज्ञान से होता है, परन्तु स्वरूप ज्ञान का अभाव होने से विश्वज्ञान भी मिथ्या है। जिसने दार्शनिक विचारों का अभ्यास किया होगा उसे ही यह मालूम पड़ेगा। हम भौतिक पदार्थों का मिथात्व मानते है, परन्तु ऐसा नहीं है। ज्ञान भी मिथ्या है। स्वरूप ज्ञान होगा तो विश्वज्ञान का मिथ्यात्व मिटकर **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** यह ज्ञान हो जाता है, यह श्रुति का सिद्धान्त सिद्ध हो जाता हैं। एकादश स्कंध में यह सब बहुत सुंदर रीति से कहा गया है। ज्ञान में जिस प्रकार विश्वज्ञान होना चाहिए, वैसे ही स्वरूप ज्ञान भी होना चाहिए। एकादश स्कंध यह सुंदर शिखर जैसा है। उसमें भिन्न-भिन्न रूप में यह सिद्धान्त समझाया गया है। उसके बाद एकादश स्कंध पूर्ण होता है।

एकादश स्कंध के प्रथम अध्याय में ऐतिहासिक बात है। जो घटना हुई है उसमें सामाजिक और वैयक्तिक प्रश्न की समझ है। यादव कुल के नौजवान उन्मत्त बने और ऋषियों का अपमान करते थे। उसका परिणाम यादवकुल नष्ट हुआ। पहले अध्याय में यह बात कथा के रूप में आयी है। कथा तो सभी को मालूम है, इसलिए यहाँ नहीं दोहराता हूँ।

सम्पत्ति और वैभव सभी को चाहिए। किसे नहीं चाहिए? परिवार चलाने वाले परिवार के लिए सम्पत्ति माँगते हैं और परिवार छोड़कर मठ चलाने वाले मठ के लिए सम्पत्ति माँगते हैं। खिलाने के लिए जो सम्पत्ति मांगता है उसे संन्यासी कहते हैं और अपने लड़कों को खिलाने लिए जो सम्पत्ति मांगता है उसे पारिवारिक संन्यासी कहते हैं। इन दोनों में कौन सा फर्क़ है? इसका अर्थ इतना ही है कि सम्पत्ति को गाली देना बेकार है।

हमारे शास्त्रकारों, ऋषियों ने सम्पत्ति को गाली तो दी ही नहीं, अपितु, उनको सम्पत्ति मान्य है। महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती का पूजन करने के बाद ही मुक्ति के मार्ग पर जा सकते हैं, ऐसा उनका आग्रह है। सम्पत्ति सर्वमान्य है।

महान् कर्मों का कारण सम्पत्ति है। चाणक्य के सूत्र में प्रथम कहा है, **'धर्मस्य मूलं अर्थः। अर्थस्य मूलं राज्यं। राज्यस्य मूलं इन्द्रियनिग्रहः। इन्द्रियनिग्रहस्य मूलं वृद्धोपसेवा--'** धर्म का मूल क्या हैं? अर्थ! अर्थ प्रथम होना चाहिए। यह **'अर्थस्य मूलं राज्यं** और **राज्यस्य मूलं इन्द्रियनिग्रहः-'** इतना सुंदर तत्त्वज्ञान है। परन्तु वह राज्यशास्त्र *(Politics)* और अर्थशास्त्र *(Economics)* का विषय होने के कारण जब वह विषय आयेगा तब बोलेंगे। पर वित्त यह एक शक्ति है। वित्त होना ही चाहिए। वित्त को बेकार कहकर नहीं छोड़ना चाहिए। वित्तशक्ति आपने किस काम में लगायी, कैसे लगायी इस पर सब निर्भर है।

अर्जुन के अनेक नाम हैं, उनमें से भगवान ने कौन सा नाम चुना? **'धनंजय' 'पाण्डवानां धनंजयः'** ऐसा भगवान ने गीता के विभूतियोग में अर्जुन के लिए कहा है।

जिसने धन कमाया वह अर्जुन मुझे अच्छा लगता है, ऐसा कहा है। यह विचार करने जैसी बात है। जिसने धन को फेंक दिया वह भगवान को अच्छा लगता है ऐसी हमारी समझ है। परन्तु यह समझ केवल पुस्तकों में रहती है। कभी व्यवहार में चरितार्थ होती ही नहीं। 'परिवार-संसार मिथ्या है' ऐसा कहनेवाला भी धन चाहता है क्योंकि उसे भी अपना परिवार चलाना है। 'तू माया में फँस गया है, इसमें कोई अर्थ नहीं है' ऐसा कहता है और अपना परिवार चलाता है

जो वास्तव है, हकीकत है उसका हमें सामना करना चाहिए। *We must face the Reality*- वित्त गलत नहीं है, माया नहीं है। परन्तु वित्त, वैभव, सम्पत्ति आने के बाद आलस्य, रोग, भोग, विलास आदि उत्पन्न होते हैं और वे ही समाज को विपत्ति और विनाश की ओर ले जाते हैं। सम्पत्ति की नितान्त आवश्यकता है।

संपत्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। श्रीसूक्तं में उसका वर्णन है। **'विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं माधवीं माधवप्रियाम्। लक्ष्मीं प्रियसखीं देवीं नमाम्यच्युतवल्लभाम्'** परन्तु आज, सम्पत्ति, वैभव, आलस्य, रोग भोग विलास उत्पन्न करके व्यक्ति और समाज को विनाश की ओर ले जाती है, इसका दर्शन यादवकुल-संहार में दिखाया है। सम्पत्ति जितनी आवश्यक है उतनी ही आवश्यकता, वह सम्पत्ति क्या है, किसकी है, किसलिए है उस शक्ति से क्या करना है इस ज्ञान की है। यह ज्ञान होना चाहिए। उपदेश प्रथम किसे देना चाहिए? जो भगवान के प्रथम श्रेणी के लाड़ले लड़के हैं उनको देना चाहिए। हमारे शास्त्रकारों ने लिखा है, **'राजपुत्रतत्त्वोपदेष्टव्यः'** राजपुत्रवत् जिसके पास धन-वैभव है उसको प्रथम उपदेश देना चाहिए। परन्तु आज जिसके पास धन दौलत है वह एक भवन का निर्माण करा देता है ताकि गरीबों को धार्मिक बातें सुनने के लिए स्थान हो। स्वयं उसे या उसके लड़कों को नहीं सुनना है, सुनने के लिए समय नहीं है। उसे पता नहीं है कि इसके कारण वह, उसका संपूर्ण कुल विनाश और विपत्ति की ओर जायेगा। इस जगत में कानून का भंग करनेवाले को क्षमा नहीं है। विश्व के चिरन्तन नियमों का उल्लंघन करने वाला, कृष्ण भगवान का कुल होगा तो भी खत्म हो जायेगा। ऐसा दर्शन एकादश स्कंध के प्रथम अध्याय में होता है।

सम्पत्ति की जितनी आवश्यकता है उतनी ही आवश्यकता विवेक की भी है। उन्मत्तता अविवेक से आती है। वैसे ही उन्मत्तता यादवों के नवयुवकों में आयी और उन्होंने ऋषियों का अपमान किया। इस अपमान से क्रोधित होकर ऋषियों ने उनको शाप दिया। क्या यह सच होगा? हजारों वर्षों पूर्व का लेखन ऐसा ही है। और क्या लिखेंगे? ऋषि और बाह्मण ये समाजोपयोगी शक्ति हैं। निम्नस्तर से उच्चस्तर तक समाज का अत्यन्त आवश्यक वर्ग कोई होगा तो वह ब्राह्मण और ऋषि हैं। समाज आज उनको समाजोपयोगी शक्ति नहीं मानता है। उल्टे उनको समाज भिखारी ही समझता है। लोगों को लगता है कि ऋषि-ब्राह्मणों में से कुछ कर्मकाण्ड करा लेंगे तो अपनी मुक्ति हो जायेगी। वे विचार ही नहीं करते कि ब्राह्मण मन्त्र बोलेगा उससे मुक्ति कैसे होगी? उनको मुफ्त में मुक्ति लेनी है।

वे गुरु के पास जाकर कंठी बँधवाते हैं, इसका कारण वैसा करने से कंठी बाँधने वाले गुरु पर सारा उत्तरदायित्व आ जाता है। ये लोग इसीलिए यज्ञोपवीत नहीं लेते, कारण यज्ञोपवीत लेने से स्वयं पर उत्तरदायित्व आता है। उसकी अपेक्षा गुरु से कंठी बंधवाने से गुरु उत्तरदायित्व लेता है तो उसमें क्या बुरा है? स्वयं तो उत्तरदायित्व से छूट जायेंगे! आज ऐसी परिस्थिति आ गयी है।

ऋषि और ब्राह्मण समाजोपयोगी-परिवारोपयोगी शक्ति हैं। इसी कारण गुरु, ब्राह्मण, ऋषि श्रेष्ठ समझे गये हैं, कारण उनको श्रेष्ठ मानेंगे तभी ज्ञान प्राप्त होगा। इसीलिए कहा है-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

जब तक कहनेवाले के प्रति आदर व प्रेम है तभी तक उसके कहने का परिणाम मन और बुद्धि पर होता है। जिस दिन उसके प्रति प्रेम, आदर तथा भावना में कमी आयेगी उस दिन से, वह कितना भी महान् तत्वज्ञान कहता हो, उसका परिणाम नहीं होगा। अपने मन, बुद्धि पर परिणाम हो इसलिए गुरु को महान् मानना है।

दूसरी बात यह है कि गुरु, ऋषि, ब्राह्मण को महान् क्यों माना है? जिनके पास प्रचण्ड बुद्धि है वे ऋषि या ब्राह्मण समाज का शोषण *(exploitation)* कर सकते हैं या नहीं? कर सकते हैं। भौतिक सुखों को कमाने में वे अपनी बुद्धि प्रयुक्त कर सकते हैं या नहीं? कर सकते हैं? इतना ही नहीं, सबसे अधिक अच्छी तरह से अपनी बुद्धि चला सकते हैं। परन्तु वे अपनी बुद्धि अपने सुखोपभोग के लिए उपयोग नहीं करते। समाज का कल्याण हो, विकास हो इसलिए वे अपनी सर्व शक्ति प्रयुक्त करते हैं और वह भी निरपेक्ष रहकर करते हैं।

आपने साम्यवादियों का तत्वज्ञान पढ़ा होगा तो आपको मालूम होगा। उनका कहना ऐसा है कि प्रत्येक काम वित्त के लिए किया गया तो वित्त का संग्रह *(accumulation)* हो जायेगा। तो क्या करना चाहिए? कर्म की प्रेरणा बदलनी चाहिए। इसलिए उन्होंने सुझाया है कि कर्म वित्त के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिष्ठा-*(Social appreciation)* प्राप्त होने के लिए करना चाहिए। उनके पास कोई परम्परा नहीं है और उनको भगवान या देवता नहीं मानना है। यह सब ये लोग छोड़कर बैठे हैं। वे कहते हैं कि जो काम करेगा उसे सामाजिक प्रतिष्ठा दे देंगे तो वह पैसा नहीं माँगेगा। ब्राह्मण को इसी कारण महत्ता आ गयी। ब्राह्मण समाज का काम निरपेक्ष भाव से करता था इसलिए उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। इस ब्राह्मण को सँभालना चाहिए, उसकी उपेक्षा या निंदा करने से क्या होगा?

यादव कुल का विनाश हो गया। ऋषि की उपेक्षा और निंदा जिस समाज ने, जिस काल में की है उसी काल में उस समाज का नाश हुआ। यादव कुल का नाश हो गया यानी क्या सभी यादव मर गये? लोग ऐसा समझते हैं। उसका अर्थ समझाने वाले लोग

लोग बहुत ही कम होते हैं, इसलिए बहुत कठिनाई होती है। यदि सभी यादव मर गये होंगे तो यादव आये कहाँ से?

नये यादव कहाँ से निर्माण हुए? कुल का अर्थ क्या होता है? यादव कुल अर्थात् कुल की जो खानदानी है वह ख़त्म हुई। 'कुल' यानी खानदानी, घर! यादव कुल का नाश हुआ यानी यादवों में से घर चला गया। ब्राह्मण चला गया और वैभव आ गया। वैभव से ऋषि की उपेक्षा हुई। आज हम ऋषि की निंदा नहीं करते, परन्तु उपेक्षा करते हैं। किसी को कोई ऋषि याद नहीं है। ऋषियों ने क्या किया यह सोचने के लिए किसी को समय नहीं है। इसका कारण उत्पादक श्रम *(Creative Labour)* और उत्पादक शिक्षा (*Creative Education)* के पीछे ही संपूर्ण समाज पड़ गया है। परिणाम क्या हुआ? कुल खत्म हो गया है। गीता कहती है-

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।१-४३।।
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।१-४४।।

(...शाश्वत जातिधर्म व कुलधर्म उध्वस्त होते हैं। हे जनार्दन! जिनके कुलधर्म नष्ट हुए हैं ऐसे मनुष्यों को निश्चित नर्कवास प्राप्त होता है ऐसा हम सुनते आये हैं।)

नरक पैदा होता है। नरक का अर्थ क्या है? **'कुत्सितः नरः नरकः'** मनुष्य कुत्सित बनता है। लोग संस्कृत नहीं पढ़ते, व्याकरण मालूम नहीं है, फिर जो अर्थ दिमाग में आ जाता है वह करते हैं। नरक में जाता है यानी क्या गन्दे स्थान में रहता है? क्या नाली में रहता है? नरक यानी प्रत्येक व्यक्ति कुत्सित बन जाता है।

यादव कुल नष्ट हो गया अर्थात् यादवों की खानदानी नष्ट हुई। विशिष्ट विचार व विशिष्ट आचार से खड़े रहे हुए समूह को ही परिवार कहा जाता है, उसीको कुटुंब-व्यवस्था कहा जाता है। जिसमें एक विशिष्ट विचारधारा और विशिष्ट आचार संपदा नहीं है वह परिवार नहीं, घर नहीं है। *This is not family*। सौराष्ट्र के गाँवों में जिनका कोई मालिक नहीं है, ऐसे जानवरों का एक स्थान होता है उसको डिब्बा कहते हैं। लावारिस जानवरों को उसमें डाल देते हैं, उनको खिलाते हैं। वैसा ही यादव कुल का हुआ। घर खत्म हुआ यानी सहकार, प्रेम, त्याग इत्यादि जिन गुणों पर घर खड़ा रहता है, वे गुण नष्ट हो गये। चार दीवारों पर खड़ा रहता है उसे घर नहीं कहते, उसे डिब्बा कहते हैं। घर में सहकार, प्रेम और त्याग अपेक्षित है

विचारपद्धति, आचारपद्धति नहीं रही, त्याग, प्रेम, सहकार नहीं रहा। ऐसी अवस्था जब होती है तब कुलध्वंस हुआ ऐसा कहा जाता है। इस अर्थ में यादव कुल का संहार हुआ। कारण ऋषिशक्ति, ब्राह्मणशक्ति ये – जो समाजोपयोगी शक्तियाँ हैं उनको यादव कुल ने वित्त, वैभव से उन्मत्त बनकर छोड़ दिया। उल्टे उन शक्तियों को वे भिखारी समझने लगे। आज भी वैसा ही समझते हैं। आज ब्राह्मण को नमस्कार करते हैं क्योंकि वैसा कहा है,

लिखा है इसलिए ब्राह्मण को बुलाते हैं, बैठने को आसन देते हैं, परन्तु दैवी भिखारी-*(Divine begger)* समझते हैं। यद्यपि दैवी और भिखारी ये दो शब्द साथ में ही नहीं बैठते हैं, परन्तु वस्तुस्थिति समझाने के लिए ये शब्द प्रयुक्त किये हैं। इस अर्थ में यादव कुल का संहार हुआ ऐसा प्रथम अध्याय में लिखा है।

उसके बाद दूसरे अध्याय में समाजिक जीवन और वैयक्तिक जीवन का जो प्रश्न है उसे समझाया है।

'यादव कुल का संहार क्यों सुनना है? यह कुल का संहार हो रहा है। मनुष्य कुल का आज संहार हो रहा हैं। आज समाज में एक ही बात चल रही है आर्थिक विकास *economic development* की। दूसरी बात ही नहीं, दूसरी दृष्टि ही नहीं। सभी दान देनेवाले लोग भी क्या कहते हैं, मालूम है? आर्थिक उन्नति होनी चाहिए। *(Economics)* किसे कहते हैं? अर्थशास्त्र *(Economy)* क्या है? और विकास *Development* क्या है? इन तीनों शब्दों के साथ जिसका सम्बन्ध नहीं है ऐसी बैठक पर से बोलता है, आर्थिक विकास होना चाहिए!'

ब्राह्मण एक शक्ति है। वह जिस समाज से निकल गयी या निकाली गयी, उसकी उपेक्षा की गयी उस समाज का अध:पतन निश्चित है। आज घर-घर में ऋषि की निंदा नहीं होती, परन्तु उसका सम्मान भी नहीं होता। उसकी उपेक्षा अवश्य हो रही है। लोगों को पता ही नहीं है कि भरद्वाज ने क्या किया? अत्रि ने क्या किया? और लोगों को जानना भी नहीं है। ऋषियों ने तप किया इसका अर्थ क्या है? क्या वे नाक पकड़कर बैठे थे? **'तपो द्वन्द्वसहनम्'**- जानबूझकर, स्वयं को आवश्यकता न होने पर भी दु:ख उठाना, इसे तप कहते हैं। आया हुआ दु:ख सहन करना यह भिन्न बात है। दु:ख तो प्रत्येक संसारी मनुष्य पर आता है। परन्तु निश्चित ध्येय के लिए दु:ख उठाना और उसे सहन करना इसीको तप कहते हैं। यह बात प्रथम अध्याय में समझायी गयी है।

दूसरे अध्याय में नारदजी आते हैं। घर में वसुदव व देवकी हैं। उनके पास नारद आते हैं। वसुदेव नारद की पूजा करते हैं। वसुदेव यानी परब्रह्म-श्रीकृष्ण के पिता। ऐसे वसुदेव नारद का सम्मान करते हैं। इसमें सन्त माहात्म्य समझाया गया है। आज कितने ही बड़े क्यों न हो, फिर भी सन्त आपसे महान् हैं। वसुदेव कभी नारद को देखते ही भाव विह्वल होते हैं। मेरा पुत्र तो भगवान है' ऐसा वसुदेव को नहीं लगता।

सन्त की महत्ता समझाते समय सन्त भगवान से भी श्रेष्ठ हैं ऐसा समझाया है। सन्त पूजा करके उनके-(नारद) पास वसुदेव ने भागवत धर्म का उपदेश माँगा। इस अध्याय में वेदव्यास ने वसुदेव के मुँह से कहलाया है कि सन्त भगवान से भी श्रेष्ठ है और सबसे पवित्र कोई होगा तो वह सन्त है।

भारतीय संस्कृति में तीन चीजें पवित्र मानी गयी हैं- काशी, हिमालय और गंगा। इन तीनों से भी सन्त अधिक पवित्र हैं। **काशी मरणान्मुक्तिः**- काशी में मरने पर मुक्ति मिलती

है, परन्तु मरने के लिए काशी जाना पड़ता है। कितने ही लोग काशी में रहने के लिए जाते हैं। एक भाई जीवन के अन्तिम दिनों में काशी में रहने के लिए गये। हेतु यह था कि काशी में मृत्यु हुई तो मुक्ति मिलेगी। चार वर्ष काशी में रहे, मगर मृत्यु नहीं हुई। इधर मुंबई में एकदम नजदीक के सम्बन्धी के यहाँ विवाह प्रसंग आया इसलिए वह भाई तीन दिन के लिए मुंबई आया और वहीं मर गया। काशी में मृत्यु के बाद मुक्ति मिलती है ऐसा कहा जाता है। सन्तों का विचार यदि दिमाग में आया तो दुःख, दैन्य, दारिद्र्य और कर्मबन्धन से मुक्ति मिलती है। इसलिए काशी से भी सन्त अधिक पवित्र हैं ऐसा लिखा है।

हिमालय पवित्र है, परन्तु हिमालय के पास जाने के लिए वित्त चाहिए। सन्त के पास जाने के लिए वित्त नहीं लगता, अपितु भाव लगता है और भाव सबके पास होता है।

गंगा पवित्र है, परन्तु वह अदृष्ट फलसूचक है। गंगा मरने के बाद मुक्ति देती है, परन्तु सन्त के विचार व सान्निध्य से जीवित रहते हुए भी दैवी, सुखी, आनंदी तथा तेजस्वी हो सकते हैं। इसलिए भागवतकार ने वसुदेव के मुँह से नारद से कहा है कि भगवान तो सभी को सुख व दुःख देते हैं, परन्तु आप जैसे सन्त सभी को सुख कैसे मिलेगा यह देखते हैं। भगवान को तो लोगों को दुःख देना ही पड़ेगा कारण जो हरामखोरी करता है उसे सजा देनी ही पड़ती है। भगवान पिता के समान हैं और सन्त माँ के जैसे हैं। पिता कठोर होते हैं, माँ दयालु होती हैं। लड़के ने कुछ भूल कर दी तो पिता उसे घर से बाहर निकाल देता है और कहता है, 'आज तुझे खाना नहीं मिलेगा।' (यह पुराने जमाने के पिता की बात है। आज तो पिता पुत्र से डरता है कि न जाने लड़का घर से जला गया और कुछ किया तो?) दूसरी बात, बुढ़ापे में लड़के के पास ही रहना पड़ेगा। माता-पिता का नियंत्रण ही ढीला पड़ गया है। पिता की छाती में दम नहीं, मस्तिष्क में विचार नही हैं ऐसा पिता प्रभावी कैसे रहेगा?

पिता पुत्र को घर से बाहर निकालता है और 'आज तुझे खाना नहीं मिलेगा' ऐसा कहता है? परन्तु माँ कहती है, 'तेरे पिताजी दफ्तर जायेंगे तब पिछले दरवाजे से आ जाना, मैं तुझे खाना दूँगी।' माँ का अन्तःकरण भिन्न ही होता है। भगवान ने गीता में कहा है-

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयते।। (गी. १८/६७)

(यह तेरे हित के लिए कहा हुआ ज्ञान कभी तपरहित और भक्तिरहित तथा जिसे सुनने की इच्छा नहीं है ऐसे व्यक्ति को नहीं कहना चाहिए, एवं जो मेरी निंदा करता है उसे भी नहीं कहना चाहिए।)

दो आने में गीता मिलती है इसलिए क्या कोई भी गीता खरीद ले और पढ़े? क्या गीता इतनी सस्ती *(cheap)* है? कितने ही लोग, स्वयं तो गीता पढ़ते नहीं, परन्तु लोगों

को पढ़ने के लिए गीता की पुस्तकें मुफ्त में देते हैं। भगवान तो स्पष्ट भाषा में कहते हैं कि अतपस्वी को गीता न दो! जीवन में क्या कोई तप है? भक्तिफेरी की है? ऐसा हो तो गीता सुनने के लिए जाओ, गीता तुम्हारे साथ बोलेगी। भगवान ने जो कहा है वह सुनकर सामान्य व्यक्ति हताश बनकर बैठ जाता है। उसे लगता है कि अपने जैसे के लिए गीता नहीं है। हम सब गीता के अनधिकारी हैं, परन्तु शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर जैसे महापुरुष खड़े हुए और उन्होंने कहा, 'आइये! हम आपको गीता सुनायेंगे, पढ़ायेंगे!' हमने उनसे कहा, 'हम तो अनधिकारी हैं! तब उन्होंने कहा, 'हम और भगवान देख लेंगे। हमारा भगवान के साथ सम्बन्ध है!'

शंकराचार्य और ज्ञानेश्वर जैसे लोग न होते तो हमें गीता पढ़ने को नहीं मिलती। गीता पढ़ने की हममें शक्ति ही नहीं है। अधिकार भी नहीं हैं। इसीलिए सन्तों का माहात्म्य वसुदेव के मुँह से समझाया गया है। वसुदेव कहते हैं, 'भगवान से भी सन्त महान् हैं। फिर नतमस्तक होकर वसुदेव नारद से कुछ माँगते हैं। वसुदेव ने कहा, 'भागवत धर्म का रहस्य, भागवत धर्म का आख्यान मुझे सुनाओ।' फिर नारद वसुदेव को भागवत धर्म कहते हैं। यह दूसरा अध्याय है।

अब एक प्रश्न खड़ा होता है कि भगवान ने यह सृष्टि निर्माण की है तो फिर भगवान का कीर्तन करने, भजने गाने की आवश्यकता क्या है? उन्होंने मुझे जन्म दिया है, तो मैं उनका कितना वर्णन करता हूँ यह क्या वे देखते होंगे? यदि वे वैसा सोचते होंगे तो वे ईश्वर कैसे हो सकते हैं? जीवन में भक्ति की क्या आवश्यकता है? यह एक अलग बात है। विश्व के साथ समरस हो जाने से सुख, दुःख निर्माण होते हैं और विश्व से अलग होने से सुख दुःख नहीं हैं, केवल सुख ही है। जिस प्रकार नींद में केवल सुख ही है। नींद में आपने क्या किया? नींद में आप विश्व से अलग हो गये, दूसरा कुछ नहीं किया। विश्व से अलग होने पर सुख ही सुख है, दुःख है ही नहीं! नींद में दुःख नहीं होता। स्वप्न में दुःख होता है। स्वप्न एक भिन्न अवस्था है और नींद भिन्न अवस्था है।

नींद में आपने क्या किया? विश्व को छोड़ दिया। नींद में किसका अभाव है? 'अभाव' को सत्ता है या नहीं? यह एक दार्शनिक विचार है। वैशेषिकों ने निश्चित किया कि अभाव एक भावरूप पदार्थ है। यह विषय पंडितों के लिए छोड़ दो, परन्तु अभाव एक भावरूप पदार्थ है यह मानना ही पड़ता है। वह तर्कयुक्त *(Logical)* भी है। नींद में कौन सी स्थिति होती है? 'कुछ नहीं' ऐसी स्थिति नहीं है। 'किसी के साथ हूँ' यह स्थिति हैं। अभाव नहीं है, भाव है। नींद में मैं किसी के साथ था।

अब प्रश्न है कि जगत् के साथ रहना है या जगदीश के साथ? जगत् के साथ रहने में सुख और दुःख दोनों हैं और जगदीश के साथ रहने में केवल सुख ही है, परन्तु जगदीश हैं फिर भी अनुभव भिन्न होता है। पंढरपुर के पांडुरंग साथ हैं हां, फिर भी

अनुभव ऐसा है कि पंढरपुर के पांडुरंग पंढरपुर में बैठे हैं और रणछोड़राय डाकोर में बैठे हैं। हमारे साथ भगवान हैं यह अनुभव तो है ही नहीं। जगदीश के साथ हम हैं, परन्तु हमें जगदीश से अलग कौन करता है? प्रीति और भीति। प्रीति और भीति इन दोनों की नितान्त आवश्यकता है। उनको छोड़ नहीं सकते। भयग्रंथि होनी ही चाहिए। जीवन में भीति अत्यावश्यक है। यह एक भिन्न ही विषय है।

प्रीति और भीति हमें भगवान से अलग करती है। इनमें से भीति निकालनी है और प्रीति बदलनी है। वह कैसे करेंगे यह प्रश्न है।

भगवान की भक्ति क्यों करनी है? क्या भगवान बादशाह हैं कि उनकी जितनी स्तुति करेंगे उतने वे अधिक खुश होंगे। इतनी बड़ी सृष्टि निर्माण करने के बाद उनको यदि ऐसी इच्छा रहती हो तो उनका भगवानपन ही समाप्त हो जायेगा। भीति निकालनी है और प्रीति बदलनी है इसीलिए भक्ति की आवश्यकता है।

भागवत धर्म में **अभयम्-** निर्भय बनने की बात है। नारदजी ने प्रथम अभयम् शब्द उच्चारा है। निर्भयता स्वशक्ति से आयेगी या किसी प्रभावी शक्ति के अधीन बनकर आयेगी? इसका विचार करना चाहिए। गीता में भी दैवी संपत्ति के गुणों में प्रथम शब्द **'अभयं सत्त्वसंशुद्धि....'** में **अभयम्** है।

भागवत धर्म में उन्होंने लिखा है- **'यानास्थाय नरो राजन् प्रमाद्येत कर्हिचित्...।'** जिसका स्वीकार करके व्यक्ति चकराता नहीं है। हम जीवन में हर दफे चकराते हैं कि विश्व का स्वीकार करें या धिक्कार? प्रवृत्ति या निवृत्ति? भोग या त्याग? कर्म और कर्मफल का स्वीकार करना चाहिए या छोड़ देना चाहिए? क्या कर्म छोड़कर 'भगवान, भगवान' करते हुए बैठे रहना चाहिए? इस प्रकार मनुष्य असमंजस में पड़ जाता है:

यहाँ, भागवत धर्म ने बहुत ही सुन्दर मार्ग दिखाया है कि भक्तिमार्ग में इस दृष्टि से चलो तो, **धावन् निमील्य वा नेत्रे च स्खलेन्न पतेदिह'** आँखें बंद करके भी चलो तो चोट खाने की या गिरने की भीति नहीं रहेगी। इसमें **धावन्** शब्द है। **धावन्** यानी दौड़ेगा तो भी नहीं गिरेगा। कौन सी दौड़ है? अनुष्ठान है। एक एक अनुष्ठान पूर्ण करके आगे दौड़ना है। कौन से अनुष्ठान?

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।

बारी-बारी से एक एक अनुष्ठान पूर्ण करके दूसरे का तुरन्त स्वीकार करते हुए आगे बढ़ना है, इसका अर्थ हैं **'धावन्।'** अन्यथा भक्ति में कौन सी दौड़ है? क्या मुंबई से डाकोर तक दौड़ते जाना है? नहीं! जो जो इष्ट लगेगा उसका अनुष्ठान पूर्ण करके इष्टतर प्रकार की ओर जाना, इसको भक्तिमार्ग में धावन कहते हैं। इस प्रभावी दौड़ पर एकनिष्ठा से भक्ति करनेवाला जीव स्खलित नहीं होता, उसे **'प्रत्यवायो न विद्यते'** वैसे ही वह गिरता

नहीं यानी उसकी फलच्युति नहीं होती। भक्ति इसलिए करनी है कि जिससे निर्भय बन सकेंगे, अर्थात् निर्भय बनने के लिए भक्ति करनी है।

शंकराचार्य ने कहा है कि दुःख आते हैं यह बात सच है, परन्तु दुःख का कारण क्या है? वह ढूँढना चाहिए। शंकराचार्य कहते हैं-

यः कश्चित्सौख्यहेतोस्त्रिजगति यतते नैव दुःखस्य हेतोः।
देहेऽहन्ता तदुत्था स्वविषयममता चेति दुःखास्पदे द्वे।
जानन्रोगाभिघाताद्यनुभवतियतोऽनित्यदेहात्मबुद्धिः
भार्यापुत्रार्थनाशे विपदमथ परामेति नारातिनाशे।। (शत.१५)

(तीनों लोकों में जो जीव हैं वे सभी सुख के लिए ही परिश्रम करते हैं। दुःख के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता। दुःख के दो स्थान हैं, एक, देह के बारे में अहन्ता लगना और दूसरा शरीर के साथ सम्बन्ध रखने वाले स्त्री-पुत्र आदि पर ममत्व होना। यह समझने पर भी मनुष्य मोह के कारण 'शरीर ही आत्मा है' ऐसा मानता है इसलिए रोग आदि दुःख भोगता है और स्त्री-पुत्र आदि का नाश होता है तब ममता के कारण बड़ा दुःख अनुभव करता है। परन्तु शत्रु का नाश होता है तब दुःख नहीं होता। (कारण शत्रु पर ममता नहीं होती।)

शंकराचार्य की बात सच है। हम अखबार में पढ़ते हैं कि आज तीन सौ लोग मर गये। जो सात्त्विक लोग होंगे उनको तनिक दुःख होगा, कहेंगे, अरे रे! बहुत बुरा हुआ और तुरन्त चाय पीने लग जायेंगे। जो तीन सौ लोग मर गये उनकी व्यथा हमें नहीं है। एक लड़का मर गया तो पूरे वर्ष तक रोते बैठते हैं। एक व्यक्ति के मरने पर यदि एक साल तक रोते हैं तो तीन सौ व्यक्ति मरने के बाद कितने साल तक रोना चाहिए? परन्तु बिलकुल नहीं रोते। यह एक अलग ही गणित है। क्यों नहीं रोते? 'लड़का मेरा है' यह दुःख का कारण है। व्यक्ति चला जाता है उसका किसी को दुःख नहीं है। 'मेरा चला गया' यह दुःख है।

पुराने समय मुंबई का एक व्यापारी कच्छ में अपने गाँव गया। उस समय यहाँ से कच्छ जाने में तीन दिन लगते थे। उसके बाद भी भुज पहुँचने पर अपने गाँव जाने के लिए मोटर नहीं थी। ऊँटगाड़ी अथवा बैलगाड़ी से जाना पड़ता था। यह व्यापारी घूमने के लिए अपने गाँव आया था। गाँव तो बिलकुल छोटा-सा था। दो-तीन दिनों के बाद मुंबई का दूसरा एक भाई उसी गाँव में आया। उसने गाँववालों से कहा, "मैं जिस दिन मुंबई से निकला उसके पहले दिन रुई के गोदाम को भयानक आग लगी। उसकी ज्वालायें दूर दूर तक दिखायी देती थी, संपूर्ण आकाश लाल ही लाल बन गया था।' यह बात वह भाई जिसके घर आया था उसने वहाँ बतायी और वहाँ से वह कोटेश्वर की यात्रा के लिए चल पड़ा। मोटरगाड़ी तो थी नहीं। ऊँटगाड़ी में बैठकर चला गया। चार दिनों के बाद वह वापस आने वाला था। रुई के गोदाम को आग लगने की उसकी कही हुई बात तुरन्त सारे

गाँव में फैल गयी। वह बात पहले व्यापारी के कानों पर पड़ी उसकी नींद उड़ गयी। इसका कारण वह भी रुई का व्यापारी था और उसका भी मुंबई में रुई का गोदाम था। उसको लगा, "मेरा गोदाम तो नहीं जला न? लाखों रूपयों की हानि की बात थी। वह दौड़कर जिसके घर वह मुंबई का भाई आया था उसके पास गया, परन्तु उसे पता चला कि मुंबई का भाई कोटेश्वर की यात्रा पर चला गया है। इस व्यापारी का हृदय ऊपर-नीचे होने लगा। वह कोटेश्वर गये हुए भाई के वापस लौटने की राह देखने लगा। उसे न नींद आती थी न खाना खाया जाता था। करेगा भी क्या? किसी तरह चार दिन निकाले। अन्त में वह भाई कोटेश्वर से वापस आया। उसके पास जाकर इस व्यापारी ने पूछा, "क्या मुंबई में रुई के गोदाम को आग लगी थी?' उस भाई ने कहा, 'हाँ, भयानक आग लगी थी। व्यापारी ने पूछा, कहाँ आग लगी थी?' उस भाई ने कहा, 'चिंचपोकली में।" अच्छा, अच्छा! मेरा गोदाम तो माझगाँव में है। दो दिन की बेचैनी एक शब्द से चली गयी। व्यापारी शान्त हो गया। गोदाम जल गया यह बुरा हुआ, परन्तु मेरा गोदाम तो माझगाँव में है। उसे दूसरे का गोदाम जल गया इसका दुःख नहीं है। इसलिए शंकराचार्य कहते हैं कि 'ममता' में दुःख है, 'मेरा' में दुःख है। यदि अहन्ता और ममता के कारण दुःख होता हो और उनका इलाज किया तो **'तुष्यन्ति च रमन्ति च।'** सुख ही सुख। इसीलिए भक्ति की आवश्यकता है। भक्ति भगवान को खुश करने के लिए नहीं है।

भक्ति अपने जीवन-विकास के लिए और अपने लिए, अपने सुख के लिए है। यह समझकर बुद्धिपूर्वक भक्ति उठानी चाहिए, तभी उसका जीवन पर परिणाम होगा अन्यथा नहीं होगा।

अब जो भक्ति करनी है, वह कौन सी करनी है? क्या करना है? लोग यह समझते हैं कि जो बड़ा तिलक लगाता है वह भक्त है। भक्त का भी एक गणवेश होता है। जो गणवेश नहीं पहनता है वह भक्त नहीं है। वह लोगों को भक्त नहीं लगता। भक्त लगना चाहिए या होना चाहिए? भक्त लगना भिन्न बात है और भक्त होना भिन्न बात है।

भक्त के लिए कौन सी बात आवश्यक है? अन्त में भक्ति में क्या होना चाहिए? हमारे पास दो बातें हैं- करना और जानना, जिनको कर्मेंद्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। इन दोनों पर जो भगवान को बिठा देता है वह भक्त है। 'मैं नहीं करता हूँ,' 'मैं नहीं जानता हूँ' और 'मेरा कुछ नहीं है' ये तीन बातें जिसकी बुद्धि में दृढ़ हो गयी हैं वह भक्त है। फिर वह क्या करता है, तिलक लगाता है या नहीं, वस्त्र कौन से पहनता है वह देखने की आवश्यकता नहीं है। भीतर की वृति ही मूल बात है। 'मैं नहीं करता हूँ, मैं नहीं जानता हूँ और मेरा कुछ नहीं है' यह वैष्णव की अन्तिम अवस्था है ऐसा भागवत धर्म कहता है। इसके लिए दौड़ना है, वहाँ तक पहुँचना है।

'मेरा भविष्य किसमें है यह मैं नहीं जानता हूँ, वह भगवान जानते है।' ऐसा भक्त भगवान के पास नहीं माँगेगा। भगवान जो भेजेंगे वह लेने की उसकी तैयारी है। उसे लगता है कि 'भगवान के पास क्यों माँगना चाहिए? वे जो देंगे वह लूँगा।' हम भगवान के पास

माँगते हैं, मनौती करके माँगते हैं इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि हमारा सुख किसमें है, इसका हमें पता है, इसलिए भगवान! आप उसमें मददगार होनेवाले हैं तो हो जाइए। आप देगें तो हम सत्यनारायण की पूजा करेगें। आप मददगार नहीं होगें तो छोड़ देगें।' परन्तु भक्त कहता है, मेरा सुख किसमें है यह मैं नहीं जानता हूँ, आपको ही वह मालूम है, आप जो करेंगे मैं उसका स्वीकार करूँगा।' ऐसा कहकर भक्त अपनी इच्छा ही भगवान को सौंप देता है। उसी को **'यदृच्छालाभसन्तुष्टो'...** कहते हैं। यह भक्त की अन्तिम अवस्था है- इच्छा भगवान को सौंप दो!

कोई कहेगा कि तुम बोलते हो, फिर भी कहते हो कि 'मैं कुछ नहीं करता' तो क्या यह दांभिकता नहीं है? 'मैं नहीं करता हूँ' इसकी प्रथम सीढ़ी है 'मैं जो कुछ कर्म करता हूँ, उसका फल छोड़ देता हूँ। भगवान को अर्पण कर देता हूँ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। (गी. ९/२७)

(हे कुंतीपुत्र अर्जुन! तू जो कर्म करेगा, जो सेवन करेगा, जो देगा, जो तप यानी व्रताचरण करेगा वह मुझे (परमेश्वर को) अर्पण कर!)

यह प्रथम सीढ़ी है। उसमें फल छोड़ना है। फल भावपूर्वक भगवान को अर्पण करो। त्याग करना अलग बात है और अर्पण करना अलग बात है। इसलिए **'स्वात्मार्पण'** भागवत धर्म का वैशिष्टय है। भगवान को शरण जाना *(Self surrender)* यह भागवत धर्म का वैशिष्टय नहीं है। शरण कौन जाता है? हम शरण हो जाते हैं। समझो, रात को दस बजे आप घर जा रहे हैं, उस समय मार्ग में चार बदमाश आपको घेर लेते हैं और आपकी छाती पर बंदूक तानते हैं, उस समय आप हाथ ऊपर उठाकर शरण हो जाते हैं। इसमें भीति हैं। **'समर्पण'** में भाव और प्रीति है, भीति नहीं। इस प्रकार कर्म करने से व्यथा होती है, दु:ख होता है इसलिए मैं कर्म छोड़ दूँ, कर्म का त्याग करूँ यह शरण जाना *(surrender)* है। 'भगवान! मैं जो कुछ कर्म करता हूँ उसमें नब्बे प्रतिशत आपकी शक्ति हैं। इसलिए 'जो कुछ फल आता है वह आपका है, वह फल मैं भावपूर्वक आपको अर्पण करता हूँ।' समर्पण में भाव व प्रेम अपेक्षित है, अत: इस वृत्ति को बढ़ाना है। उसे भक्ति कहते हैं। इसमें प्रेम करना है, त्याग नहीं।

'मैं कर्म करने के झंझट में पड़ूँगा तो दूसरा जन्म लेना पड़ेगा। इसलिए मुझे कर्म ही नहीं चाहिए। भगवान वह आप ही ले लीजिए। यह भक्ति नहीं है। जो खुद को अच्छा नहीं लगता उसे दूसरे को देना क्या त्याग है? कर्म पर मेरा प्रेम है, परन्तु कर्म से भी अधिक मेरा आपके प्रति प्रेम है, इसलिए भगवान! मैं अपना कर्म आपको अर्पण करता हूँ।' 'मैं नहीं करता हूँ' ऐसा मेरी बुद्धि कहती है, फिर भी 'मेरा कर्म है' ऐसा बोलना यह अनैतिकता है। इसलिए भगवान! मैं कर्म आपको अर्पण करता हूँ' ऐसा प्रेम से कहना चाहिए।

'मैं करता हूँ' इसमें से 'मैं' निकालना है, परन्तु मैं शीघ्र नहीं निकलता। इसलिए हमारे ऋषि-मुनियों ने जो मार्ग दिखाया है, स्वाध्याय परिवार ने उसका स्वीकार किया है। कौन सा मार्ग? वह मार्ग है **'यज्ञ!'** यज्ञ में 'मैं करता हूँ' यह भावना नहीं है। हम करते हैं' यह भावना है। यज्ञ किसने किया? 'मैंने किया' ऐसा कोई नहीं कहेगा। 'हमने किया' ऐसा कहेगा। 'मैं' के स्थान पर 'हम' शब्द आ गया। मुझे 'हम' शब्द बहुत ही अच्छा लगता हैं। 'मैं' से भी अच्छा लगता है। इसमें 'मैं' भी रहता है और 'तू' भी रहता है। इसमें चातुर्य है।

मुझे 'मैं' निकालना है, परन्तु निकालूँगा कैसे? जब तक 'मुझे रहना है, ठहरना है, घूमना है, खाना है, देखना है,' तब तक 'मैं' कैसे निकाल सकता हूँ? 'मैं' को देखकर भी उसे निर्विष करना है। वह कैसे होगा? 'मैं' के स्थान पर 'हम' लाओ! उसमें 'मैं' रहता है और तकलीफ नहीं होती। इसीलिए तो संपूर्ण मानवजाति ने एक परिवार बनाया। क्यों? मैंने नहीं किया, मेरे परिवार ने किया, हमने किया। दूसरे किसी भाई के साथ नहीं जमता होगा, परन्तु कम से कम पत्नी के साथ तो जमता होगा। इसीलिए यज्ञ में पत्नी होनी ही चाहिए। 'मैंने सत्यनारायण की पूजा नहीं की, हमने की। मेरे साथ मेरी पत्नी थी।' इसलिए स्वाध्याय परिवार ने ऋषि का मार्ग स्वीकारा है। हम अकेले कुछ नहीं करते। 'मैंने नहीं किया' बल्कि हम करते हैं।

किसी गाँव में भक्तिफेरी के लिए जायेंगे तो दो-तीन लोग मिलकर जायेंगे। 'कोई साथ में हो तो अच्छा' इसलिए नहीं। साथ में जाने का आध्यात्मिक मूल्य है। उसमें 'मैं' के स्थान पर 'हम' आता है। इस प्रकार 'मैं' का 'हम' कर देते हैं। 'हम' यज्ञ करते हैं।

दूसरा एक मार्ग है। 'मैं नहीं करता हूँ' ऐसा हो ही नहीं सकता। तो क्या करना? 'मैं अपने लिए नहीं' और 'अपना' नहीं करता हूँ। मैं भगवान के लिए करता हूँ। इसमें 'मैं' चला जाता है। अर्जुन ने वैसा किया। इसलिए अर्जुन का नाम गीता में आया है। महमद गझनी का नाम गीता में नहीं है। महमद गझनी का नाम प्रवचन में आता है, परन्तु गीता में उसका नाम नहीं आता। क्यों? क्योंकि प्रवचन में मानव की काली बाजू *(Dark Side)* भी दिखानी पड़ती है। इसलिए प्रवचन में महमद गझनी आता है। जब तक राम है तब तक रावण रहना ही चाहिए। जैसे राम चिरन्तन है वैसा रावण भी चिरन्तन है। मानव की काली बाजू *(Dark Side)* दिखाने हेतु प्रवचन में रावण, महमद गझनी आयेंगे ही, परन्तु वे गीता में नहीं आयेंगे। गीता में अर्जुन का नाम आता है। अर्जुन व महमद गझनी दोनों लड़े, परन्तु अर्जुन ने कहा–

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविंद किं भोगैर्जीवितेन वा।। (गी-१-३२)

(हे कृष्णा! विजय, राज्य और सुख की (अब) मुझे इच्छा नहीं है। हे गोविंद! राज्य, भोग (सुखोपभोग) अथवा जीवित (जीना) इनका हमें क्या उपयोग है?) अर्थात् अर्जुन अपने लिए नहीं लड़ा, भगवान के लिए लड़ा और महमद गझनी अपने लिए लड़ा।

दुकान चलानी है अथवा नहीं? चलानी है, परन्तु अपने लिए मैं दुकान नहीं चलाता हूँ। प्रभु के लिए दुकान चलाता हूँ। उसमें से जो लाभ होगा उससे प्रभु का काम कितना अच्छा होगा। इसलिए दुकान चलाता हूँ। दृष्टि बदल डालो, भक्ति आ गयी! भगवान का काम करने लिए यदि आप दुकान चलाते हों तो मूलजी जेठा मार्केट में जाकर भी आप भक्त हो सकते हैं और कुछ चाहिए इसलिए लक्ष्मी नारायण के मन्दिर में आप माधवबाग में जायेंगे तो मन्दिर भी बाजार हो जाएगा। भगवान कहेंगे, 'एक ग्राहक आ गया कुछ न कुछ मागँने के लिए।' भगवान के पास मागँने पर भगवान कहेंगे, 'तेरे कर्म का कुछ बैंक में जमा होगा तो मिलेगा, अन्यथा कुछ नहीं मिलेगा।'

भगवान! 'मैं आपके लिए करता हूँ' यह 'मैं' निकालने का मार्ग है। 'मैं आपका हूँ, आपका कार्य करता हूँ, आपके लिए करता हूँ।' परिवार चलाता हूँ वह भी आपके लिए चलाता हूँ।' इतना कहने पर, मेरा कुछ नहीं, मैं भी अपना नहीं हूँ, यह भक्त की भूमिका है। यह बात भागवत धर्म में समझायी गयी है।

भगवान! वित्त भी आपका है।

विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं माधवीं माधवप्रियाम्।
लक्ष्मीं प्रियसखीं देवीं नमाम्यच्युतवल्लभाम्'

भगवान! वित्त आपका! आपकी लक्ष्मी मेरे पास है, परन्तु वह आपकी धरोहर है। आपकी धरोहर है इसलिए मैंने अपने पास रखी है। भगवान पुत्र भी आपका है। यह भागवत दर्शन है।

अत: भक्ति में तीन बातें पक्की करनी हैं,- मैं जानता नहीं हूँ, मैं नहीं करता हूँ, और मेरा कुछ नहीं है। जिसकी ये तीन बातें पक्की हो गयी वह भक्त है। आप कौन से वस्त्र धारण करते हैं। इससे भक्ति निश्चित नहीं होती। सुकरात अथवा अफलातून ने किसी दिन अपने माथे पर तिलक नहीं लगाया, फिर भी वे भक्त थे, मुक्त हो गये। भक्त बनने के लिए वृत्ति बदलने का प्रयत्न करना चाहिए। भक्ति में वृत्ति बदलने का प्रयत्न चल रहा है। इसलिए भागवत धर्म श्रेष्ठ धर्म है। मानव को लगना चाहिए, 'कुछ नहीं बनना है' की अपेक्षा वैष्णव बनना है, मुझे अभाव में नहीं रहना है, मुझे कुछ बनना है।

'वैष्णव बनना है' यह भागवत धर्म के लिए जब नारद कहते हैं तब एक श्लोक में कहा है, 'जिस प्रकार भोजन करने वाले को प्रत्येक ग्रास के साथ ही **तोषणं पोषणं च क्षुधातोषणम्-** सन्तोष (तृप्ति अथवा सुख), पोषण- पुष्टि (जीवन-शक्ति का संचार), और क्षुधा-निवृत्ति ये तीनों एक साथ होते जाते हैं वैसे ही जिसकी प्रत्येक कृति में भक्तिभाव, प्रभुसाक्षात्कार और वैराग्य ये तीन बातें एक साथ होती हैं वह भागवत है। उसकी कोई भी कृति भक्ति-भाव से होगी। उसकी कृति भोगार्थ नहीं, भावार्थ ही रहेगी, भक्ति के लिए ही रहेगी।

भक्त की प्रत्येक कृति भक्तिभाव से होगी, यह फिर से कहता हूँ। यह दुकान है न! यह दृष्टान्त इसलिए देता हूँ कि दुकान चलानेवाला माया में फँस गया है ऐसा लोग समझते हैं। कृति का कौन सा कारण है यह देखना चाहिए। मैंने दुकान किसलिए खोली है? अथवा दुकान क्यों चलानी है? प्रभु! भक्तिभाव से आपका काम करना है इसलिए! लाभ का बँटवारा करते समय मेरा हिस्सा कुछ अधिक होगा, आपका कुछ कम! यह भगवान समझ सकते हैं, परन्तु भावना यह है कि मुझसे भगवान का कुछ काम होना चाहिए। इसलिए दुकान खोली है। इसमें भक्तिभाव आ गया।

'भगवान मुझे चिपककर बैठे हैं' ऐसी समझ आने के बाद परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। फिर बोलना, सोना, खाना, सुनना आदि प्रत्येक क्रिया भगवान की ही शक्ति से होती है यह ज्ञान होता है। इसीलिए तो मूर्तिपूजा है, चित्तैकाग्रता है। चित्त का शुद्धिकरण करना है। चित्त की संवेदनशीलता टिकानी है, भक्तिभाव रखना है विषय विरक्ति संभालनी है। ये तीन बातें साथ में होनी चाहिए।

'वस्तुनिरपेक्ष कृति' का नाम 'विषय विरक्ति' है। आज हम वस्तुसापेक्ष कृति करते रहते हैं। हम कृति भोगार्थ करते हैं। हम भागवत की कथा सुनाते हैं अथवा प्रवचन करते हैं, किसलिए? 'मुझे कुछ मिलना चाहिए' इसलिए। मैं क्या बोल रहा हूँ इसका मूल्य नहीं है, मैं कौन सी दृष्टि से, किस वृत्ति से बोल रहा हूँ उसका मूल्य है। इसलिए भक्ति में वस्तुनिरपेक्ष कृति का आग्रह है।

एकाध मनुष्य मन्दिर में भगवान के पुजारी की नौकरी करता है। वह प्रारंभ में ही पूछ लेता है कि वेतन कितना मिलेगा? फिर वह सोचता है कि यहाँ मन्दिर में जितना वेतन मिलता है उससे अधिक कहीं नहीं मिलेगा, इसलिए जीवन भर पुजारी के नाते रह जाता है। ऐसा होते हुए भी वह वैष्णव नहीं है, कारण उसकी कृति वस्तुनिरपेक्ष नहीं है। प्रत्येक कृति के पीछे प्रेरणा- जिसे अंग्रेजी में हम *incentive* कहते हैं, उसे दिखाना पड़ेगा। उस पर से आपकी कृति भक्ति के लिए है या भोगार्थ है यह निश्चित होगा।

विषयविरक्ति का अर्थ 'विषयों का तिरस्कार' ऐसा लोग समझते हैं, परन्तु वैसा नहीं है। वस्तुनिरपेक्ष कृति यानी विषयविरक्ति है। कुछ कमाना है, प्राप्त करना है इसके लिए मेरी कृति नहीं है यह वस्तुनिरपेक्ष कृति है।

भागवत धर्म में भी उत्तम भागवत कौन? मध्यम कौन? कनिष्ठ कौन? इसका र्वणन भागवत में है। जो सभी विषयों में विचरण करता है, परन्तु विषादरहित रहता है यानी विषय मिले तो हर्ष नहीं और विषय नहीं मिले तो दु:ख नहीं' वह उत्तम भक्त है। उसका कर्मप्रेरक कौन है? काम, इच्छा या भक्ति? उसकी प्रेरणा भक्ति ही है। यह उत्तम भागवत है।

जिसकी प्रभु पर नितान्त श्रद्धा है जो भगवान के हैं उनके साथ जिसकी मित्रता है, जो नासमझ हैं, बच्चों के जैसे हैं उन पर कृपा करता है, जो भगवान के विरोधियों की

उपेक्षा करता है ऐसा मनुष्य मध्यम भागवत है। जैसा योगदर्शन में समझाया है वैसा ही यहाँ भी समझाया है। योगदर्शन में चित्त स्थिर करने के लिए ये बातें समझायी हैं और यहाँ भगवान की भक्ति बढ़ाने के लिए ये बातें आयी हैं।

कनिष्ठ अथवा प्राकृत भागवत उसे कहते हैं जो भगवान की मूर्ति की पूजा श्रद्धा-भाव से करता है परन्तु लोगों के साथ, चैतन्य के साथ जो सम्बन्ध नहीं रखता है वह कनिष्ठ भक्त है। 'मुझे अपना सम्बन्ध भगवान के साथ रखना है और भगवान का सम्बन्ध लोगों के साथ रखना है जिससे लोगों के साथ मेरा संबंध हो ही जाता है,' ऐसा जो नहीं करता है वह कनिष्ठ भक्त है। इसका अर्थ यह है कि वह श्रद्धा से पूजापाठ करता है, परन्तु 'सभी में वे ही भगवान बैठे हैं ऐसा समझकर उनके पास जाना चाहिए, उन पर प्रेम करना चाहिए, मुझे जो बातें मालूम हैं वे उनको समझानी चाहिए' यह वह नहीं करता।

जो उत्तम भक्त है, वह नौकरी करेगा, व्यापार करेगा, सामाजिक काम करेगा, समाज में घूमेगा परन्तु उसकी प्रेरक भक्ति है। कर्म अच्छा या बुरा हो,उसके साथ कर्म की प्रेरणा में कौन है? यह देखना है। भगवान कर्म की प्रेरणा देखते हैं। एकाध मनुष्य सामाजिक काम करता है। क्यों? उसके पास समय है, घर में बैठकर क्या करना? उसकी अपेक्षा सामाजिक काम करता है। इसमें भक्ति की दृष्टि नहीं है, भक्ति की प्रेरणा नहीं है।

जिसके जीवन में कर्म की प्रेरणा भक्ति है, प्रेरक भक्ति है वही उत्तम भक्त है ऐसा कहा गया है। त्रिभुवन का राज्य मिलने पर भी जिसे प्रभु के प्रति प्रेम कम नहीं होता, प्रभु-कार्य में कमी नहीं आती वह उत्तम भक्त है। सामान्य मनुष्य को कुछ वैभव या धन मिला कि उसका भगवान के प्रति प्रेम कम हो जाता है और भगवान का कार्य हाथ से छूट जाता है। इसीलिए शकंराचार्य ने कहा है-

स्वं बालं रोदमानं चिरतरसमयं शान्तिमानेतुमग्रे
द्राक्षं खार्जूरमाम्रं सुकदलमथवा योजयत्यम्बिकाऽस्य।
तद्वच्चेतोऽतिमूढं बहुजननभवान्मौढ्यसंस्कारयोगात्
बोधोपायैरनेकैरवशमुपनिषद् बोधयामास सम्यक्।। (शत-८)

(जिस प्रकार दीर्घकाल से रोते हुए अपने बालक को माँ अंगूर, खजूर, आम, केला आदि देकर शान्त करती है, वैसे अनेक बार जन्म-मरण होने से निर्माण हुए अज्ञान के संस्कार के कारण अतिमूढ़ बने हुए, अवश चित्त को समझाने वाले अनेक उपायों का ज्ञान उपनिषदों ने अच्छी तरह से दिया है।)

जब बालक, 'माँ चाहिए' इसलिए रोने लगता है तब माँ क्या करती है? वह तो रसोई बनाती रहती है। बालक रोने लगता है तब एक पुरी उसे देती है। पुरी मिलते ही बालक खाने लगता है और उसका रोना बंद हो जाता है। माँ को लगता है कि बालक मेरे लिए नहीं, अपितु पुरी के लिए रो रहा था। इसी प्रकार कोई भक्ति करने लगा कि भगवान उसे एक फैक्ट्री दे देते हैं। फैक्ट्री मिलते ही वह उसके प्रबंध में व्यस्त रहता है, फिर

उसे भगवान का स्मरण नहीं होता। फिर कहता है, "कितना काम है, समय नहीं मिलता है। स्वाध्याय करना चाहिए, वह बहुत अच्छा काम है, परन्तु क्या करें, समय नहीं मिलता।" इसका अर्थ ही यह है कि फैक्ट्री मिलते ही वह फिसल पड़ा।

'त्रिभुवन का राज्य मिलने पर भी भगवान! आपके तथा आपके कार्य के प्रति अशंमात्र भी प्रेम कम नहीं होगा' ऐसा जिसका दृढ़ निश्चय होता है वह उत्तम भक्त है। संक्षेप में कहना हो तो गीता का स्थितप्रज्ञ, ज्ञानप्रधान है और भागवत में आया हुआ महान आर्दश भक्त भावप्रधान है, इतना ही फर्क़ है। दोनों की फलश्रुति एक ही है। अन्त में उसी स्थिति तक पहुँचना है। ज्ञानी और भक्त नितान्त एक साथ ही रहते हैं। जो नितान्त ज्ञानी होता है वही प्रेमपूर्ण बन सकता है। गीता में भगवान ने कहा है, **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्,'** और जो अनन्य भक्त है वही श्रेष्ठ ज्ञानी माना जाता है **'स जानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।'** अतः गीता और भागवत साथ में ही है।

यह उत्कृष्ट भागवत धर्म नारद ने वसुदेव को समझाया है। इसमें अहंकाररहित बनना चाहिए और भक्ति का रास्ता अपनाना चाहिए ऐसा कहा है। लेकिन यह बड़ी समस्या है और भक्ति का रास्ता दूसरा है। अहंकाररहित होना चाहिए और भक्ति का रास्ता उठाना चाहिए, ऐसा कहा है।

यह जो भक्ति की रट लगायी जा रही है कि जिसने हमें पैदा किया है, जो हमारा जीवन चलाता है उसकी भक्ति करो, तो क्या उसे इसकी आवश्यकता है? भगवान को इसकी कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु हमें आवश्यकता है। हमें भक्ति की क्यों आवश्यकता है यह सोचना चाहिए। जब हम भक्ति; भक्ति, भक्ति, कहते हैं, तब भक्ति क्या है यह सोचते नहीं, अतः भक्ति स्थूल अर्थ में ही रह जाती है।

मानवी जीवन में अहंकार *(ego)* एक समस्या है। मैं *ego* शब्द इसलिए प्रयुक्त कर रहा हूँ कि अहंकार का अर्थ, पैसे का अहंकार, अधिकार का अहंकार इस अर्थ में रूढ़ हो गया है। इतना ही नहीं, यह अहंकार *ego* है, वह अहंकार एक समस्या है। अहंकार को निकालना अशक्य है। जब तक द्वैत है तब तक अहंकार नहीं निकाला जा सकता। अहंकार शुरू होता है, तभी आँखें खुलने के बाद सभी को देखते हैं, हम सभी से अलग होते हैं और हमारा खेल प्रारंभ हो जाता है। द्वैत में अहंकार निकालना अशक्य है। भगवान को भी द्वैत में अहंकार रखना पड़ता है। अहंकार को निकालना असंभव है और रखना अयोग्य है। यही समस्या है। इसीलिए शंकराचार्य ने कहा है, **'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।'** मोक्ष की सामग्री में भक्ति श्रेष्ठ सामग्री है। तो भक्ति की कौन सी आवश्यकता है? अहंकार को निकाल नहीं सकते, रखना अयोग्य है तो फिर तीसरा रास्ता है अहंकार दे दो! उसीको भक्ति कहा जाता है।

इसलिए भक्ति का सरल रूप यह है, 'मैं नहीं जानता हूँ, मैं नहीं करता हूँ और मेरा कुछ नहीं है।' ये तीन बातें जिसके दिमाग में दृढ़ हो गयी हैं वह भक्त है। ये बातें कब

दृढ़ होंगी? मैं बोल रहा हूँ और आप सुन रहे हैं फिर भी हम कहेंगे, मैं नहीं बोलता हूँ और मैं नहीं सुनता हूँ। यह दम्भ हो जायेगा। इसलिए उसके पीछे विवेक आ गया। 'मैं बोलता हूँ' पर बोलने की शक्ति किसकी? किसकी शक्ति से मैं बोल रहा हूँ? क्या अपनी शक्ति से बोल रहा हूँ? मुझे बोलने की शक्ति किसने दी? स्मृति है। किसकी स्मृति है? किसने रखी थी? कहाँ रखी थी? कुछ मालूम है मुझे? नहीं। इसलिए मैं नहीं जानता हूँ, मैं नहीं करता हूँ और मेरा कुछ नहीं है। यह भावना अगतिकता से अथवा असहायता से दृढ़ नहीं करनी है, यह प्रेम से दृढ़तर करनी है। इसलिए उसके लिए *Surrender* शब्द नहीं है, समर्पण शब्द है।

जिस पर प्रेम है, जिसे मैंने सँभाला, अच्छा बनाया वह मुझे अर्पण करना है। जो वस्तु देनी है उस पर प्रेम है, जिसे देनी है उस पर भी प्रेम है, इसलिए वह वस्तु उसे अर्पण करनी है। इसीलिए भक्ति की आवश्यकता है, यह भक्ति का शास्त्रीय (*Scientific*) कारण है। भक्ति करेंगे तो भगवान खुश हो जायेंगे ऐसा नहीं है।

पुराने समय का लेखन है, उस समय की पद्धति के अनुसार इतना ही लिखा है कि भक्ति से अहंकार चला जायेगा। भगवान ने हमें बुद्धि दी है, इसलिए हमें उस पर विचार करना चाहिए। परन्तु हमें बुद्धि चलानी ही नहीं है और भगवान को चंदन लगाना है और फूल चढ़ाना है तो बात अलग है।

भागवत धर्म नारदजी कह रहे हैं इसलिए उसका महत्त्व है। कोई सामान्य व्यक्ति कहता हो तो उसका क्या महत्त्व है? नारद से वसुदेव कहते हैं, किसी सामान्य व्यक्ति को नहीं कहते हैं। दोनों की बातों में उस समय के जो नये विचार हैं उनकी भी बातें आयी हैं।

तीसरे अध्याय में माया का रूप क्या है, माया को पार करने का मार्ग कौन सा है, ब्रह्म का रूप क्या है, कर्म का स्वरूप कौन सा है यह समझाया है। कर्म का रहस्य समझाया है। माया का शास्त्रीय रूप समझाया है जो षड्दर्शन में है। क्या यह सृष्टि उत्क्रान्त *(evolve)* हुई है? किसने उत्क्रान्त की है? जिन्होंने लामार्क और डार्विन का अध्ययन किया होगा, उनको ही पत्ता चलेगा कि कपिल क्या कहते हैं। **'प्रकृतिस्तु कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवत् निर्लेपः।'** षड्दर्शन में उसका जो स्वरूप बताया है, वही यहाँ शास्त्रीय दृष्टि से समझाया है। परन्तु उस पर उपाय कौन सा है? तो वह है भक्ति! **'नारायणपरोज्योतिरात्मा नारायणः परः।'** एक ही मार्ग है, कोई भी उठा ले। भक्ति के बिना वे दूसरा कुछ बोलते ही नहीं। क्यों?

माया के दो रूप होते हैं। एक, माया का भगवान पर परिणाम होता है और दूसरा मुझ पर परिणाम होता है, क्योंकि जब ब्रह्म का माया से संपर्क होता है तब प्रभु बनता है, भगवान बनता है। इसलिए माया भगवान को लगती है वैसे मुझे भी लगती हैं। **'दैवी ह्येषा गुंणमयी मम माया दुरत्यया'** ऐसा भगवान ने गीता में कहा है। शास्त्रकारों ने उसके लिए

दो मार्ग निकाले हैं। भगवान को जो माया लगती है वह **विशुद्ध सत्त्वप्रधान माया** है और जीव को जो लगती है वह **'मलिनसत्त्वप्रधान अविद्या'** है। हम सर्वत्र माया, माया, माया शब्द प्रयुक्त करते हैं इसका कारण बड़े-बड़े शब्द बोलने चाहिए न? हम 'माया में फँस गये हैं' ऐसा बोलते हैं। माया समझ लेंगे और माया को स्वीकार करेंगे तो बहुत अच्छी बात होगी, परन्तु हम अविद्या में फँस गये हैं, माया में नहीं।

भगवान की एक बहुत बड़ी माया है। जैसे सौन्दर्य है, कौशल्य है, शक्ति है, ये सर्वत्र व्याप्त हैं, फिर भी अनोखे हैं। सौन्दर्य भी अनोखा है। अभी आज यहाँ इतने लोग बैठे हैं। इनमें प्रत्येक का सौन्दर्य भिन्न है। प्रत्येक सुन्दर है, परन्तु भीतर का राम चला गया तो पता चलेगा कि दो घण्टों के बाद मनुष्य कितना कुरूप बनता है। यह जो सुन्दरता है वह एक भिन्न ही सौन्दर्य है। भगवान की कृति में कौशल्य है। तुम एक-एक फूल देखो, उसका रंग देखो, सुगन्ध देखो, उसमें जो सौन्दर्य है, कौशल्य है, शक्ति है वह अनोखी है, अलौकिक है। इतना सब होते हुए भी भगवान गुप्त रहते हैं। यही उनकी माया है। निर्माता गुप्त रहता है।

मोतिया का सुन्दर फूल देखने के बाद उसका रूप, रंग, सुगन्ध याद आता है, परन्तु उस फूल का निर्माता गुप्त रहता है, इतना ही नहीं, यह फूल किसने बनाया होगा इसका विचार करने की भी इच्छा नहीं होती है। यही उसकी माया है। समझ लीजिए, पत्नी अच्छी है, सुंदर है, परन्तु वह किसने बनायी है यह सोचने की इच्छा भी नहीं होती। अच्छी है, सुन्दर है, मेरी है, बस् समाप्त!

प्रत्येक वस्तु में भगवान का सौन्दर्य है, कौशल्य है। कृमि-कीटक से प्रारंभ कर फूल, पत्थर सभी में सौन्दर्य है, कौशल्य है और शक्ति भी है। इतनी अनोखी शक्ति है, फिर भी वह गुप्त रहते हैं, यह भगवान की माया है। मुझ पर माया आ गयी इसका कारण क्या है? उसका कारण उपनिषद में लिखा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। (तु.मुण्डक१/१)

(एक साथ रहनेवाले (तथा) परस्पर सख्यभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा एवं परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक (जीवात्मा) तो उस वृक्ष के फलों (कर्मफलों) का स्वाद ले-लेकर खाता है, (किन्तु) दूसरा (ईश्वर) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है।)

हमें जीवन में वस्तु व व्यक्ति की अभिलाषा रहती है। यह जो व्यक्ति या वस्तु की अभिलाषा है वह मनुष्य को सँभालती है। उसके लिए परेशानी सहती है। फिर वह पत्नी होगी, पड़ोसी होगा, चाचा होगा, मौसी होगी, कोई भी होगा मनुष्य उसे सँभालता है। व्यक्ति को सँभालना है। इसलिए व्यक्ति और वस्तु दोनों की अभिलाषा व्यक्ति के दिमाग में रहती है। शास्त्रकार कहते हैं कि उनकी मनुष्य को बिलकुल अभिलाषा नहीं है। जब मनुष्य

सो जाता है तब वह पूर्ण होता है, ऐसा शास्त्रकार कहते हैं, वह सत्य है। रात को सोने के बाद उसे किसी की आवश्यकता नहीं रहती, यह प्रत्येक मनुष्य जानता है।

न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ
मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।।

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्
न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम शिवोऽहम।।

मृत्यु की बहुत ही बड़ी शंका है, परन्तु

न मे मृत्युशंका न मे जातिभेदः
पिता नैव मे नैव माता न जन्म।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।।

रात को बारह बजे, सो जाने के बाद कौनसी वस्तु हमारे पास थी? कुछ सुनते थे, खाते थे, देखते थे? कुछ नहीं, फिर भी सुखी (*happy*) थे। वह कौनसा सुख (*happiness*) था? यह जो दिमागवाला मनुष्य है न! वह सोचता रहता है व दिमागरहित मनुष्य सो जाता है। वह रात को सोता है, दिन में भी सोता है।

बहुत से लोग सोत-सोते चलते हैं। हम चलते हैं, बाजार में जाते हैं इसका अर्थ यह नहीं है कि हम जागृत हैं। हम सोये हुए ही हैं। कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि रात को सोते हैं और सुबह उठने के बाद अपना बिस्तरा उठाकर दरवाजा खोलकर चले जाते हैं। उनको मालूम ही नहीं होता कि 'हम चल गये हैं? ऐसा चलते हैं, और अनुभव भी वैसा ही है। तो फिर यह अभिलाषा हमें छोड़ती क्यों नहीं है? यह प्रश्न है! हमारी दृष्टि से जो माया है (वस्तु या व्यक्ति की अभिलाषा) वह तो रहेगी ही, परन्तु शास्त्रकार कहते हैं—

'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते,
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'

हम रोज पढ़ते हैं कि, मैं पूर्ण हूँ मुझे किसी की आवश्यकता नहीं है, वैसा अनुभव भी नींद में लेते हैं, फिर भी हमें वस्तु अथवा व्यक्ति की जो अभिलाषा है वह क्यों है? सुख चाहिए इसलिए!

सुख के लिए ही वस्तु या व्यक्ति चाहिए। इनके बिना भी मैं सुखी था, अधिक सुखी था, वैसा अनुभव भी है, फिर भी वह अभिलाषा नहीं छूटती। भगवान के पास जो गूढ़ता है वह माया है और जीव (मेरे) के पास जो अभिलाषा है, वह अविद्या है।

इस अभिलाषा की पूर्ति होनी चाहिए। हमारे हाथों से उस अभिलाषा की पूर्ति नहीं होती। भगवान की सहायता न हो तो मनुष्य अपनी अभिलाषा की पूर्ति नहीं कर सकता। वह अकेला इस संसार में क्या कर सकता है? कुछ नहीं! इसलिए भगवान का आश्वासन चाहिए, भगवान का हाथ (सहायता) चाहिए। अतः अभिलाषा-पूर्ति के लिए भी भक्ति चाहिए, अभिलाषा में परिवर्तन करने के लिए भी भक्ति चाहिए। अभिलाषा रखो, मगर उसे बदल दो। उसके तीन मार्ग हैं। अभिलाषा की पूर्ति करनी है, अभिलाषा बदलनी है और अभिलाषा बन्द करनी है, समाप्त करनी है। इन तीनों के लिए भक्ति की आवश्यकता है। यह माया को पार करने का रास्ता है। माया समझनी चाहिए और भक्ति ही उसका उपाय है ऐसा आग्रहपूर्वक भागवतकार ने कहा है। जैसे कि शंकराचार्य ने कहा है, '**मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।**' इसलिए जीवन में भक्ति की क्या आवश्यकता है यह समझ लेना चाहिए।

उसके बाद, '**भागवतान् धर्मान् शिक्षेद्-** भागवत धर्म की शिक्षा लो' ऐसा कहा है। उसमें **गुर्वात्मदैवतः** प्रथम विषय है। दूसरा विषय वैराग्य, तीसरा सज्जनों के साथ मैत्री, चौथा अनाथों पर दया तथा पाँचवां श्रेष्ठ पुरुषों का आदर। उसके बाद शुचिता, शौच, तितिक्षा ये सब रखने चाहिए ऐसा भागवत धर्म में उन्होंने लिखा है। भागवत धर्म में कौन से अलंकार धारण करने चाहिए यह स्पष्ट भाषा में लिखा है-

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः।।२२।।
सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्।।२३।।
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः।।२४।। (भा.११/३)

(शिष्य को चाहिए कि गुरु को ही अपना परम प्रियतम और इष्ट देव मानकर, उनकी निष्कपट भाव से सेवा करके उनके पास रहकर भागवत धर्म की क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे। इन्हीं साधनों से भक्त को अपने आत्मस्वरूप का दान करनेवाले भगवान प्रसन्न होते हैं। प्रथम शरीर, सन्तान आदि में मन की अनासक्ति, फिर भगवान के भक्तों से प्रेम करना सीखना चाहिए। इसके पश्चात् प्राणियों के प्रति यथायोग्य दया, मैत्री तथा विनय की निष्कपट भाव से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। मिट्टी, जल आदि से शरीर की पवित्रता, छल, कपट आदि के त्याग से भीतर की पवित्रता, अपने धर्म का अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीतोष्ण, सुख दुःख आदि द्वन्द्वों में हर्ष-विषाद से रहित होना सीखना चाहिए।

भागवत धर्म में जो अलंकार आवश्यक हैं वे यहाँ बताये हैं। इनमें कहीं भी 'तिलक लगाना चाहिए' ऐसा नहीं बताया है। तिलक लगानेवालों का यहाँ मजाक नहीं है। तिलक तो लगाना ही चाहिए। परन्तु 'तिलक लगाया' इसीमें पूर्ण विराम समझने वालों के लिए यह कहता हूँ। जहाँ अल्पविराम चाहिए वहाँ पूर्ण विराम समझते हैं वह मिथ्या है। कितने ही लोग कहते हैं, 'हम हर दिन स्नान करते हैं, फिर मस्तिष्क पर तिलक लगाते हैं और उसके बाद ही दूध पीते हैं, इसका कारण हम वैष्णव हैं।' वैष्णव की व्याख्या इतनी छोटी बना दी गई है कि कोई भी मनुष्य **'वैष्णव'** बन सकता है। वैष्णव कौन है? सुभाषितकार कहता है-

ये पापं शमयन्ति संगतिभृतां ये दानशृङ्गारिणो
येषां चित्तमतीव निर्मलतरं येषां न भग्नं व्रतम्।
ये सर्वान्सुखयन्ति हि प्रतिदिनं ते वैष्णवा दुर्लभा
गङ्गावद्गजगण्डवद्गमनवद्गांगेयवद्गेयवत्।।

(जिनके सहवास से पाप नष्ट होते हैं, जो दान को अलंकृत करते हैं, जिनका चित्त अतिशय निर्मल होता है, जिनके व्रत कभी भंग नहीं होता, जो प्रतिदिन सभी को सुख देते हैं ऐसे वैष्णव गंगा, हाथी का गण्डस्थल, आकाश, भीष्म व संगीत जैसे होते हैं और इस जगत् में दुर्लभ होते हैं।)

भागवत धर्म में 'गुरु ही मेरी आत्मा है, गुरु मेरे देवता हैं' ऐसा लगना चाहिए तभी इस मार्ग से जा सकेंगे। अनजाने *(unknown)* पर प्रेम करना है। अदृश्य *(unseen)* के पास जाना है और अनजाने मार्ग से जाना है। यह सब इतना अज्ञात *(unknown)* है कि गुरु पर, मार्ग दिखानेवाले पर अत्यन्त प्रेम, श्रद्धा नहीं होगी तो उस मार्ग से नहीं जा सकते। इसीलिए अध्यात्म में गुरु की आवश्यकता समझायी है। गुरु अत्यावश्यक है। वह मेरी आत्मा है ऐसा लगना चाहिए। इसका अर्थ क्या है? गुरु का सुख दुःख मेरा सुख दुःख लगना चाहिए। गुरु का कार्य अथवा ध्येय मेरा होना चाहिए। इसका कारण, कार्य और ध्येयविहीन गुरु हो ही नहीं सकते। ऐसा यदि कोई होगा तो वह गुरु नहीं! आप ऋषियों तथा आचार्यों का जीवन देखिए। उनके जीवन में ध्येय दिखायी देता है। किसी भी ऋषि अथवा आचार्य का जीवन ध्येयरहित नहीं है। गुरु का ध्येय व कार्य मेरा भी ध्येय और कार्य है ऐसी एकात्मता गुरु के साथ होनी चाहिए।

भारतीय संस्कृति में गुरुभक्ति एक मधुर काव्य है। ज्ञानेश्वर भगवान ने तेरहवें अध्याय में गुरु की महत्ता समझायी है। किसी को पढ़ना हो तो पढ़ सकते हैं। गुरु शिक्षक अथवा आचार्य नहीं है। शिक्षक और आचार्य तत् तत् विषय हमें समझाते हैं, परन्तु गुरु हमें ज्ञान के गर्भागार में ले जाते हैं। गुरु हमें जीवन के प्रांगण में ले जाते हैं। शिक्षक व आचार्य को भी शंका पूछनी पड़ती है और वे समझाकर शंका का समाधान करते हैं, परन्तु जिनको देखकर ही शंका का समाधान हो जाता है उनको गुरु कहा जाता है। कहा है, **'गुरोस्तु**

मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।' इस प्रकार गुरु की महत्ता अद्भुत है। शंकराचार्य ने लिखा है-

> **दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः**
> **स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम्।**
> **न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये**
> **स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वाऽलौकिकोऽपि।।** (शत/१)

(तीनों लोकों (स्वर्ग, पृथ्वी, पाताल) में ज्ञान देने वाले गुरु के लिए कोई उपमा नहीं दिखाई देती। गुरु को पारसमणि के जैसा मानते हैं तो वह ठीक नहीं हैं, कारण पारसमणि केवल लोहे को सोना बनाता है, स्वयं को नहीं बनाती। सद्गुरु तो अपने चरणों का आश्रय लेने वाले शिष्य को अपने जैसा ही बना देता है। इसलिए गुरुदेव के लिए कोई उपमा नहीं है। गुरु तो अलौकिक हैं।)

'मैं किसी का हूँ' यह बोलने में आनंद है। 'मैं अकेला हूँ, स्वयं अपना ही हूँ' ऐसा बोलने में आनंद नहीं है। अफलातून को पूछो, तो वह कहेगा, 'मैं सुकरात का हूँ।' अरस्तू कहेगा, 'मैं अफलातून का हूँ।' 'मैं इब्सेन का हूँ' ऐसा बोलने में शॉं को आनन्द आता है। 'मैं मार्क्स का शिष्य हूँ' ऐसा कहने में लेनिन को गौरव लगता है। ये उदाहरण देने का कारण यह है कि जड़वादी लोग भी गुरुपूजा मानते हैं। केवल ईश्वरवादी ही मानते हैं ऐसा नहीं है। जिसे भावना है, उसके लिए गुरुपूजा का महत्त्व है। गुरु के जो सिद्धान्त हैं, जो प्रयोग हैं वे आगे ले जाऊँगा ऐसी भावना शिष्य के अन्तःकरण में होती है।

जनक राजा कहता है, 'मैं याज्ञवल्क्य का शिष्य हूँ।' शुकदेव कहते हैं, 'मैं जनक का शिष्य हूँ।' इसमें वीतराग शुक है और सिंहासनाधिष्ठित जनक राजार्षि है। आचार्यों में भी ऐसा ही है। शंकराचार्य ने लिखा है कि 'मैं गौडपादाचार्य का शिष्य हूँ।' यह एक अलौकिक व मधुर काव्य है। मूल बात यह है कि गुरु के सिद्धान्त आगे ले जाने हैं और गुरु के जो प्रयोग है, वे ज्यादा शक्ति लगाकर आगे ले जाने हैं। यही गुरुपूजा है। गुरुपूजा केवल फूल चढ़ाने से या फल अर्पण करने से नहीं होती। गुरु का जो ध्येय है, जो कार्य है वह आगे ले जाना है। जब तक शान्त और स्वच्छ बनने की छटपटाहट मानव में है तब तक गुरुपूजा रहेगी ही, वह नहीं छूटेगी।

जिसे देखकर स्वार्थ समाप्त हो जाता है, जिससे स्वार्थ साधने की इच्छा नहीं होती वह गुरु है। इसीलिए तो पुराने जमाने में कहा जाता था कि 'ब्राह्मण का खाना नहीं चाहिए। आज तो ब्राह्मण को ही खाते हैं, परन्तु ब्राह्मण खाने से इन्कार करते हैं क्योंकि उसका अर्थ ही मालूम नहीं है। गुरु तथा ब्राह्मण के साथ स्वार्थ का व्यवहार नहीं करना चाहिए यह उसका अर्थ है। शंकराचार्य के जीवन में घटी एक कहानी है-

आद्य शंकराचार्य एक प्रचण्ड शिलातल पर बैठे थे। तब सभी लोग उनका दर्शन करने के लिए जाने लगे जिनमें राजा-रंक सभी थे। प्रातः राजा अकेला ही पैदल चलकर

शंकराचार्य के दर्शन के लिए जा रहा था। मार्ग में एक माली बैठा था, उसके हाथ में एक सुंदर सुगंधी कमल था। शिशिर ऋतु प्रारंभ होने से कमल मिलना दुर्लभ था। वह कमल खरीदकर शंकराचार्य को अर्पण करने की राजा को इच्छा हुई। उसने माली से कमल की कीमत पूछी। माली ने कहा, चार आने। इतने में एक धनवान व्यक्ति वहाँ आ पहुँचा, उसने कहा, मैं आठ आने देता हूँ।' दूसरा व्यक्ति आया। उसने कहा 'मैं एक रुपया देता हूँ।' इस प्रकार कमल की कीमत बढ़ने लगी। माली ने सोचा कि ये लोग कमल ले जाकर जिसे बेचेंगें उससे अधिक पैसे लेंगे, तो मैं ही स्वंय जाकर क्यों न बेचूँ और अधिक पैसे पाऊँ?' उसने दोनों से कहा, 'मुझे कमल नहीं बेचना है।' दोनों चले गये। उनके पीछे-पीछे माली भी जाने लगा। सभी शंकराचार्य के पास आ पहुँचे। अनेक लोग थे। शंकराचार्य को नमस्कार करते थे और बैठ जाते थे। राजा तथा धनवान व्यक्ति ने भी शंकराचार्य को नमस्कार किया व अलग बैठ गये। इतने में माली भी आ गया। शंकराचार्य के चरणों में कमल रख दिया, नमस्कार किया और स्तब्ध रह गया। पैसा लेना है, ज्यादा पैसा लेना है यह भूल ही गया। जिस दृष्टि से आया था उसीको भूल गया। शंकराचार्य को देखते ही उसके मन के स्वार्थी विचार नष्ट हो गये।

जिनके पास जाने के बाद स्वार्थी विचार ही खत्म हो जाते थे ऐसे पवित्र ब्राह्मण पुराने जमाने में थे। इसलिए ब्राह्मण को व्यवहार में धोखा नहीं देना चाहिए उसके साथ चालाकी नहीं करनी चाहिए ऐसा लोगों को लगता था। ब्राह्मण का व्यवहार में ध्यान ही नहीं होता। इसका अर्थ वह व्यवहार नहीं जानता था ऐसा नहीं था, परन्तु व्यवहार की अपेक्षा अन्य बातों की ओर उसका ध्यान था, दूसरा बहुत कुछ उसे देखना था। इसलिए आज तक एक परम्परा है कि ब्राह्मण के घर में नहीं खाना चाहिए। तो क्या ब्राह्मण अछूत है? मगर अछूत के घर में भी खाने में क्या हानि है? अत: ब्राह्मण के घर में न खाने की जो रीति परंपरा से आयी है वह क्यों आयी इसका विचार करना चाहिए। हिन्दी भाषा में एक कहावत है- **'पीना पानी छानके और गुरु करना जानके।'** गुरु सोच समझकर ही बनाना चाहिए। संस्कृत में एक सुभाषित है—

बहवो गुरवो लोके शिष्यवित्तापहारका:।
क्वचित्तु तत्र दृश्यन्ते शिष्यचित्तापहारका:।।

जगत् में अनेक गुरु शिष्य का वित्त हरण करनेवाले होते हैं, परन्तु शिष्य का चित्त हरण करनेवाले गुरु शायद ही दिखायी देते हैं।

इसलिए, भागवत धर्म में प्रथम कुछ समझाया होगा तो वह गुरुभक्ति समझायी है। 'गुरु' शब्द का अर्थ क्या है? **'गु' शब्दस्त्वन्धकारः स्यात् 'रु' शब्दस्तन्निवर्तक:।' 'गु'** शब्द का अर्थ है 'अन्धकार'। और **'रु'** शब्द का अर्थ है- निवर्तक -निकालने वाला। अन्धकार का निवारण जो करता है वह गुरु है। जीवन क्या है? किसलिए है? इस सम्बन्ध में सबके मन में अन्धकार है। अन्धकार में प्रकाश कौन देगा? कोई कहेगा कि प्रकाश सूर्य

देता है। सच बात है। सूर्य ही अन्धकार का नाश करता है। आप सूर्य को मानो या न मानो, आपको चाहिए या नहीं चाहिए, सूर्य उदय होगा ही और प्रकाश देगा ही। सूर्य से जो अंधकार जाता है वह अन्धकार अलग है, परन्तु जीवन के सम्बन्ध में जो अन्धकार है वही 'गु' है। इस अन्धकार को हटाकर जीवन का अर्थ समझानेवाला गुरु है। हम बड़े होते हैं, विवाह करते हैं, परिवार चलाते हैं, बूढ़े होते हैं और मर जाते हैं, परन्तु जीवन क्या है, क्यों है, किसलिए है इसका हमें पता ही नहीं चलता। यह अंधकार गुरु हटाते हैं।

जिसके जीवन में से अन्धकार चला गया है ऐसा जनक राजा भी शुक का गुरु बन सकता है। राजसिंहासन पर बैठकर भी राज्य, वित्त, लक्ष्मी इनसे युक्त होने से मुमुक्षत्व नष्ट नहीं होता।

गुरु कैसा होना चाहिए, इस पर भी शास्त्रकारों ने लिखा है। **सर्वशास्त्रपरो दक्षः सर्वशास्त्रार्थवित् सदा-'** जिसे कुछ नहीं आता है जिसका किसी शास्त्र का अभ्यास नहीं है वह गुरु नहीं हो सकता। क्योंकि वह दूसरे का अनुभव उठाने को तैयार नहीं है, उसे दूसरे के अनुभवों का पता ही नहीं है। ज्ञान का अर्थ क्या है? दूसरों का अनुभव! दस हजार वर्षों में मानव को कुछ अनुभव आये हैं। ये अनुभव शब्दांकित हुए। उनको शास्त्र कहते हैं। गुरु के सम्बन्ध में कहते हैं--

सर्वशास्त्रपरो दक्षः सर्वशास्त्रार्थवित्सदा।
सुवाचः सुन्दरः स्वंगः कुलीनः शुभदर्शनः।।
जितेन्द्रियः सत्यवादी ब्राह्मणः शान्तमानसः।
सगुणोपासनां यस्तु सम्यग् जानाति कोविदः।।

ऐसा गुरु होना चाहिए। सगुणोपासना-मूर्तिपूजा यह जीवन विकास के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। **सगुणोपासनाम् यस्तु सम्यक् जानाति न केवलं जानाति कोविदः?** ऐसा लिखा है। क्योंकि बिना मूर्तिपूजा के व्यक्ति आगे बढ़ ही नहीं सकता। उसके बिना चित्तशुद्धि अशक्य है। आपके पास शक्तिशाली बुद्धि होगी तो उससे आप कदाचित् ज्ञात मन शुद्ध करेंगे, परन्तु अज्ञात मन का शुद्धिकरण कैसा करेंगे? अज्ञात मन *(Unexperienced state of mind)* वासनारूप है। उसका शुद्धिकरण करना होगा तो मूर्ति में चित्तैकाग्रता *(concentration)* यही एक उपाय है। इसीलिए सगुणोपासना का आग्रह रखा है।

बुद्ध भगवान के बाद मूर्तिपूजा चली गयी थी। इसीलिए शंकराचार्य को उठना पड़ा। क्षणिक विज्ञानवाद और मूर्तिपूजा के लिए शंकराचार्य केरल से बद्रीनाथ तक घूमे। लोग कहते हैं कि शंकराचार्य को उधर बद्रीनाथ में भगवान के दर्शन हुए। मुझे तो इसमें ऐसा लगता है कि शंकराचार्य का इतना मजाक किसी ने नहीं उड़ाया होगा। यह उनकी बदनामी है कि उनको केरल में साक्षात्कार नहीं हुआ और उधर- बद्रीनाथ जाना पड़ा। तो क्या केरल से बद्रीनाथ तक का प्रदेश बिना ईश्वर के रणप्रदेश था? तो फिर शंकराचार्य

बद्रीनाथ क्यों गये? मूर्तिपूजा का झंडा लेकर वे बद्रीनाथ गये। बद्रीनाथ की स्थापना भी उन्होंने की हैं।

हम नारायण नारायण बोलते हैं। धर्म में कितना कूड़ा-कचरा घुस गया है देखो! शंकराचार्य का नाम शंकर है और वे **'चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्'** ऐसा बोलते हैं। संस्कृत का ज्ञान होने से लोग कहते हैं कि शंकराचार्य विष्णुभक्त नही हैं, परन्तु जब बद्रीनाथ का पूजन करने जाते हैं, तब बद्रीनाथ की स्थापना शंकराचार्य ने की है, यह उनको पता नहीं है। किसी को वह जानना भी नहीं है। 'पीछे से आया आगे धकेल दिया' ऐसा चल रहा है। ऐसा करने से पुराने चरित्रों *(Characters)* पर कितना अन्याय होता होगा! क्या करेंगे? **'सर्वकार्येषु निपुणः गुरुः एवम् ते विधीयते'** ऐसे गुरु की अध्यात्म में आवश्यकता है। गुरु हमें ऊपर ले जायेंगे इसलिए गुरु की आवश्यकता नहीं है। वे मार्गदर्शक हैं। अदृश्य के पास जाना है अदृश्य शक्ति पर प्रेम करना है तो जीवन में मार्गदर्शक गुरु की आवश्यकता पड़ेगी ही। उनके विचार और जीवन का परिणाम हमारे जीवन पर होता है, इसलिए गुरु की आवश्यकता है।

हरेक का परिणाम हम पर होता है। देखिये, आप प्रकृति के पास जायेंगे, निर्झर के पास बैठेंगे तो आपका चित्त शान्त हो जायेगा, कारण उनमें भगवान हैं ऐसा लोग कहते हैं। परन्तु छगन-मगन इकट्ठे होते हैं तो क्या छगन में भगवान नहीं? हैं ही! परन्तु छगन-मगन को एक दूसरे को देखने पर द्वेष निर्माण होता है। शान्ति किधर मिलती है? हम सब में भगवान हैं, परन्तु प्रकृति में जो भगवान हैं वे अहंकार से मलीन नहीं हुए हैं। हममें जो भगवान हैं, जो चैतन्य है, वह अहंकार से मलीन बन जाता है, इसलिए उसका कोई परिणाम नहीं होता। परन्तु जो महापुरुष होते हैं उनके विचार और जीवन का परिणाम हम पर धीरे-धीरे होता है। हमें पता भी नहीं चलता कि परिणाम कैसे होता है। 'परिणाम होता है' इसका अर्थ यह नहीं है कि आज महापुरुष के पास आये और कल वसिष्ठ बन गये। ऐसा नहीं है। ऐसा होता तो **'संवत्सरं, संवत्सरं...।'** कहने की आवश्यकता न होती। गुरु और महापुरुष के विचार और जीवन मनुष्य के जीवन में शनैः शनैः परिवर्तन लाते हैं। कारण भगवद्शक्ति से चलनेवाला उनका जीवन है।

गुरु चाहिए क्योंकि हमारे मन में कूड़ा-कचरा इकट्ठा होता है उसे कहाँ डालेंगे? मन को खाली करना है। कबूल कहाँ करेंगे? ख्रिश्चन लोगों ने भगवान के सामने कबूली (पाप या दोष स्वीकृति) के लिए एक दिवस कबूली दिवस *(confession day)* रखा है। परन्तु भगवान के सामने अपराध कबूल करने से प्रतिभाव *(Response)* नहीं मिलता। अतः मन हलका भी नहीं बनता। फिर मन का कचरा कहाँ डालें? मन का कचरा डालने पर, जिसके मन से मनुष्य उतरेगा नहीं ऐसे महापुरुष की जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है। यह महापुरुष किसी का पाप जानने पर भी उस व्यक्ति में स्थित चैतन्य की ओर देखेगा। ऐसे महापुरुष को गुरु कहते हैं।

गुरु के पास मनुष्य पाप नहीं कहेगा तो कब तक उसका संग्रह करेगा? मनुष्य से पाप होता ही है। अज्ञान से, मूर्खता से, परिस्थितिवश पाप होता ही है। जो पाप हुआ है उसे महापुरुष के सामने कहे बिना मन हलका नहीं होता। मन में छोटे-छोटे कुविचार भी आते हैं। वे किसके पास कहेंगे? उसके लिए गुरु चाहिए। गुरु पत्थर जैसा (अच्छे अर्थ में) होना चाहिए यानी किसी का पाप सुनने पर भी जिसके मन पर परिणाम नहीं होता। वह किसी का पाप सुनेगा, आवश्यक हो तो मार्गदर्शन करेगा, परन्तु बाद में वह भूल जायेगा। कहनेवाले की ओर 'पापी' की दृष्टि से नहीं देखेगा, उसके भीतर स्थित चैतन्य की ओर ही देखेगा। किसी का पाप सुनकर उसका अनुचित लाभ लेने का *(Exploitation* करने का) उसका मन नहीं होगा। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए वह उसका उपभोग नहीं करेगा। इसीलिए मैं उसे 'पत्थर जैसा' कहता हूँ। पापस्वीकृति कहने के लिए गुरु चाहिए। यदि मन का पाप किसी के सामने नहीं कहा जायेगा तो मनुष्य के हाथ से बार-बार पाप होते रहेंगे। 'मैंने एक बार पाप कह दिया' ऐसा लगने से मानसशास्त्र की दृष्टि से भी वह अपने को स्वतंत्र समझेगा, हलका बनेगा। इसलिए गुरु की महत्ता समझायी है।

भागवत धर्म में गुरुपूजा की विशेषता समझाते हुए कहा है कि शिष्य को आत्मवत् समझनेवाला गुरु होना चाहिए। कैलासराणा शिवजी आदर्श गुरु हैं। वे हिमाच्छादित, शुभ्र, स्वच्छ प्रचण्ड शिलातल पर बैठे हैं। यानी उनका आसन स्वच्छ है और शुभ्र है। गुरु जो कुछ कृति करेंगे उसकी बैठक, उसकी नींव स्वच्छ होगी। वे मारेंगे तो भी उनका हेतु अच्छा होगा। भगवान हमेशा तुम्हारी कृति नहीं देखते। उस कृति की नींव में क्या है, उसका हेतु क्या है यह भगवान देखते हैं। कृति अच्छी या खराब है यह उसके हेतु से सिद्ध होता है। माँ भी पुत्र को मारती है, और गुण्डा भी मारता है। दोनों की कृति बाह्य दृष्टि से समान ही लगती है, परन्तु गुण्डे का मारना पाप है, माँ का मारना पुण्य है।

शिवजी प्रचण्ड शिलातल पर बैठे हैं। उनके मस्तिष्क में से ज्ञानगंगा बहती है। गुरु का मस्तिष्क ज्ञान से भरा हुआ रहता है। कितने ही लोग कहते हैं कि 'हमारे गुरु ज्ञान की किचकिच में नहीं पड़ते, परन्तु चमत्कार करते हैं। उसको गुरु ही नहीं कहा जाता। मस्तिष्क में से ज्ञान की गंगा बहनी चाहिए। अपने अनुभव और दूसरों के अनुभव मिलकर जो होता है उसे ज्ञान कहते हैं। स्वयं के पास अनुभव होना चाहिए वैसे दूसरे का अनुभव स्वीकारने की तैयारी होनी चाहिए। दूसरों को पागल कहनेवाला ज्ञानी नहीं है। वेद का अर्थ ही ज्ञान है। शिवजी की तीन आँखें हैं। तीसरी आँख बुद्धि की आँख है। वह खुलनी चाहिए। शिवजी त्रिलोचन हैं वैसे गुरु की भी तीसरी बुद्धि की आँख खुली होनी चाहिए। वे तीनों आँखों से सभी इन्द्रियों को काबू में रखते हैं। शिवजी विषैले साँप को निर्विष बनाकर खिलाते हैं। साँप से भी अधिक विषैला मनुष्य होता है। यह केवल बौद्धिक दृष्टि से नहीं, अपितु भौतिक दृष्टि से भी सत्य है। ऐसा कहते हैं कि साँप मनुष्य को काटता है, उसी समय मनुष्य यदि साँप को काटेगा तो पहले साँप मर जायेगा और मनुष्य बाद में मरेगा। मनुष्य के दाँतों में इतना विष है। ऐसे मनुष्यों को भी जो र्निविष बनाता है वह गुरु है।

जीवन में मृत्यु है। मृत्यु होनी ही चाहिए। मृत्यु में काव्य खड़ा करनेवाला, मृत्यु का काव्य बतानेवाला गुरु है। मृत्यु है इसीलिए जीवन है। मृत्यु को भी भगवान ने ही बनाया है। एक बार मैं क्रिकेट मैच देखने गया था। मैच देखते-देखते मैं पूरी जानकारी हासिल कर रहा था, इतने में विकेट के पीछे खड़े आदमी के बारे में पूछा कि यह कौन है? मेरे पूछने पर उसने कहा, 'यह विकेटकीपर है।' मैंने पूछा, 'विकेटकीपर का कौन-सा काम है?' उसने कहा कि जब बैट्समन क्रीज *(Crease)* छोड़कर बाहर निकल जाय तो यह विकेट तोड़ देता है और बैट्स्मन आउट होता है। मुझे आश्चर्य हुआ मैंने पूछा जो विकेट तोड़ता *(Break* करता है) उसे विकेटकीपर क्यों कहते हैं? उसे तो विकेटब्रेकर कहना चाहिए! उसने कहा, 'मुझे मत पूछो।' मैं स्वयं सोचने लगा। मुझे लगा कि यह खेल ब्रिटिश लोगों का बनाया हुआ है और बहुत अच्छा है। विकेट गिरनेवाली है इसीलिए जीवन में आनंद है। जीवन में चैतन्य है, प्राण है वह विकेट गिरती है इसलिए है। समझो कि विकेट को सीमेंट में पक्का बना दिया जाय तो वह गिरेगी ही नहीं और विकेट नहीं गिरेगी तो खेल ही समाप्त हो जायेगा। फिर खेल कैसा? इसी प्रकार जीवन में भी मनुष्य की विकेट गिरती है (वह मरता है) इसीलिए जीवन में आनंद है, स्वाद है। जीवन का आनन्द इसी को कहते हैं। विकेट का महत्त्व, खेल का आनंद उसने सँभाला है इसीलिए उसे विकेटकीपर कहते हैं। ऐसा ही भगवान भी करते हैं। भगवान शिव का रूप गुरु का रूप है। ज्ञानराणा शिव हैं, परन्तु लोग यह नहीं समझते और कहते हैं कि हम शिव की उपासना नहीं करते, हम वैष्णव हैं। उनसे पूछना चाहिए कि शिव की उपासना करेंगे तो क्या होगा? कुरता पहनकर पिता आयेगा तभी नमस्कार करते हैं, परन्तु एकाध बार कुरता उतारकर पिता आता है तो क्या नमस्कार नहीं करते? कुरता नहीं पहना है तो भी पिता तो पिता ही है। पिता के भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं।

एक ही देवता रखने को कुछ तो अर्थ है। चित्त एकाग्र करते समय एक ही रूप मे चित्त एकाग्र करो। प्रतिदिन रूप नहीं बदलना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो दूसरे रूप में है वह भगवान नहीं। मूर्तिपूजा का रहस्य चला गया इसलिए बाद में ऐसी बातें प्रविष्ट हुई हैं।

भागवत धर्म में इसके उपरान्त विषय वैराग्य, अनाथों पर दया, सज्जनों के साथ मैत्री और श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति आदर होना चाहिए– ये चार गुण प्रारंभ में होने चाहिए ऐसा कहा है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक है-

सर्वतो मनसोऽसंगमादौ सङ्गं च साधुषु।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम्।। (भा-११-३-२३)

विषयवैराग्य भागवत धर्म का रहस्य है। विषयों को छोड़ना चाहिए। विषयों का आकर्षण होगा तो भगवान के प्रति आकर्षण कम हो जायेगा। विषय मिलने पर मनुष्य उनमें ही मग्न रहेगा व भगवान छूट जायेंगे। इसलिए विषयवैराग्य होना चाहिए।

आज देखिये, वित्तवान और सत्तावान, जो भगवान के लाड़ले लड़के हैं वे भगवान को ही भूल गये हैं। उनको जो प्राप्त हुआ है उसका प्रबंध करने में ही वे मशगूल हैं। पाया हुआ वैभव चला जा सकता है यह सोचते ही नहीं। वैभव किसलिए मिला है, जो शक्ति मिली है उसका उपयोग करना चाहिए इसका विचार ही वे नहीं करते हैं। वे दैव-नसीब को मानते हैं, क्योंकि दैव को माने बिना छुटकारा ही नहीं है। दैव मानना और देव-भगवान मानना इसमें फर्क है। दैव व देव इनमें एक रेखा का फर्क है। दैव में हमारा कर्म है। गत जन्मों के कर्मों का जो फल बैंक में जमा है वह इस जन्म में मिलता है, उसे दैव कहते हैं। परन्तु देव-भगवान तो कृपा से, प्रेम से देते हैं। इस प्रकार दोनों की विचारधारा में फर्क़ है। कोई दैव को मानता होगा और उसके लिए ग्रहों की शान्ति भी करता होगा तो उसे वह भागवत कहने का साहस कोई नहीं करेगा। जो व्यक्ति समझदार है वह उसे भागवत या भक्त नहीं कहेगा।

विषय-वैराग्य क्यों चाहिए? इन्द्रियों का आकर्षण इतना जबरदस्त रहता है कि वह बलवान व्यक्ति को भी खींचकर ले जाता है, इसलिए यहाँ विषय-वैराग्य पर बल दिया है। भगवान के प्रति जब ज्ञान से प्रेम बढ़ता है, भगवान पर जब बौद्धिक-प्रेम- *(Intellectual love)* हो जाता है तब विषय और विषय देनेवाले भगवान की स्पष्ट कल्पना आती है। इसीलिए विषयों के लिए भय-सूचना *(Danger signal)* दिखायी है।

यहाँ पहली बात यह है कि क्या विषय छूटेंगे? विषयों को क्या छोड़ सकते हैं? विषयों का अर्थ क्या है? जब तक मैं विषयी *subject* हूँ, तब तक विषय- *(object)* रहेगा ही। इस दृष्टि से भगवान भी विषय *(object)* ही है। हम मन्दिर में भगवान की पूजा करने जाते हैं तब मन्दिर में भगवान की मूर्ति भी विषय ही है। इसलिए उच्च स्थिति में पहुँचने पर तत्त्वज्ञानी भी कहते हैं- **अतस्मिंस्तत् बुद्धिरविद्या** और वैसे ही **अतस्मिंस्तद् बुद्धिः भक्तिः उपासना।**

प्रश्न यह है कि क्या विषय छूटेंगे? सूर्योदय व सूर्यास्त देखकर आनन्द होना चाहिए या नहीं? क्या वे विषय नहीं हैं? विषय शब्द स्त्री या वित्त तक ही मर्यादित नहीं है। सूर्योदय, सूर्यास्त भी विषय है। समुद्र व प्रकृति के सौन्दर्य को हम देखने जाते हैं तो वे विषय ही हैं। तो फिर विषय छूटेंगे कैसे? श्रीमदाद्य शंकराचार्य भी सूर्योदय, सूर्यास्त देखकर पागल बन गये थे। अत: विषय कैसे छूटेंगे यह पश्न है।

विषयवैराग्य में वैराग्य यानी क्या है? **'विशेषेण रागः इति वैराग्यः।'** विचारपूर्वक, समझकर किया हुआ राग यानी वैराग्य! सभी को सुख चाहिए। विषयों से सुख मिलता है, सुख का आग्रह है, परन्तु सुख क्या है? सुख की व्याख्या क्या है?

नैयायिकों, जो जबरदस्त बुद्धिशाली हैं, ने भी 'सुख की व्याख्या हम नहीं कर सकते' ऐसी अगतिकता प्रकट की है। नैयायिक यानी अति बुद्धिशाली *(Highest intellectual persons)* आज जिन्हें हम वैज्ञानिक *(Physicist)* कहते हैं उन्हें पुराने समय में नैयायिक

कहते थे। वे कहते हैं कि **'अनुकूलतया वेदनीयं सुखं प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्।।'** सुख और दुःख की व्याख्या नहीं हो सकती। पत्नी सुखकारक भी हो सकती है और दुःखदायक भी हो सकती है। सुख-दुःख क्या है? भर्तृहरि ने कहा है—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूं
प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः।। (वै.श ४५)

जब प्यास के कारण गला सूख जाता है तब मनुष्य स्वादिष्ट सुगंधयुक्त जल पीकर प्यास को बुझाता है। भूख से व्याकुल होने पर अनेक मधुर रसयुक्त व्यंजन खाकर अपनी भूख मिटाता है। कामाग्नि के प्रदीप्त होने पर कामिनी को प्रगाढ़ आलिंगन पाश में लेकर कामाग्नि को शान्त करता है। इस प्रकार दुःख का, व्याधि का शमन करने के जो उपाय हैं उनको ही मनुष्य भूलकर 'सुख' समझता है।

जब प्यास से गला सूखता है तब व्यथा- व्याधि होती है, पानी पीकर तुमने उसका प्रतिकार किया, सुख प्राप्त हुआ, यानी दुःख का प्रतिकार सुख है? बगीचे में टहलते हुए एक गुलाब का सुन्दर फूल देखने पर आनंद होता है या नहीं? क्या आपको, गुलाब कब देखूँगा, कब देखूँगा इस छटपटाहट से दुःख हुआ था? नहीं! शक्कर जीभ पर रखने पर मीठी लगेगी या नहीं? क्या उसके लिए व्याधि हुई थी? नहीं! इसी प्रकार सुख के लिए पहले दुःख होना चाहिए मगर उसका प्रतिकार सुख है यह व्याख्या उचित नहीं है। इसलिए गीताकार ने सुख की व्याख्या की है- **मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा।** 'हे अर्जुन! इन्द्रियों के विषय शीत और उष्णता के कारण सुख दुःख देनेवाले हैं।' परन्तु इन्द्रियाँ और विषय का सम्बन्ध होने के बाद सुख होता है यह बात भी सच नहीं है। उदाहरणस्वरूप आप रास्ते से जाते हुए, दूसरा एक भाई भी जाता हुआ आप देखते हैं। चलते हुए आपकी आँखों का व उस भाई का सम्बन्ध हुआ है फिर भी आप उसके साथ नहीं बोलते हैं। तब वह आप से पूछता है, 'क्या मुझे नहीं पहचाना?' तब आप कहते हैं, 'ओ हो! आप हैं? मेरा ध्यान दूसरी ओर था।' इसका अर्थ यह है कि इन्द्रियों और विषय का केवल सम्बन्ध होना पर्याप्त नहीं है, उसके पीछे मन भी होना चाहिए। **'अन्यत्र मनः अभुवं नापश्यत् अन्यत्र मनः अभुवं नाश्रोषम्'** यह उपनिषद का सिद्धान्त है। गीता को यह मान्य है। मन अन्यत्र हो तो विषय तथा इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर भी सुख-दुःख नहीं होता। अन्त में, इस मन का ही प्रश्न आकर खड़ा रहता है। सुख व दुःख मन की चंचलता है। मैं सुखी हूँ अथवा दुःखी हूँ यह मन का प्रश्न है।

हम जब चंचल मन के हाथ में चले जाते हैं तब भक्ति की पकड़ *(grip)* शिथिल हो जाती है। इसलिए इन्द्रियों के साथ मन होता है, उसका स्वभाव बदलने की आवश्यकता है। मन को समझाने की आवश्यकता है। वित्त अच्छा है, श्रेष्ठ है परन्तु वह किसलिए है?

अच्छा काम करने के लिए है ऐसा आप अपने मन को, बुद्धि को समझायेंगे तब विषय, 'विषय' न रहकर 'प्रसाद' बन जायेंगे। विषय-वैराग्य का अर्थ यह नहीं है कि सब छोड़कर चले जाना! विषयों को छोड़कर चले जाना भी नहीं है, परन्तु मन का भाव, मन की जो भावना है उसे बदलना आवश्यक है। यही भागवत धर्म का रहस्य है।

आज हम पैसा कमाते हैं, परन्तु किसलिए? हमारा महत्त्व बढ़े इसलिए! हमें पैसा मिलने के बाद उसमें से थोड़ा सा हम गरीबों को देते भी हैं इसका कारण ऐसा करने से हमारा महत्त्व बढ़ता है। आज मनुष्य को ऐसा ही लगता है कि अपना महत्त्व बढ़े और शरीर को सुख-आराम मिले इसलिए पैसा कमाना है। परिणामस्वरूप हमारा पैसा, वित्त, वैभव विषय बनता है। परन्तु मन को यदि समझायेंगे तो? दृष्टि बदल सकते हैं। ऋषियों ने पैसा मिथ्या है, त्याज्य है ऐसा नहीं कहा है, उल्टे उन्होंने श्रीसूक्त गाया है और उसमें लक्ष्मी की माँग की है। **'अनपगामिनीं लक्ष्मीं आवह'** ऐसी लक्ष्मी चाहिए कि जो आने पर वापस जायेगी ही नहीं। फिर कहते हैं, **'अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रबोधिनीम्'** लक्ष्मी हाथी पर बैठकर, गर्जना करती हुई वाजे-बाजे के साथ आनी चाहिए, पिछले दरवाजे से आनेवाली लक्ष्मी नहीं चाहिए ऐसी माँग की है।

ऋषियों को वित्त चाहिए, किसलिए? भगवान! आपका काम करने के लिए मुझे लक्ष्मी चाहिए। यह भाव (भूमिका) होगा तो वित्त विषय नहीं रहता, वह प्रसाद बन जाता है। वह वित्त लक्ष्मी बनता है। जो भगवान से मिलता है उसे प्रसाद कहते हैं इसलिए भागवत की दृष्टि में विषय, विषय-वैराग्य का अर्थ यह है। मेरे पास जो पैसा आया है वह अपनी कमाई है या प्रसाद है? वह मेरे लिए है या प्रसाद है यह निश्चित होना चाहिए। यह बुद्धि में निश्चित करेंगे और मन को बदल देंगे कि मुझे मिला हुआ पैसा प्रसाद है तो विषयों को छोड़कर यहाँ से भागने की आवश्यकता नहीं है ऐसा भागवत धर्म समझाता है। यहाँ से भागकर दूसरी ओर गये, वहाँ भी वही दृष्टिकोण रखा तो? फिर भागने का क्या उपयोग है? भागने से कुछ नहीं मिलेगा। उसमें अगतिकता और असहायता ही है, दूसरा क्या है? भागवत धर्म मन और बुद्धि को बदलने के लिए समझाता है।

भागवतकार को 'विषय' के बारे में इतना क्यों कहना पड़ा? हम व्यक्ति अथवा वस्तु को 'विषय' बना देते हैं। व्यक्ति भी विषय बनता है। पुरुष भोक्ता है और स्त्री भोग्य है ऐसा याज्ञवल्क्य के कहने पर गार्गी ने कहा, तुम पुरुष हो इसलिए ऐसा बोलते हो। हम कहेंगी कि पुरुष भोग्य हैं और स्त्री भोक्ता है।

व्यक्ति अथवा वस्तु को भोग्य ठहराना चाहिए या नहीं यह मूलभूत प्रश्न है। वस्तु या व्यक्ति को हम भोग्य ठहराते हैं यह विषय की दुर्वासना है। विषय *(Object)* को छोड़ देंगे तो विषय की कद्र *(Appreciation)* ही नहीं रहेगी ऐसा कहने का ऋषियों का अभिप्राय नहीं है, उनका वैसा मंतव्य नहीं है और वे वैसा कहते भी नहीं! प्राथमिक अवस्था के जीव को समझाने के लिए वे कहते हैं कि तू विषयों का आकर्षण रखेगा तो भगवान से अलग

हो जायेगा। इसकी अपेक्षा आगे की सीढ़ी पर पहुँचने पर 'विषय किसलिए हैं?' इसका विचार करने को कहते हैं। विषय कब निश्चित होता है? वस्तु अथवा व्यक्ति उपभोग्य माना जाता है, दूसरा व्यक्ति उसका उपभोग लेता है तब वह विषय कहलाता है। आपके घर में जो नौकर है उसका तुम उपभोग लेते हो। वस्तु या व्यक्ति को क्या उपभोग्य ठहराना चाहिए? यह भागवत के सामने प्रश्न है।

उपभोग आये तो हानि क्या है? उसमें ऐसी कौन सी विपत्ति आयेगी? एक विपत्ति ऐसी है कि जब विषय में स्वामित्व का भाव आता है तब उपभोगता आ जाती है। यह स्वामित्व का भाव ही गलत है। 'यह मेरा नौकर है', 'यह मेरी पत्नी है' विपत्ति इसीमें है। स्वामित्व की भावना तत्त्वज्ञान में बहुत ही बड़ा विघ्न है। उसमें उपभोक्ता श्रेष्ठ माना जाता है व उपभोग्य कनिष्ठ माना जाता है। भागवत के दृष्टिकोण को यह मान्य नहीं है। दोनों यदि भगवान के पुत्र हैं तो एक श्रेष्ठ और दूसरा गौण है तो वह कैसे मान्य होगा? कारण दोनों का जीवन भगवान चलाते हैं, दोनों का रक्त भगवान बनाते हैं। व्यवहार में 'श्रेष्ठ-कनिष्ठ' रहेगा, परन्तु भक्ति में कैसे रहेगा? चपरासी, चपरासी का काम करेगा और कलेक्टर उसका काम करेगा, यह व्यवहार है, परन्तु भागवत की दृष्टि से उनकी ओर देखेंगे तो दोनों भगवान के पुत्र हैं। एक को एक काम सौंपा है, दूसरे को दूसरा काम सौंपा है, इसलिए उपभोग में दोष खड़े हो जाते हैं। अत: उपभोग को छोड़ना चाहिए तो क्या करना चाहिए? उसे भगवान की पूँजी समझना चाहिए, धरोहर है भगवान की! भगवान ने दिया है अत: वह प्रसाद है। भक्ति की दृष्टि होनी चाहिए ऐसा भागवतकार का कहना है। यह विषय-वैराग्य का अर्थ है।

सभी लोग कल जीवन-व्यवहार ही छोड़कर भागवत बन जायेंगे तो सभी को कहना पड़ेगा कि भगवद्भक्ति छोड़ दो। महाराष्ट्र में आषाढ़ महीने में वारकरी संप्रदाय के लोगों का बहुत महत्त्व है। एकादशी की वारी (यात्रा) के लिए वारकरी अपने अपने गांवों से पंढरपुर पैदल जाते हैं। लाख-लाख, दो लाख की संख्या में वारकरी वहाँ पहुँचते हैं। जब तक प्रत्येक गाँव से दो-चार बूढ़े जाते हैं, पाँच दस लोग जाते हैं तब तक ठीक है, उसमें प्रतिष्ठा है, परन्तु गाँव-गाँव से सभी लोग उठकर पंढरपुर की यात्रा के लिए जाने लगे तो खेती कौन करेगा? बुवाई कौन करेगा? बोना तो पड़ेगा ही। ऐसे ही समय सभी वारकरियों से कहना पड़ेगा कि खेती करो, पंढरपुर मत जाओ। वही बात भक्त पुंडलिक ने बतायी है। पुंडलिक से भगवान मिलने आये उसने कहा 'मैं कर्मयोग में लीन हूँ, मेरे पास अभी समय नहीं है।' ऐसा कहकर भगवान की ओर एक ईंट सरका दी और उस पर खड़ा रहने को भगवान से कहा। भगवान को ईंट पर खड़ा रहना पड़ा। इसलिए मराठी में कहा है, **'युगे अठ्ठावीस विटेवरी उभा।'** तुकाराम ने कहा, **'का रे पुंड्या मातलासी उभे केले विठ्ठलासी।'** अरे पुंडलिक! तू क्या इतना उन्मत्त बन गया है कि भगवान मिलने आये तो उनको ईंट पर खड़ा किया?' इसमें एक भिन्न ही हृदय है। तात्पर्य यह है कि उस समय कर्म की महत्ता भी समझानी पड़ी।

फिर विषय-वैराग्य का अर्थ कौन सा है? उसमें दो बातें हैं। विषयों का आकर्षण किधर होता है यह देखना चाहिए। उससे सँभलना चाहिए। विषयों को उठानेवाला मन है, उस मन को बदलना चाहिए। वस्तु या व्यक्ति को विषय मानना व्यर्थ है। उसे प्रसाद मानो यह कहने का तात्पर्य है। विषय मानने से किसी भी व्यक्ति या वस्तु के सम्बन्ध में स्वामित्व की भावना *(sense of possession)* आती है यह प्रथम बात है। बिना स्वामित्व के सुख नहीं है। किसी दूसरे का अलंकार देखकर सुख नहीं होता, 'अपने अलंकार' से सुख होता है। किसी के गले में मैं हीरे का गहना देखता हूँ तब मुझे जलन होती है। मेरा गहना मुझे सुख देता है, दूसरे का नहीं! स्वामित्व की यह भावना भक्त को रखनी चाहिए। वह वस्तु भगवान ने मुझ दी है ऐसा मन और बुद्धि को समझाना है। व्यवहार तो वैसा ही करना है, परन्तु भक्त अपने मन और बुद्धि को समझाता है।

किसी के नौकर को मैं आज्ञा नहीं करता हूँ, परन्तु मैं अपने नौकर से कहता हूँ, रामसिंह! पानी लाओ!' इसमें स्वामित्व की भावना है। दूसरा, भोक्ता भोग्य से श्रेष्ठ *(Superior)* होता है और भोग्य वस्तु या व्यक्ति कनिष्ठ *(Inferior)* होती है। इसलिए भक्त के जीवन में से उपभोक्ता और उपभोग्य यह भाषा ही खत्म होनी चाहिए। भोक्ता और भोग्य की धारणा रहती है तो उससे तकलीफ होती है। भक्त के जीवन में भोक्ता-भोग्य नहीं होना चाहिए। भक्त प्रसाद का स्वीकार कर सकता है। भाषा वही है। मनुष्य घर में कुछ खाता है तो वह वस्तु-विषय बनती है। मन्दिर में लड्डू मिलता है तब वह प्रसाद बन जाता है। मन्दिर का लड्डू प्रसाद और घर का लड्डू विषय! यह कौन सी भाषा है? लड्डू तो वही है। घर का लड्डू विषय क्यों बना? 'वह मेरा है, मैंने कमाया है' ऐसी भावना है इसलिए! वह भावना त्याग देंगे तो? रोज़ घर में जो खाना खाते हैं वह भी प्रसाद बनेगा। घर में बनाये हुए लड्डू में व प्रसाद के लड्डू में पदार्थ वे ही हैं, तो फिर ऐसा क्यों होता है? भावना में फ़र्क़ *(change)* है यह महत्त्वपूर्ण बात है।

बुद्धि, मन और भाव में परिवर्तन *(change)* करने को भक्ति कहा जाता है। इसलिए विषय-वैराग्य का अर्थ समझकर उसे जीवन में चरितार्थ करना चाहिए यह प्रथम बात भागवत ने समझायी है।

दूसरी एक बात है विषय-वैराग्य की! अलग रूप से कहता हूँ। हरेक के काम में प्रेरणा *(incentive)* होनी चाहिए। 'इंद्रियसुख' यह प्रेरणा रखकर आप काम करेंगे तो आप भागवत नहीं हैं। भक्ति के नाते आपको काम करना चाहिए, तभी आप भागवत हैं। आपकी प्रेरणा क्या है? आप गरीबों की सहायता करते हैं। किसलिए करते हैं? आगामी चुनाव में उनके मत *(Votes)* आपको मिलें इसलिए! दूसरा कारण, आपसे उनका दु:ख सहा नहीं जाता इसलिए! उनका दु:ख आप देख नहीं सकते। इसलिए आप उनकी सहायता करते हैं। आपको लगता है, ऐसा ही प्रसंग मुझ पर आया, मैं दु:खी बना तो? इसलिए सहायता करते हैं। हॉब्स और हेल्वेशियस ये दार्शनिक इसे प्रबुद्ध स्वार्थ *(enlightened Interest)* कहते हैं। आप दूसरे की व्यथा नहीं देख सकते इसलिए अपनी व्यथा को दूर करने के लिए उनको कुछ देते हैं।

आपने दिया यह बात सच है, परन्तु किस दृष्टि से दिया यह प्रश्न है। कर्म की प्रेरणा क्या है यह मुद्दा है। कर्म की प्रेरणा बदलनी चाहिए। वही विषय-वैराग्य है। कर्म की प्रेरणा 'विषयसुख' नहीं रहनी चाहिए, भक्ति रहनी चाहिए। इसलिए ज्ञानयुक्त भक्ति की आवश्यकता है। भक्ति का अर्थ केवल कृति नहीं है, भक्ति का अर्थ वृत्ति है। विषय-वैराग्य की भाषा तब होगी जब दृष्टि बदलेगी। तभी विषय-वैराग्य आयेगा। वस्तु या व्यक्ति से दूर भाग जाने का नाम विषय-वैराग्य नहीं है। वस्तु या व्यक्ति का जो मूल्य है उसे न समझना विषय-वैराग्य नहीं है। व्यक्ति या वस्तु का कुछ मूल्य है। कद्र की भावना होनी चाहिए। भोग्य व भोक्ता यह सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण और मानसशास्त्रीय है, तात्त्विक भी है। विषय-वैराग्य का प्रश्न मुक्ति से सम्बन्धित है।

आपने बाज़ार *(Market)* में एक दुकान ली और धन्धा शुरू किया। उसमें प्रेरणा कौन सी है? प्रश्न प्रेरणा का है। पैसा अधिक मिलना चाहिए, फिर गाँव में जाकर बड़ा घर बनायेंगे, उससे हमारी कीमत बढ़ेगी। सोसायटी में हम *Trustee* बनें, बड़प्पन, गौरव बढ़े इस दृष्टि से, प्रेरणा से दुकान खोली है। परन्तु एकाध व्यक्ति ऐसा होगा, जो कहेगा, 'भगवान! मुझे आपका काम करना है, उसके लिए मुझ वित्त चाहिए, शक्ति चाहिए। इसलिए मैं बाजार में नयी दुकान खोल रहा हूँ।' इस दृष्टि से दुकान खोली होगी तो दुकान खोलना भी भक्ति होगी। मुझे पैसा किसलिए कमाना है' यह मूल प्रश्न है। अत: कृति पर भक्ति आधारित नहीं है, वृत्ति पर भक्ति आधारित है। इसलिए मन्दिर भी बाजार बन सकता है और बाजार भी मन्दिर बन सकता है। सभी वृत्ति पर निर्भर है। जीवन की दृष्टि महत्त्वपूर्ण बात है। विषय-वैराग्य का अर्थ यह है कि हमारे प्रत्येक काम की प्रेरणा विषयसुख नहीं रहना चाहिए, भगवान रहना चाहिए। इसीलिए हमारे महान् भक्तों ने कहा है कि जो कुछ देना है वह प्रथम भगवान को दीजिये। भगवान के चरणों में अर्पण कर दीजिए।

गरमी के दिनों में कुछ लोग ठण्डाई बनाते हैं। भगवान के लिए बनाते हैं और स्वयं पी जाते हैं। ठण्डाई किसलिए? तो कहते हैं, भगवान के लिए! भांग किसलिए? तो शिवजी को शिवरात्रि के दिन भांग चाहिए इसलिए। 'शिवजी को भांग चाहिए' यह उनको किसने कहा, पता नहीं हैं, कौन से शास्त्र में लिखा है यह भी मालूम नहीं है। स्वयं उन्होंने ही वह निश्चित किया होगा ऐसा लगता है। भांग से शिवजी प्रसन्न होते हैं ऐसा उनका कहना है। गरमी के दिनों में वे ठण्डाई बनाते हैं उसका अर्थ है कि हम अपने लिए नहीं बनाते हैं, भगवान के लिए बनाते हैं, भगवान को अर्पण करने के बाद हम प्रसाद के रूप में लेंगे, कारण हम भगवान के ही पुत्र हैं, यह उसमें महत्त्वपूर्ण बात है। यह प्रविष्ट हुई बात नहीं है, परन्तु एक चिरन्तन सिद्धान्त है। परन्तु लोगों को इस चिरन्तन सत्य सिद्धान्त का पता नहीं चलता और वे समझ भी नहीं सकते। फिर परिणाम यह आता है कि लोग रूढ़ि के रूप में अमुक बातें करते रहते हैं।

एक महान् तत्वज्ञानी था। उसने अपने लड़के को समझाकर कहा था कि पड़ोसी के घर जाने के बाद, वह कुछ देगा तो तुरन्त नहीं लेना चाहिए। उसके दो तीन बार कहने

पर भी 'ना' कहना चाहिए। उस पर भी आग्रह किया तो ले लेना। दूसरे दिन लड़का पड़ोसी के घर गया। पड़ोसी उसे कुछ देने लगे तो लड़का खड़ा हुआ और उसने कहा 'नहीं चाहिए', 'नहीं चाहिए', 'अच्छा लाओ।' इसमें कहने वाले का जो हेतु था वह मारा गया।

"मैं जो करता हूँ वह भगवान के लिए ही करता हूँ' ऐसी वृत्ति होगी तो वह विषय-वैराग्य ही है। भक्ति एक वृत्ति है। वृत्ति बदलने के लिए मूर्तिपूजा की आवश्यकता है। इसी अध्याय में मूर्तिपूजा के लिए लिखा है-

अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः ।
द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद् प्रोक्ष्य चासनम्।। (भा.११/३/५०)

(गन्धाक्षत-फल-पुष्प आदि जो यथाकाल प्राप्त हुए होंगे, उनको तथा भूमि, आसन, स्वदेह और पूजामूर्ति को निर्मल बनाकर मूर्ति की और अपने हृदयस्थ प्रभुमूर्ति की पूजा करनी चाहिए।)

अर्चादौ हृदये चापि- बहुत सुन्दर वाक्य है। हजारों वर्ष पूर्व महापुरुष लिख कर गये हैं। वे सब कैसे लिखते हैं? उन्होंने लिखा है, कि भगवान की अर्चना अपने हृदय से करनी है यह नहीं भूलना है। इसका अर्थ यह है कि मानसिक एकाग्रता का स्पष्ट भाषा में उल्लेख है। ऐसी अर्चना (पूजा) होनी चाहिए।

दूसरी बात आती है 'अनाथों पर दया।' यह भागवतों को करनी चाहिए। जो अनाथ हैं उन पर दया करनी चाहिए। अन्तःकरण दयार्द्र बनना चाहिए। अन्तःकरण जैसे भाव से गीला बनता है वैसे दया से भी गीला बनता है। अन्तःकरण आर्द्र बनाने का प्रयत्न करना है यह प्रथम बात है। लाख गर्म होकर जब पतली बनती है तभी उस पर मुहर (सिक्का) आता है। मन का भी ऐसा ही हैं। भक्ति के राजा मधुसूदन सरस्वती कहते हैं- **'द्रुते चित्ते प्रविष्टाया गोविंदाकारता स्थिरा।'** चित्त जब द्रुत (आर्द्र) बनता है तभी उस पर गोविंद का आकार (सिक्का) बैठ सकता है। मन को आर्द्र बनाने का प्रयत्न करना है। अनाथों पर दया करनी है। वह उनके लिए नहीं, अपितु अपने लिए करनी है। किसी का दुःख देखकर हमारा अन्तःकरण आर्द्र बनेगा तभी अपने मन को आर्द्र बनाने का अभ्यास होगा। ऐसा जिसका अभ्यास हुआ है वह व्यक्ति जब भगवान के पास बैठता हैं और भगवान को याद करता है तब उसका अन्तःकरण भाव से आर्द्र बनता है और उस पर गोविंद का आकार आता है। अनाथों पर दया करनी है, कारण हमें अन्तःकरण को आर्द्र बनाने का अभ्यास करना है। उसे सहायता करने के लिए दया नहीं करनी है। वह तो भगवान का पुत्र है। उसे कोई भी मदद देगा, आप नहीं देंगे तो दूसरा कोई देगा। सन्त रामदास स्वामी ने कहा है- **'आम्ही काय कुणाचे खातो रे। श्रीराम आम्हांला देतो रे।'** किसी का दिया हुआ हम नहीं खाते हैं। भगवान हमें दे रहे हैं। आप देने वाले कौन हैं? इसमें रामदास स्वामी की मस्ती का दर्शन होता है। ऐसी मस्ती सभी को नहीं होती।

भिखारी को मस्ती कैसे हो सकती है? भिखारी तो भिखारी ही होता है। *'Begger can not be a chooser'* ऐसी अंग्रेजी में एक कहावत है। इसका अर्थ यह है कि भिखारी की पसन्दगी का प्रश्न ही नहीं है। उसे जो मिलता है वही लेना पड़ता है। अत: अन्त:करण आर्द्र बनाने के लिए अनाथों पर दया करनी चाहिए। इससे क्या होगा? मूर्तिपूजा पर परिणाम होगा। जब भगवान के पास बैठेंगे तब चित्तैकाग्रता हो जायेगी। अन्त:करण इसीलिए आर्द्र बनना चाहिए।

अनाथों के प्रति दया होनी चाहिए यह बात ठीक है, परन्तु इस जगत में अनाथ कौन है? इस सृष्टि में कोई अनाथ है ही नहीं। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि यह सृष्टि एक अव्यवस्थित घटना है। इस सृष्टि की सुव्यवस्थित रचना है। भगवान उसे बनाने वाला है, चलानेवाला है। आपके हाथ में कुछ भी नहीं है। भगवान ने रुपये में से दो आने का स्वातंत्र्य आपके हाथ में दिया है उसमें यह उथल-पुथल चल रही हैं। इन दो आनों में *Dominion status* है, संपूर्ण स्वातंत्र्य *(Complete freedom)* नहीं है, फिर भी हम मिजाज से बोलते हैं कि हम ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे, हम सब बदल देंगे। अरे! आप बदलने वाले कौन हैं? आप स्वंय को तो बदलो जिससे संपूर्ण जगत् बदल जायेगा।

अनाथ कौन हैं? सबको वे ही भगवान सुलाते हैं, उठाते हैं। सबको वे ही खिलाते हैं, तो फिर जगत् में अनाथ कौन है? और 'अनाथों पर दया' ऐसी भाषा भी भागवतों को शोभा नहीं देती। भागवत ऐसा कैसे बोलेंगे? जब तक मालूम नहीं है, तब तक प्रारंभ में ऐसा बोलना ठीक है कि गरीबों को देना चाहिए। अभ्यास की दृष्टि से यह बात ठीक है, परन्तु जब विचार करने लगेंगे, आगे चलने लगेंगे तो ऐसा लगता है कि इस जगत् में कोई अनाथ क्यों हो? उठानेवाले, सुलानेवाले, खिलानेवाले भगवान हैं। फिर अनाथ कौन है? **अकारो वासुदेवः स्यात्-** भगवान जिसका नाथ है वह **अनाथ।** नाथ कौन है?

जगत् का नाथ जगन्नाथ है। पुराने जमाने में ऐसा कहते थे कि राजा हमारा भला करेगा। अब ऐसा बोलते हैं कि मन्त्री *(Minister)* हमारा भला करेगा अथवा अमुक राजनीतिक दल हमारा भला करेगा। सबकी ओर हम लालची दृष्टि से देखते रहते हैं। उनको नाथ बनाकर हम अनाथ बन जाते हैं। यह भाषा ही छोड़ देनी चाहिए। इसलिए गाँव-गाँव जाकर स्वाध्यायियों को यही कहना है। महाराष्ट्र में स्वाध्यायी कहते हैं, जगत् का नाथ पंढरीनाथ! गुजरात में कहेंगे, जगत् का नाथ द्वारिकानाथ! पूर्वी क्षेत्रों में जायेंगे तो कहेंगे, जगत् का नाथ जगन्नाथ! अनाथ कौन है? इस सृष्टि में कोई अनाथ नहीं है। हम सब सनाथ हैं। फिर अनाथ का क्या अर्थ है?

नाथ बनने के लिए इस सृष्टि में अपने पास कुछ गुण *(qualities)* होने चाहिए। वित्त गुण है, सत्ता, बुद्धि ये भी गुण हैं। इन गुणों से ही किसी का नाथ बना जा सकता है। इन गुणों से ही आप कुछ प्रभाव दिखा सकते हैं। यह प्रभाव जिसके पास नहीं है, उसे 'अनाथ' कहते हैं। जिसके पास वित्त नहीं है, बुद्धि नहीं है, शक्ति नहीं है उसे अनाथ कहा जाता है। उसमें कुछ कमी है, अभाव है, परन्तु उसे सँभालने वाले यदि भगवान हैं-

अकारो वासुदेवः स्यात्- तो उसमें जो कमी है, जिसका उसके पास अभाव है वह पूर्ण करनी चाहिए। यह भागवतों का काम है। इसलिए कहा है कि अनाथों पर दया करना भागवतों का काम है।

भक्तिशास्त्र में मन्दिर की शुरुआत अनादि काल से हुई है। उसका यही कारण है। देनेवाले, मदद करनेवाले हम नहीं हैं। मदद करने वाले योगेश्वर हैं, जगन्नाथ है, पंढरीनाथ हैं। उनकी यह मदद है। दूसरे किसी की मदद हम नहीं लेंगे। सभी को उनकी मदद मिलेगी। इसीके लिए भक्तों ने, भागवतों ने 'मन्दिर' शुरू किया। लोग समझते हैं कि वैष्णव संप्रदाय अथवा भागवत सम्प्रदाय पाँच सौ वर्षों से शुरू हुआ है। परन्तु ऐसा नहीं है। ये संप्रदाय अनादि काल से हैं। आज हजारों वैष्णव पंढरपुर जा रहे हैं। ज्ञानेश्वर भगवान वैष्णव संप्रदाय के थे, रामानुज वैष्णव संप्रदाय के थे। अत: यह वैष्णव संप्रदाय अमुक एक साल से शुरू हुआ है, ऐसा नहीं है।

पुराने काल में विष्णु का, शिव का, कृष्ण या राम का मन्दिर था। वह किसलिए था? भागवतों ने, भक्तों ने यह रास्ता निकाला है। उनके सामने यह प्रश्न था कि सबके नाथ यदि भगवान हैं तो किसी को मदद देनेवाला मैं कैसे बन सकता हूँ? परन्तु लौकिक दृष्टि से नाथ बनने के लिए जो गुण चाहिए वे गुण मनुष्य के पास नहीं हैं। इसका पूर्व जन्म का कुछ कारण होगा। अत: ये जो गुण उसके पास नहीं हैं उनको देने के लिए ही शास्त्रकारों ने मन्दिर शुरू किया। जब तक यज्ञीय वृत्ति थी तब तक मन्दिर नहीं था। इसलिए संशोधक कहते हैं कि बुद्धि के बाद मन्दिर आया, मूर्ति आयी, मूर्तिपूजा आयी। फिर यह जो मन्दिर आया वह किसलिए आया? जो कमजोर है, जिसके पास शक्ति, बुद्धि नहीं है उसे देना तो चाहिए। परन्तु उसका नाथ प्रभु है, **अकारो वासुदेवः स्यात्** - जो मैं दूँगा तो मुझमें गुरुग्रंथि आयेगी और लेनेवाले में लघुग्रंथि आयेगी, वह दीन बनेगा। तो इसके लिए कौनसा मार्ग निकालेंगे? अनादि काल से यह प्रश्न चलता आया है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। अमीर-गरीब *(Have and Haves not)* का प्रश्न आज का नहीं है।

तीन व्यक्तियों को सौ सौ रूपये दे दो। एक व्यक्ति सौ के डेढ़ सौ करता है। दूसरा सौ रूपये जैसे के वैसे रखेगा और तीसरा सौ के पचास कर देता है, वह पचास रुपये बीड़ी शराब आदि पीने में व्यय कर देता है। मनुष्य के कर्तृत्व से पैसा बढ़ता है और दुर्गुणों से कम होता है। सबको समान पैसे देने पर भी अधिकता-न्यूनता रहेगी ही, कारण मनुष्य गतजन्म का कर्तृत्व साथ में लेकर आता है। कितने ही लोग कुशल कारीगर *(Skilled labour)* होते हैं और कितने ही अकुशल *(Unskilled)* रहते हैं। कारण पिछले जन्म से कुछ लेकर आये हैं। वातावरण का परिणाम *(Environmental effect)* भी हो सकता है। इस परिणाम को आप कदाचित् एकाध वाद *(Ism)* (जैसे, साम्यवाद, समाजवाद आदि) लाकर दूर हटा सकेंगे, परन्तु पिछले जन्म का जो साथ लेकर आये हैं उसका क्या करेंगे आप? उसके कारण कोई स्टैलिन बनेगा और कोई सामान्य चपरासी ही रहेगा।

इसलिए अधिकता *(Have)*, न्यूनता *(Haves not)* का प्रश्न अनादि काल तक रहेगा ही। उनमें जो भेद हैं वे कैसे निकालेंगे? असमानता कम कैसे करेंगे? उसके लिए समाजवादी और साम्यवादियों ने कुछ भिन्न भिन्न मार्ग ढूँढ निकाले हैं।

प्रथम रास्ता है सम्पत्ति-हरण- *(Expropriation)*। दूसरा रास्ता है जब्ती *(Confiscation)* तथा कर लगाना *(Taxation)* यह तीसरा रास्ता है। *Have* की जेब से निकालकर *Haves not* को पैसा देने के ये तीन रास्ते हैं। ये तीनों रास्ते गलत हैं। आज अर्थशास्त्र का विषय नहीं है इसलिए उस पर नहीं बोलता हूँ परन्तु हमारे ऋषियों और भागवतों ने कितना सोचा है यह समझाने के लिए कहता हूँ कि ये तीनों रास्ते गलत हैं।

आज आप संपत्ति हरण नहीं कर सकते। जब्ती में जिसका आप लेते हैं उसकी असहायता को आप स्वीकार करते हैं यानी उसकी असहायता का लाभ उठाते हैं। वह असहाय है इसलिए आप जप्त कर सकते हैं तीसरा रास्ता है करप्रणाली। इसमें एक दिक्कत यह है कि कर देने में 'मैं किसीकी सहायता कर रहा हूँ' यह करदाता को मालूम नहीं होता। अत: वह कर बचाने का प्रयत्न करेगा, करेगा ही। उसे कर देना टालना चाहिए यह मैं व्यासपीठ पर से नहीं कहता हूँ, परन्तु वह कर द्वारा किसीकी सहायता कर रहा है यह ज्ञात न होने से उसे समाधान नहीं मिलता। सरकार कर की आय में से अनेक गरीबों को मदद करती होगी, परन्तु उससे जो वितरण होता है वह अनाध्यात्मिक वितरण है। देनेवाले को पता ही नहीं है कि वह किसे दे रहा है और लेने वाले को पता नहीं है कि किसने दिया है! 'सरकार ने दिया है' ऐसा कहते हैं, परन्तु सरकार यानी कौन? सरकार परब्रह्म जैसी है। परब्रह्म किसे कहेंगे? पटवारी को सरकार कहेंगे या तहसीलदार को सरकार कहेंगे? कलेक्टर को सरकार कहेंगे या राज्यपाल को? सरकार किसे कहेंगे? राष्ट्रपति को कहेंगे? उन पर भी दोषारोपण *(Impeachment)* हो सकता है। तो क्या पार्लियामेंट सरकार है? वह तो पाँच साल के बाद खत्म हो जाती है। तो फिर किसे सरकार कहेंगे? जिस प्रकार भगवान अव्यक्त हैं वैसे ही सरकार भी अव्यक्त है। अत: सरकार के प्रति कृतज्ञता रखनी चाहिए यह बात किसी के ध्यान में नहीं आती। इसलिए लेनेवाला कृतघ्न बनता है और देनेवाला असमाधानी रहता है। इन दोनों वादों ने गलत रास्ता अपनाया है। भगवान को मानना है, मनुष्य के मन, बुद्धि को बदलना नहीं है और असमानता कम करनी है तो उसके लिए कर-प्रणाली का ही रास्ता है, परन्तु यह मार्ग व्यर्थ है। उसके बारे में लेनेवाले व देनेवाले दोनों प्रकार के लोग शोर मचाते हैं।

दूसरा एक मार्ग हमारे पूर्वजों ने, धार्मिकों ने निकाला। वह है 'दान' का मार्ग। यह मार्ग थोड़ा अच्छा है, परन्तु इसमें लेनेवाला दीन बनता है और देनेवाला दानी (श्रेष्ठ) होता है।

इस पर ऋषियों और भक्तों ने एक विशिष्ट मार्ग दिखाया है। वह है मंदिर का रास्ता। गाँव के सभी व्यक्ति, कोई धनवान हो अथवा गरीब, अपनी कमाई का भाग भगवान के चरणों में समर्पण करें। उसमें से जरूरतमंद को मन्दिर सहायता देगा। यह भगवान का

धन है, देनेवाले भगवान हैं और लेनेवाला योगेश्वर भगवान से लेता है, दूसरे किसी से नही लेता। इसलिए यह जो लेना-देना है उसके लिए मन्दिर अच्छा मार्ग है।

अनाथों पर दया करते हैं मगर इसमें अनाथ भगवत् सनाथ है। उसे खिलाना है तो भगवान का खिलाओ, आपको नहीं। उसे रोटी मिलेगी ही और मिलनी ही चाहिए। ऐसा मन्दिर होना चाहिए। हम स्वाध्याय परिवार के लोग ऐसे अनेक मन्दिर बनाते हैं। उनको हम **अमृतालयम्** कहते हैं। परंपरागत, रूढ़िग्रस्त मन्दिरों के जैसा यह मन्दिर नहीं है। इसमें सामाजिक अन्याय खत्म हो जाता है। ये मन्दिर के लोग गाँव में घूमकर झोपड़ी-झोपड़ी में देखेंगे, किसे क्या तकलीफ है और उस तकलीफ का मन्दिर के मार्फत निवारण करेंगे। जिसे आवश्यकता होगी उसके घर योगेश्वर का प्रसाद पहुँच जायेगा। यह भागवतों की, भक्तों की दृष्टि है। यह वैष्णवों की दृष्टि है। इसीलिए मन्दिर में एक पेटी रखी गयी और उसमें दर्शनार्थियों को कुछ डालना चाहिए यह बात आयी। लोग भी इम्पाला गाड़ी में दर्शन करने आते हैं और मन्दिर की पेटी में पाँच पैसे डालते हैं। मानो भगवान मन्दिर में कोई भिखारी बनकर खड़ा है। दर्शनार्थियों के मन में यह जो भावना घर करके बैठी है वह निकल जानी चाहिए। भगवान के सामने पेटी रखने में जो महत्त्व था वह समाप्त हो गया है। मन्दिर को क्या करना है यह मन्दिर वालों को भी मालूम नहीं है। उनको इतना ही पता है कि भगवान को राजभोग खिलाना है। मैं राजभोग खिलाने के विरोध में नहीं हूँ। राजभोग खिलाने के पीछे जो कारण है वह सही है, योग्य है, करने जैसा है परन्तु उसके पीछे की विचारधारा समाप्त हो गयी है। मन्दिर निर्माण करने के पीछे कुछ चैतन्य था। वे ही लोग सच्चे वैष्णव हैं जो इस प्रकार के सच्चे मन्दिर बनाते होंगे।

पुराने समय में जो मन्दिर थे वे इसीलिए थे। उनके कारण सामाजिक अन्याय ही खत्म हो जाता था। जिस गाँव में ऐसा मन्दिर **अमृतालय्-** है, वहाँ गाँव के सभी छोटे-बड़े लोग निश्चित समय पर भगवान की प्रार्थना के लिए आते हैं। पूरा गाँव अपने परिश्रम तथा अपने ही पैसों से ऐसे मन्दिर का निर्माण करता है। प्रतिदिन संध्या के समय सब मंदिर में मिलकर प्रार्थना करते हैं और भगवान की आरती उतारते हैं। सभी लोग अपनी-अपनी कमाई का भाग भगवान के चरणों में समर्पण करते है। वह भगवान का प्रसाद है जिसमें से जरूरतमंद लोगों को कुछ पहुँचाया जाता है। यह है अनाथों पर दया! किसी को लगेगा कि यहाँ 'दया' शब्द क्यों प्रयुक्त किया है?

अतिशय आत्मीयता से जो दिया जाता है उसे 'दया' कहते हैं। अत्यन्त प्रेम जिस पर होता है ऐसी स्त्री यानी पत्नी! उसे **दयिता** कहते हैं। इस 'दया' शब्द में आत्मीयता भरी हुई है। इसलिए भागवतों ने 'अनाथों पर दया करना' ऐसा लिखा है।

तीसरी बात है सज्जनों के साथ मित्रता और चौथी बात है श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति आदर। यह भागवतों का धर्म है।

नारदजी भागवत धर्म कहते हैं। भागवत धर्म का अर्थ कानून है ऐसा समझने का कारण नहीं है। भागवत धर्म क्या है? भागवत धर्म 'हो जाना' है। मुझे भगवान का लाड़ला बनना है या मैं लाड़ला बन चुका हूँ। 'बनना है' इसके सम्बंध की बातें कानून नहीं कही जाती हैं। मनुष्य वैसा बन जाता है।

एक अतीन्द्रिय शक्ति इस सृष्टि को चलाती है, मेरा जीवन भी वही शक्ति चलाती है, संपूर्ण विश्व भी वही शक्ति चलाती है। उस शक्ति के पास कुछ माँगना है। यहीं से भागवत धर्म प्रारंभ होता है। मदद माँगनी है, मैं अकेला कुछ नहीं कर सकता हूँ, असमर्थ हूँ, असहाय हूँ, इसलिए कुछ माँगना है, रोना है। भगवान! आपके पास रोयेंगे, क्योंकि आप इस सृष्टि को चला रहे हैं। आप अव्यक्त होंगे, अदृश्य होंगे, परन्तु आप ही हमारा जीवन चलाते हैं। इतना ही नहीं, अपितु संसार की सभी प्रवृत्तियाँ आप ही चलाते हैं इसमें हमें सन्देह नहीं है। सन्देह न होने से ही उनके पास माँगना, रोना शुरू हो जाता हैं। यहीं से भक्ति का प्रारंभ होता है। इससे भागवत की एक विशिष्ट वृत्ति तैयार होती हैं।

मनुष्य में दो बातें हैं। एक 'समझना' और दूसरी 'करना'। हम कुछ समझते हैं और कुछ करते हैं। 'समझना' और 'करना' मनुष्य में से घटा दो तो मनुष्य समाप्त हो जायेगा। भागवत और भक्त, इनको अन्त में एक स्थिति लानी है जिसमें, "मैं कुछ नहीं करता हूँ', मैं कुछ नहीं समझता हूँ और मेरा कुछ नहीं है, यह शरीर भी मेरा नहीं है, मैं आपके लिए घिस जाऊँगा यहाँ तक भागवत- भक्त पहुँच जाता है। कम से कम अपेक्षा *(Minimum expectation)* यह है कि भगवान के पास माँगेंगे, रोयेंगे। रोने की जगह, माँगने की जगह भगवान ही हैं, दूसरी कौन सी होगी? एक भगवान ही हैं। यहाँ से भागवत धर्म शुरू होता है और अन्त में उधर तक पहुँचना है क्योंकि समझना और करना ये दो बातें मनुष्य में हैं। ये दो बातें निकल गयीं तो मनुष्य कहाँ रहा? चैतन्य क्या है? कुछ नहीं! समझना और करना ये दो बातें हैं। ये दो बातें हमें बदलनी हैं। यही भागवत धर्म का वैशिष्ट्य है।

'मैं नहीं करता हूँ, मैं नहीं समझता हूँ, मेरा कुछ नहीं हैं' तो फिर किसका है? 'भगवान! सब आपका है, मैं सँभालता हूँ' यह अन्तिम भावना जिसकी हुई वह भक्त ही है। फिर वह कहीं भी पैदा हुआ हो, उसकी भाषा कोई भी हो। उसकी कौन सी भाषा है? यह प्रश्न ही नहीं है। संस्कृत या दूसरी कोई भाषा वह बोलता हो, जो इस स्थिति पर पहुँच गया वह भागवत हो गया। भागवत की यह अन्तिम स्थिति दिखाकर, अन्तिम स्थिति समझाकर उसीको भागवतकार ने **'अहंकारवर्जित स्थिति'** कहा है। उसके लिए कोई कानून या नियम नहीं हैं। परन्तु साधना के लिए वह समझाया है।

विषय-वैराग्य की बात चल रही है। विषय- वैराग्य के संबंध में हेतु देखा जाता है। किसी भी कार्य का हेतु भौतिक इन्द्रियसुख नहीं होना चाहिए। किसी भी कार्य का हेतु क्या है? यह पहला प्रश्न है। महिम्नस्तोत्र में कहा है—

क्रियादक्षो दक्षः ऋतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः।
क्रतुभ्रेषस्त्वन्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः।।२१।।

हे शरणदा, शंकर! (प्रजापति दक्ष के यज्ञ में) यज्ञयागादि कर्मों में निपुण, देहधारी जनों का स्वामी दक्ष स्वयं यजमान था, (त्रिकालदर्शी) ऋषि ऋत्विज थे और (ब्रहमा, इन्द्र आदि) देवगण सभासद थे, परन्तु यज्ञफल देने का व्रत लिये हुए आपके द्वारा वह यज्ञ नष्ट हुआ। बिना श्रद्धा के किया हुआ यज्ञयागादि कर्म विपरीत फल देता है।)

यज्ञ का हेतु क्या था यह प्रश्न है। ऐसा यदि हो तो भगवान यज्ञ का भी विध्वंस करते हैं। कोई भी कृति किसलिए की जाती है यह देखा जाता है। एकाध व्यक्ति पवित्र स्थान में जाता है, परन्तु वह स्वास्थ्य के लिए-हवा बदलने हेतु भी वहाँ गया होगा, उसका प्रमुख हेतु क्या है यह मुख्य प्रश्न है। कृति का हेतु 'इन्द्रिय-सुख' न हो तो उसे विषय-वैराग्य कहा जाता है।

मन्दिर के पीछे जो हेतु था वह आज खत्म हो गया है। आज मन्दिर केवल दर्शन करने व भगवान की पूजा के लिए ही रह गये हैं। पूजा तो घर में करनी होती है व प्रत्येक को करनी होती है, भावपूर्ण बनकर, शान्तिपूर्वक करनी है। तो फिर मंदिर की क्या आवश्यकता है? हम सब एक ही भगवान की सन्तान हैं यह भावना दृढ़ करने के लिए मंदिर में जाना है। मनुष्य चाहे विद्वान हो या अनपढ़ हो, धनवान हो अथवा गरीब, सद्गुणवान हो या दुर्गुणी हो, जाति-स्थिति अथवा वृत्ति से मनुष्य-मनुष्य में भेद निर्माण होता हो तो उसे निकालने के लिए, सभी को 'एक ही भगवान की सन्तान' के नाते मन्दिर में एकत्र होना है, ऐसी ज्ञानपूर्ण दृष्टि देने के लिए मन्दिर हैं।

मन्दिर में दानपेटी किसलिए आयी यह पहले बताया ही है। भगवान कोई भिखारी नहीं हैं कि कोई भी आये और पांच-दस पैसे भगवान के सामने फेंककर चला जाय। भगवान तुम्हारी कमाई में से अपना हिस्सा माँगते हैं। जो व्यक्ति भगवान का भाग भगवान को नहीं देता है वह चोर है ऐसा भगवान गीता में कहते हैं- **'यो भुंक्ते स्तेन एव सः।'** गीताकार स्वयं **स्तेन** (चोर) शब्द का प्रयोग करते हैं। मैं वैसा कठोर शब्द का प्रयोग नहीं करता हूँ। मुझे किसलिए कठोर बोलना है? परन्तु गीता में लिखा है उसका भाषान्तर तो करना चाहिए न! अभावग्रस्त *(Haves not)* लोगों को जगत् के नाथ जगन्नाथ ही सँभालते हैं। इस रूप से (कमाई के भाग से) आया हुआ धन भगवत् प्रसाद के रूप में अभावग्रस्त को मिल जायेगा। ऋषियों ने ऐसे मन्दिर खड़े किये थे। आज के मन्दिर ऋषि के मार्ग से नहीं चलते हैं यह दुःख की बात है।

जैसे कि पहले कहा है, यज्ञसंस्था चले जाने के बाद मंदिर आये। इसलिए जो संशोधक हैं वे कहते हैं कि बुद्ध के बाद मन्दिर आये। ढाई हजार साल बुद्ध को हो

गये, उसके बाद मन्दिर आया। तब तक न मन्दिर था और न मूर्तिपूजा थी, यह संशोधकों की पागल दृष्टि है। बुद्ध के पूर्व भी मूर्तिपूजा थी, लोग पूजा करते थे। पाँच हजार साल पहले गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं- **मय्यावेश्य मनो ये माम् -मयि मनः आवेश्य-** इसमें **मयि** का अर्थ कौनसा है? सगुण का ही **मयि** रूप होता है अन्यथा **'मयि'** शब्द लगेगा ही नहीं। जहाँ **अहम्** आता है वहीं **मयि** रूप होता है। भगवान को यदि 'अहम्' नहीं होगा तो 'मयि' शब्द लगेगा कैसे? इसलिए मंदिर था, जैसे गणेशोत्सव है।

महाराष्ट्र में प्रत्येक घर में (गणपति के दिनों में) गणेश पूजा होती थी। परन्तु लोकमान्य तिलक ने गणेशपूजन सार्वजनिक कर दिया। अन्य प्रान्त के लोग समझते हैं कि गणपति की पूजा तिलक ने शुरू की, गणेशोत्सव तिलक का है, परन्तु ऐसा नहीं है। घर-घर में गणपति की पूजा होती थी, परन्तु कुछ कारण निकला इसलिए सामुदायिक रीति से गणपति की पूजा करने के लिए गणेशोत्सव आया। वैसी ही मन्दिर की स्थिति है। सार्वजनिक गणेशोत्सव आने से घर-घर में जो पूजा होती थी वह बंद नहीं हुई। घर-घर में पूजा होनी चाहिए, भावपूर्ण अन्तःकरण से होनी चाहिए। नाथ बनने के लिए वित्त, बुद्धि व शक्ति चाहिए। वह जिसके पास नहीं है वह लौकिक दृष्टि में अनाथ कहलाता है। उसे मंदिर में से प्रसाद रूप में जो मिलता है, उसीको अनाथों पर दया कहते हैं।

तीसरी बात हैं, सज्जनों के साथ मित्रता। भागवत को सज्जनों के साथ मित्रता करनी चाहिए। आरंभ में मनुष्य दुर्जन के साथ मित्रता करेगा परन्तु उस पर दुर्जन का परिणाम हो जायेगा। एक राजा को दो तोते मिले। एक गाली दे रहा था तथा दूसरा श्लोक बोल रहा था। अतः राजा ने दूसरे तोते से, जो श्लोक बोल रहा था पूछा कि ऐसा क्यों है? तब उस तोते ने कहा—

गवाशनानां स शृणोति वाक्यमहं हि राजन्वचनं मुनीनाम् ।
न चास्य दोषो न मद्गुणो वा संसर्गजाः दोषगुणाः भवन्ति ।।

(इस तोते ने कसाई के वचन सुने हैं और मैंने मुनियों के वचन सुने हैं, इसलिए यह गंदी भाषा बोलता है इसमें उसका दोष नहीं हैं और न मेरे गुण है। दोष या गुण संसर्ग से निर्माण होते हैं।)

एक तोता कसाई के यहाँ चला गया। क़साई के घर वह सुबह गालियाँ ही सुना करता था। कसाई के संग के कारण उसे गालियाँ ही देने की आदत पड़ी। उस तोते का दूसरा भाई ऋषि के आश्रम में पलता था। वहाँ उसे सुबह से बादरायण, पतंजलि आदि के सूत्र सुनने को मिलते थे। अतः उसे सूत्र बोलने की आदत पड़ी। इस प्रकार संसर्ग का परिणाम होता है। भागवत को सज्जनों के साथ मित्रता करनी चाहिए ऐसा नारद कहते हैं।

सज्जन को पहचानना कठिन है। जब तक जेल में नहीं गये तब तक हम सभी सज्जन ही है। लौकिक व्यवहार में सबको सज्जन ही माना जायेगा। मनुष्य को पहचानना कठिन है। गढ़वाल में हमारे शिविर में एक सिख संप्रदाय के गुरु मिले थे। उन्होंने कहा, भगवान को पहचानना सहज-सरल है, परन्तु मनुष्य को पहचानना बहुत कठिन है।' इसका कारण मनुष्य के अन्त:करण में छुपी हुई वासना कब दौड़कर बाहर आयेगी यह नहीं कहा जा सकता। अतः सज्जन को भी पहचानना कठिन है।

सज्जन कौन? जिसकी सत् सिद्धान्तों पर श्रद्धा है वह सज्जन है। कुछ वैश्विक सत् सिद्धान्त है। उन पर जिसकी श्रद्धा है वह सज्जन है। **'सत्यमेव जयते'** यह हमारा विश्वास है। इसका अर्थ यह है कि अन्त में सत्य की ही विजय होती है। कभी-कभी सत्य सिद्धान्त को पराभूत भी होना पड़ता है। ऐसा होता भी है। रात्रि के दस बजे प्रकाश का पराभव ही होता है, परन्तु उसका अर्थ अन्ध:कार प्रभावी है ऐसा नहीं है। रात्रि में भले ही अंधकार होगा परन्तु सुबह प्रकाश आनेवाला ही है इसी प्रकार सत्य सिद्धान्तों का कभी-कभी प्रभाव कम हो जाता है। ऐसा लगता है कि क्या सत्य सिद्धान्तों में शक्ति नहीं है? कारण चारों ओर असत् का नृत्य दिखायी देता है। परन्तु अन्त में, सत्य की ही विजय होगी ऐसी श्रद्धा जिनमें है वे सज्जन हैं। 'सत्' को माननेवालों को भी सज्जन माना जाता है।

जो भगवान को नहीं मानता है वह कितना भी अच्छा होगा परन्तु वह सज्जन नहीं है। उससे डरकर रहना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं, 'हमने किसी की कभी चोरी नहीं की है, किसी को कभी दु:ख नहीं दिया है, देते भी नहीं, परन्तु हम दिन रात भगवान, भगवान नहीं करते बैठते और भगवान को मानते भी नहीं।' ऐसे व्यक्ति की छाया भी हम पर पड़े तो **सचैलं स्नानमाचरेत्।'** सवस्त्र स्नान करो। इसका कारण उसके रोग के कीटाणु कब हमारे शरीर में प्रविष्ट हो जायेंगे, कहा नहीं जाता।

'हाँ! नारदजी जैसे लोग उधर जा सकते हैं कारण उनके सिद्धान्त पक्के हैं। वे राक्षसों के यहाँ भी जाते हैं। परिवर्तन हुआ तो राक्षसों में होगा, परन्तु ये महापुरुष नहीं बदलते। महापुरुषों के जैसी जिनकी स्थिर बुद्धि है, स्थिर सिद्धान्त हैं वे ही राक्षसों के बीच जा सकते हैं, कारण उनकी बुद्धि विचलित नहीं होती।

सत् अर्थात् भगवान को माननेवाले जैसे सज्जन कहलाते हैं, वैसे ही सत् को उठाकर ले जानेवाले जो लोग हैं वे भी सज्जन कहलाते हैं। सत् को उठाकर ले जाना यानी भगवान के विचार ले जाना। भगवान के विचारों को दूसरों के पास ले जानेवाले सज्जन हैं। यह 'सज्जन' की व्याख्या है। जो भगवान और भगवान के विचारों को उठाकर ले जाते हैं उनकी कृति को 'कृतिभक्ति' कहते हैं। भागवत में उसका स्पष्ट उल्लेख है। **'स्मरन्तः स्मारयन्तश्च...।'** जो भगवान का स्मरण करता है और कराता है वह भागवत है। 'स्मरण कराना' में कृतिभक्ति आयी या नहीं! स्वाध्यायियों ने कोई नयी भक्ति

नहीं निकाली है। पुरानी भक्ति चली गयी है उसे फिर से वे खड़ी करते हैं। स्वाध्यायी लोग जीर्णोद्धार करनेवाले लोग हैं। नया निर्माण करनेवाले नहीं हैं। उनको नया ऐसा कुछ दीखता ही नहीं। क्योंकि ऋषि- मुनियों ने सब कुछ करके दिखाया है। नया क्या है? बीच के समय में जो तत्त्व चले गये हैं, उन पर जो कुछ कूड़ा-कचरा चढ़ गया है उसे हटाकर वे उनको फिर से स्वच्छ बना रहे हैं। यह अवश्य उनका भाग्य है।

'स्मरन्तः स्मारयन्तश्च'- भागवत खोलकर आप देख सकते हैं कि **स्मारयन्तश्च** का अर्थ क्या होता है। जो भगवान का स्मरण करता है और कराता है वह भागवत है। इस प्रकार कृतिभक्ति भागवत में है। इसकी यह भी व्याख्या हो सकती है कि जो भगवान का काम करता है वह सज्जन है! कोई भी व्यक्ति दूसरे ही दिन सज्जन- या वसिष्ठ नहीं बन सकता। गीता में भगवान ने कहा है-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।९।३०।।

(प्रथम अत्यन्त दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भक्तिभाव से मेरी उपासना करेगा तो उसे शुद्ध ही समझना चाहिए, कारण उसकी प्रवृति सन्मार्ग की ओर निश्चित होती है।)

कुछ लोग कहते हैं, "अजी! देखे तुम्हारे स्वाध्यायी! वह तुम्हारा स्वाध्यायी भक्तिफेरी में जाता है, परन्तु घरवाली पर कितना क्रोध करता है, मालूम है तुम्हें? ऐसे ही हैं तुम्हारे स्वाध्यायी?" उनको कहना चाहिए, होगें! उसमें क्या है! पचीस वर्षों से पत्नी पर गुस्सा करता आया है वह दूसरे दिन थोड़े ही सुधर जायेगा? इसका अर्थ यह नहीं है कि दुराचारी को अपने दुर्गुण चालू रखने चाहिए। लोग आरोप लगाते हैं इसलिए कहता हूँ कि स्वाध्याय करते रहेंगे तो धीरे-धीरे सुधर जायेंगे। दिन में दस बार पत्नी पर गुस्सा करनेवाला मनुष्य स्वाध्याय करके भक्तिफेरी में जाने लगने पर अब एकाध बार ही पत्नी पर गुस्सा करता होगा। उसका 'गुस्सा करना' कम हुआ है यह बाहर के लोगों को किस प्रकार मालूम पड़ेगा?

'भगवान को उठाकर ले जाना' इसका अर्थ क्या है? मूर्तिपूजा है, जो भगवान के विचार हैं, अवतारों का जीवन-चरित्र है, वह लोगों के पास जाकर कहना इसका अर्थ ही भगवान को उठाकर ले जाना है। गीता में भिन्न-भिन्न भाषा में वही समझाया है।-

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।१८-७०।।

(जो व्यक्ति हम दोनों के धर्म संवाद का अध्ययन (अभ्यास) करेगा उसने मेरी ज्ञानयज्ञ योग से उपासना की है ऐसा मैं मानता हूँ।)

जिन लोगों को भगवान के विचारों का व्यसन लगा है, उनका जीवन अवश्य बदल जाता है। व्यसन शब्द अच्छा है। वह अच्छी बातों में प्रयुक्त नहीं करते, परन्तु प्रयुक्त किया

तो बुरा नहीं है। कहा भी है **'विद्याव्यसनं व्यसनमथवा हरिपादसेवनं व्यसनम्-।'** जिनको विद्या का तथा हरिपाद सेवा का व्यसन लगा उनका जीवन विकसित होगा ही। सज्जनों के साथ मित्रता करनी चाहिए।

चौथी बात है, श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति आदर रखना। श्रेष्ठ पुरुष किसे कहते हैं? जीवन के अनेक क्षेत्रों में जो लोग यशस्वी बने वे श्रेष्ठ हैं या नहीं? है ही! वे यशस्वी क्यों बने? उन्हें बुद्धि मिली, कर्तृत्व मिला, उसे वे पिछले जन्म में कमाकर लाये हैं। जो लोग गत जन्म की यह कमाई, इस जन्म में ले आये हैं वे यशस्वी लोग श्रेष्ठ हैं, परन्तु उनमें से तेजस्विता, अस्मिता चली गयी है, वे गुलाम बनकर चलते हैं। जिनका आत्मविश्वास ही नहीं रहा, वे लोग श्रेष्ठ कैसे कहे जाते हैं?

हमारे इधर धनवान व्यक्ति को **श्रेष्ठिन्** कहते थे। अब बनिया के लिए 'शेठ' शब्द प्रयुक्त करते हैं। इसका कारण श्रेष्ठ में से 'रेफ' निकल गया है। 'रेफ' तेजस्विता का अक्षर है। जिसके मुँह से 'र' अक्षर ठीक तरह से नहीं बोला जाता उसे सोना घिसकर पिलाते थे। इसका कारण **'सुवर्णं तैजसम्',** हमारे शास्त्र में सोने को तैजस माना गया है, यह एक प्रश्न है। उलझन यह है कि सोना तेजस्वी है, परन्तु उसे पाने के लिए उसके पीछे पड़े हुए लोग निस्तेज क्यों बन जाते हैं? सुवर्ण के पूजक, उपासक निस्तेज क्यों हैं? सुवर्ण तैजस है तो उसके उपासक भी तेजस्वी होने चाहिए। कितना भी पैसा उसके पास हो, पर वह निस्तेज है। उसका पृष्ठवंश ही खत्म हो गया है। ऐसा क्यों हुआ? 'श्रेष्ठ' से वह शेठ बन गया है इसलिए। समाज भी ऐसा है कि व्यक्ति जैसा बदलता है वैसा शब्द भी बदल देता है। 'श्रेष्ठ' शब्द निकाल दिया और उसके स्थान पर 'शेठ' शब्द लाकर रख दिया। शेठजी। अब सब अपने सिर पर से टोपी हटा देते हैं, वैसे 'शेठ' पर से टोपी निकल गयी और 'शठ' रह गया है। ऐसी हमारी स्थिति है। यही हमारा विकास है। कलियुग का यह विकसित मानव है।

श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति आदर होना चाहिए। परन्तु श्रेष्ठ किसे कहते हैं? जीवन में यशस्वी बने हुए कितने ही लोग हैं। विश्वविद्यालय की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम आये हुए लोग क्यों श्रेष्ठ नहीं हैं? वैसे ही व्यापार में लोग तीन-तीन, चार-चार मिलें-फैक्ट्रियाँ चलाते हैं, क्या वे यशस्वी नहीं हैं? साधारण घर चलाना मुश्किल है तो मिलें *(Mills)* चलाने में कितनी तकलीफ होती होगी उन्हें? उनको रात्रि में नींद कैसे आती होगी इसका ही मुझे पता नहीं चलता। परन्तु जो लोग फैक्ट्रियाँ चलाते हैं, वे यशस्वी हैं। पुत्र हैं, पौत्र हैं, परिवार है, सुखी परिवार है, वे क्या यशस्वी नहीं हैं? क्या वे श्रेष्ठ नही हैं? वे श्रेष्ठ ही हैं यदि उन्होंने भगवान को पकड़ा हो तो! उनके जीवन में यदि भगवान को स्थान होगा तो! उन्होंने भगवान को छोड़ दिया होगा तो वे श्रेष्ठ नहीं हैं। फिर वे भले ही कितने ही बड़े होंगे, कितने ही पढ़े-लिखे होंगे, कितना ही धन-वैभव उन्होंने कमाया होगा परन्तु उनके जीवन में से भगवान भुला दिये होंगे तो वे श्रेष्ठ नहीं हैं। मनुष्य के जीवन में से भगवान घटा दिये तो उस मनुष्य का मूल्य शून्य है। उसे कीमत-महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं

है। उसके पास चार पैसे होंगे, सत्ता होगी, उसमें क्या है? बहुत लोगों के पास सत्ता होती है। सत्ता कैसे लानी है यह एक तरकीब *(Tact)* है। यह जिनके पास है वे सत्तापिपासु। उनके पास सत्ता आ जाती है। किसी भी रूप में वे सत्ता प्राप्त करते हैं। सत्ता के लिए साम, दाम, दंड, भेद का उपयोग करके सत्ता प्राप्त करते हैं। उसके लिए वे सिंह भी बन जाते हैं, बकरा भी बन जाते हैं। वास्तव में उनका रूप न सिंह का है न बकरे का। सत्ता नहीं मिली तब तक वे बकरा, सत्ता मिल जाने के बाद वे सिंह बन जाते हैं। किसी को सिंह का रूप दिखाते हैं, तो किसी को बिल्ली का रूप दिखाते हैं, किसी को और कोई रूप दिखाते हैं ऐसे विविध रूप के दशमुखी रावण के जैसे वे लोग होते हैं।

आप श्रेष्ठ किसे कहेंगे? प्रथम निष्कर्ष यह है कि वह व्यक्ति भगवान को माननेवाला होना चाहिए। वह कितना ही गुणवान, सम्पत्तिवान क्यों न हो, परन्तु वह भगवान को न मानता हो तो वह श्रेष्ठ नहीं है। मुझे सन् १९४८ का एक किस्सा याद आता है। उस समय *Times* अखबार में एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसका शीर्षक था 'अमेरिका में नास्तिक शिक्षक को नौकरी से हटा दिया *(A theist Teacher dismissed)*। ऐसा लिखने की हिम्मत इस देश की भूमि *(Soil)* में नहीं है कि तू भगवान को नहीं मानता है इसलिए तू किसीमें अच्छे गुण *(Qualities)* निर्माण करेगा इस पर हमारी श्रद्धा नहीं है। वह अमेरिका में अच्छा शिक्षक था।

आज हमारे यहाँ शिक्षक के सम्बन्ध में कहा जाता है, उसका गणित *(Mathematics)* देखो, यांत्रिकी *(Engineering)* ज्ञान देखो। वह भगवान को मानता है या नहीं मानता है यह देखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जिसके हाथों में लड़कों को सौंपना है वह भगवान को मानता है या नहीं यह देखना ही चाहिए। अमेरिका के लोगों ने नास्तिक शिक्षक को नौकरी से हटा दिया और कारण भी स्पष्ट किया। हमारे यहाँ ऐसे शिक्षक को नहीं हटायेंगे और हटाया भी तो भिन्न कारण दिखायेंगे। हमारे यहाँ मंदिर के विश्वस्त *Trustee* भी भगवान को न माननेवाले होते हैं। मुझे एक विश्वस्त मालूम है जो भगवान को नहीं मानता है। मैंने उससे पूछा, 'आप भगवान को नहीं मानते तो इतने बड़े मंदिर के विश्वस्त क्यों बने? आपको शर्म नहीं आती? आप झूठे हैं, दोहरा व्यक्तिमत्व *(Dual personality)* है आप की!' जिसे मैं नही मानता उसका मैं विश्वस्त क्यों बनूं? परन्तु भगवान के मन्दिर का विश्वस्त बनने में कुछ भौतिक लाभ की आशा रहती है इसलिए ऐसे लोग विश्वस्त बनते हैं। उनमें भगवान के प्रति कोई भाव नहीं होता।

'मुझे भगवान को सँभालना है, भगवान के विचार विश्व में ले जाने हैं' इस भावना से वे विश्वस्त नहीं बनते। उनके मस्तिष्क में दूसरा कुछ कूड़ा-कचरा भरा होता है इसलिए वे विश्वस्त बनते हैं।

'नास्तिक में कुछ गुण होंगे ही नहीं' ऐसा कहना उचित नहीं है। अनेक नास्तिक लोगों के पास बहुत अच्छे गुण भी होते हैं, परन्तु उसका एक भिन्न कारण है। उनमें ये गुण कहाँ से आये? कैसे आये? ये गुण जन्मान्तर की कमाई से आते हैं। कुछ गुण

असहायता के कारण भी निर्माण होते हैं कुछ गुणों को नीति *(Policy)* के रूप में उन्होंने स्वीकार किया हुआ है। हमें तीन कारणों से नास्तिक भी सद्गुणी लगते हैं, परन्तु जो नास्तिक हैं, जो भगवान को नहीं मानते हैं वे श्रेष्ठ नहीं हो सकते यह भागवत की दृष्टि है।

भागवत का कहना है कि जो भगवान को परिपूर्ण मानता है वही सज्जन, वही श्रेष्ठ है। भगवान का काम करनेवाला प्रथम सज्जन व भगवान को माननेवाला होना चाहिए यह श्रेष्ठता का प्रथम लक्षण है।

जो भगवान का बना है वह हमारी दृष्टि में श्रेष्ठ है। भगवान का बना हुआ वह बंदर ही क्यों न हो, हम उसकी पूजा करते हैं। विश्व के लोग हमें पूछते हैं 'आपके यहाँ क्या चल रहा है यह? *Monkey God, Tree God*! हनुमान को वे लोग बंदर समझते हैं। हम भी वैसा ही समझते हैं। गलती उनकी नहीं है, हमारी है। जो भगवान का बना है वह बंदर ही क्यों न हो, परन्तु वह हमारी दृष्टि में श्रेष्ठ है, पूजनीय है। केवल एकाध जीवन में यशस्वी बना होगा इसलिए हमने श्रेष्ठ नहीं माना है। कितने ही लोग अपने-अपने क्षेत्र में प्रथम श्रेणी *(First class Career)* के होते हैं, उनमें कुछ सौजन्य के गुण भी होते हैं? कितने ही लोग भगवान को नहीं मानते, मन्दिर में नहीं जाते, फिर भी उनके पास ऐसे-ऐसे गुण हैं ऐसा लोग कहते हैं। होंगे! गत जन्म के गुण लेकर आये होंगे वातावरण का परिणाम *(environmental effect)* भी होगा। उन पर माता-पिता के संस्कार होंगे। जगत् में मनुष्य खड़ा है वह ऐसे ही खड़ा नहीं हुआ है। अलग-अलग परिणाम उस पर हुए हैं। समाज का परिणाम है, माता-पिता का परिणाम है, गत जन्म का परिणाम है इसलिए कितने ही लोग भगवान को न मानने पर भी सज्जन दिखायी देते हैं। उत्कृष्ट डॉक्टर भी भगवान को नहीं मानता हो तो उसकी औषधि लेना बेकार है, कारण डॉक्टर को भी भीतर से प्रेरणा भगवान ही देते हैं। परन्तु डॉक्टर को वह नहीं सुनायी देती। डॉक्टर को तो आस्तिक रहना ही चाहिए। मानवी जीवन उसके हाथ में होता है।

डॉक्टर रोगी पर उपचार करता है। आठ दिन तक औषधि देता है, पर कुछ फर्क नहीं पड़ता है। नौवें दिन डॉक्टर कहता है, पहली औषधि छोड़ दो, अब नयी औषधि देता हूँ, यह लेकर देखो, अच्छे बन जाओगे और ठीक दो दिन में हम अच्छे हो जाते हैं। कैसे? भीतर कोई बैठा है, वही डॉक्टर को कुछ सुझाता है, परन्तु भीतर वाले का कौन सुन सकता है? जो उसे मानता होगा वही! सुभाषितकार कहता है—

गुरोरधीताखिलवैद्यविद्यः पीयूषपाणिः कुशलः क्रियासु।
गतस्पृहो धैर्यधरः दयालुः शुद्धोऽधिकारी भिषगीदृशः स्यात्।।

डॉक्टर कैसा होना चाहिए, उसकी यह व्याख्या है। गुरु के पास सर्व वैद्यकशास्त्र का अध्ययन किया हुआ, अमृत के समान शीतल हाथवाला, वैद्यकशास्त्र की सर्व क्रियाओं में कुशल, निस्पृह, धैर्य बढ़ाने वाला दयालु, शुद्ध चारित्र्यवान और अधिकारी ऐसा वैद्य होना चाहिए।

हमारे यहाँ तो इतना ही देखा जाता है कि डॉक्टर को अपने क्षेत्र में कितना ज्ञान है? पूर्ण है न! वह शस्त्रक्रिया *(Operation)* अच्छा करता है न? पर्याप्त हो गया। और क्या चाहिए? वह भगवान को मानता है या नहीं? यह देखने की आवश्यकता नहीं है। यह डॉक्टर ही हमारा भगवान है। ऐसा बोलनेवाला व्यक्ति अपने को ही धोखा देता है *He is deceiving himself* । वह अपने को तो धोखा देता ही है, मगर दूसरे को भी धोखा देता है। जो भगवान को नहीं मानता वह श्रेष्ठ हो ही नहीं सकता! इतनी स्वच्छ कल्पना भागवतों की होनी चाहिए। श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति आदर होना चाहिए, यह भागवत धर्म में चौथी बात है।

फिर कहते हैं-

शौचं तपस्तितिक्षा च मौनं स्वाध्यायमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः।।११/३/२४।।

(शौच, तप, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय, ऋजुता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, द्वन्द्वों में समत्व- इतने गुण लाने चाहिए।) भागवत में ये गुण आने चाहिए।

मुझे एक बार एक विदेशी व्यक्ति ने पूछा, 'क्या आप एक शब्द में आपके धर्म का लक्षण बता सकेंगे?' एक शब्द में धर्म को क्या कहते हैं?' बहुत कठिन है, परन्तु एक ही शब्द में कहना हो तो हमारा धर्म **'शौचम्'** कहता है। **'शौच'** इस एक शब्द में सब आ गया। इसमें अर्थशौच, वृत्तिशौच, बुद्धिशौच सब आ गये। शुचिता यह धर्म है।

आप भगवान की पूजा करने लगेंगे तब उसके पीछे जो हेतु होगा वह 'शुचि' होना चाहिए, स्वच्छ होना चाहिए। आप सामाजिक कार्य करने लगेंगे तो उसके पीछे का हेतु भी स्वच्छ होना चाहिए, तभी आप धार्मिक हैं। भागवत की कथा का हेतु भी स्वच्छ होना चाहिए। हमारे पूर्वज, ऋषि अर्थशौच को प्राधान्य देते हैं। कितने ही विदेशी लोग कहते हैं कि चर्च में जाकर भगवान को नमस्कार करना यह बात ठीक है, परन्तु जीवन में प्रत्येक बात का विचार करते समय भगवान! भगवान! क्यों लाना है? हमें कुछ रहने दो, जीने दो न! सभी जगह, भगवान, भगवान यह क्या चल रहा है? चलना ही चाहिए सर्वत्र भगवान होना ही चाहिए, इसीलिए अर्थशौच है। इसीलिए अर्थशास्त्र *(Economics)* में भी भगवान प्रविष्ट हो गये हैं।

आज के अर्थशास्त्र में समझाते हैं कि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। *There is no Relation between economics and ethics-* फिर कहते हैं कि अर्थशास्त्र कोई शास्त्र *(science)* नहीं है और अर्ध नहीं, पूर्ण शास्त्र है। *economics is an independent science* वह स्वतंत्र शास्त्र है। भारतीयों का कहना है कि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में प्रगाढ़ सम्बन्ध है- *There is tine relation between economics and ethics*। उनके बीच का सम्बन्ध तोड़ दोगे तो वह अर्थतंत्र टूट जाएगा, धर्म की व्याख्या

एक ही शब्द में करनी हो तो वह शब्द **शौचम्** है। शुचिता में सभी प्रकार के अर्थशौच, शरीरशौच, वृत्तिशौच, बुद्धिशौच, मनशौच आ जाते हैं।

बुद्धि में विचार और संकल्प ये दो बाते हैं। ये दोनों शुद्ध होने चाहिए। जिसके जीवन में ये दोनों बातें शुद्ध हैं वह **'शौचम्'** है, हमारे शास्त्रकारों ने **'शौचम्'** पर बहुत जोर दिया है। इसी एक शब्द में संपूर्ण विश्व आ जाता है, इसीलिए धर्म के लिए एक ही शब्द 'शौच' कहा है। 'मेरा जीवन मैं नहीं चलाता हूँ' यह समझना शुद्ध विचार है। मेरा जीवन दूसरा कोई चला रहा है, फिर भी 'मैं ही अपना जीवन चला रहा हूँ' ऐसा कहना घमण्ड है। दूसरे की वस्तु उठाकर लाना और उस पर अपना हक्क जमाना यह गुण्डे का काम होता है, सज्जन का नहीं। संपूर्ण शरीर और शरीर में चयापचय क्रिया कौन चलाता है? हम नहीं चलाते हैं। दूसरा कोई चलाता है, मैं नहीं चलाता हूँ। तो फिर यह चयापचय क्रिया चलानेवाले का स्मरण नहीं करना चाहिए? ऐसा यदि हुआ तो आपके पास 'शौचम्' नहीं है। शौच शब्द में भक्ति भी आ जाती है। इसीलिए भागवत धर्म में 'शौच' को विशेषता प्रदान की है। संपूर्ण धर्म ही शुचिता-शौच का घर होना चाहिए।

जैसी शरीरशुद्धि है वैसी मनशुद्धि, वृत्तिशुद्धि, बुद्धिशुद्धि ये सब शुचिता में आते हैं। शुचि चाहिए तप भी चाहिए। जो भागवत तप नहीं करता वह भागवत नहीं है ऐसा भागवतकार कहते हैं। तप का अर्थ क्या है? क्या पानी में चौबीस घंटे खड़ा रहना? जरूर वह भी तप हो सकता है। सिर्फ खड़ा रहना होगा तो भी हम नहीं रह सकेंगे। समझ लीजिए, निश्चित करो कि कल सुबह से शाम तक खड़ा ही रहना है, तो बीच में दस बार बैठने की इच्छा होगी। ऐसा निश्चित नहीं करेंगे तो पूरा दिन खड़ा नहीं रह सकेंगे। जिस दिन निश्चित करके उपवास करेंगे उस दिन खाने की इच्छा प्रबल होती है। प्रतिदिन खाना खाते हैं तब अन्य वस्तुओं की ओर आकर्षित नहीं होते, परन्तु उपवास के दिन खाने की वस्तु की ओर बरबस दृष्टि जाती ही है। ऐसा हमारा जीवन है। वह भी तप है, परन्तु तप का सच्चा अर्थ क्या है?

'तपो द्वन्द्वसहनम्' भागवत को द्वन्द्व सहन करना है। सुख आयेगा, दु:ख भी आयेगा, उसे सहन करना है। दोनों स्थितियों में अविचल रहना है। वही तप है। आया हुआ सुख-दु:ख आप सहन करेंगे, वह कठिन है, वह कदाचित् आप सहन करेंगे यह ठीक है, परन्तु 'उठाया हुआ दु:ख सहन करना' तप है।

मुझे घर में बैठकर शान्ति से चाय, नाश्ता, खाना मिलता है। घर से बाहर निकलते ही जाने के लिए मोटरगाड़ी भी है। फिर भी मैं यह सब छोड़कर भक्तिफेरी में जाता हूँ, पैदल चलता हूँ, अपने ही हाथ से भोजन बनाकर खाता हूँ। यह सब दु:ख मैंने जान बूझकर उठाया है। उसकी आवश्यकता नहीं थी, फिर भी उठाया है। उसीको तप कहते हैं। आया हुआ दु:ख सहन करना श्रेष्ठता है, पर उठाया हुआ दु:ख 'तप' कहलाता है। भागवतकार कहते हैं कि जिसे भागवत बनना है उसे तप करना चाहिए।

जिनका जीवन सुखी है ऐसे लोग गाँव में जाते हैं, घूमते हैं, घर-घर जाकर लोगों से मिलते हैं। उनको लोगों से कुछ लेना-देना नहीं है, फिर भी वे जाते हैं। सभी इस दृष्टि से देखते हैं कि य लोग क्यों आये होंगे? वे कदाचित् इन लोगों को पागल भी मानते होंगे। भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि भगवान! इन पागलों को गाँववालों की नजर न लगे। नज़र लगेगी तो सब काम बिगड़ जायेगा।

एक बंगाली बाबू ने मुझे पूछा कि 'स्वाध्यायी गाँव-गाँव में क्यों घूमते हैं?' मैंने कहा, 'यह समझना हो तो आपको उनके साथ घूमना चाहिए, तभी पता चलेगा।' लोगों को आश्चर्य होता है कि लेना-देना कुछ नहीं है, चन्दा इकट्ठा नहीं करना है, न मत *(Vote)* मांगना है न बड़प्पन की अपेक्षा है, गाँव से कुछ सम्मानपत्र भी नहीं पाना है, तो फिर ये लोग गाँव-गाँव में क्यों घूमते हैं? उनकी कौनसी प्रेरणा *(Incentive)* है? उनकी कौनसी उत्तेजना *Inspiration* है?' यह स्वाध्यायियों का तप है। 'तप' ही उनकी प्रेरणा है, उत्तेजना है।

भगवान ने गीता में कहा है कि

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रुषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।१८/६७।।

(यह गीतारहस्य जो तपस्वी नहीं है, भक्त नहीं है, जिसे सुनने की इच्छा नहीं है और जो मेरा (भगवान का) द्वेष करता है ऐसे व्यक्ति को नहीं कहना चाहिए।)

जो लोग भगवत्कार्य के लिए दुःख उठाते हैं, उन्हें वह दुःख लगता ही नहीं। बाहर के लोगों को वह दुःख लगता है यह भिन्न बात है। भक्तिफेरी में जानेवालों को इतना आनन्द होता है कि एकाध बार वे न जा सकें तो उनको व्यथा होती है। उन्हें लगता है कि बहुत दिनों से गाँव में भक्तिफेरी में नहीं गये हैं। इस प्रकार दुःख का परिणाम सुख में होता है। जीवन में तप आवश्यक बात है। वही भागवतकार ने उठायी है। **'शौचं तपः तितिक्षा च।'** शौच होना चाहिए, तप होना चाहिए। जिसने तप नहीं किया है उसके साथ गीता नहीं बोलेगी। जिसने भगवान के लिए कुछ भी कष्ट नहीं उठाये हैं, उसके साथ गीता बोलेगी भी कैसे? गीता किसके साथ बोलती है यह भगवान ने उपरोक्त श्लोक में बताया है। बुद्धिमान के साथ भी गीता नहीं बोलती है। पढ़े लिखे हैं इसलिए गीता का भाषान्तर *(Translation)* करेंगे। मगर गीता का भाषान्तर नहीं हो सकता। वैसे तो अनेकों ने गीता का भाषान्तर किया है, गीता पर भाष्य लिखे हैं, परन्तु गीता कौन समझा है? हम भले ही रात-दिन गीता-गीता कहेंगे, परन्तु अन्त में स्वीकार करना पड़ता है कि हमें गीता अभी तक समझ नहीं पड़ी। जितनी गहराई में जायेंगे उतनी गीता गहन लगती है। ऐसी है गीता! भागवतकार ने भी वही लिखा है। जिस प्रकार उपरोक्त चार बातें भागवत के पास होनी चाहिए वैसे ही शौच, तप, तितिक्षा होने चाहिए। जैसे जैसे भगवान पर प्रेम बढ़ता जायेगा वैसे वैसे एक-एक गुण जीवन में आने लगेगा। उसके लिए कोई परिश्रम नहीं उठाने पड़ते।

भागवत धर्म समझाते हुए आगे कहते हैं कि भागवत क्या करे?

श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः।।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम्।। (भा. ११।३।२७)

(भगवान की लीलाएं अद्भुत हैं, उनके जन्म, कर्म और गुण दिव्य हैं। उन्हीं का श्रवण, कीर्तन और ध्यान करना चाहिए, सब भगवान के लिए करना सीखना चाहिए।)

इसमें प्रथम श्रवण का बहुत ही आग्रह रखा है। भक्तिमार्ग में भी ऐसी ही सीढ़ी दिखायी है-

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

(श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये नौ भक्ति के सोपान हैं।)

श्रवण का अर्थ केवल 'सुनना' नहीं है। **'श्रुत्वा धर्मं विजानाति'** सुनने से धर्म का ज्ञान होता है। हमें आज धर्म की समझ नहीं है। धर्म क्या है? कोई भी धर्म उठा लो वह निरपवाद नहीं हैं। हिन्दु, ईसाई, मुस्लिम आदि में सामान्य धर्म की अलग-अलग व्याख्या होगी, उनमें कर्मकाण्ड भी भिन्न होगा, परन्तु उनके जो मूलभूत *(Basic)* सिद्धान्त हैं उनके सम्बन्ध में निरापवादत्व नहीं है। उदाहरणस्वरूप अहिंसा तत्त्व लीजिए। वह भी निरापवाद तत्त्व नहीं है। एकाध प्रसंग में हिंसा करनी पड़ी तो भी उसे धर्म कह सकते हैं।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्।।

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।।

गुरु हो, ब्राह्मण हो अथवा बहुश्रुत हो, परन्तु वे यदि आततायी बनें तो बिना विचार किये उन्हें मारना चाहिए। यहाँ हिंसा में दोष नहीं है। धर्म की व्याख्या इसलिए **'इदमित्थम्'** नहीं हो सकती। उसका निर्णय अन्त में बुद्धि से लेना पड़ता है। बुद्धि मनुष्य को तारती तो है परन्तु वह डुबाती भी है। इसलिए बुद्धि पर संस्कार होने चाहिए, उसे घिसना चाहिए इसका जो आग्रह रखा है वह इसी कारण रखा है। अन्त में मनुष्य को स्वयं ही अन्तिम निर्णय लेना चाहिए।

सत्यं वद- सत्य बोलना चाहिए ऐसा धर्म कहता है, परन्तु यह भी निरपवाद नहीं है। मजाक करना चाहिए या नहीं? कभी-कभी झूठ बोलना भी पाप नहीं है ऐसा कहा गया है:

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि।।

धर्म की व्याख्या निश्चित नहीं हो सकती। **श्रुत्वा धर्मं विजानाति**- श्रवण करने से धर्म का ज्ञान होता है। ऐसा सुनना चाहिए कि जिससे बुद्धि तैयार होगी, प्रभावी बनेगी, स्वयं निर्णय कर सके ऐसी बनेगी! केवल कथा-कहानियाँ सुनना इसे श्रवण नहीं कहते। श्रवण से बुद्धि बदलना है, तीक्ष्ण बनाना है। इसलिए सुनना है। परन्तु आज तो श्रवण करने में से बुद्धि ही चली गयी है। श्रवण करने का अर्थ ही यह हो गया है कि बुद्धि नहीं चलानी है। जिस तरह **श्रुत्वा धर्मं विजानाति** है वैसे ही **श्रुत्वा पापं परित्यजेत्**- सुनने से पाप नष्ट होता है। पाप का अर्थ है, क्षुद्रता, दीनता, दुर्बलता, असहिष्णुता! जब तक मनुष्य स्वयं को क्षुद्र समझता है तब तक उससे कुछ नहीं होगा। मनुष्य को आत्मगौरव, अस्मिता जागृत करनी चाहिए।

'मैं कुछ कर सकता हूँ' ऐसी भावना जब तक तुम्हारे हृदय में जागृत नहीं होगी तब तक तुम दुर्गुणों के साथ नहीं लड़ सकोगे और सद्गुणों को नहीं उठा सकोगे। सद्गुणों को उठाना है और दुर्गुणों के साथ लड़ना है, इसलिए ऐसा श्रवण करना है जिससे अस्मिता जागृत होगी।

श्रुत्वा निवर्तते मोहः - जिससे मोह चला जायेगा ऐसा सुनना चाहिए। हमें शरीर, वित्त, कीर्ति, सत्ता आदि का कितना मोह है? अच्छा श्रवण करने से मोह चला जाता है।

श्रुत्वा ज्ञानामृतं लभेत्-- श्रवण करने से ज्ञानामृत प्राप्त होता है। क्या सुनना व कैसे सुनना यह समझाया है।

हमारा संपूर्ण जीवन, जीवन की सभी क्रियाएं- खाना, पीना, सोना, उठना, कमाना- सब उसी (भगवान) के लिए होने चाहिए **'तदर्थेऽखिलचेष्टितम्'** यह भागवत का अन्तिम लक्षण समझाया है। मेरी जो भी कृति होगी वह भगवान! आपके लिए ही होगी। कृति के कर्म का हेतु महत्त्वपूर्ण है। आप किस हेतु से कर्म करते हैं, आपके संकल्प क्या हैं यह भगवान देखते हैं। कृति का संपूर्ण आधार 'संकल्प' पर निर्भर है। कृति की नींव में संकल्प है। मैं हमेशा एक दृष्टान्त देता हूँ कि किसी ने पचीस हजार रूपये व्यय करके गाँव के लोगों के लिए कुआँ बना दिया कि लोगों को पीने को पानी मिले, परन्तु उसके पीछे उसका यदि यह हेतु होगा कि मैं आगामी चुनाव में खड़ा रहनेवाला हूँ, अत: गाँव के लोगों के मत *(Votes)* मुझे मिलने चाहिए, तो उसका वह कर्म भागवत नहीं है, वह व्यापार है- **स वै वणिक्** भागवत ने उसे 'वणिक' कहा है।

क्या सुनना चाहिए? तो कहते हैं- **'हरेरद्भुतकर्मणः'** हरि के जो अद्भुत कर्म हैं वे सुनने चाहिए। अद्भुत किसे कहते हैं? जहाँ बुद्धि नहीं चलती वह अद्भुत कहलाता है। हम उसे अकस्मात्-*Accident*- कहते हैं। जिसकी कारणपरम्परा का पता नहीं चलता, उसे अकस्मात् कहते हैं।

भगवान के अद्भुत कर्म अर्थात् भूगर्भशास्त्र, भूगोलशास्त्र, नरदेहरचना-कौशल्य! ये सब भगवान के अद्भुत कर्म हैं। मुझे डॉक्टर के प्रति प्रेम है परन्तु साथ ही उन पर दया भी आती है, कारण इतनी शस्त्रक्रियाएं- *Dissection* करने के बाद भी वे पत्थर जैसे कैसे रहते हैं? चीरफाड़ में उनको अंदर का सभी पता चलता है, फिर भी उनके दिमाग में नहीं आता कि यह किसने बनाया होगा, कैसा बनाया होगा, क्यों बनाया होगा, किसके लिए बनाया होगा? बनानेवाले के प्रति अपना कुछ कर्तव्य है या नहीं! बुद्धिमान डॉक्टर इस संबंध में कुछ सोचते ही नहीं, यह बहुत बुरी बात है।

समझदार व्यक्ति यदि गुनाह करेगा तो उसे दुगुनी सजा मिलती है। उच्च न्यायालय में वकील यदि गुनाह करता है तो न्यायाधीश उसे नहीं छोड़ते, दुगुनी सज़ा फर्माते हैं ऐसा मैंने सुना है। इसका कारण कानून का पूर्ण ज्ञान होते हुए भी वह कानून के विरोध में अपराध करता है।

भूगर्भशास्त्र, शरीररचनाशास्त्र, खगोलशास्त्र, भूस्तरशास्त्र, ये सब भगवान के पुराण हैं, भगवान की लिखी हुई पोथी है। इनका अभ्यास करने पर भगवान के अद्भुत कर्मो का पता चलता है। रंग परमाणु का सिद्धान्त (*Chromosom theory*) पढ़ने पर भगवान के अद्भुत कर्म मालूम होते हैं। शरीर में सर्वत्र अड़तालीस रंग परमाणु हैं, परन्तु वीर्य और रज *(Semen and Ovum)* में चौबीस-चौबीस हैं। ऐसी व्यवस्था किसने की? ऐसा विचार करते-करते ही दिमाग खत्म हो जाता है, चलता ही नहीं। भगवान के ऐसे अनेक अद्भुत कर्म हैं।

जन्मकर्मगुणानां च हममें जो गुण *(qualities)* होंगे उन्हें भगवान के चरणों में रखने चाहिए। हम अपने सभी गुण स्वार्थ के लिए ही प्रयुक्त करते हैं। यही कूड़ा-कचरा भक्तिशास्त्र में प्रविष्ट हुआ है। जिस प्रकार चित्तैकाग्रता *(concentration)* चले जाने से मूर्तिपूजा चली गयी, उसी प्रकार कृतिभक्ति चली गयी इसलिए प्रेम भी खत्म हो गया।

दूसरी बात यह है कि हमारे पास जो निपुणता *(efficiency)* है वह भगवान के चरणों में धरनी चाहिए। यह करने के लिए कोई तैयार नहीं है। निपुणता बाज़ार में, दफ्तर में प्रयुक्त करते हैं और जीवन का निरुपयोगी भाग मंदिर के उपयोग में लाते हैं। राम राम जयराम जयराम गाते हैं,गाना आता भी नहीं है फिर भी गाते हैं, निरुपयोगी भाग भगवान को देते हैं। अपने जीवन का उपयोगी भाग भगवान को देना चाहिए जो अर्जुन ने किया।

अर्जुन योद्धा था, लड़ने की निपुणता उसमें थी वही प्रभावी वीर था। अपनी यह निपुणता उसने भगवान के चरणों में धर दी। मुझे आश्चर्य लगता है कि कोई भी तत्त्वज्ञान का ग्रंथ खोलकर देखो, उसमें लड़ने वाले को-योद्धा को मुक्ति मिली है ऐसा पढ़ने को नहीं मिलेगा, परन्तु अर्जुन लड़ा और भगवान का लाड़ला- **पाण्डवानां धनंजयः** बन गया, विभूति बना। भगवान ने गीता में ऐसा कहा है वह अर्जुन को मनाने के लिए अथवा उसकी खुशामद करने के लिए नहीं कहा है। अर्जुन की खुशामद करने की

भगवान को कोई आवश्यकता नहीं थी। भगवान ने तो स्पष्ट भाषा में कहा है कि **'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः'** तुझे खड़ा होना है तो हो सकता है, अन्यथा तेरे बिना भी ये योद्धा नष्ट होनेवाले ही हैं कारण मैने इन सबको पहले ही मार दिया है (काल के कारण इनकी आयु समाप्त हुई है)। तू नहीं खड़ा होगा तो मैं दूसरे पत्थर को भी खड़ा करूँगा। यह काम तो होनेवाला ही है तेरे बिना नहीं रुकेगा। इसलिए **निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।'** तुझे निमित्त बनना है। भगवान को इस प्रसंग द्वारा यही दिखाना था कि शत्रु के सिर काटनेवाला अर्जुन भी **पाण्डवानां धनंजयः** बन सकता है, कारण अर्जुन ने अपनी निपुणता भगवान के चरणों में धर दी थी। सेना नाई हजाम था, लोगों की हज़ामत करता था, फिर भी वह मुक्त हो गया, क्योंकि उसने अपना कौशल्य भगवान के चरणों में अर्पण किया था। अपनी निपुणता भगवान के चरणों में अर्पण कराने का दर्शन अर्जुन द्वारा भगवान ने कराया है। अर्जुन का यह अलौकिक दर्शन है। आज भागवत किसे कहा जाता है, मालूम है? अपनी निपुणता बाजार में दिखाता है और घर आने पर माला पहनाता है, आरती उतारता है और प्रसाद खाता है, इतना किया कि हो गयी भक्ति पूर्ण! ऐसा है तो सभी भक्त ही है, तो फिर भागवतकार को इतना सब लिखने की क्या आवश्यकता थी?

भगवान के चरणों में अपनी निपुणता धरना भक्ति का दूसरा नाम है। उसी प्रकार शास्त्रीय मूर्तिपूजा समझाना भी भक्ति है। यह काम करनेवाले स्वाध्यायी इसीलिए भक्त हैं। भक्तिफेरी द्वारा वे कृतिभक्ति करते हैं। भक्तिफेरी करके वे ऋषि-मुनियों के बताये हुए भक्ति मार्ग पर जो कूड़ा-कचरा जम गया है, उसे हटाकर उस मार्ग को स्वच्छ करने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रदीर्घ व भारी वर्षा होने पर रास्ते पर कीचड़ होता है, कूड़ा-कचरा भी आता है, उसे हटाना ही पड़ता है तभी मार्ग उपयोग में आ सकता है। उसी प्रकार मानव जाति पर अगतिकता से, असहायता से, भय से भक्ति की बाढ़ आने के कारण मार्ग पर कचरा-मिट्टी आ जाती है, वे मार्ग साफ-स्वच्छ करने पड़ते हैं।

मुझे एक व्यक्ति ने पूछा, "तुम स्वाध्यायी लोग कौन हो और क्या करते हो?" मैंने कहा, 'हम स्वाध्यायी भगवान के झाड़ूवाले हैं। यदि झाड़ूवाले हरिजन होंगे तो हम भी झाड़ूवाले-हरिजन ही हैं। हम भक्ति पर जमा हुआ कचरा हटाते हैं, कृतिभक्ति करते हैं और अपनी निपुणता भगवान के चरणों में धरते हैं।'

पेशवाई के काल में माधवराव पेशवा प्रतिदिन सुबह तीन चार घण्टे संध्या पूजा करता था। राज्य कारोबार के सम्बन्ध में रामशास्त्री प्रभुणे सुबह के समय उनसे मिलने आते थे परन्तु माधवराव नहीं मिलता था। एक ही उत्तर मिलता था, 'संध्या कर रहे हैं या पूजा चल रही है।' अन्त में जब मुलाकात हुई तब रामशास्त्री ने स्पष्ट भाषा में कहा, 'अपना कर्तव्य छोड़कर सन्ध्या करने बैठनेवाले को सन्ध्या का फल नहीं मिलता। तुम राजगद्दी पर बैठे हो, तीन चार घण्टों तक सन्ध्या करने के लिए नहीं बैठे हो। राजगद्दी पर बैठे हो तो वह काम प्रथम करना चाहिए। वह नहीं करोगे तो इहलोक तथा

परलोक दोनों में तुम अपराधी माने जाओगे, इतना ही नहीं, तुम भगवान के प्रति भी अपराध कर रहे हो।

रामशास्त्री प्रभुणे जैसे परम धार्मिक व न्यायाधीश व्यक्ति ने माधवराव पेशवे को चार घण्टों तक सन्ध्या करने से क्यों रोका? क्या उनको सन्ध्या अमान्य थी? ऐसा नहीं था। **'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत:'** में वह नहीं बैठता।

अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिन:।
ते हरेर्द्वेषिन: पापा: धर्मार्थं जन्म यद्धरे:।।

अपना निज कर्म छोड़कर, कृष्ण-कृष्ण जपने वाले लोग हरि के- भगवान के द्वेषी हैं, पापी हैं।

अपने गुण, अपनी निपुणता भगवान के चरणों में धरने का काम स्वाध्याय परिवार कर रहा है। अनपढ़ मच्छीमार जैसे स्वाध्यायी भी करते हैं। किसी भी काम का संकल्प 'भगवान के लिए' होना चाहिए। विवाह करना होगा तो भी संकल्प में ऐसा ही बोलना है कि भगवान! आपका काम हो इसलिए मैं विवाह कर रहा हूँ, आप अच्छी पत्नी देंगे तो दुगुना काम होगा। प्रतिकूल पत्नी मिलेगी तो आपके काम पर मेरी जो श्रद्धा है वह दृढ़ होगी, बढ़ जायेगी।' इस भूमिका से काम करनेवाला भागवत है। ऐसा 'भागवत' का सुंदर वर्णन-चित्रण नारद ने वसुदेव के पास किया है।

उसी श्लोक में, फिर कहते हैं कि **तदर्थेऽखिलचेष्टितम्-** सब भगवान के लिए होना चाहिए। **शिवो भूत्वा शिवं यजेत्- कृष्णो भूत्वा कृष्णं यजेत्-रामो भूत्वा रामं यजेत्-** ऐसा होना चाहिए। केवल राम के गुण नहीं गाने हैं तो उन गुणों को अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न करना है।

भगवान जिस कार्य के लिए इस सृष्टि में आते हैं, वही कार्य करने के लिए मैं भी आया हूँ ऐसा कहने की हिम्मत होनी चाहिए। भगवान इस सृष्टि में कौनसा कार्य करने के लिए आते हैं? उसके बारे में भगवान स्वयं गीता में कहते हैं-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। गी-४.८।।

(साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और दूषित कर्म करनेवालों का नाश करने के लिए तथा धर्मसंस्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।)

यह भगवान का काम है। हम भी वह कार्य करेंगे। जो सच्चे वैष्णव हैं, सच्चे भागवत हैं वे इस कार्य के लिए आगे आयेंगे। साधुओं का रक्षण करना है, सज्जनों को सँभालना है, शक्ति देनी है, दुष्ट वृत्तियों का दमन करना है, और धर्म की संस्थापना करनी है। इस कार्य के लिए भगवान आये। 'भगवान! मैं भी इस कार्य के लिए आया हूँ' ऐसा

कहेंगे, तब भगवान के साथ बैठनेवाले यात्री बन जायेंगे। आपका व भगवान का टिकट एक ही है। तब कह सकते हैं, भगवान! इस जगत् में आप जिस कार्य के लिए आते हैं वह हम भी करेंगे। आपका काम बड़ा होगा, हम छोटा काम करेंगे, उसमें क्या है? काम तो वही रहेगा। हमारे जीवन में यही दृष्टि रहेगी कि हमें सज्जनों को शक्ति देनी है, जगत् में सद्वृत्ति बढ़ाने के लिए प्रयत्न करने हैं।

मनुष्य को दुष्ट वृत्ति का दमन करना है। भगवान का जगत् के प्रति प्रेम होता है। जितना प्रेम अधिक होगा, उतनी अधिक मात्रा में दुष्ट वृत्ति का प्रतिकार कर सकेंगे। 'भागवत' यह उपनाम नहीं है, कोई उपाधि नहीं है, तो गुण विशेष है। भागवत का सभी जगत् पर प्रेम होने से दोष का प्रतिकार करने *(resist not evil)* कहा है। दोष का प्रतिकार करना है, दोषी का नहीं! दोषी को मारना अलग बात है और दोष को मारना अलग बात है। समझो कि आपके पुत्र को बुखार आया है। तो उसे दवा पिलाकर उसके बुखार (दोष) को शरीर में से हटायेंगे। दोष का प्रतिकार यानी उसे दवा न देना ऐसा नहीं है। जब तक उसका बुखार नहीं हटता तब तक आप चैन से नहीं बैठेंगे। आवश्यक हो तो अमेरिका से भी इंजेक्शन या दवा मंगायेंगे और बुखार को हटायेंगे। इसमें दोषी का तिरस्कार नहीं, दोष का तिरस्कार है। इसीको दोष का प्रतिकार कहते हैं। जो जगत् में दोष देखकर भी चुपचाप बैठता है वह भागवत नहीं है, भागवत धर्म का नहीं है।

भगवान के जन्म, कर्म व गुण इन तीन बातों को देखकर हमें काम करना है। भगवान का जन्म जिस कारण के लिए था उसी कारण के लिए हमारा भी जन्म है, यह हमें सिद्ध करना है। 'जगत् में सद्वृत्ति बढ़नी चाहिए' ऐसा बोलने से काम नहीं चलेगा। जगत् में सद्वृत्ति बढ़ाने के लिए हमें अपनी शक्ति व्यय की है, वैसे ही दुष्ट वृत्ति का दमन करने में भी हमारी शक्ति हमने लगायी है ऐसा भगवान को दिखाना पड़ेगा। हमें धर्म की संस्थापना करनी है, धर्म की स्थापना नहीं करनी है, वह तो वेदकाल से हो चुकी है। परन्तु धर्म में कुछ इधर-उधर से कूड़ा-कचरा प्रविष्ट होता है, उसे हटाकर धर्म का उद्धार करना है। भगवान कृष्ण किसलिए आये थे? अधर्म को ही धर्म समझकर लोग चल रहे थे, अधर्म ही हमारा धर्म है ऐसा बोलते थे, उनके विरोध में भगवान कृष्ण को खड़ा रहना पड़ा था। उन्होंने कहा कि ऐसा नहीं चलेगा। यह तामस बुद्धि है उसे छोड़ना पड़ेगा। तामस बुद्धि के सम्बन्ध में भगवान कहते हैं।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।। गी.१८.३२।।

(हे अर्जुन! जो तमोगुण से आवृत बुद्धि है वह अधर्म को ही धर्म मानती है, तथा (और भी) संपूर्ण अर्थों को विपरीत ही मानती है वह बुद्धि तामसी है।)

जो रूढ़िग्रस्त धर्म का पालन करने वाले लोग हैं उनके विरोध में खड़ा रहना बहुत कठिन काम है। धर्म के प्रति प्रेम है, भक्ति के प्रति भी प्रेम है, परन्तु लीक से चलने

वाले धर्म का, भक्ति का प्रतिकार करना बहुत कठिन है। समाज उसका शीघ्र स्वीकार नहीं करता है। वह तो लीक से चलता आया हुआ, रूढ़िग्रस्त धर्म ही उठाता है। समाज में बहुसंख्य लोग मूर्ख होते हैं, इसीलिए वे लीक से चलनेवाले धर्म को ही उठाते हैं। मैं व्यासपीठ पर बैठा हूँ इसलिए ऐसा कह रहा हूँ परन्तु व्यासपीठ से नीचे उतरने पर तो बहुसंख्यकों का ही मानना पड़ता है क्योंकि *Majority carries the point* ऐसा कहा जाता है। यह व्यवहार में चल सकता है परन्तु शास्त्र में, विज्ञान में कहीं भी *Majority* नहीं चल सकती। समझो कि घर में कोई व्यक्ति सख्त बीमार पड़ा है। परिवार के दस लोग कहते हैं कि मलेरिया है और डॉक्टर कहता है कि 'टाइफाईड' है तो किसका मानेंगे? डॉक्टर का ही मानना पड़ता है, दस लोगों का नहीं कारण शास्त्र में *Majority* नहीं चलती। जिसके पास ज्ञान है, दूरदृष्टि है यानी जो तज्ज्ञ *(expert)* है उसका ही माना जाता है।

लीक से चलने वाले धर्म, धर्मसंस्था के विरोध में खड़ा रहना बहुत कठिन है। श्रीकृष्ण भगवान को भी बहुत कठिन पड़ा। मैं कितने ही बार कहता हूँ, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान, भगवान थे इसमें सन्देह नहीं। **कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।** वे भगवान थे, योग्य और नैतिक मार्ग पर थे इसमें सन्देह नहीं। इतना ही नहीं उन्होंने सामाजिक पुनरुत्थान के लिए अपने रक्त की बूँद-बूँद व्यय की थी। फिर भी उस समय कौरव-पाण्डव की लड़ाई हुई उसमें श्रीकृष्ण भगवान पाण्डवों के पक्ष में थे। इतना होते हुए भी पांडवों के पास केवल सात अक्षौहिणी सेना थी और कौरवों के पास ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी। (एक अक्षौहिणी में १०९३५० पैदल, ६५६१० घोड़े, २१८०० रथ तथा २१८७० हाथी होते हैं)। ऐसा क्यों? भगवान के पक्ष में कम और विरोधियों के पक्ष में अधिक? इसका कारण यह है कि उस समय के बुद्धिशाली लोग, संविधान को लेकर चलनेवाले लोग, राजकारणी तथा योद्धा *(Warriors)* ये सब कृष्ण के खिलाफ थे। वे क्यों खिलाफ थे यह विचार करने जैसी बात है।

उस समय एक संवैधानिक प्रश्न भी रहा होगा। वह यह कि पांडु को राज्य मिला। वह धृतराष्ट्र से छोटा था परन्तु विकलांग नहीं था। धृतराष्ट्र विकलांग (अंधा) था। इसलिए बड़ा होकर भी वह उस समय के भारतीय संविधान के अनुसार राज्य का अधिकारी नहीं था। पांडु को राज्य मिला। कुछ समय के बाद वह बनवास में चला गया। अत: जिसे अधिकृत करते हैं उस रूप में दस्तख़त करने के अधिकारी के नाते धृतराष्ट्र को नियुक्त करके पांडु चला गया था। धृतराष्ट्र जो एक बार गद्दी पर बैठ गया तो फिर उतरा ही नहीं। यही शोकान्तिका -*(Tragedy)* है उसकी।

फिर पाण्डु के पुत्र हुए और धृतराष्ट्र के भी। अब राज्य का अधिकारी कौन। पाण्डव या कौरव? उसमें पांडु की सन्तति नियोगजन्य थी और धृतराष्ट्र के पुत्र औरस सन्तति थी। उस, समय औरस सन्तति के समान ही नियोगजन्य सन्तति का मूल्य था। नियोगजन्य सन्तति भी धर्ममान्य, कानून से मान्य थी। फिर भी जब औरस सन्तति और नियोगजन्य

सन्तति दोनों साथ में आ जाते तो औरस सन्तति अधिकारी बन जाती, इसलिए राजगद्दी पर कौरवों का ही अधिकार है ऐसा मानने वाले कुछ राजनीतिज्ञ परामर्शदाता उस समय रहे होंगे। यही एक कारण है।

दूसरी बात, विश्व का इतिहास देखेंगे तो पता चलेगा कि इस भारत की ही भूमि नहीं, विश्व में जो भूमि है वहाँ के लोग धर्म और भक्ति के पूजक हैं। कहीं भी जाओ धर्मसत्ता चलती है, राजसत्ता चली जाती है। यूरोप में देखो, तो आगस्ट्स सीज़र, ज्युलियस सीज़र, शारमैन, चौदहवाँ लूई जैसे कितने ही महान् राजा हो गये, परन्तु वे सब चले गये, सता भी चली गयी, कानून भी चले गये, परन्तु रोमन केथोलिक धर्म आज भी लोगों के अन्तःकरण पर शासन कर रहा है। क्यों? राजसत्ता से धर्मसत्ता प्रभावी है। राजसत्ता धर्मसत्ता को हटाने के लिए कितने भी प्रयत्न करती रहे, परन्तु उसे मालूम होना चाहिए कि अपना जीवन अल्पायुषी (दो-तीन साल का) होता है। वैश्विक दृष्टि में यह दो-चार-पाँच साल का जीवन, जीवन ही नहीं है, उसका कुछ मूल्य नहीं है। धर्मसत्ता प्रभावी होती है। इसलिए जो अधार्मिक होगा वह इस भूमि पर राजा हो ही नहीं सकता, परन्तु उस जमाने में कौरव लोगों को अधार्मिक नहीं लगते थे। यही समस्या थी व वहीं श्रीकृष्ण का कर्तृत्त्व है।

दुर्योधन लीक से चलनेवाले धर्म का पालन करता था। वह विष्णुयाग भी करता था, ब्राह्मणों को भोजन, दक्षिणा भी देता था, सब करता था। इसलिए वह धार्मिक है ऐसी उस समय के लोगों की मान्यता थी। दुर्योधन यज्ञ करता था, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान ने अलग यज्ञ खड़े किये। यज्ञ क्यों करना है, कैसे करना है यह भी उन्होंने समझाया। गीता में उन्होंने यज्ञ के विविध प्रकार बताये हैं-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।गी.४.२८।।

(द्रव्य से यज्ञ (उपासना) करनेवाले, तपश्चर्या, ध्यानयोग, वेदाध्ययन व ज्ञान से यज्ञ करनेवाले तथा दूसरे दृढ़मति (कठोर नियमों का पालन करनेवाले) योगी हैं।)

दुर्योधन लीक से चलनेवाले यज्ञ करता था। आज भी कितने ही लोग कहते हैं कि अमुक सेठ प्रत्येक पूर्णिमा के दिन सत्यनारायण की पूजा करता है, ब्राह्मणों को भोजन देता है, वैसे ही द्वारका, श्रीनाथ, डाकोर आदि स्थानों में राजभोग के लिए पैसे भेजता है, सचमुच, यह सेठ बड़ा ही धार्मिक है। यह सब करनेवाले सभी लोग धार्मिक ही है, परन्तु ऐसे लोगों को **अधर्मं धर्ममिति....** कहकर अधार्मिक मानने की हिम्मत केवल कृष्ण भगवान में ही थी। इसीलिए श्रीकृष्ण की तरफ लोग कम संख्या में आये, कारण लीक से चलनेवाले ही धर्म को लोग उठाते हैं, उनके विरोध में खड़ा रहकर धर्मसंस्थापना का अत्यन्त कठिन कार्य कृष्ण को करना था और वह उन्होंने करके दिखाया, और हम जैसे लोगों को मार्गदर्शन किया कि हमें किस मार्ग से जाना है!

जब-जब धर्म में ग्लानि आयेगी, उसमें कूड़ा-कचरा आयेगा तब उसे हटाना पड़ेगा और धर्म को पूर्वरूप में लाना होगा यह समझाने के लिए कृष्ण भगवान आये थे और उन्हीं के बताये हुए मार्ग से जो जाता है वह भागवत है। हम केवल, कृष्ण को मानते हैं, प्रतिवर्ष उनका जन्मोत्सव मनाते हैं, इतना ही प्रर्याप्त नहीं है। कृष्ण के विचारों को मानते होंगे तभी हम कृष्ण को मानते हैं ऐसा कहा जायेगा। कृष्णाष्टमी के दिन उपवास करके और 'कृष्ण भगवान की जय' बोलने से कृष्ण भगवान की जय कैसे होगी? कृष्ण भगवान के सब लड़के मूर्ख, उपासक नादान बन जायेंगे तो उपास्य देव कृष्ण को जगत् में कहाँ से प्रतिष्ठा प्राप्त होगी? उनको जगत् में कौन महत्त्व देगा? किस माँ को जगत् में प्रतिष्ठा मिलती है? जिसका पुत्र तेजस्वी है उसे! जिसका लड़का नीर बुद्धू, मूर्ख है ऐसी माँ को जगत में कोई प्रतिष्ठा नहीं है। वह समाज के सामने आ भी नहीं सकती।

लीक से चलने वाले धर्म के साथ कृष्ण भगवान को लड़ना था। पीतांबर पहनकर वैश्वदेव करनेवाले जरासंध को उन्होंने असुर ठहराया है। इसका कारण, धर्म का सत्त्व व स्वत्व निकालकर यदि आचरण किया जाता है तो वह धार्मिक आचरण कैसे कहा जायेगा? दुर्योधन, जरासंध आदि जिस धर्म का पालन करते थे उस धर्म में से सत्त्व, स्वत्व कभी का चला गया था। सत्त्व व स्वत्त्व जिसमें से चला गया है वह धर्म, धर्म नहीं है ऐसा बल देकर कृष्ण भगवान कहते थे। **अधर्मं धर्ममिति.... सा पार्थ तामसी'** कहनेवाले भगवान कृष्ण कितने क्रान्तिकारी थे! इसलिए कृष्ण के जन्म का श्रवण, कीर्तन व ध्यान करके उन्होंने जैसा आचरण किया वैसा आचरण करनेवाला भागवत है, ऐसा कहते हैं।

कृष्ण भगवान ने कौन से कर्म किये और कैसे किये, ये दो बातें हैं। उन्होंने धर्म-संस्थापना का कार्य किया, कैसे किया? संस्कृतिरक्षणार्थ कर्म किये। जन्म से लेकर देहोत्सर्ग तक उन्होंने संस्कृतिरक्षणार्थ कर्म किया। उनका जैसा कार्य है वैसा हमारा कार्य होना चाहिए तभी हम भागवत, भक्ति को मानने वाले व भक्ति करनेवाले हैं!

कृष्ण भगवान ने जो जो कर्म किये वे कैसे किये? अलिप्त रहकर! **'पद्मपत्रमिवांभसा!'** संस्कृति का अर्थ क्या है? व्यक्ति विकास का जो कार्य इह-परलोक देखकर तथा समाज का स्थैर्य देखकर किया जाता है उसे संस्कृति कहते हैं। इसमें व्यक्ति का इहलोक तथा परलोक दोनों का कल्याण देखना है, केवल इहलोक का नहीं। समझो, किसी को शराब चाहिए थी, वह दे दी, तो उसके अनुकूल वर्ताव हुआ या नहीं? उसका मन माना या नहीं? परन्तु वह उसके कल्याण के अनुकूल नहीं है। जो कर्म व्यक्ति के इहलोक तथा परलोक के लिए अनुकूल होता है उसीको संस्कृति कहते हैं। संस्कृति-सम्यक् कृति को संस्कृति कहते हैं। ऐसी संस्कृति का रक्षण कृष्ण भगवान ने किया। उन्होंने कुछ मज़ाक भी किया होगा तो वह संस्कृति के अनुकूल होगा। उन्होंने जो कुछ किया वह सब संस्कृति के रक्षण के लिए ही किया है। अपने रक्त की प्रत्येक बूँद संस्कृति की रक्षा में ही व्यय की है।

कृष्ण स्वयं भगवान थे, परन्तु 'फू' करके जादू करके किसी को नहीं बदला है, कारण संस्कृति-रक्षण का, धर्म-संस्थापना का काम कैसे करना है इसका चरितार्थ करके समझाने के लिए वे आये थे।

भगवान ने अनन्त कर्म किये व अलिप्तता से किये, वैसे ही प्रत्येक कर्म में तल्लीन बनकर किये हैं। उन्होंने क्रीड़ा भी की है, उसमें भी प्राण फूँककर वे खेलते थे। हम भी खेल खेलते हैं, परन्तु उनमें हमारे प्राण कहीं होते ही नहीं। कृष्ण के प्रत्येक कर्म में तल्लीनता दिखायी देती है, परन्तु एक बार छोड़ देने के बाद उसकी ओर देखा भी नहीं। गोकुल में कितनी तल्लीनता से जीवन बिताया, वहाँ के कण-कण पर प्रेम किया, संपूर्ण गोकुल में परिवर्तन लाये, मगर एक बार गोकुल छोड़ने के बाद फिर से किसी भी बहाने वे वहाँ नहीं गये। उन्होंने गोकुल पर अन्तःकरण से आत्यन्तिक प्रेम किया वह झूठा प्रेम नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति के प्रति प्रेम तो था ही, परन्तु गोकुल के प्रत्येक वृक्ष पर, पत्थर पर भी उन्होंने प्रेम किया, फिर भी उन्हें छोड़ने के बाद एक बार भी उधर नहीं गये। तो क्या वे निष्ठुर थे? नहीं! वे निष्ठुर नहीं थे। उनको यह समझाना था कि प्रत्येक कार्य तल्लीनता से करना चाहिए। उसमें पूर्ण मग्न हो जाना चाहिए साथ ही अलिप्त भी रहना चाहिए- **'पद्मपत्रमिवांभसा।'** 'होगा तो करूँगा, बन सका तो करूँगा' यह वृत्ति कर्म में नहीं चलती। जो कार्य उठायेंगे उसे सर्वस्व समझकर उसमें डूब जाना चाहिए, फिर भी अलिप्त रहना चाहिए। यह कर्म करने से मुझे क्या मिला? यह विचार ही नहीं। मैंने पन्द्रह दिन काम किया, हर साल करता हूँ, मुझे क्या मिला यही विचार चलता है, उसमें भी पत्नी पूछती है, आप इतने दिन भक्तिफेरी में जाकर आये, आपको क्या मिला? क्या आपको किसी ने बड़ा भाई भी बनाया? यह सुनकर लगता है कि पत्नी कहती है वह सच है। मेरा कल्याण देखनेवाली यही एक है, दूसरे किसी को क्या पड़ी है? ऐसा नहीं चलता है। मनुष्य को कर्म करना चाहिए और अलिप्त रहना चाहिए तभी भगवान के जैसा कार्य किया ऐसा कहा जायेगा। भगवान का काम वैश्विक होगा, बड़ा होगा। हमारा छोटा होगा, पारिवारिक होगा, परन्तु हमारे कर्म में भी वे ही गुण हैं (जो भगवान के कार्य में हैं) यह देखना चाहिए।

भगवान ने जो कार्य किया वह मानवजाति को भविष्य में दस हजार वर्षों तक मार्गदर्शन करता रहेगा। मेरा कार्य वैसा नहीं होगा, परन्तु मैं उन्हीं का भक्त हूँ, इसलिए मेरा कर्म तल्लीनता से होगा और उसमें साथ ही अलिप्तता भी होगी। मनुष्य किसी काम में तल्लीन होता है तब अलिप्त नहीं रह सकता और अलिप्त रहता है तो तल्लीन नहीं हो सकता। जिस प्रकार हम गंगा के तट पर जाकर स्नान के बदले मार्जन करते हैं वैसा कर्म का भी मार्जन होता है। उसमें हम तल्लीन होते ही नहीं। तल्लीनता और अलिप्तता दोनों विशिष्ट हैं, वे साथ में लानी हैं, यह बहुत कठिन बात है। **जन्मकर्मगुणानां च.... हरेरद्भुतकर्मणां श्रवणं कीर्तनं ध्यानं'** करके जीवन में लाना है। इसीलिए श्रीकृष्ण भगवान आये थे।

एकादश स्कन्ध के पंचाध्यायी में महत्त्वपूर्ण पाँच विषय कहे हैं। प्रथम विषय यह है कि 'भागवत धर्म' क्या है? दूसरा विषय है, 'भगवद्भक्त कौन है?' कितने प्रकार के भक्त होते हैं? तीसरे विषय में परमेश्वर और उसके रूप के सम्बन्ध में चर्चा की है। चौथा विषय है, अज्ञान-नाश का उपाय और पाँचवें विषय में कर्म के सम्बन्ध में चर्चा की है। उसमें सकाम कर्म और हरि की लीला ये विषय ले लेंगे तो पंचाध्यायी पूर्ण होती है।

भागवत धर्म समझाने के बाद, चौथे अध्याय में सभी अवतारों का वर्णन किया है। अवतार-कल्पना यह भारतीय संस्कृति का मधुर काव्य है। इस अध्याय में, अवतारवाद के साथ ही सकाम कर्म का मजाक उड़ाया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि सकाम कर्म नहीं करना चाहिए। प्रारंभ में तो सकामता से ही काम होता है। शुरू-शुरू में पाठशाला में लड्डू मिलता है इसीलिए बालक पाठशाला जाता है। परन्तु एम. ए. तक वह लड्डू की आशा से, कामना से ही जायेगा तो एम.ए होगा ही नहीं! सकामता किसी दिन तो छुटनी चाहिए या नहीं? कुछ मिलता है इसलिए काम करना, इसमें कुछ बुरा नहीं है। सकाम कर्म कुछ मिलने के लिए ही किया जाता है तो उसमें व्यक्ति का विकास नहीं होता। इसलिए सकाम कर्म का मजाक उड़ाया है।

सकामता में बुरी बात क्या है? हम कर्म करते हैं और फल माँगते हैं और वह भी भगवान के पास! उसमें बुरा क्या है? हम किसी दूसरे के पास नहीं माँगते! तो फिर बड़े-बड़े लोग सकामता का मजाक क्यों उड़ाते हैं? इसका कारण यह है कि सकाम काम करने में फल को प्राधान्य आता है और कर्म को गौणत्व! अत: कर्म पर की पकड़ *(grip)* शिथिल हो जाती है। शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो काम करके मजदूरी माँगना अलग बात है परन्तु मजदूरी के लिए कर्म करना अलग बात है। मस्तिष्क में प्रथम कौन सा विचार आता है? मैं आठ घण्टे काम करूँगा और वेतन लूँगा! यह बात समझ में आने जैसी है। परन्तु वेतन लूँगा और काम देखूँगा, ऐसा होता है। आज ऐसा ही हुआ है। वेतन तो निश्चित मिलनेवाला ही है, बढ़ोत्तरी तो मिलनेवाली है और वह भी ज्येष्ठताक्रम *Seniority)* से मिलने वाला है। फिर काम कौन करता है? काम पर की पकड़ इस प्रकार शिथिल हो जाती है। इसलिए जीवन में फल को प्राधान्य देंगे या कर्म को? कर्म को प्राधान्य देंगे तो आपका विकास होगा यही कहने का तात्पर्य है। फल के प्रति प्रेम होगा तो कर्म उत्कृष्ट नहीं होगा। कर्म पर प्रेम होना चाहिए। हमारा प्रेम फल पर होता है। समझो, बारह वर्षों के बाद फल मिलने वाला है, तो बारह वर्षों तक आपकी श्रद्धा, निष्ठा, दृढ़ता नहीं टिकती, इसका कारण आप फल के लिए कर्म करते हैं। कर्म के लिए कर्म करना चाहिए। बड़ का वृक्ष निर्माण करना है। मगर आज बोया और कल कितना अंकुरित हुआ यह देखेंगे तो वृक्ष बढ़ेगा ही नहीं। ऐसा ही लगेगा कि आठ दिन हो गये, पानी देते रहे परन्तु अब तक बीज अंकुरित हुआ ही नहीं, अत: पानी देना छोड़ देते हैं। मुझे वड़ का वृक्ष सँभालना है ऐसा समझकर ही उसे पानी देकर नियमित रूप से देखभाल करेंगे तो ही वड़-वृक्ष अंकुरित होगा। वह शनैः शनैः

बढ़ेगा तभी उसकी छाया में हजारों लोगों को विश्राम मिलेगा। अनेकों को आराम, विश्राम मिलनेवाला है इस फल की अपेक्षा से बीज बोया, तो फल पर प्रेम हुआ, कर्म पर नहीं, अतः कर्म उत्कृष्ट नहीं होता। कर्म पर प्रेम होना चाहिए, फल मिलेगा ही। 'फल न मिले,' ऐसा कोई नहीं कहता। फल तो मिलनेवाला ही है। उसके सम्बन्ध में विचार करने की क्या आवश्यकता है? जो बोयेंगे वह मिलेगा ही। आज बोये हुए बीज को कल मिट्टी में से निकालकर देखेंगे कि कितना अंकुरित हुआ है तो बीज उगेगा ही नहीं, मर जायेगा। जो फल को ध्यान में रखकर काम करता है उसकी बारह वर्षों तक श्रद्धा, स्फूर्ति, दृढ़ता नहीं टिकती। आम क्यों लगाना है? आम के लिए ही! आपकी उम्र साठ साल की हो गयी, अब आम लगाने के बाद आम कब खाओगे? कौन खायेगा? मेरा पोता खायेगा, परन्तु मुझे आम लगाना है। कौन खायेगा यह प्रश्न नहीं है।

सकामता से काम बड़ा नहीं होता, अच्छा नहीं होता। सकामता से कर्म में गौणत्व आ जाता है। परिणामस्वरूप जो लाभ होने चाहिए वे नहीं होते। खेल खेलने के बाद व्यायाम होता ही है। परन्तु व्यायाम के लिए खेल खेलने लगेंगे तो खेलने में जो आनंद है वह खत्म हो जायेगा। फल की तरफ ध्यान न रखकर काम करते हैं तो दो लाभ होते हैं। व्यायाम तो हो ही जाता है और काम का आनंद भी मिलता है। ये दो लाभ क्यों नहीं उठाने चाहिए।

हम खेल खेलने लगे तो उसमें से व्यायाम होगा नहीं? परन्तु व्यायाम के लिए ही खेलेंगे तो स्नायु शक्तिशाली बनें या नहीं इसी बात की ओर ध्यान रहेगा और खेल का आनंद चला जायेगा। खेलने का आनंद भी मिलना चाहिए और व्यायाम का फल भी मिलना चाहिए। दोनों लाभ हो सकते हैं, परन्तु फल को ध्यान में रखकर आप काम करेंगे तो नहीं चलेगा। यही फलत्याग है और उसकी महिमा इसीलिए है। फल के सम्बन्ध में सोचते रहेंगे तो कर्म पर की पकड़ *(grip)* शिथिल हो जायेगी। दूसरी बात यह है कि फल शीघ्र नहीं मिलता। विलंब से मिलता है। कभी-कभी फल मिलता भी नहीं। कितने ही बड़े-बड़े काम ऐसे होते हैं कि उनका फल मिलने में बहुत समय लगता है। उसके लिए साधना करनी पड़ती है। बिना साधना के फल नहीं मिलता। फल को ध्यान में रखकर जो साधना की जाती है वह साधना नहीं टिकती। इसलिए कर्म के फल को ध्यान में रखना चाहिए या नहीं इसकी चर्चा भागवत ने की है और सकाम कर्म का मजाक उड़ाया है। कृष्ण भगवान ने भी गीता में ऐसा ही मजाक किया है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।

कमल पुष्प को प्रफुल्लित होना है, विकसित होना है, सुगंधित होना है। वह कीचड़ में पैदा होता है परन्तु उसकी नज़र सूर्य की ओर रहती है, परिणामस्वरूप वह खिलता है,

उसमें सुगंध आती है। वह सोचता नहीं है कि मुझमें कितनी सुंगध आयी है। वह कर्म, कर्म-साधना करता ही रहता है। फिर उसके पास भ्रमर आते हैं, मंडराने लगते हैं और कहते हैं, 'तू अब सुगंधित बन गया है।' तब कमल को पता चलता है कि मैं सुगंधित बना हूँ। तब सुगंधित बनने का जो आनंद है, वह उसे नहीं मिल पाता यदि वह सुगंध की ओर ही ध्यान देता तो उसका कर्म ही खत्म हो जाता। वह विकसित भी नहीं हो पाता और उसमें सुगंध भी नहीं आती।

नदी को पवित्र माना जाता है। क्यों? वह बहती है। फल की ओर उसका ध्यान नहीं है। इसलिए उसका कर्म पवित्र माना जाता है। निष्काम कर्म है उसका। उसका फल मिलता है। क्या निष्काम कर्म करनेवाले को फल नहीं मिलेगा? भगवान के दरबार में क्या अन्धकार है? फल तो जरूर मिलेगा। निष्काम कर्म करनेवाले में पावित्र्य आ जाता है। नदी बहती रहती है। उसे इतना ही मालूम है कि 'मुझे बहते रहना है, सागर तक पहुँचना है।' वह इतना ही देखती है। दूसरा कुछ नहीं देखती। वह वृक्षों को, पौधों को जल पहुँचाती है, जलचरों को आश्रय देती है, भूमि तथा फूलों को पानी पहुँचाती है, किनारे पर रहने वालों की, हजारों लोगों की तृषा शान्त करती है। परन्तु यह सब उसके विचार में भी नहीं आता है। वह बहती रहती है। वह कहती है, 'मुझे अपना काम करने दो! जिसे जो लेना है वह ले ले। नहीं लेना है तो न ले, मुझे अपना काम करना है।' ऐसा बोलने वाली नदी पवित्र है। नदी में कितना कूड़ा-कचरा डाला जाता है। किनारे के गाँव कितनी गंदगी करते हैं कि नदी का पानी पी नहीं सकते, फिर भी वह पवित्र है, शुद्ध है कारण वह गतिमान है, उसमें वेग है। **'नदी वेगेन शुद्ध्यति।'** नदी वेग से शुद्ध होती है। नदी जीवन में केवल गति-वेग का विचार करती है।

कमल का भी वैसा ही है। वह एक ही विचार करता है। सूर्य की ओर अविरत देखता रहता है, अविरत परिश्रम करता रहता है। वह पक्के व्यवहारी मनुष्य के जैसा विचार नहीं करता कि मुझे क्या मिलेगा, कितना मिलेगा या नहीं मिलेगा? पक्के व्यवहारी *(Most practical)* मनुष्य काम नहीं करते। ऐसे लोगों के लिए भगवान नहीं हैं। इसका कारण भगवान व्यवहारी नहीं हैं। यह तर्क से *(Logically)* समझने सरीखा है।

एक दाना बोने वाले को भगवान दो सौ दाने देते हैं और वह भी चार महीनों में! कितना दर हुआ व्याज का? क्या भगवान का यह पागलपन नहीं है? इसलिए कहता हूँ कि भगवान व्यवहारी नहीं हैं। इसीलिए व्यवहारी लोगों को भगवान मिलेंगे या नहीं इसमें सन्देह है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहारी नहीं बनना चाहिए, मेरे कहने का अन्तिम *(extreme)* पकड़कर नहीं बैठना। व्यवहारी बनना चाहिए परन्तु पक्का व्यवहारी *(Most practical)* बनना चाहिए।

जिस प्रकार कमल को भ्रमर के कहने से अपने सुगंधित बनने का पता चलता है, वैसे लोग ही महापुरुषों को कहते हैं, 'तुम अब भक्त बन गये।' महापुरुषों को इसका पता नहीं होता। वे तो अपना कर्मयोग, आचरण करते रहते हैं। पुंडलिक का कर्मयोग देखकर

स्वयं भगवान पांडुरंग उससे मिलने आये, परन्तु पुंडलिक को उसका पता नहीं था। किसी ने कहा, अरे पुंडलिक! तुझे मिलने के लिए भगवान आये हैं।' तब पुंडलिक ने भगवान की ओर एक ईंट रख दी और कहा कि खड़े रहो इस पर, जब तक मैं अपने माता-पिता की सेवा पूर्ण न करूँ।' आज भी महाराष्ट्र में घर-घर में पांडुरंग भगवान की आरती उतारते समय गाया जाता है-

युगे अट्ठावीस विटेवरी उभा वामाङ्गी रूक्माई दिसे दिव्य शोभा।
पुंडलिकाचे भेटी परब्रह्म आलेगा चरणीं बाहे भीमा उद्धरी जगा।।

कर्मयोग द्वारा भगवान को प्राप्त करना है, भगवान के पास पहुँचना है। कर्मयोग इसीलिए है। परन्तु दिन रात यही सोचते रहेंगे तो कर्म पर की पकड़ कम होगी। वह कम नहीं होनी चाहिए। अत: कर्म को प्राधान्य व फल को गौणत्व आता है। कमल साधना करता है इसलिए भगवान के पास पहुँचता है। उसका स्थान प्रभु के चरणकमल ही हैं।

गिबन नाम का महान् इतिहासकार हो गया। जिसने इतिहास का अभ्यास किया होगा उसे मालूम होगा। *Gibbon's History* यह ग्रंथ उसने पचीस साल में पूर्ण किया। पचीस साल तक वह दूसरा काम ही नहीं करता था। देखना, सोचना लिखना, दूसरा कुछ मालूम ही नहीं। पचीस वर्षों के बाद जिस दिन रात को दस बजे उसने ग्रंथलेखन पूर्ण किया, उस समय वह रोने लगा। लोग पूछने लगे, अरे! तू रोता क्यों है?' उसने उत्तर दिया, "कल क्या करूँगा? प्रश्न खड़ा हो गया है। आज तक सोचना ही नहीं था।' पचीस वर्षों तक गिबन लिखता रहा। उसने दूसरा विचार ही नहीं किया। इतिहास लिखकर क्या मिलेगा? क्या लाभ है? उसने यदि विचार किया होता तो इतना महान् ग्रंथ वह लिख ही नहीं पाता।

वैसे ही, पतंजलि ने व्याकरणशास्त्र पर महाभाष्य लिखा। इस महाभाष्य पर कैयट ने ग्रंथ लिखा है। यह ग्रंथ इतना बड़ा है कि वह एक हाथ में लेकर आप चार फलांग नहीं जा सकेंगे। अपनी जिंदगी में यह एक ही ग्रंथ उसने लिखा है। उसने दूसरा कुछ सोचा ही नहीं कि लिखकर क्या मिलेगा? कितनी प्रसिद्धि- *(Publicity)* मिलेगी, उसकी रॉयल्टी कितनी मिलेगी, प्रकाशक मिलेगा या नहीं? यह न सोचने के कारण ही उस ग्रंथ में प्राण है, चैतन्य है, उत्साह है, स्फूर्ति है। उसे अविरत कर्म निष्काम कर्म करना है इतना ही पता था, इसीलिए भागवत ने सकाम कर्म का मजाक उड़ाया है और निष्काम कर्म की महत्ता बढ़ाई है।

पाँचवें अध्याय में, कहते हैं कि युग युग में भक्तिहीन लोग बहुत होते हैं, बहुसंख्या *(Majority)* उनकी ही होती है। इन भक्तिहीन लोगों को क्या मिलता है? उनका जीवन कैसा होता है? उनको कुछ मिला तो क्या वे सत्कर्म करते हैं? आदि प्रश्न खड़े किये हैं।

यहाँ 'भक्ति' शब्द शास्त्रीय अर्थ में लेना है। जिसे आज हम भक्ति समझते हैं उस अर्थ में यहाँ भक्ति शब्द नहीं लेना है तभी यह अध्याय पढ़ सकेंगे। आज हम रविवार को लक्ष्मी-नारायण के मंदिर में जाते हैं और नमस्कार करते हैं कि बन गये हम भक्त। कुछ लोग नहाने के बाद ही दूध पीते हैं और अपने को भक्त समझते हैं। इस अर्थ में यहाँ 'भक्ति' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है।

भक्तिहीन लोग कर्म करते हैं, जैसे कि सामाजिक कार्यकर्ता *(Social Workers)* कर्म करते हैं। उनको उसका फल भी मिलता है, परन्तु वे अविकसित *(undeveloped)* हैं, उनका मन अविकसित रहता है। सामाजिक काम करना हो तो वह भी भक्तिपूर्ण दृष्टि से करो। भक्तिहीन लोग कैसे रहते हैं यह क्या विचार करने का विषय है? वह तो चारों ओर दिखायी देता ही है। उनके सम्बन्ध में लिखा है-

कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः।
वदन्ति चाटुकान् मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः।।११/५/६।।

(उनको कर्म का रहस्य मालूम नहीं है। मूर्ख होने पर भी वे अपने को पंडित मानते हैं और अभिमान में अकड़े रहते हैं। वे मीठी-मीठी बातों में भूल जाते हैं और केवल वस्तु-शून्य शब्द माधुरी के मोह में पड़कर चटकीली-भड़कीली बातें करते हैं।)

वे कर्म का रहस्य नहीं समझते, इसलिए कर्म ही नहीं करते। कभी कर्म करते हैं तो उसका रहस्य समझे बिना ही कर्म करते हैं। इसलिए उनको कर्म से लाभ नहीं होता। कितने ही लोग भक्ति करते हैं, उसमें एकाध फूल लेकर भगवान की मूर्ति की तरफ फेंकते हैं और 'बाबुलनाथ टेकड़ीवाले की जय' बोलते हैं। यहीं उनकी भक्ति, पूजा पूर्ण होती है।

हम कुछ अच्छा काम करते भी हैं, परन्तु मन पर यदि उसका कुछ परिणाम न होता हो तो उसका क्या उपयोग? **कर्मणि अकोविदाः** ऐसे लोग कर्म का रहस्य नहीं समझते, इसलिए कहते हैं, 'यह क्या पागलपन चल रहा है? तुम उपनिषद पढ़ते हो, क्या मिलेगा उससे? इसकी अपेक्षा सुबह खेलने चलो। खेलने का मजा आयेगा और व्यायाम भी होगा। जिससे (उपनिषद पढ़ने से) कुछ नहीं मिलता उसे उठाने की क्या आवश्यकता?' ऐसे लोगों को क्या कहना चाहिए?

स्तब्धाः- इसका अर्थ होता है जिद्द पकड़कर बैठनेवाला, दुराग्रही। उनका पूरे जीवन तक दुराग्रह चलता है व वैसा ही वे जीवन जीते हैं। खाओ, पिओ और मजा करो। *(Eat, drink and be merry)* खाओ शब्द में जितनी बातें आती हैं वे समझने में भी तुम असमर्थ हो। खाना हो तो भीतर अन्नरस निर्माण होना चाहिए, भूख लगनी चाहिए। कौन अन्नरस निर्माण करता है? कौन भूख निर्माण करता है? खेत में कौन अनाज पैदा करता है? खाने के बाद खून कौन बनाता है? शरीर में रक्त को कौन घुमाता है? दूसरी बात, 'खाना' इस क्रिया में तुम्हारा कर्तृत्व कितना है? इन बातों का विचार तो करो! पाठशाला,

स्वाध्याय यह सब हमारे लिए नहीं हैं। परन्तु ये लोग दुराग्रही होने से विचार ही नहीं करते।

फिर कहते हैं **'मूर्खाः'**- इसका भाषान्तर करने की आवश्यकता नहीं है।

पण्डितमानिनः- अपने को ही पंडित समझते हैं। इसलिए दूसरे पंडितों को नहीं पूछते। ये कहते हैं, 'हम जो करते हैं, वही उचित है। रावण ने क्या भक्ति नहीं की? उसने बहुत कर्म किये, भक्ति भी की, परन्तु **'कर्मण्यकोविदाः'** भक्ति का रहस्य न समझकर की। रावण की भक्ति का वर्णन महिम्नस्तोत्र के ग्यारहवें श्लोक में है। रावण ने बहुत भक्ति की, उसका फल भी उसे मिला, परन्तु उसका मन अविकसित ही रहा। फल मिलने के बाद, भगवान से चिपककर बैठना चाहिए, वह नहीं चिपका। ऐसे अनेक लोग होते हैं। गत जन्म में कुछ अच्छे कर्म किये होते हैं इसलिए इस जन्म में उनको सत्ता, वित्त, वैभव आदि मिलता है, परन्तु उनके वे कर्म भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से नहीं किये होते हैं। सामाजिक कार्य किये, गरीबों की सहायता की, परन्तु उसका परिणाम क्या होता है? उनका मन अविकसित रहता है। अच्छे कर्म करके बैंक में जमा किये हैं, वे उनको दूसरे जन्म में मिलते हैं, परन्तु मन अविकसित रहता है और वैभव मिलता है उसके कारण अशुचिता आ जाती है। उन्होंने सत्कर्म किये होंगे इसलिए मिला है।

इस सृष्टि में किये बिना किसी को कुछ नहीं मिलता। उनको फल अवश्य मिलता है, मगर मन अविकसित रहता है। खाओ, पीओ और मजा करो, इसी वृत्ति में पड़ जाते हैं इस बात का दर्शन इस स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में है। एक पंक्ति में कहना हो तो **'पंचमे भक्तिहीनानां कनिष्ठा को युगे युगे।'** युग युग में जो भक्तिहीन लोग होते हैं उनकी किसी पर भी निष्ठा नहीं होती। आज जितना पैसा मिलता है उससे भी अधिक मिलता रहे उसीके लिए उनको नीतिमूल्य चाहिए। आज सभी कहते हैं, नैतिक शिक्षा चाहिए, क्यों? इसलिए कि हमारे विरोध में कोई आवाज न उठाये। दूसरा कुछ नहीं। आप हमारे विरोध में आवाज उठाते हैं, इसलिए आपको नीति-शिक्षा मिलनी चाहिए, नीतिमान बनना चाहिए क्योंकि नीति हमें चाहिए।

दूसरे को मारना नहीं चाहिए। क्यों? तो उत्तर मिलता है, मुझे भी कोई मारेगा तो? दूसरे को क्यों नहीं लूटना? मुझे भी कोई लुटेगा तो? परन्तु समझो कि कोई मुझे नहीं लूट सकेगा इतनी शक्ति मुझमें आ जाए तो? तब दूसरे को लूटने में क्या बाधा है? इस प्रकार सभी नीतिमूल्यों का जवाब यही है कि दूसरा मुझे लूटेगा इसलिए मुझे दूसरे को नहीं लूटना चाहिए।

मुझे दूसरे को नहीं लूटना है, क्योंकि मैं जिसे लूटना चाहता हूँ उसमें भी वही प्रभु बैठे हैं जो मुझमें बैठे हैं। इस प्रकार भक्तिपूर्ण दृष्टि से नीतिमत्ता आयेगी, पूरा जीवन भक्तिपूर्ण दृष्टि से ही होगा।

भक्तिहीन लोगों को पैसा श्रेष्ठ लगता है, स्त्री श्रेष्ठ लगती है, स्त्री के पीछे ही दौड़ते हैं, उसीको जीवन-सर्वस्व मानते हैं। ऐसे भक्तिहीन मनुष्य अध:पतित कैसे होते हैं? अविकसित होने के कारण ये लोग पश्वादिक योनि में जाते हैं। यह कोई भगवान का शाप नहीं है। यह तो उत्क्रान्तवाद के कानून *(Law of Evolution)* के अनुसार ही है। जीव यदि उत्क्रान्त *(Evolved)* नहीं हुआ तो जिस कक्षा *(standard)* में वह होता है, उसी कक्षा में उसे बैठना पड़ता है। वैषयिक आनन्द *(sensual happiness)* के अतिरिक्त एक भावात्मक *(Emotional)* आनंद है, बौद्धिक *(Intellectual)* आनंद है, और नित्यानन्द *(Eternal happiness)* है, ऐसे अलग-अलग आनंद हैं। इन विविध आनन्दों की ओर जिसका ध्यान नहीं है, इन आनंदों के दरवाजे जो खटखटाता ही नहीं और केवल वैषयिक सुख *(sensual happiness)* की ओर ही ध्यान देता है, उसे वैषयिक सुख का ही शरीर (जैसे कुत्ता, गधा) मिलता है। उसने केवल वैषयिक सुख को ही देखा है। उसे भावात्मक आनंद का पता ही नहीं। कुत्ते को अपनी माँ मालूम नहीं और माँ का अपने पुत्र पर वात्सल्यभाव भी नहीं। गधे का भी वैसा ही है। इसलिए ये लोग पश्वादिक योनि में चले जाते हैं। यह कोई शाप नहीं है, अपितु यह एक विकास-परम्परा में आयी हुई एक सीढ़ी है। जिसका विकास *(Evolution)* हुआ होगा उसका संकीर्णता *(involution)* भी होगा। एक सीढ़ी ऊपर चढ़ेंगे तो एक नीचे गिर भी सकते हैं। इस प्रकार भक्तिहीन लोग अध:पतित होते हैं ऐसा कहा है। दूसरे अध्याय से पाँचवें अध्याय तक भागवत धर्म का रहस्य कहा है। वह सुनकर वसुदेव तथा देवकी दोनों को परम विस्मय हुआ व भागवत धर्म पर उनकी ज्ञानपूर्वक श्रद्धा स्थिर हुई।

एकदश स्कन्ध की पंचाध्यायी की समीक्षा तथा विवरण से एक बात स्पष्ट होती है कि भक्ति अद्वैत तत्त्व की उपकारक है। भक्ति आयी कि विभक्तता आती है। इसीलिए पूर्ण अद्वैतवादी भक्ति को नहीं मानते। कारण भक्ति में भगवान से अलग रहना आवश्यक है। अद्वैतवाद में 'दूसरा' है ही नहीं तो अलग कैसे रहना? और अलग रहे बिना भक्ति कैसे हो सकती है? कम से कम भक्ति में भगवान और भक्त अलग होने चाहिए उसमें 'अद्वैत' साधना की सीढ़ी हो सकती है, परन्तु भागवतकार का कहना है कि भक्ति अद्वैत तत्त्व की उपकारक है और उसकी सहचरी है। दार्शनिक दृष्टि से विचार करने वालों के लिए यह एक सोचने जैसा विषय है।

यदि जीव-शिव में अद्वैत होगा तो भक्ति कैसे हो सकती है? अद्वैत में भक्ति को कहाँ स्थान है? इसीलिए भक्तिप्रधान संप्रदाय अद्वैत से अलग हो गये। अद्वैत में एक दूसरी ही विचारधारा उन्होंने खड़ी की। भागवतकार का कहना है कि भक्ति अद्वैत तत्त्व के लिए उपकारक है इतना ही नहीं, वह उसकी सहचरी है, यह कहने का अभिप्राय है।

नारद वसुदेव-देवकी को समझाते हैं कि अपत्य-प्रेम को भक्तिप्रेम में परिणत करना पड़ेगा। उसकी आवश्यकता भी समझायी। दूसरी बात यह समझायी है कि ज्ञानपूर्ण भक्ति से ही मुक्ति मिलती है। 'पुत्र-भावना छोड़कर, प्रभु-भावना खड़ी करो' ऐसा नारद वसुदेव-देवकी

से कहते हैं। वसुदेव-देवकी तो समझते ही होंगे, परन्तु उनको निमित्त बनाकर सामान्य व्यक्ति को उपदेश दिया है कि अन्त में ज्ञानी भक्ति से ही व्यक्ति मुक्त होता है। वसुदेव व देवकी दोनों मुक्त हो गये ऐसा भागवतकार ने इस स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में समझाया है। भक्तिहीन प्रेम और भक्तिहीन ज्ञान किसी काम का नहीं है ऐसा उनका मत है।

कितने ही लोग सहृदय होते हैं परन्तु भक्तिपूर्ण सहृदय नहीं होते। वे किसी का दुःख देखकर व्यथित होते हैं, द्रवीभूत हो जाते हैं। भागवतकार का यह आग्रह है कि सहृदयता भक्तिपूर्ण होनी चाहिए, कारण सहृदयता विकार भी बन सकती है। भक्तिप्रधान सहृदयता होगी तो वह विकार न रहकर उन्नति के लिए सीढ़ी बन जायेगी। अनेक लोग भक्तिहीन सहृदयतावान दिखायी देते हैं। वे कहते हैं कि हम भगवान नहीं मानते। ये लोग सहृदय-करुणामय होते हैं, हम उनको उन्मत-जीवन समझते हैं। भागवतकार उनको उन्मत जीव कहने को तैयार नहीं हैं। वे कहते हैं कि यह कारुण्य नहीं टिकेगा, वह सकारण कारुण्य है। कारण के चले जाने के बाद कारुण्य भी चला जायेगा। कारुण्य अकारण होना चाहिए। भक्तिहीन प्रेम का कोई अर्थ नहीं, वैसे भक्तिहीन ज्ञान का भी अर्थ नहीं है। कितने ही लोग बहुत ज्ञानी होते हैं, परन्तु केवल ज्ञान पर्याप्त नहीं है, ज्ञान भक्तिपूर्ण होना चाहिए। इसलिए ज्ञानी भक्ति से ही मुक्ति मिलती है ऐसा नारद ने समझाया है। उस अवस्था को ब्रह्मचर्य कहा है। पुत्रभावना रखकर उन्नति नहीं होती, वह आपको कुछ समय तक खुश जरूर करेगी। पुत्र पर प्रेम अवश्य करना चाहिए परन्तु उसकी ओर देखने की दृष्टि को बदलना चाहिए। ऐसा उनके कहने का अभिप्राय है। आज **'ब्रह्मचर्य'** शब्द का अर्थ स्त्री-पुरुष सम्बन्ध तक ही मर्यादित हो गया है। एकाध पुरुष स्त्री के साथ सम्बन्ध नहीं रखता है तो वह **'ब्रह्मचारी'** माना जाता है। जिन्होंने दर्शनशास्त्र का अभ्यास नहीं किया है, वे लोग ऐसा अर्थ करते हैं।

हमारा वैदिक तत्त्वज्ञान है। उसका अभ्यास एक हजार साल पीछे जाकर करना होगा तभी धर्म और संस्कृति का ज्ञान होगा। गंगा नदी पवित्र है इसमें शंका नहीं है, परन्तु कलकत्ता की गंगा के जल का आप आचमन भी नहीं कर पायेंगे वह इतनी गंदी-मलीन है। उसी गंगा के मूल की ओर जाकर देखेंगे तो ऋषिकेश में गंगा में स्नान भी करेंगे और आचमन भी करेंगे इतना स्वच्छ जल है। धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। पिछले हजार वर्षों में उसमें बहुत कूड़ा-कचरा प्रविष्ट हुआ है। जिनको कुछ समझ नहीं है ऐसे लोगों के हाथ में तत्त्वज्ञान चले जाने के बाद उसमें से कोई अर्थ नहीं निकलता। कितने ही लोग कहते हैं कि मुक्ति पुरुष को ही मिलती है, स्त्रियों को नहीं मिलती। यहाँ 'पुरुष' का अर्थ 'मर्द' होता है। वेदान्त में पुरुष शब्द का अर्थ है- **पुरे शेते इति पुरुषः** यानी **नवद्वारे पुरे देही...** यानी जीव। यह लोग नहीं समझते और वेदान्त कहने लगते हैं। उसके कारण गड़बड़ी हो जाती है। ब्रह्मचारी का अर्थ क्या है? **'चरति'** यानी व्यवहार करना, आचरण करना। सभी व्यवहार भगवान के लिए ही होने आवश्यक हैं। जिसके सभी व्यवहार, सभी आचरण, ब्रह्म के लिए होते हैं उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। आज 'ब्रह्मचारी'

शब्द का अत्यन्त संकीर्ण अर्थ किया जाता है। वास्तव में '**ब्रह्मं चरति इति ब्रह्मचारी**' ब्रह्म के लिए, ब्रह्म को समझकर, उसे ध्यान में रखकर जो व्यवहार-आचरण करता है वह ब्रह्मचारी है। पुत्र को सँभालना हो तो उसे भगवान समझकर सँभालना चाहिए ऐसा नारद कहते हैं, परन्तु पुत्र को भगवान समझकर संभालना कठिन है कारण पुत्र मूर्ख बेवकूफ है ऐसा हमें लगता है। क्या भगवान बेवकूफ लगेंगे?

कुछ लोग कहते हैं बालकृष्ण मानो, कृष्ण भगवान बालक हैं ऐसा समझो। माँ जिस प्रकार बालक को नहलाती है, खिलाती है, सुलाती है वैसे कर्म भगवान के लिए भी करने चाहिए। भक्ति इतनी मूर्खतापूर्ण है इसका मुझे आश्चर्य लगता है। ऐसी भक्ति का मन पर क्या परिणाम होने वाला है?

जिस भगवान ने चंद्र-सूर्य बनाये हैं, जो सर्व जगत् चलाते हैं, संपूर्ण ब्रह्माण्ड का संचालन करते हैं, वह शक्ति क्या तुम्हारा बालक बन सकती है? 'बालकृष्ण की उपासना' इसका दूसरा अर्थ है। बालक निर्विकारी होता है। बालकभाव से भगवान की उपासना करनी चाहिए।

लड़के को हम भगवान नहीं मान सकेंगे, परन्तु भगवान का और भगवान द्वारा दिया हुआ पुत्र है ऐसा हम मान सकेंगे। यह पुत्र मेरा नहीं है, भगवान का दिया हुआ है ऐसा समझकर जो परिवार चलाता है वह ब्रह्मचारी है, वह उसकी भक्ति ही है। ब्रह्मचर्य भक्ति का रहस्य है, यह नारद ने वसुदवे-देवकी को समझाया है। तुम परिवार भी चला सकते हो परन्तु वह भगवान का परिवार है यह समझकर चलाना है। तुम्हें धन्धा करना है तो कर सकते हैं, परन्तु मैं भगवान के लिए व्यापार-धन्धा करता हूँ यह समझ रखनी चाहिए। विवाह के समय उदक छोड़कर संकल्प करते हैं वह भी भगवान का काम हो और भगवान को अनुकूल हो इसलिए ऐसा करते हैं। **धन्यो गृहस्थाश्रमः** का स्वीकार करते हैं। वास्तव में पामर जीव विलास के लिए और विकाराधीन होकर विवाह करता है, यह बात सत्य है। फिर भी उदक छोड़कर संकल्प करता है उसमें यही कहता है कि भगवान का काम हो इसलिए हम दो जीव एकत्र रहने की शपथ लेते हैं और हमारी प्रत्येक क्रिया भगवान के लिए ही होगी।

क्रिया छोड़नी नहीं है। क्रिया तो करनी ही है, परन्तु प्रत्येक क्रिया का मुँह भगवान की ओर होना चाहिए। प्रत्येक क्रिया भगवान के लिए करनी है, धंधा भी भगवान के लिए ही करना है यह समझ हो तो धन्धा भी भक्ति ही है। ऐसी दृष्टि नहीं होगी तो मनुष्य मन्दिर में जाकर भी धंधा ही करता है, उसकी भक्ति भी व्यापार बनती है। **स वै वणिकः** मुझे कुछ मिलता है अतः मैं मंदिर में जाता हूँ। इसलिए भक्ति और उसका मूलभूत अर्थ समझना आवश्यक है ऐसा नारद ने वसुदेव-देवकी से कहा है। इसी कारण वसुदेव-देवकी को ज्ञान हुआ और वे मुक्त हो गये, ऐसा लिखा है। जिनके यहाँ भगवान बालक बनकर आये वे माता-पिता कितने समर्थ होंगे? शंकरलाल, भँवरलाल जैसे मामूली लोग थोड़े ही होंगे! उनको सामने रखकर हमारे जैसे सामान्य मनुष्यों को उपदेश देना है कि केवल सद्गुण

आने से नहीं चलता। सद्गुण भक्तिपूर्ण व भक्ति की बैठक पर आधारित होने चाहिए। प्रेम के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। प्रेम भी भक्तिपूर्ण होना चाहिए। मनुष्य सहृदय होना चाहिए।

व्यापारी में कितने सद्गुण होते हैं! उसमें क्षमा भी होती है। परन्तु उसके सद्गुणों को भक्ति का स्पर्श नहीं होता है इसलिए व्यापारी मुक्त नहीं होता। व्यापारी मुक्त नहीं हो सकता ऐसा मैं नहीं कहता, परन्तु व्यापारी में जो गुण होते हैं उनसे उसे मुक्ति नहीं मिलती। कारण वे सभी गुण उसमें स्वार्थ के कारण होते हैं, वे भक्तिपूर्ण गुण नहीं हैं। तुम्हारे पास क्षमा, करुणा आदि जो सद्गुण होंगे वे भक्तिपूर्ण होने चाहिए ऐसा भागवतकार का कहना है। शिक्षा लेनी हो तो वह भी भक्तिपूर्ण होनी चाहिए।

श्रूयतां देवदेवेश नारायण जगत्पते।
त्वदीयेनावधानेन कथयिष्ये शुभाः कथाः।।

यह भूमिका होनी चाहिए, तभी भक्ति हो सकती है। उसीको ज्ञानी भक्ति कहते हैं। केवल ज्ञान होना पर्याप्त नहीं है, भक्ति होनी चाहिए। परिवार को भगवान का परिवार समझना चाहिए। भगवान का काम हो इसीलिए परिवार है। वह एक छोटा-सा समूह है। मैं बड़े समूह को कदाचित् मोड़ नहीं दे सकूँगा। इसलिए मैंने इस छोटे समूह का स्वीकार किया है। परन्तु यह मोड़, परिवार भगवान का है ऐसा समझकर देना है। इसीलिए ब्रह्मचर्य का एक भिन्न अर्थ समझाया है।

यह सब समझाने के बाद छठें अध्याय में देवताओं द्वारा भगवान की की हुई सुन्दर स्तुति है स्तुति कौन करता है यह महत्वपूर्ण बात है। यहाँ देवता स्तुति करते हैं। मनुष्य शेठ की स्तुति करता है, कारण उसे शेठ से कुछ पाने की चाह होती है। स्तुति में शब्दों का महत्व नहीं है, स्तुति कौन करता है व किसलिए करता है यह महत्त्वपूर्ण बात है।

माँ अपने लड़के का वर्णन करती है तो उसमें से साठ प्रतिशत छोड़ना पड़ता है। इसका कारण माँ अपने लड़के का वर्णन करेगी ही। वर्णन कौन करता है? सास दामाद का वर्णन करती है उसमें से नब्बे प्रतिशत छोड़ देना पड़ता है। लड़की देकर भूल की है तो दामाद का वर्णन करना ही पड़ता है, वर्णन नहीं करेगी तो क्या करेगी? उसके बिना छुटकारा ही नहीं है। ऐसे वर्णन को मूल्य नहीं है। वर्णन महत्त्वपूर्ण नहीं है, कौन करता है यह महत्त्वपूर्ण है। देवताओं ने भगवान की स्तुति की है। इस स्तुति-स्तोत्र में पंचामृत समझाया है।

देवता कहते हैं, निस्सीम कर्म के आधार, कर्म करके भी निर्विकार रहने वाले, भाव से वश होने वाले, विघ्नहर्ता, याज्ञिक, योगी तथा ज्ञानी के ध्येय ऐसे जो भगवान हैं, उनके चरणों में हम नमस्कार करते हैं। यह स्तुति कंठस्थ करके बोलनी चाहिए। अनेक लोग भगवान को मानते हैं परन्तु उनको ऐसी स्तुति मुँह से गाना नहीं आता, इसलिए वे स्तोत्र नहीं गाते।

देवताओं ने भगवान को 'निस्सीम कर्म का आधार' कहा है। निस्सीम कर्म किसे कहते हैं? जिस कर्म का फल तुमने स्वीकार नहीं किया वह कर्म कौन सँभालेगा? जिस कर्म का तुमने स्वीकार किया वह तो तुम्हारे पास आ गया, परन्तु जिस कर्म का फल तुमने स्वीकार नहीं किया है, उसे भगवान सँभालते हैं।

जो ज्ञानी पुरुष साधन से उच्च बने हैं, उनके अनेक कर्म ऐसे होते हैं जिनका लाभ उन्होंने नहीं माँगा, स्वीकार भी नहीं किया, उस लाभ की इच्छा भी नहीं रखी। ऐसे जो कर्म हैं वे कहाँ जायेंगे? उनको कौन सँभालेगा? ऐसे कर्मों को निस्सीम कर्म कहते हैं। उनका आधार भगवान हैं।

फिर कहते हैं कि कर्म करके भी निर्विकार रहने वाले, भाव से वश होने वाले भगवान हैं। वे विघ्नहर्ता हैं। याज्ञिक, योगी और ज्ञानी का ध्येय ऐसे भगवान की चरण-सेवा समझायी है। इस स्तोत्र के प्रत्येक श्लोक का गूढार्थ है। जिसे वैष्णव बनना है उसके लिए इन श्लोकों में मार्गदर्शन है, अर्थ प्रदर्शन है। जिन्हें संस्कृत आती है उन्हें ये मूल श्लोक पढ़ने चाहिए। जो लोग सुसंस्कृत हैं उनको इस स्तोत्र में एक भिन्न ही बात का दर्शन होता है। संस्कृत आना भिन्न बात है और संस्कृत होना भिन्न बात है।

फिर कहते हैं, 'प्रभो! आपकी चरणसेवा करके भवमुक्ति की अपेक्षा रखने वाले श्रद्धालु लोग सच्चे हैं। हम भी अपना मन, बुद्धि, अपनी इन्द्रियाँ आपके चरणों में अर्पण करते हैं।' श्रद्धालु लोग जो कहते हैं कि भगवान की चरणसेवा करनी चाहिए, यह अच्छी बात है। इसमें कुछ दर्शन है। सामान्यों को चरणदर्शन ही होंगे, इसलिए चरणसेवा प्रथम करो। भगवान के मुखारविंद की ओर देखने की किसी में हिम्मत है? भगवान की आँख से आँख मिलाने की क्या हममें ताकत है? ऐसा कौनसा शेर मारा है हमने? कुछ किया ही नहीं हमने! रोनेवाले, रुलानेवाले, सोनेवाले हम क्या कर सकते हैं? भगवान की आँख तक पहुँचने की हमारी शक्ति ही नहीं है। शुरूआत में हमारी शक्ति भगवान के चरणों तक ही देखने की होगी। इसलिए चरणसेवा आवश्यक है।

दूसरी बात, भगवान के चरण जिस प्रकार मेरे लिए कर्म-व्यापृत हैं उसी प्रकार मुझे भी कर्म में व्यापृत-तल्लीन रहना चाहिए। **'चरणसेवा'** इसका अर्थ प्रभु के कर्म में व्यापृत रहना है। उसीको वैष्णव कहते हैं। चरण इसीलिए हैं। चरण देनेवाले भगवान संपूर्ण जगत् में परिभ्रमण करते हैं। किसलिए? मेरा भला हो इसलिए भगवान घूमते हैं। **चरैवेति-चरैवेति-** हमें भी उसी प्रकार सर्वत्र घूमना चाहिए, ऐसा स्तुति कहती है।

भगवान हमारे लिए घूमते हैं तो हमें भी भगवान के लिए घूमना चाहिए। हम भगवान के लिए क्या किसी दिन घूमते हैं? स्वाध्याय प्रवृत्ति में जो भक्तिफेरी है उसमें हमारे स्वाध्यायी भगवान के लिए ही घूमते हैं, अपने लिए नहीं। भक्तिफेरी में जानेवालों को अपने लिए कुछ भी नहीं चाहिए। अपना गाँव के लोगों के साथ सम्बन्ध होगा अथवा लोग हमें अच्छा कहेंगे इसलिए भी वे नहीं जाते। इतना ही नहीं, गाँव में जाने पर कितने लोग

इकट्ठे हुए इसका विचार भी ये लोग नहीं करते। भक्तिफेरी में जानेवाले लोग यदि ऐसा बोलते होंगे कि 'हम गाँव में जाते हैं तब हमें प्रतिभाव *(Response)* अच्छा नहीं मिलता। अब हम वहाँ नहीं जायेंगे,' तो वे भक्तिफेरी करनेवाले ही नहीं है। भक्तिफेरी में प्रतिभाव मिला या नहीं मिला यह प्रश्न ही नहीं है। जिनके मस्तिष्क में प्रतिभाव का विचार आता है उनकी यह उपासना नहीं, भक्ति नहीं है। उपासना भिन्न ही बात है। प्रथम श्लोक में यह बहुत अच्छी तरह से समझायी गयी है।

दूसरे श्लोक में कहते हैं, प्रभो! आप अजित हैं, अजिंक्य हैं, सर्वनियामक हैं। आपने ही यह माया खड़ी की है। विश्व की निर्मिति करके उसे सँभालकर व उसका संहार करके भी आप निर्विकार रहते हैं, अलिप्त रहते हैं यह आश्चर्य की बात है।

हम भक्त लोग कुछ करने की अपेक्षा नहीं रखते। हम भगवान का जप करते हैं, दूसरा कुछ नहीं करते। इसका कारण, हम यदि भगवान का कुछ काम करने लगेंगे तो लोग आयेंगे ही। लोगों के आने पर रागद्वेष बढ़ता है। इसलिए जो वैष्णव हैं वे लोगों से डरते हैं। परन्तु वे वैष्णव नहीं हैं। भगवान सृष्टि की निर्मिति, पालन व संहार करके भी अलिप्त रहते हैं, यह जीवन की एक कला है। काम छोड़कर अलग रहना भिन्न बात है। कार्य में डूबकर काम से अलग रहना जीवन की एक कला है। वैष्णवों को यह बात सीखनी पड़ेगी ऐसा समझाया है।

हम कर्म को छोड़ देते हैं। 'कर्म नहीं चाहिए' कहकर कनखल में जाकर बैठते हैं, कारण चार लोग एकत्रित हुए कि रागद्वेष, खड़े होते हैं, मतभेद निर्माण होते हैं। इसलिए कितने ही श्रद्धालु लोग अपने को साधक समझकर अकेले रहते हैं। मतभेद हो जाने पर भी रागद्वेष निर्माण नहीं होगे ऐसी मनोवृत्ति हमें तैयार करनी है। भगवान ने वैसा करके दिखाया है ऐसा देवता कहते हैं। भगवान ने माया खड़ी की है, विश्व का निर्माण किया है, विश्व को वे ही सँभालते हैं और विश्व का संहार भी वे ही करते हैं—

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमोनमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमोनमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमोनमः
प्रमहसिपदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमोनमः।। (महि. ३०)

सब कुच्छ करके भगवान जिस प्रकार अलिप्त रहते हैं, निर्विकार रहते हैं वैसा जीव को भी रहना चाहिए। अलिप्त रहकर काम करना बहुत कठिन बात है। हम कर्म छोड़ देते हैं, परिवार छोड़ देते हैं, उत्तरदायित्व छोड़ देते हैं और **'दयालु प्रभो सबका कल्याण करो'** कहकर भगवान को उपदेश देते हैं और स्वयं तटस्थ रहते हैं। क्यों? हम यदि लोगों में जायेंगे तो हमें निराशा होगी, आसक्ति बढ़ जायेगी, हमारे मन में राग द्वेष निर्माण होंगे, मतभेद खड़े रहेंगे, इसकी अपेक्षा अलग रहना अच्छा है।' यह वैष्णव की भूमिका नहीं है ऐसा समझाया है।

भगवान के पास जाना होगा तो भगवान के जैसा बनने का प्रयत्न करना होगा। सब कर्म करके भी अलिप्त रहने की शिक्षा प्राप्त करनी होगी। विश्व को नहीं छोड़ना है। जो ज्ञानी हो गये हैं वे भी विश्व के कर्म नहीं छोड़ते, अपने कर्म भी नहीं छोड़ते। श्रीमदाद्य शंकराचार्य भक्ति करते थे और वल्लभाचार्य ने भी भक्ति की। किसे मालूम क्यों की? क्या आवश्यकता थी उनको भक्ति करने की? 'नाथद्वारा जाना चाहिए' कहकर आचार्य वहाँ गये व वहाँ श्रीनाथजी की मूर्ति की पूजा की। जगत् में सर्वत्र भगवान देखने वाले आचार्य ने पूजा क्यों की? इसका कारण उनको कर्म नहीं छोड़ने थे। जगत् में आकर जो भूमिका *(Part)* अदा करनी है, वह तो करनी ही चाहिए। आप आधे मन से *(half hearted)* काम करेंगे तो अलिप्त रह सकेंगे। कारण अलिप्तता आयी कि मनुष्य दूर रहकर काम करता है। बड़े-बड़े डाक्टर्स, बड़े-बड़े अस्पतालों में काम करते हैं, वे अलिप्त रहकर काम करते हैं। रोगी मर भी गया तो उन पर कोई परिणाम नहीं होता। क्या ऐसी अलिप्तता अच्छी है? कोई भी काम करना है तो उसमें डूब जाना चाहिए, उसमें एकाग्र होना चाहिए, आत्मीयता खड़ी करनी चाहिए और फिर काम करना चाहिए इतना करके अलिप्तता लानी चाहिए। यह बहुत कठिन बात है, परन्तु जब तक यह स्थिति नहीं आती तब तक सच्चे वैष्णव नहीं हैं ऐसा भागवत का कहना है। किसी भी अस्पताल में जाकर वहाँ के डॉक्टर को कहो, 'चलिए सिनेमा देखने जायेंगे, मैं टिकट लाया हूँ' डॉक्टर आपको कहेगा, तनिक ठहरो, मैं एक मृत्यु प्रमाणपत्र *(Death certificate)* लिखकर आता हूँ।' यह डॉक्टर तटस्थ है, अलिप्त है, परन्तु क्या यह तटस्थता, अलिप्तता श्रेष्ठ है? इसलिए क्या आधे मन का काम करेंगे? पराया समझकर काम करेंगे? या काम ही नहीं करेंगे?

यहाँ जो अलिप्तता अपेक्षित है वह क्या है? आपको कार्य में डूबना है, केवल मार्जन नहीं करना है, पानी में कूदना है, फिर भी अलिप्त रहना है। कैसे अलिप्त रहेंगे? इसीलिए भक्ति की आवश्यकता है। निश्चित *(exactly)* भक्ति की कहाँ आवश्यकता है यह समझ लो। जो काम करना है, वह भगवान का काम है, यह समझकर काम करेंगे तो अलिप्तता आती है।

सेठ की उगाही करने के लिए महेता जाता है। उसे उस काम के लिए वेतन मिलता है, इसलिए वह मन लगाकर काम करता है, परन्तु वह अलिप्त है। मन लगाकर काम करता है, उसमें डूब जाता है फिर भी अलिप्त है। यह केवल भक्ति के मार्ग से ही शक्य है। यहीं भक्ति की आवश्यकता है। जिस प्रकार चित्त एकाग्र करके चित्तशुद्धि के लिए भी भक्ति की आवश्यकता है वैसे ही कर्म करके अलिप्त रहने के लिए भी भक्ति की आवश्यकता है। भगवान जैसे अलिप्त रहते हैं, वैसा वैष्णव को भी अलिप्त रहना है। बहुत ही सुंदर स्तोत्र है यह।

तीसरे श्लोक में कहते हैं, भगवान **'ईड्य'** है। सर्वस्तव्य है। सर्ववंद्य है, परन्तु वे केवल विद्या, कर्म और तपादिक साधना से नहीं मिलते, उसके लिए भक्ति की आवश्यकता है। कितने ही लोग भगवान को प्राप्त करने के लिए विद्या कमाते हैं, कुछ लोग कर्म करते

हैं तो कुछ लोग तप और साधना करते हैं, परन्तु उनको भगवान नहीं मिलते। क्यों? उसके साथ भक्ति की आवश्यकता है।

मनुष्य के जीवन में दो बातें आवश्यक हैं। एक समझ और दूसरी कृति। जीवन में से ये दोनों बातें निकाल दी तो मनुष्यत्व खत्म हो जायेगा। गधे को समझ नहीं है और कृति भी नहीं है। उसमें कृति है ही नहीं ऐसा नहीं है, परन्तु समझाने के लिए कहता हूँ। उसके पास कृति है परन्तु वह दूसरे की बुद्धि से है, अपनी बुद्धि से नहीं। रेस में घोड़ा दौड़ता है, परन्तु दौड़नेवाले घोड़े को मूल्य नहीं है, उसे दौड़ाने वाले जैकी का मूल्य है। यश उसे मिलता है और पैसा मालिक को मिलता है। इसका कारण जैकी भी दूसरे के कहने से घोड़ा दौड़ाता है। पैसा तीसरे को यानी मालिक को मिलता है। मालिक दौड़ता नहीं है, परन्तु उसे पैसा मिलता है। क्यों? दौड़ानेवाला उसका है इसलिए! यश जैकी को मिलता है समझ और कृति दोनों भक्तिपूर्ण करनी पड़ेगी।

प्रभो! कर्मयोगी व ज्ञानयोगी आपकी ही चरणसेवा करते हैं ऐसा लिखा है। ये लोग भगवान की चरणसेवा को श्रेष्ठ मानते हैं। इसका अर्थ भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं। भगवान की चरणसेवा करने के लिए मुझे भी भगवान के लिए घूमना पड़ेगा। हम भगवान की चरणसेवा करते हैं इसका अर्थ यह है कि भगवान के जैसे हम भी घूमते हैं। ओक्सिज़न *(O_2)* सभी स्थानों में है या नहीं? है! परन्तु हवा में ओक्सिज़न कौन लाया? संपूर्ण सृष्टि के वातावरण में ओक्सिज़न-प्राणवायु भरी हुई है। अफ्रीका, अमेरिका, इग्लैंड में भी वह है। सर्वत्र भगवान परिभ्रमण करते हैं। उसी प्रकार जो वैष्णव हैं उनको भी सर्वत्र परिभ्रमण करना होगा। अर्थात् समझ व कृति के पीछे भक्ति खड़ी करनी पड़ेगी।

आपका कर्म कितना अच्छा है उस पर से आप कर्मयोगी नहीं हो सकते। कर्म भक्तिपूर्ण होगा तभी आप कर्मयोगी हो सकते हैं। एकाध व्यक्ति अनेकों को नोटों का दान वितरण करता है। इसका कारण ये नोट बेकार जानेवाली हैं। अतः दान में देने में क्या बुरा है? घर में आग लग गयी तो गरीब लोगों को कहने लगे कि आओ! घर में जो कुछ है वह ले जाओ। तो क्या यह दान कहलायेगा? वह तो बेकार में जलनेवाला ही है। इस प्रकार जलते हुए घर का सब कुछ लुटवाना क्या कर्मयोग है? कर्म उसका होगा, उस कर्म का उस पर परिणाम भी हुआ होगा, उसका फल भी उसे मिलेगा परन्तु वह व्यक्ति कर्मयोगी नहीं हो सकता।

कर्मयोगी होने के लिए समझ और कृति दोनों भक्तिपूर्ण होने चाहिए। वैष्णवों को यह करना पड़ेगा, वैसा होना पड़ेगा, ऐसा इस स्तोत्र में लिखा है। यह स्तुति देवताओं ने की है इसलिए उसका मूल्य है। सामान्य मनुष्यों को समझाने के लिए यह स्तुति है।

इस स्तुति का साहित्यिक मूल्य *(Literary value)* भी है। वनमाला भगवान के गले में है, उसका लक्ष्मी मत्सर करती है ऐसा लिखा है। भगवान ने भाव और भक्ति से जो वनमाला धारण की है उसका लक्ष्मी मत्सर करती है। क्यों करती है वह मत्सर? गले में

वनमाला अच्छी लगती है इसलिए? यह वनमाला भिन्न है। यदि वह फूलों की माला हो तो मुरझाने के बाद लक्ष्मी दूसरी माला धारण नहीं करने देगी। उसमें मत्सर करने की क्या बात है? क्या लक्ष्मी को इतनी भी अक्ल नहीं है? फूल की माला हो तो वे फूल मुरझाने वाले ही हैं। मुरझाने के बाद दूसरी माला पहननी होती है। पति को क्या पहनना है वह लक्ष्मी के हाथ में है। भगवान के गले में जो माला है उसके फूल कभी नहीं मुरझाते। कौन से फूल हैं वे? जीवनपुष्प हैं वे।

प्रह्लादनारदपराशरपुंडरीक व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्मांगदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन् पुण्यनिमान् परमभागवतान् स्मरामि।।

लक्ष्मी विश्व की माँ है। उसे पता है कि ये जीवनपुष्प हैं। ये मुरझाने वाले नहीं हैं। वे पुष्प भगवान के गले में देखकर लक्ष्मी को लगता है कि मैं भगवान की पत्नी हूँ तो भी भगवान ने वसिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य जैसों को अपनी छाती पर लिया है। ऐसी माला भगवान को किसने पहनायी? यह एक प्रश्न ही है।

भगवान को माला कौन पहना सकता है? उनके गले तक जो पहुँच सकता है वह। यह प्रथम बात है। उसके लिए भगवान के पास अर्थात् **सत्यं शिवं सुन्दरम्** के पास जाना पड़ता है। हम यदि **'असत्यं अशिवं असुन्दरम्'** होंगे तो भगवान के पास पहुँच ही नहीं सकेंगे। भगवान के पास जाने का अर्थ क्या है? क्या भौतिक दृष्टि से भगवान के पास जाना है? जिसे सत्य का पता नहीं है, जिसका शिव के साथ सम्बन्ध नहीं है तथा जो असुंदर है वह भगवान के पास कैसे जा सकता है?

दूसरी बात यह है कि भगवान के गले में माला पहनानी होगी तो भगवान को अपना सिर झुकाना पड़ेगा। आप यदि भगवान का सिर झुकाने जायेंगे तो आपके हाथ टूट जायेंगे। भगवान स्वयं झुकेंगे, गर्दन नीचे करेंगे तो बात अलग है। जिसे हार स्वीकारना है उसके लिए यह कठिन प्रसंग है। हार पहनाने वाले के सामने गर्दन झुकानी पड़ती है। मुझे बहुत दिन यह व्यथा थी कि हार पहनाने के लिए जो आता है, उसके सामने गर्दन झुकानी पड़ती है। मैं गर्दन क्यों झुकाऊँ? बाद में मैंने समाधान मान लिया कि जो हार पहनाने के लिए आते हैं वे भगवान के पुत्र हैं। उनके सामने गर्दन झुकाने में कोई हर्ज नहीं है।

भगवान की गर्दन झुकाना क्या आसान बात है? भगवान को स्वयं सिर झुकाना है। जिन्होंने अपना जीवनपुष्प भगवान को अर्पण किया होगा वे कितने महान् होंगे? कारण भगवान उनके सामने झुकते हैं।

इसी स्तोत्र में एक दूसरी भी चर्चा है। भगवान आपके चरण शुद्ध क्यों हैं? देवताओं ने समझाया है कि भगवान के चरण कैसे हैं? वामनावतार में आपने एक ही चरण में पृथ्वी व्याप्त की और विजयध्वज लेकर चले गये। वह ध्वज यानी विचारों का ध्वज! आपके चरणों से गंगा निकली है प्रेम और भाव की गंगा! आपके चरण देवताओं को

अभय देनेवाले और दुष्टों का नष्ट करने वाले हैं। इसी कारण आपके चरण शुद्ध व पवित्र हैं। इसलिए हम आपकी चरणसेवा करते हैं।

वामन जगत में घूमा। क्यों? विचार व जीवन समझाने के लिए विजयध्वज लेकर वह जगत में घूमा। हम भी जगत में घूमते हैं, परन्तु वामन के घूमने को मूल्य है। वामन लोगों को खड़ा करने के लिए घूमा। हमें भगवान की चरणसेवा करनी हो तो व्यक्ति को विचार, जीवन समझाकर उसे खड़ा करने के लिए जगत् में घूमना चाहिए। एक विशिष्ट वृत्ति का स्वीकार करके घूमना चाहिए।

विचारों का ध्वज लेकर घूमना है। विचार भी ऐसे होने चाहिए कि जो व्यक्ति को उन्नत बनायें, उसकी रीढ़ मजबूत करें। ऐसे विचार लेकर जाना है देवताओं ने भगवान से कहा, 'भगवान! वामन अवतार में आपने यह काम किया। आपने ऐसे विचारों का ध्वज लेकर भ्रमण किया जिन विचारों को कोई नहीं हटा सका। जिन विचारों को सुनने के बाद व्यक्ति नहीं गिरता ऐसे विचार लेकर घूमना है।

प्रभो! आपके चरणों से गंगा निकलती है। गंगा पवित्र है। हमारे जीवन में भी प्रेम का भाव का स्रोत होना चाहिए। वैसे ही सद्विचारों का पठन, रटन, चिन्तन, कथन होना चाहिए। **तत् चिन्तनम् तत्कथनम् अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्-** ऐसा होना चाहिए। ऐसा कार्य करने वालों के लिए भगवान हैं।

प्रभो! देवता प्रभावशाली हैं, उन्होंने कुछ कमाया है, उनकी भी लगाम भगवान के हाथ में है। ऐसा नहीं समझना कि कोई एक बार बड़ा बन गया कि भगवान कुछ नहीं कर सकते। भक्ति में आप बड़े बन जायेंगे, बड़े बनने के बाद कुछ स्थिति आयेगी, कुछ परिस्थिति बदल जायेगी, फिर भी आपकी लगाम भगवान के हाथ में ही रहेगी।

हमारे पास वित्त आया, बुद्धि आयी कि फिर लगाम भगवान के हाथ में नहीं रहती। हमें लगता है कि 'लगाम हमारे हाथ में है। पैसा हमारा है। उसे कैसे व्यय करना हम निश्चित करेंगे। उसका उपयोग कैसे करना है यह हम जानते हैं। इस सम्बन्ध में ऋषि हमें कहनेवाले कौन हैं? याज्ञवल्क्य या मनु कहनेवाले कौन होते हैं? हमारे पास शक्ति आ गयी, परन्तु लगाम तो भगवान के ही हाथ में होनी चाहिए। प्राप्त शक्ति का उपयोग भगवान जिस प्रकार कहेंगे उसी प्रकार करना चाहिए।

अनेक लोग अज्ञात होंगे, परन्तु ज्ञात लोगों में एक रोकफेलर नाम का व्यक्ति हो गया। उसके नाम का फाउन्डेशन है। यह रोकफेलर अति धनवान था। उसने अपने लड़के को बुलाकर कहा, 'हमें भगवान ने विपुल पैसा दिया है, परन्तु उसका उपयोग कैसे करना इसकी अक्ल हमारे पास नहीं है। इसलिए पण्डितों को (उसकी दृष्टि में जो पंडित होंगे) बुलाकर वे जैसा कहेंगे उसके अनुसार पैसों का उपयोग करेंगे।' इस प्रकार वित्त कैसे प्रयुक्त करना इसके सम्बन्ध में रोकफेलर ने अपनी अक्ल नहीं चलायी।

सामान्य तार पर, मनुष्य के पास वित्त, विद्या तथा बुद्धि आने पर लगने लगता है कि हमारे पास अक्ल है, हमें पूछनेवाला कोई नहीं है। जैसा हमें ठीक लगेगा वैसा हम करेंगे।' शक्ति आने के बाद कितने ही लोग ऐसा बोलते हैं कि 'धर्म हमें कहनेवाले कौन हैं? ऋषि अथवा भगवान हमें कहनेवाले कौन हैं? हम सबका भला करेंगे। हमारा प्रभाव कितना है, पता है? हमारे एक ही शब्द से सभी लोगों को जेब में से पैसा निकालना पड़ेगा।' उनको पूछना चाहिए, "यह! किसका प्रभाव है? ये लोग बकरे जैसे होते हैं। तुम एक विशिष्ट स्थान पर बैठे हो इसलिए लोग पैसा देते हैं, नहीं तो तुमको पैसा कौन देगा? इन लोगों को ऐसा बोलने में कुछ लगता भी नहीं, व्यथा नहीं होती। वैसे ही जो लोग पैसा देते हैं उनको भी कुछ दुःख नहीं होता। ये लोग बकरे जैसे बन गये हैं, इसका कारण उनकी रीढ़ की हड्डी टूट गयी है।" फायदा है तो पकड़ो इन गधों के चरण! उसमें कोई बाधा नहीं है, ऐसी इन लोगों की वृत्ति होती है। लेकिन वैसा नहीं होता है। भगवान के चरण नहीं पकड़ेंगे परन्तु गधे के जरूर पकड़ते हैं। इसलिए हमारे शास्त्र ने राजा को भी धर्म द्वारा दण्डनीय ठहराया है। 'तुम पर धर्म का शासन चलेगा ही' ऐसा राजा को कहा जाता था। इस सम्बन्ध में पिछले स्कन्ध में वर्णन किया ही है।

प्रभावशाली देवताओं की लगाम भगवान के हाथ में है। ज्ञानियों की भी लगाम भगवान के ही हाथ में है। वैष्णव को शक्ति मिलेगी, वित्त-वैभव भी मिलेगा, ज्ञान भी प्राप्त होगा, परन्तु उसे निरन्तर यह ध्यान रखना पड़ेगा कि 'मेरी लगाम भगवान के हाथ में है।' यह ध्यान नहीं रखा जायेगा तो वह रावण बनेगा। देवताओं ने यहाँ लाल बत्ती *(Red signal)* दिखायी है।

देवता आगे कहते हैं कि भगवान! विश्व का मूल आप हैं, काल भी आप ही हैं। अन्तिम श्लोक में लिखा है कि भगवान! कितनी ही ललनाएं आपकी ओर नेत्रकटाक्ष फेंकती हैं, परन्तु आप उनसे विद्ध नहीं होते। 'काम' का आप पर परिणाम नहीं होता। काम के निर्माता आप ही हैं। काम के हाथ से छूटना होगा तो आपकी ही सहायता लेनी पड़ेगी, अन्यथा छूटना अशक्य है।

जितनी 'राम' जबरदस्त शक्ति है, उतनी 'काम' भी जबरदस्त शक्ति है। उसके हाथ से छूटना होगा तो भगवान की सहायता लेनी ही पड़ेगी। 'काम मुझे दीन नहीं बना सकता, मैं काम पर स्वार हो जाऊँगा' ऐसा वही कह सकता है जो भक्तिपूर्ण अन्तःकरणयुक्त है। भगवान के नाम और भगवान की गंगा में पवित्र करने की शक्ति है।

'हम विश्व में घूमनेवाले लोग हैं, काम और क्रोध हम पर हमला करेंगे परन्तु हमें पवित्र करनेवाली शक्ति आप ही हैं' ऐसा अन्तिम श्लोक में देवता कहते हैं। कामशक्ति से छूटना मुश्किल है। उससे कौन छूट सकता है? मनुष्य विरक्त नहीं रह सकता। भक्त उसमें से छूट सकता है। जिसने अपने जीवन की डोरी भगवान के हाथ में दी है, जो अन्तःकरण से भक्त है वही काम पर स्वार हो सकता है, काम को वश में कर सकता

है। कामप्रधान जगत में घूमना है और काम को नचाना है। यह कठिन बात है, परन्तु वैष्णव को वह करनी पड़ेगी।

एकादश स्कन्ध में भगवान अब अपना बिस्तर बाँध रहे हैं। भगवान का वीसा परमिट समाप्त हुआ है। यहाँ जगत में आने के लिए भगवान को भी वीसा लेना पड़ता है। हमें विदेश जाना होता है तब पहले ही सूचित करना पड़ता है कि हम विदेश में इतने-इतने दिन रहने वाले हैं। इसी प्रकार भगवान को इस जगत् में कब तक रहना है वह उनको पहले निश्चित करना पड़ता है। वह अवधि पूर्ण हुई कि भगवान को भी यह जगत छोड़ना पड़ता है। 'अब मैं जगत् को छोड़कर जा रहा हूँ' ऐसा भगवान ने उद्धव से कहा तब उद्धव उनको रोकने का प्रयत्न करते हैं। कहते हैं-

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि।।११/६/४३।।

(हे केशव! हे नाथ! आपके चरणकमल का विरह मुझे आधे क्षण के लिए भी दु:सह होगा यह आप जानते हैं, अतः आप मुझे भी अपने साथ निजधाम ले जाइये।)

उद्धव जब कहता है कि हमें भी अपने साथ ले जाइये, तब भगवान कहते हैं, तुम सबको मेरे साथ आना है, तो फिर यहाँ कौन रहेगा? जगत् में लोगों को विचार कौन समझायेगा? कितने ही लोग चौथे वर्ग के यानी ट, ठ, ड और 'ढ' वर्ग के होते हैं। उनको एक-एक बात बार-बार कहकर सुनानी पड़ती है फिर भी वे भूल जाते हैं। यदि तुम मेरे साथ आओगे तो कैसे चलेगा?

भगवान के अति प्रिय भक्त उद्धव का आग्रह है कि भगवान! आप मुझे अपने साथ ले जाइये। उसे भगवान जवाब देते हैं। फिर भगवान ने उद्धव को ज्ञान का उपदेश दिया है। वह बहुत ही सुंदर है। उसे 'उद्धव-गीता' कहते हैं। उसमें भगवान कहते हैं कि 'इन्द्रियों के साधन से होनेवाला ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ दोनों मिथ्या हैं।' कैसे? यह समझाया है। उसकी गहराई में हमें इस समय नहीं जाना है। क्या समझाया है यह कह देता हूँ। सबकी राय यह है कि इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, उस पर विश्वास रखने जैसा नहीं है। इन्द्रियाँ मिथ्या ज्ञान कराती हैं। जब हम रेलगाड़ी से यात्रा करते हैं तब खिड़की से बाहर देखने पर आँखें दिखाती हैं कि पेड़ दौड़ रहे हैं, परन्तु पेड़ क्या कभी दौड़ते हैं? पेड़ नहीं दौड़ते हैं, रेलगाड़ी दौड़ती है तब पेड़ दौड़ रहे हैं ऐसा लगता है। चन्द्र की ओर देखने पर चन्द्र दौड़ रहा है ऐसा लगता है। इस पर अंग्रेजी में एक पुस्तक है, *'How our senses deceive us*- हमारी इन्द्रियाँ हमें कैसे धोखा देती हैं।' हम ऐसा ही समझते हैं कि इन्द्रियों से ज्ञान होता है वह सत्य है। यह समझ ही झूठी है। भगवान कहते हैं कि इन्द्रियों के साधन से होनेवाला ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ-दोनों मिथ्या हैं, 'तुम, मैं और विश्व इनमें भेद नहीं है' यह अन्तिम ज्ञान भगवान ने समझाया है। यही आत्मज्ञान है ऐसा उद्धव को समझाया है।

आत्मज्ञान उठाने की शक्ति उद्धव में है, वह ज्ञान उद्धव समझा भी है, फिर भी वह प्रश्न पूछता है। यह प्रश्न संशयग्रस्त भ्रमरलाल का नहीं है, अपितु सशयरहित उद्धव का है। उद्धव पूर्ण ज्ञानी है। फिर भी सामान्य लोगों को मार्गदर्शन मिलने हेतु उद्धव ने कुछ प्रश्न पूछे हैं। उद्धव पूछता है,' यह ज्ञान प्राप्त होने के लिए मुझे क्या करना चाहिए?' उद्धव के इस प्रश्न में उसका लोगों के प्रति अत्यधिक प्रेम दिखायी देता है।

हम प्रश्न पूछते हैं तब जिज्ञासा से प्रश्न पूछते हैं अथवा शंकानिवारण के लिए प्रश्न पूछते हैं। हम अपूर्ण हैं इसलिए प्रश्न पूछते हैं। यहाँ उद्धव कहते हैं कि प्रभो! आप कहते हैं कि ज्ञान और ज्ञेय दोनों पदार्थ मिथ्या हैं। 'मैं, 'तू' या 'विश्व' में भेद नहीं है। यह ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ। फिर भी, इस स्थिति तक कैसे पहुँचना यह सामान्य लोगों को मालूम नहीं है। भगवान! आप कहेंगे तभी उसका लोगों को पता चलेगा।'

इस संबंध में कुछ कहने हेतु भगवान ने उद्धव को अवधूत गीता सुनायी है। जिस प्रकार हंस गीता है, भगवद्गीता है, उद्धव गीता है, वैसी अवधूत गीता है और वह एकादश स्कन्ध में आती है।

ज्ञानी उद्धव ने भगवान से पूछा कि भगवान! आप जा रहे हैं तो मुझे क्यों नहीं ले जाते? तब भगवान ने उद्धव को ज्ञान देकर अपरोक्षानुभूति समझायी है।

अपरोक्षानुभूति समझना और उसका अनुभव लेना बहुत ही कठिन है। परोक्ष-अपरोक्ष प्रत्यक्ष ये शब्द बोलना बहुत आसान हैं। प्रत्यक्ष यानी जो सामने दिखायी देता है वह। भगवान सामने नहीं दिखायी देते। वैसे भगवान परोक्ष भी नहीं हैं। परोक्ष यानी जो होता ही नहीं है। भगवान यदि परोक्ष होंगे तो हम चलेंगे कैसे! सोयेंगे कैसे? घूमेंगे कैसे? खायेंगे कैसे? अत: भगवान परोक्ष नहीं हैं। भगवान प्रत्यक्ष नहीं हैं, परोक्ष भी नहीं हैं तो फिर कैसे हैं? वे अपरोक्ष हैं, अपरोक्षानुभूति में भगवान दूर नहीं, दूसरे नहीं और देर नहीं है, यानी उनके मिलने में देर नहीं है, यह ज्ञान हो गया कि अपरोक्षानुभूति आ गयी। यह ज्ञान उठाने की शक्ति उद्धव में थी और वह उद्धव ने उठाया भी है। फिर भी उद्धव ने लोक-कारुण्य के कारण तथा साधकों के प्रति प्रेम के कारण भगवान से प्रश्न पूछा है, वास्तव में उसे प्रश्न पूछने की आवश्यकता नहीं थी। उद्धव का यह प्रश्न पूछने में अपनी बुद्धि का प्रदर्शन नहीं है, वैसे ही जिज्ञासा भी नहीं है। उसमें केवल लोक-कारुण्य है और साधकों के प्रति प्रेम है।

भगवान ने प्रारंभ में मनुष्यदेह की श्रेष्ठता समझायी है। भागवतकार ने बार-बार मनुष्यदेह की श्रेष्ठता प्रस्थापित की है। मानव को मानव समझो, मानव को मनुष्य समझकर मूल्य मिलना चाहिए। आज मनुष्य को कीमत (महत्त्व) दी जाती है वह उसके साथ सम्बन्ध के कारण अथवा उसकी स्थिति के कारण! कोई धनवान होगा, विद्वान होगा अथवा उसके साथ कोई सम्बन्ध होगा तो उसे महत्त्व दिया जाता है। हम मानव की स्थिति या सम्बन्ध को मानते है, मानव को नहीं मानते हैं। मानव को, वह मानव है इसलिए महत्त्व देना

चाहिए। कोई भी मनुष्य तुच्छ नहीं है, नीच नहीं है। जिसका शरीर भगवान चलाते हैं वह तुच्छ या नीच कैसे हो सकता है? जब पैसों का जमाना आता है और जिसके पास पैसा नहीं होता उसे तुच्छ माना जाता है। जब चारित्र्य का जमाना आयेगा तब पैसेवाले को तुच्छ माना जायेगा। मनुष्य को 'मनुष्य' के नाते मूल्य देना चाहिए।

एकाध मानव समूह का नाम बदलने से उसका मूल्य नहीं बढ़ता। आज तक जिनको अस्पृश्य कहते थे उनको अब 'हरिजन' कहने लगे। इससे क्या फ़र्क़ पड़ा? नाम बदलने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। कड़ी का नाम खीर रखने से कहीं कड़ी खीर नहीं बनती। हमारे मन्दिरों के आँगन में भगवान व मनुष्य दो ही हैं। मनुष्यता (मानवता) आयी कि नहीं यह देखना है। मन्दिर के आँगन में यदि मुसलमान, हरिजन, कहकर अलग समूह बना देंगे तो बहुत बड़ी समस्या खड़ी होगी। तात्पर्य यह है कि मन्दिर द्वारा मानव को मानव के नाते मूल्य मिलना चाहिए। स्वाध्यायी परिवार के **'अमृतालयम्'** द्वारा एक भिन्न रूप में यह क्रान्तिकारी प्रयोग हो रहा है।

मन्दिर किसलिए होना चाहिए? यह गाँव के लोग समझेंगे तो शहर के बाबू लोग भी समझेंगे। इसका कारण बाबू लोग बुद्धिनिष्ठ नहीं होते। किसी को इसमें आश्चर्य लगेगा, परन्तु बुद्धिनिष्ठ वह है, जो बुद्धि में उतरने पर जीवन में लाने की, वैसा आचरण करने की हिम्मत दिखाता है। 'अच्छा है, बदलना चाहिए, होना चाहिए, करना चाहिए,' परन्तु किसे? केवल ऐसा बोलनेवाले लोग क्या बुद्धिनिष्ठ हो सकते हैं? ये सब बुद्धिजीवी लोग हैं। बुद्धिवादी और बुद्धिजीवियों को श्रेष्ठ नहीं माना जाता।

अध्यात्म में और जीवन-विकास की श्रेणी में भी मानव को मूल्य है। अध्यात्म में जीव, जगदीश और जगत् का विचार है। उसमें 'मनुष्य' से भी आगे बढ़कर 'जीव' के नाते विचार किया है। तत्त्वज्ञान 'मानव' शब्द नहीं बोलता है। क्या केंचुआ या गधा प्राणी नहीं है? गीता ने तो कहा है, **'सर्वभूतहिते रताः'** यानी **'सर्वभूतहिते'** कहकर मनुष्य से भी आगे कहा है, परन्तु हम मनुष्य तक ही पहुँचेंगे तो भी अच्छा होगा, इसमें संदेह नहीं है।

मनुष्य 'मनुष्य' को नहीं मानता। वह दूसरे की स्थिति अथवा सम्बन्ध को मानता है। तुम दूसरे को नमस्कार करते हो तो वह उसकी स्थिति अथवा सम्बन्ध को नमस्कार करते हो, मनुष्य के नाते उसे नमस्कार नहीं करते। सम्बन्ध व स्थिति के कारण मनुष्य को पूज्य माना जाता है। व्यवहार में वह होना चाहिए, परन्तु मन्दिर में नहीं।

मनुष्य को 'मनुष्य' समझो। कोई तुच्छ नहीं है, कोई नीच नहीं है। भागवतकार ने मनुष्यदेह की श्रेष्ठता बार बार समझायी है। वैसे भगवान ने उद्धव को प्रथम कुछ समझाया होगा तो मनुष्यदेह का महत्त्व समझाया है। देह का मूल्य समझाया है। कोई कहेगा, हम तो देह का मूल्य मानते ही हैं, मुझे तो लगता है कि पुराने जमाने से भी आज देहभानता *(Body consciousness)* अधिक आ गयी है। हमें तनिक बुखार आया या जुकाम हुआ तो

तुरन्त डॉक्टर के पास दौड़ते हैं। आज शरीर को सँभालने का जितना प्रयत्न किया जाता है उतना किसी भी काल में नहीं हुआ है। तो क्या हम देह की श्रेष्ठता को नहीं मानते हैं?

वेदान्त में एक कथा है। एक गुरु ने अपने शिष्य को एक रत्न दिया और कहा कि बाजार में जाकर इसका 'मूल्य' आँककर आओ। देखें इसका कितना मूल्य है!

शिष्य प्रथम सब्जी मंडी में गया। उसने सब्जी वाले को वह रत्न दिखाया। सब्जी वाले ने कहा, 'मैं इस रत्न के बदले में तुम्हें दो किलो आलू दूँगा।' शिष्य ने रत्न वापस लिया और वह किराना दुकानदार के पास गया व उस रत्न का मूल्य पूछा। दूकानदार ने कहा, 'मैं इस रत्न के बदले में चावल के दो बोरे दूँगा। उसके बाद शिष्य एक सुनार की दुकान में गया। रत्न देखने पर सुनार ने कहा, मैं इस रत्न के एक हजार रूपये दूँगा। अन्त में शिष्य जौहरी के पास गया। उसे रत्न दिखाया तो जौहरी ने उसका मूल्य पाँच लाख रूपया बताया। रत्न का मूल्य तो सभी ने किया, परन्तु जौहरी, रत्नपारखी ने उसका योग्य मूल्य किया।

शरीर का मूल्य सभी को है। कोई उसका मूल्य दो किलो आलू की कीमत के जितना करता है तो कोई दो बोरे चावल जितना, तो कोई एक हजार रूपये कीमत करता है। एकाध जौहरी निकलता है जो उसका मूल्य पाँच लाख रूपये आँकता है।

शरीर को मूल्य आज भी है। लोग शरीर को ही सर्वस्व मानते हैं। शरीर को धोखा नहीं देना है, उसे सँभालना चाहिए। आज लोग डॉक्टर के पास जितनी अधिक संख्या में जाते हैं, उतने पुराने जमाने में वैद्य के पास नहीं जाते थे। आज तो घर-घर में सभी डॉक्टर बन गये हैं। सामान्य औषधियाँ तो सभी को मालूम हैं। यह क्या बिमारी हुई है? तो यह दवा ले लो! अर्थात् आज शरीर-सभानता बढ़ गयी है, परन्तु शरीर का मूल्य नहीं बढ़ा है। आज शरीर का मूल्य दो किलो आलू के मूल्य के बराबर हो गया है। विषयलोलुप व्यक्ति विषयों का उपभोग लेना है इसीलिए शरीर का मूल्य करता है। आज के जितना शरीर-सभानता पहले के जमाने में कभी बढ़ी होगी या नहीं इसमें संदेह ही है। सुबह उठने पर जुकाम हो गया, तुरन्त मनुष्य डॉक्टर के पास दौड़ता है। शरीर की जाँच कराता है। यह न कराने वाला कम से कम कोई भी नहीं होगा। शरीर का मूल्य अवश्य है, परन्तु दो किलो आलू के मूल्य के बराबर?

कुछ लोगों को अपने शरीर से परिवार का काम करना है, परन्तु भगवान का काम नहीं करना है। ये लोग शरीर का मूल्य एक बोरा चावल के बराबर करते हैं। दूसरे शास्त्री, पंडित, कथाकार वगैरह लोग कहते हैं कि शरीर बहुत मूल्यवान है- **'जंतूनां नरजन्म दुर्लभमत:'** वे शरीर का मूल्य एक हजार रूपये के बराबर करते हैं। तत्त्वज्ञ अथवा ज्ञानी भक्त शरीर का मूल्य पाँच लाख रूपये जितना आँकते हैं। क्यों? विश्व निर्माण करने वाले, विश्व को चलाने वाले जो भगवान हैं उनको पहचानना हो, जानना हो, प्राप्त करना हो तो वह मनुष्य-शरीर में ही शक्य है। वैसी अनुभूति वे लेते हैं। उन्हें शरीर छोड़ने की इच्छा

नहीं है। कितने ही लोग शरीर को माया समझते हैं, तुच्छ मानते हैं, 'दो दिन का' समझते हैं। उनको लगता है कि यह शरीर नश्वर है इसलिए उसके प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए। तो क्या महापुरुषों को शरीर की आसक्ति नहीं थी? अवश्य थी। कारण शरीर के माध्यम से ही वे रात-दिन भगवान की अनुभूति लेते थे। इसलिए शरीर सर्वश्रेष्ठ है ऐसा भगवान ने उद्धव को समझाया है।

शरीर सर्वश्रेष्ठ क्यों है? सृष्टि का निर्माण करके भगवान स्वयं छिपे ही रहे हैं। कल यदि भगवान किसी स्थान में आयेंगे तो भगवान की क्या अवस्था होगी? बहुत बुरी अवस्था होगी। इसलिए भगवान गुप्त रहकर ही घूमेंगे। उन्हें ढूँढना ही पड़ेगा। भागवतकार ने स्पष्ट भाषा में कृष्ण भगवान के मुँह में ऐसा शब्द रखा है कि एक 'शरीर' ही ऐसा है जो अनुमानत: प्रभु का अस्तित्त्व मानता है। 'मुझे भगवान दिखा दो' ऐसा बोलने वाले जितने बेवकूफ हैं उतने बेवकूफ आज तक सृष्टि में पैदा नहीं हुए। ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाणवादी को पशु कहा जाता है। **'पश्यति इति पशुः'** जितना इंद्रियों से पता चलता है उतना ही मानने वाले जो लोग हैं वे पशु हैं। पशु का अर्थ हम 'जानवर' मानते हैं। इसीलिए तो 'पशुपति' है। 'पशुपतिनाथ' शब्द किसलिए है? क्या गधे के नाथ हैं वे! वे इन्द्रियों को मालूम होंगे, प्रत्यक्ष दिखायी देंगे तभी मानेंगे, अन्यथा नहीं मानेंगे ऐसा बोलनेवाले लोग प्रत्यक्ष प्रमाणवादी हैं। वे सब पशु हैं।

मनुष्य के जीवन में 'अनुमान' यह भगवान की देन है। अनुमान और चिह्न। न्यायशास्त्र का एक सामान्य उदाहरण है- **'पर्वतो वह्निमान् धूमः'** पर्वत पर धुआँ दिखायी देता है, अत: वहाँ अग्नि होनी चाहिए। धुआँ दिखता है इसका अर्थ जो धुआँ निर्माण करता है वह अग्नि वहाँ होना ही चाहिए। यह अनुमान है। अग्नि दिखायी नहीं देता है परन्तु वह है यह मानने की बुद्धि की तैयारी होती है, उसे चिह्नज्ञान अथवा अनुमान ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान पशु के पास नहीं होता इसलिए पशु नहीं मानता। मनुष्य-शरीर में यह शक्ति है कि चिह्न कैसे निर्माण हुआ उसका ज्ञान कर लेना। पशु-गधा, भैंसा ऐसा सोच ही नहीं सकते। मनुष्य सोच सकता है।

यह सृष्टि निर्माण हुई। उसमें मनुष्य को अपना परावलंबित्व का अनुभव होता है, वैसे ही अपने पर कोई नितान्त प्रेम करता है इसका भी अनुभव होता है। यह अनुभ्व लेकर वह अनुमान से सिद्ध करता है कि उसके पीछे कोई शक्ति है, वही भगवान है। भगवान का अस्तित्त्व बुद्धि से ही सिद्ध होना चाहिए। कोई जादूगर भगवान को प्रत्यक्ष दिखाता होगा तो भी हमें वह भगवान नहीं देखना है। यह कहने की हिम्मत होनी चाहिए। ऐसी हिम्मत जिसमें है वही बुद्धिमान मनुष्य है।

'भगवान दिखाओ तो हम मानेंगे' ऐसा कहनेवाले निर्बुद्ध पशु हैं। माँ का वात्सल्य कौन सी इन्द्रिय से दिखायी देता है? इन्द्रियों से प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता इसलिए क्या माँ में वात्सल्य नहीं है? मनुष्य में स्थित प्रेम का आकर्षण कौनसी प्रयोगशाला में देखने को मिलता है? वह देखने को नहीं मिलता है इसलिए क्या मनुष्य में प्रेम का आकर्षण

नहीं है? वाहियात और पागल लोगों ने, 'प्रत्यक्ष भगवान दिखाओ तो मानेंगे' ऐसा बोलकर अपना और विश्व का सत्यानाश किया है।

मनुष्य-शरीर का महत्त्व समझाते समय भगवान ने समझाया कि चिह्न अथवा अनुमान से प्रभु का अस्तित्त्व मान सकते हैं। किसी समर्थ निर्माता का अस्तित्त्व मान सकते हैं। यह ज्ञान भैंसे या घोड़े को नहीं होता। भैंसा, घोड़ा, गधा-ये पशु कभी विचार ही नहीं करते कि उनको कौन उठाता है? हमारे भी मस्तिष्क में यह प्रश्न नहीं आता है। भूख कैसे लगती है यह घोड़ा कभी नहीं सोचता। भूख लगी कि घास खाना इतना ही उसे मालूम है। जो विचार ही नहीं करता है वह पशु है।

मनुष्य का जीवन अनुमान से चलता है। वह सोचता है कि 'मैं चलता हूँ' इस पर से सिद्ध होता है कि भगवान हैं। मैं पैदा हुआ इससे सिद्ध होता है कि भगवान हैं। मैं आधे फीट का था अब छः फीट की लंबाई का हो गया हूँ, इससे सिद्ध होता है कि भगवान हैं। एक छोटा सा पौधा लगाते समय एक फीट का होता है वह बाद में दस-पन्द्रह फीट का कैसे होता है? उसमें जो गति है वह 'गति' कौन लाया? वह 'गति' ही भगवान है। **'गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि'**- यह जो सोचना है, अनुमान है, वह स्पष्ट भाषा में लिखा है- **चिह्नतः अनुमानतः** ईश्वर का अस्तित्त्व मानने की शक्ति मानव में है इसलिए मानवदेह श्रेष्ठ है।

एक बार पता चला कि इस सृष्टि के पीछे कोई शक्ति है, फिर वह शक्ति कैसी है, क्या है, किधर मिलेगी, कैसे मिलेगी आदि प्रश्न खड़े होते हैं। ये प्रश्न केवल मनुष्य के ही दिमाग में निर्माण होते हैं, इसलिए मनुष्यदेह श्रेष्ठ है। मेरे शरीर में चलने वाली चयापचयक्रिया मैं नहीं चलाता हूँ, पड़ोसी भी नहीं चलाता है, फिर भी वह कैसे चलती है?' यह प्रश्न जिसके दिमाग में नहीं आता वह मनुष्य ही नहीं है। मनुष्य में यह प्रथम बात होनी चाहिए ऐसा भागवतकार का कहना है। 'अपने परावलंबित्व की तथा मुझ पर निरन्तर प्रेम की वर्षा हो रही है' यह समझ जिसे है वह मानव है। यह होने के बाद 'भाव्य' यानी ध्येय *(Ideal)* निर्माण होता है। अनुमान से जिस शक्ति का पता चलता है वह शक्ति कहाँ है, कैसी है? उसके पास कैसे पहुँचना ऐसा भाव्य-ध्येय जिसके जीवन में आता है वह मनुष्य है। भगवान कब मिलेंगे यह मालूम नहीं! फिर भी **'बहूनां जन्मनामन्ते'** वे मिलेंगे ही, तब तक प्रयत्न करूँगा ही' यह ध्येय जिसने जीवन में खड़ा किया वह मनुष्य है। मुझे बनानेवाला, मेरा जीवन चलानेवाला कोई है, यह समझ जिसमें आयी है वह मनुष्य है। इसलिए मनुष्यदेह श्रेष्ठ है।

मनुष्यदेह की महत्ता समझाकर भगवान ने कहा कि 'सर्वग्राहक बुद्धि, पराकाष्ठा की श्रद्धा व असन्तुष्ट रहनेवाली जिज्ञासा, ये तीन बातें जिसके पास हैं वह साधक है। हमारी बुद्धि व्यवहार करती है, व्यापार करती है, परन्तु व्यवहारातीत जो बातें हैं वे उठाने की शक्ति उसमें नहीं है, उठाने की इच्छा नहीं है, समझ भी नहीं है उसके लिए भीतर कुछ छटपटाहट भी नहीं होती है। ऐसी बुद्धि सर्वग्राहक बुद्धि' नहीं है। सर्वग्राहक बुद्धि व्यवहार

में भी घूमेगी और जो व्यवहारातीत हैं उनके पास जाने की भी कोशिश करेगी। ऐसी बुद्धि को सर्वग्राहक बुद्धि कहते हैं।

भगवान ने उद्धव के माध्यम से सभी लोगों से कहा है कि प्रथम मानव बनो और कुछ भाव्य (ध्येय) निर्माण करो, अपनी बुद्धि को सर्वग्राहक बनाओ।

पराकाष्ठा की श्रद्धा- भगवान श्रद्धा देते हैं। वह तो हम लेकर ही आये हैं। यह श्रद्धा बढ़ानी चाहिए, दृढ़ करनी चाहिए, स्थिर करनी चाहिए। इस प्रकार की पराकाष्ठा की श्रद्धा जीवन में होनी चाहिए।

तीसरी बात- असन्तुष्ट रहनेवाली जिज्ञासा होनी चाहिए। किसी भी दिन हमारी जिज्ञासा पूर्ण नहीं होनी चाहिए, वह नित्य असन्तुष्ट रहनी चाहिए। जिस दिन मनुष्य की जिज्ञासा सन्तुष्ट हो जायेगी उस दिन मानव का मानवत्व समाप्त हो जायेगा।

ये तीन बातें जीवन में आवश्यक हैं ऐसा उद्धव को भगवान ने कहा और यह भी कहा कि मनुष्य मात्र को जाकर कहो कि मनुष्य का देह सर्वश्रेष्ठ है, चिह्न और अनुमान से वह निर्माता की कल्पना कर सकता है। वह निर्माता कहाँ है, कैसा है आदि प्रश्न उसके मस्तिष्क में निर्माण हुए कि उसका भाव्य (ध्येय) निश्चित होगा। ध्येय निश्चित हो जाने पर उपरोक्त तीनों बातें वह जीवन में लाने का प्रयत्न करेगा। इन तीन बातों के जीवन में आने पर उसे अपने जीवन में कुछ गुण लाने पड़ेंगे। कौन से गुण लाने होंगे यह भगवान स्वयं नहीं कहते हैं। उसी कारण भगवान ने सबके लिए एक मार्ग दिखाया है। भगवान ऐसा नहीं कहते कि 'यह गुण लाओ।' सीधा ऐसा कहने का कुछ परिणाम नहीं होता। जिनकी शैक्षणिक दीक्षा पूर्ण हुई होगी जो शिक्षाशास्त्री *(Educationist)* को समझाने के लिए यह मार्ग दिखाया है। वास्तव में मनुष्य मात्र का जीवन कितना भव्य होना चाहिए, उसके पास कौन से गुण होने चाहिए, यह भगवान स्वयं नहीं कहते हैं। भगवान ने एक कहानी खड़ी की है।

भगवान ने उद्धव से कहा, एक दिन, हमारे परिवार-प्रमुख यदु को एक अवधूत मिले। वह यदु, जिससे हमारा यह यादव वंश शुरू हुआ। उस यदु ने अवधूत से प्रश्न पूछा, 'इस भयानक झंझावात से भरे संसार में रहते हुए आपकी बुद्धिमत्ता, कर्मनिपुणता, दक्षता और तेजस्विता कैसे टिकती हैं? काम, क्रोध में निरन्तर जलती रहने वाली इस दुनिया में रहकर आप समाधानी, तृप्त, संतुष्ट और प्रसन्न कैसे रहते हैं?' देखिये! कहने की कैसी पद्धति है! ऐसा कहने से कोई नहीं मानता। ऐसा-ऐसा हुआ और ऐसी-ऐसी घटना हुई यह मैं बताता हूँ।' इसमें कृष्ण की जो बौद्धिक नम्रता है, वह बहुत जबरदस्त है। उन्होंने कर्मयोग कहते हुए भी गीता में उसकी परम्परा दिखायी है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत।।४.१।।

(मैंने यह अविनाशी योग सूर्य से कहा था (और) सर्य ने (अपने पुत्र) मनु से कहा (और) मनु ने (अपने पुत्र) राजा इक्ष्वाकु से कहा।)

वास्तव में सभी ज्ञान इनका ही है। उनको कहने की क्या आवश्यकता है? परन्तु वे शिक्षाशास्त्रियों को समझाते हैं कि तुम विद्यार्थियों को 'अमुक गुण उठाओ' ऐसा कहोगे तो वे नहीं मानेंगे। परन्तु उनको यदि प्रह्लाद की, ध्रुव की कहानी कहोगे तो सामने बैठा हुआ विद्यार्थी उसे उठायेगा। उसे लगेगा कि 'मैं भी प्रह्लाद के जैसा बनूँगा, मैं भी ध्रुव बनूँगा।' ऐसा सुनकर व्यक्ति जो निश्चित करता है उसे 'संस्कार' कहते हैं। 'तू ऐसा बन' ऐसा जो कहा जाता है, विद्यार्थी पर लादा जाता है उसे 'शिक्षा' कहते हैं। शिक्षा भिन्न है और संस्कार भिन्न हैं। संस्कार स्वयं अपने आप उठाये जाते हैं। हमारे यहाँ जो पुराण हुए उसका कारण यही है। कहानी खड़ी कर देते हैं और उसके द्वारा संस्कार कराते हैं।

वैसी एक कहानी भगवान ने यदु की खड़ी की। अवधूत को यदु ने प्रश्न पूछा। अवधूत ने जो उत्तर दिया वह भगवान ने उद्धव से कहा और उद्धव हम से कहता है, ऐसी वह परंपरा है। अवधूत ने यदु को जो कहा है, उसे **अवधूत गीता** कहते हैं। उद्धव गीता पूर्ण होने के बाद अवधूत गीता प्रारंभ होती हैं।

अवधूत ने कहा, 'मेरा संपूर्ण जीवन बदल गया, मैं अच्छा बन गया इसका कारण मैंने चौबीस गुरु बनाये। एक नहीं, चौबीस!

मेरा सबसे प्रथम गुरू कौन? उठने के बाद प्रथम दिखायी देती है वह पृथ्वी मेरा प्रथम गुरु है। कौनसा गुण उठाया है गुरु के पास से? पंचमहाभूत हैरान करते हैं फिर भी जो क्षमावृत्ति नहीं छोड़ती ऐसी पृथ्वी मुझे गुरु के जैसी लगती है। तनिक धूप में हम बाहर जाते हैं तो कितने परेशान होते हैं तो पृथ्वी कितनी जलती होगी? परन्तु वह क्षमाशील है। इसीलिए संस्कृत वाङमय में पृथ्वी का दूसरा नाम है **'सर्वसहा।'** पृथ्वी सब सहन करती है।

वैसे ही पृथ्वी का ही एक अंग पर्वत हैं जिनसे नदियाँ निकलती हैं। पर्वत और वृक्ष दोनों परोपकारी हैं। उनसे मैंने परोपकार का गुण सीखा। दूसरों के पास जो गुण हैं उनको मैंने लिया है, इससे भयानक झंझावातं से भरी हुई पृथ्वी में, संसार में मैं समाधानी और तृप्त रह सकता हूँ।

पृथ्वी सर्वसहा है, क्षमाशील है। उन्मत्त मानव पृथ्वी पर विचरण करता है, उसमें से अनाज लेता है, उसके उदर से जल निकालकर पीता है, फिर भी उसे नमस्कार करने जितनी कृतज्ञता मनुष्य में नहीं है। ऐसा मनुष्य साधक नहीं बन सकता। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने सुबह उठने पर पृथ्वी पर पैर रखते समय कहा है-

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे।।

'हे पृथ्वी माँ! तू मुझे सँभालने वाली है, तुझ पर मैंने अपना घर निर्माण किया है, तुझ पर ही मैं चलता हूँ, तुझ में से ही अन्न उपजाता हूँ, तेरे ही उदर में से जल निकालकर मैं पीता हूँ।' सबसे अधिक सम्बन्ध मेरा तेरे ही साथ है, इसलिए मैं तेरी पूजा करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। माँ! मैं प्रतिदिन उन्मत्त बनकर तुझे रौंदता हुआ चलता हूँ इसलिए मुझे क्षमा कर!' ऐसा कहनेवाला आज मूर्ख *(Idiot)* माना जाता है, बेवकूफ समझा जाता है। ऐसी अनेक उपाधियाँ उसे मिलती हैं जो कोई विश्वविद्यालय नहीं देता!

ब्राह्मण भगवान की मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा करते हैं तब प्रथम पृथ्वी की पूजा करते हैं परन्तु पूजा करनेवाले को मालूम नहीं पड़ता। ब्राह्मण (पुरोहित) कहता है, 'चंदन अर्पण करो' यह चन्दन अर्पण करता है। 'फूल अक्षत अर्पण करो' यह वैसा करता है। ब्राह्मण मन्त्र क्यों बोल रहा है इसका यजमान को कुछ ज्ञान नहीं रहता। पृथ्वी की पूजा के पीछे एक श्रेष्ठतम भावना है। पृथ्वी क्षमाशील है और उसके अंगभूत पर्वतों में से निकलनेवाली नदियाँ तथा वृक्ष परोपकारी हैं। अवधूत कहते हैं कि क्षमाशीलता और परोपकार ये दो बातें मैंने पृथ्वी से ग्रहण किये। परोपकार करना चाहिए, परन्तु परोपकार कैसा करना चाहिए? 'मैं परोपकार कर रहा हूँ' ऐसा मनुष्य को नहीं लगना चाहिए। उसीको परोपकार कहते हैं। उसी प्रकार, मैं किसी का उपकार ले रहा हूँ, यह जिस पर उपकार कर रहे हैं उसे नहीं मालूम होना चाहिए। व्यक्ति की आत्मा का हनन करके उस पर उपकार नहीं करना है। वैसा परोपकार व्यर्थ है।

हमारे अमृतालय की स्थापना उसी कारण है। हम गाँव के सभी गरीबों को खिलायेंगे, परन्तु खिलानेवाले भगवान हैं, हम नहीं हैं। उसमें किसी सेठ का पैसा नहीं है। ऐसी वृत्ति निर्माण करने के लिए तो मन्दिर बनाते हैं।

परोपकार कैसे करना है इसकी भी समझ होनी चाहिए। वृक्ष तुम पर उपकार करते हैं क्या ऐसा तुम्हें लगता है? तुम एक पत्थर फेंककर आम का फल गिराते हो और खाते हो, परन्तु यह विचार नहीं करते कि इस आम को किसने बनाया?' वृक्ष के शरीर में से जीवनद्रव्य निकाल देने के बाद आम बना है, परन्तु यह सोचने की हमें आवश्यकता नहीं लगती, और सोचकर आम को नमस्कार करके आम खानेवाले को हम मूर्ख, पागल कहते हैं, इतना हमारा सुधार हो गया है। हम इतने मूर्ख नहीं हैं कि आम को देखकर वृक्ष को नमस्कार करेंगे। किसी ने आम को जीवन दिया होगा, परन्तु मैंने तो पैसे देकर आम खरीदा है।

वृक्ष परोपकार करता है, परन्तु उसे स्वयं ऐसा नहीं लगता कि वह परोपकार कर रहा है। हम पर वह उपकार करता है ऐसा वह दिखाता भी नहीं है। 'परोपकार लगना नहीं है, लगने देना नहीं है' यह अजब बात है। इसलिए 'मैं उपकार करता हूँ' यह नहीं उठाना है। तो? परोपकार उपासना के रूप में उठाना है तभी व्यक्ति का विकास होता है, अन्यथा नहीं होता। आपने किसी के सामने थोड़े पैसे फेंक दिये यानी उपकार किया, ऐसा नहीं है। उसमें आपका विकास नहीं है। परोपकार में 'दूसरे' का काम नहीं, दूसरे के लिए काम,

ऐसा भी नहीं, अपितु अपने विकास के लिए काम- ऐसी उत्तरोत्तर श्रेणी है। जिस दिन यह साध्य होगा वह दिन श्रेष्ठ है, वह दिन आध्यात्मिक होगा। जिस दिन दया और उपकार शब्द हमारे जीवन में से चले जायेंगे। कौन, किस पर दया करता है? तुम अपने लड़कों को फीस देते हो, क्या वह दया है? क्या वह उपकार है? नहीं।

दया और उपकार ये शब्द समाज में से निकाल दिये जाने चाहिए। आज निकल गये हैं इस दृष्टि से मैं नहीं कहता हूँ। आज तो निकल गये हैं परन्तु वह श्रेष्ठ नहीं हैं। 'दया और उपकार समाज में से हटा दो' ऐसा भौतिक दृष्टि से भी क्यों न हो, परन्तु किसी ने उद्घोष किया होगा तो प्रथम मार्क्स ने किया है। कार्ल मार्क्स के लिए मैं नतमस्तक होता हूँ इसका कारण यह है। मार्क्स को दया शब्द अच्छा नहीं लगा। एक व्यक्ति अपने ही जैसे व्यक्ति पर दया करता है? यह अच्छा नहीं लगता। परन्तु कार्ल मार्क्स का दया शब्द निकालने का मार्ग बिल्कुल गलत था, भौतिक था, परन्तु उसकी जलन सच्ची थी। रास्ता ठीक नहीं था। ऋषियों की जलन सच्ची थी और मार्ग भी सच्चा था। इसी कारण ऋषि और मार्क्स में फर्क़ है। परन्तु दया और परोपकार ये शब्द निकाल दिये जाने चाहिए। मैं किसी पर दया नहीं करता हूँ और मैं किसी का 'दयापात्र' नहीं हूँ।

अद्वैतवाद और भगवद्भक्ति करनेवाले लोग जब दया और परोपकार शब्द की महत्ता नहीं समझते हैं, तो दूसरा कौन समझेगा? इस दृष्टि से, अवधूत कहते हैं कि मैंने पर्वत, नदी, वृक्ष इनसे परोपकार सीखा। परोपकार यानी 'दूसरे को देना' नहीं सीखा, परन्तु दूसरे को 'कैसे देना' यह सीखा! दूसरे को देना यह अलग शिक्षा है और कैसे देना यह अलग शिक्षा है।

गीता में 'कैसे' पर जोर दिया गया है। गीता ने ठोस रूप में कहा है। गीता, 'कौनसा कर्म करो' यह नहीं कहती। कर्म 'कैसे' करना यह कहती है। वैसे 'परोपकार कैसा करना चाहिए' यह शिक्षा मुझे उनसे मिली है, जिससे मेरा आत्मविकास हुआ। ऐसा अवधूत कहते हैं

२) **वायु** — दूसरा गुरु है **वायु**। भीतर रहनेवाली प्राणवायु और बाहर विचरण करनेवाली वायु। भीतर की प्राणवायु, प्राणरक्षा के लिए अत्यावश्यक वायु लेती है, वह संग्रह नहीं करती और नहीं मिलेगी यह भय भी उसे नहीं है। हम जल का संग्रह करते हैं परन्तु वायु का नहीं करते। संग्रह न करना बहुत बड़ा विकास *(Development)* है और वह मैंने वायु से लिया है ऐसा अवधूत कहते हैं।

बाहर विचरण करने वाली वायु फूल की सुगंध लेकर आती है वैसे ही नाली की दुर्गन्ध भी लेकर आती है। सुगंध और दुर्गन्ध दोनों को आश्रय देकर भी जो अलिप्त रहती है उसका नाम है वायु! अपरिग्रह और निर्लेपता ये दो बातें मैंने वायु से ग्रहण की हैं इन गुणों से जीवन सुन्दर और श्रेष्ठ बनता है। जिसे भगवान तक पहुँचना है उसे निर्लेप रहना चाहिए। हम क्या करते हैं? हम रूप और आकार को पकड़कर बैठते हैं। जो पकड़ते है उसे छोड़ते ही नहीं हैं। वायु से निर्लेपता सीखनी है।

इस सृष्टि में, सुबह उठने पर लगता है, 'भगवान! आपने मुझे क्यों उठाया? जब मैं नींद में था तब कितना अच्छा था? **'न मे मृत्युशंका न मे जातिभेद... सदा मे समत्वं न मुक्तिर्न बन्धः.. चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।'** जिसमें बंधन का भय नहीं और मुक्ति की अभिलाषा नहीं है ऐसी मेरी स्थिति नींद में थी। उसमें से उठाकर भगवान! आपने कूड़े में क्यों डाल दिया? उठते ही दैनिक व्यवहार में झगड़ा होने लगता है, फिर नफ़रत पैदा होती है। यह सब कूड़ा है। स्वच्छ, निर्दोष स्थिति में से उठाकर आपने मुझे इस कूड़े में क्यों डाल दिया भगवान!

भगवान कहते हैं, 'तुझे कूड़े में घूमना तो पड़ेगा ही। वायु जिस प्रकार दुर्गन्ध व सुगंध लाती है फिर भी निर्लेप रहती है, वैसी निर्लेप रहने की शिक्षा लेकर जागृतावस्था में विचरण करो।' दूसरी बात, वायु दूसरे की सेवा करती है फिर भी गुप्त रहकर करती है। वह अपनी सेवा का विज्ञापन नहीं करती। वायु से यह गुण भी लेना चाहिए।

कितने ही लोग प्रातः वायुसेवन के लिए जाते हैं। अंग्रेजी में उसे *Morning walk, evening walk* कहते हैं। तो क्या उनके घर में हवा नहीं थी कि वे हवा खाने के लिए चल पड़े? हवा थी ही। वायु गुप्त रहकर सेवा करती है। अवधूत कहते हैं कि यह गुण जीवनविकास में उपयोगी है और वह मैंने वायु से सीखा है।

मानवजीवन उन्नत कैसे होगा, उसमें क्या क्या लाना पड़ेगा? वह स्वयं भगवान कहते हैं और वह भी जिसे अपरोक्षानुभूति हुई है ऐसे उद्धव से कहते हैं। 'मैं कहता हूँ' ऐसा भी नहीं, यदु को अवधूत ने जो कहा वह मैं कहता हूँ। हम तो नयी दिशा, नया मार्ग... *New way, New approach* आदि शब्दों को प्रयुक्त करते हैं। हमारा जीवन सब नया है, हम पुराना मानते ही नहीं। इतना ही हममें और प्रभु में फर्क़ है। हम दूसरे का विचार उठाते हैं। वह अपना है ऐसा कहते जाते हैं। विचार अपने होकर भी 'मैंने वे दूसरे से लिये हैं' ऐसा भगवान कहते हैं। अवधूत गीता बहुत सुंदर है। उसे हम नमस्कार करते हैं। जीवन विकास के लिए कौनसी बातें अत्यावश्यक हैं यह स्वयं भगवान कह रहे हैं।

कृष्ण भगवान सामान्य लोगों को जीवन की शिक्षा देने के लिए आया हुआ अवतार हैं। उन्होंने प्रथम नरदेह का महत्त्व समझाया कि यह फिर से कभी नहीं मिलेगा। ऐसा नरदेह मिलने पर भी मनुष्य यदि इन्द्रिय-सुख के ही पीछे दौड़ता रहेगा, इन्द्रिय सुख को ही सर्वस्व समझकर उसके पीछे लगा रहेगा तो वह पशु-जीवन है। ऐसा मनुष्य नरदेह को बदनाम करता है। विषयों का उपभोग लेना है, परन्तु उन्हींको सर्वस्व समझने वाले लोग पशु हैं।

नरदेह में यदि साधक बनना होगा तो क्या करना पड़ेगा? इस सम्बन्ध में अवधूत ने जो कहा वह भगवान स्वयं कहते हैं। ऋषि, अवतार आदि मानवी देह लेकर आये और उन्होंने हमारा जीवन समृद्ध बनाया है। मानवेतर देवताओं ने भी हमारे जीवन पर अपार कृपा की वर्षा की है इसमें सन्देह नहीं है।

सभी सजीव -निर्जीव सृष्टि पर मानवी जीवन पला-पोषा है। हमारी आदि वयोवृद्ध शिक्षिका यदि कोई होगी तो वह प्रकृति है। ऋषियों ने उससे ही कुछ सीखा है। पर्वत से स्थैर्य सीखा, पुष्पों से सुगंध सीखी। सभी प्रकृति के पास से ही सीख ली है।

नील-गगन (आकाश) देखकर जीवन में विविध कल्पनायें खड़ी होती हैं। चन्द्र, सूर्य अनगिनत तारकाओं ने हमारे जीवन पर परिणाम किया है। बादलों, सुबह-शाम की सन्ध्या आदि को देखकर हमारा जीवन बदल जाता है। वर्षा ने भी उसमें अपनी अच्छी भूमिका अदा की है। मनु महाराज ने तो कहा है कि पहले वर्षा में बच्चों को नाचने दो, भीगने दो। एकाध दिन न्यूमोनिया भी हो जाय तो होने दो, परन्तु उनको प्रकृति का आनन्द लूटने दो।

गरजता हुआ सागर है। जिनको सागर के किनारे पर रहने का मौका मिला है वे लोग अलौकिक हैं। दरियालाल के उपासकों की संख्या कितनी बड़ी है, परन्तु 'स्वयं दरियालाल के उपासक क्यों हैं' इस बात को वे जानते ही नहीं हैं। उछलता हुआ सागर, कलकल करती हुई बहती नदियाँ, ऊँचे पहाड़, क्षमाशील धरित्री, हरे भरे वृक्ष, सुगंध से परिपूर्ण पुष्प--- इन सभी से जीवन संपन्न हुआ है इसमें सन्देह नहीं है।

३) **आकाश**--— तीसरा गुरु है आकाश। आकाश प्रकृति द्वारा मानव को दिया हुआ उपहार है। आकाश कौनसा है, कैसा है, यह मैं वैज्ञानिक *(Scientific)* दृष्टि से नहीं कहता हूँ, क्योंकि आकाश सभी जगहों में है। जड़ पदार्थ में खोखलापन होता है *(Matter is porous)*। जहाँ-जहाँ खोखलापन है वहाँ आकाश है। वह प्रकृति की देन है। वही हमारी प्रयोगशाला है, आनंदशाला है तथा आरोग्यशाला है। आकाश में नीचे खुले बैठ जायेंगे तो जीवन समृद्ध होगा, सम्पन्न होगा। आकाश को देखते रहेंगे, सितारों को देखते रहेंगे, तो सारी अप्रसन्नता दूर हो जायेगी, पता भी नहीं चलेगा कि कैसे चली गयी।

आकाश एक आरोग्यशाला है। प्रकृति का महान् परिणाम हम पर, हमारे विचारों पर तथा हमारे जीवन पर होता है। हमारी सभ्यता प्रकृति से आयी है। कुछ देशों में सूर्य नहीं दिखायी देता इसलिए सुबह सुप्रभातम् *(Good morning)* बोलने की इच्छा होती है। यह प्रकृति का सभ्यता पर हुआ परिणाम है। उन लोगों को कभी-कभी पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक सूर्य के दर्शन नहीं होते। मैं उधर जाता हूँ तब घबड़ा जाता हूँ। सूर्य ही नहीं है तो क्या करना? बाहर हिमवर्षा होती है तब घर में कोई आये तो उसका स्वागत करना चाहिए। उसे ऊष्माभरा स्वागत *(Warm Reception)* कहते हैं। इसीलिए हम भी ऊष्माभरा स्वागत कहने लगे। यह प्रकृति का भाषा पर हुआ परिणाम है नहीं तो स्वागत में ऊष्मा होती ही है। बिना ऊष्मा के स्वागत को अर्थ ही नहीं है। हम उनकी नकल करके बोलते हैं। मुझे इतना ही कहना है कि हमारी सभ्यता प्रकृति पर आधारित है। जहाँ जिस प्रकार की अलग-अलग प्रकृति होगी वहाँ अलग-अलग सभ्यता खड़ी हो जाती है। वैसी हमारी सभ्यता है। हमारे मन, विचार, जीवन पर प्रकृति का परिणाम होता है। सभी प्रकृति के तत्त्वों पर मेरा प्रेम

है,' परन्तु आकाश पर मेरा अधिक प्रेम है, आकाश मुझे अत्यधिक आकर्षित करता है। बचपन से ही मैं आकाश का उपासक रहा हूँ।

रात्रि में आकाश की ओर देखेंगे तो नींद चली जायेगी। आकाश का सबसे अधिक परिणाम मनुष्य के मन पर उसकी व्यापकता के कारण होता है। मुझे साधक बनना होगा तो प्रकृतितत्त्व के पास से आकाश की व्यापकता को उठाना पड़ेगा।

संस्कृत भाषा सम्पन्न भाषा है। उसमें एक-एक नाम के लिए विविध शब्द हैं। संस्कृत के जैसी दूसरी कोई सम्पन्न *(Rich)* भाषा विश्व में आज तक नहीं हुई है। हम गरीब होने से सम्पन्न भाषा को नहीं उठाते। संस्कृत में एक शब्द के लिए बीस-बीस प्रति शब्द हैं। संस्कृत भाषा ने 'हास्य' के विविध प्रकार करके उसके विविध प्रकार के नाम रखे हैं। अंग्रेजी में 'हास्य' के लिए *Smile, laugh* जैसे एक दो ही शब्द हैं। संस्कृत में हास्य के जितने प्रकार हैं उन सबके लिए भिन्न-भिन्न नाम हैं। रमणी तथा वात्सल्यपूर्ण हास्य के लिए भिन्न-भिन्न शब्द हैं।

वैसे ही आकाश के लिए संस्कृत में भिन्न-भिन्न नाम हैं उसी में से आकाश का एक नाम अनन्त है। जिसका अन्त नहीं है वह अनन्त! वह व्यापकता दिखाता है। आकाश की व्यापकता मनुष्य को आकर्षित करती है। आकाश नजदीक दिखायी देता है परन्तु वह बहुत दूर है।

हम भगवान का दर्शन करते हैं, भगवान हमारे पास हैं ऐसा भी लगता है, परन्तु भगवान बहुत दूर हैं। गीता में भगवान ने कहा है, **'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।'** भगवान को पाना सहज लगता है, परन्तु भगवान से मिलना बहुत दूर है। आँखों से भाव के आँसू गिरने लगते हैं। लोग अपने को भक्त कहने लगते हैं। उनको लगता है कि इनको भगवान मिल गये हैं।

कितने ही लोग, "हमें भगवान मिल गये हैं" ऐसा बोलते हैं। इतना ही नहीं, भगवान ही बन बैठे हुए कितने ही लोग हैं। भगवान मिलना क्या इतना सहज-आसान है? भगवान की आरती गाते हुए किसी की आँखों से पानी गिरने लगा कि लोगों को लगता है कि उनको भगवान मिल गये हैं, उनका बेड़ा पार हो गया है। परन्तु भगवान बहुत दूर हैं। भगवान प्रत्यक्ष सामने आकर एकाध व्यक्ति से बोलने लगे तो भी वे दूर हैं। नामदेव के प्रसंग से यही सिद्ध होता है। भगवान ने गीता में स्पष्ट भाषा में कहा है-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।७-३।।

भगवान को समग्र रीति से जानना अलग बात है। आकाश समझाता है कि ध्येय दूर है। तुम जितना ऊपर जाओगे उतना आकाश दूर ही लगेगा। भगवान को समग्र रीति से

जानना ध्येय है। सगुणता आयी कि उसके पीछे सब आ जाता है। भगवान को भी समग्रता आ जाती है। समग्रता से भगवान को जानने की सिद्धि बहुत दूर है।

हमारा ध्येय कभी पूर्ण नहीं होता। सिद्धि आयी कि असिद्धि आती है। सिद्धि-असिद्धि की जिसमें रुकावट नहीं है, जो बढ़ता ही रहता है उसीको ध्येय कहते हैं। भगवद्प्राप्ति का ध्येय ऐसा व्यापक होना चाहिए। आम के वृक्ष पर चढ़कर आकाश को स्पर्श करूँगा, ऐसा कहना बालिशता है। वैसा ही आध्यात्मिक बनने में बचपना भी होता है। दादी माँ जैसे वेद कहते हैं, 'बेटा! भगवान बहुत दूर हैं। उनके पास पहुँचने के लिए अनेक परीक्षायें देनी होंगी। एक जन्म में भगवान पैसा देंगे, दूसरे जन्म में अधिकार देंगे, तीसरे जन्म में विद्या देंगे, चौथे जन्म में दरिद्रता देंगे। एकाध जन्म में सत्ता, सम्पत्ति और विद्या सभी देंगे। इन सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना पड़ेगा। गीता में कहा है कि अनेक जन्मों के बाद ज्ञानवान मुझे प्राप्त करता है। आकाश जैसी व्यापक ध्येयदृष्टि होनी चाहिए। भगवान को मिलने के लिए यही भाव होना चाहिए।

आकाश विश्वमंदिर का छत है। उस छत में सूर्य-चन्द्ररूपी दीपक लटकाये हैं ऐसा लगता है। इतना ही नहीं, संपूर्ण विश्व भगवान ने निर्माण किया है और उसे आकाशरूपी चद्दर से ढँक दिया है। आकाश को संस्कृत में 'अम्बर' कहते हैं। अम्बर यानी वस्त्र! आकाश विश्व पर भगवान द्वारा आच्छादित वस्त्र है, वह प्रभु की कृपा का वस्त्र है।

आकाश सबको पेट में रखता है। मुझे यदि आगे बढ़ना हो तो सब पेट में रखना पड़ेगा। किसी को बदलना होगा तो उसे ढँकना पड़ेगा। इतना ही नहीं, दूसरे को ऊष्मा देनी पड़ेगी और दूसरों से ऊष्मा लेनी पड़ेगी। आकाश व्यापक है, ओढ़ा हुआ वस्त्र है, वह छत जैसा लगता है।

आकाश निर्मल है, अलिप्त है। आँधी आती है तब चारों ओर धूल छा जाती है। सूखी हुई पत्तियाँ, कचरा, धूलिकण सर्वत्र फैल जाते हैं। आकाश में पक्षी भी उड़ते हैं, परन्तु आकाश स्वच्छं व निर्लेप है। इसीलिए हमारे वेदान्त ने 'भगवान का स्थान हृदयाकाश में है' ऐसी उपमा दी है। आकाश को हृदय की उपमा दी है। भगवान हृदय में है ऐसा नहीं कहते, बल्कि हृदयाकाश में है ऐसा कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि हृदय जब आकाश के जैसा होगा तब भगवान का व्यक्तिकरण होगा।

मान-सम्मान, आशा-निराशा, सुख-दुःख, इच्छा-वासना, कल्पना, भावना, चिन्ता ये सब जीवन में आनेवाले हैं। इनमें से एक का भी स्पर्श हृदय को न हो ऐसी आकाश के जैसी निर्लेपता रखने की शक्ति तथा हिम्मत जो दिखाता है उसे भगवान का साक्षात्कार होता है। जीवन में आशा-निराशा, मान-सम्मान आदि सब आयेंगे, फिर भी भीतर शुद्ध हृदयाकाश होगा तो उसमें भगवान बैठेंगे। भगवान की बैठने की जगह ही हृदयाकाश है।

आकाश के पास भाव नहीं है। कचरा होगा, आँधी होगी, धूल होगी, उन सबको आकाश स्वीकार करता है। वह चन्द्र-सूर्य को भी अपने पास लेता है। जो सबको अपने

पास लेता है मगर स्वयं किसी के पास नहीं रहता उसीका नाम है आकाश! यह जीवन की कला है। ऐसा जीवन होना चाहिए। कचरे जैसा जिनका जीवन है ऐसे लोगों का तथा सोना-हीरा-मोती जैसा जिनका जीवन है ऐसे लोगों का भी, सभी का हमारे जीवन में स्थान होना चाहिए। आकाश सभी को अपने पास लेता है परन्तु किसी से भी लथपथ नहीं होता। ऐसा जीवन बनना चाहिए। उसी को उन्नत-श्रेष्ठ जीवन कहते हैं।

महाराष्ट्र के परम सन्त, शिवाजी के गुरु रामदास स्वामी कहते हैं, **'नभासारिखे रूप राघवा।'** रामचन्द्र भगवान का रूप कैसा है? तो नभ यानी आकाश के जैसा! नभ को अस्तित्व नहीं है। उसे स्पर्श भी नहीं किया जाता। महापुरुष जो कहते हैं उसे समझना पड़ेगा, जानना पड़ेगा। आकाश को किस नाम से पुकारूँ? नभ, अम्बर, गगन ऐसे अलग-अलग उसके नाम हैं, तो किस नाम से पुकारना चाहिए? परन्तु अन्त में **'गगनं गगनाकारं'** ही हैं। दूसरा कुछ आकार नहीं है, दूसरी कोई उपमा नहीं है। आकाश आकाश ही है।

आकाश के जैसा जीवन होना चाहिए। आकाश कालातीत है। १९१० का आकाश, १९४० का आकाश और आज का आकाश एक ही है। काल जिसे स्पर्श नहीं करता ऐसा आकाश है।

हमें भी तीन कालों में से गुजरना है। भूतकाल हम पर परिणाम करता है, भविष्यकाल हमें प्रेरणा देता है और वर्तमानकाल में हमें रहना है। इन तीनों 'काल' से हमें अतीत बनना है। भूतकाल की चिन्ता नहीं, भविष्यकाल के मनोरथ नहीं और वर्तमानकाल से चिपके हुए नहों हैं। वर्तमानकाल अच्छा होगा परन्तु उसकी आसक्ति नहीं है, बुरा होगा तो उससे नफ़रत भी नहीं है, ऐसा कालातीत जीवन होना चाहिए। आकाश कालातीत है, हमें भी आकाश के जैसा कालातीत बनना पड़ेगा, तभी मानव के नाते हमारा जीवन उन्नत व सम्पन्न बनेगा। इसलिए आकाश की उपासना करनी पड़ेगी तभी हृदय आकाश बनेगा और उस हृदयाकाश में भगवान वास्तव्य करते हैं।

आकाश से कहना चाहिए कि तेरे जैसा निर्मल, नि:संग और व्यापक हमें बनना है। भगवान के जैसा नि:संग, निर्मल व व्यापक बनना यही लक्ष्मी है। लक्ष्मी भी नि:संग होनी चाहिए, तभी उसे लक्ष्मी कहा जायेगा। यह जीवनलक्ष्मी हमारे जीवन में आनी चाहिए। आकाश की निर्लेपता हमारे जीवन में आयी तो वह लक्ष्मी है।

जैसे हमारे विचार होंगे वैसे हम बनेंगे। हमें ऐसी लक्ष्मी निर्माण करनी है जिसे किसी का संग नहीं है। आज हमारे पास जो वित्त आया है उसे हमारे कर्तृत्व का संग है। प्रभु की कृपा का संग तो है ही और वह होना भी चाहिए। तीसरा संग हमारे प्रारब्ध का है। जिस वित्त को इस प्रकार का कोई संग नहीं है उसे लक्ष्मी कहते हैं। हमारी जेब में जो आता है वह पैसा है। लक्ष्मी किसे कहते हैं? यह हमारे स्वाध्यायियों ने प्रयोग करके दिखाया है। मच्छीमार लोगों ने एक नाव बनायी। प्रतिदिन अलग-अलग लोग उसके लिए

काम करने जाते थे। उसमें किसी एक व्यक्ति का पसीना नहीं है। इस **मत्स्यगंधा** पर प्रतिदिन अलग-अलग पुजारी काम करने जाते हैं। उसमें से जो आमदनी होती है वह किसकी है? एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं कह सकता कि वह मेरी है। इसका कारण प्रत्येक पुजारी की छः महीनों में एकाध बार बारी आती है। तब वह आदमनी किसकी है? वह आमदनी-लक्ष्मी नारायण की है।

ऐसा ही प्रयोग हमारे ग्रामीण कर रहे हैं। कुच्छ एकड़ जमीन लेकर उसमें तीन सौ से चार सौ स्वाध्यायी भाई अलग-अलग दिन पुजारी के नाते काम करने जाते हैं। उसमें किसी एक का पसीना नहीं है। उसी प्रकार, किसी एक की जमीन नहीं है। उसमें से निकला हुआ अन्न-धान्य अथवा फल-फूलों की आमदनी किसी एक की नहीं है। उस पर किसी का नाम नहीं है। वह लक्ष्मी है। वह अच्युत लक्ष्मी है- **'विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं... अच्युतवल्लभाम्।'** उसे लक्ष्मी कहा जाता है जो निःसंगता से उत्पन्न हुई है। ऐसे भिन्न-भिन्न प्रयोग हमारे स्वाध्यायी करते हैं, उनमें यह लक्ष्मी निर्माण करने का भी एक प्रयोग है।

ऐसी दुकानें भी चलती हैं जिनको 'परिवार स्टोर्स' कहते हैं। वे किसी एक की मलिकी की नहीं हैं। एक ही व्यक्ति वहाँ काम नहीं करता है। उनमें से निकली हुई आमदनी किसकी है? किसने निर्माण की है? वह पुजारियों की भक्ति का परिणाम है। उसे लक्ष्मी कहते हैं। यह लक्ष्मी यदि गरीबों के पास जायेगी तो उनको, माँ का स्तनपान करने के बाद जैसी पुष्टि मिलती है, वैसी पुष्टि मिलेगी। उनमें लाचारी, दीनता निर्माण नहीं होगी। ऐसा एक भिन्न ही दैवी प्रयोग स्वाध्याय परिवार कर रहा है। लोगों को लगता है कि 'स्वाध्यायी गाँवों में जाते हैं और कुछ-कुछ करते हैं।' कुछ-कुछ नहीं करते, समझकर जाते हैं और समझकर करते हैं, जान-बूझकर करते हैं। निश्चित करना है इसलिए करते हैं। कुछ बनाना है, कुछ जीर्णोद्धार करना है इसलिए करते हैं। हमें लक्ष्मी निर्माण करनी है। आज हमारे पास जो है वह पैसा है, लक्ष्मी नहीं है। लक्ष्मी अच्युतवल्लभा ही होती है। **'नमाम्यच्युतवल्लभाम्-'** मत्स्यगंधा से, उपवनों से, परिवार स्टोर्स से आया हुआ वित्त किसका है? वहाँ काम करनेवाले लोग स्वयंसेवी *(volunteers)* नहीं हैं। 'अब सेवानिवृत्त *(Retired)* हो गये हैं इसलिए काम करते हैं' ऐसा कहनेवाले ये लोग नहीं हैं। छः महीनों में अपनी भी एक बार पुजारी के नाते जाने की बारी *(Turn)* आने के लिए स्वाध्यायी ग्रामीण भाई आकुल-व्याकुल रहते हैं। छः महीनों में एक बार काम करने के लिए आता है तो निर्माण हुआ वित्त किसका है? भगवान का ही है। ऐसी एक अनोखी लक्ष्मी स्वाध्याय परिवार निर्माण करता है।

यह लक्ष्मी प्रसाद के रूप में गरीबों के घर जायेगी तो माँ के स्तनपान जैसी है। उससे उनको पुष्टि मिलेगी। निपल *(Nipple)* चूसने से पुष्टि नहीं मिलती। उन्होंने किसी का धन नहीं लिया है। उनको जो मिला है वह भगवान की लक्ष्मी-प्रसाद है। ऐसे प्रयोग हमारा स्वाध्याय परिवार सभी जगह करता है और उनके द्वारा भगवान की लक्ष्मी निर्माण करता है। हमारा नारायण के प्रति प्रेम है ही, परन्तु उनके साथ लक्ष्मी होनी चाहिए तभी

लक्ष्मी-नारायण होते हैं। हम नारायण का लक्ष्मी के साथ विवाह करानेवाले हैं। आज सब भगवान का विवाह तुलसी के साथ कराते हैं। हम लक्ष्मी के साथ नारायण का विवाह करानेवाले स्वाध्यायी हैं।

आज तुम कितने भी उदार होंगे, प्रामाणिक होंगे, तो भी तुम्हारे पास जो वित्त आता है उसके पीछे तुम्हारा हाथ है। स्वाध्याय परिवार जो वित्त उत्पन्न करता है उसके पीछे किसी का हाथ नहीं है। ऐसा वित्त हमने उत्पन्न किया है। 'किया है' बाद में बोलते हैं। नहीं तो 'करेंगे' ऐसा बोलने का आज का काल है। हम पुराने लोग हैं। 'क्या करेंगे' ऐसा नहीं, 'जो किया है' वह बोलते हैं। ऐसी लक्ष्मी का पूजन हम करते हैं।

ऐसी लक्ष्मी उत्पन्न करने में सभी का परिश्रम है। समझो कि उसके लिए चार सौ लोगों की मेहनत है तो वह व्यापक बन गयी। मेहनत भी व्यापक बनी। किसका उत्पादन है? जो किसी का भी नहीं वह भगवान का है। आज तक नारायण का विवाह नहीं हुआ है। वह विवाह कराने का काम स्वाध्याय परिवार करता है। प्रयोग छोटा सा होगा, कोने में होगा, परन्तु अर्थशास्त्र *(Economic)* में तथा वितरण *(distribution)* में एक भिन्न ही प्रयोग हम करते हैं। वितरण लक्ष्मी को 'माँ' कहकर पुकारने का अधिकार हमारे स्वाध्यायी लोगों का है। हम उन्हें 'माँ' कहकर पुकार सकते हैं।

हमने ऐसी लक्ष्मी उत्पन्न की है जो दूसरे किसी की नहीं, केवल नारायण की है। हम यह प्रयोग कर रहे हैं। शक्ति भगवान की है। बुद्धि भगवान की है। प्रभुकार्य में निश्चित निमित्त बन सकें इतने हम भाग्यशाली हैं।

जीवन विकास करना हो तो अवधूत के कहे हुए गुण जीवन में लाने पड़ेंगे। उसके लिए परिश्रम करना होगा और आवश्यकता होने पर उतना समय भी देना पड़ता है।

४) **जलतत्त्व** — फिर अवधूत कहते हैं कि मुझे जलतत्त्व से शिक्षा मिली। जल पूजा के लिए उपयोगी है। भगवान की पूजा करनी है। पंच महाभूतों में से किस महाभूत से भगवान की पूजा करेंगे? पृथ्वी से पूजा नहीं होती। आकाश, तेज और वायुतत्त्व हाथ में नहीं आते, उनसे भगवान की पूजा नहीं हो सकती। इसलिए मानव ने पंच महाभूतों में से जल तत्त्व लिया और जल से भगवान की पूजा की। भगवान की पूजा के लिए जल पूजार्ह तत्त्व है। कर्मकाण्डी ब्राह्मणों ने वरुण-जल पूजा को बड़ा महत्त्व दिया है। जल का- वरुण का पूजन वे प्रथम करते-कराते हैं। यही साधन मनुष्य के हाथ में है, जिससे भगवान की पूजा हो सकती है। जल तत्त्व स्वच्छ है, स्निग्ध है, पवित्र है। मानव जीवन उन्नत करना होगा तो ये गुण जीवन में लाने पड़ेंगे।

सभी पंचमहाभूतों में भगवान का अंश है। जल में भगवान हैं, इसलिए हम जल को नमस्कार करते हैं। गंगा को देखकर हम दु:ख भूल जाते हैं। उसके प्रवाह में केवल पैसा नहीं, जीवन देने की इच्छा होती है। गंगा को देखते ही हमें अपना जीवन तुच्छ लगता है। हमारा बाज़ार, हमारा बैंक खाता इनके पीछे हम जो कर रहे हैं वह हमारी नादानी है। वह

जो लाचारी, क्षुद्रता है वे सब तुच्छ लगते हैं और गंगा में जीवन फेंक देने की इच्छा होती है ऐसा जल है।

हमारे यहाँ वरुणपूजन होता है तब पढ़े हुए लोग पूछते है, "जल का पूजन क्यों करना चाहिए? भगवान भगवान ही हैं, वे जल में कहाँ हैं?" उनसे कहना चाहिए, 'जल में दिव्यता *(Divinity)* है। जल एक अलौकिक तत्त्व है। विज्ञान के एक विद्यार्थी ने कहा, 'जल कैसे बनता है यह मुझे मालूम है। उनका फोर्म्युला H_2O है। जल को भगवान मानना बेकार बात है।

मैंने उसे कहा, "हाइड्रोजन व ऑक्सिजन के संयोग से जल बनता है यह तुझे मालूम है, वह क्या हमारे पूर्वजों को मालूम नहीं था? **तस्मात् आकाशः आकाशात् वायुः वायोरग्निः...'** यह उन्होंने लिखा है, तो क्या उनको इस बात का पता नहीं था? तू विज्ञान का विद्यार्थी है। जल हाइड्रोजन तथा ऑक्सिजन का संयोग है। उनमें एक वायु जलने वाली है और दूसरी जलानेवाली है। जलाने वाला व जलने वाला इनके संयोग से बुझाने वाला पदार्थ जल कैसे बनता है? उस विद्यार्थी के पास उत्तर नहीं था। जल में दिव्यता है। मुझे एक बार एक जर्मन तत्त्वज्ञानी ने कहा, 'आप सब कर्मकाण्डी हैं। भारत में तत्त्वज्ञान पैदा ही नहीं हुआ, आपके यहाँ नीतिशास्त्र है, कर्मकाण्ड *(Rituals)* है, परन्तु तत्त्वज्ञान नहीं है।' मैंने पूछा, 'क्यों? आप ऐसा कैसे कहते हैं।' तो उसने उत्तर दिया, हमारे यहाँ आपके मालवीयजी, जिन्होंने भारत में बनारस विश्वविद्यालय की स्थापना की, वे यहाँ आये थे तब उन्होंने अपने साथ गंगाजल रखा था। क्या उनको हमारे यहाँ का जल नहीं चलता था। ऐसा हो तो क्या उनको विश्वविद्यालय कहेंगे? गंगा का पानी भगवान ने बनाया है तो टेम्स नदी का पानी क्या शैतान ने बनाया है? वह भी भगवान ने ही बनाया है। मालवीयजी की इतनी संकुचित दृष्टि है तो वे तत्त्वज्ञानी कैसे हो सकते हैं?'

मैंने कहा, 'मालवीयजी पानी क्यों लाये थे इसका तो मुझे पता नहीं है। इतना अवश्य कह सकता हूँ कि वे जो पानी लाये थे वह चार महीने टिका। दूसरा कोई जल हो तो वह दो-चार दिन टिकता है और उसके बाद उस पानी में जीव-जन्तु निर्माण होते हैं। वे जो जल साथ लाये थे वह चार महीनों तक टिका या नहीं? अत: उन्होंने जो कुछ किया था वह आपके लिए निमंत्रण था *(It was invitation to you)*। ऐसा नहीं था कि उनको टेम्स नदी का पानी नहीं चलता था। वे आपसे कहना चाहते थे कि *(If you want to realise your soul)* यदि आपको आत्म-साक्षात्कार *(soul-realise)* करना हो तो गंगा किनारे आओ। इसका कारण गंगा के पानी में दिव्यता है।' इसीलिए हम 'गंगामैया की जय' बोलते हैं। जल पवित्र तत्त्व है।

हम भगवान की पूजा जल से करते हैं। जलतत्त्व से पूजा करते हैं। भगवान की पूजा करने से पहले हम वरुण (जल-देवता) का पूजन करते हैं। वह इसीलिए करते हैं कि जल का ज्ञान हुआ तो भगवान का ज्ञान होता है। वेद में **जलसूक्त** है। जल को जीवन कहते हैं। जल को देखकर प्रतिभा जागृत होती है। ऋषियों ने जल को देखा व तत्त्वज्ञान

कहने लगे। उनको किसी ने समझाया नहीं था, सिखाया भी नहीं था। उन्होंने जो गुण उठाये, ज्ञान प्राप्त किया वह सब प्रकृति से प्राप्त किया। प्रकृति हमारी वृद्ध शिक्षिका है। हम पैदा होने से पहले ही प्रकृति निर्माण हुई है और उससे ही हमारे ऋषि-मुनियों ने शिक्षा प्राप्त की है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रकृति को आँखें खोलकर देखना चाहिए। उसमें जो अनन्त गुण पड़े हुए हैं, जो उसने खिलाये हैं उन सबको उठाना पड़ेगा।

ऋषियों की प्रतिभा जागृत हुई और वे तत्त्वज्ञान कहने लगे। पानी यानी अमृत! पानी यानी पय! पानी यानी जीवन! संस्कृत भाषा समृद्ध है, उसमें पानी के लिए अनेक शब्द हैं। जो पुष्टिकारक होता है उसे 'पय' कहते हैं, पानी पुष्टिकारक है। पानी के बिना कुछ नहीं हो सकता।

बीरबल-बादशाह की कहानी प्रसिद्ध है। एक बार अकबर बादशाह ने दरबार में बीरबल से पूछा कि 'सत्ताईस नक्षत्रों में से नौ नक्षत्रों को निकाल देंगे तो शेष क्या रहेगा?' बीरबल ने कहा, 'शून्य!' यह सुनकर सारे दरबारी हँसने लगे। उन्होंने कहा, 'सत्ताईस में से नौ निकालने पर अठारह शेष रहते हैं इतना साधा गणित भी बीरबल को नहीं आता है?' तब बीरबल ने कहा, आप सब लोगों का गणित ग़लत है। आप सब बुद्धू हैं। समझ लीजिए कि सत्ताईस नक्षत्रों में से पानी के नौ नक्षत्र हैं, उनको ही निकाल दिया तो क्या रहेगा? शून्य ही रहेगा न!'

पानी के पास अलौकिक क्षमता, समता है। वह अमीर-गरीब सभी को अपने पास लेता है। सभी के जीवन में वह उत्साह निर्माण करता है। उसके पास अमीर-गरीब, पढ़ा-अनपढ़, ऊँच-नीच ऐसा कोई भेद नहीं है। प्रात:काल नींद में से जागते ही जल का हाथ आँखों पर फेरने से स्फूर्ति, उत्साह मिलता है। ये सब पानी के गुण हैं। पानी सर्वत्र जाता है, अत: वह निरहंकारी है। पानी पत्थर जैसा स्थिर नहीं है। हमने स्थिर जीवन को श्रेष्ठ नहीं माना है। जीवन गतिशील *(Dynamic)* होना चाहिए। वास्तव में धर्म भी गतिशील है, परन्तु वह आज गतिशील नहीं रहा है। रूढिग्रस्त लोग धर्म में वही बातें चलाते हैं। पाँच सौ वर्ष बीत जाने पर भी धर्म पत्थर के जैसा वहीं पड़ा है। इसे जीवन नहीं कहते। साधक का जीवन भी पानी के जैसा गतिशील, समता-क्षमतायुक्त, स्फूर्ति-उत्साह आदि गुणों से परिपूर्ण होना चाहिए, ऐसा अवधूत ने कहा।

लोगों को हमारी आवश्यकता लगनी चाहिए। कोई जैसे ही तत्त्वज्ञानी बनते हैं, तो लोगों से अलग हो जाते हैं। लोगों से अलग हो जाने वाले को हम तत्त्वज्ञानी समझते हैं। 'अरे! वह महान् तत्त्वज्ञानी है।,' कैसे? उसने एक व्यक्ति का भी मुँह नहीं देखा। एक व्यक्ति का भी मुँह नहीं देखा इसलिए क्या वह तत्त्वज्ञानी बन गया? सभी गंगा के तट पर पड़े हुए पत्थर जैसे हैं। क्या यह उन्नत जीवन है? साधक की लोगों को आवश्यकता लगनी चाहिए। साधक के पास जाने पर सबको स्फूर्ति, उत्साह मिलना चाहिए। साधक को सभी को अपने पास लेना चाहिए। यही उन्नत जीवन कहा जाता है। साधक के पास से आध्यात्मिक उत्साह भी मिलना चाहिए। व्यावहारिक उत्साह व आध्यात्मिक उत्साह में फ़र्क

है। प्रेरणा *(Incentive)* का भेद है। भौतिक प्रेरणा *(material incentive)* से आपको कुछ भौतिक उत्साह मिलता है। कुछ कमाना है, कुछ मिलना चाहिए, बिना उसके अपना नहीं चलेगा इससे जो उत्साह निर्माण होता है वह आध्यात्मिक उत्साह नहीं है। कुछ नहीं चाहिए, फिर भी उतना ही उत्साह रहेगा तो वह आध्यात्मिक उत्साह है। एकाध कार्य हमारे जीवन में ऐसा हो जिससे कुछ भी मिलनेवाला नहीं है, फिर भी उतना ही उत्साह बना रहता है वह आध्यात्मिक उत्साह है।

गीता में कहा है, **'धृत्युत्साहसमन्वितः'** यह आध्यात्मिक उत्साह की बात है। वैसा सभी को उत्साह है चोर को उत्साह है, व्यापारी को उत्साह है, उद्योगपति तथा मजदूर को भी उत्साह है। इसका कारण उसे कुछ कमाना है। जिससे कुछ भौतिक लाभ होता है उस काम के लिए उत्साह रहता ही है। एकाध काम तो ऐसा दिखाओ कि जिसमें से कुछ मिलनेवाला नहीं है, फिर भी वह काम करने के लिए उतना ही उत्साह है। ऐसा उत्साह आध्यात्मिक उत्साह कहा जाता है। साधक से मनुष्य को स्फूर्ति व उत्साह मिलने चाहिए।

पानी सभी के पास जाता है। वह किसी की अवगणना नहीं करता। नारद ऐसे ही थे। वे सभी के पास जाते थे। रघुवंश के गुरु वसिष्ठ भी सभी के पास जाते थे।

आज धनवान के प्रति नफ़रत निर्माण की जा रही है। सबको धनवान बनना है, परन्तु धनवान के प्रति नफ़रत है। कोई आध्यात्मिक मनुष्य धनवान के पास जाता है तो लोग कहने लगते हैं, वह धनवान के पास जाता है।' इसलिए कोई आध्यात्मिक व्यक्ति धनवान के पास नहीं जाता है। क्या धनवान मनुष्य नहीं है? आज एक भी मनुष्य ऐसा नहीं है जिसे धनवान नहीं बनना है। किसी को अपना बैंक बचत बढ़ाना है तो किसी को अपना मंठ का खाता बढ़ाना है, परन्तु सबको धन तो चाहिए ही। ऐसा होते हुए भी धनवानों के प्रति तिरस्कार निर्माण किया जा रहा है।

साधक को ऐसा जीवन बनाना है कि कोई धनवान हो या अधिकारी हो उसकी प्रतिष्ठा नहीं है और कोई सामान्य, गरीब-तुच्छ हो उसकी अवगणना भी न हो। साधक में ऐसी समवृत्ति होनी चाहिए, निरहंकार बनना चाहिए। ये सभी गुण साधक में होने चाहिए। कारण सामने के व्यक्ति को उठाना है, उसे साधक बनाने के लिए उसके पास जाना है। जो बुलाने पर जाता है वह साधक नहीं है। साधक बिना बुलाये ही स्वयं उठकर लोगों के पास जाता है। हमारे स्वाध्यायी भक्तिफेरी में जाते हैं अतः वे साधक हैं। उन्होंने कितनी लम्बी चोटी रखी है, रखी है या नहीं यह प्रश्न नहीं है। किसी गाँववालों ने उनको निमंत्रण नहीं भेजा है, किसी ने उनको नहीं बुलाया है, फिर भी वे लोगों के पास जाते हैं। क्यों जाते हैं? किसलिए जाते है? कुछ कमाना है? कुछ लेना है? कुछ नहीं! फिर भी वे गाँव-गाँव में जाते हैं।

जब दया या करुणा में प्रेम आता है तब वह प्रेम बहने लगता है। जो बहता है उसे प्रेम कहते हैं। जो स्थिर है वह वाचिक प्रेम है, *I love you, I love you* जैसा! हम

देखते ही नहीं, इसलिए हमारा प्रेम नहीं है। 'कोई बुलायेगा, कहेगा, हमारा प्रबंध करेगा तब हम आयेंगे' ऐसा कहनेवालों में प्रेम ही नहीं है। पानी जैसा निरहंकारी बनकर सर्वत्र जाता है वैसा निरहंकारी जिसका जीवन है वह सर्वत्र जाता है। पानी से यह निरहंकारिता का गुण लेना है। इसमें व्यक्ति के पास जाना है परन्तु वह व्यक्तिपूजा नहीं है। जिसके पास जाना है उसे उठाना है। उसके भीतर भगवान बैठे हैं, उनकी यह पूजा है, अतः वह भगवान की पूजा है।

५) **अग्नि** — पाँचवां गुरु अग्नि है। अग्नि ज्योतिर्मय है। भारतीय संस्कृति में अग्निपूजा को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। प्रातःकाल उठने पर अग्निपूजा होनी ही चाहिए।

यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम्।
यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम्।
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम्।

हे अग्ने! तुम्हारे तेज से मुझे तेजस्वी बनने दो। तुम्हारे विजयी तेज से मुझे वर्चस्वी बनने दो। सब कचरा जलाने वाले तुम्हारे तेज से मुझे कचरा जलाने वाला बनने दो!

कलियुग का वर्णन है, उसमें-

सीदन्ति चाग्निहोत्राणि गुरुपूजा प्रणश्यति।
कुमार्यश्च प्रसूयन्ते प्राप्ते कलियुगे सदा।।

ऐसा लिखा है। हमारे इधर पारसी धर्म है, उसमें अग्नि की पूजा है। वह ज्योतिर्मय पूजा है। अग्निपूजा श्रेष्ठ पूजा है। अग्न्यागार घर-घर में था, उसका अपभ्रंश रूप **'अगियारी'** है। ज्योतिर्मय अग्निपूजा में संस्कृति मानी गयी है। **सीदन्ति चाग्निहोत्राणि** यानी अग्निपूजा समाप्त हो जायेगी। फिर कहते हैं- **गुरुपूजा प्रणश्यति-** गुरुपूजा, बड़ों की पूजा नष्ट हो जायेगी। लड़का यह समझता है कि पिता को अक्ल कम है। लड़का धन्धा करने लगते ही प्रारब्ध से पैसा मिलने लगा तो भी लड़का समझता है कि अपनी अक्ल से पैसा मिलता है। पिता ने वर्षों से परिश्रम किये हैं उनके कारण पैसा मिला है ऐसा लड़के को नहीं लगता। यह कलियुग है। आज अग्निपूजा घर-घर में तो नहीं हैं। परन्तु मुँह में अवश्य है धूम्रपान *(Chain smoking)* के रूप में।

अग्नि तेजस्वी है, शीतनिवारक है, गरमी देनेवाला है, अजित है। अग्नि सब देखता है। हमें विवाह करना हो, सत्कर्म करना हो, मित्रता करनी हो तो अग्नि के समक्ष करते हैं। उसमें हम अग्नि को साक्षी रखते हैं। भारतीय संस्कृति में अग्नि को महत्त्व है। अग्नि भगवान के खाने का मुख है, ब्राह्मण भगवान का बोलने का मुख है। अग्नि व ब्राह्मण को साक्षी रखकर उनके सामने विवाह में वर प्रतिज्ञा लेता है- **'धर्मे च अर्थे च कामे च नातिचरामि नातिचरामि नातिचरामि।'** उसके बाद वही अग्नि, जिसे गृह्याग्नि कहते हैं, घर ले जाते हैं, उसकी घर में पूजा करते हैं। अन्त में मनुष्य जब मरता है तब भी वही

अग्नि श्मशान में ले जाकर उससे मृत व्यक्ति का अग्निदाह करने की विधि है। उस अग्नि से कहते हैं- **अग्ने नय सुपथा राये----** हे अग्ने! मुझे ले जाने का उत्तरदायित्व तुम्हारा है। मैंने जो कोई सत्कर्म किये हैं वे तुम जानते हो। दूसरे किसी को उनका पता नहीं है। **ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर---'** इसलिए हमारे इधर मृत्यु के बाद भी एक संस्कार हैं जिसे अन्त्येष्टि संस्कार कहते हैं। वह पूजा है। यह संस्कार पुत्र करता है। अब यह संस्कार चला गया है। सोलह संस्कार रहे ही नहीं, पन्द्रह संस्कार रह गये हैं। गणपति लाते हैं तब पन्द्रह संस्कार करते हैं, क्योंकि एक अन्तिम संस्कार करना नहीं हैं। इसलिए लोग भी पन्द्रह संस्कार करते हैं। अब कोई स्वाध्यायी होगा तो किसी के मरने पर श्मशान में गीता का पन्द्रहवाँ अध्याय बोलता है, अन्यथा मिट्टी का तेल डालकर मुर्दे को जला दिया जाता है। उसमें कोई विधि नहीं रही है। मगर पहले विधि थी।

अत: अग्नि महत्वपूर्ण है। अग्नि के जीवन में तेजस्विता है, परपीड़ानिवारकता है, परिग्रहशून्यता हैं, निर्मलता है, पावकता है, लोकसंग्रह (एकता) है। ये सब गुण साधक को अपने जीवन में लाने पड़ेंगे। तभी उस साधक के सम्बन्ध में भगवान **यो मद्भक्तः स मे प्रियः** कहेंगे। इस स्तर पर जीवन लाना पड़ेगा।

साधक के जीवन में तेजस्विता एवं परपीड़ानिवारकता होनी चाहिए। पीड़ा में जैसी शारीरिक पीड़ा है, वैसे ही बौद्धिक पीड़ा, मानसिक पीड़ा भी है, केवल पैसों की ही पीड़ा नहीं हैं। सभी के पास पैसा बढ़ गया है। परिणामस्वरूप शौक की वस्तुएं भी आवश्यकता *(necessity)* बन गयी हैं। यह कलयुग की महत्ता है।

आज लोग शारीरिक पीड़ा के उपरान्त बौद्धिक व मानसिक पीड़ा से पीड़ित हैं। साधक को उनके पास जाना पड़ेगा। लोगों की बुद्धि सुप्त है, उनका मन भी मर गया है, सर्वत्र अंधकार है। मनुष्य जीवित रहता है परन्तु जीवन में इतनी लाचारी, दीनता, क्षुद्रता, संकुचितता का अनुभव करता है जिसका कारण उसका मृत मन है। अपना मन मर गया है, यह भी मनुष्य को नहीं लगता है। कितनी मूर्खता है यह! ऐसा मरा हुआ मन भगवान के पास कैसे पहुँचेगा? **'मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः।'** बन्ध या मोक्ष का कारण मन है। मन जीवित रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा लगता है कि वह तुच्छ है, अगतिक है, असहाय है, पतित है। यह मानसिक पीड़ा है। ऐसे मानव के पास जाकर कहना चाहिए, "तू कौन है इसका क्या तुझे पता है? तू तो पूर्ण है, भगवान है... **'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते....'** यह उसे समझाओ। आज मनुष्य अपने गाल पर थप्पड़ लगाकर कहता है- **'पापोऽहम् पापकर्माऽहम् पापात्मा पापसंभवः...'** मैं पापसम्भव हूँ।' अरे! क्या तेरी उत्पत्ति पाप से हुई? कितना गलत-मिथ्या तत्त्वज्ञान आया है? वास्तव में ऐसे प्रभावी विचार निर्माण होने चाहिए कि, **'पुण्योऽहम् पुण्यकर्माहम् पुण्यात्मा पुण्यसम्भवः-** मैं मानव बनकर आया हूँ, मैं भगवान को पहचान सकता हूँ, भगवान तक पहुँच सकता हूँ, इतना ही नहीं, परन्तु मैं कम से कम भगवान को अच्छा लग सकता हूँ।' इन विचारों के स्थान पर आज मानव मानसिक पीड़ा से पीड़ित है। हम कहीं कथा सुनने

जाते हैं तो वहाँ भी यही पीड़ा सुनने को मिलती है। 'हम तो' पाप में पड़े हुए हैं, कारण हम व्यापार धन्धा करते हैं, परिवार चलाते हैं और उसमें से कूड़ा पैदा होता है।' ऐसी ग़लत धारणा क्यों रखनी है? तू पापी नहीं है कारण परिवार चलाना यदि पाप होता तो भगवान स्वयं पारिवारिक क्यों हैं? हर साल हम भगवान का विवाह कराते हैं। यदि विवाह करना -परिवार चलाना बुरा है तो भगवान का विवाह क्यों कराते हैं? तत्त्वज्ञान में थोड़ा कूड़ा-कचरा प्रविष्ट हुआ है, इसलिए मन मर जाता है। यह बौद्धिक व मानसिक पीड़ा दूर करनी पड़ेगी।

अग्नि से तेजस्वी जीवन लेना पड़ेगा। दूसरे के व्यक्तित्व के सामने स्वयं फीका-निस्तेज नहीं बनना चाहिए, अन्यथा साधक नहीं बन सकेंगे। 'मैं इतना करता हूँ फिर भी मुझे पैसे क्यों नहीं मिलते? दूसरे को क्यों मिलता है?' ऐसा जिसे लगता रहता है, जिसके पास पैसा है वह जिसे बड़ा लगता रहता है ऐसा व्यक्ति साधक कैसे बन सकता है? दूसरा कोई तुच्छ नहीं है, वैसा मैं भी तुच्छ नहीं हूँ। दूसरे का मन मारना नहीं चाहिए, परन्तु स्वयं अपने मन को भी नहीं मारना चाहिए यह उतनी ही सत्य बात है। आज मनुष्य स्वयं ही अपने मन को मारता है। यह आत्मघातक वृत्ति उसीने निर्माण की है और ऊपर से वह अपने को तत्त्वज्ञानी मानता है। 'मैं साधक हूँ, मुझे स्वयं नहीं मरना है, किसी के व्यक्तिमत्त्व को देखकर मैं निस्तेज नहीं बनूँगा' यह शिक्षा अग्नि से मिलती है। इस शिक्षा के बिना लाचारी व आसक्ति बढ़ जायेगी। ऐसा मनुष्य तत्त्वज्ञानी या ज्ञानी भक्त कैसे बन सकता है?

अग्नि का नाम उदरभाजन है। जिसके पास रखने के लिए पात्र-बरतन नहीं है उसे उदरभाजन कहते हैं। अर्थात् अग्नि परिग्रहशून्य है। अग्नि सब अपने पेट में रखती है। उसका जीवन संग्रहरहित, परिग्रहरहित है। तो क्या अग्नि को कुछ मिला तो वह फेंक देती है? नहीं! उसको संग्रह की फिक्र नहीं है और रखने का आग्रह नहीं है।

कुछ लोगों ने संग्रहरहितता और परिग्रहशून्यता का ऐसा अर्थ किया है कि संग्रह से मोह और आसक्ति बढ़ती जायेगी इसलिए सब फेंक देना चाहिए। परन्तु उसका ऐसा अर्थ नहीं है। अग्नि मिलने के बाद फिक्र नहीं है और रखने का आग्रह नहीं है। बिना आग्रह के संग्रह करना साधक का गुण है।

रघुवंशी राजाओं का वर्णन है, वह 'आग्रह के बिना संग्रह' अर्थात् 'मेरे पास इतना होगा तो ही मेरी प्रतिष्ठा है' ऐसा नहीं है। आग्रह नहीं है और संग्रह है। उसकी ओर किस दृष्टि से देखना है इसका उनको ज्ञान था। जो शून्य में से आगे बढ़े हुए लोग हैं वे आग्रह रखते हैं- कि 'मुझे लखपति बनना है, अरबपति बनना है।' आग्रह रखते ही जाते हैं। उनको लड़का पैदा हुआ कि उसके लिए संग्रह तैयार ही है- *Silver spoon in mouth*-- आग्रह के बिना उसे संग्रह मिला है। उसका पिता एक लोटा लेकर बम्बई आया था चौपाटी के फूटपाथ पर सोता था। उसने चौपाटी पर पानी-पुरी की दुकान शुरू की, उसे संग्रह का आग्रह हो सकता है, परन्तु उसके लड़के का मूल्य? इसीलिए हम कहते हैं

कि वह योगभ्रष्ट जीव है- **'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।'** उसे आग्रह के बिना संग्रह मिला है। अब उसे आग्रह रखने की आवश्यकता नहीं है। आग्रह उसके पिता ने रखा इसको अब तैयार संग्रह मिला। अब उस संग्रह का उपयोग कैसे करना है यह उसे देखना है। इसलिए उसे योगभ्रष्ट जीव माना जाता है। आज ये जन्म से वित्तवान *(Silver spoon in mouth)* लोग ही बिगड़ गये हैं। उनको अपनी महत्ता का ही पता नहीं है। वैश्विक दृष्टि से, आध्यात्मिक दृष्टि से भगवान के दरबार में अपनी कुछ प्रतिष्ठा, महत्ता है इसीका उनको पता नहीं है।

'आग्रह के बिना संग्रह' यही परिग्रहशून्यता है। उदरभाजन का अर्थ परिग्रहशून्यता है। साधक के पास परिग्रह शून्यता होनी चाहिए। परिग्रह का अर्थ होता है- स्वीकार! पकड़कर रखना! व्यक्ति तथा वस्तु को पकड़कर रखना परिग्रह है। परिग्रह वाले को व्यक्ति को पकड़कर रखना है, छोड़ना नहीं है। उसे ऐसा नहीं लगता कि अमुक एक व्यक्ति मेरे जीवन में आयेगा तो अपना कल्याण होगा। उसे लगता है कि जिसे आना है वह आये और जिसे जाना है वह चला जाये। यह उसकी भूमिका होती है। 'मेरे जीवन में जिसे भगवान को भेजना होगा उसे भेजेंगे, उसका स्वीकार है। किसी का धिक्कार नहीं है। परन्तु कोई आये अथवा चला जाय इसका आग्रह नहीं है। यह साधक जीवन है।

परिग्रह का अर्थ जायदाद पकड़कर रखना नहीं है, 'अब कमाना नहीं है' ऐसा भी अर्थ नहीं है तो फिर क्या अर्थ है? हमारे पास पाया हुआ, कमाया हुआ वित्त है। कम्युनिस्टों की भाषा में कहना हो *Unearned wealth* और *earned wealth* है। इस पाये हुए अथवा कमाये हुए धन से भी एक और धन है। वह है भगवान का भेजा हुआ धन! 'भगवान ने मुझे धन भेजा है' ऐसी समझ होगी तो फिर कितना भी धन हो, वह परिग्रह नहीं है। भगवान ने गीता में **'धनंजयः'** कहकर अर्जुन को परमवीर चक्र दिया है। अर्जुन को यह परमवीर चक्र विश्व के पति से मिला है। अर्जुन को भगवान ने **'धनंजय'** क्यों कहा?

धन तीन प्रकार का है, पाया हुआ, कमाया हुआ व भेजा हुआ धन। भेजा हुआ धन बाधक नहीं है। वह परिग्रह नहीं है। अग्नि के पास इस प्रकार की परिग्रहशून्यता है। वह सब पेट में रखती है। साधक को सभी के दोषों का पता होता है, लोग स्वयं आकर अपने दोष साधक को बताते हैं अथवा आन्तरिक दृष्टि से साधक को उनका ज्ञान होता है, परन्तु वह उन सब दोषों को किसी को नहीं बताता क्योंकि वह आध्यात्मिक शक्ति *(spiritual power)* प्रयुक्त करने से फिर से प्राप्त नहीं होता। सभी दोष ज्ञात होने पर भी वह अपने पेट में रखता है।

अग्नि में निर्मलता है, लोकसंग्रह है। अग्नि लकड़ी में गुप्त रहती है। साधक को भी इस प्रकार गुप्त ही रहना चाहिए। 'मैं साधक हूँ' ऐसा लेबल लगाकर नहीं घूमना है। लेबल लगाकर घूमने से कोई साधक नहीं बनता। साधक को अग्नि क़े जैसा जीवन में गुप्त रहना पड़ेगा। इसलिए भगवान तथा शास्त्रकारों ने तत्त्वज्ञानी को यह उपदेश दिया है कि **'न**

विचित्रवेषं कुर्यात्।' जैसा लोगों का वेश होगा वैसा ही साधक का भी वेश होना चाहिए। साधक पारिवारिक होता है, अत: परिवार के सदस्यों के जैसा ही उसका भी वेष होना चाहिए। अलग वेशभूषा नहीं, विचित्र वेशभूषा बनाकर लोगों को आकर्षित नहीं करना है। लोगों को अपने गुणों, विचारों से अथवा चरित्र से आकर्षित करना चाहिए। वेशभूषा और चमत्कार का अध्यात्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

साधक की शक्ति बढ़ने लगती है, तब उसे सँभालना आवश्यक है। लोगों ने एकनाथ महाराज पर ब्रह्महत्या का दोष लगाकर उनको सज़ा दी थी। एकनाथ महाराज ने उस सजा को स्वीकार किया। उनके जीवन में एक घटना हुई। लोगों के लिए कुछ कारण चाहिए न?

दण्डवत्- स्वामी नाम के एक साधुपुरुष एकनाथ महाराज के शिष्य थे। वे पैठण में ही रहते थे। नमन-भक्ति करते थे। किसी भी प्राणी को देखते ही उसे दण्डवत् प्रणाम करते थे, इसलिए उनका नाम दण्डवत्- स्वामी पड़ा था। एक दिन रास्ते में एक गधा मरा पड़ा था। कुछ ब्राह्मणों ने मजाक में कहा, आप सब में चैतन्य-भगवान देखते हैं तो इस मरे हुए गधे को भी प्रणाम कीजिए। दण्डवत्-स्वामी ने उस मृत गधे को भी दण्डवत्-प्रणाम किया। चमत्कार यह हुआ कि वह गधा उठ खड़ा हुआ। इस विलक्षण सिद्धि को देखकर लोग दण्डवत् स्वामी को नमस्कार करने लगे। एकनाथ महाराज को पता चलने पर उन्होंने दण्डवत् स्वामी से कहा कि तुमने मरे हुए गधे को जिन्दा किया यह अच्छा नहीं हुआ। ऐसा करके तुमने प्रकृति के व्यवहार में हस्तक्षेप किया है। अब लोग तुम्हारे पीछे पड़ेंगे। कोई भी मनुष्य मर जायेगा तो उसके आदमी तुम्हें घेरेंगे, तुम मोह में पड़ोगे, और मृत व्यक्ति को जीवित करना पड़ेगा। यह बुरी बात है। तुम्हारा नाम होगा, परमार्थ रह जायेगा। एकनाथ महाराज की प्रभावी बात सुनकर दण्डवत् स्वामी को अपनी भूल का पता चला। उन्होंने कहा, 'अब मैं क्या करूँ?' तब एकनाथ महाराज ने कहा, 'इसके लिए एक ही मार्ग है, वह है देहत्याग करना।' दण्डवत्- स्वामी ने तुरन्त आसन लगाया और भगवान का ध्यान करते हुए देहत्याग कर दिया।

पैठण के ब्राह्मणों को, जो एकनाथ के विरोध में थे, एकनाथ को तंग करने का यह एक अच्छा मौका मिल गया। उन्होंने एकनाथ को दण्डवत् स्वामी की मृत्यु का कारण बताकर, उन पर ब्रह्महत्या का दोष लगाया। तात्पर्य यह है कि साधक जैसे-जैसे विकास की ओर अग्रसर होता जाता है, उसकी शक्ति बढ़ती जाती है, तब उसे सावधानी रखनी होती है कि शक्ति प्राप्त होने पर भी उसका उपयोग नहीं करना है। उसके शब्द में इतनी शक्ति आती है कि वह जो बोलता है वह भगवान को करना ही पड़ता है। सच्चा साधक अपनी शक्ति इस प्रकार प्रयुक्त नहीं करता।

ऐसे श्रेष्ठ साधक की बहुत कठिन परीक्षा होती है। वह सभी लोगों के दु:ख में अन्त:करण से समदु:खी बनता है। उसे बाहरी नहीं अपितु भीतर का दु:ख है। वह नकली दु:ख नहीं, सच्चा दु:ख है। उसे विश्वास है कि मैं यदि भगवान से कहूँगा, तो भगवान को

उसके दु:ख को दूर करना पड़ेगा। ऐसा होने पर भी वैसी इच्छा न करना कितना कठिन है? लकड़ी में जिस प्रकार अग्नि गुप्त है, वैसे ही साधक को भी अपनी आध्यात्मिक शक्ति *(spiritual power)* गुप्त रखनी चाहिए। किसी का दु:ख देखकर हममें भी करुणा-दया भाव निर्माण होता है पर वह बाह्य दृष्टि से, गले के ऊपर का होता है। साधक तो अंत:करण से सभी के सुख: दुख में समरस बनता है। परन्तु वह प्रकृति के व्यवहार में हस्तक्षेप नहीं करता। अपनी शक्ति को गुप्त रखने की शिक्षा अग्नि से लेनी है।

६) **चन्द्र** — छठा गुरु है चन्द्र! अवधूत ने कहा, मैंने आकाश की ओर देखा। आकाश में प्रकाश दिखायी देता है इसलिए सूर्य है ऐसा अनुमान हो सकता है, परन्तु सूर्य की ओर नहीं देखा जाता। चंद्र की ओर देख सकते हैं। अत: चन्द्र मेरा गुरु हुआ।' जिसे अपना जीवन-विकास करना है, उसे चन्द्र को गुरु मानना चाहिए। चन्द्र के पास शीतलता है। इसीलिए तो हम उसे 'चन्दामामा' कहते हैं। 'मामा' में दोनों होंठ एक साथ मिलते हैं। 'काका' में दोनों अलग हो जाते हैं। 'मामा' का प्रेम ही कुछ भिन्न है। काका सहजशत्रु होता है, मगर मामा सहजमित्र होता है ऐसा कहा जाता है।

अवधूत कहते हैं कि मैंने चन्द्र को गुरु किया। चन्द्र की कलायें बढ़ती हैं और घटती हैं। **'अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते** और **नश्यति'** यह क्रम है। हमारा जीवन भी ऐसा ही है। जो बढ़ता है उसे सोचना चाहिए कि आज मैं बढ़ रहा हूँ, मगर कल घटना भी होगा। चन्द्र से शिक्षा मिलती है कि यह शरीर नश्वर है। वह कहाँ जायेगा, किस प्रकार जायेगा इसका कुछ पता ही नहीं होता। हमारा जाने का समय भी मालूम नहीं है और जगह भी मालूम नहीं है। कितने ही लोग मरने के लिए काशी में जाकर रहते हैं कारण **काशीमरणान्मुक्तिः** समझकर काशी में जाकर रहते हैं। काशी में अनेक गधे, कुत्ते भी मरते हैं क्या वे सब मुक्त होते हैं? 'काशी' का अर्थ समझकर बंबई में मरेंगे तो बम्बई भी काशी बन सकती है। काशी को कुछ कहना है समझाना है, बनाना है। हम वह समझ लेंगे और वैसा बनेंगे तो बम्बई में भी काशी ही है।

एक भाई मरने हेतु वृद्धावस्था में काशी जाकर रहा। वह तीन साल वहाँ रहने के बाद अपने पौत्र के विवाह में एक दिन बम्बई आया और उसी दिन मर गया। निश्चित नहीं है कि कहाँ मरना है और कब मरना है। शरीर नश्वर है। वह जब तक है तब तक प्रभु का काम कर लो। **श्वः कार्यमद्य कुर्वीत---।** जो कल करना है वह आज कर लो। यदि सत्कार्य करना होगा तो 'कल' शब्द निकाल दो। इतना ही नहीं, शाम को जो काम करना है वह सुबह ही कर दो। **'न हि प्रतीक्षते मृत्युः'** मृत्यु राह नहीं देखती कि आज इसे अमुक काम करना है तो जीने दो।' सत्कार्य त्वरित करो।

चन्द्र कैसे बढ़ता है? चन्द्र की सोलह कलाएं हैं। जिस दिन चन्द्र की सोलह कलाएं पूर्ण होती हैं उस दिन को **पूर्णिमा** कहते हैं। **संज्ञानं आज्ञानं विज्ञानं----** आदि जीवन की सोलह कलाएं हैं, उनको प्रभु की ओर, अध्यात्म की ओर ले जाओ ऐसा शास्त्रकार कहते हैं। भगवान ने यह मिट्टी का खिलौना बनाया है और उसके भीतर कुछ ऐसी वृत्तियाँ, ऐसा

मसाला भर दिया है जिससे यह खिलौना (शरीर) चलता है। क्या भर रखा है? तो शास्त्रकार ने लिखा है, **संज्ञानं आज्ञानं विज्ञानं---** आदि। जिससे मनुष्य बना है। उसे स्फूर्ति मिली है, चैतन्य मिला है, स्मृति, मेधा आदि वृत्तियाँ मिली हैं। उनको मोड़ देना है। सोलह कलाएं पूर्ण हो जायेंगी तब जीवन की पूर्णिमा होगी। याज्ञवल्क्य का जीवन पूर्णिमा का जीवन था यानी वह पूर्णिमा के जैसा सोलह कलाओं से पूर्ण विकसित था। उनके जीवन में आपको सभी कलाएं खिली हुई देखने को मिलती हैं। सोलह कलाएं जब खिलती हैं तब पूर्णिमा होती है।

शुक्ल पक्ष है और वद्य पक्ष है। चन्द्र के पास दोनों पक्ष हैं। शुक्ल पक्ष में वह एक-एक कला कमाता जाता है और वद्य पक्ष में एक-एक कला देता जाता है। अमावास्या के दिन चन्द्र के पास कुछ नहीं रहता। शुद्ध प्रतिपदा से वह फिर से एक-एक कला कमाना शुरू करता है। इसलिए तो चन्द्रदर्शन का महत्त्व है। आज लोग चन्द्रदर्शन क्यों करते हैं? बाजार का भाव मालूम हो इसलिए! उस दिन के चन्द्र पर से बाजार की तेजी या मंदी का पता चलता है इसलिए। इसे चन्द्रदर्शन नहीं कहते। चन्द्र ने जो कमाया था वह अमावास्या तक सब दे दिया। अब वह प्रतिपदा से फिर से कमाना शुरू करता हैं। रघुवंश के राजा ऐसे ही थे। कालिदास ने वर्णन किया है—

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः।। (रघु.५/१६/)

कालिदास कहता है कि मुझे शुक्ल पक्ष के चन्द्र की अपेक्षा वद्य पक्ष का चन्द्र अधिक अच्छा लगता है। जिसे दैवयोग से सम्पति मिली है, वह दे नहीं सकता। उसका दस साल का समय अच्छा गया इतना ही। कमाने की शक्ति जिसमें है वही दे सकता है। 'मैं फिर से कमाऊँगा' ऐसी जिसमें हिम्मत है वही दे सकता है। कमाना और सम्मानपूर्वक देना यह एक खुमारी है, उसमें एक गौरव है। यह बात चंद्र से सीखनी है।

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदवक्षयात।
रक्षितं वर्धयेत् सम्यक् वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत्।।

जो नहीं मिला है, वह प्राप्त करो, जो मिला है उसका रक्षण करो और जिसका रक्षण किया है उसे बढ़ाओ और बढ़ाया हुआ सत्कार्य में प्रयुक्त करो, ऐसा शास्त्रकार कहते हैं। यह हमारे ऋषियों का अर्थशास्त्र है। कमाओ और सम्मानपूर्वक दे दो। देना व सम्मानपूर्वक देना इसमें फर्क़ है। दैवी सम्पत्ति का दान यह भिन्न ही बात है जो भगवान ने गीता में बतायी है। चन्द्र को देखने से इन सब गुणों का पता चलता है।

चन्द्र समझाता है कि शरीर नाशवंत है, उससे काम लो। जीवन में सोलह कलाओं को विकसित करो। शुक्ल पक्ष में कमाना चाहिए वद्य पक्ष में सम्मानपूर्वक देना चाहिए। जितना प्रकाश शुक्ल पक्ष में है उतना ही प्रकाश वद्य पक्ष में भी है। लोग ऐसा समझते

हैं कि शुक्ल पक्ष यानी प्रकाश के दिन और वद्य पक्ष यानी अन्धकार के दिन। दोनों पक्षों में उतना ही प्रकाश होता है। शुक्ल पक्ष में रात्रि के प्रथम भाग में प्रकाश होता है और वद्य पक्ष में रात्रि के पिछले भाग में प्रकाश होता है, इतना ही फर्क़ है। जो साधक अथवा विद्यार्थी प्रात:काल शीघ्र उठते हैं उनको वद्य पक्ष में चन्द्र का प्रकाश देखने को मिलता है।

वद्य पक्ष में अष्टमी के दिन रात्रि में तीन बजे उठो और चन्द्र का प्रकाश देखो। जब संपूर्ण विश्व सो जाता है उस समय चन्द्र से किसी को कुछ लेना देना नहीं होता है तब भी उतनी ही शान्ति से चंन्द्र समाधानपूर्वक अकेला ही आकाश में विचरण करता है। उसमें किसी प्रकार का फर्क़ नहीं होता। शुक्ल पक्ष में सभी उसकी ओर देखते हैं, वद्य पक्ष में कोई उसकी ओर नहीं देखता है। उस समय किसी को चंन्द्र की आवश्यकता नहीं रहती। हमारे जीवन में भी ऐसा दिन आयेगा कि तब किसी को हमारी आवश्यकता नहीं होगी, कोई हमें नहीं पूछेगा, इतना ही नहीं, हमारा आस्तित्त्व भी किसी को पता नहीं होगा। उस समय उतनी ही शान्त व समाधानी वृत्ति से जीने का शिक्षण चन्द्र के पास से लेना है।

आज सभी बूढ़े व्यक्ति व्यथित हैं। वे जब युवक थे तब परिवार को उनकी आवश्यकता थी। अब परिवार के लोग अपने अपने काम में लग गये हैं तो बूढ़े को कौन पूछता है? ऐसे बूढ़ों का रविवार का दिन बहुत भयानक होता है। शाम को क्या करेंगे? अकेले क्या करेंगे? बाहर तो जा नहीं सकते। सभी लोग चले जाते हैं, कोई नहीं पूछता है। उसके अस्तित्त्व की किसी को खबर नहीं है। यौवन में जब कमाता था तब घर आने पर लड़के घेर लेते और चिल्लाते थे, "पप्पा आये, चोकलेट लाये हैं।' अब बूढ़ा बन गया है, कमाता नहीं है। अब कोने में बैठ गया है। चार लड़के हैं, वे अपनी-अपनी पत्नियों को लेकर बाहर चले गये हैं, यह अकेला पड़ा है। ऐसे समय व्यथा होती है, तब चन्द्र से सीखना चाहिए और शान्ति-समाधानपूर्वक जीना चाहिए।

जीवन में एक बार प्रकाश में आये हुए लोगों को सेवानिवृत्त होने पर कोई नहीं पूछता। कलेक्टर जब तक कुर्सी पर होता है तब तक उसे सब सलाम करते हैं, परन्तु वह सेवानिवृत्त हुआ कि कोई उसकी ओर देखता भी नहीं। उस समय शान्ति व समाधान रखने की शिक्षा चन्द्र देता है। चन्द्र हमसे कुछ कहता है, समझाता है, परन्तु हम समझते ही नहीं। चन्द्र जब कृष्ण पक्ष में विचरण करता है तब हम किसी दिन उठते ही नहीं। बुढ़ापे में नींद कम होती है, फिर भी बूढ़े लोग बाहर जाकर आकाश की ओर नहीं देखते।

चन्द्र सृष्टि में बहुत शिक्षा देता है। **'पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।'** चन्द्र अपना काम करता रहता है। लोग मानें या न मानें, उस संबंध में चन्द्र विचार नहीं करता। 'चन्द्र से मुझे यह गुण मिला' ऐसा अवधूत यदु से कहते हैं। अवधूत ने चन्द्र को गुरु बनाया और हमने उसे 'मामा' बनाया।

चन्द्र भगवान की एक आँख है। भगवान की दूसरी आँख सूर्य है।

७) **सूर्य** — सूर्य के पास से हमें कुछ लेना है। हम सब सूर्योपासक हैं। '**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।**' सूर्य के पास उपकारता, प्रकाशमयता, निर्लेपता और निष्कामता आदि गुण हैं। हमारे जीवन में भी ये गुण आने चाहिए। सूर्य से यह शिक्षा लेने के लिए हम सूर्योपासक बने हैं।

एक व्यक्ति ने लिखा है कि सूर्य को नमस्कार क्यों करना चाहिए? सूर्य को यदि नमस्कार करना है तो रास्ते पर लगे नगरपालिकाओं के दीपक को भी नमस्कार करना चाहिए। सूर्य प्रकाश देता है वैसा यह नगरपालिका का दीपक भी प्रकाश देता है।' सूर्य केवल प्रकाश नहीं देता, वह शक्ति *(Energy)* भी देता है। सूर्य एक सेकण्ड में दो लाख टन शक्ति देता है ऐसा आज के वैज्ञानिक कहते हैं। यह उनकी खोज है। कल यह भी कहेंगे कि सूर्य से एक सेकण्ड में बीस लाख शक्तिकिरण मिलती हैं, कारण विज्ञान बदलता है।

हमारी धारणा है कि सूर्य का उदय पूर्व दिशा में होता है। परन्तु यह झूठा है। जिस दिशा में सूर्य का उदय होता है उसे पूर्व दिशा कहा जाता है। सूर्य को दिशा की पराधीनता नहीं है। सूर्य के पास से नियमितता लेनी चाहिए। उसका जीवन इतना नियमित है कि जिस समय जो होना चाहिए वही होता है। सूर्य के पास से यह शिक्षा लेंगे और जिस उम्र में जो करना चाहिए वही करेंगे। '**कौमारं यौवनं जरा...**' में वैसी नियमितता होनी चाहिए। आज कुमार बूढ़ा बन गया है और बूढ़ा कुमार के जैसा वर्ताव करता है। कौमार्य, यौवन और जरा ये तीन अवस्थाएं हैं। **त्रिगुणं त्रिगुणाकारं...** इन्हें विकसित करना चाहिए। किस उम्र में क्या करना है यह निश्चित होना चाहिए। अभी कितनी उम्र हुई? पचास के हुए! आधा जीवन चला गया। किसे मालूम आधा गया कि कितना गया! हम बोलते हैं, आधा गया! इसके बाद हमें क्या करना चाहिए? कुछ निश्चित है? कुछ करते हैं? वही व्यंजन खाना, वही बातें करना इसके शिवाय दूसरा कुछ नहीं है जीवन में? जिस जीवन में जो करना चाहिए वह नियमितता है। यह शिक्षा सूर्य से लेनी है। **कौमारं यौवनं जरा** इन तीनों को जिसने जीवन में विकसित किया है वही नियमित है। हम प्रकाश के उपासक हैं।

भारतीय संस्कृति प्रकाश की उपासक है। प्रकाश की उपासना मानव मन की पुकार है। **तमसो मा ज्योतिर्गमय....** अंधकारमय जीवन को प्रकाशमय बनाना है। प्रकाशपूजा का अर्थ ज्ञानपूजा है। इसीलिए सूर्य के पास माँग की गयी, '**तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।**'

प्रकाश में सभी दिखायी देता है। मार्ग में गधा, कुत्ता, खच्चर, आदि किधर क्या है वह सब प्रकाश के कारण समझ पड़ता है। यह जो समझाता है उसे प्रकाश कहते हैं। क्या हमारे जीवन में प्रकाश है? यदि होगा तो अज्ञान के अन्धकार में कितने साँप बैठे हुऐ हैं वे दिखायी देंगे। यह सब जो देखता है उसे प्रकाश का पूजक कहते हैं। सूर्य के जीवन में कोलाहल नहीं है, कश्मल नहीं है। वैसा हमारी बुद्धि में कोलाहल नहीं होना

चाहिए। अलग-अलग बातें हम देखते हैं और उनको देखने के बाद कोलाहल शुरू हो जाता है। कश्मल खड़ा हो जाता है। भगवान ने गीता में कहा है, **'कुतस्त्वा- कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्-'** अरे! तेरी बुद्धि में ऐसा कचरा कैसे आ गया? हमारी बुद्धि में भी कचरा आ जाता है। वह नहीं आना चाहिए। यह सूर्य से सीखना है।

आज सब संकीर्णता और स्वार्थ के गुलाम बन गये हैं। हम सन्ध्या में दीप प्रज्वलित करने पर नमस्कार करते हैं। वैसे ही पूजा के समय प्रथम दीप का पूजन करते हैं। दीपज्योति की प्रार्थना करते हैं- **'यावत्पूजा समाप्तिः स्यात् तावत्त्वं सुस्थिरा भव।'** तो क्या दीप नहीं होगा तो पूजा नहीं होगी? यहाँ दीप की पूजा नहीं है, प्रकाश की पूजा है। 'मेरी बुद्धि में जो प्रकाश है, वह रहना चाहिए। बीच में ही वह चला गया तो चित्तैकाग्रता समाप्त! पूजा में बैठते समय भाव खड़ा होता है और पूजा से उठते समय भाव चला जाता है, इसीलिए घड़ी की ओर दृष्टि जाती है कि और भी कितने समय पूजा करनी है? भाव ही चला जाता है, समाप्त हो जाता है।

हम प्रकाश के उपासक हैं, प्रकाश की पूजा करते हैं। दुःख की बात है कि जिस संस्कृति ने प्रकाश की पूजा समझायी है वहाँ तम-अन्धकार की पूजा चल रही है। सब द्वेष, दैन्य, गुलामी के अन्धकार से भरे हुए हैं। उनके पास आशा, उल्लास, प्रेम का प्रकाश ले जाना है। यह सूर्य की उपासना है। सूर्य सर्वत्र जाता है और सब काम करता है।

हमारी बुद्धि संकीर्णता से भरी हुई है। वह कल का देख ही नहीं सकता। कल का भी न देखने वाला पागल मानव कलियुग में ही पैदा होता है। आज, 'मुझे जो चाहिए था वह मिल गया न? बस् पर्याप्त हुआ' यह प्रवृत्ति बन गयी है परन्तु कल का कोई विचार नहीं करता। उससे पूछना चाहिए कि श्मशान में कितने लोगों को तू जलाकर आया है? तुझे भी मरना होगा या नहीं? उसका क्या तूने विचार किया है? उसके लिए तूने क्या किया है? क्या उठाया है? इस सम्बन्ध में कुछ भी न सोचकर मनुष्य शान्ति से बैठा रहता है और कहता है- *'I am sixty eight not out-'* उसका जीवन स्वार्थ और संकीर्णता से भरा हुआ है। यह अन्धकार है। प्रकाश के उपासक हम अब तम-अन्धकार के उपासक बन गये हैं। द्वेष- मत्सर से हम भरे हुए हैं। दो बातें हैं- द्वेष और मत्सर! इनसे हमें बड़ा प्रेम है। पड़ोसी के पास कुछ नयी वस्तु आयी कि द्वेष निर्माण होता है और उसका अच्छा हुआ, यह देखकर हम मत्सर करने लगते हैं। मनुष्य के मन में द्वेष आता है परन्तु वह किसी को नहीं दिखता। उससे पूछो, 'क्या! दीवाली कैसे गयी?' तो कहेगा, 'बहुत अच्छी गयी,' परन्तु वह भीतर द्वेष से भरा हुआ है। इसलिए भगवान ने अपना स्थान सभी के भीतर रखा है, जिससे भीतर निर्माण हुआ द्वेष- मत्सर देख सकेंगे।

द्वेष- मत्सर से भरे हुए मानव के जीवन में दैन्य-दास्य का अन्धकार आ गया है। उसके पास आशा, उत्साह तथा प्रेम का प्रकाश ले जाना है। आशा व उत्साह पहले हमारे

जीवन में आने चाहिए। उसके लिए स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय से किसी दिन निराशा नहीं आती, निरुत्साह नहीं आता। स्वाध्याय में सदस्यत्व (*Membership*) नहीं है। स्वाध्याय में कंठी-माला नहीं है। स्वाध्याय की कोई संहिता *(code)* नहीं है। स्वाध्यायी यानी आशा से, उत्साह से भरा हुआ व्यक्ति। रात-दिन हमारी आज्ञा, हमारा उत्साह कम होता है। हम रविवार के दिन स्वाध्याय में एकत्रित होते हैं। हमारे हृदय में आशा व उत्साह भरने के लिए हम पाठशाला में आते हैं।

जीवन में दैन्य- दास्य का अन्धकार हैं। किसी का भी उत्कर्ष देखते ही हमें अपने दैन्य का पता चलता है। उसके उत्कर्ष की कद्र करने की बुद्धि नहीं रहती। अपने दैन्य का पता हमें पहले मालूम पड़ना चाहिए। हम परिस्थिति के गुलाम बन गये हैं। मनुष्य परिस्थिति का दास है- *'Man is a Servant of circumstances--'*

कृष्ण भगवान ने कहा है कि प्रतिकूल परिस्थिति निर्माण होती है इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु तुम परिस्थिति पर सवार होकर आगे बढ़ सकते हो। **'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।'** तुम कुछ छोटे या कम नहीं हो। 'मैं हूँ' ऐसा लगना ही चाहिए, परन्तु 'दूसरा है ही नहीं' ऐसा लगना पाप है। मनुष्य को ऐसा लगता है कि 'मैं हूँ' 'दूसरा है ही नहीं। दूसरा होगा तो वह मेरे उपयोग के लिए है, उसकी मुझे आवश्यकता है, वह उपयोग में न आता हो तो फेंक दो' ऐसा लगना पाप है।

पाप का अर्थ, 'चोरी करना' आदि बातों तक ही मर्यादित नहीं है। दूसरे के पसीने का नहीं खाना चाहिए। यह एकदम सामान्य बात है। जिसकी अस्मिता जागृत हुई है वह दूसरे के पसीने का लेगा ही नहीं! मुझे चाहिए तो स्वयं परिश्रम करूँगा और कमाऊँगा। चोरी करना नैतिक पाप है तो 'दूसरा है ही नहीं' यह समझना आध्यात्मिक पाप है। मनुष्य का 'अहम्' शब्द का अर्थ पक्का हुआ है परन्तु उसका 'त्वम्' शब्द का अभ्यास ही नहीं हुआ है।

जीवन में अन्धकार है, उसे हटाना होगा। सूर्य के जीवन में 'दूसरा ही' है। सूर्य के पास से प्रकाशमयता, उपकारिता, उत्साह, चैतन्य, आशा, प्रेम, निष्कामता जैसे गुण लेने पड़ेंगे। तभी मनुष्य का जीवन उन्नत होगा। हमारे पूर्वजों ने इसीलिए सूर्य की उपासना करने को कहा है। आज तो ब्राह्मणों के लिए ही सन्ध्या रह गयी है। वास्तव में सभी वर्णों के लिए सन्ध्या थी। सूर्य का दर्शन करो। सूर्य के पास निष्कामता है। वह किसी से कुछ नहीं मांगता और निरन्तर काम करता है। आप उसे नमस्कार करते हैं या नहीं करते, वह यह नहीं देखता। सूर्य को आप नमस्कार करेंगे तो भगवान के पास आपकी कृतज्ञता अंकित की जायेगी। सूर्य को आपसे कुछ लेना नहीं है। सूर्य ने आपसे कुछ नहीं माँगा है आपसे उसे नमस्कार की भी अपेक्षा नहीं है, और काम कर रहा है। आप भी वैसा कुछ काम करो!

कितने ही लोग सेवानिवृत्त होने के बाद सामाजिक काम करते हैं और कहते हैं, 'हम मानद *(Honorary)* काम करते हैं। परन्तु उसमें *Honour* (मान) की माँग रहती है। कोई

एकाध काम ऐसा करके दिखाओ कि जिसके पीछे स्वार्थ नहीं है, माँग या अपेक्षा नहीं है, तभी आप सूर्य के उपासक हैं ऐसा कह सकते हैं। सूर्य के उपासक को केवल अर्घ्य नहीं देना है। पुराने जमाने में ब्राह्मण यज्ञोपवीत हाथ में लेकर अर्घ्य देते थे। उसमें चैतन्य उत्साह, स्फूर्ति आदि जो कुछ गुण हैं वे हमें किसी को देना है यह भावना थी। अर्घ्य प्रदान करना एक शिक्षा है। जल का अर्घ्य देते हैं। जल का अर्थ ही उत्साह, चैतन्य, स्फूर्ति है। सुबह नींद में से जागते ही आँखों पर से पानी का हाथ फेर दो, चैतन्य आ जाता है। जल में चैतन्य है। विश्व को देने के लिए मेरे पास चैतन्य है, उत्साह है, उसका अर्घ्य मुझे प्रदान करना है।

मनुष्य को एकाध काम ऐसा करना चाहिए कि जिसके पीछे कोई कामना नहीं है। हमारे स्वाध्यायियों की भक्तिफेरी सामाजिक काम *(social work)* नहीं है। हम गाँव-गाँव में जाते हैं यह आध्यात्मिक काम है। वे किसी से कुछ नहीं लेते। जाड़े के दिन होने पर भी स्वाध्यायी किसी से चाय या कॉफी नहीं माँगते। इतना ही नहीं, अपितु चाय अथवा कॉफी कोई देगा ऐसी इच्छा भी नहीं करते। भक्तिफेरी में जानेवालों की ऐसी दृष्टि है। भक्तिफेरी में जाने पर गाँववालों से कुछ नहीं लेना ऐसा कर्मकाण्ड स्वाध्यायियों ने खड़ा किया है। किसी ने प्रसादरूप में लड्डू दिया तो भी स्वाध्यायी नहीं लेते। वे कहते हैं, 'हम तो हर दिन प्रसाद ही खाते हैं। जो कुछ खाते हैं वह भगवान को अर्पण करके ही खाते हैं। स्वाध्यायी सम्मान की भी अपेक्षा नहीं रखते। ऐसा एकाध काम करके दिखाओ तो आप सूर्य के उपासक हैं।

सूर्य के पास से निष्कामता लेनी है। 'निष्कामता' शब्द बहुत बड़ा है। भक्ति की दृष्टि आयेगी तो ही निष्कामता आयेगी। मैं मानद कामों का मजाक नहीं उड़ाता हूँ, परन्तु वे काम करनेवालों के मस्तिष्क में भक्ति नहीं है। उनमें सम्मान की इच्छा छुपी रहती है। सम्मान न मिलने पर वे काम छोड़ भी देते हैं। निष्कामता प्राप्त करने के लिए भक्ति उठानी चाहिए। मनुष्य एकाध काम निष्कामता से करेगा तो वह सूर्य की उपासना है। हमारा संपूर्ण जीवन निष्काम नहीं बन सकता कारण हम कामना से भरे हुए हैं, परन्तु एकाध काम निष्कामता से करके दिखाना चाहिए।

सूर्य के पास निर्लेपता है। कितनी ही बार बादल छा जाते हैं, धूल उड़ती है, उससे ढँक जाने पर भी सूर्य निर्लेप रहता है। ऐसी निर्लेपता सूर्य के पास से लेनी है। हमें जगत् में विचरना है, अत: कचरा आने ही वाला है, उससे निर्लेप रहने की शिक्षा सूर्य से लेनी है। सूर्य से उपकारिता भी लेनी है। उपकार करते रहना चाहिए, परन्तु उसमें सातत्य टिकाना चाहिए।

कितने ही लोगों को अपने जन्मदिवस पर मनीषा निर्माण होती है कि आज जन्मदिवस है, कुछ उपकार करेंगे। वे उस दिन कुछ दे देते हैं, परन्तु उसके पीछे सातत्य नहीं रहता। उसके पीछे कुछ संकेत नहीं है, कुछ तत्त्वज्ञान *(philosophy)* नहीं है। किसी लड़की का प्रेमपत्र *(Love letter)* पोस्टमन लाता है, तो खुश होकर उसे पाँच रूपये उठाकर दे देते

हैं, वैसी यह बात है। इसमें सातत्य नहीं है। जो काम उठायेंगे उसमें सातत्य होना चाहिए। **'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितोदृढभूमिः।'** सूर्य के पास से निष्काम कर्मयोग का सातत्य लेना है। सूर्योपासक बने बिना जीवन विकास नहीं होता। इसीलिए अवधूत ने सूर्य को गुरु माना है।

सूर्य की प्रकाशपूजा ही ज्ञानपूजा है। ज्ञान का परिणाम प्रकाश है। अत: ज्ञानपूजा आवश्यक है।

८) **कबूतर** — इतना समझाने के बाद अवधूत ने एक पक्षी को अपना गुरु बनाया। वह है कबूतर! अत्यधिक स्नेह से, आसक्ति से बुद्धि की स्वतंत्रता खत्म हो जाती है, बुद्धि सोच ही नहीं सकती, यह बात कबूतर का उदाहरण देकर समझायी है।

आँखें खुलीं कि सामने व्यक्ति अथवा वस्तु दिखायी देती है वह विषय ही है। जो विषय है वह आकर्षक होता है और आवश्यक लगता है इसमें सन्देह नहीं है। किसी पर अत्यधिक, फालतू प्रेम करना धोखा है, यह बात मैंने कबूतर से सीखी ऐसा अवधूत कहते हैं।

भागवत में कबूतर की कथा भी है। मनुष्य जीवन पर यह एक अन्योक्ति है। किसी से सीधे ऐसा नहीं कहना कि 'तू गंधा है। अगर तू गधे के जैसे व्यवहार करेगा तो तू गधा है।' ऐसा कहने से सामनेवाला समझ जाता है। अन्योक्ति द्वारा, जो कुछ समझाना है वे लोग समझाते हैं कि किसी पर सीधा आरोप न लगाओ। परोक्ष रीति से समझाकर उसे अपनी ओर खींचना चाहिए।

एक कबूतर घूम रहा था। वहाँ एक कबूतरी आ गयी। दोनों साथ में रहने लगे। साथ रहने से दोनों में प्रेम बढ़ गया। दोनों एक दूसरे पर अत्यधिक प्रेम करने लगे, आपस में लाड़ करने लगे। इस प्रकार एक पूरे परिवार का चित्र खड़ा किया है। नर को देखकर मादा खुश हो गयी। 'उसे खुश रखना यह मेरा कर्तव्य है' ऐसा कबूतर को लगा। वह कबूतरी की खुशी में अपनी खुशी मानने लगा। इतना ही नहीं, अपितु कबूतरी को खुश रखना ही अपने जीवन की इतिकर्तव्यता है ऐसा वह समझने लगा। अन्त में **अग्रे सा गजगामिनी प्रियतमा पृष्ठेऽपि सा दृश्यते.... सर्वत्र सा सर्वदा,** ऐसी कबूतर की अवस्था हो गयी। फिर उन्हें दो बच्चे हुए। उन दोनों के बच्चों को पंख आये, वे उड़ने लगे। दोनों बच्चों के पालन-पोषण में आनंद मानने लगे।

एक दिन दोनों नर-मादा अपने बच्चों के लिए भक्ष्य लाने के लिए जंगल में गये हुए थे। बच्चे इधर उधर फुदकने लगे। वहाँ एक बहेलिया घूमता-घूमता संयोगवश उनके घोसले की ओर आ निकला। बच्चों को फुदकते हुए देखकर उसने अपना जाल फैलाकर उन बच्चों को पकड़ लिया। अपना भक्ष्य लेकर कबूतर-कबूतरी वापस आने पर उन्होंने देखा कि अपने प्राणप्रिय बच्चे जाल में फँसे हुए हैं और दु:ख से चें-चें कर रहे हैं। कबूतरी के दु:ख को पारावार नहीं रहा अपने शरीर की उसको सुध-बुध नहीं रही और वह भी अपने

बच्चों को बचाने हेतु जाल में जाकर फँस गयी। अपने बच्चों तथा पत्नी को जाल में फँसा देखकर कबूतर एकदम हताश-हतबुद्ध हो गया। वह विलाप करने लगा कि 'पत्नी और बच्चों के बिना मेरा इस जगत् में कौन है? मैं अब किसके लिए जीवित रहूँ?' कहते हुए वह भी जाल में कूद पड़ा। यह मानव-परिवार का चित्रण है, परन्तु कबूतर के रूप में समझाया गया है। शौक और दु:ख से मनुष्य धर्मच्युत और कर्तव्यच्युत बन जाता है ऐसा भागवतकार ने लिखा है। कबूतर ने **अतृप्तास्मः अकृतार्थास्मः** कहकर अपने प्राणों को त्याग दिया। वाङमय में अन्योक्ति द्वारा समझाने की यह एक पद्धति है। वेदान्त कहता है, **'मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च...।'** कितने जन्म हो गये, कितनी पत्नियाँ हो गयीं, कुछ मालूम है? सब **दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि....** दीर्घ स्वप्न है ऐसा समझो।

पत्नी व बच्चे मर जाने से कबूतर को अपना जीवन अतृप्त, अकृतार्थ- व्यर्थ लगा और ञह स्वयं भी मर गया। यहाँ प्रश्न है कि 'मैं किसलिए पैदा हुआ हूँ? क्या मैं केवल परिवार के लिए ही हूँ? मुझे जीवन में क्या करना है? जीवन किसे कहते हैं?' इन बातों का जो विचार ही नहीं करते, उनकी बहुत बुरी अवस्था होती है। पत्नी तथा बच्चों का पालन-पोषण करना चाहिए यह सच बात है, परन्तु भर्तृहरि शृंगार शतक में कहता है-

विरमत बुधा योषित्संगात्सुखात् क्षणभङ्गुरात्
कुरुत करुणामैत्री प्रज्ञावधूजनसङ्गमम्।
न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलम्
शरणमथवा श्रोणीबिम्बं रणन्मणिमेखलम्।।

इस श्लोक का अर्थ समझेंगे तो अच्छी बात है और नहीं समझेंगे तो आप भाग्यशाली हैं। 'मैं किसलिए पैदा हुआ हूँ?' यह प्रश्न है। अत्यधिक प्रेम तथा आसक्ति में धोखा है। उसमें मनुष्य अपना कर्तव्य भूल जाता है। 'इस जगत् में मेरा कौन है? इस जगत् में मुझे भेजनेवाला मेरा है अथवा परिवार मेरा है? मुझे किसके लिए जीना है? क्या केवल परिवार के लिए मुझे जीना है? जिसने मुझे जन्म दिया है उसके लिए जीना है या नहीं? मुझे मानवदेह मिला है, मैं बुद्धिजीवी प्राणी हूँ, बुद्धि लेकर आया हूँ तो भगवान के लिए मुझे कुछ करना चाहिए या नहीं? अपने जीवन को सार्थक करना है या जैसा आया हूँ वैसा कोरा ही जाना है? भागवतकार ने ऐसे व्यक्ति को **आरूढ़च्युत** कहा है। आरूढ़च्युत यानी मोक्ष तक जाकर वापस आनेवाला! अवधूत कहते हैं कि हम मोक्ष तक जायेंगे ऐसी शक्ति, बुद्धि, वैभव भगवान ने दिया है। क्या नहीं दिया है भगवान ने? सब कुछ दिया है। उसका हमने क्या उपयोग किया? सुख-सम्पत्ति आदि मिलने पर भी जो भगवान का काम नहीं करता उसे आरूढ़च्युत कहा जाता है।

आरूढ़च्युत यानी **'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।'** हमें कुछ न कुछ मिला है। शारीरिक शक्ति मिली होगी या बुद्धिशक्ति, वित्तशक्ति मिली होगी। भगवान ने कुछ न कुछ साथ में भेजा ही है। हम सब कुछ लेते हैं, परन्तु कुछ काम नहीं करते हैं, केवल

सुख-सुविधा लेते हैं। सुख-सुविधा होनी ही चाहिए। आपको मालूम है कि दफ्तर में वातानुकूलित यंत्र बिठाते हैं और यह ऐशो-आराम नहीं माना जाता। उसे 'आवश्यकता' माना जाता है। जहाँ तक मेरी जानकारी है कि ऐसे यंत्रो पर होनेवाले खर्च को आयकर से छूट मिलती है। वातानुकूलित यंत्र से मनुष्य की काम करने की शक्ति बनी रहती है। उसे धन्धे का भाग माना जाता है। मनुष्य की शक्ति टिकने से उससे दुगुना काम होता है।

जिनको इस सृष्टि में प्रथम श्रेणी का जीवन अथवा सुख-सुविधाओं का जीवन मिला है वह किसलिए मिला है? उनकी शक्ति बनी रहे इसलिए मिला है। ऐसी शक्ति कहाँ प्रयुक्त करेंगे? सुबह से शाम तक काम करनेवाला जो मजदूर है उसे अपनी रोटी के लिए ही सारी शक्ति व्यय करनी पड़ती है। परन्तु कितने ही ऐसे लोग हैं, जिनकी रोटी तैयार है, रोटी कमाने में उनकी शक्ति व्यय नहीं होती है, वह बचती है। यह बची हुई जो अतिरिक्त शक्ति है उसे कहाँ व्यय करेंगें? इस सृष्टि में सब में अधिक बिगड़ा हुआ कोई होगा तो भगवान के लाड़ले लड़के हैं। मजदूर इतना नहीं बिगड़ता जितना सेठ बिगड़ता है। क्योंकि सेठ के पास अतिरिक्त शक्ति पड़ी है। विपुल मात्रा में शक्ति पड़ी है, परन्तु कुछ काम नहीं मिला तो वह चाहे उस रास्ते से भाग जाती है, परिणामस्वरूप अनन्त अपराध ये लोग करते हैं। ऐसे लाड़ले लड़कों पर अधिक उत्तरदायित्त्व है। जो बुद्धिमान हैं, वित्तवान हैं, कर्तृत्ववान हैं, उनको देखकर ही सामान्य मनुष्य बिगड़ता है। इसलिए भगवान ने जो सुख-सुविधायें दी हैं उनका स्वीकार तो करना ही चाहिए, परन्तु वे भगवान ने मुझे क्यों दी हैं, इसका भी विचार करना है।

भगवान ने जिनमें अधिक शक्ति *(plus energy)* रखी है वे लोग पैदा होने के बाद, तुरन्त मस्ती करने लग जाते हैं। दूसरों को वे हैरान करते हैं। क्यों? जीवन चलाने के लिए जो शक्ति आवश्यक है, उससे अधिक शक्ति हो तो वह कहाँ प्रयुक्त करना है इसका उनको पता नहीं चलता। परिणामस्वरूप वे लोग ही सब उलटा-सीधा कर देते हैं। वे क्लब में जाते हैं, ताश खेलते हैं, जुआ खेलते हैं, रेस में जाते हैं। इसीमें अपनी शक्ति व्यय करते हैं। सर्वत्र भोग! भोग! भोग! भोग के पीछे ही लगे हुए इन लोगों को **आरूढ़च्युत** कहते हैं। उनको सोचना चाहिए कि किसी को इतनी बुद्धि, इतनी शक्ति नहीं मिली और मुझे ही क्यों मिली है? किसी को नहीं और मुझे ही इतनी अच्छी पत्नी, इतना अच्छा लड़का क्यों मिला? क्या इसीमें मुझे मग्न रहना है? इसीमें जो मस्त बने हैं उनको **आरूढ़च्युत** कहते हैं। वे मोक्ष तक पहुँचते हैं और फिर से नीचे आकर ढल जाते हैं। उनके लिए **'मांसमीमांसयन्ति..'** ऐसा शंकराचार्य ने लिखा हैं।

'मांसमीमांसा कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा'- ऐसी तीन मीमांसाएं हैं। 'खाओ, पीओ और मजा करो' की वृत्तिवाले मांस मीमांसा की श्रेणी में आते हैं। जो परिवार के लिए तथा भौतिक जीवन के लिए आवश्यक नहीं हैं ऐसे कर्म **'कर्ममीमांसा'** में आते हैं। उन्हीं को वेदान्त में 'कर्म' कहा है। आप धन्धे के लिए बाज़ारों में अथवा दफ्तर में जाकर बैठते हैं वह कर्म नहीं है। कर्ममीमांसा के बाद ब्रह्म-मीमांसा है। शंकराचार्य ने लिखा है।

देहस्त्रीपुत्रमित्रानुचरहयवृषास्तोषहेतुर्ममेत्थं
सर्वे स्वायुर्नयन्ति प्रथितमलममी मांसमीमांसयेह
एते जीवन्ति येन व्यवहृतिपटवो येन सौभाग्यभाजः
तं प्राणाधीशमन्तर्गतममृतममुं नैव मीमांसयन्ति।। (शत.५)

देह, स्त्री, पुत्र मुझे आनन्द देते हैं, मित्र, नौकर भी आनंद देते हैं। घोड़ा है, मोटर है, आज की भाषा में कहना हो तो ये सब मुझे आनंद देते हैं, उनको सँभालना है। **'अलं'** का अर्थ होता है सब कुछ। अर्थात् उनके लिए कुछ समय तो देना ही चाहिए। भौतिक जीवन के लिए, भौतिक आनन्द के लिए भी कुछ भाग तो देना ही पड़ेगा, परन्तु सभी जीवन उनके पीछे ही लगा देना शोभा नहीं देता। जैसे अबीर है। अबीर का मस्तक पर टीका लगायेंगे तो शोभा देता है, परन्तु अबीर अच्छा है, इसलिए संपूर्ण मुख पर लगायेंगे तो? मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक केवल मांसमीमांसा ही करता है, वह दूसरा कुछ सोचता ही नहीं। पत्नी, लड़कों से ऊष्मा मिलती है, परन्तु उनकी धुन में पड़कर मनुष्य भगवान को ही भूल जाता है। वास्तव में सबसे बड़ी व महान् ऊष्मा कोई देता हो तो भगवान ही देते हैं, परन्तु मनुष्य भगवान को भूल जाता है।

एक संन्यासी को एक बार एक सेठ मिलने आया। उसने संन्यासी को नमस्कार किया। संन्यासी ने उठकर सेठ को नमस्कार किया। सेठ ने पूछा, 'आपने मुझे नमस्कार क्यों किया?' संन्यासी ने कहा, पहले तुम बताओ कि तुमने मुझे नमस्कार क्यों किया? सेठ ने कहा, 'आपने विकास के लिए भौतिक सुखों का कितना त्याग किया है?' इसलिए मैंने आपको नमस्कार किया। संन्यासी ने कहा, 'तुम तो मुझसे भी महान् त्यागी हो!' सेठ ने पूछा, कैसे? संन्यासी ने कहा, 'मैं अपने को पकड़कर बैठा हूँ और जिसने मुझे पैदा किया, जो मेरा जीवन चलाते हैं उन भगवान को पकड़कर बैठा हूँ और तुमने तो भगवान को भी छोड़ दिया है, अतः तुम मुझसे भी महान् त्यागी हो। इसलिए त्यागी को नमस्कार करना हो तो तुम्हें करना होगा। तुम भगवान का कुछ काम नहीं करते। सुबह उठने पर बाजार-भाव ही देखते हो। बम्बई में भाव, कलकत्ता में भाव, इस वस्तु का भाव, उस वस्तु का भाव, सर्वत्र भाव-भाव-भाव! इसमें से भगवान के प्रति भाव की आपको कुछ पड़ी ही नहीं, इसलिए मैंने आपको नमस्कार किया।'

बम्बई में वस्तुओं के भाव के पीछे पड़कर मनुष्य का जीवन का भाव ही चला गया है। भाव के बिना उसे कुछ मालूम ही नहीं पड़ता। ऐसा यदि जीवन है तो उसके बारे में सोचना पड़ेगा, क्योंकि विषय-सत्य है अथवा विषय बनाने वाला सत्य है? सत्यनारायण की पूजा करने वाले को सोचना चाहिए कि सत्य क्या है?

विषय सुंदर हैं या विषयों को बनानेवाला सुंदर है? विषय तो सुन्दर हैं ही, परन्तु विषयों को बनानेवाला उनसे भी सुंदर है। इसका कारण उसने विषय अपने में से ही बनाये हैं। ब्रह्म में से ही जगत् का उद्भव हुआ है। कितनी ही बार ऐसा होता है कि

कलाकृति सुंदर होती है परन्तु उसे बनानेवाला सुन्दर नहीं होता। यहाँ तो कलाकार ही स्वयं कलाकृति में प्रविष्ट हो गया है। विषय सुंदर हैं पर उनका कलाकार- भगवान उनसे भी अधिक सुंदर है।

जब मनुष्य को वित्त मिलता है, अच्छा परिवार मिलता है तब वह अपने को तो भूल ही जाता है, परन्तु यह सब देनेवाले भगवान को भी भूल जाता है। वाल्या कोली को जब नारद मिले तब उन्होंने उनसे यही प्रश्न पूछा कि, 'तू इतने लोगों को प्रतिदिन क्यों मारता है?' तब वाल्या ने कहा, 'मुझे पैसा चाहिए इसलिए!' नारद ने फिर पूछा, 'पैसा किसलिए चाहिए?' तो वह कहता है, मेरी पत्नी, मेरे लड़कों को सुखी बनाने के लिए!' कथा सभी को मालूम है। संक्षेप में कहता हूँ। नादरजी ने कहा, ऐसा! तो, जिनके लिए तू यह पापकर्म करता है, उनसे पूछकर आ कि क्या वे तेरे इस पाप में भागीदार होंगे?

वाल्या घर आकर अपने पारिवारिक जनों से पूछता है। पत्नी ने कहा, 'आप पैसा किस तरह कमाकर लाते हैं इसका मुझे क्या पता? उसका उत्तरदायित्व तो आप पर ही है न? मुझे पर कैसे हो सकता है? मैं अथवा बच्चे आपके पापकर्म में भागीदार नहीं हैं।'

शास्त्रकार भी कहते हैं कि पति ने अच्छा कर्म किया तो उसके पुण्य में पत्नी भागीदार होती है, परन्तु पति के किये हुए पापकर्म में वह सहभागी नहीं होती। उलटे, पत्नी अच्छा काम करेगी तो पति को उसके पुण्य में से भोग नहीं मिलता। पत्नी यदि कोई पापकर्म करेगी तो पति उस पाप का भागीदार बनता है। शास्त्रकार ने स्त्रीजाति को सँभाला है। विनोद में कहना हो तो, शास्त्रकार स्त्रीपक्षपाती हैं। उन्होंने पुरुषों पर अन्याय किया है। आपने शास्त्र नहीं पढ़ा है इसलिए इस अन्याय का आपको पता नहीं है।

वाल्या वापस लौटता है, तब नारद उसे कहते हैं, तू स्वयं अपने को ही भूल गया है। तुझमें शक्ति भरी हुई है, तू भगवान का लाड़ला भी बन सकता है। 'मुझे अच्छा बनना है' यह भी एक काम ही है। भगवान ने शक्ति, बुद्धि, वित्त दिया है तो अच्छा काम करो, आगे बढ़ो और भगवान के लाड़ले बन जाओ। इसका अर्थ यह नहीं है कि छोड़ देना है। परन्तु संपूर्ण जीवन विषयों की प्राप्ति में ही व्यय नहीं करना है। मनुष्य को अपने स्वयं के विकास के लिए भी जीवन का कुछ भाग रखना चाहिए। तेरा अपना भी कुछ जीवन है या नहीं, इसका क्या तूने विचार किया है? तेरे साथ कौन आयेगा? लड़का आयेगा? पत्नी आयेगी? लड़का पानी भी देगा या नहीं इसमें सन्देह है। वह पानी भी नहीं देगा। कुत्ता जैसा मरता है तो दूसरा कुत्ता उसके पास जाता है, देखता है कि यह निश्चेतन हो गया है। वह भी अपनी रोटी ढूँढने के लिए चला जाता है।

कितने ही लोग बाप के मरने पर भी अशौच (सूतक) नहीं पालते। दूसरे दिन फैक्टरी में हाजिर! ऊपर से कहते हैं कि हम सूतक नहीं पालते। मानो वे स्थितप्रज्ञ हैं? इसका अर्थ यह है कि वे भी कुत्ते के जैसे रोटी ढूँढने चल पड़े हैं। उनके इर्ष्या-शौक आदि भाव चले गये हैं।

सेठ अपने नौकर को कुछ काम के लिए कलकत्ता भेजता है। वहाँ जाकर नौकर को काम करना चाहिए। केवल रसगुल्ला खाकर वापस आयेगा तो? इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे रसगुल्ला नहीं खाना है। वह तो खाना ही चाहिए, परन्तु साथ ही सेठ का सौंपा हुआ काम भी करना चाहिए। परन्तु वह खर्चा व प्रवासभत्ता लेता है और काम न करके रसगुल्ला खाकर वापस लौटेगा तो सेठ उसे नौकरी से हटा देगा। वैसा ही मानवजीवन है। उसकी क्या हालत होगी? भगवान ने जिस काम के लिए मनुष्यदेह देकर जगत् में भेजा है, वह काम किये बिना, केवल विषयोपभोग करके वापस जायेंगे तो भगवान हमें मानव जीवन से हटा देंगे। वे कहेंगे, 'तू केवल इन्द्रियसुख के पीछे दौड़ा है, अपनी संपूर्ण शक्ति उसीमें नष्ट कर दी है। अत: तेरा स्थान पशुओं में है, तू पशुयोनि में चला जा। वह भी मेरी सन्तान है। मैं तुझे पशु बनाता हूँ यह कोई तुझे सज़ा नहीं है। मैं पशु में भी बैठा ही हूँ।' जैसा विकासक्रम *(evolution)* है वैसा अविकासक्रम *(Inevolution)* भी है।

गुजराती भाषा में, जो बहुत तत्त्वज्ञानी भाषा है, उसमें पक्षी के घर को 'माळो' और मनुष्य के घर को भी 'माळो' ही कहते हैं। दोनों के 'घर' के लिए एक ही शब्द है। हिन्दी में पक्षी के घर के लिए 'घोसला' शब्द है और मराठी भाषा में 'घरटे' कहते हैं। अंग्रजी में उसे *Nest* कहते हैं। गुजराती भाषा दोनों के लिए 'माळो' शब्द प्रयुक्त करके समझाती है कि तुम्हारे (मनुष्य) और पक्षी के जीवन में कोई फर्क नहीं है। तुम्हारा भी पक्षी के जैसा ही जीवन चल रहा है।

वित्तवान तथा वैभववान के घर में पैदा हुए लोग अपने पिता से भी अधिक पुण्यशाली हैं, कारण पैसा कमाने में पिता को जितने परिश्रम करने पड़े थे उतने इनको नहीं करने पड़ते। इनके लिए घर, दार, बंगला, पैसा सब तैयार है। यह पड़ी हुई शक्ति कहाँ प्रयुक्त करनी है इसीका इनको पता नहीं है। वे विपरीत मार्ग में उस शक्ति का व्यय करते हैं। इस प्रकार भगवान के लाड़ले लड़के बिगड़ गये हैं। खाना, पीना, व्याज कितना आता है, डिव्हीडंट कितना मिलता है इसके बिना दूसरा कुछ देखते ही नहीं। उसके ही पीछे पड़े रहते हैं। जब आप-हम उठते हैं, विषयों की ओर देखते हैं तब 'मैं और भगवान' मिलकर देखते हैं। अब उसमें से क्या हुआ? साठ साल तक मैं अपने को (मैं को) भूल गया और भगवान को भी भूल गया। न अपना काम किया न भगवान! 'मुझे स्वतंत्र जीवन है' यह कल्पना ही चली गयी। मेरा अपना विकास होना चाहिए यह भान ही नहीं रहा।

परन्तु जीवन-विकास यानी क्या? चमत्कार करने लगे तब लोग कहते हैं, 'इनका जीवन हो गया।' चमत्कार तो जादूगर भी करता है। उसे जीवन-विकास नहीं कहते हैं। **संज्ञानं आज्ञानं प्रज्ञानं विज्ञानं...** आदि सोलह कलाएं जिन्होंने विकसित की हैं, अपना मुँह भगवान की ओर मोड़ दिया है उन्होंने जीवन-विकास किया है ऐसा कहा जाता है। अपने लिए मैंने कुछ नहीं किया और न भगवान के लिए ही कुछ किया। केवल परिवार के प्रति अत्यधिक स्नेह, अत्यधिक आसक्ति रखी तो वह पूर्ण जीवन कबूतर के जैसा जीवन है।

नौकर, स्त्री-पत्नी, पैसा, व्यापार, मित्र सब अच्छे हैं मगर कब तक? जब 'मैं और भगवान' होंगे तब तक। परन्तु जीवन में क्या हुआ? साठ साल तक न देखा 'मैं' की ओर, और न किया कुछ भगवान का काम! फिर क्या रहा? इस जगत् में किसी को मुफ्त का कुछ नहीं मिलता। आपने गत जन्म में भगवान का कुछ काम किया होगा इसलिए इस जन्म में आपको भगवान ने कुछ कमी नहीं रखी। भगवान को लगा होगा कि इस जन्म में वित्त की कमी है, मगर वृत्ति अच्छी है, काम करता है, मेरे काम में पैसा व्यय करता है, अच्छी बात है। अगले जन्म में वे हमें वित्तवान बना देते हैं, परन्तु वित्त मिलते ही हम उसे संभालने में ही लग जाते है और भगवान को, भगवान के काम को भूल जाते हैं।

'मैं' और 'भगवान' को नहीं भूलना चाहिए। वित्तवानों को, जिनके पास अतिरिक्त शक्ति पड़ी है उनसे पूछो कि इस शक्ति को कहाँ प्रयुक्त करोगे? तो वे कहेंगे, 'हमें मरने की फुरसद नहीं है, तीन-तीन फैक्ट्रियाँ चल रही हैं अब चौथी शुरू करने के पीछे लगे हैं।' अरे! मरने की फुरसद नहीं तो वह निकालनी पड़ेगी। तुम्हें पूछता कौन है? 'चलो' कहते ही यमराज के साथ जाना ही पड़ता है। ऐसे ही लोग बिगड़ जाते हैं कारण वे जीवन का विचार नहीं करते।

रघुवंश में कालिदास द्वारा वर्णित 'अजविलाप' बहुत ही सुंदर है। संस्कृत भाषा ही सुंदर है। उसका अध्ययन नहीं किया हो तो हानि नहीं, परन्तु उसके लिए प्रेम तो रखो! संस्कृत धार्मिक और आध्यात्मिक *(Religious and philosophical)* भाषा है ऐसा समझकर उसे छोड़ देंगे तो वह अच्छा नहीं है। रघुवंश पढ़ते की रघुवंशी लोगों को फुरसद नहीं है, केवल 'पैसा कमाना' यह एक ही बात उनको मालूम है इसीलिए तो उनका रघुवंशी नाम मिट गया और वे रघुबंसी (!) बन गये हैं।

ऐसा वर्णन है कि अजराजा की पत्नी इन्दुमति पर नारद की वीणा की माला गिरी जिससे वह मर गयी। अतः अज विलाप करता है। विलाप करते हुए वह माला अपने हाथ में लेता है और अपने गले में पहनता है। उसे लगता है कि इस माला से इन्दुमति मर गयी तो मैं भी मर जाऊँगा। परन्तु माला पहनने पर भी वह नहीं मरता। वह कहता है कि यह माला यदि प्राणहारक है तो मैंने धारण करने पर मुझे क्यों नहीं मारती? वह कहता है—

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।।८/४६।।

भगवान की इच्छा के अनुसार कभी-कभी विष भी अमृत बनता है अथवा अमृत विष बनता है। फिर यज्ञार्थ दीक्षा लेने के कारण आश्रम में ही रह रहे वसिष्ठ गुरु ने अन्तर्ज्ञान से जाना कि राजा दुःख मोहित है। यह जानकर उन्होंने अपने शिष्य द्वारा बोधरूप सन्देश उसके पास भेजा। वसिष्ठ कहता है—

रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्।।८/८५।।

अर्थात्- 'तेरे शोक करने से वह तुझे कहाँ से मिलेगी? इतना ही नहीं, उसके पीछे जाकर (मरने से) भी वह तुझे नहीं मिलेगी, कारण परलोक में विचरण करनेवाले जीवों को अपने अपने कर्मयोग से भिन्न-भिन्न गतियां प्राप्त होती हैं।'

पति-पत्नी साथ मरने पर भी वे साथ नहीं जाते।

अवधूत कहते हैं कि 'मैंने कबूतर से शिक्षा ली है कि जीवन के बारे में कुछ सोचना है। मनुष्य स्वयं को भूलता है और भगवान को भी भूलता है। उसके पास जो कुच्छ है, उसको वह परिवार में व्यतीत करता है। जिनकी रोटी तैयार है उनको उसके लिए कुछ अधिक परिश्रम करने की जरूरत नहीं पड़ती। ऐसे लोगों को अपनी अधिक से अधिक शक्ति भगवान के काम में लगानी चाहिए। परन्तु ये ही लोग एक के बाद दूसरी कंपनी निकालते रहते हैं। वे अपने बारे में कुछ सोचते ही नहीं। भीतर बैठे हुए भगवान के सम्बन्ध में कुछ सोचना है, अपना निजी विकास करना है, स्व को उन्नत करना है, यह सोचते ही नहीं। अध्यात्म क्या है? **आज्ञानं, विज्ञानं, संज्ञानं।** परन्तु यह निजी विकास व भगवान दोनों को भूलकर परिवार चलाता है। परिवार चलाना है, सब कुछ करना है, परन्तु उसमें अत्यधिक आसक्ति व स्नेह रखने से धोख़ा होता है। विषय कब अच्छे हैं? मैं और मेरे भगवान हैं तभी विषय अच्छे हैं। पत्नी अच्छी है क्योंकि मैं हूँ और मेरे भगवान मेरे साथ हैं तब तक ही वह अच्छी है।

भगवान को पहचानना बह्यविद्या है। आत्मा का उन्नतिकरण (*Sublimation*) करके ऊपर जाना आत्मज्ञान है। मैं आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान दोनों से वंचित हूँ अतः मैंने (अवधूत ने) कबूतर से यह सीखा है कि मुझे 'मैं' को नहीं भूलना है और मुझे खड़ा करने वाले भगवान को भी नहीं भूलना है। मुझे अपनी सारी शक्ति भगवान के लिए व मेरे-अपने विकास के लिए ही प्रयुक्त करनी चाहिए। यह जागृत जीवन की शिक्षा अवधूत ने कबूतर से सीखी है। जागृत जीवन चाहिए। हम सब सोये हुए हैं। कुछ लोग नींद में चलते हैं, अपना बिस्तर बाँधते हैं और चल पड़ते हैं, उनको यह मालूम नहीं पड़ता। वैसे हम भी नींद में ही चलते हैं। हमारे जीवन में प्रकाश ही नहीं है।

९) **अजगर** — अवधूत कहते हैं कि मैंने अजगर से 'आग्रहशून्य जीवन' की शिक्षा ली। आग्रहशून्य जीवन यानी **यदृच्छा** से जो कुछ मिलेगा उसका स्वीकार करना, अजगर कुछ पाने के लिए अपनी शक्ति प्रयुक्त नहीं करता। शान्ति से बैठ जाता है। अपने आप उसके मुँह में जो आता है वह खा लेता है। **'यदृच्छालाभसन्तुष्टो।'** यह मैंने अजगर से सीखा।

तो क्या कुछ करना ही नहीं? 'निठल्ले' बैठे रहना चाहिए? ऐसा नहीं है। भोगों के प्रति उदासीनता और भक्तिभाव तथा पुण्य के लिए शक्ति प्रयुक्त करनी है। कर्म ही नहीं

करना है ऐसा नहीं, परन्तु भोगों के प्रति उदासीन रहना है। भोगों के पीछे शक्ति नहीं लगानी है। **'आयात् अवश्यं यास्यति...।'** जो मिलने वाला है वह अवश्य मिलेगा ही। उसके लिए शक्ति का व्यय नहीं करना है। क्या शक्ति का उपयोग विकासार्थ या विलासार्थ करना चाहिए? शक्ति का उपयोग विकासार्थ होना चाहिए। हमें जो इंद्रियबल, मनोबल मिला है उसका उपयोग अवश्य करेंगे, परन्तु विकासार्थ करेंगे, विलास के लिए नहीं! विलास तो मिलेगा ही। परन्तु यदृच्छा से जो मिलेगा वह रखेंगे। इस प्रकार आग्रहशून्य जीवन अजगर से सीखा।

पशु-पक्षियों से भी हमें कुछ सीखना है, यह दृष्टि हमें अवधूत यहाँ दे रहे हैं। क्या सीखना है यह महत्त्वपूर्ण बात है, महत्त्वपूर्ण विषय है। अवधूत भगवान ने जीवन उन्नत बनाने के लिए रास्ता बताया है।

प्रकृति एक वृद्ध शिक्षिका है ऐसा अवधूत ने माना है और पंचमहाभूतों से अलग-अलग शिक्षा और दीक्षा लेनी है यह समझाया है। चन्द्र-सूर्य से भी गुण लिये हैं। पक्षी को भी गुरु बनाया है। कबूतर के परिवार का चित्र अंकित करके अन्योक्ति द्वारा बताया है कि 'मैं और भगवान' को भूलकर कैसा व्यवहार होता है। जिसने 'मैं' की हत्या की है वह बड़ा हिंसक है। अहिंसा में अपनी हिंसा नहीं होनी चाहिए यह पहले देखना है। उसी प्रकार 'मैं' के पीछे जो शक्ति है उसे समझना है। यह बात अन्योक्ति द्वारा समझाकर परिवार में रहकर जागृत जीवन की शिक्षा व दीक्षा समझायी है। संसारी लोगों के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है।

संसारी-पारिवारिक मनुष्य आध्यात्मिक नहीं बन सकते यह बात बुद्ध के विचारों के बाद आयी है परन्तु वह सत्य नहीं है। हमारे सभी भगवान पारिवारिक हैं। परिवार में रहकर जागृत जीवन की शिक्षा और अजगर के पास से आग्रहशून्य जीवन की कला, इनका आशय यही है कि एक-एक गुण आने से व्यक्ति आध्यात्मिक बनता है। इन्द्रियबल और मनोबल जन्मान्तर से हमने कमाये हैं, परन्तु यह सारी शक्ति केवल उपभोगों में ही व्यय करना बहुत गलत बात है। इसलिए अजगर के माध्यम से समझाया है कि उपभोगों के प्रति, व्यावहारिक बातों के प्रति आग्रहशून्य जीवन होना चाहिए और अपने पास जो शक्ति है उसे विकासार्थ प्रयुक्त करना चाहिए।

इसके बाद अवधूत समुद्र के पास आते हैं।

१०) **समुद्र** — भारतीय संस्कृति में समुद्र का बहुत महत्त्व है। सागरस्नान सभी स्नानों में श्रेष्ठ माना जाता है। जो लोग प्रतिदिन सागर को देखते हैं उनकी बुद्धि सागर जैसी विशाल बनती है। यह हमारी धारणा है। नल के नीचे बैठकर स्नान करनेवाले की बुद्धि नल के जैसी ही संकुचित बनती है। नल से कुआँ अधिक अच्छा है। कुँए से नदी अधिक अच्छी है। नदी पवित्र है। नदी से संगम अधिक पवित्र है और संगम से भी सागर अधिक पवित्र है। इसीलिए सागरपूजा हमारी संस्कृति ने उठायी है।

अवधूत कहते हैं कि सागर कभी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। सागर बाहर से प्रसन्न व भीतर से गंभीर है। वह दुस्तर है, अनन्त है। कर्मप्रवण होते हुए भी सागर निर्विकार शान्त और दुर्विगाह्य (यह भागवतकार का शब्द है-यानी समझने में कठिन) है। ये सारे गुण समुद्र के पास जाने से मुझे मिले। साधक को भी ऐसा बनना पड़ेगा। सागर मर्यादा नहीं छोड़ता। नदियाँ उसमें आने पर भी वह अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता और एकाध नदी के न आने से वह दुबला नहीं बनता। समझ लीजिए, कल नदियाँ हड़ताल पर चली गयीं, (हड़ताल का जमाना है न?) समुद्र में नहीं आयी तो समुद्र नदियों को खोजने के लिए नहीं जायेगा। इसके लिए स्थितप्रज्ञ जीवन गीता में लिखा है— भगवान ने स्थितप्रज्ञ को समुद्र की उपमा दी है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।। २-७०।।

नदियों के आने या न आने से समुद्र अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता, वैसे साधक के पास सम्पत्ति आयी तो उसे फूलना नहीं चाहिए और विपत्ति में कमजोर नहीं होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को ही साधक कहते हैं। साधक की यह निशानी है।

उदये सविता रक्तः रक्तश्चास्तमने तथा।
संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।।

समुद्र में ज्वार और भाटा दोनों आते हैं, परन्तु वह उससे विचलित नहीं होता। ज्वार-भाटा के रूप में वह हमें ज्ञान देता है। समुद्र कैसा है? बाहर से प्रसन्न और भीतर से गंभीर! साधक को भी बाहर से प्रसन्न व भीतर से गंभीर रहना चाहिए। जीवनविकास के लिए प्रसन्नता होनी चाहिए। प्रसन्नता व प्रहृष्टता भिन्न है। समुद्र नाचता है- कूदता है, इतना ही नहीं, **तुष्यन्ति च रमन्ति च** होता है। यह गीता का अन्तिम पुरुषार्थ है। साधक को भी **'तुष्यन्ति च रमन्ति च'** के साथ भीतर में जीवन के सम्बन्ध में गंभीर विचार करना चाहिए। अपना जीवन जितना अमूल्य है उतना दूसरे का भी जीवन अमूल्य है ऐसा उसे लगता है। यदि दूसरे का यह अमूल्य जीवन बेकार चला जाता होगा तो उसे अत्यन्त व्यथा होती है जैसी निजी पूँजी चली जाने पर सेठजी को होती है। इतना अच्छा जीवन, इतनी अच्छी व्यवस्था मिली है, बुद्धि है, पैसा है, सब है परन्तु सब बेकार जाता है। साधक भीतर से गंभीर है। क्योंकि बाहर के कितने ही चित्र ऐसे हैं जो परस्पर विरोधी हैं, वे उन्हें देखने होते हैं, जिससे प्रसन्नता चली जाय। इस सृष्टि में कितना कूड़ा है, कितने दुर्विचार हैं! सृष्टि में जितनी मंगलता है उतनी ही अमंगलता भी है उसे देखकर साधक अप्रसन्न बन जाता है। जगत् में लोगों द्वारा खड़ी की हुई विपत्ति है वैसी प्रकृति की भी खड़ी की हुई विपत्ति है। इस विपत्ति से भरे हुए हम लोग हैं। परन्तु यह सभी की विपत्ति देखकर भी वह बाहर से

प्रसन्न है और भीतर से गंभीर है। सागर से यह शिक्षा लेनी चाहिए, कारण पग-पग पर हम अप्रसन्न हो जाते हैं। सुबह जाग पड़े कि हमें दूध नहीं मिलता वहाँ से अप्रसन्नता प्रारंभ होती है। पग-पग पर अप्रसन्नता खड़ी करनेवाले जगत् में जो बाहर से प्रसन्न व भीतर से गंभीर रहता है, वह साधक है।

जिस साधक को भगवान का चाहता-प्यारा बनना होगा, उसे दूसरा एक गुण जीवन में लाना पड़ेगा। सागर कर्मप्रवण होते हुए भी निर्विकार होता है। साधक को यह गुण लाना पड़ेगा। कितने ही लोग निर्विकारी होते हैं क्योंकि वे कुछ काम ही नहीं करते। जो दिन-रात काम करते हैं, उनके मन में भिन्न-भिन्न विचार आते हैं, राग-द्वेष खड़े हो जाते हैं। 'इतना कहा, फिर भी नहीं मानते' चिढ़ आ जाती है, मानसिक परेशानी होती है। कर्मप्रवण बनकर निर्विकारी रहना बहुत कठिन है। आप कर्मप्रवण बनेंगे तो निर्विकारी नहीं रहेंगे। क्योंकि आप जो करेंगे उसका फल नहीं मिलेगा, कभी कभी विपरीत फल मिलेगा। किसीसे कहा था क्या और किया क्या? क्रोध आयेगा।

ऋषियों ने अलग-अलग उच्च तत्त्वज्ञान कहा है। उसका एक भिन्न अर्थ है, परन्तु लोगों ने उस अर्थ को इतना विपरीत बना दिया है कि चिढ़ आती है। आज धर्म, संस्कृति को देखने के बाद चिढ़ आती है कि क्या यही धर्म है? यही संस्कृति है? जिस संस्कृति ने दस दस हजार वर्षों तक मानव को खड़ा किया है उसकी ऐसी दशा? साधक को चिढ़ आती है, फिर कर्मप्रवण बनकर निर्विकारी रहना अत्यन्त कठिन बात है। संस्कृति की, मानव की ऐसी हीन दशा देखकर हमारी आत्मा जलती ही नहीं। संस्कृति के प्रति, मानव के प्रति, दूसरे के प्रति कुछ लगता ही नहीं। फिर भी जिसका कुछ करने का मन है, भगवान पर दिन रात प्रेम करता है, संस्कृति पर, लोगों पर प्रेम करता है उसे निर्विकारी रहना कठिन होता है। साधक को भगवान के पास जाना होगा, भगवान का प्रिय बनना होगा, तो कर्मप्रवण बनकर निर्विकारी रहना पड़ेगा।

बारिश में घूमना है परन्तु भीगना नहीं है। हम भीगते ही नहीं, कारण हम घर छोड़कर बारिश में जाते ही नहीं। बारिश आने पर हम दरवाजे-खिड़कियाँ बंद कर देते हैं, फिर भीगेंगे कैसे? बारिश में घूमते हुए भी भीना नहीं बनना हो तो ओवरकोट पहनना चाहिए। यह ओवरकोट ही भक्ति है। भक्ति केवल कृति नहीं है, वह एक वृत्ति है। बारिश में घूमना है मगर भीगना नहीं है, कर्मप्रवण रहकर भी निर्विकारी रहना है, यह केवल भक्ति का ओवरकोट पहनने से ही संभव है।

कितने ही लोग चार लोगों में जाते ही नहीं, कारण लोगों में जाकर बैठने से मन में व्यस्तता आ जाती है, दूसरों के प्रति राग-द्वेष खड़े हो जाते हैं। इसलिए हम समूह में जाते ही नहीं। ऐसे लोगों को समाज आध्यात्मिक समझता है। लोग कहते हैं, 'ये बहुत बड़े महात्मा हैं। कैसे? इन्होंने गत पाँच वर्षों में मनुष्य को दर्शन नहीं दिये। ऐसे मनुष्य को महान कैसे कहना? जो किसीको मालूम नहीं है, वह बड़ा महात्मा होता है ऐसा नहीं है।

जगत् में घूमना है, सब कुछ देखना है, प्रेम करना है फिर भी प्रसन्न रहना है, कर्मप्रवण बनकर निर्विकारी रहना है।

समुद्र दुर्विगाह्य है- यह भागवतकार का शब्द है। दुर्विगाह्य यानी जिसे समझना मुश्किल होता है। साधक का जीवन ऐसा होता है। उसका मनोगत समझना कठिन है। ये लोग हम पर इतना प्रेम क्यों करते हैं? यह प्रश्न खड़ा होता है। उनकी मनोगति ही समझ में नहीं आती। सन्तों, महापुरुषों ने हम पर इतना प्यार क्यों किया? क्या चाहिए था उन्हें? महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम महाराज **'देव घ्या कुणी देव घ्या फुका न लगे रुका....।'** कहते हुए जगत् में विचरण करते थे। ज्ञानेश्वर भगवान ने तो गर्जना की थी, **'अवघाची संसार सुखाचा करीन-आनन्दे भरीन तीन्ही लोक।'** क्या चाहिए था उन्हें? ये लोग लोगों पर क्यों प्रेम करते थे? उनका मनोगत समझना कठिन है। हम भी लोगों के पास जाते हैं, परन्तु हमें लोगों से प्रतिष्ठा, सम्मान की चाह होती है। हमें कुछ चाहिए इसलिए हम लोगों पर प्रेम करते हैं। परन्तु महापुरुषों को तो हमसे कुछ भी नहीं चाहिए था। ऐसे महापुरुषों के लिए भागवतकार ने **दुर्विगाह्य** शब्द प्रयुक्त किया है क्योंकि उनका मनोगत समझना हमारे लिए कठिन है।

लोग पूछते हैं कि, 'शंकराचार्य, वल्लभाचार्य जैसे महापुरुष जगत् में क्यों घूमे? उनको क्या लोगों से सम्मान-पत्र चाहिए था? क्या प्रत्येक नगरपालिका से मान-पत्र मिलेगा ऐसी उनकी अपेक्षा थी? नहीं! तो फिर शंकराचार्य केरल का किनारा छोड़कर बद्रीनाथ तक क्यों घूमे? हम उसका कारण नहीं समझ पाते। साधक के मनोगत का हमें पता नहीं चलता। हमें समाज से, लोगों से कुछ अपेक्षा रहती है, परन्तु साधक जगत् पर निष्कारण प्रेम करता है। मनुष्य को सागर के जैसा **दुर्विगाह्य** बनना चाहिए।

समुद्र देता है, मगर कहता नहीं। देना और न कहना यह बहुत कठिन बात है। हम देते कुछ नहीं, परन्तु जगत् में कहते फिरते हैं। इतना ही नहीं, दूसरों के पैसों से हम अपना नाम कमाते हैं। हम कहते हैं, 'हम अध्यक्ष हैं, प्रमुख विश्वस्त हैं, परन्तु उससे हमारा अपना ऐसा क्या होता है? जायदाद किसीकी और उस पर हम बोलते हैं। ऐसे भी लोग होते हैं। उनके मस्तिष्क में यह विचार नहीं आयेगा। देना है, परन्तु कहना नहीं है। पृथ्वी का तीन चौथाई भाग समुद्र है और एक चौथाई भाग भूमि है, अतः समुद्र को लगता है कि भूमि पर रहनेवाले लोग मेरे पास आयेंगे ही और आने के बाद हर बार उनको शरमिंदा बनना पड़ेगा। इसीलिए समुद्र ने अपना पानी खारा रखा है और पानी वही देता है। सूर्य से वह कहता है पानी खींच लो। पानी ऊपर जाकर फिल्टर होता है और मीठा जल बादलों के द्वारा नीचे गिरता है। हम कहते हैं कि जल बादल देते हैं, परन्तु वास्तव में जल समुद्र देता है, परन्तु उसे किसीको शरमिंदा नहीं बनाना है, किसीको लाचार नहीं बनाना है, दीन नहीं बनाना है। देना है मगर कहना नहीं है। लेने में कला की आवश्यकता नहीं है, लेकिन देने में कला की आवश्यकता है। कैसे देना यह भी कला है। यह कला सागर के पास है। **दानम्** यह दैवी सम्पत्ति का गुण है। जेब में है, इसलिए देते हैं ऐसा

नहीं है। समुद्र जल देता है, परन्तु दूसरों के हाथों से देता है। देनेवाला कौन? 'मैं नहीं हूँ।' भारतीय संस्कृति में यही समझाया गया है।

'चातुर्मास में भगवान सो जाते हैं' यह विचार ही कितना भव्य है! भगवान सो जाते हैं, कैसे सो जाते हैं? सचमुच भगवान सो जायेंगे तो हमारा क्या होगा? हमारे जीवन में अनिवार्य जल व अन्न कार्तिक महीने में मिल जाता है। चातुर्मास्य के समय में भगवान ये वस्तुएं हमें दे देते हैं। किसान कहता है, 'भगवान! आपकी ही कृपा है, आपकी कृपा से ही अन्न व जल प्राप्त हुए हैं।' भगवान कहते हैं, 'मेरी कृपा?' इसमें तो तेरा ही कर्तृत्व है, मैं तो सो गया था। दिन रात तूने ही मेहनत की। हल चलानेवाला, काम करनेवाला तू है इसलिए तुझे यह सब मिला है।' कितनी महान् भावना है यह! परन्तु इसका रहस्य न समझने से लोग कहते हैं कि भगवान चार महीने सो गये थे। नासमझ! उनको जो समझना चाहिए वह समझने की शक्ति उनमें नहीं है। इसी प्रकार समुद्र भी हमें सीधे जल नहीं देता, अपरोक्ष रीति से बादलों द्वारा देता है। समुद्र से यह गुण, यह शिक्षा लेनी चाहिए।

वेदव्यास, वाल्मीकि जैसे महापुरुषों ने ज्वलन्त विचार दिये। वे उनके निजी विचार हैं, लेकिन वे नहीं कहते कि ये हमारे विचार हैं। वे कहते हैं, ये ऋषियों के विचार हैं, हमने लिये हैं और आपसे कहते हैं। अवधूत ने यह गुण समुद्र से लिया।

११) **पतंगा** — उसके बाद अवधूत ने पतंगा को देखा। किस रूप में देखा? दीपक की ज्योति के सौन्दर्य को देखकर पतंगा उस पर कूद पड़ता है व जल मरता है, यह चित्र अवधूत ने देखा। सृष्टि सुन्दर है, सृष्टि में रहकर सौंदर्य देखना है और मर जाना है। व्यक्ति और वस्तु में सौन्दर्य भरा हुआ है क्योंकि वह भगवान की निर्मिति *(creation)* है। सृष्टि भगवान की कला है, वह सुन्दर है। उस कला का निर्माता (भगवान) भी सुन्दर है। कभी-कभी कला सुंदर होती है, परन्तु कलाकार सुन्दर नहीं होता। परन्तु यह सृष्टि (भगवान की कला) सुंदर है और उसका निर्माता स्वयं इसमें आकर बैठा है। वह स्वयं सुन्दर होने से प्रत्येक व्यक्ति व वस्तु में कुछ न कुछ सौन्दर्य है। संपूर्ण सृष्टि सौन्दर्य से परिपूर्ण है। सौन्दर्य व्यक्तिनिष्ठ *(subjective)* है अथवा वस्तुनिष्ठ *(objective)* है यह विचार करने जैसा प्रश्न है, विवाद्य प्रश्न है। अन्तिम सौन्दर्य व्यक्तिनिष्ठ ही बन जाता है। वह वस्तुनिष्ठ होगा कैसे?

दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सुधापि मधुरैव।
तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्।।

वह व्यक्तिनिष्ठ ही होता है। सृष्टि में प्रत्येक वस्तु व व्यक्ति में सौन्दर्य भरा हुआ है। जिस प्रकार पतंगा सौन्दर्य के पीछे पागल बनकर मर जाता है, वैसा ही हाल व्यक्ति का भी होता है और उस सम्बन्ध में व्यक्ति को सोचना पड़ेगा! तो क्या व्यक्ति को सौन्दर्य से अलग रहना पड़ेगा? व्यक्ति सौंदर्य से अलग हो ही नहीं सकता।

यहाँ भागवतकार ने सौन्दर्य के लिए उपलक्षणात्मक स्त्री ली है। स्त्री का सौन्दर्य देखकर व्यक्ति कैसा मर जाता है वह भागवतकार ने समझाया है। वह उपलक्षण है। शास्त्र में उपलक्षण है -

'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'- दादी ने अपने पोते से कहा, यहाँ दही रखा है, कौआ आकर वह न खा जाय इसका ध्यान रख! इतना कहकर दादी चली गयी। पोता बैठे-बैठे देखता रहा। इतने में कुत्ता आकर दही खाने लगता है, पोता देखता है। दूर से दादी ने वह देखा और वहाँ आकर पोते से पूछा, 'तुझे क्या कहा था? दही का ध्यान रखने को कहा था न? कुत्ता आकर दही खाने लगा तो उसे भगाया क्यों नहीं?' पोते ने कहा, तूने कहा था कि कौआ दही नहीं खा जायेगा वह देखना। कुत्ता आया तो भगाने को नहीं कहा था।' यहाँ 'कौआ' शब्द उपलक्षण है। 'कौआ' यानी जो कोई दही खाने आयेगा उसो भगा देना। इसी प्रकार भागवतकार ने यहाँ उपलक्षण के रूप में स्त्री को लिया है। स्त्री का सौन्दर्य देखकर व्यक्ति (नर) कूद पड़ता है, मर जाता है। स्त्री पुरुष से अधिक सुन्दर होती है। यह विश्व का नियम है। वह सार्वत्रिक है। इसके सम्बन्ध में एक ही अपवाद है और वह है हमारा राष्ट्रीय पक्षी 'मोर।' मोर मोरनी से भी अधिक सुन्दर होता है। मोरनी अधिक सुन्दर नहीं होती।

किसी भी वस्तु में सौन्दर्य आते ही वह विषय बन जाती है। यह विवाद्य प्रश्न है। भागवतकार ने यह प्रश्न नहीं उठाया है, परन्तु विचार करनेवालों को यह प्रश्न उठाना चाहिए। स्त्री वस्तु है या विषय? स्त्री के सौन्दर्य को क्या विषय बनाना है अथवा स्त्री को व्यक्ति रखना है यह एक विवाद्य प्रश्न है। स्त्री विषय बन जाती है। इसलिए सौन्दर्य में पवित्रता भरना चाहिए। हमारे पूर्वजों की कही हुई यह युक्ति है। सौन्दर्य में पवित्रता भरना आवश्यक है तभी वह सुरक्षित रहेगा अन्यथा सौन्दर्य को सँभालना पड़ेगा। सौन्दर्य में पवित्रता भर देंगे तो उसे सँभालने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। मन्दिर की कला का रक्षण अपने आप होता है, परन्तु ताज़महल की रक्षा करने के लिए चौकीदार रखने पड़ते हैं। कारण वहाँ सुन्दरता है परन्तु पवित्रता नहीं है। सुन्दरता जहाँ-जहाँ होती है वह रक्षणीय बन जाती है। उसका रक्षण होना चाहिए। स्त्री सुन्दर है इसलिए वह रक्षणीय बनती है।

पिता रक्षति कौमार्ये भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।। (मनु.९/३४)

मंदिर की पवित्रता मन्दिर की रक्षा करती है। उसके लिए चौकीदार रखने की आवश्यकता नहीं होती। आज मन्दिर की रक्षा करने के लिए चौकीदार रखे जाते हैं, परन्तु वे भगवान के गहनों की रक्षा के लिए होते हैं। लोगों ने भगवान के गहने बनाये, उसके दरवाजे भी बनाये, फिर ताला लगा दिया। फिर रक्षा के लिए पहरेदार रख लिया। परिणामस्वरूप भगवान के जैसा कैदी दूसरा नहीं है।

इन्द्रियों का उपयोग अच्छा या बुरा हो सकता है। अच्छा उपयोग किया तो इन्द्रियाँ पवित्र हैं। बुरा उपयोग किया तो अपवित्र! शुद्ध आनन्द के लिए इन्द्रियों का उपयोग किया गया तो उसे पवित्र कहते हैं और केवल उपभोग के लिए उपयोग किया गया तो वह अपवित्र कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप, गुलाब का फूल है। उसे डाली पर खिला हुआ देखकर आनन्द हुआ तो वह शुद्ध आनन्द है। परन्तु उसी गुलाब के फूल को तोड़कर बटनहोल में लगाने की, उसे मसलकर गुलकंद बनाने की इच्छा होगी तो आनन्द का स्थान वासना लेती है और वह फूल विषय बन जाता है।

उपभोग बुरा नहीं है, परन्तु जो शुद्ध आनंद के लिए उपयोग में आता है वह पवित्र है और जो केवल उपभोगार्थ है वह अपवित्र है। फूल देखकर वह अच्छा लगता है, सुंदर लगता है, उसमें भगवान की कला दिखती है यह बुरा नहीं है, वह अनाध्यात्मिक भी नहीं है। फूल देखने पर उसे तोड़ने की व बटनहोल में लगाने की इच्छा होती है। सुबह के समय कितने ही बूढे लोग घूमने जाते हैं, उनके हाथ में लकड़ी होती है। किसी दूसरे के आँगन में फूल दीख पड़े कि डाली लकड़ी से खीचते हैं और फूल निकाल लेते हैं और कहते हैं, 'हम तो भगवान को चढ़ाने के लिए लेते हैं।' वास्तव में दूसरे के आँगन में खिले हुए फूल उसे पूछे बिना तोड़ना चोरी है, परन्तु इन लोगों को चोरी में भी पवित्रता लगती है। किधर रही भगवान की पूजा? **'मया हृतानि पूजार्थं'** ऐसा ये लोग मंत्र में क्यों बोलते हैं? जाने दो! अर्थ ही? मालूम नहीं है तो क्या करेंगे?

आप स्त्री को वस्तु समझते हैं या विषय? सौन्दर्य देखने पर वासना निर्माण होती है, इसलिए सौन्दर्य ही नष्ट कर दे ऐसी गलत समझ बीच के काल में आयी थी, वैदिक विचारधारा चली जाने के बाद, जो-जो सुंदर है उसे कुरूप कर दो, फिर वासना ही खड़ी नहीं होगी ऐसी गलत विचारधारा आ गयी थी। स्त्री विधवा बन गयी कि उसके केश काटकर उसे कुरूप कर दो जिससे किसी की उस पर नज़र ही नहीं जायेगी, इस प्रकार कुरूपता अध्यात्म का अंग बन गयी। तुम जितने कुरूप होंगे उतने आध्यात्मिक ऐसी धारणा बन गयी। कपड़ों की तरफ नहीं देखते, शरीर की तरफ ध्यान नहीं देते, जो दाढ़ी बढ़ाते हैं वे भक्त हैं, ऐसी मान्यता प्रचलित हो गयी थी। दाढ़ी न बनाना आध्यात्मिकता का अंग बन गया, भक्ति का रास्ता माना जाने लगा। किसी से पूछो, 'क्यों भाई! आजकल दाढ़ी नहीं बनाते हो?' तो वह कहता है, 'आजकल भागवत की कथा सुनता हूँ।' क्योंकि सुन्दरता नहीं आनी चाहिए। सुन्दरता आते ही वह वस्तु विषय बन जाती है। इसलिए कुरूपता अध्यात्म का अंग बन गयी और सुन्दरता, रसिकता त्याज्य मानी गयी। अध्यात्म में जो-जो सुंदर है उसे असुन्दर ठहराने का विचार आ गया। सृष्टि सुंदर है तो उसे क्षणिक ठहरा दो।

सुन्दरता प्रभु की विभूति है। व्यवहार में सुन्दरता उपभोग्य-उपभोग का विषय बन जाती है। यह एक पेच *(dilemma)* है। भोग या त्याग? सुंदरता प्रभु की विभूति है ऐसा

गीता के दसवें अध्याय में भी लिखा है कि जहाँ-जहाँ सुंदरता है वहाँ-वहाँ प्रभु हैं। इसलिए प्रत्येक वस्तु में पवित्रता देखो ऐसा हमारे शास्त्रकर कहते हैं। स्त्री को पवित्र समझो! **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:'** नारी पूजनीय है। क्यों? वह पुरुष जैसी ही है, उसमें विशेष *(Plus)* क्या है?' उसमें सुंदरता है। वह रक्षणीय नहीं बननी चाहिए। इसलिए उसमें पवित्रता रखो। जगत् का सौन्दर्य स्त्री में है इसमें सन्देह नहीं है। सभी में सौन्दर्य है। हीरे में ही सौन्दर्य है ऐसा नहीं है। कोई भी पत्थर उठाओ, सौन्दर्य देखने की दृष्टि होगी तो उसमें भी सौन्दर्य देखने को मिलेगा। आज के आधुनिक लोग अपने बड़े-बड़े दस-दस लाख रूपयों के बंगले में अलग-अलग प्रकार के पत्थर लगाते है। उसे सजावट *(decoration)* कहते हैं, उसे नवकला *(Modern Art)* के नाम पर खपाते हैं। जिसमें जो नहीं है वह डाल देना और उसमें सौंदर्य देखना, इसका अर्थ ही यह है कि प्रत्येक वस्तु तुम सौन्दर्य की दृष्टि से देख सकते हो। वस्तु या व्यक्ति में सौन्दर्य है इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु वह सौन्दर्य मनुष्य को विकारी बनाता है इसमें भी सन्देह नहीं है। इसलिए जगत् का जो सौन्दर्य है उसे निर्विकारी बनाना है। सौंदर्य में मनुष्य फँस जाता है। सौन्दर्य मादक है, दाहक है और मोहक भी है

जगत् खराब है यह भाषा ही गलत है। जगत् में सौन्दर्य नहीं है ऐसा बोलना अव्यावहारिक है। जगत् सुन्दर है, उसे निर्विकार बनाना हो तो क्या करना होगा यह प्रश्न है। क्या सुन्दर को कुरूप बनाना? क्या कुरूपता आध्यात्मिकता है? जगत् का सौंन्दर्य देखने न मिले इसलिए क्या आँखें फोड़ लेना? उसे क्या अध्यात्म कहते हैं? तो फिर जगत् के सौंन्दर्य को निर्विकारी बनाना है तो क्या करना चाहिए? सौंन्दर्य को माननीय, आदरणीय, वन्दनीय बनाओ, फिर वह भोग का नहीं अपितु सम्मान का विषय बनेगा। जगत् सुन्दर है, वह प्रभु की श्रेष्ठ कलाकृति है ऐसा समझेंगे तो वह आदरणीय बन जायेगा। श्रेष्ठ प्रभु को देखकर प्रभुकार्य को देखना है। जहाँ जहाँ सौंन्दर्य है वहाँ वह प्रभु के प्रेम का चिह्न है ऐसा समझो। जिस पर प्रभु ने अत्यन्त प्रेम से हाथ फेरा होगा वह वस्तु सुंदर बनती है। हम इस सृष्टि में आये हैं चूँकि हम पर प्रभु का बहुत प्रेम होगा। हम पर प्रेम से हाथ फेरा होगा भगवान ने! इसलिए उसे प्रभुप्रेम का चिह्न मानना है। ऐसा हुआ तो वह सौंन्दर्य आदरणीय बनेगा। व्यक्ति आदरणीय बन जायेगा।

तुम भगवान के इतने प्रिय हो, भगवान तुम्हें मानते हैं, तुम पर भगवान का इतना प्रेम है, तो तुम मेरी दृष्टि में भी आदरणीय हो। सौंदर्य देखने पर ऐसा लगना चाहिए कि भगवान अति सुन्दर हैं और वह सौंन्दर्य भगवान का प्रतिबिंब है। इस प्रकार सौंन्दर्य को, जो प्रभु का ही रूप है, माननीय, आदरणीय, वन्दनीय और पूजनीय बना दो।

सौन्दर्य के भोग में हमेशा सौन्दर्य का नाश होता है। किसी भी वस्तु का आपने उपभोग किया तो उसके सौन्दर्य का नाश हो जाता है। फूल वृक्ष पर होता है तब तक वह सुंदर लगता है, परन्तु वही फूल बटन होल में आने पर सुंदर नहीं लगता, उसका सौन्दर्य चला जाता है क्योंकि वह विषय बन गया है। वस्तु मिटकर विषय बनी कि

सौंदर्य समाप्त होता है। व्यक्ति मिटकर उपभोग का विषय बन जाता है तब उसकी सुन्दरता समाप्त हो जाती है। इसलिए भोग में सौन्दर्य का नाश है और भक्ति में सौन्दर्य का सातत्य टिकता है।

इन्द्रियासक्ति से जो देखा जाता है उसे भोग कहते हैं और हृदयासक्ति से जो देखा जाता है वह भाव कहलाता है। सुन्दर वस्तु की ओर सभी देखते हैं। एक इन्द्रियासक्ति से देखता है और दूसरा हृदयासक्ति से देखता है। सौन्दर्य की ओर किस दृष्टि से देखना है यह प्रश्न है और भक्ति का विषय है। पतंगा ज्वाला में मर गया इसका कारण वह अविकसित प्राणी है, परंतु छगनभाई गंगाशरणजी तो अविकसित नहीं हैं। वे विकसित प्राणी हैं। इसलिए उसमें भक्ति लानी पड़ेगी। पतंगा सौंदर्य से अभिभूत बनकर उसके पीछे पड़कर मर जाता है। परन्तु जीवन में भक्ति लाया हुआ व्यक्ति सौंदर्य से अभिभूत न होकर कद्र करेगा और अपना विकास कर लेगा। पतंगा क्यों मर गया? क्योंकि उसने वस्तु को विषय समझा। भक्ति में व्यक्ति, व्यक्ति ही रहता है वह विषय नहीं बनता। विषय बनाना वासना का काम है।

एकाध सुन्दर युवती मार्ग में जा रही हो, उसे कुत्ता देखता है, परन्तु कुत्ते के मन में वासना निर्माण नहीं होती। वस्तु में यदि वासना होगी तो कुत्ते में भी वासना निर्माण होनी चाहिए, परन्तु सुन्दर स्त्री को देखकर भी उसमें वासना नहीं खड़ी होती। बालक या वृद्ध व्यक्ति में भी वासना उत्पन्न नहीं होती। युवक के मन में वासना उत्पन्न होती है। उसके मन में जो कूड़ा- कचरा भरा रहता है वह 'वासना' का परिणाम है, सौंदर्य का परिणाम वासना नहीं है। इसलिए व्यक्ति के मन को- भीतर को- शुद्ध करने के लिए भक्ति की आवश्यकता है।

भक्ति केवल कृति नहीं है वह वृत्ति है, जीवनधारणा है। भक्ति विकास का मार्ग है। भक्ति जीवन को सुखी बनाने की एक राह है। भक्ति एक सामाजिक शक्ति- *(Social force)* है। यही भक्ति की महत्ता है।

जगत् में जो सुन्दर है उसे कुरूप ठहराने से वह कुरूप नहीं बनता। जो सुंदर है वह सुंदर ही रहेगा। कारण वह भगवान का सर्जन है। उसकी ओर किस दृष्टि से देखना यह महत्त्वपूर्ण है। उसके लिए दृष्टि बदलनी पड़ेगी। भक्ति की दृष्टि आने पर ही मनुष्य सौंदर्य के पीछे नष्ट नहीं होगा, अन्यथा वह नष्ट हो जायेगा। अत: सौन्दर्य को निर्विकार बनाना है। यह कोई सामान्य बात नहीं है। इस प्रश्न का सुझाव भक्ति ही कर सकेगी। आज भक्ति आरती, प्रसाद और कीर्तन में ही समाप्त होती है। भक्ति करने का विषय नहीं है, वह होनी चाहिए। करने का विषय 'उपासना' है।

भागवतकार स्त्री का उदाहरण देकर उपलक्षणात्मक रूप से समझाते हैं कि सौंदर्य मनुष्य को धोखा देता है। हजारों वर्ष पहले भागवतकार ने कहा कि भक्ति उठानी पड़ेगी। इसका अर्थ यह है कि भक्ति से ही जीवन की दृष्टि बदलनी पड़ेगी। दृष्टि बदलेगी तभी

जगत् का सौंदर्य मानवीय, आदरणीय, वन्दनीय और पूजनीय बनेगा। मानव भक्ति नहीं उठायेगा तो पतंगे के जैसा सौंदर्य के पीछे नष्ट हो जायेगा। मरना तो सभी को है, परन्तु नरदेहरूपी जो महान् साधन आज मिला है वह चला जायेगा। मनुष्य के रूप में वह मर जायेगा और पशु के रूप में आयेगा। इस सृष्टि में कुछ भी नष्ट नहीं होता। जड़ *(Matter)* नष्ट नहीं होता। उसका रूपान्तर होता है ऐसा वैज्ञानिक कहते हैं। लकड़ी से धुआँ निकलेगा, वह जलकर राख बनेगी, कोयले की भी राख बनेगी। उसी प्रकार चैतन्य *(spirit)* भी नष्ट नहीं होता। जहाँ जड़ नष्ट नहीं होता, वहाँ चैतन्य कैसे नष्ट होगा? उसका वेषान्तर होता है। **'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत... भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः.....'** कहकर चैतन्य नष्ट होता है ऐसा कहने वाली विचारधारा मूर्खों की विचारधारा है। चैतन्य नष्ट नहीं होता, बल्कि वेषान्तरित बनकर फिर से आता है। अत: सौंदर्य की ओर किस दृष्टि से देखना है यह निश्चित करना पड़ेगा। पतंगे का उदाहरण देखकर अवधूत के मन में विचार आया और भक्ति उठानी पड़ेगी ऐसा लिख दिया। जीवनविकास के लिए भक्ति अत्यावश्यक बात है।

सौन्दर्य आकृष्ट करता है, इसलिए प्रत्येक मनुष्य को सावधान रहना चाहिए। 'सृष्टि का सौन्दर्य क्षणिक है, खराब है, नश्वर है, त्याज्य है' ऐसा कहना योग्य नहीं है। वह हक़ीकत नहीं है। 'सृष्टि सुन्दर है' यह हक़ीकत है। उसे असुंदर ठहराकर भागना पलायनवाद है। जीवन की दृष्टि बदलनी चाहिए और यह काम भक्ति से ही संभव है।

१२) **भ्रमर** — फूलों में से सार ग्रहण करना मैंने भ्रमर से सीखा ऐसा अवधूत कहते हैं। अवधूत ने एक भ्रमर देखा। वह अलग-अलग फूलों में से थोड़ा सा रस लेकर संग्रह करता है। एक ही फूल में बैठकर सब रस नहीं लाता। यह देखकर अवधूत को लगा कि यह बुद्धिमान पुरुष का लक्षण है। बुद्धिमान पुरुष के लिए सभी शास्त्रों में से सार-संग्रह उचित है। सभी शास्त्र पढ़ने की आवश्यकता है, प्रत्येक शास्त्र, प्रत्येक श्रुति, प्रत्येक स्मृति के पीछे हर एक व्यक्ति की बुद्धि और वासना, भावना काम कर रही है, इसलिए उसमें से ही सार ग्रहण करना चाहिए। बुद्धिमान पुरुष को यह शिक्षा लेनी चाहिए। कुछ जीवन-विकास करना हो तो सभी शास्त्रों में से जो कुछ गुण मिल जाएं उसमें से सार उठाना चाहिए। इसलिए जो पंडित है, उसे पोथीनिष्ठ नहीं बनना चाहिए।

आज के धार्मिक लोग पोथीनिष्ठ हैं, समाजवादी भी पोथीनिष्ठ हैं। एक पुराणवादी है तो दूसरे मार्क्स-लेनिनवादी हैं। दोनों पोथीनिष्ठ हैं। जो विद्वान हैं, पण्डित हैं उनको सभी से सार संग्रह करना पड़ेगा। अलग-अलग फूलों पर बैठकर प्रत्येक में से भ्रमर (मधुकर) थोड़ा सा सार ग्रहण करता है।

मधुकर एक ही फूल-कमल पर बैठा रहेगा तो क्या होगा? वह आसक्ति कहलायेगी। आसक्ति बेकार है। आसक्ति के लिए संस्कृत में वर्णन है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार।।

एक मधुकर कमल में बैठ गया। उसे आसक्ति हो गयी। वह जिस कमलपुष्प पर बैठा था वह सूर्यविकासी कमल था इसलिए रात को बंद हो गया। कमलपुष्प को छेदकर वह बाहर निकल सकता था, परन्तु आसक्तिवश कमल छोड़ने को उसका मन नहीं हुआ और वह सोचता रहा, 'अब रात्रि समाप्त हो जायेगी, सूर्योदय होगा। यह कमलपुष्प खिलेगा और मैं बाहर निकल जाऊँगा।' वह कमल में ही बैठा रहा। रात को एक हाथी जल पीने के लिए वहाँ आया। उसने सूँड से वह कमल पुष्प तोड़कर फेंक दिया, भ्रमर मर गया। **'हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार।'** इसलिए एक ही स्थान में आसक्ति अच्छी नहीं है। पण्डितों को सभी शास्त्रों में से थोड़ा-थोड़ा सार ग्रहण करना चाहिए।

पंडितों के सम्बन्ध में जैसा है वैसा ही यतियों के सम्बन्ध में भी है। यति को एक ही घर का परिग्रह करना अयोग्य है ऐसा **'यतिधर्मसंग्रह'** में लिखा है। आज संन्यासी को एकाध सेठ का बंगला अच्छा लगता है, वहाँ की आबोहवा एकदम पसंद आती है, वह वहाँ से हटने का नाम ही नहीं लेता। संन्यासी एक स्थान में लंबे अरसे के लिए पड़ाव डालेगा तो वह अयोग्य है। उससे आसक्ति बढ़ती है इसलिए यतिधर्म के अनुसार, ऐसा करने की मनाई है।

१३) **मधुमक्खी** — अवधूत कहते हैं कि, मैंने मधुमक्खी से संग्रह न करने की शिक्षा ग्रहण की है। मधुमक्खी मधु का संग्रह करती है। परन्तु वह मधु दूसरा ही कोई भील ले जाता है। यह अवधूत ने देखा और उन्हें दो बातें ज्ञात हुई। एक बात यह कि संग्रह करना बेकार है और दूसरी बात, बिना परिश्रम के भील को वह मधु मिला। परिश्रम किया मधुमक्खी ने और उसका लाभ उठाया भील ने। मधुमक्खी ने मात्र संग्रह किया। न स्वयं खाया न दूसरों को खिलाया। मनुष्य का भी ऐसा ही है। उसे धन मिलने लगा कि संग्रह करने की इच्छा होती है। वह धन का न स्वयं के लिए उपयोग करता है और न दूसरों को देता है। सुभाषितकार कहता है-

दातव्यं भोक्तव्यं सति विभवे संचयो न कर्तव्यः।
पश्येह मधुकरीणां संचितमर्थं हरन्त्यन्ये।।

जो धन मिला है उसका उपयोग करो और दूसरों को दो। धन का केवल संग्रह न करो। अन्यथा संग्रह किया हुआ धन दूसरा ही कोई ले जायेगा। मनुष्य धन मिलने पर वह बैंक में जमा करता है। दस साल के बाद बैंक दुगुना वापस करेगी ऐसा उसका विश्वास है, तो फिर इस जन्म में जो धन मिला है वह योग्य स्थान में प्रयुक्त किया तो दूसरे जन्म में दुगुना मिलेगा ऐसा शास्त्रकार कहते हैं। उस पर मनुष्य विश्वास क्यों नहीं करता? उसे आज

जो किया है उसका तुरन्त फल चाहिए। उसका बैंक पर विश्वास है, भगवान पर विश्वास नहीं है। जो भगवान हमें चलाते हैं, उठाते हैं, खिलाते हैं, उन पर ही विश्वास नहीं? यह मनुष्य है या मूर्ख है? इसलिए कितने ही काम ऐसे हैं जो दूसरे जन्म में मिल जायेंगे। इसलिए **'दातव्यं भोक्तव्यं।'** जो कुछ मिला है उसका उपयोग करो, भोगो, नहीं तो जिसने दिया है उसकी वह बेइज्जती है। वह देता है फिर भी उपयोग नहीं करता है। कोई कुछ माँगने के लिए आया तो कहते हैं, 'हमारे पास कुछ नहीं है।' अरे! क्या नहीं है? यह नम्रता नहीं है हठधर्मिता है। नम्रता अलग है, हठधर्मिता अलग है। लोग समझते हैं, हम उतने बड़े नहीं है। यह अनुभव हमें नहीं आता, परन्तु जो सामाजिक कार्यकर्ता हैं उनको आता है। वे जब किसी के पास जाते हैं तो वह व्यक्ति बोलता है, 'आप समझते हैं उतना धन मेरे पास नहीं है।' अरे! क्यों इतना झूठ बोलते हो? भीतर बैठे हुए भगवान भी गुस्सा होते होंगे और कहते होंगे, **'तथास्तु।'** अरे! न देना हो तो हिम्मत से कहो, 'मुझे इतना ही देना है, इससे अधिक मैं नहीं दूँगा! परन्तु 'मेरे पास नहीं है' ऐसा क्यों बोलते हो? जिनके पास धन है उनके जैसे कायर लोग सृष्टि में पैदा नहीं हुए। उनमें यह कहने की हिम्मत नहीं है कि 'मेरे पास है, मगर मुझे इतना ही देना है।' उनको क्या लगेगा, वे क्या समझेंगे, क्या सोचेंगे? इसके पीछे ही परेशान रहते हैं।

मधुमक्खी का संग्रह किया मधु भील ले गया, इस पर से अवधूत को पता चला कि मधुमक्खी ने मधु खाया नहीं, दूसरे को खाने नहीं दिया इसलिए भील उठाकर ले गया। समाज में कितने ही लोग ऐसे होते हैं, जो न खाते हैं, न खिलाते हैं। केवल रखते हैं! उनके जैसा त्यागी कोई नहीं है। दाता त्यागी नहीं है क्योंकि उसे मिलनेवाला है, रखने वाले को मिलने वाला नहीं है। इसलिए **'दातव्यं भोक्तव्यं.....'** संग्रह बेकार है। इसीलिए कहा है कि दे दो। वह देना है रखना भी है और या तो खा लो। इसीको हमारी भाषा में खानदान कहते हैं। पूछते हैं, 'उसका खानदान कैसा है?' अच्छा है, खाते भी हैं और दान भी करते हैं। उसे खानदान कहते हैं। खानदान को कुटुम्ब, परिवार कहा है। खान और दान! अभी क्या रह गया है कि दान चला गया है और सभी खान साहब बन गये हैं। ऐसी स्थिति आ गयी है। दान की बात ही नहीं। केवल संग्रह करना बेकार है। सुभाषितकार कहता है—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।

वित्त की तीन गतियाँ होती हैं- दान, भोग और नाश! दान देने में देनेवाले को समाधान मिलता है और लेनेवाले को सन्तोष! देनेवाले को पुण्य मिल गया और उसका दिया हुआ फिक्स्ड डीपॉझिट में जमा हो गया। लाभ ही लाभ! दूसरी गति है- भोग। भोगने में भोगने वाले को सुख मिलता है। जो नहीं देता है या नहीं भोगता है उसके धन का नाश होता है, यह तीसरी गति है।

संग्रह आवश्यक है, परन्तु उसकी मर्यादा होनी चाहिए। संग्रह करना ही नहीं ऐसी बात नहीं है। हमारा जो पुराना अर्थशास्त्र है क्या उसमें संग्रह की बात नहीं है? क्या संग्रह करना बेकार है? वित्त रखना चाहिए या नहीं? इसकी चर्चा मार्क्स और एंजेल्स ने भी की है। उनको मानना पड़ा कि वित्त रखना पड़ेगा, यद्यपि वे वित्त-संग्रह के विरोध में थे। हम बूढ़े बन गये या पंगु *(crippled)* बन गये तो हमारा काम कौन देखेगा, कौन करेगा? अत: वित्त रखना आवश्यक है। वित्त किसे कहते हैं? आवश्यकता से जो जादा मिलता है उसे सम्पत्ति *(wealth)* कहते हैं। मान लीजिए, मुझे सौ रूपये मिलते हैं और नब्बे रूपये मेरा खर्च है, तो जो दस रूपये मेरे पास बचेंगे वह सम्पत्ति है और ऐसी सम्पत्ति रखनी चाहिए। नब्बे रूपये जो व्यय हो गये, उनको सम्पत्ति नहीं कहते। वह आवश्यकता है। आवश्यकता अलग बात है और सम्पत्ति अलग बात है।

मार्क्स और एंजेल्स ने वित्त-संग्रह के विरोधी होते हुए भी स्वीकार किया है कि सम्पत्ति आवश्यक है। उन्होंने संपत्ति का विभाजन किया है। उनको उपार्जित सम्पत्ति- *(earned property)* मान्य है। अनोपार्जित सम्पत्ति *(unearned wealth)* उनको मान्य नहीं है। उपार्जित सम्पत्ति आप रख सकते हैं, अनोपार्जित नहीं! यहाँ साम्यवाद *(communism)* का सिद्धान्त आ गया। हमारे मीमांसाशास्त्र ने भी वित्त का कितना संग्रह करना वह लिखा है, पुराने समय का परिमाण खेती का था। इसलिए लिखा है कि दस साल अवर्षण हुआ, अकाल पड़ा, कुछ भी पैदा नहीं हुआ तब भी हमारा आज के जैसा जीवन चलता रहेगा। इतना संग्रह व्यक्ति कर सकता है, करना होगा। यह बेवकूफ़ी का तत्त्वज्ञान नहीं है। जितना संग्रह करने की शास्त्रकारों ने छूट दी है उससे अधिक वित्त आ गया तो? **'वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत्।'** उसको सत्कार्य में ही व्यय करना होगा। सत्कार्य में व्यय करेंगे तो आपको समाधान मिलेगा। दूसरे को आप उठा लेंगे और आपका दिया हुआ अमानत के रूप में फिक्स्ड डिपॉझिट में जमा होगा। वह आपको मिलेगा ही। आज आपको जो मिलता है वह यों ही यानी मुफ्त का नहीं मिलता है। आपने गत जन्म में जो किया था वह आपको मिल रहा है। यहाँ व्यर्थ किसी को कुछ नहीं मिलता।

आज हम धनवान *(Haves)* के विरोधी बन गये हैं। हमें लगता है कि उनको बेकार मिलता है। बिना परिश्रम के मिलता है। जो पेन्शन लेनेवाला है वह परिश्रम करता ही नहीं। उसकी पुरानी मेहनत देखकर उसे दिया जाता है। उसने तीस साल तक सरकारी दफ्तर में मेहनत की है उसका परिणाम उसे मिल रहा है। उसकी तीस साल की मेहनत हम नहीं देखते, क्योंकि हम नये हैं, परन्तु सरकार देखती है। वैसा ही इन धनवानों ने पिछले जन्म में जो दिया है उसे भगवान देखते हैं, हम नहीं देखते, इसलिए हमें लगता है कि उनको यों ही मिल रहा है। इस जगत् में यों ही यानी मुफ्त का किसी को नहीं मिलता। इसलिए संग्रह की बात ऊँची है। हमारे शास्त्रकार बेवकूफ नहीं हैं। सोच समझकर लिखते हैं। इसलिए मधुमक्खी को देखकर अवधूत के ध्यान में दो बातें आयीं। एक, संग्रह बेकार है और भील को जो मिला वह बिना परिश्रम के मिला, अन्यथा वह बिना परिश्रम के नहीं मिल सकता। दूसरी बात प्रारब्ध से मिलता है।

हम कहते हैं कि प्रारब्ध से मिलता है। किसी से पूछो, 'क्यों भाई! भगवान का काम कब करोगे? सत्कृत्य कब करोगे?' तब वह कहता है, 'जब मेरा नसीब होगा, ऊपरवाले की इच्छा होगी तब करूँगा।' ये दो बातें हैं। इसके लिए शास्त्रकारों ने स्वतंत्र दो विभाग– प्रारब्ध और पुरुषार्थ किये हैं। इन दो बातों के सम्बन्ध में लोग बहुत उलझन में हैं। कहाँ प्रारब्ध मानना चाहिए और कहाँ पुरुषार्थ मानना चाहिए यही मालूम नहीं है। प्रारब्ध व पुरुषार्थ की व्यवस्था शास्त्रकारों ने ऐसी की है, भोगों के लिए प्रारब्ध चाहिए और कर्म के लिए पुरुषार्थ चाहिए। तो क्या सत्कर्म के लिए प्रारब्ध की जरूरत नहीं है? ऐसा नहीं है। भोग में चार आने पुरुषार्थ है और बारह आने प्रारब्ध है। आपको जो भोग मिलते हैं या मिलने वाले हैं उनमें प्रारब्ध का हिस्सा ज्यादा है। सत्कर्म, पाप-पुण्य में चार आने प्रारब्ध है और वह आपको खींचकर ले जाता है। सुबह कोई आता है और कहता है, चलो स्वाध्याय करने के लिए। यह प्रारब्ध का भाग हुआ। अब स्वाध्याय में टिकना चाहिए या नहीं, करना चाहिए या नहीं यह पुरुषार्थ-कर्तृत्व आपका है। पुरुषार्थ गति है। इस प्रकार भोग के लिए चार आने पुरुषार्थ और बारह आने प्रारब्ध है और सत्कर्म, पाप पुण्य जिसे कहा जाता है उसके सम्बन्ध में चार आने प्रारब्ध और बारह आने पुरुषार्थ! ऐसी प्रारब्ध और पुरुषार्थ की जोड़ी है। दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। इसलिए जो अवधूत ने देखा कि भील को बिना परिश्रम मिला, वह प्रारब्ध का ही भाग है। इसलिए भोग के पीछे शक्ति नहीं लगानी चाहिए। भोग के पीछे कम और सर्त्कम के पीछे अधिक शक्ति लगानी चाहिए।

हममें शक्ति तथा कौशल हैं, परन्तु सब फैक्ट्री में ही व्यय कर देते हैं, इसलिए हम भी फैक्ट्री की एक मशीन बन गये हैं। फैक्ट्री का चक्र चौबीस घण्टे घूमता ही है, वैसा हम भी घूम रहे हैं सुबह से शाम तक! किसलिए? पेट के लिए! क्यों भाई! क्या चल रहा है? तो कहता है 'कर्मयोग चल रहा है।' यह कर्मयोग नहीं अपितु कर्मभोग है। वह भी कर्मयोग बन सकता है यदि वृत्ति बदल गयी तो! भील को वैसा ही मिला। मधु रखा किसी ने और वह मिल गया भील को। परिश्रम किया चार आने का! मधु का छत्ता था भील उधर गया और उसको काट लिया। यह परिश्रम हुआ या नहीं? परिश्रम हुआ, परन्तु चार आने का और बारह आने का प्रारब्ध रहा। इसलिए हमारी सारी शक्ति भोगों के पीछे लगाना बेकार है। अवधूत यह देखकर, संसारी मनुष्य को मिली हुई शक्ति व कौशल कहाँ और कैसे प्रयुक्त करने हैं, यह समझाते हैं। हमारे पास की अधिक शक्ति *(plus energy)* हम कहाँ और किस रीति से प्रयुक्त करते हैं इस पर से हमारी संस्कृति का पता चलता है।

सुखी लोगों के पास जो अधिक शक्ति *(plus energy)* है उसे वे अयोग्य मार्ग से व्यय करते हैं, इसलिए वे गुण्डा बनते हैं। यद्यपि सभी वैसे नहीं हैं, परन्तु वैसा बनने की शक्यता रहती है। इसलिए जो अतिरिक्त शक्ति है वह भोगों के पीछे नहीं लगानी चाहिए, परन्तु भोग ऐसे ही मिलते हैं यह वे देखते हैं। अतः जो अधिक शक्ति है

उसका बंटवारा करना होगा। अपनी शक्ति का कितना भाग सत्कर्म में प्रयुक्त करना है यह हमें ही निश्चित करना होगा। वह शास्त्र नहीं कहेगा और भगवान भी नहीं कहेंगे। भगवान ने गीता में स्पष्ट भाषा में कहा है, **'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** अपना उद्धार स्वयं ही करना होगा। अपनी अधिक शक्ति कितनी प्रयुक्त करनी है, कैसे प्रयुक्त करनी है, कहाँ प्रयुक्त करनी है, क्यों प्रयुक्त करनी है इसकी निश्चित कल्पना मस्तिष्क में होनी चाहिए। इसलिए सत्कर्म के पीछे भी निश्चित विचारधारा होनी चाहिए, क्योंकि हम अनेक काम आवेश में आकर करते हैं और आवेश चले जाने पर शिथिल बनते हैं। यह नहीं चलेगा। उसके पीछे निश्चित तत्त्वज्ञान होना चाहिए। यह शिक्षा मधुमक्खी और भील से अवधूत ने ली।

१४) **हाथी** — घूमते हुए अवधूत ने हाथी को देखा। हाथी हथिनी के स्पर्श के लिए पागल बनता है। एक ही विषय उसके सामने होता है, हथिनी का स्पर्श! हथिनी के स्पर्श- सुख को ही वह जीवन का सर्वस्व मानता है। उसकी यह दुर्बलता मनुष्य को ज्ञात है। इसी दुर्बलता का लाभ उठाकर इतने बलवान हाथी को मनुष्य पकड़ सकता है। हाथी पकड़ने वाले तिनकों से ढके हुए गड्ढे पर कागज की हथिनी खड़ी कर देते हैं। उसे देखकर स्पर्श के सुख की लालसा से हाथी दौड़ते हुए आता है गड्ढे में गिरकर फँस जाता है। हाथी को दो-तीन दिन गड्ढे में ही भूखा रखते हैं जिससे उसकी शक्ति कुछ कम हो जाती है। फिर उसे बांधकर अपने अधीन कर लेते हैं। केवल स्पर्श-सुख की लालसा के कारण इतना बलशाली हाथी अपनी स्वतंत्रता गवाँ बैठता है।

बल में हाथी का बल सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। योगदर्शनकार ने शक्ति का जो माप कहा है वह **'बलेषु हस्ति बलादिनि'** ऐसा कहा है। भीम का बल कितना था? तो **'नवनागसहस्त्रबलः'** ऐसा लिखा है। भीम में नौ हजार हाथियों का बल था। उस समय बल का माप हाथी था। अब हाथी-बल चला गया है और अश्व-शक्ति *(Horse power)* ने उसका स्थान लिया है। हम और भी कितना गिरते हैं, यह देखना है। जिस देश में हाथी नहीं है उस देश के लोग अश्वबल ही कहेंगे। वे अश्वबल कहने लगे इसलिए हम भी वैसा ही कहने लगे। अब अश्वबल मशीन का यह परिमाण बन गया है। मूल बात यह है कि हथिनी के स्पर्श की कामना से इतना महान् बलशाली हाथी भी गिर जाता है, यह देखकर अवधूत कहते हैं कि स्त्री का स्पर्श व उसकी अभिलाषा मनुष्य को कर्तव्यच्युत बना देते हैं। इसलिए स्त्री-स्पर्श से दूर रहना चाहिए।

भागवत पुराण ग्रंथ होने से उसने स्त्री की निंदा की है। पुरुष की दृष्टि में स्त्री की निन्दा और स्त्री की दृष्टि में पुरुष की निंदा माननी पड़ेगी। यही गार्गी ने याज्ञवल्क्य से कहा है। वह कहती है कि पुरुष की दृष्टि में यदि स्त्री उपभोग्य है, तो स्त्री की दृष्टि में पुरुष भी उपभोग्य है। मूल बात यह है कि भागवतकार ने यह समझाया है कि इन सबसे छूटने के लिए आपको भक्ति उठानी पड़ेगी। उसका और भक्ति का क्या सम्बन्ध है? इसका विचार हमें करना है।

स्त्री और पुरुष जगत् में साथ घूमनेवाले हैं। भगवान ने यह एक सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और मानसिक उलझन खड़ी कर दी है। भगवान की निर्मिति ही ऐसी है, अन्यथा भगवान एकलिंगी प्रजा निर्माण कर सकते थे। वह न कर, भगवान ने द्विलिंगी प्रजा का निर्माण किया है। इसलिए स्त्री और पुरुष विपरीत लिंगी होते हुए भी एक साथ रहेंगे ही। वह भगवान की निर्मिति है। वह यदि वैसी ही होगी तो क्या करना होगा? इससे छूटने के लिए लोग कहते हैं कि स्त्री को त्याज्य समझो अथवा स्त्री की निंदा करके उसके प्रति घृणा निर्माण करो। ये दोनों मार्ग शास्त्रीय दृष्टि में गलत हैं। वेदों का स्त्री-पुरुष के बारे में कहना है, **'तदेतत् अर्धद्विदलं भवति....'** दोनों समान हैं। दोनों समान हैं इसीलिए हमारी भाषा में स्त्री को अर्धांगना कहते हैं। आधा अंग स्त्री का है और अधा अंग पुरुष का है। दोनों मिलकर पूर्ण पुरुष हैं। अंग्रेजी में स्त्री को *better half* कहा जाता है। एक को *better* कहने से दूसरा *lower* ठहरता है। वैदिक संस्कृति को यह मान्य नहीं है, इसलिए स्त्री को हमारे शास्त्रकारों ने अर्धांगना कहा है। दोनों समान हैं। इसलिए स्त्री के सम्बन्ध में एक प्रश्न खड़ा होता है। यह प्रश्न मण्डन मिश्र व शंकराचार्य ने खड़ा किया है। इन दोनों का संवाद दार्शनिक और तात्त्विक है, फिर भी प्रारंभ में बहुत ही विनोदी चर्चा है। मण्डन मिश्र कहता है, 'मूर्ख! स्त्री के गर्भ में तुमने निवास किया है, उसीने तुम्हारा भरण-पोषण किया है, फिर भी उसकी निंदा कर रहे हो? **'तां एव निन्दसि।'** तुम सचमुच बड़े कृतघ्न हो।' शंकराचार्य कहते हैं–

यासां स्तन्यं त्वया पीतं यासां जातोऽसि योनितः।
तासु मूर्खतम स्त्रीषु पशुवद्रमसे कथम्।।

"जिसका तूने दूध पिया और जिसकी योनि से तू उत्पन्न हुआ उन्हीं स्त्रियों के साथ तू पशु के समान आचरण करता है, तुझे लज्जा नहीं लगती है?"

यहाँ **'पशुवत्'** शब्द खास अधोरेखित *(under lined)* करने जैसा है। स्त्री के साथ पशुवत् वर्ताव यानी स्त्री की ओर केवल इन्द्रियसुख की ही दृष्टि से देखना। पशु को मानसिक, बौद्धिक अथवा आत्मिक सुख की दृष्टि ही नहीं होती। उसे केवल शारीरिक सुख ही मालूम है। मनुष्य भी स्त्री की ओर उसी दृष्टि से देखता है तो वह 'पशुवत्' दृष्टि है। **पशुवद्रमसे कथं।** ऐसे शंकराचार्य वल्लभाचार्य थे। दो विचारधाराएं हैं। एक विचारधारा स्वीकार करती है, दूसरी विचारधारा अस्वीकार करती है। अब पढ़े-लिखे लोगों के मस्तिष्क में प्रश्न खड़ा हो जाता है कि विपरीत लिंगी *(opposite sex)* का स्वीकार करें या अस्वीकार? इसलिए कुछ सोचना पड़ेगा। केवल स्त्री की निंदा करने से नहीं चलेगा। भागवतकार कहते हैं कि इसीलिए तुम्हें भक्ति उठानी पड़ेगी। क्यों ऐसा कहते हैं वे? स्त्री-पुरुष साथ रहेंगे ही और वह प्रभु की निर्मिति है। प्रभु की इच्छा है स्त्री-पुरुष! अब स्त्री-देह पुरुष का विषय बन गया है, इतना ही नहीं, तो स्त्री स्वयं अपने देह को विषय मान रही है। इसलिए वह 'व्यक्ति' मर गयी यानी व्यक्ति रही नहीं और विषय बन गयी है। व्यक्ति का व्यक्तिमत्व *(personality)* रहेगा तो वह विषय नहीं बनेगा। विषय अलग बात

है। विषय आया कि उपभोग्य और उपभोक्ता आ ही गये। आज स्त्री अपने को विषय मानती है। यह दु:ख की बात है। वह व्यक्ति न रहकर उपभोग्य वस्तु बन गयी है। वह अलंकार धारण करके रास्ते में भटकती है, फिर भी अपने को सँभालती है। उसे मनोविज्ञान में स्व-चेतना *(self consciousness)* कहते हैं। वह अलंकार धारण करके भटकती है कारण सबको अच्छा लगे इसलिए। चौबीस घंटे सावधान रहती है इसका कारण अपने को उपभोग्य मानती है। स्त्री का जो स्व-चेतन है, व्यक्तिमत्व, है उसके सम्बन्ध में विचार करना पड़ेगा। क्या विचार करेंगे?

अमेरिका की जो विचारधारा *(Thinking)* है, उससे अधिक समाजवादी विचारधारा आगे बढ़ गयी है। समाजवाद में मनोरंजन तथा व्यापार के लिए स्त्री-शरीर त्याज्य है। रूस में यह श्रेष्ठ नहीं माना गया है। समाजवाद कहता है कि मनोरंजन के लिए और प्रकट विज्ञापनों *(advertisements)* के लिए स्त्री-शरीर· त्याज्य है। विज्ञापनों में स्त्री-शरीर का उपयोग करना अच्छा नहीं है। विज्ञापन के लिए स्त्री-शरीर का उपयोग करके तुम लोगों को आकर्षित करते हो। तुम्हें टेलिफोन ओपरेटर स्त्री चाहिए। क्यों? क्या उसमें अधिक कौशल्य है? क्या उसमें शक्ति, बुद्धि, कर्तृत्व अधिक है? नहीं! वह स्त्री है इसलिए! स्वागत कक्ष में स्त्री चाहिए क्योंकि वह दूसरे को खींच सकती है इसलिए! तुम स्त्री की बुद्धि और गुणों को स्वीकार करने को तैयार नहीं हो। तुम केवल उसका शरीर स्वीकार करते हो। *(You are not ready to accept her intellect in virtues but her body only)*। यह बात समाजवाद में नहीं बैठती। इसीलिए समाजवादी देशों में मनोरंजन और व्यापार में स्त्री-शरीर त्याज्य माना है, परन्तु उन्होंने मूलभूत प्रश्न हल नहीं किया। उनका प्रश्न है, 'उपभोग में बिगड़ा क्या है? विपरीत लिंगी साथ में रहेंगे तो उपभोग में क्या बिगड़ा है? कुछ बिगड़ा नहीं है। निर्बंध की आवश्यकता ही क्या है? जितने ज्यादा निर्बंध उतनी उनको तोड़ने की कोशिश की जाती है। जितना अधिक कानून उतना अधिक व्यक्ति अध:पतित! जिस देश में अधिक कानून हैं वहाँ मनुष्य नहीं रहते, घोड़े रहते हैं। कम कानून में शासन करने की शक्ति जिसमें नहीं है वह शासक नहीं है। कम से कम कानून होने चाहिए। हर बार कानून, कानून! उसका अर्थ क्या है? उधर जो जनता है वह इन्सान नहीं है। जहाँ ज्यादा कानून होते हैं वहाँ अधिक आपत्ति आती है। इसलिए छूट या खुलापन-स्वतंत्रता- स्वीकार लो ऐसा वे लोग कहते हैं। छूट या स्वतंत्रता ले लो परन्तु सामने वाले की सम्मति आवश्यक है इतना निर्बंध रखो। किसी पर बलात्कार नहीं होना चाहिए। समाजवाद यहाँ तक आया है।

बलात्कार नहीं होना चाहिए क्योंकि समानता होनी चाहिए। केवल स्वतंत्रता ही पर्याप्त नहीं है, समानता होनी चाहिए। मुंबई के रानीबाग में पिंजरे में बकरी भी है और शेर भी है। समझ लीजिए कि दोनों को पिंजरे से बाहर निकाला, स्वतंत्रता दे दी तो परिणाम क्या होगा? दोनों को स्वतंत्रता है, शेर को खाने की और बकरी को भागने की। शेर बकरी को यथेच्छा खा लेगा, बकरी की सम्मति का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

'दूसरे को सुन्दर मानना बुरा नहीं है, एक दूसरे की अभिलाषा भी बुरी नहीं। उन दोनों में सख्य भावना निर्माण करो' ऐसा कहते हैं। शेर और बकरी में सख्य है यह कहने से दोनों को स्वतंत्रता मिल गयी और समानता भी। परिणाम इन शब्दों से नहीं चलेगा ऐसा हमारा कहना है। हम कहते हैं, **'मुरारेस्तृतीय पन्था'**- भगवान श्रीकृष्ण ने तीसरा ही रास्ता दिखाया है। आज दो रास्ते हैं ही। एक पूंजीवाद *(capitalism)* है और दूसरा समाजवाद *(communi˜m)* है। उसमें श्रीकृष्ण का **मुरारेस्तृतीय पंथा** होगा। वैसे तो स्वतंत्रता व समानता इधर भी सभी ने मान्य की है।स्त्री की समानता भी सभी ने मान्य की है। परन्तु स्वतंत्रता व समानता से प्रश्न हल नहीं होता है। यह दु:ख की बात है। इसलिए हमारे शास्त्रकारों ने कहा कि एक तीसरी बात प्रविष्ट हो जानी चाहिए। वह है पवित्रता! स्वतंत्रता और समानता के साथ पवित्रता आनी चाहिए। यहाँ भक्ति की आवश्यकता है।

केवल सख्यभावना पर्याप्त नहीं है। स्त्री-पुरुष में केवल सख्यभावना नहीं चलती, कारण स्पर्शभावना है। वह मनुष्य को पागल बनाती है। हाथी को हथिनी के स्पर्श की जो अभिलाषा है वह उसे पागल बनाती है। स्पर्शभावना व्यक्ति में मूलभूत है वह मूलभूत आकांक्षा है। स्पर्श से मनुष्य को आनंद मिलता है। सौराष्ट्र में दो व्यक्ति एक दूसरे से मिले तो वे आलिंगन देते हैं। इंग्लैंड के लोग एक दूसरे से मिलते हैं तो हस्तान्दोलन *(Shake hand)* करते हैं, कारण स्पर्शभावना! हम आदरणीय पुरुष को दूर से नमस्कार नहीं करते, उसका चरणस्पर्श करते हैं कारण उनके स्पर्श की हमें आकांक्षा रहती है। वह मूलभूत आकांक्षा है।

स्पर्श-भावना के बाद संगति-सहवास आता है, उसके बाद सम्पर्क खड़ा होता है। स्पर्श की जैसी मूलभूत आकांक्षा है वैसे ही संगति को भी मूलभूत आकांक्षा है। संगति रखनी हो तो सम्पर्क रखना पड़ेगा। बिलकुल यहीं उलझन है।

स्पर्शभावना, संगति और सम्पर्क बिना प्रयोजन और निमित्त के नहीं होते। कुछ न कुछ प्रयोजन-निमित्त रहता ही है। कहीं भी देखो, स्पर्श-भावना की परिणति संगति में है और संगति की परिणति सम्पर्क में है। अभी समझ लीजिए, बिना प्रयोजन और निमित्त के, बिना भौतिक हेतु के संगति हो जाय तो? संगति की अभिलाषा पूर्ण होगी तो? इसीलिए हमारे शास्त्रकारों ने मन्दिर बनाये, स्वाध्याय मन्त्र दिया। यहाँ जो संगति है वह बिना प्रयोजन, बिना हेतु के है। सम्पर्क हमें चाहिए। क्यों चाहिए सम्पर्क? हमें हमारे जो स्वाध्यायी हैं उनको देखना है, कुछ उठाना नहीं है। 'लेना देना बंद है फिर भी आनन्द है।' स्वाध्यायियों को क्यों देखना है? हमारी जो मूलभूत प्रेरणा- *(Instinct)* है उसे तृप्त करना है, वैसा हमारा प्रयत्न है-*we are trying to satisfy it*।

स्पर्शभावना मूलभूत है, परन्तु स्पर्श-निषेध भी है। स्पर्श-निषेध दो प्रकार का है। एक पुराणमतवादी जो व्यक्ति है जो सनातनी नहीं है। पुराणामतवादी व्यक्ति कहता हूँ, मगर सनातनी बहुत अच्छा शब्द है। पुराणमतवादी जो है, वह झाड़ूवाले को स्पर्श नहीं करता। वह उसे को अस्पृश्य मानता है। उसे अस्पृश्य मानना यह उसका स्पर्श-निषेध है। दूसरे स्पर्श-निषेध में

पुरुष स्त्री को अस्पृश्य मानता है। पुराणमतवादी के मन में झाड़ूवाले के स्पर्श निषेध में वैषयिक भावना नहीं है। समझ लीजिए कि झाड़ूवाला अच्छे वस्त्र पहनकर, स्वच्छ बनकर आया तो क्या उसको स्पर्श करता है? नहीं करता है। यह अच्छा है, ऐसा मैं नहीं कहता हूँ, मैं तो एक दृष्टान्त दे रहा हूँ। पुरुष स्त्री को अस्पृश्य मानता है इसके कारण स्त्री की स्पर्शभावना उत्तेजित करती है। झाड़ूवाले का स्पर्श वैषयिक भावना उत्तेजित नहीं करता।

स्त्री-स्पर्श का निषेध आया इसका कारण उसमें विषय वासना उत्तजित होती है। इसके लिए भक्ति चाहिए ऐसा कहा गया है। क्यों? यह मानव शरीर तीर्थक्षेत्र माना जाता है। स्त्री के शरीर को तीर्थक्षेत्र मानेंगे तो वैषयिक भावना उत्तेजित नहीं होगी। कोई कहेगा, 'स्त्री को माँ कहेंगे तो भी वैषयिक भावना उत्तेजित नहीं होती।' माँ या माता यह पारिवारिक परिभाषा है, वह सामाजिक नहीं बन सकती। सामाजिक कार्यकर्ता किसी सभा-सम्मेलन में सभी इकट्ठे हुए होंगे तभी स्त्रियों से कहते हैं, 'माताओ! तनिक बायीं ओर चले जाइये।' परन्तु माताजी सामाजिक शब्द नहीं है, वह पारिवारिक शब्द है। इसलिए माँ शब्द का उच्चार करने से व्यक्ति की भावना नहीं बदलती। इसीलिए भक्तियुक्त सख्यभावना हमें उठानी है।

कितने ही लोग मानते हैं कि यह शरीर तुच्छ है, त्याज्य है, नश्वर है, मलमूत्र से भरा हुआ है। यदि यह नरदेह नश्वर, तुच्छ और अशाश्वत है तो कोई व्यक्ति किसी की हत्या करता है तो उसे कुछ नहीं लगना चाहिए, कारण वह तो शरीर की हत्या करता है, उसकी आत्मा की हत्या कहाँ करता है? आत्मा की हत्या होती ही नहीं! पहले एक विचारकों का वर्ग था। वह कहता था कि गांधीजी ने अहिंसा निकाली। दूसरा एक सोचनेवाला वर्ग था जो कहता था कि अहिंसा मूर्खता है। हम पढ़ते ही नहीं यह अच्छी बात है। जिनके दिमाग में कुछ उलझन ही निर्माण नहीं होती वे भाग्यशाली (!) लोग हैं।

हमारे यहां अपना और दूसरे का शरीर अवध्य माना जाता है यह बात समझ लो। सेवा करने की इच्छा होती है। किसकी? शरीर की। मनुष्य को शान्ति चाहिए। किसलिए? शरीर की रक्षा के लिए। कौटुंबिक, समाजिक, सरकारी योजनाएं होती हैं वे सब शरीर रक्षणार्थ ही होती हैं। इसलिए शरीर को तुच्छ, त्याज्य मानना योग्य नहीं है। शरीर को पवित्र ही मानना होता है। क्यों? योगदर्शनकार ने कहा है, **'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।'** (योग.४०)

ठीक यहीं भक्ति की आवश्यकता है। इस शरीर के भीतर भगवान हैं, भगवान ने इस शरीर को बनाया है और वे ही इस शरीर को चलाते हैं। ये तीन बातें दूसरे का शरीर पवित्र है यह मानने के लिए पर्याप्त हैं। इसीलिए सख्यभावना होनी चाहिए, परन्तु वह भक्तियुक्त सख्यभावना होनी चाहिए।

भागवत पुराणग्रंथ होने से उसमें स्त्री-शरीर की निंदा की है, फिर भी वह लिखता है कि भक्ति की आवश्यकता है। वैदिक विचारधारा भी कहती है कि भक्ति की आवश्यकता है। **'तदेतत् अर्धद्विदलं भवति।'** इसलिए भक्तियुक्त सख्यभावना होनी चाहिए।

आज स्त्री-पुरुष समाजसेवा करते हैं। हमें समाज की सेवा नहीं करनी है। हमें समाज में परिवर्तन लाना है। समाजसेवा अलग बात है और समाज-परिवर्तन अलग बात है। स्वाध्याय परिवार को समाज का परिवर्तन अपेक्षित है। समाज का परिवर्तन करना होगा तो व्यक्ति में परिवर्तन आवश्यक है। व्यक्ति में परिवर्तन भक्ति से ही संभव है। इसलिए स्वाध्याय परिवार ने भक्ति उठायी है। भक्ति एक सामाजिक शक्ति है- *Bhakti is a social force* ! भक्ति केवल कृति नहीं हैं, आरती व प्रसाद में वह पूर्ण नहीं होती। वह एक वृत्ति है, विचारधारा है। भक्तियुक्त अन्त:करण से ही स्पर्श-भावना का प्रश्न हल हो सकता है। हाथी में भक्ति समझने के लिए बुद्धि नहीं है, परन्तु मनुष्य को भगवान ने बुद्धि दी है। भक्ति से ही मनुष्य इस उलझन में से मुक्त हो सकता है।

१५) **हिरन** — एक शिकारी हिरन का शिकार करता था। अवधूत ने वह देखा। हिरन अत्यधिक चंचल होने से शिकारी की पहुँच में नहीं आया। तब शिकारी ने विचार किया कि हिरन की दुर्बलता किसमें है? हिरन गाने का शौकीन है। गाना-संगीत सुनने से वह मोहित हो जाता है। गाने से उसे लुभाया जा सकता है। शिकारी ने गाना शुरू किया और संगीत की मधुर ध्वनि ने हिरन को लुब्ध कर दिया। संगीत सुनते हुए हिरन पागल बनकर खड़ा रहा। शिकारी घात में था ही। उसने अवसर पाकर हिरन का शिकार किया। इस घटना पर भागवतकार ने एक कथा लिखी है कि गायन से मनुष्य पथच्युत, ध्येयच्युत बनता है। इसके लिए ऋष्यशृंग का उदाहरण दिया है।

ऋष्यशृंग विभांडक ऋषि के पुत्र थे। अत्यन्त तपस्वी थे वे अपने पिता के साथ ही आश्रम में रहते थे। उस समय रोमपाद नाम का बड़ा प्रतापी व बलवान राजा अङ्गदेश का अधिपति था। उसके राज्य में अनावृष्टि होने से प्रजा अत्यन्त संत्रस्त बनी थी। उस संकट से बचाने का एक ही उपाय था जो ऋषियों ने रोमपाद को बताया। ऋष्यशृंग ऋषि को यदि इस राज्य में लाया गया तो वर्षा होगी। ऋष्यशृंग को अङ्गदेश में लाना बड़ा कठिन कार्य था क्योंकि सब उनसे डरते थे। अत: रोमपाद राजा ने अमात्य और पुरोहित की सलाह के अनुसार वेश्याओं को समझा बुझाकर ऋष्यशृंग के पास उनको अङ्गदेश में लाने के लिए भेजा। वेश्याएं ऋष्यशृंग के आश्रम के पास पहुँच गयीं और आश्रम से थोड़ी ही दूर पर ठहरकर ऋषि के दर्शन का इन्तजार करने लगीं। उस तपस्वी ने जन्म से लेकर उस समय तक कभी न तो कोई स्त्री देखी थी और न पिता के सिवा दूसरे किसी पुरुष को ही देखा था। नगर या राष्ट्र के गाँवों में पैदा हुए दूसरे प्राणियों को भी वे नहीं देख पाये थे। वेश्याओं ने अपने हावभाव तथा गायन से ऋष्यशृंग को लुभा लिया और वे ऋष्यशृंग को अङ्गदेश में लाने में सफल हुई। ऋष्यशृंग के उस देश में आते ही वर्षा हुई। रोमपाद राजा ने अपनी कन्या शान्ता (जो दशरथ की कन्या थी और रोमपाद को गोद में दी गयी थी) का उनके साथ विवाह करा दिया। जामाता बनकर ऋष्यशृंग वहीं रहने लगे। भागवतकार यहाँ यह समझाना चाहते हैं कि ऋष्यशृंग ऋषि इतने महान् तपस्वी होते हुए भी लुब्ध हो गये। जिसे अपना जीवन-विकास करना है उसे गायन-नृत्य की धुन में नहीं पड़ना चाहिए।

इससे वह पथच्युत बनता है, उसके जीवन-विकास में बाधा आ जाती है। गायन-वादन के पीछे पड़ने वाला पागल-वश्य बनता है। परतंत्र बुद्धियुक्त बनता है। भागवतकार ने 'वश्य' शब्द का प्रयोग किया है। वश्य का अर्थ है परतंत्र बुद्धि का। जिसकी बुद्धि स्वतंत्र नहीं है वह विकास कैसे कर सकता है? जीवन-विकास के लिए बुद्धि 'स्वतंत्र' चाहिए। बुद्धि को गुलाम नहीं बनाना है।

जीवन-विकास के लिए बुद्धि साधन *(Instrument)* है। इसीलिए हम मस्तिष्क पर तिलक लगाकर बुद्धि का पूजन करते हैं। सब बिगड़ गया तो भी चलेगा परन्तु बुद्धि नहीं बिगड़नी चाहिए। यदि वह बिगड़ गयी तो विचार और कृति दोनों बिगड़ जाते हैं, जीवन-विकास नष्ट हो जाता है। इसलिए भारतीय संस्कृति ने जो तिलक लगाने को कहा है वह कोई सजावट *(decoration)* नहीं है अपितु बुद्धि का पूजन है। मनुष्य को जो बुद्धि मिली है उसीसे वह भगवान के चरणों तक पहुँच सकता है। बुद्धि परंतत्र बनी कि अध:पतन होता है। ऋष्यशृंग ऋषि का उदाहरण देकर भागवतकार ने एक सिद्धान्त निकाला है कि गायन-नृत्य इत्यादि बेकार हैं। गायन सुनना ही बेकार है। तो क्या गायन नहीं सुनना चाहिए? भागवतकार ने उसकी निंदा भी की है, परन्तु गीता में भगवान ने गायनप्रधान सामवेद को अपनी विभूति माना है- **'वेदानां सामवेदोऽस्मि-'** ऐसा कहा है। सामवेद में ज्ञान है इसलिए उसे विभूति नहीं माना है। ऋग्वेद भी ज्ञानपूर्ण, यजुर्वेद कर्मप्रधान है, परन्तु उनको विभूति न मानकर सामवेद को विभूति माना है, कारण सामवेद गायनप्रधान है।

जो गाया जाता है वह टिकता है। गद्य नहीं टिकता, पद्य टिकता है। आप प्रवचन सुनकर घर गये कि सब भूल जाते हैं, परन्तु एकाध लकीर पद्य में सुनी होगी तो उसे गुनगुनाते रहेंगे। वह ध्यान में रहती है। गीता का तत्त्वज्ञान पद्य में है वही उसकी महत्ता है। अद्वैतसिद्धि, खंडनखंडखाद्य जैसे अलौकिक ग्रंथ ज्ञान से, तत्त्वज्ञान से भरे हुए हैं, परन्तु गीता की महत्ता यह है कि वह गायी जाती है। जो तत्त्वज्ञान गाया जाता है उसे गीता कहते हैं। तत्त्वज्ञान गाया जा सकता है? परस्पर विरोधी शब्द हैं, परन्तु जो तत्त्वज्ञान गाया जाता है उसकी महत्ता अधिक है।

तो क्या गायन त्याज्य है? ऋष्यशृंग की कथा देकर भागवतकार ने गायन की निंदा की है। परन्तु गायन निंद्य नहीं हो सकता। भागवतकार का कहना सूक्ष्म से पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि भागवतकार ने **'ग्राम्य'** शब्द का प्रयोग किया है यानी ग्राम्य (हल्के प्रकार का) गायन की निंदा की है। गायन की निंदा नहीं की है। सूर की निंदा नहीं की है। गुजराती में **'ग्राम्य'** शब्द गाँव (देहात) के लिए प्रयुक्त करते हैं। 'ग्राम्य लोग' यानी ग्रामीण-देहात के लोग ऐसा अर्थ होता है, परन्तु संस्कृत में ग्राम्य शब्द एकदम निम्न स्तर के लिए प्रयुक्त होता है। 'ग्राम्य' का अर्थ है अश्लील, विकारोत्तेजक! ग्राम्य गायन-अश्लील गायन-विकारोत्तेजक गायन नहीं सुनना चाहिए ऐसा भागवतकार का कहना है। सूर, गायन तथा काव्य की निंदा भागवतकार ने नहीं की है। 'ग्राम्य काव्य' सुनना वर्ज्य माना है।

जिस प्रकार विकारोत्तेजक गायन होता है, वैसा पथदर्शक और जीवनविषयक गायन भी होता है। भाववर्धक गायन, भक्तिवर्धक गायन भी होता है। इसलिए भागवतकार ने 'ग्राम्य' शब्द प्रयुक्त कर उसमें विभाग *division* किया है।

काव्य कैसा होना चाहिए। यह आज एक ज्वलन्त प्रश्न है। आज सभी साहित्यिक, सामाजिक सुधार करनेवाले लोगों का कहना है कि काव्य में वास्तविकता *(reality)* होनी चाहिए। जिसमें वस्तुस्थिति निदर्शन है वह काव्य है

क्या सिर्फ वास्तविकता से काव्य होता है? कालिदास के समय की एक दन्तकथा है। एक गणिका ने काव्य लिखा और भोज राजा के दरबार में जाकर सुनाया- **'पक्वानि जम्बूफलानि विमले जले पतन्ति मत्स्यानि न भक्ष्यन्ते....।'** जामुन का पका हुआ फल पानी में गिरा, परन्तु मछलियाँ उसे नहीं खाती।' यह क्या काव्य है? यह हकीकत- *Reality,* देखी हुई बात है, फिर भी दरबार में उसे काव्य नहीं माना गया। गणिका निराश हुई। कोई उसे कालिदास के पास ले गया। कालिदास ने उन पंक्तियों में एक शब्दसमूह अधिक जोड़ दिया और दो पंक्तियाँ हो गयी-

जम्बूफलानि पक्वानि पतन्ति विमले जले।
मत्स्यैस्तानि न भक्ष्यन्ते जालगोलकशंकया।।

इसका अर्थ यह हुआ कि मछलियों को शंका हुई कि यह जाल में अमिष (मांस का टुकड़ा) होगा इसलिए वे उस फल को नहीं खाती हैं। यहाँ कवि आ गया। जब तक काव्य में 'कवि' नहीं आता तब तक काव्य, काव्य नहीं हो सकता। जो गाया जाता है वह 'काव्य' है मगर यह ठीक नहीं है। केवल जो वस्तुस्थितिनिदर्शक होगा व गाया भी जाता होगा, फिर भी वह काव्य नहीं है, परन्तु आज जमाना बदल गया है। बड़े-बड़े लोग कहते हैं कि जो वास्तविकता है, जो समाज में चल रहा है वह हम काव्य में दिखाते हैं, वही काव्य है। वास्तव में, काव्य में वस्तुस्थिति दिखाने की आवश्यकता नहीं है, गायन की भी आवश्यकता नहीं है। काव्य में कवि की बुद्धि होनी चाहिए, दृष्टि होनी चाहिए, विचारधारा होनी चाहिए तभी उसे काव्य कहा जाता है। कालिदास ने शाकुन्तल नाटक में लिखा है-

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।। (१-१९)

शैवाल से भरे हुए तालाब में कमल सुन्दर लगते हैं, चन्द्र पर मलिनता है, कलंक है परन्तु उससे उसकी शोभा ही बढ़ती है। वल्कल पहनी हुई शकुन्तला वल्कलों में भी अधिक मनोहारी लगती है। इसमें कमल, चन्द्र व शकुन्तला का कोई सम्बन्ध नहीं, सब अव्यवस्थित लगता है, परन्तु कवि ने एक अन्तिम पंक्ति लिख दी- 'जो स्वयं सुन्दर है उसे

सभी सुंदर लगते हैं।' इससे तीन भिन्न-भिन्न अनुभवों का एकत्रीकरण हुआ और असम्बद्ध-अव्यवस्थित बातों को अर्थ मिल गया। यह कवि ने किया। उसे काव्य कहते हैं। केवल हकीकत, वस्तुनिदर्शन काव्य नहीं है, कला नहीं है, सूर नहीं है। उसके पीछे कवि होना चाहिए और कवि को बुद्धि होनी चाहिए, हृदय होना चाहिए। उसके भीतर कुछ खलबली ही नहीं मचती होगी तो वह कवि कैसे हो सकता है? उसके भीतर कुछ खलबली मचनी चाहिए, भीतर कुछ जलता है, कुछ कहता है, विधायक कहना हो तो भी कवि बोल सकता है, विध्वंसक कहना हो तो भी भीतर कुछ होना चाहिए। कवि-हृदय ही नहीं है तो काव्य कैसे होगा? फिर 'टम टम टम करती जा रही हैं' यह क्या काव्य है? 'नदी सागर से मिलती है' यह वास्तव दर्शन है, पर वहाँ कवि न होने से वह काव्य नहीं है। कवि कहता है, 'नदी सागर से नहीं मिलती है, कन्या ससुराल जा रही है और पितृवियोग से आक्रोश कर रही है' यहाँ काव्य है।

आज नाटक, सिनेमा, काव्य, लेखन सब वास्तववादी बन गये हैं। जो वास्तव *(Reality)* नहीं है वह नहीं लिखना चाहिए, परन्तु केवल वास्तविकता काव्य नहीं है, कारण वहाँ कवि नहीं है। हम हकीकत, वस्तुस्थिति देखते हैं। सभी नाटकों में जो चलता है वह दिखाते हैं। चलता है वह दिखाने की आवश्यकता नहीं है, वह तो हम देखते ही हैं। जो चलता है उसे दिखाने को ही वास्तविकता *(Reality)* कहते हैं। काव्य में वास्तविकता होनी चाहिए, परन्तु वास्तविकता के साथ कवि को कुछ समझाना है, भाव को हिलाना है, कुछ कहना है, वह काव्य है। संपूर्ण रघुवंश में क्या है? कवि को कुछ कहना है इसलिए चरित्रदर्शन लिखा है। चरित्र कैसे लिखना चाहिए, यह 'रघुवंश' में बताया गया है।

मम्मट और जैयट दो भाई थे। मम्मट साहित्यिक और जैयट वैयाकरणी था। जैयट का लड़का कैयट था। उसने व्याकरण लिखा और मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' लिखा। इनसे आगे अभी तक कोई भी साहित्यिक नहीं गया है। परन्तु लोगों को संस्कृत का ज्ञान न होने से आज के देशी साहित्यिक, चाहे वे हिन्दी के होंगे, मराठी के होंगे या गुजराती के होंगे, वे कुछ लिखते हैं और हमें लगता है कि बहुत बड़े कवि हैं। परन्तु कवि की मूलभूत धारणा कौनसी है यह 'काव्यप्रकाश' समझाता है। जहाँ कवि नहीं उसे काव्य कैसे कहेंगे। प्रत्येक पंक्ति में कवि होना चाहिए। आज सबको काव्य, नाटक आदि को वास्तववादी बनना है। कोई रचना नहीं, सुसंगति नहीं, अर्थप्रतीति नहीं ऐसा काव्य निर्माण हो रहा है। उदाहरणस्वरूप, 'मैं जा रहा था और उसको देखा,' बस्! हो गया काव्य! इसे मुक्तछंद काव्य कहते हैं। काव्य स्वरबद्ध, गानबद्ध होना चाहिए, जीवनविषयक, पथदर्शक काव्य में कवि को कुछ समझाना होता है, कुछ बदलना होता है। ये बातें जिसमें नहीं हैं वह काव्य नहीं है।

काव्य जीवनविषयक, पथदर्शक, भाववर्धक और भक्तिसम्पन्न होना चाहिए। केवल ईश्वर का गुणगान है इसीसे वह श्रेष्ठ काव्य नहीं बनता। क्योंकि ईश्वर का गुणगान सीमित है। भगवान का गुणगान तुम कितना गाओगे? भगवान के लिए आप जितने विशेषण प्रयुक्त करेंगे उतने कम ही हैं। पुष्पदन्त कहता है–

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ।। महिम्न - ३२।।

ईश्वर का गुणगान काव्य का विषय नहीं बन सकता। जीवन के विविध पहलुओं को स्पर्श करके जो पथदर्शक, जीवनविषयक, भाववर्धक होता है वही काव्य है। ईश्वर का भी काव्य हो सकता है। ईश्वर के भजन गाने चाहिए। गायन व्यर्थ नहीं है। आप क्या गाते हैं इस पर सब निर्भर है। यहाँ ग्राम्यगान शब्द प्रयुक्त किया है। गायन या सूर के पीछे कुछ कहने जैसा न हो, कुछ समझाना, कुछ बदलना न हो तो उसमें खतरा है। काव्य के पीछे कुछ निश्चित दृष्टि, निश्चित ध्येय होना चाहिए, तभी उसे काव्य कहा जाता है। काव्य कैसा होना चाहिए यह समझाने के लिए यह चर्चा है।

परन्तु आज के कवि वास्तविकता *(Reality)* को पकड़कर बैठे हैं। दिमाग में कुछ ध्येयवाद नहीं है, भीतर कुछ जलता नहीं है, उनको केवल पैसे कमाने हैं। वे चार पंक्तियाँ लिख देते हैं कि काव्य बन गया। वास्तविकता क्या है? यह कहने के लिए कवि की आवश्यकता नहीं है। 'क्या है?' इसकी अपेक्षा 'क्या होना चाहिए' यह कवि को बताना चाहिए।

हमारे स्वाध्यायी जो अलग-अलग विचारधारायें लेकर भक्तिफेरी के रूप में गाँवों में जाते हैं, वे भावगीत गाते हैं जो पाठशाला में दिये गये प्रवचनों पर बनाये होते हैं। वह काव्य है, क्योंकि जीवनविषयक तत्त्वज्ञान उसमें भरा हुआ है, जीवन समझाया गया है। क्या होना चाहिए, क्या करना चाहिए, क्या बनना चाहिए, यह सब उन भावगीतों से मिलता है। आज के कवि को कुछ बनाना ही नहीं है। केवल श्रोताओं को खुश करना है। उन्होंने वाह! वाह! किया कि हो गया काम! यह ठीक नहीं है।

भागवतकार ने गायन को त्याज्य नहीं ठहराया है, परन्तु **'ग्राम्यगायन'** त्याज्य ठहराया है। संस्कृत में ग्राम्य शब्द 'अश्लील' है, निम्नस्तर का है। ऐसे शब्द सामनेवालों को खुश करने के लिए ही लिखे जाते हैं।

ऋष्यशृंग के जैसा तपस्वी भी गानलुब्ध हुआ। इसलिए ग्राम्य व विकारोत्तेजक गायन भागवतकार ने अमान्य किया है। जीवन-विकास की चाह रखनेवालों को ऐसे गायन से दूर ही रहना चाहिए। वे उससे लुब्ध हुए कि परतंत्र बुद्धि के बनेंगे। जो परतंत्र बुद्धि के बन जाते हैं वे न कुछ सोचते हैं न कुछ कर सकते हैं। जहाँ विचार और कृति दोनों बंद हो जाते हैं, वहाँ जीवन-विकास कैसे होगा? जीवन-विकास के बारे में सोचना भी पड़ेगा, विचार करना भी पड़ेगा। दोनों की आवश्यकता है।

१६) **मछली** — फिर अवधूत मछली की सीख सुनाते हैं। उन्होंने कहा कि मच्छीमार काँटे में मांस का टुकड़ा लगाकर मछली को फँसाता है। मछली फँसती है इसका कारण

आमिष! चूहा पिंजड़े में कैसे फँसता है? पिंजड़े में कुछ खाने की वस्तु रख दो। उसको खाने के लिए चूहा पिंजड़े में प्रेवश करता है और पकड़ा जाता है। मांस के टुकड़े के लोभ से मछली अपना प्राण गंवा देती है वैसे रसना का लोभी दुर्बुद्धि मनुष्य जिह्वा के वश में हो जाता है और मारा जाता है। जिसे जीवन विकास करना है उसे रसना का मोह छोड़ना चाहिए।

रसना मनुष्य को दीन बनाती है। रसना को खुश क़रते हुए मनुष्य आयुर्वेद के सिद्धान्त भी झूठे समझता है। पेट को चाहिए वह देना है अथवा जीभ को जो पसंद है वह देना? जीभ को जो चाहिए वह पेट को जितना चाहिए उससे अधिक देने से पेट खत्म हो जाता है। रसना का मोह बड़ा बुरा है। उससे मनुष्य खत्म होता है। रोटी देखी कि पागल बन जाते हैं। रोटी चाहिए इसमें सन्देह नहीं, परन्तु उसके पीछे पागल नहीं बनना है, अन्यथा मनुष्य की रोटी बढ़ती ही जाती है। बड़े-बड़े उद्योगपति दिनरात दौड़धूप करते हैं। उनसे पूछो, 'किसलिए इतना दौड़ते हैं आप?' तो कहते हैं, 'भाई! पेट के लिए सभी कुच्छ करना पड़ता है।' मगर आपका पेट है कितना बड़ा?' उसके पेट को समाधान ही नहीं! तो फिर जीवनविकास के लिए समय ही कब मिलेगा? इसलिए रसना का मोह बेकार है।

१७) **टिटिहरी** — उसके बाद अवधूत ने टिटिहरी देखी। उसके चोंच में मांस का टुकड़ा था। दूसरी जो टिटिहरियाँ थी उनके पास मांस नहीं था, खाना नहीं था। इसलिए उन्होंने इस टिटिहरी को हैरान कर दिया। उसने सोचा, जब तक मेरी चोंच में मांस है तब तक ये टिटिहरियाँ हैरान करेंगी। उसने मांस के टुकड़े को फेंक दिया हैरान करनेवाली टिटिहरियाँ उसे छोड़कर चली गयी। उसकी हैरानगति खत्म हुई तथा उसे समाधान हुआ।

भागवतकार कहते हैं कि अपसंग्रह करने से तकलीफ होती है। उसे छोड़ देंगे तो तकलीफ समाप्त हो जायेगी। भागवतकार ने यहाँ एक सुंदर चित्र खड़ा किया है। लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि सब संपत्ति फेंक दो। यहाँ मांस का अर्थ होता है, उपभोग्य वस्तु। उपभोग्य वस्तु कहाँ से आयी? किसने दी? किधर से लायी? इन सब बातों का विचार न कर, उस वस्तु को फेंक देने की भाषा बोलना कहाँ तक उचित है? जिसके पास संपत्ति है वह क्या संपत्ति फेंककर गरीब बन जाए? गरीब बनने पर उसकी तकलीफ खत्म हो जायेगी, परन्तु उसके पास सम्पत्ति कैसे आयी, कहाँ से आयी इत्यादि बातों का विचार करेंगे तो पता चलेगा कि अनेकों के पास मांस नहीं था। एक के पास था, वह उसने फेंक दिया। यह 'फेंक दिया' अर्थ ठीक नहीं है। 'दे दिया' यह अर्थ ठीक है। वह लाक्षणिकता और अन्योक्ति से समझाना चाहिए।

एक के पास है और अनेकों के पास नहीं है। जिनके पास नहीं है वे *(haves not)* लोग, जिसके पास है उसे हैरान करते हैं। इसलिए जिसके पास है उसे फेंक देना चाहिए यानी इस्तेमाल कर देना चाहिए। आज की भाषा में कहना हो तो वित्त उपभोग्य वस्तु है।

वह तुम्हारे पास आया है, भेजा गया है। उसके पीछे कुछ विचारधारा है इसलिए वित्त का संग्रह *(accumulation)* होता है। जो संग्रह है उसे, जिनके पास नहीं है ऐसे लोगों के लिए फेंक देना चाहिए। हमें जो हैरान करते हैं उनके लिए दो मार्ग हैं। एक तो उनको भी उपभोग देना चाहिए और दूसरा, उनके साथ एकता, भाव, आत्मीयता बढ़ानी चाहिए, तब वे हैरान नहीं करेंगे।

तत्त्वज्ञान में वित्त निंद्य, त्याज्य या तिरस्करणीय नहीं है। वित्त को लक्ष्मी माना जाता है। अत: वित्त से हम उपरोक्त दोनों बातें कर सकते हैं या नहीं? यह प्रश्न है। उपभोग देने से ही प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता।

हमारे देश को स्वतंत्रता मिली। वह भगवान ने दी है। भगवान को लगता था कि इसमें से कुछ अच्छा निकलेगा, कुछ दैवी तत्त्वज्ञान निकलेगा, कुछ जीवन समझाने वाला तत्त्वज्ञान निकलेगा, कुछ भावजीवन देखने को मिलगा। परन्तु वैसा कुछ नहीं हुआ। जिनके पास है *(have)* ऐसा एक और जिनके पास नहीं है *(haves not)* ऐसा दूसरा वर्ग उत्पन्न हुआ। ऐसे दो वर्ग उत्पन्न हो गये। जिनके पास वित्त है वे लोग समझ नहीं सके कि अपने पास जो वित्त है वह अपनी लक्ष्मी है और उसको टिकाना पड़ेगा। नदी केवल बहती ही गयी तो जल व्यर्थ समुद्र में चला जाता है। बाँध बनाकर नदी के जल-प्रवाह को रोकना चाहिए। उसमें से नहरें निकालकर स्थान-स्थान पर जल पहुँचाने से उत्पादन बढ़ सकता है। पानी को बाँध द्वारा नहीं रोका गया और वैसे ही बहने दिया गया तो क्या शक्ति पैदा होती है? वित्तवानों ने क्या किया? अपना अस्तित्व टिकाने के लिए उन्होंने सत्ताधीशों के चरणों पर करोड़ों रूपये फेंक दिये, उस संपत्ति के बल पर वे सत्तावान बन गये। उनके पास कुछ था ही नहीं, न पैसा था, न लोग थे। उनको इन वित्तवानों ने पैसा दिया। अमेरिका में नव-पूँजीवादी *(New-Capitalists)* लोग संसद में जानेवाले लोगों को पैसा देते हैं और सब संसद हिला देते हैं। यहाँ के पूँजीवादी लोगों को भी लगा कि हम भी संसद में जानेवाले लोगों के चरणों में पैसा धर देंगे, उनको अपने अधीन रखेंगे, सारे हिंदुस्थान की सत्ता हासिल करेंगे। परन्तु इन लोगों को पता नहीं है कि अमेरिका में सम्पत्ति विपुल मात्रा में है और लोकसंख्या कम है, जब कि भारत में लोकसंख्या अत्यधिक है और सम्पत्ति बहुत कम है। अत: सभी धनवानों की सम्पत्ति इकठ्ठी करके लोगों में बाँटी गयी तो भी उनका पेट नहीं भरेगा। ऐसी स्थिति यहाँ की है तो फिर क्या करना चाहिए?

इस देश की भूमि *(soil)* भाव-भक्तिसम्पन्न है। हमारे वित्तवानों ने जो पैसा राजकीय लोगों के चरणों में धर दिया उसके बदले यदि वे अलग-अलग समूह *(Groups)* बनाकर, विविध विभागों में भेजकर भक्ति और भाव बढ़ाने के लिए अपना वित्त का उपयोग करते, तो एक भिन्न ही चित्र देखने को मिलता। राजकीय नेताओं को अपना धन देकर इन वित्तवानों ने संस्कृति को, देश को और भगवान ने जो स्वातंत्र्य दिया है उसको भी ख़तरा पैदा कर दिया है। उसको अब जन्म-जन्मान्तर तक सहन करना पड़ेगा। वित्त एक जबरदस्त शक्ति है। राजकीय लोगों को पैसा देने की क्या आवश्यकता थी? अधिकतर उनको नमस्कार

करते और मत *(Vote)* देते तो पर्याप्त था। परन्तु वह नहीं हुआ। पुराने जमाने में वित्तवान जिस प्रकार राजसत्ता के गुलाम थे वैसे ही आज के वित्तवान सत्तावानों के पैर पकड़कर उनके गुलाम बन बैठे हैं। अब उन पकड़े हुए पैरों को छोड़ना मुश्किल है और छोड़ेंगे तो मार खायेंगे ऐसी अवस्था हुई है।

इस देश की भूमि *(soil)* का यदि उन्हें ज्ञान होता तो भारत में आज भिन्न ही चित्र दिखायी देता। तेजस्वी, दिव्य, भव्य देश आज भिखारी बन गया है। क्या देते हैं, कितना देते हैं बोलो! सभी भिखारी हैं। करोड़पति भी भिखारी है और सामान्य मनुष्य भी भिखारी है। सभी को भीख चाहिए। माँगने के सिवा दूसरी आवाज ही नहीं सुनायी देती। कितना अध:पतन हुआ है यह! जिनके पास संस्कृति थी उनको भगवान ने आज़ादी दी। यह एक अलग ही विषय है। हमें आज़ादी भगवान ने ही दी है ऐसी हमारी दृढ़तर भावना है और तर्क *(Logic)* से भी हम सिद्ध कर सकते हैं कि भगवान ने ही आज़ादी दी है, हम केवल निमित्तमात्र हैं।

आज आज़ादी का दुरुपयोग *(Misuse)* हो गया है। सत्ता और सम्पत्ति का भी दुरुपयोग हो गया है, इसका कारण मानव का अध:पतन हो गया है। वित्तवान यदि भिन्न दृष्टि रखकर, जिनके पास वित्त नहीं है *(haves not)* उनके साथ आत्मीयता, एकता प्रस्थापित करते, दिया हुआ भगवान लिख रखेंगे इस विश्वास से दिया होता तो एकाध पीढ़ी *(Generation)* के बाद उसकी महत्ता का पता चलता। आज क्या मिलेगा यह देखकर ही दिया जाता है, यह व्यापार है। आज नहीं मिलेगा, फिर भी जो देते हैं उसको 'फेंक दिया' कहते हैं। भागवतकार ने टिटिहरी का दिया हुआ दृष्टान्त सूचक है। वे लाक्षणिक दृष्टि से लिखते हैं। **'परोक्षप्रिया इव हि देवाः।'** हमारे वित्तवानों ने जो करना था वह नहीं किया। आज़ादी के बाद लगता था कि वे अपने लिए कब्र खोद रहे हैं। कब्र तो पूर्ण हो गयी है अब उसमें उनको डालना ही रह गया है। दूसरा रहा ही क्या है?

व्यक्ति के जीवन में एक ही बात- रोटी, रोटी, रोटी! बस्स! दूसरी बात ही नहीं। भीख माँगकर भी क्यों न हो, रोटी मिल गयी कि बस्स! जिनको 'रोटी' नहीं मिलती है वे कुछ भी करने के लिए तैयार हैं। यदि खाने को कुछ मिला ही नहीं तो शास्त्रकारों ने भी छूट दी है- *Not only allowable but duty to steal* ऐसा एक पाश्चात्य पंडित कहता है। इन लोगों ने ऐसी एक भयानक स्थिति खड़ी कर दी है।

आज वित्तवान लोग मन्दिर बनाते हैं, वे धार्मिक लगते हैं। परन्तु मंदिर में जाने के लिए जो भावना पैदा करनी चाहिए वह नहीं की जाती। वह भावना निर्माण करनी पड़ेगी। वह भावना निर्माण हुई कि फिर जहाँ बैठेंगे वह स्थान मन्दिर ही है। एकाध वृक्ष के नीचे भी मंदिर बन सकता है। भगवान सर्वव्यापक हैं ऐसा हमारे शास्त्रकार कहते हैं। आज वित्तवानों के करोड़ों रूपये मन्दिरों में चले गये हैं, वह सम्पत्ति का दुरुपयोग है। उनको केवल कृष्ण भगवान का नाम लेना है मगर उनके विचार नहीं उठाने हैं। कृष्ण भगवान पर एक प्रबंध-*(Thesis)*- लिखना चाहिए- *'Lord Krishna in wrong company।'* जिन्होंने

कृष्ण भगवान को उठाया है वे ही कृष्ण भगवान को नहीं समझ सके। यदि वे कृष्ण भगवान को समझ लेते तो एकता, भाव, आत्मीयता, व्यक्ति का आत्मगौरव *(self respect)* बढ़ाना आदि के लिए प्रयत्न करते। इस कार्य के लिए उन्होंने अपनी सम्पत्ति का विनियोग किया होता तो आज एक भिन्न ही दृश्य दिखायी देता। परन्तु वे तो बन गये है राजसत्ता के गुलाम। गुलामी के बिना उनका चलता ही नहीं तो क्या करेंगे?

हमारे पूर्वजों ने ब्रह्मशक्ति यानी बुद्धिशक्ति, क्षात्रशक्ति और वित्तशक्ति- इन तीनों शक्तियों को अलग रखकर एक विशिष्ट समूह *(group)* बनाकर एक शक्ति पैदा की थी और सभी में विकेंद्रीकरण *(decentralisation)* था, विभाजन *(division)* था, केन्द्रीकरण नहीं था।

भागवतकार को कुछ दैवी दर्शन कराना था। वह उन्होंने टिटिहरी का दृष्टान्त देकर कराया है। समझनेवाले समझेंगे, जो नासमझ हैं उनको समझाने की शक्ति भगवान में है। यह समझ उनको अगले जन्म में मिलेगी, क्योंकि इस जन्म में उनकी शक्ति ही नहीं है।

दुःख इस बात का होता है कि संस्कृति बिगड़ गयी है, खत्म होते जा रही है। संस्कृति का रूप नहीं दिखायी दे रहा है। स्वतंत्रता मिलने के बाद भी जीने जैसा नहीं लगता। सात्त्विक और दैवी लोगों का जीना दुष्कर बना है। ऐसी स्थिति किसने निर्माण की? किस शक्ति ने निर्माण की? यह प्रश्न विचार करने जैसा है। किये हुए का आज क्या फल मिलता है यह न देखकर, किया हुआ प्रभु लिख रखेंगे और मिलने वाला फल दूसरी पीढ़ी के बाद मिलेगा यह देखकर जो प्रयत्न किये जाते हैं उनको ही 'फेंक देना' कहते हैं। यह टिटिहरी के दृष्टान्त से भागवतकार ने समझाया है।

अवधूत ने जीवनविकास का रास्ता और उसकी सीढ़ियाँ समझायी हैं। जीवनविकास की सचमुच प्यास लगी हो तो जड़-चेतन, वायु, पशु, पक्षी सभी गुरु बन सकते हैं। प्रथम प्रश्न यह है कि प्यास लगी है अथवा नहीं? प्यास नहीं लगी हो तो घड़े का, बर्फ का या फ्रीज का- सबका जल बेकार है। जीवनविकास की प्यास लगी हो तो ज्ञान कहीं से भी प्राप्त होता है।

१८) **पिंगला** — अवधूत ने पिंगला नामक वेश्या से ज्ञान प्राप्त किया। उससे शिक्षा ली। पिंगला वेश्या थी, वह ग्राहक की राह देखती थी। उसको उस दिन ग्राहक ही नहीं मिला वह निराश हो गयी, फिर पश्चात्ताप करने लगी, आदि सब बातें भागवतकार ने विस्तार से कही हैं। मुझे लगता है कि भागवत में यह सब विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु भागवतकार को एक पार्श्वभूमि *(back Ground)* खड़ी करनी रही होगी इसलिए सब लिखकर वेश्या का मनोविश्लेषण बताया है। अन्त में वेश्या अपनी बुरी अवस्था पर सोचने लगती है और एक गीत गाती है, उसमें ज्ञान है।

देह विलासार्थ नहीं है। पिंगला स्वयं स्त्री होते हुए भी स्त्री-शरीर की निंदा करती है। इसका अर्थ यह है कि वह विपरीत लिंग की निंदा की है। शरीर की निंदा की है, कामवासना के प्रति घृणा निर्माण की है। उसने किसी की कामना पूर्ति करने के लिए,

किसी की तुष्टि के लिए अपना शरीर इस्तेमाल किया। वह जीवन से ऊब गयी, और सोचने लगी कि 'मैंने यह क्या किया? जो मेरे समीप है, नित्य मेरा है, जिसका नित्य अस्तित्व है ऐसे मेरे रमण (आत्मा) को मैंने छोड़ दिया और कुछ ही क्षुद्रों की सेवा में मैंने अपना जीवन बिताया। अरे रे! कितना यह अज्ञान!' उसे अन्त:करण से पश्चात्ताप हुआ। पश्चात्ताप करने के बाद वह शान्त, स्वस्थ बनी, आत्मक्रीड़ बनी ऐसा लिखा है। आत्मक्रीड़ यानी 'वह अपनी आत्मा के साथ मग्न होनेवाली बनी।'

भागवतकार ने **'निर्वेद'** शब्द प्रयुक्त किया है। निर्वेद यानी **अलम्- बुद्धि** अर्थात् जो है उसीमें समाधान मानने की बुद्धि। जब तक निर्वेद नहीं प्राप्त होता तब तक देहबंध या संसारबंध नहीं छूटता, छोड़ने की इच्छा भी नहीं होती। अलम्- बुद्धि- अब यथेष्ट-पर्याप्त हुआ, अब रुकना चाहिए; रुकने की कोशिश- *wait* और *Fast*! इन दोनों का अभ्यास जब तक नहीं होता तब तक व्यक्ति समाज या राष्ट्र कोई भी उन्मत नहीं हो सकता। आज लोगों की रुकने की-यानी प्रतीक्षा *(wait)* करने की तैयारी ही नहीं है, अर्थात् साधना की तैयारी नहीं है। आज कार्य शुरू किया है, इसका फल बारह वर्षो के बाद मिलेगा, तब तक प्रतीक्षा *(wait)* करने की यानी साधना की तैयारी नहीं है। 'आठ बजे काम शुरू किया तो नौ बजे फल मिलना चाहिए अन्यथा सब बेकार है।' ऐसा प्रत्येक व्यक्ति को लगता है। प्रतीक्षा *(wait)* करने की शिक्षा मिलनी चाहिए। वैसी उपवास *(Fast)* यानी कुछ छोड़ने की तैयारी होनी चाहिए इसका आज किसी को पता ही नहीं है। उपवास किसी को मालूम ही नहीं है। मनुष्य को कुछ छोड़ना पड़ता है। आज हमारी ऐसी अवस्था हुई है। किसी को उपवास करने की शिक्षा ही नहीं दी हुई है, इसका महत्त्व ही नहीं समझते। लड़के भी प्रतीक्षा करना नहीं जानते।

लड़का पिता से पूछता है, "आज मैं सिनेमा देखने जाऊं?" पिता कहता है कि अरे! आज नहीं, अगले महीने जाना। पिता मना करता है तो लड़का आत्महत्या करने चल पड़ता है। बचपन से उपवास करने की शिक्षा ही नहीं मिली है। 'अभी नहीं' अंग्रेजी में एक कहानी है- *'Jam yesterday, jam tomorrow, no jam today*।*'* भोजन में लड़का मुरब्बा माँगता है। माँ कहती है, मुरब्बा तो कल ही दिया था, अब कल *(Tomorrow)* दूँगी, आज मुरब्बा नहीं मिलेगा।' 'आज नहीं' सुनने का लड़कों को अभ्यास ही नहीं है। माँ-बाप को भी लगता है कि लड़के को ना कहा तो बुरा लगेगा। माँ-बाप का दुर्बल नियंत्रण होने से लड़कों का मन तैयार ही नहीं होता। प्रतीक्षा की शिक्षा मिलनी चाहिए। इसीको संस्कृत में निर्वेद कहते हैं। मनुष्य भोग भोगता है, परन्तु कितना भोगना है, कहीं तो रुकना चाहिए, खड़ा होना है इसका पता होना चाहिए। बस्स! अब यथेष्ट हुआ– **अलम् बुद्धि!** वित्त कमाने में भी **अलम् बुद्धि** की शिक्षा जिसने नहीं ली है उसको निर्वेद नहीं है। वह संसार के झंझट से नहीं छूट सकता, उसको आत्मिक शान्ति नहीं मिल सकती यह वेश्या ने अनुभव किया। पिंगला की कहानी का यह सार है। इसीलिए तो हमारी गीता ने कहा है, **'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्-'** अध्यात्म ज्ञान का अभ्यास नित्य होना चाहिए।

कोई भी कामना बुद्धि में उदय होती है- **'कामो बुद्धावुदेति।'** वह सच्ची होगी, अच्छी होगी या बुरी होगी परन्तु वह बुद्धि में ही उदय होती है और उसके साथ तत्त्वज्ञान रखने की आवश्यकता होती है, ऐसी गोपालकृष्ण की धारणा है। जिसकी बुद्धि में केवल कामना ही होगी तो उसके शरीर का उपयोग अच्छी तरह से नहीं होगा, बुरी तरह से होगा और मनुष्यदेह व्यर्थ चली जायेगी। कामना बुद्धि में निर्माण हो ऐसी व्यवस्था भगवान ने ही की है। जहाँ कामना निर्माण होती है वहाँ दूसरा कोई है जो कामना से प्रतीक्षा करायेगा। इसलिए वहाँ तत्त्वज्ञान रखने की आवश्यकता है जो कामना को रुकने को कहेगा।

भारतीय संस्कृति ने तत्त्वज्ञान की ओर देखने की अलग दृष्टि रखी है। इसीलिए **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्** ऐसा गीताकार कहते हैं। तत्त्वज्ञान की एक भिन्न ही दृष्टि है। बुद्धिप्रधान लोगों के बौद्धिक मनोरंजन के लिए तत्त्वज्ञान की निर्मिति नहीं है। तत्त्वज्ञान कुछ पागल लोगों का, गंजेडियों की बकवास नहीं है। अन्यथा कोई भी व्यक्ति गांजा पीकर बोलने लगेगा तो वह तत्त्वज्ञान हो जायेगा। कुछ लोगों को ऐसा लगता है कि सामान्य लोगों के मस्तिष्क पर से जो चला जाता है वह तत्त्वज्ञान है।

एक भाई ने मुझसे कहा, 'मार्क्स का तत्त्वज्ञान आपने पढ़ा है?' परन्तु मार्क्स का कोई तत्त्वज्ञान हो सकता है? *what is the meaning of philosophy?* तत्त्वज्ञान क्या है? *It is a science of reality* -वह सत्य का शास्त्र है। मार्क्स ने अपनी विचारधारा *unreality* पर खड़ी की है। वह तत्त्वज्ञान कैसे हो सकती है? नहीं! वह पढ़ने में कठिन है! जो पढ़ने में कठिन है वह क्या तत्त्वज्ञान है? मार्क्स महान् विचारक *(greatest Thinker)* था। विचारक अलग होता है और तत्त्वज्ञानी अलग होता है। परन्तु पढ़ने में तनिक कठिनाई आयी कि लोग उसको तत्त्वज्ञान कहते हैं।

मेरे पिताजी अपनी दादी माँ की एक बात कहते थे। एक बार मेरे पिताजी गाँव गये थे अपनी दादी माँ के पास! तब मेरी दादी माँ ने पिताजी से कहा, अरे! अपने गाँव में एक शास्त्री आया है उसका कल प्रवचन था। बहुत विद्वान है शास्त्री!' पिताजी ने पूछा, 'ऐसा? क्या कहा शास्त्री ने प्रवचन में?' दादी माँ ने कहा, 'एक घण्टे तक मैंने प्रवचन सुना, परन्तु कुछ पता ही नहीं चला कि वह क्या कहता है! इसीलिए तो कहती हूँ कि वह विद्वान है!' अर्थात् विद्वान कौन? जिसका बोलना कुछ मालूम ही नहीं पड़ता वह विद्वान! आज के शिक्षित लोग भी जो पढ़ने में कठिन लगता है उसको तत्त्वज्ञान *(philosophy)* कहते हैं। तत्त्वज्ञान की एक अलग ही दृष्टि होती है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है, **"अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।"** इसका कारण यही है कि जिस बुद्धि में कामना निर्माण होती है उस बुद्धि में तत्त्वज्ञान होना आवश्यक है, तभी कामना पर अंकुश आयेगा। अन्यथा कामना बेलगाम (अनियंत्रित) बन जायेगी। परिणामस्वरूप मानवशरीर व्यर्थ, त्याज्य, तिरस्करणीय, घृणास्पद, फेंक देने जैसा हो जायेगा। मानव शरीर यदि इस प्रकार बेकाम बनेगा तो भगवान की बदनामी होगी। इसलिए बुद्धि में

तत्त्वज्ञान रखने की आवश्यकता है। तत्त्वज्ञान इसीलिए बौद्धिक मनोरंजनार्थ नहीं है वह एक पुरुषार्थमीमांसा है।

जीवन में कुछ बनना है, बदलना है, बनाना है तो उसका मार्गदर्शन होना आवश्यक है। जो तत्त्वज्ञान मार्गदर्शन नहीं कर सकता वह **'दर्शन'** नहीं है। इसीलिए हमारे यहाँ तत्त्वज्ञान शब्द नहीं बल्कि, 'दर्शन' शब्द है। षड्दर्शन जीवन का दर्शन कराते हैं।

मानवी जीवन सृष्टिकर्ता का सर्वश्रेष्ठ, उच्चतर उपहार *(highest gift)* है। उसका उपयोग किस तरह करना आवश्यक है यह सोचना चाहिए। मानवी जीवन यानी भगवान की उच्च प्रतिभा का दृष्टिगोचर चिह्न! अंदर से देखो, बाहर से देखो, उसमें क्या-क्या भरा हुआ है। इसी कारण यह खिलौना नाच रहा है, बोल रहा है। मानव- शरीर सभी प्रणियों में दुर्बल व असंरक्षित है। सृष्टि में सबमें दुर्बल शरीर किसीका होगा तो वह मानव का है। गाय का बछड़ा पैदा होते ही चार पैरों पर खड़ा रहता है और माँ के स्तन के पास जाता है। परन्तु शारदाप्रसाद के लड़के को दो पैरों पर खड़ा रहने के लिए दस महीने लगते हैं। मछली को पैदा होते ही तैरना आता है। मनुष्य के लड़कों को तैरना सिखाना पड़ता है। उसके लिए स्विमिंग बाथ में तीन सौ रूपये शुल्क भरना पड़ता है, उसके बाद लड़के को शिक्षा मिलती है। हाथी को भविष्यज्ञान है वह ऐसे ही होता है। मनुष्य को सीखना पड़ता है, जन्म कुंडली बनानी पड़ती है। गाय जुगाली करती है, वैसी जुगाली करना मनुष्य को आज तक आया ही नहीं है। यह एक कला है, यह यदि मनुष्य को आयेगी तो आज के औद्योगिक विकास *(Industrial Development)* के काल में बहुत आवश्यक बात है। गाय खाती है और दो घण्टों तक जुगाली करती है। वैसी शिक्षा हमें मिल जायेगी तो घर से सुबह सुबह आठ बजे पेट में दाल भात, रोटी, सब्जी डालकर कार्यालय आते-आते खाये हुए अन्न की जुगाली हो सकती है।

मानवेतर सृष्टि सुदृढ़ और संरक्षित है। भगवान ने ही उसको रक्षा *(protection)* दी है। इसलिए दुर्बल और असंरक्षित मनुष्य को शरीर होते हुए भी भगवान की महान् प्रतिभा माना जाता है। मानवशरीर ईश्वर की महान् प्रतिभा है। क्या करण है इसका? जीवन क्या है, जीवन किसलिए है, जीवन किसकी सहायता से चल रहा है आदि बातों का विचार करने की शक्ति मछली में नहीं है, हाथी या गाय में भी नहीं है, वह मनुष्य में है और यही विकास की पहली सीढ़ी है। मनुष्य इस सम्बन्ध में विचार करेगा तभी वह जीवन-विकास के पथ पर आगे बढ़ सकेगा अन्यथा पशुतुल्य जीवन जीता रहेगा। कितने साल बीत गये? *Sixty, not out*! परन्तु इसमें तेरा क्या पराक्रम है? बल्लेबाजी तो वह (भगवान) करता है। उसने बल्लेबाजी छोड़ दी तो तू आउट ही है। उपरोक्त बातों का विचार करने की शक्ति मनुष्य में होने से उसे विचार करना चाहिए।

भारतीय तत्त्वज्ञान की निर्मिति जीवन का हेतु और ध्येय देने के लिए हुई है। वह केवल बौद्धिक मीमांसा नहीं है। तत्त्वज्ञान परम पुरुषार्थ ठहराता है और परम पुरुषार्थ निश्चित होने के बाद उसको जीवन में चरितार्थ करना परम कर्तव्य माना गया है। इसलिए मानव के

भीतर पड़ी हुई रचनात्मक शक्ति *(Creative energy)* बाहर निकालने की शक्ति तत्त्वज्ञान में होनी चाहिए। जिस तत्त्वज्ञान से मनुष्य अस्वस्थ बनेगा उसकी रचनात्मक शक्ति नष्ट होगी वह तत्त्वज्ञान ही नहीं है। ऐसी भारतीय धारणा है।

भारतीयों ने तत्त्वज्ञान की रचना विश्लेषणात्मक पद्धति से की है, पाश्चात्यों ने भी वैसी की है। स्पीनोझा, ब्रेडले, कांट आदि ने वैसी मीमांसा की है, परन्तु पाश्चात्य लोग बौद्धिक मीमांसा से आगे नहीं बढ़ते। सूकरात, अफलातून आदि ने कहा कि केवल ज्ञान से मनुष्यजीवन सार्थक होगा। परन्तु भारतीय तत्त्वज्ञानी वैसा नहीं मानते। रावण महान् ज्ञानी था, उसने वेदों को स्वर दिये हैं। स्वर देना मामूली काम नहीं है। ऊपर का स्वर नीचे आने पर अर्थ ही बदल जाता है, जो संरक्षणात्मक है वह भक्षणार्थ हो जाता है। इतना परस्पर विरोधी अर्थ हो जाता है केवल एक स्वर के ऊपर से नीचे होने से। दुर्योधन के पास भी प्रकाण्ड बौद्धिक ज्ञान था। वह कहता था,

'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।।'

'धर्म क्या है यह मैं जानता हूँ, समझता हूँ परन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। अधर्म क्या है इसका भी मुझे पूरा ज्ञान है, परन्तु मैं उससे निवृत्त नहीं हो सकता।' अतः ज्ञान से मनुष्य का जीवन आदर्श बनेगा ऐसा जो सूकरात आदि पाश्चात्यों का कहना है वह भारतीय संस्कृति को मान्य नहीं है। ज्ञान से मनुष्य राक्षस भी बन सकता है। **साक्षराः विपरीताश्च राक्षसा इव-** साक्षर शब्द विपरीत बन जाय तो **'राक्षसा'** बनता है। साक्षर ही राक्षस बनते हैं। ज्ञान से जीवन के आदर्श का पता चलता है, परन्तु उसको चरितार्थ करने के लिए तपश्चर्या और साधना की आवश्यकता है, ऐसी भारतीय संस्कृति की धारणा है। अतः तत्त्वज्ञान केवल बौद्धिक विषय, चर्चा का विषय नहीं है, वह जीने का विषय है।

साधना और तपश्चर्या शरीर से होती है, सिर्फ मनुष्यशरीर से ही शक्य है। इसलिए मानव-देह को दिव्य और भव्य माना गया है। आज मनुष्य-देह मिली है, फिर से मिलेगी या नहीं इसमें सन्देह है। उत्क्रान्तिवाद *(Law of evolution)* समझ लेना चाहिए। मनुष्य केवल ऐन्द्रिय सुखों के पीछे ही दौड़ता रहेगा तो वह पशु तुल्य जीवन है। ऐन्द्रिय सुख के पीछे गधा भी भागता है, घोड़ा भी भागता है, बैल भी भागता है। रोटी, कपड़ा और मकान इतना ही जीवन में होगा तो वह मानव-शरीर का अपमान है। जिस शरीर में साधना नहीं है, तपश्चर्या नहीं है, ध्येय नहीं है वह शरीर व्यर्थ है। इतना ही नहीं, उस शरीर को बदनाम किया गया है। वेश्या ने वैसा शरीर बदनाम किया, ऐसा भागवतकार का कहना है।

शरीर की सार्थकता आत्मा को देखने में है। इन्द्रियों को समझाना है, मन को बदलना है, बुद्धि को सद्विचारों में डुबाना है। इसी में मानव-शरीर की पूर्णता है। वेश्या ने इस शरीर का केवल दुरुपयोग ही नहीं किया बल्कि उसको अपमानित भी किया है, उसका दुःख भागवतकार को दिखाना है। वेश्या का रूपक लेकर भागवतकार ने लिखा है कि

मनुष्य को अपना शरीर केवल कामनाओं के लिए और दूसरों की कामनातुष्टि के लिए इस्तेमाल नहीं करना चाहिए, इसलिए प्रथम बात यह है कि निर्वेद होना चाहिए। वेश्या के जीवन से अवधूत ने निर्वेद, धन की चिन्ता व धन का चिन्तन ही जीवन का सर्वस्व नहीं है वासनार्थ शरीर नहीं है और क्षुद्र व्यक्तियों की सेवा करने से कुछ नहीं मिलता, ये पाँच बातें सीखीं। उनका निरीक्षण *(observation)* बहुत सूक्ष्म था।

मुझे एक भाई ने पूछा, "भारतीय तत्त्वज्ञान और पाश्चात्य तत्त्वज्ञान में क्या फ़र्क है?" मैंने कहा, 'इतना ही फ़र्क है कि भारतीय तत्त्वज्ञान मनुष्य के भीतर पड़ी हुई सृजनात्मक शक्ति *(creative energy)* को उत्साहित *(stimulate)* करता है। केवल ज्ञान से मनुष्य का जीवन सार्थक नहीं होता। ज्ञान से आदर्श का पता चलता है, परन्तु उसको प्राप्त करने के लिए साधना व तपश्चर्या की आवश्यकता है और वह काम मनुष्य के शरीर का है। गीताकार ने कहा है—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।१८-५।।

इसलिए यह शरीर है। जिस बुद्धि में कामना पैदा होती है, उस बुद्धि में तत्त्वज्ञान रख दो। उसी को कहते हैं **निर्वेद**- अलम् बुद्धि! यह प्रथम होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि वेश्या के दिमाग में कुछ था ही नहीं। रूप सुन्दर, शरीर सुन्दर, उससे धन की चिन्ता और धन का चिन्तन दोनों खड़े हो गये क्योंकि दिमाग में दूसरा कुछ है ही नहीं! कुछ ध्येयवाद नहीं। आज के नवयुवक, जो बिगड़ गये हैं, उसका यही कारण है। न बाप के पास ध्येय है न लड़कों के पास! ध्येयवाद कहाँ से आयेगा?

बुद्धि में ध्येयवाद नहीं होगा तो काम ही रहेगा, दूसरा क्या रहेगा? इसीलिए ध्येय लेना चाहिए। ध्येय देने के लिए ही तो यज्ञोपवीत संस्कार है। ध्येय यानी व्रत! परन्तु ध्येय-व्रत लेने की इच्छा होनी चाहिए। जब तक वह इच्छा नहीं होती तब तक यज्ञोपवीत लेना बेकार है। वेश्या के मस्तिष्क में क्या था? सौन्दर्य था, शरीर अच्छा था, धन की चिन्ता, धन का चिन्तन चल रहा था, इस पूंजी से धन मिलता है, मिल सकता है, अधिक से अधिक मिल सकता है, बस्स! दूसरा कुछ उसके दिमाग में है ही नहीं। बुद्धि में कामना के सिवाय और कुछ दूसरा भी रखना है, उसी को व्रत कहते हैं।

सबको धन की चिंन्ता, धन का चिन्तन है। उनकी दृष्टि में वित्त ही श्रेष्ठ है, वित्त ही सर्वस्व है। भर्तृहरि कहता है-

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पंडितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते।।

बस्स! वित्त, वित्त, वित्त ही। किधर रखेंगे? किधर ले जायेंगे? बाँधकर ले जायेंगे साथ में? क्या करेंगे उसका?

शास्त्रकारों ने वित्त को कीमत दी, लक्ष्मीपूजन किया, परन्तु वह साधन है अच्छा काम करने के लिए, ऐसा माना है। अपने पर किसी ने हमला किया तो उसका प्रतिकार करने के लिए हाथ में लाठी चाहिए। इसलिए लाठी साथ में रखते हैं, परन्तु किसी के हमला करने पर उसका प्रतिकार न करते हुए लाठी को सँभाल कर रखेंगे तो मर जाओगे। जिस प्रकार लाठी एक साधन है वैसे वित्त भी मनुष्य को भूख या नींद दे सकता है। विविध समस्याओं से जीवन भरा हुआ है। क्या उनको सुलझाने की वित्त में शक्ति है? मनुष्य को सोचना चाहिए कि वित्त जीवन का, सत्कार्य का एक साधन है।

संपूर्ण जीवन धन की चिन्ता में व्यतीत होता है। भगवान की भक्ति भी धन की चिन्ता से ही होती है। मनुष्य धन कमाता है और वह टिकना चाहिए इसलिए पूर्णिमा को वह सत्यनारायण की पूजा करता है। भाव नहीं है, भक्ति नहीं है, प्रेम नहीं, कुछ नहीं है, केवल धन टिकना चाहिए यह चिन्ता है। भगवान को भी हमारी दुर्बलता का पता है इसलिए वे अपने साथ लक्ष्मी को रखते हैं। नारायण अकेले रहेंगे तो कौन जायेगा उनके पास? लक्ष्मी-नारायण हैं इसलिए तो हम जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वित्त की निंदा की गयी है। वित्त लक्ष्मी है, साधन है। क्या साधन के रूप में उसका कुछ उपयोग किया है? जीवन में कुछ ध्येयवाद है? धन से कोई अच्छा काम किया है? कुछ नहीं!

वैसा धन का चिन्तन भी बेकार है। सुबह से शाम तक क्या धन का ही चिन्तन करना चाहिए? दूसरा कुछ विषय ही नहीं है? धन का ही चिन्तन! धन-धन-धन! बस्स! क्षतिपूर्ण- हरजाना भी धन में ही! एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति को गाली दी। अदालत में मुकदमा चला। उसका फैसला हुआ कि गाली देनेवाले ने जिसको गाली दी उस व्यक्ति को पाँच सौ रूपये क्षतिपूर्ति दे! अदालत में दूसरा एक और मुकदमा था। उसमें कोई व्यक्ति दूसरे की पत्नी को उठाकर ले गया था। क्षतिपूर्ति करने के लिए न्यायाधीश ने अपराधी को दो हजार रूपये जुर्माना किया। स्त्री के शील तथा आबरू की क्षतिपूर्ति क्या पैसों में हो सकती है?

स्त्रीरूपं मोहकं पुंसो यून एव भवेत्क्षणम्।
कनकं तु स्त्रीबालवृद्धषण्ढानामपि सर्वदा।।

वित्त सबको खींचता है। जीवन भर धन का चिन्तन चल रहा है, फिर कहते हैं कि मरते समय भगवान का नाम लेंगे तो भगवान के पास पहुँच जायेंगे क्योंकि भगवान ने गीता में कहा है- **'अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।'** परन्तु जीवन में कभी भगवान का स्मरण ही नहीं किया हो तो मरते समय भगवान कैसे याद आयेंगे?

एक शेअर मार्केट का व्यापारी सख्त बीमार हुआ। बेहोशी आ गयी थी। बीच-बीच में तनिक होश में आता और फिर से बेहोश हो जाता। लड़कों को लगा कि मरते समय पिता के मुँह में भगवान का नाम आयेगा तो अच्छा। इतने में डॉक्टर आया, बुखार देखने के लिए थर्मामीटर लगाया, देखने लगा तो लड़के ने पूछा, 'कितना है?' डॉक्टर ने कहा,

१०४! उतने में सेठ होश में आया। उसने सुना १०४, तुरन्त कह दिया, 'एक सौ दस हो जायेगा तो बेच दो।' व्यापारी के मस्तिष्क में जीवनभर व्यापार, धन की चिन्ता के सिवाय दूसरा कुछ था ही नहीं! भागवतकार पिंगला वेश्या के द्वारा कहते हैं कि अहर्निश धन की चिन्ता-धन का चिन्तन व्यर्थ है, इसलिए निर्वेद आना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि शरीर क्या वासनार्थ, वासनापूर्ति के लिए है? शरीर विकासार्थ है। अपना शरीर बेचने के लिए है और दूसरे का शरीर उपभोगार्थ है ऐसा समझना अनाध्यात्मिक है। शरीर बेचना यदि बुरी बात है तो जिन्होंने आत्मा बेची है, बुद्धि बेची है वे कितनी गन्दगी से भरे होंगे? परन्तु ये लोग बड़ी-बड़ी कोठियों में रहते हैं, गाड़ियों में घूमते हैं, इसलिए उनकी बदबू नहीं आती और वेश्या की बदबू आती है। हमारे मन-बुद्धि जन्मजन्मान्तर तक हमारे साथ ओनवाले हैं। जिस प्रकार शरारे का देहविक्रय *(Prostitution)* खराब है वैसे ही बुद्धि का विक्रय भी यह बहुत बुरी बात है। शरीर के विक्रय से भी बुद्धि का विक्रय अधिक दुर्गंधयुक्त है। परन्तु बुद्धि का विक्रय, विक्रय नहीं लगता, उलटे, वह चतुराई लगती है।

कितने ही लोग बुद्धि बेचते हैं, उसके साथ आत्मा को भी बेचते हैं। पिंगला तो सामान्य अध:पतित थी, उसने तो शरीर ही बेचा था। एक बहुत बड़ा व्यक्ति मुझे मिला था। उसने कहा, 'मैं अद्वैत को मानता हूँ।' मेरी दृष्टि में सभी एक ही है। लोग द्वैत अद्वैत की चर्चा करते हैं, पूछते हैं, "किस पंथ के हैं आप? द्वैत के या अद्वैत के? विशिष्टाद्वैत के या शुद्धाद्वैत के?' इसका अर्थ क्या है, मालूम है? भगवान में संपूर्ण मिल जाना है, परन्तु ये लोग चर्चा ही करते रहते हैं। तो उस व्यक्ति ने कहा, 'मैं अद्वैतवादी हूँ, अद्वैत मेरी बुद्धि में प्रविष्ट हो गया है, परन्तु मेरी कथा सुनने के लिए लोग नहीं आते हैं, इसलिए मैंने यह कंठी धारण की है।' मैंने उस बड़े व्यक्ति को नमस्कार किया और कहा कि यह बौद्धिक विक्रय *(intellectual prostitution)* है। अच्छी बात थी कि उसको अंग्रेजी नहीं आती थी। शरीर तो बेचा जाता है, परन्तु बुद्धि भी बेची जाती है यह विक्रय है। किसी का शरीर भोगार्थ है ऐसा समझना अनाध्यात्मिक है और अपना शरीर भोग के लिए बेचना, अनाध्यात्मिक ही नहीं महान् पाप है।

विभिन्न लिंगी व्यक्तियों का एक दूसरे के साथ सख्य होना चाहिए या नहीं? आज के लोग सख्य तक आये हैं, परन्तु हम उसके पीछे एक शब्द अधिक लगाते हैं- **भक्तियुक्त!** यानी भक्तियुक्त सख्य होना चाहिए। शरीर को पवित्र मानने की हिम्मत होनी चाहिए। यह अभ्यास होना चाहिए। पिंगला से अवधूत को यह दूसरी शिक्षा मिल गयी कि देह वासनार्थ नहीं है। हमने यदि वासना की पूर्ति के लिए ही देह इस्तेमाल किया, बुद्धि भी वासनार्थ ही व्यय की तो हमारी स्थिति पिंगला वेश्या से भी बदतर होगी। उसने तो शरीर ही बेचा, हमने तो बुद्धि भी बेच दी, सभी बेच दिया। तीसरी- चौथी बात वेश्या ने कही कि, क्षुद्र पुरुषों की मैंने सेवा की, सैंकड़ों पुरुषों के साथ मेरा सम्बन्ध आया, परन्तु किसी ने मुझे उठाया नहीं, समझाया नहीं। जिन्होंने मेरा शरीर उपभोगार्थ इस्तेमाल किया उनकी ही मैंने

आराधना की। इन क्षुद्र पुरुषों की सेवा की अपेक्षा अच्युत ही सेव्य है जो मेरे समीप है, नित्य समीप रहने वाला है, जिसके अस्तित्व से मेरा कार्य चला है। उसके मुँह से शब्द निकले हैं, **'सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यमिमं...।'** बहुत सुन्दर शब्द हैं। अच्युत-, जो च्युत नहीं होता, च्युत होने नहीं देता उसको अच्युत कहते हैं। केवल अच्युत ही सेव्य है यह अन्तिम सिद्धान्त वेश्या ने कहा है।

यह मानवी शरीर बेकार नहीं जाना चाहिए, इसकी बदनामी नहीं होनी चाहिए। यह भगवान की श्रेष्ठ प्रतिभा का चिह्न है। यह क्षुद्र नहीं है, दुर्बल नहीं है। **'नर अपनी करनी करे सो नर का नारायण हो जाय।'** ऐसा यह शरीर है। ऐसी अभिलाषा होनी चाहिए कि 'भगवान! आपकी गोद में मुझे बैठना है, वहाँ मेरा स्थान है। आपकी गोद में बैठना मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है - *'This is my birth right and I shall have it-'* **बहूनां जन्मनामन्ते....'** भी क्यों न हो, परन्तु मैं आपकी गोद में आकर ही बैठूँगा।'

परन्तु अच्युत सेव्य कब होता है? मन्दिर बनाने से? नहीं। अच्युत को मन से चाहना चाहिए, उसकी बुद्धि से कद्र करनी चाहिए और स्व तथा आत्मा से उसका पूजन करना चाहिए– ये तीन बातें आने से अच्युत सेव्य बनता है।

भगवान सेव्य हैं इसका अर्थ उनको केवल फूल अर्पण करो ऐसा नहीं है। भगवान के प्रति प्रेम, उनकी कद्र और भक्ति होनी चाहिए ऐसा भागवतकार का कहना है। उन्होंने कमाल कर दिया है। वेश्या के पास से भी अवधूत ने ज्ञान लिया ऐसा बताया है। उन्हें फिर एक छोटा बालक मिला।

१९) **अर्भक** — अवधूत ने एक बालक से ज्ञान लिया। बालक की ओर भिन्न दृष्टि से देखनेवालों को जीवन मिलता है। कवि टेनिसन एक बार जीवन से ऊब गया और आत्मघात करने हेतु घर से चल पड़ा। जगत् में कूड़ा-कचरा देखकर उसे लगा कि जीने में कुछ अर्थ नहीं है। मार्ग से जाते हुए एक छः महीने के बालक को हँसते-उछलते हुए देखा। उसके मन में विचार आया कि मेरे पास इतना ज्ञान है अन्य सब कुछ है फिर भी मैं दुःखी हूँ और यह बालक जिसके पास कुछ नहीं है, वह हँसता है। इसके पास ज्ञान नहीं है फिर भी वह आनंदी है, उसके पास जीवन है, तो क्या मैं जीवन में आनंद नहीं पा सकता? इस विचार से टेनिसन वापस लौट पड़ा। एक बालक की हँसी ने टेनिसन जैसे महान् कवि को बचाया! मरनेवाला था वह बच गया।

अवधूत को लगा, कौन सा ऐन्द्रिय सुख है इस बालक को? वह न कोई गाना सुन सकता है न समझ सकता है, किसी की ओर वह प्रेम से देख भी नहीं सकता क्योंकि कौन अपना है, कौन पराया है इसीका इसे पता नहीं है! यह स्वाद से खा भी नहीं सकता, जो कुछ इसके मुँह में डाला जाय वह यह निगल लेता है। फिर इस बालक के जीवन में ऐसी कौन सी बात है कि इसके जीवन में आनंद है? इससे पता चलता है कि बिना विषय *(object)* के भी यह बालक आनंदी रह सकता है तो हम क्यों नहीं आनंदी रह

सकते? हमें वैषयिक आनन्द *(objective happiness)* चाहिए। वैषयिक सुख से भी आत्मिक सुख *(subjective happiness)* श्रेष्ठ है इसकी शिक्षा अवधूत ने बालक से ली। आत्मा में आनंद है, 'स्व' में आनंद है। स्वात्मानन्द ऐन्द्रिय सुख से श्रेष्ठ है। यह स्वात्मानंद कैसे मिलेगा? उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने पड़ेंगे। बालक से यह शिक्षा मिली कि ऐन्द्रिय सुख में पराधीनता है, परतंत्रता है, वह सुख आश्रित है। फूल की सुंगध से आनंद मिलता है परन्तु उसमें बाह्य वस्तु की अपेक्षा रहती है, उसको सँभालना पड़ता है। ऐन्द्रिय सुख में तेजस्वी मनुष्य को अपने 'स्व' की हत्या लगती है। उसमें बाह्य वस्तु की खुशामद करनी पड़ती है। उसको सँभालना पड़ता है, और फिर विषय की इच्छा होगी तब मैं सुखी बन सकूँगा, इसकी अपेक्षा मैं स्वयं क्यों न सुखी रहूँ? 'मैं स्वयं सुखी रह सकता हूँ' यह शिक्षा अवधूत ने बालक से ली।

आत्मानंद विषयानंद से श्रेष्ठ है। विषय शब्द का अर्थ स्त्री, वित्त, कीर्ति इतना ही नहीं है। विषय शब्द का अर्थ हमारी देशी भाषा में बुरा हो गया है, इसलिए मैं विषय के लिए *object* यह अंग्रेजी शब्द प्रयुक्त कर रहा हूँ। विषय की दृष्टि से देखा जाय तो भगवान की मूर्ति भी विषय होती है।

दूसरी बात, बालक **'मानापमानयोस्तुल्यः'** है। उसे आत्मा की हत्या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मान क्या है? अपमान क्या है? हमारी यही कामना रहती है कि लोग मुझे 'अच्छा' कहें। हमें खाने-पीने को नहीं चाहिए, परन्तु लोग 'अच्छा' कहने चाहिए। सब लोग जैसे कपड़े पहनते हैं उनसे अधिक अच्छे कपड़े मेरे पास होने चाहिए। 'लोग मुझे अच्छा कहेंगे' ऐसा लगने में आत्मा की दुर्बलता है। लोग मुझे अच्छा कहेंगे तभी क्या मैं अच्छा हूँ? अन्यथा नहीं! लोग पागल भी हो सकते हैं। पागलों की अधिकता *(majority of fools)* हो सकती है। लोग कहेंगे उस पर क्या मेरी महत्ता या मेरा सुख निर्भर नहीं है!

छोटे लड़कों की पुस्तक में एक कहानी आती है— 'एक बूढ़ा और उसका टट्टू।' एक बूढ़ा अपने लड़के के साथ दूसरे गाँव जा रहा था। साथ में उसका टट्टू भी था। तीनों चलते जा रहे थे। मार्ग में कितने ही लोग खड़े थे। इन तीनों को देखकर वे आपस में कहने लगे, अजी! साथ में टट्टू है फिर भी ये दोनों मूर्ख के जैसे पैदल जा रहे हैं। यह सुनकर बूढ़े को लगा कि बात सही है। उसने अपने लड़के को टट्टू पर बैठने को कहा। लड़का टट्टू पर बैठा व बूढ़ा पैदल चलने लगा। अगले चौराहे पर कुछ लोग खड़े थे। वे कहने लगे, देखिये न! बूढ़ा बाप पैदल चल रहा है और यह लड़का टट्टू पर बैठकर जा रहा है।' यह सुनकर लड़का नीचे उतर गया और बूढ़ा टट्टू पर बैठा।

तनिक आगे बढ़ने पर वहाँ के लोग कहने लगे, 'देखो कैसा जमाना आया है! छोटा लड़का पैदल चल रहा है और बूढा आराम से टट्टू पर बैठकर जा रहा है, यह कहाँ का न्याय है? बूढ़े ने वह सुनकर लड़के को भी टट्टू पर अपने पीछे बिठा लिया।

कुछ और आगे जाने पर उनको वहाँ लोगों का दूसरा समूह मिला। उन लोगों ने कहा, 'देखो तो सही! ये लोग कितने निर्दयी हैं? एक टट्टू पर दो-दो जन बैठकर जा रहे हैं।' यह सुनकर बूढ़े को लगा कि अब क्या करना? अन्त में दोनों टट्टू पर से नीचे उतर गये और टट्टू के पैर बाँधकर उसको कंधों पर उठाकर चलने लगे। बीच में पूल पर से जाना था। पानी देखकर टट्टू भड़क उठा और जल में पूल पर से कूद पड़ा। लोगों को अच्छा लगना चाहिए- *Trying to please every body* -इस धुन में उन्होंने टट्टू को गँवा दिया। राजा भर्तृहरि कहता है-

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा
प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदयक्लेशकलिलम्।
प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगुणे
विविक्तः संकल्पः किमिव हि फलं पुष्यति न ते ।। वै. श.।।

दूसरों का चित्त सँभालते-सँभालते मनुष्य अस्सी वर्ष का बूढ़ा बन गया। दूसरों को क्या लगेगा? इसका विचार किया, परन्तु स्वयं को क्या लगेगा इसका कोई विचार नहीं करता। सारी दौड़धूप सम्मान प्राप्त करने के पीछे ही चलती है। मान-सम्मान की कल्पना कितनी मिथ्या है यह किसी को मालूम नहीं है।

बालक के दिमाग में मान की अभिलाषा नहीं है, अपमान की भी उसको कल्पना नहीं है और वैसी आवश्यकता भी नहीं है। मेरा अपमान कौन कर सकता है? कोई करता होगा तो वह मूर्ख है। मान-अपमान ये दोनों सामाजिक जीवन में खड़े हैं। ऋषि-मुनि जंगल में जाकर तपश्चर्या करते थे इसका कारण यही है। जंगल में, राजा भी मर गया तो भी सभी पक्षी वैसे ही चहकते हैं, हवा वैसी ही बहती है, नदियाँ- झरनों का कलरव वैसा ही रहता है। उसमें कोई फर्क़ नहीं पड़ता। परन्तु इधर शहर में कोई फोकटलाल भी मर गया तो दस घरों में रोना शुरू होता है, बाज़ार बन्द रहता है, शेष सब चलता रहता है। असली बात यह है कि किसी के मरने से किसी को भी दु:ख नहीं होता। कुछ मानसिक दु:ख होता होगा, होता ही नहीं, ऐसा मैं नहीं कहता हूँ, जरूर होता होगा, परन्तु सब व्यवहार तो चलता ही रहता है। कोई रुकावट नहीं आती है। परन्तु मनुष्य लोकाराधन, लोकेषणा के पीछे ही पड़ा रहता है।

मनुष्य दान देता है वह भी लोकेषणा के कारण ही देता है। 'ज्ञातिवालों को मालूम होना चाहिए कि मैं कुछ हूँ' यह ईषणा मन में रहती है। ज्ञातिवाले मान-पत्र देते हैं इसलिए उसका दान होता है। परन्तु ऐसा दान कभी चित्रगुप्त के रजिस्टर में दर्ज नहीं होता। यहाँ के दान के बदले में यहीं मानपत्र मिल गया। हिसाब पूरा हो गया। एक चेक दुबारा बैंक में नहीं भुना जाता!

नेपोलियन विजयी बनकर आया तब लोग हजारों की संख्या में उसे मिलने के लिए आये। सरदार ने नेपोलियन से कहा कि तनिक बरामदे में आकर लोगों को दर्शन दीजिए। नेपोलियन ने कहा, 'ये लोग किसलिए आये हैं?'

'आप विजयी बनकर आये हैं इसलिए आपका सम्मान करने, आपका अभिनन्दन करने आये हैं।' सरदार ने कहा।

नेपोलियन ने कहा, "मैं विजयी बन गया हूँ इसमें कौन सा शेर मारा है? विजय तो मेरी होनी ही थी! जहाँ नेपोलियन है वहाँ विजय ही है! जाओ! मुझे लोगों से नहीं मिलना है। जो लोग मुझे आज फूलों के हार पहनाने आये हैं वे कल जूतों की माला भी पहनायेंगे, मुझे गिलोटिन पर भी चढ़ायेंगे। मैं ऐसी लोकाराधना की धुन में नहीं पड़ता हूँ।"

लोग, लोग जिन्हें आज पब्लिक कहते हैं ऐसे होते हैं। पब्लिक का अर्थ क्या है? परब्रह्म है! अखबार में आता है कि ऐसा हो जायेगा तो पब्लिक को मान्य नहीं होगा। इसलिए सामाजिक प्रतिष्ठा *(social status)* मान-सम्मान के पीछे हमारी अस्सी प्रतिशत दौड़धूप चल रही है। इसीमें हमारी शक्ति खत्म हो जाती है।

राजकीय क्षेत्र में आगे बढ़े हुए लोगों को ही सम्मान की अपेक्षा होती है, ऐसा नहीं है। हम भी सम्मान की अपेक्षा रखते हैं। मौसी को, मामा को अच्छा लगना चाहिए, चाची को अच्छा लगना चाहिए। मौसी के मन में से उतर नहीं जाएं इसलिए मौसी का मन सँभालना है, फिर भले ही उस दिन स्वाध्याय छूट गया तो हानि नहीं, भगवान क्षमाशील हैं, वे क्षमा कर देंगे, परन्तु मौसी का काम बाकी नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य अपने 'स्व' का ही हनन करता है। इसीलिए अवधूत ने बालक के पास से **'मानापमानयोस्तुल्यः'** की शिक्षा ली। यह बहुत बड़ी बात है।

तीसरी बात, बालक निश्चिन्त रहता है। जीवन में विकास करना हो तो चिन्ता छोड़नी चाहिए। बालक को चिन्ता नहीं होती। हमारे मस्तिष्क में जब तक चिन्ता है तब तक व्यथा ही है। एक सुभाषितकार ने लिखा है **'चिताचिन्ता समानास्ति'** एक अनुस्वार का फ़र्क़ छोड़ दिया तो चिन्ता समान है। चिता मर जाने के बाद एक ही बार जलायी जाती है। परन्तु चिन्ता जीवित मनुष्य को ही जलाती रहती है। चिन्ता लग गयी कि मनुष्य की शक्ति ही खत्म हो जाती है।

चिन्ताशून्य जीवन होना चाहिए। हम तो सभी चिन्ता लेकर बैठते हैं। हमारी अपनी चिन्ता, दूसरे की चिन्ता, इस जन्म की चिन्ता, अगले जन्म की चिन्ता, बस्स! चिन्ता ही चिन्ता! चिन्ता से शक्ति क्षीण होती है। चिन्ता के कारण जीवन का उपयोग और उपभोग दोनों नहीं हो सकते। चिन्ता से नींद उड़ जाती है। नींद उड़ जाती है तो छोड़ दो चिन्ता! परन्तु क्या ऐसा कहने से चिन्ता जा सकती है? चिन्ता कैसे जायेगी? पुराण में लिखा है कि चिन्तामणि मिलने से चिन्ता चली जाती है। परन्तु यह चिन्तामणि पुराण में ही है, इधर कहीं मिलता ही नहीं। यदि मिलता तो, जो कोई मेरे पास चिन्ता लेकर आता, उसको एक-एक चिन्तामणि दे देता। सबकी व्यथा चली जाती। सर्वत्र आनंद ही आनंद हो जाता। परन्तु ऐसा चिन्तामणि कहीं नहीं मिलता है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, 'चिन्ता की व्यथा से मुक्त होना है तो गीता सुनो! यही चिन्तामणि है।' लोग कहते हैं, 'भगवान! आपका कहना

ठीक है, परन्तु हमारे पास आपकी गीता सुनने को समय ही नहीं है।' भगवान कहते हैं, ठीक है, **'न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि।'** (नहीं सुनेंगे तो मर जायेंगे, विनाश होगा तुम्हारा!') यह भगवान का शाप नहीं है। भगवान ने परिणाम कहा है।

चिन्तामणि में सात रंग होते हैं। प्रथम, खराब में खराब जो बात होगी उसे स्वीकार करने की तैयारी रखो। एक भाई को नौकरी मिल गयी। वह दिन रात यही चिन्ता करने लगा कि यह नौकरी छूट गयी तो? इस चिन्ता के कारण उससे काम में भूलें होती थीं। अफ़सर उसके प्रति नाराज रहता था। उसने मुझे यह बात बतायी। मैंने कहा, 'नौकरी छूट नहीं जायेगी, छूटने वाली ही है। यह शरीर भी कायम नहीं रहनेवाला है तो नौकरी कैसे कायम रहेगी?' उसने कहा, "फिर मैं क्या करूँ? मुझे दूसरी नौकरी कैसे मिलेगी?" मैंने कहा, "देख! मुंबई सेंट्रल पर कितने मजदूर हैं, सब कैसे आनंद में हैं! तू भी यह सोचता जा कि यदि यह नौकरी छूट जायेगी तो मैं भी मजदूरी करके कमाऊँगा।" उसने यह निश्चय कर लिया। काम में भूलें कम होती गयीं। मन चिन्तामुक्त हुआ, काम में एकाग्रता आने लगी। कार्य अच्छा होता गया। एक वेतन वृद्धि-*(Increment)* मिल गयी। खराब से खराब परिणाम स्वीकार करने की तैयारी रखने से यह हुआ। *Peace of mind comes from accepting the worst* ।' खराब से खराब स्वीकार करने की तैयारी से मन को शान्ति मिलती है। यह चिन्तामणि है ऐसा गीता कहती है। भगवान ने गीता में अर्जुन से क्या कहा? **'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।'** प्रथम क्या समझना? 'मैं मर जानेवाला हूँ!' बस्स! इससे अधिक लड़ाई में क्या हो सकता है? **'हतो वा जित्वा'** फिर अनिष्ट स्वीकारने की तैयारी रख। *worst to worst*। **उपायेत् चिह्नयेत् पश्चात् अपायन् चिन्तयेत्-** खराब में खराब मुझे मिलने वाला है ऐसा जब तू स्वीकार करेगा तो चिन्ता चली जायेगी। फिर युद्ध में विजयी हुआ तो आनंद ही आनंद है। मरेगा तो स्वर्ग मिलेगा। खराब में खराब स्वीकार करने की तैयारी चिन्तामणि के सात रंगों में प्रथम रंग है।

चिन्तामणि के सप्तरंग गीता समझाती है। गीता मरने के बाद पढ़ने का ग्रंथ नहीं है। जीवित रहना हो तो गीता पढ़ो। मरना हो तो गीता छोड़ दो। जिसने गीता को छोड़ दिया वह जीवित व्यक्ति, मृत ही है। जीवन्मृत है वह। वह कदाचित् श्वासोच्छ्वास करता होगा, क्लब में जाता होगा, कुछ धन्धा भी करता होगा, परन्तु वह 'मरा हुआ' ही है। उसके जीवन में कुछ स्वाद ही नहीं है। उसके जीवन में कुछ है ही नहीं। उसे कुछ करना नहीं है, कुछ विकास नहीं साधना है, किसी को उठाना नहीं है, बदलना नहीं है। तो फिर वह जीवित कैसा है? भगवान ने अर्जुन से प्रथम कहा, **'हतो वा'** तू मरने वाला है। भगवान भी ऐसा नहीं कहते कि तू विजयी होनेवाला है। तू मरने वाला है यह बात प्रथम स्वीकार कर! गीता की यह पद्धति है।

भूतकाल की चिन्ता छोड़ दो और भविष्यकाल की लालसा भी छोड़ दो ऐसा गीता कहती है। कल की बात छोड़ दो। दोनों कल, एक कल जो बीत गया *(yesterday)* और दूसरा कल जो आनेवाला *(Tomorrow)* है, ये दोनों कल की कलकल छोड़ दो। जो

सामने है वह वर्तमान *(Today)* स्वीकार करो। भूतकाल को भूल जाओ और भविष्यकाल मेरे हाथ में दे दो। तुम्हारे हाथ में 'वर्तमान' है, उसको सुधारो। रस्कीन- *(Ruskin)* अपने टेबल पर एक तख्ती रखता था। उस पर लिखा हुआ रहता- *'To-day-* आज!' कल का कल गया उसका विचार छोड़ दो। भविष्यकाल आनेवाला है उसकी चिन्ता छोड़ दो। केवल 'आज' का देखो!

कितने ही लोग भूतकाल में जो भूलें हुई उनकी जुगाली करते बैठते हैं। जो भूलें हो गयीं हैं वे अब सुधरने वाली नहीं हैं। उनको छोड़ देना चाहिए, भूतकाल को भूलना चाहिए। भगवान कहते हैं, भूतकाल को भूल जाओ और भविष्यकाल मेरे हाथ में दे दो। भगवान की इस बात को यदि हम स्वीकार करेंगे तो चिन्ता चली जायेगी। इसीलिए भगवान ने विस्मृति रखी है- **'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।'** ऐसा भगवान गीता में कहते हैं। स्मृति और विस्मृति दोनों भगवान देते हैं।

विस्मृति होनी ही चाहिए। भगवान ने यदि विस्मृति न रखी होती तो भूतकाल में इतनी भूलें हुई हैं कि उनकी व्यथाएं व परेशानियाँ (सब भूतकाल) एक साथ सामने आकर खड़ी हो जायेंगी, उनको हम निरन्तर याद करते रहेंगे तो तुरन्त मर जायेंगे इतना भूतकाल भयंकर है। दूसरी बात, मनुष्य भविष्यकाल का विचार करता रहता है कि आज उसकी एक फैक्ट्री है, फिर तीन फैक्ट्रियाँ होंगी, तीन से चार फैक्ट्रियाँ बनेंगी, इतना पैसा कहाँ रखूँगा? उसकी *adjustment* कैसी करनी चाहिए? निवेश *(Investment)* कहाँ करना है? इन बातों को चिन्ता करने में ही उनके दिन व्यतीत होते हैं। इसलिए भगवान कहते हैं कि तेरा भविष्यकाल मेरे हाथ में दे दे। वर्तमान मनुष्य के हाथ में है, उसको सुधारना चाहिए। आज वह जो करेगा उसको भगवान लिख रखेंगे, उसका फल भगवान देंगे। मनुष्य को यही विचार करना चाहिए कि 'मुझे आज क्या करना है?' आज का विचार करना है।

कितने ही लोग पुराना काल कैसा था इसका ही विचार करते बैठते हैं। कहते हैं, 'रामकाल में लोग कितने सुखी थे!' उनको पूछना चाहिए कि तुम क्यों दुःखी हो आज! रामकाल में लोग सुखी थे तो आज क्या हुआ है? तुम झूले पर बैठकर पुराना काल सोचते हो! भगवान कहते हैं, 'आज का विचार करो और कार्य को प्रारंभ करो। दोनों कल (भूत व भविष्य) को भूल जाओ। यह चिन्तामणि का दूसरा रंग है।

चिन्तामणि का तीसरा रंग है- उलझन- घबराहट चिन्ता का मूल कारण है- '*Confusion is the chief cause of worry*'। छाती में दुखने लगा कि हृदयावरोध *(Heart attack)* होगा, ऐसा निर्णय लेने की उतावली न करो। हम तो तुरन्त निर्णय ले लेते हैं। गीता कहती है कि पूर्ण विचार करो और बाद में निर्णय लो। इसका कारण आपको भगवान ने बुद्धि दी है या नहीं? **'विमृश्यैतदशेषेण'**- 'पूर्णतया विचार कर' ऐसा भगवान कहते हैं। जीवन में जब उलझनें पैदा होंगी तब विचार करो कि कृष्ण भगवान इस स्थिति में होते तो क्या करते? हम घर में महापुरुषों की तस्वीरें रखते है इसका कारण यह है कि उलझनों के समय उनकी तरफ देखकर हिम्मत आती है।

लेनिन अपने घर में मार्क्स का फोटो रखता था। किसीने पूछा कि 'तुम मार्क्स का फोटो क्यों रखते हो? यह व्यक्तिपूजा है।' तब लेनिन ने कहा, 'मैं मार्क्स का फोटो इसलिए रखता हूँ कि मुझे जब कुछ उलझनें आयेंगी तब मैं सोचूँगा कि ऐसे समय मार्क्स क्या करता?' इससे मुझे मार्गदर्शन मिलेगा।

कृष्ण भगवान के फोटो की ओर देखकर भी उलझन के समय हमें सोचना चाहिए कि 'इस स्थिति में कृष्ण भगवान आ जाते तो क्या करते?' इसीलिए कृष्ण ने अपने को भगवान कहा ही नहीं, कृष्ण ही कहा है। रामने भी 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा स्वयं कहा है। ऐसा होता तो उनका विचार करने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। हमें ऐसा ही लगता कि वे तो भगवान थे इसलिए ऐसा किया।

दूसरी बात, मनुष्य चिन्ता क्यों करता है? उसे कुछ काम ही नहीं होता इसलिए चिन्ता करते बैठता है। काम में व्यस्त रहने से चिन्ता समीप नहीं आती। भगवान ने कहा है **'मामनुस्मर युध्य च।'** भगवान को याद करो और काम में लग जाओ। सभी लोगों का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लेने में क्या लाभ है? मनुष्य को कार्य में इतना व्यस्त रहना चाहिए कि चिन्ता करने का समय ही न मिले। चर्चिल कहता था कि सुबह से रात को सोने तक मैं इतना काम में मग्न रहता हूँ कि चिन्ता करने के लिए मेरे पास समय ही नहीं रहता। चिन्ता करने के लिए बेकार समय चाहिए।

पुराने समय की स्त्रियाँ बहुत चिन्ता करती थी। क्योंकि उनके पास बेकार समय पड़ा रहता था। झूले पर बैठकर व्यर्थ चिन्ता किया करती थी। मनुष्य को निरन्तर कार्य में व्यस्त रहना चाहिए। **वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः।** क्यों? बूढ़े की परिवार में न किसीको अपेक्षा है न बाजार में उसकी कोई आवश्यकता है। लड़के सब कुछ सँभालते हैं। फिर भी यह दुकान में जा बैठता है, काम तो कुछ रहता ही नहीं, फिर क्या करे? तो बैठे बैठे चिन्ता करते रहता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने पचास साल की उम्र होने पर 'वानप्रस्थ' बनने को कहा है। बिना काम के नहीं रहना है, काम बदलना है। छोटा था तब बुद्धि व शक्ति कमाने का काम था। उसके बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर परिवार का काम था और अब वानप्रस्थ में प्रभु का काम करना है। शास्त्रकार कहते हैं, 'काम में परिवर्तन करो, बेकार न बैठो।'

आज सभी बूढ़ों को कितना समय मिलता है! फुर्सत ही फुर्सत! वे कुछ काम ही नहीं करते। 'होगा या नहीं होगा? हममें कुछ शक्ति ही नहीं है' ऐसा कहनेवाले तुम कौन हो? भगवान **'मूकं करोति वाचालं....'** करते हैं, वैसे **वाचालं मूकं करोति** भी वे ही करते हैं। दोनों शक्तियाँ भगवान के पास हैं। इसलिए काम में व्यस्त बन जाओ ऐसा गीता कहती है।

कुविचारों से, सतत दीन, क्षुद्र विचार करते रहने से चिन्ता खड़ी हो जाती है। जेम्स एलन नाम की एक लेखिका है, उसने *As a man thinker* नामक पुस्तक लिखी है। उस

पुस्तक में ऐसे कितने ही लोगों की बातें लिखी हैं। कुविचारों से चिन्ता निर्माण होती है इसलिए उन पर नियंत्रण होना चाहिए। हमारे इधर पारगमन विभाग *(Immigration Department)* नहीं है। जो आता है वह बैठ जाता है। कोई निर्बंध नहीं है। शक्तिशाली कस्टम होना चाहिए। कोई भी बेकार माल आ जायेगा तो क्या हम ले लेंगे? दिमाग का ऐसा नहीं है। कोई भी विचार आता है तो वह बैठ जाता है। क्षुद्र, दुर्बल विचार सुनने से चिन्ता नहीं होगी तो, दूसरा क्या होगा? काँटे से काँटा निकालना चाहिए यानी चिन्ता से चिन्ता को हटाना है। अपनी निजी चिन्ता छोड़ दो और दूसरे की चिन्ता करना प्रारंभ करो। ऐसा करने से चिन्ता का जो बुरा परिणाम *(bad effect)* है वह नहीं होगा। ज्ञानेश्वर महाराज विश्व की चिन्ता करते थे। उनको अपनी चिन्ता करने के लिए समय ही कहाँ था? दूसरे की चिन्ता उठाना यह एक अभ्यास है। यह बहुत कठिन बात है। उसमें आत्मीयता होनी चाहिए। अनेक गुण इकठ्ठे करने के बाद दूसरे की चिन्ता कर सकते हैं।

तीसरी बात यह है कि सच्ची इच्छा होगी तो चिन्ता नहीं आयेगी। *If there is a will there is a way*। हमें इच्छा है, **'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः'** परन्तु यह सच्ची इच्छा नहीं है क्योंकि उसके पीछे कोई कृति नहीं है। जिस इच्छा के पीछे कोई कृति नहीं होती वह इच्छा बेकार है। हमने सदिच्छा की, **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः....।'** क्या किया यह कह दो। सच्ची इच्छा बहुत बड़ी बात है। सच्ची इच्छा और सच्चे की इच्छा दोनों होने चाहिए।

कितने ही लोग केवल मनोराज्य में व्यस्त रहते हैं। ऐसा होगा, वैसा होगा......आदि। इसकी अपेक्षा सच्ची इच्छा करनी चाहिए। दूसरे की जैसी चिन्ता करेंगे, वैसे ही अपनी जो इच्छा करेंगे वह सच्ची होनी चाहिए। 'यह कलियुग जाना चाहिए' यह सच्ची इच्छा नहीं है। इच्छा है पर सच्ची इच्छा नहीं है। 'सभी को सुख मिलना चाहिए' ऐसी सच्ची इच्छा करेंगे व वैसी कृति करने लगेंगे तो चिन्ता चली जायेगी। एक सीढ़ी चढ़ने पर दूसरी सीढ़ी मिल जाती है। उसके लिए सीढ़ी चढ़नी पड़ती है। गीता समझाती है कि यह सप्तरंगी चिन्तामणि स्वीकार करने के बाद प्रसाद मिलता है यानी प्रतिभावन *(response)* मिलता है। प्रसाद अपभ्रष्ट रूप है। प्रतिसाद (प्रतिभावन) सत्य रूप है। हम भगवान की जो प्रार्थना करते हैं उसका प्रतिसाद हमें मिलता है। प्रतिसाद का रूप बन गया प्रसाद। प्रतिसाद (प्रसाद) मिलने से चिन्ता चली जाती है। बालक को देखकर अवधूत को कल्पना आयी कि वैषयिक सुख *(objective happiness)* की अपेक्षा आत्मिक सुख *(Subjective happiness)* ही सच्चा सुख है। मान-अपमान के पीछे दौड़ना बेकार है और तीसरी बात, चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। ये तीन बातें अवधूत ने बालक से ग्रहण की।

२०) **कुमारिका** — एक बार अवधूत घूम रहे थे। संध्या का समय हो गया था। वे एक घर में गये। घर के लोग कुछ कार्यवश दूसरे गाँव गये थे। लड़की का विवाह होना था। वरपक्ष के लोग रिश्ता पक्का करने के लिए वधू के घर आये थे, परन्तु घर में कोई नहीं था, केवल जिसका विवाह होना था वह कुमारिका ही घर में अकेली थी।

उसने आगन्तुकों का स्वागत किया। वह सोचने लगी कि घर में चावल नहीं हैं और आये हुए मेहमानों को भोजन नहीं दिया तो अच्छा नहीं होगा। वह घर के भीतर एकान्त में धान कूटने लगी। उस समय उसकी कलाई की चूड़ियों की आवाज नहीं जानी चाहिए। इसमें दो बातें थी। जिस घर में रात्रि में चावल कूटते हैं उस घर की लड़की को कैसे स्वीकार करना? पुराने समय में घर की सभ्यता भी देखते थे। किसीके घर जाओ और घर का लड़का टाँगें फैलाकर बैठा हो, आपके घर में प्रवेश करने पर भी वह सीधा नहीं बैठता हो तो समझ लेना कि उस घर में संस्कार नहीं हैं। उसी प्रकार जिस घर में रात्रि में धान कूटते हैं वहाँ संस्कार कहाँ रहे? इसमें बेइज्जती होती है। अपनी चूड़ियों की आवाज न हो इसलिए उस कुमारी ने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं और दोनों हाथों में केवल दो-दो चूड़ियाँ रखीं, परन्तु वे दो-दो चूड़ियाँ भी बजने लगी तब उसने एक-एक चूड़ी तोड़ दी। जब दोनों कलाइयों में एक-एक चूड़ी रह गयी तब आवाज बंद हो गयी। अवधूत ने कहा, जहाँ अधिक लोग इकट्ठे होंगे वहाँ कलह और शोर होगा। जहाँ दो लोग इकट्ठे होंगे वहाँ संवाद होगा। इसका अर्थ मनुष्य को अकेला रहना चाहिए तभी वह शान्ति से विचार कर सकता है। इसलिए अनेक लोग साथ में बैठकर प्रार्थना कर सकते हैं, पूजा नहीं। पूजा अलग बात है। पूजा अकेले बैठकर करनी होती है। प्रार्थना सभी के बीच में हो सकती है। इसलिए हमारा घर पूजा के लिए है और मन्दिर प्रार्थना के लिए है। मंदिर में प्रार्थना करनी है। पाँच सौ लोग इकट्ठे हो जायेंगे, पारायण करेंगे। यह प्रार्थना है।

कुमारिका की हिम्मत व चतुराई देखकर अवधूत ने कहा कि मुझे ज्ञान मिला कि अधिक लोग इकट्ठे होंगे तो कलह और शोर होगा। दो लोग एकत्रित होंगे तो संवाद होगा। **'कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः....'** दो लोग इकट्ठे हुए कि संवाद शुरू होता है। रेलगाड़ी में दो लोग इकट्ठे हुए कि एक दूसरे से पूछने लगते हैं, क्या नाम है आपका? कहाँ जा रहे हैं? पिताजी का नाम क्या है? धन्धा कौन सा है?' कौन सी आवश्यकता है यह सब पूछने की? परन्तु पूछते रहते हैं। दो जन इकट्ठे होने पर संवाद होता ही है। अतः अनेक रहना या दो रहना? दोनों बेकार हैं। अकेला रहना चाहिए। **एकस्तपो द्विरध्यायी** तप भी अकेले को करना है और अध्ययन- अभ्यास दो जनों को साथ में मिलकर करना है। ये गुण अवधूत को कुमारिका से जानने को मिले।

२१) **साँप** — अवधूत को घूमते हुए एक साँप मिला। उनको लगा कि साँप का पता कौनसा है। जिसका पता होता है उसका अपना घर होता है। भागवत में लिखा है कि घर बनाना दुःख की बात है। आज भी यह बात सत्य है। घर का मालिक होना बेकार है, किरायेदार होना अच्छा है। मालिक के जैसा दुःखी कोई नहीं है। 'मालिक' शब्द निकालने का प्रयत्न चल रहा है इस जमाने में! आज ऐसा कहा जाता है कि मूर्ख लोग घर बनाते हैं और अक्लमंद उसमें रहते हैं। **गृहारम्भोऽतिदुःखाय।** साँप का कोई घर ही नहीं है। संन्यासी को कैसा रहना चाहिए यह भागवतकार ने बताया है।

आज हम घर बनाते हैं और संन्यासी मठ बनाते हैं। इसमें क्या फर्क है? संन्यासी को कैसे रहना चाहिए! तो साँप जैसा! साँप घर नहीं बनाता। संन्यासी को भी घर नहीं बनाना चाहिए, कारण **गृहारंभोऽतिदुःखाय।** साँप जनसंग का त्याग करता है। जहाँ बहुत लोग रहते हैं वहाँ साँप नहीं रहता। संन्यासी को भी जनसंग का त्याग करना चाहिए। साँप छुपकर चला जाता है। वैसा संन्यासी को घूमकर रहना चाहिए। उसकी साधना भी छुपकर होनी चाहिए। किसीको पता भी न चले कि साधना कब हुई। संन्यासी को जनसंग्रह नहीं करना चाहिए। साँप के पास अपरिग्रह होता है। संन्यासी के पास भी अपरिग्रह होना चाहिए। साँप के हाथ ही नहीं हैं तो रखेगा क्या! हमारे पास दिमाग है और हाथ हैं। हाथ से उठाते हैं और दिमाग से रखते हैं। दिमाग होने के कारण हमने रखने की व्यवस्था की है- सुरक्षित जमा कक्ष *(Safe deposit vault)* में हम धन रखते हैं और संभाल दूसरा करता है। स्वयं की मिल्कीयत दूसरा संभाले ऐसा प्रबंध करनेवाले के पास कितनी बुद्धि होगी? जायदाद हमारी और सँभालता है दूसरा, हम निश्चिन्त होकर सो जाते हैं। मनुष्य में बहुत अक्ल है। हवाई जहाज से यातायात और बिनतार *(wireless)* से सुनना इन दो बातों में उसकी अक्ल की परमावधि है। कागज के सिक्के *(Paper currency)* निकाले, जो आज तक किसीको नहीं मिले थे। यह भी मनुष्य की अक्ल ही है।

अवधूत कहते हैं कि संन्यासी को साँप से पाँच बातें सीखनी चाहिए- १) घर बनाना बेकार है २) जनसंग्रह करना व्यर्थ है, ३) अपरिग्रह रखना है ४) छुपकर चलना है और ५) मौन रखना है। साँप बोलता नहीं है। ये पाँच बातें संन्यासी के लिए पंचामृत हैं। संन्यासी को लालसा नहीं होनी चाहिए अन्यथा जहाँ आबोहवा पसंद आये वहीं स्थिर रहने का मन होगा।

२२) **इषुकार** — आगे जाते समय अवधूत को एक इषुकार दीख पड़ा। वह बाण बनाता था। बाण बनाने में वह इतना तल्लीन हो गया था कि उसके घर के सामने के मार्ग से बाजे गाजे के साथ राजा की सवारी चली गयी, परन्तु उसे तनिक भी पता नहीं चला। उसने सिर ऊपर उठाकर देखा तक नहीं। इस पर से अवधूत को लगा कि जगत् में बहुत, अनेक प्रकार की आवाजें आयेंगी, जायेंगी, परन्तु उनकी ओर ध्यान न देकर अपनी एकाग्रता बढ़ाने का प्रयास करते रहना चाहिए। बाहर का शोर होगा वैसा भीतर का भी शोर होगा। इसलिए एकाग्रता की आवश्यकता है यह शिक्षा अवधूत ने इषुकार से ग्रहण की।

२३) **कीटक** — उसके बाद अवधूत ने देखा कि एक भृंगी एक कीड़े को ले जाकर दीवार पर अपने रहने की जगह बंद कर देता है। कीड़े को भय रहता है कि भृंगी उसको खा जायेगा। अतः इस भय से वह उस भृंगी का चिंतन करता रहता है और भृंगी का चिन्तन करते करते स्वयं भृंगी बन जाता है। यह देखकर अवधूत ने निश्चित किया कि जीवन में चिन्तन का बहुत महत्त्व है। जिसका चिन्तन करेंगे उसके जैसा बन जायेंगे। इसलिए चिन्तन किसका करना, कितने समय करना यह मनुष्य को देखना चाहिए। पवित्र वस्तु का चिन्तन करने से जीवन बदल जायेगा।

२४) **ऊर्णनाभि** — मकड़ी अपने मुँह से लाल निकालकर उसका जाल बनाती है और कुछ समय उसके साथ खेलकर वह स्वयं निगल जाती है। उसी प्रकार भगवान भी संकल्प मात्र से विश्व की निर्मिति करते हैं और अन्त में उसीको पी जाते हैं। भगवान इस विश्व का उपादान कारण हैं और निमित्त कारण भी हैं। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि भगवान निमित्त कारण हैं। सृष्टि का निर्माण करनेवाले भगवान हैं। जिस प्रकार घड़ा बनाने के लिए कुम्हार निमित्त है वैसे भगवान इस सृष्टि के निमित्त कारण हैं। परन्तु शास्त्र का अन्तिम सिद्धान्त यह है कि भगवान केवल निमित्त कारण नहीं हैं, उपादान कारण भी हैं।

घड़े का उपादान कारण मिट्टी है और कुम्हार निमित्त कारण है। कुम्हार मर भी गया तो भी उसका बनाया हुआ घड़ा रहेगा, उसमें पानी ठंडा होगा ही। वैसे भगवान केवल निमित्त कारण होंगे, तो वे सृष्टि से अलग होने पर भी सृष्टि चलेगी, परन्तु वैसा नहीं है। जिस प्रकार मिट्टी उपादान कारण है वैसे भगवान सृष्टि में उपादान कारण हैं। दूसरी बात यह है कि भगवान अपने संकल्पमात्र से सृष्टि का निर्माण करते हैं। यह शिक्षा अवधूत ने मकड़ी-(ऊर्णनाभि) से ली।

इन चौबीस गुरुओं में से अन्तिम चार गुरु, मनुष्य को अपना जीवनविकास करना हो तो मार्गदर्शन करते हैं। उसके लिए मूर्तिपूजा की आवश्यकता समझायी है। जिस प्रकार संकल्पमात्र से भगवान सृष्टि बनाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य में भी शक्ति है। मनुष्य आँखें बंद करके यदि मुंबई के बोरीबंदर *(V.T.)* का संकल्प करेगा तो क्षणमात्र में उसके सामने बोरीबंदर का दृष्य खड़ा हो जायेगा। वहाँ की भीड़, रेलगाड़ियाँ, टॉवर, टी.सी. भी ध्यान में आयेंगे। किसीका गला पकड़ता है, यह भी ध्यान में आयेगा। वहाँ के मजदूर भी ध्यान में आयेंगे। यह सब निर्माण करने के लिए उसको चूना, सिमेंट, पत्थर आदि किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल संकल्पमात्र से वह यह सब खड़ा कर सकता है, तो भगवान ने संकल्पमात्र से सृष्टि बनायी, इसमें कौन सी कठिन बात है? अप्राप्य, दुष्प्राप्य ऐसी कौन सी बात है? भगवान ने मानव मन में ऐसी शक्ति रखी है।

मन की इस शक्ति को समझ लेना चाहिए और जीवन-विकास के लिए अकेला बैठना चाहिए, यह बात अवधूत ने कुमारिका से सीखी। गहन चिन्तन करना चाहिए यह बात कीटक से सीखी। इषुकार से एकाग्रता की शिक्षा पायी और ऊर्णनाभि से अपने आप, संकल्प से सृष्टि बना सकते हैं यह बात सीखी।

मन को भगवान का आकार (मूर्ति के जैसा) लेना है, सब भूल जाना है। तभी आकार आयेगा। भूत, भविष्य, वर्तमान सब भूलकर अकेला बैठकर चिन्तन करना है क्योंकि भक्ति का महान साधन मन है। मन में जबरदस्त शक्ति भगवान ने रखी है। वह अघटित घटना खड़ी कर सकता है। उसकी इस शक्ति को पहचानना चाहिए। भक्ति का महान साधन मन होने से, फिर पंचामृत होगा या नहीं, फूल होंगे या नहीं इसका प्रश्न नहीं है। मन स्वयं बहुत प्रभावी शक्ति है। उस शक्ति को पहचानकर उसी शक्ति में मन को लगाना चाहिए।

दूसरी बात, मन अत्यन्त ग्रहणशील *(receptive)* है। जिसका चिन्तन करेंगे वैसा बनेंगे। शूर का चिन्तन करेंगे तो शूर बनेंगे, कायर का चिन्तन करेंगे तो कायर बनेंगे। स्त्री का चिन्तन करेंगे तो स्त्रैण बनेंगे। जो भी चिन्तन आप करते हैं उसका परिणाम मन पर होता है। अर्जुन के मन में स्त्रैण विचार आये इसका कारण वह विराटनगरी में बृहन्नला के रूप में एक वर्ष रनवास में रहा था। मन किस प्रकार संस्कार उठाता है इसका पता नहीं चलता। मन ग्रहणशील है यह ज्ञान अवधूत को कीटक से प्राप्त हुआ।

संस्कृत में हनुमन्नाटक है। उसमें एक प्रसंग में सीता अशोकवन में विचारमग्न अवस्था में बैठी थी। उस समय त्रिजटा उसके पास आती है और पूछती है, 'सीते! कौन सा विचार कर रही है तू?' सीता कहती है, 'त्रिजटे! मेरे सामने एक समस्या है। वेदान्त में 'कीट-भ्रमरन्याय' है। वह यदि सत्य होगा तो मुझे उस न्याय से डर लगता है कि मैं सतत राम का चिन्तन करती हूँ। इस न्याय के अनुसार मैं यदि राम बन जाऊँगी तो क्या होगा? त्रिजटा कहती है, 'अच्छा ही होगा। तू रावण को मार कर यहाँ से चली जायेगी।' सीता कहती है, 'नहीं! मैं राम बन जाऊँगी तो मेरा दाम्पत्य सुख नष्ट होगा। मुझे राम नहीं बनना है, राम की सीता ही रहना है।' त्रिजटा कहती है, कीटभ्रमर न्याय सत्य है तो मुझे डरने का कोई कारण नहीं है। राम भी अविरत तेरा चिन्तन करते होंगे ही, वे सीता बन जाएंगे, तुम्हारा दाम्पत्य सुख कायम रहेगा, नष्ट नहीं होगा।' मूल संस्कृत है—

कीटोऽयं भ्रमरी भवेदविरतध्यानात्तथा चेदहम्
रामस्यां त्रिजटे तथाह्यनुचितं दाम्पत्यसौख्यच्युतः।
एवं चेत्कृतकृत्यतैव भविता रामस्तव ध्यानतः
सीते त्वं च निहत्य राक्षसकुलं सीतान्तिके गच्छसि।।

इसमें निहित विनोद छोड़ दो। मूल बात यह है कि कीट-भ्रमरन्याय सूचित करता है कि तुम जिसका सतत चिन्तन करोगे वैसा बनोगे। इसलिए मन को अति पवित्र, अति मंगलदायी वस्तु का, व्यक्ति या तत्त्व का चिन्तन करने की आदत डालेंगे तो मन उन गुणों को उठायेगा।

हम भगवान की पूजा करते हैं। लोग पूछते हैं 'क्या इस लकड़ी या पत्थर में भगवान हैं?' उनसे कहना चाहिए, 'क्यों नहीं? अणुशक्ति *(Atom energy)* के जमाने में हम कह ही नहीं सकते कि लकड़ी या पत्थर में चैतन्य नहीं है। प्रत्येक अणु में शक्ति है यह विज्ञान ने सिद्ध किया है, तो फिर पत्थर या लकड़ी की मूर्ति में चैतन्य क्यों नहीं होगा?

भगवान का आकार है या नहीं यह दूसरा प्रश्न है। अनन्त आकार जिसने निर्माण किये हैं वह क्या अपने लिए एकाध आकार नहीं ले सकता? ले सकता है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से भी देखेंगे तो भगवान व्यापक हैं, सर्वत्र हैं, यह बात सत्य है। मैं पूछता हूँ कि यह सृष्टि उत्क्रान्त *(evolved)* है या निर्मित *(created)* है? वह उत्क्रान्त हुई *(evolved)* है यह पौराणिक बात है। उसमें तर्क *(Logic)* नहीं है। सृष्टि की निर्मिति के पीछे एक निश्चित

व्यवस्था दिखायी देती है। मनुष्य के शरीर में (प्राणी में भी) जहाँ हृदय *(Heart)* चाहिए, वहाँ हृदय है। जहाँ फेफड़ा चाहिए वहाँ फेफड़ा है। किसी का हृदय इधर तो किसी का हृदय उधर, ऐसा नहीं हुआ है। इसके पीछे कुछ निश्चित बुद्धि है। जिन्होंने शरीर-विज्ञान का अभ्यास किया है वे डॉक्टर मेरी दृष्टि में बहुत बड़े हैं, परन्तु वे व्यवसाय *(commerce)* की दृष्टि से देखते हैं, इसलिए उनके दिमाग में कुछ नहीं आता। इतना सुंदर व सुव्यवस्थित शरीर देखने के बाद भी वे पूछते हैं, 'भगवान कहाँ हैं?' क्योंकि आज तक की शिक्षा 'क्या मिलेगा?' ऐसी शिक्षा नहीं चलेगी। कुछ दिमाग चलाना चाहिए। कुछ तर्क रखना चाहिए।

यह सृष्टि बनायी हुई है, बनी हुई नहीं है। यदि यह सृष्टि बनायी हुई होगी तो जिस सर्वोच्च *(supreme)* चैतन्य ने वह बनायी है, उसमें बुद्धि भी होगी ही। चैतन्य के साथ बुद्धि आ गयी। चैतन्य को बुद्धि कब पकड़ेगी? जब उसमें अहम् होगा तब! अहम् है, चैतन्य है, बुद्धि है, फिर सगुणता आ गयी। अब वह कौनसा रूप लेगी यह अलग बात है, परन्तु उसमें सगुणता आ गयी इसमें संदेह नहीं है। इसलिए 'सगुण भगवान' यह कल्पना नहीं है, सत्य स्थिति है।

ऐसी भगवान की मूर्ति, मन में जो शक्ति है उससे खड़ी करेंगे तो? मन ही भगवान का आकार लेगा। उसमें बीच में दूसरा विचार आया तो आकार टूट जायेगा। इसलिए एकाग्रता की भी आवश्यकता है। अतः मानसिक मूर्ति खड़ी करो। मानसिक मूर्ति खड़ी करने के लिए मूर्ति सामने रखो तो फिर मूर्ति ध्यान में आयेगी। जितने क्षण मूर्ति खड़ी करेंगे उतने क्षण मन भगवान का ही आकार लेता है। और मन ग्रहणशील *(receptive)* होने के कारण भगवान के गुण उठाता है। यहाँ मूर्तिपूजा की आवश्यकता समझायी है, उसमें चिन्तन की आवश्यकता है, वैसी एकाग्रता भी चाहिए। अकेला बैठना चाहिए।

हम किसी दिन अकेले बैठते ही नहीं! बैठते हैं तब भूत, भविष्य या वर्तमान लेकर ही बैठते हैं। कितने ही लोग भूतकाल तथा भविष्य काल में ही मग्न होते हैं, मनोराज्य में ही मग्न होते हैं। अकेला बैठकर भूत, भविष्य, वर्तमान को भूलना पड़ेगा तब कहीं, ऊर्णनाभि जिस प्रकार अपने हृदय की ऊन को निकालकर जाल बनाती है, वैसे हम भी मानसिक मूर्ति बना सकेंगे। उस मूर्ति में सारी शक्ति होगी यह मानसिक कल्पना है। मन की यह मानसिक स्थिति *(psychological treatment)* है। इससे मन प्रभावी बनेगा। इसी को कहते हैं पार्थिव पूजा! आज पार्थिव पूजा का इतना ही अर्थ रह गया है कि शिवलिंग- या गणेशमूर्ति बनाना, उसकी पूजा करना और फिर विसर्जन कर देना। यह पार्थिव पूजा नहीं है।

मन कृष्ण भगवान का या शिव का आकार लेगा। इसके लिए चिन्तन, एकाग्रता और अकेले बैठने की आवश्यकता है। चित्तैकाग्रता की आदत डालनी चाहिए। किसी भी काम में चित्त एकाग्र होना चाहिए और वह निर्दोष एकाग्रता होनी चाहिए।

सर वाल्टर स्कॉट ने अपना अनुभव लिखा है। उसकी कक्षा में एक विद्यार्थी हमेशा प्रथम क्रमांक पाता था और स्कॉट दूसरे क्रमांक पर आता था। स्कॉट ने उस विद्यार्थी का बारीकी से निरीक्षण *(minute observation)* किया। उसको पता चला कि जवाब देते समय वह विद्यार्थी अपने कोट के बटन के साथ खेलता था। वह उसमें एकाग्र बन जाता और झट् से उत्तर देता था। स्कॉट ने एक दिन उस विद्यार्थी को पता न चले ऐसे उसके कोट का बटन तोड़ डाला। परिणामस्वरूप उत्तर देते समय वह विद्यार्थी एकाग्र नहीं हो सका। यह उदाहरण मन की शक्ति समझाने के लिए दिया गया है। हमारा मन की ओर ध्यान ही नहीं होता। हम केवल शरीर की ओर ध्यान देते हैं।

कॉंट जब लिखने बैठता, तब सामने एक चर्च के शिखर की ओर खिड़की में से देखते रहता था। उससे उसकी प्रतिभा जागृत होती थी। कुछ समय के बाद उसकी खिड़की और चर्च के बीच एक बड़ा पेड़ आ गया जिसके कारण उसको चर्च का शिखर नहीं दीख पड़ता था। उसने नगरपालिका को वह पेड़ काटने के लिए कहा। नगरपालिका ने उत्तर दिया कि पेड़ काटना बुरी बात है, वह नहीं काटा जायेगा। कॉंट ने अदालत में मुकदमा दाखिल किया कि चर्च का शिखर देखे बिना मैं सोच नहीं सकता अतः मेरी प्रतिभा जागृत नहीं होती, परिणामस्वरूप मैं लिख नहीं सकता। मानसशास्त्र की दृष्टि से उस बात का महत्त्व-मूल्य समझकर अदालत ने पेड़ काट डालने का हुक्म दिया। कॉंट के पास से कुछ लेखन चाहिए तो उस पेड़ को काटना होगा ताकि कॉंट चर्च का शिखर देखकर एकाग्र बन सके व उसकी प्रतिभा जागृत हो सके।

ये बातें इसलिए कहनी हैं कि हमारे मन ने क्या क्या उठाया है, इसका हम विचार ही नहीं करते। केवल शरीर की ओर ध्यान देते हैं। शरीर दुबला बन गया कि सारे विटामिन शुरू कर देते हैं। मन दुर्बल बन जाता है तो उसके लिए कुछ नहीं करते। वस्तुओं का उपभोग लेने के लिए भी मन की आवश्यकता होती है। जिस मन से उपभोग लेना है उसके विकास की ओर हम ध्यान नहीं देंगे तो कैसे चलेगा? भोग भोगने के लिए मन चाहिए वैसा विकास करने के लिए भी मन चाहिए। इसलिए प्रत्येक समय चिन्तन तेजस्वी होना चाहिए, दैवी होना चाहिए, उच्च होना चाहिए। दिन भर में केवल एक घण्टा भी तेजस्वी, दैवी चिन्तन करेंगे तो उसका मन पर परिणाम होता है। इसलिए कीट-भ्रमर न्याय से ध्यान में रखना चाहिए कि चिन्तन किसका करेंगे। वैसे ही क्या सुनना है यह भी सोचना चाहिए। जगत् में विविध प्रकार के विचार होते हैं। मनुष्य को दुर्बल, क्षुद्र बनानेवाले विचार होंगे, मनुष्य का कर्तृत्व हनन करनेवाले विचार होंगे, मनुष्य को उन्मत्त बनानेवाले विचार भी होंगे।

दो विचारधाराएं हैं। एक विचारधारा कहती है, 'तू कुछ नहीं कर सकता।' दूसरी विचारधारा कहती है, 'तू सब कुछ कर सकता है।' आज हम राजनीतिज्ञों, समाजसुधारकों के पास जायेंगे तो वे कहते हैं,' तुम्हीं सब कुछ कर सकते हो। ऊपरवाला (भगवान) है ही कहाँ? इस विचार से हम ऊब गये और आ गये मन्दिर में। मन्दिर में आने पर सुनाया

गया कि तू कुछ नहीं कर सकता। सब ऊपरवाले की इच्छा से होगा। वह चाहेगा तभी होगा, अन्यथा नहीं होगा। ये दोनों विचारधाराएं गलत हैं। 'तू ही सब कुछ है, और तू कुछ भी नहीं है।' केवल सुनना नहीं, केवल चिन्तन करना नहीं है। कौन सी बात सुननी चाहिए, कौन सी बात का चिन्तन करना चाहिए, यह निश्चित करना चाहिए। इसलिए स्वाध्याय के लिए भी कौन से ग्रंथ लेने हैं, यह निश्चित होना चाहिए। जिस ग्रंथ से मुझे जीवन की प्रेरणा मिलेगी, मैं कुछ कर सकता हूँ, बन सकता हूँ ऐसी प्रेरणा मिलेगी, साथ ही उन्मत्तता नहीं आयेगी ऐसे ग्रंथ का स्वाध्याय होना चाहिए। ऐसा ग्रंथ है गीता। गीता ही एक ऐसा ग्रंथ है जिसको सुनना चाहिए, जिसका चिन्तन करना चाहिए। गीता में सच्चे विचारों का चिन्तन है।

गीता कहती है, **'तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ-'** उठ, खड़ा हो जा, तू कर सकता है।, अर्जुन पूछता है, "क्या मैं कर सकता हूँ? मुझमें उतनी शक्ति है?" क्या आपको मेरी आवश्यकता है? भगवान कहते हैं, 'बिल्कुल नहीं।' **'मयैवेते निहताः पूर्वमेव'** मैंने तो पहले ही इन सबको मार दिया है, तू क्या करनेवाला है?' 'तो फिर मैं अनावश्यक हूँ अतः छोड़ दे मुझे।' नहीं! इसका यश मिलेगा तो वह मैं नहीं ले सकता, उसको लेनेवाला कोई चाहिए, इसलिए **'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।'** भगवान पूर्ण हैं उनको यश नहीं। जो अपूर्ण है उसको यश है। जब यश मिलेगा तब वह किसी के मस्तिष्क पर रखना होगा, डालना होगा इसलिए तेरी आवश्यकता है। आवश्यकता भी है और तेरे बिना चल भी सकता है ऐसा कुछ विचित्र सा कह दिया है भगवान ने! परन्तु उसमें से एक बात निश्चित हो जाती है कि 'तू कर सकता है।' तू कर सकता है परन्तु मेरी मदद के बिना नहीं। तू करने लगेगा तो मदद मिल जाएगी। ऐसी कुछ प्रभावी वाणी सुननी चाहिए। जैसा चिन्तन करेंगे वैसा मन बनेगा। ,इसलिए चार गुरुओं द्वारा बातें अवधूत ने समझायी है। मूर्तिपूजा के लिए एकाग्रता चाहिए, उसकी आवश्यकता लगनी चाहिए, विचार बदलने चाहिए, भगवान की आवश्यकता लगनी चाहिए। इसके बिना एकाग्रता शक्य नहीं! जहाँ आवश्यकता नहीं है वहाँ एकाग्रता नहीं।

व्यक्ति देखता हुआ जाता है। आवश्यकता है, एकाग्रता है उसमें! सब्जी मंडी में जा रहा है। जाते समय घरवाली ने कहा, 'बैंगन ले आना।' वह देखते जाता है। आँखों के सामने केवल बैंगन हैं। कितनी ही सब्जियाँ आँखों के सामने से चली जाती हैं, परन्तु परिणाम नहीं। आँखों में उसकी छाप *(imprint)* होती ही नहीं है। उधर एक जगह बैंगन दिखायी दिये, खड़ा हो गया क्योंकि आवश्यकता है। मनुष्य को भगवान की आवश्यकता लगनी चाहिए।

'जीवन चलाने के लिए मुझे भगवान की आवश्यकता है ही, परन्तु मुझे कुछ करना है। उसके लिए मेरी शक्ति कम पड़ती है, इसलिए मुझे भगवान की आवश्यकता लगेगी ही। भगवच्छक्ति से ही सब चल रहा है यह बात सही है, परन्तु मैं काम करने लगूँगा, तभी मदद मिलेगी। थाली में भोजन परोसकर रखा है, परन्तु खाना तो मुझे ही पड़ेगा। वह

कृति मुझे करनी ही पड़ेगी। उसके बाद खाया हुआ अन्न पचाने के लिए वह अंदर बैठा ही है, वही रक्त बनाता है, वही मुझे सुलाता है, जगाता है। उसके बिना मैं पंगु हूँ।' जब बुद्धि भगवान की ऐसी आवश्यकता स्वीकार करेगी, तभी चित्त एकाग्र होगा।

पारिवारिक व्यक्ति का चित्त शीघ्र एकाग्र होना चाहिए, क्योंकि दिन रात उसको भगवान की आवश्यकता रहती है। संन्यासी महाराज को, कौन मरनेवाला है, कौन जीनेवाला है, पैसा किधर जानेवाला है, आदि बातों की कुछ एड़ी नहीं है। मण्डी में उसकी दुकान भी नहीं है। उसको कुछ आवश्यकता भी नहीं है। वह जब संन्यास तक जायेगा तब तक उसकी एकाग्रता बहुत बढ़ी होती है। भगवान से भी संन्यासी को कुछ लेना नहीं होता। भगवान को नमस्कार करते समय वह मुठ्ठी बंद करके नमस्कार करता है। संन्यासी बनना नहीं होता, संन्यासी हो जाता है।

मूर्तिपूजा की आत्यन्तिक आवश्यकता है। भगवान आवश्यक, आकर्षक तथा आत्मीय लगने चाहिए, तभी मन॰ भगवान का आकार लेगा, उसको पुष्टि मिलेगी। मूर्तिपूजा पुष्टिकारक है।

गीता चित्त एकाग्र करने को कहती है। अपने मन को मूर्ति का आकार देना है। यही गीता ने कहा है- **'मय्यावेश्य मनो ये माम्..'** मूर्ति कौन सी रखनी है यह नहीं कहा है। कृष्ण, अंबा, विष्णु अथवा शिवजी, गणेश.. किसी की भी मूर्ति रखो। मूर्तिपूजा सूंपर्ण शास्त्र है। *Idol-worship is a perfect science-* यह पागलपन नहीं है, भगवान की खुशामद नहीं है। वह चित्तैकाग्रता के लिए है। परन्तु 'चित्तैकाग्रता' *(concentration)* शब्द ही लोगों की समझ में नहीं आता। वे चित्त एकाग्रता को मनन *(Meditation)* कहते हैं। मनन में क्या करना है मालूम नहीं, जिसे करना है उसे भी मालूम नहीं, कैसा होता है यह भी मालूम नहीं, जो करता है उसे भी मालूम नहीं, कैसा होता है यह भी मालूम नहीं। मनुष्य का मन मूर्ति का आकार लेता है, घंटा, आधा घंटा उसकी एकाग्रता नहीं टूटती, वह बढ़ती जाती है। तब स्वयं मूर्ति चली जाती है और पूर्णता की अनुभूति *(experiencing the fullness)* की स्थिति आती है। आत्मशक्ति में तल्लीन होना मनन कहा जाता है। एकाग्रता *(concentration)* के लिए वस्तु चाहिए। उपासना के सम्बन्ध में भी हमारे शास्त्रकार कितने प्रामाणिक हैं यह दिखायी देता है।

हमारे पास 'ज्ञ' मन *(experienced state of mind)* और 'अज्ञ' मन *(inexperienced state of mind)* दोनों हैं। इन दोनों को पवित्र करना चाहिए। 'ज्ञ' मन पर आप बुद्धि से नियंत्रण रख सकते हैं, परन्तु जो अज्ञात (अज्ञ) मन है उस पर बुद्धि का नियंत्रण नहीं चलता। उसमें वासना प्रविष्ट हो जाती है। दोनों मनों को स्वच्छ, शुद्ध करने के लिए मूर्तिपूजा आवश्यक है। जागृत तथा क्रियाशील मन *(alert and active mind)* नित्य हमारे साथ होता है। हम कहीं भी जाते हैं, जो कुछ भी करते हैं तब इन्द्रियों के साथ मन का एक भाग वहाँ होता है। बिना मन के इंद्रियाँ काम नहीं करतीं। मन का यह जो भाग है वह जागृत *(alert)* और क्रियाशील *(active)* भाग है। परन्तु 'ज्ञ' मन में जागृत तथा सक्रिय

भाग के जैसा दूसरा भी एक भाग जागृत तथा निष्क्रिय *(alert and inactive mind)* होता है। यह निष्क्रिय मगर जागृत *(inactive but alert)* भाग ही छाप *(Imprint)* उठाता है, यही वासना खड़ी करता है। इसको और मन के दो तिहाई 'अज्ञ' भाग को, दोनों को शुद्ध करना है और मन वासना न उठाए ऐसा उसको बनाना है। इसके लिए मूर्तिपूजा की आवश्यकता है। समग्र मन का शुद्धिकरण *(purification)* मूर्तिपूजा से ही होगा- *Murtipuja is the only way to purify the whole mind* और यह भगवान मानवी आकार में होंगे तभी होगा।

भगवान मानवाकार *(Human form)* में ही होने चाहिए, कारण मानव-आकार ही सबसे अच्छे स्वकीय आकार है *(Human form is the most intimate form for man)*। कितने ही लोग पूछते हैं कि सब जगहों में भगवान के चार हाथ हैं तो आपके यहाँ योगेश्वर के दो ही हाथ क्यों हैं? मैंने कहा, हमारे लिए दो हाथ पर्याप्त हैं, एक देने के लिए और दूसरा मारने के लिए। तीसरे हाथ की आवश्यकता ही क्या है? यदि भगवान के चार ही हाथ होने चाहिए तो चार हजार क्यों न हों? चार लाख क्यों न हों? फिर भी मनुष्य को लगता है कि, 'मेरे दो हाथ हैं तो भगवान के चार हाथ होने चाहिए तभी भगवान महान् हैं ऐसा लगेगा।' मूल बात यह है कि भगवान का आकर मनुष्याकार होना चाहिए।

हमें ऐसा लगता है कि हमारा मन अशुद्ध है ही नहीं। तत्त्वज्ञान की दृष्टि में मन अशुद्ध ही है। 'मुझे कुछ चाहिए' इसका अर्थ क्या है? मुझमें कुछ कम है, कमी है। अपने में कमी मानना यह पहली अशुद्धि है। इसलिए मनशुद्धि के लिए, मन के उदात्तीकरण *(sublimation)* के लिए, मन को शक्तिशाली व प्रगमनशील *(powerful and progressive)* बनाने के लिए भावुक-भावप्रधान *(sensitive)* बनाने के लिए मूर्तिपूजा आवश्यक है। मन केवल शक्तिशाली, प्रगमनशील ही बनेगा तो मनुष्य हिटलर चैंगिझ खान जैसे बन जायेगा। इसलिए मन को भावप्रधान भी बनाना है।

इसी कारण गीता ने प्रगमनशील आदर्शवाद *(progressive idealism)* उठाया है। गीता का आदर्शवाद, प्रगमनशील आदर्शवाद है। वह मनुष्य को हाथ पकड़कर शनैः शनैः ऊपर ले जाता है। आज कितने ही लोग कहते हैं, 'हमें ऊपर का (उच्च बातें) समझाओ।' ऊपर का क्या है? तुम्हारे ऊपर कुछ है ही नहीं यह प्रथम समझना चाहिए। इन लोगों ने जीवन-विकास ही नहीं समझा।

चित्तैकाग्रता के लिए विषय *(object)* भगवान हैं। हर समय कृति *(action)* बदलनी पड़ेगी तभी एकाग्रता स्थिर होगी। यह कृति बदलने के लिए ही भगवान मानवाकार में आये। प्रत्येक कृति बदलने के लिए भगवान को उठाना, सुलाना, फूल अर्पण करना, आसन देना, पादप्रक्षालन करना आदि सब कर्मकाण्ड में आता है। इसमें प्रत्येक क्रिया बदलती जायेगी और चित्त उसमें एकाग्र होगा। विषय-वस्तु *(objects)* बदलते रहते हैं तब चित्त *(subject)* स्थिर रहता है। यदि विषयवस्तु स्थिर रहेगी तो चित्त अस्थिर बनता है। हमारा

मन सिनेमा में स्थिर- एकाग्र होता है इसका कारण प्रत्येक सेकंड में चित्र बदलता रहता है। बीच में ही विज्ञापन आया कि हमारा मन तुरन्त दूसरी ओर चला जाता है।

मूर्तिपूजा में मूर्ति *(Object)* बदलती हुई क्रियाशील होनी चाहिए। लोग **आसनम् - पादप्रक्षालनम्** आदि कर्मकाण्ड का मज़ाक उड़ाते हैं। उनको यह खेल लगता है, परन्तु वह खेल नहीं है। वह चित्तैकाग्रता के लिए आवश्यक बात है यही लोग नहीं समझते। मंदिर में यह सब करनेवाला भी, वह क्यों कर रहा है, यह नहीं समझता। इसका कारण कोई चित्त एकाग्र करता ही नहीं! **'जलधाराप्रियः शिवः'**... समझकर दो लोटे पानी गिरा देता है। मूर्तिपूजा का रहस्य ही चला गया है। वह फिर से प्रस्थापित करना होगा। मूर्तिपूजा अति महत्त्वपूर्ण है। मूर्तिपूजा से सब गुण आ जायेंगे- ऐसा कहने का आभिप्राय होगा तभी चौबीस गुरुओं का वर्णन किया है। चार गुरु मूर्तिपूजा का महत्त्व समझाते हैं और अन्त में अवधूत मूर्तिपूजा कहते हैं। ये सभी गुण जीवन में लाने होंगे तो मूर्तिपूजा करनी पड़ेगी। इन सभी गुरुओं को नमस्कार करना चाहिए। मूर्तिपूजा बुद्धि से- तर्क से समझानी पड़ेगी। इस जन्म में इतना भी समझ लेंगे तो बहुत हुआ। भक्ति में मन साधन *(Instrument)* है, मन क्रियाशील, सर्जनशील है, सर्जक है। उसमें सृजनशक्ति *(Creative energy)* है।

अवधूत ने विविध गुरु बताकर जीवन विकास का मार्ग बताया है। उसके बाद भागवत में बहुत ही सुंदर प्रकरण आता है, वह है 'बद्ध व मुक्त' का लक्षण! बद्ध कौन? मुक्त कौन? वे कैसे रहते हैं, उनकी सजावट कैसी होती है, उनके गुण कौनसे होते हैं आदि बातों का वर्णन है जिस पर से उनको पहचान सकते हैं। बद्ध से भी मुक्त में क्या विशेष है? कितने ही लोग मुक्त का चित्र बनाते हैं तो उसके पीछे प्रकाश का गोला दिखाते हैं। मुक्त में विशेष क्या होता है इसका शास्त्रीय विवेचन है। अहंकार और वासना! यह अहंकार यानी अभिमान नहीं अहम्, जिसको अंग्रेजी में *Ego* कहते हैं। अहम् के साथ वासना आती है। अहम् और वासना को पकड़कर उनके साथ जिसका जीवन व्यवहार चलता है वह बद्ध है। *Ego* और वासना से मुक्त ऐसा जिसका जीवन व्यवहार है वह मुक्त है।

बद्ध व मुक्त दोनों की देह सरीखी ही होती है। दोनों की दिनचर्या भी समान ही होती है। परन्तु बद्ध की कृति अहम् व वासनापूर्ण होती है और मुक्त की कृति अहम् और वासनारहित होती है इतना ही फर्क है।

अहंकार निकालना है। वह अगतिकता से भी निकल जाता है। मैं कौन हूँ? मेरा कितना महत्त्व है? मेरा स्थान किधर है? इस प्रकार की अगतिकता से अहंकार चला जाता है ऐसा भागवतकार कहते हैं, परन्तु इससे मुक्तता नहीं मिलती। इसके विपरीत, मनुष्य में उद्दण्डता और विमुखता आती है। प्रेम से जो अहंकार दिया जाता है उसका महत्त्व भक्तिशास्त्र में है। अहंकार देना है, पर प्रेम से! अगतिकता से नहीं! भगवान के हाथ में प्रेम से अपना अहंकार देना है। भगवान के प्रति प्रेम के कारण यदि अहंकार

दिया जाता है तो भगवान के प्रति विश्वास बढ़ता है और भगवान *(creator)* के प्रति जितना अधिक विश्वास होगा उतनी मात्रा में वासना नष्ट होती है। 'भगवान जो भेजेंगे वह मैं स्वीकारूँगा' यह विश्वास होता है।

मंगलामंगलं यद्यद् करोतीतीश्वरो हि मे।
तत्सर्वं मंगलायेति विश्वासः सख्यलक्षणम्।।

छोटे बालक को कोई वासना नहीं होती। कारण उसका अपनी माँ पर विश्वास है। दूसरे दिन सुबह बाहरगाँव जाना है तब भी वह अन्त तक आँगन में खेलता रहता है। बाहरगाँव के लिए कपड़े लिये हैं या नहीं, साथ में कुछ खाना लिया है या नहीं आदि बातों का वह विचार भी नहीं करता। कुछ वासना नहीं है। जब कपड़े चाहिए तब मिल जाएंगे, जब खाना चाहिए तब वह भी मिल जाएगा। यह उसका अपनी माँ पर दुर्दम्य विश्वास है। अतः वासना उसको कष्ट नहीं देती। उसी प्रकार जिसका भगवान पर विश्वास बैठ गया– 'मुझे जो कुछ चाहिए वह मिल जायेगा, मैं उसकी फिक्र क्यों करूँ?' ऐसा जिसका विश्वास बैठ गया उसकी वासना छूट जाती है।

यह विश्वास दिमाग में निर्माण होना चाहिए और अन्तःकरण में स्वीकारा जाना चाहिए तभी प्रेम से अहंकार दिया जाता है और विश्वास से वासना छूट जाती है। सभी कहने का तात्पर्य यह है कि 'ज्ञान से मुक्ति मिलती है' ऐसा हमें सर्वत्र पढ़ने-सुनने को मिलता है, परन्तु भागवतकार का कहना है कि भक्ति से मुक्ति मिलती है। यही दोनों में मूलभूत फर्क है।

ज्ञान क्या है? प्रकृतितत्त्व और पुरुषतत्त्व का अभ्यास करने के बाद, कुंडलिनी जागृत करने के बाद जो कुछ होता है उसे ज्ञान कहते हैं और उस ज्ञान से मुक्ति मिलती है, ऐसा कहते हैं। परन्तु भक्तिशास्त्र, भागवतकार की दृष्टि में भगवान को प्रेम से अहंकार देंगे तो वह तकलीफ नहीं देगा, भगवान के प्रति अटूट विश्वास से वासना छूट जायेगी और मुक्ति मिलेगी।

ज्ञान फलित है, साधन नहीं। भक्ति साधन है, मोक्ष का कारण साधना है। शंकराचार्य कहते हैं **'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी....।'** 'मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे जो चाहिए वह मिल जायेगा,' **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्...'** यह जो ज्ञान है वह भक्ति का ही फलित है। इसलिए भक्ति से ही मुक्ति मिलती है।

दूसरा प्रश्न यह निर्माण होता है कि जो मुक्त है उसे कैसे पहचानना? गीता में जिस प्रकार स्थितप्रज्ञ का वर्णन है वैसा यहाँ 'मुक्त' का वर्णन है। एकादश स्कंध के ग्यारहवें अध्याय में यह वर्णन है।

बारहवें अध्याय में साधु-संत का महत्त्व गाया गया है। मनुष्य को कैसा संग मिलता है उस पर सब कुछ निर्भर होता है। सामान्य जीवन में मोड़ लाने के लिए ही संग चाहिए। जीवनविकास साधना हो तो भी संग चाहिए।

व्यक्तिगत जीवन में सत्संग की महिमा कही गयी है। मनुष्य जिसके संग में रहता है, उसकी भाषा के जैसी ही भाषा बोलता है और उसीके जैसी इसकी वृत्ति बनती है। आप कितने पानी में हैं यह आपकी संगति से ही पता चलेगा। अंग्रेजी में कहा है, *A man is known by the company he keeps*। मुख्य बात यह है कि जैसा संग होगा वैसा मनुष्य बनता है।

किसके साथ सम्बन्ध जोड़ना यह स्वयं मनुष्य को ही निश्चित करना चाहिए, कारण संगति का जीवन पर बड़ा परिणाम होता है। पुराने समय में विवाह के समय अग्नि प्रज्वलित करके वर-वधू को अग्नि के समने प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि हम आजीवन साथ ही रहेंगे। मित्र-संबंध जोड़ते सयम भी अग्नि के सामने सौगंध लेनी पड़ती थी। मित्र-संबंध जोड़ते समय भी सब प्रकार की सावधानी रखनी होती है। अपने लड़कों को किसके साथ दोस्ती रखनी है यह देखने का उत्तरदायित्व पिता का है। केवल शुल्क *(Fees)* देकर ही, गणवेष देकर ही लड़कों को पढ़ाने से उत्तरदायित्व पूर्ण नहीं होता। अपना लड़का किसके साथ दोस्ती करे, किसके साथ न करे इसका मार्गदर्शन पिता को करना है।

रामायण में वर्णन है कि राम और सुग्रीव मित्र-सम्बंध जोड़ने को तैयार हुए तब उन्होंने अग्नि प्रज्वलित करके उसके सामने प्रतिज्ञा ली थी। तात्पर्य यह है कि संग का जीवन में महत्त्व है, सत्संग से मनुष्य के जीवन को सुयोग्य मोड़ मिलता है और जीवन बदलता है। यहाँ साधु-संग की महिमा गायी गयी है।

साधना - मार्ग पर चलने लगने पर हम कौनसा साधन उपयोग में लाते हैं। इस पर से हमारी गति निश्चित होती है, और हम साध्य तक कब पहुँच सकेंगे यह भी निश्चित होता है। हम कहते हैं कि, हम बहुत मेहनत करते हैं, परन्तु मेहनत कौनसी, किस प्रकार करते हैं, यह देखना पड़ेगा। हमें मुंबई से ठाणे जाना है और हम बैलगाड़ी का साधन प्रयुक्त करेंगे तो वहाँ पहुँचने में कितने दिन लगेंगे? सायकिल से जायेंगे तो कुछ घण्टों में पहुँच जायेंगे, मोटरगाड़ी से जायेंगे तो एकाध घण्टे में पहुँचेंगे। हेलिकोप्टर से जायेंगे तो उसके पहले पहुँच जायेंगे। जैसा साधन होगा वैसी हमारी गति होगी। संग सोच समझकर करना चाहिए।

फिर भक्ति की महिमा समझायी है। भक्ति परमपुरुषार्थ है ऐसा माना है। बिना भक्ति के सिद्धि नहीं मिलती और प्रगति भी नहीं होती उसमें तर्क भी है। 'केवल ज्ञान से मुझे मुक्ति मिलेगी, मैं पूर्ण हूँ, मैं अलिप्त हूँ, निःसंग हूँ...' ऐसा बोलने से ज्ञान नहीं होता। जन्मजन्मान्तर से जो कुछ अपने साथ लाया है वह छोड़ना है और यह जब भगवान के प्रति प्रेम और विश्वास होगा, तभी होगा। यह प्रेम और विश्वास ही भक्ति है। इसलिए भक्ति को पुरुषार्थ माना है।

भक्ति करने लगेंगे तो वित्त मिलेगा, विद्या मिलेगी, यश मिलेगा। इससे तुम बेलगाम बनोगे। भक्ति में पतन किधर होता है यह बारहवें अध्याय में सुन्दर रीति से समझाया है।

पतन कहाँ होता है इस सम्बन्ध में योगसूत्र भी है- **स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्।** (यो सू.वि.५०।)

हमें वित्त, विद्या, यश, ये सब मिलते हैं, वे सब भगवान के प्रेमपत्र *(Love letters)* हैं। एक कवि ने, प्रात:काल के समय घास पर पड़े हुए ओस की बिंदुओं को देखकर सुंदर कल्पना की है। उसने एक रूपक काव्य में लिखा है- 'रात्रि रोकर सूर्य से कहती है कि *'Thou sendest thy love letters to me* - तुम चंद्र के द्वारा अपने प्रेमपत्र मुझे भेजते हो, परन्तु नहीं मिलते। तुम्हारे प्रेमपत्रों के उत्तर मैं अपनी आँसुओं से घास पर लिखती हूँ।' सूर्य रात्रि से मिलता ही नहीं। सूर्योदय के पहले अरुणोदय होता है तब रात्रि चली जाती है। उसके बाद सूर्य आता है तो उसको रात नहीं मिल सकती।

इसी प्रकार यश, वित्त, विद्या ये सब भगवान के प्रेमपत्र हैं। हम उन्हीं को बटोरने में मग्न हो जाते हैं और पत्र लिखनेवाले से मिलना भूल जाते हैं। 'मुझे भगवान से मिलना ही है' यह वृत्ति टिकनी चाहिए। भगवान के प्रेमपत्रों में व्यक्ति खो जाते हैं। पैसा आया कि उसकी व्यवस्था करने में ही व्यस्त रहते हैं। उसे लगता है कि पैसा सँभालकर रखना चाहिए। सभी से सँभालना चाहिए। शत्रु से भी डर है ही परन्तु धनवानों को पुत्र से भी डर रहता है- **'पुत्रादपि धनभाजां भीतिः।'**

यश मिलने के बाद व्यक्ति का अध:पतन निश्चित है। उसमें से बचने का उपाय एक ही है, वह है भक्ति। भक्ति यानी आरती और प्रसाद नहीं, अपितु सच्ची भक्ति! यह समझ नहीं होगी तो समझकर चलो कि अध:पतन निश्चित है।

उसके बाद सोलहवाँ अध्याय आता है। गीता में जिस प्रकार दसवें अध्याय में विभूतियोग कहा है, वैसे ही सृष्टि में किधर भगवान हैं इसका अति विस्तार से वर्णन इस सोलहवें अध्याय में है। अति विस्तार से वर्णन इसलिए है क्योंकि भागवत पौराणिक ग्रंथ है। गीता एक जीवन-शास्त्र है, अत: उसमें आवश्यकता से अधिक शब्द- परिभाषा नहीं है।

भागवत में सझाया गया है कि सृष्टि की ओर किस दृष्टि से देखना चाहिए। जीवन में भक्ति आने के बाद ही वह दृष्टि आती है। किसी व्यक्ति अथवा वस्तु की ओर किस दृष्टि से देखेंगे? सामान्यतया उपभोग और उपयोग इन दो दृष्टियों से ही लोग देखते हैं। परन्तु भक्त कहता है कि उपयोग और उपभोग से बढ़कर एक तीसरी दृष्टि है, उपासना की। उपासना की दृष्टि से देखो और यही भक्ति है। यही विभूतियोग का तात्पर्य है। हमारे पास वस्तु या कोई व्यक्ति आता है तो हम प्रथम यह विचार करते हैं कि इसका उपयोग कितना है! पिता वृद्ध हुआ है, अब उसका उपयोग कितना? उसकी पेन्शन आती हो तो फिर कोई बाधा नहीं! अन्यथा? मानव व्यक्ति या वस्तु का उपयोग ही देखता है। जो जगत् की ओर उपयोग और उपभोग की दृष्टि से देखता है वह भक्त नहीं है। जगत् की ओर उपासना की दृष्टि से देखना चाहिए यह भद्र दृष्टि है।

हिमालय को देखकर कालिदास को वह नगाधिराज लगा। वहाँ के बर्फ का सौंदर्य देखकर उनको वहाँ भगवान का वास्तव्य लगा। वहाँ उनको भगवान नजर आये। इससे अधिक उच्च स्थान, अधिक अच्छा स्थान कौन सा हो सकता है? यहीं भगवान होने चाहिए। उसने लिखा—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्याः इव मानदण्डः।।

उसके बाद आज का मुंबई का व्यापारी वहाँ गया। उसने भी वहाँ बर्फ देखी! ओ हो हो! इतनी बर्फ! यहाँ यदि एकाध आइस्क्रीम की फैक्ट्री खोल दी और एअर कंडिशन्ड डिब्बे में भरकर मुंबई जैसे शहर में भेजते गये तो लाभ ही लाभ! सर्वत्र लाभ-उपयोग तथा उपभोग की ही दृष्टि!

कश्मीर जाने पर गुलाब के फूलों के बगीचे देखकर कितना अच्छा लगता है। इन फूलों को देखकर कवि के मन में आया—

सौवर्णानि सरोजानि निर्मातुं सन्ति शिल्पिनः।
तत्र सौरभनिर्माणे चतुरश्चतुराननः।।

भगवान ने इन फूलों में कितनी सुगंध, कितना सौन्दर्भ भरा है? परन्तु मनुष्य के मन में भगवान की यह कला आती ही नहीं। वह गुलाब के फूलों को देखकर यही विचार करने लगता है कि यहाँ यदि गुलकंद की फैक्ट्री खोल दी जाय तो फायदा ही फायदा! बस्स! केवल उपयोग व उपभोग! इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राकृतिक सुविधाओं *(Natural resources)* का लाभ नहीं उठाना चाहिए, परन्तु उनकी ओर केवल लाभ और उपभोग की दृष्टि से ही नहीं देखना चाहिए।

एक भाई की माँ मर गयी, इसलिए दूसरा भाई उससे मिलने गया। उसने दुःख प्रकट किया, उस भाई को सांत्वना दी। तब उस भाई ने कहा, 'माँ मर गयी, बहुत बुरा हुआ। अब तक वह खाना बनाती थी, अब रसोइया रखना पड़ेगा और उसको सौ रूपये प्रति माह देने पड़ेंगे।' अरे! यह क्या माँ की ओर देखने की दृष्टि है? माँ घर में है तो खाना अवश्य बनाएगी, परन्तु खाना बनाने के लिए ही माँ नहीं है, उसका कुछ अतिरिक्त मूल्य *(plus value)* है, यह दृष्टि होनी चाहिए। यह जो अतिरिक्त मूल्य है वही विभूतियोग ने दिखाया है। विभूतियोग दृष्टि देता है।

पिता पर प्रेम करना है क्योंकि वह पिता है इसलिए करना है। पिता क्या देता है? उससे कितना मिलने वाला है यह देखकर प्रेम किया जाए तो वह प्रेम, प्रेम नहीं है। उपयोग और उपभोग से श्रेष्ठ दृष्टि यानी उपासना की दृष्टि निर्माण करनी है। वही भक्त की दृष्टि है।

उसके बाद चार आश्रमों का वर्णन आता है। जीवन-व्यवहार में वर्णाश्रम की आवश्यकता है। चतुराश्रमों का भागवतकार ने आग्रह रखा है।

धन- कनकसम्पन्न मुंबई को मोहमयी नगरी कहा जाता है। इस मोहमयी मुंबई पर एक कवि ने काव्य लिखा है। वह लिखता है कि मुंबई के बाहर रहनेवाले लोग मुंबई आने के स्वप्न संजोते रहते हैं, उनको लगता है कि कब मुंबई जायेंगे। इधर मुंबई में रहनेवाले लोग मुंबई से बाहर जाने के लिए कब मौका मिलता है इसकी राह देखते हैं। इस धन-कनकसंपन्न मुंबई में बाह्य सौंदर्य सर्वत्र नाच रहा है, इतना ही नहीं, उसका आग्रह भी है। कहीं भी जाओ, बाजार में दुकान में या घर में, सभी वस्तु इतने सुंदर ढंग से, सजाकर रखते हैं कि उठाने का मन होता है। अमेरिका में भी किसी *Grocer's store* में जायेंगे तो ऐसा ही लगता है। इतने सुंदर तरीके से वहाँ वस्तुएं रखी जाती हैं। कहने का मतलब यह है कि बाह्य सौंदर्य सर्वत्र है। गृहभूषा का भी आग्रह है। गृहभूषा के लिए व्यावसायिक लोग अन्तर्गत सज़ावट *(Interior decoration)* का धन्धा करते हैं। वे पूछते हैं, 'आपको घर की सज़ावट करनी है? तो हमारे पास उतनी बुद्धि है, हम आपका घर सुशोभित कर देंगे।' यह पहले नहीं था, अभी ही निकला है।

जिस प्रकार गृहभूषा का आग्रह है वैसे ही सुंदर वेशभूषा तथा सुंदर केशभूषा का भी आग्रह है। पहले केशकर्तनालय थे, अब बाल काटने के स्थान पर बालों को 'सेट' करते हैं। इस प्रकार वेशभूषा, गृहभूषा, केशभूषा आदि बाह्य सौंदर्य आवश्यक है, उतना ही आन्तरसौंदर्य भी आवश्यक होना चाहिए या नहीं? यह प्रश्न भारतीयों ने खड़ा किया है। बाह्य सौंदर्य खराब नहीं माना है। **'युवा सुवासाः परिवीत आगात्....'** ऐसा वेद में भी कहा है। युवकों को सुंदर वस्त्र धारणकर बाहर निकलना चाहिए। वे केशभूषा और वेशभूषा करते होंगे तो उसमें अनाध्यात्मिकता नहीं है। युवकों को गंदे, मलीन, फटे हुए वस्त्र पहनने चाहिए ऐसा नहीं है। परन्तु बाह्य सौंदर्य जितना आवश्यक है उतना ही आन्तरिक सौंदर्य भी आवश्यक है। मानसिक सौन्दर्य, बौद्धिक सौंदर्य जैसा ही आन्तरिक सौंदर्य है। उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आन्तरिक सौन्दर्य नहीं होगा तो बाह्य सौंदर्य की कितनी कीमत है? यह हमारे ऋषियों ने सोचा और आश्रमव्यवस्था खड़ी की। यह आचार है।

कितने ही लोग पूछते हैं धर्म, धर्म... धर्म, सभी जगह धर्म आ गया है। जिधर देखो उधर धर्म! क्या करना, कैसा रहना, क्या पढ़ना कैसा बोलना आदि प्रत्येक बात में धर्म की क्या आवश्यकता है? परन्तु धर्म में भी धर्म कहाँ रहा है? केवल कर्मकांड रह गया है। कर्मकाण्ड करने वाले भी धर्म का अर्थ नहीं समझते, वे कर्मकाण्ड करानेवालों को भी नहीं समझाते। फिर क्या होना चाहिए? बाह्य सौंदर्य के जैसे ही आत्मिक सौंदर्य, बौद्धिक सौंदर्य, मानसिक सौंदर्य आदि आन्तरिक सौंदर्य की आवश्यकता समझनी चाहिए।

आज मानसिक स्थिति की ओर देखेंगे तो क्या दिखायी देता है? व्यक्तिस्वार्थ ने मर्यादा छोड़ दी है। एक जमाने में व्यक्तिस्वार्थ अवश्य था, परन्तु उसकी मर्यादा थी। आज व्यक्तिस्वार्थ ने मर्यादा छोड़ दी है। लोभ की सीमा नहीं रही है। एक दूसरे को ठगते हैं। लोभ कहाँ और कितना रखना इसकी भी मर्यादा नहीं है। पिता की जेब से भी कमीशन के पैसे निकालने वाले लड़के हैं। आधुनिक *(modern)* जमाना है यह। अपने विवाह में पैसा

भी पिता का, और उस पैसे में से भी अपना कमीशन लेता है। कहीं लोभ की मर्यादा ही नहीं है। माता-पिता के साथ कृतघ्नता का आचरण होता रहता है। परिवार जैसा कुछ रहा ही नहीं। सर्वत्र समाज में लोभ.... लोभ.... ही नाच रहा है। 'क्या मिलेगा?' इसका ही विचार चलता है। कुछ मिलना चाहिए, कुछ मिलता हो तो सब अच्छा, नहीं तो कुछ नहीं। बिना लाभ के मनुष्य कुछ करने को तैयार ही नहीं है। व्यक्तिस्वातंत्र्य ने भी मर्यादा छोड़ दी है। उसकी भी कुछ मर्यादा होनी चाहिए। व्यक्ति- स्वार्थ होना चाहिए, परन्तु उसकी कोई मर्यादा हो तो उसका कुछ अर्थ है। उदात्त स्वार्थ *(Enlightened self interest)* होना चाहिए, परन्तु आज उदात्त स्वार्थ रहा ही नहीं।

पति - पत्नी में पुरातन निष्ठा समाप्त हो गयी है। समझौता *(adjustment)* चल रहा है। गुरु- शिष्य के सम्बन्ध में भी आदर, प्रेमभाव अदृश्य हो गया है। हम शुल्क *(Fees)* देते हैं इसलिए शिक्षक पढ़ाता है, उसके वेतन का कारण हम हैं, ऐसा यदि लड़का समझता है तो वह कौन सी विद्या पा सकता है? कौन सी मानवता, कौन सा सौंदर्य रहा है इसमें?

स्वामी - सेवक सम्बन्ध **अहिनकुलवत्** (सांप-नेवले जैसा) हो गया है। दोनों एक दूसरे को खाने को बैठे हैं ऐसा लगता है। सेवक सोचता है कि स्वामी का गला पकड़कर अधिक पैसे कैसे निकालूं और स्वामी सोचते रहता है कि सेवक से अधिक से अधिक परिश्रम करा कर अधिक पैसे कैसे प्राप्त किये जाएं! क्या यह स्वस्थ *(Healthy)* समाज है? क्या यह दैवी मानव है? इसमें क्या बुद्धि का सौंदर्य दिखायी देता है? समाज के कौन से क्षेत्र में बुद्धि नाच रही है? किसी ने बुद्धि की चंचलता दिखायी इसीलिए वह बुद्धिमान नहीं कहलाता। बुद्धि की चंचलता भिन्न है और बुद्धि का सौंदर्य भिन्न है। कहीं भी बुद्धि -सौन्दर्य नहीं दिखायी देता है। किसी भी बात में भी नहीं, क्यों? यही प्रश्न है। ऐसी आज की सामाजिक स्थिति है।

समाज में से ज्ञानपूजा नष्ट हो गयी है। इतनी शाला-प्रशालाएं हैं, महाविद्यालय *(colleges)* हैं, शिक्षा पर इतना धन व्यय हो रहा है, परन्तु यह ज्ञान-पूजा नहीं है। यह सब रोजगारोन्मुख शिक्षण *(Job oriented education)* है। इसका ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी जगह पूछा जाता है कि शिक्षा और ज्ञान का क्या सम्बन्ध है? गीता में भगवान ने कहा है, '**अमानित्वमदम्भित्वं.... अरतिर्जनसंसदि....**' और अन्त में कहा है,

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमितिप्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।

इतने गुण आये तो ज्ञान अन्यथा सब अज्ञान है। आज ऐसी ज्ञानपूजा चली गयी है।

श्रेष्ठता का मापदण्ड आज वित्त बना है। जिसके पास वित्त है वही श्रेष्ठ, दूसरा कोई श्रेष्ठ नहीं ऐसा माना जाता है। गुण-श्रेष्ठता और चरित्र-श्रेष्ठता दोनों चली गयी हैं। जिस समाज में श्रेष्ठता वित्त से मापी जाती है उस समाज का आन्तरिक सौंदर्य नष्ट होता है।

समाज में सर्वत्र द्वेष बढ़ गया है। लोकतंत्र नहीं रहा, गुंडाशाही आयी है। असत्य व ढोंग को प्रतिष्ठा मिल गयी है। समाज में खोखली बकवास चलती है। कोई कहता है समाज सुधारो, तो कोई कहता है मानवता का रक्षण। कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ...। दुर्बल-पिछड़े हुए वर्ग को सहायता करने की बातें जब से चलने लगीं तब से पिछड़े हुए वर्ग में बाढ़ आ गयी है। मतलब यह कि समाज में सब बकवास चल रही हैं, मानसिक सौन्दर्य नष्ट हो गया है। व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक जीवन दोनों में से मानसिक सौंदर्य नष्ट हो गया है। इसका क्या कारण है, इसका विचार करना चाहिए।

ज़ो स्थिति मानसिक क्षेत्र में हुई है वैसी ही स्थिति बौद्धिक क्षेत्र में भी हुई है। बौद्धिक क्षेत्र में नकारात्मक सिद्धान्त, धर्म और नीति की प्रचितल मान्यताओं का अस्वीकार *(nihilism)* आदि बातें आ गयी हैं। परिणामस्वरूप सभी मूल्य नष्ट हो गये हैं। भौतिकवाद ने अध्यात्मवाद का गला दबा दिया है। स्वैराचार ने सारा नीतिप्रामाण्य खत्म कर दिया है। नैतिक व सामाजिक क्षेत्र में अराजकता पैदा हो गयी है।

पुराने ऋषि अप्रमाण बन गये हैं। लोग कहते हैं, 'ऋषियों में विशेष क्या था? हमारे जैसा ही वे मनुष्य थे। हम भूलें करते हैं, वैसे ही ऋषियों ने भूलें की हैं। वेदव्यास और पराशर ने भी भूलें की हैं।' ऐसा बोलकर उन्होंने ऋषि-प्रामाण्य को खत्म कर दिया है। प्राचीन ऋषि अप्रमाण ठहरे, परन्तु नये ऋषि निर्माण नहीं हो रहे हैं यह दुःख की बात है। नये ऋषि निर्माण करने की शक्ति नहीं और प्राचीन ऋषि मान्य नहीं, ऐसी भयंकर अवस्था है।

नित्य ऐसा होता है कि आज का तत्त्व कल के तत्त्व को खा जाता है और आनेवाला कल कौन सा तत्त्व लेकर आयेगा इसका पता नहीं चलता। इसलिए बुद्धि अस्थिर बन गयी है। बुद्धि के पुराने प्रमाण नष्ट हो गये हैं। पहले बुद्धिनिष्ठा थी, बुद्धि की कल्पना थी वह नष्ट हो गयी, अतः नये तत्त्वों को मजबूत नींव ही नहीं मिलती है। भक्तिशास्त्र नहीं चाहिए तो छोड़ दो। परन्तु परोपकार शास्त्र, समाजशास्त्र लाना हो तो उसके लिए दृढ़ नींव तो चाहिए न! यह नींव ही चली गयी है! गांजा पीने पर मनुष्य जिस प्रकार जो कुछ मुँह में आता है बकता है वैसा ये सब लोग बोलते हैं। ऐसी स्थिति में तो आत्मिक सौन्दर्य की तो भाषा ही छोड़ दो। जहाँ बौद्धिक सौन्दर्य व मानसिक सौंदर्य की यह दशा है तो वहाँ आत्मिक सौंदर्य कहाँ से आयेगा?

अध्यात्म चमत्काराधिष्ठित बन गया है। अध्यात्म क्या मिट्टी हाथ में लेकर शक्कर बनाकर दिखाना है? आज वहम पर आधारित भक्ति बन गयी है, सच्ची भक्ति चली गयी है। आन्तरिक सौंदर्य का तो समाज ने विचार ही नहीं किया है। आज का समाज बुद्धिजीवी बना है, परन्तु स्वयं को बुद्धिमान समझता है।

सचमुच आज यदि बुद्धिनिष्ठ समाज खड़ा होगा तो ऋषियों को और अवतारों को आनंद होगा। वे कोई निर्बुद्ध (बुद्धिहीन) नहीं थे। गीता में भगवान ने अर्जुन से कहा है,

'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।' मैंने जो कुछ कहा है, परन्तु तेरी बुद्धि में जो उतरेगा वह तू कर। मैंने जो कुछ कहा है वह अपनी बुद्धि की कसौटी पर कस ले और बाद में ही उसका विचार कर।' ऐसा कहने वाले में भी कितनी हिम्मत होगी? उसमें कितना आत्मविश्वास होगा कि मैंने जो कहा है वैसा करने से अच्छा ही होगा। आज बौद्धिक सौन्दर्य ही किस क्षेत्र में रहा है?

आत्मिक सौंदर्य खड़े करने वाले दो तत्त्व हैं- एक भक्ति और दूसरा अध्यात्म! दोनों तत्त्व आज बिखर गये हैं। भक्ति वहम पर खड़ी है व अध्यात्म चमत्काराधिष्ठित बना है।

सौन्दर्य हीरा है, परन्तु उसकी कीमत कब होती है? जब उसकी कटाई की जाती है तब! जब तक उसके पहलू नहीं बनाये जाते तब तक उसकी कीमत नहीं आती। अर्थात् हीरे पर संस्कार करने होते हैं। तो क्या संस्कारी मानव खड़ा करने की आवश्यकता नहीं लगती? यह प्रश्न है। मनुष्य खाता है, पीता है, उपभोग लेता है, उसके लिए कमाता है। इसीमें क्या मानवता पूर्ण होती है? अशुद्ध सोना भी अग्नि में डालने के बाद ही निखर उठता है, तभी उसको कीमत आती है। खदान में से निकले हुए सोने का उतना मूल्य नहीं होता, उस पर संस्कार होने पर ही उसको मूल्य आता है।

हम कितने मूल्यवान वस्त्र पहनते हैं। हमारी बहनें दो-दो, चार-चार हजार रूपयों की साड़ी पहनती हैं। उसको यह मूल्य कब आया? साड़ी की प्राथमिक अवस्था कौन सी? कपास या ऊन! उस पर संस्कार होने के बाद, उसका रंग-रूप बदल जाने के बाद ही उसको मूल्य आता है। हम रोटी खाते हैं गेहूँ की या ज्वार की! परन्तु गेहूँ, ज्वार पर संस्कार करने के बाद ही उनकी रोटी बनती है। यदि हीरा, सोना, कपड़ा, अन्न संस्कार से ही मूल्यवान बनते हैं तो क्या मानव पर संस्कार करने की आवश्यकता नहीं है? संस्कार के बिना मानव का मूल्य कैसे बढ़ेगा? इस सम्बन्ध में तनिक भी विचार न करनेवाले लोग क्या बुद्धिमान हैं? क्या वे समाजसुधारक हैं? क्या दूसरे के लिए या समाज के लिए उनका अन्तःकरण छटपटाता है?

सत्ता या सम्पत्ति की मस्ती में पुराने प्रामाण्य को खत्म करनेवाले लोगों को पता नहीं है कि वे मानव को अधःपतन की गर्त में ले जा रहे हैं। इस अधःपतन की ओर ले जाने के कार्य में सभी वित्तवानों, सत्तावानों, शक्तिशाली लोगों ने सहयोग दिया है। मानवता का अधःपतन एक दिन में नहीं होता। आज का मनुष्य, मनुष्य होते हुए भी पशु के जैसा आचरण कर रहा है। ऐन्द्रिय सुख *(sensual happiness)* के पीछे दौड़ रहा है। ऐन्द्रिय सुख उसको नचा रहा है। क्या फर्क़ रहा है मानव और पशु में? वात्सल्य जितना मनुष्य में है उतना पशु में भी है। मनुष्य ने ऐसा कौन सा शेर मारा है कि जिसके कारण वह अपने को श्रेष्ठ मानता है? मनुष्य ने सभी संस्कारों को खत्म कर दिया है। मनुष्य पैदा हुआ अतः उसको खाने, पीने को चाहिए, रहने के लिए घर चाहिए, पहनने के लिए वस्त्र चाहिए, इन सबके पीछे वह दौड़ता है, इनकी आवश्यकता है यह ठीक ही है। परन्तु क्या यही सर्वस्व है? बौद्धिक व मानसिक सौंदर्य के भोगों से यह सब प्राप्त करने में क्या अर्थ

है? क्या आन्तरिक सौंदर्य की आवश्यकता नहीं है? यह आवश्यकता अनिवार्य है ऐसा ऋषियों ने मान्य किया है। इसलिए उन्होंने बचपन से संस्कार करने की व्यवस्था की थी। उसीके लिए आश्रम व्यवस्था का निर्माण किया और उसका आग्रह रखा। **'अनाश्रमी न तिष्ठेत्-'** जो अनाश्रमी है वह मानव नहीं है, यहाँ तक ऋषियों ने गर्जना की है। आश्रम होना ही चाहिए।

आश्रम-व्यवस्था में चतुराश्रम का वर्णन है। प्रथम बहत्तर संस्कार थे। काल प्रवाह में उनका लोप होता गया और अब सोलह संस्कार रहे हैं, जिनमें से दो-चार ही संस्कार किये जा रहे हैं। सभी संस्कारों का वर्णन यहाँ करना संभव नहीं है। परन्तु, मानव जीवन में महत्त्वपूर्ण संस्कार है उपनयन।

उपनयन में उप+ नयन ये दो शब्द हैं। इसका अर्थ होता है, पास ले जाना। पिता का पुत्र को ले जाना। किसके पास ले जाना है? **'पित्येव तु मन्त्रदं-'** जो मन्त्र देता है उसे पिता कहते हैं। यह उपनयन संस्कार पिता को ही करना है, ब्राह्मण को नहीं! पिता को ही पुत्र को मन्त्र यानी ध्येय देना है। पुत्र से कहना है, 'जिस प्रकार मैंने जीवन व्यतीत किया है वैसा ही जीवन तुझे भी व्यतीत करना है।' यह कहना ही उपनयन है। यह उपनयन संस्कार आया और एक आश्रम खड़ा हुआ यानी ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था आयी। यहाँ सब सोचनेवाले लोग सुनने के लिए आये हैं। इसलिए इतना ही कहता हूँ कि मिट्टी पर भी संस्कार चाहिए तो क्या मनुष्य के लिए संस्कार की आवश्यकता नहीं है?

आज अक्लमंद लोगों ने सर्वत्र शोर मचा रखा है। उन्होंने बौद्धिक दिवालियापन *(Intellectual bankruptcy)* खड़ा किया है। सत्ता और सम्पत्ति के बल पर विश्व के सभी प्रामाण्य खत्म कर देनेवाले सभी लोग भगवान के दरबार में महान् पातकी माने जाएंगे। अपने कृत्य का उनको भगवान के सामने जवाब देना ही पड़ेगा। भगवान का दरबार यानी कोई पोपाबाई का राज नहीं है। बहुत जबरदस्त राज है भगवान का! कुछ लोग कहते हैं, हम कुछ उलटा-सुलटा करेंगे तो क्या हमें कुछ भोगना पड़ता है? अजी, यहाँ किसी ने खून किया तो उसको सज़ा मिलने में तीन साल लग जाते हैं, तो ऊपर भी सज़ा मिलते मिलते समय तो लगेगा ही न? इसका अर्थ यह नहीं है कि हरामखोरी करनेवाला सही रास्ते पर है। अदालत में अभियोग चलता रहता है और मुजरिम जामीन पर छूटकर आराम से घर में हलुवा-पुरी खाता बैठता है। योग्य समय आते ही सज़ा भोगनी ही पड़ती है। वैसे ही इन लोगों को भगवान के सामने जवाब देना ही पड़ेगा। इस समाज में जो प्रथम श्रेणी के भगवान के लाड़ले पुत्र— वित्तवान, सत्तावान, बुद्धिमान, शक्तिमान आदि हैं उन सबको समाज के अध:पतन के लिए उत्तरदायी होने से भगवान के सामने जवाब देना पड़ेगा।

उपनयन संस्कार जो महान् प्रक्रिया थी उसको तोड़ डाला और उसमें कर्मकाण्ड प्रविष्ट कर दिया। आज सभी करने वाला और कराने वाला- कर्मकाण्डी बन गये हैं। इनमें कोई कर्मयोगी नहीं रहा है।

कुत्ते पर भी संस्कार किये तो वह अल्सेशिअन कुत्ता कहलाता है। रास्ते में रखड़ने वाला कुत्ता भिन्न और अल्सेशियन कुत्ता भिन्न! संस्कारी कुत्ते का मूल्य बढ़ जाता है। घोड़े पर भी संस्कार चाहिए। संस्कार के बाद ही वह रेस में लिया जाता है। यदि इन सब पर संस्कार आवश्यक हैं तो क्या मानव को संस्कार की आवश्यकता नहीं है? मानव को भी संस्कार चाहिए।

हम उपनयन संस्कार का विचार कर रहे हैं। उपनयन संस्कार यह धार्मिक विधि-दीक्षा विधि है। कामाचार, कामवाद और कामभक्षण पर नियंत्रण मान्य करना है। खाना, पीना, बोलना, रहना यह समझकर करना चाहिए। उन पर नियंत्रण होना चाहिए। कामाचार, कामवाद और कामभक्षण इन तीन प्रमुख बातों पर नियंत्रण आवश्यक है। मैं अव्यवस्थित वाणी नहीं बोलूँगा, मेरे मुँह से अपशब्द नहीं निकलेंगे, मैं अव्यस्थित नहीं रहूँगा ऐसी एक प्रतिज्ञा लेनी है। इसलिए उपनयन धर्म की दीक्षा-विधि है। यह दीक्षा-विधि आज चली गयी है। पिता का कर्तव्य है कि वह पुत्र का उपनयनसंस्कार करे। दूसरा कोई नहीं किया तो भी चलेगा, परन्तु यह संस्कार आवश्यक है। इसीलिए **'पित्येव तु मन्त्रदं'** कहा है। पिता ही मंत्र देता है, धर्म की दीक्षा देता है। अभी तो सब भिक्षा की दीक्षा देते हैं। 'जिधर से मिलेगा, उधर से ले लो' ऐसी दीक्षा पुत्र को बचपन से ही पिता से मिलती है।

उपनयन यानी विद्या के पास ले जाना है। आज दुःख की बात है कि हमारी विद्या व हमारे शास्त्रों के हम ही निंदक बने हैं। हम आत्मनिंदक और परप्रशंसक बने हैं। ये हमारी उपाधियाँ *(titles)* हैं। हम परवदन- प्रेक्षक- दूसरों के मुँह की ओर ताकनेवाले बने हैं। यह बहुत शर्म की बात है, परन्तु जिसको शर्म है उसके लिए! हम तो बेशरम बने हैं इसलिए हमें शर्म नहीं आती।

हमारे यहाँ उच्च कोटि के तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र के पहाड़ हैं, परन्तु उनकी ओर कोई नहीं देखता। हम अरस्तू का ही शास्त्र पढ़ते हैं और विश्वविद्यालयों में वही पढ़ाया जाता है, दूसरा नहीं। आयुर्वेद ज्ञान की खान है परन्तु उसकी ओर हम देखते ही नहीं। केवल एलोपथी, एलोपथी ही चिल्लाते रहते हैं। संस्कृत भाषा **बहुज्ञानप्रसवा** है, उसकी हम उपेक्षा करते हैं और केवल अंग्रेजी ही पढ़ते हैं।

एक व्यक्ति खड़ा हुआ और उसने स्पेन्सर का अज्ञेयवाद खड़ा किया। दूसरा उठा, उसने अलग ही वाद खड़ा किया। तीसरा उठा, उसने रूस व फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बारे में कहा, परन्तु हमारे समाज में ज्ञानेश्वर जैसे महापुरुष ने बहुजन-समाज क्रान्ति की और समाज के अन्तिम व्यक्ति तक *(Unto the last)* संस्कार ले गये, परन्तु उनका अभ्यास किसी को नहीं करना है। ज्ञानेश्वर महाराज समाधि लगाकर बैठनेवाले साधुपुरुष नहीं थे। समाज के अन्तिम व्यक्ति तक वे पहुँचे थे। उनकी क्रान्ति की ओर किसी को नहीं देखना है और फ्रेंच क्रान्ति का अभ्यास करना है। चौथा भाई खड़ा हुआ और जर्मनी की ओर आशावाद की दृष्टि से देखने लगा। पाँचवां व्यक्ति आया, उसको जापान देश के जैसा दीखने लगा। जहाँ कहीं अच्छा होगा उसका स्वीकार करना चाहिए इसमें मतभेद नही है। जहाँ अच्छा है वहाँ

से लेना चाहिए। फ्रेंच, अंग्रेजी भाषा में से अच्छा लिया तो संस्कृत भाषा में से अच्छा क्यों नहीं लेना, यह प्रश्न है। मैं अरस्तू या सुकरात के विरोध में नहीं हूँ। मैं उनका पूजक हूँ। 'जहाँ-जहाँ ज्ञान होगा वहाँ से लेना चाहिए' ऐसा कहनेवालों को ज्ञान कहाँ पड़ा है इसका पता ही नहीं है, उन्होंने उस ज्ञान की उपेक्षा की है। फिर शिक्षा- ज्ञान कहाँ से मिलेगा? दीक्षा कहाँ से मिलेगी? न शाला-प्रशालाओं में पढ़ाते हैं, न महाविद्यालयों, न मंदिरों में पढ़ाते हैं, क्योंकि उसकी जरूरत ही नहीं है।

हमारे देश का संविधान बुद्धिशाली लोगों ने सभी देशों के संविधान मँगाकर उनमें से बनाया है। बनानेवाले सभी पंडित थे, परन्तु भारत में भी कभी संविधान बनाया हुआ था, वह उन्होंने कभी देखा ही नहीं, उसका विचार भी नहीं किया। क्या भारत में दस हजार वर्षों में राजनीति का विचार ही नहीं हुआ?

ॐ 'स्वस्ति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं.........समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति तदप्येष श्लोकोऽभिगीतो मरुतः परिवेष्टारो.......सभासदा इत।'

यह राजनीति है, भक्ति के, पूजा के मन्त्र नहीं हैं। भक्ति में राजनीति आ जाती है वह भिन्न बात है। मेरा कहना यह है कि जिन्होंने संविधान बनाया वे अनपढ़ लोग थे, ज्ञान के पूजक नहीं थे। ज्ञान के पूजकों ने संविधान नहीं बनाया है। वे सबके सब पूर्वग्रहयुक्त *(conditioned minded)* थे। गुलामी वृत्ति वाले थे। क्या जितना अंग्रेजी में है उतना ही ज्ञान है? ऐसी गुलामी वृत्तिवाले लोग ज्ञान की या संस्कृति की परम्परा कैसे खड़ी कर सकते हैं? दुर्बल छाती वाले लोग हैं ये! मानो इस देश में संविधान ही नहीं था। इसका अत्यन्त भयानक परिणाम भारतीय ऋषि, सन्त, वेद आदि सब पर हुआ है। इसका कारण इसकी दीक्षा ही नहीं मिली। दीक्षारहित, आत्मनिंदक और परप्रशंसक लोग दूसरा कर भी क्या सकते हैं?

हम परतंत्र बने तब प्रारंभ में मेकाले साहब ने पुस्तकों पर पुस्तकें लिखीं। वे सब अंग्रेजी में थीं। उसने लिखा, 'इस देश में ज्ञान ऐसा कुछ है ही नहीं।' और इधर कूड़ा तो था ही। पर उस कूड़े के नीचे जो सोना पड़ा था वह देखने की दृष्टि ही नहीं थी। क्या हमारे देश में इतने बेवकूफ लोग हुए थे कि कूड़े के नीचे सोने के जैसी संस्कृति पड़ी है वह दिखी ही नहीं? उसकी दीक्षा ही नहीं मिली थी। यह दीक्षा नहीं मिली इसकी भी किसी को व्यथा नहीं थी, खेद नहीं था। जिस पीढ़ी को व्यथा ही नहीं होगी, उसकी आनेवाली पीढ़ी को व्यथा ही होगी। और अब वह कथा चल रही है, क्योंकि आत्मनिंदा और परप्रंशसा यही करना है।

'जिधर से ज्ञान मिलेगा उधर से लेना चाहिए इतना ही नहीं, अपितु उसका ऋषि के समान पूजन करना चाहिए—

म्लेच्छा यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्वेदविद् द्विजः।।

ऐसा हमें उपदेश दिया गया है। जहाँ ज्ञान होगा वहाँ से जरूर स्वीकार करो, परन्तु क्या हमारे देश के ज्ञान को देखना ही नहीं है?

उस काल में ऐसी मान्यता थी कि जो देश हार गया वहाँ के लोगों के पास तत्त्वज्ञान कहाँ से होगा? फिर एक जमाना आ गया कि जिसमें दो प्रकार के पंडित हुए। एक राजनिष्ठ और दूसरे ज्ञाननिष्ठ। अभी इग्लैंड के राजनिष्ठ यानी सरकारमान्य पंडितों ने लिख दिया कि भारत में शिक्षा, तत्त्वज्ञान तथा विचार ही नहीं है। ऐसा मिस मेयो, मेकाले ने अपनी पुस्तकें *History of education* और *History of revolution* में लिखा। उसके बाद उधर के ही पंडित खड़े हुए। उन्होंने कहा कि भारत में कुछ भी नहीं है, यह सच नहीं है। भारत में तो ज्ञान का भण्डार पड़ा हुआ है। परन्तु यह सब वहीं के लोगों ने किया। हमारे यहाँ कुछ भी नहीं हुआ। **'केशवाय नमः नारायणाय नमः'** ऐसा हर सोमवार को अभिषेक चल रहा था। सबके सब धार्मिक थे। चल रहा था, परन्तु तुम पर जो अभिषेक चल रहा है वह तो देखो! परन्तु वह उन्होंने नहीं देखा, परिणामस्वरूप वहीं के लोगों को दिखाना पड़ा कि भारत में ज्ञान का भण्डार पड़ा हुआ है। अभी यह सब अंग्रेजी में लिखा था तो हमारे पढ़े लिखे लोगों पर परिणाम हुआ।

डॉ. विन्टरनिड्स भी एक विदेशी पंडित था। उसने फिर से बताया कि भारत में ज्ञान है ही नहीं। और मैक्स मुल्लर ने तो कहा है जो इसका सबूत है। उसने कहा, अगर आप भारतीयों की निष्ठा और श्रद्धा तोड़ सकेंगे तभी आप उन पर राज्य कर सकेंगे। उनके पास ज्ञान तो है ही नहीं। उसके बाद उन्होंने कहा कि भारत के पास ज्ञान है। उस समय हमारा शारदाप्रसाद तो यहाँ श्राद्ध करते हुए बैठा था। उसके बाद उनमें से ही एक पंडित ने कहा, भारत के पास ज्ञान है, पर बगल में से उधार लिया हुआ है। वहाँ ज्ञान पैदा ही नहीं हुआ है। एक जमाना ऐसा आया जिसमें उन्होंने लिखा कि होमर के 'इलियड' काव्य पर से 'रामायण' की कल्पना ली है। इलियड में ट्रोझन का युद्ध है और रामायण में राम-रावण का युद्ध है। उधर हेलन रानी के लिए युद्ध हुआ और इधर सीता रानी के लिए युद्ध हुआ। परन्तु ऐसा लिखने वाले सब बेवकूफ थे। उन्होंने न रामायण पढ़ी थी न इलियड काव्य!

होमर के इलियड की रानी हेलन अपने पति को छोड़कर प्रियकर के साथ भाग गयी थी और रामायण की सीता को उसका पातिव्रत्य भ्रष्ट करने के लिए जबरदस्ती से रावण उठाकर ले गया था, फिर भी जिसका पातिव्रत्य भ्रष्ट नहीं हुआ ऐसी सीता है। यह जो मूलभूत फर्क़ *(basic difference)* सीता व हेलन में है, यह उनको देखना ही नहीं था।

फिर **'यो मद्भक्तः स मे प्रियः'** ऐसा गीता में है तो उन्होंने कह दिया कि गीता बाइबल से ली गयी है। बाद में वहीं के पंडितों ने कहा कि यह सब झूठ है। रामायण होमर के 'इलियड' से नहीं ली गयी है क्योंकि ट्रोझन युद्ध के कितने ही हजार साल पहले वाल्मीकि हुए हैं, अतः वे 'इलियड' से कैसे लेंगे? बाइबल से तीन हजार साल पहले गीता हुई है, अतः बाइबल में से गीता कैसे ली जा सकती है? यह सब उधार लिया

हुआ नहीं है, यही ज्ञान है, यह सिद्ध हो गया। यह सब संशोधन वहीं के पंडितों ने किये हैं। हमारे पण्डित और ब्राह्मण तो रूद्री का अभिषेक करते बैठे थे। धार्मिक थे न वे!

इसके बाद और कुछ लोग उनमें से खड़े हुए। उन्होंने कहा, रामायण-महाभारत के जो चरित्र *(characters)* हैं वे उधार लिए हुए *(Imported)* हैं। राम इरान से आया, बुद्ध पर्सिया से आया और आर्य मध्य एशिया से आये और यहीं स्थिर होकर रहने लगे। इन लोगों को यह सिद्ध करना था कि यहाँ के लोग जंगली थे और जंगली ही होने चाहिए। और उन्होंने सिद्ध करके भी दिखाया। इन लोगों की प्याऊ से जल पिये हुए हमारे पंडित भी कहने लगे कि राम इरान से आया था क्योंकि इरान में खर व ऊँट की गाड़ियाँ चलती हैं, भारत में नहीं चलती। रामायण में गधे और ऊँट की गाड़ियों का वर्णन है वह सब इरान के प्रदेशों का है। भारत में ऊँट और गधों की गाड़ियाँ नहीं चलती थीं ऐसा किसने कहा? कच्छ और राजस्थान में आज भी ऊँट व गधों की गाड़ियाँ चलती हैं। परन्तु यह सब देखना ही नहीं था। हमारे लोगों ने ऐसी पुस्तकें लिखी हैं और युनिव्हर्सिटी ने उनको मान्यता भी दी है, क्योंकि वह संशोधित है। संशोधन में आप कुछ नया लिख दें तो वह संशोधन ही है। इसलिए दुर्योधन सच्चा और अर्जुन बुरा था ऐसा लिखना भी उनका संशोधन *(research)* ही है। ऐसा लिखने का लोगों पर क्या परिणाम होता है यह देखना ही नहीं था।

हमारे देश का संविधान करोड़ों-अरबों रूपये खर्च करके बनाया गया है, परन्तु हमारे देश की राजनीति का संविधान बनानेवालों ने अभ्यास ही नहीं किया। इसलिए मैं कहता हूँ कि ये सब अनपढ़ थे। '**न राज्यं न च राजासीन्न दण्ड्यो न दाण्डिकः**' ऐसा रामराज्य हजारों वर्ष पूर्व इस देश में साकारित हुआ था। यह उन्होंने सुना भी नहीं था, सुनना भी नहीं था।

उपनयन यानी विद्या के पास जाना चाहिए। विद्या की अभिलाषा होनी चाहिए, फिर भले ही वह विद्या अंग्रेजी में होगी, अरबी में होगी, फारसी में होगी या ग्रीक भाषा में होगी। वह भी हमें चाहिए। यह धारणा जिनकी है वे ही ज्ञान के, विद्या के उपासक कहे जाते हैं।

पुराने काल में ब्राह्मण जैसे संस्कृत भाषा को ही पकड़कर बैठे थे वैसे आज के पढ़े हुए लोग अंग्रेजी को ही पकड़कर बैठे हैं। ये दोनों बेवकूफ हैं, ऐसा व्यासपीठ पर बैठकर बोल सकता हूँ। नीचे उतरने पर नहीं बोल पाऊंगा। बेहद प्रमाण में बेवकूफी चल रही है। इन लोगों की पुस्तकें पढ़ने जैसी हैं, पढ़ने पर बहुत मनोरंजन होता है, मेरा तो बहुत मनोरंजन हुआ।

पचास वर्षों के बाद दूसरे पण्डित आये। उन्होंने कहा, कि ये आयात किये हुए चरित्र नहीं हैं। पृथ्वी की धुरी अमुक एक समय के बाद बदलती है, हवामान भी बदलता है। ऐसा होते हुए भी उन पंडितों को लगा कि भारत में ऐसे अच्छे चरित्र होंगे ही कैसे?

इसलिए उन्होंने कहना प्रारंभ किया कि राम, कृष्ण, बुद्ध आदि चरित्र हुए भी नहीं वे सब काल्पनिक पात्र हैं। वाल्मीकि ने रामराज्य की कल्पना की और रामायण लिखी। वास्तव में राम हुआ ही नहीं था। वैसे ही कौरव-पाण्डव भी नहीं हुए थे। उनका युद्ध एक लाक्षणिक युद्ध था। हमारे भीतर जो सद्-असद् वृत्तियाँ हैं उनका भीषण युद्ध ही कौरव पांडवों का युद्ध है। कौरव यानी हमारे भीतर की असद्वृत्ति और पाण्डव यानी सद्वृत्ति। इनका संघर्ष यानी कौरव-पाण्डवों का युद्ध! हमारे लोग भी ऐसा ही कहने लगे। इसलिए कहता हूँ कि उपनयन यानी विद्या के पास ले जाना। यह संस्कार हुआ ही नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि हम आत्मनिंदक और परप्रशंसक बन गये। 'पर' शब्द से मुझे वे पराये नहीं लगते, परन्तु समझाने के लिए 'आत्म' और 'पर' कहना चाहिए इसलिए इन शब्दों का प्रयोग किया है।

हमारे देश में राजनीति थी। **साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यम्.**....ये सब विविध राजनीतियों का, आविक्षित राजा द्वारा किये हुए प्रयोगों का वर्णन है। परन्तु कोई समझता ही नहीं, क्योंकि निष्ठा ही नहीं रही। उपनयन संस्कार केवल ब्राह्मणों के लिए ही रह गया।

डॉ. हाईडवाईजमेन इस्रायल के थे। उनकी सौ पीढ़ियों में सब अंग्रेजी बोलते थे। वे स्वयं ओक्स्फर्ड युनिवर्सिटी में पढ़े थे और वहाँ के सिनेटर *(Senator)* थे। उनको चार सौ साल बाद स्वतंत्रता मिली, जब उनसे पूछा गया, 'आपकी शिक्षा-पद्धति कैसी रहेगी?' तब उन्होंने उत्तर दिया पुरानी हिब्रू पद्धति '*old Hibru style,* से चलेगी।' उनको लगता था, 'मेरे पूर्वजों ने विद्या की कुछ विरासत रखी है, उसका हमें कुछ विचार करना चाहिए।' यह एक अस्मिता है, मिज़ाज है। बुद्धि में कुछ गौरव है कि हम ऐसे वैसे पढ़े हुए लोग नहीं हैं।' इतना छोटा सा राष्ट्र होते हुए भी इस्रायल आज दुनिया को भयभीत करता है। इसका क्या कारण है? आत्मगौरव! परन्तु हमारा तो निजी खून ही नहीं है। किसी को कुछ सोचना ही नहीं है। जिसके शरीर में खून खौलता ही नहीं वह क्या कर सकता है! आज सभी धार्मिकों तथा अधार्मिकों और सुधारकों ने भी सब खत्म कर दिया है। किसी को विद्या की विरासत चाहिए ही नहीं।

उपनयन यह बड़ा संस्कार व दीक्षा-विधि है। सभी धर्मों में यह विधि है। कितने ही लोग पूछते हैं कि 'आपके देश में धर्माचार का बड़ा ही व्याप है। जहाँ देखो वहाँ आचार, आचार और धर्म है।' मैंने कहा, होना ही चाहिए। सभी देशों में धर्म व आचार है। बिना आचार के संस्कार हो ही नहीं सकते। सभी धर्मों में उपनयन के तौर पर दीक्षा-विधि है। कर्मकाण्ड है, होना ही चाहिए। ग्रीकों व ईसाइयों में बाप्तिस्मा *(Baptism)* है, ईसाइयों में *confirmation* है, उसके बिना वह ख्रिश्चियन नहीं कहलाता। पारसीयों में नव-ज्योत संस्कार है, इस्लाम में सुन्नत है। उपनयन में यज्ञोपवीत लेना होता है। यज्ञोपवीत यह एक नियंत्रण है। 'आज से मैं कामाचार, कामवाद व कामभक्षण पर नियंत्रण रखूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा अग्नि के समक्ष लेनी होती है। मानव मात्र के लिए यह संस्कार आवश्यक है। परन्तु हमारे यहाँ यह केवल ब्राह्मणों के लिए रह गया और बाद में यह यज्ञोपवीत जातिवाद *(casteism)* बन

गया। यज्ञोपवीत ने व्यक्ति-व्यक्ति के बीच में अन्तर निर्माण कर दिया है। कारण यज्ञोपवीत क्यों लेना है, उसके पीछे क्या तत्त्व है, कौन सा कारण है यह कोई सोचता ही नहीं और किसी को खोज करनी ही नहीं है। ब्राह्मण और कहीं क्षत्रिय यज्ञोपवीत धारण करते हैं इसलिए वह उनके लिए ही है ऐसा समझकर उन लोगों ने जातिवाद खड़ा कर दिया है। बड़े-बड़े आध्यात्मिक लोग कहते हैं, 'यज्ञोपवीत से आपको कुछ लाभ नहीं होगा।' बड़े-बड़े लोगों ने सभा में, 'यज्ञोपवीत ब्राह्मण और क्षत्रिय लेते हैं, दूसरों को अधिकार नहीं है इसलिए वह जातीयवाद है, अतः तोड़ दो' ऐसा कहकर यज्ञोपवीत तोड़ डाले। यज्ञोपवीत ने इन लोगों का क्या बिगाड़ा है? वास्तव में यज्ञोपवीत का अर्थ और उसका महत्त्व समझ लेना चाहिए। एक बनी हुई ऐतिहासिक घटना सुनाता हूँ।-

ब्रिटेन का राज्य उस समय सर्वत्र फैला था। ऐसा कहा जाता था कि ब्रिटेन के साम्राज्य पर सूर्य कभी अस्त नहीं होता। विनोद में कहना हो तो हमारे स्वाध्याय विस्तार पर भी सूर्य अस्त नहीं होता। ब्रिटेन के राज्य का बहुत विस्तार था। एक बार ब्रिटन का राजा वेश बदलकर- एक किसान के वेष में घूमने के लिए निकला। मार्ग में एक मिलिटरी की छावनी थी। वहाँ राजा चला गया। तंबू के बाहर मिलिटरी का कैप्टन कुर्सी डालकर, पैर लंबे फैलाकर चिरूट हाथ में लेकर विचारों में -शायद घरवाली के विचारों में खोया हुआ बैठा था। किसान विषधारी राजा ने कैप्टन से पूछा, 'पिट्सबर्ग जाने का मार्ग कौन सा है?'

कैप्टन ने तिरछी निगाहों से किसान की ओर देखा। कहाँ मिलिटरी का कैप्टन और कहाँ एक किसान! कैप्टन ने कुछ जवाब नहीं दिया। राजा ने फिर से कैप्टन से पूछा, "पिट्सबर्ग जाने का रास्ता कौन सा है?' कैप्टन को गुस्सा आया, उसने राजा को कसकर एक लात मारी व कहा, 'चल! हट्, निकल जा यहाँ से!' राजा नीचे गिर गया, मुँह में धूल गयी। राजा फिर से खड़ा हुआ, कपड़ों की धूल साफ की, मुँह पोछा और फिर से कैप्टन के पास आकर खड़ा हुआ। नम्रता से कहा, 'साहब! आप बहुत बड़े मालूम होते हैं! आपने मुझे लात मारी?'

जो बड़े होते हैं वे दूसरे को लात ही मारते हैं। मिलिटरी के मनुष्य जितने तेज मगज के होते हैं उतने ही विनोदी भी होते हैं। मज़ाक भी करते हैं। इसका कारण मृत्यु को हाथ में लेकर घूमने वाले लोग होते हैं वे!

किसान ने पूछा, "साहब! आप कौन हैं?"

कैप्टन को विनोद करने का मन हुआ। उसने कहा, 'तू ही बता मैं कौन हूँ।'

किसान ने कहा, "आपके वेष से तो आप मिलिटरी में हैं ऐसा लगता है।"

कैप्टन- 'हाँ! इसीलिए तो घर बार छोड़कर छावनी में आकर बैठा हूँ।' मुझे पहचान कि मैं कौन हूँ।'

किसान– 'मुझ अनाड़ी को कैसे पता चलेगा कि आप कौन हैं! आप तो कोई बड़े अधिकारी लगते हैं!'

कैप्टन– 'पर बता तो सही, मैं कौन हूँ!'

किसान– 'आप जमादार लगते हैं।'

कैप्टन– 'नहीं! उससे भी ऊपर।'

किसान– 'तो आप लेफ्टनंट होंगे।'

कैप्टन– 'उससे भी ऊपर।'

किसान– 'मुझे कैसे पता चलेगा? लैफ्टनंट से भी ऊपर यानी आप कैप्टन हैं?'

कैप्टन– 'सच पहचाना तूने। मैं कैप्टन हूँ।'

किसान– 'ओ हो! आप इतने बड़े और मैंने आपसे पिट्सबर्ग जाने का रास्ता पूछा! साहब! मैं पागल हूँ। मुझ से भूल हुई।

कैप्टन ने कहा! ठीक है जाने दे, पर तू कौन है?'

किसान– 'यह तो आप ही कहिए न!'

कैप्टन– 'तू सिविल है या मिलिटरी में है?'

किसान– 'मैं हूँ तो मिलिटरी में।'

कैप्टन को लगा कि ब्रिटन की सेना अनेक स्थानों में फैली हुई है। यह कोई सेवानिवृत्त *(Retired)* फौजी व्यक्ति लगता है। उसने कहा, तू जमादार होगा।'

किसान– 'उससे भी ऊपर।'

कैप्टन– 'तो क्या लेफ्टनंट है?'

किसान– 'उससे भी ऊपर।'

कैप्टन– 'तो क्या कैप्टन है?'

किसान– 'उससे भी ऊपर!'

यह सुनते ही कैप्टन सीधा बैठ गया। क्योंकि मिलिटरी अनुशासित *(Disciplined)* थी। उसने पूछा, 'तो क्या तुम मेजर थे?'

किसान– 'उससे भी ऊपर।'

कैप्टन– 'तो तुम फिल्ड मार्शल रहे होंगे।'

किसान– 'नहीं! उससे भी ऊपर!'

कैप्टन– 'तो क्या आप इंग्लैंड के बादशाह हैं?'

किसान– 'हाँ! मैं इंग्लैंड का बादशाह हूँ।'

यह सुनते ही कैप्टन डर से काँप उठा, खड़ा हो गया। उसने अति नम्रता से कहा, 'मुझसे बड़ी भूल हुई। हमारे बादशाह को कोई गाली देता है तो हम उसका सिर उड़ा देते हैं। यह पिस्तोल लो और मुझे गोली से मार दो। मैंने आपको लात मारी है, आप मुझे शूट कर दो।'

बादशाह ने कहा, 'इतने स्वदेशप्रेमी, स्वाभिमानी, अनुशासनप्रिय शूरवीर कैप्टन को मैं मार डालूँ? इंग्लैंड का बादशाह इतना मूर्ख नहीं है। फिर भी तुमको सज़ा फर्माता हूँ।'

राजा ने कौन सी सज़ा फर्मायी? वह सुनने जैसी है।

राजा ने कहा, 'जब मैं सामान्य किसान लगता था। तब तुम्हारा वर्ताव कैसा था? उद्धत, अविवेकी, उद्दण्ड था। मुझे राजा के रूप में पहचानने पर तुम्हारा वर्ताव कैसा बदल गया? तुम नम्र, शिष्ट और विवेकी बन गये। मैं तो वही हूँ, मेरे कपड़े भी वही हैं, परन्तु तुम्हारी समझ में फर्क़ हुआ और तुम्हारा वर्ताव बदल गया। तो अब 'चौबीसों घण्टे इंग्लैंड का बादशाह मेरे साथ है' ऐसा समझकर आज से वर्ताव करना। यह सज़ा मैं तुम्हें देता हूँ।'

यह दृष्टान्त मैंने इसलिए दिया है कि यज्ञोपवीत द्वारा ऋषि, मुनियों ने यही रास्ता हमारे लिए निकाला है। हम मंदिर में जाते हैं, तो सिगरेट बुझाकर अंदर जाते हैं, बाहर शराब पीते हैं, मन्दिर में नहीं पीते। अगर शराब पीना या सिगरेट पीना अच्छा है तो मन्दिर में भी पीनी चाहिए, और सिगरेट या शराब पीना बुरा है तो बाहर भी नहीं पीनी चाहिए। हम मन्दिर में गाली नहीं देते अथवा अपशब्द नहीं बोलते, परन्तु मन्दिर के बाहर आते ही गालियाँ देना या अपशब्द बोलना शुरू करते हैं। मन्दिर में भगवान हैं तो क्या मन्दिर के बाहर भगवान नहीं हैं? वैसे देखा जाए तो मन्दिर में सभ्यता का पालन करना अच्छा ही है, अभ्यास करने के लिए वह अच्छा ही है, परन्तु चौबीसों घण्टे भगवान मेरे साथ हैं ऐसी समझ आयेगी तो जीवन बदल जायेगा।

गीता कहती है **'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'** मैं सभी के हृदय में बैठा हूँ।' परन्तु इसकी हमको अनुभूति नहीं होती अतः पता भी नहीं चलता। इसलिए उसका कोई चिह्न होना चाहिए तभी यह पता चलेगा कि भगवान मेरे साथ हैं। इसलिए ऋषियों ने एक सुन्दर मार्ग निकाला, वह है यज्ञोपवीत। सफेद, स्वच्छ कपास लो, उसके तन्तु निकालो और नौ तन्तुओं का यज्ञोपवीत बनाकर उस पर भगवान को अधिष्ठित करो, अपने हाथों से, दूसरे के नहीं।

मिट्टी की कीमत नहीं है, परन्तु उसी मिट्टी की गणेश की मूर्ति बनाकर मंत्रोच्चार द्वारा उसमें **'सायुध्यं सशक्तिकं आवाहयामि'** कहकर गणेश की प्राणप्रतिष्ठा करते हैं तब

चाहे कितना भी नास्तिक क्यों न हो, वह उस मूर्ति पर पेशाब नहीं करेगा। वैसे देखा जाए तो वह मिट्टी ही है, मिट्टी का गोला है,परन्तु मंत्र बोलकर, प्राणप्रतिष्ठा करके उसमें भाव भर दिये हैं। वैसे ही यज्ञोपवीत के एक-एक तन्तु पर एक-एक भगवान की प्राणप्रतिष्ठा करनी है। यज्ञोपवीत नवसूत्री (नौ तन्तुओं का) होता है। नौ सूत्र (तन्तु) तीन सूत्रों में बाँधने हैं और भगवान का आवाहन करना है। उस समय मंत्र बोलने हैं—

ॐकारं प्रथमतन्तौ न्यसामि — प्रथम तंतु पर ओंकार को बिठाता हूँ।
अग्निं द्वितीयतन्तौ न्यसामि — दूसरे तंतु पर अग्नि को बिठाता हूँ।
नागास्तृतीयतन्तौ न्यसामि — तीसरे तन्तु पर नाग को बिठाता हूँ।
सोमं चतुर्थतन्तौ न्यसामि — चौथे तन्तु पर सोम को बिठाता हूँ।
पितृन् पंचमतन्तौ न्यसामि — पाँचवें तन्तु पर पितृओं को बिठाता हूँ।
प्रजापतिं षष्ठतन्तौ न्यसामि — छठे तन्तु पर प्रजापति को बिठाता हूँ।
वायुं सप्तमतन्तौ न्यसामि — सातवें तन्तु पर वायु को बिठाता हूँ।
सूर्यं अष्टमतन्तौ न्यसामि — आठवें तन्तु पर सूर्य को बिठाता हूँ।
विश्वान्देवान् नवमतन्तौ न्यसामि — नवें तन्तु पर विश्वदेवों को बिठाता हूँ।

इससे क्या होगा? 'चौबीसों घण्टे भगवान मेरे साथ हैं' इस समझ से वर्ताव पर नियंत्रण आता है। मन्दिर में जैसा बुरा वर्तन नहीं चलता वैसा बाहर भी नहीं चलेगा, कारण भगवान मेरे साथ हैं, यह आश्वासन मिल गया। भगवान मेरे साथ हैं इसलिए सुख-दु:ख मुझे ज्यादा नहीं सतायेंगे, उनमें रहने का उत्साह मिलता है, अत: भगवान उत्साहवर्धक बन गये। इस प्रकार भगवान नियंत्रक, आश्वासक और उत्साहवर्धक हैं, तो यज्ञोपवीत प्रत्येक व्यक्ति को मिलना चाहिए या नहीं? चाहे वह अमेरिका में हो, कहीं भी हो, स्मिथ. *smith* साहब ही क्यों न हो, उसको भी मिलनी चाहिए, परन्तु यज्ञोपवीत के तन्तुओं पर भाव से प्राणप्रतिष्ठा करनी है। उसके बाद यज्ञोपवीत के तीनों सूत्रों पर (ब्रह्मगाँठ के साथ) ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद को प्रस्थापित करना है और कहना है कि वेदों की विचारधारा मुझे मान्य है। उस समय कहना है-

ऋग्वेदं प्रथमदोरके न्यसामि — ऋग्वेद को प्रथम सूत्र पर बिठाता हूँ।
यजुर्वेदं द्वितीयदोरके न्यसामि — यजुर्वेद को दूसरे सूत्र पर बिठाता हूँ।
सामवेदं तृतीयदोरके न्यसामि — सामवेद को तीसरे सूत्र पर बिठाता हूँ।
अथर्ववेदं ग्रन्थौ न्यसामि — अथर्ववेद को ग्रंथि पर बिठाता हूँ।

चारों वेदों की दृष्टि और विचार मान्य करने हैं। ऐसा नहीं है कि एक बार यह कर लिया कि पर्याप्त हुआ। यज्ञोपवीत हर साल बदलना है। उसको 'उपाकर्म' कहते हैं। प्रति श्रावण महीने में शुक्ल पक्ष में यह विधि करनी होती है। इसी को 'श्रावणी' भी कहते हैं। अब ये संस्कार केवल ब्राह्मणों के लिए रह गये हैं और उनको भी मालूम नहीं है कि यज्ञोपवीत क्यों पहनना है। पहनना चाहिए इसलिए पहनते हैं अथवा दीवाल

पर लटका देते हैं। यज्ञोपवीत की आवश्यकता का ही पता नहीं है। यज्ञोपवीत पर भगवान को बिठाया है ऐसा मन्त्र बोलने वाला ब्राह्मण कहता नहीं और यज्ञोपवीत लेनेवाला, 'यज्ञोपवीत नहीं लिया तो विवाह नहीं होगा' इस विचार से यज्ञोपवीत लेता है। इतना बेवकूफ समाज विश्व में कहीं आज तक हुआ ही नहीं होगा ऐसा मुझे लगता है। दस हजार वर्षो तक मानव वंश खड़ा करनेवाली जो संस्कृति है, शक्ति है वह किस प्रकार खड़ी हुई, किसलिए खड़ी हुई इसके लिए इस समाज को विचार ही नहीं करना है।

मेरे पास यज्ञोपवीत होगा तो? भले ही मैं कोई भी हूँ, स्त्री हूँ या पुरुष हूँ, कोई भी धन्धा करता होऊँगा, मैं कसाई, मच्छीमार, झाड़ूवाला, बढई भंगी भी होऊँगा पर मैं बेइमानी नहीं करूँगा, अप्रामाणिक नहीं बनूँगा। आध्यात्मिक दृष्टि से स्त्री और पुरुष दोनों को यज्ञोपवीत की आवश्यकता है। यज्ञोपवीत को जातीयवाद बनाया। यज्ञोपवीत है इसलिए ब्राह्मण को भी तोड़ दो। ब्राह्मण भी टूटने लगे। बड़े-बड़े लोगों ने मंच पर खड़े रहकर यज्ञोपवीत तोड़ डाले। बड़े-बड़े आध्यात्मिकों ने कहा, 'यज्ञोपवीत निकाल दो अन्यथा आत्मज्ञान *(Realisation)* नहीं होगा।' अरे! आत्मज्ञान का यज्ञोपवीत से क्या मतलब? यज्ञोपवीत का असली अर्थ समझकर उसको फिर से प्रस्थापित करना ऋषियों का काम है।

उपनयन संस्कार करने पर मनुष्य को सतत लगता है कि भगवान मेरे साथ हैं। उसके लिए वस्तु भी कौन सी उठायी? जिसकी कुछ कीमत नहीं है ऐसी कपास! कपास का सूत्र लेकर कोई भी यज्ञोपवीत बना सकता है। क्रॉस होगा तो वह स्टील का होगा, उसकी भी कुछ कीमत होगी और उसमें भी फर्क़ आ सकता है। कोई स्टील का, तो कोई चांदी का तो कोई सोने का क्रॉस पहन सकता है, परन्तु इधर तो चाहे करोड़पति ही क्यों न हो, कपास का ही यज्ञोपवीत पहनना पड़ता है। 'मैं करोड़पति हूँ मैं सोने का यज्ञोपवीत पहनूँगा' ऐसा कोई कहेगा तो नहीं चलेगा। माला में भी फर्क़ आ सकता है चांदी की माला होगी, सोने की भी होगी, परन्तु यज्ञोपवीत तो सूत का ही रहेगा। कोई अरबपति हो तो भी उसको सूत का ही यज्ञोपवीत पहनना पड़ता है। कुछ भी परेशानी नहीं होगी।

कामाचार, कामवाद और कामभक्षण पर यज्ञोपवीत नियंत्रण लाता है। 'भगवान मेरे साथ हैं' यह कल्पना है और वह भगवान के पास लेकर जाता है यह संस्कार है। इसलिए उपनयन संस्कार है।

यज्ञोपवीत में ब्रह्मगाँठ है, उससे पिशाच भाग जाते हैं। हम छोटे थे तब गाँव में रहते थे। उस समय न बिजली न कुछ। सर्वत्र अंधेरा होते ही सब अपने-अपने घरों में घुस जाते थे। कोई बाहर ही नहीं निकलता। अब बिजली आ गयी है और सर्वत्र उजाला हो गया है। सब बाहर निकलते हैं। परन्तु मैं सोचता हूँ कि पेड़ के नीचे जो पिशाच थे वे कहाँ चले गये? लगता है कि आज तक जो पेड़ पर पिशाच रहते थे वे घर-घर में घुस गये हैं।

मैं सात वर्ष का था तब यज्ञोपवीत लिया। प्रथम दिन मैं बहुत ही खुश हुआ था। शाम हो गयी, परन्तु मैं नहीं डरा कारण मेरे पास यज्ञोपवीत था। पिशाच आयेगा तो ब्रह्मगांठ देखकर भाग जायेगा। परन्तु पिशाच यानी कौन सा पिशाच? **पञ्चपिशाच्चानि वसन्ति।** हमारे अंदर जो पिशाच हैं वे! अगर मन में कुविचार आयेगा तो प्रथम यज्ञोपवीत देखना चाहिए। तब लगता है, "मेरे लिए ऐसा कुविचार शोभा नहीं देता। ऐसा नियंत्रण होता है," कुविचार भाग जाता है। भगवान मेरे साथ हैं, इस विचार से उत्साह मिलता है। आश्वासन मिलता है कि अब मुझे किसी की जरूरत नहीं है। ऐसा नियंत्रक, उत्साहवर्धक, आश्वासक यज्ञोपवीत किसे नहीं चाहिए? सभी को चाहिए। 'सभी को मिलना चाहिए' यह भाषा छोड़ दी और 'सभी को यज्ञोपवीत तोड़ना चाहिए' यह भाषा अपनायी। जिनके पास थे उन्होंने भी तोड़ दिये। कारण किसी को महत्त्व ही मालूम नहीं।

जिस दिन यज्ञोपवीत लिया जाता है उस दिन से धर्म की शुरूआत होती है। आज तक कामाचार चलता था, कामवाद, कामभक्षण चलता था, परन्तु अब यज्ञोपवीत लेने से मेरे ओंठ किसी की निन्दा करने के लिए अपशब्द बोलने के लिए अथवा गालियाँ देने के लिए नहीं हैं, ऐसा व्रत लेना है। इसको **व्रतबंध** कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा व्रत लेना चाहिए। इसके लिए ब्रह्मचर्याश्रम खड़ा हुआ। इसमें दो बातों की ओर ध्यान देना है। शरीर को सुदृढ़ और बुद्धि को प्रभावी बनाना है, तीसरी बात ही नहीं। बारह वर्ष में ब्रह्मचर्याश्रम में शरीर सुदृढ़ व बुद्धि प्रभावी बननी चाहिए। इसलिए उपनयन संस्कार है।

आज उपनयन संस्कार उत्सव बन गया है। महाराष्ट्र में तो ब्राहमणों में उत्सव के रूप में रह गया है। गुजरात में भी चला गया है। एक दिन निश्चित करते हैं और यज्ञोपवीत दे देते हैं। उस समय ग्रहशान्ति आदि कर्मकांड ज्योतिषशास्त्र के अनुसार करते हैं। मूलभूत उद्देश्य ही नष्ट हो गया है।

ज्ञान, सात्त्विकता, सद्गुण व तेज के पास ले जाना ही उपनयन संस्कार है। उपनयन में ज्ञान का प्रामाणिकतापूर्वक स्वीकार है। सुनकर, 'बहुत अच्छा है' कहकर सिर हिलाना नहीं है। प्रामाणिकतापूर्वक ज्ञान का स्वीकार करना है। जो ज्ञान मिलेगा वह ज्ञान भेद के लिए नहीं, विभाजन के लिए नहीं और परस्पर संहारार्थ भी नहीं है इसका भान रखना है। व्यक्ति-व्यक्ति में, समाज में बुद्धिभेद करके भेद निर्माण करने के लिए ज्ञान नहीं है। ज्ञान ऐसा होना चाहिए कि जिससे भेद नष्ट हो जाय। ज्ञान किसलिए है? समन्वयार्थ ज्ञान है, अभेदार्थ ज्ञान है, परस्पर सहकार्यार्थ ज्ञान है। ज्ञान से मनुष्य-मनुष्य में ऐक्य निर्माण होना चाहिए। इस ज्ञान से व्यक्ति का जीवन बदलता है। ज्ञान से मानव और भगवान का भी ऐक्य होना चाहिए। इस ऐक्य तक हमें पहुँचना है। इसलिए हमारे पूर्वजों, ऋषियों ने ज्ञान का आग्रह रखा है और ज्ञान दिया है।

जीवन एक महान यज्ञ है यह भावना ही नष्ट हुई है। केवल मौज़ मनाना, शौक करना और इन्द्रियों के सुखों के पीछे दौड़ना इसीको जीवन माना जाता है। 'जीवन एक महान यज्ञ है' यह भावना जब से नष्ट हो गयी तब से स्वार्थ को प्रधानता मिली है।

अप्रामाणिकता और असत्य के सम्बन्ध में शर्म ही नहीं रही है ऐसी स्थिति आ गयी है। मनुष्य विद्या-स्नातक और व्रत-स्नातक होना चाहिए। आज सभी युनिवर्सिटियाँ ज्ञान देती हैं- *Doctor of letters. letters-* शब्द का अर्थ ज्ञान है परन्तु व्रत नहीं है। उसमें से जीवन को कुछ व्रत ही नहीं मिलता। जीवन यज्ञ है यह भावना पैदा नहीं होती। वैसे ही, मुझे जीवन में कुछ करना है ऐसा आग्रह भी निर्माण नहीं होता, और आग्रह का ही तो नाम व्रत है। मनु ने स्पष्ट भाषा में कहा है- **वेदाविद्याव्रतस्नानात्।** जिसने व्रत का स्वीकार नहीं किया यह स्नातक नहीं है, पदवीदान समारोह *(convocation)* में सम्मिलित होने का अधिकारी नहीं है। वह पढ़ा लिखा है, नब्बे प्रतिशत प्रजा अनपढ़ है। उसको कैसे खड़ा करना, उसके लिए उपयोगी कैसा बनना इसका विचार न किया हो और उस प्रजा के लिए अपना ज्ञान प्रयुक्त न करता हो तो पदवीदान समारोह में सम्मिलित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। वैसा उपस्थित रहना यह दिखावा *(show)* है, दम्भ है। आम अनपढ़ प्रजा के लिए किसी का अन्तःकरण छटपटाता ही नहीं। व्यावसायिक शिक्षा-*(Job oriented Education)* को ही शिक्षण कहा जाता है।

शिक्षण क्या है? 'भीतर पड़े हुए गुणों को बाहर निकालना' यह शिक्षण का अर्थ है। *Education means to draw out*। यह बात विस्मृत कर दी गयी, परिणामस्वरूप जीवन में स्वार्थ को प्रधानता मिल गयी। लोग कहते हैं, 'आज सब स्वार्थी बन गये हैं।' परन्तु उसके लिए कौन उत्तरदायी हैं? संपूर्ण समाज उसके लिए उत्तरदायी है, प्रत्येक व्यक्ति उत्तरदायी है। आज अपना स्वयं का उत्तरदायित्व छोड़कर लोगों को केवल बोलना है कि समाज ऐसा स्वार्थी क्यों बना है? लोगों में से प्रामाणिकता क्यों चली गयी? आज जीवन के संस्कार भ्रष्ट हो गये हैं, संस्कार का मूल्य ही नहीं रहा है। बाप को भी नहीं और दादा को भी उसका मूल्य नहीं लगता है, फिर लड़कों में संस्कार आयेंगे कहाँ से? इसीलिए संस्कार का महत्त्व है। उपनयन को इसीलिए व्रतबंध कहा गया है। जब तक व्रतबंध नहीं तब तक जीवन में संस्कार नहीं आयेंगे।

विद्यापीठों *(Universities)* को व्रत देना चाहिए। उस व्रत के पीछे भावना होनी चाहिए, व्रत के पीछे पवित्रता होनी चाहिए। व्रत देनेवाले के प्रति आदर होना चाहिए, तभी व्रत दिया जा सकता है। उसे खड़ा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं, फिर व्रत मिलेगा कहाँ से? मनुष्य को यदि व्रत नहीं मिला, ध्येय नहीं मिला तो वह कैसा बनेगा? स्वार्थी ही बनेगा, अप्रामाणिक ही बनेगा, और यदि वह वैसा नहीं बना तो विश्व का चौदहवाँ आश्चर्य माना जायेगा। व्रतध्येयहीन मनुष्य स्वार्थी व अप्रामाणिक बनेगा ही, क्योंकि जीवन एक यज्ञ है यह उसको किसीने बताया ही नहीं, किसीका यज्ञ जैसा जीवन उसको दिखा ही नहीं! तो फिर जीवन यज्ञ है यह उसके मस्तिष्क में कैसे आयेगा? इसीलिए व्रतबंध की अत्यावश्यकता जीवन में है।

प्रत्येक मनुष्य जब जीवन को महायज्ञ समझेगा तभी उसका ज्ञान महान कार्य के लिए प्रयुक्त होगा व विकासार्थ उसका उपयोग होगा। अन्यथा वह ज्ञान भेदार्थ ही प्रयुक्त होगा।

जीवन में कुछ व्रत मिलना चाहिए। ध्येयशून्य जीवन, जीवन नहीं है। 'मुझे लखपति बनना है' यह ध्येय नहीं हो सकता। सज्जन जिसका ध्यान कर सकते हैं उसको ध्येय कहते हैं। 'प्रतिदिन एक व्यक्ति की जेब काटना है' यह ध्येय नहीं हो सकता।

कुछ लोग सत्ता की कुर्सी पर बैठने पर बड़े बनते हैं। कुर्सी पर बैठने से कोई बड़ा नहीं होता। उसको स्वयं बड़ा बनना चाहिए। एक भाई को कुर्सी मिली इसलिए वह अपने को बड़ा मानने लगा। उसने कहा, 'दूसरे को पता न चले इस प्रकार से जेब काटना *(Pick Pocket)* भी एक प्रकार का शिक्षण है।' उस व्यक्ति को दिमाग है या नहीं? जेब काटना क्या शिक्षण हो सकता है? जो व्यक्ति और समाज के लिए हानिकारक *(injurious)* होता है, वह किसी भी दिन शिक्षण नहीं हो सकता। शिक्षण उसे कहा जाता है जो व्यक्ति को उठाता है और दूसरे को उठाने की शक्ति निर्माण करता है।

ध्येयशून्य जीवन है इसलिए लोग अप्रामाणिक व असद्वर्तनीय बने हैं। इसीलिए असत्य है। **'सत्यमेव जयते'** का नारा लगाने से सत्य नहीं आयेगा। 'आज प्रामाणिकता चली गयी है' ऐसा चिल्लाकर बोलने से भी लोगों में प्रामाणिकता नहीं आयेगी। वह लाने के लिए, निर्माण करने के लिए व्रतबंध होना चाहिए, संस्कार होने चाहिए। आज यज्ञोपवीत की जितनी विडंबना चल रही है उतनी मानवीय इतिहास में कभी नहीं हुई होगी। पहले प्रत्येक व्यक्ति को यज्ञोपवीत दिया जाता था। आज तो ऐसा चल रहा है कि जिसका कल विवाह है उसको आज यज्ञोपवीत दे रहे हैं, क्योंकि बिना यज्ञोपवीत के विवाह नहीं होता। ये लोग यज्ञोपवीत का महत्त्व ही नहीं समझते। जो बोयेंगे वही खाना पड़ेगा, उसीका स्वीकार करना पड़ेगा। फिर चिल्लाकर शोर मचाने से व भगवान को गालियाँ देने से भी नहीं चलेगा। उसका कुछ भी उपयोग नहीं होगा। कैसा युग आ गया है यह? अरे! युग लानेवाला और बनानेवाला तू है। इसलिए व्रतबंध को बहुत बड़ा अर्थ है।

क्या आज शाला, प्रशाला, विद्यालयों में विद्यार्थी को कोई व्रत मिलता है? विद्यार्थी एक ही विचार करता है, 'किस प्रकार की शिक्षा लेने से अधिक वेतन मिलेगा? डॉक्टर बनना है, इसका कारण एक ही, डॉक्टर बनकर बहुत पैसा कमाया जा सकता है। किस व्यवसाय में अधिक पैसा मिलगा यही देखा जाता है, दूसरा कुछ नहीं! जीवन में व्रत ही नहीं। जीवन एक यज्ञ है इस भूमिका से ही संस्कार ढालना पड़ता है। कुछ संस्कार हैं ही नहीं! संस्कारशून्य, असंस्कृत मनुष्य अप्रामाणिक, शठ नहीं बनेगा तो क्या बनेगा? इसलिए व्रतबंध एक आवश्यक बात है।

उपनयन संस्कार में, यज्ञोपवीत देते समय हाथ में एक दण्ड दिया जाता है। दण्ड क्यों देते हैं? स्वसंरक्षणार्थ तथा निर्बल की रक्षा के लिए दण्ड की आवश्यकता है। पुराने जमाने में लोग जंगल में रहते थे इसलिए दण्ड की आवश्यकता तो थी ही! आजकल तो हाथ में लकड़ी लेकर चलना एक फैशन की बात बन गयी है। बूढ़े लोगों की बात बन गयी है।

आज कौन सी शिक्षा की प्यास लगी है इसका पता नहीं चलता। लड़का पैदा होने के पहले ही उसका नाम शाला में दर्ज किया जाता है। पैदा होने के बाद लड़का या लड़की - नाम दे देंगे।. इतना पागलपन क्या किसी काल में रहा होगा? और उसीको हम कहते हैं बुद्धिनिष्ठ, ज्ञाननिष्ठ! लीक से चलनेवाले, लोग बकरे जैसे बने गये हैं। उनमें से सिंह कैसे निर्माण होंगे?

मनुष्य को स्वसंरक्षणक्षम बनना ही चाहिए। इसीलिए विद्यार्थी ब्रह्मचारी के हाथ में दण्ड दिया जाता था। अहिंसा शब्द का अर्थ यह है कि प्रथम अपनी हिंसा नहीं होनी देनी चाहिए। अहिंसा का प्रारंभ यहीं से होता है। ब्रह्मचारी के हाथ में दण्ड देने का हेतु जैसा निर्बल की रक्षा करना है, वैसा ही दूसरा भी हेतु है। ब्रह्मचारी से कदाचित् भूल हो गयी तो वही दण्ड गुरु के हाथ में देकर कहना चाहिए कि, "मुझ से भूल हुई है, मुझे दण्ड दीजिए।" इतनी हिम्मत ब्रह्मचारी में आनी चाहिए। भूल की सजा माँगने की हिम्मत मनुष्य में लाने की शक्ति केवल वैदिक तत्त्वज्ञान और गीता में है। दूसरे किसी वाङ्मय में यह शक्ति नहीं है। आज का वाङ्मय बिना रीढ़ की हड्डी के बना है। अपनी भूल की सजा माँगनेवाला अन्तःकरण कैसे बनाया होगा उन लोगों ने? इसीलिए ब्रह्मचारी के हाथ में दण्ड दिया जाता है।

अपनी भूल हुई हो तो भगवान से भी कहना चाहिए कि भगवान! मुझसे भूल हुई है मुझे सजा दो, तो भगवान भी उसको उठाकर अपनी छाती से लगाकर उसका चुंबन लेंगे। परन्तु यह सच्चे अन्तःकरण से होना चाहिए। नीति *(policy)* के रूप में नहीं चलेगा क्योंकि भगवान को पता चल ही जायेगा। वे भीतर बैठे ही हैं और बाहर भी हमने उनको बिठाया है। वे बाहर भी हैं और भीतर भी हैं। इसीलिए महाराष्ट्र के सन्त तुकाराम ने कहा है, **'आत हरी बाहेर हरी, हरीने घर कोंदिले;'** ऐसी उनकी स्थिति है।

बाहर से भौतिक ऐश्वर्य की जगमगाहट तो सर्वत्र ही दिखायी देती है, परन्तु अन्दर आत्मसुख की खड़खड़ाहट ही है। सर्वत्र शुष्क ही शुष्क है। यह किसका परिणाम है? एक ही बात है, मानव संस्कार शून्य बन गये हैं। व्यक्ति संस्कारशून्य है, उसको संस्कार देना चाहिए। चौथी बात मानव को उपासना देनी है। उपासना का अभाव होने से समाज का स्थायी भाव ही खत्म हो गया है। परिणामस्वरूप किसी भी क्षेत्र में किसी भी बात की स्थिरता नहीं है। इस सृष्टि में सर्वत्र अस्थिरता और अशाश्वतता का अन्धकार फैल गया है। हमारा मन, हमारी बुद्धि भी अस्थिर है, इसलिए बाहर का बाजार भी अस्थिर है। लोग कहते हैं, "बाजार बहुत अस्थिर हुआ है। उनसे पूछना चाहिए कि तुम स्वयं कहाँ स्थिर हो? तुम स्वयं स्थिर न होने से, तुम्हारे हाथ में जो बाजार है, वह कहाँ से स्थिर रहेगा? लोग बाजार में गाली देते हैं कि वह स्थिर नहीं है, परन्तु मनुष्य स्वयं अस्थिर है तो बाजार कैसे स्थिर रहेगा? उपासना के अभाव के कारण समाज का स्थायीभाव नष्ट होने का यह परिणाम है। सर्वत्र अस्थिरता का ही नृत्य चल रहा है तो स्थितप्रज्ञता कहाँ से आयेगी? अस्थिर बुद्धि और अस्थिर संकल्प के कारण मनुष्य क्षणक्षण में बदलता रहता है। मैं स्वयं अस्थिर हूँ तो स्थितप्रज्ञता कैसे आयेगी?

इसलिए बटु को इतनी बातें देनी हैं। स्थिर मन देना है, स्थिर बुद्धि देनी है। यज्ञोपवीत देकर भगवान को उसके साथ बिठाना है। ज्ञान भेद के लिए नहीं, विनाश के लिए नहीं है अपितु विकास के लिए उपयोग में आयेगा ऐसा ज्ञान उसको देना है। यही मानवता *(Humanity)* है। आजकल युनिवर्सिटीवालों को बड़े-बड़े शब्दों का उपयोग करने की आदत हो गयी है। वे मानवता *(Humanity)* की बातें करते हैं। परन्तु मानव है कहाँ? *Humanity is wanted but where is human being?* सब बंदर जैसे लगते हैं, कारण किसी भी व्यक्ति पर संस्कार नहीं हैं। सब पढ़े-लिखे लोग संस्कार का मजाक उड़ाते हैं कि वह केवल कर्मकाण्ड है, कर्मकाण्ड! वे कोर्ट में जाते हैं, हाई कोर्ट में, सुप्रीम कोर्ट में जाते हैं, वहाँ क्या चलता है? सब कर्मकाण्ड ही है। किसी मुकदमे के पंचनामे में एक भूल हुई तो वह मुकदमा सच्चा होते हुए भी झूठा साबित होता है। यह कर्मकाण्ड नहीं है तो और क्या है? उनको केवल बातें करनी हैं- कर्मकाण्ड, कर्मकाण्ड! परन्तु कर्मकाण्ड ही चल रहा है।

संस्कार का अभाव समाज के पतन का कारण है। अस्थिरता भी पतन का कारण है। इसलिए बटु का उपनयन संस्कार करके उसको उपरोक्त बातें देनी हैं, अपनी भूल हुई तो सजा माँगने की तैयारी करवानी है। इसीलिए ब्रह्मचारी के हाथ में दण्ड देना है।

लड़के ने शीशा तोड़ा, जब तक वह कबूल नहीं करता, माँ गुस्सा होती है। परन्तु शीशा तोड़ने पर लड़का स्वयं आकर कहता है कि मेरे हाथ से शीशा टूट गया है, तो माँ कहती है, 'ठीक है बेटा! रो मत! फिर से ऐसा नहीं करना।' लड़का कहता है, 'पर पिताजी मुझे मारेंगे न!' माँ कहती है, डर मत। मैं कहूँगी कि शीशा मैंने तोड़ा है।' लड़का स्वयं अपराध कबूल करता है तो माँ उसको सँभाल लेती है। भूल स्वीकार करके सजा लेने की तैयारी के लिए हिम्मत होनी चाहिए। आत्मनिवेदन कोई रटकर कंठस्थ करने की बात नहीं है। सज़ा भोगने की तैयारी करनी है इसलिए हाथ में दण्ड दिया जाता है। उसके बाद बटु की माँग है—

मयि मेधां मयि प्रज्ञां मय्यग्निस्ते दधातु।
मयि मेधां मयि प्रज्ञां मयीन्द्रः इन्द्रियं दधातु।
मयि मेधां मयि प्रज्ञां मयि सूर्यो भो दधातु।।
यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम्।
यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम्।
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम्।

(अग्नि मुझे बुद्धि, प्रज्ञा और तेज प्रदान करे। इन्द्र बुद्धयादिकों से समर्थ ऐसी इन्द्रियाँ प्रदान करे। सूर्य बुद्धि व तेज प्रदान करे। हे अग्ने! तुम्हारे तेज से मैं तेजस्वी बनूँगा, तुम्हारे वर्च से मैं वर्चस्वी बनूँगा, तुम्हारी कान्ति से मैं कान्तिमान बनूँगा)।

इसमें माँग है कि मेरी बुद्धि स्थिर और दिव्य तेज से युक्त होनी चाहिए। यदि सिर सँभाला तो सब सँभाला जाता है। जब सिर बदल जाता है तब सब बदल जाता है।

कहावत है, 'सिर सलामत तो पगड़ी पचास।' परन्तु आज सिर कहाँ सलामत है? सलामती का ही प्रश्न है। सभी के विचार अस्थिर बने हैं। 'मेरी बुद्धि स्थिर बने, मेरी बुद्धि में तेज आकर वह तेजस्वी बने' ऐसी माँग है।

बुद्धि के निर्णय भी तेजस्वी होने चाहिए। संकल्प भी तेजस्वी होने चाहिए। बुद्धि दो बातें करती है। वह संकल्प करती है और निर्णय निश्चित करती है। मेरे संकल्प और निर्णय दोनों तेजस्वी होने चाहिए, दैवी होने चाहिए। इन्द्रियाँ मजबूत होनी चाहिए। जीवन प्रकाशमय होना चाहिए। इन सब बातों के लिए मैं ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, ज्ञानप्राप्ति के प्रयत्नों में जीवन व्यतीत करना है।

जीवन यज्ञार्थ है यह कल्पना सर्वप्रथम संस्कार देती है। आज कितने लोग अपने लड़कों को यह संस्कार देते हैं? और जो लोग देते हैं उनको क्या पता है कि संस्कार का अर्थ क्या है? वे पुरोहित को बुलाते हैं और संस्कार कराते हैं। पुरोहित से पूछते हैं, 'कितने मिनटों में यह विधि पूरी होगी?' पुरोहित भी कहता है कि पांच-दस मिनिटों में पूर्ण होगी।' तो कहते हैं, अच्छा है, तो पूर्ण करो। इस प्रकार यज्ञोपवीत विधि चलती है। उसमें जाना व्यर्थ है। इतना ही नहीं, वह पाप है। समझदार व्यक्ति को ऐसी विधि में जाना ही नहीं चाहिए। यह क्या यज्ञोपवीत संस्कार है? जिसमें बाप लड़के को कोई व्रत ही नहीं देता। बाप के पास ही व्रत नहीं है तो वह लड़के को क्या देगा? उसके पास मार्केट-दुकान का व्रत है, दूसरा व्रत ही नहीं। सभी पक्षी भी अपने-अपने मार्केट में ही जाते हैं, फिरते हैं। बैल भी मार्केट में जाते हैं। उनका मार्केट है जगंल! मनुष्य के जीवन में 'मार्केट' यही एक बात है। वेतन और कमाई, इनसे भरा हुआ जीवन मनुष्य का है या बंदर का? बंदर सुबह उठने के बाद मार्केट ही ढूँढता है क्योंकि उसको कुछ खाना चाहिए। मानव जीवन में संस्कार का कुछ महत्त्व है।

'मेरा जीवन अन्धकार से भरा हुआ है, वह प्रकाशमान होना चाहिए। उसके लिए बुद्धि दिव्य बननी चाहिए, तभी उसमें दैवी संकल्प और दैवी निर्णय होंगे। उसके लिए ज्ञान चाहिए। उस ज्ञान की उपासना करके मैं उसको प्राप्त करूँगा' ऐसी माँग है। ऐसा व्रतबंध होता है। जिसने ऐसा व्रतबंध लिया है, जिसने पचीस साल तक यही विचार; 'विद्या, विद्या...' सोचा है ऐसा युवक और उन्नीस साल की युवती, जिसने भी ऐसी ही शिक्षा पायी है, ऐसा ही विचार किया है, दोनों एक साथ परिणीत होकर रहने का विचार करते हैं उसी को गृहस्थाश्रम कहते हैं।

आज तो ढाबा- भोजनालय को भी आश्रम शब्द लगाते हैं। वहाँ क्या मिलता है? तो कहते हैं, 'भोजन मिलता है।' ब्रह्मचर्याश्रम की महत्ता समझ लेनी चाहिए। उसके बाद गृहस्थाश्रम आता है। यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण आश्रम है।

समग्र समाज का आधार गृहस्थाश्रम है। गृहस्थाश्रम में समाजधारणा की शक्ति है। गृहस्थाश्रम धर्म का भी आधार है।

संस्कृत भाषा में दो शब्द हैं— 'समाज व समज! **समजः पशूनां संघः**' पशुओं के समूह को समज कहते हैं। जिसका कोई परिवार नहीं, बंधन नहीं, आकर्षण नहीं ऐसे लोग 'समज' में आते हैं। मानव-मानव के पास आकर परिवार बना। पुराने समय में अविभक्त कुटुंब पद्धति *(Joint family system)* थी। फिर शहर में आने के बाद चाल- पद्धति आ गयी। इसमें भी लोगों की एकता थी। चाल में एक घर में विवाह होता तब आसपास के सभी घर खुले रहते थे। आनेवाले मेहमानों का प्रबंध आसानी से हो जाता। चाल पद्धति चली गयी और फ्लैट पद्धति *Block system* आ गयी है। ब्लॉक की एक भिन्न ही संस्कृति है। एक बार ब्लॉक का दरवाजा बंद किया कि फिर बाहरवालों के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। मैं अलग और पड़ोस में कौन रहता है? इसका भी मनुष्य को पता नहीं होता ऐसी स्थिति आ गयी है। यह सब सुधार (?)चल रहा है और इसमें मनुष्य दिन-ब-दिन उन्नत *(develop)* होता जा रहा है।

समजः पशूनां संघः - पशुओं के संघ को 'समज' कहते हैं। मनुष्यों का समाज होता है। गृहस्थाश्रम स्वीकारना हो तो पति-पत्नी का मन, शरीर निरोगी व समाधानी होना चाहिए। दोनों का हेतु एक मन एक हृदय होना चाहिए। वेद कहता है-

समानी व आकूतिः समानानि हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

विवाह के समय पुरोहित यह मन्त्र बोलता है। वह क्या बोलता है इसका उसे पता नहीं होता और सुननेवालों का क्या कहना? वे तो बेखबर ही होते हैं। मन्त्र बोला यानी कुछ पवित्र विधि हो गयी ऐसा उनको लगता है। इस मंत्र में प्रतिज्ञा है कि आज से हम दोनों का हेतु एक रहेगा, मन एक रहेगा और हमारा हृदय भी एक रहेगा, जीवन तथा कार्य का हेतु एक रहेगा। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने वालों के लिए ऋग्वेद के विवाह सूक्त में भिन्न-भिन्न विशेषण दिये हैं-

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।। (ऋग्वेद १०/सू.८५/मंत्र ४४)

इस मंत्र में क्या बनना है यह समझाया है। **'अघोरचक्षुः'** अर्थात् हे वधू! तेरी दृष्टि प्रेमपूर्ण और शान्त रहने दे। जो लड़की नयी नयी परिणीत होकर ससुराल आती है उसको समझाते हैं कि सभी नये नये लोगों में तू आयी है। उनमें से किसी में तू प्रथम दोष न देखना, उनमें जो गुण होंगे उनको ही देख। दोष तो प्रत्येक मनुष्य में हैं ही। किसमें दोष नहीं हैं? दोषरहित तो केवल भगवान ही हैं। कुछ लोग भगवान में भी दोष देखते हैं। एक व्यक्ति ने लिखा है-

गन्धः सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे नाकारि पुष्पं खलु चन्दनेषु।
विद्वान्धनाढ्यो न तु दीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत।।

ब्रह्मा को मुझ जैसा कोई अक्ल देनेवाला नहीं मिला, जिसके कारण इस सृष्टि में कुछ न कुछ भूलें- कमियाँ रह गयी हैं। उदाहरणस्वरूप, सोने में सुगंध नहीं है, सोना इतना मूल्यवान है अगर उसमें सुगंध होती तो? उसका मूल्य कितना बढ़ गया होता! ईख इतना मीठा है परन्तु उसमें फल ही नहीं रखे। यदि उसके फल होते तो वे कितने मधुर होते? कदाचित् एकाध विद्वान धनवान हुआ भी तो वह दीर्घजीवी नहीं होता। चंदन इतना सुगंधी है परन्तु चंदन वृक्ष को फूल ही नहीं आते। सृष्टिकर्ता की भूल के कारण भी सृष्टि में इतनी कमियाँ रह गयी हैं।

ऋषि कहता है कि प्रत्येक मनुष्य में दोष तो होते ही हैं, परन्तु तू दूसरों के गुणों को देखती रह। तुझे शिवा 'यानी मंगलरूप दृष्टि रखनी है।' सुमनाः यानी अच्छा, असूयारहित मन रख। असूयारहित जीवन जीना। मेरे पड़ोसी के पास मुझसे अधिक धन हो तो तुरन्त मेरे मन में असूया निर्माण होती है कि उसके पास विपुल धन है और मेरे पास नहीं है। यदि मुझमें असूया निर्माण होती हो तो मैं गृहस्थाश्रमी नहीं हूँ। तुझे तेजस्वी बनना है। भोगलंपटता निस्तेजस्विता लाती है। भोगलंपटता रही कि अमुक एक वस्तु मुझे चाहिए ही ऐसा आग्रह आता है। फिर उस वस्तु को खरीदने के लिए पैसा न हो, तो उधार लाना, उधार न मिली तो चोरी करना। अर्थात् चाहे उस मार्ग से उस वस्तु को प्राप्त करना है। इसमें निस्तेजस्विता आती है। जीवन में निस्तेजस्विता नहीं आनी चाहिए।

कितने अच्छे हैं विवाहसूक्त! परन्तु विवाह करनेवालों को उनका कोई मूल्य नहीं है। आइस्क्रीम का मूल्य है, तरह तरह के नमूने मँगवाकर चखकर देखेंगे व निश्चित करेंगे कि कौनसा आइस्क्रीम मँगवाना है। विवाहसूक्तों का मूल्य विवाह करानेवाले पुरोहित को भी मालूम है या नहीं किसे पता? यह बहुत बड़े दुःख की बात है।

वेदों में क्या माँगा है? **'अघोरचक्षुषा...'** ये सब गुण लाने हैं। प्रेम केवल शरीर पर नहीं रखना है। शरीर तो उम्र हो जाने पर कुरूप बन जायेगा, कदाचित् रोगों से भी कुरूप बन जायेगा तो क्या प्रेम भी चला जायेगा? विवाह के समय जो शरीर सुन्दर था वह उतना बाद में सुंदर नहीं रहेगा तो क्या उस समय जो प्रेम था वह चला जायेगा? प्रेम केवल शरीर पर नहीं, अपितु अंदर पड़ी हुई शक्ति-आत्मा पर करना है। पति यदि केवल देहपूजक होगा तो वह पत्नी को अपमानजनक लगना चाहिए। कितनी तेजस्वी विचारधारा है वेदों की! मानव कोई मिट्टी का गोला नहीं है। उसके भीतर एक ज्योति है- आत्मज्योति! जिस प्रकार लालटेन के भीतर एक ज्योति होती है वैसी मानवशरीर में भी एक ज्योति है, यह वधू वर को समझाना है।

पति-पत्नी में एकता होनी चाहिए। राम वनवास में जाने निकले तब सीता ने कहा, "मैं भी आपके साथ आती हूँ।" राजा हरिश्चंद अपने राज्य पर पानी छोड़कर चलने लगा तब उसके साथ तारामती भी चल पड़ी। उसने हरिश्चन्द्र से ऐसा नहीं कहा कि पैतृक परम्परा से चलता आया हुआ राज्य है, उस पर पानी छोड़ने का आपको कानूनी अधिकार

नहीं है। हरिश्चंद्र ने स्वप्न में दिये हुए वचन को पूर्ण करने के लिए राज्य पर पानी छोड़ा। हरिश्चन्द्र के साथ तारामती चल पड़ी यह समझ सकते हैं, मगर पुत्र रोहिदास भी उनके साथ चल पड़ा। रोहिदास सुप्रिम कोर्ट (यदि उस समय हो) तक जा सकता ता क्योंकि परंपरा से चलते आये हुए राज्य पर उसका अधिकार था। वह राज्य हरिश्चन्द्र का कमाया हुआ नहीं था। परन्तु रोहिदास ने कोई प्रतिवाद न कर वह अपने माता-पिता के साथ चल पड़ा! जब सभी व्यक्ति एक विचार के होते हैं उसी को परिवार कहते हैं। हरिश्चन्द्र ने पागलपन भी किया होगा, हमें वह मान्य नहीं है ऐसा वह कह सकता था, परन्तु उसने कुछ नहीं कहा। हरिश्चन्द्र का वह पागलपन था या नहीं यह स्वतंत्र बात है, परन्तु परिवार में सब एक विचार के होने चाहिए। केवल चार दीवारें खड़ी कर देने से क्या परिवार बनता है? परिवार में सर्वप्रथम एकता होनी चाहिए, परस्पर भावपूर्ण प्रेम होना चाहिए।

परिवार का विचार करते समय मेरी आँखों के सामने एक ब्राह्मण परिवार आता है। पांडव लाक्षागृह में से जीवित बाहर निकलने के बाद एकचक्रा नगरी में एक ब्राह्मण के घर ठहरे हुए थे। उस गाँव पर सदा के लिए एक आपत्ति थी। गाँव के बाहर बकासुर रहता था। गाँव ने बकासुर के साथ करार किया था। उसके अनुसार प्रतिदिन एक मन अन्न के साथ प्रत्येक घर के एक व्यक्ति को बकासुर के पास जाना था। उस अन्न व व्यक्ति को बकासुर खा जाता था। जिस घर में पांडव ठहरे थे। उस घर के व्यक्ति की बकासुर की पास जाने की बारी आयी। घर में से बकासुर के पास बलिदान देने कौन जायेगा इसकी चर्चा रात को उस घर में चल रही थी।

घर का प्रमुख ब्राह्मण अपनी पत्नी से कह रहा था कि 'कल प्रातःकाल हमारे घर की बारी होने से मैं ही बकासुर के पास जाऊँगा। मेरे जाने के बाद लड़के अनाथ नहीं बनेंगे। उनको भी तू सँभालेगी और खेती-बाड़ी का काम भी देखेगी।' सच बात है। माँ मर जाने के बाद लड़कों की ओर 'अनाथ' की दृष्टि से देखते हैं, परन्तु बाप मर गया तो लड़के 'बेचारे' नहीं बनते। मृत्यु आँखों के सामने नाच रही है, फिर भी ब्राह्मण हिम्मत के साथ कहता है, 'मैं कल बकासुर के पास जाऊँगा।' तुम सब सँभलकर रहना।

ब्राह्मण की पत्नी ने कहा, "ऐसा कैसे चलेगा? मुझे तो सौभाग्यवत्ती स्थिति में ही मरना है। अत: मैं ही जाऊँगी। आपको घर ही रहना है कारण आप होंगे तो लड़का और लड़की को योग्य शिक्षा मिलेगी, संस्कार भी मिलेंगे। मुझसे यह सब नहीं होगा। मैं ही कल बकासुर के पास जाऊँगी।"

लड़के ने कहा, 'अजी! सन्तान पैदा होने के बाद यदि वह माँ-बाप का दु:ख दूर न कर सका तो उसका जीवन व्यर्थ है। उसको सन्तान भी नहीं कहा जायेगा। मुझे तो सुपुत्र बनना है। मैं जीवित रहूँ और आप जायेंगे तो मैं पुत्र काहे का? जो अपने माँ-बाप की रक्षा नहीं कर सकता वह पुत्र चाहिए ही किसलिए? अत: आपके जाने की जरूरत नहीं हैं, मैं ही कल सुबह बकासुर के पास जाऊँगा।'

यह सुनकर लड़की ने कहा, 'ऐसा कैसे होगा। तू तो इस घर का- वंश का दीपक है। तू जा ही नहीं सकता। लड़की तो पराये घर की ही होती है, अत: माता-पिता भी नहीं और तू भी नहीं जायेगा। मैं कल बकासुर के पास जाऊँगी।'

ये सब बातें कुंता माता सुन रही थी। उसकी आँखों में आँसू आ गये। जिस कमरे में वे बैठे थे वहाँ जाकर कुंतामाता ने कहा, 'आप में से किसी के जाने की जरूरत नहीं है। आपके बदले मेरा पुत्र भीम जायेगा, मेरे तो पाँच पुत्र हैं।'

यह चित्र देखकर मुझे लगता है कि इसको 'परिवार' कहते हैं। परिवार पर आपत्ति आयी है, एक को मरने जाना है तो सभी में मृत्यु का वरण करने की स्पर्धा लगती है। इसको परिवार कहते हैं।

इसीलिए गृहस्थाश्रम है। उसमें पवित्रता है, प्रेम है। मानव जीवन में ऐसी एक स्थिति होनी ही चाहिए। प्रश्न यह है कि गृहस्थाश्रम की क्या आवश्यकता है? भगवान इस बात पर बल क्यों दे रहे हैं? दूसरा कोई बोलेगा तो समझ सकते हैं, परन्तु भगवान आध्यात्मिक ग्रंथ में गृहस्थाश्रम का इतना महत्त्व क्यों बखान रहे हैं। दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या यह गृहस्थाश्रम टिकेगा? विचार करनेवालों के मस्तिष्क में यह विचार जरूर आता है। गृहस्थाश्रम बना रहे इसलिए क्या हम कुछ ठोस कदम उठाते हैं? या इस गृहस्थाश्रम को जलाने के लिए अग्रसर हो रहे हैं? यह सोचने की बात है।

मानव-जीवन में गृहस्थाश्रम की क्या आवश्यकता है? ऋषिमुनियों ने और भगवान ने उसको क्यों इतना महत्त्व दिया है? हमारी संस्कृति में विवाह को अत्यधिक पवित्र माना गया है। विवाह हुआ कि हम स्त्री-पुरुष को वधु-वर नहीं मानते, उनको लक्ष्मीनारायण का रूप माना जाता है और उनको नमस्कार किया जाता है। वैदिक काल में विवाह-संस्कार को इतना महत्त्व क्यों आया? उसकी क्या आवश्यकता है, इसका विचार करना चाहिए। ये दोनों प्रश्न मौलिक हैं।

बीसवीं सदी क्रान्ति की सदी मानी जाती है। पुराने राज्य और साम्राज्य गिर गये हैं। साम्राज्य की नींव से भी जो अधिक मजबूत नींव थी वह भी हिलने लगी है। विज्ञान के बढ़ जाने से ईशश्रद्धा भी शिथिल होने लगी है। इसके कारण धर्म का अधिष्ठान भी अस्थिर हो चुका है। मानव समाज किस काल से गुजर रहा है इसका विचार करनेवाले लोग इधर आते हैं, सोचते हैं और सोचने के बाद कुछ करते भी हैं। आज सभी मूल्य अस्थिर बने हैं। धर्म जितना प्राचीन है उतनी ही प्राचीन गृहसंस्था है। इधर वैदिकों ने गृहस्थाश्रम का आग्रह रखा है और इधर गृहस्थाश्रम नष्ट होने का भय निर्माण हुआ है' क्या गृहसंस्था नष्ट होगी?

कन्वर्टन *(converton)* नाम के लेखक की *'Bankruptcy of marriage'* और डेनलेस *(Deneless)* नामक लेखक की *'Revolt of modern youth'* नाम की पुस्तकें हैं। ये दोनों पुस्तकें बहुत अभ्यास करके लिखी हुई हैं। ये पुस्तकें पढ़ने के बाद, यूरोप और

अमेरिका में गृहसंस्था कौनसी अवस्था में चली गयी है इसका पता चलता है। ये दोनों लेखक अभ्यासी हैं, चिन्तक हैं और वे गृहसंस्था कैसी नष्ट होती जा रही है इसकी स्पष्ट कल्पना देते हैं। वे लिखते हैं, 'न्यूयार्क में लाखों गर्भपात होते हैं, अमेरिका में दस में आठ विवाह-विच्छेद होते हैं। हजारों वर्षों से स्थिर गृहसंस्था रसातल में जा रही है ऐसा लगता है।' इनका विवेचन और कारण-मीमांसा रसेल ने लिखी है। वह कारण-मीमांसा बहुत ही अच्छी है।

रसेल लिखता है, गृहसंस्था की नींव हिल गयी है उसके छः कारण हैं। प्रथम कारण यह है कि स्त्री वस्तु मिटकर व्यक्ति बन गयी है। अब वह घर की शोभा की वस्तु (नारी) न रहकर व्यक्ति बनी है, उसको स्वतंत्र अस्तित्व प्राप्त हुआ है।

दूसरा कारण स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता मिली है। यह रसेल लिखता है, मैं नहीं कह रहा हूँ। स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता होनी चाहिए या नहीं यह चर्चा बेकार है। यह दो प्रतिशत लोगों की बात है। कृषि करनेवाली अस्सी प्रतिशत प्रजा में अधिकतर स्त्रियां ही काम करती हैं। गृहसंस्था टूटने का कारण रसेल ने यह दिया है कि स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता मिली है। तीसरा कारण यह है कि समागम होने के बाद भी गर्भ संभव टालने की युक्ति विज्ञान ने दी है। इसके कारण गृहसंस्था की नींव ही हिल गयी है। चौथा कारण यह है कि पहले पुरुष बीसवें वर्ष द्रव्यार्जन की शुरुआत करता था मगर अब वह तीसवें वर्ष द्रव्यार्जन का प्रारंभ करता है। परिणामस्वरूप समागम की इच्छा व तृप्ति में अन्तर आ गया है। विवाहविच्छेद आसानी से होता है यह पाँचवा कारण है। छठाँ कारण यह है कि अपत्यसंगोपन का काम शासन ने हाथ में लिया है। इन छ कारणों से गृहसंस्था की नींव हिल चुकी है।

चिन्तकों को केवल आज का ही विचार नहीं करना है। भविष्य में क्या होनेवाला है तथा मानव तथा मानव-जाति को किससे सहायता मिलेगी यह भी सोचना चाहिए। गृह-संस्था को हिलानेवाले छ कारण रसेल ने दिये हैं। यह समस्या केवल अमेरिका और यूरोप तक ही मर्यादित नहीं रही, इनमें से अस्सी प्रतिशत समस्याएं भारत में भी हैं। संपूर्ण विश्व में एक ही समस्या आती है। गृहसंस्था की नींव में अनेक कारणों की सुरंग लगी है। एक रूस देश ही ऐसा है कि जिसको गृहसंस्था नष्ट हो गयी तो कोई चिन्ता नहीं है। 'गृहसंस्था नष्ट हो गयी तो बहुत अच्छा होगा' ऐसा बोलनेवाले वे लोग हैं। क्यों? इसका कारण यह है कि समाज-संस्था में गृहसंस्था एक खाना *(pocket)* है। ये *pockets* खड़े होने से समाज-संस्था को तकलीफ होती है। 'यदि तुमको समाजवादी पद्धति *(Socialist pattern)* अपनानी है तो कुटुंब, परिवार-संस्था को जड़ से उखाड़ना होगा, गृहसंस्था जितनी शीघ्र नष्ट होगी उतना अच्छा' ऐसा वे कहते हैं।

गृहसंस्था में मनुष्य आत्मकेन्द्रित- *egocentric* बनता है। उसके कारण मनुष्य व्यक्तिवादी होता है और वह समाज के लिए हानिकारक है। समाजधारण समाजव्यवस्था, समाज-संस्था टिकाने के लिए गृहसंस्था का बलिदान देना पड़ा तो वह देना चाहिए ऐसी उनकी मान्यता है।

कोई भी संस्था टिकेगी या नष्ट होगी इसका विचार करने की एक पद्धति है। गृहसंस्था प्राचीन, पुरातन है। जिस कारण से संस्था अस्तित्व में आयी, वह कारण यदि अविनाशी होगा तो वह संस्था अविनाशी रहेगी, टूटेगी नहीं! अब गृहसंस्था की नींव में कारण कौन सा है? गृहसंस्था निर्माण होने के तीन कारण होने चाहिए। उनमें दो कारण माने जाते हैं और तीसरे कारण का विचार हमें स्वाध्याय में करना है। प्रथम कारण है, समागम- सुख की अभिलाषा, दूसरा कारण है प्रजानिर्मिति का सुख और तीसरे कारण का हमें विचार करना है।

पुराने लोग 'शारीरिक सुख' यह शब्द उच्चारते ही गुस्से हो जाते थे। सनातनी वृत्ति से विचार करने वाले लोग सनातनी ही हैं। उसमें कुछ लोग बिना सोचे ही बोलनेवाले होते हैं और कुछ लोग सोचकर विचार करनेवाले होते हैं। बिना सोचे ही विचार करनेवाले सनातनी लोग शारीरिक सुख को घृणास्पद, लज्जास्पद व निंदनीय मानते हैं। स्त्री समागम निंदनीय है, अपवित्र है, इतना ही नहीं, बल्कि उसकी इच्छा निर्माण होना भी पाप है ऐसी एक विचारधारा समाज में दृढ़ होती है। ईसाई लोगों ने तथा बुद्ध ने भी इस विचारधारा को प्रधानता दी है। ईसाई धर्म तो संन्यासी धर्म है। वह अगतिकता से कुछ बातें स्वीकारता है, दूसरा कुछ नहीं। प्रजोत्पादनार्थ मजबूरी से स्त्री-समागम स्वीकारना चाहिए ऐसा वे लोग मानते हैं।

हमारे देश में बीच में एक ऐसा काल आया था जिसमें '....स्त्री ताड़न के अधिकारी...' ऐसा मान्यता आयी थी। उसमें स्त्रियों का अधिकार खत्म कर दिया गया था। वैदिक विचारों की पकड़ *(grip)* छूट गयी और इस पौराणिक विचार को ही लोगों ने पकड़ रखा कि प्रजात्पादनार्थ स्त्री-समागम का स्वीकार करना चाहिए। **प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः** इस मान्यता के आधार पर ही हाईकोर्ट व सुप्रीमकोर्ट निर्णय देते हैं। नवयुवकों को केवल प्रजोत्पादन *(Procreation)* मान्य नहीं था। वे मनोरंजन *(Recreation)* मानते थे। गृहसंस्था यह मनोरंजन के लिए है ऐसा वे मानते थे। पुराने लोग **प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः** मानते हैं। आज के नवयुवक कैसे बिगड़ गये हैं इस सन्दर्भ में पुराने लोग कालिदास का श्लोक उधृत करते हैं—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।। (रघुवंश १-७)

सत्पात्र को दान देने के लिए धन इकट्ठा करने वाले, यश के लिए विजय चाहने वाले, सत्य के लिए मितभाषी और सन्तान के लिए विवाह करनेवाले... वे कहते हैं कि प्रजनार्थ गृहसंस्था थी।

मैंने उनसे कहा कि तुम्हारे विचार के लिए तुम कालिदास का आधार लेते हो, परन्तु उसी कालिदास ने आगे लिखा है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।। (रघुवंश १-८)

(बचपन में समस्त विद्याओं का अभ्यास करनेवाले, युवावस्था में भोग की अभिलाषा रखनेवाले, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति रखनेवाले और अन्त में योग से शरीर-त्याग करनेवाले...।)

क्या यह तुमने नहीं पढ़ा है? उसको लगा कि कहाँ से शास्त्रीजी के सामने यह विषय उठाया!

प्रथम बात यह है कि विषयानंद सुख का उत्तम प्रकार और प्रजोत्पादन गौण, मजबूरी से स्वीकारना चाहिए ऐसा नये लोग कहते हैं। नये लोग निर्भयता से कहते हैं कि 'पुराने लोग अगतिकता से स्त्री-समागम को मान्यता देते हैं। कौटुंबिक जीवन गौण माना जाता है यह दुःख की बात है। गृहसंस्था में केवल प्रजोत्पादन *(procreation)* ही नहीं है, उसमें मनोरंजन *(Recreation)* भी है। **'मनोरंजनाय गृहमेधिनाम्'** होना चाहिए। इस प्रकार एक वर्ग कहता है, 'विषयानंद या समागम का आनंद प्रमुख है और प्रजोत्पादन गौण है।' दूसरा वर्ग कहता है, स्त्री- समागम प्रजोत्पादन के लिए मजबूरी से स्वीकारना चाहिए। सभी लोग विवाह करते हैं, विवाह किये बिना किसी का नहीं चलेगा इसलिए विवाह करते हैं, परन्तु विवाह करना अच्छी बात नहीं है ऐसी एक आध्यात्मिकता आ गयी है। पारिवारिक जीवन *(Family life)* जीने वाले लोगों के मन में एक अपराधी मनोवृत्ति रहती है कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी संन्यासी हम से अधिक महान् कहे जाते हैं। वे आध्यात्मिक हो सकते हैं, हम कैसे आध्यात्मिक हो सकते हैं? हम तो संसारी हैं! इस प्रकार वे संसार (पारिवारिक जीवन) को गौण मानते हैं। यह विचारधारा गृहसंस्था को हिला रही है। यदि गृहसंस्था को अस्वीकार करना उच्च होगा तो विवाह करना ही मना करो।

हमारे वैदिकों ने, ऋषियों ने गृहसंस्था को पवित्र मानकर उसका आग्रह रखा है। इतना ही नहीं, उन्होंने निश्चित किया कि गृहस्थाश्रम लेने के बाद ही संन्यास लिया जा सकता है। गृहस्थाश्रम का स्वीकार किये बिना ही यदि सीधे संन्यासाश्रम का स्वीकार किया तो वह अधार्मिक है। इसीलिए तो श्रीमदाद्य शंकराचार्य को कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। गृहस्थाश्रम का स्वीकार किये बिना तीन ऋणों से मुक्त नहीं हुआ जाता और **ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य** हुए बिना संन्यास नहीं लेना है। आज यह धारणा बन गयी है कि जो विवाह करता है वह भौतिक है। जरूर इसमें रहा हुआ व्यक्ति भौतिकता की ओर खींचा जाता है, परन्तु गृहस्थाश्रम त्याज्य, निंदनीय नहीं है।

विषयानंद की लज्जास्पदता निकालकर उसको प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। उस पर प्रतिष्ठा का सिक्का बिठाना चाहिए। ऐसा सिक्का भगवान श्रीकृष्ण ने लगाया है। कोई भी तत्त्वज्ञ या तत्त्वज्ञानी अपनी छाती पर हाथ रखकर हिम्मत से जो नहीं कह सका वह बात कृष्ण भगवान ने हिम्मत से गीता में कही है- **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ-।'** धर्म को अविरुद्ध ऐसा 'काम' मैं हूँ ऐसा कहकर काम को प्रतिष्ठा दी है। भगवान श्रीकृष्ण ने वैदिक तत्त्वज्ञान ही कहा है।

जब तक काम को निंदास्पद व त्याज्य समझेंगे तब तक मनोवृत्ति विकृत बनेगी। गृहसंस्था में मनोवृत्ति दृढ़ होनी चाहिए। 'मैं कुछ कम हूँ, अध्यात्मिकता में भी मैं कुछ कम

हूँ' ऐसी मनोवृत्ति निर्माण होती है और ऐसी मनोवृत्ति बेकार है, इससे गौणत्व आता है। गृहसंस्था में जो निंदास्पदता व अनाध्यात्मिकता लगती है वह निकाल देंगे तो प्रेम और भावना से दो जीवों का समरस होना संभव है। वास्तव में स्त्री-समागम अथवा गृहसंस्था केवल भौतिक नहीं है, वह आध्यात्मिकता में भी बाधारूप नहीं है। हमारा एक भी ऋषि ऐसा नहीं थे कि जिसकी पत्नी नहीं थी। क्या उनकी समाधि नहीं लगी? क्या उनको मुक्ति नहीं मिली? उसमें धोखा जरूर है, इसीलए **'धर्माविरुद्धो भूतेषु'** कह रखा है। इसका अर्थ छूट नहीं है, परन्तु वह निंद्य नहीं है, त्याज्य नहीं और तिरस्करणीय भी नहीं है।

'मैं गृहस्थाश्रमी हूँ इसलिए आध्यात्मिकता की दृष्टि में हलका हूँ' यह भावना यदि दृढ़ हो जायेगी तो वह गृहस्थाश्रम के लिए घातक बनेगी। इसके विपरीत, वैदिक ऋषियों ने विवाहसंस्था को महत्त्व दिया है और उसका बहुत मूल्य खड़ा किया है। **'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य'** - तीन ऋणों में से मुक्त हुए बिना सामान्य मनुष्य संन्यासी नहीं बन सकता। ऐसा आग्रह रखा है। यह विचार करने जैसी बात है।

'मैंने गृहस्थाश्रम स्वीकारा है इसलिए अध्यात्म में गौण हूँ, मुझे विवाह करना पड़ा इसलिए मैंने विवाह किया, सब लोग विवाह करते हैं इसलिए मैंने भी किया, मैं परिवार चलाता हूँ इसलिए कुछ कम हूँ, गौण हूँ,' ऐसा मानना बेकार है। 'मैं गौण हूँ, मुझमें कमी है' ऐसा मानने में पतन होने का संभव है और विवाह न करना यानी परिवार का स्वीकार न करने में भी पतन संभव है। दोनों में पतन संभव है। इसलिए बुद्धि स्थिर रखकर भगवान कहते हैं, वैसा **'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित: सततं भव'** ऐसा बनना चाहिए। भगवान कृष्ण ने छाती पर हाथ रखकर कहा है, **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'** विवाहसंस्था सब स्वीकारते हैं, स्वीकारनी चाहिए, सबको मान्य है उसको गौणत्व क्यों दिया जाता है? यह बेकार बात है। उसमें मानवता का कल्याण नहीं है। हमें एक व्यक्ति का विचार नहीं करना है, समस्त मानवजाति के सम्बन्ध में विचार करना है।

गृहसंस्था के लिए उनका दूसरा तत्त्व है- सुप्रजानिर्मिति। यह तत्त्व स्वीकार करेंगे तो उम्र, आरोग्य और कर्तृत्व का विचार करना पड़ेगा और विवाह के लिए अनुमति *(permit)* या प्रमाणपत्र की आवश्यकता पड़ेगी। वह धार्मिक अनुमति *(Permit)* होगी। बिना अनुमति के विवाह नहीं कर सकेंगे। पुराने समाज में वैसा था। इसीलिए रघुराजा कौत्स से पूछता है—

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते।। (रघु ५/१०)

(तुमसे प्रसन्न होकर क्या महर्षि वरतन्तु ने तुम्हें अच्छी तरह शिक्षा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए अनुज्ञा दी है? कारण सभी आश्रमों में उपकारक्षम तो गृहस्थाश्रम है उसमें प्रवेश करने का यही समय है।)

इस प्रकार विवाह के लिए ऋषि की- गुरु की आज्ञा लगती थी। इसलिए सुप्रजा-निर्मिति का तत्त्व स्वीकार करेंगे तो सौ में से दस को विवाह करने की छूट मिलेगी, उससे अधिक नहीं।

विकारशमन और सुप्रजानिर्मिति इतना ही गृहस्थाश्रम का अर्थ नहीं है। वह एक मानसिक आवश्यकता है। केवल अपने ही सुख दु:ख की चिन्ता न कर, मेरे उत्कर्ष में आनंद मनाने वाला, मेरे अपकर्ष में दु:ख माननेवाला, मेरे सुख दु:ख में भाग लेनेवाला, मैं मर गया तो जिसको अपना जीवन व्यर्थ लगेगा ऐसा, मुझ में और मेरे भाव में समरस होनेवाला एक व्यक्ति मेरे साथ है यह एक पराकाष्ठा का आनंद है। उससे मन को पुष्टि मिलती है। 'मैं किसी का हूँ।' या 'मैं किसी की हूँ' यह आनंद की बात है। अपने पर किसी का अनन्य प्रेम है यह कल्पना ही सुख देनेवाली है।

बिना मनोमिलन के शरीरमिलन यह वेश्यावृत्ति *(prostitution)* होगी। परन्तु शरीर मिलन के बिना मनोमिलन करना सामान्य लोगों के लिए अशक्य है। मनोमिलन करना यह तो महापुरुषों को ही शक्य है जो **मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्-** हजारों में से एकाध को ही शक्य है। श्री मदाद्य शंकराचार्य जैसे तो वृक्ष पर भी वात्सल्य की वर्षा कर सकते हैं। सामान्यों के लिए वह शक्य नहीं है। इसलिए अनन्यता होनी चाहिए। इसके लिए मेरे सुख दु:ख, उत्कर्ष-अपकर्ष में मेरे साथ कोई है, मेरी मृत्यु पर अपना जीवन व्यर्थ माननेवाला कोई है, यह कल्पना मनुष्य को आनंद देती है।

पारिचारिका रोगी बनने पर मेरी देखभाल करती है, परन्तु अस्पताल में जो दूसरे पचास रोगी हैं उनका भी ख्याल वही रखती है। अत: उसमें वह आनन्द निर्माण नही होता। कदाचित् नर्स पत्नी से भी अधिक देखभाल करती होगी, परन्तु मैं देखता हूँ कि वह दूसरे पचासों की भी देखभाल करती है। मानवी जीवन में अपने पर किसी का अनन्य प्रेम है यह आवश्यक बात है, इसीलिए मानवी जीवन में गृहस्थाश्रम का स्वीकार आवश्यक है।

बिना गृहस्थाश्रम के संन्यास लेना अधार्मिक है ऐसा वैदिकों ने कहा है। विवाहसंस्था पर अनाध्यात्मिकता की मुहर लगी है इसलिए कोई विवाह करना नहीं छोड़ता है। सभी विवाह करते हैं, परन्तु विवाह को गौण मानते हैं। 'हम परिवार चला रहे हैं यानी गौण बात कर रहे हैं' ऐसी एक छुपी अपराधी मनोवृत्ति मनुष्य के मन में रहती है। गृहसंस्था में यह बात सुरंग लगाती है।

दूसरी सुरंग समाजवादी विचारधारा की है। वे कहते हैं कि अनन्य सामान्य प्रेम यह परिभाषा *(terminology)* ग़लत है। अनन्य प्रेम की भाषा आयी कि मत्सर और असूया निर्माण होती है। एक फूगेल *(Fuigel)* नाम का चिन्तक है जिसने *Men and their motives* नाम की पुस्तक लिखी है। वह पढ़ने जैसी है। उसका कहना है कि स्वातंत्र्य व समता का आपने स्वीकार किया कि मत्सर व असूया को स्थान नहीं रहता और अनन्य प्रेम में तो मत्सर और असूया को ही स्थान मिलता है, अत: वह बेकार है।

विवाह सभी करते हैं, गृहस्थाश्रम भी करते हैं, इतना करने से नहीं चलेगा। गृहस्थाश्रम का कारण, उसकी महत्ता, उसको लगी हुई सुरंगें आदि सब बातों का विचार करना पड़ेगा। केवल विवाह के लिए एकाध कार्यालय तय कर दिया कि बहुत बड़ा काम

किया ऐसा नहीं है। मूलभूत प्रश्न का विचार करना होगा। गौणत्व की भावना आती है यह एक हथियार है और स्वतंत्रता, समता की भाषा बोलने के बाद अनन्य प्रेम की बात व्यर्थ है यह दूसरा हथियार है। ये दोनों गृहस्थाश्रम की संस्था को सुरंग लगाते हैं। फुगेल *(Fuigel)* कहता है कि स्वतंत्रता और समता का स्वीकार करने पर किसी भी व्यक्ति को प्रेम करने का अधिकार है। प्रेम करूँगा, उसमें क्या है? यदि मुझे वह अधिकार नहीं होगा, एक ही स्थान पर प्रेम करना चाहिए ऐसा होगा तो वह स्वतंत्रता कहाँ रही? समता कहाँ रही? रूस जैसे देश में यह मार्क्सवादी विचारधारा नहीं है, परन्तु उसके साथ में दौड़नेवाली विचारधारा है। इसीलिए प्रारंभ में ही उन्होंने गृहसंस्था को तोड़ा। बाद में अगतिक बनकर उस संस्था को फिर से स्वीकार किया। इस प्रकार विचारों में चढ़-उतार हो गया, कारण मानव पर एक प्रयोग चलता था। परन्तु जिस प्रयोगशाला में यह प्रयोग हो चुका है वहाँ कूड़ा लाने की क्या आवश्यकता है? इस देश में विचारकों और चिन्तकों ने यह प्रयोग किया है।

'प्रत्येक व्यक्ति को किसी भी व्यक्ति पर प्रेम करने का अधिकार है' यह विचार कोई सामान्य बात नहीं है। बहुत विचार करने जैसी यह बात है, यह गंभीर विषय है। विवाह होते हैं, प्रजोत्पादन होता है इतना बोलना पर्याप्त नहीं है। मानव जीवन की सभी भावनाओं को देखना पड़ेगा और बौद्धिक दृष्टि से उनका विचार करना पड़ेगा।

इस प्रकार गृहसंस्था को दो सुरंगें लगी हैं। अनन्य प्रेम की भाषा बोलते हैं तो दूसरे पर प्रेम करने की छूट नहीं है। एक बार भूल हो गयी (विवाह किया) तो अन्त तक निभाना ही पड़ेगा। भूल हो गयी, परन्तु अरे! तुझसे भूल हो गयी तुझसे ही क्यों? दोनों से भूल हुई है। जिसने तेरे साथ विवाह किया उससे भी भूल हुई है। दूसरी बात, 'भूल हुई है' ऐसा तुझे ही लगता है, दूसरे को नहीं! इस प्रकार मानसशास्त्र की दृष्टि से उस पर बहुत विचार करना पड़ेगा।

इस प्रकार उपरोक्त दो सुरंगें होते हुए भी ऋषि गृहसंस्था का आग्रह रखते हैं। केवल ऋषि ही आग्रह रखते हैं, ऐसा नहीं है, अपितु अवतार भी ऐसा आग्रह रखते हैं। कृष्ण भगवान भी कहते हैं कि गृहस्थाश्रम को स्वीकार करना चाहिए। हम कृष्ण भगवान का तुलसी के साथ विवाह कराते हैं और उनको गृहस्थाश्रमी बनाते हैं। ऐसा होते हुए भी हमें अपने विवाह में अनाध्यात्मिकता लगती है।

कृष्ण भगवान ने मानव का मानसशास्त्र देखकर **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'** ऐसा हिम्मतपूर्वक कहा है। विवाह का स्वीकार सभी धर्मों में है, परन्तु वह अगतिकता से है। हमारे यहाँ भी पौराणिक काल आने के बाद विवाह अगतिकता से माना जाने लगा। पौराणिक काल के पूर्व गृहस्थाश्रम की ओर देखने की एक भिन्न दृष्टि थी, भिन्न विचारधारा थी। गृहस्थाश्रम मानव-जीवन विकास के लिए अत्यावश्यक है ऐसा लगता था।

अभी, जो विविध सुरंगें हैं उनमें से उपरोक्त दो सुरंगें गृहसंस्था की नींव को कमजोर बनाती हैं। काम को अपनी विभूति कहने की हिम्मत जिसने की है, वह भगवान नहीं होगा तो कौन होगा? भगवान ही है तथा कृष्ण भगवान ही हैं।

गृहस्थाश्रम का भविष्य क्या है इस सम्बन्ध में शिक्षित तथा चिन्तनशील लोगों को विचार करना चाहिए। वीतराग ऋषि-मुनियों और अवतारों ने गृहस्थाश्रम का जितना आग्रह रखा है, उतना ही आग्रह स्मृतिकारों का भी है। इस गृहसंस्था को परिस्थिति की सुरंगें लग गयी हैं। परन्तु गृहसंस्था को एक आश्रम के रूप में मान्य किया गया है।

गृहसंस्था में अनन्य प्रेम का आग्रह रखा गया है, यह बात समाजवादी विचारकों तथा यूरोपीय चिन्तकों को अच्छी नहीं लगती है, क्योंकि उनकी दृष्टि में इस अनन्य प्रेम के कारण दूसरों के अन्तःकरण में मत्सर व असूया निर्माण होते हैं और समता व स्वतंत्रता में वह नहीं बैठतीं।

फ्युगेल का कहना ऊपर बताया है ही। उसी प्रकार बिलियम लाईव्हड् *((william lived)* की *Sex in civilization* नाम की एक पुस्तक है। वह भी ऐसा ही कहता है कि अनन्यनिष्ठा में स्वार्थ होता है, स्वार्थ का ही विचार है। स्त्री एक वस्तु है और पशुवत् है यह कल्पना आप दृढ़ करते हैं। इसी कारण मत्सर व असूया निर्माण होते हैं। स्त्री में निष्ठा निर्माण करना यह बात ठीक नहीं है। आप उसका प्रेम करने का अधिकार ही छीन लेते हैं। हैवेलोक एलिस *(Hevallock Ellice)* ने भी लगभग ऐसा ही लिखा है। उसकी *Psychology of sex* नाम की पुस्तक आप पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि स्वच्छंद लोगों ने स्वैर विहार *(Free sex)* को, स्वैराचार *(Permissive sex)* को मानव जीवन की आवश्यकता माना है। मैक्डुगल *(MacDugall)* की *character and conduct* नाम की पुस्तक है। उसमें वह लिखता है कि मानसशास्त्रीय दृष्टि से जिस प्रेम की असूया न हो वह गधे का प्रेम है, वह मानव का प्रेम नहीं है। अनन्य प्रेम अथवा निष्ठा की असूया निर्माण होनी ही चाहिए। यदि अनन्य निष्ठा का प्रेम न होगा तो जीवन नीरस, निष्फल और निरर्थक लगेगा। मानव को सुख दुःख में, राग-द्वेष में सहभागी चाहिए। अनन्य निष्ठा इस प्रकार की समरसता निर्माण करती है। सामान्य मनुष्य की दृष्टि में दूसरों के सुख-दुःख में समरस होना कठिन है, वह सन्तों, महापुरुषों के लिए ही संभव है। उनके जैसे अलौकिक पुरुषों की बात भिन्न है। सामान्यों के लिए वह शक्य नहीं है, कारण उनके मन को वैसी शिक्षा दी ही नहीं है। सामान्यों की समरसता समागम में ही होती है ऐसी मान्यता है। मन की भी समरसता होनी चाहिए।

समाज में सुप्रजा होनी चाहिए यह अच्छी बात है। वैसा सुप्रजा होनी चाहिए यह समाज की माँग है, और मेरा पुत्र अच्छा होना चाहिए यह परिवार की माँग है। मगर अभी परिवार को तोड़ने की उन लोगों को कौन सी आवश्यकता लगती है यह समझाता हूँ। परिवार में लड़का गुण, रूप, बुद्धि से कम होगा तो भी 'वह मेरा लड़का है, इसलिए उसके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व मेरा है' ऐसा समझकर उसका पिता उसका उत्तरदायित्व

उठाता है, अपने पुत्र पर धन खर्च करता है। मगर उससे गुण, रूप, बुद्धि में ज्यादा पड़ोसी का लड़का है तो उस पर वित्त का व्यय किया गया तो उसमें समाज का हित समाया हुआ है। इसी कारण परिवार व समाज में विरोध खड़ा हुआ। समाज की इच्छा ऐसी होती है कि समाज में सुप्रजा निर्माण होनी चाहिए, जो भी खर्च करना होगा वह उसी पर होना चाहिए। जो अच्छा लड़का होगा उस पर खर्च करना चाहिए। परिवार की इच्छा होती है कि मेरा जो लड़का है उस पर मुझे खर्च करना चाहिए। वह कम अच्छा होगा तो मैं उसको ज्यादा अच्छा बनाऊँगा। इसी कारण परिवार का एक घटक बन जाता है और उससे समाज का हित खत्म हो जाता है। इसीलिए समाजवादी लोगों का परिवार-सस्था के साथ विरोध है।

समाज की इच्छा है कि अच्छे लड़के पर ही वित्त व्यय होना चाहिए और परिवार की इच्छा है कि 'मेरे लड़के पर वित्त व्यय होना चाहिए। समाज और परिवार की विरोधी इच्छा का समन्वय करने की आवश्यकता है। समाजवादी लोग परिवार तोड़ने के लिए तैयार हैं उसके पीछे उनकी एक धारणा है, केवल स्वच्छन्दता नहीं है। समाज में सुप्रजा निर्माण हुई तो समाज अच्छा होता है। समाज के सामूहिक गुण संभालने होंगे तो समाज में जो अच्छे लगते होंगे उन पर खर्च करना चाहिए। परिवार कहता है, जो मेरा है उस पर मैं खर्च करूँगा। वेदान्त में 'मेरा' शब्द का जिस प्रकार विरोध है, उसी प्रकार समाजवादी विचारधारा में भी 'मेरा' शब्द का जबरदस्त विरोध है। वेदान्त कहता है, यह 'मेरा, मेरा' लेकर क्या बैठा है?' वैसा समाजवादी भी कहते हैं कि यह 'मेरा, मेरा' जब तक भीतर (परिवार में) बैठा है तब तक अच्छे से लगाव नहीं होगा। इसलिए परिवार तोड़ना चाहिए।' परन्तु समाज व परिवार का समन्वय करना पड़ेगा। 'मेरा पुत्र' यह भावाना दृढ़ नहीं होनी चाहिए। रूस के विचारकों को यह बात मान्य नहीं है। वेदान्त व रूस कितने पास आते हैं देखिए। वेदान्त कहता है 'मेरा-मेरा' कहना छोड़ दो। उन्होंने **'मे मे कुर्वाणाः..'** कहकर उपहास किया है।

'मेरा-मेरा' कहने वाले अपना अधःपतन करा लेते हैं। रूस भी यही कहता है। मेरा लड़का या समाज का अच्छा लड़का? व्यय किस पर करना है? 'मेरे' लड़के पर या समाज के अच्छे लड़के पर? समाजवादी विचारक कहते हैं कि इसलिए गृहसंस्था समाज हित को मारती है। इधर गृहसंस्था अध्यात्म में आत्महित, आत्मविकास को मारती है। दोनों विचारधाराएं गृहसंस्था की हत्या करती हैं। उसमें हमें गृहसंस्था के सम्बन्ध में सोचना है। कोलना हाईड *(collon Hyde)* नामक स्त्री लेखिका ने भी उस पर प्रहार किया है। परन्तु उत्कट प्रेम, दया, स्वार्थत्याग का संस्कार गृहसंस्था ही दे सकती है। यदि गृहसंस्था नहीं होगी तो मानवी जीवन पशुवत् बन जायेगा, कारण मन को उत्कट प्रेम करने का भी अभ्यास होना चाहिए। कुछ मिलने पर जो निर्माण होता है वह केवल प्रेम है, परन्तु कुछ मिलेगा या नहीं मिलेगा, फिर भी जो निर्माण होता है उसको 'उत्कट प्रेम' कहते हैं। कुछ मिलने के बाद तो सभी प्रेम करते हैं, मगर उसको उत्कट प्रेम नहीं कहते। कमानेवाला लड़का सभी को अच्छा लगता है' ऐसा व्यवहार में बोलते ही हैं।

उत्कट प्रेम, दया और स्वार्थत्याग ये संस्कार गृहसंस्था ही खड़ी कर सकती है। इसलिए फ्युगेल जैसे लोगों के विचार भी यदि पढ़ेंगे तो भ्रान्त बन जाएंगे। एक बार एक विचार अच्छा लगता है तो दूसरी बार दूसरा विचार अच्छा लगता है ऐसे चंचल विचार के लोग मानव-समाज में कौनसी संस्था खड़ी करेंगे? उत्कट प्रेम, दया, स्वार्थत्याग ये गुण व्यक्ति के जीवन में होने ही चाहिए। ये गुण कौन निर्माण करेगा? यह प्रश्न फ्युगेल को भी पड़ा इसीलिए वह भ्रान्त बना।

पुत्र, कन्या, भाई, पति, पत्नी, बहन, माता, पिता ये सम्बन्ध नहीं होंगे तो जीवन नीरस, निरुत्साही, निराश और कर्तृत्वशून्य बन जायेगा। इसीलिए गृहसंस्था की आवश्यकता है। गृहसंस्था के बिना अपत्य की देखभाल नहीं होगी यह झूठी बात है। बिना गृहसंस्था के भी अपत्य-संगोपन हो सकता है। इतना ही नहीं, अपितु वैद्यकीय दृष्टि से कहूँ तो गृहसंस्था से भी अधिक अच्छा अपत्य-संगोपन हो सकता है। अपत्य-संगोपन को सामाजिक बनाकर वैद्यकीय दृष्टि से अच्छी से अच्छी सेवा-शुश्रूषा *(Treatment)* दी जा सकती है। परन्तु व्यक्ति को पाल-पोसकर बड़ा बनाने के लिए, संस्कारवान बनाने के लिए प्रेमपूर्ण वातावरण की आवश्यकता होती है, यह प्रथम बात है। प्रेमपूर्ण वातावरण निर्माण करने के लिए कुछ चाहिए या नहीं? प्रेमपूर्ण वातावरण में ही व्यक्ति की देखभाल हो सकती है। इसलिए गृहसंस्था की आवश्यकता है।

दूसरी बात, परिवार बनने के बाद प्रतियोगिता निर्माण होती है और प्रतियोगिता में ही विकास है। स्कूल में भी ए और बी *Divisions* करते हैं। यदि स्कूल में विभाग होते हैं वैसी समाज में भी विभाग होते हों तो **किं तव छिन्नम्?** आपका क्या जाता है?

तीसरा हेतु है, अनन्य निष्ठा। समागम और पुत्र यह विवाह की नींव में नहीं है। वह तो विवाह का आनुषंगिक परिणाम *(side effect)* है। जिस प्रकार रोगी को गोली दी जाती है वह नींद की गोली नहीं होती, परन्तु गोली लेने पर नींद आती है, वह आनुषंगिक परिणाम है। पुत्र नहीं हुआ तो भी विवाह सम्बन्ध नष्ट नहीं होता। वैसे ही पति-पत्नी में से कोई बीस साल तक देश के लिए जेल में गया हो, तब समागम सुख नहीं मिलता, फिर भी विवाह-सम्बन्ध नहीं टूटता। गृहसंस्था की नींव में प्रजोत्पत्ति या समागम सुख दोनों नहीं हैं, अपितु मानसिक दृष्टि से अनन्यनिष्ठा व प्रेम ये बातें हैं।

सभी समझते हैं कि गृहसंस्था आवश्यक है, परन्तु हुआ यह है कि जो वैचारिक आन्दोलन चल रहे हैं उनके कारण व्यक्ति इस प्रकार उलझन में पड़ जाता है कि गृहसंस्था की नींव ही हिल जाती है। कुछ देशों में तो वह हिल उठी हैं और कुछ देशों में वह गिर गयी है। गृहसंस्था को नष्ट करना अच्छा नहीं लगता और रखने में दोष आता है ऐसे असमंजस में मनुष्य पड़ा है। गृहसंस्था का तीसरा जो हेतु है वही प्रधान हेतु है इसका कारण वह आध्यात्मिक आवश्यकता है।

भारतीय संस्कृति में तो बिना गृहसंस्था के संन्यास लिया हो तो वह पाप है। बीच में एक ऐसा अंधकारपूर्ण काल आया कि जो परिवार- (संसार) में गिरा नहीं ('गिरा' बोलते हैं) वह महान् माना जाने लगा और जो परिवार में गिरे थे उनमें भी एक प्रकार की अपराधी मनोवृत्ति आ गयी कि आध्यात्मिक दृष्टि में अपना जीवन गौण है, प्रधान नहीं है। इसी कारण **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि'** ऐसा कहने वाले भगवान श्रीकृष्ण के पग चूमने को मन होता है। समाज की आवश्यकता का यदि किसी तत्त्वज्ञानी को पता होगा तो वह केवल श्रीकृष्ण भगवान को ही था, दूसरे किसी को नहीं। दूसरे सब प्रत्याघाती- *Reactionaries* -थे, चिन्तक नहीं थे। जो प्रत्याघाती होते हैं वे कभी चिन्तक नहीं बन सकते।

रूस के बारे में कितने ही लोग कहते हैं कि 'वहाँ विवाह का पंजीकरण *(Registration)* करने की आवश्यकता नहीं है। किसी ने विवाह किया है या नहीं इससे समाज को क्या लेना-देना है? वह व्यक्तिगत *(personal)* मामला है। इसलिए संस्कार की भी आवश्यकता नहीं, परन्तु सरकारी तौर भी पंजीकृत कराने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार विवाह संस्था को खत्म कर दिया है। वहाँ विवाह विच्छेदन आसानी से हो सकता है। स्वैराचार और भ्रष्टाचार से भरा हुआ रूस देश है।' कितने ही लोगों की वैसी मान्यता भी हो गयी है। हमारे यहाँ लोग ऐसा कुछ लिखते हैं, वे दूर रहकर लिखते हैं कि रूस स्वैराचार और भ्रष्टाचार से भरा हुआ देश है। जैसा मिस् मेयो ने हिंदुस्थान के सम्बन्ध में *Mother India* नाम की पुस्तक में लिखा है वैसा ही यह लेखन है। *Mother India* पुस्तक पढेंगे तो आपको पता चलेगा कि कितने जंगली देश में हम पैदा हुए हैं! उपरोक्त लेखन अतिरेकी विरोध के कारण लिखा गया है। दूर-दूर से लिखा हुआ लेखन पढ़कर हमारी भी वैसी मान्यता बन जाती है।

Factory, Family and woman in soviet Russia,...Marriage and Morals in Soviet Russia नाम की लुईस स्ट्राँग की तथा विथ्रोफिल्ड की *'Protection of women and children in Soviet Russia* नाम की पुस्तकें पढ़ेंगे तो स्वैराचार को तो पता चलेगा कि वहाँ उत्तेजन है ही नहीं, परन्तु एकनिष्ठा और आत्मनिग्रहता के वे लोग हिमायती लगते हैं, परन्तु वे उलझन में पड़े हुए हैं ऐसा लगता है। पुराना नहीं छोड़ सकते हैं और नया भयंकर लगता है। पशु का जीवन इससे दूसरा नहीं होगा ऐसा लगता है। लुईस स्ट्राँग तो कहता है कि स्वैराचारी को तो पोलिट ब्यूरो में से निकाल देते हैं। इतना ही नहीं, अपितु भूल से भी किसी स्त्री के साथ समागम हो गया तो अदालत उस स्त्री को जीवन भर पैसा दिलवाती है। इस प्रकार वहाँ स्वैराचार लगभग असंभव कर दिया है। जीवनभर उसको स्त्री का गुलाम बनना पड़ता है। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि वहाँ उन्होंने स्वर्ग निर्माण किया है। मुझे इतना ही कहना है कि जीवनविकास करने के लिए अनन्य प्रेम व एकनिष्ठा की आवश्यकता उनको लगती है। परन्तु पुराना मार्ग अच्छा नहीं लगता व नया मार्ग नहीं मिलता ऐसी उनकी स्थिति है। सत्तर प्रतिशत लोग आत्मनिग्रह और एकनिष्ठा के हिमायती हैं।

गृहसंस्था डुबाने का प्रयत्न चल रहा है और वह डूब भी गयी है ऐसा कहते हैं, परन्तु गृहसंस्था नहीं डूबेगी कारण वह मानवी स्वभाव से संबन्धित है। तौर-तरीकों में फ़र्क़ आयेगा तो हम समझ सकते हैं।

भ्रान्त वेदान्त ने गृहसंस्था पर प्राणघातक हमला किया है। स्रज चन्दन वनिता आदि विषयों से दूर रहना चाहिए ऐसी भ्रान्त वेदान्त की मान्यता है। गृहस्थाश्रमी से संन्यासी श्रेष्ठ है ऐसी आज भी मान्यता है। संन्यासी श्रेष्ठ क्यों? तो उसने गृहस्थी नहीं की इसलिए! भारतीय संस्कृति व अध्यात्म में इसका कुछ भी मूल्य नहीं है। भ्रान्त बने हुए लोग उसको महत्त्व देते हैं। भ्रान्त अध्यात्म ने प्रत्येक व्यक्ति में आज गौणता पैदा की है। यहाँ बैठे हुए आप सभी लोग पारिवारिक हैं, परन्तु आप सभी के मस्तिष्क में, 'गृहस्थ स्वीकार किया है इसलिए हम गौण हैं' ऐसी एक बात दृढ़ हो गयी है। आपको लगता है कि हम अध्यात्म के योग्य नहीं है। परिवार का स्वीकार न करके जो लोग हरिद्वार कनखल में जा बैठे हैं उनसे अध्यात्म साधा जाता है ऐसा आपको लगता है। परन्तु हमारा एक भी ऋषि ऐसा नहीं था कि जिसकी पत्नी नहीं थी।

भ्रान्त विचारधारा ने विषय सुख को निंद्य माना है, यह जितना बुरा है उससे भी अधिक विषय-सुख का ज्ञान बचपन से सबको देना चाहिए ऐसा कहनेवाले लोग खराब हैं। विषय-सुख निंद्य मानना बुरा है वैसे ही विषय-सुख का ज्ञान प्रारंभ से ही सबको देना यह भी बुरा है। ये लोग विवाह विच्छेदन करने वाले लोग हैं। ये दोनों लोग गृहसंस्था के हत्यारे हैं। आज ऐसी परिस्थिति निर्माण हुई है जिससे गृहसंस्था की नींव ही हिल गयी है।

रसेल ने कहा है कि स्त्री के लिए संरक्षण की आवश्यकता है, कारण स्त्री शरीर से भी दुर्बल है। कुछ भी अत्याचार हुआ तो स्त्री को ही सहन करना पड़ता है। इसलिए उसको संरक्षण की आवश्यकता है। यदि स्त्री को संरक्षण की आवश्यकता है तो उसको पारतंत्र्य क्यों? जिसको रक्षण दिया जाता है उसको परतंत्र ही बनना पड़ता है, ऐसी उनकी मान्यता है, परन्तु यह मान्यता झूठी है। मजदूरों को भी संरक्षण दिया जाता है क्योंकि वे भी दुर्बल हैं। परन्तु उनकी स्वतंत्रता नहीं छीनते हैं। उसी प्रकार स्त्री रक्षणीय होने से परतंत्र है ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरी बात, स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता मिल जाने पर गृहसंस्था हिल गयी है ऐसा लोगों को लगता है। स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता गृहसंस्था को खत्म करती है यह मान्यता मिथ्या है। कानूनन विवाह विच्छेद, *Time marriages, permissive sex,*- पुनर्विवाह, स्वैराचार आदि गृहसंस्था के घातक हैं। परिवार नियोजन *(Family planning)* भी गृहसंस्था की घातक है। स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता चाहिए या नहीं? चाहिए! क्यों नहीं चाहिए?

स्त्री को स्वतंत्र रीति से कमाना चाहिए या नहीं? समाज में तीन प्रकार के लोग होते हैं। श्रमजीवी वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग और सुखजीवी लोग। यह आर्थिक स्वतंत्रता का प्रश्न किसका है? हमारे इधर किसान खेती में काम करता है उसके साथ उसकी पत्नी भी काम करती है।

श्रमजीवी वर्ग में आर्थिक स्वतत्रता का प्रश्न ही नहीं है, उसको कमाना ही पड़ता है। श्रमजीवी स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता है ही। सुखजीवी वर्ग का विचार ही छोड़ दो। तीसरा बुद्धिजीवी यानी मध्यम वर्ग *(Middle class)* संपूर्ण समाज का मेरूदण्ड है। यदि बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग खलास हुआ तो संपूर्ण समाज खत्म हो जायेगा। कोई भी निष्ठा नहीं रहेगी। मध्यम वर्ग को सँभालना पड़ेगा। मैं मध्यम वर्ग के लिए 'बुद्धिजीवी' शब्द प्रयुक्त कर रहा हूँ। वह 'मध्यम वर्ग' का प्रतिशब्द है।

जो श्रमजीवी हैं उनमें तो स्त्री कमाती ही है। आज से नहीं, पुराने जमाने से वह कमाती है। जो सुखजीवी हैं उनकी बात छोड़ देनी है। आर्थिक स्वतंत्रता का प्रश्न खड़ा किया जाता है, दस प्रतिशत बुद्धिजीवी- मध्यम वर्ग की स्त्रियों के लिए। मध्यम वर्ग समाज का मेरूदंड है। संस्कार और भाव संभालने का, बढ़ाने का प्रयत्न कोई करेगा तो यही वर्ग करेगा। मध्यम वर्ग की स्त्री को कमाना चाहिए या नहीं? चाहिए, परन्तु उसको घर में काम दो। वह घर में कर सकेगी ऐसा काम उसको दो। उसको मजदूर मत बनाओ, किसी का नौकर न बनाओ। वह पति की पत्नी रहेगी और परिवार सँभालकर कमानेवाली स्त्री होगी। वह कहाँ कमायेगी? उसको घर में काम दो। ऐसे कितने ही काम हैं कि जिन्हें वह घर में बैठकर कर सकती है। जिससे बच्चों की देखभाल और घर-गृहस्थी का काम सँभालकर प्रतिदिन चार घण्टे दूसरा काम करके पैसा कमा लेगी। यह रास्ता सरकार को स्वीकारना चाहिए। इसीको गृह-उद्योग *Home Industries* कहते हैं। परन्तु गृह उद्योग गृह के बाहर हो गये हैं। कहते हैं गृह उद्योग, परन्तु वह होता है घर के बाहर! इसी का नाम है कलियुग! जैसा बोलते हैं वैसा नहीं होता, उसको कलियुग कहते है। बाहर लेबल पर जैसा लिखा हुआ होता है वैसा माल अन्दर नहीं होता। बाहर लिखा होता है एक और अंदर माल होता है दूसरा ही। इसी का नाम कलियुग है। इसके सम्बन्ध में विचार करना पड़ेगा।

उसके बाद विवाह विच्छेद का प्रश्न है, सन्तति-नियमन का प्रश्न है, स्वैराचार *(Free and permissive sex)* आदि के प्रश्न हैं। जैसे कि इसके पहले बताया है कि विषय-सुख का ज्ञान प्रारंभ से ही सबको मिलना चाहिए, यह बोलना बहुत बुरा है। इससे गृहसंस्था टूट जायेगी। यदि गृहसंस्था टूट गयी तो मानव पशु तुल्य बनेगा। मानव का पोषण ही नहीं होगा। केवल वैद्यकीय दृष्टि में ही पोषण नहीं होता, उसके पीछे मानव प्रेम की आवश्यकता होती है। प्रेम के वातावरण में ही मानवी सन्तान का पालन-पोषण होता है। इसलिए परिवार में भाव व धर्म बढ़ाना पड़ेगा। उसी प्रकार, गृहसंस्था अध्यात्म को घातक नहीं है यह निश्चित करना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति को कहना पड़ेगा कि परिवार आध्यात्मिक दृष्टि से एक अत्यावश्यक बात है। जो परिवार नहीं बनाता है वह डरकर भागकर आया हुआ मनुष्य है, उसको हम आध्यात्मिक श्रेष्ठता नहीं देंगे। वह अपना विकास नहीं कर पायेगा। किसी पर वह वात्सल्य की वर्षा नहीं कर सकेगा। उसकी आँखों में वात्सल्य, आत्मीयता देखने को नहीं मिलेगी। वह अकेला ही रहेगा।

इसलिए परिवार में भाव और प्रेम बढ़ाने होंगे। स्त्री-पुरुष में केवल सख्यभाव नहीं, अपितु भक्तिपूर्ण सख्यभाव बढ़ना चाहिए। सख्यभाव तो होना ही चाहिए। पत्नी पति की गुलाम

नहीं है। गृहसंस्था में भक्तिपूर्ण सख्यभाव होना चाहिए। उसके लिए प्रत्यत्न करने चाहिए। उसके लिए वैसी शिक्षा देनी चाहिए।

समाजवादी विचारधारा परिवार को खत्म कर रही है। वह परिवार व समाज में संघर्ष *(conflict)* निर्माण कर रही है। इसलिए उन दोनों का समन्वय होना चाहिए। परिवार को देखनेवाला क्या केवल परिवार का ही हित देखेगा? परिवार के साथ उसको समाज का भी हित देखना पड़ेगा। इसलिए कुछ वर्षों तक परिवार को देखने वालों को संस्कृति ने बाहर निकाला और उनसे कहा, 'यह है वानप्रस्थाश्रम!'

आश्रम-व्यवस्था को ऋषि और अवतार बहुत महत्त्व देते हैं। उससे मानवजाति प्रभावी, संस्कारयुक्त और भावपूर्ण बनेगी। उसके लिए गृहस्थाश्रम में भक्तिपूर्ण सख्य होना चाहिए। यह ज्वलन्त प्रश्न है और उसके सम्बन्ध में विचार करना ही चाहिए। लोगों को लगता है कि एकाध पीढ़ी में गृहसंस्था जड़ से उखड़ जायेगी, परन्तु मुझे वैसा डर नहीं लगता। जिसकी अत्यन्त आवश्यकता है, जिसको अवतारों और ऋषियों ने सँभाला है, जिसकी मानसशास्त्र की दृष्टि से माँग है वह गृहसंस्था टूटेगी कैसे? परन्तु उसको आज तोड़ने का प्रयत्न चल रहा है। वह प्रयत्न कदाचित् जान बूझकर नहीं, अनजाने में भी होता होगा, परन्तु वह हो रहा है यह सत्य है।

गृहस्थाश्रम अत्यन्त पवित्र आश्रम है। अध्यात्म के लिए उसकी नितान्त आवश्यकता है, यह बात मस्तिष्क में दृढ़ करनी चाहिए। परिवार न बनानेवाले विवेकी पुरुषों को श्रेष्ठ नहीं मानना चाहिए, अन्यथा गृहसंस्था गौण ही रह जायेगी। अन्य सभी आश्रमों का आधार गृहस्थाश्रम को माना है। वह मानवजाति का आधार माना गया है। वह केवल प्रजोत्पत्ति के लिए नहीं है, वह मानवजाति के विकास के लिए है और व्यक्तिगत विकास के लिए भी आवश्यक है। गृहस्थाश्रम से व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास नहीं रुकता है। गृहस्थाश्रम के भविष्य के सम्बन्ध में शान्तिपूर्वक सोचना पड़ेगा। समाजहित और व्यक्ति के उत्थान का समन्वय साधना होगा। जो इस प्रकार का समन्वय साध सकता है वही समाजशास्त्री बन सकता है, वही समाज को मार्गदर्शन कर सकता है। यह साधनेवाले ऋषि थे, अवतार थे।

गृहस्थाश्रम का स्वीकार करना ही चाहिए। उस पर प्रथम प्रहार भ्रान्त वेदान्त का है। वह गृहस्थाश्रम को निंद्य ठहराता है। वह गृहस्थाश्रम को अस्वीकार्य नहीं ठहराता, परन्तु गौण ठहराता है। दूसरा प्रहार समाजवादी विचारधारा का है। वह समझता है कि गृहस्थाश्रम-परिवार समाजोन्नति में बाधा डालता है। तीसरी बात, सामाजिक परिवर्तन भी गृहस्थाश्रम की नींव हिलाता है। विवाह-विच्छेद, पुनर्विवाह, सन्तति-नियमन, गर्भपात *(abortion)* का कानूनी कारण, स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता, आदर्श गृहसंस्था की नींव दुर्बल बनाते हैं। परिणामस्वरूप स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध दिन-प्रतिदिन नाजुक बनता जा रहा है। इसमें दो विस्फोटक *(explosive)* साथ में रहने की कोशिश करते हैं ऐसा लगता है। यह परिस्थिति की एक चुनौती *(challenge)* है। परिस्थिति का परिवर्तन अपरिहार्य है, परन्तु उससे गृहसंस्था की नींव कमजोर नहीं होनी चाहिए यह चुनौती है। इसकी एक ही औषधि है, वह है धर्म!

धर्म में कर्मकाण्ड एक आवश्यक बात है, यह समझ लेना है, 'परन्तु धर्म को केवल कर्मकाण्ड में ही मग्न नहीं होना चाहिए।' केवल मन्दिर व चर्च में ही बंधा हुआ धर्म किसी काम का नहीं है। जो धर्म अस्मिता तथा भावजागृति करेगा वही धर्म होना चाहिए। भावजागृति और भोगों का नियंत्रण करना धर्म का काम है। जिस धर्म के प्रतिपादन से सृष्टि के प्रति, व्यक्ति, परिवार, समाज के प्रति भाव कम होता होगा वह धर्म, धर्म नहीं है। धर्म में अस्मिताजागृति प्रथम बात है। अस्मिता जागृत करने वाला धर्म किसी भी भाषा में हो उसे हम स्वीकारने के लिए तैयार हैं।

अस्मिता में तीन बातें आती हैं। आत्मविश्वास *(self-confidence)* आत्मरक्षण *(self-resistance)* और आत्मसम्मान *(self-respect)*। ये तीन बातें होंगी तो व्यक्ति दुर्गुणों के साथ लड़ सकेगा और सद्गुण उठा सकेगा। व्यक्ति में अस्मिता होनी चहिए, परन्तु केवल अस्मिता ही होगी तो मनुष्य राक्षस बनेगा। इसलिए उसमें भावजागृति भी होनी चाहिए। ये दोनों जो निर्माण करता है, वही धर्म है। स्त्री और पुरुष दोनों की अस्मिता जागृत होनी चाहिए। दोनों में से एक गिर जायेगा तो फिर व्यक्ति की उन्नति असंभव है। दोनों एक दूसरे की ओर भाव की दृष्टि से देखेंगे ऐसी भावजागृति आवश्यक है यह भावजागृति निर्माण करने का काम धर्म का है। इसलिए आज धर्म की नितान्त आवश्यकता है। मुक्ति के लिए अथवा मरने के बाद कुछ मिले इसलिए धर्म की आवश्यकता है यह अलग बात है, परन्तु लौकिक जीवन-अभ्युदय के लिए धर्म की आवश्यकता है।

हमारी संस्कृति ने अलग-अलग विचार दिये हैं। उनमें एक चित्र ययाति का है। ययाति ने बूढ़ा बनने के बाद अपने तरुण लड़के का यौवन माँगा, इसलिए उसका उपहास किया जाता है। ययाति पर हँसने का हमें कोई अधिकार नहीं है। ययाति को ऐसा वरदान मिला था कि वह दूसरे का यौवन ले सकता है। हमको वैसा वरदान मिला तो हम भी दूसरे का यौवन लेंगे। मुझे लगता है कि ययाति एक व्यक्ति नहीं है, बल्कि एक विचारसंस्था *(Thinking school)* है। ययाति एक विचारधारा है। आज भी ययाति जीवित है, वह मरा नहीं है। ययाति मर नहीं सकता। ययाति एक ऐतिहासिक पुरुष होगा, उसमें ना नहीं है, परन्तु ययाति की एक विचारधारा है जो आज भी जीवित है।

ययाति की विचारधारा क्या है? भोग! भोग! फिर से भोग! मृत्यु तक भोग ही भोगने को मिलने चाहिए। जिससे उपभोग मिलेगा वही करना। यह एक विचारधारा है और वह आज भी पूरे जोश के साथ नाच रही है। विषय अच्छे हैं, इसलिए इन्द्रियाँ उनको बार-बार चाहती हैं। इसका परिणम क्या होगा? गीताकार ने उसका परिणाम बताया है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।२.६२।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।२.६३।।

केवल भोग-भोग-उपभोग यही मानवी जीवन नहीं है। मानव को खड़ा करना होगा, मानव को मानव बनाना होगा, उसको भगवान तक ले जाना होगा तो यह भागों की, ययाति की विचारधारा नहीं चलेगी।

दूसरी एक विचारधारा *(Thinking school)* नचिकेता तथा कच की है। वे कहते हैं कि विषय त्याज्य हैं, मानव का अध:पतन करनेवाले हैं। यहाँ एक विचार आता है कि हम मन्दिर में जाते हैं तो वहाँ हमें भगवान की मूर्ति सुंदर लगती है वह भी तो विषय ही है! यहाँ विषय यानी *object* यह अंग्रेजी शब्द प्रयुक्त करने का कारण यह है कि गुजराती- हिन्दी- मराठी भाषा में विषय यानी स्त्री-वित्त आदि। परन्तु शब्द का अर्थ इतना मर्यादित नहीं है। विषय यानी *object*। स्त्री-वित्त ये विषय हैं, परन्तु सूर्योदय-सूर्यास्त देखना भी विषय ही है। विषय के सामने आते ही उनके उपभोग की उत्सुकता इंद्रियों में पैदा होती है। यह पैदा नहीं होनी चाहिए। इसके लिए नचिकेता, कच जैसों की एक विचारधारा खड़ी हुई कि विषयों के प्रति घृणा निर्माण करनी चाहिए। विषयों का उपभोग ही नहीं करना चाहिए, ऐसे विषयों के प्रति घृणा निर्माण होगी तो? क्या वह शक्य है?

समझो कि संन्यासी के सामने लड्डू अथवा हलुआ आया और उसने उनका उपभोग लिया तो क्या उसको लड्डू या हलवा कड़ुआ लगेगा? **'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय'** यह तो मात्रास्पर्श है। मात्रा केवल बोलने से नहीं खड़ी होगी। केवल बोलने मात्र से विषयों के प्रति घृणा नहीं निर्माण होगी। दूसरी बात, विषयों के प्रति घृणा निर्माण करना मानव स्वभाव के विरुद्ध है। विषयों के प्रति नफ़रत नहीं होनी चाहिए। स्त्री-पुरुष दोनों को एक-दूसरे के प्रति नफ़रत ही खड़ी करनी होगी तो वे पैदा ही क्यों हुए? यह प्रश्न खड़ा होता है। ययाति और नचिकेता दोनों की विचारधाराएं एकान्तिक हैं। एक में उपभोग की पराकाष्ठा है तो दूसरे में त्याग की पराकाष्ठा है। कृष्ण भगवान जैसे, मानवी जीवन को उन्नत अवस्था में ले जाने वाले कहते हैं, **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।'** याज्ञवल्क्य जैसे तत्त्ववेत्ता भी वैसा ही कहते हैं। इसलिए तीसरी संस्था **मुरारेस्तृतीयः पन्थाः** कही जाती है। कृष्ण मुरारी का तीसरा पंथ है। वे भोगों का पुरस्कार नहीं करते और भोगों को छोड़ते भी नहीं! वे त्याग को मानते नहीं और त्याग के प्रति नफ़रत भी नहीं करते। वे दोनों भोग व त्याग को साथ में लेकर चलनेवाले हैं।

भ्रान्त वेदान्त ने जो भय दिखाया है। वह सच भी है। एक ओर विषयों के सम्बन्ध में भय दिखाता है और दूसरी ओर विषयसुख को केवल कानूनन ही नहीं ठहराता, बल्कि गृहस्थाश्रम देकर धार्मिक बनाता है। विंषयों से भय है कि वे विषयलम्पटता निर्माण करेंगे। तो फिर क्या करना चाहिए? कुछ लोग कहते हैं कि विषयों को अनाकर्षक ठहराना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं कि विषय आकर्षक नहीं, त्याज्य हैं। आज जो रूप है वह कल नहीं रहता। सात बजे का रूप आठ बजे नहीं रहता। रूप टिकता नहीं है इसलिए वह मिथ्या है।' यह कोई तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। किसी का लड़का मरने पर हम उससे मिलने जाते हैं तब क्या ऐसा बोलते हैं कि 'यह सब मिथ्या है, संसार में क्या है? कुछ नहीं, यह

सब ऐसा ही चलता है, पति व पुत्र का सम्बन्ध भी मिथ्या है, सभी सम्बन्ध मिथ्या हैं, यह सब माया है, आदि आदि..।' नवपरिणीत दम्पत्ति के सत्कार समारोह में जाते हैं तब मंच पर खड़े वधु-वर को यदि यह भाषा सुनायेंगे तो लोग हमको बाहर निकाल देंगे। यदि यह तत्त्वज्ञान है तो सर्वत्र चलना चाहिए।

इस प्रकार विषयों को अनाकर्षक ठहराने की कोशिश चल रही है, परन्तु विषय अनाकर्षक नहीं हो सकते। यदि विषयों के प्रति प्रेम बढ़ाया गया तो पतन होने का संभव है। विषयों को छोड़ भी नहीं सकते, ऐसी स्थिति है। याज्ञवल्क्य और कृष्ण ने इसलिए तीसरा मार्ग निकाला है कि नफ़रत पैदा करके विषयों का मोह नहीं जाता। उनको दूसरा कार्य सौंप दो। 'संसार मिथ्या है' ऐसा कहने से संसार मिथ्या नहीं ठहरता। लड़का आकर गोद में बैठता है तब गुदगुदी होती है, तो भी 'गुदगुदी नहीं होती' ऐसा बोलना झूठ है, दंभ है। तो फिर उसके लिए मनुष्य को क्या करना चाहिए?

एक लड़की को सिनेमा का बहुत शौक था। बार बार सिनेमा देखती थी। उसको नींबू का शरबत बहुत भाता था। बिना शरबत पीये उसका एक भी दिन नहीं जाता था। डॉक्टर ने उसे समझाया कि 'तेरे लिए शरबत पीना अच्छा नहीं है, जुकाम हो जायेगा। इसलिए शरबत पीना छोड़ दो।' लड़की ने कहा, ठीक है, जुकाम भले ही हो, वह मुझे होगा, इसमें आपका क्या बिगड़ता है?' वह बार बार सिनमा देखती थी, इसलिए लोगों ने कहा, 'सिनेमा देखना अच्छा नहीं है, उससे आँखें खराब होती हैं।' लड़की कहती थी, भले ही आँखें खराब होने दो, मैं तो सिनेमा देखूँगी ही।' शौकीन लोग एक दिन में तीन-तीन सिनेमा देखते हैं। उनका जीवन ही सिनेमा बन जाता है·

इस प्रकार नफ़रत खड़ी करने से कुछ नहीं होता। वह लड़की सिनेमा देखती रही और शरबत पीती रही। उसके विवाह के बाद उसको लड़का हुआ। तब डॉक्टर ने कहा, 'तू शरबत पीयेगी तो लड़के को जुकाम होगा।' तब लड़की ने कहा, ऐसा? तो मैं शरबत नहीं पीऊँगी। लड़के को बड़ा करना था, इसलिए उसने तीन साल में एक भी सिनेमा नहीं देखा, शरबत पीना भी छोड़ दिया। 'सिनेमा देखना अच्छा नहीं है' यह कहने से कुछ नहीं बन पाया। लड़की का प्रेम बालक पर बढ़ा तो शरबत व सिनेमा दोनों छूट गये।

इसी प्रकार परिवार में पड़े हुए लोगों का भगवान के प्रति और भगवान के कार्य के प्रति प्रेम बढ़ेगा तो विषयलंपटता कम हो जायेगी। नफ़रत निर्माण करने से विषयलंपटता कम नहीं होती, खड़ी करने से नफ़रत भी खड़ी नहीं होती। आध्यात्मिक लोग समझते हैं कि संसार मिथ्या है, परिवार चलाना अच्छा नहीं है, उससे अध:पतन होता है। हमारे वेदान्त ने ऐसा नहीं कहा है। उलटे, गृहसंस्था की आध्यात्मिकता उन्होंने सिद्ध की है। इसीलिए वैदिक काल में, याज्ञवल्क्य और कृष्ण की विचारधारा में गृहस्थाश्रम का आग्रह है। गृहस्थाश्रम का जो आध्यात्मिक मूल्य है उसे समझ लेना चाहिए। इसी के लिए कहा गया है, **'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रवजेत्'** जब विरक्ति

आयेगी तब संन्यास ले लो।' परन्तु सामान्य मनुष्यों के लिए कहा है कि **'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्'**- तीन ऋणों में से मुक्त होने के बाद मन को मोक्ष के लिए प्रवृत्त करो। इसमें गृहस्थाश्रम का स्वीकार करने का आग्रह रखा है क्योंकि पति-पत्नी दोनों को विकसित होना है। आध्यात्मिक यानी विकसित होना। आध्यात्मिकता यानी जीवन के भीतर भरे हुए तत्त्व का ज्ञान कराना। स्त्री-पुरुष दोनों को विकसित होना है। दोनों के लिए एक भिन्न ही बात खड़ी हो गयी है। स्त्री-पुरुष पर प्रेम करती है तो स्त्री का प्रेम सभ्य गिना जाता है, परन्तु स्त्री पर यदि पुरुष प्रेम करता है तो उस प्रेम को 'काम' माना जाता है। महिम्नस्तोत्रम में एक श्लोक है—

स्वलावण्याशंसाधृतधनुषमह्नाय तृणवत्।
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि।।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरतदेहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः।।२३।।

स्त्री यदि पुरुष की बात मानती है तो वह श्रेष्ठ स्त्री मानी जाती है और पुरुष यदि स्त्री की बात मानता है तो 'वह स्त्री की बात मानकर चलता है' ऐसा कहते हैं और उसको गुलाम मानते हैं। इस प्रकार की एक विभिन्नता निर्माण करने का प्रयत्न भी हुआ है। पति-पत्नी जो समान हैं, उनमें एक प्रमुख है और एक गौण है ऐसा माना गया है। वेदान्त अथवा वैदिक तत्त्वज्ञान ने स्त्री-पुरुष दोनों को समान माना है। इसलिए हमारे यहाँ स्त्री को अर्धांगना कहते हैं।

आज के सुधरे हुए अंग्रेज *(modern English)* लोग भी पत्नी को प्रमुखता *(better half)* देते हैं और स्वयं को गौण *(good half)* मानते हैं। इसमें स्त्री को चढ़ाने का प्रयत्न है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता है। स्त्री-पुरुष दोनों को समान मानने में आध्यात्मिकता दृष्टि में कोई बाधा नहीं है।

स्त्री-पुरुष दोनों समान हैं। स्त्री-पुरुष साथ में क्यों रहने चाहिए? स्त्री के गुण पुरुष में और पुरुष के गुण स्त्री में संक्रान्त करने हैं इसका अर्थ यह नहीं है कि पौरुषी स्त्री- *(he woman)* और स्त्रैण पुरुष *(She man)* बनाने हैं। स्त्री का पौरुषीकरण अथवा पुरुष का स्त्रीकरण नहीं करना है। पुरुष में पुरुषप्रधान गुण होने चाहिए और स्त्री के गुण उसमें संक्रान्त होने चाहिए। स्त्री में स्त्रीप्रधान गुण होने चाहिए और पुरुष के गुण उसमें संक्रान्त होने चाहिए। दोनों मिलकर पूर्ण बनते हैं। केवल बोलने से यह सिद्ध नहीं होता। उसके पीछे तत्त्वज्ञान देखना है। स्त्री भी मानव है और पुरुष भी मानव है इस दृष्टि से देखना होगा। मानव और माणस- इसमें सब आ गया। हमारे कच्छी लोग कहते हैं, 'यह स्थान मनुष्यों के लिए है और यह स्थान स्त्रियों के लिए है।' तो क्या स्त्री मनुष्य (मानव) नहीं है? स्त्री-पुरुष दोनों मानव हैं यह समझकर चलना चाहिए। केवल शब्द बदलने से कुछ नहीं होगा।

Man शब्द में *woman* भी आती है। मानव- *Man*- एक वृत्ति है, एक जीव है। बर्नार्ड शॉ ने लिखा है, " मुझे *Intelligent Man's guide to Socialism* पुस्तक लिखनी थी, परन्तु वह मैं नहीं लिख पाया। मैंने *Intelligent woman's guide to Socialism* पुस्तक लिखी। उसमें जहाँ-जहाँ *man* शब्द चाहिए वहाँ वहाँ *woman* शब्द लिखा हैं।' परन्तु उससे कोई फर्क़ नहीं पड़ता। शब्द बदलने से कोई फर्क़ नहीं पड़ता। वृत्ति बदलने से फर्क़ पड़ता है। शब्द बदलने से भेद कायम रहता है। भाषा बदलना भिन्न बात है और समझना भिन्न बात है।

मुझे बहुत लोग पूछते हैं कि स्वाध्याय परिवार में हरिजन आते हैं या नहीं? बहुत बड़े-बड़े लोग यह प्रश्न पूछते हैं। मैंने उनसे पूछा, 'हरिजन कौन?' सब हरि-जन तो चले गये। तुकाराम, ज्ञानेश्वर, शंकराचार्य, सब आचार्य, नरसी महेता, जैसे बड़े-बड़े लोग हरि-जन हैं। हरि के जन और हरि के लिए आये हुए लोग हरिजन कहलाते हैं। तब पूछनेवाले ने कहा, 'नहीं, नहीं! हरिजन बोलने में वह मतलब नहीं था। मैं तो अस्पृश्य आते हैं या नहीं यह पूछता हूँ।' मैंने कहा, 'अच्छा! जिस समूह को आज तक अस्पृश्य कहा जाता था उसका नाम बदलकर तुमने हरिजन रखा है! नाम बदलने से क्या होता है? अंग्रेजी में कहना हो तो *Old wine in new bottle* सरीखा ही यह है। भाषा या शब्द बदलने से कुछ नहीं होता। *Man* लिखो अथवा *Woman* लिखो, उससे क्या फर्क़ पड़ता है? वेदान्त में 'पुरुष' शब्द आता है। पुरुष का अर्थ लोग करते हैं मर्द। और मर्द को मुक्ति मिलती है, स्त्री को नहीं! ऐसा कहते हैं।

गीता में अर्जुन भगवान से पूछता है, **'अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः-'** किससे प्रयुक्त होकर पुरुष पाप का आचरण करता है।' यहाँ पुरुष शब्द प्रयुक्त किया है, तो क्या स्त्री पाप नहीं करती? पुरुष शब्द का अर्थ 'जीव' है। **पुरे शेते इति पुरुषः नवद्वारे पुरे देही-** नौ द्वारवाली यह पुरी अर्थात् शरीर में जो रहता है उस जीव को उद्देश्यकर 'पुरुष' शब्द है। वह स्त्री और पुरुष दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। अतः स्त्री और पुरुष दोनों को मानव समझकर मार्ग निकालना है। वह मार्ग गृहस्थाश्रम में है। इसीलिए ऋषियों, स्मृतियों, अवतारों ने गृहस्थाश्रम का आग्रह रखा है। **'धन्यो गृहस्थाश्रमः'** गृहस्थाश्रम धन्य है। उसको आश्रम कहा है। 'आश्रम' शब्द प्रयुक्त कर उसमें आश्रम की पवित्रता खड़ी की है। आश्रम में पवित्रता की भावना है।

आज तो भोजनालय को भी आश्रम कहकर, आश्रम शब्द अर्थ ही नष्ट कर दिया है।

आश्रम में पवित्रता है, सभी का सहकार है, सबको प्रेम से रहना है, दूसरे के सुख का विचार करना है। यह सब शिक्षा परिवार में मिलती है। 'मैं अकेला हूँ और मेरी ही उन्नति होनी चाहिए' ऐसा सोचनेवाला परिवार-गृहस्थाश्रम का स्वीकार नहीं करता। परिवार में सभी का सहकार लेकर काम करना है, तभी वह परिवार कहलाता है। अकेला मनुष्य काम करता है, परन्तु सबके साथ मिलकर वह काम नहीं करता। कुछ लोग कहते हैं, "शास्त्रीजी! एक पर काम सौंप दो, काम हो जायेगा।" हमारे ऋषियों ने कहा, 'यज्ञ करो।' परिवार में

कौन किसके अधीन काम करता है? परिवार मे कोई किसी के अधीन नहीं होता। सब एक दूसरे के साथ प्रेम से बंधे हुए होते हैं। सभी का सहकार लेकर सहकार्य करने की शिक्षा परिवार में ही मिलती है। सभी का सहकार किस प्रकार लेना? परस्परविरोधी स्वभाव के भी लोग होते हैं। जहाँ विरोधी स्वभाव के लोग होते हैं, वहाँ अध्यात्मशीलता, सहकार्य अशक्य बनता है। सहकार्य के लिए भी कुछ सहना पड़ता है। इसीलिए गृहस्थाश्रम में प्रेम से रहना है। सहकार करना है, दूसरे के सुख का विचार करना है।

हरिश्चन्द्र ने स्वप्न में राज्य का दान दे दिया और दूसरे दिन चल पड़ा। तारामती ने यह नहीं कहा कि 'यह पैतृक संपत्ति है, आप नहीं दे सकते। *You have no right*। दादा से चला आया हुआ यह राज्य है।' उसने कहा, "आपने दे दिया है न? मैं भी आप के साथ आती हूँ। पुत्र रोहिदास भी उनके साथ चलने लगा। उसने भी अपने पिता से प्रतिवाद नहीं किया कि, किससे पूछकर आपने राज्य दिया। क्या आपने कमाया है यह? *self earned* है? *unearned property* है यह पैतृक परम्परा से मिला हुआ राज्य है कैसे दिया आपने? आज का लड़का होता तो अदालत जाने की भाषा बोलता। परन्तु रोहिदास भी उनके- अपने माता-पिता के साथ चल पड़ा। यह उस परिवार की बात है जहाँ सब सहकार्य व प्रेम से रहते हैं और एक दूसरे के सुख का विचार करते हैं। इसीलिए तो विवाह में आशीर्वाद दिया जाता है—

समानी व आकूतिः समानानि हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। (ऋ१०.१९१/४)

(तुम्हारे संकल्प एक समान रहें और तुम्हारे हृदय एक समान हों। तुम्हारे मन एक समान हों जिससे परस्पर कार्य पूर्णरूप से संगठित हो)।

समान मन होने चाहिए। समान मन नहीं होंगे तो भी समान करने की कोशिश करो। समान मन होंगे और नहीं भी होंगे, परन्तु कोशिश पूरी होनी चाहिए। पूर्ण कोशिश करने में हम यदि कुछ कम होंगे तो हम भगवान के दरबार में झूठे साबित होंगे। इसलिए पूर्ण कोशिश होनी चाहिए। एक दूसरे का स्वभाव सँभालना चाहिए। मनुष्य जब अकेला होता है तब अपनी ही इच्छा पूरी करता है, परिवार में एक दूसरे की इच्छा का भी ख्याल रखना पड़ता है। विवाह एक शिक्षा है। पत्नी पति को सब समर्पण करती है व पति पत्नी को सुखी बनाने का प्रयत्न करता है। माँ-बाप फटे हुए, जीर्ण वस्त्र पहनते हैं और बेटे को अच्छे कपड़े पहनाते हैं। इसमें त्याग की शिक्षा है, दूसरे के लिए जीने की उसमें शिक्षा है। यह शिक्षा परिवार में मिलती है। इसलिए परिवार की आवश्यकता है। यह शिक्षा जहाँ नहीं मिलती वह परिवार नहीं है और यदि परिवार नहीं होगा तो विकास भी नहीं होता। हमारे यहाँ भगवान को अर्धनारीनटेश्वर का रूप माना है। भगवान शंकर का अर्धनारीनटेश्वर एक रूप है। यही ज्ञान की परमोच्च अवस्था है। दोनों मिलकर पूर्ण पुरुष बनता है। इसलिए जैसे कि इसके पहले बताया है, स्त्री के गुण-मार्दव, मृदुता, कोमलता, कारुण्य

आदि पुरुष में संक्रान्त होने चाहिए और पुरुष के गुण- दृढता, प्रतिकारक्षमता आदि स्त्री में संक्रान्त होने चाहिए। जब तक यह नहीं होता तब तक दोनों अपूर्ण हैं। अकेले का दर्शन शुभ नहीं मानते। दोनों साथ आते हैं तो उनका दर्शन शुभ मानते हैं। पति-पत्नी लक्ष्मी-नारायण हैं। वह पूर्ण रूप है।

आज पत्नी में पति के अथवा पति में पत्नी के गुण संक्रान्त नहीं होते, कारण बचपन से ही वैसी शिक्षा नहीं मिली। बचपन से गुण उठाने की शिक्षा मिलनी चाहिए! व्यावसायिक *(job oriented)* शिक्षा मिलती है, जीवन जीने का ज्ञान नहीं मिलता। जीवन को आकार आने के लिए, मोड़ मिलने के लिए जो ज्ञान आवश्यक है वह नहीं मिलता है। जीविका कमाने का ज्ञान मिलता है, उसे लेकर ज्ञानी बनते हैं और लोग भी उसी को ज्ञान समझते हैं। जीवन की परिपूर्णता जीवन का ज्ञान मिलने से ही होती है। इसलिए गृहस्थाश्रम का आग्रह रखा है। वेदान्त को जीवन में लाने के जो गुण अपेक्षित हैं वे गुण जीवन में लाने की पाठशाला गृहस्थाश्रम है। गृहस्थाश्रम में ये सब गुण मिल सकते हैं। गृहस्थाश्रम को भ्रान्त वेदान्त की जो सुरंग लगी है वह समझनी चाहिए।

परिवार- गृहस्थाश्रम और समाज में संघर्ष नहीं होना चाहिए। इसलिए तीसरा आश्रम-वानप्रस्थाश्रम कहा है। आज जो असमंजस *(Puzzle)* हुई है उसका कारण यह है कि गृहस्थाश्रमी निश्चित समय पर अपने जीवन की गाड़ी की पटरी नहीं बदलते। यदि वे पटरी बदलेंगे तो गृहस्थाश्रम का स्वीकार अवश्य होगा। आप उन लोगों का वाङमय मन व बुद्धि से पढ़ेंगे तो आपको लगेगा कि वे लोग असमंजस में पड़ गये हैं, वे कुछ खोज रहे हैं, उनको मार्ग नहीं मिल रहा है। उन्होंने बहुत अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। उनके विचारों में कुछ *(Provocation)* है इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु वे भ्रान्त बने हैं। क्या उठाना चाहिए, किसका स्वीकार करना है, क्या छोड़ना चाहिए इस सम्बन्ध में वे भ्रान्त बने हैं। उनका लेखन पढ़ेंगे तो पता चलेगा कि गृहसंस्था का स्वीकार करना उनको योग्य नहीं लगता और गृहसंस्था का त्याग करना अशक्य लगता है। तो फिर क्या करना? इसका उत्तर उनके पास नहीं है, इसलिए वे छोड़ देते हैं। उनका लेखन निश्चित रूप से कुछ नहीं कहता, अतः वह शास्त्र नहीं है, दर्शन नहीं है। वे चिन्तक अवश्य हैं क्योंकि वे चिन्तन करते हैं। वे दर्शनकार नहीं हैं। हमारे यहाँ षड्दर्शन हैं। वे दर्शन *(Vision)* देते हैं। इसलिए तीसरा आश्रम वानप्रस्थाश्रम कहा गया है। इस आश्रम का भी आग्रह है।

वानप्रस्थाश्रम क्या है? आज हम ऐसा समझते हैं कि अमुक अमुक उम्र हो गयी कि बन गये वानप्रस्थ! वानप्रस्थाश्रम ऋषियों ने क्यों खड़ा किया? परिवार को छोड़ना नहीं है व समाज को फेंकना नहीं है। परिवार और समाज का सांधा *(joint)* जो कोई होगा तो वानप्रस्थ है। इसलिए वह आश्रम महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मचर्याश्रम को जितना महत्त्व है, गृहस्थाश्रम को जितना आध्यात्मिक मूल्य है, उतना ही वानप्रस्थाश्रम का महत्त्व है व मूल्य है। परन्तु आज वानप्रस्थाश्रम किधर चला गया इसका पता ही नहीं है। वह आकाश में रह गया है और भागवत जैसे ग्रंथों में पड़ा है। ऋषियों ने वानप्रस्थाश्रम क्यों निकाला इसका ही हमें पता नहीं है।

समाजवादी लोगों को जो सन्देह है वह भ्रान्ति है, क्योंकि वे परिवार का स्वीकार भी नहीं करते और छोड़ते भी नहीं। चिन्तक होने से उनको मालूम है कि प्रेम, भाव, वात्सल्य, सहकार आदि की शिक्षा बिना परिवार के कौन देगा? परिवार छोड़ना बेकार है और पकड़ना समाजोन्नति के लिए उचित नहीं है। ऐसा उनके सामने भ्रम खड़ा हो गया क्योंकि उनके पास दर्शन नहीं है। क्या कृष्ण भगवान की दृष्टि के सामने ऐसा दृश्य नहीं होगा कि व्यक्ति अपने ही परिवार के लिए यदि संपूर्ण शक्ति का उपयोग करेगा तो समाज की तरफ दुर्लक्ष होगा? उन्होंने बहुत सोचकर चार आश्रम बनाये हैं। वास्तव में उनको सोचना भी नहीं पड़ा होगा कारण महापुरुष अन्तःप्रेरणा *(intitution)* से बोलने वाले होते हैं, फिर भी समझने के लिए कहता हूँ कि उन्होंने बहुत सोचकर ही कहा है। उन्होंने यदि सोचकर वानप्रस्थाश्रम खड़ा किया होगा तो सोचकर ही उसका स्वीकार करना चहिए।

वानप्रस्थाश्रम संस्कृति का पृष्ठवंश है। जिस समाज में वानप्रस्थाश्रम खत्म हुआ है, उस समाज की संस्कृति खत्म हुई है और समाज भी खत्म हो जायेगा। समाज के सभी मूल्य समाप्त हो जायेंगे इसलिए वानप्रस्थाश्रम की आत्यन्तिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकता है। वानप्रस्थाश्रम यानी समाज के लिए एक प्रौढ़, अनुभवी, शक्तिशाली, प्रभावी शक्ति।

ऋषियों ने और अवतारों ने भी समाज पर प्रेम किया था। उन्होंने ही वानप्रस्थाश्रम खड़ा किया था। जो वानप्रस्थाश्रम का स्वीकार नहीं करता वह पापी है ऐसा कहा है। धर्म और भक्ति में इतना प्रभावी कहना आवश्यक है। जो सामाजिक आवश्यकता है, जो युग की माँग है, परिस्थिति का जो आह्वान *(challenge)* है उसके सामने खड़े रहने के लिए जो व्यवस्था है उसको छोड़कर अपने को धार्मिक और भक्त समझनेवालों से कहना ही पड़ेगा कि तुम धार्मिक नहीं हो, भक्त नहीं हो! इसलिए वानप्रस्थाश्रम खड़ा किया है। **वन** का अर्थ है— **'वन्यते सेव्यते इति वनम्।' 'बहुवृक्षस्थानम्'** ऐसा भी अर्थ शब्दकोश में मिलता है। सेवा का आदर्श वृक्ष है। **बहुवृक्षयुक्तं स्थानम् – वनम्** और **वन्यते सेव्यते इति वनम्** - सेवा की शिक्षा और सेवा की दीक्षा देनेवाला वृक्ष है। हमसे विदेशी लोग पूछते हैं कि यह क्या वृक्ष, बन्दर को भगवान *(Tree God, monkey God)* मानते हैं आप? क्या यह पागलपन नहीं है? वृक्ष को भगवान मानना पागलपन नहीं है? वृक्ष को भगवान मानना पागल लोगों की भाषा है, परन्तु जिस प्रकार स्वार्थ के लिए मुझे अपना काम करना है वैसा दूसरों का भी काम मुझे करना है क्योंकि मेरा अस्तित्व दूसरे के अस्तित्व पर निर्भर है। इसीलिए तो भगवान ने यह समझ देने के लिए द्विलिंगी प्रजा निर्माण की है।

हम जैसा अपना काम करेंगे वैसा दूसरों का भी काम करना पड़ेगा। केवल स्वार्थ के लिए ही हम दूसरों का काम करेंगे तो वह व्यापार होगा। स्वार्थ में सब आता है, केवल पैसा ही नहीं आता। महत्ता, प्रतिष्ठा *(status)* ये सभी स्वार्थ में आते हैं। अंग्रेजी में कहते हैं- *Get on, get honour and get honest* इसमें प्रामाणिकता *(honesty)* सबसे अन्तिम क्रमांक पर है। अर्थात् जीवन में प्रामाणिकता होगी परन्तु वह नीति *(Policy)* के रूप में होगी, सिद्धान्त के रूप में नहीं होगी। नीति बदली जाती है, सिद्धान्त नहीं बदले जाते।

हमारे व्यापारी कितने सत्यवादी हैं कि जो दुकान में तख्ती लगाते हैं कि *Honesty is our best policy*। इसका अर्थ वह नीति है, सिद्धान्त नहीं है। प्रामाणिकता को उन्होंने नीति के रूप में स्वीकार किया है।

स्वार्थ से दूसरों का काम करना व्यापार है, पैसा कमाने के लिए करते होंगे, या बड़प्पन पाने के लिए करते होंगे अथवा चुनाव में मत पाने के लिए करते होंगे, वह एक व्यापार है। दूसरों का काम स्वार्थरहित करना 'सेवा' कहलाती है। केवल दूसरों का काम करना सेवा नहीं है। लोग समझते हैं कि 'हम तो जनता के सेवक हैं,' परन्तु वे सेवक नहीं हो सकते। नि:स्वार्थ भाव से दूसरे का काम करने को सेवा कहते हैं।

वृक्ष नि:स्वार्थ भाव से दूसरों का काम करता है। वह लोगों को छाया देता है, फल देता है। शान्ति- विश्रान्ति देकर भी आभार *(Thanks)* की भी अपेक्षा नहीं रखता। मानपत्र तो जाने दो। इसलिए वृक्ष सेवक है और सेवा का आदर्श है। इसलिए वृक्ष का आदर्श सामने रखकर, गृहस्थाश्रम पूर्ण होने पर मनुष्य को वानप्रस्थाश्रम स्वीकारना चाहिए। वृक्ष से सेवावृत्ति की शिक्षा लेनी चाहिए। इसीलिए कहा है- **'गृहस्थाश्रमं अपहाय मुनिवृत्ति असंन्यस्थः।'** वह संन्यासी नहीं है, फिर भी मुनिवृत्ति को ग्रहण किया है। ऐसी जो स्थिति है- **'पुत्रस्योपरि संसारभारं त्यक्त्वा ईश्वराराधनं करोति-'** पुत्र पर परिवार का भार सौंपकर ईश्वर की आराधना करता है उसको वानप्रस्थ कहते हैं।

'ईश्वर-आराधना' कहने पर आज मनुष्य की आँखों के सामने तीन बातें- भजन, आरती व प्रसाद आते हैं। इन्हींमें भक्ति पूर्ण होती है। भक्ति में आज कचरा घुस गया है, उसके कारण भक्ति में दुर्गंध आती है। संस्कृत में लेखन है, जो श्रुति नहीं है और स्मृति भी नहीं है परन्तु केवल संस्कृत में लिखा है इसलिए उसको मान्यता मिली है। उसमें वानप्रस्थ के चार प्रकार बताये हैं। पहला वैद्रिष्य, दूसरा जो केवल कन्द-मूल खाता है, तीसरा फलाहार करता है, चौथा केवल शाकाहार करता है। ऐसे चार प्रकार उन्होंने किये हैं। यानी 'खाना और ईश्वर का नाम लेना' इतना जो करता है वह वानप्रस्थ।

वास्तव में, **'ईश्वराराधनं करोति'** का यह विपरीत अर्थ हुआ है। **'ईश्वराराधनं'** का अर्थ क्या है? क्या मूर्ति में ईश्वर है? हाँ, शत प्रतिशत है। उस मूर्ति में चित्त एकाग्र करने से मानव जीवन उन्नत होता है। मानव मात्र के लिए मूर्तिपूजा की आवश्यकता है, परन्तु सोच-समझकर मूर्तिपूजा करनी पड़ेगी। बिना समझे की हुई मूर्तिपूजा घातक बनेगी। जिस प्रकार नास्तिक मूर्तिपूजा के विरोधी हैं, उसी प्रकार आस्तिक भी मूर्तिपूजा के विरोधी हैं। वे सोचते ही नहीं कि मूर्तिपूजा क्यों खड़ी की है! बिना सोचे समझे ही वे मूर्तिपूजा करते हैं।

तुम मूर्तिपूजा— चित्तैकाग्रता करके खड़े होते हो तब क्या मूर्ति में से भगवान अदृश्य हो जाते हैं? अन्तर्धान होते हैं? नहीं! प्रत्येक व्यक्ति में भगवान हैं, उसकी सेवा करो! यदि आप यह नहीं करेंगे तो मूर्ति की सेवा भी अच्छी तरह नहीं होगी। इसलिए मनुष्य-सृष्टि के

प्रतिनिधि- *Representative,* माता-पिता को माना है। **'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव।'** उसके बाद पशु-सृष्टि आती है। उसको भी शास्त्रकारों ने नहीं छोड़ा। शास्त्रकारों ने **'माता रुद्राणां दुहिता वसूनाम्'** कहकर गाय को माता माना है। गाय पशुसृष्टि का प्रतिनिधि है। सभी पशुओं में भगवान हैं, परन्तु सिंह के साथ हम भाईचारा नहीं कर सकते। उसके साथ मित्रता करने जायेंगे तो हम ही खत्म हो जायेंगे। हमारे लिए गाय अनुकूल हैं, और वह आवश्यक भी है। वह दूध देती है और कृषि के लिए बैल भी उससे ही मिलते हैं। जिसका दूध पीकर मैं पुष्ट बनता हूँ वह गाय मेरी माँ है। गाय को माँ समझकर उसकी पूजा करनी है। गोपालकृष्ण ने गाय को अत्यन्त महत्त्व दिया था, गाय के प्रति अत्यधिक प्यार था। आज भी लोगों का गाय पर प्रेम है। इसलिए तो गोहत्या बंदी कराने का आन्दोलन चल रहा है। गोहत्या बंद होनी ही चाहिए। उसके लिए भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे प्रभो! आप सबको सन्मति प्रदान करो कि जिससे यह सामाजिक अध:पतन चल रहा है वह बंद हो। गाय की पूजा करनी चाहिए और गाय के लिए प्रार्थना भी करनी चाहिए।

उसके बाद वनस्पति-सृष्टि आती है। उसमें वृक्ष आया। वृक्ष में तुलसी आयी। वनस्पति-सृष्टि के प्रतिनिधि के रूप में उसकी पूजा करनी चाहिए। आज भी जो परम्परा से भगवान की पूजा करते हैं, वे भगवान की पूजा करके उठने के बाद अपने माता-पिता की चरणवंदना करते हैं, गाय को गोग्रास देते हैं, मंदिर में जाकर तुलसी को पानी दिया करते हैं। ऐसी कुछ धार्मिक कट्टरता रह गयी है। इसी प्रकार वृक्ष के जैसा बनना है। वानप्रस्थ में वृक्ष से शिक्षा लेनी है। वृक्ष सेवक है और मुझे भी सेवक बनना है।

आज भी हम पड़ोसी की सेवा करते हैं इसका कारण हम संसारी मनुष्य हैं, रात्रि में बारह बजे आवश्यकता लगेगी इसलिए पड़ोसी के साथ अच्छे सम्बन्ध रखने चाहिए। ईसा मसीह ने 'पड़ोसी पर प्रेम करो *Love thy neighbour*' ऐसा कहा है। वह भाषा हम संसारी लोग भी बोलते हैं। पड़ोसी भले ही प्रतिकूल स्वभाव का होगा, फिर भी, 'कैसे हो?' ऐसा पूछते हैं कारण उसको सँभालना है। जैसे कि पहले कहा, स्वार्थ के लिए दूसरों का काम करना व्यापार है, स्वार्थ छोड़कर दूसरों का काम करना सेवा है। मुझे कोई स्वार्थ नहीं है इसलिए कहता हूँ कि हमारे जो स्वाध्यायी गाँव-गाँव में भक्तिफेरी के लिए जाते हैं वे सच्चे सेवक हैं। उनको किसी से कुछ नहीं चाहिए। न बड़प्पन चाहिए, न मत *(votes)* चाहिए। मानव को मानव के पास जाना चाहिए। आ गये हम आपके पास! यह ईश्वराराधन है। ईश्वराराधन में यह बात आती है- लोगों के पास उठकर जाना पड़ेगा।

ऋषि उठकर लोगों के पास गये। अगस्ति काशी छोड़कर विन्ध्य के पास गये। क्या उनको प्रतिष्ठा चाहिए थी? मत *('Votes)* चाहिए थे? क्या खाने के लिए चाहिए था?' वे केवल भक्ति के लिए, सेवा के लिए विन्ध्य के पास आये थे। वैसे ही गृहस्थाश्रमी को निश्चित करना है कि आज तक मैंने घर की सेवा की, अब मुझे बाहर निकलना है। इस प्रकार हमारी संस्कृति ने वानप्रस्थाश्रम खड़ा किया। आज लोग पूछते हैं कि जो प्राचीन

शिक्षा-प्रणाली थी वह कैसे चलती थी? ऋषि के तपोवन में साठ-साठ हजार विद्यार्थी अध्ययन करते थे। उनके भोजन का प्रबंध कैसे होता था? आज सभी के मस्तिष्क में पैसे के आलू उबलते हैं। लोग पूछते हैं, 'आपके स्वाध्याय परिवार का आर्थिक व्यवहार कैसा चलता है? तपोवन की शिक्षाप्रणाली में आर्थिक व्यवस्था कैसे थी वह वानप्रस्थ ही चला गया है इसलिए, मालूम नहीं पड़ती। क्या तपोवन मधुकरी वृत्ति से चलता था समझ लीजिए, साठ हजार विद्यार्थी मुंबई शहर में मधुकरी माँगने आयेंगे तो क्या होगा? मूल बात यह है कि वानप्रस्थाश्रम चला गया है इसलिए उस बात का पता नहीं चलता।

तपोवन में विपुल मात्रा में जमीन होती थी। उसमें कृषि होती थी। कृषि-विषयक ज्ञान मिलता था और अन्न का उत्पादन भी होता था। समाज के सभी स्तरों के लोगों को अलग-अलग शिक्षा दी जाती थी। इसलिए प्रत्येक वानप्रस्थ तपोवन में जाकर रहता था। कुम्हार, लुहार, बढ़ई, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी तपोवन में जाते थे। ये सभी वानप्रस्थ तपोवन में प्रात:काल आत्मिक उन्नति के लिए चित्तैकाग्रता *(concentration)* करके भक्ति करते थे। तो कोई ध्यान *(Meditation)* में लीन रहते थे। उसके बाद सब उपनिषदों पर प्रवचन सुनते थे। सुबह सबको इस प्रकार ज्ञान मिलता था। तपोवन में जैसे द्रोण थे वैसा द्रुपद भी था। तपोवन में दोनों साथ ही पढ़ते थे, उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था। सुबह सभी को वाङमय और तत्त्वज्ञान की शिक्षा एक ही साथ मिलती थी और भोजन के पश्चात् दोपहर को जीवन विकास की शिक्षा मिलती थी।

जो बढ़ई था उसके पास दस-पन्द्रह विद्यार्थी बैठते थे। जो कुशल बढ़ई रहता, वह इन विद्यार्थियों को कुशल बढ़ई बनाता था। उससे कहा जाता था कि तू कुशल बढ़ई है तो तुझे समाज में दस कुशल बढ़ई निर्माण करके ही मरना है। यह समाज की आवश्यकता है। आज तक अपने लड़के पर प्रेम किया वैसा अब दूसरे दस लड़कों पर प्रेम करके दिखाना।' समाज की ओर देखने की यह विशिष्ट दृष्टि थी। कुशल बढ़ई वानप्रस्थी बनकर तपोवन में जाता था। वह अपना भाग लेकर आता था। उसको वेतन देने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी और भोजन का भी प्रबन्ध नहीं करना पड़ता था, क्योंकि वह अपना भाग लेकर ही आता था, और विद्यार्थियों का शिक्षण होता रहता। साथ ही वानप्रस्थी का भी जीवन-विकास होता था। जहाँ इस प्रकार की व्यवस्था है वहाँ साठ हजार क्या, साठ लाख विद्यार्थी हों तो भी उनकी शिक्षा का प्रबन्ध हो जायेगा। दिन रात आर्थिक व्यवस्था *(Finance)* का ही विचार रखने से क्या होगा? जब तक व्यक्ति में चैतन्य जागृत नहीं किया जाता तब तक उसकी जेब तुम्हारी (समाज की) नहीं है। व्यक्ति में चैतन्य जागृत होने के बाद उसकी जेब तुम्हारी ही जेब है ऐसी पुराने लोगों की भाषा थी।

शिक्षा में मानव-स्पर्श *(Human Touch)* चाहिए। वैसा मानवस्पर्श इस तपोवन में सहज मिलता था। एक कुशल बढ़ई लुहार के पास दस-पन्द्रह विद्यार्थी ही बैठते थे। आज तो एक शिक्षक या प्राध्यापक के वर्ग में सत्तर-अस्सी विद्यार्थी बैठते हैं। अब तो आगे की पीढ़ी में और सुधार आयेगा। दूरदर्शन *(T.V.)* पर ही सब ज्ञान दिया जा सकेगा। स्कूल या

कॉलेज की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। उसमें विद्यार्थी का शिक्षक के साथ अथवा शिक्षक का विद्यार्थी के साथ सम्बन्ध ही नहीं रहेगा। चित्र व व्यक्ति का सम्बन्ध रहेगा। शिक्षा में से मानवस्पर्श ही चला जायेगा। आज व्यावसायिक शिक्षा- *(Job Oriented education)* ही चाहिए। उसमें जीवन जीने का ज्ञान ही नहीं दिया जाता। प्राचीन काल में तपोवन में जीवन जीने का ज्ञान देते थे और साथ ही जीविका का भी ज्ञान देते थे। कुलपति जीवन का ज्ञान देते थे। जो विद्यार्थी को जिमाकर ज्ञान देते थे उसीको कुलपति कहते थे। आज तो कुलपति शब्द की बिडंबना चल रही है। कुलपति शुल्क *(Fees)* लेकर परीक्षा लेता है। व पढ़ाता भी नहीं और जिमाता भी नहीं। वह केवल परीक्षा की फीस लेकर परीक्षा लेता है और उसको कुलपति कहा जाता है। चान्सलर और वाईस चान्सलर! कुलपति शब्द की इतनी विडंबना किसी काल में नहीं हुई होगी।

इस प्रकार की वानप्रस्थी व्यवस्था के कारण ही गृहस्थाश्रम रहा, उसमें अनन्य प्रेम रहा, 'मेरा परिवार' यह भावना भी रही और 'मुझे समाज के लिए घिसना है' यह बात भी रही। दिग्भ्रान्त बने हुए पाश्चात्य चिन्तकों और समाजवादियों को इस वानप्रस्थाश्रम में मार्ग मिलता है। उसमें समाज की ओर देखने की एक विशिष्ट दृष्टि है।

शाकुन्तल नाटक में एक प्रसंग है। आश्रम से प्रथम बार विदा लेते समय शकुन्तला कण्व ऋषि से पूछती है कि पिताजी! मैं इस तपोवन से विदा लेकर जा रही हूँ। मैंने इस तपोवन में वृक्षों पर प्रेम किया है, आप पर भी अत्यधिक प्रेम किया है, अब मैं फिर से यहाँ कब आऊँ? मैंने आश्रमवासियों पर तथा यहाँ के हरिनों पर भी प्रेम किया है, यह सब छोड़कर मैं जा रही हूँ फिर वापस कब आऊँ? इन सबको छोड़कर जाना मुझे अच्छा नहीं लग रहा है।' तब कण्व ने कहा,

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी
दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं
शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥ (शाकुन्तल ४/२०)

(तू दुष्यन्त की अच्छी रानी बन और फिर दुष्यन्त के अप्रतिम सुपुत्र को राजा बनाकर, राज-सिंहासन पर बिठाकर, पुत्र को राज्यभार सौंपकर तुझे और दुष्यन्त-दोनों को साथ ही फिर इस आश्रम में आना है।)

'तुम्हारी राजनीतिक कुशलता यहाँ तपोवन के क्षत्रिय विद्यार्थियों को सिखानी है। जिसके पास जो कौशल्य और अनुभव है, उसे तपोवन के विद्यार्थियों को देना है। तपोवन की कल्पना जिसने सर्वप्रथम की होगी और उस कल्पना को कार्यान्वित किया होगा, वह सामान्य नहीं, भगवान ही होगा।

वानप्रस्थ एक जबरदस्त शक्ति थी। बढ़ई को लगता था कि मैं एक उत्कृष्ट बढ़ई रखकर ही मरूँगा। इस दृष्टि से देखा जाए तो आज जो समाजसेवा हो रही है उससे

कितनी गुना समाजसेवा वानप्रस्थाश्रमी करता था! उसका अपना पुत्र तो अच्छा होता ही था, परन्तु समाज में भी उत्कृष्ट बढ़ई तैयार करके फिर मरता था। ऐसी सुन्दर व्यवस्था जिस संस्कृति ने खड़ी की थी वह संस्कृति दूसरी संस्कृति की नकल करने लगे! इतने पागल लोग जगत् में कहीं पैदा नहीं हुए होंगे। समाजशास्त्र, वैयक्तिक मानसशास्त्र, सामाजिक मानसशास्त्र *(Individual Psychology and Social Psychology)* का पूर्ण विचार करके जो व्यवस्था की थी उसको छोड़कर, तोड़कर बदनाम करके दूसरी व्यवस्था का अनुकरण करनेवाला क्या भक्त हो सकता है? केवल लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में गया, इसलिए क्या भक्त हो गया? जिन्होंने मानव को नहीं देखा, जो व्यवस्था बनायी है उसकी ओर नहीं देखा, चिरन्तन मानवता की ओर ध्यान नहीं दिया वे लोग भगवान से **'त्वमेव केवलं कर्तासि त्वमेव भर्तासि'** कहने से भगवान के लाड़ले बन जायेंगे? वे लोग भगवान के लाड़ले कैसे बन सकते हैं?

वानप्रस्थ आज केवल प्रतीक के रूप में ही है। आज भी गुजरात में एक प्रथा है। अन्यत्र कहीं वह प्रथा नहीं है। प्रथा यह है कि लड़के का विवाह होने के बाद परिवार में लड़की का विवाह होता है तब उस लड़की का कन्यादान करने के लिए परिणीत लड़के को बिठाया जाता है। उसमें उनकी एक समझ होती है कि अब परिवार तेरा (लड़के का) है, मेरा (पिता का) नहीं है। परन्तु ऐसा करनेवाला व्यक्ति परिवार छोड़कर बाहर नहीं निकलता है, दुकान की गद्दी भी नहीं छोड़ता है और अपनी लड़की का कन्यादान करने के लिए अपने पुत्र को बिठाता है। इसमें वह पुत्र की खुशामत करता है जिससे पुत्र अपने बाप को अच्छा माने। लड़के का अहं पुष्ट किया तो बाप का अहं भी पुष्ट होता है। इसलिए यह सब चलता है। शास्त्र के अनुसार लड़की का कन्यादान तो पिता को ही करना चाहिए, दूसरा कोई नहीं चलता है। हाँ, लड़की का बाप ही मर गया हो तो दूसरी बात है। **संसारभारं परित्यज्य-** पुत्र पर परिवार का भार सौंपकर, अपने जीवन के शेषभाग को अब समाज को अर्पण करना है, ऐसा जो करता है उसीको वानप्रस्थ कहते हैं। अब उसमें से केवल इतना ही रह गया है। लड़का अपनी बहन का कन्यादान-विधि करता है और बाप बाहर बैठकर, बारातियों के साथ बातें करते हुए बीड़ी पीते हुए धुआँ निकालता है। अरे! क्या यह शास्त्र है? कन्यादान तो बाप को ही करना है। आज यह प्रथा गुजरात में वानप्रस्थाश्रम के प्रतीक के रूप में चलती है।

आज यदि कोई दुर्बल संस्था होगी तो वह **वानप्रस्थाश्रम** है। कलियुग को बढ़ानेवाली और पापीसंस्था कोई होगी तो वह वानप्रस्थसंस्था है। बिगड़ा हुआ गृहस्थाश्रम नष्ट हो गया है, ब्रह्मचर्याश्रम भी बिगड़ा है, परन्तु विपरीत बना है वानप्रस्थाश्रम! आज घर के बाहर वानप्रस्थ निकलता ही नहीं। उससे कहना चाहिए, चल, निकल घर के बाहर! तेरी कुशलता तपोवन में जाकर समाज़ को बतानी है, शिक्षा देनी है।' तपोवन में कितने ही शिक्षक होंगे, परन्तु उनको कुछ वेतन नहीं देना पड़ता। आप इस पर शान्ति से विचार करेंगे तो पता चलेगा कि तपोवन की आर्थिक व्यवस्था कैसी थी। तपोवन में प्रत्येक विद्यार्थी की ओर

व्यक्तिगत ध्यान दिया जाता था। वानप्रस्थ अपनी कुशलता प्रभु के चरणों में धरता था। उसमें उसीका व्यक्तिगत विकास होता था, साथ साथ समाज का भी विकास होता था। आज तो सेवानिवृत्त *(retired)* व्यक्ति घर में हिंडोले पर बैठा रहता है, उसकी गोद में पोता बैठा रहता है। शिक्षा देकर दूसरे को खड़ा करना है यह क्या कर्तव्य नहीं है? उसके मृतवत् आशीर्वाद से क्या निर्माण होनेवाला है? जिनके आशीर्वाद के पीछे कोई परिश्रम नहीं है, शिक्षा नहीं है ऐसे लोग आज आशीर्वाद देते हैं। लोग भी कहते हैं, 'नहीं! नहीं! महाशय, आपको तो विवाह में आशीर्वाद देने के लिए आना ही चाहिए।' अरे! यह दुर्बल आशीर्वाद है। आशीर्वाद में भी कुछ चैतन्य *(spirit)* होना चाहिए। वैसा चैतन्य वानप्रस्थाश्रम देकर पूर्वजों ने निर्माण किया था। उसका विचार करना पड़ेगा।

यदि वानप्रस्थ इस प्रकार महीने में बीस दिन बाहर निकलकर अपनी कुशलता भगवान के चरणों मे धरेंगे तो? अरे! आज कलियुग में वानप्रस्थ महीने में सोलह दिन भी दे देंगे तो अंदर के भगवान खुश होंगे, कारण लोगों में भी भगवान बैठे हैं। जब तक गृहस्थाश्रम में हैं तब तक प्रति महीना दो एकादशियाँ यानी वर्ष में चौबीस दिन भगवान को देकर एकादशी करनी है। वानप्रस्थ में आने पर महीने का बड़ा भाग भगवान को देना है। क्यों नहीं वानप्रस्थ बाहर जाते? आज अनपढ़, असंस्कृत जाति-जमातियाँ आँखों में प्राण लाकर देख रही हैं कि हमारे पास कोई आता है? हमें कोई ऊष्मा देने के लिए आता है? उलटे, उनके पास जानेवाले उनको निराश, नाऊम्मीद बनाते हैं। 'तुम्हारे हाथ में कुछ नहीं है, तुम कुछ नहीं कर सकते, ऊपरवाले की इच्छा होगी तब सब ठीक हो जायेगा। ऐसा कहकर उनको उठाने के बदले हताश करते हैं, नीचे गिरा देते हैं। आज लोग कहते हैं कि हमारे ऋषियों ने जो काम किया है वह देखने जैसा है। आप *History of civilization* यह विल डुरांट *(will durrant)* नाम के लेखक की लिखी हुई पुस्तक पढ़ेंगे तो मिशनरी लोगों ने कैसा काम किया है वह मालूम पड़ेगा। उनका काम सचमुच नमस्काराई है। दक्षिणी अमेरिका और अफ्रिका के जंगलों में जहाँ एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मारकर खाता था, वहाँ वे लोग गये। उन मनुष्यभक्षी लोगों में बाईबल ले जाकर उन लोगों ने ईसा मसीह के विचार दिये।

आज लोग शोर मचाते हैं कि समाज में खिश्चन मिशनरी धर्मान्तर कराते हैं। धर्मान्तर क्यों नहीं होगा? पैसा मिलता है इसलिए कोई धर्मान्तर नहीं करता। उन लोगों के पास हम जाते ही नहीं। उनसे पूछते ही नहीं! वे मानव ही नहीं है ऐसा हमारा वर्तावं है। उनको जीवन का आदर्श नहीं मिलता। राम के जीवन का उन्हें पता नहीं है, कृष्ण का जीवन उनको कोई नहीं समझाता। इस हालत में वे बेचारे क्या करेंगे? कौन सा आदर्श सामने रखकर उनको जीना है? समुद्र में दीप-मीनार *(Light House)* होता है। जहाज चलानेवालों को उससे मार्गदर्शन मिलता है और उसके अनुसार वे अपना मार्गक्रमण करते हैं। इस प्रकार कौन से दीप-मीनार की ओर देखकर वे - आदिवासी, गिरिजन आदि लोग अपना जीवन जीयें? उनको कोई रामरक्षा भी नहीं सिखाता। कोई आदर्श मिल जाय तो उसकी ओर

देख-देखकर उनका जीवन उन्नत बन जायेगा। उनके पास मिशनरी जाते होंगे और उनके दिये हुए आदर्श से उन लोगों का जीवन उन्नत बनता होगा, इसलिए वे धर्मान्तर करते होंगे तो उसमें क्या बुरा है? इसमें अकर्मण्यता है यहाँ के भक्तों की, यहाँ के धार्मिकों की। उनको स्वयं कुछ करना नहीं है और जो करते हैं उनके सम्बन्ध में शोर मचाते हैं। ऐसे लोग एक समिति बनाते हैं, कुछ करना हो तो सर्वप्रथम पैसा इकठ्ठा करते हैं। समिति का अर्थ ही यह है। उनको लगता है कि लोग नहीं आयेंगे तो चलेगा। पैसा होगा तो हम व्यक्ति को खरीद लेंगे। परन्तु उससे क्या होनेवाला है।

कितने ही लोग शोर मचाते हैं कि मिशनरी लोगों को भारत से बाहर निकाल दो। क्यों निकाल दो? उनको हक़ है। हमारा दोहरा व्यक्तिमत्त्व *(Dual personality)* है। हमारे विवेकानन्द अमेरिका गये और वहाँ उन्होंने गीता का प्रचार किया तो हम खुश हुए, इतना ही नहीं, उसके कारण ही हम विवेकानन्द को मानते हैं। अगर वे अमेरिका न गये होते तो किसे मालूम, भारत में विवेकानंद के काम का किसीको ज्ञान तो होता या नहीं! यदि हमें गीता अच्छी लगती है तो यह कहने के लिए हम अमेरिका जाते हैं। वैसे मिशनरी लोगों को उनका बाईबल अच्छा लगा तो वह कहने के लिए वे यहाँ क्यों नहीं आयेंगे? उनको वैसा हक़ है। विवेकानंद गीता समझाने के लिए अमेरिका गये तो हम उनको वन्दनीय व पूजनीय समझकर उनका सम्मान करते हैं, तो 'मिशनरी यहाँ क्यों आये? उनको निकाल दो' ऐस बोलना बिलकुल अयोग्य है। वे यहाँ आयेंगे ही। आदिवासियों, वनवासी-गिरिजनों में त्रिकाल सन्ध्या ले जाओ और बाद में देखो कि क्या होता है? गीता अच्छी लगती है तो कहो लोगों को! परन्तु हम वैसा नहीं करते। हम धार्मिक हैं! क्यों? तो सुबह नहाने के बाद ही हम दूध पिया करते हैं। मन्दिर में गाय है उसको घास खिलाते हैं। इतना ही धर्म और इतनी ही भक्ति नहीं चलेगी। कृतिभक्ति उठानी पड़ेगी।

समाजवादी विचारधारा के पीछे कुछ चिन्तन है। उनके सामने जो समस्या है उसको ज़वाब देने की शक्ति भारतीय संस्कृति में है। वानप्रस्थाश्रम समाज का पृष्ठवंश है। आज सबसे बढ़कर अकर्मण्य, दुर्बल व लोलुप कोई होगा तो पचास से ऊपर की उम्र के लोग हैं। उनको किसी के पास जाना नहीं है। समाज में किसी के पास जाकर उसको ऊष्मा नहीं देनी है। वे पैसे व्यय करके भागवत सप्ताह बिठाते हैं और जिन्होंने जीवन में कभी भागवत नहीं सुना है, उनको ही सुनाते हैं। जिन्होंने जीवन में कभी भागवत नहीं सुना है ऐसे आदिवासी, वनवासी-गिरिजनों के पास जाकर उनको भागवत सुनाओ। परन्तु वहाँ जाने से कीर्ति नहीं मिलती। हम पैसा व्यय करते हैं तो उसके बदले में कुछ मिलना चाहिए न! अपने ही गाँव में भागवत सप्ताह बिठाकर सब सगे- सम्बन्धी लोगों को बुलाया तो हमारी कीर्ति बढ़ेगी। उसके बिना हम धार्मिक हैं ऐसा उनको कैसे पता चलेगा? आदिवासी लोगों में जाकर भागवत सुनाया तो किसी को मालूम भी नहीं पड़ेगा।

गृहस्थाश्रमी को एकादशी करनी चाहिए। एक वर्ष में चौबीस एकादशियाँ आती हैं, अत: वर्ष में चौबीस दिन गाँवों में जाकर गीता के विचार लोगों को कहने चाहिए, तभी

उनकी एकादशी सच्ची एकादशी कही जायेगी। वानप्रस्थी को सेवावृत्ति स्वीकारनी है। कुछ फल नहीं माँगना है और सेवा करनी है। वृक्ष का आदर्श रखकर सेवा करनी है।

वृक्ष महान् शिक्षक है। सभी ऋषियों ने वृक्ष के नीचे तपश्चर्या की है। जहाँ ऋषि होंगे वहाँ वृक्ष हैं ही। ऋषियों ने वृक्ष को आदर्श माना है। क्योंकि वृक्ष फल देता है, छाया देता है, आभार की भी अपेक्षा नहीं रखता। इसी को सेवा कहते हैं। वृक्ष से ऐसी सेवावृत्ति सीखनी है। वानप्रस्थी को महीने में कम से कम पन्द्रह दिन घर से बाहर निकलना चाहिए। लड़का घर का कामकाज सँभालने लगा कि पिता भगवान के काम के लिए घर के बाहर जाना चाहिए। आज के वानप्रस्थ यदि ऐसा करेंगे तो आज की सभी समस्याएं हल हो जायेंगी। शिक्षा देने की समस्या तो रहेगी ही नहीं, परन्तु समाज के प्रत्येक बालक को शिक्षा मिलेगी'

आज कितने ही निवृत्त- पेन्शनर्स लोग हैं, परन्तु वे प्रभु का काम करने की अपेक्षा री-ट्राय- फिर से काम करने का अवसर ढूँढ़ते हैं। हमारे ऋषियों- स्मृतिकारों ने जो वानप्रस्थ की व्यवस्था दी है और जिसको अवतारों ने बल दिया है, उसका केवल विचार करेंगे तो बुद्धि ऋषियों के सामने नतमस्तक होगी। आज के दिग्भ्रान्त समाजवादियों की समस्या का हमारे ऋषियों ने हल बताया है। ऋषियों के सामने भी यह समस्या थी कि गृहसंस्था समाज को दुर्बल बनायेगी। उन्होंने वानप्रस्थाश्रम देकर समस्या सुलझायी।

कृष्ण भगवान ने तथा ऋषियों ने गृहस्थाश्रम को महत्ता दी है उतनी ही महत्ता वानप्रस्थाश्रम को भी दी है। वानप्रस्थी समाज के अन्तिम अंश तक पहुँच जायेंगे तो लोगों की आँखों में रोशनी आयेगी। 'हम को जीने जैसा कुछ है' ऐसा उनको लगेगा। वास्तव में वानप्रस्थ खड़ा होगा तो समाज की कितनी ही परेशानियाँ समाप्त हो जायेंगी। गृहस्थाश्रम को लगी हुई सुरंगे भी नष्ट हो जायेंगी। वानप्रस्थ को अपनी कुशलता भगवान के चरणों में धरनी है प्रतिफल की अपेक्षा नहीं रखनी है, मानधन भी नहीं लेना है। गृहस्थाश्रम की आध्यात्मिक आवश्यकता, आध्यात्मिक मूल्य समझाने पड़ेंगे। गृहस्थाश्रम की दूसरी सुरंग भाव-जीवन बढ़ाने से दूर हो जायेगी और प्रभावी व शक्तिशाली वानप्रस्थाश्रम खड़ा हुआ तो तीसरी सुरंग भी हट जायेगी। परिणामस्वरूप गृहसंस्था बनी रहेगी व मानव का सातत्य टिकेगा और उससे भगवान प्रसन्न होंगे।

वानप्रस्थाश्रम फिर से खड़ा करना चाहिए। जिन्होंने वानप्रस्थाश्रम की कल्पना निकाली, उसको प्रत्यक्ष खड़ा किया उनकी बुद्धि को मैं नमस्कार करता हूँ। वे सचमुच बुद्धिमान लोग हैं। मेरा विश्वास है कि वह उनकी बुद्धि नहीं थी, भगवान की ही बुद्धि है। इसका कारण **'ईश्वरोक्तत्वात् वेदस्य प्रामाण्यम्'**- यह वैदिक सिद्धान्त है। आज जो समस्या खड़ी हुई है उसके कारण दो-तीन पीढ़ियाँ समाप्त हो गयी हैं। वानप्रस्थाश्रम में उसका हल है। वानप्रस्थाश्रम को नमस्कार!

संन्यासाश्रम यह चतुर्थ आश्रम है। उसके सम्बन्ध में क्या बोलना? उसको केवल नमस्कार करना है। संन्यासाश्रम नमस्कारार्ह है। भारतीय संस्कृति में दो ही जनों को किसी

भी स्थान में प्रवेश करने की मनाई नहीं है। वे सेना में भी जा सकते हैं और राजकीय लोगों में भी जा सकते हैं। एक संन्यासी और दूसरी- सौभाग्यवती स्त्री! वे कोई जासूसी नहीं करेंगे ऐसा विश्वास था। भारतीय संस्कृति के संविधान *(constitution)* में ऐसा लिखा है। ऐसा जो संन्यासाश्रम है, वह कैसा भी हो उसको नमस्कार ही करना है। परन्तु यह पाठशाला है, यहाँ हम अभ्यास के लिए बैठते हैं इसलिए इस आश्रम पर कुछ बोलना चाहिए, इसलिए उसके सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे, अधिकार है इसलिए नहीं!

संन्यास शब्द वेद में नहीं है। उसके लिए वेद में यति शब्द है। संन्यास शब्द का उद्गम उपनिषद में है। उपनिषद ज्ञानप्रधान वैदिक वाङ्मय है, उसमें संन्यास शब्द है। यति को कैसे रहना, उठना, बैठना इसका संपूर्ण विश्लेषण **'यतिधर्मसंग्रह'** नामक पुस्तक में है। सभी नियम इस पुस्तक में हैं। बहुत बड़ी पुस्तक है यह! कदाचित् यह अब उपलब्ध नहीं होगी। जिस पुस्तक के लिए ग्राहक नहीं मिलते वह पुस्तक व्यापारी नहीं छापते हैं। यह काम मंदिरों का है। मन्दिरों में जो पैसा आता है वह पुराना धार्मिक वाङ्मय फिर से निर्माण करने में व्यय करना चाहिए, तभी पुराना वाङ्मय टिकेगा, अन्यथा वह लुप्त हो जायेगा। सीता ने जैसी भूमि में जाने की इच्छा की वैसे ज्ञान भी भूमि में जाने की इच्छा कर रहा है और वह चला जायेगा। चला गया है, जाने दो। परन्तु यति धर्मसंग्रह में यति के लिए नियम समझाये हैं। यति के लिए जो दूषण माने गये हैं, उनका भी वर्णन इस पुस्तक में है।

मञ्चकं शुल्कवस्त्रं च स्त्रीकथा लौल्यमेव च।
दिवास्वापं च यानं च यतीनां दूषणानि षट्।।

पलंग, रेशमीवस्त्र, स्त्रियों से संभाषण, उनकी बातें, इन्द्रियों का लालनपालन, दिन में सोना, वाहन में घूमना ये छः बातें यति के लिए दूषणास्पद हैं। अत: यति को इनसे दूर रहना चाहिए।

न संभाषयेत स्त्रियं क्वापि पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि।।

स्त्रियों के साथ कभी बातें नहीं करनी चाहिए, पहले देखी हुई स्त्री को कभी याद नहीं करना चाहिए, उनकी बातें भी छोड़ देनी चाहिए, इतना ही नहीं, परन्तु उनका चित्र भी नहीं देखना चाहिए।

अन्न किस रीति से भक्षण करना है यह भी लिखा है। भिक्षा माँगकर खाना है। पाँच-सात घर जाकर भिक्षा माँगनी है। भिक्षा माँगकर आने के बाद क्या करना है? तो लिखते हैं-

अष्टौ भिक्षाः समाधाय स मुनिर्पंच सप्त वा।
अब्दिः प्रक्षाल्य ताः सर्वाः भुञ्जीयात् सुसमाहितः।।

अर्थात् आठ, सात या पाँच घरों में भिक्षा माँगकर उसे एक झोली में रखकर वह झोली नदी या तालाब के किनारे पानी में डूबानी यानी भीतर के पदार्थ, जलेबी आदि जो हों उनमें से सब रस निकल जाए और केवल तत्त्व रह जाय। ऐसा भोजन संन्यासी को लेना चाहिए। यह नियम देखने पर पता चलता है कि सच्चा संन्यासी केवल शरीर टिकने के लिए ही खाता है, स्वाद के लिए नहीं! संन्यासी का जीवन कैसा होना चाहिए?—

एकरात्रं वसेद् ग्रामे पट्टने तु दिनद्वयम्।
पुरे दिनत्रयं चापि नगरे पंचरात्रकम्।।

अर्थात्, गाँव में संन्यासी एक ही रात रहे, फिर बड़े गाँव में दो दिन, नगर में तीन दिन तथा शहर में पाँच दिन रहे। इस अवधि में अधिक किसी भी स्थान में न रहे। उसे यह विचार नहीं करना चाहिए कि 'अधिक समय रहूँगा तो इन लोगों पर उपकार होंगे।' कारण **जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्**— लोगों पर कृपा तथा निष्ठुरता का विचार उसे छोड़ना है। आगे संन्यासी के लिए कुछ वर्जनाएं बतायी हैं।-

न तीर्थसेविवित्तस्यात् नोपवासं करोति यतिः।
न चाध्ययनशीलस्यात् न व्याख्यानपरो भवेत्।।

तीर्थस्थान- तीर्थयात्रा में यति को नहीं ठहरना है क्योंकि तीर्थयात्रा में - तीर्थस्थान में सामान्य लोगों की भीड़ रहती है। तीर्थस्थान में नमस्कार करके चले जाना चाहिए। 'नित्य के लिए वहाँ मठ का निर्माण कर दिया' ऐसा नहीं करना है। यति को उपवास नहीं करना चाहिए। शरीर के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही खाना चाहिए। क्योंकि उसके जीवन के अन्तिम दिन चल रहे हैं। शरीर बिगड़ने से चित्तैकाग्रता भी बिगड़ जायेगी और चित्तैकाग्रता के बिगड़ने से सब कुछ बिगड़ जायेगा। बीस-पचीस दिन का उपवास कौन कर सकता है? जिसको चित्तैकाग्रता नहीं करनी है और केवल दिन भर सोना है वही उपवास कर सकता है। ब्रह्मविद्या के अलावा दूसरा कोई अध्ययन उसे नहीं करना चाहिए, वैसे उसे व्याख्यान आदि भी नहीं देने हैं। उससे लोकैषणा बढ़ जाती है। बहुत नियम हैं। गीता में संन्यास अलग रूप से कहा गया है। अर्जुन प्रश्न पूछता है-

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१८-१।।

'हे महाबाहो हे महापराक्रमी कोशिनामक दैत्य का नाश करनेवाले हृषीकेश! संन्यास और त्याग (कर्मफलत्याग यानी कर्मयोग) इनके तत्त्व अलग-अलग समझने की मेरी इच्छा है।'

तब भगवान ने कहा, **'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः'**— ज्ञानी पुरुष काम्य कर्मों के त्याग को ही संन्यास कहते हैं।' संन्यास लेना नहीं होता, संन्यास देना नहीं होता, संन्यास हो जाता है, संन्यासी बन सकता है ऐसा गीताकार का कहना है। किसी

कारणवश संन्यास लिया तो वह नहीं टिकता। कारण के खत्म होते ही संन्यास भी खत्म हो जाता है। कोई कमा नहीं सकता इसलिए संन्यास लेता है, कोई अपना उत्तरदायित्व नहीं निभा पाता इसलिए संन्यास लेता है, कोई राग-द्वेष के कारण तो कोई शान्ति से रहने के लिए संन्यास लेता है, परन्तु ऐसा संन्यास नहीं टिकता।

भोजराजा के समय की एक बात है। उसमें ऐतिहासिकता कितनी है इसका पता नहीं है, परन्तु कहानी अवश्य है! भोजराजा के दरबार में विद्वत्ता में कालिदास का नित्य प्रथम क्रमाङ्क रहता था। अन्य जितने भी पंडित दरबार में थे वे पनप नहीं पाते। उनको लगता था कि जब तक कालिदस है तब तक हमें तो क्या अपने लड़कों को भी दरबार में स्थान नहीं मिलेगा। कालिदास प्रथम श्रेणी का विद्वान था। उसका स्तर *(Level)* निश्चित हो चुका था। सब पंडित परेशान थे कि क्या किया जाय कि जिससे हमें मान्यता मिले। पंडित लोग कभी एकमत नहीं होते, परन्तु यहाँ स्वार्थ साधना था। सभी पंडितों का एकमत हो गया कि कालिदास को हटायेंगे तो हमें मान्यता मिलेगी। कालिदास को जीवन से उठाना है, मारना नहीं है। सभी पंडित इकट्ठे हो गये और उन्होंने मार्ग ढूँढ निकाला। प्रारंभ में, कालिदास को राजसभा से बहिष्कृत कराने के लिए उन्होंने कालिदास के विरोध में भोजराजा के कान भरने शुरू किये, परन्तु भोजराजा बीसवीं सदी का राजा नहीं था कि किसी के कान भरने पर मान जाय। उसके विचार पक्के थे। सभी पंडित अस्वस्थ हुए। एक दिन प्रात:काल सभी पंडित कालिदास के घर गये। कालिदास ने उन सभी का स्वागत किया। मन में वह सोच रहा था कि ये सब आज मेरी दहलीज पर कैसे आये। पण्डितों ने कालिदास से कहा, संपूर्ण भारत में आपकी तुलना में कोई भी पण्डित आज तो नहीं है। हम पण्डित तो हैं परन्तु आपके जैसी बुद्धि हमारे पास नहीं है। आपका जीवन यशस्विता से चल रहा है....। मनुष्य अंदर से जल रहा है फिर भी मुख से कितना मधुर बोलता है!

उनकी मधुर वाणा सुनकर कालिदास को लगा कि इनमें से एक ने भी आज तक मेरी प्रशंसा नहीं की मगर आज ये सब अकस्मात् मेरी प्रशंसा करने लगे हैं। आज अकस्मात् मेरे प्रति इनके प्रेम में उबाल कैसे आया?

पण्डित आगे कहने लगे, 'कालिदास! हम सभी ने दीर्घकाल राजदरबार में पण्डिताई की है। अब कब तक दरबार में पण्डित्य व कवित्व करते रहेंगे? अब हम सब वृद्ध हो गये हैं। अब तक प्रेयस की उपासना की परन्तु अब जीवन का अन्तिम कल्याण करना चाहिए या नहीं? श्रेयस् करने के लिए चतुर्थाश्रम में प्रेवश करके जीवन का कल्याण करेंगे तो? कैसे लगता है आपको?'

कालिदास ने मन में विचार किया, 'संन्यास अर्थात् **काम्यानां कर्मणां न्यासं!** संन्यास थोड़े ही लिया जाता है! संन्यास तो हो जाता है। और आज ये सब संन्यास लेने को तैयार हुए हैं। मैंने यदि ना कहा तो सारे जगत् में मेरी बदनामी करते फिरेंगे कि, कालिदास बूढ़ा हो गया परन्तु उसकी आसक्ति नहीं छूटती है।' परन्तु कालिदास तो कालिदास! उसने तत्काल उत्तर दिया, आपका कहना बहुत ही ठीक है। मैं इसी दिन की

राह देख रहा था। यदि आप संन्यास लेते हैं तो मैं भी आपके साथ संन्यास लूँगा।' पण्डितों को विश्वास हो गया कि अब अपना काम आसानी से सफल होगा। उन्होंने भोजराजा तक यह बात पहुँचा दी।

कालिदास भी संन्यास लेनेवाला है यह बात सुनकर भोजराजा को बहुत दुःख हुआ। उसने कालिदास को मनाने का बहुत प्रयत्न किया। वह बोला, 'कालिदास! संन्यास किसे कहते हैं इसकी क्या तुम्हें जानकारी नहीं है? तुम क्यों संन्यास ले रहे हो भला? इनको संन्यास लेना है तो लेने दो। तुम संन्यास लेने की बात छोड़ दो!

कालिदास ने कहा, 'महाराज! आप मेरे अध्यात्म के बीच में न आइए। मुझे अब संन्यास लेकर जीवन का अन्तिम कल्याण करना है। मैं तो संन्यास लेनेवाला ही हूँ।'

भोजराजा को एक ही दुःख हुआ कि कालिदास जैसा बुद्धिशाली मनुष्य इन लोगों के साथ क्यों जा रहा है? यदि संन्यास ही लेना है तो उसको कौन रोक सकता है? अन्त में राजा ने दरबार बुलाकर कालिदास व अन्य पंडितों को विदा दी।

दूसरे दिन कालिदास के साथ चौदह पण्डितों का समूह काशी पहुँच गया। वहाँ पहुँचने पर सब प्रबुद्धानंद भारती नामक संन्यासी से मिले और बोले, 'महाराज! हमें संन्यास की दीक्षा ग्रहण करनी है।' संन्यासी ने कहा, 'ठीक है! कल प्रातःकाल तुम सब लोग स्नान करके आओ।'

दूसरे दिन प्रातःकाल सभी ने गंगास्नान किया और तैयार होकर प्रबुद्धानन्द भारती के पास आ गये। प्रबुद्धानन्द ने कहा, प्रथम मुझे तुम्हारा अधिकार देखना पड़ेगा और योग्य लगा तो मैं संन्यास की दीक्षा दूँगा। प्रथम कौन दीक्षा ग्रहण करता है?' जैसे कि पहले ही निश्चय किया था, सभी ने कहा, 'कालिदास राजसभा में प्रथम स्थान तुम्हारा ही था। तुम हम सब में श्रेष्ठ हो। अतः अग्रपूजा का मान प्रथम तुम्हें ही मिलना चाहिए। सर्वप्रथम दीक्षा तुम्हें ग्रहण करनी चाहिए।' कालिदास उनका हेतु समझ गया था। उसको लगा कि निश्चित ही इसके पीछे कोई षड्यन्त्र है, दाल में काला है। परन्तु कालिदास थोड़े ही कच्चे गुरु का चेला था! उसने कहा, आपकी बात सत्य है, परन्तु अब हम राजदरबार में कहाँ हैं? आप सब उम्र में मुझसे बड़े हैं और संन्यास लेना आध्यात्मिक बात है, इसमें भी आप मुझसे बड़े ही हैं। आपने ही मुझे संन्यास लेकर इस संसार के जंजाल में से छूटने की प्रेरणा दी है। अतः आपकी विरक्ति श्रेष्ठ प्रकार की होने से आपको ही पहले संन्यास लेना है, बाद में मैं लूँगा।'

सभी पण्डित सोच में पड़ गये कि यह तो विपरीत हो गया। अब कौन बोले? परन्तु जो पेट में होता है वह होंठो पर आये बिना नहीं रहता। उनमें से एक अविवेकी व उतावले पंडित ने झट् से कह दिया, 'हम सभी ने संन्यास की दीक्षा ग्रहण की और अन्त में तुमने दीक्षा ग्रहण नहीं की तो?' कालिदास समझ गया। उनके पेट में जो था वह बाहर आ गया कि सब पंडित एक होकर मेरा मुंडन करवाना चाहते हैं, परन्तु मैं उनका मुंडन

कराऊँगा तभी कालिदास कहलाऊँगा।' गंभीर चेहरा बनाकर कालिदास ने कहा, 'आप मुझ पर अविश्वास क्यों करते हो? कदाचित् मैं अपरिपक्व होऊँगा, परन्तु मैं गुरु महाराज के सामने ही सच कहता हूँ कि यदि गुरु महाराज मुझे संन्यास देंगे तो मैं अवश्य लूँगा।'

पण्डितों को शंका तो थी ही, परन्तु उनको लगा कि गुरु महाराज थोड़ी ही ना कहेंगे? फिर भी उनका कालिदास पर विश्वास था। सब पण्डित बारी-बारी से गुरु महाराज के पास गये।

पहले पण्डित से गुरु महाराज ने पूछा, 'तुम्हारी अन्तिम इच्छा क्या है?' उसने कहा-

कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ त्रिपुरहर शम्भो त्रिनयन
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्।।

मैं अब कौपीन धारणकर, हाथ जोड़कर, 'हे गौरीनाथ! हे त्रिपुरहर! हे शम्भो! हे त्रिनयन! मुझ पर प्रसन्न होइये' ऐसा कहते-कहते वाराणसी में गंगा के किनारे पर बैठकर निमिषमात्र उर्वरित अपनी आयु बिताऊँगा, यही मेरी इच्छा है।'

गुरु महाराज ने प्रसन्न होकर उसको दीक्षा दी और उसका नाम शंकरानन्द भारती रखा। दूसरे पण्डित से पूछा, 'तुम्हारी इच्छा क्या है?' उसने कहा-

कदा वा साकेते विमलसरयूतीरपुलिने
चरन्तं श्रीरामं जनकतनयालक्ष्मणयुतम्।
अये रामस्वामिन् जनकतनयावल्लभ विभो
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्।।

'अयोध्या में शरयू के किनारे रहकर 'राम राम' जपते हुए शेष आयु पूर्ण करने की मेरी इच्छा है।' उसको भी दीक्षा देकर उसका नाम रामानन्द भारती रखा।

तीसरे ने कहा, 'मेरी एक ही इच्छा है-

कदा वृन्दारण्ये विमलयमुनातीरपुलिने
चरन्तं गोविन्दं हलधरसुदामादिसहितम्।
अये कृष्णस्वामिन् मधुरमुरलीवादन विभो
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्।।

'जहाँ भगवान श्रीकृष्ण ने नृत्य किया, क्रीड़ा की ऐसे पवित्र यमुना के तट पर वृंदावन में जाकर बलराम, सुदामा आदि सहित विचरण करते हुए श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए अपनी शेष आयु बिताऊँगा।' एक यही इच्छा रही है।

उसको भी दीक्षा दी गयी और उसका नाम कृष्णानन्द भारती रखा। इस प्रकार चौदह पण्डितों को दीक्षा दी गयी। अन्त में कालिदास की बारी आयी। सबकी दृष्टि कालिदास पर ही थी। उसीका मुण्डन कराने के लिए षड्यन्त्र रचा गया था। उसके संन्यासी बनने से ही उनका संन्यासी बनना सार्थ होनेवाला था।

कालिदास आगे बढ़ा और उसने गुरु महाराज को नमस्कार किया। गुरु महाराज ने पूछा, तुम्हारा नाम कालिदास? ओ हो हो। धारानगरी के प्रथम पण्डित! बताइये तुम्हारी इच्छा क्या है? कालिदास ने कहा-

कदा कान्तागारे परिमलमिलत्पुष्पशयने
शयानः श्यामायाः कुचयुगमहं वक्षसि वहन्।
अये स्निग्धे मुग्धे चपलनयने चन्द्रवदने
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्।।

'गुरुदेव! आपके सामने झूठ नहीं बोलूँगा। बोलूँगा तो महापाप लगेगा। मेरे मन में तो इस समय संसार रम रहा है, और दृष्टि के सामने अपनी प्रियतमा का मुख दिखायी दे रहा है। मेरा तो उसके साथ संसारी भोगों को भोगते हुए शेष आयु बिताने का विचार है।'

यह सुनकर गुरु महाराज ने कहा, 'अरे रे! यह इच्छा होने से तुम संन्यास के अधिकारी नहीं हो, तुम यहाँ से चले जाओ।' कालिदास उठकर चल पड़ा। सभी पण्डितों ने बहुत हो हल्ला किया और कहा, 'महाराज! इसको कहाँ जाने देते हो? इसी का तो प्रथम मुण्डन करवाना था। इसीलिए तो हम सभी ने संन्यास लिया है अन्यथा हमें कहाँ संन्यास लेना था?

फिर गुरु महाराज ने उनको संन्यास का तत्त्वज्ञान समझाया कि चित्तक्षोभ से संन्यास नहीं आता।

गीता कहती है कि संन्यासी हुआ जाता है। किसी अपेक्षा से दिया हुआ या लिया हुआ संन्यास, संन्यास नहीं है। बनाने से कोई संन्यासी नहीं बनता। मनुष्य की विशिष्ट प्रकार की आध्यात्मिक व नैतिक वृत्ति को संन्यास कहते हैं। गीताकार भगवान श्रीकृष्ण, उपनिषदकार तथा ऋषि इनकी दृष्टि में सबके साथ मित्रता संवर्धन करनेवाली, किसी के साथ दुश्मनी न रखनेवाली, किसी के प्रति नफरत नहीं है ऐसी एक वृत्ति निर्माण हुई कि वह व्यक्ति संन्यासी कहा जाता है। हमारे दिल में जहाँ स्वार्थ नहीं होता वहाँ नफरत खड़ी होती है, कम से कम तटस्थता आती है, परन्तु मित्रता नहीं आती। संन्यासी सबके साथ मित्रता का सम्बन्ध रखता है। किसी ने झगड़ा किया, गाली दी तो भी वह शान्त रहता है। वह किसी का अनादर नहीं करता है और न किसी के साथ बैर रखता है। उसका किसी को डर नहीं लगता और न वह किसी से डरता है। वह सबको अपना लगता है। उसके मन में एक ही चिन्तन चलता रहता है कि ये पारिवारिक लोग अपना श्रेयस् नहीं समझते, इससे उनकी दुर्गति होगी, वह नहीं होनी चाहिए कारण उनके अन्तःकरण में जो भगवान बैठे हैं

वे ही भगवान मेरे भीतर भी बैठे हैं। मुझे अन्दर बैठे हुए भगवान ने जागृत किया और अच्छा बनाया है, इसलिए सभी लोगों को जागृत करना है' ऐसी एक ज्वलन्त वृत्ति उसके अन्त:करण में निरन्तर रहती है। इसीको संन्यास कहते हैं। संन्यास यानी विशिष्ट जीवनवृत्ति। नैतिक और आध्यात्मिक जीवनवृत्ति को संन्यास कहते हैं।

गीताकार ने स्पष्ट भाषा में कहा है- **'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु:'- 'काम्य कर्म- सम्यक् न्यास:-** . अच्छी तरह से सौंपना न्यास करना है' उसको संन्यास कहते हैं। हमारे पास कौन सी पूँजी है? कर्म और कर्मफल यह हमारी अन्तिम पूँजी है। वित्त हमारी पूँजी नहीं है, कारण अन्त में वह यहीं रहने वाली है। मृत्यु के बाद हमारे साथ हमारा कर्म ही आनेवाला है। अत: कर्म ही हमारी पूँजी है। कर्म और कर्मफल भगवान को प्रेमपूर्वक सौंपना है, वह फेंकना नहीं है, उसका त्याग नहीं करना है। ऐसा समझाया है। त्याग घृणा से निर्माण होता है, परिणाम के भय से भी त्याग होता है। किये हुए कर्म का फल आज नहीं तो कल भोगना ही पड़ेगा। फल का स्वीकार करने से परेशानी होती है, उसकी अपेक्षा छोड़े देंगे तो शान्ति मिलेगी ऐसी कितने ही लोगों की समझ है।

विवाह में लड़की का हाथ किसी को सौंपा जाता है। जो हाथ सौंपता है वह निश्चिंत बनता है और जो हाथ पकड़ने वाला होता है उसकी नींद हराम हो जाती है। इसका कारण उसको सँभालना है। सर्वत्र ऐसा ही है। इसलिए जो कर्मफल है उसको भगवान को सौंपना है। न्यास शब्द का अर्थ सौंपना है। आज हम हँसते-हँसते कर्म करेंगे तो कदाचित् कल उनका फल रोते-रोते भोगना पड़ेगा। कर्म से डरकर यदि कर्म छोड़ देंगे तो वह संन्यास नहीं है। कर्म के प्रति प्रेम होना चाहिए, धिक्कार से नहीं, परिणाम के भय से नहीं, अपितु भक्तिपूर्ण प्रेम से कर्म भगवान को सौंपना ही संन्यास है। जो मेरे पास है. जो केवल मेरा-अपना है, वह भगवान! मुझे आपको सौंपना है। क्या है मेरे पास? भगवान! आप ही ने गीता में बताया है न कि :

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।

जो मेरा ही है, सिर्फ मेरा ही है, न लड़के का, न बाप का, न पति का, न पत्नी का, जिस पर किसी का नाम नहीं है वह मेरा ही खाता *(Account)* है। वह किसी के खाते में जमा नहीं होता है। चित्रगुप्त, जो यह हिसाब रखता है एक जबरदस्त शक्ति है। उसके यहाँ कोई गड़बड़- घोटाला नहीं होता और खाते में जो और जितना जमा होता है वही मिलता है। ओवर ड्राफ्ट नहीं मिलता। जो कर्म मेरा है वह प्रेम से, भक्ति से भगवान को सौंपना है।

खाते समय, सोते समय, चलते समय, बोलते समय, सत्कर्म करते समय भगवान मेरे साथ हैं। कोई भी कृति मैं अकेला नहीं कर सकता। भगवान की शक्ति के बिना मैं

कोई भी कृति नहीं कर सकता। भगवान मेरे साथ हैं तो मुझे कर्म करना ही है। मुझे कर्म के प्रति प्रेम है, वह कर्म मेरा है इसलिए वह मुझे भगवान को देना है। कर्म भगवान को देने के दो मार्ग हैं। एक ज्ञान से दे सकते हैं और दूसरा प्रेम- भक्ति से दे सकते हैं। इस रीति से कर्म भगवान को देना, इसीको संन्यास कहते हैं।

भगवान को ज्ञान से कर्म देना क्या है? जो कर्म मैं करता हूँ वह मेरा नहीं है, इसका कारण उसमें मेरी-अपनी शक्ति नहीं है। कर्म में शक्ति मेरी नहीं, वैसे संकल्प भी मेरा नहीं है, संकल्प भी उन्होंने किया है। फिर उस पर मेरा अधिकार कैसा? जिस शक्ति से मैं खाता हूँ, बोलता हूँ, कमाता हूँ, देता हूँ वह शक्ति मेरी नहीं है। जो क्रिया मेरी शक्ति से नहीं हुई उस पर मेरा अधिकार ही नहीं, ऐसा ज्ञान हो तो उस ज्ञान से कर्म भगवान को दे सकते हैं। क्रिया भगवान की शक्ति से हुई यह बात सत्य है, परन्तु संकल्प तो मेरा ही था न? नहीं, संकल्प करनेवाले भी भगवान ही हैं। इस प्रकार संकल्प, शक्ति भगवान की, साधन भी भगवान के, फिर जो कर्म हुआ उस पर मेरा नाम कैसे आयेगा? यह समझ ज्ञान से आती है और उससे कर्म भगवान को सौंपे जाते हैं। यह संन्यास ज्ञान से आया, ऐसा कहा जाता है।

दूसरा रास्ता, भक्ति से भगवान को कर्म सौंपने का है। भगवान! मेरा कर्म पर बहुत प्रेम है, मुझे कर्म तो करना ही है, परन्तु आपके लिए करना है, आपको वह अर्पण करना है। शंकराचार्य कहते हैं, **'जननि जननं यातु मम वै मृडानी रुद्राणी शिवशिव भवानीति जपतः।'** भगवान मुझे जन्म दो! किसलिए? मुझे आपका काम करना है। तुकाराम महाराज कहते हैं, **न लगे मुक्ती धन सम्पदा- सन्त सङ्ग मिळो सदा... तुका म्हणे गर्भवासी सुखे घालावे आम्हांसी..।** मुझे जन्म दो। गर्भवासी का दुःख सहन करने के लिए मैं तैयार हूँ। ये महान् भक्त कर्म से नहीं डरते थे, उनको कर्म से नफ़रत नहीं थी। वे कहते, भगवान हमने अच्छे कर्म किये वे हमारे पास हैं। वही हमारी पूँजी है, हमारे पास दूसरा कुछ नहीं है। हम वृक्ष का फूल तोड़ते हैं और आपके चरणों में चढ़ाते हैं, पर फूल खिलाया किसने? उसमें सुगंध भरी किसने? उसमें हमारा कोई कर्तृत्व नहीं है, प्रभाव भी नहीं है। आपका ही प्रभाव उठाकर **त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत्** इस प्रकार के कर्म के सिवाय हमारे पास कुछ नहीं है। हमारे कर्म पर हमारा नाम है, वह कर्म प्रेम से आपको समर्पित करना है।' ऐसा कहकर भक्त प्रेम से, भक्ति से भगवान को कर्म सौंप देता है। ज्ञान तथा भक्ति से कर्म भगवान को सौंपना है। इन दो रीतियों से संन्यास समझाया गया है। गीताकार ने जो संन्यास समझाया है वह यह है। **काम्यानां कर्मणां न्यासं-** यहाँ न्यास का अर्थ 'छोड़ना' नहीं है। न्यास का अर्थ समझ लेना चाहिए। लोग न्यास का अर्थ नहीं समझते इसलिए विपरीत अर्थ करते हैं। भगवान भी कहते हैं- **'काम्यानां कर्मणां...कवयो विदुः'** 'फल की इच्छा से किये जानेवाले कर्मों का त्याग यानी संन्यास है' ऐसा **कवयो विदु...** कवि ज्ञानी लोग कहते हैं, मैं नहीं कहता हूँ। यहाँ कवि यानी तत्त्वज्ञानी। जिसको आत्मसाक्षात्कार *(self realization)* हुआ है उसको कवि कहते हैं। कवि शब्द यहाँ

तत्त्वदर्शी के लिए प्रयुक्त किया है। ईशावास्योपनिषद में कहा है,- **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।'** 'क्रान्तदर्शी सर्वद्रष्टा, ज्ञानस्वरूप, सर्वव्यापक, स्वेच्छा से प्रकट होनेवाला, अनादि काल से सब प्राणियों के कर्मानुसार यथायोग्य संपूर्ण पदार्थों की रचना करता आया है।' **'काम्यानां कर्मणां न्यासं'** को ये कवि संन्यास कहते हैं। भगवान कहते हैं कि ये मनीषी जो कहते हैं उसको मेरी अनुमति होती है। इस प्रकार गीता ने एक भिन्न ही संन्यास समझाया है और उपनिषदों ने एक विशिष्ट नैतिक और आध्यात्मिक जीवनवृत्ति को संन्यास कहा है। यह संन्यास देने का, लेने का प्रश्न नहीं है। संन्यास हो जाता है। इस प्रकार भागवत में चार आश्रमों का वर्णन है।

उसके बाद इस एकादश स्कन्ध में विभूतिदर्शन है जो अतिशय सुन्दर है। गीता का विभूतिदर्शन अद्भुत होने के कारण, गीता का संकलन करनेवाले वेदव्यास भागवत के लेखक हैं ऐसा पण्डितों को नहीं लगता। अर्थात् हम उनको जवाब दे सकते हैं कि वेदव्यास ने गीता में भगवान ने जो कहा है उसका संकलन किया है और भागवत में जो उनको स्वयं लगा वह उन्होंने लिखा है। जिनको गीता का इनता सुन्दर विभूतियोग अध्याय मालूम है वे वेदव्यास भागवत में ऐसा नहीं लिखेंगे ऐसी पण्डितों की मान्यता है। अतः वे पुरातन वेदव्यास भागवतकार व्यास नहीं होंगे ऐसा मानते हैं। इसका संशोधन करने का ऐतिहासिक काम लोगों का है, हमारा नहीं है। हमारा काम तो, हाथ में फूल आया है उसकी सुगंध लेना है, इतना ही है। भागवत का फूल हमारे हाथ में आया है, उसका सौंदर्य कैसा है, सुगंध कैसी है यह देखने का काम हमारा है। भागवत किसने लिखा, कब लिखा, कहाँ लिखा इससे हमें क्या करना है? गुलाब का फूल हाथ में आया कि वह सूँघना है। उसका निर्माता माली कैसा था, काला था या गोरा था, यह देखने का हमें क्या कारण है? उसका भी मूल्य है, नहीं है ऐसा नहीं कहता हूँ, परन्तु वह सब हमें नहीं देखना है। अन्तिम भक्ति में विभूति का एक दृष्टिकोण होना चाहिए ऐसा भागवतकार को कहना है, जैसा गीता को कहना है। किसी भी वस्तु या व्यक्ति की ओर आप किस दृष्टि से देखेंगे? भोग, भाव या भक्ति की दृष्टि से? गीताकार कहते हैं कि वस्तु या व्यक्ति की ओर भाव और भक्ति की दृष्टि से देखेंगे तभी भक्ति का उन्नत अर्थ *(Sublimation)* हो सकता है। इसलिए वस्तु पदार्थ या व्यक्ति की ओर भोग की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। भोगदर्शन या विभूतिदर्शन में से आप कौन सा लेंगे? विभूतिदर्शन लेना चाहिए ऐसा उनका कहना है।

अन्त में, एकादश स्कन्ध में बहुत तत्त्वज्ञान कहा है। कितने ही लोग एकादश स्कन्ध छोड़ देते हैं। दशम स्कन्ध पूर्ण हुआ कि भागवत को नमस्कार करके चले जाते हैं।

भागवत कहता है कि भक्ति और अध्यात्म में अहंभाव *(Sense of individuality)* की समस्या है। अहंभाव यानी पैसा या कीर्ति से आया हुआ अहंकार नहीं है। मनुष्य के जीवन में अहंभाव नहीं रहेगा तो वह आलसी बनेगा, उससे कर्म ही नही होगा। पुरुषार्थ खत्म हो जायेगा। कितने ही लोग कहते हैं कि हम से कुछ नहीं होगा। जैसी भगवान की इच्छा होगी वैसा होगा- **'असेल माझा हरी तर देईल खाटल्यावरी।'** ऐसी एक

अकर्मण्यता, पुरुषार्थहीनता निर्माण होगी, जिससे संपूर्ण जीवन ही खत्म हो जायेगा। अहंभाव रखेंगे तो वासना *(will to become something)* बढ़ जायेगी। 'मुझे कुछ बनना है- *(will to become)*' आने के बाद *Crave for becoming something* निर्माण होता है। उसीको भव कहते हैं। मुझे बनना है- **वित्तवान् भव, विद्यावान् भव, पुत्रवान्** भव- इस भव का अर्थ 'मुझे बनना है' वह मनुष्य के पीछे लगा हुआ ही है। उससे नहीं छूट सकते। अहंभाव से वासना खड़ी होती है और 'भव' खड़ा होता है और यदि अहंभाव निकाल दिया तो क्रियाहीन, पुरुषार्थहीन बनते हैं। तो क्या करना चाहिए? यह एक समस्या है।

अध्यात्म और भक्ति-दोनों में यह समस्या है। उसमें से कोन सा रास्ता निकालेंगे? हमारा भक्तिशास्त्र और भागवतकार उसमें से एक ही रास्ता निकालते हैं- **'भक्ति।'** अहंभाव को पकड़ रखना मिथ्या है और छोड़ना कठिन है। इसके लिए भक्ति का मार्ग दिखाया है। अहंभाव को मारना नहीं है, रखना भी नहीं है! तो? अहंकार भगवान को देकर उसका उपयोग करना इसका नाम भक्ति है। भागवतकार ने वेदांत का अन्तिम रूप समझाते हुए कहा है कि अहंभाव मारना नहीं है, वह भगवान का रूप है, वह भगवान को दे दो यह भक्ति का अर्थ है। भक्ति में धिक्कार नहीं, स्वीकार नहीं, अहंभाव भगवान के चरणों में रखकर फिर उसको जीवन-विकास के लिए उपयोग में लाना है। फिर अहंभाव हैरान नहीं करेगा। ज्ञान का यह अन्तिम परिणाम है।

उसके बाद एकादश स्कन्ध में यादवों का संहार आता है। भगवान श्रीकृष्ण शान्ति से देहाध्यास करते हैं। जिस व्याध ने उनको बाण से विद्ध किया था उसका भी उद्धार करते हैं और बाद में संपूर्ण द्वारिका समुद्र में डूब जाती है। यहाँ एकादश स्कन्ध पूर्ण होता है।

द्वादशः – स्कन्धः

द्वादश स्कन्ध अन्तिम स्कन्ध है। उसमें विविध राजवंशों का वर्णन है। ऐतिहासिक लोगों को उसमें गलती लगती है, मगर वह उनका विषय है। उसके बाद परीक्षित राजा को तक्षक नाग डंसता है उसका वर्णन है। उसके बाद परीक्षित-पुत्र जनमेजय का सर्पसत्र बताया गया है, वैसे ही इस स्कन्ध में कलियुग का वर्णन आता है।

कलियुग के सम्बन्ध में भारतीयों की ऐसी मान्यता है कि विचार बदलते हैं, विचार करने *(Thinking)* का जो स्रोत *(source)* है वही बदल जाता है। विचार तो चलता ही रहता है। वसिष्ठ विचार करते थे तो क्या आज के वैज्ञानिक विचार नहीं करते? वे भी विचार करते हैं। परन्तु उनके विचारों का लक्ष्य, उनके पीछे की शक्ति और वासना बदल जाते हैं। विचार का लक्ष्य ही विचारधारा में पवित्रता निर्माण करती है। शब्द को पवित्रता नहीं है, परन्तु शब्द का कौन उच्चार करता है, शब्द का हेतु और लक्ष्य क्या है इससे उसकी पवित्रता निश्चित होती है।

भारतीय दृष्टिकोण ऐसा है कि आज विद्या, विचार, वेद आदि के सम्बन्ध में अनर्थ हो गया है। वेद का अर्थ है विचारपूजन! जब विचारपूजन नष्ट हो जाता है, विचार जब वासना का गुलाम बनते हैं, वासनापूजन का पर्याय- साधन बन जाते हैं वही कलियुग का दर्शन है। कलियुग में लोग पैर ऊपर करके सिर के बल नहीं चलते, परन्तु कलियुग में जीवनविषयक ज्ञान की उपेक्षा होती है और जीविका के विचारों को ही प्रधानता दी जाती है। कलियुग में जीविका के सिवाय अन्य किसी बात का विचार ही नहीं होता, ऐसा कलियुग का वर्णन है। भविष्यपुराण में लिखा है, ''**विद्याग्रहणशून्यत्वात् अधर्मो भवति सूतः?**' जीवनविषयक ज्ञान को विद्या कहते हैं। उसकी लोग उपासना नहीं करते, परन्तु

जीविकाविषयक ज्ञान- *(Job Oriented education)* को ही सर्वस्व मानते हैं, उसीको कलियुग कहा जाता है। जीविकाविषयक ज्ञान ही सर्वस्व है ऐसा कहने में लोगों को गौरव लगता है। सभी पढ़े लिखे लोग आज कहते हैं कि ज्ञान जीविकालक्षी। *(Job oriented)* ही होना चाहिए। ऐसी परिस्थिति जब आती है तब उसकी व्यथा भी चली जाती है। ऐसे काल में जीवनविषयक ज्ञान हमें नहीं मिलता इसका भी दुःख लोगों को नहीं होता। उलटे वे जीविकाविषयक ज्ञानप्राप्ति का ही समर्थन करते हैं। भागवतकार कलियुग का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि सभी वर्णधर्म छोड़ देंगे तो संपूर्ण समाज अर्थप्रधान बनेगा। इतना ही नहीं, मनुष्य भगवान के पास अर्थप्राप्ति के लिए ही जायेगा। भागवत में जो लिखा है वैसा ही कलियुग का वर्णन भविष्यपुराण में भी है। उन्होंने जो लिखा है वह सब हम आज आँखों से देख भी रहे हैं। फिर उसका वर्णन क्या करना? ब्राह्मण्य कैसा हो जायेगा? भागवतकार व भविष्यपुराणकार सरीखा ही वर्णन करते हैं।

जीवनविषयक विद्या ही नष्ट होगी। केवल जीविका का ही ज्ञान मिलेगा। आज लोग संस्कृत पढ़ते हैं वह भी भागवत की कथा करने के लिए पढ़ते हैं। जो जीवनविषयक ज्ञान समाज को नहीं चाहिए उसे वे नहीं पढ़ते। किसी भी ब्राह्मण से पूछो कि क्या तुम न्यायशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, ब्रह्मसूत्र पढ़ते हो? तो वह कहेगा कि 'नहीं! कारण उसकी आज समाज में कोई आवश्यकता नहीं है।' सबको भागवत की, पुराणों की कथाएं ही सुननी हैं, इसलिए ब्राह्मण भी पुराणों में से पढ़कर बता सके उतना ही संस्कृत पढ़ता है। जिसको कथाएं अच्छी तरह से करना आता है उसको दक्षिणा भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। अंग्रेज जो शिक्षा लाये वही जीविकालक्षी थी ऐसा नहीं है। आज की संस्कृत की शिक्षा भी उसी ढंग से चलती है। उसमें उपजीवन यह प्रमुख बात है। ऐसी स्थिति आती है तब विचार खत्म हो जाते हैं। जिस समाज में विचार दुर्बल बने, विचारों में अर्थप्रधानता आयी, विचारों में से जीवनविषयक ज्ञान चला गया, विचार वासनापूर्ति का साधन बन गये उस समाज में वही कलियुग की अवस्था मानी गयी है।

कलियुग में ब्राह्मण कैसे होगा? तो कहते हैं—

साधूनां विधवानां च वित्तान्यपहरन्ति च।
न व्रतानि चरिष्यन्ति ब्राह्मणाः द्रव्यलोलुपाः।।

पहले ब्राह्मण चरित्र व प्रेम से सबके पास जाते थे। उनमें लोगों के प्रति प्रेम था, उनके पास चरित्र का प्रभाव था। वे लोगों के पास पैसों के लिए नहीं और पैसों से भी नहीं जाते थे। पैसों से लोगों के पास जाना व्यर्थ है, वैसे पैसों के लिए भी लोगों के पास जाना व्यर्थ है।

इस श्लोक में कहते हैं कि **साधूनां** - जो सरल वृत्ति के लोग हैं वे वहमी बन जायेंगे और उनकी वृत्ति का लाभ उठाकर ब्राह्मण उनका वित्त हरण करेंगे। धर्म की नींव में वहम घुस गया कि खलास! ब्राह्मणों को लगता है कि समाज में वहम बढ़ेगा तभी अपनी

उपजीविका चलेगी। कलियुग में ब्राह्मण सरल लोगों का व विधवाओं का धन हरण करेंगे। **न व्रतानि चरिष्यन्ति-** ब्राह्मण व्रतों का आचरण नहीं करेंगे। **'ब्रह्म वेदः। तदध्ययनार्थ- व्रतमपि ब्रह्म तत् चरतीति ब्रह्मचारी'** ऐसी ब्रह्मचारी की व्याख्या पाणिनि ने की है। ब्रह्म का अर्थ है वेद व वेदविचार। ब्रह्म का अर्थ है भगवान! विचार और भगवान के लिए समाज के अन्तिम व्यक्ति तक पहुँचना ब्राह्मण का काम है। यही काम आज ब्राह्मण नहीं करते। कलियुग में ब्राह्मण **द्रव्यलोलुपाः-** द्रव्यलोलुप बनेंगे। कलियुग का बहुत बड़ा विस्तृत वर्णन है। वह सब यहाँ नहीं कहता हूँ।

ब्राह्मण कैसे होंगे यह बताया। फिर आते हैं क्षत्रिय। कलियुग का वर्णन देखेंगे या करेंगे? जो देखने को मिलता है उसका वर्णन करने की कौन सी आवश्यकता है? यदि कहूँगा तो शब्दों को भी कुछ मर्यादा रहती है। फिर भी क्षत्रिय कैसे होंगे यह कहता हूँ-

राजानो द्रव्यनिरताः तथैवान्यायवर्तिनः।।
पीडयन्ति प्रजाः सर्वे करैरत्यर्थवर्जितैः।।

राजा द्रव्य (धन) इकट्ठा करने में मग्न रहेंगे। उनके मस्तिष्क में अर्थतंत्र और बजेट का ही विचार घूमता रहेगा। पहले वर्ष भर में एक ही बजेट प्रकाशित होता था। अब तो वर्ष में दो-तीन बजेट बाहर आने लगे हैं। धन को ही सर्वस्व मानकर राजा राज्य करेंगे। जिधर से लाभ होगा उस क्षेत्र में राजा पदार्पण करेगा। जिसका राजा व्यापारी उसकी प्रजा भिखारी। राजा व्यापार नहीं कर सकता। इसका कारण, उसको प्रशासन देखना पड़ता है। उसीमें उसकी शक्ति लगी होती है। न्यायसंस्था भी कमजोर होगी। कलियुग में न्यायसंस्था पर कोई विश्वास नहीं करेगा, ऐसा कहा है। वास्तव में न्यायसंस्था ऐसी होनी चाहिए कि जिस पर सभी का विश्वास हो। कहा है कि कलियुग में न्यायासन पर बैठने वाले इतने वासनालोलुप बन जायेंगे कि न्यायसंस्था पर से लोगों का पूरा विश्वास उठ जायेगा। दूसरे, सरकार अत्यधिक कर *(Tax)* बिठाकर संपूर्ण प्रजा को पीड़ा देगी। आज जो दिखायी दे रहा है वही दो हजार वर्ष पूर्व लिख रखा है। लोग कहते हैं कि यह वर्णन बहुत पुराना नहीं होगा। यह सब वेदव्यास का लिखा हुआ नहीं होगा। फिर भी भागवत में जो कलियुग का वर्णन है वह दो हजार वर्ष पूर्व लिखा हुआ है इतना तो कबूल करना होगा। इतनी दीर्घदृष्टि रखकर लिखा है कि ऐसा..ऐसा समाज होगा, तो यह लिखनेवाले वेदव्यास नहीं होंगे तो दूसरा कौन होगा? ऐसी अवस्था आयेगी कि-

द्विषन्ति पितरं पुत्राः भर्तारं च स्त्रियोखिलाः।
परस्त्रीनिरताः सर्वे परद्रव्यपरायणाः।।

परिवार में अत्यधिक भाव तथा प्रेम का माता-पिता का सम्बन्ध *(Relation)* नष्ट हो जायेगा। यही शंकराचार्य ने भी लिखा है-

अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा विहिता नीतिः।।

माता-पिता का सबस अधिक भाव, प्रेम अपने पुत्रों के प्रति होता है। यह आत्मीयता सम्बन्ध ही खत्म हो जायेगा। अपत्य माँ-बाप की आनन्द-ग्रन्थि होनी चाहिए- **'आनन्दग्रन्थिरेकोऽयं अपत्यमिति पठ्यते।'**- सन्तान माता-पिता का द्वेष करेगी और स्त्रियां पति का द्वेष करेंगी। सभी- **सर्वे** शब्द प्रयुक्त किया है। परस्त्री की ओर आकर्षित होंगे और परद्रव्यपरायण बन जायेंगे। स्त्रियों का अपने पतियों पर प्रेम नहीं रहेगा, आदर भी नहीं रहेगा। साथ में रहना होगा तो समझौता *(adjustment)* करना पड़ेगा। पति-पत्नी कैसे भी हों पागल भी क्यों न हों, साथ रहना ही पड़ेगा, अन्यथा करेंगे क्या? बहुत वर्णन किया है। किसी को नहीं छोड़ा है। **परद्रव्यपरायणाः**- दूसरे की जेब का पैसा अपनी जेब में कैसे आयेगा इसका ही सब विचार करेंगे। समाज भी वही विचार करेगा। मन्दिर बनाना है, किसलिए? पैसों के लिए! कथा सुनानी है अथवा सुननी है। क्यों? पैसों के लिए! पैसों के सिवाय दूसरा विचार ही नहीं। फिर कहते हैं-

पृथ्वी निष्फलतां याति बीजं पुष्पं च नश्यति।
वेश्या लावण्यशीलेषु स्पृहा कुर्वन्ति योषितः।।

पृथ्वी निष्फल -यानी कम फल देगी, बीजों व पुष्पों का नाश होगा। आप तनिक वाग्भट खोलकर तो देखो, उसमें कितने फूलों का वर्णन है! कितने ही फूलों के नाम ऐसे हैं जो फूल आज कहीं देखने को भी नहीं मिलते। कहाँ चले गये वे सब फूल? प्रकृति के राज्य में से तो सब वैभव चला गया है। आज जो पाँच दस प्रकार के फूल दिखायी देते हैं उनको ही हम फूल कहते हैं। परिवार की स्त्रियाँ वेश्याओं के जैसा वस्त्र-परिधान यानी शृंगार करने लगेंगी। उनकी वेशभूषा अभिनेत्रियों के वस्त्रों की नकल होगी। यह सब आज देखने को मिलता है। घर की स्थिति कैसी होगा? तो लिखते हैं—

तरुणी प्रभुता गेहे बालका बुद्धिदायकाः।
कन्यायां विक्रयो लोभात् दम्पतीनां च कल्कनम्।।

उसमें कौन सी बात नहीं लिखी है, जो आज देखने को नहीं मिलती? भविष्यपुराण पढ़ने जैसा है। घर में तरुणी का वर्चस्व रहेगा, सन्तान बाप को मूर्ख तथा पागल ठहरायेगी। अभी परिवार का पुण्य तनिक शेष है इसलिए लड़के मुँह पर नहीं बोलते, परन्तु एक पीढ़ी के बाद बोलने लगेंगे, उसमें क्या है? बाप धन के लोभ से कन्या-विक्रय करेगा। आज ऐसा पागलपन आ गया है कि जिस वस्तु को विदेश भेजने से विदेशी मुद्रा *(Foreign Exchange)* मिलती है उसीको निर्यात करना चाहिए। ऐसा है तो हमारे लोग युवतियों को भी विदेश में निर्यात *(export)* करने का कानून बनायेंगे, कारण विदेशी मुद्रा मिलनी चाहिए। सभी के मस्तिष्क में *(Dollar)* डालर और पाऊंड *(pound)* ऐसे घुस गये हैं कि उनको बाहर निकालना मुश्किल है। पैसों के सिवाय मस्तिष्क में कुछ है ही नहीं। न मानव है, न मानवता! न नीति है न भगवान! केवल वित्त ही दिमाग में भरा हुआ है। लोग कहते हैं कि लड़कियों को विदेश भेजने से विदेशी मुद्रा मिलती होगी तो भेजने में

क्या हर्ज है? यह कदाचित् तनिक अधिक लगेगा, परन्तु आहिस्ता आहिस्ता लोग बोलने लगे हैं, लिखने भी लगे हैं कि जनसंख्या बढ़ रही है इधर, तो भेज दो उधर!' अब तक तनिक शर्म शेष है इसलिए खुलमखुला नहीं बोलते हैं। पति-पत्नी में क्लेश, झगड़े चलते ही रहेंगे। पति-पत्नी में एक विचार, एक आचार और संवाद नहीं है। प्रत्येक अपने को स्वतंत्र मानता है। 'मैं स्वतंत्र-*(independent)* कैसे रह सकता हूँ' इसका मनुष्य को विचार करना चाहिए। वह किसी की गोद में बैठकर छोटे से बड़ा हुआ है, किसी की सहायता से बोलना सीखा है, किसी की अंगुली पकड़कर चलना सीखा है, तो 'मैं स्वतंत्र हूँ' ऐसी भाषा वह किस मुँह से बोलता है? क्या मनुष्य को यह सोचना नहीं चाहिए? गाय का बछड़ा पैदा होते ही चार पैरों पर खड़ा रहता है, चलने लगता है। वह अपने को स्वतंत्र मानता है तो समझ सकते हैं, परन्तु जिस मानव के बच्चे को चलना सीखने में एक साल लगता है वह अपने को 'स्वतंत्र' कहे तो कितनी बेवकूफी है? फिर कहते हैं—

कलौ गति भविष्यन्ति धनाढ्याऽपि याचकाः।

कलियुग में धनवान लोग भी याचक बनकर भीख माँगने के लिए चल पड़ेंगे। धनवान अलग-अलग रूप में याचक बनते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि गत जन्म में बहुत अच्छे कर्म करने के कारण भगवान उनको इस जन्म में वैभव दे देते हैं, मगर गत जन्म में हरामखोरी भी की होगी तो उनको मंगता-भिखारी भी बनाते हैं। भगवान भी क्या करेंगे? भगवान उसको सामाजिक कार्यकर्ता *(Social worker)* बना देते हैं। यह अरबपति भी छुट्टी के दिन हाथ में रसीद बुक लेकर घर-घर माँगने जाता है। लोगों से कहता है, अच्छी शाला की इमारत बनानी है, आप सौ रूपये चंदा दो। ऐसे धनवान लोग माँगने के लिए आते हैं तब मन में विचार आता है कि अरे! तू अकेला ही शाला की इमारत बना सकेगा इतना पैसा तेरे पास है, फिर भी तू बेशरम होकर लोगों के पास पैसे माँगने क्यों जाता है? उसके लिए क्या तू समिति बनाकर उसमें सदस्य बना है? तुझे शर्म नहीं आती?' हमारे ध्यान में आता है कि इन लोगों के कर्म ही ऐसे हैं कि भगवान उनको धनवान भी बनाते हैं और भिखारी भी! भगवान उनको सामाजिक कार्य का ज्वर लगा देते हैं, चुप नहीं बैठने देते। इन याचक लोगों की भी एक विचारधारा *(Philosophy)* होती है। वे माँगते समय कहते हैं कि 'हम सामान्य लोगों के पैसों से यह संस्था खड़ी करना चाहते हैं जिससे वह पब्लिक संस्था बनेगी।' परन्तु उनका यह पलायनवादी तत्त्वज्ञान है। एक बार सामाजिक कार्य का ज्वर चढ़ गया कि फिर याचक बनना ही पड़ता है। उससे छुटकारा थोड़े ही मिलता है? अत: जो दिखायी देता है उसका वर्णन क्या करना?

देहात्मवाद और अध्यात्मवाद का झगड़ा शुरू हो जाता है। ऐंद्रिय सुख व आत्मसुख *(sensual happiness and spiritual happiness)* का यह झगड़ा है। भोग व भाव इनमें भोग को प्रधानता मिलती है और भाव गौण बन जाता है। भोग बढ़ने से देहात्मवाद शक्तिशाली बनता है। आत्मसुख की अपेक्षा ऐन्द्रिय सुख ही लोगों को अधिक प्रिय लगता है अतः यह कलियुग है। उसके लिए भागवतकार मार्ग दिखा रहे हैं-

कलेर्दोषनिधे राजन्नास्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।। (भा०१२/३/५१)

(हे राजा! कलि तो दोषों का सागर है परन्तु उसमें एक बहुत बड़ा गुण है, वह यह है कि इस कलियुग में केवल श्रीकृष्ण के गुणों का संकीर्तन करने से मनुष्य सब प्रकार के बंधनों से मुक्त होकर उसे परमपद की प्राप्ति होती है।)

कितना सुंदर लिखा है कि मुक्त होना हो तो भक्ति उठाओ। हम स्वाध्यायी तो वही कृष्णभक्ति उठाकर गाँवों में जाते हैं। 'भक्ति एक सामाजिक शक्ति है।' मनुष्य को मनुष्य के पास भक्ति से ही जाना चाहिए। मनुष्य भक्ति से ही नीतिमान बनेगा, दुर्गुणों से मुक्त होगा, केवल उपदेश से मनुष्य नहीं बदलेगा। कृष्ण के कीर्तन करके कलियुग में मुक्त हुआ जाता है ऐसा जो भागवतकार ने कहा वह बिल्कुल सत्य है। भक्ति के बिना मनुष्य का उद्धार नहीं है, परन्तु भक्ति भजन, आरती व प्रसाद तक ही मर्यादित नहीं है यह समझ लेना चाहिए।

कितने ही लोग पूछते हैं, आपकी पाठशाला में इतने प्रवचन होते हैं, परन्तु प्रसाद क्यों नहीं देते?' भगवान ने गीता में कहा है, **प्रसादस्तु प्रसन्नता।**जो प्रसन्नता देता है उसको प्रसाद कहते हैं ऐसा उनसे कहना चाहिए।

समाज में कलियुग कब आता है? आठवें स्कन्ध में विवेचन करते समय सविस्तर बताया है कि जब पचासी प्रतिशत समाज देहात्मवादी बनता है तब कलियुग आता है उस समय भी पन्द्रह प्रतिशत लोग अध्यात्मवादी होते हैं। जब सत्तर प्रतिशत लोग इन पन्द्रह प्रतिशत अध्यात्मवादी लोगों के साथ हो जाते हैं तब सत्ययुग कहा जाता है। उस समय भी पन्द्रह प्रतिशत देहात्मवादी लोग होते हैं परन्तु उनका जोर कम पड़ जाता है। रामकाल में भी धोबी था और रावण भी था। वे दोनों गये नहीं, नीचे मुँह करके बैठे हैं। इसलिए भगवान कृष्ण ने कहा है- **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'**- जो पन्द्रह प्रतिशत अध्यात्मवादी साधुपुरुष प्रयत्न करते होंगे उनकी रक्षा करने के लिए, उनकी सहायता करने के लिए मैं जगत् में आता हूँ।' जो अध्यात्मवादी लोग एक होकर लोगों के पास जाते हैं उनके पास न सत्ता होती है, न वित्त! फिर क्या लेकर उनको लोगों के पास जाना है? वे लोग अपना चरित्र और प्रेम लेकर समाज के शेष लोगों के पास जाते हैं। उनकी सहायता के लिए भगवान आते हैं। इसीलिए कलियुग चला जाता है और सत्ययुग आता है। 'सत्ययुग आना चाहिए' ऐसा कहने से सत्ययुग नहीं आता। उसके लिए परिश्रम करने पड़ते हैं, उसीको कीर्तन कहा जाता है। कृष्ण का जीवन, कृष्ण के विचार, उसका कीर्तन ही कलियुग को हटा सकता है यह बात एक सौ एक प्रतिशत सत्य है। इसके बिना दूसरा रास्ता ही नहीं है। इतना कहकर कलियुग का वर्णन पूर्ण करता हूँ।

उसके बाद बारहवें स्कन्ध में राजवंशों का वर्णन है।

आज भागवत की समालोचना पूर्ण करता हूँ। समालोचना पूरी नहीं हुई, परन्तु मैं पूरी करता हूँ। नारायणपर ग्रंथ भागवत को मैं नमस्कार करता हूँ। ग्रंथकर्ता ने भक्तिरसमय होकर ग्रंथ की रचना की है और प्रत्येक समस्या का हल भक्ति ही है, ऐसा कहा है। यह बात बिल्कुल-नितान्त सत्य है।

भक्ति से ही मानव-जीवन का उद्धार होगा ऐसा उद्घोष भागवतकार ने किया है। सभी अवतार, सभी ऋषि हैं, परन्तु श्रीकृष्ण श्रेष्ठ पुरुष हैं। गीर्वाण पण्डित भागवत की दिव्य सुंगध लेकर पागल होते हैं वैसे ही एकनाथ जैसे साधुपुरुष भी भागवत में तल्लीन हो जाते हैं। भागवत में केवल पाण्डित्य का दर्शन नहीं है। यह महान् ग्रंथ है। इसकी समालोचना पूरी नहीं होती, परन्तु मैं पूर्ण करता हूँ।

इस समालोचना में मनुष्य के स्वभाव के अनुसार जो कुछ भूल हुई होंगी उसके लिए भागवतकार और भागवत के प्रधानपुरुष श्रीकृष्ण। से क्षमायाचना करता हूँ। बोलते हुए कुछ भूल हुई हो तो—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।

ऐसा कहकर **'स्वादु स्वादु पदे पदे'** ऐसा जो भागवत के लिए कहा जाता है, उसको नमस्कार करता हूँ।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

११/२०/१७

श्रीकृष्ण कृष्णसख वृष्ण्यृषभावनिध्रुग्-
राजन्यवंशदहनानपवर्गवीर्य ।
गोविन्द गोद्विजसुरार्तिहरावतार
योगेश्वराखिलगुरो भगवन्नमस्ते ॥
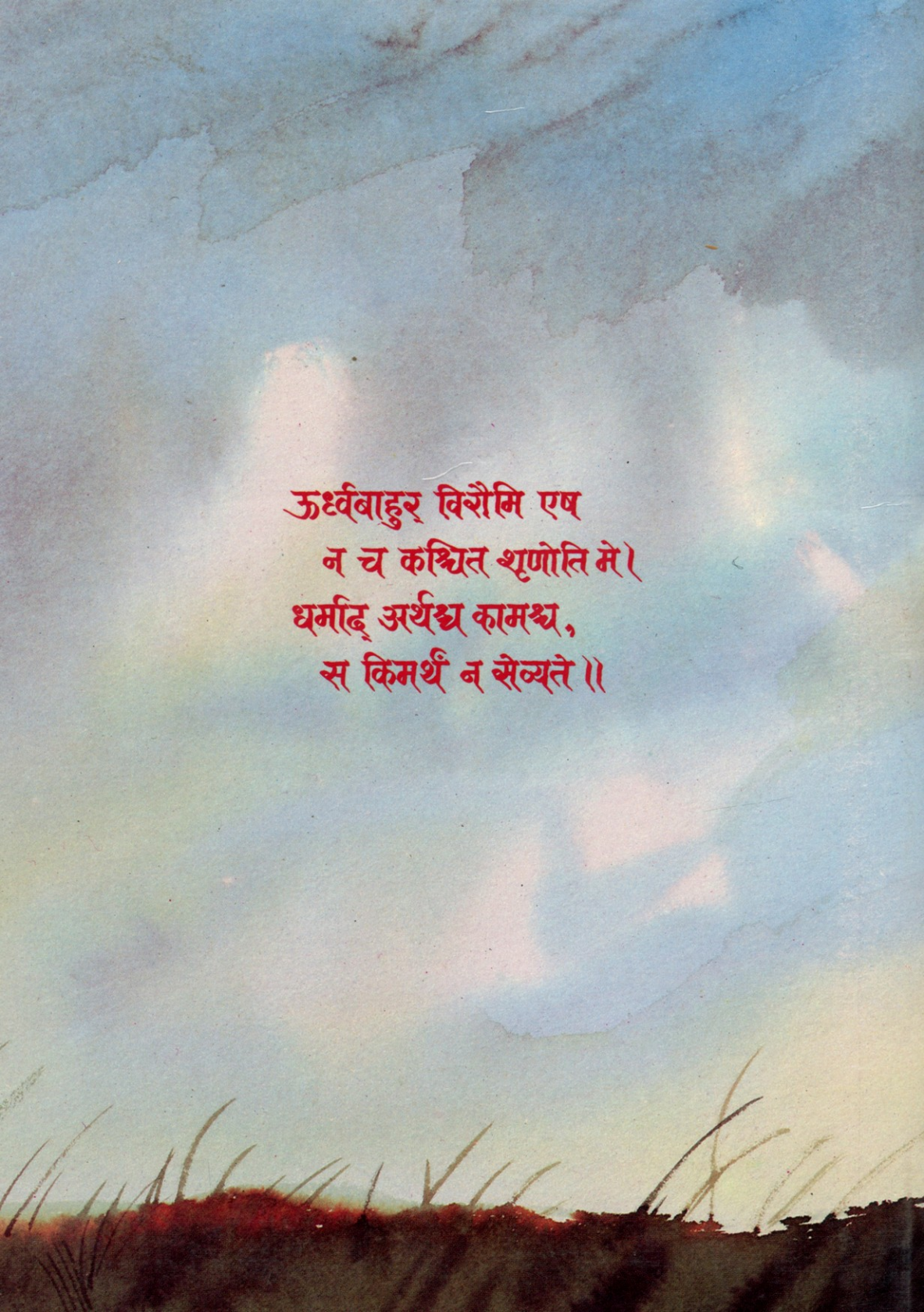
१/८/४३

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥

१०/३१/९

श्रियः पतिः यज्ञपतिः प्रजापतिः
धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥

२/४/२०

ऊर्ध्वबाहुर् विरौमि एष
न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्माद् अर्थश्च कामश्च,
स किमर्थं न सेव्यते ॥